KALYAN JAN-NOV 1965

GK11

110362

110362

76152

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

'नाम'-गानपरायण नारद

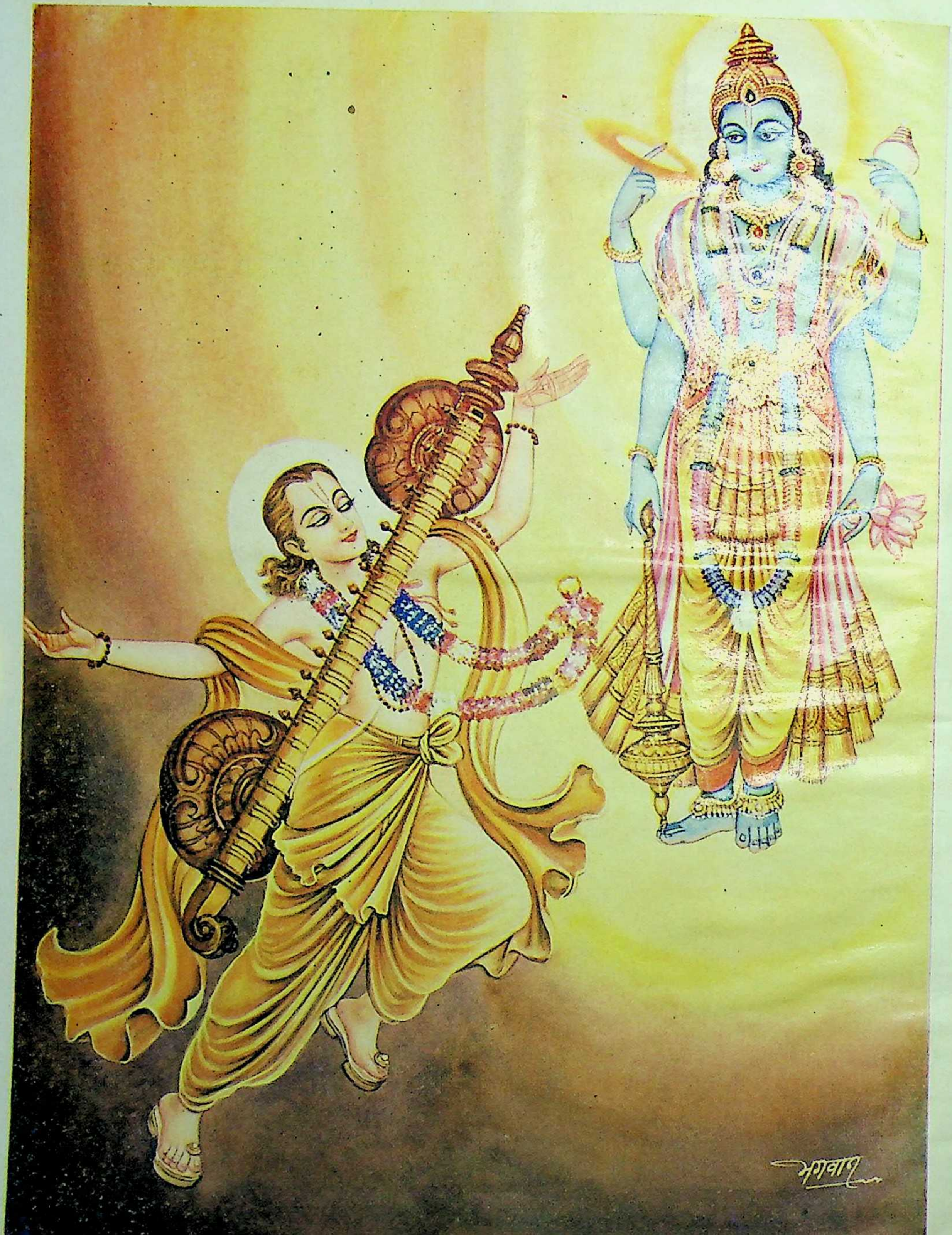

आवाहितसे तुरत आ गये वीणा सुनते ही भगवान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

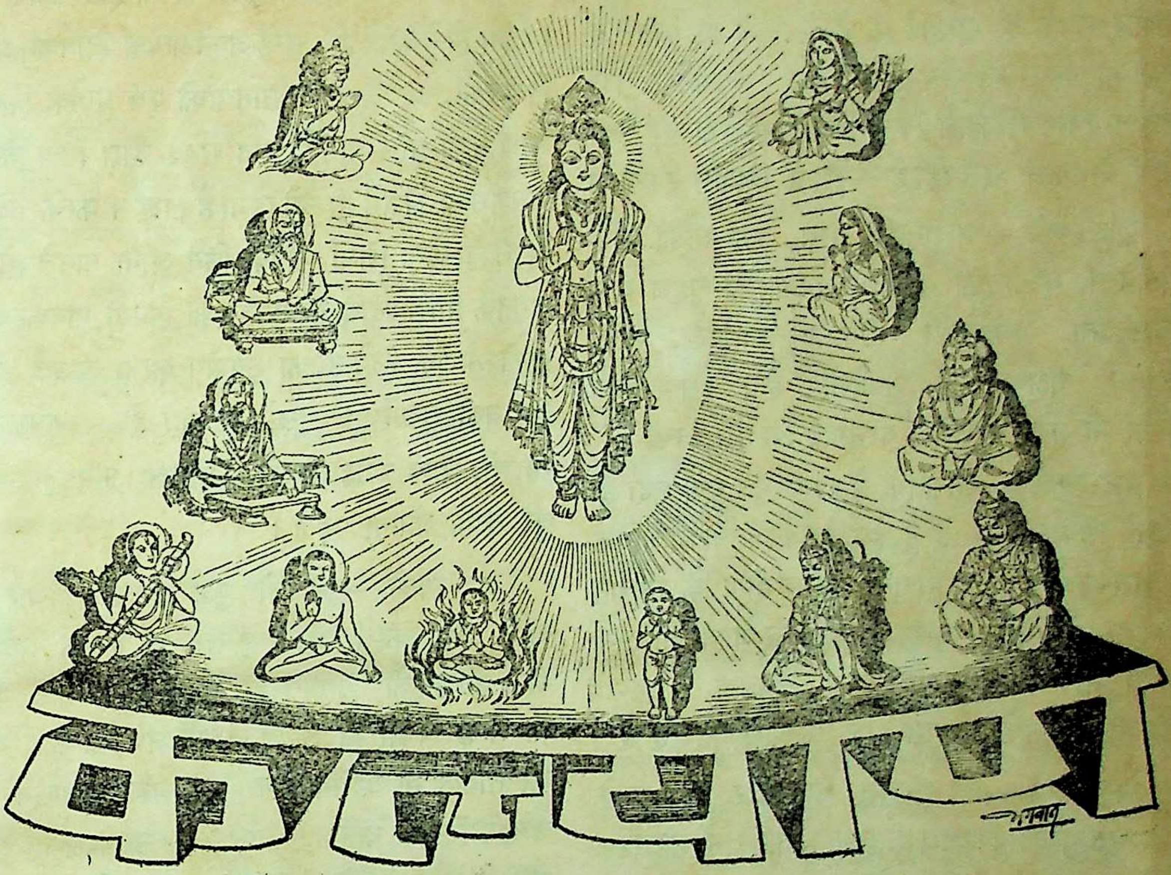

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाममखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०२१, फरवरी १९६५ { संख्या २
पूर्ण संख्या ४५

'नाम'-गानपरायण श्रीनारदजी

भक्त-कीर्तनाचार्य-मुकुटमणि, करते सदा नाम-गुण-गान ।
अखिल विश्वमें विचरण कर, वे वितरण करते नाम महान ॥
लगे नाचने भावमग्न हो, छेड़ी मधुर मनोहर तान ।
आवाहित-से तुरत आ गये बीणा सुनते ही भगवान ॥

कल्याण

याद रक्खो—भगवान् हैं; भगवान् सदा-सर्वत्र हैं, भगवान् सबके हैं; तुम्हारे भी हैं—उतने ही जितने वे किसी भी बड़े-से-बड़े संत-महात्माके हैं। भगवान्पर सदा सुदृढ़ तथा अटल विश्वास रक्खो; उनकी अहैतुकी कृपा सदा तुमपर अनवरत बरस रही है—इसपर विश्वास रक्खो।

याद रक्खो—भगवान्की सत्ता, भगवान्की सर्वशक्तिमत्ता, भगवान्की सर्वज्ञता, भगवान्की सहज सर्वभूतसुहृदता, भगवान्की दीन-बन्धुता नित्य, सत्य, सनातन, अक्षुण्ण एवं अपरिसीम है। इसपर कभी तनिक भी संदेह न करो। वरं सुदृढ़ विश्वास रक्खो।

याद रक्खो—भगवान्के ये स्वरूपभूत गुण सदा ही तुम्हारे लिये कार्य कर रहे हैं, इसपर तुम जितना ही अधिक विश्वास रक्खोगे, उतना ही तुम्हें अनुभव होगा कि भगवान् नित्य तुम्हारे समीप—तुम्हारे साथ रहकर अपनी अचिन्त्य-अनिर्वचनीय-अनन्त शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सुहृदता और दीनबन्धुतासे तुम्हारा परम कल्याण कर रहे हैं।

याद रक्खो—जब तुम्हारा भगवान्पर और उनके स्वरूपभूत गुणोंपर विश्वास हो जायगा, तब तुम्हें सांसारिक दृष्टिसे महान् दुःखमयी, कष्टमयी, संतापमयी स्थितिमें भी परम शान्ति तथा परम सुखकी अनुभूति होगी। तुम सदा यही देखोगे कि भगवान् तुम्हारा परम कल्याण करनेके लिये तुम्हारे अपने माने हुए मिथ्या तन-मनसे तुम्हारा मोह छुड़ाकर तुम्हें अपने अत्यन्त निकटस्थ रखनेकी मङ्गलमयी व्यवस्था कर रहे हैं।

याद रक्खो—भगवान्का प्रत्येक विधान तुम्हारे निश्चित कल्याणके लिये है; अतएव कभी निराश मत होओ, कभी भय न करो, कभी विषाद मत करो। भगवान्की नित्य अहैतुकी कृपापर विश्वास रक्खो, जगत्के प्राणि-पदार्थोंसे कुछ भी आशा न रखकर अपने वास्तविक कल्याणके लिये भगवान्पर पूर्ण विश्वासके साथ निश्चित आशा करो। सतत आशान्वित रहो और हर हालतमें परम सुखका अनुभव करो।

याद रक्खो—तुम वस्तुतः भगवान्की सेवाके लिये ही जगत्में भेजे गये हो। तुम्हें अपने प्रत्येक पदार्थको, प्रत्येक विचारको, प्रत्येक शक्ति-सामर्थ्यको एवं प्रत्येक क्रियाको भगवान्की वस्तु मानकर उन सबके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्की सेवामें ही लगे रहना है। यह न करके यदि तुम अपनेको अन्य किसी कार्यके लिये आया मानते हो, या जगत्के प्राणि-पदार्थ-परिस्थितियोंको अपनी मानकर अपने सुखोपभोगोंके लिये उनका उपयोग करना चाहते हो तो तुम बड़ी भूलमें हो; भूलमें ही नहीं हो—अपराध कर रहे हो, पाप बटोर रहे हो—जिनका फल तुम्हें बहुत बुरे रूपमें भोगना पड़ेगा।

याद रक्खो—तुम जो कुछ अच्छे विचार या अच्छे कर्म करते हो, वह सब भगवान्की सत्प्रेरणा और भगवान्की शक्तिसे ही करते हो। कभी किसी भी अच्छे विचार या अच्छी क्रियामें अपनेको कर्त्ता मानकर तनिक भी अभिमान न करो, वरं भगवान्ने तुम्हें अच्छेमें निमित्त बनाया, इसके लिये उनके कृतज्ञ होओ और विशेष उत्साहके साथ सेवामें लगे रहो।

याद रक्खो—भगवान्का कृपामय मङ्गलविधान भगवान्की सर्वज्ञताके साथ ही निर्मित हुआ है। उसका कब कैसे प्रयोग होगा और किस रूपमें कैसे उससे फलका उदय होगा—यह सब पहलेसे सुनिश्चित है। अतएव कभी ऊबो मत, घबराओ मत, अधीर मत होओ, आशामें तनिक भी कमी न आने दो और फलकी मङ्गलमयता तथा भगवद्रूपतामें तो कभी तनिक भी संदेह न करो। शीघ्र या देर—दोनों ही भगवान्के कल्याण-विधानके अनुसार निश्चित ही तुम्हारे परम कल्याणके लिये ही हैं। तुम तो निश्चिन्त रूपसे नित्य-निरन्तर उनकी कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए—सर्वत्र सब अवस्थाओंमें उनकी कृपाके दर्शन करते हुए उनके भजनमें—उनकी सर्वतोमुखी सेवामें ही लगे रहो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[शुभ संकल्प]

(संकलयिता—श्री'माधव')

शुभ संकल्पोंका चित्तपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इससे चित्तकी शुद्धि सुगमतासे हो जाती है। इसलिये साधकको चाहिये कि यदि संकल्प करना ही हो, संकल्प किये बिना मन न माने तो शुभ संकल्प ही करना चाहिये। अशुभ संकल्प कभी नहीं करना चाहिये। संकल्पकी शुद्धिके लिये वेदोंमें ईश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बतलाया गया है। इसके लिये 'शिव-संकल्प' नामका एक प्रकरण शुक्ल यजुर्वेदमें आता है—ऐसा सुना है।

किसीका भी चित्त पूर्णरूपसे अशुद्ध नहीं होता। उसमें अशुद्धिके साथ-साथ शुद्धिका अंश भी अवश्य रहता है। उसीके प्रभावसे मनुष्यके मनमें अपना सुधार करनेकी इच्छा होती है। अतः इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य बुरे संकल्पोंका त्याग करके अच्छे संकल्पोंको करनेमें स्वाधीन है। भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे वह इस कार्यमें सफल हो सकता है। संकल्पके अनुसार ही मनुष्यकी प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः शुभ संकल्पोंसे मनुष्यकी शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति होती है और उन कामोंको भगवान्‌के नाते धैर्य और कुशलतापूर्वक पूरा करनेसे कर्ताका भगवान्‌से सम्बन्ध हो जाता है।

यह नियम है कि जिसपर मनुष्यका विश्वास होता है, उसीसे सम्बन्ध होता है और जिससे सम्बन्ध होता है, वही प्रिय होता है। प्रियका ही स्मरण होता है। जिसका स्मरण होता है, उसीका चिन्तन होता है और यह चिन्तन ही आगे जाकर ध्यान, समाधि बन जाता है। जब साधक समाधिके रससे भी उपरत हो जाता है, उसे भी नहीं चाहता, तब उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है।

चिन्तन करने योग्य एकमात्र प्रभु हैं; क्योंकि जो सदा हैं, सब जगह हैं और स्वयंप्रकाश हैं—वे ही चिन्तनद्वारा प्राप्त हो सकते हैं। शरीर या भोग्य पदार्थ एवं संसार चिन्तन करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो सदा सब जगह नहीं हैं, जो अनित्य और जड हैं, उनकी प्राप्ति चिन्तनसे नहीं होती। अतः उनका चिन्तन करना व्यर्थ है। भगवान्‌का चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। अतएव साधकको निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन करना चाहिये। प्रभुका चिन्तन करनेके लिये उनपर विश्वास करना और उनको अपना मानना आवश्यक है।

योग, बोध और प्रेम किसी क्रियाका फल नहीं है। इनका सम्बन्ध साधककी चित्तशुद्धिसे है। चित्त शुद्ध होनेपर योगीको योग, विचारशीलको बोध और प्रेमीको स्वतः प्रेम प्राप्त होता है। चित्तकी शुद्धि उन महापुरुषोंके सत्सङ्गसे होती है, जिनका भाव शुद्ध हो गया है। अतः साधकको चाहिये कि सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त करके अपने साधनका निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परतासे साधनमें लग जाय। अपने प्राणोंसे भी साधनका महत्त्व अधिक समझे। साधकको भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थितिके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गकी प्राप्तिके लिये सच्ची अभिलाषाके साथ चेष्टा करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे सत्सङ्गकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

अशुभ संकल्पोंके त्यागसे शुभ संकल्पोंकी पूर्ति स्वतः होने लगती है। उससे उत्कृष्ट भोगोंकी प्राप्ति हो जाती है। परंतु जो साधक अपनेको शुभ संकल्पोंकी पूर्तिके सुखमें आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पोंकी निवृत्तिद्वारा योगके रसकी प्राप्ति होती है। जो साधक योगके रसमें भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेकपूर्वक सद्गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। पर जो साधक मोक्षकी भी उपेक्षा कर देता है, उसे 'परम प्रेम'की प्राप्ति होती है, जो वास्तवमें पाँचवाँ पुरुषार्थ है।

परम शान्तिकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रायः सभी मनुष्य शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, पर वे उस शान्तिको विषयभोगोंमें ही खोजा करते हैं; किंतु विषयभोगोंमें कहीं शान्ति है नहीं। बल्कि उनमें तो अशान्ति-ही-अशान्ति भरी हुई है। जब भोगोंमें शान्ति है ही नहीं, तब फिर वहाँ खोज करनेसे वह कैसे मिलेगी? जैसे अग्निमें शीतलता असम्भव है, वैसे ही संसारके विषयोंमें शान्ति असम्भव है। बहुत-से मनुष्य तो अज्ञानसे सांसारिक सुख और ऐश्वर्यकी वृद्धिमें शान्ति मानते हैं; किंतु सांसारिक सुखमें कहीं शान्ति नहीं है। उसमें जो क्षणिक शान्तिकी प्रतीति होती है, वह असली शान्तिके एक अंशका प्रतिबिम्बमात्र है। भ्रमसे ही उसमें शान्ति-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें उसमें शान्ति नहीं है। यदि उसमें सच्ची शान्ति होती तो वह स्थिर रहती; क्योंकि जो वस्तु वास्तवमें होती है, वही स्थिर रहती है—यह अच्छे महापुरुषोंका निश्चित सिद्धान्त है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इसलिये संसारके भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह प्रतीतिमात्र ही है—मायिक है, वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार सुखके कई भेद बतलाये गये हैं—निद्रा-आलस्य-प्रमादसे होनेवाला सुख तामस है (गीता १८ । ३९), इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजस है (गीता १८ । ३८) तथा अन्तःकरणकी शुद्धिसे होनेवाली प्रसन्नता सात्त्विक सुख है (गीता १८ । ३६-३७), इसी प्रकार शान्तिके भी तीन भेद समझने चाहिये। निद्रा-आलस्य-प्रमादमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह तामसी है; इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे भोगोंमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह राजसी है तथा चित्त-विक्षेप—चित्तकी चञ्चलताके अभावमें जो शान्ति प्रतीत होती है, वह सात्त्विक है (गीता १६ । २)।

यह सात्त्विक सुख-शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होते हुए भी यदि साधककी इस सात्त्विक सुख-शान्तिमें भी आसक्ति हो जाती है तो यह भी बन्धनकारक हो जाती है (गीता १४ । ६) और साधनमें रुकावट डाल देती है, जिससे साधन आगे बढ़ने नहीं पाता; क्योंकि देहमें अहंता-ममता होनेके कारण साधक अपनेमें अज्ञानसे श्रेष्ठताका अभिमान कर लेता है, जिससे उसकी उसमें आसक्ति हो जाती है, जो साधनमें महान् विघ्न है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो अपनेमें अच्छे गुणोंका अभिमान पतनमें हेतु हो जाता है। अतः साधकको अपनेमें गुणोंका अभिमान कभी करना ही नहीं चाहिये। सिद्ध महात्मा पुरुष तो अपनेमें गुणोंका अभिमान कभी करते ही नहीं। साधकमें कहीं-कहीं अज्ञानके कारण गुणोंका अभिमान आ जाता है, उससे उसको सदा सावधान रहना चाहिये और उसका त्याग कर देना चाहिये।

परमात्मा परम शान्तस्वरूप हैं। श्रीरामचरितमानसके सुन्दरकाण्डके मङ्गलाचरणमें श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।

'मैं उन शान्त, सनातन, अप्रमेय (प्रमाणोंसे परे), निष्पाप, मोक्षरूप परम शान्ति देनेवाले भगवान् रामकी वन्दना करता हूँ।'

उन परम शान्त परमात्माको जो प्राप्त हो जाता है, उस पुरुषमें वह परम शान्ति आ जाती है, जो गुणोंसे अतीत है। भगवान् श्रीरामजीने भरतजीसे संतोंके लक्षणोंमें 'शान्ति' को उनका एक प्रधान लक्षण बतलाया है—

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३७। ३)

साधनकालमें साधकके हृदयमें जो शान्ति होती है, वह सात्त्विक है, जो उस असली परम शान्तिका साधन है। उसी भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको गीतादि शास्त्रोंमें शाश्वती शान्ति, परमा शान्ति, नैष्ठिकी शान्ति, अमृत, ब्रह्म, परमात्मा, परम पद, परम स्थान, परम धाम, परम गति आदि-आदि नामोंसे कहा गया है। उस परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये गीतादि शास्त्रोंमें बहुत-से उपाय बताये गये हैं। उनमें मुख्य तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। यहाँ उनका कुछ उल्लेख किया जाता है।

यह परम शान्ति भगवत्प्राप्त पुरुषमें तो स्वाभाविक ही होती है और साधकको साधनके द्वारा प्राप्त होती है। जो साधक कर्मयोगका साधन करते हैं, उनके निष्काम भावसे किये हुए कर्मोंका फल भी यही है; क्योंकि कर्मयोगमें कर्मोंकी प्रधानता नहीं है, निष्कामभावकी प्रधानता है। और पूर्णरूपसे निष्कामभाव हो जानेपर कर्मयोगके साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसकी साधनमें अटूट श्रद्धा तथा परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति होती है; किंतु श्रद्धापूर्वक साधनके बिना शान्ति प्राप्त नहीं होती। भगवान्ने गीतामें कहा है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
(२। ६६)

'जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, ऐसे निष्कामभावसे रहित पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना (श्रद्धा) भी नहीं होती। तथा श्रद्धाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है; क्योंकि शान्ति तो निष्कामभावसे मिलती है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(गीता ५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है; किंतु सकाम पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

जैसे श्रद्धापूर्वक कर्मयोगके साधनके द्वारा शान्तिकी प्राप्ति ऊपर बतायी गयी है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक ज्ञानयोगके द्वारा भी शान्ति प्राप्त हो जाती है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका नाश एवं संसारके विषयभोगोंमें वैराग्य होकर मनसहित इन्द्रियोंका संयम हो जाता है और फिर परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त कर्मयोग और ज्ञानयोगके द्वारा जो साधनकी परिपक्व अवस्था होती है, उसका नाम निष्ठा है। उस निष्ठाका फल परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परम पदकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा

मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे होती है।'

तथा आगे यह भी बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५।५)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक ज्ञानयोगका और श्लोक ४० से ५३ तक कर्मयोगका वर्णन किया है। भक्तियोग भी कर्मयोग ही है। भगवान्‌ने भक्तियोगके द्वारा भी शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति इस प्रकार बतायी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९।३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी पतन नहीं होता।'

अतएव भक्तियोगके साधकको परम शान्तिकी प्राप्तिके लिये अनन्यभावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन-स्मरण नित्य-निरन्तर करना परम आवश्यक है।

परमात्माकी प्राप्तिमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों ही साधन समान हैं। अधिकारि-भेदसे ही पृथक्-पृथक् साधन बतलाये गये हैं। जिस साधकको जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि है, वह उसी साधनका पात्र है। वास्तवमें तीनोंका फल एक होनेसे तीनों ही समान हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता १३।२४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

कर्मयोगके द्वारा साधकमें पूर्ण निष्कामभाव आ जानेपर परमशान्तिकी प्राप्ति जगह-जगह बतायी गयी है। भगवान् कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गीता २।७०)

'जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही महापुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

अभिप्राय यह है कि जिसमें समस्त भोग प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आ-आकर विलीन हो जाते हैं और जो स्वयं किसी भी भोगकी जरा भी कामना नहीं करता, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला मनुष्य कभी शान्तिको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसका चित्त निरन्तर अनेक प्रकारकी भोग-कामनाओंसे चञ्चल रहता है और जहाँ चञ्चलता है, वहाँ शान्ति कैसे रह सकती है। वहाँ तो पद-पदपर अशान्ति, चिन्ता, जलन और शोक ही निवास करते हैं। इसलिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंकी सब प्रकारकी कामनाओंका सर्वथा त्याग करके तथा अहंता-ममता और स्पृहा (आसक्ति) से रहित होकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंका आचरण करना चाहिये। यह भी परम शान्तिकी प्राप्तिका एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

भगवान्‌को तत्त्वसे जानने, उनकी अनन्य भक्ति करने और उनकी शरण होनेसे भी परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५ । २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञों और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

कठोपनिषद्‌में नचिकेताके प्रति यमराजके वचन हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
(२ । २ । १३)

'जो नित्योंका भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है और अकेला इन अनेक प्राणियोंकी कामनाओंका (उनके कर्मानुसार) विधान करता है, उस अपने अंदर रहनेवाले पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा अटल रहनेवाली परम शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में भी बतलाया गया है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥
(४ । ११)

'जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता होता है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परम देव परमात्माको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस परम निर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
(श्वेता० ४ । १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर श्रीकविजीने राजा निमिसे कहा है—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
(११ । २ । ४३)

'राजन् ! इस प्रकार जो निरन्तर प्रत्येक चित्तवृत्तिके द्वारा भगवान्‌के चरण-कमलोंका ही भजन-स्मरण करता है, उस भक्तको भगवान्‌के प्रति प्रेममयी भक्ति, संसारके प्रति वैराग्य और अपने प्रियतम भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान—ये सब अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं और फिर वह साक्षात् परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।'

गीताके छठे अध्यायमें ध्यानके प्रसङ्गमें भगवान् कहते हैं—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
(६ । १४-१५)

'ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित हो । वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त होता है ।'

आगे अठारहवें अध्यायमें अर्जुनको ईश्वरकी शरणमें जानेसे शान्तिकी प्राप्ति बतलाते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(१८ । ६२)

'हे अर्जुन ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

इस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—तीनों ही साधनोंके द्वारा परम शान्तिका प्राप्त होना बताया गया है तथा ये तीनों ही साधन अपने-अपने स्थानमें सब प्रकारसे श्रेष्ठ हैं ।

गीतामें भगवान्‌ने निष्कामभावको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(१२ । १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे परोक्षज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ।'

भाव यह कि जिसके साथ पूर्ण निष्कामभाव है, वही श्रेष्ठ है तथा उसकी प्रशंसा करते हुए यह भी कहा गया है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
(गीता ६ । १)

'जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है ।'

भाव यह कि अग्निका त्याग करनेवाला यदि निष्कामी नहीं है तो वह संन्यासी नहीं है और क्रियाओंका त्याग करनेवाला भी यदि निष्कामी नहीं है तो वह योगी नहीं है ।

भक्तियोगके साधकको सबसे श्रेष्ठ यों बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार ज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(गीता ४ । ३३)

'हे परंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ।'

इस प्रकार गीतामें इन तीनों ही साधनोंको अधिकारिभेदसे श्रेष्ठ, सुगम, शीघ्र सिद्धिदायक, पापनाशक, यथार्थ ज्ञानप्रद और परम शान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करनेवाले बताया गया है*। इसलिये जिस साधककी इनमेंसे जिस साधनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रीति और रुचि हो, उसके लिये वही साधन सबसे बढ़कर है । ऐसा समझकर उसे उसी साधनको अपनाकर तत्परतासे उसका अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे शीघ्र ही परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाय ।

आन्तरिक खोजकी पूर्णताके लिये मानसिक विकासकी आवश्यकता

(लेखिका—श्रीमाँ, श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी)

'आन्तरिक खोजकी क्रियाको पूर्ण बनानेके लिये मानसिक विकासकी उपेक्षा नहीं करना युक्त होगा; क्योंकि मानसिक करण समान भावसे ही महान् सहायक अथवा महान् बाधक हो सकता है । स्वाभाविक अवस्थामें मानव-मनकी दृष्टि सदा सीमित होती हैं, उसकी समझ संकुचित होती है तथा उसके विचारोंमें अनमनीयता होती है । अतः उसे विशाल, नमनीय एवं गम्भीर बनानेके लिये प्रयत्नकी आवश्यकता है ।'

(—जीनेकी कला, बुलेटिन, नवम्बर १९५०)

मुसीबत तो यह है कि अधिकांश लोग, जितना ही अधिक वे सोचते हैं, उतना ही अधिक अपनेको बड़ा समझते हैं । मन अपनेमें ही संतुष्ट रहता है और प्रगतिके लिये अधिक अभीप्सा नहीं करता । वह समझता है कि उसे सब कुछ माल्लम है । बहुत-से लोग यह समझते हैं कि उनके समझनेका ढंग ही सबसे बढ़कर है । उनके मनमें यह बात प्रवेश ही नहीं कर पाती कि एक ही विषयके समझनेके लिये सदा कई ढंग होते हैं और जितना ही अधिक उनका विचार सबल और परिपक्व होता है, उतना ही अधिक उनका विश्वास होता है कि सोचनेका बस, केवल एक ही तरीका है । इसीलिये मैंने यहाँ कहा है कि कुछ प्रकारके अभ्यास तुम्हारे विचारको विशाल बना सकते हैं और तुममें एक ही समयमें वस्तुओंको कई दृष्टिकोणोंसे देखनेकी आदत डाल सकते हैं ।

'एक ही वस्तुको, जितने अधिक-से-अधिक दृष्टिकोण सम्भव हों, उतनेसे देखना अत्यन्त आवश्यक है । इसके लिये एक अभ्यास है जो विचारको बड़ी ही नमनीयता और उच्चता प्रदान करता है । उसकी विधि यह है—हम एक सिद्धान्तको खूब स्पष्ट शब्दोंमें सामने रखते हैं और फिर उतनी ही बारीकीसे उसका उलटा

---

* इस विषयका विस्तृत विवेचन 'कल्याण' के ३२ वें वर्षके ५ वें अङ्कमें 'गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—तीनों ही मार्ग श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हैं' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये ।

पक्ष उपस्थित कर उसका खण्डन करते हैं । तब गम्भीरतापूर्वक सोचकर उस समस्याको व्यापक बनाना चाहिये अथवा उससे ऊपर उठ जाना चाहिये, जबतक कि हमें उसका ऐसा समन्वय न मिल जाय जो उन दोनों विरोधी सिद्धान्तोंको एक बृहत्तर, उच्चतर तथा अधिक व्यापक विचारमें मिला दे ।'

अच्छा, अब तुम मेरे सामने एक सिद्धान्त रक्खो ।

एक लड़का—संसारमें सभी अपने दुःखोंका भार लिये फिरते हैं; यह हुआ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष—कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सारे मानवीय कष्टोंसे ऊपर हैं ।

और इनका समन्वय ?

दूसरा लड़का—प्रत्येकके अंदर कोई ऐसा भाग होता है जो समस्त कष्टोंसे ऊपर होता है ।

तीसरा लड़का—संसारमें अनेकों प्रकारके लोग हैं ।

चौथा लड़का—दुःखोंके पार चले जानेके लिये दुःखका बोझ उठाना आवश्यक है ।

यह तो कोई समन्वय नहीं हुआ ।

पहला लड़का—मैंने अपने सिद्धान्तके पूर्वपक्षमें 'सामान्य' लोगोंकी बात कही थी और उत्तरपक्षमें विशिष्ट लोगोंकी ।

ठीक है, किंतु क्या तुम ऐसा समझते हो कि विशिष्ट लोगोंको दुःख होता ही नहीं ! बड़े-से-बड़े लोगोंको भी अपने दुःखोंका बोझ ढोना ही पड़ता है ।

सब कुछ निर्भर करता है चेतनाकी विभिन्नतापर । कुछ ऐसे लोग हैं जिनमें बाह्य चेतनाकी अवस्थाएँ सबसे अधिक विकसित होती हैं । इसके विपरीत अन्य लोग हैं जो उच्चतर चेतनाकी अवस्थाओंको विकसित करनेकी ओर ही ध्यान देते हैं । अतः यह कहना कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने दुःखका बोझ ढोना पड़ता है, बाह्य चेतनाके विषयमें (उन भौतिक घटनाओंके, जो हमारी प्राणिक, भावनात्मक तथा मानसिक स्तरोंका स्पर्श करती हैं, विषयमें) ठीक है । ऐसे लोगोंके लिये विपत्तियाँ सदा ही प्रचुर मात्रामें रहेंगी । विपत्तियोंकी अधिकता व्यक्तिकी क्षमताके अनुपातमें रहती प्रतीत होती है, लगता है जैसे, व्यक्तिकी जितनी सहनेकी क्षमता है, उनकी मात्रा ठीक उसीके अनुसार होती है । निश्चय ही ऐसा हो सकता है कि जिनकी क्षमताएँ महत्तर हैं, उनके दुःखों और कष्टोंकी मात्रा भी प्रचुर हो ।

पर ऐसे भी लोग हैं जो दुःखोंसे ऊपर हैं और फिर भी उनके लिये कष्टोंका अस्तित्व है । ऐसा क्यों ? क्योंकि उनमें आन्तरिक चेतना बाह्य चेतनाकी अपेक्षा अधिक सबल और विकसित है (यहाँ मैं 'रूपान्तरित व्यक्तियोंकी बात नहीं कर रही; क्योंकि उनके अंदर तो हम वस्तुओंकी ऐसी स्थितिकी परिकल्पना कर सकते हैं जहाँ उनकी भौतिक सत्तातक दुःखोंसे ऊपर हो । आज मनुष्य जिस अवस्थामें हैं, मैं उसीकी चर्चा कर रही हूँ) । यदि तुम्हारी चेतना किसी ऐसे स्थानपर स्थित है, जहाँ इन बाह्य वस्तुओंका अस्तित्व नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि तुम अपने दुःखका बोझ वहन नहीं करते । फिर भी कुछ अपवाद हैं । ऐसे मनुष्य भी हैं जो दुःखोंके ऊपर रहते हुए भी अपने दुःखोंको वहन करते हैं । इन दो परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाली वस्तुओंका क्योंकर समझौता किया जाय ?

एक लड़का—विपत्तियाँ विभिन्न प्रकारकी होती हैं ।

ऐसी बात नहीं है । मानव-दुःख और कष्ट सदा एक ही प्रकारके होते हैं । कई ऐसे दुःख होते हैं जो तुम्हारे अंदरसे ही आते हैं अथवा परिस्थितियों या वस्तुओंकी सामान्य स्थितिसे प्रादुर्भूत होते हैं । कहनेका अभिप्राय यह है कि हम जन्मसे ही इन दुःखोंके अधीन होते हैं और कोई इनसे बच नहीं सकता । इनकी तीव्रताकी मात्रा सदा एक-सी नहीं होती, पर ये

सदा होते अवश्य हैं। अतः ऐसा लगता है मानो यहाँ कोई विरोध हो। पर ऐसी प्रतीति गलत है। कारण, कुछ लोगोंके लिये वे अस्तित्व रखते हुए भी मानो कोई अस्तित्व नहीं रखते। वे होते हुए भी मानो होते ही नहीं। किंतु न तो एक बात ही पूरी-की-पूरी सच है और न दूसरी ही, और उसी प्रकार न तो एक बात ही पूर्णतः मिथ्या है और न दूसरी ही।

मानव-चेतनाकी एक ऐसी अवस्था है (यह कोई अतिमानवी चेतना नहीं, वास्तविक मानवी चेतना है) जहाँ ये दोनों साथ-ही-साथ रह सकती हैं—दुःख मनुष्यको हो सकता है, पर ऐसा भी हो सकता है कि वह उसका अनुभव नहीं करे; ऐसा रहे मानो दुःखका कोई अस्तित्व ही न हो। कहनेका अभिप्राय यह है कि कोई भी दुःख केवल बाह्य चेतनाको ही स्पर्श करता है अर्थात् भौतिक, मानसिक, प्राणिकको ही···· अन्तरात्मिक सत्ता सभी दुःखोंसे ऊपर होती है। एक बड़ा सरल-सा उदाहरण ले लें—एक बीमारीका। शारीरिक गड़बड़ी कष्टकर होती है, कभी-कभी बहुत कष्टकर भी, पर कितने ही लोग चेतनाकी एक ऐसी अवस्थामें होते हैं कि उनके लिये शारीरिक कष्टका कोई अस्तित्व ही नहीं होता, वह उनके लिये कोई सच्ची वस्तु नहीं होती। यही वस्तु वियोगके सम्बन्धमें भी है। यदि कोई किसीसे प्रेम करता है और उससे जब उसे अलग होना पड़ता है तब उसे कष्ट होता है। इस प्रकारका कष्ट बहुत अधिक व्यापक कष्टोंमेंसे है, इसमें टूटनेवाली वस्तुएँ हैं आसक्तियाँ। किंतु चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें दो प्राणियोंके बीचका सच्चा बन्धन नहीं टूट सकता; क्योंकि वह उस जगत्‌की वस्तु नहीं, जहाँ वस्तुएँ टूटा करती हैं और इसलिये वे आनेवाली घटनाओंके ऊपर होते हैं।

पर उच्चतर चेतनाकी अवस्था तक पहुँचनेके पहले भी एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ मनुष्य अपने अंदर विवेक-बुद्धिको—एक स्वच्छ, स्पष्ट, युक्त और काफी आत्म-परक बुद्धिको—विकसित कर सकता है और जब यह बुद्धि काफी विकसित हो जाती है, तब समस्त आवेगों, संवेदनाओं, कामनाओं एवं गड़बड़ियों-को इसके सम्मुख रक्खा जा सकता है और यह तुम्हें विवेकशील बना देती है। अधिकांश लोग, जब उन्हें कोई वस्तु क्षुब्ध कर देती है, तब वे बड़े ही विवेकहीन हो जाते हैं। जैसे कि, जब वे बीमार हो जाते हैं, तब अपना सारा समय यही कह-कहकर काटा करते हैं—'ओह! मैं कितनी बुरी तरह बीमार हूँ, कितनी भयंकर है मेरी बीमारी! क्या यह सदा इसी प्रकार बनी रहेगी?' और स्वभावतः ही रोग अधिकाधिक बिगड़ता जाता है। अथवा यदि कोई विपत्ति उनपर आयी तो वे चिल्ला उठते हैं, 'बस, ये सारी चीजें केवल मेरे पास ही पहुँचा करती हैं और मैं हूँ जो पहले सोचा करता था कि सब कुछ अच्छा ही हुआ करता है' और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी लड़ी झरने लगती है और उनके स्नायु पस्त हो जाते हैं। अतिमानवोंकी बात तो छोड़ो, मनुष्यमें ही एक उच्चतर क्षमता होती है, जिसे विवेक-बुद्धि कहते हैं, जो वस्तुओंको ठंडे, शान्त और संगत भावसे देख सकती है। यह बुद्धि तुमसे कहती है, 'व्यथित मत होओ, इससे तुम्हारा कोई लाभ न होगा। शिकायत करना ठीक नहीं, जब कोई चीज आ चुकी है तो उसे स्वीकार कर लो।' तब तुम तुरंत ही पहले-से अधिक शान्त हो जाते हो। यह एक बड़ी अच्छी मानसिक शिक्षा है। इससे तुम्हारी विवेचनाकी क्षमता, तुम्हारी दृष्टि, तुम्हारा पदार्थज्ञान तो बढ़ता ही है, साथ-ही-साथ इसका तुम्हारे चरित्रके ऊपर बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। यह तुम्हें रोने-धोने और स्नायविक तनावकी उपहासास्पद स्थितिमें पड़नेसे बचा लेती है

और विवेकशील मनुष्यकी तरह आचरण करनेके लिये तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करती है ।

एक बात जो मनके लिये बड़ी ही कठिन है किंतु जो मेरे विचारमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह है कि मनको कभी भी किसी व्यक्ति या वस्तुके प्रति अपनी राय नहीं ठोकनी चाहिये । ऐसा कहना कि वह चीज अच्छी है और वह बुरी, यह भली है और वह मंदी, अमुकमें ऐसा दोष है और अमुकके भीतर ऐसी खोटी वस्तु है, केवल छिद्रान्वेषण है ।

वे सभी लोग जो अपनी बुद्धिसे काम लेते हैं, उनमेंसे जो जितना ही अधिक बुद्धिमान् होता है, उतनी ही अच्छी तरहसे यह समझ पाता है कि वह कुछ भी नहीं जानता और कि मनके द्वारा कुछ भी नहीं जाना जा सकता । वह किसी विशेष ढंगसे सोच सकता है, किसी विशेष ढंगसे अपनी मति प्रकट कर सकता है, किसी विशेष ढंगसे देख सकता है, पर कभी किसी भी बातका उसे निश्चय नहीं रहता—और न कभी किसी बातका निश्चय उसे होगा ही । वह बराबर यही कह सकता है, 'शायद यह ऐसा है' या 'शायद वह वैसा है' और इसी प्रकार वह अनिश्चित कालतक कहता चला जा सकता है; क्योंकि मन ज्ञान प्राप्त करनेका साधन नहीं है ।

विचारोंके ऊपर विशुद्ध भाव हैं । विचार इन विशुद्ध भावोंको व्यक्त करनेके साधन होते हैं और ज्ञान विशुद्ध भावोंके स्तरसे बहुत ही ऊपर होता है, जिस प्रकार कि विशुद्ध भाव विचारोंसे बहुत ऊपर होते हैं । विचारोंसे ऊपर उठकर शुद्ध भावतक पहुँचना सीखना होगा और स्वयं विशुद्ध भाव भी ज्ञानका एक अनुवाद मात्र है और बिना पूर्ण तादात्म्यके ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता । इसलिये जब तुम अपने-आपको केवल अपने छोटे मानव-मनके भीतर ही रखते हो, उस भौतिक चेतनावाले मनके ही भीतर जो बराबर क्रियाशील रहता है और जो सब कुछको अपनी उपहासास्पद श्रेष्ठताकी ऊँचाईसे देखता है और निर्णय करता है, जो कहता है, 'वह बुरा है, उसे वैसा नहीं होना चाहिये,' तो निश्चय रक्खो कि तुम धोखा खाओगे ही और इसमें कभी कोई अपवाद नहीं होगा । अतः सबसे अच्छी बात है चुप रहना और वस्तुओंको अच्छी तरहसे देखना और तब धीरे-धीरे तुम्हारे अंदर कुछ प्रभाव अङ्कित होने लगते हैं । इन सबको तुम अपने भीतर बिना कोई मत प्रकट किये सँजोये रक्खो । जब तुम इन सबको अपने अंदर शान्त भावसे और बिना किसी प्रकारके विक्षोभके रखनेमें सक्षम होओगे और एक सतर्क नीरवता बनाये रखनेकी चेष्टा करते हुए इन सबको अपनी चेतनाके उच्चतम भागके समक्ष रख सकोगे और प्रतीक्षा करोगे, तब शायद धीरे-धीरे मानो बहुत दूर और बड़ी ऊँचाईसे आ रही हो, प्रकाश-जैसी कोई वस्तु अभिव्यक्त होगी और तुम जरा अधिक सत्य जान पाओगे ।

किंतु जबतक तुम अपने विचारोंको विक्षुब्ध रक्खोगे और उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ोंमें खण्डित करते रहोगे, तुम कभी कुछ भी नहीं जान सकोगे । यदि आवश्यकता हो तो मैं तुम्हें यह बात सैकड़ों बार कहूँगी; किंतु मैं तुम्हें निश्चय दिलाती हूँ कि जबतक तुम इस बातपर विश्वास न करोगे, तुम कभी भी अपने अज्ञानसे बाहर नहीं निकल सकोगे ।

* * *

'राधा', 'कृष्ण' और 'राम' नामकी महिमा

[राधा]

(१)

चाहौ जो प्रवेश देह-गेहको बिसारि हरि-नेह-वारिनिधि मैं निवारि भव-बाधा को ,
मन्दहासिनीके बृन्दाविपिनविलासिनीके नीके पदपङ्कजकी प्रीति हू अगाधा को ।
वासना हिये जौ गोपीभावकी उपासनाकी पायो चहौ कीरति किसोरी और कांधा को ,
व्रजरस-सिन्धुमें निमज्जनकी चाह है जौ, लीजै अबिराम कवि 'राम' नाम राधा को ॥

(२)

सेवन करत या धरत ध्यान मैं जो सदा नर-अभिराम धन्य धन्य धाम राधा को ,
बाधा को बिदारि नेह-सरि मैं अगाधा न्हाइ सुमिरत नित्य पाठ आठों याम राधा को ।
दिवस-निसामें देखि सकल दिसा मैं तिन्हैं सुनै गुनै भनै मनै गुनग्राम राधा को ,
गली-गली, गैल-गैल डोलै जसुदाको छैल वाके संग, बोलै जो रुचिर नाम राधा को ॥

[कृष्ण]

(३)

चीर द्रौपदीको गह्यौ गरजि दुसासनने अरज लगायी अबलाने अघहारी सौं ,
लोपी लाज आज गोपीवल्लभ ! बचाओ धाय, हाय ! कोऊ और है सहाय न तुम्हारी सौं ।
सुनत पुकार कारखाना वस्त्रका ह्वै कृष्ण तोप दियो कृष्णाको अनूप रूप सारी सौं ,
सारीमयी नारी भयी भीत सभा सारी मौन कौन है कृपालु मधुसूधन मुरारी सौं ॥

(४)

साँवरे मलाह सौं सलाह मानि कीजै नेह बावरे ह्वै भवके प्रवाहमें न बहिये ,
सुदृढ़ जहाज जदि चाहिये तौ अरबिंदलोचन गुबिंद के पदारबिंद गहिये ।
इष्ट है अगर बसुधा पै सुधापान दिव्य सुरमुनि बृंद बंद्य 'विष्णु-पद' चहिये ,
सीत-उष्ण द्वंद सबै सहिये सहिष्णुतासे सतत सतृष्ण ह्वै के 'कृष्ण-कृष्ण' कहिये ॥

[राम]

(५)

तोते को पढ़ाइ नामधन धनिका ह्वै धन्य गनिका अधम गननीय भो गुनन ते ,
पढ़ि पढ़ि 'राम राम' काया अभिराम पाइ सुक सुकदेव भयो नामके रटन ते ।
सिद्ध भयो गिद्ध साधि लीनो है असाध व्याध मुक्त भयो भवके कबंध बंधनन ते ,
वर रघुवरकी वरद नाम माला बरी सबरी बरिष्ठ भई सबरी तियन ते ॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

प्रार्थनामय जीवन हो !

[गीत]

(रचयिता—श्रीअजयकुमारजी ठाकुर 'शिक्षक')

अंग-अंग औ रोम-रोमपर
करुणामयका आसन हो ।
चञ्चल मन भी काश……
रामपर स्थिर हो ॥
तज कुसंग औ,
सुखद संतकी संगति हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

पर-निंदाकी ओर कभी मन
न झुकता हो ।
स्वार्थ-त्यागका भाव सदा
मनपर बहता हो ॥
दीन-दुखी औ हरि-भक्तोंकी
यथाशक्ति सेवा हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

जीवन-पथपर सुख-दुख,
जो भी मिलता हो ।
उसे समझकर प्रभु-प्रसाद
अभिनंदन हो ॥
जीवनकी अंतिम बेलातक
किसी जीवका अहित न हो ।
अच्छा होगा काश,
प्रार्थनामय जीवन हो ॥

मुझको जो कुछ करुणामयकी
कृपा-दृष्टिसे मिलता हो ।
ध्यान रखूँ मैं इसी बातका,
उसपर फिर अभिमान न हो ॥
परम-पिताकी सत्तापर
अपना विश्वास अडिग हो ।
हृदय-देहलीपर मेरी
नित आस्थाकी दीवाली हो ॥
यथालाभपर भी, मुझको,
संतोष परम मिलता हो ।
और सादगीपूर्ण, प्रकृतिसम्मत
जीवन हो ॥
करूँ प्रमाद न स्वल्प कभी,
जीवनका मूल्य उचित हो ।
जिह्वापर हरिनाम-सुधाकी
वृष्टि निरन्तर होती हो ॥
आवास हमारा शुचि, सुदूर
निर्जन पर हो ।
कदली आम्र बेल
तुलसीसे मंडित हो ॥
डाली-डालीपर उनकी,
बिहग-गान सुमधुर हो ।
नभ-मंडलपर भी सुदूरतक
हवन-धूम्र प्रसरित हो ॥
निकट कहींपर गोचारण होता हो ।
गौओंकी संख्या दिन-दिन बढ़ती हो ॥
घरपर सुन्दर 'घिर्-घिर्' दधि-मन्थन हो ।
अच्छा होगा काश, प्रार्थनामय जीवन हो ॥

प्रार्थनाके लोकोत्तर चमत्कार

(लेखक—श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालङ्कार, काव्यतीर्थ)

प्रार्थना हृदयकी वस्तु है, इसलिये तर्कातीत है। दृढ़ विश्वासके साथ और सच्चे शुद्ध हृदयसे जो कुछ अपने प्रभुसे निवेदन किया जाय, वही प्रार्थना है। प्रार्थना मानसिक अतएव मूक भाषामें भी होती है और वाचिक भी। वाचिक प्रार्थना सच्ची तब होती है, जब उसका पूर्ण सम्बन्ध हृदयके साथ रहता है। अपने भावों और अपने शब्दोंके अतिरिक्त संतोंकी वाणीमें भी उत्तम प्रार्थना होती है; किंतु संत-वाणीके साथ अपने हृदयका एकतान होना आवश्यक है। किसी भी भक्तके द्वारा की गयी प्रार्थना, जब हमारे हृदयका उद्गार बन जाती है—हम उसके साथ एकरूप हो जाते हैं, तब वह प्रार्थना अपनी हो जाती है और भव-भय-हारिणी तथा आत्म-कल्याण-कारिणी बन जाती है।

प्रयत्नवादी जब अथक प्रयत्नके बाद थककर अहंकार-मुक्त हो जाता है और उसे अपनी शक्तिहीनता तथा सामर्थ्य-शून्यताकी सच्ची अनुभूति हो जाती है, तब वह विवश और असहाय होकर प्रभुकी ओर उन्मुख होता है और अपनी सच्ची प्रार्थनाके द्वारा प्रभुकी अद्भुत शक्तिके अनन्त सामर्थ्यके तथा लोकोत्तर सौहार्दके कल्पनातीत चमत्कार देखने लगता है। ऐसी परिस्थितिमें प्रभुकी सर्वव्यापकता तथा सर्वज्ञताका भी पूरा भान हो जाता है और प्रार्थी प्रभुकी अहैतुकी कृपाका अनुभव करता हुआ आश्चर्याधिक्य और आनन्दातिरेकसे गद्गद हो जाता है।

द्वेषमूलक या पर-हित-विरोधिनी प्रार्थना अपवित्र होनेके कारण प्रभुतक पहुँच ही नहीं पाती; इसलिये वह कभी भी फलवती नहीं हो सकती। प्रार्थीको सर्वप्रथम अपनी वृत्तिको अविरोधिनी बनाना चाहिये; तब प्रार्थनामें प्रवृत्त होना चाहिये। आप यह प्रार्थना न करें कि 'मेरे शत्रुका नाश हो जाय'; क्योंकि इस प्रार्थनामें पर-हितका विरोध है, इसलिये विकार है। हाँ, आप यह प्रार्थना कर सकते हैं कि 'जिसके साथ मेरी शत्रुता है, उसका शत्रुत्व-भाव नष्ट हो जाय और वह मेरा मित्र बन जाय।' यह प्रार्थना विकार-मुक्त होनेके कारण शुद्ध, अतएव सफल होने योग्य है। प्रार्थनामें अविरोधिनी वृत्तिका होना तो अत्यावश्यक है ही; प्रार्थनाका प्रादुर्भाव भी मनसे होना चाहिये; केवल वचनसे नहीं।

भरी सभामें कौरवोंके द्वारा अपमानित होती हुई द्रौपदीने 'गोविन्द' और 'कृष्ण' नाम लेकर भगवान्‌को शब्दोंद्वारा तो पुकारा ही, मनसे भी उनका चिन्तन किया।

वह दीनवाणीमें बोली—'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी हे श्रीकृष्ण! हे गोपियोंके प्रिय! हे केशव! क्या आपको ज्ञात नहीं है कि कौरवोंके द्वारा मैं अपमानित हो रही हूँ? हे नाथ! हे लक्ष्मीनाथ! वे व्रजनाथ! हे दुःखनाशक! हे जनार्दन! कौरव-सिन्धुमें मुझ डूबी हुईका आप उद्धार कीजिये। हे महायोगी विश्वात्मा विश्वभावन गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! कौरवोंके बीच दुःख झेलती हुई मुझ शरणागताको बचाइये।'

भक्त द्रौपदीकी यह दीन-प्रार्थना उसके हृदयका ही निश्छल उद्गार था। अतएव सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भक्तवत्सल परम प्रभुको इस प्रार्थनाने पूर्ण प्रेरित कर दिया और द्रौपदीकी लज्जा-रक्षामें वह अभूतपूर्व चमत्कार दिखलाया कि सारी-की-सारी सभा आश्चर्यमें डूब गयी। प्रणत-पाल प्रभुका वस्त्रावतार हुआ और रंग-बिरंगे वस्त्रोंका ढेर लग गया। दस सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाला दुष्ट दुःशासन वस्त्र खींचते-खींचते थककर, लज्जित होकर बैठ गया; किंतु प्रार्थिनी द्रौपदीकी दसगजी साड़ी नहीं घटी—

'दस सहस्र गजबल थक्यो,
घट्यो न दस गज चीर।'

यह है हार्दिक प्रार्थनाका आश्चर्यकारी चमत्कार!

ग्राहग्रस्त गजेन्द्रने भी आत्म-रक्षाके लिये भगवान्‌का स्तवन किया था। वह स्तवन भी गजराजके एकाग्र मनसे ही प्रादुर्भूत हुआ था और गजेन्द्रकी आर्त्त-प्रार्थना सुनते ही चक्रधारी गरुडारूढ भगवान् गजेन्द्रके निकट आ गये। तब उस दीन गजने उस असहायावस्थामें भी क्या किया, इसे महर्षि व्यासजीके ही शब्दोंमें देख लीजिये—

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥

(श्रीमद्भागवत ८। ३। ३२)

'सरोवरके भीतर प्रबल ग्राहकी पकड़में आकर दुखी हुए उस गजने गरुड़पर सवार तथा सुदर्शनचक्रको ताने हुए भगवान् विष्णुको आकाशमें देखकर कमल-युक्त सूँड़को ऊपर उठाया और अधिक पीड़ाके कारण बड़ी कठिनाईसे वह यह वाक्य बोला—'हे सर्वपूज्य भगवन् ! हे नारायण ! आपको प्रणाम है ।'

गजेन्द्रको घट-घटव्यापी भगवान्की अहैतुकी करुणापर दृढ़ विश्वास था, तभी तो उसने भगवत्पूजाके लिये पहलेसे ही कमल-कुसुमको अपनी सूँड़में ले रक्खा था । गजेन्द्रने सब ओरसे मनको समेटकर सच्चे विश्वासके साथ भगवान्की प्रार्थना की थी । प्रार्थनाके प्रभावसे प्रकट हुए भगवान् श्रीहरिने क्या किया, यह भी देख लीजिये—

तं बीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ८ । ३ । ३३)

'उसे पीड़ित देखकर अजन्मा श्रीहरिने शीघ्रताके लिये अकस्मात् गरुड़से सरोवरपर उतरकर कृपापूर्वक ग्राहके साथ उस गजेन्द्रको तुरंत सरोवरसे बाहर निकाला और देवताओंके देखते-देखते उस ग्राहके मुँहको चक्रसे चीरकर गजेन्द्रको छुड़ा लिया ।'

द्रौपदी और गजेन्द्रकी प्राचीन घटनाओंका उल्लेख करके मैंने प्रार्थनाके अनोखे चमत्कार दिखलाये । इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युगमें ऐसे चमत्कारके उदाहरण मिल नहीं सकते । आज भी भगवान्का भरोसा रखनेवाला, यदि हृदयसे प्रार्थना करता है, तो अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान् तत्काल ही उसकी प्रार्थनाको सफल बनाते हैं । महर्षि व्यास-जैसा त्रिकालदर्शी कवि तो आज रहा नहीं, जो प्रार्थनाके आधुनिक चमत्कारोंको जान ले तथा उसे अपनी वाणीका अमृत पिलाकर अमर बना दे ।

इन पंक्तियोंके लेखकको भी प्रार्थनाके अनूठे चमत्कारोंके निजी अनुभव हुए हैं । यदि आपके हृदयमें थोड़ा भी आस्तिक-भाव हो, तो इन सच्ची घटनाओंपर विश्वास कर प्रभु-प्रार्थनाके अद्भुत चमत्कारोंको हृदयङ्गम कीजिये ।

आजसे चौबीस वर्ष पहले मैं 'फैलेरिया'के असह्य दर्दसे अत्यन्त पीड़ित रहता था । अपने इष्टदेवका विशाल और नयनाभिराम चित्र, जिसे उच्च स्थानपर मैंने पूजार्थ रक्खा था, उसके अधोभागमें मानो प्रभुके पादारविन्दोंके नीचे मस्तक रखकर पड़ा-पड़ा मैं कराहता और भगवन्नामकी रट लगाये रहता था । मैं भगवन्नामका गान स्वान्तःसुखाय ही करता था, पीड़ा-निवारणार्थ कभी नहीं ।

मैं अपने स्वभावानुसार अपने प्रभुसे प्रभु-प्रेमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं माँगता था, न माँगना चाहता था । मैं सोचता था कि 'दुःख तो मेरे पूर्वकृत पापोंका फल है; इसे तो मुझे स्वेच्छासे ही भोग लेना उचित है । इसके निवारणार्थ प्रभुसे प्रार्थना क्यों करूँ ? इस छोटी बातके लिये अपने भगवान्को कष्ट क्यों दूँ ? फिर दुःख तो बुरी वस्तु भी नहीं है । दुःखसे आत्म-शुद्धि होती है, हृदयके विकार मिटते हैं । इससे तो लाभ-ही-लाभ है और महान् लाभ है । यदि दुःख लाभकारी नहीं होता, तो परम कृपालु प्रभु इसका विधान ही नहीं करते । जब कोई भी पिता अपने प्यारे पुत्रके लिये हानिकारक पदार्थ नहीं देता, तो वे परमपिता हम पुत्रोंके लिये दुःखकी सर्जना ही क्यों करते ?' मैं इसी निश्चयपर डटा रहता था और भिन्न-भिन्न सांसारिक दुःख जब-जब आ जाते थे, तब उन्हें झेलता हुआ यथा-सम्भव हरिनामकी रट लगाये रहता था । नामानन्द ही मेरा महानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द बना रहता था ।

एक दिन कुछ क्षणोंके लिये मेरा दर्द इतना बढ़ा कि मेरा चिर-निश्चित विचार अकस्मात् मूर्च्छित होकर डावाँडोल हो गया और जाने-अनजाने मेरे मुँहसे यह शब्दावली सहसा निकल पड़ी—'नाथ ! अब तो यह पीड़ा मिटाओ या इसे सहनेकी शक्ति दो ।' अपनी अर्ध-मूर्च्छित अवस्थामें ही अपने ही मुखसे उच्चरित इन शब्दोंको मैंने सुना । फिर क्या हुआ, मैं आपसे क्या कहूँ, कैसे कहूँ ? जैसे लहराता-उफनाता समुद्र पलक मारते सूख जाय, उसी प्रकार वह अपार पीड़ा क्षणार्द्धमें ही सहसा काफूर हो गयी । यह रोमाञ्चकारिणी आश्चर्यमयी घटना जैसे ही घटी, मैं फूट-फूट कर रोने लगा—'हाय ! मैंने यह क्या अनर्थ कर डाला ! अपने क्षणिक कष्टके निवारणके लिये प्रभुको ही कष्ट दे दिया ।' मुझे ऐसा लगा कि करुणामय प्रभु मेरे असह्य कष्टको देखकर करुणा-कातर हो रहे थे और बड़ी व्याकुलताके साथ मेरी पुकारकी प्रतीक्षा कर रहे थे । अधीरताकी परिस्थितिमें पीड़ा-मुक्तिकी पुकार जैसे ही मुखसे निकली

कि उन भक्तवत्सलने क्षणार्द्धमें ही अपनी करुणाके लोकोत्तर प्रकाशके द्वारा निविड कष्टान्धकारका निवारण कर दिया। यह है प्रभुकी प्रार्थनाका प्रोज्ज्वल प्रभुत्व-विहार, यह है निर्विकार पुकारका अलौकिक चमत्कार !

अब लीजिये, प्रार्थनाके चमत्कारकी दूसरी दिव्य और भव्य झाँकी। उन दिनों भगवत्प्रेरणासे कम-से-कम दस पंक्तियोंका एक भजन लिखकर ही मैं दिनका भोजन करता था। रविवारके अवकाशमें घर गया; तो परिवारके लोगोंने मझली कन्याके परिणयके लिये इतना प्रबल अनुरोध किया कि मैं चिन्ताकुल हो गया। अर्थाभाव ही इस चिन्ताका प्रमुख कारण था। यह अर्थ-चिन्ता भगवच्चिन्तनमें बाधक बन गयी और उस दिनके भजनमें अर्थ-चिन्तनका ही स्वर प्रधान बन गया। भजनकी कुछ पंक्तियाँ निम्नाङ्कित थीं—

प्रभुजी, कैसे धर्म निभाऊँ ?
अवलम्बित है धर्म अर्थपर, अर्थ कहाँसे पाऊँ ?
अर्थ बिना इस धर्म-तरीको कैसे पार लगाऊँ ?
अन्न कहाँसे, वस्त्र कहाँसे, द्रव्य कहाँसे लाऊँ ?
मोटी थैली तिलक-दानकी, मैं किस भाँति जुटाऊँ ?

भजन लिखकर मैं खड़ा हुआ और भोजनके लिये जाना ही चाहता था कि मेरे पड़ोसी एक माननीय मित्र वहाँ आ गये और मेरी मुख-मुद्रासे मेरी आन्तरिक चिन्ताको भाँप गये। ये मित्र इतने सच्चरित्र, मितभाषी और हितैषी थे कि मैंने अपनी चिन्ताका विषय इनसे स्पष्ट ही कर दिया।

मुझे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ा, जब बड़ी दृढ़ताके साथ आपने मुझसे कहा—'आप विवाह ठीक कीजिये, सारा वैवाहिक खर्च मैं दूँगा।' अपने मित्रकी सचाईका तो मैं पुजारी था, किंतु इनकी आर्थिक दुर्बलतासे भी पूर्ण परिचित था। इसलिये मैं उत्सुकतावश पूछ ही बैठा—'आप कहाँसे देंगे ?' उन्होंने चौगुनी दृढ़ताके साथ कहा—'इससे आपको क्या मतलब ? मैं कहींसे दे दूँगा।'

अब मैं कुछ बोल नहीं सका और वे उसी क्षण चले गये। मुझे विश्वास हो गया कि आजकी प्रार्थनामें अर्थ-चिन्ताका जो विकार आ गया, उसीके निवारणार्थ साक्षात् भगवान् ही मित्र-रूपमें आ गये और मुझे अर्थ-चिन्तासे पूर्णतः मुक्त कर गये। आजकी यह भाषा श्रीमन्नारायणकी थी; मेरे पड़ोसी मित्रकी नहीं।

भगवत्कृपाका ऐसा चमत्कार हुआ कि विवाह भी उसी दिन निश्चित हो गया और दस दिनोंके भीतर ही सारा वैवाहिक कार्य सानन्द सम्पन्न हो गया। इस विवाह-कार्यमें बिना माँगे ही मुझे अन्य दो मित्रोंसे ऐसी और इतनी आर्थिक सहायता आप-ही-आप मिल गयी, जिसकी आशातक मुझे नहीं थी। अपने पड़ोसी मित्रकी सहायताको तो कृतज्ञता-ज्ञापनपूर्वक मुझे रोक देना पड़ा; क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही।

इस प्रकारके एक अन्य संकटसे भी मेरी विवश और मूक प्रार्थनाने मुझे अनोखे ढंगसे बचा लिया। तबसे मैं अधिक सावधान रहता हूँ और प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि 'भगवत्प्रेमकी ही वृद्धि और दृढ़ताके लिये मैं प्रार्थना किया करूँ; अन्य किसी भी लक्ष्य-सिद्धिके लिये भगवत्प्रार्थी न बनूँ।'

हमारे लिये जो कुछ आवश्यक है, प्रभु हमें वही देते हैं। वस्तु-विशेषके हमें नहीं मिलनेका अर्थ है, प्रभुकी दृष्टिमें वह वस्तु-विशेष हमारे लिये हितकर और श्रेयस्कर नहीं है। इसलिये परम हितैषी प्रभुने हमें जो कुछ नहीं दिया है, वह अभाव ही हमारे लिये अत्यावश्यक है और जो कुछ दिया है, वही समुचित, परमावश्यक तथा कल्याणप्रद है।

औषधालयमें विविध प्रकारकी ओषधियाँ विद्यमान रहती हैं। किंतु हितैषी और चतुर चिकित्सक जिस व्यक्तिके लिये जो ओषधि बतला देता है, उसके लिये वही ओषधि लाभकारिणी होती है और जिसके लिये जो संयम बतला देता है, उसके लिये वही हितकारी सिद्ध होता है।

हमारे हिताहितका ज्ञान प्रभुसे अधिक है किसको और कौन है प्रभुसे बड़ा हमारा हितैषी ? फिर हम अपने परम हित-चिन्तक प्रभुकी पक्षातीत और तर्कातीत व्यवस्थापर विश्वासपूर्वक निर्भर क्यों न रहें ? प्रभुने हमें परिवार नहीं दिया, धन नहीं दिया, भवन नहीं दिया; इसमें हमारा कौन-सा कल्याण छिपा है, इसे वे सर्वज्ञ प्रभु ही जानते हैं; हम अल्पज्ञ जीव उन जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी परमेश्वरी व्यवस्थाको नहीं समझ सकते।

फिर वस्तु-विशेषके लिये उन सर्वज्ञ, सर्वसुहृद् प्रभुसे प्रार्थना क्यों ? पर यदि प्रार्थना करनी ही हो तो वह प्रभुसे ही मन-ही-मन की जाय; किसी सांसारिक प्राणीसे नहीं। यदि

प्रार्थना दोषमुक्त और कल्याणकारिणी होगी तो प्रभु उसकी पूर्ति करके हमें अनुगृहीत करेंगे या उस प्रार्थित पदार्थके लिये प्रादुर्भूत हुई हमारी याचकता या कामनाको ही जलाकर हमें सदाके लिये संतुष्ट और अनुकम्पित कर देंगे। यही होगा हमारे लिये चरम और परम लाभ। यह याचकता या कामना ही अखिल संसारको बलात् जलाती रहती है। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने अपना अमर संदेश देकर हमें सचेत किया है—

जग जाँचिअ कोउ न, जाचिअ जौं
जियँ जाँचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाँचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

(कवितावली, उ० कां० २८)

प्रार्थना, स्तुति और गुणगान

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी श्रीवास्तव 'अनुराग')

वैसे व्यावहारिक बोलचालमें 'प्रार्थना' शब्दके अन्तर्गत स्तुति और गुण-कीर्तन भी समझ लिया जाता है; और 'कल्याण'के प्रस्तुत इस वर्षके विशेषाङ्कके नामकरणमें भी 'प्रार्थना' शब्दका प्रयोग कुछ ऐसे ही व्यापक अर्थमें प्रतीत होता है; फिर भी प्रार्थना, स्तुति और गुणगानका अपना-अपना कुछ विशेष स्थान भी है और इनके सूक्ष्म भेदको अलग-अलग करके समझ लेना साधकके लिये समयपर उपयोगी होता है।

प्रार्थनामें भगवान्के प्रति कोई-न-कोई माँग होती है। संसारमें भी किसी उच्च अधिकारीको कोई प्रार्थनापत्र दिया जाता है तो उसमें कोई माँग अवश्य होती है। यही बात भगवान्की प्रार्थनामें भी समझनी चाहिये।

प्रार्थनामें माँगके साथ ही अपनी आवश्यकताका स्पष्टीकरण, साथ ही उस आवश्यकतापर विशेष बल देनेके लिये दैन्य और कार्पण्यका प्रदर्शन भी प्रार्थनाका महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता है। यही बात भगवान्की प्रार्थनाके सम्बन्धमें भी है।

पर संसारी अधिकारियोंके प्रति दिये हुए प्रार्थनापत्रोंमें और भगवान्की प्रार्थनामें बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि संसारी अधिकारियोंके प्रति दिये गये प्रार्थनापत्रोंमें प्रायः झूठ और कपट भी चल जाता है; कारण कि यहाँ प्रार्थना सुननेवाले अधिकारी सर्वज्ञ और अन्तर्यामी नहीं होते; उन्हें तो यथार्थताकी जाँचके लिये केवल युक्तियोंका सहारा लेना पड़ता है; पर भगवान् सर्वज्ञ और सबके हृदयके जाननेवाले सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिये उनके प्रति झूठ और कपट नहीं चल सकता। अतएव भगवान्के प्रति प्रार्थनामें यह आवश्यक है कि उस प्रार्थनाके अन्तर्गत की हुई माँगके सम्बन्धमें आवश्यकताका स्पष्टीकरण निष्कपट भावसे बिल्कुल सत्य और यथार्थ हो और इसी प्रकार उस आवश्यकतापर विशेष बल देनेके लिये दैन्य और कार्पण्यका प्रदर्शन भी बिल्कुल सच्चे हृदयसे हो, न कि केवल दिखावटी शिष्टाचार अथवा बोलनेकी परम्पराके रूपमें। तभी प्रार्थनामें सफलताकी भी आशा की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त हम जिस बातके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं, उस अपनी माँगके यथार्थ औचित्यके सम्बन्धमें भी, हमें प्रार्थना करनेके पूर्व ही, स्वयं अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि यदि प्रार्थनामें की हुई माँग परिणाममें स्वयं प्रार्थना करनेवाले भक्त-साधकके लिये हितकर नहीं है; पर किसी प्रकारकी संसारी आसक्तिके वश होकर वह उसे ठीक ही समझता है, तो ऐसी स्थितिमें, अथवा यह कि उस माँगकी पूर्तिसे स्वयं भगवान्के ही लोकसंग्रहकी व्यवस्थामें कोई विशेष विक्षेप पड़ता है, ऐसी स्थितिमें, या तो वह प्रार्थना निश्चय ही अनसुनी-जैसी अस्वीकार हो जाती है, अथवा उसके स्वीकार करनेमें भगवान्को संकोच होता है और भगवान्को संकोचमें डालकर अपनी बात मनवानेका आग्रह भक्तिके आदर्शके अनुकूल नहीं है; जैसा कि श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डके अन्तर्गत चित्रकूट-प्रसङ्गमें धर्म और प्रेमकी साक्षात् मूर्ति भरतके वचनोंमें स्पष्ट है—

'जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'

प्रार्थनामें माँगसे सम्बन्धित, भगवान्के कतिपय यश और गुणोंकी भी चर्चा साथ रहती है; पर प्रधानता माँगकी ही रहती है। उदाहरणके लिये जैसे—

'दीन दयाल बिरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥'
मैं केहि कहौं बिपति अति भारी । श्रीरघुबीर धीर हितकारी ॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥
अति कठिन करहिं बरजोरा । मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा । मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा ॥
अति करहिं उपद्रव नाथा । मरदहिं मोहिं जानि अनाथा ॥
मैं एक, अमित बटपारा । कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥
भागेहु नहिं नाथ उबारा । रघुनायक, करहु सँभारा ॥

दीनहित बिरद पुराननि गायो ।
आरत-बंधु, कृपालु, मृदुलच्चित, जानि सरन हौं आयो ॥
तुम्हरे रिपु को अनुज बिभीषन, बंस निसाचर जायो ।
सुनि गुन सील सुभाउ नाथ को, मैं चरननि चित लायो ॥
जानत प्रभु दुख सुख दासनि को, तातें कहि न सुनायो ।
करि करुना भरि नयन बिलोकहु, तब जानौं अपनायो ॥

× × × ×

नाथ जू अबकै मोहिं उबारो ।
पतितन में बिख्यात पतित हौं, पावन नाम तुम्हारो ॥

× × × ×

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहि करो ॥

—इत्यादि ।

इन उद्धरणोंमें माँगसे सम्बन्धित भगवान्‌के कतिपय यश और गुणोंकी चर्चा करते हुए प्रधानता माँगकी ही है । फिर भी इन उद्धरणोंमें तो माँग भी ऊँचे स्तरकी वही है जिसमें अपनी दुर्बलताओंको प्रकट करते हुए भगवान्‌की कृपा, शरणागति, भक्ति और प्रेमकी ओर आगे बढ़नेकी अभिरुचि आदि ही मुख्य हैं । इसके अतिरिक्त लौकिक माँगें भी प्रार्थनामें होती हैं; जैसे शारीरिक-मानसिक कष्टकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना, धन और पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रार्थना, खेतीके लिये जल-वर्षाकी प्रार्थना, युद्धमें अपनी विजयके लिये प्रार्थना, विश्वशान्तिके लिये प्रार्थना इत्यादि । यह है प्रार्थनाका स्वरूप ।

'स्तुति'में माँग होती भी है और नहीं भी होती । तात्पर्य यह कि स्तुतिमें प्रार्थनाकी तरह माँगका होना आवश्यक नहीं है । किंतु स्तुतियोंमें, जिन स्तुतियोंके साथ माँग होती भी है, उनमें भी भगवान्‌के यश और गुणोंका वर्णन अधिक और मुख्य होता है । माँगके सम्बन्धमें स्तुतिके बीच अथवा अन्तिम भागमें थोड़ा संकेतमात्र होता है । जैसे श्रीरामचरितमानस, बालकाण्डमें गौरूप पृथ्वी और देवताओंके साथ ब्रह्माजीकी स्तुति । यथा—

सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर ।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर ॥
जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता ।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता ॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई ।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई ॥

—इत्यादि ।

इस स्तुतिमें परिस्थितिके अनुसार यद्यपि रावणादि निशाचरोंका वध ही स्तुतिका मुख्य हेतु होनेसे उद्देश्यके रूपमें प्रधानता माँगकी ही है; फिर भी इसमें चार छन्दोंकी लंबी स्तुतिमें, विस्तार केवल भगवान्‌के गुण और ऐश्वर्यके वर्णनका ही पाया जाता है । माँगके सम्बन्धमें केवल बीचमें 'सो करउ अधारी चिंत हमारी,' 'द्रवउ सो श्रीभगवाना' और अन्तिम पंक्तिमें 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा' । बस, इतना ही संकेत मिलता है ।

स्तुति प्रायः माँगके पूरी हो जानेपर भी होती है । उसमें प्रधानता भगवान्‌के यश और गुण-वर्णनकी ही रहती है; पर माँगके सम्बन्धमें, माँग पूरी हो जानेके लिये, स्तुतिके बीच अथवा अन्तमें धन्यवाद और कृतज्ञताके रूपमें कुछ शब्दोंका प्रयोग होता है; जैसे श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत, रावण-वधके पश्चात् देवराज इन्द्रके द्वारा की हुई भगवान् श्रीरामकी लंबी स्तुतिमें बीचमें इन्द्र कहते हैं—

यह दुष्ट मारेउ नाथ । भए देव सकल सनाथ ॥
लंकेस अति बल गर्ब । किए बस्य सुर गंधर्ब ॥
मुनि सिद्ध नर खग नाग । हठि पंथ सब के लाग ॥
परद्रोह रत अति दुष्ट । पायो सो फल पापिष्ट ॥

रावण-वधके पश्चात् इन्द्रकी स्तुतिके साथ-ही-साथ उसी अवसरपर ब्रह्मा और शंकरजीके द्वारा भी भगवान् श्रीरामकी लंबी स्तुति पायी जाती है; पर उसमें माँगके सम्बन्धकी कोई विशेष चर्चा नहीं है । केवल यश और गुणोंका ही वर्णन है । कारण कि रावणादिके वधके लिये, माँगके सम्बन्धमें प्रधानता इन्द्रादि अन्य देवताओंकी थी । उनके लिये ही पूर्वमें ब्रह्माजीने भगवान्‌की स्तुति की थी ।

रही लंबी स्तुतियोंमें अन्य कोई संसारी माँग न होते हुए भी भगवान्‌की भक्ति और उनके प्रति प्रेमकी याचना; यह

कोई माँग नहीं है। यह तो भक्तोंका स्वरूप है। माँगसे तात्पर्य, मुख्य रूपसे संसारी पदार्थोंकी माँग अथवा साधनामें निर्विघ्नताकी माँगसे ही होता है।

कभी-कभी किन्हीं विशेष अवसरोंपर भगवान्‌के गुण और स्वभावसे आकर्षित और आह्लादित होकर उनकी स्तुति करनेके लिये हृदय उत्साहित हो उठता है; उसमें भी कोई माँग न होकर भगवान्‌के गुणोंकी प्रशंसा ही होती है। जैसे धनुषयज्ञ-प्रसङ्गमें लक्ष्मण और परशुराम-संवादके पश्चात् अवतारके रूपमें पहचान लेनेपर परशुरामके द्वारा श्रीरामकी स्तुति—

जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी॥
बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥
सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥
—इत्यादि।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार प्रार्थना और स्तुतिका प्रयोग, किसी प्रकारकी माँग, माँग पूरी होनेपर धन्यवाद, अथवा किसी अवसरपर विशेष प्रशंसा करनेकी उत्सुकता आदि विशेष स्थितियोंमें होनेसे 'प्रार्थना' और 'स्तुति' प्रायः परिस्थितिजन्य ही हुआ करती हैं।

प्रार्थनामें अपनी माँगपर विशेष बल देनेके लिये श्रद्धा और प्रेमके वातावरणमें कभी-कभी भगवान्‌के प्रति उनके विरदके ही सहारे शिकायत भी होती है; जैसे—

काहे ते हरि मोहिं बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥
× × ×
खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ, तहँ हौं हूँ बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान! परसत पनवारो फारो॥
कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।
जेहि करुना सुनि श्रवन दीन-दुख, धावत हौ तजि धाम॥
× × ×
एक एक रिपु ते त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।
अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु, कस न हरहु भव पीर॥
लोभ-ग्राह, दनुजेस-क्रोध, कुरुराज-बंधु खल मार।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख, भंजहु राम उदार॥
केसव! कारन कवन गोसाईं।
जेहि अपराध असाध जानि मोहिं, तजेउ अग्यकी नाइ॥
परम पुनीत संत कोमल-चित, तिनहिं तुमहिं बनि आई।
तौ कत बिप्र ब्याध, गनिकहिं, तारेहु, कछु रही सगाई॥
× × ×
जद्यपि नाथ उचित न होत अस, प्रभु सों करौं ढिठाई।
तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई॥
—इत्यादि

पर इस प्रकारकी शिकायत भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-विश्वास और प्रेमके वातावरणमें ही शोभित और उपयुक्त होती है; अन्यथा कुछ लोग अपनी तुकबन्दियोंकी कवितामें, लोगोंके समक्ष केवल मनोरंजन और कौतूहलके रूपमें अपनी चतुराईका प्रदर्शन करते हुए भगवान्‌के प्रति इस तरह शिकायतके वाक्योंका प्रयोग करते हैं। वह सर्वथा अनुचित, कोरी धृष्टता और अनधिकार-चेष्टा है। सहृदय साधकोंको प्रार्थनामें इस बातके लिये भी सावधान रहना चाहिये।

ऊँचे स्तरकी भक्ति-भावनाकी स्थितिमें प्राप्त हो जानेपर तो भक्तजन अपने हितमें किसी प्रकारकी, संसारी माँगयुक्त प्रार्थनाको अपनेमें स्थान देना ही बंद कर देते हैं। वे भगवान्‌के प्रति संसारी माँगयुक्त कोई प्रार्थना करते ही नहीं; क्योंकि भक्तकी यथार्थ आवश्यकताको भगवान् स्वयं समझते और उसके लिये सतत सावधान रहते हैं, तब अपनी ओरसे किसी माँगके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता ही क्या है? ऐसी उनकी धारणा बन जाती है। फिर भी पराये दुःखको देखकर द्रवीभूत हो जाना भक्तों और संतोंका स्वभाव ही हुआ करता है। यथा—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

अतएव यथासमय ऊँचे स्तरके संत और भक्त भी समाजकी अति आर्त और दीन-दशा देखकर लोक-कल्याणके लिये भगवान्‌के प्रति प्रार्थनाका रुख प्रायः अपना लेते हैं; और वस्तुतः उन्हींकी प्रार्थना यथार्थरूपमें सफल भी होती है। संतभक्त अपने लिये तो भगवान्‌के चिन्तनके सिवा और कुछ चाहते ही नहीं।

यहाँतक हुआ प्रार्थना और स्तुतिकी विभिन्न रूपरेखाओंका स्पष्टीकरण।

अब बिना किसी विशेष प्रयोजन अथवा कामनाके, सतत ही भगवान्‌के गुणोंके स्मरण, कीर्तन और गानमें तो

110362

भक्तोंकी स्वाभाविक अभिरुचि होती है और इससे भगवान्में स्वाभाविकरूपसे अनुराग और प्रेमकी ही वृद्धि होती है। यथा—

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥

× × ×

समुझि समुझि गुनग्राम रामके, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥

इस प्रकार स्वाभाविक गुणगानके उदाहरण, जैसे—

ऐसी हरि करत दास पर प्रीती।
निज प्रभुता विसारि जनके बस, होत सदा यह रीती॥

× × ×

बिरद गरीबनिवाज रामको।
गावत बेद पुरान संभु सुक, प्रगट प्रभाव नाम को॥

× × ×

जो पै हरि जनके औगुन गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सौं, कत हठि बैर बिसहते॥

× × ×

रघुपति बिपति-दवन।
परम कृपालु, प्रनत-प्रतिपालक, पतित-पवन॥

× × ×

है नीको मेरो देवता, कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन, सुठि सुंदर स्याम॥

× × ×

ऐसी प्रीतिकी बलि जाउँ।
सिंहासन तजि चले मिलन कौं, सुनत सुदामा नाउँ॥

× × ×

हरि सौं ठाकुर और न जन कौ।
जिहिं जिहिं बिधि सेवक सुख पावै, तिहिं बिधि राखत मन कौ॥

भक्तोंमें इस प्रकार भगवान्के गुणगानमें स्वाभाविक प्रीति और अभिरुचिको श्रीरामचरितमानसके अन्तर्गत, स्वयं भगवान् रामचन्द्रके वाक्योंमें भक्तोंके मुख्य लक्षणके रूपमें व्यक्त किया गया है। यथा—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥

× × ×

मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥

मानस, अयोध्याकाण्डके [illegible], वाल्मीकिजीने भगवान्के निवासके लिये १४ स्थानोंका वर्णन करते हुए इस प्रकार भगवान्के गुणोंके कीर्तन और चिन्तनमें अनुरक्त भक्तोंके सम्बन्धमें कहा है—

जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हिय तासु॥

इस दोहेमें प्रभुके यशको विमल मानसरोवर और उनके गुणगणको मुक्ताहल कहा है, जिन्हें जिह्वारूप हंसिनी चुगा करती है। अब यश और गुण, दोनों शब्द साधारण बोलचालमें लगभग पर्याय-जैसे ही प्रयोगमें आते हैं; जैसे भगवान्का यश-गान, अथवा भगवान्का गुण-गान—दोनोंका तात्पर्य व्यवहारमें एक-जैसा ही है। पर उक्त दोहेमें यशको मानसरोवरके स्थानमें और गुणगणको उस मानसरोवरमें प्राप्त होनेवाले मुक्ताहलके रूपमें कहा है; तो दोनों शब्दोंके प्रयोगमें तात्पर्यकी दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म, मार्मिक भेद अवश्य है।

अब इस भेदको जाननेके लिये यत्र-तत्र दोनों शब्दोंके प्रयोगपर अनुसंधान करनेपर बहुत ही स्पष्टरूपमें झलक यह मिलती है कि भगवान्के चरित्रोंमें जहाँ-जहाँ उनकी ओरसे जीवोंपर दया, कृपा, उपकार और संरक्षण-जैसे प्रसङ्ग आते हैं, जिनसे श्रोताओंके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा, विश्वास और महिमाका भाव जाग्रत् होता है, उन्हें 'यश' कहा गया है; और जिन प्रसङ्गोंमें भगवान्के विशेष शील-स्वभाव तथा भक्तों एवं आश्रितोंपर करुणा तथा प्रगाढ़ स्नेह और वात्सल्यकी ओर लक्ष्य होता है; और जिन प्रसङ्गोंको सुनते ही श्रोताओंका हृदय, उन प्रभुके प्रति प्रेम और अनुरागसे पुलकित और गद्गद हो उठता है; उन प्रसङ्गोंके अन्तर्गत, श्रोताओंपर इस प्रकार प्रेमोद्दीपनका प्रभाव डालनेवाली, भगवान्के शील-स्वभाव तथा भक्तोंपर प्रगाढ़ स्नेहसे सम्बन्धित विशेषताओंको 'गुण' कहा गया है। उदाहरणके लिये कुछ प्रसङ्ग दिये जाते हैं, जिनमें स्पष्टरूपसे इस बातका दिग्दर्शन किया जा सकता है।

अहल्योद्धारका प्रसङ्ग ही ले लीजिये। भगवान्ने अपने चरणोंके स्पर्शसे अहल्याको शापसे मुक्त कर उसे

पुनः अपने पतिको प्राप्त कराया; यह बात 'यश' के रूपमें ग्राह्य है । यथा—

'जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई ।'

साथ ही उसी प्रसङ्गमें अहल्याका उद्धार कर आगे बढ़नेपर भगवान् उसीके सम्बन्धमें उसे शापसे मुक्त करनेकी बातपर बिल्कुल ही ध्यान न देकर उल्टे अपने सम्बन्धमें किस प्रकार पश्चात्ताप करते हैं ? यह बात विनय-पत्रिकाके एक पदकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें ध्यान देने योग्य है । यथा—

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल, सो नर खेहर खाउ ॥

× × ×

सिला साप संताप बिगत भइ, परसत पावन पाउ ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ ॥

यही 'गुण' है । पछिताव यह कि 'हमने क्षत्रिय राजकुमार होकर एक ब्राह्मणी ऋषि-पत्नीको अपने चरणोंका स्पर्श करा दिया ।' भगवान्के इस पछितावेको यद्यपि श्रीरामचरितमानसमें स्पष्टरूपसे नहीं कहा गया; पर उस प्रसङ्गमें ग्रन्थकारकी वर्णनशैलीसे वह बात यहाँपर भी झलक जाती है । वह इस प्रकार कि जब राम-लक्ष्मण दोनों भाई अयोध्यासे विश्वामित्रजीके साथ चले; वहाँपर ग्रन्थकार 'हरषि चले' शब्द देते हैं । यथा—

पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन ।

इसी प्रकार जब विश्वामित्रजीके आश्रमसे उनके साथ जनकपुरको चले, उस अवसरपर भी चलते समय 'हरषि चले' शब्द दिया है; यथा—

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा । हरषि चले मुनिबर के साथा ॥

पर अहल्याका उद्धार करके आगे बढ़नेके अवसरपर 'हरषि चले' न कहकर केवल 'चले' शब्द दिया है; यथा—

चले राम लछिमन मुनि संगा । गए जहाँ जग पावनि गंगा ॥

जब कि गङ्गास्नान करके आगे चलनेके अवसरपर पुनः पहलेकी भाँति 'हरषि चले' शब्द ही दिया है । यथा—

हरषि चले मुनि बृंद सहाया । बेगि बिदेह नगर निअराया ॥

इस प्रकार क्रमशः चार स्थलोंसे प्रस्थान करते हुए, तीन स्थलोंपर 'हरषि चले' और बीचमें अहल्योद्धार करके आगे बढ़नेके अवसरपर ही 'हरषि चले' न देकर केवल 'चले' शब्द देनेसे मार्मिकरूपसे यहाँपर भी यह बात झलक जाती है ।

शबरीके प्रसङ्गमें देखिये—

जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि अस नारि ।
(यश)

साथ ही, विनयपत्रिकामें, उसी शबरीके सम्बन्धमें—

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरीके फलनि की, रुचि माधुरी न पाई ॥
(गुण)

इसी प्रकार विभीषणके प्रसङ्गमें—

रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड ।
जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
(यश)

साथ ही लंकाकाण्डके अन्तर्गत, राम-रावण-युद्धके अवसरपर जब रावणने विभीषणके लिये शक्तिका प्रहार किया था, उस प्रसङ्गमें—

आवत देखि सक्ति अति घोरा । प्रनतारति भंजन पन मोरा ॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला । सनमुख राम सहेउ सोइ सेला ॥
(गुण)

ऐसे ही जटायुके प्रसङ्गमें—

गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥
(यश)

साथ ही उसी जटायुके प्रसङ्गमें, गीतावलीमें भगवान् श्रीरामके हृदयोद्गार उसी गीध जटायुके प्रति—

राघौ गीध गोद करि लीन्हों ।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि, मनहुँ अरघ जल दीन्हो ॥
सुनहु लखन खगपतिहि मिले बन, मैं पितु मरन न जान्यो ।
सहि न सक्यौ सो कठिन बिधाता, बड़ो पछु आजुहि भान्यो ॥

× × ×

मेरे जान तात ! कछू दिन जीजै ।
देखिय आपु सुवन सेवा सुख, मोहिं पितु को सुख दीजै ॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग, बिधि मनाइ मँगि लीजै ।
हरि हर सुजस सुनाइ, दरस दै, लोग कृतारथ कीजै ॥
(गुण)

सामाजिक सदाचार और प्रार्थनाका प्रभाव

(लेखक—श्रीमहावीरप्रसादजी प्रेमी)

भारतवर्ष आरम्भसे ही सामाजिक सदाचार, आत्मिक ज्ञान और आध्यात्मिक आनन्दको प्रमुख एवं भौतिक सुखको गौण माननेवाला देश रहा है। धर्म (सदाचार) आत्मा है और समाज उसका शरीर। परंतु भौतिकवादके इस युगमें आज समस्त विश्व ऐसी अनर्गल आशा-तृष्णाओंके दावानलमें अपनी आत्माको होम करता जा रहा है, जिसकी लपटसे हमारा देश भी नहीं बचा है। जब कि आज घोर आर्थिक विषमता, खाद्यान्नकी कठिन समस्या, दुःख-दारिद्र्य, व्यवसाय-व्यापारमें अनाचार, अधिकारियोंमें व्यापक भ्रष्टाचार, मुद्रा-स्फीति, भीषण कर-भार, चोरबाजारी, घूसखोरी, बेकारी, भुखमरी तथा कूटनीतिके भयानक सिर-दर्दके कारण जन-समुदाय संत्रस्त है, तो दूसरी ओर कतिपय लोग मोहवश आवश्यकतासे अधिक संग्रह करने, भोग-विलासमें लिप्त रहने और अधिक-से-अधिक ममताका विस्तार करनेमें लगे हैं। सच पूछा जाय, तो आज जन-समुदायके अधिकांश भाग—

खरच बढ्यो, उद्यम घट्यो, नृपति न्यायसे हीन।
कहु 'प्रेमी' कैसे जिये, थोड़े जलकी मीन॥

—में यह उक्ति चरितार्थ हो रही है। आज जो संसार दुखी है, भौतिक विषमता फैली हुई है, विस्तारवादी और क्रूर मनोवृत्तिके तत्त्वोंके कारण युद्धके बादल मँडरा रहे हैं, एक राष्ट्र या एक गुट, दूसरे राष्ट्र या दूसरे गुटका विरोध कर रहे हैं,—ये सब विषयासक्ति और लोभ-वृत्तिके ही परिणाम हैं।

आज अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और संयमके साथ-ही-साथ सह-जीवनकी भावना भी धीरे-धीरे न्यून होती जा रही है। हर तरफ अपराध बढ़े जा रहे हैं। इस हालतमें कविकी यह माँग उचित ही है—

जिस राह है खोफ़ोखतर, उस राहसे इन्सां न चल।
जुर्मोगुनाहके बोझसे वरना गिरेगा सिरके बल॥
छाई है जुल्मत हर तरफ़ अंधा न बन अब भी सम्हल।
मुड़ दौड़ भाग आ इस तरफ ताकत अभी है पाँवमें॥
आराम इज्जत जिंदगी सब है विभु (खुदा) की छाँवमें।
जिंदगी उनकी जो हैं खिदमतें इन्सांकी चाव में॥

अतः अन्याय और अनाचारका त्याग करके हमें यथासम्भव शीघ्र ही उच्चादर्शोंकी चिरस्थायी रूपसे स्थापना करनी ही पड़ेगी। तभी न्याय और प्रेमका विस्तार होगा। शास्त्रकी दृष्टिमें व्यक्ति-व्यक्तिके स्वभाव या चरित्रका सुधार ही सामाजिक-सुधारका सहज उपाय है। इसके लिये सामाजिक अज्ञानताका उन्मूलन और सत्-शिक्षाके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प और नैतिक चरित्र-बलके साथ कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंका सामना वीरता, युक्ति, योग्यता और कर्मकुशलतापूर्वक—'तुम डाल-डाल, हम पात-पात'की गतिसे करनेपर हम अपनी, अपने परिवार, समाज, राष्ट्रके अतिरिक्त विश्वकी स्थितिको भी उत्तरोत्तर उत्तम बना सकते हैं। एक दूसरेके प्रति सद्व्यवहार करनेसे, व्यवहार-कुशलतासे परस्पर स्नेह, संतोष, सद्भाव, उदारता और प्रसन्नताकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। प्रेमका उद्गम सज्जनता, सद्वर्तावसे होता है। दुष्टता और दुर्बुद्धिकी भावनाएँ मनमें रहें, तो किसीके प्रति सच्चा सुन्दर व्यवहार बन ही न पड़ेगा, तब प्रेमका उदय कैसे होगा? कूटनीति और चतुरताके माध्यमसे जो नकली, बनावटी तथा मिथ्या शिष्टाचार बरता जाता है, वह देरतक किसीको भ्रममें नहीं रख सकता, उसकी कलई सहज ही खुल जाती है। किंतु जहाँ स्वाभाविक, सरल, सच्चे या निश्छल सौमनस्य या सद्भाव रहते हैं, वहाँ प्रेम, भ्रातृभाव एवं विश्वास स्वयमेव उत्पन्न होता है। जब कुछ व्यक्तियोंके बीच प्रेम और विश्वासका सम्बन्ध रहता है, तब वे आपसमें मित्र कहलाते हैं और ऐसे मित्रोंद्वारा दूसरेके प्रति बरते जानेवाले सद्व्यवहारसे जितना अधिक सुख मिलता है, उसकी तुलना दुनियाकी और किसी भी सुख-शान्तिसे नहीं हो सकती।

उन्नतिके साधन

आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रगतिका एकमात्र माध्यम सदाचार है। मनुष्यका भावना-स्तर ऊँचा होनेपर ही उसके द्वारा सत्कर्म बन सकते हैं। सत्कर्मोंके द्वारा ही शक्ति एवं प्रगतिके साधन सम्पन्न होते हैं। पुरुषार्थी और परिश्रमी लोग अपनी लगन और अध्यवसायके आधारपर उन्नतिके उच्च शिखरतक जा पहुँचते

हैं। पूरे परिश्रम, सचाई, ईमानदारी, परहितकामना तथा कार्य-कुशलतासे कमाया हुआ द्रव्य फूलता-फलता और स्थायी उन्नतिका आधार बनता है। पर, अनीति एवं बेईमानीसे दूसरेका स्वत्व मारकर जो कुछ कमाया गया है, वह नये-नये उपद्रव खड़े करता रहता है तथा अन्ततः शोक-संताप देता हुआ नष्ट हो जाता है। हमें यदि यह पता हो कि अमुक वस्तु अधिक अच्छी है और फिर भी हम उसे न अपनायें, तो हम एक बहुत बड़ा गलत काम कर रहे होंगे। प्रेम और दया अन्ततोगत्वा द्वेष और क्रूरताकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ शक्तिशाली है। धर्म अधर्मको जीत लेगा और सत्यकी असत्यपर विजय होगी।

स्वतन्त्रता-प्राप्तिके आन्दोलनके समय जनताको सम्बोधित कर श्रीगांधीजीने कहा था—

'तुम्हारे पास सब कुछ है, कौन कहता है तुम निर्बल हो, असहाय हो या तुम्हारे पास कुछ नहीं है, जबकि तुम्हारी आत्मा अजर-अमर है—तुम अजेय हो। किसीके अनुचित दबावको आश्रय न दो, अन्यायको मत सहो। सत्यकी प्राप्ति तथा रक्षाके लिये यदि आवश्यकता पड़े, तो प्राण भी दे दो।'

युग-धर्मके अनुरूप

आजकी विश्वव्यापी आपाधापी और घपलेबाजीको देखकर ऐसा लगता है कि जिस प्रकार अच्छे-से-अच्छे पालिशवाले, चमकते हुए इस्पातपर भी जंग चढ़ जाती है, आजके सभ्य-से-सभ्य समुदाय एवं देशपर भी जंगलीपन चढ़ गया है। अतः हमें चाहिये कि हम सांसारिक भोगैषणाके मिथ्या रागसे बचे रहने तथा सही रास्ता चुनने और उसपर चलनेके लिये शरीरको जलसे पवित्र, मनको सत्यसे निर्मल एकाग्र, बुद्धिको तेजसे परिपूर्ण और उसे आत्मामें नियोजित करके आत्मज्ञान और उसके माध्यमसे परमात्माका दिव्य प्रकाश प्राप्तकर तेजस्वी बनें, दुर्बलता त्यागें, अपने-आपको पहचानें और पतन तथा सर्वनाशसे विश्वको बचानेके लिये अपनी राष्ट्रीय सुरक्षाके लिये आधुनिक साधन-उपकरणोंसे भी अधिक अपनेमें नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करें। हम युगके अनुरूप सोचते चलें, पर अपनी आध्यात्मिक सच्ची विजयकी राहको कभी न छोड़ें। हम सबको सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य—शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक स्वस्थताका अध्यात्मके आधारपर तैयार करना है। इसीके साथ-ही-साथ प्राण-रक्षाके साधन खाद्य-पदार्थों एवं औद्योगिक साधनोंको, उत्पादन एवं न्यायोचितरूपसे आवश्यकतानुसार वितरण-व्यवस्थाको भी ठोस बनाना है, जिसमें सब लोग जीवन-रक्षाकी चिन्तासे निश्चिन्त हो, कठिन परिस्थितियोंका सामना और अपना सर्वांगीण विकास कर सकें।

× × × ×

आत्म-ज्ञान-विज्ञान

सच्चा ज्ञान तो आत्मज्ञान है। शिक्षाकी किसी भी उत्तम पद्धतिका उद्देश्य मनुष्यका संतुलित विकास होना चाहिये 'ज्ञान-विज्ञानसहितम्'। शिक्षा केवल बुद्धिको ही विकसित न करे, बल्कि मनुष्यकी आत्माको भी पवित्र और सौन्दर्य प्रदान करे। अध्यात्मके साथ विज्ञानका समन्वय कर सत्यका अनुसंधान करना एक ईश्वरीय कार्य है; क्योंकि ईश्वर ही सत्य है, प्रेमस्वरूप सत्यनारायण है। विज्ञान हमें इस बातकी ओर प्रेरित करता है कि हम प्रत्येक विषयमें प्रयोगसिद्ध और अनुभवगम्य दृष्टिकोण रक्खें। अनुभव केवल उपलब्ध ज्ञान अथवा अन्तरावलोकन (स्वाध्याय) के निर्दिष्ट सिद्धान्तोंतक ही सीमित नहीं है। अनुभव आध्यात्मिक और अभौतिक सृष्टिको भी बोधगम्य बनाता है और अनुभव ही सब धर्मोंका मूल तत्त्व है। प्राचीन उपनिषत्कारोंने कहा है—'जिससे सब ज्ञात हो सके वही विज्ञान है।' और आज हमारी अध्यात्म-विद्याके आधारोंपर ही वर्तमान विज्ञान अपना चमत्कार दिखला रहा है।

प्रेम ही परमेश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेमका अर्थ होता है—दो आत्माओंका अनन्तमें मिलन। एक दूसरेके प्रति समर्पण। सबसे बड़ा प्रकाश केवल प्रेम ही दे सकता है। जो कुछ भी यहाँ सद्गुणरूपमें पाया जाता है, वह प्रेममेंसे ही उत्पन्न होता है। तभी तो एक प्रेमोपासकका यह हृदयोद्गार है कि 'हे प्रभु! मुझे तू प्रेम प्रदान कर और वह भी केवल प्रेमके लिये।' आत्मिक प्रेमीके उन्मादकी कुछ क्षीण प्रतिध्वनि है। आत्मिक प्रेमी वे होते हैं, जो परमात्माके प्रेममें रँगकर पागल हो जाते हैं। वह मीठी मदिरा, जिसे प्रत्येक धर्मके महात्माओं और ऋषियोंने बनाया है, जिसे ईश्वरके अनन्य भक्तोंने अपना हृदय-रस घोल दिया है, जिनमें उन सब निःस्वार्थ प्रेमियोंकी आशाएँ बराबर उठ रही हैं, जिन्होंने सत्य-प्रेम पानेकी ही आशासे प्रेम किया था, उसी मीठी मदिराका प्याला ईश्वर (प्रेमास्पद) के प्रेमी पीना चाहते हैं। उन्हें प्रेम छोड़कर अन्य किस

वस्तुकी इच्छा नहीं। प्रेमका फल प्रेम है। पर, वह कैसा सुन्दर फल है। प्रेम ही एक वस्तु है, जो हमारे सब दुःखोंको दूर कर सकती है तथा प्रेमकी ही वह मदिरा है, जिसे पीनेसे इस संसारके सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

अन्तमें हम देखते हैं कि एक शाश्वत धर्मके अन्तर्गत जितने उपधर्म हैं, उन सभी उपधर्मोंका लक्ष्य केवल एक है—आत्मा और परमात्माका पूर्ण मिलन।

वैज्ञानिक प्रार्थना

सत्प्रेमरूपी परमात्मा या अदृश्य-शक्तिस्वरूप 'ॐ' नामका जाप, संकीर्तन, सत्संग, भजन और पूजन करनेके पूर्व 'भाव-शुद्धि' पर निरन्तर ध्यान रक्खें और अपनी मनोवृत्तिको पवित्र, एकाग्र एवं मनोबल ऊँचा रक्खें—

प्रार्थना और समाधिद्वारा यौगिक उपासनाका बड़ा महत्त्व है। इसकी सफलताके लिये मनोबल, चित्तकी एकाग्रता—जो अभ्यास एवं वैराग्यसे प्राप्त होती है—के साथ-ही-साथ लक्ष्य (आत्मा-परमात्माके दिव्यज्ञानालोक) की प्राप्तिमें मनका प्रोत्साहन (बुझे न दिलका दीया), मानसिक प्रसन्नता-संबल सिद्ध होता है। तभी तो कहा गया है कि—**'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** अर्थात् तनके राजा मनमें स्वस्थ (निर्दोष) एवं शुभ-संकल्पकी भावना निरन्तर रहना नितान्त आवश्यक है और इसमें कोई संदेह नहीं कि फूल, कली, उपवन, बुलबुल, प्रिय एवं प्रेमी—सबमें एक उसी दीपक (ब्रह्म) का प्रकाश है। उसके प्रति 'सोई परीति अनुराग बखानिवे, जो तिल-तिल नूतन होई।' इस विषयमें प्रार्थना-प्रेमी गांधीजीकी विचार-धाराका निचोड़ कार्यान्वित करना परमावश्यक है—'(१) 'सत्य' जीवनका लक्ष्य, (२) 'संयम' जीवनकी पद्धति और (३) 'सेवा' जीवनका कार्य।'

तेज-युक्त 'ओम्'का अनन्यभावसे जाप और त्राटक (दृष्टिकेन्द्रित) करना अथवा उस अक्षरपर ध्यान जमाना सर्वोत्तम है; क्योंकि इस ध्यानके साथ जो प्रार्थना होती है, वही वैज्ञानिक प्रार्थना है। इस प्रार्थनामें किये हुए शुभ संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होते हैं। ऐसे आत्म-तेजवान् प्रेमी साधकके मुख-मण्डलपर एक विशेष प्रकारकी दिव्य ज्योति या आध्यात्मिक (तेजस् या ओज) रहता है और उसके शरीरसे आकर्षण-शक्तिकी सूक्ष्म तरङ्गें (Waves) निकलती रहती हैं। इसलिये जो भी व्यक्ति उसके पास आता है और जितनी देर उसके निकट रहता है, कम-से-कम उतनी देरके लिये तो अवश्य ही उसके प्रभावमें रहता है।

सती नारीकी सर्वापेक्षा मूल्यवान् सम्पत्ति

आठ सौ वर्ष पहलेकी घटना है। ११४० ईसवी शतीमें यूरोप-महादेशके जर्मनीके राजाने बेडन वार्टनबर्ग (Baden Wartenburg) नामक प्रदेशके किलेको बंद करके विजय प्राप्त की। तदनन्तर राजाने यह घोषण की कि 'दुर्गमें बंद स्त्रियाँ अपनी पीठपर लादकर अपने स्वामीकी जो कुछ भी मूल्यवान् सम्पत्ति ले जा सकती हैं। इसमें कोई बाधा नहीं दी जायगी।'

पराजित छठे काउंट वेल्फ (Count Welf VI) की पत्नी अपने पतिदेवको कंधेपर लेकर बाहर निकली उसे देखकर अन्य सब महिलाएँ भी कोई स्वामीको, कोई वृद्ध पिताको, कोई पुत्र या भाईको कंधेपर बैठाक चल पड़ीं। किलेमें एक भी पुरुष या स्त्री नहीं रह गया। राजकर्मचारियोंने यह चतुराई देखकर उनको रोका औ राजाको खबर दी। राजाने कहा—'कुछ भी हो, राजाका वचन अकाट्य है।' अतएव किसीको रोका नहीं गया

प्राचीन कालके इस किलेको लोग 'Schloss weigart reve' कहते हैं। इसका अर्थ होता है—'नार भक्ति और विश्वासकी प्रतीक।'

आज यह आदर्श कहाँ गया ? 'नारी मूल्यवान् सम्पत्ति ले जा सकती है'—यह राजाका आदेश था काउंटपत्नीने पतिको ही सबकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति समझा। उसके सत्सङ्गके प्रभावसे अन्यान् महिलाओंको भी सुबुद्धि उपजी। राजा भी धन्य हैं, जिन्होंने अपनी बातको कायम रक्खा।

(अमृतबाजार पत्रिका
२-११-६४

गुरुवातपुरीश* श्रीकृष्ण परब्रह्मकी केशादि-पाद-वर्णनात्मक प्रार्थना

[श्रीमन्नारायण भट्टपाद-प्रणीत—सानुवाद संकलित सामग्री]

भारतके स्वनामधन्य कविवर्योंके महाकाव्योंमें भी पुराणों-जैसी कई प्रार्थनाएँ सुग्रन्थित मिलती हैं। दाक्षिणात्य केरल प्रदेशके सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी स्थित भक्तकवि श्रीमन्नारायण भट्टतिरिप्पाटका 'नारायणीयम्' ऐसा एक प्रसिद्ध काव्यरत्न है। जैसे भक्त-कवि सूरदासने भागवतके अनुरूप श्रुति-मधुर गेय हिंदी पद रचे थे, वैसे इन्होंने अपने इस काव्यमें उन्हीं बारहों स्कन्धोंका विषय, कुल १०३४ श्लोकात्मक शत-दशकोंमें प्रतिपादित किया है। उनके हर श्लोककी अर्थपुष्टि, कविता-माधुरी तथा सूत्रवद्भावगर्भ रचना-रीति किसी भी सहृदयको मुग्ध करनेमें समर्थ है। श्रीरामोपाख्यान, स्यमन्तक, अम्बरीष आदि विस्तृत विषयोपेत उपाख्यान भी इस काव्यमें एक-दो ही शतकोंमें सुसम्पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवतके स्कन्धोंकी तुलनामें इसकी ऐसी रचना-रीतिका विश्लेषण करनेपर श्रीभट्टतिरिप्पाटका कविता-कौशल बहुत कुछ अवगत हो सकता है। वैसे, इस भक्ति-काव्यमें, भागवतका प्रथमस्कन्ध-परिच्छेद प्रारम्भके तीन दशकोंमें, द्वितीयस्कन्ध-परिच्छेद चतुर्थपञ्चमषष्ठ सप्तम दशकोंमें, तृतीयस्कन्ध-परिच्छेद अष्टमसे लेकर पंद्रहवें तकमें, चतुर्थस्कन्ध-परिच्छेद सोलहवेंसे लेकर उन्नीसवें तकमें, पञ्चम, षष्ठ और सप्तमस्कन्ध-परिच्छेद दो-दो दशकोंमें, अष्टम छब्बीसवेंसे लेकर बत्तीसवें तकमें तथा नवम तेईसवेंसे लेकर छब्बीसवें दशकतकमें होता है। सैंतीसवेंसे नब्बे तकके दशकोंमें दशम-स्कन्धका विस्तार है। बादके सात दशकोंमें एकादश तथा अन्तिम तीन दशकोंमें द्वादश स्कन्धका परिच्छेद मिलता है। यहीं अन्तमें गुरुवातपुरीश श्रीकृष्ण परब्रह्मकी यह 'केशादि-पादवर्णनात्मक' प्रार्थना अन्तिम शततम दशक-रूपमें ग्रथित है।

इस भक्तिकाव्यके प्रणेता श्रीनारायण भट्टतिरिप्पाट केरलके नम्पूतिरि-ब्राह्मणकुलमें अवतीर्ण हो, कैरलीय अष्टम शताब्दीमें (करीब १५५३ व १६२३ ई० के मध्य) प्रकाशमान रहे। उत्तर केरलके 'पेरुमनम्' गाँवके 'चन्दन-कावुँ' नामक भगवती-मन्दिरके पड़ोसमें स्थित 'मेप्पत्तूर् ल्लम्' नामसे प्रसिद्ध घरानेमें आपका जन्म हुआ था। इतर अनेक भक्त-कवियोंके प्रारम्भिक जीवनकी भाँति इनका जीवन भी अव्यवस्थित ही बीता; पर उचित समयपर इनपर भगवान्‌की कृपा बरस पड़ी और इन्हें सत्पथप्रदर्शक गुरुका साक्षात्कार हुआ। तदनन्तर अल्पकालमें ही ये कुलानुरूप सभी क्षेत्रोंमें पण्डितप्रवर हो चले। किंतु कृपासागर भगवान्‌ने मानो इन्हें अपनी असीम कृपाका पूर्णपात्र बना लेनेका उपाय ही किया हो, ये असह्य वात-रोगसे पीड़ित हो गये। उनके रोग-बाधित होनेके कई कारण लौकिक विद्वान् मानते हैं; पर भगवान्‌की रीति कहीं निर्वचनीय हुआ करती है? ऐसी रोग-बाधित दशामें श्रीनारायण भट्टतिरिप्पाट गुरुवातपुरीशके संनिधानमें ध्यानावस्थित हो 'नारायणीय-स्तव-गान'में निरन्तर लगे ही रहे और क्रमशः वे रोगमुक्त होते गये और अन्तमें श्रीकृष्ण-परब्रह्मके दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हुए। 'नारायणीयम्'के इस अन्तिम दशकमें, आत्मसाक्षात्कार-रूप उन्हीं श्रीकृष्ण-दर्शनोंका वे अपनी आँखों-देखा सुन्दर वर्णन करते हैं और संत-सहज स्वानुभूतिके लोक-हितार्थ विनियोग रूपकी प्रार्थना करते हैं—

'इदमिह कुरुतामायुरारोग्यसौख्यम्' (**इदं स्तोत्रं अस्मासु परमायुः नीरोगतां ऐहिकामुष्मिकसौख्यं च उत्पादयतु।'** अर्थात् यह स्तोत्र हमें दीर्घायु, परम आरोग्य तथा इह-परलोकमें सौख्य प्रदान करे)। शब्दपारखी विद्वानोंके शब्दोंमें, **'अत्र आयुरारोग्यसौख्यमित्यक्षरसंख्यया स्तोत्रनिर्माणावसानकलिदिनमपि सूचितं भवति; सा च संख्या १७१२२१० इति; तथा च त्रिषष्ठ्युत्तरसप्तशततमे (७६३) कोलम्बवर्षे वृश्चिकमासि अष्टाविंशतितमे (२८वें) दिवसे रविवारे स्तोत्रमेतत्समाप्तिमगादिति वेदितव्यम्।'** (दे० कोणत्त् कृष्णवारियर्‌की बालबोधिनी व्याख्या)। अर्थात् अन्तिम **'आयुरारोग्यसौख्यम्'** शब्द-समूह काव्यपूर्तिके कलिदिनका भी सूचक माना जाय, जो अङ्कगणना-विधानानुसार १७१२२१०वाँ कलिदिन माना जायगा। वह दिन कोल्लम् वर्ष (कैरळी संवत्सर) ७६३ के कार्तिक महीनेकी २८वीं तिथि माना जाता है। इस

---

* गुरुवातपुरीको साधारण व्यवहारमें 'गुरुवायूर' कहते हैं।

शब्द-समूहके सामान्य अर्थको प्रमाणित करते हुए यह स्तोत्र केरलमें बहुधा रोग-व्याधितोंकी चिकित्साके अङ्गरूपमें प्रयुक्त हो वाञ्छित फलप्रद प्रशस्त है ।

श्रीकृष्ण-केशादिपादवर्णन-स्तोत्र

अग्रे पश्यामि तेजो निबिडतरकलायावलीलोभनीयं
पीयूषाप्लावितोऽहं तदनु तदुदरे दिव्यकैशोरवेषम् ।
तारुण्यारम्भरम्यं परमसुखरसास्वादरोमाञ्चिताङ्गै-
रावीतं नारदाद्यैर्विलसदुपनिषत्सुन्दरीमण्डलैश्च ॥

भावार्थ—अहोभाग्य मेरा ! अत्यन्त निबिड कलाय-कुसुममालाओंकी अपेक्षा भी अतीव आकर्षक भगवत्प्रभा-मण्डलको मैं अपने सामने देख रहा हूँ । लगता है कि मैं अब सर्वथा अमृत-सिक्त हो गया हूँ । उस प्रभामण्डलके बीचों-बीच कोई दिव्य किशोर आकृति दिखायी देने लगी है । नव-नवागत तारुण्यके कारण अति सुन्दर उस दैवी आकृतिके चारों ओर, उनके दर्शन-लब्ध ब्रह्मानन्द-रूपी अमृतास्वादनसे रोमाञ्चित नारदादि मुनीश्वर तथा उपनिषदोंकी साकार मूर्ति सुन्दर गोपिकाएँ भी शोभायमान हैं । अर्थात् मैं उन श्रीकृष्ण-परब्रह्मके दर्शनका अधिकारी हो गया हूँ, जो नारदादि मुनीश्वरोंके द्वारा उपदिष्ट गोपिकारूप उपनिषदोंके प्रतिपाद्य हैं ।

नीलाभं कुञ्चिताग्रं घनममलतरं संयतं चारु भङ्ग्या
रत्नोत्तंसाभिरामं वलयितमुदयच्चन्द्रकैः पिच्छजालैः ।
मन्दारस्रङ्निवीतं तव पृथुकबरीभारमालोकयेऽहं
स्निग्धश्वेतोर्ध्वपुण्ड्रामपि च सुललितां फालबालेन्दुवीथीम्॥

भावार्थ—ध्यानसे देखनेपर हे भगवन् ! आपके उस दिव्य कैशोरवेषका केशादिपादान्त-दर्शन क्रमशः सम्भव होता है । ऊपर आपका सुन्दर केशभार सुलक्षित होता है । नीले घुँघराले वे निर्मल निबिड केशजाल सुसंयत हैं, रत्नजटित शिरोभूषणसे वलयित हैं, उज्ज्वल चन्द्रकों—मोरपंखकी आँखोंसे शोभायमान मयूरपिच्छोंसे युक्त हैं और देवतरु मन्दारके पुष्पोंकी मालासे सुबद्ध हैं, अतः अत्यन्त मनोहर हैं । उस सौन्दर्यको आँखभर देख लेता हूँ तो फिर कुछ नीचे, मनमोहक शुभ्र ऊर्ध्वपुण्ड्रसे सुशोभित, बालचन्द्राकार कोमल फालप्रदेशपर मेरी आँखें ठहर जाती हैं ।

हृद्यं पूर्णानुकम्पार्णवमृदुलहरीचञ्चलभ्रूविलासै-
रानीलस्निग्धपक्ष्मावलिपरिलसितं नेत्रयुग्मं विभो ! ते ।
सान्द्रच्छायं विशालारुणकमलदलाकारमामुग्धतारं
कारुण्यालोकलीलाशिशिरितभुवनं क्षिप्यतां मय्यनाथे ॥

भावार्थ—देखते-देखते मैं आपके करुणापूर्ण, अपने कारुण्यके प्रकाशसे ही तीनों लोकोंको सुख-शीतल करनेवाले नेत्रयुग्मोंके प्रति खिंचा रह जाता हूँ । असीम अनुकम्पा-रूपी समुद्रमें उठनेवाली मृदु-लहरियोंसे चञ्चल भ्रूविलाससे हृदयहारी आपकी आँखोंका सौन्दर्य स्नेहमसृण उन सुन्दर पक्ष्मावलियोंसे कितना बढ़ा हुआ मालूम होता है ! अत्यन्त कान्तिपूर्ण, रक्त-पद्म-पत्राकार, मनमोहक तार-गोलोंसे सुन्दर उन दीर्घ नयनोंका कटाक्षपात, हे प्रभो ! मुझ अशरणपर आप कृपया कर दें ।

उत्तुङ्गोल्लासिनासं हरिमणिमुकुरप्रोल्लसद्गण्डपाली-
व्यालोलत्कर्णपाशाञ्चितमकरमणीकुण्डलद्वन्द्वदीप्तम् ।
उन्मीलद्दन्तपङ्क्तिस्फुरदरुणतरच्छायबिम्बाधरान्तः-
प्रीतिप्रस्यन्दिमन्दस्मितमधुरतरं वक्त्रमुद्भासतां मे ॥

भावार्थ—अब आपके मुखारविन्दके समग्र दर्शनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है । उन्नत सुन्दर नासिका तथा कर्ण-युगलसे लटकते हुए, प्रतिबिम्बित हो, इन्द्रनील-रत्नमय दर्पण-समान मनोहर गालोंपर डोलनेवाले रत्नजटित मकर-कुण्डलद्वयसे प्रकाशमान एवं कुछ-कुछ दीखनेवाली शुभ्र दन्त-पङ्क्तियोंसे मात्र अवगम्य और अत्यन्त लाल कान्तियुक्त बिम्बाफल-सम अधरसे व्यञ्जित प्रेमरस बरसानेवाले मन्दस्मितसे अति मधुर आपका वह मुख-कमल मेरे हृदयमें सर्वदा विराजमान रहे ।

बाहुद्वन्द्वेन रत्नोज्ज्वलवलयभृता शोणपाणिप्रवाले-
नोपात्तां वेणुनालीं प्रसृतनखमयूखाङ्गुलीसङ्गशाराम् ।
कृत्वा वक्त्रारविन्दे सुमधुरविकसद्रागमुद्भाव्यमानैः
शब्दब्रह्मामृतैस्त्वं शिशिरितभुवनैः सिञ्च मे कर्णवीथीम् ॥

भावार्थ—हे श्रीकृष्ण ! माणिक्य आदि रत्न-खचित अत्युज्ज्वल कङ्कणोंसे भूषित तथा प्रवाल-जैसे कुछ-कुछ लाल पाणिद्वयसे सुशोभित दोनों बाहुओंसे, अँगुलियाँ चलानेपर व्याप्त होनेवाली नखज्योतिसे नाना वर्णोंमें प्रकाशमान अपनी मुरली उठाकर अपने उस मनोहर वक्त्रारविन्दमें लगा लें और मुरली-वादनसे बज उठनेवाले अति मधुर रागालापोंसे सम्भाव्य तथा त्रिलोकीको अपनी माधुरीसे शीतलता पहुँचाने-वाले शब्दब्रह्म-रूपी अमृतसे मुझ अनन्यशरणके श्रोत्रद्वारोंको सींचनेकी कृपा करें ।

उत्सर्पत्कौस्तुभश्रीततिभिररुणितं कोमलं कण्ठदेशं
वक्षः श्रीवत्सरम्यं तरलतरसमुद्दीप्रहारप्रतानम् ।
नानावर्णप्रसूनावलिकिसलयिनीं वन्यमालां विलोल-
ल्लोलम्बां लम्बमानामुरसि तव तथा भावये रत्नमालाम् ॥

भावार्थ—ऊपरकी ओर फैलनेवाली अरुण कान्तिसे भरे कौस्तुभ दिव्य रत्नकी शोभासे रञ्जित आपके कोमल कण्ठ-प्रदेशके सुन्दर दर्शन अब मैं पा रहा हूँ। फिर आपके उस वक्षःस्थलका सौन्दर्य मेरी आँखोंके सामने छा रहा है, जो श्रीवत्स-चिह्नसे भूषित है और जिसपर उज्ज्वल मुक्तामालाएँ हिलती-डुलती शोभायमान हैं। हर फूलपर मँडराते रहनेवाले भ्रमरोंसे सुन्दर तथा रंग-बिरंगे फूलों और पल्लवोंकी बनी मालाओंके साथ वनमाला और रत्नमालाको भी आपके विशाल वक्षःस्थल-पर विराजमान देख रहा हूँ।

अङ्गे पञ्चाङ्गरागैरतिशयविकसत्सौरभाकृष्टलोकं
लीनानेकत्रिलोकीविततिमपि कृशां बिभ्रतं मध्यवल्लीम् ।
शक्राश्मन्यस्ततप्तोज्ज्वलकनकनिभं पीतचेलं दधानं
ध्यायामो दीप्तरश्मिस्फुटमणिरशनाकिङ्किणीमण्डितं त्वाम् ॥

भावार्थ–अगुरु, कस्तूरी आदि पञ्च भिन्न वर्णोंके अङ्गरागोंके लेपनसे आपके अङ्गोंसे जो अलौकिक सौरभ निकल रहा है, उसके प्रति सारा ब्रह्माण्ड आकृष्ट हो रह जाता है। ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंके समूहको लीन किये रहनेपर भी आपका सुन्दर कटि-प्रदेश लतावत् कृश ही दीखता है। इन्द्रनील शिलापर अर्पित तप्तकाञ्चनके समान उज्ज्वल पीताम्बरको कान्तिपूर्ण एवं रत्नखचित किङ्किणियोंसे युक्त स्वर्णमय करधनीसे वेष्टित आपके ऐसे अलंकृत रूपका हम अनवरत ध्यान करेंगे।

ऊरू चारू तवोरू घनमसृणरुचौ चित्तचोरौ रमाया
विश्वक्षोभं विशङ्क्य ध्रुवमनिशमुभौ पीतचेलावृताङ्गौ ।
आनम्राणां पुरस्तान्न्यसन धृतसमस्तार्थपालीसमुद्ग-
च्छायं जानुद्वयं चक्रमपृथुलमनोज्ञे च जङ्घे निषेवे ॥

भावार्थ–पुष्ट, कोमल और स्निग्ध कान्तिसे युक्त आपके हान् ऊरुद्वय, जो रमादेवीके हृदयाकर्षक हैं, इसी आशङ्का- मानो सदा पीताम्बरावृत हैं कि कहीं उनके खुले रहनेपर नके अपार सौन्दर्यसे आकृष्ट हो लोक क्षुब्ध न हो ाय। भवत्संनिधानमें आ अनन्यभावसे प्रणत होनेवाले क्तोंके सामने खोलकर रखे हुए सकल पुरुषार्थ-कोश-जैसे आपके जानुद्वय तथा उन जानुओंके नीचे यथाक्रम मांसल होनेसे मनोहर आपकी दोनों जङ्घाओंकी सेवामें हम सदा लगे रहेंगे।

मञ्जीरं मञ्जुनादैरिव पदभजनं श्रेय इत्यालपन्तं
पादाग्रं भ्रान्तिमज्जत्प्रणतजनमनोमन्दरोद्धारकूर्मम् ।
उत्तुङ्गाताम्रराजन्नखरहिमकरज्योत्स्नया चाश्रितानां
संतापध्वान्तहन्त्रीं ततिमनुकलये मङ्गलामङ्गुलीनाम् ॥

भावार्थ–'भवत्पदभजनं श्रेयः'—आपके पादारविन्दोंकी सेवामें ही श्रेय है, सेवा करनेवाले ही श्रेयोवन्त हो सकेंगे'—यों मधुर नादमें घोषित करनेवाले आपके नूपुर-युगलोंका, आपके सामने प्रणत होनेवाले भक्तोंके भ्रमरूप समुद्रमें निमज्जित मनरूपी मन्दराचलके उद्धरणमें समर्थ कूर्मरूपी आपके पादाग्रद्वय तथा उन्नत एवं ताँबेके-से वर्णसे शोभमान नखोंरूपी बालचन्द्रोंकी चन्द्रिकासे आश्रित भक्तोंका संतापरूपी अन्धकार नाश करनेवाली मङ्गलमयी आपकी चरणाङ्गुलियोंके समूहका मैं पुनः-पुनः ध्यान करता हूँ।

योगीन्द्राणां त्वदङ्गेष्वधिकसुमधुरं मुक्तिभाजां निवासो
भक्तानां कामवर्षद्युतरुकिसलयं नाथ ! ते पादमूलम् ।
नित्यं चित्तस्थितं मे पवनपुरपते ! कृष्ण ! कारुण्यसिन्धो !
हृत्वा निःशेषतापान् प्रदिशतु परमानन्दसंदोहलक्ष्मीम् ॥

भावार्थ–हे श्रीगुरुवायुपुरनाथ ! करुणासागर ! सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ! आपके सब अङ्गोंमें, योगीश्वरोंके लिये अत्यन्त मधुर, मुक्ति चाहनेवालोंके लिये निवासस्थान तथा भक्तोंपर सर्वाभीष्टोंकी वर्षा कर देनेमें समर्थ कल्पतरुपल्लव आपके ये पादमूल ही हैं। ये सदा मेरे मनमें स्थिरतया विराजमान रह, मुझे विवश करनेवाले तापत्रयोंका हरण कर, परमानन्द-प्रवाहका ऐश्वर्य प्रदान करते रहें।

इस प्रार्थनाके साथ 'नारायणीयम्' काव्यकी भी समाप्ति हो जाती है। किंतु इसके बादका अन्तिम श्लोक पर्याप्त महत्त्व रखता है।

साधारणतया ऐसी प्रार्थनाएँ सकाम भक्तोंके कामकी हुआ करती हैं। अतः इनके अन्तमें फलश्रुतिरूपमें कुछ कथन हुआ करता है। काव्यका यह अन्तिम श्लोक यद्यपि उसी रूपमें माना जा सकता है, तथापि भक्तकवि श्रीभट्टतिरिप्पाटने इसके द्वारा, भगवत्-प्रभाव-वर्णनमें कहीं अज्ञान आदि

प्रमादोंके कारण कोई अपराध हुआ हो तो तदर्थ क्षमा माँगते हुए, अपनी इस कृतिको भगवदर्पित भी कर दिया है।

अज्ञात्वा ते महत्त्वं यदिह निगदितं विश्वनाथ ! क्षमेथाः
स्तोत्रं चैतत् सहस्रोत्तरमधिकतरं त्वत्प्रसादाय भूयात् ।
द्वेधा नारायणीयं श्रुतिषु च जनुषा स्तुत्यतावर्णनेन
स्फीतं लीलावतारैरिदमिह कुरुतामायुरारोग्यसौख्यम् ॥

भावार्थ—हे जगन्नाथ ! इस प्रकार मैंने आपके महत्त्वके पूर्ण ज्ञानके अभावमें भी, अपनी मन्दबुद्धिसे आपकी लीला आदिका जो अंड बंड वर्णन किया है, तज्जनित अपराधकी क्षमा हो। एक हजारसे कुछ अधिक (१०३४) स्तोत्रोंका यह ग्रन्थ आपके अनुग्रहार्थ अर्पित है। वेद तथा स्मृति-पुराणोंमें स्तोतव्यरूपमें प्रतिपादित आपके लीलावतारोंके वर्णनोंसे पूर्ण यह काव्य, आप श्रीमन्नारायणके माहात्म्य-कथनके कारण ही नहीं, 'नारायण' नामक इस प्रार्थीद्वारा विरचित होनेके भी कारण दोनों अर्थोंमें 'नारायणीयम्' नामसे प्रथित हो इहलोकस्थ सब लोगोंको 'आयुरारोग्यसौख्य' प्रदान करनेवाला रहे।

॥ इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

वैराग्य-पुञ्ज पुरन्दरदास

(लेखक—श्रीअनन्त कमलनाथ 'पंकज')

लगभग चार सौ वर्ष पूर्वकी बात है—

राजा कृष्णदेवरायके कालमें विजयनगर साम्राज्य वैभवके शिखरपर था। उस समयके राजगुरु योगी व्यासराय और कन्नडके 'दासश्रेष्ठ' संत पुरन्दरदास विजयनगरमें ही निवास कर रहे थे। एक बार बातों-ही-बातोंमें राजगुरु व्यासरायने कृष्णदेवरायसे संत पुरन्दरदासकी प्रशंसा करते हुए कहा कि 'पुरन्दरदास-सा वैरागी पुरुष शायद ही इस संसारमें कोई हो।' इस बातको सुनकर राजाने मन-ही-मन पुरन्दरदासके वैराग्यकी परीक्षा लेनेकी ठानी।

संत पुरन्दरदास हाथमें झोली लिये, भगवान्‌का कीर्तन करते हुए नगरमें भिक्षाटन करते और जो कुछ मिलता, उससे अपना एवं अपने परिवारका पेट पालते। एक दिन जब वे राजमहलके पाससे जा रहे थे, तब राज-परिवारवालोंने उन्हें बुलाकर उनकी झोलीमें मुट्ठीभर हीरे डाल दिये, जिन्हें पुरन्दरदासजीने संतोषपूर्वक स्वीकार किया।

दो-तीन दिनतक यही सिलसिला चलता रहा। हीरोंको बिना किसी उपेक्षासे स्वीकार करते देख राजाको मन-ही-मन अपनी विजयपर प्रसन्नता हुई। उन्होंने व्यासरायसे कहा—'पुरन्दरदासके बारेमें आप की जो धारणा है, वह भ्रमपूर्ण है। मैं आपको यह प्रमाणित कर दिखाऊँगा कि पुरन्दरदासका वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं है।'

इस बातकी वास्तविकताको जाननेके हेतु राजा और व्यासराय दोनों नगरसे बाहर पुरन्दरदासकी कुटियापर गये। दासजी घरमें नहीं थे। उनकी पत्नी सरस्वती द्वारके पास बैठी सूपमें चावलके दाने लिये उन्हें स्वच्छ कर रही थी। व्यासरायने सरस्वतीसे पूछा—

'बेटी ! क्या अबतक भोजन तैयार नहीं हुआ है ? दास भी कहीं दिखायी नहीं देते।'

'वे अभी बाहर गये हैं। भोजनकी तैयारीमें दो-तीन दिनसे विलंब हो रहा है। कारण कोई पुण्यात्मा उनकी झोलीमें कंकर-पत्थर डाल रहा है। दासजी कहते हैं कि इन कंकर-पत्थरोंको वे इसलिये ले लेते हैं कि कहीं देनेवालेका दिल न दुखे। पर उन्हें चुनते-चुनते देर हो जाती है।'

'कंकर-पत्थर ?—वे तो यहाँ दिखायी नहीं देते ?'

'उन्हें चुनकर अभी मैं उस पेड़के नीचे कूड़ेमें फेंक आयी हूँ।'

सरस्वतीकी बात सुनकर व्यासराय एवं कृष्णदेवराय पेड़के नीचे पड़े कूड़ेकी ओर गये । वहाँपर कूड़ेके साथ अनेक हीरे पड़े हुए थे । उन्हें देखकर व्यासरायके ओठोंपर हलकी मुस्कान फैल गयी । कृष्णदेवरायका सिर लज्जासे झुक गया और वे संत पुरन्दरदासकी वैराग्य-प्रवृत्तिसे बड़े प्रभावित हुए ।

भगवान्‌से बातचीत करनेका समय व्यर्थ बरबाद न करें

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्०ए०, पी-एच्० डी०, मानसशास्त्रविशेषज्ञ)

क्या मनुष्य ईश्वरसे बातचीत कर सकता है ? क्या परमपितातक हमें अपना संदेश, मनकी व्यथा, प्रार्थना या विनय पहुँचानेका कोई विशेष समय नियत है ? क्या दुनियावालोंकी फरियाद सुननेका कोई खास वक्त है ?

ये प्रश्न आपके मनमें उठते रहते हैं ।

आप किसी बड़े अफसर या उच्च अधिकारीसे मिलने जाते हैं तो पहले यह मालूम करते हैं कि उनके मिलने या बाहरवालोंसे बातचीत करनेका क्या समय है ? उनको खाली समय कब मिलता है ? वे आपकी व्यक्तिगत समस्याओंको सुननेके लिये कितना और कब समय दे सकते हैं ?

जब आपको वे उच्च अधिकारी निश्चित समय दे देते हैं, तब आप उनसे मुलाकात करने जाते हैं । आपको सदा यह डर रहता है कि कहीं समयसे पहले या पीछे न पहुँचें । कहीं ऐसा न हो कि हमारी इन्टरव्यूका समय ही निकल जाय । किसी अन्य व्यक्तिको हमारे बाँटेका समय दे दिया जाय अथवा एक बार ठीक समयपर न जानेसे अफसर महोदय रुष्ट होकर फिर कभी मिलनेका समय ही न दें ।

अतः आप मिलनेके लिये दो-चार मिनट पहले ही गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं । सदा समयकी पाबंदीका ध्यान रखते हैं और जब आपका निर्धारित समय आता है, तो उनसे मिलकर अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते हैं ।

अधिकारी महोदयसे आप अपने मनकी सब बातें जल्दी-जल्दी कहते जाते हैं । कोई भी गुप्त बात नहीं छिपाना चाहते । कम-से-कम चुने हुए शब्दोंमें अपनी समस्याएँ समझाकर मनको हलका कर लेना चाहते हैं । आपकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि अपने समयका पूरा-पूरा लाभ उठावें । कुछ भी बात अवशेष रह न जाय ।

यही तथ्य ईश्वरसे मिलने और बातें करनेके समयके विषयमें भी सत्य है । भगवान्‌के पास अपनी फरियाद, समस्याएँ और विनती सुनानेवाले व्यक्ति हजारों हैं, प्रतिक्षण भरा हुआ है । किंतु उनकी असीम करुणा देखिये, वे बातें सबकी सुनते हैं । सबको वक्त देते हैं । किसीको कभी निराश नहीं करते; किसीसे भी उनका पक्षपात नहीं है । हम भी उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और अपनी करुण वेदना तथा हार्दिक प्रार्थना उनतक पहुँचा सकते हैं । यों तो ईश्वरसे किसी भी समय सम्पर्क किया जा सकता है; क्योंकि वे सदा सर्वत्र हैं और उनसे हमारा नित्य-निरन्तर सम्बन्ध है, तथापि उनके मिलने और बातें करनेका एक बड़ा सुन्दर समय नियत है ।

बस, उस समय हम उनसे मिलकर अपनी व्यथा कह सकते हैं । वह समय हमारे लिये है ।

हमारी आत्मा परमात्माका ही एक अंश है । जब वह परमशुद्ध और सांसारिकतासे ऊँची उठती जाती है, तो उसका सीधा सम्बन्ध ईश्वरसे हो जाता है । सृष्टिमें अलक्षित ईश्वर तत्त्व (ईथर) भरा हुआ है । इसी तत्त्वके माध्यम (Medium) से हमारे दृढ़ विचारोंकी सूक्ष्म तरङ्गें दूर-दूरतक फैलती हैं और बेतारके तारकी तरह करोड़ों मील दूरतक हमारा संदेश पहुँचाती हैं । हम जितने आत्म-विश्वास- और दृढ़ संकल्पसे अपने विचार ईश्वरतत्त्वमें फेंकते हैं, वे उतनी जल्दी सीधे ईश्वरतक पहुँचते हैं और हमारी आत्मा उनका उत्तर भी सुनती है ।

तेजोमय ईश्वर (ईश्वरका वातावरण)

प्रसिद्ध लेखिका ओ हष्णुहाराने अपनी पुस्तक 'एकाग्रता और व्यक्तिगत चुम्बककी प्राप्ति' में वातावरणमें भरे हुए ईश्वररूपी तत्त्वका विश्लेषण किया है । वे लिखती हैं—

'ईश्वरत्व (जिसे विज्ञानकी भाषामें ईथर कहते हैं) आकाश या नभसे सारे अन्तरिक्षमें भरा हुआ है । यह आकाश हमारे शरीरमें भी व्याप्त है । इसमें हमारे मस्तिष्कका

आत्माके माध्यमसे सृष्टिके आदिसंचालक ईश्वरसे सम्बन्ध स्थापित होता है। सशक्त विचारोंको एकाग्रतापूर्वक हम ईश्वरतक अवश्य भेज सकते हैं और उनका दिव्य संदेश भी प्राप्त कर सकते हैं। यदि विचारोंमें संदेह हो या वे कमजोर हों, तो वे नीचे ही वायुमण्डलमें दबकर रह जाते हैं। पर यदि वे मजबूत मस्तिष्कसे फेंके जायँ, तो दूर-दूर पहुँच जाते हैं। जितने घंटे दूसरे लोग सोये रहते हैं, वायुमण्डलमें कम विचार रहते हैं। वह साफ रहता है। उस समय फेंके हुए पुष्ट विचार ईथर (आकाश) में बड़ी तीव्र गतिसे दूरस्थ स्थानोंतक पहुँचते हैं।

कहा जाता है कि प्रातःकालमें देखा हुआ स्वप्न प्रायः सच हो जाता है। इसका कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंने खोजकर निकाला है।

वे कहते हैं कि सुबहका आकाशरूपी पदार्थ परम स्वच्छ और निर्मल होता है। उसमें हमारे सशक्त विचारोंकी लहरें तेजीसे चलती हैं। दूसरे व्यक्तिका मस्तिष्क जो एक सशक्त और सचेतन रिसीवर (Receiver) है; वह उन विचारोंकी लहरोंको आसानीसे ग्रहण कर लेता है और वह बात ज्यों-की-त्यों सच हो जाती है। अन्तरिक्षका स्वच्छ और ग्रहणशील होना तथा विचारोंकी पुष्टता ही सुबहके स्वप्नोंको सत्य बनाती है। सुबहको हमारा मस्तिष्करूपी डायनमो तेजीसे कार्य करता रहता है। उस समय दिमागमें सारी रातकी शक्ति इकट्ठी हो जाती है। उस समय उससे जो विचाररूपी तरङ्गें निकलती हैं, वे प्रचण्ड शक्तिसे दूर-दूरतक जाती हैं। इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क और आत्मासे निकलनेवाले विचार इसी प्रकार तेजीसे फैलते हैं, जैसे शक्तिके केन्द्र-स्थान सूर्यसे प्रकाशकी तीखी किरणें फैला करती हैं।

परमात्मासे बातचीत करनेका यह समय है

हिंदू-तत्त्ववेत्ताओंने भगवान्से बातचीत करनेका समय ब्राह्ममुहूर्त बताया है। प्रातःकालके समयको ईश्वरकी पूजा-पाठ, प्रार्थना, आराधना, ब्रह्म-चिन्तन, यज्ञ, अध्ययन और शुभ कार्योंके लिये सर्वोत्तम समय बताया गया है। इसे ब्राह्ममुहूर्त कहा गया है—**'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**, (मनु)

हमारे ऋषियोंने इसे 'मधुमय समय' कहकर इसकी मधुरताका संकेत किया है। यह वह बढ़िया समय है जब प्रकृतिमें सर्वत्र मधु-ही-मधु बिखरा रहता है। प्रकृति माता अमृत-ही-अमृत बरसाती रहती है। शास्त्रोंमें इसे 'ब्रह्मवेला' कहा है।

हम इस कालमें क्या करें ?

मनु कहते हैं—**'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।'**

अर्थात् 'हे भद्र पुरुषो! ब्राह्ममुहूर्तमें बिस्तर छोड़ पवित्र और स्वच्छ हो धर्म, अर्थ, मोक्ष इत्यादिके उच्च विचार किया करो।'

इस कालमें धर्मकार्य करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। धार्मिक अनुष्ठानोंके लिये यह सर्वश्रेष्ठ समय है।

ब्राह्ममुहूर्त (प्रातः चारसे साढ़े पाँच बजेतकका समय) की सुखद, शीतल, परम आनन्ददायक, स्वास्थ्य-यौवनवर्द्धक शीतल समीरमें कुछ ऐसे रासायनिक तत्त्व भरे पड़े हैं, जिनसे मनुष्यके शरीरपर स्वास्थ्यवर्द्धक प्रभाव पड़ता है। इस दिव्य कालमें पूजन, चिन्तन, सद्ग्रन्थवाचन, एकाग्रता, जप, आराधना करनेसे सारे दिन मनुष्यकी आत्मा प्रसन्न रहती है। आध्यात्मिक शक्ति साथ रहती है। सिद्धियाँ-ही-सिद्धियाँ मिलती जाती हैं।

इस ब्रह्मवेलामें प्रकृति अपने सौन्दर्यका थाल सजाती है। वृक्ष-पौधे पुष्प, नवयौवन, नव-प्राण पा थिरकते हैं। नयी प्राण-वायु फेंकते हैं जो जीवमात्रकी आयुका वर्द्धन करनेवाली है। स्फूर्तिदायक, शीतल, मंद समीर चलता है। चिड़ियाँ चहकती हैं। मुर्गेकी ध्वनि ईश्वरकी ओरसे आनेवाला संकेत है जो यह कहता है दिनभरमें दिनका यौवन, बस, यही कल्याणकारी श्रेष्ठ फलदायक समय है।

तनिक बाहर प्रकृतिकी फुलवारीमें आइये।

देखिये—सब पुष्प, वृक्ष, पत्तियाँ, लताएँ और नवविकसित कलिकाएँ मधुरतासे मुस्करा रही हैं। प्रकृति अपने मादकरूपमें स्थित है। प्रकृतिके सहचर बड़े तड़के उठनेके अभ्यस्त हैं। चिड़ियाँ थिरक-थिरककर अपनी मधुर तान छेड़ रही हैं। वृक्षोंकी पत्तियाँ यौवन-विभोर हो हिल रही हैं। गौएँ रँभा रही हैं। प्रभातकालीन आकाशके सितारे जैसे मधुरतासे मुसकरा रहे हैं। नया जीवन पाकर समस्त वातावरण शुभ्र हो उठा है। प्रकृतिकी विशाल गोदमें खेत लहलहा रहे हैं। एक मीठी सुगन्ध सबको मदमस्त कर रही है। प्रातःकी प्राण-वायु (आक्सीजन) फेफड़ों और सारे शरीरमें नवजीवन भर रही है।

ब्राह्ममुहूर्तका लक्षण

सबसे पवित्र समय, ईश्वरसे बातचीत करनेका समय जिसे ऋषियोंने ब्राह्ममुहूर्त कहा है, प्रातःकाल चार बजेसे

साढ़े पाँच बजेतक आता है। ब्रह्मवेलामें ईश्वर खुले हाथ समस्त प्रकृति तथा जीवोंको स्वास्थ्य, सुख, सौन्दर्य, यौवन, धर्म, बुद्धि, विवेक और स्फूर्ति बाँटते हैं।

ब्रह्मवेलामें जो जागते हैं, वे इन दिव्य दैवी सम्पदाओंको आसानीसे पा लेते हैं; पर जो मूर्ख आलस्य या प्रमादवश शय्यापर सोते ऊँघते रह जाते हैं, वे राक्षस-जैसे दीन-हीन आलसी बने रहते हैं। सारा दिन आलस्यमें ही काटते हैं।

ब्राह्ममुहूर्तके लक्षण हमारे धर्मशास्त्रोंमें इस प्रकार वर्णित हैं—

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने॥

अर्थात् 'रात्रिके अन्तिम प्रहरका जो तीसरा भाग है, उसको ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। यह अमृतवेला है। सोकर उठ जाने और भजन-पूजन इत्यादि सत्कर्मोंके लिये यही समय शास्त्रानुकूल है।

'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थमें मनुष्यके स्वास्थ्य और दीर्घजीवनके अनुभूत उपाय बताये गये हैं। इसमें एक स्थानपर लिखा गया है—

उत्तम स्वास्थ्य और मानसिक शान्तिके लिये, शुभ विचारोंकी प्राप्तिके लिये मनुष्य चार घड़ी तड़के अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें शय्या त्याग दे। उस समय दुःखकी निवृत्ति और शान्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धापूर्वक ईश्वरका स्मरण करे।

फिर दही, घी, दर्पण, सफेद सरसों, बैल, गोरोचन और फूलमाला आदिका दर्शन करे। उनका स्पर्श करे। ये शुभ मङ्गलदायी कार्य है।

भगवान् मनुने लिखा है—''प्रातःकाल देरतक सोना पुण्यों और संचित सत्कर्मोंका नाश करनेवाला है, इसलिये आलस्यवश जो द्विज प्रातः जल्दी न उठे उसे पादकृच्छ्र नामक व्रत करके उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

श्रीवाल्मीकि-रामायणमें ब्राह्ममुहूर्तका हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है। भगवती सीताजीकी खोज करते-करते महावीर हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें पहुँचते हैं। कवि-शिरोमणि वाल्मीकि ब्राह्ममुहूर्तका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

विचिन्वतश्च वैदेहीं किंचिच्छेषा निशाभवत्॥
षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥

अर्थात्—इस प्रकार श्रीमाता सीताजीकी खोज करते-करते रात्रि थोड़ी-सी अवशेष रह गयी। तब महावीर हनुमान्‌जीने ब्राह्ममुहूर्तमें वेदज्ञ और याज्ञिक विद्वानों तथा ऋषियोंद्वारा किये जानेवाले भव्य पाठका श्रवण किया।

सुबह सोनेवाले दरिद्री होते हैं

चाणक्यनीतिमें ब्राह्ममुहूर्तके समयके सदुपयोगके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

'सूर्योदयके समयको सोकर व्यर्थ बरबाद करनेवालेको, चाहे वह चक्रधारी विष्णु ही क्यों न हो; लक्ष्मी, विद्या, बुद्धि सब छोड़ जाते हैं। वह व्यक्ति एक-न-एक दिन दरिद्री हो जाता है।'

संसारके प्रायः सभी उच्च कोटिके साधक, बड़े-बड़े विद्वान् और दीर्घजीवी मनुष्य सूर्योदयसे पूर्व ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शुभ चिन्तनके अभ्यस्त रहे हैं।

बालसूर्यकी परम स्वास्थ्यकारी किरणोंको शरीरपर लेनेसे, प्रतिदिन सूर्यनारायणको अर्घ्य देनेसे, दर्शन करनेसे बड़ा पुण्य-लाभ होता है। स्वास्थ्य और वीर्य बढ़ता है। नेत्र-ज्योति उद्दीप्त होती है। मन प्रसन्न रहता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वास्थ्यरक्षार्थं मानुषः।
तत्र दुःखस्य शान्त्यर्थं स्मरेद्धि मधुसूदनम्॥

अर्थात् स्वास्थ्य बढ़ानेके लिये केवल ब्राह्ममुहूर्त ही मनुष्यके लिये अति उपकारी है। स्वस्थ मनुष्यको चाहिये कि वह अपने स्वास्थ्य, यौवन, वीर्य, बुद्धि आदिकी रक्षाके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें सोकर उठ जाय और दुःख-नाश तथा (प्रसन्नतालाभ-शान्ति) के लिये भगवान्‌का भजन, पूजन, कीर्तन, पूजापाठसे दिन प्रारम्भ करे।

शय्यापर दिन निकले पड़े रहनेसे मनमें अनेक प्रकारके कुविचार तूफान मचाने लगते हैं और आलसी बना देते हैं। क्षुद्र कामवासनाएँ प्रायः उन व्यक्तियोंको सताती हैं, जो रात्रिमें बारह-एक बजे सोनेकी बुरी आदत बना लेते हैं। आलस्यमें हम ज्यों-ज्यों फँसते हैं, यह दुष्ट त्यों-त्यों हमें अधिकाधिक सताता है।

लोगोंका कहना है 'कि हम बड़े तड़के उठना चाहते हैं, बड़ी इच्छा होती है, पर हमारी तामसिक वृत्तियाँ हमें बिस्तरपर पड़े रहनेको दबाती हैं। तबियत करती है कि कुछ देर और नींदका मजा लें। हम क्या उपाय करें?'

हमारा सुझाव है कि आप तुरंत उठ जाइये। तनिक भी न सोचिये, न कुछ देर पड़े रहनेका मोह कीजिये।

एक बार संकल्प कर उठ गये, तो उठ गये । निद्राको तोड़ना ही सबसे महत्त्वपूर्ण काम है । फिर तो एक नयी आदतका निर्माण हो जायगा ।

ब्राह्ममुहूर्तमें हमारी आत्मा बलवती रहती है । हम ईश्वरतक अपना जो भी संदेश हो, पहुँचा सकते हैं । उनका संकेत भी पा सकते हैं । इसी ब्रह्मवेलामें भगवान्से सीधे बातचीत हो सकती है—

'भैषज्यसार' नामक पुस्तक (पृष्ठ ९३) में लिखा है—

'ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शुभ कार्य करनेवाला पुरुष सौन्दर्य, लक्ष्मी, स्वास्थ्य, आयु आदि वस्तुओंको सरलतासे प्राप्त कर लेता है । उसकी आत्मा पवित्र और शरीर कमलके समान सुन्दर हो जाता है ।'

ब्राह्ममुहूर्त साधनाका सबसे अच्छा समय है । स्वामी शिवानन्दजी महाराज लिखते हैं—

'ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर ध्यानका अभ्यास कीजिये । किसी हालतमें इसको मत त्यागिये । यह समय ध्यान और चिन्तनके लिये बड़ा ही अनुकूल है ।'

नींदके बाद मन ताजा रहता है । वह शान्त और सजग रहता है । इस समय मनमें सत्त्वगुणोंकी प्रधानता रहती है । आसपासके वातावरणमें भी सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है ।

ब्रह्मवेलामें मन सापेक्षतः कोरे कागजकी तरह स्वच्छ रहता है । उसपर दुष्ट सांसारिक कुसंस्कार नहीं रहते । राग-द्वेषकी धाराएँ मनमें नहीं घुसी होतीं ।

इस समय आप मनको इच्छानुसार जैसा चाहें, सुगमतापूर्वक बना सकते हैं । मनमें स्वाध्याय और ब्रह्मचिन्तनद्वारा नये और उत्तम संस्कार उत्पन्न करनेका यही श्रेष्ठ समय है । आप इस समय सुगमतापूर्वक मनको दिव्य विचारोंसे परिपूर्ण कर उन्नतिशील जीवन व्यतीत कर सकते हैं । सारे योगी, परमहंस, संन्यासी, साधक और हिमालयके ऋषिगण इसी समय अपना ध्यान प्रारम्भ करते हैं तथा ईश्वरसे सीधे बातचीत करते हैं ।

सांसारिक व्यक्तियोंको शौचादिसे निवृत्त होकर पूजा करनी चाहिये । फिर घूमने जाना चाहिये । स्वाध्याय और लेखनके कार्य होने चाहिये । पवित्र श्लोकोंका पाठ; गायत्री-जाप, ॐ नाम-कीर्तन, भजन गानेसे सारे दिन आपकी आत्मा सशक्त बनी रहेगी । हर कार्यमें ईश्वरकी शक्ति साथ रहेगी और सफलता मिलती चलेगी ।

न स्वपेद् भास्करोदये । (म० भा० शा० प० १९१ । ५)

सूर्य उदय हो जानेपर सोये नहीं रहना चाहिये ।

द्वादशाक्षर नाम-मन्त्रका प्रभाव

यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ।

(श्रीमद्भागवत ४ । ८ । ५३)

श्रीमद्भागवतमें ध्रुवजीको साधनानुष्ठान बतलाते हुए देवर्षि नारदजीने द्वादशाक्षर मन्त्र [**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**] का यह प्रभाव बतलाया है, जो ऊपर कहा गया है ।

'सप्तरात्रं प्रपठन्' केवल इतना अंश ध्यान देनेयोग्य है । सात रात्रिका अर्थ यहाँ सात दिन-रात अखण्ड होता है और 'प्रपठन्' का अर्थ है कि बोला जाय स्पष्ट स्वरमें । उपांशु या मानसिक जपकी बात नहीं कही गयी है ।

इसका तात्पर्य यह है कि इस अनुष्ठानमें न कोई विशेष विधि है और न विशेष अधिकारी । प्रत्येक जाति, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक देशके स्त्री-पुरुष इसे कर सकते हैं । कहीं भी यह अनुष्ठान किया जा सकता है और किसी भी दशामें किया जा सकता है । कलश-स्थापन-पूजन, हवन आदि कोई विधि आवश्यक नहीं है ।

विधि इतनी ही है कि सात दिन-रात अखण्ड रूपसे स्पष्ट स्वरमें द्वादशाक्षर मन्त्रका उच्चारण होते रहना चाहिये । यह अखण्ड उच्चारण एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होना चाहिये । स्वाभाविक है कि ऐसा करनेवालेको सात दिन-रात अन्न (आहारमात्र), जल (पेयमात्र) तथा निद्राका सर्वथा त्याग कर देना पड़ेगा ।

यदि सफलतापूर्वक कोई यह अनुष्ठान कर ले तो **'पुमान् पश्यति खेचरान्'** उस व्यक्तिमें यह शक्ति आ जायगी कि वह आकाशमें घूमनेवाले, जन-सामान्यके लिये अदृश्य देवताओं, सिद्धों, ऋषि-मुनियोंको तथा गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदिको देख लिया करेगा । अदृश्यचारियोंको देखनेकी शक्ति उसे प्राप्त हो जायगी ।

स्वाभाविक है कि जो अदृश्यचारियोंको देख सकेगा, वह उनसे बातचीत भी कर सकेगा और उनके सम्पर्कका लाभ भी उसे प्राप्त होगा ही । —सु० सिं०

* * *

स्वर्णलताके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पुनर्जन्मकी घटनाओंका अध्ययन एवं संग्रह करता है। पुनर्जन्मकी प्रस्तुत घटना कई विशेषताओंके कारण विशेष उल्लेखनीय है। यह घटना आश्चर्यजनक चकित करनेवाली कई बातोंपर प्रकाश डालती है। बालिका स्वर्णलताद्वारा आसमिया भाषाके गीत गाना और भिन्न प्रकारका नाच नाचना उन कई विशेषताओंमें एक है।

घटनाका विवरण

श्रीमनोहरलाल मिश्र, उपशिक्षा निर्देशक, छतरपुरकी सुपुत्री कुमारी स्वर्णलताने अपने पिछले जन्मका हाल बताकर सभीको हैरान कर दिया। जब वह प्रायः साढ़े तीन वर्षकी आयुकी थी, तब वह अपनी माँके साथ पन्ना नामक नगरमें रहती थी। एक बार जब वह अपने परिवारके साथ जबलपुरकी सैर करने गयी तो वापस लौटते समय उनकी गाड़ी कटनी होते हुए छतरपुर आयी थी। कटनीमें स्वर्णलता अचानक बोली कि इस मोटवालीका रास्ता उसके मकानको जाता है। कटनीमें ठहर कर जब उसके परिवारके लोग चाय आदि पी रहे थे तो वह बोली कि यदि वे सब यहाँ चाय न पीकर उसके मकानके पासवाली दूकानपर चाय पीते, तब उन्हें अच्छी चाय मिलती। बालिकाकी इन बातोंने श्रीमिश्रको बहुत हैरान किया। इससे भी अधिक उसके पिताजी हैरान तब हुए, जब बालिकाके साथी उसके पितासे कहते कि उनकी लड़की कहती है कि 'वह गतजन्ममें छतरपुरके पाठक-परिवारकी सदस्या थी।' बादमें कुछ बड़ी होनेपर स्वर्णलता अपने माता-पिता एवं अन्य लोगोंके सामने नवीन प्रकारके नृत्य एवं नये-नये ढंगके गाने प्रस्तुत करने लगी। इस प्रकार वह कई वर्षतक अपने भाई-बहिनोंके सामने अपनी पिछली जन्मकी स्मृतियोंका वर्णन करने लगी।

१९५८ की बात है। प्रोफेसर अग्निहोत्रीकी धर्मपत्नी, जो कि कटनीकी रहनेवाली थीं, छतरपुर आयीं। स्वर्णलताने श्रीमती अग्निहोत्रीको तुरंत पहचान लिया और कहा कि वह श्रीमती अग्निहोत्रीको भलीभाँति जानती है। जब यह घटना समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुई तो प्रो० बनर्जी इस घटनाकी जाँच करने घटनास्थलपर पहुँचे। प्रो० बनर्जीने छतरपुर और कटनी जाकर इस घटनाकी जाँच की। कटनीके लिये रवाना होनेसे पूर्व खोजकर्ताने स्वर्णलताके बयानोंको नोट कर लिया था और टेप-रेकार्ड भी किया था। प्रो० बनर्जीके कटनी पहुँचनेसे पूर्व श्रीमिश्र और पाठक-परिवार एक दूसरेको नहीं जानते थे। स्वर्णलताद्वारा बताये गये रास्ते और मकानके नकशेके आधारपर ही खोजकर्ता कटनीमें पाठक-परिवारका मकान ढूँढ़नेमें सफल हुए। प्रो० बनर्जीने कटनी पहुँचकर पाठक-परिवारसे सम्पर्क स्थापित किया और स्वर्णलताद्वारा दिये बयानोंके आधारपर इस बातको पाया कि स्वर्णलताद्वारा दिया गया वर्णन पाठक-परिवारकी कन्या बीयाके जीवनसे मिलती-जुलती है। बीयाका विवाह महियरनिवासी श्रीचिन्तामणि पाण्डेसे हुआ और १९३९ में बीयाका स्वर्गवास हो गया था।

१९५९ की गर्मियोंमें पाठक-परिवारके सदस्य छतरपुर गये और वहाँपर स्वर्णलताने उन सबको तुरंत पहचाना। इसके कुछ दिनोंके बाद स्वर्णलता एवं उसके परिवारवाले भी कटनी महियर गये। महियर पहुँचकर स्वर्णलताने महियरके अनेक व्यक्तियोंको पहचाना और बीयाके मरनेके बाद हुए परिवर्तन आदिके बारेमें बताया। स्वर्णलता अब भी बीयाके भाइयोंके और उसके बच्चोंके यहाँ जाती है और उनके प्रति उसके हृदयमें गहरी संवेदना भी है।

कटनी और छतरपुरके दोनों जीवनोंके बीचमें वह एक जन्मका हाल और भी बताती है। उसका कहना है कि बीयाके रूपमें उसकी मृत्युके बाद उसने एक जन्म सिलहटमें लिया था, जो कि पहले आसाममें था और अब पाकिस्तानमें है। वहाँपर उसका नाम कमलेश था और दस वर्षकी आयुमें उसकी मृत्यु हुई थी। स्वर्णलताके गीत और नृत्य आसामके गीत और नृत्योंसे मिलते-जुलते हैं। उसके गीतोंकी भाषा हिंदी नहीं है, जो कि उनके परिवारमें बोली जाती है; क्योंकि स्वर्णलताके इस जन्मके बारेमें अभीतक जाँच नहीं की जा सकी, अतः इस जन्मके विषयमें कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

विवाहके बाद श्रीमिश्रका परिवार कभी कटनी क्षेत्रमें नहीं रहा है। कटनी-जबलपुर और छतरपुर-पन्ना क्षेत्रोंकी बोलीमें यथेष्ट अन्तर है। कटनी और छतरपुरमें अन्तर भी कुछ कम नहीं है। अतः हम इसे साधारण साधनोंद्वारा प्राप्त की गयी सूचनाके कारण ऐसा नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त मिश्र और पाठक-परिवारमें पहले किसी भी प्रकारका कोई सम्बन्ध नहीं था और वे एक दूसरेके बारेमें कुछ

जानते भी नहीं थे । इन दोनों परिवारोंके बीच सम्बन्ध तब हुआ जब कि प्रो० बनर्जी वहाँपर जाकर घटनाकी जाँच करने कटनी गये । इससे पूर्व दोनों परिवारोंमें किसी प्रकारका आदान-प्रदान न था ।

यद्यपि एक-दो बार श्रीमिश्र जबलपुर जाते समय कटनीसे होकर गुजरे अवश्य थे, लेकिन इस कारणसे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उन्हें पाठक-परिवारके विषयमें मालूम था । साथ ही स्वर्णलताद्वारा पाठक-परिवारके मकानके अंदरकी चीजोंके बारेमें बताना और भी आश्चर्यजनक है । स्वर्णलताद्वारा मकानके अंदर पेड़, खिड़कियों एवं चौक आदिके विषयमें दिये गये निर्देश भी ठीक पाये गये । इतना ही नहीं, बालिकाने मकानके कमरों और मकानकी बनावटके विषयमें वह हाल बताया जो पहले था और बीयाके मरनेके बाद तो काफी बदल चुका था ।

जहाँतक स्वर्णलताकी मनोदशाका प्रश्न है उसके पिताने कई बार यह नोट किया कि उसका व्यवहार अपनी ही आयुकी अन्य लड़कियोंकी अपेक्षा अधिक गाम्भीर्य लिये हुए है । कटनी जानेपर वह ठीक पाठकोंकी बड़ी बहिन-जैसा व्यवहार करती है । पाठक-परिवारके सदस्योंकी आयु ४० वर्षसे भी अधिक है; लेकिन वह उनसे भी वैसा ही व्यवहार करती है, मानो वह उनसे आयुमें बड़ी हो । यही कारण है कि उसके इस व्यवहारके कारण पाठक भी उसे अपनी बड़ी बहिन-जैसा ही सम्मान करते हैं । अभी भी वह राखीके पुनीत अवसरपर पाठकोंको राखी बाँधती है और बहिन-जैसा व्यवहार करती है । श्रीआर० पी० पाठक यह मानते हैं कि वे इस घटनासे पूर्व पूर्वजन्मके सिद्धान्तमें उतना विश्वास नहीं करते थे, जितना अब करते हैं ।

स्वर्णलताका बीयाके बच्चोंके प्रति व्यवहार अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण है । बीयाके बच्चोंसे मिलनेपर उसके हृदयमें माँकी ममता मानो उमड़ पड़ती है । बीयाके बच्चे, जिनकी आयु अब प्रायः ३० वर्ष है, अब भी उसमें माँकी ममता पाते हैं । स्वर्णलताका व्यवहार सचमुच अनोखा ही है । जब भी वह पाठक-परिवारके किसी सदस्यसे मिलती अथवा बिछुड़ती है, तो उसकी आँखोंमें आँसू छलछला जाते हैं । कटनीके विषयमें सोचते समय वह गहरी वेदना अनुभव करती है । खोजकर्तासे बातें करते समय उसकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली थी ।

स्वर्णलताके माता-पिताने शुरूमें इस घटनाकी जाँच करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया । उसके माता-पिताका इस घटनाके प्रचार करनेका भी कोई इरादा नहीं था । लेकिन शिक्षित परिवार होनेके कारण उन्होंने कभी भी स्वर्णलतासे दुर्व्यवहार नहीं किया कि वह अपने पिछले जन्मका हाल बताना छोड़ दे । स्वर्णलताके जन्मको उसके माता-पिताने एक वरदान-स्वरूप समझा है ।

खोजकर्ताने खोजके आधारपर यह पाया कि यह कदापि सम्भव नहीं है कि दोनों परिवारोंने एक दूसरेके बारेमें सूचना साधारणतः प्राप्त की हो । साथ ही पाठक-परिवारके मकानके अंदरके भागोंके विषयमें जानकारी देना और यह बताना कि बीयाके सामनेका दाँत सोनेसे भराया गया था, आदि सूचनाएँ जनसाधारणको तो क्या, आसानीसे उसके भाइयोंतकको याद नहीं थी । पाठक और पाण्डे-परिवारके सदस्योंको पहचानना और अन्य लोगों एवं स्थान आदिके विषयमें बताना कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर इस घटनाका अस्तित्व निर्भर करता है ।

घटनाओंकी खोज

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक रीतिसे इस समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है । विभाग इस प्रकारकी घटनाओंसे सम्बन्धित मत-मतान्तरोंके प्रति किसी प्रकारका आग्रह नहीं रखता है । अतः फिलहाल इस प्रकारकी घटनाओंको पुनर्जन्मकी घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त न समझकर अति-मस्तिष्क-स्मृति (Extra Cerebral Memory) की घटनाएँ कहना अधिक अच्छा समझता है । जबतक इस प्रकारकी अनेक घटनाओंके अध्ययनके फलस्वरूप किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँचा जाता, तबतक यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ क्यों और कैसे होती हैं । इस समस्याका और भी पूर्णरूपसे अध्ययन किया जाय, इसके लिये जरूरी है कि पाठकोंद्वारा विभागके पास अधिक-से-अधिक घटनाओंकी सूचना भेजी जाय एवं घटनाओंके अध्ययनके लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों । अतः पाठक महानुभावोंसे अनुरोध है कि वे घटनाओंकी सूचना निम्न पतेपर भेजनेका कष्ट करें ।

प्रो० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी,
संचालक,
पैरासाइकोलाजी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

मनसुख-विरह

[श्रीकृष्णके मथुरा पधार जानेके बाद उनके प्रिय सखा मनसुखाका विलाप]

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

प्रथम तरंग

(१)

मधुर मन-मन्दिरको कर शून्य,
गये हो जबसे तुम व्रजराज !
हँसाता रहता था जो तुम्हें—
स्वयं रोता रहता है आज ॥
बने थे क्यों दो दिनके लिये—
निठुर ! इन प्राणोंके मेहमान ।
चुरा कर चले गये चुपचाप,
हमारे होठोंकी मुसकान ॥
छुटी वह गाँठ लगी जो कभी,
तुम्हारे साथ धूलमें लोट ।
फूल-सी छातीने किस तरह,
सही थी यह बज्जर-सी चोट ॥
अगर तुम होते अपने पास,
दिखाते तुम्हें कलेजा चीर ।
बसा है इसमें कितना दर्द
भरी है कितनी भारी पीर ॥
हो गया है वाणीके परे,
तुम्हारे मनसुखका अवसाद ।
सँजोती रहती दुखके स्वप्न—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(२)

सलौने कृष्ण तुम्हें जिस घड़ी,
ले गये मथुराको अक्रूर ।
न होता वह अकुलाता हृदय,
निमिष भर भी नयनोंसे दूर ॥
यशोदा मैया दोनों हाथ,
तुम्हारी भरे हुए थीं जेट ।
मीन-सी तड़प रहीं व्रजबाल,
तुम्हारे रथके आगे लेट ॥
हृदयको थामे व्याकुल मौन,
खड़ी थी राधा रथकी ओट ।
हो गया था छलनी सौ टूक-
कलेजा झेल विरहकी चोट ॥
रँभाती थीं खूँटोंपर बँधी
तुम्हारी श्यामा-धौरी गाय ।
शूल-सी कसक रही थी हूक,
तुम्हारी देख बिदाई हाय !
घुल गया है प्राणोंमें पिघल,
तभीसे पीड़ाओंका स्वाद ।
सताती रहती है हर समय
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(३)

सुहाते नहीं तुम्हारे बिना,
सखा ! अब कालिन्दीके कूल ।
बिखर जाते हैं अब तो हाय !
अधखिले ही मुरझा कर फूल ॥
देख यमुनाकी दग्ध कछार,
रुलाई बरबस पड़ती फूट ।
व्यथित करती कुंजें श्रीहीन,
धीर जाता है बरबस छूट ॥
वनोंमें गौ-चारणके समय,
मित्र अब खाते हैं जब छाक ।
खूनके पीने पड़ते घूट,
कलेजा हो जाता है चाक ॥
कहाँ अब यमुना-तटके खेल,
अरे अब कहाँ प्यारकी बात ।
बरसती रहती है दिन रैन,
नयनसे आँसूकी बरसात ॥
घटाओं-सा घिर घिर कर घुमड़
गहन होता रहता अवसाद ।
न लेने देती पल भर चैन—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(४)

एक दिन गेंद खेलते समय,
गया था मैं तुमसे जब रूठ ।
मनाया था तुमने जिस तरह—
याद कर जाता है दिल टूट ॥
न सोचा सपनेमें भी कभी,
अरे जायेगा तू यों छोड़ ।
गिरायी है बिजली-सी निठुर—
नेहका नाता हमसे तोड़ ॥
तड़फते हैं तुम बिन गौ-वत्स,
बिलबिलाते हैं व्याकुल मोर ।
लूट कर चला गया सुख-चैन-
अरे क्यों भैया ! माखनचोर ?
दुखी हैं तेरे बिन हर घड़ी,
विहग, वन-लता, कदम्ब, करील ।
खोजती व्रज-रज ऊँचे चढ़ी-
छिप गये कहाँ चरण वे नील ॥
बाँधता धीरज विविध प्रकार-
न मिटता मनका किंतु विषाद ।
कसकती जब काँटेकी तरह-
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(५)

दरशके प्यासे तरसें सदा,
गोपियोंके सूने घर द्वार ।
लुटाया था जिनमें चितचोर-
किसी दिन नाच नाच कर प्यार ॥
टँगे छीकोंपर माखन-माँट,
टकटकी लगा राहकी ओर ।
देखते रहते हैं दिन-रात—
आ रहे होंगे माखनचोर ॥
हो गयीं तुम बिन सूनी श्याम-
सुहानी वृन्दावनकी गलीं ।
रुलाते हैं सावनके मेघ—
न लगतीं मधुर मल्हारें भलीं ॥
तुम्हारे प्रेम-पाशमें बँधे-
छटपटाते हैं पागल प्राण ।
पीर तक अकुलाती है स्वयं—
कसक-से मिले न पलभर त्राण ॥
सुलगते हैं निशिवासर श्वास,
विरह-ज्वरमें भर भर उन्माद ।
धड़कनोंमें ऐसी बस गयी
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(६)

गूँजते हैं श्रवणोंमें सदा—
मधुर मुरलीके मीठे गीत ।
वायुके झोंके व्याकुल बने
बसा श्वासोंमें सुखद अतीत ॥
तड़फता है व्रजका हर ग्वाल—
गोप, बाला, वनिता तज धीर ।
जगाता है पीड़ाके भाव,
सखा यमुनाका आकुल नीर ॥
भँवरके वक्षस्थलपर सिसक
लहर पीटा करती है भाल ।
छटपटा रही स्वयं मझधार—
किनारोंको कर-कर बेहाल ॥
लगी है ऐसी भीषण आग
गये हैं सभी चौकड़ी भूल ।
तुम्हारे चरणकमलकी चाह
सँजोये पिसती रहती धूल ॥
प्यार पूजाके बदले दिया—
हाय कैसा यह विरह प्रसाद ।
जलाती रहती तिल-तिल प्राण,
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(७)

तुम, मैं, श्रीदामा दिन एक,
गये श्रीललिताजीके गेह ।
चुराकर माखन खाने, और
देखने उनके मनका नेह ॥
भिड़ा था केवल घरका द्वार—
गयी थीं वे जमुना जल-हेत ।
जानकर यों खाली मैदान—
घुसे हम तीनों प्रेमसमेत ॥
देख ऊँचे छींके पर टँगी
मटुकिया माखनकी, तत्काल ।
बने हम दोनों घोड़ा, और—
आपने चढ़ ऊपर गोपाल ॥

उसी क्षण जब उस घरके बीच,
मचायी थी माखनकी लूट।
आ गयी ललिता, चौंके आप,
हाथसे गयी मटुकिया फूट॥
सखीने हँस-हँस कर उस समय,
मनाया था कैसा अह्लाद।
दिलाते रहते ऐसे चित्र
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(८)

एक दिन तुमसे यमुना तीर,
खेलमें डूब गयी थी गेंद।
कहा श्रीदामाने कर क्रोध—
हमारी लाओ मोहन गेंद॥
तभी तुम तज प्राणोंका मोह,
पड़े थे कालिन्दीमें कूद।
और मैं आकुल-व्याकुल विलख—
बहा आँसूकी अविरल बूँद॥
गया यशुदा मैयाके पास,
भाग कर नन्दगामकी ओर।
मच गया था कैसा उस समय-
सभी दिसि हाय-हायका शोर॥
गाय-सी डकराती थी मात,
पछाड़ें खाते बाबा नन्द।
डूब मरते उस दुखमें सभी—
न रहते जो दाऊ सानन्द॥
उसी क्षण कालिय फनपर नाच
मिले थे तुम सबसे सह्लाद।
बढ़ाते रहते ऐसे खेल—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(९)

रहा करता हूँ यों तो सदा,
यादमें तेरी बहुत उदास।
किंतु जब बढ़ जाती है पीर—
छटपटाती हैं अधिक उसास॥
एक दिन इसी दशामें विकल,
गया मैं चरण-पहाड़ी ओर।
वहाँके देख दहकते दृश्य,
हो गये श्वास विशेष विभोर॥
विलखती पीरीपोखर मिली,
मिला सूना पनिहारी कुंड।
भर रहे, सिर धुन गीली आह—
कदम वृक्षोंके झुक-झुक झुंड॥
दग्ध था गहवर बनका हृदय—
नहीं था शीतल कोई ठाँव।
प्रज्वलित रही विरहकी आग,
जल रहा था बरसाना गाँव॥
ढह रहा था हो-होकर खण्ड,
राधिकाका स्वर्णिम प्रासाद।
और तब घनीभूत हो गयी—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(१०)

काम-वन सुलग रहा था स्वयं,
दानकी लीलाओंमें डूब।
रासमण्डलके चारों ओर,
छा रही थी अति गहरी ऊब॥
न देखा कोई आँगन, द्वार,
गेह, चौपाल, चौतरा, खिड़क।
निरख कर निमिष मात्र ही जिसे-
न जाता हो पत्थर-उर धड़क॥
मानसी गङ्गा, राधाकुण्ड,
तुम्हारा प्रिय संकेत-स्थान।
गा रहे थे रो-रोकर सभी-
तुम्हारे मधुर मिलनके गान॥
हाल ही जन्मे शिशुसे बिछुड़—
रँभाये जैसे व्याकुल गाय।
पवनके आकुल स्वरसे श्याम—
निकलती थी ऐसी ही हाय॥
तुम्हारे विरह-सिन्धुकी बाढ़,
कर गयी थी सबको बरबाद।
बसी थी कण-कणमें उस ठौर—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(क्रमशः)

* * *

श्रीराधा-माधव-रस-सुधा

(लेखक—श्रीनटवर गोस्वामी)

भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने व्रजमें प्रकट रहकर रसकी जो मधुरातिमधुर धारा बहायी, उसकी विश्व-ब्रह्माण्डमें कहीं कोई तुलना नहीं है । व्रज-रसके प्राण श्रीव्रजराजकुमारकी आत्मा श्रीराधा हैं । **'आत्मा तु राधिका तस्य'** । वे उनकी आराध्या, उपास्या भी हैं । **'आराध्यते असौ इति राधा'** । वास्तवमें रसकी सत्ता ही आस्वादके लिये है । अपने-आपको आस्वादन करानेके लिये ही स्वयं रसरूप (**रसो वै सः**) श्रीमाधव ही 'राधा' बन जाते हैं । इसीलिये मधुर-रसमें राधा ही 'पराशक्ति' हैं । श्रीकृष्ण प्रेमके पुजारी हैं । वे अपनी पुजारिनकी ही पूजा करते हैं । उन्हें अपने हाथों सजाते-सँवारते हैं । उन्हें अपने प्राणोंके निर्मञ्छनद्वारा सदा प्रसन्न रखते हैं ।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं । वे सच्चिदानन्दमय हैं, 'कर्त्तुम्-अकर्त्तुम्-अन्यथा-कर्त्तुम्-समर्थ' हैं । अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, लावण्यके परम निकेतन हैं, अखिलरसामृत-सिन्धु हैं । फिर उनको प्रियतमके रूपमें प्राप्त करनेवाली आराधिका भी उतनी ही सुन्दर होगी । सच्चा सौन्दर्य तो हृदयका है—जिसमें अहंता, ममता, कामना, वासनाका कलङ्क-लेश भी नहीं, विषयासक्तिकी तनिक-सी मलिनताकी छाया नहीं तथा स्वसुख-वासनाकी किञ्चित् भी कल्पना नहीं है । जो केवल प्रियतमकी प्रेमसुधासे ही नित्य परिपूर्ण है, जिसमें केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी ही सहज चाह है, ऐसे दिव्य अनन्त, अखण्ड, अनन्य सौन्दर्यकी जीवित जाग्रत् प्रतिमा हैं—श्रीराधाजी ।

श्रीकृष्ण चिन्मय परतत्त्व हैं । वे पूर्ण ज्ञान-स्वरूप हैं । और राधा माधव-प्रेमकी घनीभूत नित्य चेतन स्थिति हैं । वे पवित्रतम प्रेमकी एकमात्र आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं । उनका प्रेम विभु होनेपर भी सदा वर्द्धनशील, सर्वोत्कृष्ट होनेपर भी गौरव-अहंकार आदिसे रहित, वक्र होते हुए भी परम शुद्ध निर्मल है । माधवके प्रति राधिकाका यह अनुराग सदा विजयशाली है । माधवका मन निरन्तर बरबस राधामें लगा रहता है । राधाने माधवका चित्त चुरा लिया है, वे सदा राधाप्रेममें विह्वल हैं । वे दिन-रात राधाके अगाध प्रेममें पड़े हुए उसकी मधुर-मधुर लहरियोंमें ही प्रमुदित मनसे नाचते रहते हैं ।

प्रेमके विकासमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—ये कई स्तर हैं । महाभावके भी मोदन और मादन—दो भेद हैं । श्रीराधामें मादनाख्य महाभाव या प्रेम है । इस मादनाख्य महाभावरूप श्रीराधा-प्रेमके सदृश श्रेष्ठ या महान् वस्तु कोई है ही नहीं ।

मादनोऽयं परात्परः ।' श्रेष्ठ वस्तुमें प्रायः श्रेष्ठत्वका अभिमान होता है, परंतु राधा-प्रेममें वह तनिक भी नहीं है । मादनाख्य महाभाव ही प्रेमका पूर्ण विकास है । इसी मादन-प्रेम-समुद्रमें स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग आदिकी, इनके अन्तरस्थ अनन्त विचित्र भावोंकी रससुधामयी अनन्त तरङ्गें उठा करती हैं ।

उपर्युक्त स्नेह आदिका संक्षिप्त रूप यह है—

(१) परमत्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी प्रियतम माधव-सुखेच्छारूप परम पवित्र अनुपम वृत्तिको 'प्रेम' कहते हैं ।

(२) प्रेम अपने विषय प्रियतम माधवको पाकर चित्तको जब द्रवित कर देता है तब 'स्नेह' कहाता है । स्नेहके उदयसे माधव-दर्शन-लालसा तीव्रतम वेगसे बढ़ जाती है ।

(३) जिसमें अत्यन्त नवीन माधुर्यका अनुभव होता है, स्नेहके ऐसे उत्कर्षको 'मान' कहते हैं । प्रेमका यह वाम और वक्रभाव प्रेमसे भिन्नजातीय नहीं है । इसके उदयसे प्रेम मलिन नहीं होता, वरं उसकी उज्ज्वलता तथा आस्वादन-चमत्कारिता और भी बढ़ जाती है ।

(४) ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे यही मान उत्कर्षको प्राप्त हो प्रियतमसे पूर्ण अभिन्न कर देता है—जब कुछ भी पृथक्ता नहीं रहती, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है ।

(५) प्रियतम-मिलनकी आशामें जब दुःख ही परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अत्यन्त दुःखमय दिखायी देने लगते हैं—'प्रणय'की यह उत्कर्षयुक्त अवस्था 'राग' कहाती है ।

(६) नित्य अनुभूत प्रियतम माधव जब दिखायी देते हैं, प्रतिपल उनकी मधुरता बढ़ती ही दृष्टिगोचर होती है—रागके उत्कर्षकी इसी दशाका नाम 'अनुराग' है ।

(७) प्राणत्यागसे भी अधिक कठिन दुःख जब अत्यन्त तुच्छ हो जाता है अपितु श्रीमाधव-प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय हो जाता है, तब वह बढ़ा हुआ अनुराग ही शुभ 'भाव' नाम धारण करता है ।

यह भाव सहज ही उच्चतम स्तरपर पहुँचकर 'महाभाव'-में परिनिष्ठित हो जाता है । यह प्रेमका परमोज्ज्वल और परमोत्कृष्ट स्वरूप नित्यानन्त है ।

श्रीराधाके निज-स्वरूपगत 'महाभाव'का प्रकाशक काव्य संस्कृत-साहित्यमें बहुत कम दृष्टिगोचर होता है । व्रज-साहित्यमें भी उसकी झलक बहुत कम स्थलोंमें ही होती है । बंगला-साहित्यमें 'विरहिनी व्रजांगना' जैसे काव्योंमें अवश्य उसका सरस आस्वादन होता है। वास्तवमें राधा हैं भी पूर्णचन्द्र-श्रीकृष्ण-चन्द्रके पूर्णतम विकासकी आधार-मूर्ति । राधा-भावद्युति-सुवलित-तनु श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त श्रीराधाकी महिमा कह भी कौन सकता है ? वे भी राधा-गुण-स्मृतिसे इतने विह्वल तथा मुग्ध गद्गद-कण्ठ हो जाते हैं कि उनके द्वारा भी भाव-प्रकाश होना सम्भव नहीं । तब इस मधुरतम, परम निर्मल, मनभावन 'महाभाव' पर प्रकाश कौन डाले ?

श्रीराधाका विशुद्ध महाभाव-रूप प्रेम श्रीकृष्णके परमोज्ज्वल माधुर्यको ग्रहण करता है । स्व-सुख-वाञ्छाहीन विशुद्ध राधाप्रेममें श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण माधुरी पूर्णरूपसे आस्वादित भी हो जाती है और उससे राधा-प्रेम और अधिक स्वच्छ एवं ज्योतिर्मय बन जाता है । इसी प्रकार राधा-प्रेमरूप ज्योति अनवरतरूपसे श्रीकृष्णके माधुर्यपर पड़ती है और उसे अधिकतर, अधिकतम ज्योतिर्मय बनाती है । यों श्रीकृष्णके माधुर्यसे राधा-प्रेम और राधा-प्रेमसे श्रीकृष्णका माधुर्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है । इसी प्रकार दोनोंमें परस्पर होड़ लगी रहती है ।

हिंदी वाङ्मयमें श्रीराधाके 'मादनाख्य' महाभावरूप प्रेमका प्रकाशक काव्य 'राधा-माधव-रस-सुधा' देखकर हृदय सचमुच ही शीतल हो जाता है । परमोच्च एवं गौरवमयी राधाका मदीयतामय मधुर स्नेह, सर्वथा ऐश्वर्य-गन्ध-शून्यरूपसे इस काव्यमें सर्वोपरि स्थानपर विराजित है । आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा राधा निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्ण-सेवा-निरत है । राधा प्रियतमको सुख पहुँचाकर, सुखी देखकर जिस प्रेम-सुखका अनुभव करती हैं, वह इतना महान् है कि प्रियतममें भी राधाको सुखी देखकर सुखी होनेकी लालसा तीव्रतम वेगसे उत्पन्न हो जाती है । वे आराध्य न बनकर आराधक बन जाते हैं । रस-साहित्यमें ऐसी रचनाएँ कहाँ हैं जहाँ श्रीकृष्णका यह परम पवित्र रूप प्रकाशित हुआ हो । किस निर्मल भावसे श्रीकृष्ण अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार कर रहे हैं । परम त्यागमय, परम रसमय, परम प्रियतम-सुख-तात्पर्यमय, विशुद्ध प्रेमके प्रकाशक सोलह पद-रत्न इस 'राधा-माधव-रस-सुधा'में इस प्रकार जगमगा रहे हैं, जिनकी ज्योति सचमुच काम-लोलुप, स्वार्थान्ध, प्रेम-प्रकाशहीन वर्तमान लोकके मन-मानसको परम शीतल प्रकाश देती है ।

अहा ! राधाके गुण, सौन्दर्यसे नित्य मुग्ध प्रियतम श्यामसुन्दरके अपनी प्रियतमाकी प्रशंसाके उपरान्त, प्रेम-कृतज्ञताके भाव प्रकट करनेके उपरान्त परम विशुद्ध प्रेममयी राधामें किस प्रकार परमोच्च महादैन्यका प्रकाश होता है, इन गीतोंमें देखते ही बनता है । वे रोते-रोते कहती हैं—

तुमसे सदा लिया ही मैंने लेती लेती थकी नहीं ।
अमित प्रेम सौभाग्य मिला पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं ॥

आज सर्वत्र 'काम' का प्रभाव है । विद्वानोंकी विद्वत्ता, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, त्यागीका त्याग, संयमीका संयम, तपस्वीकी तपस्या, साधुकी साधुता, विरक्तका वैराग्य, धर्मात्माका धर्म और ज्ञानीका ज्ञान भी आज काम-गन्ध-युक्त ही दिखायी पड़ रहा है ! काम सबको बात-की-बातमें नष्ट करता हुआ, सर्वजयी-सा बनकर थिरक रहा है ! इसीसे 'राधा-प्रेम'के नामपर काव्य-साहित्यमें इस प्रकारकी रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, जिनसे प्रेमके नामपर 'काम' का ही प्रसार होता है । ऐसे मोहमलिन कलिकाव्यमें 'राधा-माधव-रस-सुधा' सदृश रचना सचमुच मोहान्धकारको मिटाकर विशुद्ध प्रेमके दर्शन कराने तथा परमकल्याणकी प्राप्ति करानेवाली है ।

विशुद्ध प्रेमके साधकोंके लिये यह ग्रन्थ सफल मार्गदर्शक है । निश्चय ही इस काव्यके भावसम्पन्न हृदयसे प्रतिदिन पाठ करनेमात्रसे ही श्रीराधा-माधवके चरणोंमें दिव्य समर्पणपूर्ण 'प्रेम' का उदय हो सकता है । प्राकृत वाणीसे जिस तत्त्वका प्रकाश इस पुस्तकमें जिस भव्यतासे हुआ है, सर्वथा आदर्श तथा स्तुत्य है ।

जौहरी ही हीरेको परखता है । गुणीजन ही गुणका वास्तविक मूल्याङ्कन करते हैं । मैं तो वास्तवमें इस रसका सर्वथा अनधिकारी प्राणी हूँ, किंतु अनेक महात्माओंके इन

पदोंसे सम्बद्ध कुछ इस प्रकारके अनुभव हैं, जिनमेंसे कुछ यहाँ प्रस्तुत करनेमें हर्ष होता है।

महात्मा सुबलदासजी व्रजके एक प्रख्यात संत हुए हैं। अब वे गोलोकवासी हो गये। वे एकान्त साधनरत महात्मा थे और भिक्षान्न लेनेको महीनेमें केवल एक बार बाहर निकला करते थे। श्रीकृष्णकुण्डके तीर उनकी कुटिया आज भी है, जहाँ वे सर्वथा मौन भजन-रत रहते थे और किसी भी आगन्तुकको उनका दर्शन होना सहज नहीं था। ब्राह्म मुहूर्त्तमें केवल स्नानके लिये निकलनेपर ही उनके दर्शन हो सकते थे। एक दिन मैं स्वयं अपने एक मित्रके साथ उनके दर्शनार्थ गया। बहुत चेष्टा की गयी, परंतु उनकी कुटिया नहीं खुली। सहसा मनमें एक संकल्प हुआ कि इन सोलह गीतोंमेंसे एक गीत गाया जाय। मैंने उच्च स्वरसे—'मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो हे व्रजराजकुमार—' गीत गाना आरम्भ किया। उपर्युक्त महात्मा बंगाली थे, पर वर्षों व्रज-वासके कारण कुछ हिंदी समझते थे। ज्यों ही दो-चार पंक्तियाँ इन गीतोंकी गायीं कि उन महात्माने अपनी कुटिया खोल दी और दर्शन दे दिये। आते ही तुरंत उन्होंने मुझे गले लगा लिया और कहा कि 'तुमपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है भाई !' तदुपरान्त इस काव्यके दो-तीन पद उन्होंने सुने। मेरे यह पूछनेपर कि 'बाबा हिंदी समझमें आती है ?' उन महात्माने पट्टीपर कुछ शब्द लिखे, जिनसे इन पदोंके भावोंके प्रति उनकी बड़ी ही ऊँची श्रद्धा व्यक्त की गयी थी।

ओंकारेश्वरके महात्मा संत 'श्रीसीताराम ओंकारनाथ' सर्वप्रसिद्ध हैं। घूमते हुए नाम-प्रचार-रत ये संत एक बार मेरे नगरमें पहुँचे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे कीर्तन सुनानेका अवसर दें। अपरिचयके कारण पहले इन महात्माने कोई उत्साह नहीं दिखाया। तत्पश्चात् उन्होंने एक गीत ऐसे ही गानेको कहा। इन महात्माका भी हिंदी-ज्ञान बहुत थोड़ा ही है। पर फिर भी सुनते-सुनते ही ये महात्मा समाधिस्थ हो गये। तत्पश्चात् इन सम्पूर्ण पदोंका खूब गायन हुआ। तीन-चार घंटेके पश्चात् इनकी चेष्टासे समाधि छुड़ायी गयी। बाबा बहुत प्रसन्न हुए। मुझे उन्होंने गले लगा लिया। मेरे मस्तकका प्रेमसे वे अश्रुपातद्वारा अभिषेक करने लगे और जबतक ये महात्मा मेरे नगरमें रहे, रोज रात्रिको इन्हीं गीतोंका गायन होता रहा। वास्तवमें मैं बहुत ही सामान्य धरातलका जीव हूँ। मैं तो इन गीतोंको गानेका भी अधिकारी वास्तवमें नहीं हूँ। यह सब तो इन गीतोंमें निहित वस्तु-गुणका ही चमत्कार था। इसी प्रकार 'राधा-माधव'के कृपा-पात्र कई अन्य महानुभावोंने भी इन गीतोंके भावोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा बड़ी श्रद्धासे की है। ऐसे महात्माओंसे प्रेरणा प्राप्त करके ही मैं प्रतिदिन इन गीतोंका पाठ करने लगा हूँ और इससे मुझे अद्भुत लाभ हुआ है, उसे व्यक्त करनेमें मैं असमर्थ हूँ। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि जो भी व्यक्ति श्रद्धा-युक्त हृदयसे इन पदोंका नियमित पाठ करेंगे, उन्हें श्रीराधा-माधवकी कृपासे जीवनमें महान् परिवर्तनके दर्शन स्वयं होंगे। नीचे इस ग्रन्थके वे सोलह गीत प्रारम्भकी 'वन्दना' और उपसंहारकी 'पुष्पिका'के सहित पाठकोंके लाभार्थ दिये जा रहे हैं। गीतोंके रचयिताका नाम नहीं दिया जाता है।

[षोडशगीत]

महाभाव-रसराज-वन्दना

दोउ चकोर, दोउ चंद्रमा, दोउ अलि, पंकज दोउ।
दोउ चातक, दोउ मेघ प्रिय, दोउ मछरी, जल दोउ॥
आश्रय-आलंबन दोउ, बिषयालंबन दोउ।
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ, तत्सुख-सुखिया दोउ॥
लीला-आस्वादननिरत महाभाव-रसराज।
बितरत रस दोउ दुहुन कौं, रचि बिचित्र सुठि साज॥
सहित बिरोधी धर्म-गुन जुगपत नित्य अनंत।
बचनातीत अचिंत्य अति, सुषमामय श्रीमंत॥
श्रीराधा-माधव-चरन बंदौं बारंबार।
एक तत्त्व दो तनु धरैं, नित-रस-पारावार॥

(१)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग मालकोस—तीन ताल)

राधिके ! तुम मम जीवन-मूल।
अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल॥
जस सरीर में निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि व्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग॥
तस तुम प्रिये ! सबनि के सुख की एक मात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार॥
तुम्हरे प्रानिनि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेमसिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान॥
तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तैं पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ तनिक न मानौ ऊन॥

सोऊ अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच॥
तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायब्यूह निज-रस-बितरन करवावति परम उदार॥
तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त॥

(२)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग रागेश्वरी—ताल दादरा)

हौं तो दासी नित्य तिहारी।
प्राननाथ जीवनधन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी॥
चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।
चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ॥
तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।
जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं॥
सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।
तुमहि सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे॥
तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।
तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ॥
तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सचु पावौं।
यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जद्यपि मन सकुचावौं॥

(३)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

हे आराध्या राधा! मेरे मनका तुझमें नित्य निवास।
तेरे ही दर्शन कारण मैं करता हूँ गोकुलमें बास॥
तेरा ही रस-तत्त्व जानना, करना उसका आस्वादन।
इसी हेतु दिन-रात घूमता मैं करता वंशीवादन॥
इसी हेतु स्नानको जाता, बैठा रहता यमुना-तीर।
तेरी रूपमाधुरीके दर्शन हित रहता चित्त अधीर॥
इसी हेतु रहता कदम्बतल, करता तेरा ही नित ध्यान।
सदा तरसता चातककी ज्यौं, रूप-स्वातिका करने पान॥
तेरी रूप-शील-गुण माधुरि मधुर नित्य लेती चित चोर।
प्रेम गान करता नित तेरा, रहता उसमें सदा विभोर॥

(४)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

मेरी इस विनीत विनतीको सुन लो हे व्रजराजकुमार!
युग-युग, जन्म-जन्ममें मेरे तुम ही बनो जीवनाधार॥
पद-पङ्कज-परागकी मैं नित अलिनी बनी रहूँ, नँदलाल।
लिपटी रहूँ सदा तुमसे मैं, कनकलता ज्यों तरुण तमाल॥
दासी मैं हो चुकी सदाको, अर्पणकर चरणोंमें प्राण।
प्रेम-दामसे बँध चरणोंमें, प्राण हो गये धन्य महान॥
देख लिया त्रिभुवनमें बिना तुम्हारे और कौन मेरा।
कौन पूछता है 'राधा' कह, किसको राधाने हेरा॥
इस कुल, उस कुल—दोनों कुल गोकुलमें मेरा अपना कौन।
अरुण मृदुल पदकमलोंकी ले शरण अनन्य, गयी हो मौन॥
देखे बिना तुम्हें पलभर भी मुझे नहीं पड़ता है चैन।
तुम ही प्राणनाथ नित मेरे, किसे सुनाऊँ मनके बैन॥
रूप-शील-गुणहीन समझकर कितना ही दुतकारो तुम।
चरणधूलि मैं, चरणोंमें ही लगी रहूँगी बस, हरदम॥

(५)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग परज—तीन ताल)

हे वृषभानुराज-नन्दिनि! हे अतुल प्रेम-रस-सुधा-निधान!
गाय चराता वन-वन भटकूँ, क्या समझूँ मैं प्रेम-विधान॥
ग्वाल-बालकोंके सँग डोलूँ, खेलूँ सदा गँवारू खेल।
प्रेम-सुधा-सरिता तुमसे मुझ तुच्छ धूलका कैसा मेल॥
तुम स्वामिनि अनुरागिणि! जब देती हो प्रेमभरे दर्शन।
तब अति सुख पाता मैं, मुझपर बढ़ता अमित तुम्हारा ऋण॥
कैसे ऋणका शोध करूँ मैं, नित्य प्रेम-धनका कंगाल।
तुम्हीं दया कर प्रेमदान दे मुझको करती रहो निहाल॥

(६)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग परज—तीन ताल)

सुन्दर श्याम कमल-दल-लोचन, दुखमोचन व्रजराजकिशोर।
देखूँ तुम्हें निरन्तर हिय-मन्दिरमें हे मेरे चितचोर!॥
लोक-मान-कुल-मर्यादाके शैल कभी कर चकनाचूर।
रक्खूँ तुम्हें समीप सदा मैं, करूँ न पलक तनिक भर दूर॥
पर मैं अति गँवार ग्वालिनि, गुणरहित कलंकी सदा कुरूप।
तुम नागर गुण-आगर अतिशय, कुलभूषण सौन्दर्य-स्वरूप॥
मैं रस-ज्ञान-रहित, रसवर्जित, तुम रसनिपुण, रसिक सिरताज।
इतनेपर भी दयासिन्धु! तुम मेरे उरमें रहे विराज॥

(७)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

हे प्रियतमे राधिके! तेरी महिमा अनुपम, अकथ, अनन्त।
युग-युगसे गाता मैं अविरत, नहीं कहीं भी पाता अन्त॥

सुधानन्द बरसाता हियमें तेरा मधुर वचन अनमोल ।
बिका सदाके लिये मधुर दृग-कमल, कुटिल भ्रुकुटीके मोल ॥
जपता तेरा नाम मधुर अनुपम, मुरलीमें नित्य ललाम ।
नित अतृप्त नयनोंसे तेरा रूप देखता अति अभिराम ॥
कहीं न मिला प्रेम शुचि ऐसा, कहीं न पूरी मनकी आश ।
एक तुझीको पाया मैंने, जिसने किया पूर्ण अभिलाष ॥
नित्य तृप्त निष्काम नित्यमें मधुर अतृप्ति, मधुरतम काम ।
तेरे दिव्य प्रेमका है यह जादूभरा मधुर परिणाम ॥

(८)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

सदा सोचती रहती हूँ मैं, क्या दूँ तुमको, जीवनधन !
जो धन देना तुम्हें चाहती, तुम ही हो वह मेरा धन ॥
तुम ही मेरे प्राणप्रिय हो, प्रियतम ! सदा तुम्हारी मैं ।
वस्तु तुम्हारी तुमको देते पल-पल हूँ बलिहारी मैं ॥
प्यारे ! तुम्हें सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित विवेक ।
अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, प्रियतम ! एक ॥
मेरे सभी साधनोंकी बस, एकमात्र हो तुम ही सिद्धि ।
तुम ही प्राणनाथ हो बस, तुम ही हो मेरी नित्य समृद्धि ॥
तन-धन-जनका बन्धन टूटा, छूटा भोग-मोक्षका रोग ।
धन्य हुई मैं प्रियतम ! पाकर एक तुम्हारा प्रिय संयोग ॥

(९)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

राधे, हे प्रियतमे, प्राण-प्रतिमे, हे मेरी जीवनमूल ।
पल भर भी न कभी रह सकता, प्रिये मधुर ! मैं तुमको भूल ॥
श्वास-श्वासमें तेरी स्मृतिका नित्य पवित्र स्रोत बहता ।
रोम-रोम अति पुलकित तेरा आलिङ्गन करता रहता ॥
नेत्र देखते तुझे नित्य ही, सुनते शब्द मधुर यह कान ।
नासा अङ्ग-सुगन्ध सूँघती, रसना अधर-सुधारस-पान ॥
अङ्ग-अङ्ग शुचि पाते नित ही तेरा प्यारा अङ्ग-स्पर्श ।
नित्य नवीन प्रेम-रस बढ़ता, नित्य नवीन हृदयमें हर्ष ॥

(१०)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग गूजरी—ताल कहरवा)

मेरे धन-जन-जीवन तुम ही, तुम ही तन-मन, तुम सब धर्म ।
तुम ही मेरे सकल सुखसदन, प्रिय निज जन, प्राणोंके मर्म ॥
तुम्हीं एक बस आवश्यकता, तुम ही एकमात्र हो पूर्ति ।
तुम्हीं एक सब काल, सभी विधि हो उपास्य शुचि सुन्दर मूर्ति ॥
तुम ही काम-धाम सब मेरे, एकमात्र तुम लक्ष्य महान ।
आठों पहर बसे रहते तुम मम मन-मन्दिरमें भगवान ॥*
सभी इन्द्रियोंको तुम शुचितम करते नित्य स्पर्श-सुख-दान ।
बाह्याभ्यन्तर नित्य निरन्तर तुम छेड़े रहते निज तान ॥
कभी नहीं तुम ओझल होते, कभी नहीं तजते संयोग ।
घुले-मिले रहते करवाते करते निर्मल रस-संभोग ॥
पर इसमें न कभी मतलब कुछ मेरा तुमसे रहता भिन्न ।
हुए सभी संकल्प भङ्ग मैं-मेरेके समूल तरु छिन्न ॥
भोक्ता-भोग्य सभी कुछ तुम हो, तुम ही स्वयं बने हो भोग ।
मेरा मन बन सभी तुम्हीं हो अनुभव करते योग-वियोग ॥

(११)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग शिवरंजनी—तीन ताल)

मेरा तन-मन सब तेरा ही, तू ही सदा स्वामिनी एक ।
अन्योंका उपभोग्य न भोक्ता है कदापि, यह सच्ची टेक ॥
तन समीप रहता न स्थूलतः, पर जो मेरा सूक्ष्म शरीर ।
क्षणभर भी न विलग रह पाता, हो उठता अत्यन्त अधीर ॥
रहता सदा जुड़ा तुझसे ही, अतः बसा तेरे पद-प्रान्त ।
तू ही उसकी एकमात्र जीवनकी जीवन है निर्भ्रान्त ॥
हुआ न होगा अन्य किसीका उसपर कभी तनिक अधिकार ।
नहीं किसीको सुख देगा, लेगा न किसीसे किसी प्रकार ॥
यदि वह कभी किसीसे किंचित दिखता करता पाता प्यार ।
वह सब तेरे ही रसका बस, है केवल पवित्र विस्तार ॥
कह सकती तू मुझे सभी कुछ, मैं तो नित तेरे आधीन ।
पर न मानना कभी अन्यथा, कभी न कहना निजको दीन ॥
इतनेपर भी मैं तेरे मनकी न कभी हूँ कर पाता ।
अतः बना रहता हूँ संतत तुझको दुखका ही दाता ॥
अपनी ओर देख तू मेरे सब अपराधोंको जा भूल ।
करती रह कृतार्थ मुझको, दे पावन पद-पङ्कजकी धूल ॥

---

* (दूसरा पाठ) आठों पहर सरसते रहते तुम मन सर-वरमें रसवान ॥

(१२)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग शिवरंजनी—तीन ताल)

तुमसे सदा लिया ही मैंने, लेती-लेती थकी नहीं।
अमित प्रेम-सौभाग्य मिला, पर मैं कुछ भी दे सकी नहीं॥
मेरी त्रुटि, मेरे दोषोंको तुमने देखा नहीं कभी।
दिया सदा, देते न थके तुम, दे डाला निज प्यार सभी॥
तब भी कहते—'दे न सका मैं तुमको कुछ भी, हे प्यारी!
तुम-सी शीलगुणवती तुम ही, मैं तुमपर हूँ बलिहारी'॥
क्या मैं कहूँ प्राणप्रियतमसे, देख लजाती अपनी ओर।
मेरी हर करनीमें ही तुम प्रेम देखते, नन्दकिशोर!॥

(१३)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

राधे! तू ही चित्तरञ्जनी, तू ही चेतनता मेरी।
तू ही नित्य आत्मा मेरी, मैं हूँ बस आत्मा तेरी॥
तेरे जीवनसे जीवन है, तेरे प्राणोंसे हैं प्राण।
तू ही मन, मति, चक्षु, कर्ण, त्वक्, रसना, तू ही इन्द्रिय घ्राण॥
तू ही स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियके विषय सभी मेरे सुखरूप।
तू ही मैं, मैं ही तू, बस, तेरा-मेरा सम्बन्ध अनूप॥
तेरे बिना न मैं हूँ, मेरे बिना न तू रखती अस्तित्व।
अविनाभाव विलक्षण यह सम्बन्ध, यही बस, जीवन-तत्व॥

(१४)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग वागेश्री—तीन ताल)

तुम अनन्त सौन्दर्य-सुधा-निधि, तुममें सब माधुर्य अनन्त।
तुम अनन्त ऐश्वर्य-महोदधि, तुममें सब शुचि शौर्य अनन्त॥
सकल दिव्य सद्गुण सागर तुम लहराते सब ओर अनन्त।
सकल दिव्य रसनिधि तुम अनुपम, पूर्ण रसिक, रसरूप अनन्त॥
इस प्रकार जो सभी गुणोंमें, रसमें अमित, असीम, अपार।
नहीं किसी गुण-रसकी उसे अपेक्षा कुछ भी, किसी प्रकार॥
फिर, मैं तो गुणरहित सर्वथा, कुत्सित-गति, सब भाँति गँवार।
सुन्दरता-मधुरता-रहित, कर्कश, कुरूप, अति दोषागार॥
नहीं वस्तु कुछ भी ऐसी, जिससे तुमको मैं दूँ रस-दान।
जिससे तुम्हें रिझाऊँ, जिससे करूँ तुम्हारा पूजन-मान॥
एक वस्तु मुझमें अनन्य, आत्यन्तिक, है विरहित उपमान।
'मुझे सदा प्रिय लगते तुम', यह तुच्छ किंतु अत्यन्त महान॥
रीझ गये तुम इसी एक पर, किया मुझे तुमने स्वीकार।
दिया स्वयं आकर अपनेको, किया न कुछ भी सोच-विचार॥
भूल उच्चता, भगवत्ता सब, सत्ताका सारा अधिकार।
मुझ नगण्यसे मिले तुच्छ बन, स्वयं छोड़ संकोच-सँभार॥
मानो अति आतुर मिलनेको, मानो हो अत्यन्त अधीर।
तत्त्वरूपता भूल सभी, नेत्रोंसे लगे बहाने नीर॥
हो व्याकुल, भर रस अगाध, आकर शुचि रस-सरिताके तीर।
करने लगे परम अवगाहन, तोड़ सभी मर्यादा धीर॥
बढ़ी अमित, उमड़ी रस-सरिता पावन, छायी चारों ओर।
डूबे सभी भेद उसमें, फिर रहा कहीं भी ओर न छोर॥
प्रेमी, प्रेम, परम प्रेमास्पद—नहीं ज्ञान कुछ, हुए विभोर।
राधा प्यारी हूँ मैं, या हो केवल तुम प्रिय नन्दकिशोर॥

(१५)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग भैरवी—तीन ताल)

राधा! तुम-सी तुम्हीं एक हो, नहीं कहीं भी उपमा और।
लहराता अत्यन्त सुधा-रस-सागर, जिसका ओर न छोर॥
मैं नित रहता डूबा उसमें, नहीं कभी ऊपर आता।
कभी तुम्हारी ही इच्छासे हूँ लहरोंमें लहराता॥
पर वे लहरें भी गाती हैं एक तुम्हारा रम्य महत्त्व।
उनका सब सौन्दर्य और माधुर्य, तुम्हारा ही है स्वत्व॥
तो भी उनके बाह्य रूपमें ही बस, मैं हूँ लहराता।
केवल तुम्हें सुखी करनेको सहज कभी ऊपर आता॥
एकछत्र स्वामिनि तुम मेरी अनुकम्पा अति बरसाती।
रखकर सदा मुझे संनिधिमें जीवनके क्षण सरसाती॥
अमित नेत्रसे गुण-दर्शन कर, सदा सराहा ही करती।
सदा बढ़ाती सुख अनुपम, उल्लास अमित उरमें भरती॥
सदा, सदा मैं सदा तुम्हारा, नहीं कदा कोई भी अन्य—
कहीं जरा भी कर पाता अधिकार दासपर सदा अनन्य॥
जैसे मुझे नचाओगी तुम, वैसे नित्य करूँगा नृत्य।
यही धर्म है, सहज प्रकृति यह, यही एक स्वाभाविक कृत्य॥

(१६७)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग भैरवी तर्ज—तीन ताल)

तुम हो यन्त्री, मैं यन्त्र, काठकी पुतली मैं, तुम सूत्रधार ।
तुम करवाओ, कहलाओ, मुझे नचाओ निज इच्छानुसार ॥
मैं करूँ, कहूँ, नाचूँ नित ही परतन्त्र, न कोई अहंकार ।
मन मौन—नहीं; मन ही न पृथक्; मैं अकल खिलौना; तुम खिलार॥
क्या करूँ, नहीं क्या करूँ—–करूँ इसका मैं कैसे कुछ विचार ?
तुम करो सदा स्वच्छन्द, सुखी जो करे तुम्हें, सो प्रिय बिहार ॥
अनबोल, नित्य निष्क्रिय, स्पन्दनसे रहित, सदा मैं निर्विकार ।
तुम जब जो चाहो, करो सदा, बेशर्त न कोई भी करार ॥
मरना-जीना मेरा कैसा ? कैसा मेरा मानापमान ?
हैं सभी तुम्हारे ही प्रियतम ! ये खेल नित्य सुखमय महान ॥
कर दिया क्रीडनक बना मुझे निज करका तुमने अति निहाल ।
यह भी कैसे मानूँ-जानूँ, जानो तुम ही निज हाल-चाल ॥
इतना मैं जो यह बोल गयी, तुम जान रहे—–है कहाँ कौन ?
तुम ही बोले भर सुर मुझमें, मुखरा-से, मैं तो शून्य मौन ॥

(पुष्पिका)

महाभाव-रसराजके मधुर मनोहर भाव ।
दिव्य, मधुरतम, रागमय, दैन्य विभूषित चाव ॥
दोनों दोनोंके लिये सहज सभी कर त्याग ।
सुखद परस्पर बन रहे, छलक रहा अनुराग ॥
दोनों दोनोंके सदा प्रेमी-प्रेष्ठ महान ।
नित्य, अनन्त, अचिन्त्य, शुचि, अनिर्वाच्य रसखान ॥
सुख-दुख दोनों ही सुखद, प्रियतम-सुखके हेतु ।
अन्य सभी टूटे सहज मिथ्या निजसुख-सेतु ॥
राधा-माधव-प्रेम-रस वाचा-चित्त-अतीत ।
करते शाखाचन्द्र-से इङ्गित सोलह गीत ॥

करनेयोग्य

(१) 'भगवान् स्वभावसे ही दयालु और सुहृद् हैं। भगवान्‌की मुझपर अहैतुकी कृपा बरसती रहती है। वे मेरे लिये जो कुछ भी फल-विधान करते हैं, उसमें निश्चय ही मेरी आत्माका परम कल्याण है। जो कुछ भी दुःखके रूपमें आता है, वह भगवान्‌का आशीर्वाद है और जैसे सोनेको आगमें तपाकर शुद्ध किया जाता है, वैसे ही भगवान् दुःखोंमें तपाकर मुझको शुद्ध कर रहे हैं तथा अपने पास सदाके लिये बुला लेनेकी व्यवस्था कर रहे हैं। भगवान् मेरे हैं, भगवान् ही मेरे हैं, और कुछ भी मेरा नहीं है। मुझे भगवान् कभी छोड़ते नहीं, छोड़ सकते नहीं। उन्होंने मुझको अपना बना लिया है'—

इस प्रकार दिनमें कई बार निश्चय करना है।

(२) 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'

इस नाम-मन्त्रकी १४ मालाका जप रोज करना है। मालापर जप होनेमें सुभीता न हो तो दिनभरमें ढाई घंटा (एक बार, दो बार या तीन बारमें) जप पूरा कर लेना चाहिये।

(३) भगवान्‌के स्वरूपकी पहले भलीभाँति धारणा करके फिर ध्यान करना चाहिये।

(४) अपनेपर भगवान्‌की महान् कृपा समझकर हर-हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। कभी न उदास होना चाहिये, न रोना।

(५) सबके साथ नम्रताका व्यवहार करना चाहिये तथा सहनशील बनना चाहिये।

(६) संसारके सम्बन्धको नाटकके सम्बन्धकी तरह केवल खेलमात्र मानना चाहिये। कभी भी राग, द्वेष, ममता, मोह नहीं करना चाहिये।

(७) जब जप-ध्यानमें मन न लगे, तब अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिये तथा घरके प्रत्येक कामको भगवान्‌की पूजा समझकर करना चाहिये।

---

* 'श्रीराधा-माधव-रस-सुधा'—१६ पदोंकी पुस्तकके संस्कृत, उड़िया, तमिळ, तेलगु, मलयालम् एवं कन्नड़ भाषामें अनुवाद हो चुके हैं। तमिळ, तेलगु, मल्यालम् और कन्नड़-अनुवाद शीघ्र ही लिटिल फ्लावर कम्पनी, भूरंगम् वील्डिंग्स, ८ रंगनाथन रोड, त्यागराय-नगर, मद्राससे प्रकाशित हो रहे हैं। मराठी, गुजराती अनुवाद हो रहे हैं। इन भारतीय भाषाओंके अतिरिक्त अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच तथा रशियन भाषामें भी अनुवाद हो चुके हैं। व्रजभाषाके अनुवादसहित यह पुस्तक १८ न० पैसेमें गीताप्रेससे मिलती है।

मानवके प्रति भगवान्की अभय वाणी

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी)

[गतांकसे आगे]

(१३)

मत डर

अरे प्रियतम, आनन्दके लाल ! केवल तू मेरा आश्रय ग्रहण कर, तेरे सब क्लेश दूर कर दूँगा ।

त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव जनार्दन ।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम् ॥

तू अन्नाभावमें, जलाभावमें, अर्थ-कष्टमें, रोगमें, शोकमें रो रहा है ? अरे, यह मेरा ही आह्वान है—मैं ही तुझे बुला रहा हूँ । अविराम नाम ले, तेरी स्वप्नकी अश्रुधाराओंको भी पोंछकर मैं सत्य, परम आनन्दधामको ले चलूँगा ।

तू दिशा-दिशामें महाकालका विभीषिकामय ताण्डव देखकर काँप उठा है ? सुन—गिरिपात, भूकम्प, बाढ़ आदि उत्पात लोक-क्षयके कारण नहीं हैं । इन सब रूपोंमें मैं ही ध्वंसलीला करता हूँ । जिस प्रकार 'अनेक बनूँगा', 'जन्म धारण करूँगा ।' (यह सृजन) मेरी इच्छा है; उसी प्रकार नाश (संहार) भी मेरी ही इच्छा है । आज इसकी भी आवश्यकता है । मिथ्या प्रकाशके पीछे दौड़नेवाली विपथगामी हाहाकार-परायण संतान, लौट आ ! लौट आ ! इस अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशमालासे सुशोभित शान्तिमय शास्त्र-मार्गपर । अरे, मेरी सनातन शास्त्रविधिका त्याग करनेपर कभी किसी तरह सिद्धि, सुख और परम शान्ति नहीं मिल सकती । देख, नाम लेनेवाले भक्तका किसी प्रकार भी अशुभ नहीं होता । जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिका उसे भय नहीं रहता । श्रद्धा-अश्रद्धासे—जैसे भी मेरा नाम लेनेपर मैं तेरे कोटि-कोटि अपराध क्षमा कर दूँगा । नाम ले—नाम ले ।

मत डर, मत डर, मत डर !

(१४)

मत डर

अरे प्रियतम ! पापीके लिये तो मेरा नाम ही अवतार है । असंयमी लोगोंपर—काम-क्रोध-लोभ-मोहादिके खरीदे गुलामोंपर कृपा करनेके लिये ही तो मैं नामके रूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ । तू कितना भी पापी, कितना भी विषय-लोलुप क्यों न हो, तुझे कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । मैं तेरे सारे पाप लेकर तुझे आनन्दमय बना दूँगा । तू केवल मुझे पकड़े रखनेकी चेष्टा कर । यह कर लेनेपर तुझे और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा । मैं ही तुझे आत्मसात् करके तेरे अंदर-बाहर नृत्य करता रहूँगा । केवल बोल—'हरे कृष्ण राम ।' बस, तेरे अहं, रोग, शोक, अभाव, दुःख, ज्वाला, नरकके तीनों द्वार—काम, क्रोध, लोभ सदाके लिये खो जायँगे । चारों ओरसे आनन्दकी प्राचीर उठेगी, पृथ्वी फोड़कर आनन्दके फौवारे निकल पड़ेंगे, आकाशसे आनन्दकी धारा फूट पड़ेगी । तू जिस गाँव, जिस नगर, जिस देशमें रहेगा, वहाँके नर-नारी आनन्द-सागरमें तैरते रहेंगे । मैं श्रद्धादि कुछ भी नहीं चाहता—कुछ भी नहीं चाहता । मेरे भंडारमें अक्षुण्ण श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम—सब है । तू केवल नाम ले, नाम ले ।

(१५)

मत डर

प्रियतम ! आनन्दके लाड़ले ! मेरा आश्रय ले लेनेपर अब तुझे किस बातकी चिन्ता है ? मैंने ही तो तेरा सारा भार ग्रहण कर लिया है । तूने क्या सुना नहीं ?

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥

मेरे भक्तोंके लिये किसी तरहका भी अशुभ टिक नहीं पाता । वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधिके भयसे मुक्त है । तू और कोई भी चिन्ता मत कर । केवल मेरे नामकी रट लगा और मेरा ही चिन्तन कर । मैं अपने भक्तोंके कोटि-कोटि अपराध क्षमा किया करता हूँ । सुन-सुन, मेरी आखिरी बात सुन ।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(श्रीमद्भागवत २ । १० । ३२)

पहले एक मात्र मैं था । सत्-असत्—ऐसा कुछ भी नहीं था । इसके बाद यह विश्व-संसार, जो भी कुछ बना है, सब मैं ही हूँ । अन्तमें जो कुछ शेष रहेगा, वह भी मैं ही हूँ ।

तेरा रोग, शोक, अभाव भी मैं ही हूँ । तेरा दुःख, तेरी ज्वाला-यन्त्रणा सब मैं ही हूँ । तेरा मान, अपमान,

सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति भी—सब मैं ही हूँ। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें व्याप्त एकमात्र मैं ही हूँ। बहुरूपी मैं जगत्‌रूपमें अनन्त खेल किया करता हूँ। नाम-कीर्तन करते-करते मुझे पकड़ रख। पुरुषार्थका श्रेष्ठ रूप है—मेरा नाम-कीर्तन।

तू इसे निश्चय जान। मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारोंकी भाँति मेरा नाम भी अवतार है। मैं ही कलिपीडित जीवोंका उद्धार करनेके लिये नाम-रूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ। नाम-कीर्तन करना और मुझे प्राप्त करना—एक ही बात है। तू कितना ही बड़ा दुर्बल, महापापी, नारकीय, कामकिंकर क्यों न हो, मुझे किसी बातका भय नहीं। तू केवल नाम लिया कर। मैं मृत्यु-संसार-सागरसे तेरा उद्धार करूँगा, करूँगा, करूँगा। तू मुझे प्राप्त करेगा—करेगा, निश्चय ही प्राप्त करेगा। नाम-कीर्तन कर—नाम-कीर्तन कर—नाम-कीर्तन कर।

मत डर, मत डर, मत डर !

(१६)

मत डर

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

प्रियतम ! मैं तो तुझे सतत पुकार रहा हूँ। तेरे रोग-शोक-दुःख, ज्वाला-यन्त्रणा, सारे अभाव दूर करके मैं तुझे परमानन्द-सागरमें सर्वदा डुबाये रखनेके लिये अन्तरके अन्तस्तलसे 'आ ! आ !' कहकर प्रतिक्षण आह्वान कर रहा हूँ।

अरे मेरे आनन्दके लाड़ले ! अब मुझे भूले मत रहना। अरे प्राणाधिक ! संसार-तापकी मनोवेदनामें तू अकेला नहीं रो रहा है—मैं भी तेरे साथ रो रहा हूँ और कहता हूँ कि 'तू मुझे पुकार'—मैं तेरे सब दुःखोंका अवसान कर दूँगा, कर दूँगा, कर दूँगा ! मैं जन्म-मरणमें सदा ही तेरा प्राणके समान नित्य सहचर हूँ, तेरा हृदयकमल ही तो मेरा नित्य निकेतन है। तेरा हृदय छोड़कर मैं क्षणमात्र भी नहीं रहता।

पुकार, पुकार—नाम ले, नाम ले। मेरा नाम तेरे भीतर-बाहर सब कुछ आलोकसे, पुलकसे, आनन्दसे भर देगा—मेरे नूपुर एवं वंशीध्वनि सुनता हुआ तू मेरा दर्शन प्राप्त करेगा—तू मुझमें डूब जायगा। मैं हूँ, नामजापक मुझे देख पाता है, मैं भक्तको आत्मसात् कर लेता हूँ—यह ध्रुव सत्य है। केवल नाम ले—नाम ले—नाम ले।

मत डर, मत डर, मत डर !

खात-सोत-बैठत-उठत जपै जो मेरो नाम।
नियत, सपदि सो तरै भव, पावै मेरो धाम॥

(उठते-बैठते, खाते-सोते, जो सदैव मेरा नाम लेता है, वह तुरंत ही मुक्त हो जाता है।)

(१७)

मत डर

अरे वाञ्छिततम—आनन्दके दुलारे, प्यारे ! पोंछ डाल, आँखके आँसू सब पोंछ डाल। तेरे रोग-शोक-दुःख, ज्वाला-यन्त्रणा, सारे अभाव दूर करनेके लिये ही मैं नामरूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ; मैंने ही मत्स्यरूपसे वेदोद्धार, कूर्मरूपसे मन्दरगिरि-धारण, वाराहरूपसे हिरण्याक्षवध और धरा-उद्धार, नृसिंहरूपसे हिरण्यकशिपु-संहार, वामनरूपसे बलि-बन्धन, परशुरामरूपसे इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय, रामरूपसे रावण-वध, बलराम-रूपसे प्रलम्ब एवं द्विविदका-विनाश और श्रीकृष्णरूपसे धर्मसंस्थापन किया था। मेरी शरणागत-प्राणा द्रौपदीकी लज्जा निवारण करनेके लिये ही मेरा वस्त्रावतार हुआ था। असुर-मोहनके लिये मैंने बुद्ध-देह परिग्रह किया था। मैं ही जगन्नाथ, विश्वनाथ, वैद्यनाथ एवं रङ्गनाथ-रूपसे धरामें अवस्थान करके कोटि-कोटि पातकियोंका उद्धार कर रहा हूँ। वही मैं नामावताररूपमें अवतीर्ण हुआ हूँ; आ-आ, कलि-पीडित जीव ! तेरे ही लिये मैं नामरूपसे आया हूँ। ले-ले, नाम ले। त्याग, संयम, शुद्धाशुद्ध-विचार, देश-काल—किसीकी भी प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। जहाँ-तहाँ, जब-तब, जिस-किसी प्रकारसे भी नाम लेनेपर तेरे रोग, शोक, अभाव कुछ भी नहीं रहेंगे—तू परमानन्दमें डूब जायगा।

अरे, अरे प्रियतम ! अरे, अरे आत्मविस्मृत ! जैसे जल एवं जलकी तरङ्ग, सूर्य और सूर्यरश्मि, चन्द्र एवं चन्द्रकी किरण अभिन्न हैं, उसी प्रकार तद्रूप तुझमें एवं मुझमें कोई भेद नहीं है—तू मेरे हृदयपर ही खेल कर रहा है। ले-ले, नाम ले, नाम-कीर्तन करता लौट आ—अपने ही सच्चिदानन्द परम-स्वरूपमें। नाम ले, नाम ले, नाम ले।

मत डर, मत डर, मत डर !

* * *

तन्त्रमें वृक्षोंके चमत्कारी प्रयोग

(लेखक—डॉ० श्रीकैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एच्० बी० एच्० ए०)

'तन्त्र' शब्दका अर्थ जितना ही विस्तृत है, इतिहास भी उतना ही प्राचीन है। हिंदुओंका सर्वमान्य तथा प्राचीन ग्रन्थ वेद है, जिसे 'अपौरुषेय'—ईश्वरकी वाणी कहा जाता है। सृष्टिके आरम्भमें ईश्वरकी जो वाणी सुनी गयी थी, वही वेद है। चूँकि यह किसीके द्वारा लिखा नहीं गया था, वरं सुना ही गया है; इसीलिये इसे 'श्रुति' भी कहते हैं। वेद चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व। इनमेंसे प्रत्येकके एक-एक उपवेद हैं। तन्त्र अथर्ववेदका उपवेद है। बादमें कुछ और तन्त्रोंका आविर्भाव हुआ, जिनमें भगवान् शिवके द्वारा वर्णित तन्त्र विशेष महत्त्वके हैं।

तन्त्रोंके विषयमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है पर यह सत्य है कि यदि हिंदु-शास्त्रोंमेंसे तन्त्र निकाल लिया जाय तो उनके पास कुछ नहीं बचेगा। आज जितनी भी पूजा, साधना इत्यादि होती हैं, उनमेंसे केवल कुछको ही छोड़कर शेष सभी तन्त्रोक्त पद्धतिपर आधारित हैं। 'महानिर्वाणतन्त्र'में आगमोक्त विधानको ही कलिकालमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। तन्त्रका अनुसरण कर न जाने कितने ही सिद्ध पुरुष हो गये, जिनके पास अलौकिक शक्तियाँ थीं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस इसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पर तन्त्रके साधकोंको कभी भूलकर भी मारण, मोहन, उच्चाटन और विद्वेषणका प्रयोग नहीं करना चाहिये। वाममार्गकी साधना भी नहीं करनी चाहिये। ये सब बड़े खतरनाक हैं।

तन्त्रयोगमें शरीर और ब्रह्माण्डका जितना अद्भुत साम्य दिखाया गया है, वह अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'को केवल पुस्तकोंमें ही सीमित नहीं रक्खा गया, वरं इसका प्रत्यक्षीकरण पिण्ड और ब्रह्माण्डमें करके तब इसे पुस्तकोंमें सूत्ररूपसे लिखा गया। इसी प्रकारका गहन विचार वर्णाक्षरों तथा उनके सम्मिलनसे बने विभिन्न शब्दों एवं उनके द्वारा उत्पन्न ध्वनिके विषयमें भी किया गया। प्राचीन शास्त्रकारोंका कहना है कि स्पन्दनरूप वस्तु एवं स्पन्दनरूप शब्दके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिये हर एक अर्थके लिये एक शब्द होता है। इस शब्दमें वह अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति रहती है। यही मन्त्रोंका रहस्य है।

तन्त्रका उद्देश्य जीवको शिव-स्वरूप बनाना है। जीव और शिवकी व्याख्या कुलार्णवतन्त्रमें इस प्रकार दी गयी है—

घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥

पर सभी वस्तुओंके सब अधिकारी नहीं होते। सभी लोग न तो मुक्ति पानेके अधिकारी होते हैं और न सभी लोग सब तरहके विधानोंके जाननेके ही। साधनाको इसीलिये गुप्त रखनेका आदेश है—

'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।'

और—

'Hold fast in silence what is your own lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever.'

अनधिकारी व्यक्ति मुक्तिमार्गमें तन्त्रोक्त साधनासे प्रवेश न करें। इसीलिये शिवजीने उनके सांसारिक सिद्धि-लाभके लिये षट् प्रयोगों तथा अन्यान्य प्रयोगोंकी रचना की।

तन्त्रमें जिस प्रकार सभी वस्तुओंके विभिन्न प्रयोगोंका वर्णन है, उसी प्रकार वृक्षोंसे भी विभिन्न सिद्धिलाभ प्राप्त करनेका वर्णन है। यद्यपि औषधीय विज्ञानमें वृक्ष और उनके अवयवोंके उपयोगका विभिन्न प्रकारकी चिकित्सा-प्रणालियोंमें वर्णन है, पर सांसारिक सिद्धि-लाभका उपयोग एकमात्र तन्त्र ही बतलाता है। हम यह ऊपर पहले ही कह चुके हैं कि जो कुछ पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें भी है। पर इतना ही नहीं, अपितु संसारके प्रत्येक पदार्थका किसी-न-किसी रूपमें ब्रह्माण्डके दृश्य और अदृश्य लोकों तथा उनके प्राणियोंसे सम्बन्ध है। इसलिये जब किसी वस्तु-विशेषको किसी विशेष विधानके अनुसार किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिये काममें लाया जाता है; तब वह उक्त कार्यकी भी सिद्धि कराता है। मन्त्र-विशेष जो उक्त कार्यमें प्रयुक्त होता है, उसका भी अपना विशेष प्रयोजन और महत्त्व है, जिसके सिद्ध न होनेपर कार्य सफल नहीं होता। ग्रह-नक्षत्रोंके पृथ्वी और उनके प्राणियोंसे सम्बन्धकी स्थूल बातें तो हम सभी देखते

हैं। सूर्यके धब्बोंका पृथ्वीपरके आँधी-तूफानका सम्बन्ध, रेडियो-तरंगके प्रसारणकी बाधा, रोग, भूकम्प इत्यादि तथा चन्द्रमाके घटने-बढ़नेके साथ बीमारियोंका सम्बन्ध, पूर्णचन्द्रके आकर्षणसे समुद्रमें ज्वार आना—सभी कुछ देखे जाते और विज्ञानसम्मत हैं; पर विज्ञान अन्तरपक्षके अनेक रहस्योंको अभीतक सुलझा नहीं सका है।

यहाँ हम अति प्राचीन दुर्लभ ग्रन्थोंसे तन्त्रशास्त्रमें वृक्षोंद्वारा प्राप्त सिद्धियोंका संक्षिप्त वर्णन करेंगे। स्मरण रहे कि ईश्वरकी तीनों शक्तियाँ—इच्छा, ज्ञान और क्रिया जिस प्रकार सृष्टिकी रचना करती हैं, उसी प्रकार साधनामें भी ये तीनों तत्त्व आवश्यक हैं। ज्ञान होते हुए भी क्रिया तबतक फलवती नहीं होती, जबतक कि उसके साथ तीव्र इच्छाशक्तिका संयोग न हो। तीव्र इच्छाशक्ति भी तभी उत्पन्न होगी, जब कि प्रयोगमें श्रद्धा और विश्वास हो। संत तुलसीदासजीने ईश्वरको इसीलिये श्रद्धा और विश्वासका रूप कहा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

इसलिये निम्नलिखित प्रयोगोंमें ही नहीं, बल्कि समस्त साधनाओंमें ये तीनों शर्तें अनिवार्य हैं। केवल चमत्कार देखने-जैसा खिलवाड़ करनेसे अथवा तमाशेके लिये आजमाइश करनेसे प्रयोगकर्त्ताको असफलता ही हाथ लगेगी, इतना स्मरण रहे।

विषका पूर्व प्रतीकार करना

(१) मेषके सूर्यमें एक मसूर दो नीमके पत्तेके साथ खानेसे एक वर्षतक सर्पका भय नहीं रहता। तक्षक भी क्रोध कर उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

(२) श्वेत विष्णुकान्ताका फल और मूल दोनों पीसकर पान करनेसे सर्प-विष दूर हो जाते हैं। यह अमृतयोग शिवजीका कहा हुआ है। प्रणवसहित बाजेपर इसका लेप करे। इस योगसे बाजेको सुनकर विषसे भरा हुआ मनुष्य जाग उठता है।

(३) श्वेत पुनर्नवाको चावलके पानीके साथ अच्छे मुहूर्तमें जो पीता है, उसे सर्प काटनेका भय नहीं होता। यदि मोहवश सर्प काट भी ले तो स्वयं नष्ट हो जाता है।

(४) आषाढ़ शुक्ल पञ्चमीके दिन जो अपनी कमरमें सिरिसकी जड़ बाँधता है तथा चावलका पानी पीता है, उसे सर्पदंशका भय नहीं होता। काटनेपर सर्प स्वयं नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त चारों प्रयोगोंको निम्नलिखित मन्त्रसे अभिमन्त्रित कर ग्रहण करे और मन्त्रको ग्रहण या दीपावलीमें सिद्ध कर ले।

मन्त्र—'ॐ नमो भगवते उड्डामरेश्वराय कंचितामृतमर्चंत जटाय ठः ठः स्वाहा।'

(५) जब अमावस्या रवि, मंगल या शनिवारको पड़े तो उस दिन जिस समय आमपर बौर देखे, उसे उसी समय तोड़कर हाथमें खूब मल ले। इसके प्रभावसे केवल हाथ मलकर सुँघानेसे बिच्छूका विष तत्काल उतर जाता है। इस तन्त्रका प्रभाव एक वर्षतक रहता है।

प्रेत-निवारण

(१) रविवारको काले धतूरेकी जड़ बाँहमें बाँधे तो भूत-बाधा जाय और फिर कभी न सतावे।

(२) लहसुन एकड़ियाके रसमें हींग पीसकर भूत-ग्रस्तको सुँघावे या अंजन करे तो भूत-बाधा जाय और फिर न सतावे।

(३) रविवारको तुलसीपत्र, काली मिर्च प्रत्येक आठ-आठ तथा सहदेइयाकी जड़ लाकर तीनोंको ताँबेके यन्त्रमें भर धूप देकर धारण करनेसे भूतादिक दूर हो जाते हैं।

(४) नीमके पत्र, बच, हींग, साँपकी केंचुली और सरसों—इनको पीसकर धूनी दे तो सभी प्रकारके भूतादि दूर हो जाते हैं।

(५) मुंडी, गोखरू और बिनौला समभाग लेकर गोमूत्रमें पीसकर ब्रह्मराक्षस-ग्रसितको सुँघावे तो निर्दोष हो।

(६) रविवारको विधिपूर्वक शंखाहूलीकी जड़ लाकर चावल या घृतके संग ब्रह्मराक्षस-ग्रस्तको सुँघावे तो निर्दोष हो।

तन्त्रमें बंदेके प्रयोग और सिद्धियाँ

बंदा प्रत्येक वृक्षपर उत्पन्न होता है। बिहारमें इसे बाँझा कहते हैं। आम और बेरका बंदा तो आसानीसे देखा जा सकता है। आमके बंदेकी पत्तियोंको पशुओंको खानेके

लिये दिया जाता है, शेष लकड़ी जलानेके काम आती है। आयुर्वेदशास्त्रमें चिकित्साके लिये एकाध प्रकारके बंदेके उपयोगका निर्देश है जैसे बेरके बंदेको पीसकर दहीमें मिश्रित कर खानेसे आमाशय (Dysentery) ठीक होता है। इत्यादि-इत्यादि । तन्त्रको छोड़कर अन्य किसी भी विज्ञानने इसके उपयोगपर विस्तार और गम्भीरतासे विचार नहीं किया। तन्त्रशास्त्र बतलाता है किन वारों (दिनों) को, किन नक्षत्रों तथा तिथियोंके योगमें किस वस्तुमें किस प्रकारका प्रभाव आ जाता है। मन्त्रद्वारा इसी प्रभावको शतगुणित, सहस्रगुणित किया जाता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि इस ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुएँ, समस्त कार्य एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं तथा एकमें कोई प्रभाव या परिवर्तन होनेपर उसकी लहरें ब्रह्माण्डके ओर-छोरतक पहुँच जाती हैं। अस्तु ! इस प्रकारके लेखोंके लिखनेका मेरा एकमात्र उद्देश्य यही है कि भारतकी ये गुप्त विद्याएँ लुप्त न हो जायँ और सत्यान्वेषकोंद्वारा इनका वास्तविक उपयोग हो।

बंदा हर वृक्षपर उत्पन्न होता है, पर यह नियम नहीं है कि अवश्य होगा। इसमें तीन भेद हैं एक बच्चेका जो शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरा युवाका जो विधिपूर्वक यत्नसे सिद्ध होता है और तीसरा वृद्धका जो सिद्ध नहीं होता। सिद्ध किया भी जाय तो कार्य नहीं होता।

लक्ष्मीके लिये आमका बंदा

कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको आमके बंदेको धान और रोलीसे निमन्त्रण दे आवे। दीपावली (अमावस्या) के दिन उसका दूध और बताशाकी बलि तथा देवदारुकी धूप देकर पूजन करे। फिर वृक्षको नमस्कार कर नंगा (तान्त्रिक विधानमें जहाँ नंगा होना लिखा है वहाँ धोतीका काछामात्र खोले।) हो सूर्योदयसे पहले तोड़ लावे। समस्त कार्यके समय निम्नलिखित मन्त्रका जप करे—

मन्त्र—'ॐ वृक्षराज महाश्रीमन् विष्णुसुख सनातन। धन-धान्यसमृद्धिं श्रीं देहि मे अचल प्रभो।'

रात्रिको दीपावली-पूजन करके एकान्तमें बंदेका पाँचों प्रकारसे पूजन करे, शेष रात्रिमें उपर्युक्त मन्त्रका पाठ करे। फिर प्रातःकाल स्नान करके उस बंदेको धूप देकर यन्त्रमें धरकर पास रक्खे तो लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। धन अक्षय रहता है। लक्ष्मीमन्त्रका सम्पुट देकर विष्णुसहस्रनामका १०८ पाठ करने तथा दस दिनोंबाद हवन करनेसे एक वर्षतक तन्त्र पूर्ण जाग्रत् रहता है।

जीविका-प्राप्तिके लिये पीपलका बंदा

जब अपना चन्द्रमा बली हो तब रिक्ता तिथि (शनिवारको ४, ९, १४ तिथि पड़े तो वह रिक्ता तिथि होती है) के एक दिन पहले संध्याकालको वृक्षराजको निमन्त्रण दे आवे तथा शनिवारको सूर्योदयसे पहले बंदेको तोड़ लावे और तबसे दूसरी रिक्ता तिथि पड़नेतक बंदेकी नित्य पाँचों प्रकारसे पूजा करे। फिर उस दिन निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर यन्त्रमें धर धूप देकर पास रक्खे तो बिना परिश्रम जीविका प्राप्त होती है।

मन्त्र—'मूले ब्रह्मा त्वचि विष्णुः शाखासु च महेश्वरः।
पत्रे पत्रे देवनाथो वृक्षराज नमोऽस्तु ते॥
वृक्षराज नमस्तुभ्यं महाकाय शिखाप्रिय।
सर्वरोगविनाशाय देहि वांछमनामयम्॥'

पलाशके बंदेकी विधि

होलिकाके एक दिन पहले संध्या-समय निमन्त्रण दे प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले फूल-अक्षत चढ़ाकर देवदारुका धूप और मोदककी बलि दे। निम्नलिखित मन्त्रको १०८ बार पढ़कर अन्न-स्थानमें स्थापित करे तो धान्य परिपूर्ण रहता है।

मन्त्र—'ॐ वृक्षराज समृद्धस्त्वं त्रिषु लोकेषु वर्तसे।
कुरुष्व धान्यवृद्धिं त्वं क्षेत्रे कीटौघवर्जिते॥'

गूलरके बंदेकी विधि

ग्रहण पड़नेके एक दिन पहले बंदेको निमन्त्रण दे आवे, फिर ग्रहणके दिन सूर्योदयसे पहले शर्बत और हलुआकी बलि देकर नमस्कार कर तोड़ लावे; पश्चात् ग्रहण लगते ही बंदेका पाँचों प्रकारसे पूजनकर ग्रहणपर्यन्त लक्ष्मी-गायत्रीका जप करे कमलाक्षकी मालासे। इसे सुवर्ण यन्त्रमें धरकर शिखामें बाँधनेसे भूमिस्थ धन दृष्टि पड़ता है और हाथ लगता है।

धनधान्य-अक्षयकरण तन्त्र

(१) इमलीका बंदा पुष्य नक्षत्रमें रविवारको प्रातः ले आवे। शनिवारको निमन्त्रण दिये रहे। इसकी धूप-

दीपसे पाँचों प्रकारसे पूजनकर इस मन्त्रको एक सहस्र जपकर अन्न-धनमें धरे तो लक्ष्मीकी वृद्धि होती है ।

(२) पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रमें अनारका तथा सेमरका बंदा रखनेसे धन अक्षय होता है ।

(३) मघा नक्षत्रमें बहुआर (हरसिंगार) वृक्षका बंदा लाकर धान्यमें रखनेसे अवश्य ही धान्य अक्षय होता है ।

(४) हस्त नक्षत्रमें निगुंडी (शिखार) का बंदा ग्रहणकर धान्यमें रखनेसे धान्य अक्षय होता है ।

(५) भरणी नक्षत्रमें कुशका बंदा लेकर स्थापन करनेसे सम्पूर्ण धन-धान्य अक्षय हो जाता है ।

(६) रोहिणी नक्षत्रमें गूलरका बंदा ग्रहणकर स्थापन करे तो धन-धान्य अवश्य अक्षय होता है ।

सभी तन्त्रोंमें निम्नलिखित मन्त्रका प्रयोग करना चाहिये—

मन्त्र—'ॐ नमो धनदाय स्वाहा ।'

इसे प्रथम दस सहस्र जपकर सिद्ध कर ले, तब कार्य करे ।

अदृश्य होनेका तन्त्र

(१) अनुराधा नक्षत्रमें रोहितकका बंदा ग्रहण कर मुखमें रखनेसे मनुष्य निःसंदेह अदृश्य हो जाता है ।

(२) मृगशिरा नक्षत्रमें शाखोट (शिंघोर) वृक्षका बंदा पानद्वारा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

(३) भरणी नक्षत्रमें कपासका बंदा लेकर हाथमें बाँधनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

(४) स्वाती नक्षत्रमें नीमका बंदा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

(५) अश्विनी नक्षत्रमें बेलका बंदा हाथमें धारण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

(६) मृगशिरा या उत्तराषाढ़में अशोक वृक्षका बंदा ग्रहण करनेसे मनुष्य अदृश्य हो जाता है ।

उपर्युक्त सभी तन्त्रोंमें निम्नलिखित मन्त्रका प्रयोग करे—

मन्त्र—'ॐ नमो भगवते रुद्राय मृतार्कमध्ये संस्थिताय मम शरीरममृतं कुरु कुरु स्वाहा ।'

दस सहस्र जपसे मन्त्र सिद्ध होता है । सिद्ध करके तब कार्य करे ।

विविध बंदाउली-सिद्धि

(१) कृत्तिका नक्षत्रमें थूहरका बंदा हाथमें धारण करनेसे वाक्सिद्धि होती है ।

(२) स्वाती नक्षत्रमें बेरका बंदा लेकर हाथमें धारण कर मनुष्योंसे जो भी प्रार्थना करे, वह सब प्राप्त कर सकता है ।

निम्नलिखित मन्त्रसे ग्रहण करे—

मन्त्र—'ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा । ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा ।'

(३) शाखोट (शिंघोर) का बंदा, आमका बंदा, गोखरू और लवण चौथाई भाग लेकर दूधमें पीसे और उसीका मस्तकपर तिलक करे तो सब गुप्त प्रकाश हो जाता है । जहाँ धनादिक हों या गुप्तवेश गन्धर्व, यक्षिणी, यक्षादि जो कोई भी लोकमें स्थित हों, सब प्रकट हो जाते हैं । इसमें संदेह नहीं ।

(४) अश्लेषा नक्षत्रमें शनिवारके दिन सायंकाल जब मङ्गल अष्टम हों, अनारके बीजका रस, कमलकी जड़ एवं शतावरीका रस ग्रहण कर, उससे शुद्ध कर अंजन बनाकर लगावे तो सब पूर्ण प्रकाश हो जाता है ।

(५) वट-वृक्षका बंदा रोहिणी नक्षत्रमें ग्रहण कर जो हाथमें धारण करे तो, वह सबको वशीभूत कर सकता है । ऐसा विश्वामित्रने कहा है ।

(६) जब कृत्तिका नक्षत्र मङ्गलवारयुक्त हो तब एक दिन पूर्व निमन्त्रण देकर उक्त तिथिको नंगा होकर कइथका बंदा लावे । इसे विधिसे मुखमें रखकर कहीं जाय तो उसको शस्त्र न लगे ।

बटका तान्त्रिक प्रयोग

वर नीचे वर देखिकै ताको न्यौते जाय ।
दीप-दान को लाइये, अर्धरात्रि वो ल्याय ॥
न्हाय धोय अरु नग्न ह्वै, खेवै धूप लगाय ।
पीछे वाको लीजिये मनमें प्रीति बढ़ाय ॥
घरमें पोत धराइये, अन-धन कोठी माहिं ।
देव इष्ट जो पूजिये, रहै लक्ष्मी घर माहिं ॥

बहुधा तन्त्रोंपर आक्षेप किया जाता है कि इसके प्रयोग सिद्ध नहीं होते या कार्यकारी नहीं होते, पर यह सर्वथा असत्य है। वस्तुतः इनके सम्बन्धकी पूर्ण जानकारी बहुतोंको नहीं है। उपर्युक्त प्रयोगोंमेंसे कई प्रयोग इन्द्रजालकी प्रकाशित पुस्तकोंमें मिल जा सकते हैं, पर उनमें अन्य बातोंका अभाव रहता है। इसलिये वे सफल नहीं होते और साधक निराश होकर उन्हें निरर्थक समझने लगता है। इन प्रयोगोंमें सिद्धि क्यों नहीं मिलती—इसका एक और कारण है। उस कारणका पता सौभाग्यवश मुझे एक प्राचीन ग्रन्थमें मिला। उसके अनुसार तन्त्र-सिद्धिके इच्छुकको दत्तात्रेय मन्त्र और यन्त्रको पहले सिद्ध करना चाहिये। इससे तन्त्रकी सिद्धि होती है। पाठकोंके लाभार्थ उक्त मन्त्र और यन्त्र नीचे दिया जा रहा है—

मन्त्र—'ॐ परब्रह्मपरमात्मने नमः उत्पत्तिस्थिति-प्रलयकारिणे ब्रह्महरिहराय त्रिगुणात्मने सर्वकौतुकानि दर्शय दत्तात्रेय नमस्तन्त्राणां सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा।'

इसे दीपावली या ग्रहणमें सिद्ध कर ले तथा तान्त्रिक प्रयोगके पहले इसका जप करे। यन्त्र निम्नलिखित है—

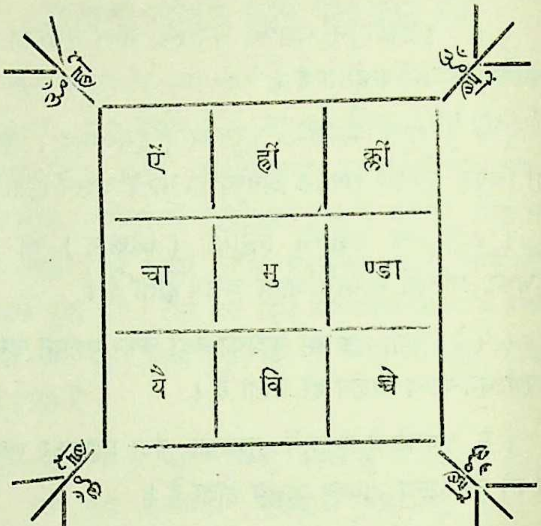

ऐं	ह्रीं	क्लीं
चा	मु	ण्डा
यै	वि	च्चे

इस यन्त्रसे तन्त्रकी सिद्धि होती है। इसे शुभ मुहूर्तमें लिखकर सिद्ध कर ले तथा भोजपत्रपर रक्तचन्दनसे लिखकर यन्त्रमें भरकर पहिने।

प्रणवका प्रसार

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

प्रणव अर्थात् ॐ, तीन अक्षरों—अ, उ, म्‌का संयुक्त आकार है। अ और उ की संधिसे ओ बना और म्, ँ इस रूपमें उसपर रक्खा गया, जिसको नाद-बिन्दु कहते हैं।

इन अक्षरोंका राहस्यिक अर्थ ऐसा है—

(अ) = 'अव्यते' अर्थात् 'रक्षते'; जगत्‌की रक्षा करनेवाले सत्त्वगुण-युक्त विष्णु-वाचक।

(उ) = 'उष्यते' अर्थात् 'हन्यते'; जगत्‌को हनन करनेवाले तमोगुणयुक्त शिववाचक।

(म्) = 'मन्यते' अर्थात् 'सृज्यते' जगत्‌का सृजन करनेवाले रजोगुण-युक्त ब्रह्मा-वाचक।

अव, उष, मन्—धातुओंके आदि वर्णोंसे ॐ बना है। सुतरां, ॐ कहनेसे सृष्टि, स्थिति और लयके महाकारण परमात्मा सूचित होते हैं।

यही एक अक्षर मनुष्यके जीवनमें जन्मसे मृत्युतक साथ रहता है।

जन्म लेते ही बालक जब रोता है, तब उसके मुखसे स्वतः ॐ, ॐ, ॐ की आवाज निकलती है और अन्तिम कालमें, सौभाग्य हुआ तो ॐ उच्चारण करते हुए शरीरका त्याग करता है और परम गतिको प्राप्त होता है। सो यह अक्षर जन्म-मरणका साथी है।

कठोपनिषद्‌में यमराजने नचिकेताको इस अक्षरके सम्बन्धमें कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदऽसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१। २। १५–१७)

सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिके साधक कहते हैं, जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह पद है 'ॐ'। यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह

अक्षर ही परम है, इस अक्षरको जानकर जो इसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।

यही (ॐ) श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।

माण्डूक्योपनिषद्में तो इसे उस कोटितक पहुँचा दिया है जिसके परे और कुछ कहना ही नहीं है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। (गौ० का० १)

—ॐ नामक यह अक्षर, यह समस्त परिदृश्यमान जगत् है। उसका उपव्याख्यान—स्पष्ट कथन आरम्भ होता है। भूत, भविष्य और वर्तमान—यह सब ॐकार है। त्रिकालके अतीत भी जो कुछ है वह भी 'ॐ' है।

भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥
(१७। २३-२४)

ॐ तत् सत्—इस वाक्यके द्वारा ब्रह्मका त्रिविध नाम निर्दिष्ट होता है। इस त्रिविध निर्देशसे पूर्वकालमें यज्ञके कर्त्ता ब्राह्मण, यज्ञके कारण वेद और यज्ञ-क्रियाका निश्चय हुआ था।

इसलिये 'ॐ' यह ब्रह्मवाचक शब्द उच्चारण करते हुए ब्रह्मवादी शास्त्रके अनुसार यज्ञ-दान-तपस्यादि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं।

यह भी नियम है कि वेदमन्त्रोंके आदिमें 'ॐ' का उच्चारण अवश्य किया जाय, कभी-कभी अन्तमें भी इसका उच्चारण उदात्त, प्लुत स्वरसे करनेका विधान है।

गायत्री-मन्त्र वेदमन्त्र है, इसलिये इसके आरम्भमें प्रणव-सहित व्याहृतियोंका उच्चारण करनेकी विधि है और अन्तमें ॐ।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ॐ भगवान्‌का सबसे प्रिय नाम है। इस नामसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। इस एक नाममें परमात्माके अनेक नामोंका समावेश है।

'ॐ' अक्षरमें तीन मात्राएँ हैं—अ, उ, म्। प्रत्येक मात्रामें परमेश्वरका एक नाम है। जैसे अ=विराट् जो कि विभिन्न प्रकारसे जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। उ=हिरण्यगर्भ, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशमान पदार्थ जिनके 'गर्भ' में हैं। म्=ईश, प्राज्ञ, आदित्य, आनन्द। जैसे परमात्माके गुण अनन्त हैं, वैसे ही ॐ के अर्थ भी अनन्त हैं। संक्षेपमें ॐ परमात्माका नाम होनेके कारण इसके अर्थ हैं—सर्वरक्षक, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, प्रकाशक, पापविनाशक, भगवान्, तृप्तिकारक, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप इत्यादि।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि—

तस्य वाचकः प्रणवः—प्रणव उस ईश्वरका वाचक है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्—उसके अर्थका चिन्तन, मनन, ध्यान और धारण करना चाहिये। यही उस नामका जप है।

माण्डूक्य उपनिषद्में ॐकारकी उपासनाविधिमें बताया है कि परमात्मा और जीवात्माकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था ॐकारकी अ, उ, म्, तीन मात्राएँ और परब्रह्म ॐकारकी अमात्र—मात्राहीन चौथी अवस्था है। इसी रीतिसे गायत्री-मन्त्रके आरम्भमें जो ॐ है, उसे मनमें धारणकर गायत्री-जप करना चाहिये। तीन अक्षरयुक्त ॐ और उसकी चौथी अवस्थाकी जानकारीकी विधि भी ॐ की उपासना-विधि है, इसके सिवा मोक्षकी कोई दूसरी गति नहीं है। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

ॐकार सृष्टिकी आद्यावस्था है। इसका गम्भीर निर्घोष ब्रह्माण्डको छाये हुए है। जो मनन करता है, वह परम पदको प्राप्त करता है।

योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यथा वै मधु पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसाद् यथा।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते॥

जैसे मधु फूलोंका सार है, घी दूधका सार है, वैसे ही गायत्री सब वेदोंका सार है।

और ॐ गायत्रीका सार है। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—**'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'** ॐ—यह एक अक्षर ही ब्रह्म है और वे स्वयं ॐ है और तीनों वेद भी—**'वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च।'** अतएव ॐकार मनुष्य-जीवन सफल बनानेका प्रधान मन्त्र है।

आजकी सबसे बड़ी समस्या—'अनास्था'

(लेखक—श्रीओंकारमलजी सराफ)

केवल भारतवर्ष ही नहीं, आज सारे संसारमें विशृङ्खलता व्याप्त है । भूख-प्यासके साथ-ही-साथ अराजकता और अत्याचार भी फैल रहा है । चारों ओर त्रास है, आशंका है, भय है, स्पर्द्धा है । एक राष्ट्रसे लेकर एक व्यक्तितक सब इसी संक्रामक रोगसे पीड़ित हैं । वैज्ञानिक उपलब्धियोंके द्वारा मानवताको सकुशल रहनेमें खतरा है ।

प्रश्न उठता है, ऐसा क्यों ?

इसका एकमात्र उत्तर है—'अनास्था' । व्यक्तिसे राष्ट्रतक सभी इसी अनास्थासे आक्रान्त होकर मृत्यु और विनाशकी ओर दौड़ रहे हैं । यह अनास्था सर्वाङ्गीण है । मनुष्यकी अनास्थाकी पराकाष्ठा वहीं हो जाती है, जब वह स्वयंमें भी अनास्था रखने लगता है । इसीसे पग-पगपर आशंकाका जन्म होता है और अविश्वास-जनित दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है । इन सभी अनास्थाओंसे बढ़कर है—ईश्वर और धर्ममें अनास्था । आज तीव्रतासे विश्व-सरकारकी बातें होती हैं, परंतु एक ऐसी सर्वोच्च सत्ताको नहीं मानते, जिसको ऋषियोंने अनुभवके आधार-पर स्वीकार किया था, जिसका शासन सृष्टिके प्रत्येक अणुपर माना जाता था और जिस शक्तिके भयसे सब लोग 'अधर्म' और 'अन्याय' करनेमें डरते थे । साथ-ही-साथ धर्मके यम-नियम, नीतियाँ-रीतियाँ चारों ओरसे हमारे जीवनको संतुलन, सुशृङ्खलित और मर्यादा प्रदान करती थीं । उसी सत्ताका अंश होनेसे हममें समत्व-दर्शन और निर्भयताका भाव जगता था और प्रोज्ज्वल आत्मासे हम सहज ही पीयूष-पथके निःशंक पथिक बनते थे । हमारा एक-एक कदम मानवताका पथ-निर्माण करता था और हम जगत्के प्रत्येक मानव कल्याणके एक-एक स्तम्भ थे । आज क्या कारण है—हम शान्त नहीं हैं ! हम सदाचारी और न्यायी नहीं हैं ! हम अपरिग्रहका परित्याग कर महासंग्रहकी ओर प्रयत्नशील हैं ? हमारा संतोष नष्ट हो चुका है और हम अर्थकी नित्य अपूर्ण लिप्सामें, भौतिक प्रगतिकी दानवी कृतिमें न्याय और सदाशयताकी आहुति दे रहे हैं ?

धर्मने कभी यह आज्ञा नहीं दी है कि करोड़ों लोगोंकी रोटियाँ व्यक्तिविशेषोंकी भोग्य बन जायँ । यह भोगसम्पत्ति चाहे एक व्यक्तिविशेषकी हो, चाहे राष्ट्र या सरकारविशेषकी । सम्पूर्ण पृथ्वीपर सभीको जीवन-यापन और जीवन-सुख प्राप्त करनेका सहज अधिकार है । किसीको क्लेश देकर स्वयं सुख भोगना न्याय नहीं है । फिर आज केवल अर्थपिशाच बने हुए लोग जिस किसी भी बुरे-से-बुरे साधनके द्वारा अर्थ-संचयमें क्यों लगे हैं ?

इन सबका एक ही कारण है,—'ईश्वर और धर्मके प्रति अनास्था ।' दुर्भाग्यसे हमारी सरकारने हमारे राष्ट्रको 'धर्म-निरपेक्ष' बनाया है । धर्म-निरपेक्षता कोई शब्द नहीं है, न इसमें कोई अर्थ है । साम्प्रदायिक निरपेक्षता कुछ समझमें आती है । धर्म-निरपेक्षताका तो अर्थ होता है—'अभ्युदयसे निरपेक्षता' या 'सत्य, न्याय और सदाचारसे निरपेक्षता' । 'धर्म-निरपेक्षता'के पालनके लिये धार्मिक शिक्षाएँ बंद कर दी गयीं, जो चरित्र-गठनके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं । कोई भी धर्म किसी भी व्यक्तिसे विद्वेष या घृणाकी शिक्षा नहीं देता । सत्य, निष्ठा, करुणा और सदाचार सभी धर्मोंका आदेश है । सनातनधर्म तो प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थमें ईश्वरको देखता है और उसे पूज्य मानता है ।

क्षमा, प्रेम, करुणा, दान, दया और पवित्रता सनातनधर्मके भूषण हैं। न्याय इसका मेरुदण्ड है और सत्य साक्षात् परमात्मास्वरूप। ऐसे उत्तम सिद्धान्तोंकी अवहेलना किसी भी राष्ट्र या समाजको विनष्ट करती है।

भारतीय संस्कृतिकी सनातन परम्परा आज टूट रही है, विदेशी संस्कृति अनुकरणीय हो गयी है। आत्माकी भाषा भुलाकर हम आसुरी अनात्मभाषाकी नकल करते हैं। आज गौतम, कपिल, कणाद आदि हमारे आदर्श नहीं रहे, प्रत्युत हमारे आदर्श हैं आइन्सटिन, मार्क्स और फ्रायड। हम रामकृष्ण-विवेकानन्दकी वाणीमें नहीं, हिगेल और इमर्सनकी वाणीमें तृप्ति खोजते हैं।

अनास्थाकी चरम प्रशस्ति हमें कहाँ ले जायगी, कहा नहीं जा सकता। भौतिकवादी उत्थान हेय नहीं है, परंतु वह होना चाहिये—अध्यात्मयुक्त। ईश्वराभिमुखी अर्थ-संग्रह हेय नहीं है, यदि उसका उपयोग प्राणिसेवा, परोपकार, दानशीलता, करुणा, वत्सलता और 'वसुधैव कुटुम्बकम्'में हो। महाराज अशोक और महाराज हर्ष भी एक उदाहरण हैं। आजके लोग भी उदाहरण हैं। आज लोग भूखों तड़प रहे हैं और एक दिन था कि राजा दिलीप एक गायकी रक्षाके लिये अपना प्राण अर्पित करनेको प्रस्तुत थे।

अब प्रश्न है कि इस बढ़ती हुई अनास्थाको कैसे समाप्त किया जाय, जो भोजनकी भाँति ही परमावश्यक है। ईश्वर और धर्मके प्रति आस्था कैसे उत्पन्न की जाय? इस अनास्थाका उन्मूलन होते ही भ्रष्टाचार और अन्याय दूर हो जायँगे और समाजमें सुख-शान्ति स्थापित होगी एवं राष्ट्र सुदृढ़ और समृद्ध होगा।

इसके लिये निम्नलिखित कुछ सुझाव हैं—

(१) ईश्वर और धर्ममें आस्थाके लिये विद्यालयोंके पाठ्य-क्रमोंमें धार्मिक पाठ प्रारम्भ किया जाय तथा पाठ्य-पुस्तकोंमें हमारे आदर्श पुरुषोंके पुण्य-चरित्रोंको स्थान दिया जाय।

(२) शिशुओंको नैतिक और चारित्रिक गठनके लिये सफल अभ्यास कराये जायँ।

(३) देवालयोंको पूजा-अर्चनाके साथ-साथ सार्वजनिक कार्योंका केन्द्र बनाया जाय।

(४) भेद-भाव त्यागकर असम्प्रदायवादी आधारपर सनातनधर्मका प्रचार किया जाय तथा सनातन-संस्कृतिको फिरसे प्राणवान् बनाया जाय।

(५) न्याय, सत्य, सदाचार और निष्ठाको सर्वत्र प्रोत्साहन दिया जाय।

(६) शोषण और भ्रष्टाचारको सबसे बड़ा अपराध माना जाय।

(७) अर्थपति अपने धनद्वारा धर्म और जनकी बिना किसी यश या प्रचारकी लालसासे सेवा करें और संगृहीत समस्त अर्थका स्वेच्छया सदुपयोग करें।

(८) जीवनमें व्याप्त छोटी-छोटी अनैतिकताओंको भी प्रयत्नपूर्वक हटाया जाय।

(९) खाद्यपदार्थोंमें चोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि न हो और तौलकी प्रामाणिकता आदि कायम रक्खी जाय। सरकारी कर्मचारी लोभवश ऐसे कार्योंमें सहायक कदापि न बनें। वे लोभका त्याग करके सत्यका संरक्षण करें।

(१०) धर्म-निरपेक्षताको साध्य नहीं माना जाय और सांस्कृतिक उत्थानको और भी प्रोत्साहन दिया जाय।

उपर्युक्त सुझाव केवल उपचार है। हमारे दृढ़ निश्चय, परमात्मापर विश्वास तथा सतत अभ्याससे ही यह अनैतिकता दूर होगी। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है लोगोंमें अभय भाव और भगवान्‌के प्रति विश्वास उत्पन्न करना। ऐसा नहीं हुआ तो राष्ट्र और समाजकी रक्षा अब असम्भव-सी ही प्रतीत होती है।

बोलना भी एक कला है

(लेखक—डा० श्रीरामदयालजी भार्गव)

हम जो भी शब्दोंका उच्चारण करते हैं, वे हमारे कण्ठकी स्वर-तन्त्रियोंसे प्रतिध्वनित होकर एवं बाहर वायुमण्डलमें प्रसरित होकर दूसरोंके पास पहुँचते हैं तथा वायुमण्डलमें निरन्तर बने रहते हैं। उनके अन्वेषणमें विज्ञान-वेत्ता लगे हुए हैं ताकि अच्छे-अच्छे संतोंके प्रवचन इकट्ठे किये जा सकें।

ऐसी स्थितिमें यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हमको कितना एवं कैसा बोलना चाहिये। हमारा सनातनधर्म तो प्रिय-सत्य बोलनेको ही महत्त्व देता है। कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

'सत्य बोलो, पर अप्रिय सत्य मत बोलो। प्रिय बोलो, पर झूठ नहीं। यही सनातन धर्म है।' अतः हमें प्रत्येक शब्द खूब समझकर—तौलकर निकालना चाहिये। **'सत्यपूतं वदेद् वाक्यम्'** यह हम जितना शीघ्र समझ लें और इसपर जितना अधिक आचरण करें उतना ही यह अधिक तथा शीघ्र लाभदायक एवं शान्तिदायक होगा। हम प्रतिदिन कितनी अनर्गल व्यर्थकी बातें करते हैं, उसपर ध्यान देनेसे ही पता चल सकता है। वाणीपर नियन्त्रण रखनेसे वाणीकी ओजस्विता और हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ती है। महात्मा गांधीके अपने तीन बंदर-गुरुओंमें एकके मुँहपर हाथ रक्खा है, जो वाणीपर नियन्त्रण रखनेकी ओर इङ्गित करता है। गांधीजी इसी प्रकारका आचरण करते थे; जिसका फल यह हुआ कि सारा विश्व उनके एक-एक शब्दको ध्यानपूर्वक सुनता तथा आदरकी दृष्टिसे देखता था। आजकलके राजनीतिज्ञोंके लिये तो परमावश्यक हो गया है कि पूर्ण सोच-विचारके साथ एक-एक शब्दका उच्चारण करें, अन्यथा अर्थका अनर्थ हो सकता है।

मुझे ऐसे संतोंके दर्शन एवं उनके समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जो वर्षोंतक भगवन्नामका ही उच्चारण करते रहे हैं और जो कुछ भी वार्त्तालाप करते हैं, वह सब लिखित रूपमें। इसका तात्पर्य यही है कि वाणीपर नियन्त्रण करनेका यह एक बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। इसी प्रकार मौन रहना लाभदायक है। सूर्य और चन्द्रमा मौन रहकर ही अपने सारे कार्योंका सम्पादन करते हैं। मौन रहनेसे शक्ति पूरी संचित रहती है।

कभी-कभी हास्य-विनोदमें भी मुँहसे निकले हुए व्यंग शब्द अनर्थ कर डालते हैं। मेरे विचारसे महाभारतयुद्धका एक कारण यह भी था कि जब राजसूय-यज्ञमें दुर्योधनने मयासुर-रचित सभामें प्रवेश किया, तब उन्हें स्थलमें जलका भ्रम हुआ। इसपर भीमसेनने व्यंग कसा कि 'अन्धोंकी सन्तान भी अन्धी ही होती है!'

यह व्यंगोक्ति दुर्योधनको चुभ गयी और उसका कुफल हुआ महाभारत! अतः हास्य-विनोदमें भी काफी सावधानीकी आवश्यकता है। हमलोग तो गृहस्थी फँसे हुए हैं। आज घर-घरमें जो वैमनस्य है, उसका एक प्रधान कारण अच्छा न बोलना ही है। बच्चों लालन-पालनमें भी इसपर विशेष ध्यान देनेसे वे अ बोलना सीखते हैं और अच्छे बनकर चमकते हैं

कवियोंकी कृतियाँ क्या हैं? शब्दोंका गुन्थन तो! वही शब्द साधारण; पर कवि उनको पंक्ति ऐसे ढंगसे रख देता है कि वे मृत-आत्मामें भी प्राण

संचार कर देते हैं। महर्षि व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदासजी, सूरदासजी, महाकवि कालिदास आदिने अपनी-अपनी कृतियोंके द्वारा संसारमें आध्यात्मिक दिव्य जीवनका संचार किया। किन्हींमें पदलालित्य, किन्हींमें अर्थगौरव और किन्हींमें भावगरिमा—ये सब शब्दोंका कौतुक है। शब्द ऐसे हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक होते हैं कि उनका प्रभाव वर्षोंतक नहीं भुलाया जा सकता। जिन्हें हमलोग 'मन्त्र' कहते हैं वे भी तो शब्दोंकी ही रचना हैं, जिनमें प्रभाव उत्पन्न करनेकी अमित शक्ति है।

किसी मधुर पदका गायन क्या है? मधुर स्वर-तन्त्रियोंका ही तो कम्पन है। गायनकी जो प्रशंसा है, वह सब शब्दोंके उच्चारणकी ही प्रशंसा है। कितना मोहक, कितना मार्मिक, कितना शान्तिदायक—सारे श्रोता तल्लीन हो जाते हैं। कौआ और कोयलके स्वरमें जो भेद है, वही कर्कश बोलचाल और मधुर संगीतमें है। स्वयं भगवान् ही अपने मुखारविन्दसे कहते हैं—

'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'

यह है मधुर गायनका प्रभाव। सब रस इससे निकल पड़ते हैं।

◆

नीच स्वार्थ

बच्चा पैदा होता है, माँ-बाप समझते हैं—हमारा कर्तव्य है इसे योग्य बना पैरोंपर खड़ा कर दें। लड़के बड़े होते हैं, विचारते हैं—कितने परिश्रम और आपत्तियोंका सामना करके इन्होंने हमको पाला-पोसा। हम इनका क्या प्रतिदान दे सकते हैं; क्योंकि प्रतिदान तो बराबर बदला चुकाया जाय तब होगा। ये तो श्रद्धाके पुष्पमात्र हैं।

लेकिन देखा कुछ ऐसा जाता है कि माँ-बापकी स्नेहमयी और अद्भुत सेवामें भी एक छिपी हुई आशा प्रतिदानकी चाहका रूप धारण किये होती है, जो उनकी विशुद्ध कर्तव्यपरायणतारूपी कुन्दनमें टाँकेकी तरह है। वह आशा यही कि 'एक दिन यह हमारा सहारा होगा।' और बच्चे माँ-बापकी सेवा या उनका भरण-पोषण करते हैं तो समझते हैं कि 'हम इनपर बड़ा उपकार कर रहे हैं।' बल्कि कोई-कोई तो अपमान भी कर देते हैं—जैसे 'मैं दे रहा हूँ, इससे पता नहीं चला, मैं बंद कर दूँगा तो पता चल जायगा।' या वे लोग जब कोई खाने-पीनेकी इच्छित वस्तुके लिये कहते हैं तो उनकी अवज्ञा कर देते हैं। किंतु वे यह नहीं समझते कि कभी हम केवल इन्हींपर आश्रित थे। अपना मल-मूत्र साफ करना भी हमारे वशकी बात नहीं थी, हमको पढ़ाने-लिखानेमें भी तथा बीमारीके समय इलाज और सेवा करनेमें इनको कितनी कठिनाई हुई होगी और कितने पैसे लगे होंगे। उनके मनमें यह विचार नहीं होता कि हमसे तो यह प्रतिदान ही नहीं होता, फिर हम उपकार तो किसीका क्या करेंगे?

मैं नहीं समझ पा रही कि हम कर्तव्यक्षेत्रमें हैं या व्यवहार अथवा व्यापार-क्षेत्रमें हैं। सच्ची बात तो यह है कि हम व्यापार भी नहीं करते, क्योंकि सच्चे व्यापारमें मूल्य लेकर पूरी चीज देनी पड़ती है। हम तो नीच स्वार्थी हैं, जो करते थोड़ा हैं और बदला चाहते हैं बहुत अधिक, व्याज अलग।

मैं नहीं समझ पा रही कि हमारे जीवनका वास्तविक उद्देश्य क्या है?

कर्तव्य, व्यवहार या व्यापार-परायणता।

—'दुर्गेश'

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

[गताङ्क भाग २८ पृष्ठ १२८४ से आगे]

(१)

तुलसीकी काव्यकलाका आनन्द लेनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम ऐसे स्थलोंको खोजें जो विशेष प्रकारसे भावप्रधान हों, जैसे जनक-फुलवारी-प्रसङ्ग अथवा राज-रस-भङ्ग-प्रसङ्ग। उनकी कला तो साधारण स्थलोंपर भी दिखायी देती है। उदाहरणार्थ—यह पंक्ति लीजिये—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।

कैसी सीधी-सादी बात है! माता कौसल्याकी शिशु-लीला-आनन्दकी इच्छाकी पूर्तिके लिये श्रीरघुनाथजी बालक बनकर रोने लगे। यह अर्थ तो वैसा है, जैसा हम अपनी आँखोंसे इन शब्दोंको देखकर करते हैं। अब इनका ठीक अर्थ समझनेका प्रयास किया जाय कविवर तुलसीकी दृष्टिसे इन शब्दोंको देखकर।

पहले तो 'सुजाना' शब्दपर ध्यान दिया जाय। 'सुजान' का अर्थ हिंदीकोषमें इस प्रकार दिया है—समझदार, चतुर, सयाना, निपुण, कुशल, प्रवीण, विज्ञ, पण्डित, सज्जन। मानसमें 'सुजान'का इन्हीं कई अर्थोंमें कविवरने प्रयोग किया है। परंतु श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें जब कविवर तुलसीदासजी 'सुजान'का प्रयोग करते हैं, तब उसका विशेष अर्थ होता है। अयोध्याकाण्डकी एक अर्द्धाली है—

देखि दयालु दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥

यहाँ कविवरका अभिप्राय यह है कि अपने जनके हृदयकी बात जाननेवाले और इसे जानकर उसके अनुसार अपने जनको संतुष्ट करनेवाले दयालु श्रीरघुनाथजी। 'जानि जन जी की'—अपने जनके आन्तरिक भाव सहृदय समझकर उस भावका आदर करनेवाले सुजान—इस अर्थमें श्रीरघुनाथजीके लिये 'सुजान' शब्द मानसमें प्रयोग होता है। जैसे—

करुनानिधान सुजान सीलु सनेह जानत रावरो।

अर्थात् तुम्हारे भीतर जो शील है और जो स्नेह है, जिसे तुमने छिपा रक्खा है उसको भलीभाँति समझनेवाले 'सुजान' करुणानिधान प्रभु!!

सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दिए।

जो देवता मनुष्य-देह धारण करके जिसमें वे किसीकी पहचानमें न आयें, राम-जानकी-विवाह-रसकी लालसासे स्वर्ग छोड़कर जनकपुरमें आये हुए थे, उनके आन्तरिक भावको, उनके अप्रकट प्रेमको भलीभाँति समझनेवाले राम सुजानने उन देवताओंको अन्य रूपमें भी पहचानकर समुचित आदर दिया।

बलि जाउँ तात सुजान तुम्ह कहुँ बिदित गति सब की अहै।

तुम्हें 'सब'की गति विदित है; क्योंकि हे रघुनाथजी! तुम सुजान हो। प्रत्येक जनके जीकी—उसके भीतरकी सब बात जानते हो!!

जानकीजीने प्रभुसे कहा—

प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।

और जब 'सुजान'से काम न चला तो उन्होंने श्रीरघुनाथजीको 'सुजान सिरोमनि' कहा—

अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥

'सुजान' इसलिये बार-बार कहा; क्योंकि जानकीजीके शब्दोंमें श्रीरघुनाथजी 'उर अंतरजामी' हैं—

बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥

अयोध्याकाण्डमें—

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥

अर्थात् लोग चोट खाये हुए थे, दुखी थे, आर्त्त थे, सब लोग आर्त्त थे, एक-एक बहुत दुखी था। यह सब श्रीरघुनाथजीने जान लिया; क्योंकि वे 'सुजान' थे।

'करुनाकर सुजान भगवाना'

'सुजान' होनेके कारण वे प्रत्येक जनके जीकी भीतरी बातको जानते थे।

'सुजान' का यह विशेष अर्थ केवल श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें मानसमें पाया जाता है।

तो जब कविवर तुलसीदासजी कहते हैं—

'सुनि बचन सुजाना'

यहाँ कौन-सी ऐसी बात छिपी हुई है जिसको श्रीरघुनाथजी समझ गये—और कोई नहीं समझ सकता था—और जिसके लिये उन्हें 'सुजाना' कहा गया?

बात बहुत पुरानी थी। एक बार एक दम्पतिने—मनु-शतरूपाने—अपार तप किया था।

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लुभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।

माता कौसल्याको भी यह याद नहीं रहा कि वह एक बार शतरूपा थीं, जिन्होंने ऐसा घोर तप किया था कि जिसमें—

'संवत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार ।'

उनके हृदयमें तो 'सिसु-लीला' के अनुभवकी लालसा थी; क्योंकि उनका हृदय कहता था—

'यह सुख परम अनूपा ।'

लेकिन उनका हृदय ऐसा क्यों कहता था इसका ठीक उत्तर वे स्वयं नहीं दे सकती थीं । यह तो केवल 'सुजाना' श्रीरघुनाथजी ही जानते थे !

'सुनि बचन सुजाना'

में कविवरने 'सुजाना' शब्दका प्रयोग किया तो उनके कहनेका अर्थ यह है—वे करुणानिधान जिन्होंने शतरूपाके तपका मूल्य समझा और फलस्वरूप साकेतधामसे साकेतपुरीमें आना स्वीकार किया, वे श्रीरघुनाथजी कौसल्याके हृदयमें छिपी 'सिसु-लीला'-अनुभवकी तीव्र इच्छाको समझ गये; क्योंकि वे 'सुजाना' थे । माताने तो यही कहा 'कीजै सिसुलीला' परंतु इस वचनके पीछे कितने पुराने संस्कार, कितने पुराने संकल्प, कितनी लंबी और अपार तपस्या की कहानी छिपी थी—यह सिवा 'सुजान' प्रभुके और कोई नहीं समझ सका, न समझ सकता था । इसलिये—

'सुनि बचन सुजाना'

अब यहाँ एक छोटी-सी बात और है जो ध्यान देने योग्य है । 'सुनि बचन सुजाना' के बाद है 'रोदन ठाना' । यहाँ विचारणीय यह है कि 'सुनि बचन सुजाना' और 'रोदन ठाना'के बीचमें कोई शब्द नहीं है । 'सुनि बचन सुजाना' के तुरंत बाद ही कविवर कहते हैं कि सुजानाने रोदन ठाना और यह इसलिये कि कविवरका कहना है कि माताके वचन सुनते ही—अविलम्ब—करुणानिधान प्रभु बच्चा बनकर रोने लगे; क्योंकि माताकी आज्ञाके पालनमें विलम्ब नहीं होना चाहिये । और उनके लिये तो थोड़ा भी विलम्ब अक्षम्य होता जो 'सुजाना' होकर सिसु-लीलाके 'सुख परम अनूपा' की कौसल्याके हृदयमें तीव्र लालसाकी तपस्या-कहानीको भलीभाँति जानते हुए भी विलम्ब करते ।

(२)

कविवर तुलसीदासजीके छोटे-छोटे शब्दोंमें भी क्या कमाल भरा है । वे यह नहीं कहते हैं कि शिशु बनकर प्रभु—'लागे रोदन करन' न यह लिखा है कि 'बाल रूप धरि रोवन लागे ।' आखिर मतलब तो रोनेसे ही है न ? फिर—'रोदन करन' या 'रोवन लागे' या ऐसे ही अन्य किन्हीं शब्दोंसे कविवरने काम क्यों नहीं लिया ? भक्तवर कहते हैं—

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना'

अर्थात् उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं रोऊँगा, और खूब रोऊँगा—रोना ठान लिया—तो वे रोने लगे और रोते गये और रोते गये, और रोते ही गये और ऐसे रोये कि किसी प्रकारसे रोना कोई रोक ही नहीं सका । रोते गये, और खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोये और इतनी 'की-हाँ की-हाँ' मँचाई कि राजाका महल उनके रोनेसे भर गया । महाराजा दशरथकी सैकड़ों रानियाँ थीं । हरएक रानीका १५-२० कमरोंका भवन रहा होगा, जिसमें उसका स्नानागार, शृङ्गार-गृह, बैठनेका कमरा, खेलका कमरा, शयनगृह इत्यादि और रसोईघर तथा नौकर-नौकरानियोंके स्थान रहे होंगे । इस प्रकार सैकड़ों रानियोंवाले दशरथ महाराजाका कितना बड़ा महल रहा होगा ! मगर वाह रे प्रभु ! वाह रे कौतुकी कृपाला !! कैसो महान् चिल्ल-पों मचायी कि सारा महल रोनेकी अपूर्व ध्वनिसे गूँज उठा और—

'संभ्रम चलि आईं सब रानी ।'

और महाराजा दशरथकी भी आँख खुल गयी, जहाँ वे अपने भवनमें दोपहरके समय विश्राम कर रहे थे ।

'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना'

उन्होंने राम-जन्मका पहला समाचार अपने कानमें प्रभुका रोना पड़नेसे पाया और वे भी उठकर चले आये ।

'रोदन ठाना !' प्रभुने ठान लिया कि बस अब रोया जाय तो यह ठानकर ऐसा रोये कि जैसा कोई बालक कभी भी नहीं रोया, न रो सका । महाराजा दशरथके महलमें उस समय एक ही बातका अस्तित्व था, उनके महलमें यदि कोई बात थी जिसकी उपस्थिति और सब बातोंके अस्तित्वपर छायी हुई थी तो बस एक ही बात थी और वह थी प्रभुके रोनेकी लीला ! प्रभुकी बातमें किसी प्रकारकी कसर नहीं रहती । जब विरहकी लीला करने लगे तब—

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥

जब शोककी लीला करने लगे तब—

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ॥

यहाँतक कि—

'प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर ।'

तो जब प्रभुको रोनेकी लीला करनी पड़ी तो प्रभुने 'रोदन ठाना'

'ठाना' यहाँ प्रभुका निश्चयसूचक है । इसीलिये प्रभुने महान् रुदन किया, अनुपम रुदन किया, रोनेकी सीमा ही

नहीं रही । जोर-जोरसे रोये, तरह-तरहसे रोये, रोते ही रहे । अत्रिमुनिने प्रभुके लिये ठीक ही कहा है—

'जेहि समान अतिसय नहिं कोई ।'

करुणानिधान श्रीरघुनाथजीकी हर एक बात अनन्त है ! जैसी दृढ़तासे प्रभुने रुदन किया और जैसा सर्वाङ्गपूर्ण रुदन प्रभुने किया, इसके लिये 'ठाना' ही एक मात्र उपयुक्त शब्द है ।

एक छोटा-सा प्रश्न यहाँ उठता है और वह यह कि जब नटवर करुणानिधान श्रीरघुनाथजीने इतनी हू-हा मचायी तो उससे क्या लोग ऊब नहीं गये ? क्या लोगोंका उनका यह जी-जानसे ठानकर रोना बुरा नहीं लगा ? क्या माता कौसल्याको भी यह विशाल चिल्ल-पों कर्णकटु न लगी, जिनकी गोदीमें पड़े-पड़े श्रीरघुनाथजीने रोनेकी अति कर दी थी ? इसका उत्तर यह है कि प्रभुका रोदन ऐसी हालतमें भी एकको भी बुरा न लगा; क्योंकि यह प्रभुकी लीला थी, इसमें माधुर्य था । वास्तवमें प्रभु रोये तो इतने जोरसे जैसे कोई बालक न कभी रोया, न रो सके—प्रभुकी हर एक बात 'अतिसय' ही जो ठहरी—और ऐसे रोये कि सैकड़ों रानियोंके कान खड़े हो गये । परंतु प्रभुकी माधुर्य-लीलाके प्रभावसे प्रत्येक व्यक्तिको ऐसा लगा कि कृपालु ऐसे मधुर-मधुर रो रहे हैं कि बस मेरे कानतक ही उनकी आवाज आ रही है । यह सत्य तो नहीं था, परंतु यह करुणानिधानकी विश्वमोहिनी माया थी जो सदा प्रभुकी लीलाके साथ रहती है । इसीलिये कविवरने इसे आगे चलकर 'सिसु रुदन' और 'परम प्रिय बानी' कहा है ।

(३)

और यहाँ कविवर तुलसीकी एक धृष्टता देखिये !! कहाँ सहस्रों वर्ष निराहार रहकर फिर एक मात्र वायुके आधारपर जीवित रहकर तपस्या करनेवाले मनु-शतरूपा और कहाँ तुलसीदासजी जो अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि—

'सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी ।'

करुणानिधानने यदि मनु-शतरूपाकी अपार तपस्या देखकर उनका बालक होना स्वीकार किया था तो ठीक था । करुणामय प्रभु अन्तर्यामीने उन दोनोंकी तीव्र अभिलाषा पूर्ण करनेकी कृपा की तो यह न्यायसगंत था । तुलसीदासजीने तो प्रभुके लिये ऐसी घोर तपस्या की नहीं थी जैसी मनु-शतरूपाने की थी, न उन्होंने शिशुलीलाके आनन्द-भोगके लिये मनु-शतरूपाके समान कोई प्रभुसे वर माँगा था, जिसके कारण तुलसीदासजीकी इच्छापर भगवान् बालरूप धारण करनेकी कृपा करते । जिस अपने दासको स्मरणमात्रके उपहारस्वरूप प्रभुने करुणा करके भाँगसे तुलसी बनाकर आदरका पात्र कर दिया ।

'जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदास ।'

उस दासका नटखट होना और अपने स्वामीसे छेड़-छाड़ करना स्वाभाविक था । तो यहाँ इस कविने कैसी धृष्टता की है ।

जब—

भए प्रगट कृपाला दीन दयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ॥

तो यहाँ पहले कविवरने गुणातीतको सगुण बना दिया । जो रूपसे परे है, उसे रूप देकर, अनामाका नामकरण करके उसे हमारे सामने खड़ा कर दिया । अनन्तको शरीरकी सीमामें बाँध दिया । जो अप्रकट था उसे प्रकट कर दिया । अदृश्यको नयनका विषय बना दिया और फिर एक क्षणमें देखते-देखते अमित शक्तिशाली विश्वसेवित सुर-भूपको रोता हुआ बालक बना दिया । कहाँ अनन्त, गुणातीत, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, करुणानिधान और कहाँ महान् रुदन करता हुआ एक दुधमुँहा बालक !

हौंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥

इस सेवक तुलसीदासको छोड़कर और कौन अनन्त शक्तिसम्पन्न प्रभुके साथ ऐसी धृष्टता कर सकता था ? और तुलसीको छोड़कर अन्य किसकी धृष्टता ऐसी हो सकती थी कि उसे इस प्रकार—

'राम सहत उपहास ।'

यह तुलसीकी अनुपम भक्ति थी, या उनकी अकथ काव्यकलाकी अलौकिक शक्ति कि जिसने एक क्षणमें अनन्त शक्तिशाली विश्ववन्दित सुरभूपको निस्सहाय रोता बालक बना दिया ।

'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ।'

इसमें स्वामी और सेवककी, भगवान् और भक्तकी लीलाके दर्शन हमें मिलते हैं, अनन्त लीलाकारकी लीलाके दर्शन पूर्वार्द्धमें; करुणामय मायापतिके गुणगायक कविवर तुलसीकी काव्यलीलाके दर्शन उत्तरार्द्धमें ।

⁂

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'रामरक्षा' आदिसे लाभके अनुभव

'कल्याण'के सन् १९६३ के अङ्क ५-६में पीपलके पत्तेके प्रयोगसे सर्प-विष उतरनेकी बात छपी थी । तदनुसार प्रयोग करनेसे एक आदमी दो बार बचे । एक महिलाके उसके प्रयोगसे दस ही मिनटमें विष उतर गया । उसी समयसे मुझे 'कल्याण'में प्रकाशित प्रयोगोंपर विश्वास हो गया । फिर मैंने 'रामरक्षास्तोत्र'का पाठ प्रारम्भ किया । अब मैं किसी भी बीमारीमें उसका प्रयोग करता हूँ तो रोगी भगवान्‌की कृपासे अच्छा हो जाता है । इसके बाद 'कल्याण'में छपे अनुसार गङ्गाजलसे आँखवाली दवा बनायी । मेरी माँको आँखसे ठीक नहीं दीखता था, सबसे पहले उसीपर प्रयोग किया और उन्हें ठीक दीखने लगा । इसके पश्चात् एक पुरुषपर उसका प्रयोग किया, जिसको बिल्कुल नहीं दीखता था । दवाके प्रयोगसे उसे आधा दिखायी देने लगा । अभी दवाका सेवन चालू है । उसके बाद 'कल्याण'में छपे 'बजरंगबाण' को सिद्ध किया । अब तो मैं 'रामरक्षास्तोत्र' और 'बजरंगबाण' दोनोंका खूब प्रयोग करता हूँ । आजकल रोज दोनों वक्त चार-पाँच जगह जाना पड़ता है, लोग बुलाकर ले जाते हैं और पाठ करते ही भगवत्कृपासे रोगी आराम हो जाता है । × × × ×

—ठाकुर बृजलालसिंह, रायतुम

(२)

चोरीका भेद खुल गया

जब थी तब खूब ही सुख-समृद्धि थी कालू खुमाणके घर । वह था काठी राजपूत; पर हृदय समुद्र-सा विशाल था । समयका फेर, बेचारा कालू पैसे-टकेसे खाली हो गया । मित्रोंसे विमुख हो गया ।

लड़केकी सगाई हो गयी थी । कन्यापक्षवाले विवाहके लिये बड़ी उतावली मचा रहे थे; पर बेचारा कालू क्या करता ? विवाहके लिये कुछ पैसे तो चाहिये ही ।

सुदामा पत्नीकी तरह एक दिन कालूकी धर्मपत्नीने कहा—'यों बैठे रहनेसे कैसे चलेगा ? लड़कीवाले घर उठाये ले रहे हैं । तुम कहते थे न कि भूवाभाई तुम्हारे मित्र हैं, जाओ तो सही उनके पास । श्रीकृष्णकी तरह वे कुछ कर देंगे तो अपना काम निकल जायगा । फिर धरतीमाता खेतीमें अच्छा दिन दिखायेगी, तब देना-लेना चुकता कर दिया जायगा ।'

अन्तमें सकुचाते-लजाते कालूने अपनी बूढ़ी घोड़ी तैयार की । फटा-टूटा जीन रक्खा और भूवाभाईकी आशा करके घोड़ीपर एड़ी लगायी ।

कालू भूवाके घर पहुँचा । कालूका हालहवाल भूवाके स्त्रीने देखा । उसने कालूका स्वागत तो किया, पर सच्चे मनसे नहीं ।

कालूने कहा—हमारी स्थिति बदल गयी है, लक्ष्मीजी रूठ गयी हैं । लड़केका विवाह करना है । लड़कीवाले तकाजा कर रहे हैं; परंतु पैसोंके बिना विवाह कैसे हो ? तुम्हारी देवरानीने कहा—'भूवाभाईसे मिलो तो सही, उनमें सहायता करनेकी शक्ति है और वे तुम्हारे मित्र हैं । इसीलिये मैं आया हूँ ।'

भूवाकी पत्नीने कहा—'तुम्हारे भाई तो व्यापारमें फँसे हैं, उसमें बड़ी पूँजी रुकी है । परंतु तुम उनके आनेतक रुक जाओ ।'

मन-बे-मन कालू वहाँ ठहर गया ।

नाश्तापानीसे निपट कर कालू हुक्का पी रहा था । भूवाकी पत्नीने अपने आदमी वीरावालंदको बुलाकर आदेश दिया—'देख वीरा, मेरे बिछौनेपर जो गद्दा है वह कालूभाईके बिछौनेपर बिछा देना । उसके बाद तुझे घर जाना हो तो जाना !'

वीरा वालंदने गद्दा उठाया, बिछानेके समय उसे झड़काया । अंदर कुछ चमक रहा था । देखा तो सोनेमें हीरा जड़ा हुआ कानमें पहननेका झूमका था ।

भूवाकी पत्नीने रातको सोते समय झूमका उतारकर रक्खा था । वह गद्देमें ही रह गया था । झूमका देखकर वीरा विचारमें पड़ गया । उसका मन कैसे वशमें रहता । जल्दी-जल्दी उसने झूमकेको जेबमें डाला और बिछौनेका काम तुरंत ही सलटाकर कालूको बिछौनेपर सुला दिया । वह अपने घर चला गया । वह खुशी-खुशी अपनी पत्नीसे मिला

और जेबसे झूमका निकालकर पत्नीको देते हुए बोला—'ले, देख ! अपनेपर अब भगवान्‌की कृपा हो गयी ।'

परंतु घरवाली यों ही उसकी बात मान लेनेवाली नहीं थी । उसने कहा—'कहाँसे चोरी करके लाये हो ? यह तो माताजीका झूमका है । ऐसा चोरीका माल अपने नहीं पच सकता ।'

वीराने इस तरफ ध्यान न देकर झूमकेको एक हँडियामें रक्खा और उसे घरके एक कोनेमें गाड़ दिया ।

× × ×

मुर्गेकी आवाज सुनकर काल्रू जग गया । वस्तुतः विचारोंमें उलझे रहनेके कारण उसको रातभर नींद आयी ही नहीं थी । उसने तुरंत ही बूढ़ी घोड़ीपर जीन रक्खा और भूवाकी पत्नीको बिना ही कुछ कहे अपने घर लौट गया ।

गाँवके बनियेके यहाँ एक हजार रुपयेमें जमीन बंधक रखकर उन रुपयोंसे लड़केका विवाह घरकी रीतिरिवाजके अनुसार धूमधामके साथ कर दिया । अब उसने शान्तिकी साँस ली ।

इधर भूवाकी पत्नीने नहा-धोकर माथेमें बिंदी लगानेके लिये दर्पण सामने रक्खा । देखा तो झूमका नहीं था । उसने तुरंत ही वीराको पुकारा और कहा—'अरे वीरा ! देख तो बिछौनेमें तो मेरा झूमका नहीं रह गया ? मेरा झूमका कहाँ चला गया ?'

वीराने गद्दा, रजाई, बिछौना आदि सब देख लिया, पर यह तो झूमका खोजनेका उसका नाटक मात्र था । अन्तमें वीराने कहा 'माँ, बुरा न मानो तो एक बात कहूँ । मुझे तो काल्रूपर वहम होता है । वे बिना ही कुछ कहे चले गये । बेचारे गरीब आदमी हैं । लड़केका विवाह करनेके लिये वे झूमका ले गये होंगे । मुझे तो ऐसा ही लगता है ।'

वीराके कथनानुसार भूवाकी पत्नीका भी काल्रूपर संदेह दृढ़ हो गया ।

एक सप्ताहके बाद भूवा घर आया । भूवाकी पत्नीने पैसेकी मददके लिये काल्रूके आने, अचानक चले जाने और झूमकेके चुराये जानेकी बात कही । काल्रूके लड़केके विवाहकी बात सुनाकर वीराने कहा—'मुझे तो लगता है कि उन्होंने झूमका बेचकर उन्हीं रुपयोंसे लड़केका विवाह किया होगा ।'

भूवा विचारमें पड़ गया—अपना मित्र सहायताके लिये आया और उसकी सहायताके लिये तो कुछ भी किया नहीं जा सका, उल्टे उसपर झूमकेकी चोरीका इलजाम लगाना पड़ रहा है ! अन्तमें भूवाने एक चिट्ठी लिखी—'काल्रूभाई ! तुम बहुत दिनोंके बाद यहाँ आये और मैं तुमसे मिल नहां पाया, इसके लिये मुझे दुःख है । तुम यहाँसे जो झूमका ले गये थे, उसका काम हो गया हो तो वापस भेज देना । सब कुशल है । काम-काज लिखना ।'

काल्रूने चिट्ठी पढ़ी और वह विचारमें पड़ गया । 'कैसा झूमका और कैसी बात ? इसमें कोई रहस्य होना चाहिये । जो कुछ भी हो, भगवान् सबके समान मालिक हैं । भाईने कैसे अच्छे ढंगसे विचारपूर्वक चिट्ठा लिखी है, इससे मेरे प्रति उनके मनमें मानकी भावना दीख रही है ।'

दिमागको ठंढा करके काल्रूने विचारपूर्वक अपने खानदानी स्वभावसे उत्तर लिखा—'भाई भूवा भाई, आभार ! आजके दसवें दिन मैं स्वयं झूमका लेकर पहुँचूँगा । निश्चिन्त रहना ।'

काल्रूने अपनी शेष जमीन बंधक रखकर एक हजार रुपये लिये और उनसे एक सुन्दर झूमका बनवाया । फिर सोचने लगा—'उस झूमकेकी, पता नहीं, कितनी कीमत रही होगी । कहीं ज्यादा कीमतका होगा तो इस घोड़ीको दे दूँगा । फिर सब ठीक हो जायगा । क्या सत्यकी जय नहीं होगी ?'

आज दसवाँ दिन था । भूवा अपनी देहलीपर बैठा काल्रूकी बाट देख रहा था । इतनेमें काल्रूको आते देखा । वह पास आ गया । भूवा सामने गया । 'राम राम' की । अपने गद्दे-तकियेपर काल्रूको बैठाया । फिर वीरा बालंदको बुलाकर कहा—'अरे वीरा ! यह घोड़ी थकी हुई है, इ छायामें बाँधकर घास-पूला डाल दे ।'

'हाँ जी' कहता हुआ वीरा घासके बहाने अपने घर पहुँ गया और चुटकी बजाते हुए पत्नीसे बोला—'ले, तू कह थी न कि यह चोरीका झूमका नहीं पचेगा, पर अब त सचमुच ही पच रहा है । वह काल्रू नया झूमका लेकर देने लिये आ पहुँचा है । बोल, अब यह झूमका पचेगा या नहीं

घास-पूला डालनेमें वीराको देर हो गयी थी, इसलि भूवाको कुछ संदेह-सा हुआ । वह तुरंत उठकर चला लानेके लिये । घास वीरा बालंदके घरके पीछे भरा थ भूवा उस समय वहाँ पहुँचा, जब वीरा अपनी पत् उपर्युक्त बात कहने लगा था । वीराकी बात सुनकर चकित रह गया । वह बड़बड़ाया—'भगवान् ! आज तु मेरी और मेरे मित्रकी—दोनोंकी लाज रक्खो ।'

तुरंत ही वह बड़ी तेजीसे वीराके घरमें जा पहुँचा और वीराके गालपर एकके बाद एक—दो-तीन तमाचे जड़ दिये। वीरा घबरा गया। वह काँपने लगा।

भूवाने कहा—'हरामखोर ! तुझे झूमका पचाना है ? मैंने तुम दोनोंकी बातें सुन ली हैं। चोरी सिर चढ़कर बोलती है। ला, अभी दे वह झूमका, नहीं तो, अपनेको मरा ही समझना।'

वीराके होशहवास हवा हो गये। वह कोनेमें गया। उसने खोदकर हँडियाँ निकाली और उसमेंसे झूमका निकाल कर काँपते हाथों लाकर भूवाभाईको दे दिया। अब लंबी बात न चलाकर भूवाने झूमका जेबमें रक्खा और घर लौट आया।

तुरंत ही गाँवके पाँच बड़े-बूढ़ोंको बुलाया। आव-भगत की। फिर कहा—'कालूभाई ! तुम झूमका लाये हो ? बिना कहे ले गये थे न ?'

कालूने कहा—'हाँ भाई ! जल्दीमें मैं झूमका ले गया था। कहना रह गया। लो, यह तुम्हारा झूमका, भूलचूक माफ करना।' इतना कहकर अपने अँगरखेसे झूमका निकाल कर भूवाके हाथपर रख दिया।

वहाँ बैठे सभी कालूकी ओर एकटक देख रहे थे। भूवाभाई तो विचारमें ही पड़ गये। वे घरके अंदर गये। पत्नीसे दूसरा झूमका लेकर आये। अपने जेबमेंसे वीरा वालंदसे मिला हुआ झूमका निकाला और तीसरा कालूका लाया हुआ झूमका था। यों तीनों झूमके पंचोंके सामने रखकर भूवाभाईने पंचोंसे कहा—'इनमेंसे सच्ची जोड़के दो झूमके आप अलग कर दीजिये।'

कालूवाला नया झूमका जोड़में नहीं आया। शेष दोनों झूमके एक जोड़के हैं—पंचोंने अपना निश्चय सुना दिया।

भूवाभाईने कहा—'कालूभाई ! हमारी ओरसे तुमको बड़ा दुःख पहुँचाया गया है। धन्य है तुम्हारी खानदानीको और तुम्हारी मानवताको। तुम्हारे-जैसा भाई-मित्र मिलना कठिन है।' 'अखण्ड आनन्द' —उमियाशंकर ठाकर

(३)

आदर्श ईमानदारी

कुछ पुरानी बात है श्रीरामदुलाल सरकारका बचपन निर्धनतामें बीता ! बड़े होनेपर उन्होंने एक व्यापारीके यहाँ पाँच रुपये महीनेपर नौकरी कर ली। वे बड़ी मेहनत और ईमानदारीसे कार्य करते थे। इससे मालिक प्रसन्न था। धीरे-धीरे वह रामदुलालसे हजारों रुपयोंका लेन-देन कराने लगा। रामदुलालके हिसाबमें कभी एक पाईकी भी गड़बड़ न होने पाती थी।

एक दिन कलकत्तेमें कुछ दूकानें नीलाम होनेवाली थीं। मालिकने रामदुलाल सरकारको एक दूकान खरीदनेके लिये भेजा। उनको वहाँ पहुँचनेके पूर्व ही एक दूकान नीलाम हो गयी थी। अब दूसरी दूकान नीलाम होने लगी।

रामदुलालने उसकी कीमतका सही अनुमान लगा लिया था। बोली बोली जाने लगी। रामदुलाल भी रुपये बढ़ाने लगे। अन्तमें इनके नामसे वह दूकान १४०००) रुपयेमें दे दी गयी। रुपये ये साथ ले गये थे, तुरंत रुपये दे दिये। यह देखकर सब आश्चर्य करने लगे कि यह कैसा मूर्ख है। ४०००) रुपयेकी दूकानके १४०००) रुपये दे डाले; क्योंकि पहली दूकान कम रुपयोंमें ही नीलाम हुई थी और इस दूकानकी कीमत भी इतनी ही समझी जा रही थी। लोगोंकी इस बातचीतसे श्रीरामदुलालजी घबराये। वे चिन्ता करने लगे कि पता नहीं, इस कार्यसे उनपर मालिक कितने नाराज होंगे और उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा।

इतनेमें भगवान्‌की प्रेरणासे, एक बड़ा अंग्रेज व्यापारी वहाँ आया। बड़े अच्छे मौकेपर होनेके कारण उसे उस दूकानकी बड़ी आवश्यकता थी। उसने रामदुलालसे वह दूकान किसी भी कीमतपर उसे देनेके लिये कहा और बढ़ते-बढ़ते उसके एक लाख चौदह हजार रुपये तक लगा दिये।

अब रामदुलालने अधिक लोभमें न पड़कर उसे वह दूकान ११४०००) रुपयेमें बेच डाली और रुपये लेकर वे सीधे मालिकके पास पहुँचे। रामदुलाल चाहते तो एक लाख रुपये स्वयं ले सकते थे और चौदह हजार अपने स्वामीको दे सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया; वे बड़े ईमानदार, सत्यप्रिय, स्वामि-भक्त एवं बातके धनी थे। मालिकने किसीसे सुना था कि उनके मुनीम रामदुलालने चार हजारकी दूकानके चौदह हजार दे दिये हैं अतः वे क्रोधमें भरे बैठे थे। रामदुलालको देखते ही बोले—'रामदुलाल ! तुम तो जान पड़ते हो मेरा दीवाला निकाल कर ही दम लोगे। चार हजारकी दूकानके तुमने चौदह हजार क्यों दिये ?' रामदुलालने रुपये देते हुए धीरेसे कहा—'बाबूजी ! ये लीजिये

आपके चौदह हजार रुपये और ये एक लाख रुपये मुनाफेके अलग लीजिये । मैं चौदह हजारकी दूकान ११४०००) रुपयेमें एक अंग्रेज व्यापारीको बेच आया हूँ । अब तो आप प्रसन्न हैं ?' रामदुलालने आदर्श ईमानदारीका उदाहरण उपस्थित किया, आदर्श स्वामि-भक्तका कर्तव्य निभाया । मालिक प्रसन्न होकर बोले—'भाई रामदुलाल ! तुम्हारी इस आदर्श ईमानदारी एवं स्वामि-भक्तिसे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ । ये एक लाख रुपये तुमने ही कमाये हैं; अतएव इन्हें तुम ही ग्रहण करो । इनपर मेरा कोई अधिकार नहीं है ।' बहुत ही आग्रह करके मालिकने रुपये दे दिये । तदनन्तर रामदुलालने अपना अलग कारोबार चलाया और थोड़े समयमें वे एक अच्छे व्यापारी बन गये । आधुनिक युगमें तो आदर्श ईमानदारीके ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं ।

—प्रा० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(४)

भगवान् भक्तके साथ रहते हैं

सन् १९५८ की बात है । नैनीतालमें औद्योगिक प्रदर्शनी लगी थी । जिसमें जिला-उद्योग अधिकारीकी आज्ञासे रामपुरकी औद्योगिक वस्तुओंको लेकर मैं भी उसमें गया था । उस समय मैं रामपुरमें मुख्य लिपिकके पदपर काम कर रहा था । वह प्रदर्शनी करीब आठ दिनोंसे अधिक रही । मैं भी वहीं रहा । एक दिन मैं वहाँकी सबसे ऊँची पर्वतीय चोटी—चाइनापीक देखने गया । रास्तेमें मैंने देखा कि सड़क घूमघाम कर गयी थी; पर कुछ पहाड़ी लोग पहाड़ियोंसे उतरकर नजदीक रास्ते (short cut) से निकल जाते थे । इस प्रकार वे कई फर्लांगोंकी दूरी बचा लेते थे । मेरे मनमें भी यही विचार हुआ कि लौटते समय मैं भी इसी प्रकार नजदीकके रास्ते (short cut) से पहाड़ी उतरकर अपने मार्गको सुगम बनाऊँगा । अतः जब मैं लौटा तो मैंने भी ऐसा करनेका प्रयत्न किया । कई स्थानोंपर सफलता भी मिली । एक बार मैं भूलसे एक खड्डमें पहुँच गया और जब कुछ और आगे बढ़ा तो मैंने अपनेको करीब ५०० फुटसे अधिक गहरे खड्डमें पाया; वहाँसे मुझे कोई रास्ता नहीं दिखायी दिया । मैं कुछ पीछेकी तरफ लौटा, किंतु यह समझ न सका कि उस गड्ढेमें किधरसे आया था । सूर्य भगवान् अस्ताचलकी ओर जा रहे थे । अब मैंने समझ लिया कि यहाँसे निकलना असम्भव है; क्योंकि दूर-दूरतक सिवा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी वृक्षोंके और कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा था । एक नदका सोता था, जिसमें बड़े-बड़े पत्थर थे । मैंने विचार किया कि इन पत्थरोंके नीचे आज रात गुजारी जाय, जिससे कोई जंगली जानवर मुझे देख न पाये । ऐसी जगहोंपर बाघ-बघेरोंका रहना स्वाभाविक होता है, जो छिपे मनुष्योंको भी गन्धसे मालूम कर लेते हैं । इधर रात हो रही थी; सिवा मरनेके और कोई चारा नहीं था । किंतु ऐसी स्थितिमें भी आदमीको कभी निराश नहीं होना चाहिये । मैं अपने-आपको भक्त तो नहीं कह सकता, परंतु इतना जरूर कहूँगा कि जब कभी मैंने भगवान्‌को याद किया, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान् सर्वदा मेरे पास हैं । अतः आज भी मैं उस चस्मेसे जरा आगे बढ़ा और दो मिनट तक शंकर भगवान्‌को याद किया । मैंने सहज ही आर्त भावसे कहा—'हे शंकर भगवान् ! आप सर्वव्यापी हैं; फिर भी यह कहा जाता है कि कैलासपर्वत आपका निवास-स्थान है । यह पर्वतीय प्रदेश भी उसी कैलासका एक भाग है । क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मैं इस खड्डमें हूँ और थोड़ी ही देर बाद वन्यपशुओंका आहार बननेवाला हूँ । इसके बाद मैंने सामने नजर डाली तो क्या देखता हूँ कि एक लंबा-चौड़ा आदमी सिरपर घासका गठड़ रक्खे चला आ रहा है । मैंने उससे कहा—'भाई ! मुझे मल्ली-ताल जाना है ।' उसने कहा—'मेरे साथ चलो ।' मैं दो ही मिनट उसके साथ चला और अपने-आपको मैंने बहुत ऊँचाईपर पाया । उसने कहा कि 'तुम इधरसे चले जाओ, मल्ली-ताल पहुँच जाओगे ।' मैंने देखा कि मैं अकेला ही एक पहाड़ीपर हूँ । अब मेरा वह मार्गदर्शक न जाने कहाँ ओझल हो गया । अब मुझको विश्वास हो गया कि वह मार्गदर्शक कोई पहाड़ी घसियारा नहीं था, बल्कि सहज कृपालु आशुतोष शंकर भगवान् ही स्वयं मुझे खड्डसे निकालने आये थे; क्योंकि उस खड्डमें कोई घसियारा घास लेने नहीं जा सकता ।

मैंने अपना यह अनुभव पाठकोंके सामने केवल इसलिये रक्खा है जिससे वे विश्वास करें कि इस कलिकालमें भी जिसमें चारों ओर पापोंके काले बादल छाये हुए हैं, भगवा जरा-सा विश्वास रखकर पुकारते ही दीनोंकी—असहायों रक्षा करते हैं ।

—सरदारसिंह सिनह

* * *

ग्राहकोंकी सेवामें सूचना

विशेषाङ्ककी वी० पी०के रुपये डाकखानेसे मिलनेमें प्रायः बहुत देर हो जाया करती है । अतः फरवरी-मार्चके अङ्क बाध्य होकर देरतक भेजने पड़ते हैं । ग्राहकगण धैर्य रखनेकी कृपा करेंगे ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'**

श्रीमद्भागवत-महापुराण (सचित्र, सरल हिंदी-व्याख्यासहित)

केवल प्रथम खण्ड (स्कन्ध १ से ८ तक) तैयार हो गया है ।

(दूसरा खण्ड छप रहा है, जिसके तैयार होनेमें अभी काफी देर है)

आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १०१६, चित्र बहुरंगे १०, मूल्य रु० ७.५०, डाकखर्च ३ रु० ।

गीताप्रेससे सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत हिंदी-टीकासहित दो खण्डोंमें प्रकाशित है, जिसका मूल्य पंद्रह रुपये हैं। उसका केवल प्रथम खण्ड, जिसमें श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि, विनियोग, न्यास एवं ध्यान, श्रीमद्भागवत-सप्ताहकी आवश्यक विधि, सप्ताह-कथाके प्रारम्भमें संग्रहणीय सामग्रीकी सूची तथा श्रीमद्भागवत-माहात्म्यसहित स्कन्ध १ से ८ तक है, वह छपकर तैयार हो गया है । दूसरे खण्डके तैयार होनेमें अभी काफी देर है; इसलिये पढ़नेवालोंकी सुविधाके लिये केवल प्रथम खण्ड बेचना प्रारम्भ कर दिया गया है । जिन्हें आवश्यकता हो, वे मँगवानेकी कृपा करेंगे ।

गीता दैनन्दिनी सन् १९६५ का तीसरा संस्करण भी समाप्त

गीता दैनन्दिनी सन् १९६५ के एक लाख साठ हजार प्रतियोंके तीन संस्करण छापे गये, जो पहलेके सभी संस्करणोंसे अधिक थे; परंतु फिर भी जनताकी माँग पूरी न हो सकी । राजस्थानके पंचायतराज्यने ५००० प्रतियोंकी माँग अब भेजी है। प्रयागसे भी एक सज्जनने ५००० प्रतियोंके लिये लिखा है तथा और भी हजारों प्रतियोंके आर्डर आये हैं; परंतु अब चौथा संस्करण छापनेमें सुविधा नहीं है । ग्राहकगण कृपापूर्वक क्षमा करेंगे तथा भविष्यमें पहलेसे आर्डर देनेकी कृपा करेंगे ।

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

निम्नलिखित स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दूकानें हैं, जहाँ 'कल्याण', 'कल्याण-कल्पतरु'के ग्राहक भी बनाये जाते हैं—

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय; पता—नं० ३०, बाँसतल्ला गली ।

दिल्ली—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—२६०९, नयी सड़क ।

पटना—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—अशोक-राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने ।

कानपुर—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—नं० २४/५५, बिरहाना रोड ।

वाराणसी—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी; पता—५९/९, नीचीबाग ।

हरिद्वार—गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; पता—सब्जीमंडी, मोतीबाजार ।

ऋषिकेश—गीताभवन; पता—गङ्गापार, स्वर्गाश्रम ।

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी—इन पाँच जगहोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी हैं ।

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेके पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये । विक्रेतागण प्रायः हमारी पुस्तकोंपर छपे हुए दामोंपर ही पुस्तकें बेचते हैं; क्योंकि उन्हें कमीशन, यथाधिकार विशेष कमीशन तथा रेलभाड़ा यहाँसे दिया जाता है । अतः उनके यहाँसे लेनेपर आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

२२

17 FEB 1965

भूल-सुधार

(१) 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' पृष्ठ २८० में श्रीप्यारेलालजीका 'अन्यायकी आँधीमें रामनामकी निष्कम्प दीपशिखा' शीर्षक लेख छपा है, उसमें श्रीप्यारेलालजीके नामके साथ भूलसे 'स्व०' छप गया है। 'स्व०'से 'स्वर्गीय' का संदेह होता है। अतः पता लगनेपर ग्राहकोंको भेजे जानेके बाद बचे हुए अङ्कोंमें 'स्व' काट दिया गया है। इस भूलके लिये हमें खेद है और हम श्रीप्यारेलालजीके स्वस्थ दीर्घजीवनकी कामना करते हुए उनसे क्षमा चाहते हैं। जिनके पास 'स्व०' बिना कटे अङ्क पहुँच गया है, वे महानुभाव 'स्व०' का अर्थ 'स्वर्गीय' न लगाकर 'स्वनामधन्य' लगावें। यह निवेदन है।

(२) पृष्ठ ३३५ में श्रीरंगअवधूत महाराजके लिये भी लेखकने उनके निर्वाण प्राप्त करनेकी बात लिखी है, जो भ्रममूलक है। श्रीरंगअवधूत महाराज अभी विद्यमान हैं और वे नारेश्वर (गुजरात) में शुभ निवास करते हैं। इस भ्रमपूर्ण प्रकाशनके लिये भी हमें खेद है और हम क्षमा चाहते हैं।

—सम्पादक

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वार 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें उन्हें १२५ रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५ रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिव 'कल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान संस्था तथा फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

कल्याणके पुराने ३८ विशेषाङ्कोंमेंसे अब केवल चार प्राप्य हैं

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मू० रु० ६.५०, डाकव्ययसहित

२—मानवता-अङ्क

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे ३९, दोरंगा १, इकरंगे १०१, रेखाचित्र ३९, मू० रु० ७.५०, डाकव्ययसहित

३—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८। मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.७

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (भगवान् श्रीकृष्णकी विभिन्न रोचक लीलाओंसे सम्बन्धित)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखा-चित्र १२०, मू० रु० ७.५०, सजि० रु० ८.७

इन विशेषाङ्कोंकी जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतियाँ शेष हैं, उनके समाप्त हो जानेपर ये भी उसी प्रकार दुर्लभ सकते हैं (जैसे शेष चौंतीस नहीं मिल रहे हैं और उनके लिये जनता बार-बार प्राप्त करनेका आग्रह कर रही है अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर मँगवा लेनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपु**

कल्याण

गुरुकुल कांगड़ी
76152

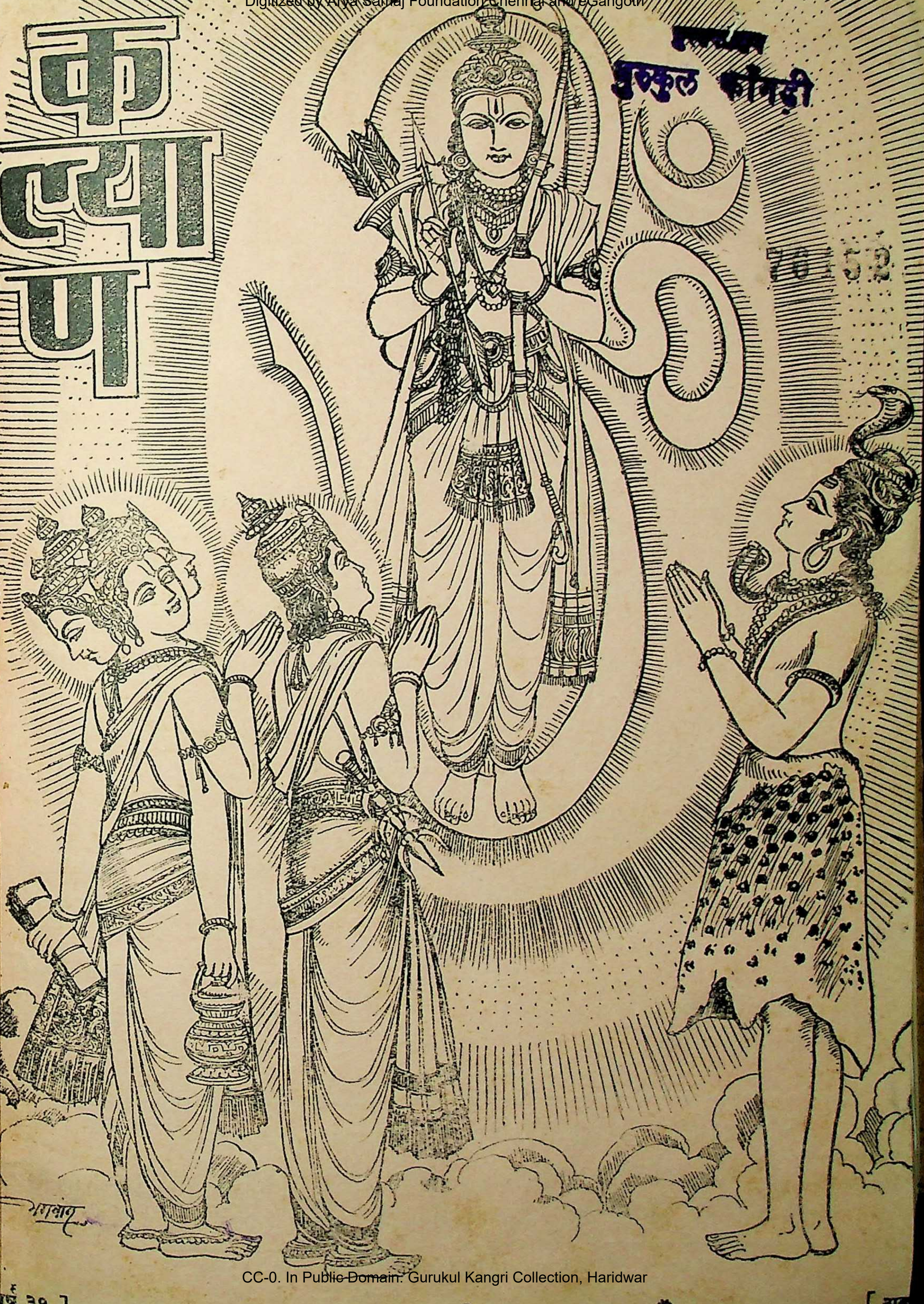

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र २०२१, मार्च १९६५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–श्याम-दर्शनकी बावरी [कविता] ... ७६५
२–कल्याण ('शिव') ... ७६६
३–भव-सागर-तरण (महात्मा श्रीस्वामी कृष्णदासजी वैरागी) ... ७६७
४–दहेजका प्रथाके और व्यापारके सुधारसे भी कल्याण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ७६८
५–मधुर ७७३
६–भगवान् आदि शंकराचार्यको भगवन्नाम-सम्बन्धी कुछ प्रिय (लगनेवाले) प्रकरण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... ७७४
७–प्रार्थनाका महत्त्व (श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०) ७७७
८–जब प्राण सिधा रहे हों [कविता] (श्रीमाधवशरणजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ७७८
९–संतोष और सुख (श्रीगोकुल-प्रसादजी पाठक) ... ७७९
१०–शान्ताकारं भुजगशयनम् ! (डा० श्री-रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभास्कर, दर्शनकेसरी) ... ७८१
११–देश-विदेशके सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन कुछ शिव-मन्दिर (श्रीश्यामसुन्दरलालजी) ७८३
१२–कठिनाइयाँ वरदान हैं (श्रीअनन्तविहारी-जी 'मृदुल') ... ७८६
१३–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी) ... ७८९
१४–सहानुभूति [कहानी] (श्री 'चक्र') ७९३
१५–कल्याणका मार्ग (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ७९७
१६–शान्त रहिये ! (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) ७९९
१७–शबरी-मिलन-प्रसङ्गका एक विशेष महत्त्व (डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ... ८०१
१८–अर्जुनके मनका विश्लेषण(डा० श्रीकन्हैया-लालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ८०४
१९–गीत तुम्हारे जीवन-सम्बल मेरे [कविता] (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) ... ८०८
२०–कल्याणकारी गङ्गाजल एवं पुण्यसलिला भागीरथी (श्रीचुन्नीलालजी भारद्वाज) ८०९
२१–वाणीका सौन्दर्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ८१२
२२–श्रीमद्भागवतकी महत्ता (हनुमानप्रसाद पोद्दारका व्याख्यान) ... ८१३
२३–गीतामें लोकसंग्रह (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ) ... ८२१
२४–मुकुटकी लटक [कविता] (श्रीआदिल) ८२३
२५–पढ़ो, समझो और करो ... ८२४

चित्र-सूची

१–शिव-ब्रह्मा-इन्द्रके द्वारा राम-स्तवन (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–श्याम-दर्शनकी बावरी ... (तिरंगा) ... ७६५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

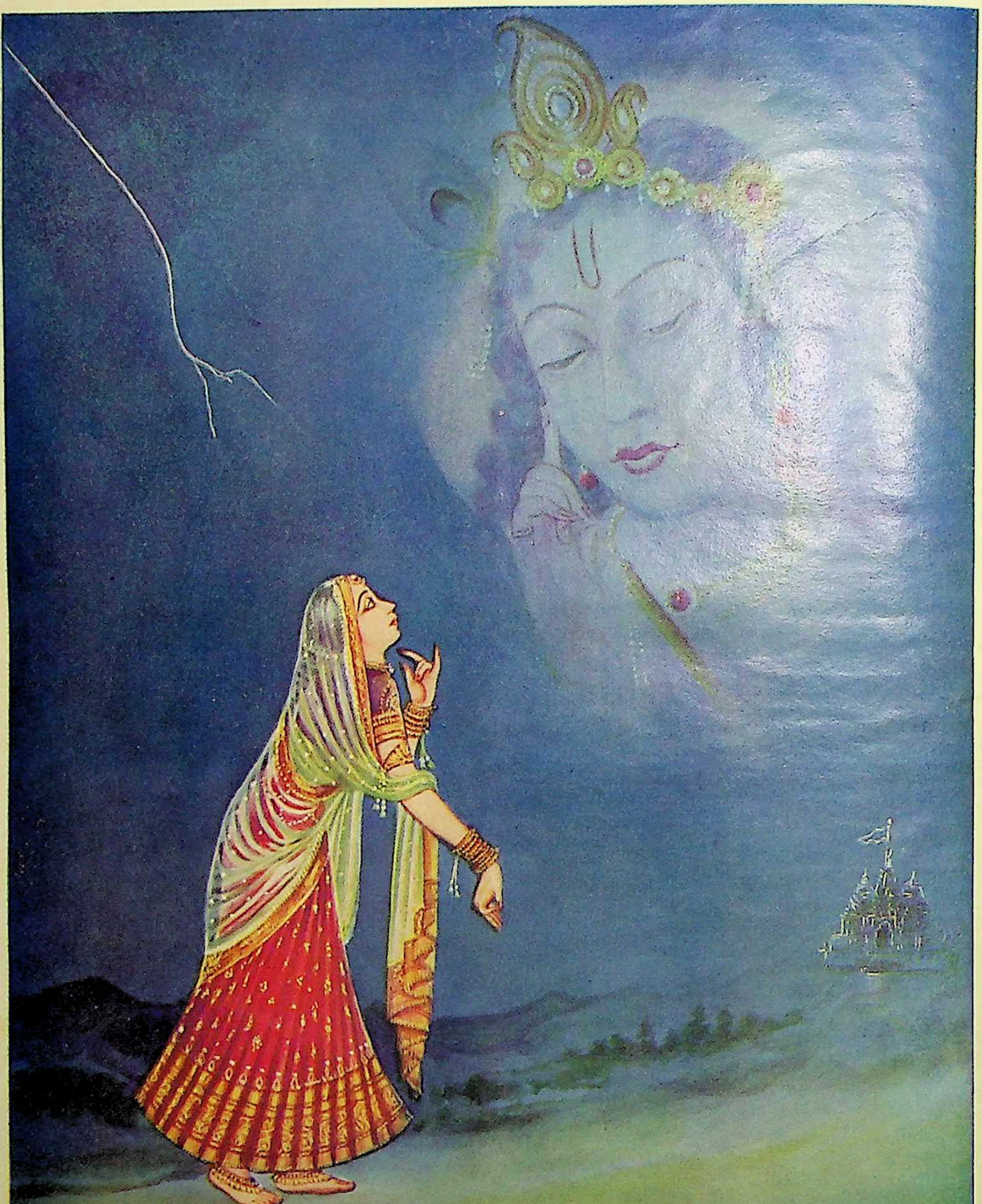

श्याम-दर्शनकी बावरी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

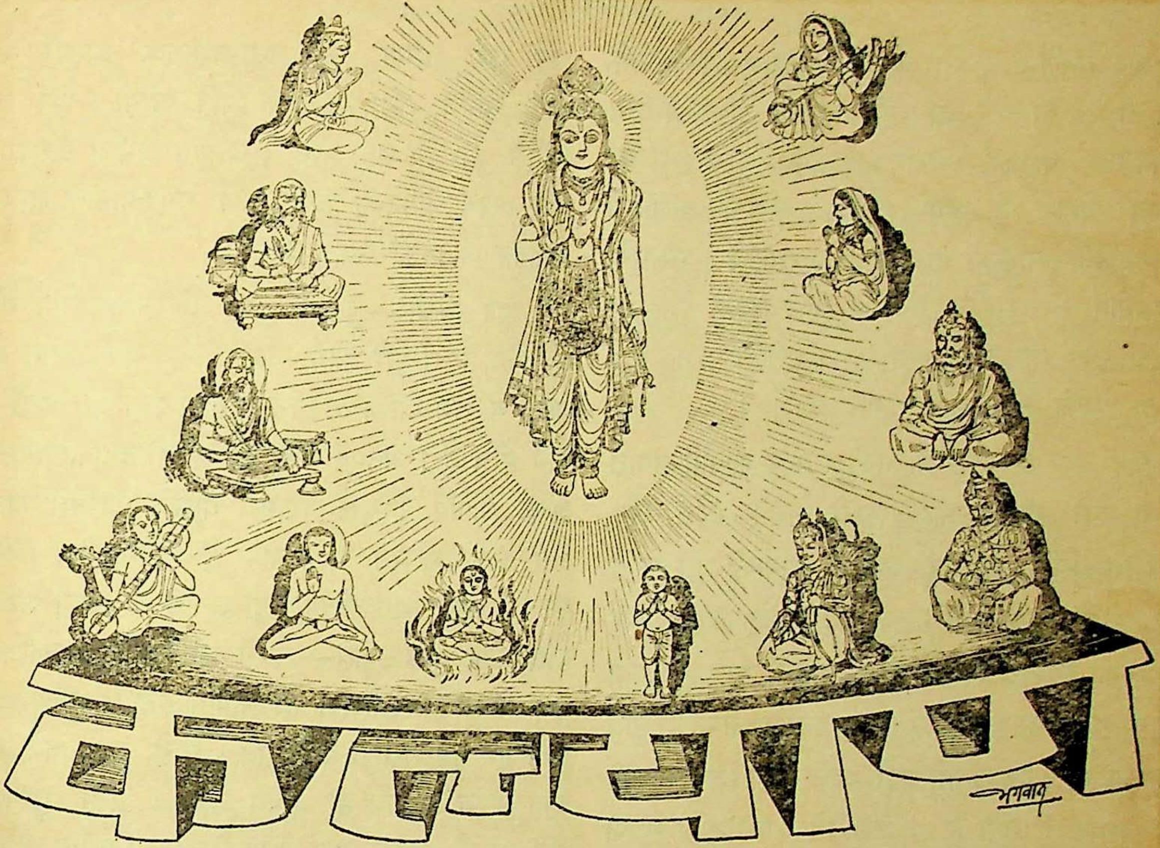

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०२१, मार्च १९६५ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ४६०

श्याम-दर्शनकी बावरी

ग्वालिनी भूली तन-धन-धाम ।
फूली फिरत बावरी इत-उत, निरखत मोहन-छबि अभिराम ॥
डोलत सर-सरिता-तट, कानन-कुंज सदा एकाकिनि बाम ।
जहँ दृग जाय, तहाँ नित दीखत मोहन प्रियतम बदन ललाम ॥
एक दिना भटकत इकंत बन, दृष्टि गई नभ दिसि सुठि ठाम ।
अपलक नैन मुग्ध भइ ठाढ़ी, निरखत छबि मनमोहन स्याम ॥
देस-काल सब भए कृष्नमय, छए कृष्न-घन तत्त्व तमाम ।
धन्य ग्वालिनी, जाके दृग-पंकज बन मधुप बसे घनस्याम ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम्हारा यह मानव-जीवन पाप कमानेके लिये तो है ही नहीं, व्यर्थ खोनेके लिये भी नहीं है । इसका एक-एक क्षण भगवान्की प्राप्तिका शुभ क्षण है, अतएव अमूल्य है और प्रत्येक क्षणको इसीलिये भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये । संसारके इन्द्रियभोग तो सभी योनियोंमें मिल सकते हैं, परंतु भगवत्प्राप्तिका साधन तो इसी मानव-शरीरसे सम्भव है । अतएव इसको केवल इसी काममें लगाओ ।

याद रक्खो—तुम जीवनको व्यर्थके कामोंमें लगाते रहे तो वैसे ही संस्कार तुम्हारे मनमें भरेंगे और उन्हीं संस्कारोंके अनुसार व्यर्थके कामोंकी ही स्मृति तुम्हें होती रहेगी । भगवान्की स्मृति छूट जायगी और भगवान्की स्मृतिसे रहित कालमें तुम्हारी मृत्यु हो गयी तो तुम्हारा यह भगवत्प्राप्तिका परमसाधनरूप जीवन ही व्यर्थ चला जायगा । यह इतनी बड़ी हानि होगी कि जिसकी पूर्ति सम्भव ही नहीं है । इसलिये भगवान्का स्मरण करते हुए जीवनके प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यको भगवान्की सेवा—भगवान्की प्रीतिके लिये भगवत्पूजाके भावसे करो । इसीसे तुम्हारा मन निरन्तर भगवान्की स्मृतिमें ही लगा रहेगा । फिर जब कभी भी मृत्यु आयेगी—तुम उस समय भगवान्का ही स्मरण करते मिलोगे और परिणाममें निश्चय ही तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो जायगी, जो मानव-जीवनका एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है ।

याद रक्खो—बीता हुआ क्षण फिर हाथ नहीं आता । यदि तुम मानव-जीवनकी अमूल्यताको भूलकर इसे व्यर्थ और अनर्थके कार्योंमें लगाया रखोगे तो तुम्हारे समान मूर्ख और कोई नहीं होगा; क्योंकि तुम मिले हुए अपने परम लाभके समयको व्यर्थ खो रहे हो और ऐसे कर्म कर रहे हो, जिनका परिणाम इस बहुमूल्य समयका नष्ट हो जाना—इस सुअवसरका छिन जाना ही नहीं होगा, वरं जन्म-जन्मतक आसुरी योनि और भीषण नरकयन्त्रणाकी प्राप्ति होगी । फिर रोने-धोनेसे कुछ भी नहीं होगा । अतएव अभीसे चेत जाओ और अपने जीवनका प्रत्येक क्षण भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाकर जीवनको सफल करो ।

याद रक्खो—तुम्हारे पास प्रधानतया तीन चीजें हैं, जिनसे तुम्हारे कार्य चलते हैं—शरीर, मन और वाणी या तन-मन-वचन । इन तीनोंके द्वारा ही अच्छे-बुरे कर्म होते हैं । अतएव इन्हें बुरे कर्मोंसे हटाकर निरन्तर अच्छे कर्मोंमें नियुक्त रखना चाहिये । सबसे अच्छा और एकमात्र परम पुण्य कर्म है—भगवत्सेवा । अतः इन तीनोंको भगवत्सेवामें ही लगाये रक्खो । शरीरके द्वारा जो कुछ करो—सबमें भगवान्का संस्पर्श पाते हुए केवल भगवत्सेवाकी ही भावना रक्खो । भगवत्सेवाके लिये ही जब शरीरसे कर्म होने लगेंगे, तब उनके सारे दोष सहज ही नष्ट हो जायँगे और वे परम पुण्यकर्म बन जायँगे । मनके द्वारा तामस चिन्तनको सर्वथा छोड़कर भगवच्चिन्तन करो । भगवान्की सेवाके लिये ही सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, त्याग, सेवा आदि सद्गुणरूप सद्विचारोंका मनन-चिन्तन करो और विशुद्ध आत्मभाव अथवा भगवान्के दिव्य स्वरूप, सौन्दर्य, माधुर्य, आदर्श लीला-गुणोंका स्मरण करो एवं वाणीके द्वारा भगवान्के ही नाम-गुणगानरूप शब्दोंका उच्चारण करो । न वाणीसे मिथ्या बोलो, न रूखा-कड़ुवा बोलो; न किसीकी निन्दा-चुगली करो, न अपनी बड़ाई करो; न व्यर्थकी बात करो, न अनर्थकी बात करो; सदा सत्य बोलो, मधुर तथा हितकर सत्य बोलो और बोलो केवल भगवान्की तुष्टिके लिये ही । यों जब तुम्हारे तन-मन-वचन नित्य भगवान्से जुड़े रहकर प्रतिक्षण केवल भगवत्सेवाका कार्य ही करते रहेंगे, तब तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा और तुम अपने परम लक्ष्यको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे ।

'शिव'

भव-सागर-तरण

(लेखक—महात्मा श्रीस्वामी कृष्णदासजी वैरागी)

याद रक्खो—यह संसार-समुद्र अति अगाध, अति दुस्तर है। इसमें चौरासी लाख धाराएँ हैं। मोहरूपी जल भरा है। काम-क्रोध-लोभरूपी मगर, घड़ियाल तैरते नजर आते हैं। जीवात्मा इस समुद्रमें प्रारब्धरूपी नौकापर बैठ कर आता है। कर्मोंके अनुसार यह नौका इसी संसार-समुद्रमें भटकती रहती है। इस संसार-समुद्रके ज्ञान, अज्ञान—दो तट हैं। इसमें राम-नामरूपी गुरु पार ले जानेवाला खेवनहार है। इस राम-नाम गुरु-केवटके बिना संसाररूपी सागरके पार जाना अति कठिन है। भक्तिरूपी नौकापर बैठकर बहुत सरलतासे संसाररूपी समुद्रको पार किया जा सकता है। दूसरी ज्ञानरूपी नौका है, जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह-रूपी मगर, घड़ियाल आदिसे भय रहता है। किंतु भक्तिरूपी नौकाका खेवनहार रामनामरूपी गुरु-केवट है, जिसको किसी प्रकारका भय नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

जासु नाम सुमिरत इक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजिअ रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
जो चेतन को जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥

भक्ति प्राप्त करना है, ज्ञान जानना है। भक्तिके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया जाता है, ज्ञानके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपको जाना जाता है; परंतु भक्तिरूपी माताके बिना ज्ञान-वैराग्यरूपी पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकते।

भक्ति स्वतन्त्र है, ज्ञान-वैराग्य भक्तिके अधीन हैं। भक्तिके द्वारा ज्ञान-वैराग्य उत्पन्न होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास महाराज लिखते हैं—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी॥

भक्तिका रूप क्या है ? इसे गोस्वामी तुलसीदास महाराज बताते हैं—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात तेहि परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥
नाम रूप दोउ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥

यह हुआ भक्तिका स्थान। यह भक्तिका सबसे ऊँचा स्तर है। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान होइ सुनु बिहंगवर॥
ग्यान क पंथ कृपान की धारा। परत खगेस होहिं नहिं बारा॥

ज्ञान-वैराग्य भक्तिदेवीकी दो आँखें हैं। वैराग्य बाँयीं आँख है और ज्ञान दाहिनी आँख है। वैराग्य न होनेसे भक्ति माता बाँयीं आँखसे कानी मानी जाती है और ज्ञान न होनेपर दाहिनी आँखसे। ज्ञान-वैराग्य दोनोंके न होनेपर भक्ति अंधी है। ज्ञान-वैराग्य भक्तिमाताके अङ्ग ही हैं; इसलिये भक्तिके साथमें ज्ञान-वैराग्यका होना आवश्यक है। यह तो भक्तिके स्वरूपका वर्णन हुआ। अब ज्ञानके स्थानका वर्णन करते हैं—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। परनिंदा सम अघ न गरीसा॥
धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

जिस धर्मका वर्णन हुआ है, उसीसे वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्यसे योग होता है। योगका अर्थ होता है परमात्मामें मिलना। परमात्मामें मिल जाना ही भक्ति है। उसी योगसे ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान मोक्ष प्रदान करता है। भक्ति भगवान्‌का रूप है, उसीको भक्ति कहते हैं। भगवान्‌की असीम कृपा होती है तब इस भक्तिरूपी शैलीमें प्रवेश करता है। प्रथम तो मनुष्यजन्म ही दुर्लभ है। उसमें मोक्षकी ओर आकर्षित होना भगवान्‌की असीम कृपाका फल है। फिर महापुरुषोंका सत्सङ्ग मिलना—यह सब भगवान्‌की अनुकम्पाका फल है।

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

दहेजकी प्रथाके और व्यापारके सुधारसे भी कल्याण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वर्तमान समयमें अनेक प्रकारकी कुरीतियाँ और फ़िजूलखर्ची दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही हैं, यह समाजके लिये बहुत ही हानिकर है । जैसे मारवाड़ी-समाजमें सगाई (सम्बन्ध), विवाह (शादी), द्विरागमन (गौना), भात (मायरा), छूछक-खीचड़ी आदिमें जो अत्यधिक खर्च करनेकी प्रथा है, वह बहुत ही बुरी है । सगाई (सम्बन्ध), विवाह और द्विरागमन (गौना) की खर्चीली प्रथा तो प्रायः सभी प्रदेशोंमें है । इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जा रही है । यह देशके लिये अत्यन्त घातक है । इसके सुधारके लिये इसके पहले लेखोंमें भी बहुत लिखा जा चुका है और व्याख्यानोंमें भी बहुत बार कहा जाता है तथा बहुत-से भाइयोंने मिलकर कमेटी बनाकर सुधारके नियम भी पास किये, पर अभीतक कोई सुधार नहीं हुआ । किंतु यदि अब इसका सुधार शीघ्र नहीं होगा तो देश और समाजके लिये इसका परिणाम बहुत ही बुरा होनेकी सम्भावना है ।

विवाह-शादी आदिमें जो अतिशय दहेजकी प्रथा प्रचलित हो गयी है, इसमें अधिकांश तो दहेज लेनेवालोंका अधिक अपराध है । वे लोग स्वार्थका त्याग करें, तब सुधार हो । एक लड़कीकी सगाई (सम्बन्ध) और विवाहमें गरीब-से-गरीब लड़केके अभिभावक भी कम-से-कम पाँच हजार रुपये चाहते हैं; किंतु लड़कीके अभिभावक बहुत गरीब हों तो शादी कैसे हो ? लड़कीके अभिभावक तो गरीबीके कारण लाचार हैं । इस परिस्थितिमें लड़केके अभिभावकोंको ही त्याग करनेकी आवश्यकता है ।

कोई-कोई कन्याके माता-पिता तो धनाभावमें कन्याका विवाह न कर सकनेके कारण आत्महत्या कर लेते हैं । तथा कोई-कोई कन्या भी माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती है । यह बहुत ही बुरी बात है । इस आत्महत्याका दोष अतिशय दहेज लेनेवाले मनुष्योंको लगता है ।

कोई-कोई धनी लड़कीके अभिभावक लड़केके अभिभावकके न चाहनेपर भी अनाप-शनाप खर्च करते हैं, जिसका समाज और देशपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है ।

इसी प्रकार मुकलावा (द्विरागमन) में साधारण लड़केके भी अभिभावक कम-से-कम दो हजार रुपयेका सामान चाहते हैं । लड़कीका पिता नौकरी करता है तो वह इतना रुपया लाये कहाँसे ! उसे न ऋण मिलता है और न सहायता ही ।

इसी तरह, लड़कीकी संतानकी विवाह-शादीमें भात (मायरा) में भी लोग दो हजार रुपयोंकी माँग करते हैं । लड़कीका पिता गरीब होता है तो भी उसे कम-से-कम एक हजार तो प्रायः लगाना ही पड़ता है । इसी प्रकार छूछक-खीचड़ी आदि नेगोंमें भी अत्यधिक खर्चकी यह बुरी प्रथा प्रचलित है । इसके कारण इस समय कन्याके अभिभावकोंकी बड़ी शोचनीय दशा हो रही है । अतः पाठकोंको इस विषयमें ध्यान देना चाहिये और विचार करना चाहिये तथा दहेज लेनेके समय स्वयं स्वार्थके त्यागपूर्वक कम-से-कम लेना चाहिये, सबके सम्मुख आदर्श उपस्थित करना चाहिये और जिससे यह प्रथा दूर हो ।

दहेजके सिवा देशमें और भी बहुत-से कामोंमें फ़िजूलखर्ची चल पड़ी है । लोग मृतकके खर्च (श्राद्ध) में भी बहुत व्यय करते हैं । जिसके पास रुपये नहीं, वह भी

गुरुकुल कांगड़ी

ऋण या सहायता लेकर इस कार्यमें खर्च करता है; ऐसा न करके अपनी सामर्थ्यके अनुसार शास्त्रोक्त श्राद्धादि कर्म करना चाहिये।

लड़का पैदा होनेपर भी लोग प्रीतिभोज, कुटुम्बभोज करने लगे हैं, यह व्यर्थ खर्च करना है। तथा छोटे लड़के-लड़कियोंकी वर्षगाँठ मनानेमें भी आजकल लोग अनाप-शनाप खर्च कर रहे हैं, जो शास्त्रके अनुकूल नहीं है और सर्वथा व्यर्थ है। अतः इस प्रथाको सर्वथा बंद कर देना चाहिये।

इसी प्रकार कहीं-कहीं तो विवाह आदिमें मादक वस्तुका सेवन, चौपड़-ताश, शतरंज आदि खेल-तमाशे, हँसी-मजाक, गाली-गलौज, जँवाई (दामाद) से एकान्तमें स्त्रियोंद्वारा अश्लील वार्तालाप, नाच-गान कराना आदि बहुत-सी कुरीतियाँ प्रचलित हैं तथा दिन-पर-दिन नयी-नयी कुरीतियाँ बढ़ती जा रही हैं।

इस प्रकारकी अनेक कुरीतियाँ और फिजूलखर्ची बढ़ गयी हैं और इधर वर्तमान महँगीके कारण गरीब मनुष्योंका तो आवश्यक अन्न-वस्त्रका खर्च भी चलना कठिन हो रहा है; इस अवस्थामें जब कोई विशेष खर्चका कार्य उपस्थित हो जाता है तो गृहस्थी मनुष्यको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। अतएव इस प्रमादमय प्रवाहको जिस-किसी प्रकारसे रोकना चाहिये, नहीं तो इसका परिणाम बहुत ही खतरनाक हो सकता है।

इसी तरह आजकल जो व्यापारी लोग झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, धोखाबाजी, विश्वासघात और छिपाव करते हैं, इनकमटैक्स और सेलटैक्स आदिसे बचनेके लिये झूठे बही-खाते बनाते हैं, उस अन्यायकी कमाईके अन्नसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसी प्रकार बहुत-से रेलवे और सरकारके कर्मचारी भी रिश्वत लेते हैं। उससे उनकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। कारखानोंके मजदूर छुट्टी और वेतन तो अधिक चाहते हैं और विश्वासपूर्वक तत्परतासे काम नहीं करते एवं मालिक लोग भी मजदूरोंको कम वेतन देकर ज्यादा काम लेना चाहते हैं, जो दोनों ही बातें अनुचित हैं।

मनुष्यको न्याय और सत्यतापूर्वक व्यापार करना चाहिये। व्यापारमें तौल, नाप और संख्यामें किसीको भी न कम देना और न अधिक लेना चाहिये। गल्ला-कपड़ा आदि चीजोंका जो नमूना दिखाया जाय, ठीक वही माल देना और जो नमूना देखा जाय, वही लेना चाहिये। मालकी ढेरीमें ऊपर अच्छा माल और नीचे खराब माल लगाकर धोखा नहीं देना चाहिये। घीमें वेजिटेबल आदि मिलाना, दूधमें पानी, अरारोट आदि मिलाना, खोवामें आलू या चावल पीसकर मिलाना, तिल्ली-सरसों आदिके तेलमें मूँगफली आदिके दूसरे-दूसरे तेल मिलाना, दाल वगैरह अनाजमें मिट्टी-कंकड़ मिलाना, पोस्तदानामें दूसरा दाना मिलाना, कस्तूरी, केसर, साबूदाना आदि कोई भी चीज नकली देना और उनमें दूसरी चीज मिलाकर देना—ये सभी कार्य करना व्यापारियों और ग्राहकोंको धोखा देना है। इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। मालको दूसरे शहरोंमें भेजनेके समय, जहाँ कानूनसे गेहूँ-चावल आदि नहीं भेजे जा सकते, दाल, अरहर, मटर आदि भेजे जा सकते हैं, वहाँ गेहूँ-चावल भेजकर रेलवेके कर्मचारियोंको घूस (रिश्वत) देकर बिल्टीमें दाल-अरहर आदि लिखवाना रेलवेको और सरकारको धोखा देना है। इसी तरह और भी अनेक प्रकारसे जो रेलवेको, सरकारको, व्यापारियोंको और ग्राहकोंको किसीको भी लोभके वशीभूत होकर धोखा देना है, वह देश और समाजके लिये महान् पतनकारक है। अतः उस दोषसे सर्वथा बचना चाहिये।

इसी प्रकार आयुर्वेदिक ओषधियोंके विक्रेता लोगोंमेंसे भी कोई तो नकली दवा बनाते हैं और कोई उसमें दूसरी हल्की चीजें मिला देते हैं तथा कोई उसमें डाक्टरी दवा भी मिला देते हैं एवं उसे आयुर्वेदिक दवाके नामसे बेचते हैं । यह बहुत ही अनुचित है । इसी तरह कई डाक्टरी दवाओंके विक्रेता भी नकली दवा दे देते हैं या दवाओंमें मिलावट भी कर देते हैं । कोई पकड़े जाते हैं, तब उनपर मुकदमा भी चल जाता है; पर फिर भी लोग मिलावट करना छोड़ते नहीं । किंतु दवाओंमें मिलावट करना लोगोंके स्वास्थ्यके लिये हानिकर तथा बहुत अनुचित है । अतः सभी दवाविक्रेताओंसे प्रार्थना है कि वे किसी प्रकारकी मिलावट न करके असली दवा देकर सबके साथ सचाईका व्यवहार करें ।

किसीको न्याययुक्त समता और सत्यतापूर्वक व्यवहार करनेके लिये कहा जाता है तो उसका उत्तर यही मिलता है कि आजकलके इस विकट समयमें सत्य और न्याययुक्त सम व्यवहार कोई कर ही नहीं सकता । दूसरे लोग भी उनकी बातोंको सुनकर उसी प्रवाहमें बह जाते हैं । किंतु ऐसी बातें कहनेवालोंका यह अज्ञान है, धनकी आसक्ति है और आत्मबलकी कमी है । उनका ईश्वर, शास्त्र और प्रारब्धपर विश्वास नहीं है । अतः उनकी बातोंको काममें नहीं लाना चाहिये । ईश्वर, शास्त्र और प्रारब्धपर विश्वास रखना चाहिये । अपनेमें कमजोरीको पास भी नहीं आने देना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके दूषित वातावरणके सङ्गसे अधिकांश सभीकी बुद्धि मलिन हो रही है और उनमें दुर्गुण बढ़ रहे हैं । अन्तःकरणके बुरे भावोंके अनुसार ही आचरण भी दूषित हो रहे हैं । यह नियम है कि दुराचारसे दुर्गुण बढ़ते हैं और दुर्गुणसे दुराचार बढ़ते हैं । बीज और वृक्षकी भाँति इनका परस्पर घनिष्ठ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । इन सब कारणोंसे लोग परमार्थसे भ्रष्ट हो गये और होते जा रहे हैं । उनको परमात्माकी प्राप्तिका साधन अच्छा ही नहीं लगता । कोई-कोई तो साधन करनेमें भी स्वार्थ तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके वशीभूत हो दम्भाचरण करते हैं एवं दूसरोंमें दोषदृष्टि करके उनकी निन्दा करते-सुनते हैं और कोई-कोई तो दूसरोंको दुखी देखकर प्रसन्न होते हैं तथा अपना अधिकार और प्रभाव जमानेके लिये ही दम्भाचरण और बनावटी बर्ताव करते हैं । इन सब दोषोंके कारण उनका अन्तःकरण मलिन होकर पतन हो जाता है ।

किंतु वास्तवमें तो न्याय और सत्यतापूर्वक उपार्जित द्रव्यसे ही मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसका उद्धार होता है । इस विषयमें पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें तुलाधार वैश्यकी कथा आती है । उनके व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी नहीं थी । वे न्याययुक्त, सत्य और सबके साथ सम व्यवहार करते थे, सबके हितमें तत्पर रहते थे और प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी कभी झूठ नहीं बोलते थे । इसलिये लोग उनकी जबानपर ही वस्तुएँ लेते-देते थे । इन गुणोंके कारण ही वे भूत और भविष्यकी सब बातोंको जान लेते थे । इस सत्य व्यवहारके प्रभावसे वे स्वयं तो परमधाममें गये ही, उनके प्रभावसे उनके घरके और आसपास रहनेवाले प्राणी भी परमधाम चले गये ।

इसी प्रकार सत्य-व्यवहारके विषयमें शिवभक्त महात्मा नन्दभद्र वैश्यकी कथा स्कन्दपुराणके माहेश्वर-खण्डान्तर्गत कुमारिकाखण्डके ४०-४१ वें अध्यायोंमें मिलती है । उनका व्यवहार न्याययुक्त और सत्य था । वे सब लोगोंकी भलाईके लिये कम मुनाफा लेकर व्यापार करते थे । मदिरा आदिका क्रय-विक्रय कभी नहीं करते थे । ग्राहकोंके साथ भेद-भाव नहीं करते थे । सदा झूठ-कपटसे रहित समतापूर्ण

व्यवहार करते थे। उनके उस सत्य और सम व्यवहार एवं शिवभक्तिके प्रभावसे अन्तमें उनका कल्याण हो गया।

निष्कर्ष यह कि सत्यतापूर्वक किये हुए व्यापारकी कमाईका अन्न शुद्ध हो जाता है। उस पवित्र अन्नको खानेसे बुद्धि पवित्र होती है; किंतु अन्यायसे उपार्जित द्रव्यका अन्न खानेसे बुद्धि अपवित्र होकर मनुष्यका पतन हो जाता है।

इसलिये ऊपर बताये हुए दोषोंसे, कुसङ्गसे, बुरे वातावरणसे और बुरे व्यवहारसे मनुष्योंको बचना चाहिये। त्यागपूर्वक न्यायसे सत्य और सम व्यवहार करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर शीघ्र उद्धार हो जाय। मनमें खूब उत्साह और श्रद्धा-विश्वास करके आत्मोद्धारके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा-विश्वासमें बड़ा भारी बल है। उससे मनमें कभी कमजोरी पास नहीं आती और उत्साहकी वृद्धि होती है।

समझना चाहिये कि अनिच्छा और परेच्छासे जो कुछ होता है, उसमें ईश्वरका हाथ है। अतः उसे ईश्वरका मङ्गलमय विधान मानकर जो कुछ भी हो, उसमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये तथा जो कार्य किया जाय, उसको भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर करना चाहिये। फिर कोई भी कार्य असम्भव नहीं। भगवान्‌की कृपासे तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्यके लिये कोई कार्य असम्भव है भी नहीं, फिर परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तो परमात्माकी सदा ही मदद रहती है। इसलिये भी मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो मनुष्यके पुरुषार्थसे न हो सके। फ्रांसके नैपोलियन बोनापार्ट एक साधारण आदमी थे; पर आत्मविश्वास और उत्साहके कारण उन्होंने इंग्लैंड आदिपर विजय प्राप्त कर ली थी। उनका यह कथन था कि संसारमें मनुष्यके लिये कोई काम असम्भव नहीं। उन्होंने 'असम्भव' शब्दको अपने कोषसे निकाल दिया था। उनके कथनसे हमलोगोंको यह लाभ उठाना चाहिये कि हम साधनमें कभी निराश, हताश और उत्साहहीन न हों एवं भगवत्प्राप्तिको कभी असम्भव या कठिन न मानें; क्योंकि भगवत्प्राप्तिमें मनुष्य पराधीन नहीं है। वह भगवत्प्राप्तिका साधन करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। देश, काल, परिस्थिति भी उसमें बाधक नहीं है। यदि कोई मनुष्य सांसारिक परिस्थितियोंको साधनमें बाधक मानता है तो यह उसके अज्ञान और आत्मबलकी कमीके सिवा और कुछ नहीं है। वास्तवमें वह स्वयं ही अपने आपके लिये बाधक है। इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके उद्धारके लिये तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये। भगवान् गीतामें कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
(गीता ६। ५-६)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस मनुष्यद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

अभिप्राय यह है कि भगवत्कृपासे प्राप्त इस दुर्लभ मनुष्यजन्मको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—किसी भी साधनमें लगकर अपने जन्मको सफल बना लेना चाहिये। यही अपने द्वारा अपना उद्धार करना है। इसके विपरीत राग-द्वेष, काम

क्रोध, लोभ-मोह आदि दोषोंमें फँसकर नाना प्रकारके पापकर्म करना और उनके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके परम फल भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रहकर पुनः शूकर-कूकर आदि योनियोंमें जानेका कारण बनना अपनेको अधोगतिमें डालना है । जो मनुष्य अपने उद्धारके लिये चेष्टा करता है, वह आप ही अपना मित्र है और जो इसके विपरीत करता है, वह आप ही अपना शत्रु है; क्योंकि जिस मनुष्यके शरीर, इन्द्रिय और मन वशमें हो जाते हैं, वह अनायास ही संसार-समुद्रसे अपना उद्धार कर लेता है एवं परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है । इसीलिये वह स्वयं ही अपना मित्र है । किंतु शरीर, इन्द्रिय और मन जिसके वशमें नहीं हैं, उच्छृङ्खल हैं और विषयभोगोंमें ही लगे रहते हैं, जिसके कारण मनुष्य उनको अपने लक्ष्यके अनुसार कल्याणके साधनमें नहीं लगाकर भोगोंमें लगाता है और अपने आपको नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकाकर भीषण दुःख भोगनेके लिये बाध्य करता है, वह मनुष्य अज्ञानसे आसक्तिके वश होकर दुःखको सुख और अहितको हित समझकर अपने यथार्थ कल्याणके विपरीत आचरण करने लगता है; इसलिये वह स्वयं ही अपने आपका अपना शत्रु है ।

यह समझकर मनुष्यको सावधान होकर अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहिये । आत्मोद्धारमें मनुष्य स्वतन्त्र है, इसलिये वह उसके लिये कोई कठिन काम नहीं है । फिर भी यदि किसीको आत्मोद्धारका साधन कठिन मालूम दे और दूसरोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे भगवान्का आश्रय लेना चाहिये । उनके शरण होकर उनको नित्य-निरन्तर स्मरण रखते हुए आत्मोद्धारके लिये कोई भी कार्य करनेवाले मनुष्यके लिये भगवान्की कृपासे सभी कुछ सहज और सुगम है । गीतामें भगवान् स्वयं बतलाते हैं कि केवलमात्र मेरे अनन्यचिन्तनसे मेरी प्राप्ति **सहज है—**

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

भाव यह कि जो मनुष्य परम प्रेम और श्रद्धाके साथ निरन्तर भगवान्के स्वरूपका अथवा उनके नाम, गुण, प्रभाव और लीला आदिका चिन्तन करता रहता है, वह अनन्यभावसे भगवान्का चिन्तन करनेवाला प्रेमी भक्त जब भगवान्के वियोगको नहीं सह सकता, तब भगवान्को भी उसका वियोग असह्य हो जाता है और जब भगवान् स्वयं उससे मिलनेकी इच्छा करते हैं, तब उनके मिलनेमें कठिनाईके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता । तथा जिसका यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्का मिलना सुकर है, उसके लिये तो भगवत्कृपासे नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण होना भी सहज ही है ।

एवं इस कार्यमें भगवान्की तो स्वाभाविक मदद है ही । फिर भी उनके शरण होकर साधन तेज होनेके लिये तथा भगवान्में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये कामना की जाय तो वह कामना होकर भी निष्काम ही है ।

इसलिये मनुष्यको भगवान्के शरण होकर तत्परताके साथ साधन तेज होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

मधुर

सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर मैं,
सब गुण रहित सर्व गुण धाम ।
सर्वभूतमय, सर्वाश्रय मैं,
सर्वातीत, सर्व विश्राम ॥
सर्वमूल मैं, पूर्ण तृप्त नित,
आप्तकाम हूँ, नित निष्काम ।
नित्य निरीह, पूर्ण निज सुखसे,
निज महिमा स्थित, आत्माराम ॥
नहीं अभाव कहीं कुछ भी है,
नहीं कदापि चाह-परवाह ।
नहीं किसी सुखकी प्रसन्नता,
नहीं दुःखकी आह-कराह ॥
पर राधा तेरा अति पावन,
मधुर प्रेमरस सिन्धु अपार ।
आकर्षित नित करता रहता,
प्रति तरङ्गमें मुझे पुकार ॥
क्षुधा-तृषा जग उठी विलक्षण,
नित्य तृप्त मुझमें सुमहान ।
आतुर मैं तटपर आ करने
लगा मधुर अवगाहन-पान ॥
पर न कदापि तृप्त हो पाता,
बढ़ता नया-नया अभिलाष ।
बढ़ता लोभ हरेक लाभमें,
बढ़ती नित नव क्षुधा-पिपास ॥
अनुपम अतुल त्याग परिपूरित
तेरा यह रस निधि अभिराम ।
मेरे लिये हो गया अब तो
यही जीवनाधार ललाम ॥
इस रससिंधु मधुरमें ही मैं
रहा चाहता नित्य निमग्न ।
राधे ! रहूँ सदा ही तेरे
दिव्य प्रेममें मैं संलग्न ॥

एक दिन श्रीराधाजीके प्रति श्रीकृष्ण यों कहने लगे—राधे ! मैं सबका नियन्ता हूँ, सबका ईश्वर हूँ, समस्त गुणोंसे रहित हूँ और सर्वगुणोंका धाम हूँ। मैं सारे जीवोंके रूपमें प्रकट हूँ, मैं सबका आश्रय हूँ, सबसे अतीत हूँ और सबका विश्राम हूँ। मैं सबका मूल हूँ, पूर्ण तृप्त हूँ, नित्य आप्तकाम और नित्य निष्काम हूँ । मैं नित्य इच्छा-रहित हूँ, अपने ही स्वरूपभूत सुखसे पूर्ण—सुखस्वरूप हूँ, अपनी ही महिमामें स्थित, आत्माराम हूँ । मेरे लिये न तो कहीं कुछ भी अभाव है, न कभी भी कुछ चाह या परवा है । न मुझे किसी भी सुखकी प्रसन्नता है, न किसी दुःखकी मुझे आह—कराह ही है । मैं सुख-दुःखसे रहित हूँ । इतनेपर भी राधे ! तेरा जो अत्यन्त पावन मधुर प्रेमरसका अपार सागर है, वह अपनी प्रत्येक तरङ्गके द्वारा मुझे पुकार-पुकारकर नित्य आकर्षित करता रहता है। इसीसे उस रसके आस्वादनके लिये मुझ नित्य तृप्तमें एक सुन्दर और महान् सर्व-विलक्षण भूख-प्यास जाग उठी और मैं तेरे उस प्रेम-सुधा-सागरके तटपर आतुरताके साथ आकर उसमें डुबकी लगाने तथा उस रसका पान करने लगा । पर ज्यों-ज्यों मैं उसका आस्वादन—पान करता हूँ, त्यों-ही-त्यों नित्य नयी-नयी अभिलाषा बढ़ती है और मैं कभी भी तृप्त नहीं हो पाता । प्रत्येक लाभमें मेरा लोभ बढ़ता है और नित्य नये रूपमें मेरी उस रसके लिये भूख-प्यास बढ़ती है । तेरा यह अनुपमेय अतुलनीय त्यागसे परिपूर्ण रस-समुद्र बड़ा ही सुन्दर है और मेरे लिये तो अब यही जीवनका एकमात्र ललित आधार बन गया है । अतः मैं इस मधुर रस-सागरमें ही सदा डूबा रहना चाहता हूँ। राधे ! मैं सदा ही तेरे दिव्य प्रेममें ही संलग्न रहूँ ।

भगवान् आदि शंकराचार्यके भगवन्नामसम्बन्धी कुछ प्रिय (लगनेवाले) प्रकरण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

महाभारत-अनुशासन पर्वोक्त विष्णुसहस्रनामकी अद्भुत महिमा है। गीताकी ही तरह इसकी भी महिमा कई जगह निरूपित है। किमधिकं ज्योतिष, आयुर्वेद आदिके महान् आचार्योंने भी रोग-क्लेश-निवारणमें इसकी उपयोगिता मुक्त-कण्ठसे स्वीकार की है—

यथा—

कृत्वा नामसहस्रेण स्तुतिं तस्य महात्मनः।
वियोगमाप्नोति नरः सर्वानर्थैरसंशयम् ॥

(विष्णुधर्म० ३ । ३४१ । ४०-४१; १ । ५८ । १५ इत्यादि)

विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं हरिम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण २ । ११० । १३; चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, चिकित्सा० ३ । १८ । ७) नामसहस्रेण—महाभारतोक्तेन नामसहस्रेण (चक्रपाणिदत्तकृत आयुर्वेददीपिकाटीका, नामसहस्रेण—महाभारतान्तर्गतानुशासनपर्वणि यद् विष्णोर्नामसहस्रं स्तोत्रं तेन स्तुवन्—(गङ्गाधरकृतजल्पकल्पतरुटीका)

द्वितीयसप्तमाधीशे ह्यपमृत्युर्भविष्यति ।
तद्दोषपरिहारार्थं विष्णुसाहस्रकं जपेत् ॥

(बृहत्पारा० होराशास्त्र, बुधदशाप्रकरण)

यद्यपि इसकी भगवद्गुणदर्पणभाष्य आदि और भी कई टीकाएँ, भाष्य आदि हैं, तथापि इसपर दिव्य अमृत-तुल्य भाष्यकी रचना करके भगवान् आदि शंकराचार्यने जिज्ञासु भक्तोंका महान् उपकार किया है। कुछ लोग इसमें नामोपासना तथा पुराणादिकी चर्चा देख इसे उनकी रचना नहीं मानते। पर वे ही लोग भागवतखण्डनके समय इसमें उसका नाम न देख इसे उनकी ही रचना तथा परम प्रामाणिक मानने लगते हैं। यह कैसी खेदजनक प्रवृत्ति है। वास्तवमें परम्परासे यह आद्य शंकराचार्यकी ही कृति मान्य है। शंकरदिग्विजयके व्याख्याताओंने स्पष्ट लिखा है—

अथ गीताभाष्यविष्णुसहस्रनामभाष्ये अभ्यसावकरोत्।

(डिण्डिमटीका)

सहस्रनामपक्षे प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेनैव तथात्वं बोध्यम् ॥

(शं० दि० अद्वैतराज्यलक्ष्मीटीका ६ । ६३)

सम्पूर्ण महाभारतके व्याख्याता आचार्य नीलकण्ठने भी इस बातको स्वीकार किया है और इसीलिये विष्णुसहस्रनाम (अनुशासनपर्व १४९) की टीका नहीं लिखी कि आचार्यने कुछ भी रोचक बात लिखनेको नहीं छोड़ी थी—

नामपदानामवयवार्थस्तु श्रीशंकराचार्यभगवत्पादीयभाष्यादेवावगन्तव्यः।

(महाभारत, अनुशा० प० १४९ । १ की भारत-भावदीप-नामक नीलकंठी व्याख्या)

सहस्रनामभाष्यका स्वरूप

भगवान् शंकरकी प्रतिभा अद्भुत थी। विष्णुसहस्रनाम-भाष्यमें उनके पौराणिक अध्ययनका भी पता चलता है। पुराणोंमें जहाँ-जहाँ भगवन्नामकी महिमा है, आचार्यने उनमें अधिकांशका यहाँ स्मरण किया है। भगवन्नामोंकी व्युत्पत्ति निरुक्तसे लेकर ब्राह्मण तथा पुराण-ग्रन्थों तकमें बड़े चावसे की गयी है। नामनिरुक्ति, शब्दनिरुक्तिकी रुचि भारतीय विद्वानोंकी अद्भुत रही है। विद्वानोंने प्रत्येक संस्कृत शब्दको ऐतिहासिक तथा सहेतुक माना है। कुछने सभी शब्दोंको आख्यात—धातु मूलसे ही उत्पन्न माना है—

नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

(निरुक्त, नैघण्टुककाण्ड ६ । ४ । १)

इस तरह शब्दोंका संस्कार संसारकी किसी भी दूसरी भाषामें नहीं देखा जाता।

सुतरां आचार्यको ये सभी प्रकरण ज्ञात थे। महाभारत उद्योग प० ७०, शान्तिपर्व अध्याय ३४१-३४२[2],

---

१—(क) रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात्। (म० अनु० १४९ । १२८; पद्म०उत्तर० ७१ आदि)

(ख) स्नानकाले तु देवस्य पठेन्नामसहस्रकम्।
प्रत्यक्षरं लभेत्पुण्यं कपिलागोशतोद्भवम् ॥

(हरिभक्तिविलास, पृ० १५२ पर स्कन्द, द्वारका-माहा० का वचन)

[2] —यहाँ वासुदेव, विष्णु, दामोदर, पृश्निगर्भ, केशव, (३४१ ।

हरिवंश ३ । ८८ अध्याय[३], विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३ । ११९–१२८ वें अध्याय[४], विष्णुपुराण १ । ४ अध्याय, ३ । १ अध्याय, वायुपुराण ५ । ३५–५२[५], शिवपुराण कैलाससंहिता ९ । १–२२, लिङ्गपुराण ७० । १०–४०, पद्मपुराण भूमि ख० ३९ । १५–२५, काशीखण्ड (स्कन्दपुराण) अध्याय २० । ५ वाराहपुराण १८९, १९० । २५–१३५[६] इत्यादि स्थलोंमें भगवन्नामोंके तथा भगवान् व्यासद्वारा निर्वचन—निरुक्तियाँ की गयी हैं । आचार्यने प्रायः इन सभी स्थलोंको टटोला था और उनका अपने सहस्रनाम-भाष्यमें उपयोग किया है । उदाहरणार्थ वासुदेव, कृष्ण, वृषाकपि आदि शब्दोंके निर्वचनमें आचार्यने महाभारत; शान्तिपर्वके ३४२ वें अध्यायका स्मरण किया है । इसी प्रकार माधव आदि शब्दोंकी व्याख्यामें हरिवंश (३ । ८८) को; अधोक्षज, पुरुषोत्तम आदिकी व्याख्यामें उद्योगपर्व ७० वें अध्यायको और रुद्रादि शब्दोंकी व्याख्यामें शिवपुराण, कैलाससंहिता अध्याय ९ को स्मरण किया है और उनके भावपूर्ण रम्य श्लोकोंको लिखा है । विभिन्न संस्करणोंके इसके सम्पादकोंने इन स्थलोंको खोजनेमें कोई कसर उठा नहीं रखी है[७] । तथापि अभी इसके बहुतसे श्लोकोंका कोई पता नहीं चल सका है कि वे किस ग्रन्थके किस स्थलके हैं । प्रस्तुत लेखमें हम कुछ ऐसे ही स्थलोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं ।

हमारे विचारसे आचार्यके विष्णुसहस्रनामभाष्यमें सर्वाधिक वचन गरुडपुराणके ही हैं । उनमेंसे जो वचन विष्णुपुराणमें भी पुनरुक्त हैं, उन्हें तो सम्पादकोंने ढूँढ लिया है । किंतु प्रायः वे सभी तथा दूसरे न पता लगे हुए 'संसार-सर्पसंदष्ट०' 'शाठ्येनापि०' 'शमायालं जलं०' आदि अनेक श्लोक गरुडपुराणके २१९ से २२४ तकके बंगवासी-प्रेस, जीवानंद, रसि० संस्करण यथा वेङ्कटे० सं० २२७ के २३३ वें अध्यायोंके हैं । दूसरा आधार उनका ब्रह्मयोगियाज्ञवल्क्य, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य तथा वाधूलस्मृतियाँ हैं । इनमेंसे दो पहली स्मृतियोंका उन्होंने बार-बार नाम भी लिया है । वाधूलस्मृति भी पुरानी है । आचार्य श्रीनिवासदासने अपनी यतीन्द्रमत-दीपिकाकी पुष्पिकाओंमें इनका नाम लिया है तथा अपनेको वाधूलके सम्प्रदायमें दीक्षित लिखा है । इससे वाधूलस्मृतिकी भक्तिपरकता तथा प्राचीनता स्पष्ट है । भाष्यका 'श्रुतिस्मृती' श्लोक वाधूलस्मृति १८९में मिलता है । १४ वें श्लोकमें उद्धृत बहुतसे श्लोक बृहद्योगियाज्ञवल्क्यके दूसरे अध्यायके हैं । इनमें भी गरुडका २२० वाँ अध्याय श्रेष्ठ है । उसके कुछ वचन यहाँ दिये जा रहे हैं—

नारायणेति शब्दोऽस्ति वागस्ति वशवर्तिनी ।
तथापि नरके मूढाः पतन्तीति किमद्भुतम् ॥ ९ ॥

× × ×

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥१२॥
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥१३॥
स्वप्नेऽपि नाम स्पृशतोऽपि पुंसः क्षयं करोत्यक्षयपापराशिम् ।
प्रत्यक्षतः किं पुनरत्र पुंसां प्रकीर्तिते नाम्नि जनार्दनस्य[८] ॥१४॥

× × ×

४०–५०), हृषीकेश, हरि, गोविन्द, शिपिविष्ट, अज, सत्य, सत्त्व, सात्वत, कृष्ण, अच्युत, अधोक्षज, कृतार्चि, वृषाकपि, कपिल आदि (३४२ । ६६–९५) नामोंकी रम्य एवं आकर्षक व्याख्या है ।

३—यहाँ शंकर, ब्रह्म, माधव, वामन, ईश्वर, मधुसूदन आदिकी व्याख्या है ।

४—यहाँ नामनिरुक्तिके साथ कब, किस देशमें, किस नक्षत्र, तिथि-वारादिमें किन-किन अवसरोंपर किन-किन कामनाओंकी पूर्तिके लिये कौनसे नाम लिये जायँ, यह भी निरूपित है । ये—दस अध्याय बड़े ही अद्भुत तथा रम्य हैं ।

५—यहाँ भगवान् शिवके नामोंके निर्वचन हैं, यद्यपि ये शिव-विष्णु दोनोंके ही नाम हैं ।

६—यहाँ बहुत-से नाम व्याख्यात हैं ।

७—गीताप्रेसद्वारा भी यह प्रकाशित है और यहाँके संस्करणमें अधिकांश स्थलोंका निर्देश कर दिया गया है ।

८—अर्थात्—आश्चर्य है कि भगवान्के 'नारायण' नामके होने तथा जीभके स्वातन्त्र रहनेपर भी लोग नरक-क्लेशमें कैसे चले जाते हैं ! × × ×

व्याकुलतासे भी जिनका नाम लेनेपर सब पातकोंसे मनुष्य इस प्रकार मुक्त हो जाता है, जैसे सिंहसे त्रस्त सामान्य मृगोंसे । जिसने एक बार भी 'हरि' ये दो अक्षर उच्चारण कर लिये, उसने मोक्षप्राप्तिके लिये कमर कस ली । भगवान् जनार्दनका नाम स्वप्नमें भी संस्पर्श होने (सुनने-सोचने-कहने आदि) से अक्षय पापराशिको नष्ट कर डालता है, फिर प्रत्यक्ष उच्चारण करनेवालोंके पुण्यका तो कहना ही क्या ? × × ×

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
तथैव कलुषौघस्य नामसंकीर्तनं हरेः ॥१६॥
क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरायासलक्षणम्।
क्व जपो वासुदेवस्य मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥१७॥
गच्छतां दूरमध्वानं क्लेशमूर्च्छितचेतसाम्।
पाथेयं पुण्डरीकाक्षनामसंकीर्तनं हरेः ॥१८॥
संसारसर्पसंदष्टविषचेष्टैकभेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं जप्त्वा मुक्तो भवेन्नरः ॥१९॥
ध्यायन् कृते जपन् मन्त्रैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संस्मृत्य केशवम् ॥२०॥
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्।
संसारसागरं तीर्त्वा स गच्छेद् वैष्णवं पदम् ॥२१॥
विज्ञातदुष्कृतिसहस्रसमावृतोऽपि
श्रेयः परत्र परिशुद्धिमभीप्समानः।
स्वप्नान्तरे नहि पुनश्च भवं स पश्ये-
न्नारायणस्तुतिकथापरमो मनुष्यः ॥२२॥

इसके अगले अध्यायोंके कुछ श्लोक जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—वे इस प्रकार हैं।

प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥१३॥
यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः ॥१२॥
गङ्गास्नानसहस्रेषु पुष्करस्नानकोटिषु।
यत्पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद् हरौ ॥१८॥
प्राणायामसहस्रेषु यत्पापं नश्यति ध्रुवम्।
क्षणमात्रेण तत्पापं हरेर्ध्यानात् प्रणश्यति ॥१९॥
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तते ॥२२॥
कलौ कृतयुगस्तस्य कलिरेव कृते युगे।
हृदये यस्य गोविन्दः यस्य चेतसि नाच्युतः ॥२३॥
लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः ॥२९॥
(२ । ३५ । ४४)

९—आगकी शान्तिके लिये जल पर्याप्त है। अन्धकारकी समाप्तिके लिये सूर्योदय काफी है। इसी प्रकार दोष-पापोंके समूहकी समाप्तिके लिये श्रीहरिका नामसंकीर्तन सर्वथा पर्याप्त है। कहाँ तो पुनरागमनका क्लेश प्रदान करनेवाला स्वर्ग और कहाँ मुक्तिका परम श्रेष्ठ कारण भगवन्नामका जप? भला, इनकी तुलना क्या हो सकती है? संसारकी सुदूर यात्रा करनेवाले तथा क्लेश-मूर्च्छित प्राणियोंके लिये भगवान् कमलनयन श्रीहरिका नाम ही मार्गका पाथेय है। संसार-सर्पके द्वारा बार-बार डँसे गये विषमूर्च्छित प्राणीकी सच्ची दवा भगवन्नाम ही है। वह 'कृष्ण' इस वैष्णव-मन्त्रको जपकर तुरंत विषक्लेशसे मुक्त हो जाता है। सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें मन्त्रोंके जपसे, द्वापरमें पूजाके द्वारा मनुष्य जो कुछ फल पाता है, वह सब कलियुगमें केवल केशवके स्मरणसे ही सुलभ हो जाता है। जिसके जीभपर 'हरि' ये दो अक्षर वर्तमान हैं, वह संसारसागरको पारकर परम वैष्णवपदको प्राप्त कर लेता है। मनुष्य भली प्रकार जाने हुए हजारों पाप तथा पापियोंसे घिरा क्यों न हो, पर यदि वह पारलौकिक कल्याण एवं शुद्धिकी इच्छा करे तो नारायणकी स्तुति-कथापरायण होनेपर पुनः संसारका मुँह नहीं देख सकता।

१०—लापरवाहीसे यज्ञादिके अनुष्ठानोंमें जो त्रुटि या कमी रह जाती है, वह सब भगवान्के स्मरणसे पूरी हो जाती है—ऐसा श्रुति कथन है। जो सर्वथा दुर्लभ है, जो किसी भी प्रकार प्राप्य अथवा साध्य नहीं है, जो बात मनमें भी नहीं आती, वह सब भी भगवान् अपना ध्यान करनेवालेको बिना माँगे ही दे देते हैं। जो पा हजारों बार गङ्गा-स्नान तथा करोड़ों बार पुष्कर-स्नानसे दूर होता है, वह भगवान्को याद करते ही भाग खड़ा होता है। जो पाप हजारों बारके प्राणायामसे दूर होता है, वह भी क्षणभरके भगवद् ध्यानसे निश्चय ही दूर हो जाता है। भगवान्को क्षणभ भूल जाना ही सबसे बड़ी मूर्खता, अन्धता, हानि तथा चूक समझ चाहिये। जो भगवान्का स्मरण करता है, उसके लिये कलियुगमें सत्ययुग ही बरतता है; पर जो भगवान्का स्मरण नहीं करता, उस लिये सत्ययुग भी सर्वथा कलियुग ही है। जिनके हृदयमें कम समान श्यामवर्ण भगवान् जनार्दन विराजते हैं, उनके लिये स विजय, क्षेम और लाभ हैं; उनकी हार कहाँ? कैसी?

न च दुर्वाससः शापो वज्रं चापि शचीपतेः ।
हन्तुं समर्थौ हि सखे हृत्कृते मधुसूदने ॥३२॥
मेरुमन्दरसंकाशो राशिः पापस्य कर्मणः ।
केशवस्मरणादेव तस्य सर्वं विनश्यति ॥४१॥
विद्वेषादपि गोविन्दं दमघोषात्मजः स्मरन् ।
शिशुपालो गतस्तत्त्वं किं पुनस्तत्परायणः ॥५४॥

(अध्याय २२२)

आराध्य विधिवद्देवं हरिं सर्वसुखप्रदम् ।
प्राप्नोति पुरुषः सद्यस्यद् यत् प्रार्थयते फलम् ॥

(२२६ । ४९)

मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः ।
……अनिश्चला हरौ भक्तिरेतदीश्वरचिन्तनम् ॥

(२२९ । २२)

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः" ॥ ९ ॥

(१ । ३५ । ४९)

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०)

अंग्रेजीके एक कविकी एक बड़ी ही सुन्दर उक्ति है—'इस संसारमें बहुत अधिक बातें, जिनकी संसार कल्पना भी नहीं कर सकता, प्रार्थनाके द्वारा पूरी होती हैं।' इस कथनसे सिद्ध होता है कि प्रार्थना एक बहुत बड़ी शक्ति है।

प्रश्न स्वाभाविक है कि प्रार्थना जो अपने-आपमें एक बड़ी शक्ति है, किस प्रकार पहचानी जाय। फिलिप्स ब्रुक नामके एक अंग्रेज विद्वान्ने 'प्रार्थना'की एक सीधी-सी परिभाषा प्रस्तुत की है कि वह केवल एक कामना है, जो ईश्वरकी ओर प्रेषित की जाती है। हमारे यहाँ अनेक मनीषियोंने 'नवधा भक्ति' पर आस्था प्रकट करते हुए 'प्रार्थना'का एक व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। किंतु आजकी नयी पौद, जो आसानी और आरामकी खोजमें रहती है, प्रायः सुविधासे ही संतोष पा सकती है। अतएव एक अंग्रेज विद्वान् हार्नके स्वरमें स्वर मिलाकर हम प्रार्थनाको 'विश्वास' की आवाज या पुकार कह सकते हैं।

प्रार्थना हृदयकी भूख है अथवा आत्माकी पुकार है। प्रार्थना हृदयसे निकले, तो वह अन्धकारमें प्रकाश दिखाती हुई मानवको भगवान्से मिला देती है। जिस प्रार्थनाका अन्तरसे सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता और जो केवल अधरोंपर जन्म पाती है, वह परमात्मातक पहुँचनेवाले टेलीफ़ोनके तारोंपर ठीकसे नहीं दौड़ पाती। प्रार्थनाके प्रभावपर विचार करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंसने कहा है—'जब मन और वाणी एक होकर कोई चीज माँगते हैं, तब उस प्रार्थनाका जवाब जरूर मिलता है।'

अतः यह सिद्ध है कि जीवनमें प्रार्थनाका विशेष महत्त्व है। केवल प्रार्थनासे ही मानवका जीवन रोचक और आनन्द भोगने योग्य बनता है। मनुष्य प्रार्थनाके द्वारा निराशासे मुक्ति पानेमें समर्थ होता है। महात्मा गाँधीके अनुसार—'प्रार्थना आत्माके लिये उससे कहीं अधिक आवश्यक है, जितना भोजन देहके लिये।'

प्रार्थना एक कृतज्ञता है, जिसके द्वारा व्यक्ति परमपिताका ऋण चुकाना चाहते हैं। वह मानव-जीवनकी शोभा है। प्रार्थनाके द्वारा लोग प्रभुसे सौख्य और उत्कर्षकी कामना तो करते ही हैं, उनके द्वारा वे उसका गुणानुवाद करते हुए उनके द्वारा किये गये अमित उपकारोंके लिये किंचित् कृतज्ञता भी प्रकट करते हैं। किंतु भगवान्के गुणगानमात्रसे यह ऋण चुकाया नहीं जा सकता। स्वामी दयानन्द सरस्वतीका कथन है—'परमात्मा प्रार्थनाका नहीं, प्रेमका

११—मित्र ! भगवान्को भली प्रकार हृदयमें धारण कर लेनेपर इन्द्रका वज्र अथवा महर्षि दुर्वासाका शाप भी किसी प्रकारका कोई अनिष्ट-अमङ्गल नहीं कर सकता। [इस प्रकारकी घटनाएँ महर्षि च्यवन, राजर्षि अम्बरीष आदिके सामने घटी थीं।] भगवान् केशवके स्मरणसे मेरु अथवा मन्दराचलके समान पापराशिका भी नाश हो सकता है। जब दमघोषका पुत्र शिशुपाल शत्रुतासे भी गोविन्दका स्मरण करके उन्हें पा गया तो उनको श्रद्धासे याद करनेवालेका फिर क्या कहना ? सर्वसुखदायक भगवान् श्रीहरिकी आराधना करके मनुष्य जो-जो वस्तुएँ चाहता है, सब शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। शुद्ध मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके निश्चल भावसे भगवान्का स्मरण करना ही सबसे बड़ा तप है। प्राणी पवित्र हो, अपवित्र हो या किसी भी अवस्थामें हो, जो भगवान् कमलनयन श्रीकृष्णका स्मरण करता है, वह बाहर-भीतर सब प्रकारसे शुद्ध है।

भूखा है ।' परमात्माके प्रति प्रेम हम मानवताके साथ प्रेम करते हुए ही पूरा कर सकते हैं । उसतक पहुँचनेका साधन यही है कि हम उसकी रचनासे प्रेम करें । मानवताकी सेवाका अर्थ है—भगवान्की सेवा । आराधनाका सच्चा मार्ग यही है कि हम पहले अपने चतुर्दिक् प्रेमका प्रकाश छिटकायें ।

संसारके सभी धर्मोपदेशकोंने प्रार्थनाका सार्वभौम महत्त्व केवल एक बड़े बोधको लेकर स्वीकार किया है । उन्हें इस बातका ज्ञान—ध्यान रहा है कि मानव जगतीके बीच ईश्वरका सजीव संदेश है और उसका जीवन एक पवित्र उत्तरदायित्व । इस अनुभूतिको लेकर कोई भी प्राणी जीवनकी उच्च भूमिका प्राप्त कर सकनेमें समर्थ होगा ।

परमेश्वर समस्त प्रकाश और शक्तियोंका स्रोत है । आत्मापर पड़े हुए मोहरूप आवरणको हम दृढ़ निश्चयसे हटाये रक्खें । तब ईश्वरके प्रति दृढ़ आस्था लेकर हम उसकी शरणमें आत्म-समर्पण कर दें । पवित्र विचार, स्वार्थ-त्याग एवं प्रेम-भावका साधन इस समर्पणको पूर्णता प्रदान करते हैं । योगिराज अरविन्दका कथन है—'पुरुषको जाग्रत् करके पुरुषोत्तम बनाना—यही सब साधनका प्रयोजन है ।'

आत्म-समर्पणके साथ सच्ची प्रार्थना मानव-जीवनका प्रमुख सहारा है और उसे पूर्ण मानसिक शान्ति प्रदान करनेवाली अमोघ ओषधि है । यह मानसिक शान्ति ही प्रार्थनाका सच्चा पुरस्कार है । सब तर्कोंसे परे ईश्वरमें दृढ़ आस्था रखनेवाला व्यक्ति प्रार्थनाके द्वारा कोई नश्वर वस्तु नहीं माँगता । हज़रत ईसाने कहा है—'तुम माँगते हो और तुम्हें नहीं मिलता; क्योंकि तुम गलत चीज माँगते हो ।'

प्रार्थनाके यथार्थ स्वरूपतक पहुँचनेके लिये जनसाधारणमें अभ्यास अत्यावश्यक है । पवित्र विचार, स्वार्थ-त्याग, प्रेम-भाव आदि सोपानोंसे क्रमशः अच्छे संस्कार प्राप्त किये जा सकते हैं । रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भगवान्को श्रममें देखा है । स्वामी रामतीर्थका भी उपदेश है—'देशके भूखे नारायणोंको और परिश्रम करनेवाले विष्णुओंको पूजो ।' तभी स्वामी विवेकानन्दने कहा है—'मनुष्य ही परमात्माका सर्वोच्च साक्षात् मन्दिर है । इसलिये साकार देवताकी पूजा करो ।'

अफ़लातूनका कथन है—कार्लमार्क्ससे बहुत भिन्न—'वह एक विद्वान् व्यक्ति था, जिसने ईश्वरका आविष्कार किया ।' ईश्वरका भय लेकर हम जीवनमें अपने कर्तव्यको पहचानकर प्रार्थनाकी ओर अग्रसर होते हैं । प्रार्थना मानवको अपार शान्ति और ईश्वरीय शक्ति प्रदान करती है । उस ओर धीरे-धीरे बढ़कर निरन्तर बढ़ते रहनेकी आवश्यकता है; क्योंकि वह जीवनका परम लक्ष्य है । प्रार्थनाके द्वारा प्राप्त होनेवाली शान्तिसे कोई कभी अघाता नहीं है ऊबता नहीं है । प्रार्थना लाखों-करोड़ों व्यक्तियोंकी आत्माका अङ्ग है । उसके द्वारा ही यह जीवन और यह जगत् जीने योग्य बनता है । मानव-शक्तियोंकी शिथिलताका ज्ञान प्रार्थनाद्वारा नव-नव शक्तियोंसे सम्पन्न होता है—यह एक निर्विवाद सत्य है, अतर्क्य तथ्य है ।

जब प्राण सिधा रहे हों

चलती हो सुगन्धित-शीतल-मन्द हवा, तरु झूमते जा रहे हों ।
खग कूज रहे हों वृंदावनमें, वर पंख मयूर उठा रहे हों ॥
कल गाती हुई बहती हो नदी, उसमें जलपक्षी नहा रहे हों ।
बहु रंग-बिरंग खिले सुमनोंपर मत्त शिलीमुख गा रहे हों ॥
यमुना-तट, नीचे कदम्ब खड़े मुरलीधर बंशी बजा रहे हों ।
गलबाहीं दिये खड़ी राधिका हों, घन छाँह घनी किये जा रहे हों ॥
सब ओर हो शान्ति, इसी छबिसे उरमें लली-लाल समा रहे हों ।
अभिलाषा यही—यह आँखोंमें दृश्य रहे जब प्राण सिधा रहे हों ॥

—माधवशरण एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

संतोष और सुख

(लेखक——श्रीगोकुलप्रसादजी पाठक)

गोधन, गजधन, बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥
(कबीर)

'तोष' शब्दका अर्थ है 'प्रसन्नता' और यह शब्द मनकी तृप्तिका द्योतक है। तोष-शब्दके आदिमें सम् जोड़कर 'संतोष' बनाया गया है। सन्‌का अर्थ है सम्मान या गौरवके साथ प्राप्त करना। अतः संतोषका अर्थ है—'मनकी वह वृत्ति या अवस्था जिसमें मनुष्य अपनी वर्तमान दशामें ही पूर्ण सुखका अनुभव करता है।' मनकी इसी संतोषपूर्ण अवस्थाको शरीरके लिये सुखकारी और जीवके लिये कल्याणकारी माना गया है।

कबीर साहबने (अपने) उपर्युक्त दोहेमें बतलाया कि गाय, हाथी, घोड़े और रत्नोंके धनको धन नहीं मानना चाहिये। ये धन भौतिक धन हैं और इनका मनुष्यके शरीर अथवा जीवसे कोई सम्बन्ध नहीं है। धनको कबीर साहबने तीन चेतन (गो, गज और बाजि) तथा एक जड (रतन) नामोंमें सीमित कर दिया है। श्रीतुलसीदासजीने भी 'जड चेतन गुनदोषमय बिस्व कीन्ह करतार' से संसारकी सारी विभूतियोंका संकेत किया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जो अपने पशुओं या रत्नों आदिको अपना धन मानता है और उस धनसे मनको तृप्त करना चाहता है, वह उसकी भूल है। मनकी पूर्ण तृप्ति संतोष-धनसे ही हो पाती है। संतोष-धनके सामने अन्य समस्त धन 'धूरि' समान हैं। 'धूरि'का अर्थ है—वह पदार्थ जो किसी भी कामका न हो अथवा जिसका कोई मूल्य न हो। कबीर साहबका कहना है कि जब मनुष्य संतोष-धनकी प्राप्ति कर लेता है, तब संसारके समस्त धन (जो भी जड अथवा चेतनरूपमें सांसारिक धन माने जाते हैं) उसके लिये व्यर्थ हैं।

धनकी प्राप्तिका आधार है—लोभ और संतोष-प्राप्तिका आधार है त्याग। लोभ दो प्रकारका होता है—एक लोभ तो यह है कि अन्यत्र पड़ी हुई वस्तु मेरे पास आ जाय अथवा दूसरेकी वस्तु मुझे मिल जाय। दूसरा लोभ वह है कि मेरी वस्तु मेरे ही पास रहे अथवा मेरी वस्तु किसी दूसरेको किसी अवस्थामें भी न मिल पाये। संसारका धन और निर्धन इन्हीं आधारोंपर होता है। रहीम कविने इन दोनों प्रकारोंके लोभको बुरा बतलाया है—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उन ते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥

माँगनेवाला लोभके आधारपर यह चाहता है कि दूसरेके पासकी वस्तु मुझे मिल जाय और इनकार करनेवाला मनुष्य लोभके ही आधारपर कहता है कि 'नहीं, मैं इस वस्तुको नहीं दे सकता।' न देनेवालेको माँगनेवालेसे भी बुरा बतलाया है, इसलिये कि उस वस्तुको कुछ दिन रखनेके बाद भी उसको संतोष अथवा तृप्ति नहीं हुई। जब लोभके आधारपर मनुष्य धनका संचय करनेवाला हो जाता है, उसको किसी भी दशामें पूर्ण संतोष प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि सम्पत्ति अथवा धनके पीछे मन दौड़ता जाता है और सम्पत्ति सदा आगे-आगे भागती जाती है। मन उसको पूर्णरूपेण पकड़ नहीं पाता और सदा असंतुष्ट ही बना रह जाता है।

बढ़त-बढ़त संपति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जात।
घटत-घटत पुनि ना घटै, बरु समूल कुम्हिलात॥

तुलसीदासजीने तो कहा है—

दिएँ पीठि पाछें लगै, सन्मुख होत पराइ।
तुलसी संपति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गँवाइ॥

अर्थात् सम्पत्ति शरीरकी छायाके समान है। यदि यह छाया आगे-आगे चले और आप उसके पीछे-पीछे चलें तो वह भागती ही जाती है और यदि आप इसी छायाको पीछे कर दें और आप आगे-आगे दौड़ें तो यह छाया आपके पीछे दौड़ने लगती है। सम्पत्तिके पीछे दौड़नेसे सम्पत्ति नहीं मिलती और सम्पत्तिका त्याग करनेसे सम्पत्ति मिलती है—यों समझकर सम्पत्तिको छायाकी तरह जानना चाहिये। आगे-पीछे चलनेवाली अस्थायी सम्पत्तिका त्याग करनेमें ही संतोष है। इस सम्पत्ति-छाँहको छोड़कर संतोषपूर्वक बैठकर दिन बिताओ। लोभका आधार है—आशा। मनुष्यको आशा न हो तो उसको लोभ भी नहीं हो सकता। अप्राप्य वस्तुके लिये कभी किसी मनुष्यको

लोभ नहीं होता । तुलसीदासजीने तो आशाको भी बुरा बतलाया है—

> तुलसी अद्भुत देवता आसा देबी नाम ।
> सेयें सोक समर्पई, बिमुख भएँ अभिराम ॥

अर्थात् आशा नामकी एक अद्भुत देवी है । इस आशादेवीकी सेवा की जाय तो वह शोक (दुःख) समर्पित करती है और यदि इस आशा देवीसे दूर रहिये तो अभिराम (सुख) मिलता है । तात्पर्य यह है कि किसी वस्तुकी प्राप्तिका निराधार साधन नहीं किया जा सकता । यदि आपकी आशाएँ सीमित होंगी तो आपका लोभ भी सीमित होगा । यदि आपका लोभ सीमित है तो आपकी इच्छाएँ सीमित हैं और यदि आपकी इच्छाएँ सीमित हैं तो आपके संतोषमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी ।

मनुष्यके सुखका आधार है—उसकी तृप्ति अथवा संतोष । मनुष्यका प्रयत्न इस बातका होना चाहिये कि वह हर अवस्था और हर दशामें संतुष्ट रहे अथवा किसी वस्तुका लालच करके उसके पीछे परेशान न हो । यदि कोई मनुष्य किसी वस्तुकी प्राप्तिको अपना ध्येय बनाकर उसके लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है तो जबतक वह उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये परिश्रम करता रहता है उसके चित्तकी व्यग्रता नहीं जाती । उसका मन उसी वस्तुमें लगा रहता है । सफलता पानेपर कुछ अस्थायी सुखका अनुभव कर पाता है और असफलता प्राप्त करनेपर जीवनपर्यन्त दुखी, उत्साहहीन, अपमानित और अतृप्त बना रहता है । इसीलिये विद्वानोंने इच्छाओंका दमन, इन्द्रियोंपर अधिकार, लोभका त्याग और निष्काम कर्म करनेका आदेश दिया है । यदि आप अपने काममें रत रहेंगे और आपको किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही नहीं रहेगी तो उसके परिणाम (सफलता-असफलता) हानि-लाभमें आपके लिये किसी सुख-दुःखका प्रश्न ही नहीं उठता । हर अवस्थामें अपनेको संतुष्ट समझनेमें ही सुख है ।

तुलसीदासजीने कहा है—

> लखइ अघानो भूख ज्यों, लखै जीति में हारि ।
> तुलसी सुमति सराहिए, मग पग धरइ बिचारि ॥

अर्थात् जो भूखा (अतृप्त) रहता हुआ भी अपनेको तृप्त समझता है अथवा किसी वस्तुको न पाकर भी उस वस्तुके अभावसे चिन्तित न होकर संतोष ही रखता है और हार-जीत एक समान मानता है, वही मनुष्य अच्छी बुद्धिवाला है और वही प्रशंसनीय है । तात्पर्य यह है कि अभावका आभास होनेसे ही कामना अथवा इच्छा होती है और इच्छाकी पूर्ति अभावके कारण हो नहीं पाती । फिर इच्छाकी पूर्ति न होनेसे मनुष्य केवल असंतोषका ही अनुभव करता है । वह संतोष तबतक नहीं पा सकता, जबतक उसकी उस इच्छाकी पूर्ति न हो जाय अथवा जबतक वह अपनी चाही हुई वस्तुको पा न ले । अप्राप्तिसे असंतोष और असंतोषसे दुःख, व्यग्रता, चिन्ता तथा मलिनता उत्पन्न होती हैं ।

इस तथ्यका स्पष्टीकरण गणितका सहारा लेकर एक बड़े रोचक ढंगसे इस प्रकार किया जाता है—

$$\frac{\text{प्राप्ति}}{\text{इच्छा}}=\text{संतोष}$$

अर्थात् प्राप्तिको इच्छासे भाग दे तो संतोषकी मात्राका पता चलता है । उदाहरणके लिये यदि किसी व्यक्तिकी इच्छा है कि उसको १००) रुपये प्राप्त हों, परंतु उसको प्राप्त होते हैं केवल ५०) रुपये तो वह अर्ध-संतुष्ट है अथवा उसका संतोष है—

$$\frac{\text{प्राप्ति}\quad ५०}{\text{इच्छा}\ १००}=\frac{१}{२}\ \text{संतोष}$$

उस मनुष्यको पूर्ण संतोष केवल दो ही दशाओंमें मिल सकता है । पहली दशा तो यह है कि वह अपनी प्राप्तिको ५०) रुपयोंसे बढ़ाकर १००) रुपयोंतक लाये और दूसरी दशा यह है कि वह अपनी इच्छा अर्थात् १००) रुपयोंसे घटाकर ५०) रुपयोंपर पहुँचा दे । जब प्राप्ति इच्छाके ही बराबर होती है, तब पूर्ण संतोषका आभास होता है । जब प्राप्ति इच्छासे भी आगे बढ़ जाती है, तब मनुष्यका संतोष सीमासे आगे बढ़ जाता है । प्राप्ति अपने अधिकारकी बात नहीं है । इच्छाओंका घटाना अपने अधिकारकी बात है । जब प्राप्तिकी मात्रा इच्छाकी मात्रासे अधिक हो जाती है, तब मनुष्यका संतोष उसके वाञ्छित संतोषसे भी अधिक हो जाता है । वह जितना संतोष चाहता है, उससे भी अधिक संतोष उसको प्राप्त होता है । वह over-satisfied हो जाता है । इसीलिये आचार्योंने पूर्ण संतोषके लिये प्राप्तिके साधनोंपर अधिक जोर न डालकर केवल इच्छाओंको ही दमन करनेका आदेश दिया है । यदि आप अपनी इच्छाओंका ही दमन करते जायँगे तो उत्तरोत्तर आपकी प्राप्तिकी मात्रा इच्छाकी मात्रासे अधिक

ही रहेगी और आपका संतोष बढ़ता ही जायगा। इच्छा न होनेसे किसी भी वस्तुके अभावमें आपको दुःखका आभास हो ही नहीं सकता और यदि इच्छाओंकी मात्रा प्राप्तिकी मात्रासे उत्तरोत्तर घटती ही जायगी तो संतोष अथवा सुखकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी। एक समय ऐसा आयगा जब संतोष-ही-संतोष दिखायी पड़ेगा और असंतोष अथवा दुःखका नितान्त अभाव हो जायगा। वही है पूर्ण संतोष, वही है पूर्ण सुख और उसीको कहते हैं—विराग अथवा विरक्ति।

शान्ताकारं भुजगशयनम् !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभास्कर, दर्शनकेसरी)

'शान्ताकारं भुजगशयनम्'

भगवान् शान्तिस्वरूप हैं। वे भुजंग अर्थात् सर्पकी विकट शय्यापर शयन करते हैं। सर्प ! कितना भयानक ! कितना विषैला ! कितना चञ्चल ! सर्पकी कितनी तीव्र गति है। जितना तेज विष, उतनी ही तेज गति। यदि कोई सर्पको देख लेता है तो अनायास ही भयसे काँप उठता है। डरके कारण उसके समीप नहीं जा पाता।

उधर भगवान् हैं, जो भुजंगकी भयानक शय्यापर सदा ही शयन करते हैं। किंतु भगवान्के इस शयनमें हम सबके लिये गहन संदेश भरा पड़ा है।

वह क्या है ? सर्पकी शय्यापर शान्ति, यह क्योंकर सम्भव है ?

जिस व्यक्तिके नीचे सदा खतरा-ही-खतरा हो, क्या वह कभी शान्त और अविचलित रह सकता है ? पर भगवान्ने उसी खतरेकी शय्या बनायी है। अपने नीचे असंख्य सांसारिक खतरोंकी परवा न करते हुए भगवान् सदा-सर्वदा स्वकर्मरत रहते हैं।

'शान्ताकारं भुजगशयनम्' यह प्रतीक जीवनका एक मर्म प्रकट करता है। आप उसका सही और गुप्त तात्पर्य समझिये और जीवनमें उतारिये।

भगवान् इस सूत्रके द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्यका यह सांसारिक जीवन शत-शत समस्याओं, जिम्मेदारियों, कर्तव्यों, कष्टों, मुसीबतों, परीशानियों और खतरोंसे घिरा हुआ भयंकर काले विषधर सर्पकी तरह है। यहाँ पग-पगपर अड़चनें और परीशानियाँ हैं। आपका एक कष्ट बीतता नहीं कि दूसरा मुँह बाये आपके समक्ष आ खड़ा होता है। आप सोचते हैं कि इस कष्टके बाद हमारे समस्त कष्ट दूर हो जायँगे, किंतु उसके समाप्त होते ही नयी परीशानियाँ आपको क्षत-विक्षत कर देती हैं।

यह सांसारिक जीवन मुसीबतोंसे भरा है—कभी निकट सम्बन्धियोंकी जिम्मेदारियाँ हैं तो कभी आर्थिक, व्यवसाय-सम्बन्धी, जीविका-उपार्जन-सम्बन्धी परीशानियाँ !

पर भगवान्की तरह सच्चा कर्मयोगी वही है, जो सर्पपर भी शासन करता है—परीशानियोंपर काबू पाता है और एक-एक करके उन्हें दूर करता है।

परीशानियोंको देखकर सहम जाने या डर जानेवाला व्यक्ति भगवान्को बिल्कुल नापसंद है। भगवान्ने कहा है—

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तमः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥

(किष्किन्धाकाण्ड ६४ । ११)

(संसारके पुरुषो ! परीशानियोंसे) मनको दुखी नहीं रखना चाहिये। दुःखित होना मनुष्यका बड़ा भारी दोष है। (इस कमजोरीको परास्त कीजिये) दुःख पुरुषका पुरुषत्व नष्ट कर देता है, जैसे क्रुद्ध सर्प बालकका नाश कर देता है। अतः मुसीबतोंको दबाकर कष्टोंकी परवा न करते हुए समझदार आदमीको सदा-सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिये।

ऐसा कौन है, जिसके जीवनमें केवल हास हो, रुदनकी कटुता हो ही नहीं; आनन्द-ही-आनन्द हो और दुःखकी काली छाया हो ही नहीं; प्रकाश-ही-प्रकाश हो और अन्धकारकी कालिमा हो ही नहीं; मिठास ही हो, परीशानीकी कड़ुवाहट हो ही नहीं ?

संसारमें कोई भी ऐसा नहीं, जिसके जीवनमें मुसीबतें न आयी हों। सभी महान् व्यक्तियोंको कठोर संघर्षोंमेंसे होकर गुजरना पड़ा है। कष्टोंकी अग्नि-परीक्षामें तपकर ही वे कुन्दन बने थे।

आप कहते हैं कि हमारे शत्रु बहुत हैं, वे हमारा अहित करनेपर तुले हुए हैं।

भगवान् कहते हैं—

विंश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव । अति गाहेमहि द्विषः ॥ (ऋग्वेद २ । ७ । ३)

अर्थात् माना कि आपके मार्गमें परीशान करनेवाले शत्रु बहुत हैं; पर भगवान्‌की सहायता और विश्वासद्वारा आप इन्हें वैसे ही लाँघ सकेंगे, जैसे (नौकाद्वारा) जलकी नदियोंको लोग पार कर जाते हैं । (ऋग्० २ । ७ । ३)

भगवान्‌की कृपापर विश्वास कीजिये, आप सारे विघ्नोंको लाँघ जायँगे भगवत्कृपाके बलसे । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५८)

'अर्जुन ! मुझपर निर्भर करनेपर तुम मेरी कृपासे सारे कठिनाइयोंके किलोंको अनायास लाँघ जाओगे ।'

लोग छोटी-छोटी बातोंसे साहस खो देते हैं, आत्महत्याएँ कर बैठते हैं, मामूली-सी असफलतासे निराश हो जाते हैं । यह मनुष्यके पौरुषका अपमान है । परीशानियाँ क्षणिक होती हैं और समयपर स्वयं दूर होने लगती हैं । यदि हम धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्यपर ईमानदारीसे डटे रहें, तो ये परीशानियाँ समयके साथ स्वयं नष्ट हो जाती हैं । आत्महत्या महापाप है, दुर्लभ मानवजीवनका अपमान है—

आयुर्नसुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते ।
उत्कर्षार्थे प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥

अर्थात् दुर्लभ आयुको पाकर मनुष्यको कभी अधोगतिके कार्य (जैसे निराश होना, आत्महत्या, पर-अहित, पापकर्म, शोकातुरता, बेरोजगारीसे उद्विग्नता, रोगसे आतुरता) नहीं करने चाहिये । धैर्य धारणकर मनुष्यको सदा ही पुण्यकर्मोंसे अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

मानवसे दानव नहीं, देवता बनिये । अपने देवत्वके शुभ कर्मोंद्वारा ही परीशानियोंको दूर कीजिये । जो दृढ़निश्चयी होते हैं, वे कठिन-से-कठिन परीक्षामें भी पूर्ण सफल हो जाते हैं । वीरताका गुण हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति है ।

जब परीशानी आती है, तब प्रायः हम घबरा उठते हैं । घबराहटसे मन अशान्त हो उठता है । हमारी समस्त शक्तियाँ इधर-उधर बिखर जाती हैं । हमारी गुप्त आध्यात्मिक शक्तियोंका क्षय होने लगता है । अतः संकट आनेपर अपने मनकी घबराहटको दूर रखिये । बिल्कुल शान्त हो जाइये । शान्त होनेसे मनका संतुलन ठीक हो जायगा, आप परीशानीको दूर कर सकेंगे ।

शान्त कौन है ?

यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥
अमृतस्पन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति ।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥
योऽन्तः शीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति ।
व्यवहारी न सम्मूढः स शान्त इति कथ्यते ॥
अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि ।
तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥
आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः ।
कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥

अर्थात् जिसने साधनाके द्वारा अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, जो समस्त प्राणियों और वस्तुओंके प्रति समदृष्टि रखता है, भविष्यके लिये प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखको न चाहता है और न छोड़ता है, उसे शान्त कहते हैं ।

जिसकी दृष्टि समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमपूर्ण और अमृतधाराके समान सुखद होती है, उसको शान्त कहते हैं ।

जिसका अन्तस्तल सदाके लिये शीतल हो चुका है, जो क्षणिक भावनाओंमें डूबने नहीं लगता, व्यवहार करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो जाता, उसे शान्त कहते हैं ।

चिरकालतक रहनेवाली आपत्तियोंमें और महाप्रलय उपस्थित होनेपर भी जिसके मनमें घबराहट नहीं होती, त्रिविध शरीरके प्रति जिसकी अहंता-ममता नहीं होती, उसे शान्त कहते हैं ।

जिसकी मनोवृत्तियाँ व्यवहार करते समय भी राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित नहीं होतीं, आकाशके समान निर्लेप और स्थिर रहती हैं, उसे शान्त कहते हैं ।

आप भी संकटके समय इसी प्रकार शान्त और अविचलित रहें । शान्ति धारण करनेसे आप अपने कष्टोंपर उपयोगी विचार कर सकेंगे । स्वयं कष्टोंसे बच निकलनेकी कोई युक्ति आपको सूझ जायगी । अशान्तको ही चिन्ता सताया करती है । घबराहटमें ही चिन्ता परीशान करती है । चिन्तासे मनुष्य कल्पनाके भूत पैदा कर लेता है । चिन्ताकी स्थितिमें जीवन-क्षितिजपर काले-काले घनघोर बादल छा जाते हैं, जिससे चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा नज़र आता है ।

शान्ति और धैर्यकी रोशनी आते ही मानसिक आकाशके किसी विदग्ध कोनेसे आशाकी छोटी-सी रजत-रश्मि उदित होती है और मनरूपी संसारमें व्याप्त अन्धकार तथा नैराश्यके कटु वातावरणको चीरती हुई धीरे-धीरे मानसतलपर उतरती है। उसके शुभ्र उल्लसित प्रकाशसे मनुष्यका खोया हुआ आत्मविश्वास और पौरुष जाग उठता है। जब मनुष्य साहसका संबल लेकर नये उत्साह और आत्मविश्वाससे प्रयत्न करता है, हारी हुई बाजीको फिर सम्हाल लेता है, कुश्तीकी आखरी पकड़ लड़ लेता है। और लीजिये, उसे एक छोटी-सी सफलता मिल भी गयी।

अब वह उससे बड़ी सफलताको प्राप्त करनेके लिये शान्त चित्तसे आगे बढ़ रहा है। अपने हथियार सम्हाल रहा है। कपड़ोंसे धूल झाड़ रहा है। उसका मुख-मण्डल स्वावलम्बन-शक्ति और सामर्थ्यसे दीप्तिमान् हो उठा है। वह निरन्तर संघर्षके लिये आगे बढ़ रहा है। अब उसके पग-पगमें विश्वास है। उसके शब्द-शब्दसे उत्साह प्रकट हो रहा है। वह विजयके महापथपर बढ़ रहा है।

आप **'शान्ताकारं भुजगशयनम्'** के मर्मको ग्रहण करें। संकटमें पूर्ण शान्त रहा करें। यह जीवन एक विषधर भुजंगके समान परीशानियोंसे भरा हुआ है; पर सच्चा पुरुषार्थी वही है, जो शान्त मनसे कर्मलीन रहता है, कदापि हार नहीं मानता।

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते।

(महा० शान्ति० १०३। १०)

याद रखिये, वीर-भुजाओंपर ही इस संसारकी सफलता आश्रित है।

नास्ति चात्मसमं बलम्

(महा० शान्ति० १७५। ३५)

याद रखिये, अपनेपर भरोसे-जैसी दूसरी कोई शक्ति नहीं है। उसे निरन्तर विकसित कीजिये।

देश-विदेशके सुप्रसिद्ध एवं प्राचीन कुछ शिवमन्दिर

(लेखक—श्रीश्यामसुन्दरलालजी)

महाशिवरात्रि भगवान् शंकरका पुण्य पर्व है। इस दिन शिव-भक्त जनता विशेषरूपसे शिवमन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌के दर्शन एवं पूजन करती है। इस अवसरपर लोग निराहार व्रत रखते हैं, पूर्ण रात्रि जागकर कीर्तन-भजन आदि करते हैं।

हिंदू-धर्म-ग्रन्थोंमें भगवान् शंकरकी बड़ी महिमा गायी गयी है। उन्हें देवाधिदेव महादेवकी उपमासे अलंकृत किया गया है। ये वेदोंके भी समाराध्य देव हैं। इनके जितने अनोखे काम हैं, उतने ही इनके नाम भी हैं। कोई इन्हें भगवान् शंकर, कोई शिव, कोई महेश, कोई बाबा विश्वनाथ, भोलेनाथ, कोई पशुपतिनाथ तो कोई महामृत्युंजय कहकर पुकारता है। पुण्य-सलिला भागीरथीकी हीरक-सी सोहती पुण्योज्ज्वल धारा इनके मस्तकसे निकलकर अग्रसर होती है। शिवपुराणमें एक स्थलपर उल्लेख किया गया है कि भगवान् शंकर मृत्युलोकमें बसे प्राणियोंके कल्याणार्थ स्थान-स्थानपर लिङ्गरूपमें निवास करते हैं। भारत और भारतके बाहर भी अनेकों प्राचीन शिवमन्दिर हैं; किंतु कुछ ऐसे भी हैं, जिनके बारेमें हमें ज्ञान नहीं हो पाया है; क्योंकि अधिकांश शिवमन्दिर एकान्त, शान्त पर्वतीय स्थानोंपर अवस्थित हैं। इससे इस बातकी पुष्टि होती है कि भगवान् शंकर एकान्तप्रिय थे। यहाँ कुछ मुख्य एवं प्रसिद्ध शिवमन्दिरोंके बारेमें, जिनके विषयमें जो कुछ भी जानकारी मिल पायी है, संक्षेपमें वर्णन की जा रही है—

श्रीकाशीविश्वनाथका मन्दिर

आदिकालसे पतित-पावनी काशी भगवान् शंकरके त्रिशूलपर स्थित, विश्वकी प्राचीनतम नगरी है। काशीको बनारस या वाराणसी नामोंसे भी पुकारा जाता है। श्रीकाशी-विश्वनाथके मन्दिरका उल्लेख पुराणोंमें भी पाया जाता है। कई बार विदेशी आक्रमणकारियोंद्वारा इस मन्दिरको विनष्ट करनेका प्रयास किया गया। औरंगजेबने प्राचीन विश्वनाथ-मन्दिरको ध्वस्त करके उसके स्थानपर एक विशाल मसजिद बनवा दी, जो आज भी उसी प्रकार खड़ी है। इस मसजिदमें हमेशा पुलिसका पहरा रहता है। चीनी यात्री ह्वेन सांगने लिखा है कि यह प्राचीन विश्वनाथ-मन्दिर सौ फुटसे भी अधिक ऊँचा था और उसमें शिवलिङ्गके अतिरिक्त शिवमूर्ति-विग्रह भी प्रतिष्ठित था। अठारहवीं शताब्दीके आरम्भमें इन्दौरकी महारानी अहल्याबाईने इस मन्दिरका पुनर्निर्माण करवाया।

मन्दिरके गुम्बजोंमें अनेक देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनमें सोना भरा हुआ है। कहते हैं कि इस मन्दिरके पुनर्निर्माणके कुछ ही वर्षों बाद इन मूर्तियोंमें सोना भरनेके लिये लाहौरके राजा रणजीतसिंहने साढ़े बाईस मन स्वर्ण दानमें दिया था। इसमें कार्तिकेय और गणेश, मयूरवाहिनी सरस्वती, नन्दी आदिकी मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। अपनी स्थापत्यकलाके लिये यह मन्दिर देशभरमें प्रसिद्ध है। विदेशोंमें यह 'गोल्डेन टेम्पल'के नामसे विख्यात है। इस समय काशीमें इस अति प्राचीन मन्दिरके अतिरिक्त दो और नये मन्दिरोंका निर्माण भी किया गया है, जिनमें काशी-हिंदू-विश्वविद्यालयके प्राङ्गणमें बना बिड़लाका नया विश्वनाथ-मन्दिर तो इस नगरीका एक मुख्य आकर्षण-केन्द्र बन गया है। इसके निर्माणमें कई लाख रुपये व्यय हो चुके हैं और अभीतक इसमें काम लगा ही हुआ है। दूसरा मीरघाटपर स्वामी श्रीकरपात्रीजीने बनवाया है। काशीके उत्तरमें एक महामृत्युंजयका मन्दिर और रामनगरके पास एक बड़े वेदव्यासका मन्दिर है, जिसमें विशाल शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित है। भक्तजनोंका विश्वास है कि काशीके कंकड़-कंकड़में भगवान् शंकरका वास है।

मथुराके शिवमन्दिर

मथुरा वैष्णवोंकी प्रधान नगरी होते हुए भी शिव-मन्दिरोंसे भरी पड़ी है। इस नगरीके चारों ओर भगवान् शंकर विराजमान हैं। पूर्वमें श्रीपिप्पलेश्वरनाथ, पश्चिममें श्रीभूतेश्वरनाथ, उत्तरमें श्रीरंगेश्वरनाथ और दक्षिणमें श्रीगोकर्णेश्वरनाथके मन्दिर हैं। कालिंदीके शृङ्गार-घाटपर स्थित श्रीपिप्पलेश्वरनाथका मन्दिर श्रीपिप्पलायन ऋषिद्वारा स्थापित है। पुराणोंके कथनानुसार क्षेत्रपति श्रीभूतेश्वरनाथके दर्शन जो यात्री नहीं करते, उनकी सम्पूर्ण यात्रा विफल हो जाती है। इस मन्दिरका निर्माण मधु दानवकी पराजयके उपरान्त हुआ था। श्रीरंगेश्वरनाथका मन्दिर कंस टीलेपर बना हुआ है। सबसे प्राचीन मन्दिर श्रीगोकर्णेश्वरनाथका है, जिसका निर्माण किसी इन्डो-सीदियन राजाने करवाया था। श्रीगोकर्णेश्वरनाथकी विशालकाय मूर्तिके एक हाथमें खप्पर तथा दूसरे हाथमें पुष्प है। इनके सिरपर भी बड़े-बड़े बाल, दाढ़ी और मूँछ दिखलायी गयी हैं।

उत्तराखण्डका केदारनाथ-मन्दिर

ऋषिकेशसे लगभग १३० मीलकी दूरीपर स्थित श्रीकेदारनाथके मन्दिरमें अन्धकार रहनेके कारण सदैव दीपक जलता रहता है। मथुराके श्रीभूतेश्वरनाथकी ही भाँति श्रीबदरीनाथके यात्रा करनेवाले भी श्रीकेदारनाथका दर्शन अवश्य ही करते हैं, अन्यथा केदारखण्डके लेखानुसार उनकी यात्रासे कोई पुण्य-लाभ नहीं होता।

मैसूरके शिव-मन्दिर

भारतके लगभग सभी शिवमन्दिरोंमें मैसूरके-जैसे शिवालय अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। हलेबिदका श्रीहायसलेश्वर मन्दिर भारतीय निर्माण-कलाका अनुपम नमूना है। इसकी दीवारोंपर पौराणिक गाथाएँ अङ्कित हैं। मन्दिरके चारों द्वारोंपर श्रीताण्डवेश्वरकी सुन्दर मूर्तियाँ हैं। शृंगेरीका ६०९ वर्ष पुराना विद्याशंकरका मन्दिर द्राविड़ स्थापत्य-कलाकी एक अनूठी देन है।

श्रीजटाशंकर महादेवका मन्दिर

बिजावर तथा छतरपुरकी सीमापर श्रीजटाशंकर महादेवका मन्दिर है। कहते हैं कि इसके पास बने हुए कुण्डके गरम जलका सेवन तथा स्नान करनेसे सभी प्रकारके पुराने रोग अच्छे हो जाते हैं।

काठमाण्डूका श्रीपशुपतिनाथका मन्दिर

हमारे पड़ोसी सनातनी हिंदू-देश नेपालकी राजधानी काठमाण्डूमें श्रीपशुपतिनाथकी स्वर्ण-निर्मित पञ्चमुखी मूर्ति है। मूर्तिके चारो ओर चाँदीका जंगला लगा हुआ है, जिसके पास उस मन्दिरके भट्ट-पुजारियोंके अतिरिक्त किसीको भी जानेकी आज्ञा नहीं है। इस मन्दिरमें उन्हीं पुजारियोंको रक्खा जाता है, जो आजीवन नमक नहीं खाते। शिवरात्रिके पर्वपर ही दर्शनार्थियोंको मूर्तिके पास जानेकी अनुमति मिलती है। इस अवसरपर भारतसे भी बहुत बड़ी संख्यामें भक्तजन काठमाण्डू जाते हैं और भगवान् पशुपतिनाथके दर्शन एवं पूजन कर पुण्य-लाभ करते हैं।

श्रीजागेश्वर महादेवका मन्दिर

सागर जिलेके बाँदकपुर गाँवमें श्रीजागेश्वर महादेवका प्रसिद्ध मन्दिर है। मन्दिरके सामने ही महादेवी पार्वतीका मन्दिर है। श्रीजागेश्वर महादेवमें शिवजीका स्वयम्भू लिङ्ग स्थापित है। शिवरात्रिके अवसरपर यहाँ एक बहुत बड़ा मेला लगता है।

श्रीकालहस्तीश्वरका मन्दिर

आर्कट जिलेमें स्वर्णमुखी नदीके किनारे श्रीकालहस्तीश्वरका भव्य मन्दिर है, जिसमें भगवान् शंकरका चौकोर शिवलिङ्ग प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि यह लिङ्ग एक विशेष वायुके झोंकेके रूपमें विराजमान रहता है; इसलिये इस शिवलिङ्गको वायुलिङ्ग कहा जाता है।

उज्जैनका महाकालेश्वर-मन्दिर

महाकालेश्वरका पंचमंजिला विशाल मन्दिर उज्जैनमें क्षिप्रा नदीके किनारे है। नीचेके भागमें श्रीमहाकालेश्वरकी बहुत बड़ी मूर्ति है और ऊपर श्रीओंकारेश्वरकी मूर्ति विराजमान है। कहते हैं कि इस मन्दिरका उद्धार ११ वीं शताब्दीमें राजा भोजने कराया था। मन्दिरके सामने नन्दीकी विशाल प्रतिमा है। महाकालेश्वरकी मूर्तिके पास ही गणेश-पार्वती तथा कार्तिकेयकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। महाकालको प्रतिदिन प्रातः चिताभस्म लगायी जाती है और मन्दिरमें अखण्ड दीपक प्रज्वलित रहता है।

श्रीभीमशंकर महादेवका मन्दिर

काशीपुर, नैनीतालके पास स्थित उज्जनक नामक स्थानमें स्थित इस अति प्राचीन शिव-मन्दिरका निर्माण प्राप्त हुए शिलालेखोंद्वारा सन् ३०२ आँका गया है। मन्दिरमें स्थापित मूर्ति बहुत बड़ी है।

शिवकाञ्चीका शिवमन्दिर

इस विशाल मन्दिरमें भगवती पार्वतीद्वारा प्रतिष्ठित एकाम्रनाथ क्षितिलिंग विराजमान है। इस क्षितिलिङ्गको प्रतिदिन प्रातः चमेलीके तेलसे स्नान कराया जाता है।

श्रीताड़केश्वर महादेवका मन्दिर

ताड़के वृक्षमेंसे शिवलिङ्ग निकलनेके कारण इनका नाम ताड़केश्वर महादेव पड़ा। इस मन्दिरकी परिक्रमा करनेके लिये एक सकरी गुफामेंसे होकर निकलना पड़ता है। यह बंगालमें कलकत्तेके समीप स्थित है। मन्दिरके सामनेके प्राङ्गणमें भक्तजन रात्रि व्यतीत करते हैं। कहा जाता है कि श्रीताड़केश्वर महादेव अपने भक्तोंको स्वप्नमें दर्शन देते हैं, जिससे उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। लोग मन्दिरके पासके वृक्षमें मोली आदि बाँधकर मान्यताएँ मानते हैं।

श्रीविश्वेश्वर महादेवका मन्दिर

श्रीविश्वेश्वर महादेवका मन्दिर विजयनगर, महीकांठाकी सीमापर स्थित है। इस हजारों वर्ष पुराने मन्दिरके पास एक सरोवर और एक गूलरका वृक्ष है। कहते हैं कि गूलरके पेड़की जड़ोंसे सरोवरको जल प्राप्त होता है। इस सरोवरकी एक विस्मयजनक बात यह भी है कि जब लोग जोरसे 'जय भोलेनाथ' या 'विश्वेश्वर महादेवकी जय' बोलते हैं तो इसका पानी ऊपरकी ओर उठता हुआ प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ता है।

श्रीबृहदीश्वरका मन्दिर

प्राचीन नगर तंजौरका सुप्रसिद्ध श्रीबृहदीश्वरका मन्दिर ११ वीं शताब्दीकी भारतीय निर्माण-कलाकी अनुपम कलाकृति है। मन्दिरके बाहर नन्दीश्वरकी लगभग १२ फुट ऊँची, ७ फुट चौड़ी तथा १६ फुट लंबी विशाल प्रतिमा है, जिसके दर्शन हेतु दूर-दूरसे लोग हजारोंकी संख्यामें आते हैं।

श्रीसोमनाथका मन्दिर

इतिहासप्रसिद्ध सागरकी लहरोंसे पादप्रक्षालन करानेवाले भव्य सोमनाथके मन्दिरके बारेमें सभीको थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य ही होगी। स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण तथा महाभारत आदि अनेक ग्रन्थोंमें इस मन्दिरकी महिमाका वर्णन है। इतिहासकार बरूनी, याकूत, काजविनी, दमिश्की, अबुलफिदा आदि प्रख्यात विद्वानोंने भी सोमनाथका अपनी कृतियोंमें बृहद् वर्णन किया है।

काठियावाड-प्रदेशान्तर्गत स्थित इस मन्दिरका जीर्णोद्धार कुछ ही वर्षोंपूर्व सरदार पटेलके सत्प्रयाससे पूर्ण हुआ था। इस मन्दिरको कई बार आक्रमणकारियोंने विनष्ट करनेका प्रयास किया। सन् १०२५ में सुल्तान यमीनुद्दौला महमूद इब्न सुबुक्तगीनने सोमनाथकी मूर्तिको तोड़ा और मन्दिरकी अनेक रत्नजड़ित स्वर्णप्रतिमाओंको लूटकर ले गया। सन् १२०४ में सुल्तान महमूद गज़नवीने इसे नष्ट-भ्रष्ट किया तथा अपार बहुमूल्य सामग्री लूटकर अपने साथ लेता गया। फिर सन् १२९७ में अलाउद्दीन खिलजी, सन् १३९५ में गुजरातके सुल्तान मुजफ्फरशाह तथा सन् १४१३ में अहमदशाहद्वारा यह ध्वंस किया गया। कहते हैं कि इस मन्दिरमें पहले शीशेकी ढलाईयुक्त सागौनके ५६ स्तम्भ थे। ये स्तम्भ बहुमूल्य नीलमणियों और रत्नोंसे जटित थे। मन्दिरके निकट लगभग दो सौ मन वजनकी एक विशाल स्वर्ण-निर्मित जंजीर लटकायी गयी थी, जिसके

द्वारा विशाल घंटेको ध्वनित किया जाता था । मन्दिरमें तीर्थयात्रियोंकी सुव्यवस्था और मन्दिरकी सेवाके हेतु एक हजार ब्राह्मण और भगवान् सोमनाथकी अर्चना करनेके लिये पाँच सौ युवा देवदासियाँ नियुक्त थीं । लोहनिर्मित सोमनाथकी आधारहीन प्रतिमाको देखकर लोग चकित हो जाया करते थे । इस चुम्बकीय आकर्षणके रहस्यका पता सुल्तान यमीनुद्दौला महमूद इब्न सुबुक्तगीनको अपने एक सामन्तके सुझावद्वारा लगा था, तभी तो वह इस अद्भुत प्रतिमाको गिरानेमें सफल हो पाया था । यह प्रतिमा चुम्बकीय छत्रद्वारा शून्यमें लटकी हुई थी । श्रीकाशीविश्वनाथके मन्दिरके पुनर्निर्माणकी ही भाँति इन्दौरकी महारानी अहल्याबाईने संवत् १८३१ में श्रीसोमनाथके नामसे एक नये मन्दिरका निर्माण करवाया, जिसके गर्भगृहमें भगवान् शंकरका ज्योतिर्लिङ्ग स्थापित है ।

विदेशोंमें स्थित शिवमन्दिर

भारत और नैपालके अतिरिक्त भूटान, लंका आदि देशोंमें भी शिव-मन्दिर हैं । इंग्लैंडके लन्दन नगरमें एक भव्य शिवमन्दिर है, जिसकी पूजाके लिये वहाँ भारतीय हिंदू पुजारी नियुक्त हैं । मुसलमानोंके तीर्थ मक्का-मदीनाके बीच मीना नामक स्थानमें भी तीन शिवलिङ्ग विराजमान हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वके कोने-कोनेमें देवाधिदेव महादेव शंकरके उपासकोंकी संख्या सर्वाधिक है, जिसका सजीव प्रमाण ये शिवमन्दिर हैं, जहाँ उनकी उपासना-आराधना भक्तगण अपने-अपने ढंगसे करते आये हैं । किसी भक्तके द्वारा कही गयी यह उक्ति कितनी सत्य प्रतीत होती है कि कंकर-कंकरमें भगवान् शंकरका वास है ।*

कठिनाइयाँ वरदान हैं

(लेखक—श्रीअनन्तविहारीजी ‘मृदुल’)

सच ही कठिनाइयाँ वरदान बनकर आया करती हैं । उदाहरणार्थ अपने देशपर गतवर्षके चीनी-आक्रमणको ही ले लीजिये । चीनी-आक्रमणके पहले हम किस प्रकार शान्तिका नारा बुलन्द कर रहे थे और सब ओरसे (युद्ध-आतङ्कसे) निश्चिन्त होकर निष्क्रिय-से बैठे थे । किंतु जब चीनने आक्रमण किया, तब सारा देश एक ही साथ सोतेसे जाग उठा । एक-एक नयी प्रेरणा और आत्मविश्वास लेकर हम चीनियोंको मार भगानेके लिये कमर कसकर तैयार हो गये और हमलोगोंकी ऐसी जागरूकता देखकर चीन भी हतोत्साह होकर एकतरफा युद्ध-विरामकी घोषणा कर पीछे हट गया । यदि चीनने आक्रमण नहीं किया होता तो हम केवल अपने घरेलू मामलोंमें ही उलझे रहते और अपनी सैन्य-शक्तिको सुदृढ़ बनानेकी ओरसे उदासीन ही रहते । किंतु भला हो चीनका, जिसने सीमा-अतिक्रमण करके हमलोगोंकी आँखें खोल दीं । आज हम अपने नेताओंके कथनानुसार चीनका सामना करनेके लिये बिल्कुल तैयार हैं । तब हमने देखा कि यह आक्रमण (कठिनाइयाँ या मुसीबतें) हमलोगोंके लिये एक वरदान सिद्ध हुआ ।

इसी प्रकार कोई भी कठिनाई कभी हमपर आती है और यदि हम उसका सामना करनेके लिये जी-जानसे पिल पड़ते हैं तो वह काफूर हो जाती है । किंतु कठिनाइयोंके आनेपर जो भाई घबरा जाते हैं, उन लोगोंके लिये एक ही तरीका है, जिसे अपनाकर वे कठिनाइयोंसे बच सकते हैं । यदि आपकी आदत कठिनाइयोंसे घबरानेकी है तो आपको चाहिये कि आप उनसे न केवल घबराना ही छोड़ दें, बल्कि कठिनाइयोंको आत्मविश्वास उत्पन्न करनेका सुअवसर समझें । जब आप इस दृष्टिकोणसे किसी भी कठिनाईको देखेंगे तो आप अनुभव करेंगे कि कठिनाइयाँ न केवल आपको नयी शक्ति देती हैं, नयी प्रेरणा देती हैं, आपको बलवान् बनाती हैं, बल्कि वे आपके व्यक्तित्वके विकासमें भी सहायक होती हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आप उपर्युक्त उदाहरणमें देख चुके हैं ।

एक मनोवैज्ञानिकने लिखा है कि जब भी आपकी सृजनात्मक शक्ति कार्यमें आती है, उसमें कठिनाइयोंपर विजय पानेकी बात मनुष्यको जितना अकथनीय आनन्द देती है, उतना जीवनका आनन्द अन्यत्र नहीं मिलता ।

---

* ‘कल्याण’के प्रसिद्ध ‘शिवाङ्क’में शिवमन्दिरोंका प्रचुर वर्णन है । पर ‘शिवाङ्क’ इस समय उपलब्ध नहीं है ।

जिस कार्य या मनोरञ्जनमें खतरा नहीं, कठिनाइयाँ नहीं, वह कार्य, वह मनोरञ्जन नीरस हो जाता है । आप चाहे घरकी सफाई कर रहे हों या बगीचा लगानेकी योजना बना रहे हों अथवा चित्र अंकित कर रहे हों, उसका सारा मजा इसमें है कि इन सब कार्योंको अंजाम देनेमें कठिनाइयाँ आती हैं और आपको उन कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त करनी है ।

बहुधा मानव सर्वदा ऐसे कार्य पसंद करता है, जिसमें कम-से-कम कठिनाई हो, जहाँ सरलता-ही-सरलता हो, जहाँ अधिक परिश्रम न करना पड़े । किंतु इस कार्य-पद्धतिसे कोई प्रशंसनीय तथा स्पष्ट कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता । ऐसे लोगोंको एक अत्यन्त सफल व्यक्तिकी मेजपर लटके हुए इस लक्ष्य-वाक्य—'सबसे कठिन कार्यको सबसे पहले करो' को ध्यानमें रखना चाहिये ! उससे इसका अभिप्राय पूछा गया तो उसने बताया कि काम टालनेकी मुझमें बुरी आदत थी । जिस काममें मेरा मन नहीं लगता था अथवा जो काम मुझे कठिन मालूम देता था, उसे दूसरे दिनके लिये टाल देता था । इससे मुझे अनेक तरहकी कठिनाइयोंमें पड़ना पड़ता था । तब विवश होकर मैंने यह लक्ष्य मेजपर लटका दिया और उसीके अनुसार कार्य करने लगा । जिन कार्योंको कठिन और दुस्साध्य समझकर मैंने टाल दिया था, उन्हें जब मैंने दृढ़ता और तत्परताके साथ हाथमें लिया तब मुझे अनुभव हुआ कि वे बड़े ही सरल कार्य हैं । यही मेरी सफलताका रहस्य है ।'

इस सम्बन्धमें स्वेट मार्डेनने अपनी पुस्तक 'जीवन और व्यवहार' में एक स्थानपर लिखा है—'यदि आपमें दुःखद कर्त्तव्योंको टालनेकी आदत है तो आज मनमें ठान लें कि जो हो चुका सो हो चुका, भविष्यमें आप हरगिज ऐसा नहीं करेंगे । कल प्रातः यह दृढ़ संकल्प करके कार्य आरम्भ कर दें कि आप किसी कर्त्तव्यको कलपर नहीं टालेंगे और जो कार्य आवश्यक हैं, उन्हें तुरंत सम्पन्न करेंगे, कठिनाइयोंके पहाड़का निर्भीकतासे सामना करेंगे । फिर आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि आपके दृढ़ संकल्प, स्थिरता और लौह-स्थिरताके सामने कठिनाइयों और विपत्तियोंके पहाड़ किस प्रकार धुआँ बनकर उड़ जाते हैं ।'

किसीने ठीक ही कहा है—'कठिनाइयाँ या तो ऐसी चक्की हो सकती हैं जो विश्वास, आशा और निश्चयको पीस डालती हैं, या फिर ऐसी सीढ़ियाँ बन जाती हैं, जिनपर पैर रखकर हम नवीन जीवन और साहसिक कार्यमें सिद्धि-लाभ कर सकते हैं ।' इन दोनों बातोंमेंसे हमारे लिये वह क्या सिद्ध होंगी, यह बात बहुत कुछ हमारे अपने-आपपर, किसी स्थिति-के सम्बन्धमें कुछ करनेके हमारे निश्चयपर निर्भर करती है ।

विफलता या कठिनाईके फलस्वरूप हमारे साथ बुरी-से-बुरी बात यह हो सकती है कि हम यह अनुभव करने लगें कि इसके लिये अपनेको अब और दुखी करना व्यर्थ है । फिर भला हम निराश और दुखी क्यों हों ? उक्त कथन निराशाको दूर करनेमें यथेष्ट सहायता देगा, किंतु निराशारूपी विषके प्रभावको नष्ट करनेवाली असली दवा तो किसी प्रकारके काममें जुट जाना है ।

जीवनमें जिसे सबसे सफल व्यक्ति समझते हैं, उससे प्रश्न पूछिये । वह आपको बतायेगा कि काम करते हुए उसने कभी भी यह नहीं अनुभव किया कि 'मैं बहुत काम कर चुका हूँ ।' वह तो निरन्तर काममें लगनसे जुटा रहा । बाधाएँ आयीं । वह और भी तेजीसे पग बढ़ाता हुआ निरन्तर चलता रहा । बस, एक दिन उसे स्वयं आश्चर्य हुआ कि अकस्मात् उसने अपना लक्ष्य पा लिया । किसी कविने ठीक कहा है कि 'सिद्धि तो है चरणदासी ।' जो आगे ही चरण बढ़ाता चलता है, सिद्धि अर्थात् सफलता उसके चरणोंको पूजती है ।

योग्यता या गुणोंकी कमीके कारण अधिक लोग असफल नहीं होते, बल्कि लगातार काम न करते रहनेके कारण असफल होते हैं । जब बाधाएँ आती हैं तो वे बड़े सामर्थ्यवान् भी बीचमें ही काम छोड़ देते और असफल हो जाते हैं ।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो काम करनेका ढंग जानते हैं । वे हर प्रकारकी कठिनाइयों और बाधाओंसे निकलकर अपने कामको पूर्णतातक पहुँचाकर ही दम लेते हैं । यह गुण उनकी दृढ़ताका चिह्न है । यह उनकी रचनात्मक योग्यताका प्रतीक है । वे जिस कामको हाथमें लेते हैं, उसमें ऐसे तन-मन-धनसे जुट जाते हैं कि सफलता उनके चरणोंको चूमने लग जाती है ।

कठिन कार्य करनेकी केवल एक विधि है—उसे शीघ्र कर डालिये । आपके मनपर वह अपना विषैला प्रभाव जमाने

न पाये और आप उसके दाँत तोड़ दें । इससे आपको जो संतोष होगा, कठिन कार्योंको आप जिस आसानीसे कर सकेंगे, वह वर्णनातीत है । कठिन कार्यको टाल देना उसके बलको द्विगुणित करना है और उसके लिये दूना परिश्रम करना है ।

जिन्हें जीवनमें सफलता नहीं मिल सकी है अर्थात् जो असफल रहे हैं, उनके जीवनका इतिहास उठाकर देखिये । आप देखेंगे कि उनकी विफलताका मुख्य कारण प्रायः यही रहा है कि वे अपने जीवनमें कड़े और कठिन एवं नीरस कामको सदा टालते गये हैं और उसे करनेसे जी चुराते रहे हैं ।

तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कठिन काम हमारे हाथमें आ जाय, उसे छोड़ना नहीं चाहिये । हम उससे जितना जी चुरायेंगे, वह उतना ही कठिन प्रतीत होगा । जो आदमी इसी तरहकी आदत डाल लेता है, उसमें वह दृढ़ता और ताकत नहीं रह जाती कि समय पड़नेपर वह कठिन काम कर ले । यदि हम काम करना चाहते हैं तो हमें कामसे जी नहीं चुराना चाहिये । बिना इस तरह काम किये तो हममें योग्यता आ नहीं सकती ।

जो नवयुवक इस संकल्पसे जीवनमें प्रवृत्त होता है कि हम अपनी परिस्थितिसे पूर्ण लाभ उठाकर जीवनकी अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचेंगे, वह किसी भी कामसे मुँह नहीं मोड़ेगा, जिससे वह ऊपर उठनेकी सम्भावना देखता है । पर इसके विपरीत रोज हमलोग देखते हैं कि सैकड़ों नवयुवक इसके विरुद्ध आचरण करते हैं । जानते हैं कि—

कड़वी औषधि बिन पिये, मिटे न तनकी ताप ।

फिर भी कड़वेपनका स्मरण करके पीछे हट जाते हैं । सबल होने, दृढ़ होने और शक्ति-सम्पादन करनेका—जिससे हमारा चरित्र गठन हो सकता है—एक ही प्रकार है कि हमलोग कड़वी ओषधिको आँख मूँदकर पी जायँ । यदि आँख मूँदकर एक घूँटमें पी जायँगे तो इतनी बुरी न लगेगी ।

जिसको काम करना है, जिसने काम करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया है, उसके मार्गको कठिनाईकी बाधा नहीं रोक सकती । असहयोग आन्दोलनका उदाहरण हमारे सामने है । कितनी बाधाएँ मार्गमें थीं । कितने लोग इसके विरुद्ध थे ! पर गांधीजी दृढ़ थे, कटिबद्ध थे । यदि कठिनाइयों और बाधाओंसे डरकर गांधीजीने आगे कदम न बढ़ाय होता तो क्या हमारा देश गुलामीकी जंजीरको तोड़ सकता था ? कदापि नहीं ।

भावात्मकरूपसे अपरिपक्व व्यक्ति ही जीवनके दुर्भाग्य, विपत्तियों आदिपर निरन्तर कुढ़ा करता है । प्रौढ़ व्यक्ति त कठिनाईकी प्रत्याशा करना, उसे स्वीकार कर लेना, उसक हल निकालना और सम्भवतः हारको जीतमें बदल देना अन्यथा साहस तथा प्रसन्नताके साथ कठिनाइयोंके रहते हु भी अपना काम करना सीख लेता है ।

कठिनाईके आनेपर अपनी विवेक-बुद्धिद्वारा उसे परास्त करनेकी कोई युक्ति सोचिये । यदि आपका कोई इष्ट-मित्र य सच्चा स्नेही हो तो उससे राय लेकर उसके विरुद्ध जेहा छेड़ दीजिये । किसी प्रकार उससे कम-से-कम हानि हो यह विचारिये । सच मानिये, आप अवश्य कोई-न-कोई युक्ति ढूँढ़ निकालेंगे । जो व्यक्ति कार्य सम्पन्न करनेमें तेजी औ सतर्कता दिखाता है, वह अवश्य सफल होता है । कठिनाईक घड़ी टल जाती है ।

स्मरण रखिये, मनुष्यको निराश न होकर सदा अप उद्यम और शक्तिका भरोसा करना चाहिये, कठिनाईक कम करनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये । जीवनके दी उत्साहसे जगमगाते रहें । उद्योगका प्रकाश हमारे चरित्र स्थायी हो ।

हृदयमें अदम्य उत्साह और उत्तरोत्तर बढ़ते हु उत्साहको लेकर ही मनुष्य अपने जीवनकी विविध कठिनाइयों को पार करता है । जो मनुष्य कर्म और अपने उद्देश्यमें तल्लीन होकर अपनापन भूल जाते हैं, वे ही सफल होते हैं

यदि आप देखते हैं कि आपके मार्गकी बाधाएँ— कठिनाइयाँ भीषण हैं और आप उन्हें आसानीसे पार न कर सकते तो भी डरने या हताश होनेका कोई कारण न है । अक्सर असलमें विपत्तियाँ अथवा कठिनाइयाँ दूरसे पहाड़ मालूम देती हैं; जब वे निकट आती हैं तो राई सदृश हो जाती हैं । केवल साहस और दृढ़ताके साथ आ बढ़ते रहने भरकी देर है । आप ऐसा करके तो देखिये आपकी कठिनाइयाँ छूमंतर हो जाती हैं या नहीं ।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ७३८ से आगे]

(११)

जी रहे हैं यों तो हम सभी,
तुम्हारे विश्वासोंके साथ।
सौंप दी है प्राणोंकी डोर,
तुम्हारे निश्वासोंके हाथ॥
नयनमें बसा लिया है तुम्हें—
भले ही चले गये हो दूर।
कभी तो ले आयेंगी खींच—
हमारी पीड़ाएँ भरपूर॥
आशाके पिंजरेमें पल रहा—
प्राणका पंछी इसी प्रकार।
जी रहा है केवल चितचोर—
तुम्हारा नाम पुकार-पुकार॥
छा गयी है अन्तरमें गहन—
घुमड़कर काली-काली रात।
बस गयी है नयनोंमें विकल—
व्यथाके आँसूकी बरसात॥
टीस, तड़पन, कसकन हो गयी
विरहकी बस्तीमें आबाद।
कर रहा हूँ इन सबसे घिरा—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(१२)

बहुत समझाया है मन, किंतु
छूटती नहीं व्यथाकी गोद।
रूठकर चला गया है कहाँ—
न जाने भैया ! मेरा मोद॥
बहुत सोचा करता हूँ बात—
हँसी थी, पर अधरोंतक आय।
अचानक चौंक, तड़पकर तभी—
बीचमें ही जाती बिलगाय॥
दीखता पतझड़ ही सब ओर—
जहाँतक दौड़ाता हूँ दृष्टि।
सुनायी पड़ती है, बस, मुझे
रुदन ही करती सारी सृष्टि॥
नहीं रह पाता है स्थिर हाय !
धराके उर विशालका धीर।
तड़पती है जब सुधिकी तड़ित—
गगनके अन्तरालको चीर॥
हो गया हूँ बेसुध-सा, कृष्ण !—
तुम्हारे छिप जानेके बाद।
रह गयी है, बस, केवल शेष—
कन्हैया भैया ! तेरी याद॥

(१३)

किया करते थे जिसमें रास,
वही पूनमकी मादक रात।
जगाता था जो लोरी सुना—
वही ऊषाका मधुर प्रभात॥
लाल होती थी तुमको देख,
वही संध्याकी वेला मधुर।
वही हरियाली धरती, और
मधुपके वही रसीले अधर॥
सभी कुछ है, पर मनको नहीं
लुभाता आज किसीका मोह।
हो गया है जीवन रसहीन,
तुम्हारा जबसे हुआ विछोह॥
सूखकर रिक्त हुई रसधार,
हुआ है अन्तर इतना तप्त !
हो गयी है मेरी हर साँस—
तुम्हारी संस्मृतिसे अभिशप्त॥

बुद्धिका वैभव हुआ विलुप्त,
उठा है ऐसा विषम विषाद !
कर गयी है सब कुछ विक्षुब्ध—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१४)

पलकसे पलभर ओझल हुआ
न पीले पीताम्बरका छोर ।
छलकती रहती है प्रिय ! पिघल--
विकल पागल पुतलीकी कोर ॥
नयनमें उलझा रहता सदा--
तुम्हारा नील-सरोरुह गात ।
झलकते रहते उरमें रमण !
तुम्हारे चरण नील जलजात ॥
कसकते हैं वाणीमें बसे—
तुम्हारी स्वरित वेणुके बोल ।
वेदनाको देते विस्तार—
हृदयमें पीड़ाओंको घोल ॥
सहेजा जिसे सिहाकर, वही—
प्यारके सुमनोंका मकरन्द ।
जिसे विकसाया उर-सर मध्य—
वही प्रिय प्राणोंका अरविन्द ॥
कर गया जीवनको सुनसान,
न कर पाया कोई प्रतिवाद ।
रह गया लिये स्वाँस-अलिवृन्द,
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१५)

हो गये हैं बिलकुल वीरान,
छबीले वृन्दावनके हाट ।
सिसकते हैं सूने संतप्त
सजीले कालिन्दीके घाट ॥
लुटा-सा लगता है सब ओर—
तुम्हारे बिन अब तो गोपाल ।
खड़ी है नग्न, भग्न, दुख-मग्न—
नन्द-बाबाकी प्रिय चौपाल ॥
चौक, चूल्हे, चौका, घर, द्वार,
छान, छज्जे, चौबारे—सभी ।
काटनेको आते हैं हाय !
स्वर्ग-से सुखद लगे जो कभी ॥
दोहनी, चलामनी, जामनी,
दूध-दधि-मट्ठाके जो माट ।
न भाते कोई फूटे नैन—
पड़ी हैं रीती सबकी बाँट ॥
रहा है हर आँगनमें गूँज—
एक ही गीत, एक ही नाद ।
भुलायें कैसे ? तू ही बता—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१६)

न बछड़े करते हैं पय-पान,
गये हैं थन गायोंके सूख ।
हो गये पतझड़, फूले-फले--
हरे व्रजभरके तुम बिन रूँख ॥
विरहका उमड़ा उदधि अगाध,
गये हैं जिसमें हम सब डूब ।
नेह कर छोड़ गये मझधार—
प्रीतिकी रीति निभाई खूब ! ॥
तुम्हें सौंपे जिनने मन-प्राण,
गये हा ! उनको कैसे छोड़ ?
न आयी रंचमात्र भी दया,
दिये सबके कोमल मन तोड़ ॥
यही यदि करना था तो निठुर !
बढ़ाया था क्यों इतना प्यार ? ।
रिझा विधु-आननपर किस लिये—
उठाये उर-सागरमें ज्वार ? ॥
ठीक है, तुमने जो कुछ किया;
हमें तो बनना है अपवाद ।
करेंगे मरकर भी हर जन्म—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१७)

हो गया तेरी सुधिसे, कृष्ण !
समूचा तन मन मेरा ग्रथित ।

हृदयमें बीती बातें उमड़—
और भी कर देती हैं व्यथित ॥
खिला मधु-ऋतुका पूनम-चाँद,
बिखेरे भीने-भीने भाव।
मनाने मधुरोत्सव उस रात—
रखा तुमने मीठा प्रस्ताव ॥
सजाया वन-विहारके बीच,
रुचिर मण्डप मनहर रमणीय।
खींचती बरबस अपनी ओर—
छबीली छबि अतिशय कमनीय ॥
स्वयं रीझे जिसपर ऋतुराज,
वहाँकी शोभाका आनन्द।
भरे था मीठी-मीठी पुलक—
प्राणमें, स्वाँसोंमें सानन्द ॥
जगा था, उस क्षण मनमें हाय—
सलोने ! जो मादक उन्माद।
कसकता है वह कर-कर अभी—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१८)

सखा ! फिर तुमने तत्पश्चात्,
सजाया अपना रूप ललाम।
हुए बलिहारी जिसपर रीझ—
उस घड़ी कोटि-कोटि शत काम ॥
शीशपर स्वर्ण क्रीटकी छटक—
न टिक पाती थीं उसपर आँख।
लहरती थी दाईं लँग लगी,
मनहरण मोर-पुच्छकी पाँख ॥
कर रहे थे शोभा विस्तार,
श्रवण मकराकृत कुण्डल लोल।
लुभाते थे मनको कर विकल—
अलक सँग मन्थर-मन्थर डोल ॥
सुहाना भाल, सलोनी भौंह—
सुघर नासा, कपोल, मधु नैन।
रिझाते थे बरबस चितचोर,
अरुण अधरोंके मधुरिम बन ॥

सुराही-सी ग्रीवाको मोड़,
बिखेरी मीठी-मीठी साध।
हाय ! उस पलको भूले नहीं—
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(१९)

रत्नमणि-मण्डित मुक्ताहार,
किये था शोभित वक्ष विशाल।
झूलती थी मनहरनी मधुर,
गलेमें गुञ्जाओंकी माल ॥
सुभग आजानु बाहुके बीच
रहा पीताम्बर-पल्लू झूम।
चुराता था चितको चितचोर—
पीत कटि-पट चरणोंको चूम ॥
सुमन-सिंहासनपर जिस समय—
सुशोभित हुए आप गोविन्द।
करोंमें ले मुरली, धर अधर,
स्वरोंमें छेड़ा मादक छन्द ॥
विकल होकर व्रज-गोपी-ग्वाल,
लक्ष्यकर मधुर वेणुकी टेर।
भ्रमित, भूले, भटके-से घेर—
निमिषमें तुम्हें रहे थे हेर ॥
हुईं फिर लीलाएँ अति सुखद—
प्रणयका उमड़ा उदधि अगाध।
उसीमें डूबी स्वासें करें,
कन्हैया भैया ! तेरी याद ॥

(२०)

दृगोंमें ऐसे अनगिन चित्र,
झूमते रहते हैं व्रजचंद !।
हृदयमें नित अकुलाते भाव,
विलखते रहते हैं गोविन्द ! ॥
न भूले होगे तुम भी, सखे !
मिलन-नाटकके मधुरिम दृश्य।
सुखद सुधियोंमें जिनकी सुलग—
सिसकता रहता सदा भविष्य ॥

झूमती थी व्रजकी हर गली,
वृक्ष, वन, उपवन, ताल, तमाल।
तुम्हारे नृत्य, खेल, संगीत—
किये रहते थे हमें निहाल॥
उन्हीं दिन, कण-कणमें जिस समय-
छा रहा था ऐसा उल्लास।
आ गये थे ले नयी उमंग,
इन्द्रपूजाके दिन अति पास॥
कालके निर्माता! उस समय,
रीतिकी गतिमें कर अवरोध।
बढ़ाने गोवर्धनका मान,
किया था तुमने मधुर विरोध॥
सभीको सहमत तुमने किया,
सुनाये ऐसे मधु संवाद।
बढ़ाती वे मन छूती तर्क,
कन्हैया भैया! तेरी याद॥

(२१)

और फिर गिरि-पूजाके समय,
छा गया था कैसा आनन्द!
चले ले व्यञ्जन विविध प्रकार,
गोप-गोपी-ग्वालोंके वृन्द॥
बैठ गाड़ी-छकड़ोंमें सभी—
वृद्ध, बाबा, दादी, माँ, बाल।
मानसी-गङ्गाके सब ओर,
जमे थे सुखसे डेरा डाल॥
हुई तब गिरि-पूजा सानन्द—
लगे थे भाँति-भाँतिके भोग।
हुए तुम प्रकट बने गिरिराज,
अचम्भेमें थे सारे लोग॥
विशाखा, ललितासे मुसकरा—
कह रही थीं राधा इस तौर—
देख तो सखी! सजा है आज,
किस तरह छलियोंका सिरमौर॥
चरपरे, खट्टे, मीठे सभी—
भोग खाये ले-लेकर स्वाद।
जगाती प्राणोंमें वह मूर्ति—
कन्हैया भैया! तेरी याद॥

(२२)

दूसरे दिन घिर-घिरकर घटा,
प्रलयकी-सी बरसी घनघोर।
छा गयी दिनमें काली रात—
हो गया जल-ही-जल सब ओर॥
मच गया था अति हाहाकार,
वृद्ध देते थे तुमको दोष।
न मानी, छोड़ी अपनी रीति—
सहो अब देवराजका रोष॥
उस समय सबको व्याकुल देख,
ग्वाल मित्रोंको तत्क्षण टेर।
उठाया अँगुलीपर गिरिराज—
लगी थी नहीं निमिषभर देर॥
बचाया सबको गिरिकी छाँह—
रही थी सात दिवस यह होड़।
प्रतिष्ठाकी गिरिकी सम्पूर्ण—
अन्तमें सुरपतिका मद तोड़॥
वही गिरिधारणवाला रूप—
रहा प्राणोंमें घोल विषाद।
बिलखती उरमें आठों याम—
कन्हैया भैया! तेरी याद॥
(क्रमशः

सहानुभूति

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'जेना कहाँ है ?' प्रातःकाल जलपानकी मेजपर छोटी पुत्रीको न देखकर गृहपतिने साधारणभावसे ही पूछा।

'जेना ! अरी जेना ! कहाँ है तू ?' माताने वहींसे पुकारा और जब कहींसे कोई उत्तर नहीं मिला, अपनी अत्यन्त चञ्चला कन्याको वे ढूँढ़ने उठीं। वह कहीं तितलियोंके पीछे फुदकती होगी अथवा खेतमें खरगोशके पीछे भाग रही होगी।

'जेना बड़ी सड़कपर जा रही थी।' अचानक इस दम्पतिका पुत्र वहाँ आ गया—'फूलोंकी डलिया थी उसके हाथमें। मैंने दूरसे पुकारा तो केवल हाथ हिला दिया उसने।'

'वह कहीं आज फिर अपोलोके यहाँ तो नहीं चली गयी ?' भारी-भरकम शरीरवाली गृहस्वामिनीके मस्तकपर पसीनेकी बूँदें आ गयीं। वे लौटीं कक्षकी ओर और दूरसे ही बोलीं—'तुम्हारी लाड़ली जेना आज फिर उस जादूगरनीके यहाँ चली गयी। और उसे सिर चढ़ाओ।'

'कहाँ, गयी जेना ?' गृहपति ऐसे चौंककर उठे, जैसे उन्हें बिच्छूने डंक मार दिया हो।

'वह तो कबकी पहुँच गयी होगी।' उनके बड़े पुत्रका स्वर भी शिथिल हो गया था। परिस्थितिकी गम्भीरता अब उसकी समझमें आ गयी थी। उसने अनुभव किया कि वह स्वयं कम दोषी नहीं है। जब उसने अपने प्रातःकालीन भ्रमणसे लौटते समय अपनी छोटी बहिनको जाते देखा था, तब उसे लौटा लानेका यत्न उसने क्यों नहीं किया; किंतु उसे पता क्या था कि वह नन्हीं लड़की कहाँ जा रही है।

'हे भगवन् !' गृहपति धमसे गिर गये आराम-कुर्सीपर और दोनों हाथोंसे सिर पकड़ लिया उन्होंने।

'अब क्या होगा !' गृहस्वामिनीकी आँखें स्थिर हो गयी थीं। वे अपने पतिके कंधोंपर दोनों हाथ रखकर कुर्सीके पीछे ही खड़ी रह गयीं।

अभी कल ही उनकी जेना उस जादूगरनीके यहाँ गयी थी। कितने रुष्ट हुए थे उपासना-गृहके प्रधान पुजारी। किंतु कलकी बात आज तो नहीं हो सकती। 'योग किप्पूर' का पवित्र दिन वर्षमें कोई बार-बार तो आता नहीं। अब आज जब यह समाचार सबको मिलेगा—समाजके लोगोंका जो रोष इस परिवारपर उतरेगा, वह तो है ही; यहोवाका क्रोध, पता नहीं, कौन-सी विपत्ति ढाहेगा।

वह दस वर्षकी गोल मुख—सुनहले केश, भूरी भोली आँखोंवाली गोलमटोल गुड़िया-जैसी चञ्चल बालिका जेना। वह बच्ची अभी कुछ समझती ही नहीं। कल भी वह अपोलोके यहाँ चली गयी थी इसी प्रकार बिना किसीसे कुछ कहे।

'बेचारी बुढ़िया बहुत बीमार है। उससे उठा-बैठा भी नहीं जाता। उसे कोई पानी देनेवाला भी नहीं।' कल सीधे उपासनामन्दिरमें बाहरसे दौड़ी-दौड़ी जेना आयी। प्रार्थनाका प्रमुख पर्व, भीड़से भरा उपासना-गृह और उस भीड़में सीधे प्रधान पुजारीके पास जाकर उनका लबादा पकड़कर कहने लगी—'मैंने उसके लिये यहोवासे प्रार्थना की है। आप भी उसके लिये प्रार्थना करें।'

'तू किसकी बात कर रही है ?' प्रधान पुजारीने स्नेहपूर्वक जेनाके कपोल थपथपाकर पूछा था।

'वह जो नगरके बाहर थूहरोंके घेरेमें सफेद बालोंवाली बुढ़िया रहती है।' जेनाने बालसुलभ सरलतासे

कहा । 'वह जानवरोंकी भीड़ जुटा रखनेवाली पोपले मुखकी बुढ़िया अपोलो बीमार है ।'

'तू उसके यहाँ गयी थी !' प्रधान पुजारी चौंककर दूर हट गये 'तूने मुझे भी छूकर अपवित्र किया ।'

'वह अच्छी बुढ़िया है ! बीमार है इन दिनों । उसे पानी देना था ।' जेनाके नेत्रोंमें सरलतामात्र थी ।

'यह बच्ची है । मैं क्षमा चाहता हूँ इसकी ओरसे ।' जेनाके पिता प्रधान पुजारीके सम्मुख आ गये थे । पश्चात्तापसे उनका स्वर भर आया था । पुत्रीको खींचकर पीछे कर दिया था उन्होंने ।

'अच्छी बात !' प्रधान पुजारीके मुखपरसे रोषकी रेखाएँ मिटी नहीं थीं; किंतु कल 'योग किप्पूर'का (अपराध-क्षमापनका) पवित्र दिन था । मनुष्य यदि मनुष्यके अपराध क्षमा नहीं करेगा तो यहोबा (परमात्मा) से अपने अपराधकी क्षमा पानेकी आशा वह कैसे कर सकता है । बड़े-से-बड़ा अपराधी इस पवित्र दिन क्षमा माँगे तो उसे क्षमा करना ही पड़ता है । उसके अपराधकी फिर चर्चा या चिन्तन कोई नहीं करता । ऐसे पवित्र दिन नन्हीं जेनाके अपराधकी क्षमा उसके पिताने माँगी तो प्रधान पुजारी क्षमा-दानके लिये स्वतः विवश था ।

'पर उस जादूगरनीको क्षमा नहीं मिलेगी ।' प्रधान पुजारीने अपनी झुँझलाहट दूसरे रूपमें प्रकट की । 'उसकी ओरसे कोई क्षमा-प्रार्थना करेगा तो उसे भी क्षमा नहीं किया जायगा ।'

भला, उसकी ओरसे कोई क्षमा-प्रार्थना करेगा भी क्यों ? कौन नहीं जानता कि वह यहोबाकी अपराधिनी है । ईश्वरको मानती ही नहीं । अपनी युवावस्थाकी यरूशलमकी वह कुख्यात गणिका अब वृद्धावस्थामें जादूगरनी बन गयी है । उसने शेर, चीते, रीछ, सर्प, पता नहीं क्या-क्या पाल रक्खे हैं । सुना तो यह भी जाता है कि शैतान भी उसके वशमें है । चोर, डाकू, बदमाश, उचक्के आदि सब देश तथा समाजके शत्रु उसके यहाँ आश्रय पाते हैं । उसे अपनी झोपड़ीके साथ कबका फूँक दिया गया होता; किंतु किसीका साहस ही उधर जानेका नहीं होता । वह जादूगरनी जो ठहरी, क्या पता उसने अपने शत्रुओंको ही कुत्ता, गधा, रीछ बनाकर अपने यहाँ पाल रक्खा हो ।

किंतु तथ्य यह है कि नगरके इतने निकट रहनेपर भी वृद्धा अपोलोके सम्बन्धमें कोई ठीक-ठीक कुछ नहीं जानता । भाँति-भाँतिकी बातें उसके सम्बन्धमें कही-सुनी जाती हैं । परंतु कोई उसके थूहरोंके घेरेके समीप भीतर झाँकने भी जानेका साहस नहीं कर पाता । वह एक आतङ्क है नगरके लोगोंके लिये ।

ऐसे भयावह स्थानपर जेना पता नहीं कैसे चली गयी । वह कबसे जाती है, यह भी किसे पता है । पहली बार कल पता लगा; किंतु कल था 'योगकिप्पूर' का पवित्र दिन । अब आज क्या होगा ? वह तो आज फिर वहीं पहुँच गयी है ।

× × ×

'जेनाको त्याग देना होगा !' उपासनागृहके प्रधान पुजारीने सायंकालीन प्रार्थनाके पश्चात् नगरजनोंकी उपस्थितिमें जेनाके पिताको अपना निर्णय सुना दिया । बड़ा उदास स्वर था उनका । अपने निर्णयके लिये वे स्वयं बहुत क्षुब्ध—विवश जान पड़ते थे । 'उसके जादूके प्रभावमें यह सम्पूर्ण रूपसे आ चुकी है । देश, समाज तथा यहोबाके शत्रुको क्षमा नहीं किया जा सकता । इसे घरमें रखना हो तो आपको भी नगर त्याग करना पड़ेगा । इसके साथ आपको न समाजमें सम्मिलित रहनेकी अनुमति दी जा सकती है और न नगरमें रहनेकी ।'

'मुझे क्षमा करें ! इस प्रकार शैतानका बल बढ़ा रहे हैं आप ।' एक युवक अबतककी परम्पराके सर्वथा विरुद्ध उठ खड़ा हुआ । नन्हीं जेनाके भोले मुखको देखकर उसे सहानुभूति हो आयी थी । यद्यपि प्रधान

पुरोहितका प्रतिवाद करना अपने-आपमें बड़ा अपराध था फिर भी उसका अन्तर इस समय विद्रोह कर उठा था । 'वह बुढ़िया बीमार है । आज या कुछ कालमें मर-खप जायगी; किंतु जेनाको हम बहिष्कृत कर देंगे और यह उसका आश्रय ले लेगी तो बुढ़िया अपना जादू इसे सिखाकर मरेगी । यरूशलमके सिरसे विपत्तिके बादल जो शीघ्र टल सकते हैं, यहीं जमकर रह जायँगे ।'

'यदि श्रीमिडहोम (जेनाके पिता) सपरिवार उसके यहाँ चले गये ?' युवककी बातका प्रभाव सभी उपस्थित लोगोंपर पड़ा था । सब इस आशङ्कासे ही काँप उठे थे कि यह सुन्दर बच्ची भी जादूगरनी बन सकती है और अनेक वर्षोंतक उन सबसे गिन-गिनकर बदला लेती रह सकती है । एक अन्य तरुणने उठकर इस आशङ्काको अत्यधिक बढ़ा दिया—'यह निर्णय तो विपत्तिको बहुत बढ़ानेवाला है । इससे समाजका सर्वनाश सम्भव है । शैतानके बलको बढ़ानेवाला कोई निर्णय नहीं होना चाहिये ।'

'यहोवा !' प्रधान पुजारीने आकाशकी ओर दृष्टि उठायी—'मुझे प्रकाश दो, प्रभु !'

'यहोवा ! यहोवा !' प्रधान पुजारी प्रार्थना प्रारम्भ भी नहीं कर सके थे कि एक गड़रिया दौड़ता-हाँफता भीड़में घुसता चला आया । नंगे पैर, फटा मैला पाजामा, फटी कमीज, तिनकों और धूलिसे भरे सिर तथा दाढ़ीके केश । उसके शरीर तथा वस्त्रोंसे पसीनेके साथ भेड़ोंकी देहसे निकलनेवाली दुर्गन्ध आ रही थी । किंतु उसका ध्यान न अपनी ओर था और न उपासना-गृहमें उपस्थित भीड़की ओर । वह सीधा प्रधान पुजारीके सम्मुख आया और झुककर उसके चोगेका छोर चूमते हुए बोला—'कोह सुलेमानका तपस्वी उतर आया है । वह यरूशलमकी ओर आ रहा है । मेरे बेटेने उसे आते देखा है । वह आजसे चार दिन दूरके चरागाहसे कल रात भागता, घोड़ा दौड़ाता कल घर आया । मैं तुरंत आपको सूचित करने घोड़ेपर बैठ गया था ।'

'कोह सुलेमानके तपस्वी आ रहे हैं नगरकी ओर !' वहाँ उपस्थित नागरिकोंमें कानाफूसी होने लगी । सबके लिये यह उत्साह-वर्धक समाचार था । इतने बड़े तपस्वीके स्वागत-समारोहकी रूप-रेखा भी सोचना लोगोंने प्रारम्भ कर दिया ।

'अभी जेनाके अपराधका विचार स्थगित कर दिया जाय ।' प्रधान पुजारीने घोषणा की । 'वह अभी अपने परिवारमें रहे । वे महान् तपस्वी आ रहे हैं । हम उनसे ही प्रार्थना करेंगे कि इस विषयमें हमें क्या करना चाहिये, यह आदेश दें ।'

× × ×

'ये तपस्वी कहाँ जा रहे हैं ?' यरूशलमके नागरिकोंको तथा वहाँके उपासनागृहके पुजारियोंको भी इस बातसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ था कि तपस्वीने तब मस्तक नहीं उठाया, जब नगरसे बाहर पर्याप्त दूर आकर उन लोगोंने स्वागत किया । तपस्वीने किसीकी ओर नेत्र उठाकर नहीं देखा । जयघोष, वन्दना तथा अन्य स्वागतकी क्रियाओंपर उसने किंचित् भी ध्यान नहीं दिया । जैसे वह कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं देखता और उसके सम्मुख यह मनुष्योंकी भीड़ है ही नहीं, इस प्रकार चलता रहा । इस सबसे कोई चकित नहीं हुआ; किंतु तब लोग चौंके जब तपस्वी बुढ़िया जादूगरनीके थूहरोंवाले घेरेकी ओर मुड़ा ।

कोह सुलेमानका यह तपस्वी—सुना जाता है कि वर्षोंसे यह इसी प्रकार मौन है । किसीकी ओर देखता नहीं । किसीसे कोई संकेत नहीं करता । गड़रिये जो दूध और पनीर उसके पास रख जाते हैं, उसमेंसे बहुत थोड़ा खाता है । शेष कुत्ते चट कर जायँ या कौवे, उसे पतातक नहीं लगता । किसीने उसे हँसते-रोते या बोलते नहीं देखा । एक लबादा—वही या वैसा ही

लबादा उसकी देहपर होता है, जैसा आज है । सर्दी पड़े या गरमी, आकाशसे पानी गिरे या बर्फ, वह अपनी चट्टानपर चुपचाप लबादा ओढ़े बैठा रहता है । आज पता नहीं कितने वर्षोंके बाद उतरा है वह पहाड़से ।

थूहरोंके घेरेके समीप आकर सब ठिठक गये । एक अज्ञात भयसे प्रायः सबके शरीरमें रोमाञ्च हो आया—पता नहीं वहाँ भीतर क्या है ? वहाँ जानेपर किसके साथ क्या बीते ? प्रधान पुजारी तथा उसके कुछ शिष्योंके साथ नगरके थोड़े ही लोगोंने तपस्वीके पीछे घेरेमें जानेका साहस किया । उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ चौंकानेवाली कोई बात यदि है तो केवल एक बहुत बूढ़ा रीछ है, जो घेरेके एक कोनेमें इस प्रकार पड़ा है, मानो बीमार हो । दो गधे, तीन कुत्ते, एक बकरा—बस, ऐसे ही दो-तीन और छोटे पशु वहाँ थे । साधारण साग-सब्जीकी खेती भी कुछ क्यारियोंमें थी; किंतु पशुओंको चरनेकी छुट्टी जान पड़ती थी । थोड़ेसे फूलोंके जंगली पौधे इधर-उधर उगे थे ।

तपस्वीके पीछे द्वारपर पहुँचते ही प्रधान पुजारीने देखा कि भीतर खाटपर बुढ़िया पड़ी है । आज भी जेना यहाँ आ गयी है और कुछ पिला रही है इस रोगिणी जादूगरनीको । कहीं भी तो उसका झोला (जो जादूगरनीके पास होना ही चाहिये) नहीं दीखता । प्रधान पुजारी कुटियामें चारों ओर दृष्टि दौड़ा गया । उसे वहाँ खोपड़ियाँ, बंदरके सूखे पंजे, रीछका सिर—पता नहीं क्या-क्या देखनेकी आशा थी; किंतु कुटियामें तो केवल दो-चार बर्तन, एक घड़ा और एक चूल्हा भर दीखा उसे ।

'आप मुझपर कृपा करें ! मैं दूरसे आया हूँ ।' तपस्वीके स्वरने प्रधान पुजारीको चौंकाया । तपस्वी तो बीमार बुढ़ियाके कदमोंपर सिर रगड़कर रो रहा है—'मैं पूरी आधी शतीसे आराधनामें लगा हूँ, इसके प्रमाण मेरे ये केश हैं ! अबतक मेरी आराधना अस्वीकार ही हुई है ।'

छोटी जेना एक ओर डरकर खड़ी हो गयी थी । पुजारी द्वारपर ही ठिठककर रुक गया था । उसके साथ आनेवाले कुटियासे बाहर ही रह गये थे; क्योंकि पुजारीके खड़े रह जानेसे द्वार रुक गया था । तपस्वी अपनी जटाओंसे बुढ़ियाके पैर पोंछ रहा था; क्योंकि वे पैर उसीके आँसूसे गीले हो गये थे । वह बहुत वर्षोंके बाद आज बोल रहा था—'मुझे अकस्मात् यहोबाकी वाणी सुनायी पड़ी । उस वाणीने आदेश दिया कि मैं आपके दर्शन करूँ और आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करूँ । मुझपर आप कृपा करें ।'

'मैं नहीं जानती कि परमात्मा कैसा है और कैसे उसे प्रसन्न किया जाता है । मैं तो पापजीविनी वेश्या थी । बुढ़ापा आया तो मेरा व्यापार बंद हो गया । अनाथ होकर यहाँ झोंपड़ीमें आ गयी ।' वृद्धा धीरे-धीरे रुक-रुककर बोल रही थी । 'बचपनसे इतना जानती हूँ कि दुखी प्राणी सहानुभूतिका पात्र होता है । युवावस्थामें जो धन कमाया, वह सब दुखियोंकी सेवामें लग गया । अब भी मैं यह देख नहीं पाती हूँ कि मेरे यहाँ आनेवाला कौन है—कैसा है । आहत, असहाय, रोगी, मनुष्य हो या पशु—मैं सहानुभूतिके अतिरिक्त उसे दे भी क्या सकती हूँ । किंतु सच पूछिये तो सहानुभूतिकी देवी है यह नन्ही बच्ची । इसकी सहानुभूतिने मुझे भी सहारा दिया है । दुखी प्राणियोंसे सहानुभूति—मैं इतना ही जानती हूँ ।'

× × ×

तपस्वी तत्काल लौट गया । वृद्धाने उसी दिन शरीर छोड़ दिया; किंतु जेना देवी मान ली गयी उस समाजमें, ऐसा सुना गया है ।

कल्याणका मार्ग

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

कुछ अमेरिकन मुझसे इस बातसे बहुत अप्रसन्न हैं कि मैंने अपराधोंकी तालिका देकर यह सिद्ध किया है कि संयुक्तराज्य अमेरिकामें अपराधोंकी अत्यधिक वृद्धिका कारण धार्मिक भावनाका क्रमागत ह्रास है। मिस्टर हाफ़मैनने अपने देशके एक समाचारपत्रमें लिखा है कि मैं 'हिंदुस्तानका एक पेशेवर अपराधशास्त्री हूँ।' दूसरी तरफ उसी देशके डा० अलबर्ट हेस ऐसे समाजशास्त्री हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि अमेरिकन समाजमें धार्मिक भावनाका ह्रास होनेके कारण बड़ा अकल्याण हुआ है।

बाहरवाले अपने देशके कल्याणका मार्ग जैसे चाहे ढूँढ़ लें, हम भारतीय उनका व्यर्थ अनुकरण न करें—यही हमारी प्रार्थना है। आजकल हम विदेशी विद्वानोंके भुलावेमें पड़ते जा रहे हैं। मैक टगार्ट (Mc Taggart) नामक एक लेखकने सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि धर्म केवल भावनाका विषय है। समाजने अपनेमें एकरसता लानेके लिये इसकी कल्पना की। एक दूसरे लेखक हैं ऑटो रैंक—(Otto Rank)। उन्होंने लिखा है कि 'मनुष्यमें दूसरेका मुँह ताकनेकी प्रवृत्ति होती है और ऐसी ही प्रवृत्तिसे धर्मकी भावनाका आरम्भ होता है।'

ऐसे ही अनेक पश्चिमीय विद्वान् भावनाको ही धर्मका पिता मानते हैं। यदि एक क्षणके लिये यह मान भी लिया जाय तो सोचना होगा कि भावनाका उद्गमस्थल क्या है। भावनाका आधार बुद्धि है, यह तो सभी स्वीकार करते हैं। बुद्धि स्वतः नहीं पैदा हो जाती। बुद्धि संस्कारसे बनती है। संस्कार कर्मके अनुसार बनता है। कर्मके अनुसार ही जन्म होता है।

स इह कीटो वा पतङ्गो वा मत्स्यो वा शकुनिर्वा सिंहो वा। (कौषीतक्युपनिषद् १०२)

कर्म आचरणसे बनता है। आचरण धर्मसे बनता है। तब धर्म क्या है?

धर्म क्या है?

संस्कृत वाङ्मयमें जिसे धर्मकी संज्ञा दी गयी है, वह अनूठी वस्तु है। अंग्रेजीमें 'रेलिजन' या उर्दूमें 'मज़हब' शब्दसे इसका बोध नहीं होता। पश्चिमीय मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि आदिकालमें मनुष्यका जीवन बड़ा संकटमय था। प्राकृतिक उपद्रवोंसे उसे इतनी पीड़ा पहुँचती थी कि उसे बार-बार अपनी तुच्छताका अनुभव होता था। इसी तुच्छताकी भावनासे प्रेरित होकर उसने एक 'महान् शक्ति'की कल्पना की और उसी कल्पनासे धर्मका, ईश्वरका भाव पैदा हुआ। सिगमंड फ्रायड (Sigmund Freud) का कथन है कि बचपनमें पिताका भय सताता है। बड़ा होनेपर भी 'एक पिता'की भूख बनी रहती है। उसी भूखको मिटानेके लिये परम पिता—परमात्माकी भावनाका प्रादुर्भाव हुआ।

किंतु मानव-बुद्धिके आधारको तुच्छ तथा हेय समझकर उसीकी नींवपर बुद्धिकी इमारत खड़ी करना मानवको बहुत नीचे गिरा देना है। कोई माने या न माने, हरेकके हृदयमें ऐसी अन्तश्चेतना वर्तमान है, जिससे अनायास ऐसा विश्वास पैदा होता है कि मानवके अतिरिक्त एक ऐसी पराशक्ति है जो सृष्टिका संचालन कर रही है, स्वयं उस व्यक्तिका संचालन कर रही है। ईश्वरके प्रति आस्था तथा विश्वास बुद्धिगम्य नहीं होता—आत्मगम्य या बोधगम्य होता है। जन्म लेते ही हर बच्चेको ईश्वरमें विश्वास करना

सिखलाया नहीं जाता । ऐसी आस्था संस्कारवश स्वतः पैदा होती है ।

पश्चिमीय मनोवैज्ञानिक जुंगने धर्मको अन्तःप्रेरित भावना माना है । धर्मसे उनका तात्पर्य ईश्वरमें विश्वाससे है । लेखक लूबाका कहना है कि ईश्वरमें विश्वास केवल अन्तःप्रेरित भावनाके द्वारा नहीं, किंतु अनुभव तथा जानकारी—दोनोंके द्वारा उत्पन्न होता है । दोनों ही दशामें धर्म तर्ककी वस्तु नहीं, ईश्वर विवादका विषय नहीं, अनुभव तथा प्रेरणाका विषय है ।

अनुभूति, जानकारी, ज्ञान—प्रेरणाके लिये, उसमें सहायता देनेके लिये धार्मिक प्रतीक मूर्त्ति या प्रतिमाका निरूपण किया गया है । इसीको आदि शंकराचार्यने 'प्रतीकोपासना' कहा है । प्रतिमा स्वयं ईश्वर नहीं है, ईश्वरका प्रतीक है । शिवलिङ्ग स्वयं भगवान् शंकरका महत्तम प्रतीक है, प्रकृति तथा पुरुषके तादात्म्यका प्रतीक है ।

कल्याणका मार्ग

मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, वह धर्मको उसी रूपमें बना लेता है, गढ़ लेता है । अफ्रिकाकी एक जातिमें मोक्ष पानेके लिये यह आवश्यक है कि विषधर सर्पसे अपनेको कटाकर प्राणत्याग किया जाय । एक पश्चिमीय टापूमें माता-पिताको भगवान्के यहाँ पहुँचानेके लिये सबसे अच्छा उपाय माना जाता है—उन्हें एक-एक बूँद पानीके लिये तड़पा-तड़पाकर मारना । मनुष्यको मनगढ़ंत धर्मसे बचानेके लिये, इधर-उधर भटकनेसे उसकी रक्षा करनेके लिये, उसे सच्चा मार्ग दिखलानेके लिये मैत्रेयीने बृहदारण्यकमें लिखा है कि श्रेयस्का, कल्याणका मार्ग आत्मज्ञान है । ऋषि याज्ञवल्क्यने कल्याण तथा परम सुखका आधार तथा साधन आत्माको माना है । मनुने गृहस्थका जीवन और गार्हस्थ्य-धर्मको श्रेष्ठ सिद्ध किया है । (मनु० ६ । ८९)

याज्ञवल्क्यने धर्म और समाजमें, आत्मा और संसारमें झगड़ा बचानेके लिये आदेश दिया है कि धर्मके अनुकूल होते हुए भी समाजके प्रतिकूल काम मत करो (याज्ञ० ५ । १५६) । आपस्तम्बने अपने धर्मसूत्रमें लिखा है कि जो 'समय (आचार) और रीति' सज्जनोंको स्वीकार हो, वही धर्म है । शेष अधर्म है ।

इसीलिये महापुरुषोंने लिखा है कि जो करने योग्य है, वह धर्म है और जो नहीं करने योग्य है, वही अधर्म है । इस प्रकार हमारे शास्त्रकारोंने बड़ी सूझ-बूझका काम किया है । कर्म और कुकर्म, धर्म तथा अधर्मकी ऐसी स्पष्ट व्याख्या कर दी गयी है कि मानव-समाजमें नैतिक पतनकी कम-से-कम सम्भावना रह जाय । धर्मका फल सुख होगा । अधर्मका फल दुःख होगा । स्पष्ट लिखा गया है—

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥

आर्यधर्मने समाज और धर्मको मिलाकर चलनेकी बात कही है । दुष्टको दण्ड देना धर्म है; पर यदि हरेक व्यक्ति दुष्टको दण्ड देनेका काम अपने हाथमें ले लें तो समाजमें बड़ी अव्यवस्था फैल जायगी । इसीलिये धर्मका क्षेत्र अन्तःप्रेरणा तथा बुद्धि है । इसी क्षेत्रको जाग्रत् करनेके लिये द्वारपाल मनको सही मार्गपर लगाना होगा और इसी मनको कल्याणके मार्गपर लानेके लिये उपासना-पद्धति बनायी गयी है । आत्मा सर्वज्ञ है । जो कुछ बतलाना है, वह मनको । उपनिषद्-वाक्य है कि मन हृदयके भीतर वैसे ही रहता है, जैसे धानके भीतर चावल । जिसने अपने हृदयमें वासुदेवको बैठा लिया, उसके लिये मनको शुद्ध रखना बहुत ही सरल तथा सहज हो जाता है । पुरुष मन है—मनःस्वरूप है ।

मनोमयोऽयं पुरुषः ।

धर्म आसानीसे समझमें आ जानेवाली चीज नहीं

है। धर्मकी व्याख्या की गयी है—'जिससे लोकमें सबसे अधिक उत्कर्ष हो एवं अन्तमें मोक्ष-सिद्धि हो, वह धर्म है।'

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे अपना अभ्युदय तथा कल्याण हो, वह धर्म है। हमें जानना है कि अपना कल्याण किसमें है। लोग चोरी, जुआ आदिमें भी अपना कल्याण समझते हैं। पर वास्तविक कल्याण है—मनको अपने अधिकारमें करके अन्तरात्माको प्रबुद्ध करनेमें। ऐसा करनेपर ही जन्म-जीवन सार्थक होता है।

◆

शान्त रहिये !

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

त्रिगुणमयी प्रकृतिमें सत्त्वगुण ही वन्दनीय है। सत्त्वगुणके सहारे ही सत्य और सदाचारकी श्री-वृद्धि होती है। सत्त्वगुणका आश्रय पाकर ही साधक संयमी और शीलवान् बन सकता है। सत्त्वगुणकी प्रकृति सौम्य होती है। सत्त्वगुणी व्यक्ति केवल अपने व्यवहारके आधारपर ही समाजमें लोकप्रिय हो जाता है। जिस व्यक्तिका अन्तःकरण असुर-भावापन्न है, उसका व्यवहार एवं चाल-चलन भी अप्रिय ही होगा। बात-बातमें उत्तेजित होनेवाला व्यक्ति प्रत्येकके द्वारा दुत्कारा ही जाता है। अपना आपा खो देनेवाले व्यक्तिके पास जानेकी लोग इच्छा ही नहीं करते। फलस्वरूप ऐसा व्यक्ति घुट-घुटकर समाप्त हो जाता है। अतः हमें अपने व्यवहारमें भूलकर भी कभी रूखा नहीं होना चाहिये।

शान्त रहना अपने-आपमें एक सिद्धि है, जो बिना अभ्यास और अच्छी संगतिके नहीं प्राप्त हो सकती। शान्त रहनेकी आदत बचपनसे ही डालनी चाहिये। अनुभवसे यह बात सिद्ध हो गयी है कि उ`जित और कोलाहलमय परिवारमें पला हुआ बालक बेंड़ा ही बना रहता है। ऐसे परिवारसे निकले हुए बच्चे प्रायः व्यवहारकुशल नहीं बन सकते। कुत्सित-से-कुत्सित गाली देनेमें भी इन परिवारोंके बच्चे नहीं हिचकिचाते। ऐसे बालक आगे जाकर अपने-आपके लिये भार बन जाते हैं। उनके व्यक्तित्वका समुचित विकास नहीं हो पाता। उनकी आन्तरिक पशु-प्रवृत्तिका सहजमें परिवर्तन नहीं हो पाता। इसलिये माता-पिताका यह एक प्राथमिक पारिवारिक कर्तव्य है कि वे परिवारका वातावरण सदैव सौम्य, शान्त और मधुर बनाये रखें।

हमारे धार्मिक कार्योंके सम्पादनमें भी शान्तिसे सम्बन्धित मन्त्रोंको प्राथमिकता दी जाती है। भवन बनानेसे लेकर यज्ञादि कर्म करनेतकमें शान्तिकी कामना अवश्य की जाती है।

समस्त ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता विष्णु माने गये हैं। क्यों? वे 'शान्ताकारं भुजगशयनम्'—विषधरकी शय्यापर सोकर भी शान्त प्रकृतिके हैं, इसलिये हम निश्चितरूपसे उन्हें 'सर्वलोकैकनाथम्' स्वीकार करते हैं।

उत्तेजित व्यक्ति एक पागल हाथीके समान होता है। वह अपनी हरकतोंसे आसपासके वातावरणको भयग्रस्त और विषाक्त कर देता है। उत्तेजनाके क्षणोंमें उसकी अक्लको अजीर्ण हो जाता है। वह उसी तरह बके जाता है, जैसे एक बिना मुँहबँधे फुटबालके ब्लैडरसे हवा निकलती रहती है। यदि ऐसा व्यक्ति उत्तेजनाके क्षणोंमें अपने घरमें ही होता है, तो वह या तो अपनी पत्नीको गाली बकता-पीटता है अथवा निर्दोष बच्चोंके लिये विपत्ति बन जाता है।

अनुभव और अध्ययनसे यह सिद्ध हो गया है कि

आत्महत्या वे ही लोग करते हैं जो घोर असहिष्णु होते हैं तथा अपने आपपर संयम नहीं रख सकते। बलात्कारके सारे अपराधोंमें अपराधीकी स्नायविक उत्तेजना ही कारण रहती है। इसीलिये शास्त्रोंमें मनसा-वाचा-कर्मणा संयत और सहिष्णु रहनेकी बात कही गयी है। 'तू-तू, मैं-मैं' में एक व्यक्ति अपनी वाणीपर संयम नहीं रख पाता तो दूसरा अपने हाथोंपर। फलस्वरूप एक दूसरेका प्राणान्त कर देनेतककी नौबत आ जाती है। अपराधीने विपक्षीकी हत्या इसीलिये कर दी कि विपक्षीने उसको उल्टी-सीधी बातें कह दी थीं। अतः यह नेक सलाह दी जाती है कि यदि वक्ता अपनी वाणीपर संयम न रख पाये तो श्रोताको अवश्य सहिष्णु होना चाहिये।

क्षणभरके लिये बुद्धिनाश हो जानेके बाद जब व्यक्ति पुनः सामान्य स्थितिमें आता है, तब उसे अपने व्यवहारपर बड़ी ग्लानि होती है। सच मानिये, वह सहिष्णु श्रोतासे क्षमा-प्रार्थना करनेको नंगे पाँव भागा आयेगा। भगवान् बुद्धके जीवनका एक प्रसङ्ग है, उनके पास एक भ्रान्त व्यक्ति आया। उसने भगवान् बुद्धको उनके धर्म एवं चरित्रके बारेमें अनेकों उल्टी-सीधी बातें कहनी शुरू कीं, किंतु भगवान् बुद्ध शान्तिसे सब सुनते रहे। पास ही बैठे एक व्यक्तिने गौतमसे इस असामान्य मौनधारणका कारण पूछा तो तथागतने केवल इतना ही कहा,—'मैं जब यह भेंट स्वीकार ही नहीं करता, तब यह पुनः भेंटकर्ताके पल्ले ही पड़ेगी।' यह सुनकर गाली देनेवाला व्यक्ति पानी-पानी हो गया। गौतमबुद्धकी महत्ताको कोई आँच नहीं लगी।

हमारी उत्तेजनाके कारणोंमें प्रधान कारण हमारा भोजन और वातावरण है। शराब और सिगरेट पीनेवाला व्यक्ति शीघ्र ही उत्तेजित हो जाता है। ऐसे व्यक्तिके लिये मरना-मारना एक खेल-सा होता है। पुरानी पद्धतिके युद्धोंमें योद्धाओं और हाथियोंको अफीम खिलायी जाती थी ताकि वे युद्धपर्यन्त उत्तेजित बने रह सकें। मांसाहारी एवं अधिक मिर्च-मसालेयुक्त भोजन करनेवाले व्यक्ति बात-बातमें अपना आपा खो बैठते हैं। इसके विपरीत एक वैष्णव-प्रकृतिका भोजन करनेवाला व्यक्ति प्रायः शान्त और सहिष्णु बना रहता है। शास्त्रोंमें अन्नके प्रभावको अधिक स्थायी बताया गया है—'जैसा अन्न वैसा मन' प्रसिद्ध है।

ज्ञानेन्द्रियोंको भोजन आसपासके वातावरणसे ही प्राप्त होता है। शराबियों, अनाचारियों और जुआरियोंकी गलीमें रहनेवाला व्यक्ति भगवत्कृपासे ही कदाचित् सहिष्णु रह सकता है; अन्यथा उसका उत्तेजित होना निश्चित है। इसलिये हमें बुरे सङ्ग तथा बुरे वातावरणसे सदा बचना चाहिये।

सेक्स-प्रधान सिनेमा देखनेवाले तथा सिगरेटका धुआँ उड़ानेवाले व्यक्तियोंसे सहिष्णु बने रहनेकी आशा बहुत ही कम रखनी चाहिये।

यह हमारे स्नायविक दौर्बल्यका ही द्योतक है कि आज संसद् और विधान-सभा-जैसे पावन स्थलोंपर भी 'तू-तू, मैं-मैं'के अवाञ्छनीय प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते हैं। उस व्यक्तिको बिना सींग-पूँछका पशु ही कहना चाहिये, जो शिक्षित होकर भी सहिष्णु और सुसंस्कृत नहीं है।

क्षणिक आवेशमें आकर श्रमिक लोग मिलोंको तहस-नहस कर डालते हैं, जोशमें आकर नादान किशोर घर छोड़कर चले जाते हैं; क्षणिक अनबन होनेपर पति-पत्नीमें तलाक हो जाता है और इस तरह एक भरा-पूरा परिवार उजड़ जाता है। थोड़ा-सा भड़कानेपर विद्यार्थी लोग विद्यालयका बहुमूल्य फर्नीचर तोड़ डालते हैं तथा हड़तालका हथियार अपनाकर सारे शहरका जीवन खतरेमें डाल देते हैं।

उत्तेजनाकालमें उत्तेजित व्यक्तिको किसी भी प्रकारकी समझ नहीं रहती। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' उस समय यदि वह पासमें

आग देखता है तो उसे वह अपने पड़ोसीके घरपर फेंक देता है; यदि कोई पत्थर उसके हाथ लगता है तो उससे वह राह चलतोंका सिर फोड़ देता है। उत्तेजनाके क्षणोंमें लोग न जाने कितने करोड़ रुपयेकी राष्ट्रीय सम्पत्तिका विनाश कर डालते हैं, न जाने कितने निर्दोष लोगोंको मौतके घाट उतार देते हैं; और न जाने कितनी अबलाओंका शील भङ्ग कर देते हैं। बादमें हम अपने कियेपर अवश्य पछताते तथा फूट-फूटकर रोते हैं। रात-दिन वकीलोंके घरकी ओर भागना पड़ता है। ऋण लेकर भी मुकदमे लड़ने पड़ते हैं। रात-दिन अशान्ति, भय और द्वेषकी आगमें जलना पड़ता है। इस प्रकार हम अपने जीवनके अधिकांश बहुमूल्य समयकी बलि दे देते हैं और उसे दुःख बना देते हैं।

कबीरने ठीक ही कहा है—

हारे जिनको हरि मिले, जीते जिनको जम।
दास कबीरा कह गये, सबसे बड़ी गम॥

अतः गृहस्थमें रहता हुआ भी यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंपर संयम रखता है तो वह ब्रह्मनिष्ठके समान पूजनीय है। सात्त्विक भोजन, सत्साहित्यका अध्ययन और सत्संगति—ये तीन उपाय हमें शान्त-प्रकृतिके साँचेमें ढाल सकते हैं। इन्हींका सेवन करना चाहिये।

शबरी-मिलन-प्रसङ्गका एक विशेष महत्त्व

(लेखक—डॉक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

कुछ वर्ष पहले अयोध्याजीमें एक मानस-सम्मेलन हो रहा था। उसमें एक नवयुवकने यह सिद्ध करना चाहा कि भक्तिमती शबरी युवती थीं और सुन्दरी थीं और श्रीराघवेन्द्रका भाव उनके प्रति शृङ्गारका था। श्रोताओंको उनकी बात अच्छी नहीं लगी और उनका प्रवचन बंद करके उन्हें बिठा दिया गया। यह तो न्यायसंगत ही था। साहित्य और कलाकी परम्परा यही है कि वे वृद्धा हैं। हमारे श्रेष्ठ कलाकार नन्दलाल बोसने भी अपने प्रसिद्ध चित्रमें उन्हें वृद्धा बनाया है। करुणानिधान प्रभुका भाव उनके प्रति मातृवत् माना गया है। मानसमें दो व्यक्ति—दो नारियाँ—ऐसी हैं जो रघुनाथजीके चरणोंसे लिपट जाती हैं। एक माता कौसल्या—

बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥

और दूसरी भक्तिमती शबरी—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥

और दोनोंको रघुनाथजी माताके समान मानते हैं।

परंतु एक बड़ी विचित्र बात शबरी-मिलन-प्रसङ्गमें है और वह यह कि रघुनाथजी उनको 'भामिनि' कहकर सम्बोधित करते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।

मानसमें 'भामिनि' शब्दका प्रयोग सुन्दरियोंके लिये हुआ है। जैसे—

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि॥

या—

प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि॥

अथवा—

चलिं ल्याइ सीतहि सखीं सादर सजि सुमंगल भामिनीं।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि 'भामिनि'से वे ही सम्बोधित हैं, जो सुन्दरी ही नहीं हैं बल्कि विशेष प्रकारसे रूपवती हैं। एक और बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि प्रभुने 'भामिनी' केवल दो स्त्रियोंके लिये प्रयोग किया—एक करुणानिधानकी अतिशय प्रिय जानकीजीके लिये।

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

और दूसरे भक्तिमती शबरीके लिये—

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।

यदि उस नवयुवकने अयोध्याजीमें शबरी माताको युवती सिद्ध करनेका प्रयास किया तो वह दयाका पात्र होते हुए क्षमाका पात्र भी था।

मानसकारने भक्तिमती शबरीको प्रेममें माता कौसल्या और दास्यभावमें सीता महारानीके साथ स्थान दिया। मानसकार-का कहना है कि रघुनाथजीने एक बार नहीं, तीन बार भक्तिमती शबरीको 'भामिनि' कहा—

१-कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
२-सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।
३-जनकसुता कइ सुधि भामिनी।

यही नहीं—प्रभुने उन्हें 'करिबरगामिनी' तक कह डाला !!

जानहि कहु करिबरगामिनी।

करुणानिधानने शबरी माताके सौन्दर्यकी सीमा ही नहीं रक्खी !!

तो क्या शबरी माता कोई विशेष प्रकारकी सुन्दरी थीं ?

जिस प्रकार 'भामिनि' शब्दका मानसमें प्रयोग हुआ है उन संदर्भोंको दृष्टिमें रखते हुए इस प्रश्नका यही एक उत्तर है कि माता शबरी एक विशेष प्रकारकी अत्यन्त सुन्दरी थीं !!!

गोस्वामीजीने मानसमें बहुतोंकी सुन्दरताका वर्णन किया है। उदाहरणार्थ दुलहिन पार्वतीजीके सम्बन्धमें वे कहते हैं—

देखत रूपु सकल सुर मोहे।
बरनै छबि अस जग कबि को है॥

जगदंबिका जानि भव बामा। सुरन्ह मनहिं मन कीन्ह प्रनामा॥
सुंदरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहुँ बदन बखानी॥

जानकीजीकी सुन्दरताका यह वर्णन है—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा मोहि सकल लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥

बालरूप रघुनाथजीके सम्बन्धमें कहा गया है—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥

और उनका नख-शिख वर्णन करनेके बाद कविवर कहते हैं—

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा।

कुमाररूप श्रीरघुनन्दनके लिये कहते हैं—

कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि नीती।
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं।

क्षत्रिय-राजकुमार श्रीरघुवीरकी सुन्दरता ऐसी थी कि जो युद्ध-मत्त राक्षस दौड़कर उन्हें मारने आये थे, वे—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी।

युगल सरकारकी छवि संक्षेपमें ऐसी थी—

नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली।

यदि इन्हें अलौकिक सुन्दरताके वर्णन कहकर आप की जाय तो लौकिक सुन्दरताके उदाहरण देखिये। जनकपु के रनिवासकी शोभा ऐसी थी—

बिधुबदनीं सब सब मृगलोचनि। सब निज तन छबि रति मदु मोचनि
पहिरें बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजें सरीरा।
सकल सुमंगल अंग बनाएँ। करहिं गान कल कंठि लजाएँ।
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चालि बिलोकि काम गज लाजहिं।

अयोध्याजीकी नारियोंका क्या कहना ?

प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि।

नारद-अहङ्कार भङ्ग करनेके लिये जो मायानगर श्रीपति रचा था, उसके नर-नारियोंकी सुन्दरता इस प्रकार वर्णित है—

बसहिं नगर सुंदर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनुधारी।

ये सब सौन्दर्यवर्णन ध्यानमें रखते हुए यही विचार कुछ चकित-सा कर देता है कि कहाँ जनकपुरका सर्वाङ्ग सजा रनिवास, कहाँ अयोध्याजीकी श्रृङ्गारपूर्ण नारियाँ, कहँ मायानगरीके रूप-लावण्ययुक्त नर-नारी और कहाँ बेचार वनमें कुटिया बनाकर रहनेवाली भक्तिमती माता शबरी !!

परंतु जिन कविवर तुलसीदासजीने यह कहा—

भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक॥

उन कवि-कुल-चूड़ामणिको यह आशा थी कि 'बिमल बिबेक' वाले संत हैं, वे केवल बाह्यरूपसे सौन्दर्यके

मूल्याङ्कन नहीं करेंगे, बल्कि अंदरका सौन्दर्य भी देखेंगे। इसलिये उन्होंने आगे कहा—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥

यहाँ 'महँ' शब्द विशेष प्रकारसे विचारणीय है। आन्तरिक पवित्रता और सुन्दरतापर दृष्टि रखनेवाले और उसको बाह्य सौन्दर्यसे अधिक प्रधानता देनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजी ही यह कह सकते थे कि सरूप अर्थात् सुन्दर रूप पाकर सलोना होनेपर भी उस व्यक्तिका सौन्दर्य फीका है। वह स-रूप नहीं, अ-रूप ही है, यदि उसने प्रभुमें अनुराग नहीं जाना।

कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु अनुरागरहित जस सालन साग अलोने॥

जब भरतजी करुणानिधान प्रभु श्रीरामचन्द्रको मनाने जा रहे थे, तब उनका प्रभुके प्रति अनुराग विशेष प्रकारसे दर्शनीय था।

कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग।

और—

जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥

रघुनाथजी अपने सेवकमें अनुराग ही ढूँढ़ते हैं। कितना ही कोई तपस्वी हो या ज्ञानी हो या वैराग्यवान् हो, यदि उसने प्रभुके चरणोंमें अनुराग नहीं किया तो उसे प्रभुकी कृपा प्राप्त नहीं होगी। भगवान् शंकरका वचन है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

प्रभु अन्तर-प्रेमके पारखी हैं। राक्षस मारीचने जब प्राणत्याग किया, तब—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

प्रभु-चरणोंमें छलविहीन अनुराग ही जीवनसर्वस्व है—यह सिद्धान्त गोस्वामीजीको इतना प्रिय था कि इसको स्थापित करनेके लिये कविवरने रघुनाथजीकी सहायतासे शबरी-मिलन-प्रसङ्गमें इसे सिद्ध किया। कविवरका कहना है—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

और इसकी सत्यता सिद्ध करनेके लिये शबरीको रघुनाथजीने 'भामिनि' शब्दसे सम्बोधित किया; क्योंकि रघुनाथजीके दृष्टिकोणसे वह शबरी 'सुभग सरीरा' वाली थीं। उन्होंने भक्तिमती शबरीसे कहा था—

सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।

जिसकी भक्ति; जिसका अनुराग सब प्रकारसे प्रभु-चरणोंमें हो और पूर्णतया दृढ़ हो, वह तो अत्यन्त रूपवान् हुआ भीतरसे—चाहे बाहरसे न हो। इसी कारण करुणानिधानने पूर्ण भक्तिमती शबरीको तीन बार 'भामिनि' कहकर तीनों प्रकारसे—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों रूपोंसे पूर्णरूपेण सुन्दरी माना। प्रभुने उन्हें 'करिबरगामिनी' भी कहा। यह भी ठीक था; क्योंकि चाल वही सबसे सुन्दर जो वहाँ ले जाय, जहाँ प्रभुके दर्शन हो सकें, जहाँ प्रभुका साक्षात्कार हो—जैसा भक्तिमती शबरीके साथ हुआ।

शबरी-मिलन-प्रसङ्गका अन्त करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

जातिहीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।

शबरीने भी अपनेको अत्यन्त अपावन कहा था—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

'अस नारि'को भी प्रभुने पावन समझा। भक्तिमती शबरी-की सब प्रकारकी दृढ़ भक्तिसे प्रसन्न होकर पहले करुणानिधान-ने उसे बार-बार रूपवती 'सुभग सरीरा'वाली कहा और फिर उसे हरि-पद-लीन करके परम पावन बनाकर प्रभुने इस अर्धालीको पूर्णरूपसे सिद्ध कर दिया—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

मानसमें शबरी-मिलन-प्रसङ्गका यह एक विशेष महत्त्व है।

अर्जुनके मनका विश्लेषण

(लेखक---डा० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

१. पृष्ठभूमि

अर्जुनके मनमें विषादने कैसे घर किया, इसपर थोड़ा विचार कीजिये। जब कौरवोंकी ओरसे शङ्ख बजाये गये और युद्धारम्भकी सूचना दी गयी, तब श्वेत घोड़ोंवाले बड़े रथमें विराजमान श्रीकृष्ण और अर्जुनने अपने दिव्य शङ्ख बजाये। अर्जुनने अपना देवदत्त शङ्ख बजाया, जो उसे खाण्डव-दाहके समय अग्निसे प्राप्त हुआ था। कपिध्वज अर्जुनने शस्त्र-प्रहार प्रारम्भ होनेके समय अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे कहा —'अच्युत! इन दोनों सेनाओंके बीच मेरा रथ खड़ा कर दीजिये, जिससे मैं युद्धार्थ खड़े हुए सब लोगोंको देख लूँ। दुष्टबुद्धि दुर्योधनका हित चाहनेवाले जो इस युद्धमें आये हैं, मैं देख रहा हूँ, उन सबसे युद्ध होगा ही।'

जब भगवान्ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा कर दिया, तब अर्जुनको वहाँ सब अपने ही बन्धु-बान्धव दिखलायी पड़े। उसका युद्धोत्साह जाता रहा, वह कृपासे आविष्ट हो गया और विषादयुक्त होकर भगवान्से कहने लगा—अपने स्वजनोंको युद्धमें खड़े देखकर मेरे शरीरके अवयव टूट-से रहे हैं, मुख सूखा जा रहा है, शरीर काँपने लगा है, सब रोम खड़े हो गये है, गाण्डीव हाथसे छूटा पड़ता है, सब शरीरकी त्वचा मानो जल रही है। मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता। मेरा मन चक्कर-सा खा रहा है। मुझे चारों ओर बुरे-बुरे शकुन दिखलायी पड़ रहे हैं। युद्धमें अपने लोगोंको मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता। बड़े खेदकी बात है कि केवल राज्य-सुखके लोभसे हम इतना बड़ा पाप करनेको उद्यत हो गये, केवल राज्यसे थोड़ा सुख प्राप्त करनेके लोभसे हम अपने बान्धवोंको मारनेके लिये तैयार हो गये।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

२. आत्म-दया

अर्जुन जिस दयासे वशीभूत होकर युद्धसे पराङ्मुख हो रहा है, वह दया वास्तवमें सच्ची दया नहीं है। इस दयाके मूलमें स्वार्थवृत्ति है, जिसके कारण वह ऐसा कार्य करनेसे हिचकता है, जिसमें उसे अपने ही लोगोंको चोट पहुँचानी होगी। वह एक आत्मदयाकी भावुकतापूर्ण मनोवृत्तिके कारण पीछे हटना चाहता है। यह दया उसके आध्यात्मिक विकास या सत्त्वगुणकी प्रधानताका परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना अथवा तमोगुणकी उपज है। जिस दयाके वशीभूत होकर वह अपने नियत कर्तव्यका त्याग करना चाहता है, वह त्याग तामसिक ढंगका त्याग है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(१८। ७)

अर्थात् नियत कर्मका त्याग उचित नहीं है। मोहसे यदि उसका परित्याग कर दिया जाय तो यह त्याग 'तामस' कहा जायगा। अर्जुनके हृदयमें जो दया और अहिंसाकी भावना जगी है, उसका कारण यह नहीं है कि वह आध्यात्मिक विकासकी उस स्थितितक पहुँच गया है, जहाँ करुणा और मानवीय प्रेम व्यक्तित्वका सहज अङ्ग बन जाता है। यह वस्तुतः मोहका परिणाम है, जिसके कारण राजस प्रवृत्तिवाला अर्जुन 'तामस त्याग और वैराग्य' की ओर उन्मुख हो रहा है।

३. अप्रिय संवेग

उक्त मिथ्या आत्म-दयाके साथ-साथ अर्जुन विषादके वशीभूत हो रहा है, जो एक अप्रिय 'संवेग' है। आशा, हर्ष, प्रेम, साहस, हास आदि प्रिय संवेग हैं—तथा क्रोध, भय, घृणा, चिन्ता, निराशा, विषाद आदि अप्रिय संवेगोंके अन्तर्गत आते हैं। अप्रिय संवेगोंका हमारे शरीर और मनपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणके लिये एक अप्रिय संवेग क्रोधको लीजिये। डा० एल्० पी० वर्माके मतानुसार क्रोधका निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है—

१—पाचन क्रिया रुक जाती है।

२—अतड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं।

३—हृदयकी गति तीव्र होकर ८० से १८० तक हो जाती है।

४–रक्तचाप, जो साधारणतया १२० रहता है, २३० तक हो जाता है।

५–कभी-कभी अत्यधिक क्रोधसे मस्तिष्ककी रक्त-कोशिकाएँ फट जाती हैं। हृदयकी छोटी-सी रक्त-कोशिका, जिसे 'कॉरोनरी आर्टरी' कहते हैं और भी छोटी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप क्रोधी व्यक्ति कभी-कभी अपनी जानसे भी हाथ धो बैठता है। जान हंटर नामक एक चिकित्सकके लिये कहा जाता है कि उसे खराब कॉरोनरी आर्टरीके साथ-साथ क्रोधी स्वभाव भी मिला था। एक दिन एक विद्यार्थीने कुछ बेतुके सवाल उससे पूछे, जिससे वह क्रोधसे अभिभूत हो गया और उसकी इहलीला समाप्त हो गयी।

जब हनुमान्‌जीने लंका जला दी, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई कि 'क्रोधके कारण मुझसे बड़ा अनर्थ हो गया। लङ्का जब भस्मीभूत हो गयी, तब जानकी भी अवश्य जल गयी होंगी। मैं स्वामिघातक हूँ, अब मेरे जीवित रहनेसे भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? वे पुरुषश्रेष्ठ धन्य हैं, जो उठे हुए क्रोधको बुद्धिबलसे रोक लेते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिये क्रोध बड़ा घातक है।'

क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥
(५।५५।४)

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥
(५।५५।५)

'क्रुद्ध होनेपर कौन मनुष्य पाप नहीं कर डालता? हो सकता है कि क्रुद्ध व्यक्ति गुरुओंकी भी हत्या कर दे? क्रुद्ध पुरुष अपनी कठोर वाणीसे साधुओंकी भी निन्दा करने लगता है। कुपित होनेपर उसके लिये वाच्यावाच्यका विचार नहीं रह जाता; क्रुद्धके लिये न कहीं कुछ अकार्य है और न कहीं कुछ अवाच्य।'

४· विषाद नामक अप्रिय संवेग

क्रोधकी ही भाँति एक दूसरा अप्रिय संवेग है—'विषाद', जिसका गीताके प्रथम अध्यायमें चित्रण हुआ है। विषादके शारीरिक प्रभावोंकी दृष्टिसे अर्जुनकी निम्नलिखित उक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

पारिभाषिक शब्दावलिका आश्रय लेकर कहें तो कह सकते हैं कि अङ्गोंका ढीला पड़ना, मुँहका सूखना, शरीरका काँपना, रोंगटोंका खड़ा होना, हाथसे गाण्डीव धनुषका फिसलना और खड़ा न रह सकना—ये सब 'विषाद' नामक संवेगके 'अनुभाव' हैं। अर्जुनका यह कथन भी कि मुझे बुरे-बुरे शकुन दिखलायी पड़ रहे हैं, उसके हृदय-दौर्बल्यका द्योतक है—

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

यद्यपि पुष्पिकामें गीताके प्रथम अध्यायको 'विषाद-योग'का नाम दिया गया है, तथापि इस विषादके साथ-साथ वह 'भय' भी मिला हुआ है, जो स्वजन-वध-जन्य विचारमात्रसे उद्भूत हुआ है। अर्जुनका यह भय कौरवोंकी विशाल सेनाको देखकर उत्पन्न नहीं हुआ है। आयुर्वेदके विद्वानोंका कहना है कि भय और शोकके लक्षणोंका पूर्ण चित्रण ऊपरके श्लोकोंमें हुआ है।

राजस्थानके प्रसिद्ध कवि बाँकीदासने कहा है कि शूरवीर न तो जन्मपत्र देखता है और न शकुन-अपशकुनका ही विचार करता है[1]। निश्चय ही अर्जुन भी यदि स्वजनोंको छोड़कर अन्य शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये जाता तो अपशकुनोंकी बात नहीं करता; किंतु आज तो वह यह समझता है कि इससे बड़ा अपशकुन और क्या होगा कि स्वजन ही उससे लड़नेके लिये रणभूमिमें एकत्र हुए हैं। और तो और, भीष्म और द्रोणाचार्य-जैसे गुरुजनोंसे बाण लेकर वह कैसे युद्ध करे? वे तो पूजाके योग्य हैं, युद्धमें लड़नेके योग्य नहीं हैं। गुरुओंकी हत्याकी अपेक्षा तो भीख माँगना अच्छा है। गीताकारने अर्जुनकी आत्मदया, उसके भय, उसके विषाद और उसकी दुविधाका मार्मिक चित्रण किया है। अर्जुनके मुखसे 'भ्रमतीव च मे मनः' कहलवाकर गीताकारने उक्त विषादके मानसिक प्रभावका सूत्ररूपमें पूर्ण चित्रण कर दिया है। अर्जुनका मन क्यों चक्कर खा रहा है?

---

[1] सूर न पूछै टीपणी, सुगण न देखै सूर।
मरणां ने मंगल गिणै, समर चढै जद नूर॥

इसका प्रमुख कारण यह है कि वह ऐसे तनावकी स्थितिमेंसे गुजर रहा है कि अपना कर्तव्य निश्चित नहीं कर पाता। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है। उसकी दृष्टिमें इस किंकर्तव्यविमूढ़ताका कारण है उसके स्वभावका कार्पण्य अथवा दीनताके दोषसे उपहत होना। डा० राधाकृष्णन्‌के शब्दोंमें अर्जुन केवल निराशा, चिन्ता या संशयसे ही प्रेरित नहीं है अपितु वह निश्चयके लिये तीव्र इच्छासे भी प्रेरित है। अपनी अविवेकशीलताको अनुभव करना व्यक्तिके विकासकी ओर आगे बढ़ना है। अपूर्णताकी सजग अनुभूति इस बातकी द्योतक है कि आत्मा सचेत है और जबतक वह सचेत है, वह सुधर सकती है, जैसे कि जीवित शरीर किसी जगह चोट खा जाने या कट जानेपर फिर स्वस्थ हो सकता है। मानव प्राणी पश्चात्तापके संकटकालमेंसे गुजरकर उच्चतर दशाकी ओर बढ़ता है।

जिज्ञासुओंका यह सामान्य अनुभव है कि वे जब प्रकाशकी देहलीपर खड़े होते हैं, तब भी वे संशयों और कठिनाइयोंसे ग्रस्त रहते हैं। जब प्रकाश किसी आत्मामें चमकना शुरू होता है, तब वह उसके प्रतिरोधके लिये अन्धकारको भी बढ़ावा देता है। अर्जुनके सामने बाह्य और आन्तरिक कठिनाइयाँ, उदाहरणके लिये सम्बन्धियों और मित्रोंका प्रतिरोध, संशय और भय, वासनाएँ और इच्छाएँ विद्यमान हैं। इन सबको त्याग-वेदीपर बलि कर देना होगा और ज्ञानकी आगमें भस्म कर देना होगा। अन्धकारके साथ संघर्ष तबतक चलता रहेगा, जबतक व्यक्तिका सम्पूर्ण अपनापन प्रकाशसे न भर उठे। दीनताके बोझसे दबा हुआ, क्या सही है और क्या गलत—इस विषयमें दुविधामें पड़ा हुआ अर्जुन अपने गुरुसे, अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌से प्रकाश और पथप्रदर्शन प्राप्त करना चाहता है। जब किसीका संसार नष्ट हो रहा हो, तब वह केवल अन्तर्मुख होकर भगवान्‌की असीम दयाके रूपमें ज्ञानकी खोज कर सकता है।

अर्जुन किसी अधिविद्याकी माँग नहीं करता, क्योंकि वह ज्ञानका अन्वेषक नहीं है। वह तो एक कर्मशील मनुष्य है, इसलिये वह कर्मका विधान जानना चाहता है। वह अपना कर्तव्य जानना चाहता है। वह जानना चाहता है कि उसे इस कठिनाईके अवसरपर क्या करना है। स्वामी! तुम मुझसे क्या करानेकी अपेक्षा करते हो?

अर्जुनकी भाँति साधकको अपनी दुर्बलता और अज्ञानका अनुभव करना होगा और फिर भी उसे परमात्माकी इच्छाके अनुसार कार्य करने और वह इच्छा क्या है, उसे खोज निकालनेके लिये कटिबद्ध होना होगा।*

५. चेतनाके विविध स्तर

अर्जुनके आन्तरिक संघर्षका विश्लेषण करनेके लिये हमें उसकी चेतनाके विभिन्न स्तरोंपर विचार करना होगा। उसके चेतन मस्तिष्कमें रह-रहकर यह विचार उठता है कि अपने ही व्यक्तियोंको वह मौतके घाट कैसे उतार दे। ऐसा करनेसे वह बड़े भारी पापका भागी होगा। किंतु उसके अवचेतन मनमें यह विचार भी आता होगा कि दुर्योधन आदि कौरव बड़े अन्यायी हैं और भविष्यमें कभी भी वे नीतिपूर्वक शासन करनेकी इच्छा नहीं करेंगे।

फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकोंके मतानुसार हमारी सम्पूर्ण चेतनाके दस अंशोंमेंसे नौ अंश अचेतन हैं तथा शेष अंश अर्द्धचेतन अथवा चेतन। अर्जुनके अचेतन मनमें योद्धासुलभ उन संस्कारोंका पुञ्ज एकत्रित है। जिसके वशीभूत होकर वह अबतक अनेक युद्ध कर चुका है। किंतु इस समय क्षत्रियोचित उन सभी संस्कारोंको वह भूले हुए है। जिस वैराग्यकी अर्जुन बात करता है, वह उसकी प्रकृति अथवा स्वभाव नहीं है। यह वैराग्य-भावना मोहसे उद्भूत है और तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र है। अर्जुनकी चेतनाके गहनतम स्तरोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्जुन वह बनना चाहता है, जो वह स्वयं नहीं है। वह स्वधर्मको छोड़कर पर-धर्म अपनानेकी बात कर रहा है। आगे चलकर श्रीकृष्णने स्पष्ट शब्दोंमें कहा भी है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(३। ३३)

अर्थात् 'ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृतिकी ओर जाते हैं। यहाँ निग्रहसे क्या होगा?' बुद्धने जो 'महाभिनिष्क्रमण' किया, संसार छोड़कर जिस वैराग्यका आश्रय लिया, वह उनकी प्रकृतिके अनुरूप था। इसलिये गीता भी इस तरहके वैराग्यका विरोध नहीं करेगी। किंतु अर्जुन जिस संन्यासका आश्रय लेना चाहता है, वह उसका स्वभाव अथवा स्वधर्म नहीं है। जिस कामकी हमें आदत है, जो हमारा स्वभाव है, उसे पूरा करनेमें हमारे मन

---

* श्रीविराज एम्० ए० द्वारा अनूदित।

पर कोई बोझ नहीं पड़ता, उसे हम अनायास कर डालते हैं; किंतु जो हमारी प्रकृति नहीं है, उसे अपनानेमें मस्तिष्क-पर भार पड़ता है और उस अवस्थामें मानसिक तनाव उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है।

६· मानसिक तनाव

फ्रायडवादियोंके मतानुसार मानसिक तनावका कारण है सुख सिद्धान्त (Pleasure Principle) और आदर्श अहं (Super-ego) का संघर्ष। संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करना चाहता है। किंतु कभी-कभी जब उसका आदर्श अहं बीचमें आकर बाधा डालता है, तब तनाव पैदा हुए बिना नहीं रहता। यह हम नहीं कह सकते कि अर्जुनकी राज्य-सुख भोगनेकी वासना अथवा इच्छाका नाश हो चुका है; राज्य-सुख भोगना वह चाहता है, किंतु उसका आदर्श अहं अथवा उसका अन्तःकरण बीचमें बाधक सिद्ध होता है। उसका अन्तःकरण इस बातकी गवाही नहीं देता कि अपने ही लोगोंकी हत्या करके वह राज्य-सुख भोगे। यही कारण है कि अर्जुन बड़ी उलझनकी स्थितिमें पड़ गया है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह क्या करे।

७· कर्मका प्रयोजन

मनुष्य किस प्रयोजनको लेकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, इस सम्बन्धमें दार्शनिकोंने अनेक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है। उनमेंसे एक सिद्धान्त है—सुखवादका सिद्धान्त (Hedonism)। यदि मनुष्य केवल व्यक्तिगत सुखको दृष्टिमें रखकर कोई कार्य करता है तो स्वार्थकी प्रधानताके कारण इस प्रकारके कर्मको प्रशस्य नहीं माना जाता। इसीलिये कुछ दार्शनिक व्यक्तिगत सुखवाद (Egoistic Hedonism) के स्थानपर सार्वजनीन सुखवाद (Universalistic Hedonism) का समर्थन करते हैं। गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुन भी कर्मके प्रयोजनको दृष्टिमें रखकर कहता है कि 'अपने ही आदमियोंकी हत्या करके हम सुखी कैसे होंगे ? राज्यसुखके लोभसे स्वजनोंका वध करनेके लिये जो हम उद्यत हो गये हैं, यह तो बहुत बड़ा पाप है।' *

अर्जुनकी उक्तियोंसे स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि व्यक्तिगत सुखकी ही ओर है, समष्टिके सुखकी ओर नहीं। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि जो युद्धमें उसकी सहायताके लिये एकत्र हुए हैं, उनका क्या होगा यदि वह युद्धसे पराङ्मुख हो जायगा। वह इस ओरसे भी उदासीन है कि उसके युद्धसे विरत होनेपर दुर्योधन आदिके द्वारा अत्याचार किये जानेपर प्रजाकी क्या हालत होगी। अत्याचारी शासकके राज्यमें जनता कैसे सुखी रह सकती है ? निश्चय ही जिस भावनासे प्रेरित होकर अर्जुन युद्धसे मुख मोड़ रहा है, वह भावना दूषित है।

८· काण्टका मत

कर्मके प्रयोजनके सम्बन्धमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्टका कहना है कि कर्तव्य केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे किया जाना चाहिये। समष्टिके सुखको लक्ष्यमें रखकर भी जो कर्म किया जायगा, उसके सम्बन्धमें भी 'गारंटी' क्या है कि उससे समष्टिको सुख मिल ही जायगा ? कर्म-फलके नियामक केवल हम ही नहीं होते, अन्य बाह्य शक्तियाँ भी कर्म-फल-निष्पत्तिमें योग देती हैं। अतः कर्मका प्रयोजन न व्यक्तिगत सुखवाद होना चाहिये, न समष्टिगत सुखवाद। केवल कर्तव्यको दृष्टिमें रखकर अनासक्तभावसे कर्म किया जाना चाहिये। कर्तव्य-भावनासे किये गये कर्मका फल कर्तव्य-भावना ही है। कर्तव्य-भावनाके अतिरिक्त और किसी फलकी आशा नहीं रखनी चाहिये। वस्तुतः कर्मकी अनासक्त प्रक्रिया ही उसका फल है, उसका पुरस्कार है।

कुछ विचारकोंका कहना है कि किसी भी कर्मके शुभाशुभ निर्णयके सम्बन्धमें कर्त्ताकी बुद्धि (Intention) ही एकमात्र कसौटी होनी चाहिये; किंतु बुद्धिको कसौटी स्वीकार कर लेनेपर भी हम कर्तव्यसे बाह्य किसी दूसरी वस्तुको कसौटीके रूपमें ग्रहण कर रहे हैं। कर्मका प्रयोजन वस्तुतः कर्तव्य-भावनाके अतिरिक्त और किसी बाह्य वस्तुको नहीं मानना चाहिये।

युद्ध न करनेके सम्बन्धमें अर्जुनका जो दृष्टिकोण है, वह व्यक्तिगत सुखवादसे ऊपर नहीं उठता, इसलिये किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

यदि मनमें बुराई और भलाईका संघर्ष हो तथा यह निश्चितरूपसे मालूम हो कि यह बुराई है तो निर्णयपर पहुँचनेमें कोई कठिनाई नहीं होती; किंतु कठिनाई वहाँ

---

* स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

उपस्थित होती है, जहाँ संघर्ष 'सचाई' और 'भलाई' अथवा 'औचित्य' और 'सुख'के बीच हो । अर्जुनका संघर्ष 'औचित्य' तथा 'सुख'का संघर्ष है । इसीलिये वह उचित निर्णयके अभावमें किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया है ।

९. कर्तव्य-निर्धारणकी समस्या

यदि उचित काम करनेसे अपना तथा दूसरोंका भला होता हो तो कोई नैतिक समस्या उत्पन्न नहीं होती और आसानीसे निर्णय किया जा सकता है; किंतु नैतिक समस्या वहाँ उत्पन्न होती है, जहाँ 'औचित्य' और 'भलाई'में परस्पर विरोध होता है । उदाहरणके लिये कल्पना कीजिये कि दो देशोंमें युद्धके परिणामस्वरूप संधि होती है; किंतु संधिकी एक शर्तके रूपमें शत्रु एक निरपराध व्यक्तिकी जान लेना चाहता है, अन्यथा वह निर्बल राष्ट्रको तहस-नहस कर देगा । ऐसी स्थितिमें एक निरपराध व्यक्तिकी जान बचायी जाय अथवा समूचे राष्ट्रको नष्ट होनेसे बचाया जाय ? औचित्यकी दृष्टिसे निरपराध व्यक्तिकी ही रक्षा राष्ट्रका कर्तव्य है; किंतु राष्ट्रके सुखकी दृष्टिसे एक निरपराध व्यक्तिकी बलि कर देना आवश्यक है । राजस्थानके इतिहासमें प्रसिद्ध है कि हमीरने एक व्यक्तिकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी ।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि मनुष्य भलाईके लिये औचित्यका बलिदान करनेके लिये तैयार हो जाता है, न कि औचित्यके लिये भलाईका । अर्जुन भी यही करता हुआ दिखलायी पड़ता है । अन्तर केवल यही है कि अर्जुन भलाईको उचित भी ठहरा रहा है । किंतु जैसा ऊपर कहा गया है, यदि भलाई और औचित्यमें कोई संघर्ष न हो तो विकट नैतिक समस्याका कोई प्रश्न ही नहीं उठता । यदि युद्ध न करना उचित है और उससे भला भी होता है तो फिर समस्या है ही कहाँ ? किंतु वस्तुतः अर्जुनके साथ बड़ी भारी उलझन है । युद्धके लिये जब दोनों सेनाएँ लड़ाईके मैदानमें जुटी हुई हैं, अर्जुनका आत्मदयावश युद्धसे पराङ्मुख होना बड़ा अनुचित कार्य होगा और जैसा आगे चलकर श्रीकृष्णने समझाया, ऐसा करनेसे वह अपने क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन नहीं कर सकेगा, उसकी अपकीर्ति होगी और उसे पाप लगेगा । लोग यह समझेंगे कि डरकर अर्जुन युद्धसे भग गया, शत्रु अनेक प्रकारसे उसकी निन्दा करेंगे और सच तो यह है कि प्रतिष्ठित व्यक्तिके लिये अपयश मरणसे भी बढ़कर है ।

इतिहास साक्षी है कि श्रीकृष्णने अर्जुनको जो मार्ग दिखलाया, वही उचित मार्ग था । आक्रान्ता चीन भारतको अपमानजनक संधि करनेके लिये यदि विवश करे तो क्या भारत 'औचित्य' और मान-मर्यादाकी बलि देकर रक्तपातसे बचनेके लिये ऐसी संधि कर सकेगा ? भारत-जैसा महामहिमशाली देश निश्चय ही अपनी मर्यादा और गौरवकी रक्षाके लिये अपमान-जनक संधिकी अपेक्षा मर-मिटना पसंद करेगा । श्रीकृष्णने भी अर्जुनको यही समझाया कि अपने नियत कर्मका त्याग वाञ्छनीय नहीं है, उसे 'विगतज्वर' होकर युद्धमें प्रवृत्त होना चाहिये ।

गीत तुम्हारे जीवन-सम्बल मेरे

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा)

(१)

गीत तुम्हारे गाये मैंने अनगिन,
सुछवि सुहावन भर नयनोंमें प्रतिदिन ।
मन-मंदिरमें सुषुप्तिमें, जागृतिमें
गीत तुम्हारे रहे गूँजते निशि-दिन ॥

(२)

धूप-छाँहमें, तिमिर-ज्योतिमें तेरे
सुरभित-श्वासोछ्वास-स्पर्श से मेरे ।
प्राण-प्रकम्पन-सिहरन में अनुगुञ्जित
गीत तुम्हारे जीवन-सम्बल मेरे ॥

कल्याणकारी गङ्गाजल एवं पुण्यसलिला भागीरथी

(लेखक—श्रीचुन्नीलालजी भारद्वाज)

'गङ्गाजल', भारत-भूमिकी एक परम पुनीत, दिव्य और आरोग्यप्रदायक वस्तु है। अत्यन्त प्राचीन कालसे ही समस्त मानवजाति इसे श्रद्धा और सम्मानकी दृष्टिसे पूज्य मानती आयी है। प्रायः सभी प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंमें—चाहे वे आध्यात्मिक हों, ऐतिहासिक हों, स्वास्थ्य-सम्बन्धी हों या संस्मरणात्मक हों—किसी-न-किसी रूपमें गङ्गा और गङ्गाजलका उल्लेख अवश्य आया है। इसे सर्वपापनाशक, आध्यात्मिक परम लाभकी प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन तो माना ही गया है, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी इसका महत्त्व बहुत ही अधिक है।

आयुर्वेद-शास्त्रके मतानुसार 'गङ्गाजल' सब प्रकारके जलोंमें सर्वोत्कृष्ट और सर्वदोषनाशक है। यह शीतल, हल्का, तृप्तिदायक, आनन्दवर्द्धक, पाचक, बुद्धिवर्द्धक, जीवनीशक्तिका विकास करनेवाला और समस्त-रसायन गुणोंसे भरपूर है। गङ्गाजल मूर्च्छा, तन्द्रा, प्यास, शरीरकी दाह, थकावट, उदरविकार, पेटके कृमि और पुराना कब्ज इत्यादि व्याधियोंको नष्ट कर शरीरकी समस्त धातुओंको शुद्ध करते हुए देहको सुदृढ़ बनाता है एवं आयु दीर्घ करता है। मुख्य बात यह है कि इसका सेवन करनेसे मनुष्यकी बुद्धि सात्त्विक विचारोंसे परिपूर्ण होती है। इसी दृष्टिकोणसे सम्भवतः हमारे पूर्वज महर्षियोंने एकस्वरसे यह कहा है, 'गङ्गाजलके पान और स्नान करनेवाले मनुष्यके समस्त पापोंका नाश हो जाता है और वह पूर्ण आरोग्य प्राप्त करते हुए दीर्घायु बनता है।' इसी मतकी पुष्टि आयुर्वेद-शास्त्रके विश्वविख्यात विद्वान् महर्षि चरकने अपने ग्रन्थ 'चरक-संहिता'में भी की है। इनके पश्चात् सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'चक्रपाणिदत्त'ने भी १०६० ई० में उक्त कथनकी पुष्टि करते हुए गङ्गाजलको सर्वव्याधियोंका संहारक कहा है।

भारतवर्षके प्रसिद्ध 'भंडारकर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट'-में प्राप्य एक हस्तलिखित ग्रन्थमें किसी प्राचीन विद्वान्ने गङ्गाजलकी महत्तापर विस्तृत रूपसे लिखा है। उसमें भी गङ्गाजलको सुपथ्य, आहारके लिये सर्वोत्तम, पाचन-शक्तिवर्द्धक, तृषानाशक और बौद्धिक विकास करनेवाला कहा गया है।

देशके सुविख्यात शारीर-शास्त्री एवं महान् चिकित्सक, स्वर्गीय श्रीगणनाथसेन महोदयने गङ्गाजलके अतिरिक्त उसकी रज (मिट्टी) को भी सर्वप्रकार चर्म एवं रक्तविकारोंका नाश करनेवाला माना है। रजके शरीरपर लेपनसे भयंकर व्याधियाँ भी कुछ ही कालमें नष्ट हो गयीं और त्वचाका वर्ण उज्ज्वल हो गया।

गङ्गाजल और पाश्चात्त्य विज्ञान

कई वर्ष हुए, प्रसिद्ध समाचारपत्र 'स्टेट्स मैन'में एक पश्चिमीय जगत्के किसी सुविख्यात चिकित्सकका एक निबन्ध प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने लिखा था—

'गङ्गाजलमें एक आश्चर्यजनक गुण पाया—दुष्ट व्रण-रोपणकी अद्भुत शक्ति। पूरी सम्भावना है कि गङ्गाजल जिस भू-भागसे बह कर आता है, उसमें रेडियम-सरीखी कोई वस्तु हो। कृमि-समूहका नाश करना गङ्गाजलका एक चमत्कार है।'

फ्रांसके सुप्रसिद्ध चिकित्सक, डॉ० हेरेलने गङ्गाजलपर अनेक अनुसंधान किये। इन्होंने अनेक ऐसे मनुष्योंके शवोंको जो आँव आदि रोगों और हैजेसे समाप्त हो गये थे, ऐसे स्थानपर गङ्गामें डाला, जहाँ इन्हें उक्त रोगोंके कीटाणुसमूहके एकत्र होनेका विश्वास था; किंतु आश्चर्य! एक भी कीटाणुका पता नहीं चल पाया। अन्वेषणकी सफलतापर डाक्टरने घोषित किया कि 'उक्त प्रकारके रोगियोंके लिये, गङ्गाजलको औषधरूपमें सेवन कराया जाना चाहिये।'

आगराके राजकीय रसायन-परीक्षक, श्री ई० एच० हैकिन्सने अपनी प्रयोगशालामें गङ्गाजलपर अनेक परीक्षण किये। तत्पश्चात् इस विषयमें उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—

'गङ्गाजलको पवित्र और दिव्य वस्तु माननेवाले भारतीयोंके कथनमें सार है। गङ्गाजल हैजा आदि संक्रामक रोगोंके कीटाणुओंको नष्ट करता है। किंतु मुझे आश्चर्य है कि प्राचीन भारतके हिंदूसमाजके विद्वानोंको कीटाणु-विज्ञानका इतना सूक्ष्म ज्ञान किस प्रकार हुआ।' निश्चय ही श्रीहैकिन्स महोदयका अभिप्राय उन विश्वविख्यात प्रातःस्मरणीय विद्वान् आयुर्वेद-

विशेषज्ञोंसे रहा, जिन्होंने आजसे कहीं सहस्रों वर्ष पूर्व ही संसारको इसका रहस्य बता दिया था, जो आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और अक्षरशः सिद्ध हो रहा है।

वैज्ञानिक हैकिन्सकी इस घोषणाके पश्चात् पाश्चात्य विज्ञान-जगत्में गङ्गाजलके प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ और इसपर अनेक अनुसंधान हुए। इसी संदर्भमें एक बार एक विदेशी वैज्ञानिकने वाराणसीके गङ्गाजल तथा कूपजलमें संक्रामक रोगोंके कीटाणु छोड़े। कुछ समयके पश्चात् यह देखकर आश्चर्यस्तब्ध रह जाना पड़ा कि कूपजलमें तो ये कीटाणु कई गुना पनपकर बढ़ गये, किंतु गङ्गाजलमें इन्हें समाप्त होते तीन घंटे भी न लगे। वैज्ञानिकका कथन था—'गङ्गाजलमें कीटाणुनाशक रसायन-शक्तिका अस्तित्व प्रचुररूपमें विद्यमान है।'

ब्रिटेनके सुप्रसिद्ध चिकित्सक श्री ई० नेलसन, एफ० आर० सी० एस० महोदयने आश्चर्यसे अभिभूत होकर कहा—

'भारतवासी गङ्गाजलको इतना पवित्र मानते हैं कि इसका रहस्य समझमें नहीं आ पाता; किंतु एक चमत्कारपूर्ण बात है कि कलकत्तामें हुगलीसे भरा गङ्गाजल इंग्लैंडतक आनेमें विकृत नहीं हो पाता, ताजा बना रहता है। इसके ठीक विपरीत लंदनकी टेम्स नदीका जल इंग्लैंडसे बम्बई जानेतक बिगड़ जाता है, यद्यपि कलकत्ताकी अपेक्षा इंग्लैंडसे जहाज बम्बई एक सप्ताह पूर्व ही पहुँच जाता है। इन जहाजोंको पोर्ट सईद, अदन आदि अनेक स्थानोंपर जल लेना पड़ता है। क्या गङ्गाजल पवित्र और टेम्सका जल अपवित्र है? बैक्टीरिया-सम्बन्धी होनेवाले अन्वेषणोंसे मेरे कथनकी पुष्टि होती है।'

कनाडा (अमेरिका) के मैकगिल विश्वविद्यालयके प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० एस० सी० हैमिल्टनने गङ्गाजलके अनेक परीक्षणोंके पश्चात् विज्ञान-छात्रोंके सम्मुख स्वीकार किया—

'गङ्गाजलकी इस महान् एवं अद्भुत शक्तिको मैं स्वीकार करता हूँ कि इसमें कीटाणुओंको नष्ट करनेकी प्रबल क्षमता है। मैं नहीं कह सकता कि यह शक्ति इसमें कैसे और कहाँसे आयी!'

'संसारयात्रा' नामक ग्रन्थके प्रसिद्ध लेखक, यात्री मार्क ट्विनने लिखा—

'गङ्गाजलकी परीक्षा करनेपर मैं इस परिणामपर पहुँचा कि यह जल अत्यन्त शुद्ध और पवित्र है। इसके स्नान एवं पानसे मनुष्यके विचार शुद्ध हो जाते हैं तथा गङ्गाजलमें संक्रामक रोगाणुओंका नाश करनेकी महान् और अद्भुत शक्ति है।'

विश्वप्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री टेनियरने भी गङ्गाजलकी इस महत्ताको स्वीकार करते हुए इसके गुणोंपर आश्चर्य व्यक्त किया और निम्न शब्दोंमें—

'समस्त भूमण्डलकी सलिल-सरिताओंमें गङ्गा सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि यह मानवमात्रको वह अमृत प्रदान करती है, जो उसे वास्तविक अर्थोंमें नीरोग और दीर्घायु बनाता है।' श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

यूरोपके प्रसिद्ध चिकित्सक रिचर्डसनने दीर्घकालतक गङ्गाजलका परीक्षण करनेके पश्चात् व्यक्त किया—

'गङ्गाके दर्शन करने और बार-बार 'गङ्गा-गङ्गा' मुखसे कहनेसे मनुष्यके हृदय और मस्तिष्कपर उत्तम प्रभाव पड़ता है।'

ऐसे ही विचार कुछ समय पूर्व भारतमें आये एक रूसी वैज्ञानिकोंके दलके सदस्यने प्रकट करते हुए कहा था, 'आज गङ्गास्नानके पश्चात् मुझे ज्ञान हुआ कि भारतीय गङ्गाको इतना पवित्र क्यों मानते हैं।' इन उपर्युक्त विचारोंमें और सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय पुराणोंमें लिखे गये इस विचारमें कितनी समानता है कि सहस्रों कोस दूर बैठा मनुष्य भी यदि 'गङ्गा-गङ्गा' उच्चारण करता है तो उसके समस्त पापोंका नाश हो जाता है, इसमें संदेह करना है व्यर्थ है।'

मुस्लिम शासनकालमें

मध्यकालीन मुगल शासकोंके विषयमें निम्न उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि वे भी गङ्गाजलकी महत्तासे परिचित थे और अपने निजी प्रयोगमें प्रायः ही गङ्गाजलका प्रयोग किया करते थे।

मध्य एशियाके सुप्रसिद्ध विश्व-यात्री इब्नबतूता चौदहवीं शताब्दीमें भारत आये और उन्होंने देखा कि सुलतान मोहम्मद तुगलक सदैव गङ्गाजलका ही प्रयोग करते हैं।

प्रसिद्ध लेखक अब्बुल फज़लने 'आईने अकबरी'में लिखा है, 'सम्राट् अकबरके भोजनालयमें केवल गङ्गाजलका ही प्रयोग किया जाता था और वे घरपर तथा यात्रामें सदैव ही गङ्गाजलका सेवन किया करते थे। सम्राट् गङ्गाजलको अमृत कहा करते थे।'

'हिंदू-संस्कृतिका कट्टर विरोधी और अपने धर्मका कड़ाईसे पालन करनेवाला मुगल-शासक औरंगजेब भी अपने लिये गङ्गाजलसे ही भोजन बनवाता था।' यह उल्लेख सुप्रसिद्ध फ्रेंचयात्री बर्नियरने, जो सन् १४५६ से १५६७ तक भारतमें रहा, किया है।

मैसूरके मुगलशासक टीपू सुल्तानके साथ युद्ध करनेवाली अंग्रेज सेनाके एक सैनिक अधिकारी 'कैप्टन मूर'ने अपनी भारत-यात्राके वर्णनमें लिखा कि 'टीपू सुल्तानके लिये ऊँटोंद्वारा महलमें गङ्गाजल लाया जाता था; क्योंकि वह अपने सभी कार्योंमें गङ्गाजलका ही प्रयोग करता था।'

उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हुए बंगालके इतिहास 'रियाजुससलातीन'में गुलाम हुसैनने लिखा—'गङ्गाजलके स्वाद, मिठास, हल्केपन और आरोग्यदायक गुणोंकी तुलना किसी भी अन्य जलसे नहीं की जा सकती।'

और आज भी

जी हाँ, आज भी गङ्गाजलको भारतीय, विशेषरूपसे हिंदू-समाज अत्यन्त श्रद्धाभावसे मानता है और आरोग्य प्राप्त करता है। हिंदू-समाजमें तो कोई भी माङ्गलिक कार्य बिना गङ्गाजलके सम्पन्न ही नहीं हो पाता। शरीरपर गङ्गाजल छिड़कने तथा गङ्गाके दर्शनमात्रसे ही स्वयंको धन्य समझनेवाले साधु-स्वभावयुक्त मनुष्योंकी आज भी भारत और संसारमें कमी नहीं।

उत्तर भारतके प्रमुख तीर्थस्थल गढ़मुक्तेश्वर, जो मेरठ नगरसे तीस मील पूर्वमें है, गङ्गातटपर लेखकने देखा है कि अनेक रोगग्रस्त व्यक्ति तटपर बनी कुटियाओंमें कई-कई मास आकर ठहरते हैं और व्याधिमुक्त होकर नव स्फूर्ति लिये लौटते हैं। उदररोगोंसे पीड़ित एक स्नेही इसी दृष्टिसे कई मास गङ्गातटपर रहे। कुछ ही मासमें उनका गया स्वास्थ्य पुनः लौट आया और अब उनका सदैव यही परामर्श होता है कि 'कुछ समय माँ गङ्गाकी शरणमें जाकर निवास करो, निश्चय ही समस्त व्याधियाँ समाप्त हो जायँगी।'

अभी गत वर्ष मेरठसे कुछ दूर पिलखुवा नामक उपनगरमें एक सांस्कृतिक प्रदर्शनीका आयोजन हुआ था। इसमें देशके सभी भागोंसे अनेक विद्वान्, विचारक और कलाप्रेमी अवलोकनार्थ पधारे थे। इन्हींमेंसे एक विदुषी महिलाने गङ्गा और गङ्गाजलकी महत्तापर अपना अनुभव बताया—

'मंगोलिया और साइबेरिया आदि देशोंमें गङ्गा और गङ्गाजलके प्रति असीम श्रद्धा है। इन देशोंके निवासी गङ्गाजलको पवित्रतम और स्वर्गीय वस्तु मानते हुए इसकी एक-एक बूँदके लिये इतने लालायित रहते हैं कि इसके बदले उन्हें बड़े-से-बड़े प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी देनेमें संकोच नहीं होता। मंगोलियाकी यात्राके समय वहाँके नागरिक हमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते थे। यही सोचकर कि हम उस देशके निवासी हैं, जहाँ पवित्र गङ्गा बहती है।'

उपर्युक्त शब्द भारतीय संस्कृतिके महान् अनुसन्धान-कर्त्ता आचार्य डा० रघुवीरकी पुत्रवधू श्रीमती डा० शारदा रानीके हैं।

इसी प्रकार पुनीत भागीरथीके प्रति अपने स्नेहोद्गार प्रकट करते हुए बापूकी अनन्यभक्त बहन निवेदिता लिखती हैं, 'जबतक गङ्गा बहती है, भारतकी संस्कृति निष्प्राण नहीं हो सकती। गङ्गा तो माँ है—जो उसके किनारे आ गया, उसकी माँ।'

और भारतीय जनताके प्राण, स्वर्गीय नेहरूके शब्द

'गङ्गा तो विशेषकर भारतकी नदी है, जनताकी प्रिय है, जिससे लिपटी हुई हैं—भारतकी जातीय स्मृतियाँ, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके विजयगान, उसकी विजय और पराजय गङ्गा तो भारतकी प्राचीन सभ्यताका प्रतीक रही है, निशानी रही है। सदा बहती, सदा बदलती—फिर वही गङ्गाकी गङ्गा।

'वह मुझे याद दिलाती है हिमालयकी बर्फसे ढकी चोटियोंकी और उन गहरी घाटियोंकी, जिनसे मुझे अनन्य स्नेह रहा, उनके नीचेके उपजाऊ और दूर-दूरतक फैले मैदानोंकी, जहाँ काम करते मेरी जिंदगी गुजरी है। मैंने सुबहकी रोशनीमें गङ्गाको मुस्कराते, उछलते, कूदते देखा और देखा है शामके सायेमें उदास—काली-सी चादर ओढ़े—भेदभरी—जाड़ोंमें सिमटी-सी—धीमे-धीमे बहती सुन्दर

धारा । और बरसातमें—दौड़ती हुई—समुद्रकी तरह चौड़ा सीना लिये और सागरको बरबाद करनेकी शक्ति लिये हुए ।

'यही गङ्गा मेरे लिये निशानी है भारतकी प्राचीनताकी—यादगारकी, जो बहती आयी है वर्त्तमानतक, और बहती चली जा रही है भविष्यके महासागरकी ओर ।'

संसार जिसे सदैव नास्तिक समझता रहा, उस युग-पुरुषने भी माँ भागीरथीको, अपने अन्तरके ममत्वपूर्ण स्नेहिल शब्दोंमें श्रद्धा-सुमन अर्पितकर एक महामानवका कर्त्तव्य पूर्ण किया । इसी प्रकार हमारे पूर्वज भारतीय महर्षि, विद्वानोंने जो अनेक महाकाव्यों, ग्रन्थों और पुराणोंमें गङ्गाजल और गङ्गाकी अपार महिमाका उल्लेख किया है, वह आधुनिक विज्ञानकी कसौटीपर भी तपे स्वर्णकी भाँति खरा उतरा है और यह भारतके लिये एक गौरवका विषय है।

अपने उद्गमस्थल गोमुख (गंगोत्री) से लेकर, बंगालकी खाड़ीतक यह पुण्यतोया भागीरथी जिस-जिस भू-भागका स्पर्श करती प्रवाहित होती है, वहाँकी सभी वनस्पतियाँ परम पवित्र, गुणकारी और मानवमात्रका कल्याण करनेवाली सिद्ध हुई हैं । सहस्रों मीलकी भूमि गङ्गाजलसे सिञ्चित होकर लाखों-करोड़ों व्यक्तियोंको अमूल्य आशीर्वाद प्रदान कर रही है ।

वाणीका सौन्दर्य

वाणीका सौन्दर्य सच बोलने, प्रिय बोलने, हितकर बोलने एवं आवश्यक ही बोलनेमें है ।

कैसे सधे यह सौन्दर्य ?

एक ही उपाय है—मनके साधनेसे……उसे सँवारने-निखारनेसे ।

स्मरण रहे—

यन्मनसा मनुते तद् वाचा वदति ।

मनके सौन्दर्यपर ही वाणीका सौन्दर्य निर्भर है, आश्रित है । कहना चाहिये, वह उसकी प्रतिच्छाया भर है ।

मन सुन्दर हुआ तो वाणी सहज अपूर्व दैवी सौन्दर्यसे दिप्-दिप् कर उठेगी ।

मनकी सुन्दरता निपट सरलतामें है, नितान्त प्रेम-परिपूर्णतामें है, सहानुभूतिमयताकी असीमतामें है, व्यर्थ संकल्प-विकल्परततासे विरत रहकर नित्य-निरन्तर आत्म-चिन्तनरततामें है ।

मनके निपट सरल रहते वाणीसे सच ही निकलेगा, मनके नितान्त प्रेमपूरित रहते वाणीसे जो भी निकलेगा, प्रिय ही लगेगा—लगेगा क्या, होगा ही ।

मनके असीम सहानुभूतिमय होते हुए वाणी हितकर छोड़ और बोल ही क्या सकती है ।

मनके व्यर्थ संकल्प-विकल्प-रततासे विरत एवं आत्म-चिन्तन-रत रहते वाणीसे अनावश्यक बोला ही न जायगा । वह तो मौन-रस-रसिका बनी हुई आवश्यक भी कठिनतासे बोल पायगी ।

तो यह मार्ग है वाणीके सौन्दर्य-साधनका । मनको साधिये, सँवारिये, निखारिये; वाणीका सौन्दर्य सहज स्वतः सध जायगा—खिल उठेगा ।

वाणीका सौन्दर्य सच बोलने, प्रिय बोलने, हितकर बोलने एवं आवश्यक ही बोलनेमें है ।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि

श्रीमद्भागवतकी महत्ता*

(हनुमानप्रसाद पोद्दारका व्याख्यान)

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥†
(श्रीमद्भागवत)

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥‡
(श्रीमद्भागवत)

समस्त चराचर विश्वके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌के नाते मैं आप सब भगवत्स्वरूप माताओं और महानुभावोंके श्रीचरणोंमें सादर प्रणाम करता हूँ।

आजका भाषण प्रारम्भ करनेके पूर्व मैं आपलोगोंका कुछ समय व्यर्थ खोना चाहता हूँ—वह केवल इसलिये कि मेरा परिचय देते हुए भाई हजारीलालजी माहेश्वरीने, जिन्हें मैं भाई हजारीके नामसे पुकारता हूँ और जो मेरे प्रति चिरकालसे बड़ी श्रद्धा और स्नेह रखते हैं, मेरे जीवन और गुणोंके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कही हैं। उन्होंने उस परिचयको केवल ऊपरी (बहिरङ्ग) परिचय बताया है। उनकी दृष्टि दूसरी है, पर मैं भी अपनी दृष्टिसे उसे बहिरङ्ग परिचय ही समझता हूँ। मेरा अन्तरङ्ग परिचय क्या है, उसको मेरा हृदय जानता है या अन्तर्यामी भगवान् जानते हैं। मनुष्य ऊपरसे बहुत अच्छा बन सकता है, लोग उसे अपनी शुभ दृष्टिसे बहुत अच्छा मान सकते हैं; पर उसके जीवनमें कितना कालुष्य है, कितने अपराध हुए हैं, यह कोई नहीं जानता। मैं बनावटी बात नहीं, सर्वथा सत्य कहता हूँ कि मेरा जीवन अपराधों एवं दुर्बलताओंसे भरा है। जैसे कमजोरियोंसे भरे करोड़ों मनुष्य हैं, वैसा ही—उन्हींमेंसे मैं भी एक हूँ। हाँ, मेरे जीवनमें एक अच्छी बात है, एक गुण है—वह है—'भगवत्कृपा और भगवत्कृपापर विश्वास'। सचमुच मुझपर बड़ी ही भगवत्कृपा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई गुण नहीं।

डाक्टर श्रीहजारीलाल माहेश्वरीके कथनानुसार किसी समय किसी अंशमें मेरा क्रान्तिकारी जीवन था और लगभग पौने दो वर्ष बंगालके एक गाँवमें मैं नजरबंदके रूपमें भी रहा था; पर आज न तो वह जीवन है, न वह काल है। उस समय देशभक्ति व्यापार नहीं था। वह बाजारमें बिकती नहीं थी। देशभक्ति सिद्ध करनेके लिये कारागारके प्रमाणपत्रकी आवश्यकता नहीं थी। वह था मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके लिये बिना किसी आशा-आकाङ्क्षाके जीवनको उत्सर्ग कर देनेका निर्मल भाव। हजारों-हजारों उगते और चढ़ते सूर्य-जैसे नवयुवकोंने अपनेको उत्सर्ग कर दिया था मातृभूमिकी बलिवेदीपर। सामने चमकनेवाले बहुत हैं; पर जिन्होंने अपना रक्त दिया और मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके प्रासादके जो नींवके रोड़े बने, उन्हें कोई नहीं जानता। उस जमानेकी बात दूसरी थी। उस समय था केवल 'विशुद्ध त्याग' और आज है उसके स्थानपर 'अधिकार'—की माँग। आज राष्ट्रीयताके नामपर जातिवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद चल रहे हैं। अधिकारका भूखा नेतृत्व बुरी तरह झगड़ रहा है एवं निरीह विद्यार्थी एवं जनताको भड़काकर उनके द्वारा देशको लजानेवाले उपद्रव यत्र-तत्र करवाये जा रहे हैं। हम एक ही ईश्वरको माननेवाले, एक ही भारतमें रहनेवाले एक-दूसरेपर घृणित प्रहार कर रहे हैं। यह हमारे लिये बड़ी ही अशोभनीय और

---

* श्रीकृष्ण-जन्मभूमि, मथुरामें दिनाङ्क ८। २। ६५ को 'श्रीमद्भागवतभवन'के शिलान्यासके अवसरपर प्रदत्त मुद्रित और मौखिक भाषणका अधिकांश सार।

† भक्तिहीन साधनामें संलग्न रहनेवाले कुयोगी लोगोंके लिये जिनकी दिशा भी दूर है, जो अपनी निरुपम और निरतिशय आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाके साथ अपने ब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें निरन्तर विहार करते रहते हैं, उन भक्तवत्सल सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णको मेरा बार-बार नमस्कार है।

‡ यह श्रीमद्भागवत भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला अतुलनीय ज्ञानदीपक है। इसको सबसे पहले जिन भगवान्‌ने ब्रह्माजीके लिये प्रकट किया, फिर जिन्होंने ब्रह्माजीके रूपसे देवर्षि नारदजीको उपदेश दिया, तदनन्तर नारदजीके रूपसे मुनिवर कृष्णद्वैपायन श्रीव्यासजीको प्रदान किया, इसके बाद व्यासजीके रूपसे योगिराज शुकदेवजीको और शुकदेवजीके रूपसे बड़ी दया करके राजा परीक्षित्‌को उपदेश दिया, उन्हीं परम शुद्ध—प्राकृत गुणोंसे रहित, सर्वथा निर्मल, शोक और मृत्युसे रहित, परम सत्यस्वरूप परमेश्वरका हम ध्यान करते हैं।

दुर्भाग्यकी बात है । पता नहीं इसका क्या परिणाम होगा । भगवान् सबका मङ्गल करें । सबको सद्‌बुद्धि दें । भगवान्‌की प्रार्थना ही एकमात्र उपाय है, और कोई उपाय रह ही नहीं गया है ।

अब मैं प्रस्तुत विषयपर कुछ निवेदन करता हूँ । पद्मपुराणका श्लोक है—

अहो न जानन्ति नरा दुराशयाः
पुरीं मदीयां परमां सनातनीम् ।
सुरेन्द्रनागेन्द्रमुनीन्द्रसंस्तुतां
मनोरमां तां मधुरां पराकृतिम् ॥*
(पद्मपुराण)

मथुरापुरीकी महामहिमा अनिर्वचनीय है । जहाँके कारागारसे भी अनिर्वचनीय अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्य-सौन्दर्य-माधुर्य-परिपूर्ण, अपार दिव्य रस-सुधा-सार-समुद्र, अचिन्त्यानन्त सर्वविरुद्धगुणाश्रय, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, नित्य निर्गुण-सगुण, समस्तावतार-बीज, अनन्ताद्भुत शक्ति-सामर्थ्य-स्रोत, सहज अजन्मा, अविनाशी, सच्चिदानन्द, स्वेच्छाविग्रह घनश्याम भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव हो, उस अचिन्त्य माहात्म्यशालिनी पुरीकी महत्ताका वर्णन कौन कर सकता है ? यह मोक्षप्रदायिनी सात पुरियोंमेंसे एक है, अतएव अनादि और शाश्वत है । यहाँ श्रीहरिका नित्य संनिधान है । यही वह भूमि है, जहाँ तपस्या करके भक्तराज ध्रुवने ध्रुवपद पाया था । यही वह पुण्य धरातल है, जहाँ लवणासुरका वध करके श्रीरामचन्द्रजीके कनिष्ठ भ्राता श्रीशत्रुघ्नने राजधानी स्थापित की थी । इससे भी पूर्व महाराज मान्धाता यहाँ राज्य करते थे, जिन्हें मधु दानवने समराङ्गणमें वीरगतिकी प्राप्ति करायी थी । अतः इस पावन भूमिकी इतिहास-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । श्रीकृष्णप्रेयसी कालिन्दीके पुण्य सलिलसे जिसका पद-प्रान्त निरन्तर प्रक्षालित हो रहा है, उसकी पावनताके विषयमें क्या कहा जा सकता है । इसीलिये मथुराको तीन लोकसे न्यारी कहा जाता है । एक भावुक विद्वान्‌ने तो यहाँतक कहा है कि 'मथुरा'—ये तीन अक्षर तीनों वेदोंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि वेदत्रयी तो परब्रह्मके पीछे दौड़ती है और परब्रह्म मथुरापुरीके पीछे भागता है—

मथुरेति त्रिवर्णीयं त्रयीतोऽपि गरीयसी ।
सा धावति परं ब्रह्म ब्रह्म तामनुधावति ॥

मधुपुरीकी महिमाका प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले एक महात्माका उद्गार सुनिये—

अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी ।
विना कृष्णप्रसादेन क्षणमेकं न तिष्ठति ॥

'अहो ! मधुपुरी मथुरा धन्य है, वैकुण्ठसे भी अधिक गौरवशालिनी है । यहाँ श्रीकृष्णकी कृपाके बिना कोई क्षणभर भी नहीं ठहर सकता ।' अतः जिन भाग्यशाली मनुष्योंको कभी यहाँकी यात्राका सौभाग्य प्राप्त होता है, उनपर तथा यहाँके निवासियोंपर भगवान् श्रीकृष्णकी महती कृपा माननी चाहिये ।

मथुराकी वैदिक और पौराणिक महत्ता

ऋग्वेद-विष्णुसूक्तमें व्रजधाम, मथुरामण्डल एवं गोलोकधामके विषयमें सुन्दर प्रकाश डालनेवाली एक ऋचा उपलब्ध होती है, जो इस प्रकार है—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।
अत्रा ह तदुरुगायस्य वृष्णः
परमं पदमवभाति भूरि ॥ इति ।

इस मन्त्रमें इन्द्रदेव भगवान् श्रीकृष्ण-बलभद्रकी खु करते हुए कहते हैं—'प्रभो ! हम देवतालोग आप दों बन्धुओंके मनोरम वासस्थान इस मथुरामण्डलमें आने बड़ी इच्छा रखते हैं, परंतु आपकी कृपाके बिना यहाँ आ और रहना सम्भव नहीं होता । अहा ! यहाँ विभिन्न स्थानोंमें परम मनोहर सींगवाली असंख्य गौ चरती रहती हैं । बहुसंख्यक विद्वानोंद्वारा जिनकी की गायी जाती है, उन वृष्णिवंशावतंस (अथवा सम् कामनाओंकी वर्षा करनेवाले) पूर्णावतार भगवान् श्रीकृ का वह सुप्रसिद्ध गोलोकनामक परमधाम निश्चय ही य अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है ।'

वाल्मीकीय रामायण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भाग श्रीहरिवंशपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्गसं आदि ग्रन्थोंमें मथुराकी अनुपम महिमाका विभिन्न प्रका विशद वर्णन है ।

---

* मेरी पुरी मधुरा (या मथुरा) परमोत्कृष्ट, सनातन, परमात्मस्वरूपा एवं बड़ी मनोरम है । सुरराज इन्द्र, नागराज शेष और बड़े-बड़े मुनीश्वर भी उसकी स्तुति करते हैं । किंतु खेद और आश्चर्यकी बात है कि दूषित हृदयवाले मनुष्य मेरी उस पुरीकी महिमा नहीं जानते ।

मथुराका परवर्ती इतिहास

भगवान् श्रीकृष्णके ऐहलौकिक लीलासंवरण करके परमधाम पधारनेके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरने हस्तिनापुरके राज्यपर परीक्षित्को और मथुरामण्डलके राज्यपर श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभको प्रतिष्ठित करके स्वयं भाइयोंसहित महाप्रस्थानका आश्रय लिया। वज्रनाभने राजा परीक्षित्के सहयोग तथा महर्षि शाण्डिल्यके निर्देशसे उजड़े हुए माथुरमण्डलको पुनः बसाया और अनेकानेक मन्दिर बनवाये। कंसका वह कारागार, जिसे आज 'कटरा-केशवदेव' कहते हैं, श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव-स्थान होनेसे सबके आकर्षणका केन्द्र बन गया। कारागार केशवदेवके मन्दिरके रूपमें परिणत हुआ और इसीके आस-पास पुरीका प्रमुख भाग सुशोभित हुआ। कालक्रमसे यहाँ अनेकानेक भव्य विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण हुआ। इनमेंसे कुछ तो कालके प्रभावसे नष्ट हो गये और कुछ विधर्मी आक्रामकोंद्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये। ईस्वी सन्से पूर्ववर्ती महाक्षत्रप सौदासके समयका जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार किसी वसु नामक व्यक्तिने श्रीकृष्णजन्मस्थानपर एक मन्दिर, तोरणद्वार और वेदिकाका निर्माण कराया था। उसके पश्चात् दूसरा विशाल मन्दिर ईस्वी सन् ४०० के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके शासन-कालमें निर्मित हुआ। उस समय मथुरा नगरी संस्कृति एवं कलाका बहुत बड़ा केन्द्र थी और यहाँ हिंदू-धर्मके साथ-साथ बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्मका भी उत्कर्ष था। इस स्थानके पास ही बौद्धों और जैनियोंके भी विहार एवं मन्दिर बने हुए थे। उनके प्राप्त अवशेषोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णका यह जन्मस्थान बौद्धों तथा जैनियोंके लिये भी आदर एवं सम्मानका केन्द्र था। चन्द्रगुप्त द्वितीयद्वारा निर्मित उक्त मन्दिर बड़ा ही भव्य था। सन् १०१७ ई० में आक्रमणकारी गजनीके महमूदने उस मन्दिरको तोड़ा और लूटा। महमूदके मीरमुन्शी उत्तनवीने अपनी 'तारीखे मामिनी' नामक पुस्तकमें उक्त मन्दिरके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे मथुराकी तत्कालीन अपार समृद्धिका पता लगता है। सुल्तान महमूदने मन्दिरके बाबत खुद लिखा है कि अगर कोई आदमी इस तरहकी इमारत बनवाना चाहे तो उसे १० करोड़ दीनार खर्च करने पड़ेंगे और उसको बनवानेमें दो सौ सालसे कम नहीं लगेंगे, चाहे उसके लिये ऊँचे-से-ऊँचे तजुर्बेकार कारीगरोंको ही क्यों न लगा दिया जाय। बड़े ही दुर्भाग्य और दुःखकी बात है कि इस प्रकार मन्दिरकी महानताका वर्णन करनेवाले गजनीके महमूदने घोर अज्ञानमयी, अधर्ममयी धर्मान्धताके वशमें होकर मन्दिरको नष्ट कर डाला, कलाकी दृष्टिसे भी उसे नहीं रहने दिया।

इसके बाद संवत् १२०७ (सन् ११५० ई०) में महाराज विजयपालके शासन-कालमें 'जज्ज' नामक किसी व्यक्तिने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर एक नया मन्दिर बनवाया। इसका पता इस कटरा-केशवदेवसे ही प्राप्त एक संस्कृत शिला-लेखसे लगता है। सन् १५१५ ई० के लगभग श्रीचैतन्य महाप्रभु इस मन्दिरमें पधारे थे। यह विशाल मन्दिर भी १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें सिकन्दर लोदीके शासनकालमें धराशायी कर दिया गया।

तदनन्तर लगभग १२५ वर्ष बाद जहाँगीरके शासनकालमें ओरछानरेश राजा वीरसिंहदेव बुंदेलाने इसी जन्मस्थानपर तैंतीस लाख रुपयोंकी लागतसे लगभग ढाई सौ फुट ऊँचा एक दूसरा भव्य मन्दिर बनवाया और उसके चारों ओर ऊँची प्राचीर बनवायी, जिसका कुछ भाग अभीतक अवशिष्ट है। इस प्राचीरके दक्षिण-पूर्व कोनेमें एक विशाल कूप और उसके ऊपर एक ऊँचे बुर्जका भी निर्माण हुआ। उस कुएँका पानी लगभग साठ फुट ऊँचा उठाकर मन्दिरके प्राङ्गणमें फौवारे चलाये जाते थे। वह कुआँ और बुर्ज आज भी मौजूद हैं। इनका जीर्णोद्धार अत्यन्त ही आवश्यक है। १६५० ई०के लगभग मथुराकी यात्रापर आये हुए टेवर्नियरनामक फ्रांसीसी यात्रीके वर्णनके अनुसार जगन्नाथ और बनारसके बाद मथुराका यह मन्दिर ही सबसे प्रसिद्ध था, भारतके अत्यन्त उत्कृष्ट मन्दिरोंमें एक था। इसकी बड़ी कुर्सी अठपहलू बनी थी। मन्दिरमें लाल रंगके पत्थर लगे थे। मन्दिरके चारों ओर पत्थरोंपर नक्काशी थी, जिनमें भाँति-भाँतिके जानवरोंकी आकृतियाँ बनी हुई थीं। विशाल चबूतरेपर आधेमें मन्दिर और आधेमें जगमोहन बना था। बीचमें एक बड़ा मण्डप था। मन्दिरमें अनेक खिड़कियाँ और गवाक्ष थे। यह इतना ऊँचा और विशाल था कि पाँच-छः कोसकी दूरीसे दिखायी देता था। इटालियन यात्री मनूचीके लिखे अनुसार केशवदेव-मन्दिरका सुवर्णाच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि छत्तीस मील दूर आगरासे भी दिखायी देता था। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानपर बने

हुए इस अन्तिम स्मारकको भी औरंगजेबने १६६९ ई०में नष्ट कर दिया और मन्दिरकी बड़ी कुर्सीके एक भागमें मन्दिरके ही मसालेसे एक ईदगाह बनवा दी।

आज हमारा देश स्वतन्त्र है, गणराज्य है। हिंदू-मुसल्मानका कोई प्रश्न नहीं। इस अवस्थामें बर्बरतापूर्ण आक्रमणोंद्वारा हमारे जिन मन्दिरोंको—धार्मिक स्थानोंको भ्रष्ट करके छीन लिया गया था, हमारे आजके मुसल्मान भाइयोंका यह कर्तव्य है कि वे हिंदुओंके उन पवित्र स्थानोंको बड़े प्रेमभावसे लौटा दें। हम मुसल्मानोंके धर्म-स्थानोंको—मस्जिदोंको आदरणीय मानते हैं; पर हिंदुओंके धर्मस्थान बलपूर्वक छीनकर उनपर जो मस्जिदें बनायी गयी हैं, वे आज हमारे देशमें कलङ्करूपमें खड़ी निरन्तर उन अत्याचारोंका, उन भयानक विनाशकाण्डोंका स्मरण कराती हैं और वे हिंदू-मुसलिम-ऐक्यमें सतत बाधा देती हुई देशके हृदयको पीड़ित कर रही हैं। अतएव हम अपने मुसल्मान बन्धुओंसे बड़े प्रेम तथा आग्रहके साथ विनयपूर्वक यह निवेदन करते हैं कि वे आक्रमण करके हिंदुओंके छीने हुए पवित्र स्थानोंको तुरंत वापस कर दें। इसमें उनका कल्याण है, हिंदुओंका कल्याण है और देशका भी कल्याण है। वे मानेंगे या नहीं, भगवान् जानें। पर यदि स्वेच्छासे न मानेंगे तो भगवान् और काल उन्हें मनवा लेगा, आज चाहे न मानें। अस्तु,

सन १८०३ ई०में मथुराका प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत आ गया। सन् १८१५ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनीने कटरा-केशवदेवको नीलाम कर दिया, जिसे बनारसके तत्कालीन राजा पटनीमलने खरीदा। राजा पटनीमल एक उदार और धार्मिक व्यक्ति थे; उनकी प्रबल इच्छा थी कि जन्मस्थानपर भगवान् केशवदेवके मन्दिरका पुनर्निर्माण करा दिया जाय। परंतु उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी वंशजोंका अधिकार एवं स्वामित्व कटरा-केशवदेवपर बना रहा। मथुराके मुसल्मानोंने दो बार सिविल कोर्टमें कटराके तत्कालीन स्वामी राय कृष्णदासके अधिकारको चुनौती दी। परंतु वे हार गये। इलाहाबाद हाईकोर्टने दोनों बार यह फैसला दिया कि कटरा-पर राय कृष्णदासका ही वास्तविक स्वत्व एवं अधिकार है।

दिवंगत महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय भगवान् श्रीकृष्णके इस ऐतिहासिक एवं वन्दनीय जन्मस्थानकी दुर्दशासे अत्यधिक व्यथित थे। उन्होंने इस पुण्यभूमिका पुनरुद्धार करनेका विचार किया और धर्मप्राण श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाकी आर्थिक सहायतासे १८ फरवरी सन् १९४४ को इसे राय कृष्णदासजीसे खरीद लिया। परंतु महामना मालवीयजीकी इच्छा भी उनके जीवन-कालमें पूरी नहीं हो सकी। अपने परलोकवासके पूर्व उन्होंने श्रीकृष्णजन्मस्थानके सम्बन्धमें मार्मिक उद्गार प्रकट किये और यह अभिलाषा प्रकट की कि भगवान् श्रीकृष्णके स्मारक-निर्माणका कार्य शीघ्र सम्पन्न हो।

महामना श्रीमालवीयजी महाराजकी अन्तिम अभिलाषाके अनुसार श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाने २१ फरवरी सन् १९५१ को 'श्रीकृष्णजन्मभूमि-ट्रस्ट' की स्थापना की और 'कटरा-केशवदेव'पर उस ट्रस्टका अधिकार हो गया। इसी ट्रस्टकी रजिस्ट्री 'सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट' के अनुसार 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवा-संघ'के नामसे हो गयी है। इस ट्रस्ट-कमेटीके सर्वप्रथम सभापति लोकसभाके भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीगणेश वासुदेव मावलंकर थे। उनके निधनके पश्चात् अब भूतपूर्व लोकसभाध्यक्ष तथा बिहारके वर्तमान राज्यपाल श्रीएम० अनन्तशयनम् आयंगर सभापति हैं। देशके चुने हुए १५ महानुभाव इसके पदाधिकारी और सदस्य हैं।

संस्थाका मुख्य उद्देश्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी पवित्र जन्मस्थलीका सर्वाङ्गीण विकास करके उसको ऐसा रूप दिया जाय, जो भारतीय नीति, संस्कृति, धर्म और दर्शनका केन्द्र बन जाय तथा जहाँसे देश-विदेशमें श्रीमद्भगवद्गीताका संदेश प्रचारित होता रहे।

इस मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बहुत-सी योजनाएँ थीं, जिनमें निम्नलिखित सम्पन्न हुई हैं या होने जा रही हैं—यह प्रसन्नताकी बात है।

(१) मथुराके कुछ उत्साही नवयुवकोंने स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीकी अध्यक्षतामें १५-१०-५३ को श्रमदान-कार्य प्रारम्भ किया और श्रीबाबूलालजी बजाज एवं श्रीफूलचंदजी गुप्तके नेतृत्वमें दो वर्षसे अधिक समयतक बड़ी लगन और उत्साहसे श्रमदान करके अधिकांश ऊँचे-ऊँचे टीले खोद डाले एवं गहरे गड्ढोंको भरकर जमीनको समतल कर दिया। वे सभी नवयुवक धन्यवादके अधिकारी हैं। पुरानी प्राचीरके उत्तरी तथा पश्चिमी भाग भी प्रायः निर्मित हो चुके हैं।

(२) भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन एवं पूजन-अर्चनके लिये एक भव्य मन्दिरका निर्माण भी भाई श्रीजयदयालजी डालमियाकी सराहनीय सहायतासे उनकी स्वर्गीया माताकी पुण्यस्मृतिमें पूरा हो चुका है । इस श्रीकृष्ण-मन्दिरमें भगवान्के बालविग्रहकी प्रतिष्ठा संवत् २०१४ में आषाढ़ शुक्ला द्वितीयाको हुई और भाद्रपद कृष्णा अष्टमी संवत् २०१५ को उसके उद्घाटनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था ।

(३) भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान 'कृष्णचबूतरा'का जीर्णोद्धार तथा उसपर संगमरमरकी एक विशाल कलापूर्ण छतरीका निर्माण मेरे आदरणीय बन्धु श्रीरामनाथजी गोयनका मद्रासनिवासीके उदार दानसे सम्पन्न हो गया है और प्रतिदिन सहस्रों व्यक्ति उसका दर्शन करके प्रसन्नताका अनुभव करते हैं ।

(४) श्रीकृष्ण-लीला इत्यादि सांस्कृतिक समारोहोंके लिये रङ्गमञ्चका निर्माण-कार्य भी सम्पन्न हो चुका है और उसके दोनों ओर कार्यालय, विद्यालय, पुस्तकालय, औषधालय, विश्रामालय इत्यादिके लिये पाँच-पाँच कमरोंका निर्माण उदार दाताओंके दानसे हो चुका है ।

पाँचवीं योजना एक 'श्रीमद्भागवत-भवन'के निर्माणकी है, जिसका शुभारम्भ आज होने जा रहा है । यह बहुत बड़ा भवन होगा, जिसमें पूरी भागवतके समस्त श्लोक संगमरमर पत्थरपर खुदवाकर लगाये जायँगे ।

इंजिनियरोंका अनुमान है कि इसमें लगभग २२ लाख रुपये लगेंगे । भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे ही इस कार्यका आरम्भ हुआ है और उन्हींकी इच्छासे पूर्ण भी होगा । वे ही हमारे दाता हैं और वे ही ट्रस्टी हैं । वे ही सहायक हैं और वे ही रक्षक हैं । वास्तवमें ऐसे कामोंमें जो धन व्यय होता है, वही सार्थक है । धन किसीके पास रहा नहीं और रहेगा भी नहीं । पर आज तो धनका अपव्यय हो रहा है । अनावश्यक कार्योंमें, सिनेमाओंमें, विलासितामें धन नष्ट हो रहा है । सरकारने बेहद कर लगा दिये हैं और उत्तरोत्तर वे बढ़ते ही जा रहे हैं । मनुस्मृतिवाला विधान अब स्वप्नवत् हो गया है कि 'राजा अमुक अंशसे अधिक कर न लगाये ।' पर आज सबने आवश्यकता और अभाव बढ़ा लिये हैं और इसलिये सभीको पैसा चाहिये । राज्यको पैसा चाहिये, मन्त्रियों और अधिकारियोंको पैसा चाहिये, व्यापारियोंको पैसा चाहिये, सेवकोंको पैसा चाहिये, कांग्रेसको पैसा चाहिये और सभी संस्थाओंको पैसा चाहिये । बस, हम आज सर्वत्र सर्वथा अर्थके दास हो रहे हैं ।

हमारी भारतीय संस्कृतिमें दो महत्त्वकी वस्तुएँ थीं, जिनके कारण हमारा जीवन-स्तर सर्वापेक्षा श्रेष्ठ था । वे वस्तुएँ थीं—'कर्तव्य' और 'त्याग' । आज 'कर्तव्य'के स्थानपर 'अधिकार' आ गया है और 'त्याग' का स्थान 'अर्थ'ने ले लिया है । सारा विश्व आज इन्हीं 'अधिकार' और 'अर्थ' के लिये उन्मत्त है । और विशेष दुःखकी बात तो यह है कि हमारा 'कर्तव्य और त्याग' का मूर्तिमान् स्वरूप भारत भी अंधा होकर 'अधिकार और अर्थ' के लिये लालायित हो अपने पवित्र स्वरूपको भूला जा रहा है ! उस दिन एक बड़े ही आदरणीय, उच्चपदसे अवसरप्राप्त एक बरिष्ठ पुरुषने मुझसे कहा था कि "हमारी देशभक्तिका स्वरूप आज विकृत हो गया है । इसीसे एक ओर जहाँ चीन हमारी सीमाके किनारे सुसज्जित सैन्य लिये प्रस्तुत है, वहाँ दूसरी ओर हमारे देशके नेतागण 'अधिकार' के लिये परस्पर लड़ रहे हैं ।" पुरानी बात है । कलकत्तेमें श्रीअरविन्दका एक बँगला पत्र निकलता था 'धर्म' । उसमें 'देशभक्ति क्या है ?' इस विषयपर श्रीअरविन्दका एक लेख प्रकाशित हुआ था । उसमें सबसे पहले एक वाक्य लिखा था—'देशात्मबोध' ही देशभक्ति है । अर्थात् देश मैं हूँ, देशका स्वार्थ मेरा स्वार्थ, देशकी हानि मेरी हानि, देशका गौरव मेरा गौरव और देशका लाभ मेरा लाभ । देशके स्वार्थके अतिरिक्त देशभक्तका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ रहता ही नहीं । पर जहाँ देशके स्वार्थके साथ देशभक्तका स्वार्थ अड़ जाता है और कहीं देशभक्तका स्वार्थ देशके स्वार्थपर विजयी हो जाता है तो फिर देशभक्ति विकृत हो जाती है और वही होता है जो आज हो रहा है ।

कर्तव्यपालनमें व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करना पड़ता है । वहाँ अधिकार और अर्थकी प्रधानता नहीं रहती । प्रधानता रहती है—त्यागकी । आज त्यागका अभाव है, इसीसे सर्वत्र कलह है, युद्ध है । त्यागके बिना प्रेम नहीं होता और प्रेमके बिना सुख नहीं होता । इस व्रजभूमिमें जो इतना प्रेमका प्रवाह बहा था, उसमें प्रधान कारण था—'त्याग' । हमारी श्रीगोपाङ्गनाएँ और उनकी मूल अधिष्ठानस्वरूपा श्रीराधारानीमें त्यागकी पराकाष्ठा थी । स्वसुख-वासना-गन्ध-लेश-कल्पना-शून्य था उनका जीवन । इसीलिये उस 'त्यागमय

पवित्र मधुररस'का आस्वादन करनेके लिये पूर्णकाम स्वयं भगवान् लालायित रहते थे ।

इस त्याग-प्रेममय भागवत-जीवनसे ही विश्वका यथार्थ कल्याण सम्भव है । कम्यूनिज्म, सोशलिज्म, कैपिटलिज्म या किसी भी दूसरे इज्म (ism) अर्थात् वादसे, जिसमें त्यागकी नहीं, भोगकी प्रधानता है, कर्तव्यकी नहीं, अधिकार (power) की लिप्सा है, कभी विश्वमें शान्ति नहीं होगी । नये-नये उत्पात-उपद्रव होते ही रहेंगे ।

श्रीमद्‌भागवत भागवतधर्मका श्रेष्ठतम ग्रन्थ है, इसके दो-तीन श्लोक मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ । इनमें जिन राग-द्वेष-रहित सर्वभूतहितकर सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, उनका स्वीकार और सेवन करनेसे विश्वमें परम शान्ति और परम सुखका अनायास ही उदय हो जायगा। श्रीमद्भागवतका एक श्लोक है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, तारे, सब प्रकारके चराचर जीव, सब दिशाएँ, वृक्ष-लता-द्रुमादि, नदियाँ, समुद्र—सभी भगवान्‌के शरीर हैं । अतः जीवमात्रको अनन्य भावसे प्रणाम करे ।' चराचर जीव सभी प्रणामके और सेवाके पात्र हैं ।

आजका बड़े-से-बड़ा मनुष्य 'अखिल विश्व-भ्रातृत्व' की बात कहता है । वह विश्वभरके मानवमें बन्धुत्वकी स्थापना तथा सभी मानवोंका हित चाहता है । मानवके लिये चाहे असंख्य प्राणियोंकी हत्या करनी पड़े, इसमें उसको कोई आपत्ति नहीं है । इसीसे आज मनुष्यके हितके लिये नाना प्रकारके विभिन्न नामोंसे जीवहत्याओंके कारखाने बने हुए और बनते जा रहे हैं । हमारे यहाँकी जो करोड़ों रुपये लगाकर वैज्ञानिक हत्याशालाएँ—कसाईखाने खोलनेकी योजनाएँ हैं, जो 'विकास'के नामपर 'विनाश' का काम करेंगी, वे भी इस मानवहितकी भ्रान्त-धारणाकी सूचक हैं । पर हमारे भागवतकार केवल मनुष्योंमें ही नहीं, केवल चेतन प्राणियोंमें ही नहीं, अखिल विश्वके समस्त चराचर भूतोंमें भगवान्‌को देखकर उन सभीका हित करनेकी देते हैं ।

भागवतका एक अन्य श्लोक है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । १४ ।

'जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेपर ही मनुष्य अधिकार है; इससे अधिकपर जो अपना अधिकार सम है, वह 'चोर' है और उसे 'दण्ड' मिलना चाहिये ।'

ये श्रीनारदजीके वाक्य हैं । आजका कोई साम्य या समाजवाद इससे अधिक और क्या कहेगा ? पर आ वादोंमें जहाँ दूसरेके विनाशकी आकाङ्क्षा-चेष्टा तथा राग भरे हैं, वहाँ भागवतधर्मके इस सिद्धान्तमें सबके हितके प्रेमपूर्वक सबके प्रति सर्वस्व-वितरणका पवित्र आदेश

भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३ । १

'यज्ञावशेष अर्थात् सबको सबका हिस्सा देकर हुए अन्नको खानेवाले सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; पर पापीलोग केवल अपने लिये ही पकाते हैं—कमाते हैं, वे खाते हैं ।' भागवत-धर्ममें मनुष्यका प्रत्येक कर्म हो भगवान्‌की सेवाके लिये—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' भगवान् हैं 'सर्वभूतमय' । अतएव उसके द्वारा जो विचार-कर्म होंगे, सभी विश्व-कल्याणके लिये ही होंगे। होनेपर न कहीं अर्थ-वैषम्य रहेगा, न कोई भूखा या अ ग्रस्त ही रहेगा, न छीना-झपटी और कलह-क्लेश ही र न वैर-विरोध और क्रोध-हिंसा रहेंगे । सबका सारा परस्परके सुख-साधन और हित-साधनमें लगेगा । सबके विषाद-भयरहित हर्ष और विश्वाससे भर जायँगे ।

आज लोग कहते हैं कि 'श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ ब्राह्म लिखे हैं, अतएव उनमें ब्राह्मणोंकी मिथ्या प्रशंसा भरी है मानवमात्रका सम्मान न करके किसी वर्गविशेषकी महत्ताकी स्थापना करते हैं ।' पर ऐसी बात वे भूलसे हैं । श्रीमद्भागवतका एक श्लोक है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्

मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । १०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रक्खे हैं; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है और बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

इन सारे सिद्धान्तोंका विशद विवेचन और स्वरूप-निर्देश भागवतमें है और श्रीमद्भागवतका सम्बन्ध भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी प्राकट्य (जन्म)-भूमिसे नित्य अविच्छिन्न है। श्रीकृष्ण ही इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय, प्राण, आत्मा एवं आराध्यदेव हैं । वस्तुतः श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात् वाङ्मय विग्रह रहा है। अतः इस पुण्यभूमिपर श्रीमद्भागवत-भवनके निर्माणका कार्य अत्यन्त आवश्यक और सुसंगत है । स्कन्दपुराणमें कहा गया है कि 'श्रीमद्भागवत' तथा श्रीभगवान् श्यामसुन्दरका एक ही स्वरूप है—सच्चिदानन्दमय ।* अठारह हजार श्लोकोंका यह भागवत-नामक ग्रन्थ ही कलिरूपी ग्राहसे गृहीत मानवोंके लिये परम आश्रय है ।† पद्मपुराणमें श्रीमद्भागवत-कथाको परम दुर्लभ बताया गया है । करोड़ों जन्मोंके पुण्यका उदय होनेपर इसकी उपलब्धि होती है ।‡ अतः श्रीमद्भागवतका श्रवण, पठन एवं चिन्तन-मनन जगत्‌के लिये परम मङ्गलकारी है ।

कुछ लोग श्रीमद्भागवतपर अनेक प्रकारके आक्षेप किया करते हैं, यथा—'श्रीमद्भागवतका वर्तमान रूप प्राचीन नहीं हैं, महाभारतके खिलभाग हरिवंशमें जो श्रीकृष्णचरित्र वर्णित हैं, वे ही प्रामाणिक हैं, भागवतवर्णित नहीं । महाभारतके पूर्व ही अठारह पुराणोंकी रचना हो चुकी थी—ऐसा वर्णन मिलता है । भागवतकी रचना महाभारतके पश्चात् हुई, जैसा कि भागवतमें ही लिखा है । अतः यह महापुराण कैसे माना जा सकता है ? देवीभागवत ही महापुराण है । भागवत तो बोपदेवकी रचना है' इत्यादि । इन सब प्रश्नोंका विस्तृत विवेचन 'कल्याण'के भागवताङ्कमें देखना चाहिये । यहाँ संक्षेपमें इतना ही निवेदन करना है कि श्रीमद्भागवतका वर्तमान रूप ही प्राचीन है । श्रीनारदीय पुराणमें श्रीमद्भागवतकी जो सूची मिलती है और प्रत्येक स्कन्धमें जिन कथाओंका निर्देश मिलता है, वे सब ज्यों-की-त्यों श्रीमद्भागवतमें मिलती हैं । कौशिकसंहितान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यसे भी इसी बातका समर्थन होता है । पद्मपुराण और स्कन्दपुराणमें जो भागवत-माहात्म्य मिलते हैं, वे इसीकी प्रामाणिकता और महापुराणताके साधक हैं । गौरीतन्त्रमें स्पष्ट लिखा है कि श्रीमद्भागवतमें तीन सौ पैंतीस अध्याय हैं और अठारह हजार श्लोक हैं । अठारह हजार श्लोकोंकी गणनाका प्रकार यह है कि भागवतके प्रत्येक अक्षरको अध्यायकी पुष्पिका और उवाचके साथ गिनकर बत्तीस अक्षरोंके अनुष्टुप् छन्दोंमें विभक्त किया जाय । श्रीमद्भागवतकी अन्वितार्थप्रकाशिका टीकाके रचयिता श्रीगङ्गासहायजीने लिखा है कि उन्होंने तीन बार श्रीमद्भागवत-का एक-एक अक्षर गिना था । उनकी गणनाके अनुसार डेढ़ श्लोक कम अठारह हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं । डेढ़ श्लोककी कमी कोई कमी नहीं है । वह भी उक्त प्रतिमें कुछ 'उवाच' आदि छूट जानेके कारण ही है । जो लोग हरिवंशके ही चरित्रको प्रामाणिक मानते हैं, उनसे मेरा मतभेद नहीं है । मैं हरिवंशको भी प्रामाणिक मानता हूँ और श्रीमद्भागवतको भी । श्रीकृष्णके लीला-चरित्रोंका अनेक पुराणोंमें वर्णन है; परंतु सबमें सभी बातोंका उल्लेख सम्भव नहीं हो सका है, अतः चरित्रों या लीलाओंकी न्यूनाधिकता-को लेकर किसी पुराणको प्रामाणिक या अप्रामाणिक बताना उचित नहीं है । व्यासजीने सौ पर्वोंका महाभारत पुराणोंसे भी पहले बनाया था, उसके बाद पुराणोंकी रचना हुई, फिर उक्त महाभारतका १८ पर्वोंमें संक्षेप किया गया । इसलिये जहाँ पुराणोंके महाभारतसे पूर्व निर्माणका वर्णन आता है, वह अठारह पर्ववाले महाभारतसे और जहाँ पश्चात् वर्णन आता है, सौ पर्ववालेसे—ऐसा समझना चाहिये । अतः इस बातको लेकर भी श्रीमद्भागवतकी महापुराणतामें संदेह न

---

* श्रीमद्भागवतस्याथ श्रीमद्भगवतः सदा ।
स्वरूपमेकमेवास्ति सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥

† ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो योऽसौ भागवताभिधः ।
कलिग्राहगृहीतानां स एव परमाश्रयः ॥

‡ दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा ।
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥

किया जा सकता। पुराणोंके जो भी लक्षण मिलते हैं, वे सब श्रीमद्भागवतमें संगत होते हैं।

रह गयी भागवतके बोपदेवरचित होनेकी बात, सो यह भी भ्रान्त धारणा है। वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयके पुस्तकालय सरस्वतीभवनमें श्रीमद्भागवतकी एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जो बारहवीं शताब्दीकी लिखी है और बोपदेव तेरहवीं शताब्दीमें हुए थे—यह निर्विवाद सिद्ध है। जो लोग हस्तलिखित पुस्तकों, ताम्रपत्रों और शिलालेखोंका अनुशीलन करते हैं, वे भी पुस्तककी लिपि देखकर उसकी प्राचीनता स्वीकार करनेमें आगा-पीछा नहीं करेंगे। द्वैतवादके प्रतिपादक पूज्यपाद मध्वाचार्यका आविर्भाव सन् ११९९ में हुआ था। उन्होंने भागवतपर 'भागवत-तात्पर्यनिर्णय' नामक टीका लिखी है। बोपदेव उनसे बहुत पीछे उत्पन्न हुए थे। मध्वाचार्यसे पूर्ववर्ती श्रीरामानुजाचार्य सन् १०१७ में आविर्भूत हुए थे। उन्होंने अपने 'वेदान्त-तत्त्वसार' नामक ग्रन्थमें श्रीमद्भागवतके नामोल्लेखपूर्वक कई वचन उद्धृत किये हैं। वेदार्थ-संग्रहमें श्रीरामानुजाचार्यने भागवतकी गणना सात्त्विक पुराणोंमें की है। श्रीधरस्वामीने अपनी विष्णुपुराणकी टीकामें चित्सुखाचार्यकी चर्चा की है। उन्होंने भागवतपर टीका लिखी थी। इस बातका उल्लेख मध्वाचार्य, श्रीधर और विजयध्वजतीर्थने भी किया है। चित्सुखाचार्यका समय नवीं शताब्दी है। इस तरह अनेक ऐसे आधार उपलब्ध हैं, जिनसे भागवतकी प्राचीनता सिद्ध होती है। जिस ग्रन्थपर नवीं शताब्दीमें व्याख्या लिखी जा चुकी थी, वह तेरहवीं शताब्दीमें उत्पन्न बोपदेवकी रचना कैसे कही जा सकती है! भागवतकी रचना या सम्पादन आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था। भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-गमनके पश्चात् तीस वर्षके भीतर ही भगवान् वेदव्यासने महाभारत तथा श्रीमद्भागवतका प्रणयन करके उसे अपने शिष्योंको पढ़ा दिया था। अस्तु—

उसी श्रीमद्भागवतको संगमरमरके पत्थरोंपर उत्कीर्ण करवाकर श्रीमद्भागवत-भवनमें प्रतिष्ठापित करनेकी जो योजना थी, उसका आज शुभारम्भ होने जा रहा है; इस भवनके शिलान्यासका कार्य मेरे द्वारा करवानेका जो गौरव इसके आयोजकोंने मुझे प्रदान किया है, इसके लिये मैं आभारी हूँ। यद्यपि मुझमें इस कार्यको सम्पादित करने योग्यता या क्षमताका सर्वथा अभाव है, तथापि बड़ों आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे ही संकोचपूर्वक इसके लिये स्वीकृति देनी पड़ी है। मैं समझता हूँ, सब लोगोंके सक्रिय सहयोगद्वारा और भगवान् श्रीकृष्ण महती कृपासे ही यह कार्य अवश्य सुसम्पन्न होगा।

एकाध सज्जनका यह कहना है कि 'देशकी वर्तम स्थितिमें इस प्रकारके भवनपर इतना व्यय करना उ नहीं है।' वे जिस दृष्टिकोणसे कह रहे हैं, वह ठीक पर इसका एक विशेष महत्त्व है। श्रीमद्भागवतका बहुत अच्छा और शुद्ध पाठ लोगोंको दीर्घकालके मिल जायगा। श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णका एक विग्रह है, इसके दर्शनका सौभाग्य सबको हो जायगा। व्ययकी बात, सो आजकल विकासके नामपर नयी इमारतें बनानेमें जो असीम व्यय हो रहा है जिसकी उपयोगिता भी संदिग्ध है, उसके सामने यह अति नगण्य है और इसकी उपयोगिता भी प्रत्यक्ष है इस महान् कार्यमें जो कुछ व्यय होगा, वह दीर्घकाल भगवद्भाव वितरण करता रहेगा।

इस शिलान्यासके प्रसङ्गमें यहाँ दो महान् आयोजन हो रहे हैं—एक व्रजके तथा बाहरके सम्मान्य सैक विद्वानोंद्वारा श्रीमद्भागवतका सप्ताह-पारायण और उ साथ प्रसिद्ध भागवत-व्यास पं० श्रीनित्यानन्दजी भट्ट सप्ताह-कथा और दूसरा प्रसिद्ध प्रेमी भागवत-व्यास श्रीव्रजकिशोरजी मिश्रद्वारा होनेवाली भागवत-सप्ताह-कथा लगभग ३५० वर्ष पूर्व अत्याचारी औरंगजेबके मन्दिरके ध्वंस किये जानेके बाद यही पहला अवसर जब इस पुण्य-भूमिमें व्रजके विद्वानोंद्वारा श्रीमद्भागवत मङ्गल-पारायण हो रहा है। इस प्रकार भस्मीभूत भूमि जो पवित्र सुधाधारा प्रवाहित हो रही है, इसके लिये अनुष्ठानोंके पुण्यभागी संयोजकोंका हम सभी हृद अभिनन्दन करते हैं। योग्य न होनेपर भी मुझे आपलों इस महान् पुण्यमय 'भागवत-भवन'के शिलान्यासका सौभा प्रदान किया, इसके लिये मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

गीतामें लोकसंग्रह

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

भगवद्गीताको सावधानीसे पढ़नेपर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने संसारके मानवमात्रके सर्वाङ्गीण कल्याणके लिये ऐसा अनुपम उपदेश अर्जुनको बड़ी विकट परिस्थितिमें दिया था, जब अर्जुन वस्तुस्थितिको समझनेमें असमर्थ होकर अपने कुलपरम्परागत क्षात्रधर्मसे विचलित हो अपना लोक-परलोक बिगाड़नेको तत्पर हो गये थे। एक-ही-दो मिनटकी बात थी—यदि अर्जुन लड़ाईके मैदानसे भाग जाते तो उनकी वर्षोंकी तपस्याद्वारा संचित अस्त्र-शस्त्र-ज्ञान तथा वीरता-विरुद मिट्टीमें मिल जाता। कृष्णकी भी अपकीर्ति सर्वत्र फैल जाती; क्योंकि वे बराबर उन्हें उत्साहित करते आये थे और अन्तमें उनका सारथि बनना स्वीकार करके कुरुक्षेत्रमें रथपर आरूढ़ थे। यह देखनेकी बात है कि किस प्रकार उस विकट परिस्थितिमें कृष्णने अपने कुलधर्मकी मर्यादासे विमुख अर्जुनको पुनः अपने क्षात्रधर्मपर आरूढ़ किया। समाजमें कर्मकी मर्यादाको सदाके लिये अक्षुण्ण रखनेके हेतु 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'—इस महामन्त्रको अर्जुनको हृदयंगम कराकर उन्होंने सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सत्ता अपने मुखसे प्रतिपादित और प्रदर्शित की। एक अर्थमें गीताकी सार्वभौमता इसीपर आधृत है। हिंदू दर्शनोंके आधारपर सृष्टिके सम्बन्धमें विचार अथवा पिण्ड-ब्रह्माण्ड या जीवात्मा-परमात्माके सम्बन्धमें विचार किंवा यज्ञानुष्ठानका विधान—ये बातें आर्येतर लोगोंके लिये बोधगम्य नहीं भी हो सकती हैं; परंतु कुलधर्म और सामाजिक जीवनमें कर्तव्य-व्यवस्थाओंके सम्यक् पालनका नियम तो सारे समाजके—सारे धर्मावलम्बियोंके लिये मान्य है। गीताके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्मकी आवश्यकता तो मनुष्यमात्रके लिये है और इसकी उपयोगिता प्रकृतिके कुछ अनिवार्य नियम-जैसी है। जैसे अन्न-भक्षणके साथ जल पीना अनिवार्य-रूपसे आवश्यक है, चावलको सिद्ध करनेके लिये जल और अग्निका संयोग आवश्यक है, उसी प्रकार कर्ममात्रमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये निष्कामता अर्थात् फलेच्छाका अभाव आवश्यक है। कर्ममें लगे नहीं कि फल पानेकी उत्सुकतासे व्याकुल होने लगे। यही प्रतिशत ९९ आदमियोंकी दशा है और यह क्रम सृष्टिके आरम्भसे आजतक सारे मानव-समाजमें सर्वत्र बना हुआ है। किसी मशीनमें २० पुर्जे हों और उनमें एक भी पुर्जा यदि विकृत हो या गलत ढंगसे मशीनमें कस दिया गया हो तो मशीन नहीं चल सकती। यही नियम सांसारिक कामोंका भी है। इसलिये कर्मसिद्धिके लिये यह आवश्यक है कि साधक अपने साधनोंकी पल-पलपर जाँच करे कि उनमें कहाँ क्या त्रुटियाँ हैं, जिससे इष्ट परिणाम नहीं निकल रहा है। जिस प्रकार नपे-तुले जल और तापसे चावल सिद्ध होकर भात होता है, उसी प्रकार हर काममें आवश्यकतानुसार नपा-तुला साधन लगानेसे ही कार्यसिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मनुष्यको कुछ नहीं करना है। बहुत-से कर्त्ता फल-प्राप्तिकी उत्सुकताके मारे इतने अधिक साधनका उपयोग करते हैं कि कामका क्रम ही बिगड़ जाता है, जैसे अधिक आँच देनेपर चावल जल जाता है। संसारके व्यवहारमात्रके लिये यह नियम (Formula) सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक है। कार्य-कुशल लोग सिद्धि पाते हैं। अपटु लोग निष्फल होते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि किस मनुष्यको क्या काम करना चाहिये। स्नान, भोजन, शयन मनुष्यमात्रके लिये सामान्य हैं। जीविकार्थ संसारमें नाना प्रकारके काम हैं, इन्हींमेंसे कामका चयन करना है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

—सृष्टिके आदिमें ही भगवान्ने वर्ण-व्यवस्था कायम कर दी थी।

वर्ण-विभागका क्या आधार था, इसकी पूर्ण खोज आज सम्भव नहीं है; क्योंकि कालके प्रवाहमें शास्त्रोंमें वर्णित बहुत-से विषय दुरूह हो गये हैं। इतना तो निश्चित ही है कि सत्त्व, रजस् और तमोगुणके आधारपर यह व्यवस्था की गयी होगी। सत्त्वप्रधान ब्राह्मण, रजःप्रधान क्षत्रिय और रजः-तमःप्रधान वैश्य और तमःप्रधान शूद्र माने गये होंगे। यों तो 'वर्ण' शब्दका अर्थ है रंग; परंतु रंगका विचार गौण रहा होगा। पूर्वकालमें भले ही ब्राह्मण गौर-वर्ण, क्षत्रिय पीतवर्ण, वैश्य पिङ्गश्याम तथा शूद्र श्याम-वर्ण रहे होंगे; परंतु काल-क्रमसे इस विभाजनमें कोई विशेष तथ्य नहीं रह गया है। २५०० वर्ष पूर्व उस समयके विख्यात विद्वान् एवं राजनीतिज्ञ कौटिल्य काले वर्णके थे। अस्तु,

सृष्टिके आरम्भमें वर्ण-विभागके साथ कर्म-विभाग भी किया गया था। कर्म-विभागका मुख्य लक्ष्य था जीविकाके लिये मनुष्योंमें संघर्षको दूर रखना। इससे समाजमें बड़ी शान्ति रहती थी। बढ़ईका लड़का बढ़ईका ही काम करता था। कुम्हारका लड़का कुम्हारका काम करता था—इत्यादि। आजकी तरह ब्राह्मण चपरासी और लोहार प्रोफेसर नहीं बनते थे। विज्ञापनके द्वारा सार्वजनिक कार्योंके लिये कर्मचारियोंकी नियुक्ति नहीं होती थी। जीविकोपार्जनके लिये सार्वजनिक जीवनमें होड़ नहीं मचती थी। कुलक्रमागत धंधोंमें सहज ही निपुणता प्राप्त हो जाती थी। फलतः एक-से-एक कुशल कलाकार समाजमें बराबर प्रवाह-रूपसे उपलब्ध होते थे। कोई व्यक्ति अपने पैतृक कामको भरसक नहीं छोड़ता था; क्योंकि मानव-समाजके लिये जितने भी आवश्यक कार्य हैं, वे किसी-न-किसी आदमीको करने ही हैं, इसमें बहुत तारतम्यका स्थान नहीं है। सारे कार्योंके सम्पादनमें कुछ कष्ट और कठिनाई होती ही है—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।

इसलिये भगवान्‌ने जोर देकर कहा—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

—'अपना स्वाभाविक कर्म कुछ दोषयुक्त हो, तब भी उसका त्याग न करे।'

भगवान्‌के इस आदेशके साथ-साथ लोक-संग्रहका प्रश्न उठता है, जो गीताका एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। लोक-संग्रहकी दुहाई देकर ही भगवान्‌ने अन्ततोगत्वा कर्तव्य-विमूढ़ अर्जुनको क्षात्रधर्मानुकूल कर्म—धर्म-युद्धमें प्रवृत्त कराया।

प्राचीन आर्यलोगोंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म दया, तितिक्षा, दानशीलता आदि मानव-धर्मोंको बहुत उच्च स्थान समाजमें दिया था और साथ ही पैतृक सम्पत्तिके विभाजनका भी सूक्ष्म नियम बना दिया था ताकि कोई भी उसमें दाय पानेका अधिकारी व्यक्ति अपने दायसे वञ्चित न होने पाये। भय, कायरता अथवा दयाके वशीभूत होकर कोई व्यक्ति पैतृक सम्पत्तिसे वञ्चित न हो—इसको बहुत तरहसे बचानेकी व्यवस्था की गयी थी। समाज-रक्षाका बीज इसमें छिपा था। राजाका यह एक प्रधान धर्म था कि प्रजामें दाय-विभागके नियमको कड़ाईसे बरते। कोई भी मनुष्य यदि भयसे अपना दाय छोड़ देगा तो समाजमें उच्छृङ्खलता मच जायगी और प्रबल दायाद निर्बलोंको दायहीन बनाकर समाजमें जीविकाके प्रश्नको गहन बना देंगे। इसी प्रकार अपने-अपने कुलक्रमागत जीविकाके कामोंको त्यागकर यदि कलाकार लोग इतर वर्णोंके कामको करने लग जायँगे तो समाजमें अव्यवस्था मच जायगी। ऐसा न होने पाये—इसलिये श्रीकृष्णभगवान्‌ने लोक-संग्रहको समाज-रक्षाकी दृष्टिसे बहुत आवश्यक समझा और इसमें ढिलाई आनेसे मनुष्यके ऊपर अपार विपत्तिका बीज संनिहित देखा, यहाँतक कि वर्णसंकरका बीज भी इसमें छिपा देखा।

भगवान्‌ने कहा है कि यदि मैं कर्ममें आलस्यरहित होकर नहीं लगा रहूँ तो कर्मकी मर्यादा भङ्ग हो जायगी और संसारमें सर्वत्र दुःख छा जायगा और वर्णसंकरता फैल जायगी। कुलकर्मकी मर्यादा नष्ट होनेपर लोग विपथगामी हो जायँगे और समाजमें लोगोंके विपथगामी होनेपर सबसे अधिक कष्ट और दुःख स्त्रियोंको ही भोगना पड़ता है। सारे व्यभिचारी और अनाचारी लोगोंकी कुदृष्टि उन्हींकी ओर रहती है, इसका ताजा उदाहरण देश-विभाजनके दुर्भाग्यपूर्ण समयका है। हजारों स्त्रियोंने पश्चिम पंजाबमें अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये जल-मग्न एवं अग्निसात् होकर देह-त्याग किया था।

भगवान्‌की अपनी सृष्टिको सुन्दर ढंगसे चलानेकी बराबर चिन्ता रहती है। अतः वर्ण-विभाग तथा कर्म-विभाग करके शास्त्रोंमें सृष्टि-चक्रको अक्षुण्ण रखनेके लिये नियमोपनियम लिखे गये। उन नियमोंको भङ्ग करनेके लिये प्रायश्चित्तके रूपमें दण्डका विधान किया गया। मर्यादा-भङ्ग करनेवालोंके लिये राजदण्डका विधान किया गया। राजदण्डसे किसी प्रकार बच जानेवालोंके लिये शारीरिक और मानसिक कष्टका विधान किया गया। समाजमें हमलोग नित्य देखते हैं कि अत्युत्कट पाप-कर्म करनेवाले लोग बहुत शीघ्र भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होकर तथा मार्मिक मानसिक पीड़ासे पीड़ित होकर शरीरत्याग करते हैं। ऐसे लोगोंके लिये समाजमें किसीके मुँहसे एक शब्द भी सहानुभूतिका नहीं निकलता। बल्कि अधिकतर लोग उनके दुःखसे प्रसन्न होते हैं। सृष्टिकी रक्षामें मर्यादा-पालनके द्वारा सहायता प्रदान करनेवाले लोग भगवान्‌के प्रिय भक्त होते हैं और इसके विपरीत धर्म-मर्यादा-भङ्गके द्वारा सृष्टि-संचालनमें विघ्न उपस्थित करनेवाले लोग

भगवान्‌के द्रोही होते हैं । जब भगवद्-द्रोहियोंकी संख्या बहुत बढ़ जाती है और सृष्टिका संचालन-कार्य असम्भव हो जाता है, तब भगवान् अवतार लेकर दुष्टोंका संहार करके पुनः लोक-मर्यादाकी स्थापना करते हैं ।

यह काम भगवान्‌को बहुत प्रिय है । इसमें तनिक भी त्रुटि वे नहीं देखना चाहते । गीतामें वर्णित त्यागरूप योगका रहस्य जो लोग नहीं समझते और अनजानमें प्रवाह रूपसे कर्ममें लगे रहते हैं, उनको त्यागका मर्म समझानेका निषेध भगवान्‌ने किया है; कारण कि वे अज्ञलोग उसका मर्म न समझकर कर्मसे विमुख हो जायँ तो लोक-संग्रहमें बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी । विद्वान् कर्मयोगीको चाहिये कि साधारण लोगोंके मनमें भ्रम और द्विविधा न उठने देकर स्वयं सब कर्मोंका आचरण करते हुए उनसे भी वैसे ही कर्म कराये ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
(गीता ३ । २६, २५)

इस प्रकार जब भगवान्‌के द्वारा अर्जुनको सारे उपायोंसे स्व-कुल-धर्मका बोध असंदिग्धरूपसे नहीं कराया जा सका, तब सबसे सीधा रास्ता लोक-संग्रह (समाजमें कुलधर्मकी मर्यादाको अक्षुण्ण रखना) को उन्होंने अपनाया और अर्जुनको तत्काल बोध करा दिया गया कि युद्धका परिणाम आगे-पीछे तो जो होगा सो होगा, अभी वह चारों ओरसे उपहासका पात्र हो जायगा । साधारण-साधारण आदमी उसे कायर कहेंगे, ढोंगी कहेंगे, उसके शत्रु फूले नहीं समायेंगे—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
……………………………………

आज जो इस देशमें सर्वत्र अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार फैला हुआ है, उसका मुख्य कारण यही है कि लोक-संग्रहकी भावना कम हो गयी है । बड़े-बड़े ऊँचे ओहदेपर बैठे हुए लोग भी धनके लोभसे लोक-लाज खो चुके हैं और निर्लज्ज होकर पापका पैसा बटोर रहे हैं । वे यह गीतोक्त उपदेश भूल गये हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

भारतको अभी श्रीकृष्ण-जैसे निर्भीक उपदेशक और मार्गदर्शक चाहिये, जो लोगोंको याद दिला सकें कि 'प्रतिष्ठितोंकी अप्रतिष्ठा मरणसे बढ़कर है ।'

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
(गीता २ । ३४)

मुकुटकी लटक

मुकुटकी चटक, लटक बिंब कुंडलकी,
भौंहकी मटक नेकु आँखिन देखाउ रे !
एरे बनवारी, बलिहारी जाउँ तेरी, मेरी
गैल किन आय नेकु गायन चराउ रे !
'आदिल' सुजान रूप गुनके निधान कान्ह,
बँसुरी बजाय तन तपन बुझाउ रे !
नंदके किसोर, चितचोर, मोर पंखवारे,
बंसीवारे साँवरे पियारे, इत आउ रे !

—आदिल

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आनन्दका स्वर्ग उतर आया

एक दिन स्वर्गीय रफी अहमद किदवई साहब अपने घरके कार्यालयमें बैठे थे, इतनेमें एक गरीब-सा दिखायी देनेवाला आदमी वहाँ आया और गिड़गिड़ाने लगा।

'बाबूजी, मेरी लड़की जवान हो गयी है, उसका विवाह करना है; कुछ सहायता कीजिये। मैं गरीब आदमी हूँ। मेरी इज्जतका सवाल है।'

दीन, दलित, पतित और पीड़ित मनुष्योंके प्रति सहानुभूति रखनेवाले और उनकी सहायता और सेवाके लिये तत्पर श्रीकिदवई साहबने उसको तुरंत पाँच सौ रुपये दे दिये और शेष रकमके लिये उन्होंने मित्रोंके लिये पत्र लिख दिया। पत्र लेकर वह आदमी किदवईजीके एक मित्रके पास पहुँचा। पर वे मित्र तो इस बनावटी भिखारीको पहचानते थे, अतएव वह भिखारी चिट्ठी वहीं छोड़ तुरंत ही चलता बना। चिट्ठी पढ़कर मित्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने तुरंत ही फोन उठाया। पर किदवई साहब नहीं मिले। उसी दिन शामको वे मित्र किदवई साहबके घर जाकर उनसे मिले और उस गरीब-से दिखाई देनेवाले आदमीके सम्बन्धमें सब बातें बताकर कहा—

'किदवईजी, वह आदमी तो आपको भी उल्लू बना गया। उसका तो विवाह ही नहीं हुआ, तब उसकी लड़कीका विवाह कहाँ होता?'

किदवई साहबने बिना किसी आश्चर्यके जवाब दिया—'बेचारेपर कोई खास विपत्ति पड़ी होगी, इसलिये उसने ऐसा काम • किया होगा। प्रभु उसको सद्बुद्धि दे।'

एक बनावटी और आवारा आदमीके प्रति इतनी बड़ी विशाल उदारता और विश्वासयुक्त श्रद्धाको देखकर वे मित्र तो आश्चर्यमें डूब गये।

इस घटनाके लगभग १० माहके बाद किदवई साहब और उनके मित्र बगीचेकी ओर जा रहे थे। पीछेसे कोई बुला रहा हो, ऐसा लगा। उनके मित्रने घूमकर देखा तो सामनेके बड़े होटलसे कोई उन्हें पुकार रहा था।

दोनों वहाँ गये। दोनों ही चकित रह गये। वही आदमी होटलके मालिकके रूपमें बैठा हुआ था। नीचे उतरकर वह दोनों महानुभावोंको ऊपर ले गया और उसने बड़े ही सत्कारके साथ उनका स्वागत किया। किसीके कुछ पूछनेके पहले ही सारी कथा बता दी। कथा सुनकर किदवई साहेबको बड़ा ही हर्ष हुआ। उसे उन्होंने छातीसे चिपका लिया। उन मित्रसे नहीं रहा गया और वे पूछ बैठे—'अच्छा भाई! तू इतना बड़ा आदमी किस तरह बन गया! तेरा धंधा तो सब……।'

'बाबूजी, माफ कीजिये। वह धंधा तो सब कभीका छूट गया। कोई काम-धंधा न होनेके कारण मैंने झूठ बोलकर किदवई साहेबसे मदद माँगी थी। सुन रखा था कि किदवई साहेब हमदर्द, उदारहृदय और दयालु हैं। उनकी हमदर्दी और सहायताने तो जादू ही किया। उनके धनसे कुमति और बुरे धंधेकी बात सूझी ही नहीं। आरम्भमें मैंने चायकी रेहड़ी चलायी। दो-चार महीनोंमें ही मेरी इज्जत जम गयी और मैं जल्दी ही इस होटलका मालिक बन गया।'

किदवई साहेब अपलक नेत्रोंसे उसकी ओर देखते ही रहे। वे उसपर बहुत ही प्रसन्न हुए और इस प्रसन्नताकी झलक उनके चेहरेपर चमकने लगी। इसका अक्स उस आदमीकी आँखोंमें दिखायी दिया और उसकी आँखोंसे भी हर्षाश्रुओंकी गङ्गा-यमुना बहने लगी। इस गङ्गा-यमुनामें 'उसने झूठ बोला था'—इसके लिये पश्चात्तापरूपी सरस्वतीका भी अदृश्य संगम हो रहा था। मानो आनन्दका स्वर्ग उतर आया।

'अखण्ड आनन्द' —तुलसीदास एच० गोंडलिया

(२)

पर-धन विषके समान

मरणासन्न वृद्धाकी चारपाईके चारों ओर अपने और परायोंकी भीड़ लग गयी थी। आजतक जिन्होंने वृद्धाकी कुशल-क्षेमतक पूछनेका कष्ट नहीं किया था, वे ही आज उसके धनके कारण उसकी परलोकयात्राके समय अत्यन्त भग्न हृदयोंका स्वाँग रचे, मुँह लटकाये बैठे थे मानो मुसीबतों-का पहाड़ उन्हींपर टूट पड़नेवाला है। बोलते-बोलते वृद्धा एक स्थानपर तनिक लड़खड़ा गयी मानो गाड़ीके सामने कोई अचानक आ जाय; किंतु जैसे कुशल ड्राइवर जिस प्रकार तत्क्षण ब्रेक लगाकर गाड़ीको पुनः सावधानीपूर्वक आगे बढ़ा ले जाता है, वैसे ही वह उस बातको छोड़ती हुई आगे बढ़ गयी। परिजनोंने बहुतेरा प्रयास किया कि वह कहनेमें कुछ संकोच न करे; किंतु वृद्धा उस बातको एकदम टाल ही गयी। जो बात उसके होठोंपर आकर जम गयी थी, वह अन्ततक नहीं पिघली और अस्सी वसंतोंका पराग पीकर वृद्धा अन्य लोककी यात्रापर निकल गयी।

बात आयी गयी हो गयी। कुछ वर्ष पश्चात् उस वृद्धाके वारिसको ३२) रुपयेका एक मनीआर्डर प्राप्त हुआ।

प्रेषित करनेवालेने जो नाम-पता दिया था, उसपर वारिसने ढूँढ़नेका बहुतेरा प्रयास किया; किंतु उसे सफलता न मिली। मनीआर्डर मिलनेके तीन-चार दिन पश्चात् ही उसे एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें लिखा था—

'प्रिय श्री'.......

आपको स्मरण होगा आपकी दिवंगत माताजी (आपने उन्हें उनकी मृत्युसे कुछ समय पूर्व इसी नामसे पुकारना प्रारम्भ कर दिया था) मरणासन्न घड़ीमें लेन-देनका ब्यौरा बतलाते समय एक स्थानपर तनिक लड़खड़ा गयी थीं। मैं यद्यपि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं था, किंतु उस समयका हूबहू वर्णन मैंने आपके कुटुम्बके एक अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तिसे सुना था। सुनकर लगा था मानो उस लड़खड़ा देनेवाले स्थलसे मैं ही सम्बन्धित था। दरअसल मैं उनसे समय-समयपर कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त करता था। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि अल्पायुमें ही मेरे सिरसे माँ-बापकी छाया उठ चुकी थी। पिताके देहान्तका मुझे कुछ स्मरण नहीं है। माँने मेरा आपकी माताजीसे साक्षात्कार कराकर भविष्यमें कुछ आर्थिक सहायता पानेका आश्वासन प्राप्त कर लिया था। उसी आश्वासन-सूत्रके सहारे मैं अपने अध्ययनरूपी रथको आगे बढ़ाता रहा। आपकी माताजीके स्वर्गस्थ होनेके समय मैं बी० ए० अन्तिम वर्षका छात्र था। उसके पश्चात् मैंने ट्यूशन आदिके सहारे एम्० ए० किया और अब एक महकमेमें नौकर हूँ।

मैंने आपकी माताजीसे कक्षा आठसे बारहतक कितने रुपये लिये, इसका हिसाब शायद उन्होंने नहीं रक्खा; क्योंकि मुझे वे सदैव पुत्रवत् मानती थीं। किंतु मेरी अपनी माताजी मुझे पाई-पाईका हिसाब रखने और उसे चुकानेका आदेश दे गयी थीं। पाँच वर्षकी अवधिमें मैंने उनसे लगभग ३८०) रुपये लिये थे।

यह नितान्त सम्भव है कि आप इसपर विश्वास न करें कि मैंने पाँच वर्षमें सिर्फ ३८०) रुपये ही उनसे लिये हों; किंतु बन्धु! इस विषयमें मैं अपनी माताजीके आदेशानुसार बहुत सतर्क रहा हूँ। कुछ तो माताजी छोड़ गयी थीं। कुछ मैं देखकर कार्य करता था। अब उन रुपयोंको, जिनका मूल ब्याज आदि सब मिलाकर ८३२) रुपये होता है, मैं आपको सकृतज्ञ हृदयसे प्रेषित कर रहा हूँ।

'मुझे ढूँढ़नेका प्रयास मत कीजियेगा, क्योंकि इसमें आपको सफलता प्राप्त न होगी।'

छल-कपट, झूठ-फरेब, बेईमानी और भ्रष्टाचारके गोरखधंधेमें फँसे इस युगमें उपर्युक्त प्रकारके परधनको विषके सदृश समझनेवाले पुरुष निश्चय ही वन्दनीय हैं।

उन्हें शतशः प्रणाम। —गोपाल कृष्ण जिंदल

(३)

आदर्श संस्कार

जापानकी राजधानी टोकियोमें शिशुपाठशालामें एक विद्यार्थी पढ़ता था। एक दिन पाठशालासे घर जाते समय रास्तेमें उसने एक रुपया पड़ा देखा। उसने रुपया उठा लिया; पर तुरंत उसे अपनी माँकी यह बात याद आ गयी कि 'हमें कहीं कुछ मिले तो यह समझना चाहिये कि वह चीज किसी व्यक्तिकी खोयी हुई है। अतः उसे स्वयं न लेकर पुलिसको सौंप देना चाहिये।'

वह लड़का उस रुपयेको घर न ले जाकर सीधा पुलिस-थानेमें गया और वहाँके दारोगाजीसे बोला कि 'यह रुपया लीजिये, मुझे रास्तेमें मिला है। अतएव यह रुपया सरकारी खातेमें जमा कर लीजिये।' किंतु दारोगा साहबने आलस्यवश सरकारी खातेमें रुपया जमा नहीं किया। उन्होंने सोचा—'एक रुपयेके लिये कौन इतनी माथापच्ची करे।' अतएव उन्होंने उस बच्चेसे कहा—'दोस्त! तुमने बड़ा अच्छा काम किया है। इसके लिये मैं तुमको शाबाशी देता हूँ और यह रुपया भी इनामके तौरपर मिठाई खानेके लिये देता हूँ।'

छोटा बच्चा कुछ समझा नहीं। वह रुपया लेकर घर आया और उसने माँके हाथमें रुपया दे दिया। माताने बच्चेसे पूछा—'तू रुपया कहाँसे लाया है!' बच्चेने सारी बात बताकर कहा—'दारोगाजीने मिठाई खानेके लिये मुझको रुपया वापस दे दिया।' इस बातको सुनकर माताको दारोगापर बड़ा गुस्सा आया। वह उनके पास गयी और बोली—'आपने मेरे बच्चेको रुपया वापस किसलिये दिया! इससे तो यह बच्चा दूसरोंके पैसोंसे मिठाई खानेके लिये चोरीका धंधा सीख जायगा।'

इसके बाद उस बहिनने पुलिसके बड़े अधिकारियोंके सामने फरियाद की। पुलिसके बड़े अधिकारीने दारोगासे पूछा, तब उन्होंने कहा—'मैंने तो इसकी ईमानदारीको देखकर रुपया इनाममें दिया था।'

तब बड़े अधिकारीने दारोगासे कहा—'यदि आपको इनाम देना था तो अपनी जेबसे देना चाहिये था। सचमुच ही आपने इस बच्चेको अनुचित पाठ पढ़ाया है, इसलिये आपको नौकरीसे बर्खास्त किया जाता है।'

जहाँ ऐसी ईमानदारी हो और बालकोंको ऐसे आदर्श संस्कार दिये जाते हों, वह देश उन्नत और समृद्ध हो तो इसमें क्या आश्चर्य? 'अखण्ड आनन्द' —लल्लूभाई ब० पटेल

(४)

पश्चात्ताप

बात आजसे पैंतीस-छत्तीस साल पहलेकी है और कलकत्ताकी है। मैं उन दिनों प्रायः कलकत्ते जाता और महीनों वहाँ रहा करता था।

कलकत्ताके भवानीपुर क्षेत्रमें पंजाबी साहित्यिकोंकी एक संस्था भी थी—'कविकुटिया'।

'कविकुटिया' का अपना एक छोटा-सा प्रेस था और एक मासिक पत्र निकलता था पंजाबीमें—'कवि'।

संस्था थी तो वैसे साहित्यिक ही और वहाँ पंजाबी साहित्यकी श्रीवृद्धिके लिये ही सोचा-विचारा और उद्योग किया जाता था; पर सरकारको संदेह था कि यह एक छल है, धोखा है। वास्तवमें यह नये तथा पुराने और खास करके पंजाबी क्रान्तिकारियोंका अड्डा या केन्द्रस्थल है; क्योंकि इसके प्रधान और 'कवि'के सम्पादक थे—गदर पार्टीके प्रमुख कार्यकर्ताओंमेंसे एक सरदार मुन्शासिंहजी 'दुखी', जो फाँसीके फंदेसे बचकर जेलकी लंबी सजा काटकर आये हुए थे।

दूसरे, यहाँ—चाहे साहित्यिक कार्यों और आमोद-प्रमोदके लिये ही सही—प्रायः नये और पुराने देशभक्तोंका आना-जाना भी बराबर रहता था।

जो लोग यहाँ जल्दी-जल्दी आकर और घंटों बैठकर और घुल-मिलकर बातें किया करते थे—पुलिस उनपर कड़ी नजर रखती थी।

ऐसे लोगोंमें मैं भी एक था। मैं 'दुखी' जीको अपना बड़ा भाई समझता था और अब भी समझता हूँ। उनके पत्र 'कवि' में कभी-कभी लिखता भी था। फिर मैं पुलिसकी दृष्टिमें दूधका धुला था भी नहीं। कुछ संदेह स्पष्ट ही था। ऐसी दशामें मुझपर भी पुलिसकी दृष्टि रहना अनिवार्य-सा था।

एक दिन कविकुटियासे होकर मैं भवानीपुर क्षेत्रमें ही स्थित एक साधारणसे होटलकी ओर जा ही रहा था कि पीछेसे आकर किसीने मेरे कंधोंपर हाथ धरते हुए बड़े प्रेमसे पूछा—'खन्ना साहब! कहाँ जा रहे हैं?' पहले इसके कि मैं कुछ कहता, वह कहने लगा—'दीदीके पास? मेरी दीदीके पास? चलिये मैं भी वहीं जा रहा हूँ। वह कलसे यहाँ आयी हुई है और शायद आपकी ही इन्तजार कर रही है।'

वह एक बड़ा आकर्षक बंगाली नौजवान था। सफेद खादीके वस्त्र। सिरपर गांधी टोपी, पैरोंमें चप्पल और माथेपर गौड़ीय सम्प्रदायका नाकतक लगा सफेद चन्दनका तिलक।

वैसे मैंने उसे एक दो बार कविकुटियामें भी देखा था और कांग्रेसके जलसे-जुलूसोंमें भी ईन्क्लाब जिंदाबादके जोर-जोरसे नारे लगाते हुए भी। पर उससे मेरी सीधी जान-पहचान कोई न थी।

मैं बड़े विस्मयमें था कि इसे कैसे पता है मैं कहाँ जा रहा हूँ।

मैं मंद मुस्कानके साथ, 'अच्छा चलिये' कहकर उसके साथ हो लिया।

पहुँचे उस होटलमें जहाँ मैं जा रहा था। वहाँ आयी हुई थी एक अद्भुत महिला—कुसुम कुमारी।

साधारण लोग कुसुम कुमारीके विषयमें केवल इतना ही जानते थे कि वह एक नर्तकी है और नाचनेके लिये कहीं बाहरसे आती है। जहाँ भी प्रोग्राम मिल जाता है, ले लेती है—यहाँतक कि किसी वेश्यालयमें भी।

इसके साथ ही पुलिसकी धारणा एक दूसरी भी थी। पुलिसकी धारणा थी कि यह एक क्रान्तिकारी विचारोंकी महिला है और क्रान्तिकारियोंके साथ उसका सम्बन्ध है। नाचनेके लिये आना तो उसका एक बहाना है। वास्तवमें यह क्रान्तिकारियोंके ही किसी कामके सिलसिलेमें यहाँ आया करती है। अस्तु,

मेरा, इसका प्रेम था और वह प्रेम था—सर्वथा वासना-रहित पवित्र।

मैंने बुद्धधर्म इसीकी प्रेरणासे स्वीकार किया था। यह स्वयं किसी सम्प्रदायविशेषसे निकलकर बुद्धधर्ममें प्रविष्ट थी।

आजसे करीब बत्तीस वर्ष पहले मैंने हिंदीमें एक पुस्तक लिखी थी—गौतम बुद्ध। उसमें भी इस अद्भुत महिलाके विषयमें उल्लेख किया गया था।

जाते ही उसने कहा—'दीदी! ओ दीदी!! देख आज किसे साथ लाया हूँ। यही हैं न, जिनकी तुम आ प्रतीक्षा कर रही थीं?'

वे कविकुटियामें भी जाते हैं और कांग्रेसके जलसे जुलूसोंमें भी। तुम तो इनके विषयमें बहुत कुछ जान होगी; पर मैं इतना ही जानता हूँ कि ये बहुत अच्छे आदमी हैं। फिर, बहुत अच्छे आदमियोंके सिवा और कोई तुम्हा सम्पर्कमें आ भी तो नहीं सकता। तुम स्वयं भी तो बहु अच्छी हो।

कुसुम हँसकर बोली—'अच्छा, ये बहुत अच्छे हैं ! मैं तो उन्हें नहीं जानती । तुम्हें आदमीकी बड़ी पहचान है । जरा अच्छा देखा कि उसे सम्पर्कमें ले लिया । अच्छा, यह तो बतलाओ कि मेरे साथ इन्हें कब देखा था ।'

'देखा था'—कहकर बात समाप्त करते हुए उसने चायका आर्डर दिया और चाय आ गयी ।

चाय-पान समाप्त होते ही वह उठकर बोला—'अच्छा मैं चलता हूँ । ये तो आपके पास बैठेंगे ही ।' वह चला गया ।

कुसुम एक खास अनुमानसे मुस्कराती हुई बोली—'ये आपको कहाँसे पकड़ लाये ?' मैंने कहा—'आपके पास आनेको ।'

वह बोली—'इसकी बातोंसे तथा इसके कुछ कार्य-कलापोंसे तो यह बहुत अच्छा नौजवान लगता है । कामका प्रतीत होता है । यह तो आप जानते ही हैं, किसीपर अन्ध श्रद्धा रखनेकी मेरी आदत ही नहीं है । फिर भी कुछ रखती जरूर हूँ । अंधी नहीं, तो सुन्दर नयनवाली ।'

यह आपके सम्पर्कमें कैसे आया—यह मैंने नहीं पूछा ।

थोड़ी-बहुत और इधर-उधरकी या हँसी-मजाककी बातें होनेके बाद कलाईकी ओर देखती हुई बोली—'अब चलना चाहिये, समय हो चला है ।'

हम दोनों उठ खड़े हुए और होटलसे बाहर निकल आये । निकलनेसे पहले चाय वगैरहका बिल देनेके लिये मैं मैनेजरके पास पहुँचा तो वह बोला—'बिल चुकता कर गये थे आपके वे साथी महाशय ।' मैंने कहा 'खूब ।'

अब हम दोनों बस स्टैंडपर आये और एक बसमें बैठकर बड़ा बाजारमें आ गये । वहाँसे वह तो हबड़ा पुलकी ओर पैदल चल दी और मैं अपने स्थानको चला आया ।

इस दिनके बाद लगभग पाँच महीनेतक मैं कलकत्तामें रहा, पर वह नहीं आयी ।

वह जब आती थी तब जितने दिन भी कलकत्तेमें रहती थी, स्थायीरूपसे तो पता नहीं कहाँ रहती थी, पर मिलने-जुलनेवालोंको वह उपर्युक्त होटलमें ही मिला करती थी।

मैं उसी होटलमें पता लगाता रहता था । न होती थी तो होटलके एक नौजवानको मैं अपना नाम-पता दे आता था और वह उसके आनेपर उसे दे देता था । तब वह मुझे बुला भेजती थी ।

फिर जबतक वह कलकत्ता रहती थी, मैं उससे प्रायः प्रतिदिन मिल लिया करता था और कभी-कभी उसके प्रोग्राममें भी जा शामिल होता था ।

अब फिर आया मैं लगभग दो महीने बाद और प्रायः एक सप्ताह बाद मुझे सूचना मिली उसके आनेकी और मैं उससे मिलने चला गया ।

आजकी हमारी मुलाकात; बादमें पता लगा कि अन्तिम मुलाकात थी । फिर कोई मुलाकात नहीं हुई । वह रही ही नहीं संसारमें । नदियामें उसका देहान्त हो गया ।

आज मेरे बैठते ही उसने कहना शुरू कर दिया उस बंगाली नौजवानके विषयमें, जो पिछली बार अपनी ओरसे मुझे यहाँ पहली बार उससे भेंट कराने लाया था । वह उसे एक देशभक्त नौजवान समझती थी और मैं भी उसे बुरा नहीं समझता था, घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता था । कभी मिल जाता था तो प्रेमसे अभिवादन हो जाता था, यद्यपि वह चाहता था मेरे साथ घनिष्ठता बढ़ाना और मुझे अपने दृढ़ विश्वासमें लाना । अस्तु'

वह बोली—''खन्नासाहब ! मैं बड़ी भावुक हूँ, भोली हूँ, मासूम हूँ, या यों कहिये खतरनाक हूँ—उन लोगोंके लिये जो सहसा किसीपर विश्वास नहीं कर लेते, किसीको अपने सम्पर्कमें नहीं ले लेते । पर मैंने ले लिया उस नौजवानको अपने विश्वासमें, अपने सम्पर्कमें, जो पिछली बार आपको मेरे पास लाया था । फलतः मैं डरती हूँ मेरे कारण देशकी कोई हानि न हो गयी हो ।

''आप सुनकर आश्चर्यान्वित होंगे कि वह नौजवान न कांग्रेसी था न क्रान्तिकारी । वह तो पुलिसका एक वेतनभोगी मुखबिर था, जो हममें विश्वास पैदा करके हमारे सम्पर्कमें आया हुआ था ।

''किसीने उसके बारेमें इस बातको नहीं जाना । उसने खुद ही मरते-मरते मुझे बतलाया था । संयोगसे मैं उन दिनों कलकत्ता आयी हुई थी ।

''मेरे कई ठिकानोंका उसे पता था । एक दिन मैं हंस-पोखर लेनके एक ठिकानेपर टिकी हुई थी कि दस-बारह वर्षका एक लड़का मेरे पास आया । उसकी आँखें डबडबायी हुई थीं । रूँधे हुए कण्ठसे वह बोला—'हालदार बाबू आपको याद करते हैं ।'

''मैं जानती थी उसका नाम मनोरञ्जन हालदार है और एक दो बार इस लड़केको भी उसके साथ देखा था—मैं हो ली उसके पीछे-पीछे ।

''लड़का मुझे एक घरमें ले गया। वहाँ हालदार चारपाईपर लेट रहा था। मुझे देखते ही वह ज्यों ही मेरे पैर छूनेको चारपाईसे उतरा कि बेहोश होकर गिर पड़ा। घरवालोंने उसे सम्हाला और फिर चारपाईपर लेटा दिया। होश आनेपर उसने फिर उठनेका प्रयत्न किया; पर मैंने दौड़कर उसे कंधोंसे पकड़ लिया और कहा—'बैठे रहिये, लेटे रहिये, भाई साहिब! मैं आ गयी हूँ। कहिये, कैसी तबीयत है? क्या बात है?'

''उसने घरवालोंसे कहा—'आप सब जरा दूसरे कमरेमें चले जाइये।'

''चले गये तो वह आँखोंसे अश्रुपात करता हुआ रूँधे कण्ठसे बोला—'दीदी! मैं बड़ा अपराधी हूँ, बहुत पापी हूँ, बड़ा विश्वासघातक हूँ। मैंने वर्षों आपलोगोंको धोखा दिया है, देशवासियोंसे गद्दारी की है। मैं न कांग्रेसी हूँ न क्रान्तिकारी। मैं तो पुलिसका वेतनभोगी एक मुखबिर हूँ।

''मैं मर रहा हूँ और मेरे पाप मेरे सामने काँप रहे हैं। भयंकर रूपसे ये नाच रहे हैं। न जाने मुझे किस नरकमें जाना होगा। अवश्य ही मुझे अनेक यातनाएँ मिलेंगी। भगवान् मुझे कभी क्षमा नहीं करेंगे। पर तुम तो क्षमा कर दो। तुम्हारे क्षमादानसे मुझे पर्याप्त सान्त्वना मिलेगी।

''मैंने उसके सिरपर हाथ धरते हुए कहा—'यदि मेरे क्षमा कर देनेसे आपको कुछ सान्त्वना मिल सकती है तो मैं आपको हृदयसे क्षमा करती हूँ।'

''वह संतोषकी साँस लेता हुआ बोला—'दीदी! मैंने जीवनभर कोई नेक काम नहीं किया है। आज एक काम कर जानेका विचार है। आपको चेतावनी देता हूँ कि आप बालीगंजवाले तारासिंहसे सावधान हो जाइये। वह भी मेरे-जैसा ही और मुझसे भी पुराना पापी है।' कहते-कहते उसने दम तोड़ दिया।

''मैं उसके इस हृदय-परिवर्तनको, यद्यपि चाहती हूँ कि वह इससे बहुत पहले हो जाता, फिर भी उपयोगी और प्रशंसनीय ही समझती हूँ।

''ठीक ही तो है। मनुष्य कभी भी अपनी भूल स्वीकार कर ले, कभी भी अपने किये कुकर्मोंपर पश्चात्ताप कर ले तो अभिनन्दनीय ही है, कल्याणकारी ही है।

''इससे उसका अपना शेष जीवन तो चाहे कुछ क्षणोंका ही मेहमान क्यों न हो—शुद्ध और पवित्र हो ही जाता है। साथ ही वह दूसरोंके लिये भी प्रकाशका काम भी दे जाता है। दूसरे भी इससे सबक सीख सकते हैं, शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

—गुरांदित्ता खन्ना

(५)

प्रलोभनपर विजय

हमारे एक प्रेमी सज्जन धार्मिक औषधालय चला रहे हैं। उन्होंने अपने औषधालयके लिये एक पुरानी आलमारी खरीदी थी।

आलमारी बहुत दिनोंसे काममें ली जा रही थी, पर उस आलमारीके अंदरके तहखानेकी बात उनको मालूम नहीं थी। हमारे उन मित्रने वह आलमारी अपने एक मित्रको सब ओरसे दिखलायी, तब उनकी नजर उस तहखानेपर पड़ी। तहखाना खोला गया और उसे देखते ही सब आश्चर्यमें डूब गये। लगभग सात सौ रुपये नगद, चार सौ तोलेके गहने और दस-बारह हजारके शेयरके सार्टिफिकेट उसमें थे। उनके मित्रने कहा—'इतनी बड़ी जोखिम घरमें क्यों रखते हो।' पर मेरे मित्रके पास तो अपनी सम्पत्ति थी ही कहाँ? फिर भी वे चाहते तो इस समय इस तहखानेमें निकली रकमको अपनी कहकर अपनी बना सकते थे; पर उनकी ईमानदारी जाग्रत थी। ईमानदारीने प्रलोभनपर सहज विजय प्राप्त की।'

उन्होंने देखा शेयर सर्टिफिकेटोंपर जो नाम पड़े थे, वे एक रोगीके थे। वे जब बम्बईमें नौकरी करते थे, उस समय इन शेयरों वाले रोगीके साथ उनकी जान-पहचान हो गयी थी। वे उसकी खोज करने बम्बई गये; पर रोगीकी तो मृत्यु हो चुकी थी इसलिये उसकी पत्नी और बालक बम्बई छोड़कर अमरेली जा बसे थे। घरके फर्नीचर बेचे गये थे, परंतु पतिने स्त्री को इस सम्पत्तिकी बात बतायी नहीं थी। स्त्रीकी हालत बहुत बुरी हो चुकी थी।

हमारे मित्रने बम्बईमें उन सज्जनके पड़ोसीसे अमरेली का पता प्राप्त करके उसकी स्त्रीको पत्र लिखा। उसकी ह आयी और उसने इस सम्पत्तिसे अपने डूबते हुए फर्म बचाया और वह इस साधारण व्यक्तिकी इतनी ईमानदा देखकर गद्गद हो गयी। इस ईमानदारीने एक विपत्तिग्र कुटुम्बका उद्धार कर दिया। 'अखण्ड आनन्द'

—हंसमुख ए० गोंजा

‘कल्याण’के नये तथा पुराने ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

(१) इस वर्ष ‘कल्याण’के ३९वें वर्षका विशेषाङ्क “भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क” दिनाङ्क १५ जनवरी १९६५ को तैयार हुआ जो कि १८ जनवरीसे, ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ग्राहकोंकी सेवामें भेजना प्रारम्भ होकर २२ फरवरीतक (भेजना) समाप्त हुआ। अतः ‘कल्याण’के जिन प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको विशेषाङ्क विलम्बसे मिला अथवा जिन सज्जनोंको जल्दी भेजनेके लिये पत्र तथा प्रतिपत्र (Reminder) एक बार या अधिक बार देने पड़े, वे महानुभाव परिस्थितिजन्य हमारी विवशताके लिये क्षमा करेंगे।

(२) ‘फरवरी’६५ का अङ्क ६ फरवरीसे भेजना प्रारम्भ है। इसपर जिन ग्राहकोंको वी० पी० और रजिस्ट्री ८ फरवरीके बाद भेजी गयीं—उनको विशेषाङ्कके साथ फरवरीके अङ्क भी भेज दिये गये हैं। शेष ग्राहकोंको जैसे-जैसे व्यवस्था होती जा रही है, फरवरीका अङ्क भेजना चालू है। अपरिहार्य परिस्थितिवश सभी ग्राहक महानुभावोंको फरवरीका अङ्क, चाहते हुए भी हम समयसे तथा सबको एक साथ भेजनेमें समर्थ नहीं हो पाते हैं। व्यवस्था होनेमें कुछ समय लगता ही है। अतएव विलम्बके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना है।

(३) इसी प्रकार ‘मार्च’६५ का अङ्क भी जैसे-जैसे व्यवस्था होगी, भेजना जारी रहेगा। किंतु जिन ग्राहकोंको वी० पी० गयी है, उनका रुपया कार्यालयको प्राप्त होनेमें तथा फिर रजिस्टरोंमें चढ़ाने आदि कार्योंमें समय लग सकता है। फलस्वरूप मार्चका अङ्क भी, जिन सज्जनोंको विलम्बसे मिले तो वे महानुभाव अधीर न हों, बल्कि कृपापूर्वक सधैर्य प्रतीक्षा करें। सभी ग्राहक महानुभावोंको व्यवस्थानुसार यथासमय अङ्क भेजनेकी हमारी यथासाध्य पूरी चेष्टा है।

व्यवस्थापक—**‘कल्याण’ गीताप्रेस, गोरखपुर**

भूल-सुधार

‘कल्याण’के ‘भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क’के पृष्ठ ६४० पर ‘महान् शोकको निवृत्त करनेवाली प्रार्थना-विधि’ (लेखक श्रीमुकुन्दवल्लभजी) शीर्षक लेख छपा है। उसमें दिये हुए मन्त्रमें ‘क्लीं’ बीजके आगे ‘श्रीं’ बीज दो जगह भूलसे छप गया है, पर वह ‘श्रीं’ बीज नहीं है। उसकी जगह ‘स्त्रीं’ बीज पढ़ना चाहिये। श्रीं बीज लक्ष्मी-बीज है और स्त्रीं बीज शान्ति-बीज है।

—सम्पादक

श्रीराधा-माधव-रस-सुधा (मूलमात्र)

[षोडश गीत—गुटका आकारमें]

पृष्ठ-सं० ४०, मूल्य ८ न० पै०, डाकखर्च अलग। इस पुस्तकका एक संस्करण व्रजभाषाके अनुवादसहित डिमाई साइजमें गीताप्रेससे निकल चुका है। जिसके दस हजार प्रतियोंके दो संस्करण हो चुके हैं। उसका मूल्य १८ न० पै० तथा डाकखर्च अलग है।

अतः आर्डर देनेवाले सज्जन स्पष्ट लिखनेकी कृपा करेंगे कि उन्हें कौन-सी प्रति चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**

गीताभवन-ऋषिकेश-सत्सङ्गकी सूचना

गीताभवन-स्वर्गाश्रममें स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी चैत्र वदी १२ को पहुँचनेकी बात है। चैत्र सुदी १ से ९ तक वहाँ मानस-नवाह्नपारायण होनेकी बात है, अतः सभीको इस अवसरपर वहाँ पहुँचकर अधिकाधिक संख्यामें शामिल होना चाहिये। सदाकी भाँति आषाढ़ सुदी ११ के लगभगतक उनका वहाँ ठहरनेका विचार है। श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका स्वास्थ्य ठीक रहा तो उनका भी वहाँ पहुँचना हो सकता है तथा भाईजी हनुमानप्रसादजीका भी जाना हो सकता है।

गीताभवन 'सत्सङ्ग'में जानेवालोंको ऐश-आरामकी या केवल जलवायु-परिवर्तनकी दृष्टिसे न जाकर सत्सङ्गके उद्देश्यसे ही जाना चाहिये तथा सत्सङ्गमें अधिक-से-अधिक भाग लेना चाहिये।

नौकर-रसोइया आदि यथासम्भव साथ लाना चाहिये। ऋषिकेशमें नौकर-रसोइया मिलना कठिन है। स्त्रियाँ पीहर या ससुरालवालोंके साथ अथवा अन्य किसी सम्बन्धीके साथ ही जायँ। अकेली न जायँ एवं अकेली जानेकी हालतमें यदि स्थान न मिल सके तो दुःख नहीं करना चाहिये। गहने आदि जोखिमकी चीजें साथ नहीं रखनी चाहिये। बच्चोंको वे ही लोग साथ ले जायँ, जो उन्हें अलग डेरेपर रखनेका प्रबन्ध कर सकते हों; क्योंकि बच्चोंके कारण सत्सङ्गमें विघ्न होता है। खान-पानकी चीजोंका प्रबन्ध यथासाध्य किया जाता है, किंतु दूधका प्रबन्ध होना कठिन है।

'कल्याण' नामक हिंदी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१–**प्रकाशनका स्थान**—गीताप्रेस, गोरखपुर

२–**प्रकाशनकी आवृत्ति**—मासिक

३–**मुद्रकका नाम**—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४–**प्रकाशकका नाम**—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५–**सम्पादकका नाम**—(१) हनुमानप्रसाद पोद्दा

(२) श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्

दोनोंका राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

दोनोंका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६–**उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं।** — श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता–नं० ३०, बाँसतल गली, कलकत्ता (सन् १८६ के विधान २१ के अनुसा रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानका और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

मोतीलाल जाला

प्रकाश

दि० १ मार्च १९६५

२०.४.

कल्याण

वर्ष ३९
अङ्क ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख २०२२, अप्रैल १९६५

विषय पृष्ठ-संख्या
१–ग्वालिनीका प्रेम [कविता] … ८२९
२–कल्याण ('शिव') … ८३०
३–एक महात्माका प्रसाद (श्री 'माधव') … ८३१
४–निष्काम सेवासे शीघ्र कल्याण (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) … ८३५
५–मधुर … … ८४१
६–श्रीगौडपादाचार्यकी कारिकापर एक अध्ययन (श्रीपुरुषोत्तम हरिकृष्णजी दवे) ८४५
७–पामरकी प्रार्थना [कविता] … ८४६
८–देवपुरी अयोध्या (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०) ८४७
९–पुलिनविहारी और पुलिनवास (ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज) … ८४८
१०–रात-दिन—दिन-रात (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) … … ८५१
११–मनसुख-विरह-शतक [कविता](श्रीजसवंतजी रघुवंशी) … … ८५२
१२–श्रीकृष्ण और उनकी जन्मभूमिका अभिनन्दन [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) … … ८५६
विषय पृष्ठ-संख्या
१३–जन्मान्तर-रहस्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) … … ८५७
१४–एहमद इलाबरके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्र बनर्जी)… ८६३
१५–संशयकी ज्वाला (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ८६५
१६–इस जगत्में प्रभुशासन ही चलता है ! (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण) ८६८
१७–सादगी [कहानी] (श्री'चक्र') … ८७४
१८–सेवक [सच्ची कहानी] (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) … … ८७७
१९–शुभ काम दिखावेके लिये न करें (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) … ८८१
२०–भरत-राम-मिलन [कविता] (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) … … ८८२
२१–पढ़ो, समझो और करो … ८८३
२२–मन्त्र-तन्त्रज्ञाताओंसे निवेदन (कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी प्रतिहार) … ८९२

चित्र-सूची

१–भगवान् शंकर … (रेखाचित्र) … मुखपृष्ठ
२–ग्वालिनीका प्रेम … (तिरंगा) … ८२९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै
विदेशमें ५१ पै
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

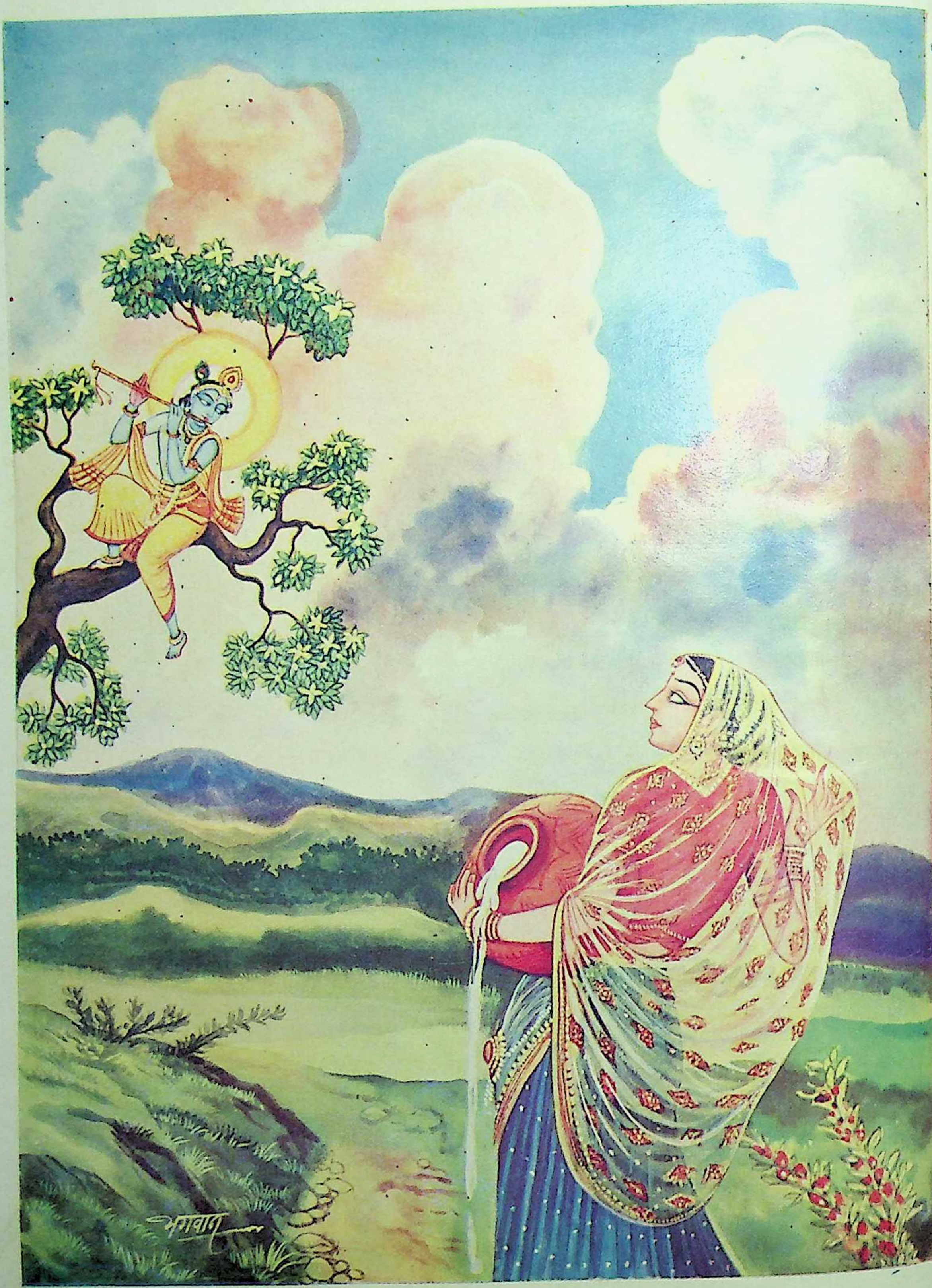

ग्वालिनीका प्रेम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

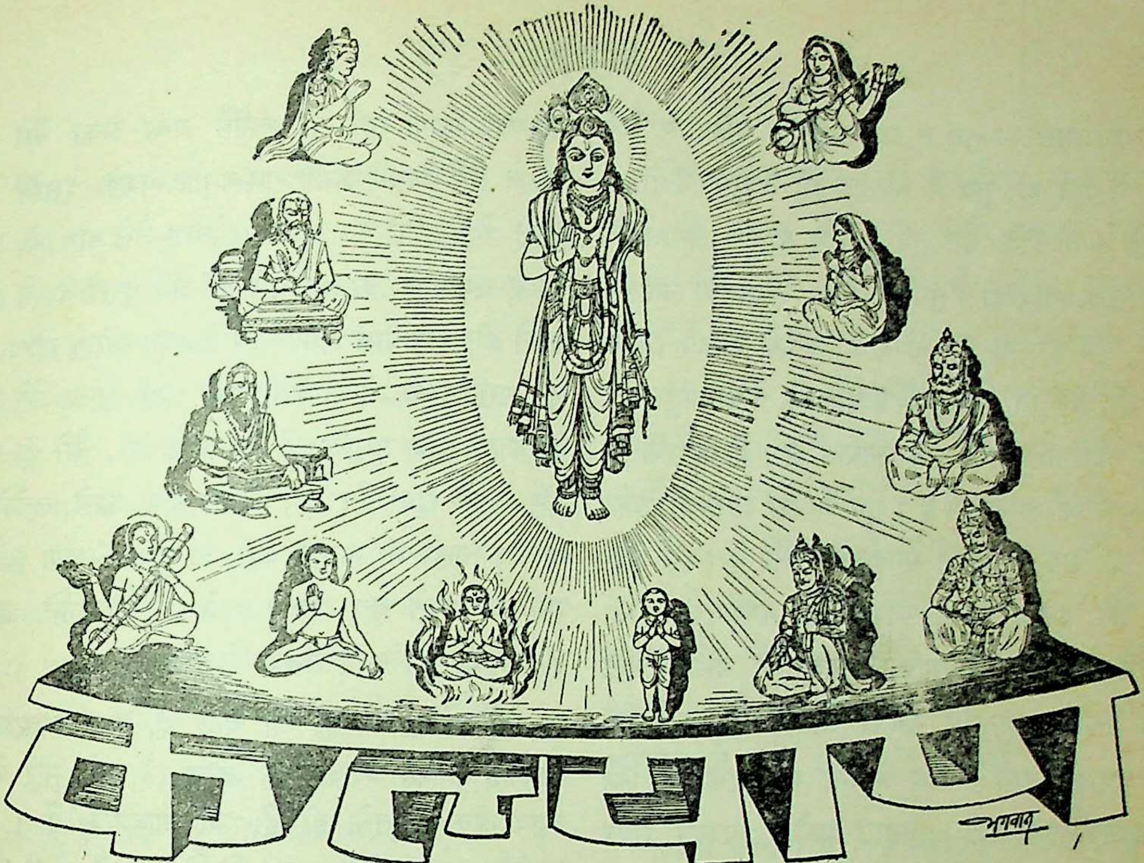

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्थं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०२२, अप्रैल १९६५ { संख्या ४
पूर्ण संख्या ४६१

ग्वालिनीका प्रेम

ग्वालिनी मुरली-धुनि सुनि अटकी ।
रही निहारति तरु-शाखा-दिसि बृत्ति न नेकहु सटकी ॥
क्षधि दुरि चल्यौ, लई सिर तै जब कर उतारि दधि मटकी ।
ठाढ़ी माटीकी पुतरी-सी अटल अचल, मति ठिटकी ॥
भौंचक रही देखि मोहन-छबि सुषमा पियरै पट की ।
बदन-कमल-रसमाती दृग-मधुकरी रहत, नहिं हटकी ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम न ब्राह्मण हो, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र हो; तुम न भारतीय हो, न यूरोपीय हो, न किसी अन्य देशीय हो; तुम न हिंदू हो, न अन्यधर्मीय या मतावलम्बीय हो। तुम हो एक भगवान्‌के सनातन अंश, तुम हो एक ही आत्माके अभिन्न स्वरूप। जैसे तुम हो, वैसे ही अखिल विश्वब्रह्माण्डके केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र भगवान्‌के सनातन अंश हैं या एक ही आत्माके अभिन्न स्वरूप हैं। तुम जो इस देहरूपमें प्रकट हो, यह माया है अथवा भगवान्‌की लीला है। इस देहको और इसके समस्त व्यवहारोंको भगवान्‌की लीला मानते हुए, सर्वत्र समभावसे भगवान्‌की लीला देखते और उनके इच्छानुसार उनकी लीलामें एक अभिनेता बने हुए ही अपने स्वाँगके अनुसार व्यवहारके द्वारा उन भगवान्‌की पूजा करो। तुम्हारा प्रत्येक व्यवहार सर्वत्र समान भावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही हो। व्यवहारमें विभिन्नता हो, पर समत्वबुद्धिमें विभिन्नता न हो। यही 'कर्मकुशलता' है।

याद रक्खो—कभी कहीं भी राग-द्वेष मत करो। जैसे खेलमें अपने-परायेका भेद तथा तदनुरूप व्यवहार खेलके समय, खेल भरके लिये, खेलके रूपमें ही रहता है। और रहता है खेलकी सफलताके लिये ही। उसमें कहीं भी वास्तवमें न तो निज-पर बुद्धि होती है और न कहीं कभी राग-द्वेष ही रहता है। इसी प्रकार राग-द्वेषरहित होकर यथायोग्य कर्मानुष्ठानके द्वारा भगवान्‌की पूजा करो।

याद रक्खो—कहीं किसी प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें राग करके, कहीं किसीमें ममता करके दूसरेसे द्वेष करोगे तो, द्वेषसे जलते तो रहोगे ही, द्वेषवश क्रोध-हिंसादि पाप तो होंगे ही और मरते समय यदि किसी द्वेष्य प्राणी-पदार्थका स्मरण रहा तो उसीमें जन्म लेकर वैसे ही बनोगे और जिसमें अभी राग-ममता करके दूसरेसे द्वेष करते थे, उसीमें द्वेष करने लगोगे। जैसे मान लो, तुम किसी अमुक देशके रहनेवाले हो और दूसरे देशसे द्वेष करते हो; अब मरते समय उस देशका स्मरण रहेगा तो तुम उसी देशमें जन्म लोगे और इस समय जैसे इस देशमें राग और उस देशमें द्वेष करते हो, वैसे ही तब उस देशमें राग और इस देशमें द्वेष करने लगोगे। अतएव कहीं भी न राग करो, न द्वेष। सर्वथा सर्वदा समभाव रखते हुए अपने-अपने कर्तव्यकर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा करो, उनकी सेवा करो।

याद रक्खो—यहाँ जो कुछ है, सब व्यवहारके लिये है। यह व्यावहारिक जगत् है। ये सारे भेद व्यावहारिक जगत्‌के ही हैं, जो आवश्यक हैं। पर परमार्थतः इनकी वैसी स्वरूप-स्थिति नहीं है, जैसी दीख रही है। परमार्थरूपमें—यथार्थरूपमें तो एक भगवान् ही सर्वत्र लीलायमान हैं। निरन्तर उनकी लीला देखते रहो, विभिन्न रसोंमें उन्हीं एक महान् रसका आस्वादन करते रहो और अपने द्वारा होनेवाले प्रत्येक कार्यको उसी लीलाका अङ्ग बनाकर लीलामयको संतुष्ट करते रहो।

याद रक्खो—लीला और लीलामय—पृथक्-पृथक् दीखनेपर भी स्वरूपतः हैं एक ही। वे एक रहते हुए ही लीलासे अनन्त रूपोंमें प्रकट होकर अनन्त विचित्र लीला करते रहते हैं।

याद रक्खो—जबतक तुम इस प्रकार लीला और लीलामयको नहीं देख पाओगे, तबतक तुम्हारा न बन्धन कटेगा, न कलुष-नाश होगा और न भय-विषाद मिटेंगे तथा तुम्हें न शान्ति मिलेगी, न सुख मिलेगा। अतएव सर्वत्र सर्वदा समभावसे भगवान्‌को और उनकी लीलाको देखो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(संकलयिता—श्री'माधव')

जिस प्रकार कर्त्ता, कर्म और फलमें जातीय एकता है, उसी प्रकार साधक, साधन और साध्यमें; प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदमें; जिज्ञासु, जिज्ञासा और तत्त्वज्ञानमें तथा सेवक, सेवा और सेव्यमें भी जातीय एकता है। अतएव हमें अपनेको साधक, प्रेमी, जिज्ञासु और सेवक मानकर ही परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये। साधक साधन होकर, प्रेमी प्रेम होकर, सेवक सेवा होकर और जिज्ञासु जिज्ञासा बनकर अपने-अपने लक्ष्यसे अभिन्न होते हैं। साध्य, प्रेमास्पद, तत्त्वज्ञान और सेव्य किसी एकके ही नाम हैं; क्योंकि सत्में कल्पनाभेद भले ही हो, जातीय तथा स्वरूपगत भेद नहीं होता।

जब हमारी वास्तविक चाह परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनकी है, तब हमें परिस्थितियोंका उपयोग न करके उनका सदुपयोग करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये; तभी हम अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परिस्थितियोंके सदुपयोगमें किसी प्रकार भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। प्राप्तका सदुपयोग ही परिस्थितिका सदुपयोग है।

× × ×

बलका दुरुपयोग और विवेकका अनादर सभी दोषोंका मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवनमें कोई स्थान नहीं है। बलके सदुपयोगसे बलका अभिमान गल जाता है और निर्बलोंकी सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं। विवेकके आदरसे दीनता मिट जाती है और कर्तव्य-निष्ठताकी सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट जानेपर 'अहं' रूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्तसे अभिन्नता प्राप्त होती है, जो 'वास्तविक आवश्यकता' है।

× × ×

विवेक और प्रीतिसे ही वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं हैं, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्तकी अहैतुकी कृपासे मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूतिसे ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। वे हमसे देश-कालकी दूरीपर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया है, हमीं उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखताको मिटानेके लिये ही उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेकसे अस्वाभाविक चाहकी निवृत्ति और प्रीतिसे स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। अतः जीवनमें असफलताके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

× × ×

हमारे जीवनमें जो श्रम दिखायी देता है, वह तो केवल अस्वाभाविक चाहकी प्रवृत्तियोंमें है, स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें नहीं। यह नियम है कि 'प्रवृत्ति निवृत्तिमें विलीन होती है, पूर्तिमें नहीं।' इस दृष्टिसे अस्वाभाविक चाहकी पूर्ति सम्भव नहीं है। उसे तो निवृत्त ही करना होगा। अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें ही स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिकी सामर्थ्य निहित है। अस्वाभाविक चाहकी निवृत्तिमें विवेक अपेक्षित है श्रम नहीं। कारण कि अस्वाभाविक चाहकी उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है। जब विवेकरूपी सूर्य अविवेकरू अन्धकारको खा लेता है, तब अस्वाभाविक चाह मिट जात है। जिसके मिटते ही प्रीति स्वतः उदय होती है जो प्रियतम से अभिन्न कर देती है। हमारा प्रियतम हमसे दूर नह है, हमींमें छिपा है। उसे उत्पन्न नहीं करना अपितु उसकी खोज करनी है। खोज वर्तमान जीव की वस्तु है, भविष्यकी नहीं। अपने खोये हुए प्रियत को कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है, प्रस्तुत अपनेह

अपनेहीद्वारा उन्हें पाना है, कारण कि वे अपनेहीमें अन्तर्निहित हैं । अतः अस्वाभाविक चाहके मिटानेमें और स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्तिमें प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है ।

× × ×

हमारा नित्ययोग उसीसे हो सकता है जो सर्वत्र और सर्वकालमें हो और जिसमें किसी प्रकारका अभाव न हो, अपितु जो सभी अभावोंका अभाव करनेमें समर्थ हो । जो सर्वकालमें है, वह वर्तमानमें भी है । अतः नित्ययोगकी प्राप्ति वर्तमान जीव-जीवनकी वस्तु है । उसे भविष्यकी आशापर छोड़ना असावधानी है, और कुछ नहीं । परिस्थितियोंके वियोगमें ही नित्ययोगकी सामर्थ्य निहित है और परिस्थितियोंके सदुपयोगमें ही परिस्थितियोंमेंसे असंग होनेकी योग्यता विद्यमान है ।

× × ×

शरीरकी वास्तविकताको जान लेनेमें समस्त विश्वका ज्ञान निहित है; क्योंकि शरीर और विश्वमें जातीय एकता है । शरीरके आदि, मध्य और अन्तका ज्ञान हमें शरीरसे अरुचि तथा असंगता प्रदान करनेमें समर्थ है । इतना ही नहीं, शरीरका राग मिटते ही सभी भोगोंका राग स्वतः मिट जाता है और भोगोंका राग मिटते ही नित्ययोग अपने-आप हो जाता है । शरीरके रागके कारण ही हम उन वस्तुओंको पीछे छोड़ते हैं जो हमारे बिना रह सकती हैं अथवा जिनके बिना हम रह सकते हैं । हाँ, यह अवश्य है कि शरीर आदि प्राप्त वस्तुओंके सदुपयोगमें कर्त्तव्य-बुद्धिसे हमारा कुछ अधिकार है, पर उन्हें अपना माननेको लेशमात्र भी अधिकार नहीं है; क्योंकि शरीर आदि सभी वस्तुएँ उसी अनन्तकी हैं, जिसके किसी एक अंशमें समस्त विश्व विद्यमान है ।

शरीरकी ममतासे रहित होकर शरीरकी सेवा करने- शरीरका हित और अपना कल्याण है । शरीरकी सेवा रते हुए इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कहीं स्थूल शरीरके हितके लिये सूक्ष्म शरीरको दोषयु न बना लिया जाय, अर्थात् स्थूल शरीरको पुष्ट करने लिये सूक्ष्म शरीरको हिंसक न बनाया जा तथा स्थूल शरीरको आराम देनेके लिये सूक्ष्म शरीर बे-ईमान तथा संग्रही न बना दिया जाय; क्योंकि स्थू शरीरकी सेवाकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीरकी सेवा अधि महत्त्वकी वस्तु है । कारण कि स्थूल शरीरका सम्बन् तो वर्तमान जीवनतक ही है, परंतु सूक्ष्म शरीर त प्राणान्तके बाद भी साथ रहता है । इतना ही नहीं सूक्ष्म शरीरके अनुरूप ही दूसरा जन्म होता है । जन्म और मृत्यु एक ही जीवनके दो पहलू हैं, कारण कि उत्पत्तिमें ही विनाश और विनाशमें ही उत्पत्ति निहित है । जबतक कारणशरीरका अन्त न हो जाय तबतक जन्म और मृत्युका प्रवाह सतत चलता ही रहता है । कारणशरीरका अन्त करनेके लिये सूक्ष्म शरीरको शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि राग-द्वेषरहित होनेपर ही त्याग और प्रेम प्राप्त होता है । त्यागसे अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति और प्रेमसे स्वाभाविक लालसाकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है ।

× × ×

जो हृदय करुणारससे भर जाता है, उससे राग-द्वेष स्वतः मिट जाते हैं । राग-द्वेषके मिटते ही 'त्याग' और 'प्रेम' अपने-आप आ जाते हैं । त्यागसे चिर शान्ति तथा नित्य जीवनकी उपलब्धि होती है और प्रेम अगाध अनन्त रस प्रदान करनेमें समर्थ है । प्रेम एक ऐसा अलौकिक, दिव्य, चिन्मय तत्त्व है कि जो कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और न कभी उसकी पूर्ति ही होती है, अपितु वह नित्य नूतन ही रहता है । इसी कारण उसकी आवश्यकता सर्वदा समस्त विश्वको रहती है । इतना ही नहीं, समस्त विश्व जिसके किसी एक अंशमें है उस अनन्तसे भी अभिन्न करनेमें प्रेम

ही समर्थ है; क्योंकि प्रेम किसी प्रकारकी दूरी तथा भेद नहीं रहने देता । इस दृष्टिसे केवल प्रेम ही प्राप्त करने योग्य तत्त्व है ।

× × ×

संकल्पकी अपूर्तिको सहर्ष सहन कर लेना ही तप है और संकल्प-पूर्तिके सुखमें आबद्ध न होना ही त्याग है । तपसे भौतिक विकास स्वतः हो जाता है और त्यागसे चिर शान्ति प्राप्त होती है । भौतिक विकास विद्यमान रागको मिटानेमें हेतु है और शान्ति चिन्मय जीवन प्रदान करनेमें समर्थ है । कर्तव्यनिष्ठ होनेपर भौतिक विकास तथा चिन्मय जीवनकी उपलब्धि होती है ।

× × ×

सुखकी आशाने ही तीव्र जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा जाग्रत् नहीं होने दी । यदि हम सुखकी आशामें आबद्ध न होते तो संदेहकी वेदना अथवा प्रिय लालसाकी जागृति वर्तमान जीवनकी वस्तु हो जाती । यह नियम है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे हो जाता है, उसके लिये व्याकुलता तथा जिज्ञासा स्वतः जाग्रत् होती है । सुखकी आशा हमें वर्तमानका उपयोग नहीं करने देती अथवा यों कहो कि वस्तुस्थितिका परिचय नहीं होने देती, जिसके बिना जो करना चाहिये उसे हम कर नहीं पाते और जो नहीं करना चाहिये उसमें आबद्ध हो जाते हैं । इस दृष्टिसे सुखकी आशा समस्त असफलताओंका हेतु है । जिज्ञासुको तत्त्वज्ञानसे, योगीको योगसे और प्रेमीको प्रेमास्पदसे सुखकी आशाने ही अभिन्न नहीं होने दिया । इतना ही नहीं, सुखकी आशा ही अमरत्वसे मृत्युकी ओर गतिशील करती है । अतः सुखकी आशा रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते, जो हमारी स्वाभाविक माँग है । इस दृष्टिसे सुखकी आशाका त्याग ही विकासका मूल है ।

× × ×

साधनतत्त्व बीजरूपसे साधकमें विद्यमान है और साध्यसे भी देशकालकी दूरी नहीं है । इस दृष्टिसे साधक, साधन और साध्य सर्वदा अभिन्न हो सकते हैं अर्थात् साधक साधनद्वारा साध्यको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है । साध्यकी उपलब्धि वर्तमान जीवनकी वस्तु है, उससे निराश होना भूल है । अपितु साधकके जीवनमें साध्यके लिये नित्य-नव-उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिये । यह नियम है कि जो वर्तमान जीवनकी वस्तु होती है, उसके लिये नित्य-नव-उत्कण्ठा स्वाभाविक उत्पन्न होती है । हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है उसके लिये भविष्यकी आशा करते हैं और जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे नहीं है, जैसे अप्राप्त परिस्थिति, उसका वर्तमानमें चिन्तन करते हैं ।

× × ×

विश्रामका स्वरूप क्या है ? विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है; क्योंकि आलस्य और अकर्मण्यतासे तो प्राणी व्यर्थ-चिन्तन तथा जडतामें आबद्ध हो जाता है और विश्राम व्यर्थ चिन्तनरहित होनेपर तथा जडतासे अतीत होनेपर ही सम्भव है । विश्राम वह जीवन है, जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती हैं अर्थात् क्रियाशीलताका उद्गमस्थान भी विश्राम है और उसका लयस्थान भी विश्राम ही है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कर्मोंकी भूमि भी विश्राम ही है । अतः विश्रामसे प्राणी अकर्मण्य तथा आलसी नहीं हो सकता । जिस प्रकार अचल हिमालयसे ही अनेक नदियाँ निकलती हैं और सभी नदियाँ जाकर उसी समुद्रमें विलीन होती हैं जो अपनी मर्यादामें ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियोंका उद्गमस्थान भी विश्राम है और समस्त प्रवृत्तियोंका अन्त भी विश्राममें ही निहित है ।

× × ×

समस्त साधन तीन भागोंमें विभाजित हो जाते हैं—

करनेमें, जाननेमें और माननेमें । अर्थात् हम क्या कर सकते हैं ? हम क्या जान सकते हैं ? और हमें क्या मानना अनिवार्य है ? अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम क्या कर सकते हैं ? तो कहना होगा कि प्राप्त बलका सदुपयोग तथा प्राप्त विवेकका आदर । बलके सदुपयोगसे सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेकके आदरसे निःसंदेहता आ जाती है । निर्बलताओंका अन्त होते ही जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है और निःसंदेहता आते ही ज्ञान और जीवनमें भेद नहीं रहता है । अर्थात् जीवन ज्ञानका प्रतीक हो जाता है । तब वह होने लगता है जो करना चाहिये; तब उसकी उत्पत्ति नहीं होती, जो नहीं करना चाहिये । अर्थात् अकर्त्तव्य सदाके लिये मिट जाता है ।

× × ×

दुःख उतनी बुरी वस्तु नहीं, जितना हम मान लेते हैं । दुःखके आधारपर ही हम आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं । जिस प्रकार भूख ही भोजन-प्राप्तिमें हेतु है, उसी प्रकार दुःख तथा मृत्यु ही आनन्द तथा अमरत्वकी प्राप्तिमें हेतु हैं । पर ऐसा तभी हो सकता है जब हम दुखी होनेपर विचार करें, भयभीत न हों । दुःख हमारे बिना ही बुलाये आया है, हम उसे रोक नहीं सकते । जिसे रोक नहीं सकते और जो अपने-आप आता है, वह किसी ऐसेकी देन है, जो अनन्त है । उस अनन्तकी देनमें सभीका हित विद्यमान है । उससे भयभीत होना हमारी अपनी भूल है । जिस कालमें दुःख पूर्ण जाग्रत् होता है, उसी कालमें सब प्रकारकी आसक्तियाँ अपने-आप मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही हम उस अनन्तकी महिमा देखनेके अधिकारी हो जाते हैं । अथवा यों कहो कि उसकी महिमाका आश्रय लेकर ही उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं । अतः जो कुछ हो रहा है वह हमें 'नहीं' से 'है' की ओर गतिशील करनेमें समर्थ है । 'नहीं' का अर्थ अभाव है और 'है' का अर्थ है—अभावका अभाव । इस दृष्टिसे प्रत्येक अभाव अभावका अभाव करनेमें समर्थ है और प्रत्येक रचना उस अनन्तकी लालसा जाग्रत् करनेमें हेतु है ।

× × ×

साधन-तत्त्व ही गुरुतत्त्व है, जो सर्वदा साधकमें विद्यमान है । इस दृष्टिसे साधक, साधन और साध्यमें जातीय एवं स्वरूपगत एकता है; क्योंकि तीनों एक ही धातुसे निर्मित हैं । कारण कि साधन-तत्त्व साध्यका स्वभाव और साधकका जीवन है । अतः साधक साधन होकर साध्यसे अभिन्न हो सकता है । साधककी साधन-तत्त्वसे अभिन्नता ही वास्तविक गुरुकी प्राप्ति है, जो जीवनमें एक बार ही होती है और जिसके होते ही गुरु और शिष्य अभिन्न हो जाते हैं । यह वास्तविक गुरुसेवा तथा गुरुभक्ति है ।

× × ×

जीवनमें ही मृत्युका अनुभव किये बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता; क्योंकि योगी होनेके लिये भी भोग-वासनाओंका अन्त करना होगा और भोग-वासनाओंका अन्त करनेके लिये अपनेको तीनों शरीरोंसे अलग अनुभव करना होगा । इस दृष्टिसे योगकी सिद्धिके लिये भी जीवनमें ही मृत्युका अनुभव अनिवार्य है । विवेकी होनेके लिये भी साधकको समस्त दृश्यसे अपनेको विमुख करना है अर्थात् दृष्टिको दृश्यसे विमुखकर अमरत्वसे अभिन्न करना है । अतः उसके लिये भी निराधार होकर जीवनहीमें मृत्यु स्वीकार करना अनिवार्य है । इसी प्रकार प्रेमी होनेके लिये भी जीते-जी ही मरना होगा; क्योंकि प्रेमी वही हो सकता है जो सब प्रकारकी चाहसे रहित हो और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पदको बिना किसी शर्तके समर्पित कर दे ।

निष्काम सेवासे शीघ्र कल्याण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सम्पूर्ण प्राणियोंको साक्षात् नारायणका स्वरूप समझकर समभावसे सबकी सेवा की जाय तो यह आत्मकल्याणके लिये बहुत उत्तम साधन है। किंतु यदि सबमें ईश्वरबुद्धि न हो सके तो ऐसा भाव रखना चाहिये कि भगवान् सबमें व्यापक हैं या सभी भगवान्के हैं, भगवान् ही सबके माता-पिता हैं, सब भगवान्की संतान हैं तथा सारा संसार उन्हींसे उत्पन्न होता है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें विलीन होता है एवं वे ही इसके संचालक और रक्षक हैं। गीतामें भगवान्ने बताया है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

(९ । १७ का पूर्वार्ध)

'इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाला और कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह मैं ही हूँ।'

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(गीता १० । ८ का पूर्वार्ध)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है।'

ऐसा समझकर निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करना भगवान्की ही सेवा-पूजा है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

ध्यान देना चाहिये—हमलोगोंको यह मनुष्य-शरीर सबकी सेवा करनेके लिये मिला है, भोग और आरामके लिये नहीं। अपने शरीरका पालन तो पशु आदि भी करते हैं। यदि मनुष्य अपने कर्तव्यरूप धर्मका पालन नहीं करता तो फिर पशुमें और मनुष्यमें क्या अन्तर है! श्रीचाणक्यने बताया है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि
समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥

(चाणक्यनीति १७ । १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें अधिकता और विशेषता यही है कि उनमें धर्मका ज्ञान है; किंतु धर्मज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो देवता, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंकी सेवा कर सकता है। मनुष्यके सिवा अन्य कोई प्राणी सबकी सेवा नहीं कर सकता। अतः सम्पूर्ण यावन्मात्र प्राणियोंकी निष्काम भावसे सेवा करना परम धर्म है। श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(उत्तरकाण्ड ४० । १)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(अरण्यकाण्ड ३० । ५)

सेवाके दो विशेष पात्र हैं—गुरुजन तथा दुखी प्राणी। इन दोकी सेवा करना परम धर्म है। हमारे जो माता, पिता और गुरुजन हैं, उनके तो हम ऋणी हैं। उन्होंने हमारे हितके लिये हमारा जो कुछ

उपकार किया है, उसको हमें कभी नहीं भूलना चाहिये। वस्तुतः सौ वर्षोंतक उनकी सेवा करके भी हम उनके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकते। श्रीमनुजी कहते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
(मनु० २। २२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

अतः उनकी सेवा तो हमारा परम धर्म है ही—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥
(मनु० २। २३७)

'क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्म सफल होता है। यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

श्रुति भी कहती है—

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।'
(तैत्तिरीयोप० १। ११)

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो, अतिथिको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मा माननेवाला हो।'

महाभारतमें कथा आती है। धर्मव्याध माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालनके प्रभावसे दिव्यदृष्टिसम्पन्न और बड़ा भारी धर्मज्ञ हो गया था। उसने कौशिक-जैसे महातपस्वी ऋषिको भी धर्मका उपदेश दिया था। उसने बहुत विस्तारपूर्वक धर्मकी सूक्ष्म रहस्यपूर्ण बातें बतलाकर अन्तमें उनसे यही कहा था कि 'माता-पिताको संतुष्ट न करनेके कारण आपका यह धर्म और श्र व्यर्थ है; अतः आप शीघ्र घर जाकर उन दोनों सेवाके द्वारा प्रसन्न कीजिये।' यह सुनकर कौशि ऋषिने भी घर जाकर माता-पिताकी सेवा की और भी प्रशंसाके पात्र बन गये (महा० वन० २० २१६)।

पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें मूक चाण्डालकी क आती है। वह भी माता-पिताका महान् भक्त था माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसको तीनों कालों ज्ञान था और भगवान् ब्राह्मणके रूपमें उसके घर सदा निवास करते थे। वह मूक चाण्डाल अन्त स्वयं तो माता-पिताके सहित परम धाममें गया ही उसके घरमें वास करनेवाले जीव-जन्तु भी उस प्रभावसे परम धाममें चले गये। वैश्य ऋषिकुमा श्रवण भी माता-पिताका बड़ा भारी भक्त था। उसक कथा वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें महारा दशरथने कौसल्यासे कही है।

अतः माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवा त आज्ञा-पालनकी बड़ी भारी महिमा है। श्रीभीष्मजी युधिष्ठिरसे कहा है—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥
(महा० शान्ति० १०८। ३

'युधिष्ठिर! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी सेवा-पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इस लोकमें इनकी सेवा-पूजामें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त करता है।'

इस प्रकार माता, पिता और गुरुजनोंकी सेवाके प्रभाव और महिमाका वर्णन प्रायः सभी शास्त्रोंमें पाया जाता है।

इसी तरह गृहस्थ मनुष्यके लिये अतिथि-सेवा

भी सबसे बढ़कर कर्तव्य है । श्रीमहाभारतमें बताया गया है—

देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम् ।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ॥
(महा० वन० २ । ५५-५६)

‘रोग आदिसे पीडित मनुष्यको सोनेके लिये शय्या, थके हुएको बैठनेके लिये आसन, प्यासेको पानी और भूखेको भोजन तो देना ही चाहिये । जो अपने घरपर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसके प्रति उत्तम भाव रक्खे, उससे विनययुक्त मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिये आसन दे । यह गृहस्थका सनातन परम धर्म है । अतिथिको आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथायोग्य आदर-सत्कार करे ।’

घरपर आये हुए अतिथिकी सेवा-पूजा करना तो महायज्ञ है । पञ्चमहायज्ञोंमें अतिथि-सेवाकी मनुष्ययज्ञके रूपमें गणना की गयी है । महाभारतमें तो इसे अश्वमेध-यज्ञसे भी बढ़कर बतलाया गया है । जब महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेध-यज्ञमें ब्राह्मणों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों और दीन-दरिद्रोंके तृप्त हो जानेपर उनके यज्ञ और दानकी भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी तब वहाँ एक नकुल (नेवला) आया और वह मनुष्यकी बोलीमें बोला—‘राजाओ ! आपलोगोंका यह यज्ञ कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्तिधारी उदारचेता ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है ।’ नेवलेकी यह बात सुनते ही सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । वहाँ उपस्थित ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर नेवलेने बतलाया—‘कुरुक्षेत्रमें उञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाले एक ब्राह्मण रहते थे । वे कबूतरकी तरह अन्नके दाने चुनकर लाते और उसीसे कुटुम्बका पालन करते थे । एक समय वहाँ बड़ा भारी अकाल पड़ा । अतः उनको कई दिनोंतक खेतोंमें भूमिपर पड़े दाने नहीं मिले, इससे उनको भूखे ही रहना पड़ा । कुछ दिनोंके बाद उनको सेरभर जौ प्राप्त हुए । उन्होंने उसका सत्तू बनाकर चार भागोंमें बाँटा । एक भाग अपनी स्त्रीके लिये, एक भाग पुत्रके लिये, एक भाग पुत्रवधूके लिये और एक भाग अपने लिये रखकर वे भोजन करनेको तैयार हुए । इतनेमें ही एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ आये । उन अतिथिको देखकर वे चारों ही बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने अतिथिको प्रणाम किया; उनसे कुशल-मङ्गल पूछा और फिर वे उनको अपनी कुटीपर ले आये । वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने कहा—‘विप्रवर ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन तथा न्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ यह परम पवित्र सत्तू मैं आपकी सेवामें प्रसन्नतापूर्वक समर्पण कर रहा हूँ, आप इसे स्वीकार करें ।’ तब अतिथिने वहाँ बैठकर और उनके हिस्सेका एक पाव सत्तू लेकर खा लिया, किंतु उनकी तृप्ति नहीं हुई । यह देखकर ब्राह्मण-की पत्नीने आग्रह करके पतिके द्वारा अपने हिस्सेका सत्तू भी अतिथि ब्राह्मणको दिलवा दिया । फिर भी उनकी तृप्ति न होनेपर उनके पुत्रने भी अपने हिस्सेका सत्तू आग्रह करके पिताके द्वारा अतिथि-को दिलवा दिया । इससे भी जब उनकी तृप्ति न हुई तो पुत्रवधूने भी आग्रहपूर्वक अपने हिस्सेका भी सत्तू श्वशुरके द्वारा अतिथिको दिलवा दिया । इससे वे अतिथि ब्राह्मण उन सबपर बड़े ही प्रसन्न हुए । ब्राह्मण अतिथि-के रूपमें साक्षात् धर्मराज ही उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे । वे अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये । फिर उनके कहनेपर वे उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित विमानपर बैठकर दिव्य लोकको चले गये ।

नेवलेने फिर कहा—‘उन अतिथि ब्राह्मणके भोजन

कर लेनेपर उनके जूँठे हाथ धोनेसे गिरे हुए जलके कीचड़में मैं लोटा तो मेरा सिर और आधा शरीर सोनेका हो गया। मैंने जब राजा युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनी तब शेष आधे शरीरको भी सोनेका बनानेकी इच्छासे यहाँ आकर कीचड़में लोटा, पर कुछ नहीं हुआ। इसीलिये मैंने कहा था कि यह यज्ञ उन अतिथिसेवाव्रती ब्राह्मणके सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है।' इतना कहकर वह नेवला अन्तर्धान हो गया। (महा० आश्वमेधिकपर्व, ९० अ०)।

ध्यान देना चाहिये। उस ब्राह्मणपरिवारके चारों व्यक्तियोंकी ही अतिथिसेवामें कितनी भक्ति थी। वे स्वयं भूखे रहकर भी अतिथिसेवा करना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

इसी प्रकार राजा रन्तिदेव बड़े ही उच्चकोटिके अतिथिसेवापरायण और दयालु थे। उनकी बड़ी कड़ी परीक्षा हुई। उन्होंने दुखी मनुष्योंके कष्टनिवारणमें अपना सर्वस्व लगा दिया और कुटुम्बके सहित स्वयं कष्ट सहते रहे। एक बार अड़तालीस दिनोंतक उनको पीनेके लिये जलतक नहीं मिला। फिर उन्चासवें दिन कुछ घी, खीर, हलवा और जल न्यायपूर्वक उन्हें मिला। ज्यों ही वे लोग भोजन करनेको तैयार हुए कि एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ आये। सबमें भगवान्‌का दर्शन करनेवाले रन्तिदेवने बड़ी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनको भोजन कराया। उनके चले जानेपर बचे हुए अन्नको परिवारमें बाँटकर भोजन करने बैठे, त्यों ही एक दूसरा शूद्र अतिथि आ गया। तब उसमेंसे कुछ भाग उनको खिला दिया। उनके जाते ही कुत्तोंको साथ लिये एक और अतिथि आ गया। राजा रन्तिदेवने बचा हुआ सारा भोजन उसे आदरपूर्वक दे दिया और उसको तथा कुत्तोंको भगवद्भावसे नमस्कार किया। अब केवल एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके—इतना जल ही शेष था। वे उसे आपसमें बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल आ पहुँचा और प्यास बुझानेके लिये जल माँगने लगा। उसके दुःखको देखकर राजाको बड़ी दया आयी और उन्होंने ये अमृतमय वचन कहे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति या मुक्ति नहीं चाहता। मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःख रहित हो जायँ।'

दुखी प्राणियोंके प्रति कितना उत्तम दयाका भाव है!

उन्होंने फिर यह कहा कि इसको जल देने मेरे भूख-प्यास, थकावट आदि सब दूर हो गये। इस प्रका स्वयं भूखे-प्यासे होनेपर भी उन्होंने उस चाण्डालक प्रसन्नतापूर्वक वह जल दे दिया। वास्तवमें ब्रह्मा, विष्णु महेश ही उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये थे। वे ती प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो गये। उनके कहने भी राजाने कोई वर नहीं माँगा। वे अपना भगवान् वासुदेवमें ही अनन्यभावसे लगाकर उन्हीं तन्मय हो गये। उनके सङ्गके प्रभावसे उनके परिवार लोग भी नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गति प्राप्त हुए। (श्रीमद्भा० ९ । २१)।

अतः हमलोगोंको भी घरपर आये हुए अतिथि भगवान्‌का स्वरूप समझकर निरन्तर भगवान्‌का स रखते हुए उनकी निष्काम भावसे सेवा करनी चाहि

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें देवताओं, ब्राह्मणों,

पिता, आचार्य आदि गुरुजनों और ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके पूजन-सत्कारको शारीरिक तप बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(१७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

विचार करना चाहिये। माता-पिता अपने जीवन-कालमें हमारे लिये धनादिका संचय करते हैं और सब कुछ हमारे लिये छोड़कर परलोक जाते हैं। उनके मरनेपर जो मनुष्य उनकी दी हुई वस्तुको, श्राद्ध, तर्पण, ब्राह्मण-भोजन आदिके द्वारा उनको दिये बिना ही अपने काममें लाता है, वह चोरके समान है। जैसे, देवतागण वर्षा आदिके द्वारा हमें अन्न-जल आदि सब कुछ देते हैं; किंतु जो उनको दिये बिना ही उन पदार्थोंका उपभोग करता है, वह चोर है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(३ । १२)

'यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है।'

इसलिये गृहस्थी मनुष्यके लिये नित्य पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना आवश्यक कर्तव्य और परम धर्म है। देवयज्ञ (होम आदि), पितृयज्ञ (माता-पिताकी सेवा, श्राद्ध-तर्पण, ब्राह्मण-भोजन कराना आदि), ऋषियज्ञ (श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करके तदनुसार जीवन बनाना), मनुष्ययज्ञ (अतिथि-सेवा) और भूतयज्ञ (सारे प्राणियोंकी तृप्तिके लिये नित्य प्रति बलिवैश्वदेव करना)—ये पाँच महायज्ञ हैं। किंतु दुःखकी बात है कि आजकल प्रायः मनुष्योंने इनका अनुष्ठान करना छोड़ दिया है। और तो दूर रहा, जो जीते हुए माता-पिताकी सेवा, उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना, उनकी आज्ञाका पालन करना मनुष्यके लिये परम धर्म माना गया है, उसको भी प्रायः लोगोंने छोड़ दिया। यही नहीं, कुछ लोग तो माता-पिताकी अवहेलना और तिरस्कार भी करने लगे हैं; किंतु माता-पिताको कटु वचन कहना, उनका तिरस्कार करना और उनको मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाना बहुत बड़ा भारी पाप है।

इसलिये मनुष्यको प्रातःकाल उठकर नित्य नियमपूर्वक माता-पिता आदि गुरुजनोंके चरणोंमें नमस्कार करना चाहिये तथा हर समय भगवान्‌का जप-स्मरण करते हुए उनकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन तत्परताके साथ निष्काम भावसे करना चाहिये। सदा विनय-प्रेमयुक्त, हितकर वचन बोलना चाहिये। एवं उनके आपत्तिग्रस्त होनेपर या वृद्ध हो जानेपर अथवा बीमार हो जानेपर तो उनकी विशेषरूपसे सेवा करनी चाहिये—यह मनुष्यका विशेष परमधर्म है।

सर्वसाधारण प्राणियोंकी सेवाकी अपेक्षा भी आपत्तिग्रस्त प्राणीकी सेवा बहुत ही उच्चकोटिका धर्म है। जैसे कोई बाढ़, अकाल, महामारी, भूकम्प आदिसे पीडित हों अथवा कोई खाने-पीनेकी सामग्रीके अभावसे पीडित हों तो उनकी सेवा-सहायता करनेकी विशेष आवश्यकता है।

इस समय भारतवर्षमें महँगीके कारण प्रायः सभी प्रान्तोंके लोग बहुत भारी विपत्तिमें पड़ रहे हैं। उनमेंसे कई तो अन्नाभावके कारण मर रहे हैं। अतः इस समय दुखी, अनाथ, गरीब, अङ्गहीन, रोगग्रस्त और महँगीके कारण असहाय, आतुरलोग विशेषरूपसे सेवा करनेके पात्र हैं। उनकी तन, मन, धनसे निष्कामभावपूर्वक सेवा करना बहुत ही उत्तम धर्म है। इसलिये धनी मनुष्योंको इस विषयमें विशेष ध्यान देना चाहिये और इस मौकेपर इस सेवाके कार्यमें धन लगाना चाहिये। ऐसा मौका बार-बार नहीं मिलता। जिनके पास विशेष अभाव है, उनको अन्न बिना मूल्य लिये मुफ्तमें देना और जिनके पास कुछ पैसे हों, उनको निष्कामभावसे कम मूल्यमें देना परम सेवा है। एक देशसे दूसरे देशमें अन्न मँगवाकर बिना मुनाफा लिये निष्कामभावसे लागतके मूल्यमें देना भी परम सेवा है; किंतु इस समय स्वार्थवश मुनाफा करना अनुचित है और अधिक मुनाफा लेना तो बड़ा भारी पाप है और दुखियोंका संकट बढ़ाना है। महँगीके कारण सभी लोगोंको जो कष्ट है, इसके लिये हम सरकारसे भी समय-समयपर कष्ट-निवारणके लिये प्रार्थना कर सकते हैं। सरकार भी चाहती है कि सब लोग इस अन्नके कष्टसे बचें तथा मदद भी करती है; पर विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रार्थना करनेपर सरकारकी ओरसे विशेष मदद मिलनेकी आशा है। इस प्रकार हमलोगोंको हरेक तरीकेसे निःस्वार्थभावपूर्वक उन दुखी मनुष्योंको विशेष सुख पहुँचाना चाहिये। जो सेवा करनेवाले मनुष्य धनी न हों, उनके लिये भी दुखी मनुष्योंको मन, वाणी और शरीरसे सेवा करके सुख पहुँचाना परम धर्म है।

धन, ऐश्वर्य, पदार्थ, शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सभी भगवान्‌के हैं और हमको सबकी सेवाके लिये दिये गये हैं। अतः इनके द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये, किंतु इनके द्वारा सबकी सेवा करके भी 'मैंने इनकी सेवा की है'— इस प्रकार अपनेमें अच्छेपनका और गुणोंका अभिमान नहीं करना चाहिये। बल्कि, 'यह सब भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के काममें लगी, मैं तो इसमें निमित्तमात्र हूँ। भगवान्‌ने मुझको इसमें निमित्त बनाया—यह उनकी मुझपर विशेष दया है। भगवान् हमलोगोंके लिये यह उत्तम आयोजन कर रहे हैं'— इस प्रकार भगवान्‌की अपने अ पद-पदपर विशेष दया और प्रेमका अनुभव करके उनके गुण और प्रभावको याद रखते हुए तथा उनके नामका जप और स्वरूपका ध्यान निरन्तर करते हु सबकी सेवाके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये हम भगवान्‌को सदा-सर्वदा याद रखते हुए और स वस्तुओंको उनकी मानते हुए ही सुचारुरू सेवा कर सकते हैं। 'सब भगवान्‌का ही स्व है या सबमें भगवान् विराजमान हैं'—ऐसा समझ सबके साथ समान भावसे विशुद्ध निष्काम प्रेम कर चाहिये। इस प्रकार किसी भी प्राणीसे जो स्वार्थर प्रेम करना है वह भगवान्‌से ही प्रेम करना है अतएव निष्काम और समान प्रेमपूर्वक भगवद्भ और हर समय भगवान्‌का जप-स्मरण करते तत्परताके साथ प्राणोंकी बाजी लगाकर सबकी निःस सेवा की जाय तो बहुत शीघ्र अन्तःकरण शुद्ध हो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

* * *

मधुर

लता-वल्लरी रहीं प्रफुल्लित,
श्याम-तमाल सुशोभित कुञ्ज।
सुमन-समूह सौरभित सुन्दर,
मँडरा रहा मुग्ध अलिपुञ्ज॥
मत्त मयूरी नृत्य कर रहीं,
शुक-सारिका निरत कल गान।
कालिन्दी कल्लोल कर रही,
मत्त बही जा रही उजान॥
मधुर मुरलि मुखरित नभमण्डल
सकल पूर्ण रसभरित निनाद।
दिग् दिगन्त आनन्द मत्त अति,
हटे मिटे भय, शोक, विषाद॥

श्रीवृन्दावनकी अतुलनीय शोभा है—लता-बेलें सब फूल रही हैं, कुञ्जें श्याम तमालसे सुशोभित हैं, सुन्दर पुष्प-समूह सुगन्ध फैला रहा है, उसपर भ्रमरोंका समूह मँडराया करता है। मत्त मयूरी नृत्य कर रही है, शुक-सारिका सुन्दर गान कर रही हैं। कालिन्दी (श्रीयमुनाजी) मतवाली हुई कल्लोल करती प्रतिकूल बही जा रही हैं। सारा आकाश-मण्डल मधुर मुरली-स्वरसे मुखरित है, सब ओर रसभरा निनाद परिपूर्ण हो रहा है। सभी दिशा-विदिशाएँ अत्यन्त आनन्दमत्त हो रही हैं, सारे भय-शोक-विषाद हट-मिट गये हैं।

प्रेम-रस-भरी भानुनन्दिनी
सब कुछ छोड़ चली अभिसार।
कौन ? कहाँ मैं चली जा रही ?,
क्यों ? सब भूल गयीं संसार॥
पहुँचीं प्रियतम पद-पद्मोंमें,
देख रूप हो गयीं विभोर।
अधर मधुर मृदु हास्य सुशोभित,
नवल श्यामघन मन-धन-चोर॥

इसी समय प्रेमरससे भरी हुई श्रीवृषभानुनन्दिनी राधाजी सब कुछ त्यागकर प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये अभिसार करके चल दीं। मैं कौन हूँ ? कहाँ चली जा रही हूँ ? क्यों जा रही हूँ—उन्हें इसका पता नहीं है। वे सारे संसारको ही भूल गयी हैं।

चलती-चलती वे प्रियतम श्रीकृष्णके चरणकमलोंके समीप जा पहुँची हैं और उनके रूप-सौन्दर्यको देखते ही बेसुध हो गयी हैं। उन मनरूपी धनके चोर नित्य नवीन श्यामघन श्रीश्यामसुन्दरके अधरोंपर मधुर मृदु-मुसकान शोभा पा रही है।

अगणित शरद-इन्दु-मद-हारी,
वदन-इन्दुवर विमल विभास।
दृग विशाल मदभरे मनोहर,
प्रेमीजन-मन-नयन विलास॥
सर्वाकर्षक, सर्वाह्लादक,
महारसायन, रस-भरपूर।
सौन्दर्यामृतसिन्धु तरङ्गित,
ललना चित्त-प्लावन-शूर॥
अङ्ग-सुगन्ध दिव्य देती नित
घ्राणेन्द्रियको सुख स्वच्छन्द।
भाल विशाल, केश घुँघराले,
मुकुट मयूर-पिच्छ सुखकन्द॥

निर्मल प्रभासे पूर्ण श्यामसुन्दरका श्रेष्ठ मुखचन्द्र अगणित शारदीय चन्द्रमाओंका मद हरण कर रहा है। श्यामसुन्दरके प्रेममदसे पूर्ण मनोहर विशाल नेत्र प्रेमीजनोंके मन तथा नेत्रोंके लिये विलासरूप हैं। वे सबका आकर्षण करनेवाले हैं, सबको आह्लादित करनेवाले हैं, महान् रसायन हैं और रससे भरपूर हैं। उनके सौन्दर्यसुधासागरमें विविध तरङ्गें उठ रही हैं, जो ललनाओंके चित्तको बहा ले जानेमें अति शूरवीर हैं। उनकी दिव्य अङ्ग-सुगन्ध नित्य घ्राणेन्द्रियको स्वच्छन्दतासे सुख दे रही है, उनका विशाल मस्तक है, घुँघराली अलकावली है और सिरपर सुखका कन्द मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित है।

मुग्धा राधा बोल न पायीं,
वाणी सहज हुई अवरुद्ध ।
चला परस्पर सुखद सरसतम
भाव-तरङ्गोंका शुचि युद्ध ॥
हृदय द्रवित हो, उमड़ा
दिव्यामृत रस-सागर अमित अथाह ।
धैर्य-कूल कर भङ्ग बह चला
राधा दृगसे अश्रु-प्रवाह ॥
हुए क्षणोंमें ही प्रक्षालित
चरण-युगल अतिशय अभिराम ।
जिनकी नखचन्द्रद्युति ही है—
परब्रह्म सच्चित्-सुखधाम ॥

राधा मुग्ध हो गयीं, वे कुछ बोल नहीं पा रही हैं, उनकी वाणी सहज ही रुक गयी है । उनके हृदयमें सरस-शिरोमणि सुखप्रद पवित्र भावतरङ्गोंका युद्ध होने लगा । उनका हृदय द्रवित हो गया । उनका अपरिमित अथाह दिव्य अमृत-रस-समुद्र उमड़ उठा और वह धैर्यरूप तटको तोड़कर राधाजीकी आँखोंसे आँसुओंके प्रवाहके रूपमें बह चला तथा उस प्रवाहने कुछ ही क्षणोंमें श्रीश्यामसुन्दरके उन अत्यन्त अभिराम चरण-युगलोंको धो दिया, जिनके नखचन्द्रकी द्युति ही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है ।

सहसा देख प्रियतमाको,
उनकी इस लीलाको सुखसार ।
विह्वल हुए श्याम, दृग आँसू बहे,
उठा लीं भुजा पसार ॥
कहने लगे—'तुम्हारा ही
प्रियतमे ! कर रहा था मैं ध्यान ।
डूब रहा था मैं अगाध
सौन्दर्य-सिंधुमें शुचि निर्मान ॥
इतनेमें ही मिला तुम्हारा
मुझको अकस्मात् संस्पर्श ॥
खुले नेत्र, सहसा दीखी तुम !
भरा तुरंत हृदय अति हर्ष ॥

सहसा प्रियतमा श्रीराधाको और अश्रुओंसे अपने चरण प्रक्षालन करने आदिकी उनकी सुखसार लीलाओंको देखकर श्यामसुन्दर आनन्द-विह्वल हो गये, उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और उन्होंने अपनी भुजाएँ पसारकर राधाको उठा लिया । फिर कहने लगे—'प्रियतमे ! मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था, तुम्हारे पवित्र और परिमाणरहित अगाध सौन्दर्य-समुद्रमें मैं डूब रहा था । इसी बीच मुझको अकस्मात् तुम्हा संस्पर्श प्राप्त हुआ, मेरे नेत्र खुल गये, अचानक तु दिखायी दी और मेरा हृदय अत्यन्त हर्षसे तु भर गया ।'

वचनसुधा रमणीय दिव्य कर
पान राधिका भूली भान ।
दशा प्रेमवैचित्र्य उदय हो
उठी मिट गया बाह्यज्ञान ॥
प्रियतमने संनिधिमें लेकर
रक्खा शुचि मस्तक निज अङ्क ।
अपलक लगे देखने वल्लभ
सुधा-मधुर-श्री-सुमुख-मयङ्क ॥

श्रीश्यामसुन्दरके रमणीय दिव्य वचनामृतका करते ही राधा सारी सुध भूल गयीं । उनमें प्रेमवैचि दशाका उदय हो आया और उनका बाह्य ज्ञान गया । राधाकी 'प्रेमवैचित्त्य' दशा देखकर प्रि श्रीश्यामसुन्दरने उनको अपने समीप ले लिया और उ पवित्र मस्तकको अपनी गोदमें रख लिया । फि प्रियतम श्यामसुन्दर निर्निमेष नेत्रोंसे श्रीराधाके शो सुधा-मधुर सुन्दर मुखचन्द्रको देखने लगे ।

देख पा रही नहीं राधिका
किंतु श्यामको अपने पास ।
दर्शन हेतु भाग चलनेको
राधा करने लगीं प्रयास ॥
किंतु नहीं उठ सकीं,
कर उठीं हो व्याकुल अति करुण पुकार ।
'हा प्राणेश ! प्राणवल्लभ हे,
हा हृदयेश्वर ! प्राणाधार ! ॥

कहाँ गये तुम मुझे छोड़कर
एकाकिनी सहज असहाय।
कैसे कहाँ मिलूँ ? अब तो ये
प्राण नहीं रह सकते हाय ! ॥
हाँ, हाँ, मैं अब समझी,
तुमको मिलता इससे सुख-आराम।
तो मैं मरती रहूँ, न मिलना
मुझसे मेरे प्राणाराम ! ॥
तुम्हें चाहती मरकर भी मैं
सुखी देखना नित्य अनन्त।
पूरी करो साध मेरी यह
मेरे सर्वेश्वर ! श्रीमन्त ! ॥
यों कहकर हो गयीं राधिका
मूर्च्छित बाह्य-चेतनाहीन।
छाया अति विषाद सुखविधुपर,
दशा हो रही थी अति दीन ॥

किंतु प्रेमवैचित्त्य दशाके कारण राधाजी श्यामसुन्दरको (अपने पास होनेपर भी) पास नहीं देख पा रही थीं। अतः वे उन्हें ढूँढ़कर उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उठकर भाग चलनेका प्रयास करने लगीं। परंतु उठ नहीं पायीं और व्याकुल होकर इस प्रकार अत्यन्त करुण पुकार करने लगीं—'हा प्राणेश ! हे मेरे प्राणवल्लभ ! हा हृदयेश्वर ! हे मेरे प्राणाधार ! तुम मुझको अकेली सहज असहाय छोड़कर कहाँ चले गये ? मैं तुमसे कैसे मिलूँ ? कहाँ मिलूँ ? हाय ! हाय ! अब तो ये प्राण तुम्हारे बिना नहीं रह सकते। हाँ, हाँ, मैं अब समझी। मुझको छोड़कर जानेमें तुमको सुख-आराम मिलता है। तो ठीक ! मैं मरती रहूँ, पर हे मेरे प्राणाराम ! तुम मुझसे मत मिलना। मैं मरकर भी तुम्हें नित्य अनन्त सुखी देखना चाहती हूँ। हे मेरे सर्वेश्वर ! हे मेरी सारी श्रीके स्वामी ! तुम मेरी यह साध पूरी करो।' यों कहकर राधिका मूर्च्छित, (पुनः) बाह्य-चेतनाशून्य हो गयीं। उनके मुखचन्द्रपर अत्यन्त विषाद छा गया। उनकी दशा अत्यन्त दीन हो गयी।

धोये नेत्र सुशीतल जलसे,
प्रियने छिड़के मुख जलबिन्दु।
व्याकुल हुए देख प्यारीका
सुखमय मलिन सुमुख-शरदिन्दु ॥
बोले—'प्रिये ! उठो, तुम सत्वर,
करो चेत, मत रहो उदास।
प्राणाधार तुम्हीं हो मेरी,
अतः निरन्तर रहता पास ॥
गया नहीं मैं कहीं प्रियतमे !,
जा न सकूँगा तुमको त्याग।
नहीं तुम्हारे सिवा कहीं भी
है मेरा किञ्चित्-सा राग ॥
तुम्हें सुखी करनेको ही बस
मैं लेता भूपर अवतार।
प्रेम-रसास्वादन मैं करता
दिव्य तुम्हारा अकथ अपार' ॥
कहते-कहते श्याम हृदय-
सागरमें उठीं अनेक तरङ्ग।
बहने लगी अश्रु-सरिता, सब
शिथिल हो गये चिन्मय अङ्ग ॥

तदनन्तर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरने सुशीतल जलसे राधाजीके नेत्र धोये और उनके मुखपर जलकी बूँदें छिड़कीं। प्रिया राधिकाके नित्य सुखमय शारदीय चन्द्रमासे भी सुन्दर मुखको मलिन देखकर वे व्याकुल हो गये और कहने लगे—'प्रियतमे ! उठो, तुम तुरंत चेत करो, यों उदास मत रहो ! मेरे प्राणोंकी आधार तुम्हीं हो, इसलिये निरन्तर मैं तुम्हारे पास रहता हूँ। प्रियतमे ! मैं कहीं गया नहीं था, तुमको छोड़कर कभी कहीं जा भी नहीं सकूँगा। एक तुमको छोड़कर मेरा कहीं भी किञ्चित्-सा भी राग नहीं है। बस, तुमको सुखी करनेके लिये ही मैं भूमिपर अवतरित होता हूँ और मैं तुम्हारे अनिर्वचनीय अपार दिव्य प्रेम-रसका आस्वादन करता

रहता हूँ ।' यों कहते-कहते श्यामसुन्दरके हृदयसागरमें अनेकों तरङ्गें उठ खड़ी हुईं । उनकी आँखोंसे आँसुओंकी नदी बह चली । उनके समस्त चिन्मय श्रीअङ्ग शिथिल हो गये ।

जगीं राधिका, मिटा 'प्रेम-
वैचित्य' हुआ सुस्मृतिका लाभ ।
देखा अश्रु बहाते प्रियतम,
म्लान नेत्र जो नित अमिताभ ॥
आतुर आर्त रो पड़ीं,
बोलीं—'प्राणेश्वर ! मैं कैसी नीच ?
मेरे कारण नित प्रसन्न मुख,
आज विषण्ण जगत्के बीच ॥
कैसे दुःख मिटाऊँ प्यारे !
कैसे सुख पहुँचाऊँ आज !
कैसे मुखपर मुक्त हास्य मैं
देखूँ ? हे मेरे सिरताज !!

राधिकाजी जागीं, उनकी 'प्रेमवैचित्य' दशा हट गयी, उन्हें फिर सुन्दर स्मृति प्राप्त हो गयी । उन्होंने प्रियतमको आँसू बहाते और उनके नित्य अत्यन्त द्युतिसम्पन्न नेत्रोंको मलिन देखा ! वे आतुर—आर्त होकर रो पड़ीं । बोलीं—'प्राणेश्वर ! मैं कैसी नीच हूँ ! तुम जो सहज नित्य प्रसन्नमुख हो, उन्हें आज मेरे कारण जगत्के सामने विषण्ण होना पड़ा । प्रियतम ! इस दुःखको मैं कैसे मिटाऊँ ? कैसे आज मैं तुमको सुख पहुँचाऊँ ? कैसे हे मेरे सिरताज ! आज मैं तुम्हारे श्रीमुखपर खुली हँसी खेलते देखूँ ?'

सुनकर बोले मेरे प्रियतम,
'प्रिये ! एक साधन विख्यात ।
मुझे हँसाने, सुखी बनाने-
का अमोघ यह निश्चित बात ॥
सुखी बनो तुम, रहो प्रफुल्लित,
रोम-रोम भर दिव्यानन्द ।
मृदु मन्दस्मित रहे खेलता
अधरोष्ठोंपर नित्य अमन्द ॥
प्रिये ! तुम्हारा सुख मेरा सुख,
प्यार तुम्हारा मेरा प्यार ।
सुखी करो, हो सुखी स्वयं तुम—
यही एक बस साधन-सार ॥'

राधाजी कहती हैं कि 'मेरी बात सुनकर मेरे प्रियत बोले—'प्रियतमे ! तुम्हारे-मेरे प्रेमराज्यमें एक साध विख्यात है और वह मुझे हँसाने तथा सुखी बनाने अमोघ साधन है । यह निश्चित बात है । वह यह है कि तु सुखी बनो, तुम सदा प्रफुल्लित रहो, तुम्हारा रोम-रोम दि आनन्दसे भरा रहे । तुम्हारे अधर-ओठोंपर सदा क कम न होनेवाली मृदु मन्द मुसकान खेलती र प्रियतमे ! तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है और तुम्हा प्रेम ही मेरा प्रेम है । तुम स्वयं सुखी होकर मुझे सु करो—बस, यही एक साधनोंका सार है ।'

प्रिय-मुखकी सुन बात,
राधा अति हर्षित हुईं ।
पुलक हो उठे गात,
मिले परस्पर हर्षयुत ॥

प्रियतमके मुखकी वाणी सुनकर राधाजी अत हर्षित हो गयीं । उनका सारा शरीर पुलकित हो और दोनों परस्पर हर्षमें भरकर मिले ।

* * *

श्रीगौडपादाचार्यकी कारिकापर एक अध्ययन

[सम्भूति किंवा असम्भूति]

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तम हरिकृष्णजी दवे)

माण्डूक्योपनिषद्‌पर गौडपादाचार्यद्वारा रचित कारिकाएँ पढ़ते हुए अद्वैत-प्रकरणकी पचीसवीं कारिकाके 'सम्भूति' पद-पर शाङ्करभाष्यने ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट किया। एक समस्या खड़ी दिखलायी दी। वह कारिका इस प्रकार है—

सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥ २५ ॥

कारिकाका अर्थ सरल है, उसमें कोई कठिनाई नहीं है। सम्भूतिके अपवादसे कार्यका प्रतिषेध किया गया है और कौन इसे उत्पन्न करे; इन शब्दोंसे कारणका प्रतिषेध किया गया है।

इसी अर्थसे मिलता-जुलता एक त्रिक ईशावास्योपनिषद्‌में है, जो नीचे दिया जाता है ताकि उससे पाठकोंको प्रस्तुत विषयको समझनेमें सुगमता हो।

(१)

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

जो असम्भूतिकी उपासना करते हैं, वे गहरे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो सम्भूतिमें लीन हैं, वे उससे भी घोर अन्धकारमें जाते हैं।

(२)

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

उन्होंने उसे (आत्मतत्त्वको) सम्भूति और असम्भूति—दोनोंसे भिन्न कहा है। जिन्होंने हमें उसका दर्शन कराया उन महात्माओंसे हमने ऐसा सुना है।

(३)

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

जो उसके (आत्मतत्त्वके) साथ सम्भूति और विनाश—दोनोंको जानते हैं, वे विनाशसे मृत्युको पारकर सम्भूतिसे अमृतको प्राप्त करते हैं।

ये ही त्रिक माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद-संहिताके चालीसवें अध्यायमें भी है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, केवल मन्त्र आगे-पीछे हैं। उससे भाव एवं अर्थमें कोई अन्तर नहीं आता।

इन मन्त्रोंके पढ़नेसे यह तो स्पष्ट दिखायी देता ही है कि श्रुति-मन्त्रोंमें 'असम्भूति' एवं 'सम्भूति' इस प्रकार इन दो पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग आया है। ये मन्त्र हृदयशोधन-के लिये हैं। हमें अब पहले इनके प्रकृत अर्थको समझ लेना चाहिये। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि 'असम्भूति' एवं 'सम्भूति' शब्दोंके अर्थमें विभिन्न मत हैं, परंतु हमें उन मतान्तरोंमें पड़नेका यहाँ प्रयोजन नहीं है।

असम्भूतिका सरल अर्थ साम्यावस्थाको प्राप्त अव्याकृत प्रकृति है। इसी तरह 'सम्भूति'का सरल अर्थ उस प्रकृतिका विकृत रूप है। अव्याकृत प्रकृतिको कारणकी अवधि कह सकते हैं जो निरोधरूप है और प्रकृति जिसे वेदने 'सम्भूति' नामसे कहा है, वह उस कारणरूपा अव्याकृतका पसारा है; उसे उसका कार्य कहें या विकास कहें।

अब विविच्य कारिकापर आ जाइये। इसमें जो सम्भूति शब्द आया है उसका अर्थ वैसा ही है जैसा ऊपर कहा गया है। इसमें 'सम्भूति'के अपवादद्वारा यानी उसकी निन्दा करके कार्यवर्गका प्रतिषेध किया गया है। इस कारिकापर भगवान् शंकर अपना भाष्य इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते(ई० उ० १२) इति सम्भूतेरुपास्यत्वापवादात् सम्भवः प्रतिषिध्यते। न हि परमार्थतः सम्भूतायां सम्भूतौ तद् अपवादः उपपद्यते।'

अर्थात् सम्भूतिकी उपासनाका अपवाद करके कार्यकी उत्पत्तिका ही प्रतिषेध कर दिया। यदि परमार्थतत्त्वमें सम्भूति होती तो फिर सम्भूतिकी निन्दाका प्रश्न ही कैसे उठ सकता।

यहाँ पाठकोंके लिये यह ध्यान देनेकी बात है कि ऊपर त्रिकका जो उद्धरण दिया गया है, उसमें पहले मन्त्रके पहले पादमें 'असम्भूति' शब्द है। यह भी ध्यान देने योग्य

है कि संस्कृत व्याकरणके नियमके अनुसार कहीं-कहीं 'अ' वर्णका लोप हो जाता है। इसलिये लिखावटमें विकल्पसे कहीं अवग्रह (ऽ) लिख देते हैं और कहीं नहीं भी लिखते। प्रस्तुत कारिकाके भाष्यमें ईशोपनिषद्का जो उद्धरण दिया गया है उसमें असम्भूति शब्दके 'अ' वर्णका लोप करके विकल्पसे अवग्रह नहीं लिखा गया है। ऐसा मानना चाहिये; परंतु शब्द तो वहाँ 'असम्भूति' ही है।

अब प्रश्न सामने आता है यह कि यदि भाष्यकारको सम्भूतिके अपवादको लेकर ही व्याख्या करनी अभिमत थी तो **'ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः'** वाले पादका जिसमें कि 'सम्भूति'का स्पष्ट उल्लेख है, उद्धरण न देकर **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते'** जिसमें कि 'असम्भूति' शब्द है उद्धरण दिया, इसमें उनका क्या तात्पर्य है? फिर आगे भाष्य आरम्भ करते हुए 'असम्भूति' शब्दको छोड़कर 'सम्भूति' शब्द क्यों ग्रहण किया?

ऊपरसे ऐसा लगता है जैसे यहाँ किसी प्रकारकी गड़बड़ी हो; परंतु वास्तवमें वैसी बात है नहीं। तो किस प्रकार है? यह आगे देखिये।

यहाँ पहली बात ध्यान देनेकी यह है कि **'सम्भूतेरपवादाच्च'** शब्दोंसे कारिका आरम्भ होती है। भाष्यकार इस कारिकाको समझाना चाहते हैं। उद्धरण जो यहाँ दिया गया है वह श्रुति-प्रमाणकी ओर स्मृति दिलानेका संकेतमात्र है, प्रमेयकी पुष्टिके लिये नहीं है। इसलिये भाष्यमें सम्भूतिकीही व्याख्या मिलेगी और यहाँ वास्तविक स्थिति भी वैसी ही है। इस कारिकामें कहीं असम्भूति पदका प्रयोग नहीं आया है तो फिर भाष्यमें इस पदकी व्याख्याके मिलनेका प्रश्न ही क्यों उठना चाहिये? भाष्यकारने आगे फिर अपने इसी कारिका के भाष्यमें सम्भूति और विनाशके समुच्चयका प्रयोजन औ सम्भूतिके अपवादके हेतुपर जो कुछ लिखा है वह कारिका के भावको स्पष्ट करनेके लिये ही लिखा है। इससे असम्भूति शब्दको ग्रहण न करनेकी शङ्का निर्मूल हो जाती है।

ईशोपनिषद्के उपर्युक्त त्रिकके अर्थको ध्यानमें रखते हु यह याद रखना चाहिये कि उपासना चाहे केवल असम्भूति हो अथवा केवल सम्भूतिकी, सब तरहसे अपवादजनक है। आत्मज्ञानरहित कोई चाहे अव्यक्तोपासक हो या व्यक्तो पासक—दोनों तरहके उपासकोंके लिये एक ही समान फ यानी घोर अन्धकार ही बतलाया गया है। दोनोंके लिये अं कुएँमें गिरनेकी सदा सम्भावना बनी ही रहती है। भाष्यक भी समान फलश्रुतिके अनुरोधसे असम्भूति और सम्भूति कोई अन्तर नहीं देखते। कारिकाकारने भी प्रस्तुत कारिका वैसा ही भाव प्रदर्शित किया है। वे भी कार्य और कारण-दोनोंहीका प्रतिषेध करते हैं; हेतुमें अन्तर भले ही करें। इसलिये भाष्यकारने जो उद्धरण देकर कारिका भाष्य आरम्भ किया है वह यथार्थ ही है।

अन्तमें यह निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता कि प्रस्तुत लेखका उद्देश्य केवलमात्र कारिकापर आ अध्ययनकी विचारसरणि आप्तजनोंके समक्ष रखना ही है यदि वे इन विचारोंमें किसी प्रकार दिग्भ्रम पायें आशा की जाती है कि वे अपनी कृपाकी ज्योतिद्वारा उ सन्मार्ग दर्शावेंगे।

पामरकी प्रार्थना

मानव-जन्म सुदुर्लभ पाकर भजे नहीं मैंने भगवान।
रचा-पचा मैं रहा निरन्तर मिथ्या भोगोंमें सुख मान॥
मान लिया मैंने जीवनका-लक्ष्य एक इन्द्रिय-सुख-भोग।
बढ़ते रहे सहज ही इससे नये-नये तन-मनके रोग॥
बढ़ता रहा नित्य काम-ज्वर, ममता-राग-मोह-मद-मान।
हुई आत्म-बिस्मृति, छाया उन्माद, मिट गया सारा ज्ञान॥
केवल आ बस गया चित्तमें राग-द्वेष-पूर्ण संसार।
हुए उदय जीवनमें लाखों घोर पतनके हेतु विकार॥

समझा मैंने पुण्य पापको, ध्रुव विनाशको बड़ा विकास
लोभ-क्रोध-द्वेष-हिंसावश जाग उठा अघमें उल्लास
जलने लगा हृदयमें दारुण अनल, मिट गयी सारी शान्ति
दम्भ हो गया जीवन-संबल, छायी अमित अमिट-सी भ्रान्ति
जीवन-संध्या हुई, आ गया इस जीवनका अन्तिम काल
तब भी नहीं चेतना आयी, टूटा नहीं मोह-जंजाल
प्रभो! कृपा कर अब इस पामर पथभ्रष्टपर सहज उद
चरण-शरणमें लेकर कर दो नाथ! अधमका अब उद्धा

देवपुरी अयोध्या

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

वैदिक मान्यताओंके अनुसार अयोध्या देवताओंकी नगरी है। अयोध्या वह पुरी है जहाँ देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त कर अपना केन्द्र बनाया था। इस अयोध्याको अथर्ववेदमें 'अपराजिता' भी कहा गया है अर्थात् जहाँ देव कभी पराजित नहीं होते। देव और असुर अपने भीतरकी ही शक्तियाँ हैं। इस अयोध्याको 'ब्रह्मपुरी' भी कहा गया है। यहाँ ब्रह्म शब्दके अर्थ हैं—विश्वकी विराट् शक्ति। उसी ब्रह्म-परमात्माका ही जो एक अंश जीवात्मा है, वह भी ब्रह्म है। **'आत्मा ब्रह्मैव नापरः'** किंतु प्राचीन वैदिक परिभाषामें यक्षको भी ब्रह्म कहते थे। यह यक्ष या ब्रह्म कौन-सा तत्त्व है इसका अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित उत्तर यजुर्वेदमें दिया गया है, वहाँ मनस्तत्त्वको यक्ष कहा है—

'यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे शिवसंकल्पमस्तु।'

इस प्रकार यह मन एक अपूर्व यक्ष या अर्चनीय दिव्य शक्ति है। मनकी यह विशेषता है कि वह एक ओर पाञ्चभौतिक जगत्से सम्बन्ध बनाये रखता है। संसारके व्यापार मनके भावोंसे ही सम्भव होते हैं। दूसरी ओर ब्रह्मतत्त्व या परमात्माकी महती शक्तिका अवतार उच्च-मानसमें ही होता है। उपनिषदोंमें पाँच-कोश या मनकी कलाओंका वर्णन आता है। इनमेंसे आनन्द और विज्ञान नामकी कलाएँ मनसे भी ऊपर हैं और उनका सम्बन्ध परब्रह्म-तत्त्वसे है, वे अनासक्ति अर्थात् वैराग्यकी ज्योतियाँ हैं। यदि व्यक्ति अपने मनको विज्ञान और आनन्दकी ओर ले जाता है तो वह अपनेको वैराग्यकी स्थितिमें पाता है। वैराग्य बहुत बड़ी शक्ति है, वही मोक्षका उपाय है। वह कहने-सुननेकी बात नहीं, अनुभवमें लानेकी स्थिति है। भगवान् श्रीकृष्णने मनको वशमें करनेके लिये कहा है—**'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'** इनमेंसे वैराग्यद्वारा मनको वशमें करनेका जो मार्ग है वही शुद्ध, परिपूर्ण और संसिद्ध होता है; किंतु वह भगवान् या गुरुकी कृपासे अथवा पूर्व-जन्मके तपसे प्राप्त होता है। वैराग्य महामेघ-वृष्टि है, उसकी शक्ति चित्तको बहा ले जाती है। वैराग्यकी बाढ़में मन स्वतः शुद्ध हो जाता है। उसमें मायाके मलोंका कोई अंश शेष नहीं रह जाता। इन्द्रियोंके द्वारोंमें जब भीतर और बाहर वैराग्यकी ज्योति भर जाती है, तब उसे पहचाननेमें देर नहीं लगती। वह आनन्दका एक अलख जो सदा जागता रहता है।

आनन्द-विज्ञानकी कलाओंके अतिरिक्त अन्न और प्राणकी दो कलाएँ पाञ्चभौतिक मायाके साथ सम्बन्धित हैं। इनसे ऊपर स्वयं मन रहता है, मनकी शक्ति कभी आनन्द-विज्ञानके साथ और कभी भौतिक देह और प्राण-शक्तिके साथ जुट जाती है। मन एक दर्पणके समान है, उसे जिधर मोड़ दिया जाय, उधरकी ही परछाइयोंको ग्रहण करता है। भगवान् श्रीकृष्णने जो अभ्याससे मनको वश करनेके लिये दो बातें कही हैं, वे नीचेके प्राणमय और अन्नमय कोषोंसे सम्बन्धित हैं।

शरीर पाँच भूतोंसे बना है, उसके भीतर प्राणोंकी विलक्षण शक्ति काम कर रही है। इन दोनोंकी शुद्धि जिस प्राणसे की जाती है, उसे 'तप' कहते हैं। शरीरकी प्राणाग्निको शुद्ध प्रज्वलित करना यही आचार्योंके और शास्त्रोंके अनुसार तप है। साधनामें उसे 'मलविशोधन' कहा जाता है। मनमें विषयसम्बन्धी बहुत मल इकट्ठे हो जाते हैं, उन्हें शुद्ध करनेकी शक्ति जिसे प्राप्त हो जाती है वही बुद्धिमान् साधक है अर्थात् उसका जीवन प्रज्ञा या बुद्धिसे प्रेरित होता है। इस जीवनमें सबसे बड़ी उपलब्धि इन्द्रियविजय है।

इस प्रकार जिस शरीरमें मनोबलसे आसुरी वृत्तियोंपर विजय मिल गयी है वही 'अयोध्या' है। वहीं रामने रावण-पर विजय पायी है। अथर्ववेदमें रावणको दशमुखी ब्राह्मण कहा है **'ब्राह्मणः प्रथमो जज्ञे दशशीर्षो दशास्यः।'** जबतक यह रावण शान्त नहीं होता, तबतक अयोध्यामें रामजीका राज्याभिषेक नहीं हो पाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये ही विषयको भोगनेवाले दशमुख हैं; किंतु इस भौतिक शरीरको अयोध्या बनानेकी युक्ति विरलोंको ही आती है। अथर्ववेदमें इस अयोध्या नगरीको अमृतसे घिरी हुई पुरी कहा है **'अमृतेनावृतं पुरम्।'** यह अमृतत्व ही ब्रह्मका लक्षण है। यही मोक्ष है। सच्ची अयोध्यामें यह सर्वत्र सुलभ है।

पुलिनविहारी और पुलिनवास

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये! कृष्ण स्वामिन्! मधुरमुरलीवादन विभो !
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥*

छप्पय

कब हौं वृंदाविपिन पुलिन में परि परि रोऊँ।
कब मद मत्सर मान कोह कामादिक खोऊँ॥
कब बानी तैं कृष्ण कृष्ण ही नाम उचारूँ।
कब तजि जगजंजाल कृष्णछवि हियमहँ धारूँ॥
कब जग आसा तजि पुलिन धूरि माँहि लोट्यो करूँ।
कब प्रभु प्रियतम जुगल छवि भरि नयननि इत उत फिरूँ॥

यह वृन्दावन धाम है, यह कृष्ण-जलवाहिनी कृष्णा यमुना है, ये कृष्णके अनुचर, सुहृद्, सर्वस्व गोप-गोपी हैं। ये श्यामसुन्दरकी कारी, भूरी, धूरी, धूसरि गौएँ हैं। श्रीकृष्ण इन्हींमें विहार करते हैं, रमण करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, लीला करते हैं; हास, परिहास, उल्लास, विलास और न जाने क्या-क्या करते हैं। श्रीकृष्ण सुखस्वरूप हैं। घनीभूत आनन्द हैं। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग अवयव सभी आनन्दसे ही निर्मित हैं। जैसे हिमसे बने अमरनाथजीकी मूर्तिमें हिमके अतिरिक्त कुछ नहीं, ऐसे ही श्रीकृष्णके श्रीविग्रहमें आनन्द-ही-आनन्द है। उनकी चलन, चितवन, उठन, बैठन, बोलन-बतरावन, हँसन-मिलन, मुसकरावन-रोवन, नर्तन सबमें आनन्द-ही-आनन्द है। वे जिस भूमिमें विहार करते हैं, वह भी आनन्दमयी है। उनके चतुर्दिक् आनन्दके स्रोत फूट रहे हैं। आनन्दविहारसे ही वे दुखित, तृषित जीवोंको सुखी तथा प्रेमप्लावित करते हैं। करनेकी वे कोई चेष्टा नहीं करते। जैसे अग्नि किसीका शीत मिटानेके लिये नहीं प्रज्वलित होती। प्रज्वलित होना उसका स्वभाव है, उसके निकट जो भी जायगा, उसका तम, भय और शीत अपने आप बिना प्रयत्नके नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी शरणमें जो जायगा, जो हृदयसे उन्हें अपना सुहृद् समझ लेगा, उसे शान्तिकी प्राप्ति स्वतः ही निश्चित ही हो जायगी। वे स्वयं डंकेकी चोटपर उद्घोषित कर रहे हैं—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।'

श्रीकृष्ण चतुरशिरोमणि हैं, अतः वे चार ही स्थानोंपर विहार करते हैं, चार ही स्थलोंपर लीला करते हैं—(१) नन्दप्राङ्गणमें, (२) गौओंके गोष्ठमें, (३) वृन्दाविपिन यमुनातटपर और (४) सखियोंकी पुलिनमें बनी कुञ्ज-निकुञ्जोंमें। अतः उपासक उनके चार ही स्वरूपकी उपासना करते हैं—बालकृष्ण, लालकृष्ण, गोपालकृष्ण और युगलकृष्ण। बालकृष्ण बहुत छोटेसे-नन्हेंसे, बोलना भी नहीं जानते। वे नन्दजीकी देहलीपर चढ़ भी नहीं सकते। गिर पड़ते हैं, रोते हैं, प्रयत्न करते हैं, फिर गिर पड़ते हैं। अतः नन्दजी अपने घरकी चौखट हटवा देते हैं, जिससे लालाको कष्ट न हो, ठोकर न लगे। घरमें जो बालभोग तैयार होता है, उसमें विशेष ध्यान रक्खा जाता है, मधुर पदार्थ अधिक हों, नमकीन कम हो, मिरच न पड़े।

श्रीकृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं, गोपोंको गौएँ चराने जाते देखते हैं, मचल जाते हैं—'बाबा! बाबा! हम गौएँ चलाने जायँगे।' बाबा कहते हैं—'बेटा! अभी तू बच्चा है, गौएँ मरखनी होती हैं। तू बड़ा हो जायगा, तब चराने जाना।' 'बाबा! मैं कल बड़ा हो जाऊँगा। कल चलाने योग्य हो जाऊँगा क्या?' नित्यकी यही लड़ाई। लड़का ही जो ठहरे। लड़तीति लड़का—जो लड़ाई करे, वह लड़का। जो लड़ता-झगड़ता नहीं, दौड़ता-धूपता नहीं, गिरता-पड़ता नहीं, चञ्चल-चपल नहीं, गुम्म-सुम्म बना रहता है, वह काहेका लड़का। वह तो बड़का है। श्रीकृष्ण तो लड़का ही ठहरे। नहीं माने, नहीं माने, तब बाबाने ग्वारिया तो उन्हें नहीं बनाया, लाला बना दिया। लालामें और ग्वारियामें अन्तर है। ग्वारिया उसे कहते हैं, जो गौओंके साथ-साथ वनमें जाय, उन्हें चराये, घेरकर लाये।

---

* ऐसे मेरे दिन कब होंगे, जब कालिन्दीके पावन पुलिनोंमें जहाँ श्रीश्यामसुन्दर अपने भाई बलदेवजी तथा श्रीदामा आदि सखाओंके सहित गौएँ चराते हुए विचरते हैं, उसमें हे मुरलीधारी, हे गिरिधारी! हे स्वामिन्! मुझपर प्रसन्न हो, प्रसन्न हो—ऐसा कहते-कहते ही जीवनके दिवसोंको क्षणके समान बिताऊँगा।

गौएँ गोष्ठसे जब खोली जाती हैं, तब सीधी ही वनके लिये नहीं हाँक दी जातीं। उन्हें पहिले ला-लाकर यमुनाकी बालूमें या अन्य विस्तृत स्थानमें सबको रोककर एकत्रित किया जाता है। जब सब एकत्रित हो जाती हैं, तब ग्वारिया—पौहारिया गौओंको—पौहे पशुओंको चराने ले जाते हैं। घरसे जो बच्चे यमुना-किनारे ला-लाकर गौओंको पहुँचा जाते हैं, उनके साथ चराने वनमें नहीं जाते, उन्हें लाला कहते हैं। गोपाल वे ही जो वनमें गौओंको चराते डोले। उन्हें ग्वाल-बाल-गोपाल, ग्वारिया कुछ भी कह लो। कुछ सयाने होनेपर जिनके मनमें अनुरागका स्रोत फूट पड़े, जो एकाकी न रमते। जिसे रमण करनेको, क्रीड़ा, प्रेमपरिहास करनेको दूसरेकी आवश्यकता पड़े, उसीका नाम युगलकृष्ण, युगलकिशोर, पुलिनविहारी है। अतः वृन्दावनविहारी, यमुनातट-विहारी, वंशीवट-विहारी और पुलिन-विहारी—ये ही वृन्दावनकी चार छवि हैं और उनकी चार ही विहारस्थली हैं, वृन्दावन-धाम (गोष्ठ), यमुनातट, वंशीवट और यमुना-पुलिन। इसीलिये वैष्णवगण कीर्तन किया करते हैं—

जय वृन्दावन जय जमुना।
जय वंशीवट जय पुलिना॥

वंशीवटके सम्मुख जो यमुनाका तट है, जितने प्रदेशको यमुनाजी अपने पयसे प्रतिवर्ष प्लावित कर जायँ–धो जायँ उतने सरितातटके प्रदेशको पुलिन कहते हैं। उसमें प्रायः करके सघन वृक्ष-गुल्म होते हैं। जो भीतरसे तो खाली रहते हैं, चारों ओर डाली-पत्तोंसे ढके रहते हैं, उन्हें कुञ्ज कहते हैं। उसमें यदि छिद्रोंसे ध्यानपूर्वक बाहरका व्यक्ति देखना चाहे तभी भीतरके व्यक्तिको देख सकता है अन्यथा नहीं। कुञ्ज-कुञ्जें दुहरी भी होती हैं। कुञ्जके भीतर कुञ्ज। वह गहन भी अधिक होती है, विस्तृत भी होती है। साधारण कुञ्जोंसे बड़ी होती है। कोई कितना भी प्रयत्न करे बाहरका व्यक्ति भीतरके व्यक्तिको देख नहीं सकता। उसीका नाम निकुञ्ज है। ऐसी सहस्रों निकुञ्ज पुलिनमें बनी रहती हैं। उनमें सहस्रों गोपिकाएँ बैठी-बैठी श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। प्रतीक्षा करनेमें बड़ा सुख है—प्रतीक्षा ही जीवनका रस है। उसीमें स्वाद है—मिठास है।

यमुना-पुलिन-विहारिणी श्रीकिशोरीजीकी अनन्त सखियाँ हैं। उनमें अष्ट सखी प्रधान हैं। उनके नाम (१) ललिता, (२) विशाखा, (३) चम्पकलता, (४) चित्रा, (५) तुंगविद्या, (६) इन्द्रलेखा, (७) रंगदेवी और (८) सुदेवी हैं। वृन्दा-विपिन-विहारस्थली पुलिनमें आठ दिशाओंमें इनकी आठ निकुञ्ज हैं। इन आठोंके मध्यमें प्रिया-प्रियतम-कुञ्ज है। अतः ये नौ निकुञ्ज कहलाती हैं। ये अष्ट सखियाँ प्रियाजीके बाह्य प्राण हैं, अभिन्न-हृदया हैं। प्रियाजीका स्वरूप ही हैं। प्रियाजीकी प्रतिच्छाया ही हैं। उनमेंसे केवल ललिताजीकी ही कथा सुन लीजिये। उसीसे पता चल जायगा, ये कैसे किशोरीजीका अभिन्नस्वरूपा हैं।

एक दिन श्यामसुन्दरको प्रियाजीने संकेत दिया—गह्वर वनमें सायं छः बजे मिलियेगा। श्रीकृष्ण, जिनका आहार ही प्रेम है, मिलनको सदा-सर्वदा अत्यधिक समुत्सुक रहते हैं। उन्हें पता ही नहीं चला सायं क्या है, छः कब बजते हैं। वे मध्याह्नसे ही प्रतीक्षामें गह्वर वनमें जा बैठे। प्रतीक्षाकी घड़ियाँ कैसी होती हैं, हृदयमें कैसे भाव उठते हैं, अन्तः-करणमें कैसा ज्वारभाटा आता है, वह लेखनीसे, वाणीसे व्यक्त करनेका विषय नहीं। इसे तो वही अनुभव कर सकता है, जिसने कभी किसीकी प्रेमपूर्वक अत्यन्त उत्सुकताके सहित प्रतीक्षा की हो। कब रात्रि हो गयी—प्रतीक्षामें श्यामसुन्दरको पता ही नहीं चला। पता तो तब चला, जब पूर्णचन्द्र उनके सिरके ऊपर आकर जोरोंसे हँस पड़ा। उसके व्यङ्ग्यात्मक सुमधुर हास्यसे श्यामसुन्दरकी भाव-समाधि भंग हुई। किशोरी-जीको समीप न पाकर वे उनके आवासकी ओर दौड़ चले और एक गुप्त मार्गसे उनकी चित्रसारीपर चढ़ ही तो गये।

इधर प्रियाजीकी भी कहानी सुन लीजिये। आज प्रिय-तमसे मिलने जाना है, सज-बजकर सोलहों श्रृङ्गार करके जाना चाहिये। वे बड़े आदर्श (दर्पण) के सम्मुख बैठकर श्रृङ्गार करने लगीं। दर्पणमें जो उनकी प्रतिच्छवि दिखायी दी, उससे वे विमुग्ध हो गयीं। श्रृङ्गार करते-करते उस छायाछविमें खो गयीं, उसकी रूपसरितामें बह गयीं। अपनपनेको भूल गयीं। अब उन्हें बाह्य जगत्का भान ही नहीं रहा। कौन बताता छः कबके बज गये। श्रृङ्गार करते-करते अर्धरात्रि व्यतीत हो गयी। तन्द्रा तो तब बंद हुई जब दर्पणमें उस रूपराशि-छविके साथ एक श्यामसलोनी सौन्दर्यकी साकार मूर्ति और दिखायी देने लगी। पीछे मुड़कर देखती हैं तो श्यामसुन्दर खड़े हैं। सहसा उनके मुखसे निकल पड़ा—कैसी ललित छवि है। वह छाया ही सजीव साकार होकर प्रकट हो गयी। हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी।

'स्वामिनीजू ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' प्रियाजीने कहा—'ललिता ! तू छायाकी भाँति मेरे साथ ही रह ।' वही ललिता सखी हुई ।

अब प्रियाजीके लिये श्यामसुन्दर इतने विह्वल क्यों रहते हैं, इसकी भी कथा सुन लीजिये, तो आपको पता चल जायगा कि प्रिया-प्रियतम भी दो नहीं। दो शरीरसे दीखते हैं, प्राण दोनोंमें एक ही संचार करते हैं ।

एक दिन श्यामसुन्दर वनको जा रहे थे, क्यों जा रहे थे ? यह भी कोई पूछनेकी बात है ? वनवारी ही ठहरे । वृन्दाविपिनविहारीका वनमें विचरते रहना ही व्यापार है । उस दिन उनके हृदयमें अत्यन्त आह्लाद था । इतना आह्लाद कि वह हृदयमें समाता नहीं था । आह्लादसे हृदय परिप्लावित हो उठा । आह्लादको सीमित स्थानमें कष्ट-सा होने लगा । वह स्वच्छन्दविहारके लिये श्यामसुन्दरके शरीरसे निकलकर बाहर भागने लगा । श्यामसुन्दरने कहा—कहाँ जाता है रे ? यह सुनते ही वह आह्लाद भगा । अब तो श्यामसुन्दरको कौतूहल, उत्सुकता, चिन्ता और संदेह होने लगा । बोले—'सारे ! भाजे क्यों है, ठाढ़ो तो रह ।' इतना सुनते ही आह्लाद मुट्ठी बाँधकर भागा । ये भी उसके पीछे-पीछे भगे । ऐसा प्रतीत हो अब पकड़ा, अब पकड़ा । जब दूरी दो-चार अंगुलकी ही रह गयी, तब आह्लाद घबराया । वह छिपनेको कहीं आश्रय खोजने लगा । संयोगकी बात—उसी समय यमुनाजल भरने एक गोरी-सी भोरी-सी पतली-सी सुवर्णवर्णकी छोरी आयी थी । आह्लादने न पूछ करी, न गछ, तुरंत उसके शरीरमें प्रवेश कर गया ।

श्यामसुन्दरने विनतीके सहित कहा—'मेरा आह्लाद आपके श्रीअङ्गमें विलीन हो गया है, उसे दे दो ।'

मन्द-मन्द मुस्कराते हुए प्रेमके कटाक्ष छोड़ते हुए सरलतासे उस छोरीने कहा—'मैं किसीके घर चोरी करने तो गयी नहीं । अपने आप कोई वस्तु आ जाय, उस अङ्गीकृतका परित्याग करना घोर पाप है ।'

पाई चीज कमाई । घरि कोठे पै खाई ॥
टका देउ छुड़वाई ॥

सो श्यामसुन्दरपर आजतक छुड़वाईका टका जुड़ नहीं पाया । वह वस्तु उस छोरीकी हो गयी । इसीलिये उनका नाम पड़ा 'आह्लादिनी शक्ति' । श्रीकृष्णके आह्लादका जो आवास है, वही राधा हैं और राधाकी सेवा-परिचर्याकी जो इच्छाएँ हैं वे ही अष्ट सखियाँ हैं । इन अष्ट सखियोंकी सेवा भी पृथक्-पृथक् है और इनके रंग, रूप, वस्त्र, आभूषण भिन्न-भिन्न हैं । रसिकाचार्योंने इनका वर्णन यों किया है—

रंग सुदेवी दुहुँन को, कमल केसरी रंग ।
जया सुहीदे रंग की, सारी सोहै अंग ॥
सेवा भूषन सजत तन, सरस सुअंग सँवारि ।
भरी रूप रस रंग में, लड़वैं जुगल निहारि ॥
ललित बिसाखा दुहुन को, रोचनि दामिनि वर्न ।
मोरपच्छ उडु भाँति के, पहिरे पट मन हर्न ॥
वीरी वागे सेव में, सावधान ये दोय ।
जुगल रूप में पग रहीं, तन मन प्रान सँजोय ॥
चंपकलता चंपक बरन, चित्रा कुंकुम कांति ।
नीलऽरु पीत निचोल निज, पहिरें बसन सुहाँति ॥
सेवा है इन दुहुँनि कैं, भोजन अरु जलपान ।
अति हित सौं अरु गावहीं, पावहिं रस बहुवान ॥
तुंगविद्या इंद्रलेखिका, गौरवर्न हरतार ।
पहिरें सारी फबि रही, पांडर पुहुप अतार ॥
नृत्यादिक अरु कोक की, कला भेद बहुभाय ।
रिझवत सिखवत दुहुँन कौं, अद्भुत दाम उपाय ॥
विविध कुंज के भेद हैं, विविध कुंज मन रज्जु ।
नित नित नई नई जहाँ, सजत सुखमयी सज्जु ॥
इन में श्रीहरि प्रिया कौ, नित्य बिहार अखंड ।
अंसा अंसी रूप में, राचि रह्यो ब्रह्मंड ॥

सो यह कोई प्राकृत विहार नहीं । नित्य-विहार है ये नौ निकुञ्ज दिव्य हैं, इनकी लीलाएँ अलौकिक हैं । यह भूमि अप्राकृतिक है, इसके दर्शन भाग्यशालियोंको ही हो हैं, जिनपर पुलिनविहारीका प्यार हो, दामोदरकी दया हो कृष्णचन्द्रकी कृपा हो । इसीलिये व्रजरसके रसिक किसी प्र यमुना-पुलिनोंमें वास चाहते हैं—चाहे कीट, पतंग, पशु, प गुल्म-लता कुछ भी बनकर रहना पड़े । हमारे शाह कुन्द लालजी, जिनका शाहजीका संगमरमरका टेढ़े खंभोंवा मन्दिर श्रीवृन्दावनधाममें परम प्रसिद्ध है, जो 'ललि किशोरी' के नामसे पदरचना करते थे, वे कहते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ ।
कूकर ह्वै बनबीथिनि डोलौं, बचे सीथ रसिकनके पाऊँ ।
'ललितकिसोरी' आस यही मम, ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ ।

ऐसे वृन्दाविपिनके दर्शन भाग्यशालियोंको होते

वृन्दापुलिनमें वास पुण्योंका फल नहीं, कृपाका फल है। इसीलिये कृष्णगढ़के महाराजा सावन्तसिंहजी जब अपना राज्यपाट छोड़कर श्रीवृन्दावनधाममें आ बसे, तब उन्होंने आनन्दमें विभोर होकर गाया है। उनका कविताका नाम 'नागरीदास' है। वे कहते हैं—

हमारी सबई बात सुधारी।
कृपाकरी श्रीकुंज बिहारिनि अरु श्रीकुज बिहारी॥
राख्यो अपने बृंदावनमें जिहिकौ रूप उजारी।
नित्य केलि आनंद अखंडित रसिक संग सुखकारी॥
कलह कलेस न व्यापै इह ठाँ ठौर विस्व तें न्यारी।
'नागरिदास' हिं जनम जिवायौ बलिहारी-बलिहारी॥

इसीलिये अन्तमें उन्होंने कहा है—

सरबसु के मुख धूरि दै सरबसु कै ब्रजधूरि।

ब्रजको सर्वस्व समझनेवाले वृन्दाविपिन यमुना-पुलिनोंमें विहार करनेवाले वृन्दावनवासी रसिकोंके तथा पुलिन-विहारीके पुनीत पादपद्मोंमें पुनः-पुनः प्रणाम करके इस क्षुद्र निबन्धको आज यहीं समाप्त करते हैं, फिर कभी इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायगा।*

रात-दिन—दिन-रात

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा)

(१)

काली-गोरी नागिनें,
रात-दिन, दिन-रात,
मेरे आगे-पीछे,
अगल-बगल,
बायें-दायें,
चतुर्दिक्,
फूत्कार रही हैं,
डँस रही हैं।

(२)

उनका विष,
रात-दिन, दिन-रात,
बींध रहा है,
मेरी रग-रग,
मेरी पोर-पोर।
सुन्न पड़ती जा रही हैं,
रात-दिन, दिन-रात,
मेरी रग-रग,
मेरी पोर-पोर।

(३)

फिर भी—
मैं मरा नहीं,
मैंने आत्मघात नहीं किया।
मैं जीवित हूँ,
मैं सक्रिय हूँ,
—कर्म-क्षेत्रमें,
कर्तव्य-क्षेत्रमें,
भावना-जगत्में।

(४)

मेरे मन-मन्दिरमें,
रात-दिन, दिन-रात,
आदर्श-कलशसे
रिस-रिसकर,
टपक-टपककर
आस्था-जीवन-विन्दु
नहला रहे हैं,
स्वच्छ कर रहे हैं,
चमका रहे हैं
विज्ञान-धूलि-धूसरित शिवको,
—रात-दिन,
दिन-रात॥

---

* फाल्गुन शु० १२ (१४ मार्च) से चैत्र शु० १२ (१४ अप्रैलतक) मीनकी संक्रान्तिसे मेषकी संक्रान्तितक वृन्दावनमें वंशीवटके सामने यमुना उस पार एक महीनेका पुलिनवास मेला लग रहा है। जिसमें अष्ट सखियोंके नामसे एक युगलके नौनिकुञ्जोंमें नवनिकुञ्ज अखण्ड संकीर्तन होता है। भारतवर्षके नौ प्रान्तोंके भक्त नौ कुञ्जोंमें महीनेभर अखण्ड कीर्तन करते हैं। वहाँ गोपाल-यज्ञ आदि कई यज्ञ, वेद, पुराण, वेदाङ्ग, गोरक्षा आदि उन्तीस सम्मेलनोंके आयोजन हैं। भारतवर्षभरके सभी संत महात्मा भक्तोंको आमन्त्रित किया गया है। 'कल्याण'-परिवारके अपने समस्त पाठकोंसे हमारी प्रार्थना है, इस अद्भुत 'नवनिकुञ्जअखंडसंकीर्तन-यज्ञ' पुलिनवास मेलमें, जितने दिनको आ सकें उतने ही दिनके लिये, अवश्य आवें।—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी 'गोलोक'-संकीर्तनभवन, वंशीवट वृन्दावन।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ७९२ से आगे]

द्वितीय तरंग

(२३)

एक दिन मिले राहमें मुझे
अचानक भैया ! बाबा नन्द ।
लगा चिपटा छातीसे वहीं
रो पड़े भर हिलकी गोविन्द ! ॥
प्यारसे थामे मेरी बाँह
ले चले भैया ! घरकी ओर ।
डगमगाती अकुलाती-सी चाल
छलकती रह-रहकर दृग-कोर ॥
पहुँच द्वारेपर बरसी फूट,
रोक रक्खी थी जो बरसात ।
हो गये सौ-सौ मनके पैर,
लता-सा काँपा थर-थर गात ॥
गोदमें भर भीतर ले गये—
जान बाबा मुझको असहाय ।
देखते ही डकराई मुझे
यशोदा मैया जैसे गाय ॥
गया मैं अवश चरणमें लोट,
स्वयंकी सुधि-बुधि सारी खोय ।
बाढ़-सी उमड़ी—उस घर बीच
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२४)

कहा बाबाने माँसे अरे,
सुनो तो, बाँधो तो, अब धीर ।
इस तरह बढ़ा रही हो और
मनसुखा लालाकी तुम पीर ॥
ध्यानसे देखो तो, यह खड़ा,
हँस रहा अपना जीवन-मूर ।
नयनसे हो सकता है भला—
कभी नयनोंका तारा दूर ? ॥
उठो, ले आओ माखन, दूध,
मलाई, मिश्री जो कुछ पाक ।
कृष्ण-मनसुख दोनों हैं, आज
साथ ही खायेंगे सब छाक ॥
कृष्ण ! सुन खोले आकुल नैन,
विलख कर कहा, कहाँ है कृष्ण ?
व्यथित-से घूमे चारों ओर—
बावरे व्याकुल नयन सतृष्ण ॥
न दीखा कुछ, तो दोनों हाथ,
पीट छाती, फिर बेसुध होय ।
पुकारी कृष्ण कृष्ण, हा कृष्ण,
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२५)

उठाया फिर मुझको कर प्यार,
पीठ-मस्तकपर फेरा हाथ ।
चूम कर बार बार, कर स्नेह,
लगाया सिर छातीके साथ ॥
भिगोती रही मुझे कुछ देर
नयनकी तप्त दग्ध जलधार ।
बिठाकर गोदीमें यों कहा
विकल वाणीमें भरे दुलार ॥
मनसुखे ! जाने उरमें कहाँ
छिपे बैठे हैं मेरे प्राण ।
निकलते नहीं अभागे हाय !
अरे ! इस दुखसे पाने त्राण ॥
तड़फती हूँ मैं जितना अधिक,
निठुर होते हैं और कठोर ।
बढ़ा ही जाता है दिन-रैन,
पीरका मेरे ओर-न-छोर ।

छटपटाती मेरी हर साँस,
विरह-सागरमें प्राण डुबोय ।
तड़फड़ाई यों कहकर हाय,
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२६)

सवेरे दूध बिलोते समय,
मथानी पकड़ हाथ फैलाय ।
ठुनक कर, मचल-मचलकर, नहीं
माँगता माखन कोई हाय! ॥
जरा-सी हो जाते ही देर—
कलेऊको, चौकासे भाज ।
हटाता नहीं रूठकर मुझे—
मनसुखे ! कोई भी तो आज ॥
लूटता है अब कोई नहीं—
भरी तेरे बाबाकी आँट ।
खिलाता बाँट-बाँटकर नहीं—
भरे माखनके भारी माँट ॥
माँगता माखन-रोटी नहीं
सुपक कर कोई भी तो भोर ।
दौड़ता नहीं पकड़ने कोई,
कुहकते जब छज्जेपर मोर ॥
झगड़ता है अब कोई नहीं,
हाय ! आँसूसे मुखड़ा धोय ।
बिलखती थी यों मुझसे चिपट
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२७)

द्वारको कभी न रखती बंद,
रोज देखा करती हूँ राह ।
तनक-सी आहट सुन उठ भगूँ—
लौट आऊँ फिर भरती आह ॥
पराये-से लगते हैं मुझे
आज वे सब घर-आँगन-द्वार ।
लुटाया करता नटखट श्याम—
जहाँपर नाच-नाचकर प्यार ॥
एक दिन उस ऊखलको, बँधे
कृष्णके जिससे कोमल हाथ ।
देखकर छाती फट-सी गयी,
विकल टकराया उसपर माथ ॥
रुधिरसे भीगे सारे वस्त्र,
हो गयी मैं बेसुध बेहाल ।
चीख उठती थी पल-पल टेर,
कृष्ण, केशव, बेटा गोपाल ! ॥
दिखाऊँ कैसे उरके घाव
मनसुखा ! छौना मैं हा ! तोय ।
तड़फती थी यों मीन समान
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२८)

अरे वह मेरा नाहर लाल,
कन्हैया अलबेला गोपाल ।
दूध पीता ही जो बन गया
पूतनाके प्राणोंका काल ॥
शकट, केशी, नरकासुर आदि
पछाड़े पलमें दुर्जय दुष्ट ।
रहा करता रक्षा हर समय,
न व्रजका होने दिया अनिष्ट ॥
खेल ही में जिसने हन दिया—
कुवलयापीड़ मधुपुरी-द्वार ।
मल्ल भारी मुष्टिक-चाणूर,
कंस क्षणभरमें दिये पछार ॥
वही मेरा मनचाहा प्राण
रहा क्यों नहीं अरे व्रज-ग्वाल ।
हो गया कैसे मेरा पूत
देवकी-वसुदेवका लाल ॥
हुई ना, और न होगी कभी—
गयी जैसी अनहोनी होय ।
विकल होती थी अति इस भाँति—
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(२९)

नहीं समझेगा भैया ! कभी
जगत् मैयाके मनकी पीर ।
बनाती है बेटेकी देह
अरे ! जो स्वयं कलेजा चीर ॥
दूधका धोखा है मनसुखे !
वक्षमें प्राणोंका मधु घोल ।
कराती जननी अमृत पान
पुत्रको अनुपम अमर अमोल ॥
गोदमें खेल, वक्षसे चिपट,
गलेमें डाले नन्हीं बाँह ।
सँजोता पुत्र सृजनकी शक्ति,
बैठ माँके आँचलकी छाँह ॥
मनसुखे ! है अनुभवके परे--
विलखती ऐसी माँका हाल ।
छिना जिसकी गोदीसे अरे--
उसीका पला-पलाया लाल ॥
विरहिणी लगती सारी सृष्टि--
कृष्णमें गये प्राण यह खोय ।
हो गयी बेसुध पुनः कराह--
कन्हैया ! मैया तेरी रोय ॥

(३०)

चहकते नहीं सुबह अब विहग,
कुहकते नहीं कुंजमें मोर ।
नहीं मिलता है भैया ! कहीं--
कृष्णके विरह-पुंजका छोर ॥
विहँसते नहीं सुमनके गुच्छ,
न बंदर करते हैं उत्पात ।
विहरते नहीं द्वारके वृक्ष,
हुआ है ऐसा उल्कापात ॥
मनसुखे ! वे शाखाएँ सभी—
आज-कल रहती हैं बेहाल ।
बढ़ाया करता ऊँची मचक
डाल झूला जिनपर गोपाल ॥
दिवाली, होली, सावन सभी—
हो गये हैं फीके बेरंग ।
मनसुखे ! छूट गया है हाय,
श्यामका जबसे प्यारा संग ॥
कलेजा आता मुँहकी ओर—
कभी जब करती हूँ पकवान ।
मनसुखे ! तेरा प्यारा कृष्ण—
कर गया है जीवन सुनसान ॥

(३१)

सोचती हूँ जब भैया ! कभी—
लता-सी कोमल भोरी गाय ।
बिचारी राधा—माधव बिना
जी रही होगी कैसे हाय !॥
रही थी जो वन करके सदा—
श्यामके श्वासोंकी सहचरी ।
अरे उसकी तो अबतक डूब
गयी होगी हा जीवन-तरी ॥
बिलबिलाते हैं होकर विकल
पशु पक्षी तक जब दिन-रैन ।
हाय ! उस अभागिनीको कहो—
किस तरह आता होगा चैन ॥
विरहमें मेरे सुतके अरे,
जले हैं जब ब्रज भरके रूख ।
हाय, तब वह तो मोहन बिना
गयी ही होगी बिलकुल सूख ॥
सत्य चन्दा सूरजकी तरह—
नहीं है रंच मात्र भी झूठ ।
मनसुखे ! तेरा प्यारा कृष्ण
ले गया हम सबका सुख लूट ॥

(३२)

खिलाती थीं जो उसको कभी
ग्वालिनें माखन कर कर नेह ।
रो रहे हैं अब भर भर आँख,
हाय ! उन सबके सूने गेह ॥

उलहने मीठे मीठे लिये
न अब आती कोई इस ओर।
छोड़कर जबसे ब्रज को गया—
अरे उन सबका माखनचोर॥
नहीं जाती हैं ले दधि-दूध
बेचने अब कोई ब्रजबाल।
बिछुड़ कर जबसे उनसे गया—
हाय! मेरा प्यारा गोपाल॥
तड़फते ब्रजवधुओंके नैन
बिकल आकुल घूँघटकी ओट।
अरे वह मेरा कोमल कृष्ण
दे गया कैसे ऐसी चोट॥
हाय! देखूँ किस किसकी पीर,
गये हैं भाग सभीके फूट।
मनसुखे! तेरा प्यारा कृष्ण
ले गया हम सबका सुख लूट॥

(३३)

तुम्हारे बाबा यों तो सदा
बहुत बाँधे रहते हैं धीर।
हमारे सबके आगे सदा
बात भी करते हैं गम्भीर॥
किंतु तुम कभी अकेले उन्हें
देखना कैसी भर भर हूक।
विलखते हैं, जैसे दिल नरम
हो गया भीतर सौ सौ टूक॥
विकल वैसे तो पशुधन सभी—
न पर तृण खाती श्यामा गाय।
देखकर जिसे फूटकर, हाय!
रात भर रोते हैं नँदराय॥
और वह शुक जो आठों पहर
रटा करता है राधेश्याम।
छीनता रहता है हर समय
तुम्हारे बाबाका आराम॥
हो रहा पल-पल गहन गँभीर,
भरा दुख ब्रजके चारों खूँट।
मनसुखा! तेरा काला कृष्ण
जहरका पिला गया है घूँट॥

(३४)

सुन रहा है बैठा चुपचाप,
अरे भैया! तू भी कुछ बोल।
व्यथित छातीमें मेरी अरे,
हँसीका थोड़ा तो रस घोल॥
कहा करता था मेरा कृष्ण,
तुझे तो खुशियोंका सम्राट।
निभाया है तैंने भी सदा
विदूषकका ही प्यारा ठाट॥
अरे, तू रोता है हा वत्स!
गयी थी मैं तो बिलकुल भूल।
रुलाकर चला गया जो मुझे—
तुझे भी चुभा गया है शूल॥
शान्त हो लाल! न ऐसे विलख,
लगा लूँ आ छातीसे तुझे।
सखा मेरे छैयाके और न—
तड़फा तड़फ-तड़फ कर मुझे॥
धीर धर पूत! न मेटे गये
किसीसे अमिट भालके अंक।
दिया है जिसने भीषण विरह—
सहारा देगा वही मयंक॥

श्रीकृष्ण और उनकी जन्मभूमिका अभिनन्दन

[श्रीमद्भागवतभवन, मथुराके शिलान्यासके अवसरपर पठित]

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य)

(१)

पलक मारते सृष्टि-प्रलय जिनकी लीला है,
जिनकी कीर्तित कीर्ति परम मंगल-शीला है।
जो व्यापक सर्वत्र जिन्हींसे जगकी सत्ता,
जिनकी इच्छा बिना नहीं हिल सकता पत्ता॥
ब्रह्मभूत व्रजभूमि यह जिनका लीलाधाम है।
राधा-माधवको उन्हीं मेरा नित्य प्रणाम है॥

(२)

ब्रह्माने भी जिसकी रजमें लोट लगायी,
कितनोंने तज राज्य जहाँ लंगोट लगायी।
वेद-पुराणोंने है जिसकी महिमा गायी,
संतोंने भी की है जिसकी बड़ी बड़ाई॥
जहाँ मुक्तिदाता प्रकट कारागृहमें ईश हैं।
वन्द्य उसी इस भूमिको नवा रहे हम शीश हैं॥

(३)

लाख-लाख मिट गये जिन्होंने आँख दिखायी,
बार-बार थी जरासंधने मुँहकी खायी।
उड़ा हंसका हंस डिम्भ-सा डिम्भ सो गया,
कालयवन तत्काल यहाँ आ भस्म हो गया॥
मुँदी आँख महमूदकी, लोदी भी तो लद गया।
मुगल गले, औरंगका रंग कहीं क्या रह गया॥

(४)

हुआ यहीं अभिमानी असुरोंका था अर्दन,
यहीं उतारी गयी लवणकी, मधुकी गर्दन।
बंद हुआ दानव-मल्लोंका गर्जन-तर्जन,
हुआ यहीं चाणूर और मुष्टिकका मर्दन॥
यहाँ मान उसका, किया जिसने प्रेम-प्रदान है।
निठुर नृशंस नरेशको पड़ी गवानी जान है॥

(५)

दानवीय शासनको मोड़ा गया यहींपर,
धनुष कंसका दुर्धर तोड़ा गया यहींपर।
द्वार-अर्गला पथका रोड़ा बना खड़ा वह,
नाग कुवलयापीड निचोड़ा गया यहींपर॥
अत्याचारोंसे हुआ मुक्त यहीं यह देश था।
जन जीवनको था मिला यहीं शान्ति-संदेश था॥

(६)

सह न सकी यह भूमि किसीके अहंकारको,
नराकार कर दिया इसीने निराकारको।
जन्म अजन्माको भी लेना पड़ा यहाँपर-
देवोंको भी फेरी देना पड़ा यहाँपर॥
यहाँ भागवत-सुधाका वसुधापर वर्षण हुआ।
सर्वाकर्षी कृष्णका भी है आकर्षण हुआ॥

(७)

मिली मलयकी हवा हरित वन-बाग उठा है,
कालिन्दीकी लहरोंमें अनुराग उठा है।
दूर हटो बाधाओ ! बाधा देनेवालो !
जन्मभूमिका भाग्य आज फिर जाग उठा है॥
कालनेमिके क्रूर कर जिसको कभी मिटा गये।
वह इतिहास सँवारने आज भक्तजन आ गये॥

जन्मान्तर-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

दैनिक 'वीर अर्जुन' के आषाढ़ २०१९ तथा 'परोपकारी' के अगस्त १९६२ (श्रावण २०१९) पृष्ठ ३७पर 'तुर्कीमें पुनर्जन्मकी घटना' शीर्षकसे एक समाचार प्रकाशित हुआ था ।

इसके बाद राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुरके पैरासाइकोलाजी विभागके निर्देशक (डाइरेक्टर) प्रोफेसर हेमेन्द्रनाथ बनर्जी स्वयमेव टर्की गये और इसी घटनाकी पूरी छानबीन तथा अध्ययन कर सम्पूर्ण वृत्तान्त उन्होंने 'कल्याण' भाग ३८ अङ्क ११ (नवम्बर १९६४) पृष्ठ १२९०—९२ में प्रकाशित कराया ।[1] श्रीबनर्जीने इसके अतिरिक्त भी दो घटनाएँ दिसम्बर ६४ तथा फरवरी ६५ के 'कल्याण'में प्रकाशित करायी हैं, जिन्हें पाठकोंने भी देखा होगा। अगस्त १९४५में प्रयागसे प्रकाशित होनेवाली दैनिक तत्कालीन अमृतबाजार पत्रिका तथा लीडरमें भी लगातार कई दिनोंतक एक मोहन नामके बालककी भी पूर्वजन्मकी बड़ी सनसनीपूर्ण घटना उसके पूरे अङ्कोंमें ही प्रकाशित होती रही थी । गीता बाई, शान्ति देवी आदि अन्यान्य बालक-बालिकाओंकी भी ऐसी कई घटनाएँ पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होती रही हैं । राजस्थानका पैरासाइकोलाजी विभाग इन घटनाओंको अभी अतिमस्तिष्क स्मृति (Extra-cerebral Memory) की संज्ञा देता है, जन्मान्तर मानना वह अभी उचित नहीं समझता । किंतु प्राचीन कालसे लेकर अबतक साधना तथा ज्यौतिष, वेदान्त तथा योगादि दर्शनों आदिके क्षेत्रोंमें ऐसी घटनाओंपर अति विस्तृत विचार हुआ है । आइये थोड़ी इसकी विस्तारपूर्वक यहाँ समीक्षा की जाय ।

यों सामान्यतया यही कहा जाता है कि ईसाई-इस्लामादि धर्मोंमें पुनर्जन्मकी मान्यता नहीं है (दि इन्साइक्लोपीडिया आफ इसलाम)

तथापि Riddle of life नामकी पुस्तकसे सिद्ध है कि इन धर्मोंके भी सूक्ष्म विवेचकों, साधकोंको जन्मान्तरके भावोंका साक्षात् होता रहा है । मैक्समूलर भी अपने दार्शनिक ग्रन्थ (Six Systems of Indian Philosophy) में मानते हैं कि पुनर्जन्मके माननेवाले लोग महान् थे । पाइथागोरस तथा प्लेटोने भी अपने दार्शनिक ग्रन्थोंमें इसकी चर्चा की ह । जौजेफस भी लिखता है कि यहूदी लोग पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं । उसने एक कमानकी कहानी लिखा है, जो अपने सिपाहियोंको उत्साहित करते हुए कहता है कि 'तुम मरनेकी परवा छोड़कर बहादुरीके साथ लड़ो, क्योंकि सभीको पुनर्जन्म ग्रहणकर पृथ्वीपर ही आना है ।' Wisdom of Solemn नामक ग्रन्थमें लिखा है कि एक पवित्र शरीरमें जन्म लेना भला होनेका पुरस्कार है । ईसामसीहने अपने शिष्योंसे कहा था कि एलिजा ही जौन वैप्टिस्टके रूपमें पैदा हुआ था ।[2]

---

[1] डा० बनर्जीके अनुसार इसका पूर्वजन्मका नाम 'एबिट सुजुल्सुस' था । शेष बातें समान हैं । कुछ बातें अधिक भी हैं ।

[2] (क) Nicodemus को भी ईसाने निम्न शब्दोंमें जन्मान्तरका उपदेश दिया है—

'Verily, verily I say unto thee, 'Except a man be born again, he cannot see the kingdom of God.' Nicodemus said unto him, 'How can a man be born, when he is old ? Can he enter the second time into his mother's womb, and be born ?' Jesus answered, 'Verily, verily, I say unto thee, except a man be born of water and of the spirit, he cannot enter into the kingdom of God......Marvel not that I said unto thee, ye must be born again.'

(The Holy Bible, New Testament, St. John, Chapter 3, para 3–7)

अर्थात् मैं तुमसे सत्य तथा स्पष्टरूपसे कह देता हूँ कि जबतक कोई मनुष्य पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता (और उसे स्मरण न हो) वह भगवान्के साम्राज्यका दर्शन नहीं कर सकता । इसपर जब निकोडेमसने उनसे प्रश्न किया कि 'क्या बुड्ढे मनुष्यको भी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा ? क्या वह पुनः दूसरी बार अपनी माताके गर्भमें प्रवेश कर सकता और जन्म ले सकता है ?' इसपर जेसस क्राइस्टने उत्तर दिया कि जबतक वह जल तथा जीवात्माके सम्बन्धमें पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता, भगवद्राज्यमें प्रवेश नहीं कर सकता ।…… ……आश्चर्यचकित मत होओ, जो मैंने कहा कि तुम्हें पुनः जन्म अवश्य लेना पड़ेगा ।

(ख) **New Philosophy (1959 July)** में

अंग्रेजीके प्राचीन कवियोंमेंसे बर्जिल तथा ओविड भी पुनर्जन्मके नियमोंको मानते थे। मिश्र (Egypt) देशकी पूजापद्धतिमें भी पुनर्जन्मकी चर्चा है। नव-प्लैटानिक विचार-धारामें भी इसका प्रतिपादन किया गया है। तथा प्राचीन ईसाई आचार्योंमें परमश्रेष्ठ विद्वान् Father Origin ने कहा था कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही शरीर धारण करता है।

मध्ययुगके सूफी संत मौलाना रूमने भी लिखा है कि—'मैं पत्थरसे पेड़-पौधोंके जीवनमें प्रविष्ट हुआ, पेड़-पौधोंसे पशुवर्गमें और वहाँसे मरकर मानववर्गमें प्रविष्ट हुआ।···अब मानवतासे मृत्यु प्राप्त कर देववर्गमें आरोहण करूँगा।' इसी तरह गेटे, फिश, शेलिङ्ग, लेसिङ्ग आदि जर्मन दार्शनिकोंने भी जन्मान्तरको स्वीकार किया है। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूमने तो यहाँतक कहा है कि 'पुनर्जन्ममें विश्वास ही दार्शनिक मानवकी असली योग्यता है।' वर्ड्सवर्थ, ब्राउनिंग तथा राजेटी प्रभृति कवियोंका भी पुनर्जन्ममें विश्वास था। अतः मानना पड़ेगा कि मूल ईसाईधर्ममें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास था और अन्तमें नास्तिक दार्शनिकोंके प्रभावसे १६-१७वीं शतीमें वह लुप्त हो गया और जडवादकी उत्पत्ति हुई।

अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अमेरिका आदिके मूल निवासियोंमें भी जन्मान्तरकी भावनाएँ हैं (इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स भाग १२ पृष्ठ ४२५—२८[3]) संयुत्तनिकाय भाग २, पृष्ठ १७८, २५४—६२ में जन्मान्तरकी बात है। जातकोंमें गौतम बुद्धके सौ जन्मोंकी कथा मिलती है। ये कथाएँ बड़ी ही सुन्दर हैं। (द्रष्टव्य जातक, भाग १—६ भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग)। चीन, जापान इण्डोनेशियाके लोगोंमें भी जन्मान्तरके प्रति आस्था है। (A Catalogue of the Chinese Translation of the Buddhist Tripitak, Oxford, 1883, Nos. 561, 677, 679, 705, etc.)

अवश्य ही हमारे सर्वज्ञानसम्पन्न दिव्यचक्षु महर्षियोंने अनादिकालसे जिस प्रकार पुनर्जन्मके सिद्धा साक्षात्कार कर उसे स्वीकार किया है, वैसा अन्य किसीने किया। इतनेपर भी कुछ विदेशी लेखकोंने प्राचीन भा साहित्यमें पुनर्जन्मका उल्लेख न होनेकी बात कह डा इसका एक कारण तो यह है कि वे स्वयं इस विषयका नहीं रखते थे और दूसरे प्रायः अधिकांश पाश्चात्य लेख यही कुचेष्टा भी रही है कि वे हिंदू-धर्म-संस्कृति-साहि किसी प्रकार नीचा दिखला सकें। उन्होंने भारतके प्रा साहित्यको और पुरुषोंको इन्हीं हजार वर्षोंमें रख भरसक प्रयत्न किया है। इसी प्रकार इस देशको अना द्रविड़ोंकी भूमि कहकर आर्योंका बाहरसे आना बताया। आज दक्षिण-उत्तर-भारत, भाषा-साहित्य—संस्कृति तथा मुस्लिम आदिकी भीषण समस्या खड़ी हो रही है। १९४७ में देश-विभाजन, गृहयुद्ध तथा लाखोंके जान गये। यही दशा इस समय भी है[४]। वास्तवमें वेद, पु

P. R. Bhide ने Marx के Dialectic Materialism के सिद्धान्तके आधारपर मार्क्स और एंजिल द्वारा भी पुनर्जन्म माननेका मन्तव्य सिद्ध किया है। उन्होंने लिखा है कि 'यदि इन लोगोंने भारतीय उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थोंको देखा होता तो निश्चय ही मुक्तकण्ठसे पुनर्जन्मका उद्घोष किया होता'— द्रष्टव्य 'Marx proves Rebirth.'

3. In Africa and America children are buried by the wayside, near the mother, under caves, or in other situations that would in eyes of the natives facilitate reincarna in parts of Central Australia and Ame people are buried in the place of their b (वही पृ० ४२५)

४. वास्तवमें पाश्चात्य तथा मुसलमान लेखकोंने भारतके दोष, दुर्गुण और पराजयका इतिहास ही लि प्रत्येक कक्षामें उसे बार-बार पढ़ाया, जिससे भारतीयों गुलाम बननेमें ही गौरव माने। नौकरीप्रथा भी खूब चला इसीमें प्रतिष्ठा दिखलायी गयी। इतिहासमें गोरी आदिद्वारा बीसों बार आक्रमण और पराजयके इतिहासका विस्तार है। हमारे गौरवपूर्ण वास्तविक इतिहासको जो विष्णुपुरा अंश, वायुपुराण, मत्स्यपुराणके वंशानुक्रमचरित्र तथा भविष्य स्पष्ट सुरक्षित है, इन दुरभिसंधिग्रस्त ऐतिहासिकोंने जान हमसे ओझल किया और इसीलिये राम, कृष्ण, विक्रमादित्य काल्पनिक कहा गया। आज अब स्वतन्त्र भारतको तत्काल 'पराजयके इतिहास'को जो अब भी सर्वत्र आरम्भसे विश्व तककी प्रत्येक कक्षामें बार-बार पढ़ाया जाता है, अवश्य ही नष्ट कर देना चाहिये और इन पुराणोंसे ही छाँटकर गौरवपूर्ण इतिहास शीघ्र तैयारकर उसे पढ़ाना आरम्भ चाहिये। इसीमें बुद्धिमत्ता और कल्याण है।

ब्राह्मण, आरण्यक आदिमें सुस्पष्टरूपसे ब्रह्मा, मरीचि, अत्रि, मनु, वशिष्ठ आदिके पुष्कर, चित्रकूट, अयोध्या, ब्रह्मावर्त आदि भारतके ही क्षेत्रोंमें रहनेकी बात है। इसी प्रकार, 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन ऐण्ड एथिक्स' के लेखकोंने यह भी लिख मारा है कि वैदिक तथा प्राचीन भारतीय साहित्यमें पुनर्जन्मका उल्लेख नहीं है (द० पृ० ४३४) जब कि—

'अजायमानो बहुधा विजायते।'

(यजु० ३१ । १७)

'गर्भे संजायते पुनः।'

(यजु० १२ । ६)

'ये वै तत्कर्म कुर्वते, मृत्वा पुनः सम्भवन्ति……पुनः पुनर्भवन्ति।'

(शतपथब्राह्मण १० । ४ । ३ । १०)

'पुनर्गर्भत्वमेदिरे।'

(अथर्व० २० । ४० । ३)

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि तानि वै।

(निरुक्त १४ । ६)

'पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।'

(कठोपनिषद्)

'यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५ । १०)

—आदि वचन स्वयं वेदके भी पन्ने-पन्नेपर प्राप्त हैं। इतिहास-पुराणसे लेकर बौद्ध धर्म तथा जैन धर्मके साहित्योंमें भी गौतम आदिके जातिस्मरोंकी इतनी चर्चा आयी है कि यदि उसका संग्रह किया जाय तो एक बहुत बड़ा पोथा तैयार हो जाय। अतः यहाँ उनमेंसे बहुत थोड़ेसे ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिससे पाश्चात्त्योंके पक्षपातका भ्रम सर्वथा दूर हो जाय।

स्मृति-इतिहास-पुराणादि साहित्यमें जन्मान्तर

प्रायः सभी विशिष्ट महापुरुषों तथा महात्माओंको जन्मान्तरकी स्मृति देखी जाती है। भगवान् राम वामनाश्रममें आकर जन्मान्तरकी स्मृतिसे उन्मना होते हैं—

'उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः॥

(रघुवंश ११ । २२)

स्कन्दपुराण, शिवपुराण, कालिकापुराण, मानस आदिमें पार्वतीको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति होनेकी बात आती है—

अहं हिमाचलसुता साम्प्रतं नाम पार्वती।
पुरा दक्षसुता जाता सतीनामान्यजन्मनि॥
…अत्र जन्मनि संप्राप्तः शिवोऽपि विधिवैभवात्।

(शिवपुराण पार्वतीखं० २६ । १५-६, कालिकापु० अ० ४५ । स्कन्द माहे०)

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुमारी॥

यह बात नारदादिको भी ज्ञात थी—

जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई। नामु सती सुंदर तनु पाई॥…
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुनतपु किया।

× × × ×

अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकर प्रिया॥

× × × ×

सती जो तजी दच्छ मख देहा। जनमीं जाइ हिमाचल गेहा॥

× × × ×

बहुबिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥

इत्यादि।

……दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।………………।
सती सतीयोगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥

(कु० सं० १ । २१)

इसी प्रकार वेदान्तदर्शन १ । १ । ३०, बृहदारण्यक उपनिषद् १ । ४ । १०, ऋग्वेद ४ । १८, २६ । १, ऐतरेय आरण्यक २ । २ । १, २ । ५, ऐतरेय उपनिषद् ४–५ आदिमें महात्मा वामदेवको अनेक जन्मोंके ज्ञान होनेकी बात आती है—

'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।' (वेदान्त १ । १ । ३०)

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति।

(बृहदारण्यक १ । ४ । १०)

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच।

(ऐतरेयोपनिषद् २ । १ । ५, ऐतरेयारण्यक २ । ५, २ । २ । १)

माताके गर्भमें ही मुझे अनेक जन्मोंकी भावनाके परिपाक-वश सम्पूर्ण जन्मोंका बोध प्राप्त हो गया है—ऐसा वामदेवने माताके गर्भमें ही शयन करते हुए कहा था।

भागवत ३ । ३१ । ९–२२[५], गर्भोपनिषद् १२६, भविष्यपुराण १९६० का संस्करण, पृष्ठ ६१५ । १७, स्कन्द-पुराणाङ्क, पृष्ठ १४०, पद्मपुराण, भूमिखण्ड अध्याय ६६, विनयपत्रिका पद—

'जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो'…'जन्म अनेक की तब सुधि भई ।'

—आदिमें गर्भ-ज्ञानकी ऐसी बातें हैं । विष्णुपुराणमें भीष्मपितामहको एक कलिङ्गदेशवासी जातिस्मरद्वारा 'यमगीता' सुनानेका उल्लेख प्राप्त होता है—

पुरा ममागतो वत्स सखा कालिङ्गको द्विजः ।
स मामुवाच पृष्टो वै मया जातिस्मरो मुनिः ॥
(विष्णुपुराण ३ । ७ । ९)

इसी प्रकार योगदर्शन ३ । १८—'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्' के व्यासभाष्यमें जैगीषव्य-आवट्यका संवाद है । महात्मा जैगीषव्यको दस जन्मोंका ज्ञान था । उसका वर्णन उन्होंने आवट्यसे किया था—'दशसु महासर्गेषु… मया……दुःखं सम्पश्यता……पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत् किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव ।' 'मैं दस जन्मोंतक बारंबार उत्पन्न होकर केवल क्लेश ही पाता रहा ।'

योगवासिष्ठमें शुक्राचार्य, लीला आदि प्रायः सभी साधकोंको समस्त जन्मोंका ज्ञान होता है और उन्हें अन्तमें आत्मज्ञानमें ही शान्ति दीखती है[६] । नारदादि[७]को भी जातिस्मरता (सभी जन्मोंकी स्मृति) प्राप्त थी । देवर्षिने भागवत ७ । १५ । ६९–७३; १ । ५ । २३; १ । ६ । ३७ तक तथा ब्रह्मवैवर्तादि पुराणोंमें अपने जन्मान्तरोंकी चर्चा की है । ये पहले कभी (अतीत कल्पमें) उपबर्हण नामके गन्धर्व थे । एक बार देवसत्रमें बहुत स्त्रियोंसे घिरे हुए पहुँचकर इन्होंने ब्रह्माजीकी अवहेलना की । इसपर ब्रह्मशापसे दासीपुत्र हुए । (भागवत ७ । १५ । ६९–७३) पुनः ब्रह्मवादियोंकी चातुर्मास्यकालमें सेवा करके, उनसे भगवत्कथा सुनकर पवित्र होकर वनमें भगवद्दर्शनकी झलक पाकर प्राण त्यागकर कल्पान्तमें परमात्माके शरीरमें प्रविष्ट हुए । पुनः नयी सृष्टिमें ब्रह्माके पुत्र हुए । (भागवत, स्कन्ध १, अध्याय ५ और ६) ।

गजेन्द्रको भी अपने पूर्वजन्मका स्मरण था । वह पू
जन्ममें पाण्ड्यदेशका इन्द्रद्युम्न नामक द्रविडश्रेष्ठ राजा था
(भागवत ८ । ४ । ७) । नारद तथा गजेन्द्रादिकी
जन्मान्तरकी स्मृति हरि-अर्चना-कृपाके प्रभावसे ही
गयी है—

'प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ।'
(भागवत १ । ६ । २५
'हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ।'
(भाग० ८ । ४ । १२

इन्हीं कारणोंसे राजा नृगको भी गिरगिट-जन्म
जन्मान्तरकी स्मृति थी—

ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः ॥
(भागवत १० । ६४ । २५

कृष्णोपनिषद्, गर्गसंहिता, महाभारत अंशावतरण
आनन्दरामायण, सत्योपाख्यान, ब्रह्मवैवर्त्तपुराणादिमें
कृष्णावतारके समस्त परिकर-परिच्छदोंको पूर्वके देवादि
रामावतारादिके स्त्री-पुरुषोंसे जन्मान्तरीय सम्बन्ध स्थापित कि
गया है । ये कथाएँ पद्मपुराणके उत्तरखण्डके अध्याय २४
१६४–७० तथा पातालखण्डके अध्याय ७३ । २२–४०
भी आयी हैं—गोपियों तथा रानियोंको दण्डकारण्यके
गण, जनकपुर, अयोध्या तथा मार्गकी स्त्रियाँ बतलाया है
गर्गसंहितामें इसीके आधारपर कई खण्ड किये गये हैं
कंसको कहीं कालनेमि (विष्णुपुराण ५ । १) और
कलियुग (कृष्णोप० १५) का अवतार माना है ।
प्रकार रामावतारके भी कौसल्या, दशरथ आदिको
स्वायंभुवमनु, कहीं कश्यप-अदिति आदिका अवतार
रावणादिको भी जय-विजय, रुद्रगण या प्रतापभानु आ
कहीं हिरण्याक्षादिका जन्मान्तर माना है—'तीनि जनम
बचन प्रमाना' से ये ही शिशुपालादि भी हुए । सत्क
अङ्कमें इसी जनद्वारा—कैकेयी, नल-दमयन्ती
अनेकोंकी जन्मान्तर-कथाएँ पुराणोंसे लिखी प्राप्त हैं । पुर
की सामान्य कथाओंमें प्रायः सैकड़ों पशु-पक्षियोंकी
जन्मान्तरवार्ता स्मृत होनेकी कथाएँ हैं । वायुपुराणके
माहात्म्यमें तथा पद्मपुराणके क्रियायोगसारकी सारी ही क
जातिस्मरतासे सम्बद्ध हैं । स्कन्दपुराणके सेतुमाहात्म्यकी
यही दशा है । इसमें रम्भाका शैली होना, उर्वशीका

---

[५] तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतो द्भवम्। नाथमान ऋषिभीतः ।

[६] द्रष्टव्य योगवासिष्ठके तत्तत् प्रकरण ।

[७] बालमीक नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥
(रा० मानस)

होना--मुक्त होना तथा उदयन आदि राजाओंके पूर्वजन्मकी कथाएँ हैं। पशु-पक्षियोंकी जन्मान्तर स्मृतिवार्ता वायुमाहात्म्य तथा स्कन्दसेतुमाहात्म्यमें विशेष है। सेतुमाहात्म्य अध्याय ३४में शृगाल-वानरकी जन्मान्तर-स्मृति-कथा है । ये दोनों ही जातिस्मर (पूर्वजन्मको जाननेवाले) थे—

'शृगालवानरौ पूर्वमास्तां जातिस्मरावुभौ ।'

(सेतुमाहात्म्य ३४ । २ पूर्वार्द्ध)

ये वानर-शृगाल पूर्वजन्मके ब्राह्मण थे। ब्राह्मण-धनकी चोरीके कारण ये हीनयोनिको प्राप्त हुए। शिवाराधनाके फलस्वरूप वानरको विशेष ज्ञान था—

तपसाऽऽराध्य गिरिशं तत्प्रसादात् पुरा मम ।
अतीतभाविविज्ञानमस्ति जन्मान्तरेऽपि च ॥

(सेतुमाहात्म्य ३४ । २०)

धनुषकोटिमें स्नान करके ये दोनों मुक्त हुए।

ब्रह्मपुराणके २२८ वें अध्यायमें आग्नीध्र राजाके पुत्र कामदमनको सभी जन्मोंका ज्ञान था। वह विष्णुभक्त होकर विवाहादि नहीं करता था। पिताके आग्रह करनेपर उसने कहा था कि उसे हजारों जन्मकी बातें याद हैं। तीन जन्म पहले वह सुतपा ऋषि था तथा उसे भगवान्‌की मायाका दर्शन हुआ था—

मया जन्मसहस्राणि जरामृत्युशतानि च ।
प्राप्तानि दारसंयोगवियोगानि च सर्वशः ॥
इतस्तृतीये यद्वृत्तं मम जन्मनि तच्छृणु ।
जातो हि वंशे सुतपा महर्षिः । (३१ । ३७)

इसी प्रकार इसी पुराणके २२७ वें अध्यायमें मातंगके जन्मान्तरस्मरणकी कथा है। अस्तु! अब थोड़ा इन जन्मान्तरस्मरण—जातिस्मरताके हेतुभूत साधनोंपर विचार किया जाय।

जातिस्मरताके साधन

नारद, नृग, गजेन्द्रादिके प्रकरणमें हम हर्यर्चनाको—हरिभक्तिको जातिस्मरताका हेतु दिखला चुके हैं। इधर पातञ्जल योगदर्शनमें विषय-त्याग तथा संस्कारसाक्षात्कारको जन्मान्तरज्ञानकारक बतलाया गया है—

'अपरिग्रहस्थैर्ये पूर्वजन्मकथंतासम्बोधः।' (२ । ३९)
'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।' (३ । १८)

वेदान्तदर्शन ३ । १ । १–२७ तकमें निरन्तर जन्मान्तर-स्तरोंकी बात आती गयी है, पर सूक्ष्म कारणोंपर प्रकाश स्पष्ट नहीं है। मनुस्मृतिमें तप, वेदाभ्यास, शौच, तत्त्व-चिन्तनको जातिस्मरताका कारण माना है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥

(मनु० ४ । १४८)

छान्दोग्योपनिषद् ७ । २६ । २ **(सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः)**, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ३८ । ८८[८], याज्ञवल्क्य-स्मृति ३ । १६१ आदिमें भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

जातिस्मरतीर्थ

मन्वादिका शौचसे तात्पर्य तीर्थस्नानसे भी दीखता है। महाभारत तथा पद्म, स्कन्दादि पुराणोंमें बहुतसे जातिस्मर तीर्थोंकी भी चर्चा आयी है। महाभारत वनपर्वके ८५ । ३८ का कथन है कि जातिस्मरह्रदमें स्नान करनेसे मनुष्यको जन्मान्तरका ज्ञान हो जाता है—

जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ।

(यही श्लोक पद्मपुराणके स्वर्गखण्ड, पूनासंस्करणके आदिखण्डके ३९ । ३८ में भी हैं[९] ।)

पद्मपुराण उत्तरखण्ड इन्द्रप्रस्थस्थ कालिन्दीमाहात्म्यके १९९ से २२२ तक (पूना संस्करण–१८५ से २१९ तक) के २४ अध्याय सभी जातिस्मरतीर्थ-सम्बन्धी हैं। २०० वें अध्यायमें विष्णुशर्माको (५७ वें श्लोकमें वेंकटेश्वर तथा मोरसंस्करण) २०१ । १६ में वहीं जाकर उसके पिता शिवशर्माको जातिस्मरता प्राप्त होती है और आश्चर्य होता है; २०४ । ८८ में राक्षसको, २०८ । ५७-५८ में पिशाचिनियोंको, २११ । ४१ में सर्पको, २०५ । ३-४ में शिविको जन्मान्तर-ज्ञान होता है। इसी प्रकार क्रियायोगसारमें (अ० १९) सर्वजनि

---

[८] अहर्निशं श्रुतेर्जाप्याच्छौचाचारनिषेवणात् ।
अद्रोहवत्या बुद्ध्या च पूर्वजन्म स्मरेद् द्विजः ॥
(काशीखं० ३८ । ८८)

अर्थ मनु-जैसा ही है। याज्ञवल्क्यने भगवत्स्मृतिको कारण माना है।

[९] अनुमानतः यह स्थान दक्षिणभारतमें कहीं कृष्णावेणी नदीके आसपास मालूम होता है।

ब्राह्मणको विशेष भगवत्कृपासे स्वयं भगवान्‌द्वारा जन्मान्तरका उपदेश है। सभी कथाओंको विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखा जा रहा है। इसी ग्रन्थके अध्याय १३ श्लोक १०४–१३१ में कथा है कि प्रजा नामक ब्राह्मण जन्मान्तरकी जिज्ञासापर शिवक्षेत्र गया और वहाँ उसने शंकरजीसे प्रत्यक्ष जन्मान्तरसम्बन्धी प्रश्न पूछे—

विज्ञातुं पूर्ववृत्तान्तं शिवक्षेत्रं जगाम ह।
कोऽहं तस्थौ पुरा देव किं वा कार्यं कृतं पुरा।
(१३। १०४, १२६)

भगवान् शंकरने इस प्रश्नको कठिन तथा गूढ़ कहा—

'गुह्याद् गुह्यतरं महत्।' (वही १३५) तथा उसे जन्मान्तरका दण्डपाणि नामक शबर बतलाया। वनमें सर्ववेदाको भगवत्पूजनमें पुष्पप्रदान करनेसे वैकुण्ठसे लौटकर वह ब्राह्मण हुआ था। इसी प्रकार अन्य बहुत-से तीर्थोंका भी वर्णन है।

जातिस्मरव्रत

मनुने जो 'तप' को जातिस्मरणका कारण बतलाया, सो वह तप मुख्यतः व्रत ही है। यह बात 'कल्याण' वर्ष २९ अङ्क ७ के 'तपस्याका इतिहास' शीर्षक लेखमें विस्तारसे दिखलायी गयी है। पुराणोंमें 'जातिस्मर' नामक व्रतोंकी भी चर्चा है, यह इस बातसे भी प्रमाणित होता है। भविष्योत्तरपुराण (भविष्यपुराण, उत्तरपर्व) के १३ वें अध्यायमें जातिस्मर-भद्रव्रतका उल्लेख है। इसमें युधिष्ठिरने जातिस्मरताको दुष्प्राप्य कहकर श्रीकृष्णसे इसका उपाय पूछा है—

जातिस्मरत्वं देवेश दुष्प्राप्यमिति मे मतिः।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि प्राप्यते केन कर्मणा॥
(श्लोक १)

इसपर श्रीकृष्णने संजयके 'स्वर्णष्ठीवी' पुत्रकी कथा कही, जिसे भद्रव्रतके फलस्वरूप जातिस्मरता प्राप्त थी। यह व्रत मार्गशीर्ष मासकी शुक्ल द्वितीयासे पञ्चमी तक होता है। इस भद्रव्रत-अनुष्ठानसे मनुष्य जातिस्मर होता है—

जातिस्मरो भवति भारत भद्रकर्ता।
(भविष्योत्तर १३। १००)

अन्यान्य उपाय

भागवत १२। ५ आदि अनेक स्थलोंपर तथा छान्दोग्य (७। २६। २) आदिमें भगवत्कथाश्रवणसे जन्म ज्ञानका निर्देश है।

हरिवंशपुराण (२। ६५। ६७) में पारिजात नीचे जानेसे जन्मस्मरणकी बातका उल्लेख है—

यं (पारिजातं) आसाद्य जनः सर्वो जातिं स्मरति पौर्विकीं

वृद्धसूर्यार्णवकर्मविपाक, नक्षत्रादिकर्मविपाक, शा संहिता, शातातपीय कर्मविपाकादिमें अनेक रोगादि ल आधारपर जन्मान्तरस्थितिका वर्णन बतलाया है। वृद्ध होरा पुत्रोपायप्रकरण तथा भृगुसंहिता आदिमें भी जन्मा घटनाओंका उल्लेख है। प्रायः प्रत्येक पुराणमें ही गा तथा गरुड़पुराण उत्तरखण्डके समान कर्मवि जन्मान्तर-ज्ञानकी कुछ-न-कुछ चर्चा है ही। इनमेंसे ब्रह्म के २१७ वें अध्यायका वर्णन बहुत ही शुद्ध तथा सुन्द आकर्षक है। यहाँ किसी प्रकारकी अन्यथा कल्पना का अवकाश नहीं रहता।

ज्यौतिषशास्त्रमें जन्मान्तर

ज्यौतिषके भृगुसंहिता, कर्म-विपाक (नक्षत्रचरणान्त आदिमें जन्मान्तर-वर्णन आया है। बृहत्पाराशर-पुत्रो स्पष्ट ही पूर्वजन्मशापद्योतकर दण्ड प्राप्त होता है। अतिरिक्त विवाहादि विचारमें गणनापद्धति जन्मान्तर परीक्षार्थ ही है (शाडिन० ४) अधिकाधिक गुणवालोंमें स्नेह जन्मान्तरीय सम्बन्धोंका ही सूचक होता है। योनि गणादिका तात्पर्य भी जन्मान्तरीय योनियों किंवा आध्या भावनाओंसे लिया जा सकता है।

जातिस्मरताका परम एवं चरम प्रयोजन (ला

योगवासिष्ठादिके ऐतिहासिक उदाहरणोंके देखनेसे चलता है कि जातिस्मरताका परम एवं चरम प्रयोजन लब्धिद्वारा परा शान्तिमें ही है। वास्तवमें पूर्व-पूर्व ज्ञानको प्राप्त करते-करते हम परम चरम पूर्वजन्ममें अ भगवद्रूपमें ही पाते हैं। पर जन्मोंमें भी वही चरम स्थि अतः हम भगवदंश किंवा साक्षात् भगवत्स्वरूप ही होते हैं, ऐसा निर्णय कर शुद्ध, शान्त, निज सहज स्व सदाके लिये स्वस्थ होकर सुस्थित हो जाना ही इस परम तथा चरम फल है; क्योंकि सारे शास्त्रों तथा ज्ञानोंका तात्पर्य शान्ति-लाभरूप सुखसे ही है और सबसे

लाभ—सुख, सहजानन्द, नित्यानन्दाविर्भावलक्षण जीवन्मुक्ति किंवा परामुक्तिकी प्राप्तिमें ही है और छान्दोग्योपनिषद् आदि शास्त्रोंमें भी जातिस्मरता तथा सत्त्वशुद्धिका परिणाम मोक्ष ही बतलाया है—

'आहारशुद्धौ[१०] सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥'

(७ । २६ । २)

……अनेकजन्मान्तरानुभवभावनाकठिनीकृतानां
हृदयाश्रयाणां ग्रन्थीनां प्रमोक्षणं भवति ।

अन्यत्र भी आत्मदर्शनसे ग्रन्थिप्रमोक्षण—कर्मक्षय निर्दिष्ट हुआ है । सांख्यकारिकाओंमें भी यह भाव यत्र-तत्र व्यक्त हुआ है । अतः विशुद्धभावसे आत्मचिन्तन ही इन सभी ज्ञानोंका परम लाभ है और कल्याणकामीको भक्ति-ज्ञानमें ही नित्य-निरन्तर निरत रहना चाहिये । यही परम श्रेयस्कर है ।

एहमद इलावरके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पुनर्जन्मकी घटनाओंका अध्ययन एवं संग्रह करता है। पुनर्जन्मकी प्रस्तुत घटना कई विशेषताओंके कारण विशेष उल्लेखनीय है । बालक एहमद इलावरके पुनर्जन्मकी घटना वास्तवमें अनोखी है । बचपनसे ही यह अपने-आपको किसी दूसरे गाँवका बताया करता था । जब कभी वह किसी ट्रक और मोटर आदिको देखता तो घबरा-सा जाता था । जब वह कुछ बड़ा हुआ तो अपने-आपको चलता-फिरता देखकर बहुत प्रसन्न हुआ करता था । बालकका ऐसा अनोखा व्यवहार और बड़े लोगों-जैसा आत्मीयतापूर्ण व्यवहार सभीको चकित करता था ।

घटनाका विवरण

इस घटनाकी सूचना मिलनेपर पैरासाइकोलाजी विभागके संचालक एहमदके गाँव पहुँचे । एहमदका गाँव कोरनाइल है जो कि लेबनानमें स्थित है । वहाँ जानेपर पता चला कि जब वह प्रायः डेढ़ या दो सालका था तो अपने पिछले जन्मके बारेमें कहने लगा था । इसी अवस्थामें वह बहुत-से लोगोंका नाम लिया करता था । अपने जीवनकी कई घटनाओं और सम्पत्ति आदिका विवरण देने लगा था । कभी-कभी वह अपने मनमें जोर-जोरसे लोगोंके नाम लेता और अपने-आपसे बातें करता हुआ स्वयंसे ही पूछता था कि अमुक-अमुक व्यक्ति कैसे होंगे ? एहमदने अपने गाँवका नाम खरेबी और अपने परिवारका नाम बोहमजी बताया था । कई बार एहमदके पिताने एहमदको बुरी तरह डाँटा-फटकारा और तबसे वह ये बातें अपनी माँ और नानी आदिसे किया करता था । एक दिन खरेबी गाँवका एक व्यक्ति कोरनाइल आया । उसे सड़कपर देखकर एहमदने पहचान लिया । इतना सब होनेपर भी एहमदके पिताने उसे खरेबी ले जाने और इस घटनाकी जाँच करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया ।

आखिरकार एक दिन एहमद और उसका पिता खोजकर्तासहित उस गाँवमें पहुँचे । खरेबी गाँव कोरनाइलसे प्रायः ४० किलोमीटरकी दूरीपर स्थित है । दोनों गाँवोंके बीचका रास्ता बहुत कठिन और दुर्गम है । खरेबी गाँव एहमदके पिताके लिये बिल्कुल नया गाँव था; क्योंकि उनके गाँवका खरेबीसे कोई आदान-प्रदान न था । यद्यपि बालक एहमद कई बार अपने गाँव जानेके लिये जिद करता, लेकिन उसके घरवालोंने उसे वहाँ जानेकी अनुमति नहीं दी थी । जब वह थोड़ा-सा बड़ा हुआ और अपनी टाँगोंपर चलने-फिरने लगा, तो वह विस्मयसे अपनी टाँगोंको देखता और सहसा प्रसन्न होकर अपनी माँसे कहता—'देखो माँ, मैं अपनी टाँगोंपर खड़ा होकर अब फिर-घूम सकता हूँ ।' माँको बालककी ये सभी बातें बड़ी अटपटी-सी लगती थीं ।

जब वह कुछ बड़ा हुआ और बोलना सीख गया तो

---

[१०] यहाँ ध्यान रखनेकी बात है कि आचार्य शङ्करादि सभी व्याख्याताओंने आहारका अर्थ भगवच्चरित्र-ज्ञान-श्रवणादि बताया है—'आह्रियते इत्याहारः शब्दादिविज्ञानं ··· तस्यां ··· सत्त्वस्य नैर्मल्यं भवति ।' (शांकरभाष्य)

उसने सबसे पहले कहा—‘महमूद’ और ‘जामिल’ । प्रायः वह जामिलकी सुन्दरताकी चर्चा करता था । वह किसी ट्रक-दुर्घटनाके विषयमें कहा करता था जिसमें कि एक ट्रक एक व्यक्तिके ऊपरसे गुजर गयी थी और जिसके फलस्वरूप उस व्यक्तिकी दोनों टाँगें कुचल गयी थीं ।

इस प्रकार कई वर्ष बीत गये । एहमद बड़ा हुआ, लेकिन खरेबी जानेकी बातें वह नहीं भूला । खोजकर्ता जब कोरनाइल पहुँचे और उसे लेकर खरेबी जानेका प्रस्ताव किया तो उसके माता-पिता नहीं माने । काफी समझाने-बुझानेपर वे उसे खरेबी ले जानेके लिये तैयार हुए । खरेबी पहुँचकर पता चला, एहमदद्वारा दिया गया बयान उस गाँवके एक २५ वर्षीय नवयुवकके जीवनसे मिलता-जुलता है । इस नवयुवकका नाम इब्राहीम बोहमजी था । खरेबी पहुँचकर पता चला कि इस २५ वर्षीय नवयुवककी मृत्यु रीढ़की हड्डीमें क्षयरोगके कारण हुई थी । मृत्युसे कुछ समय पूर्व वह चल-फिर नहीं सकता था । इसीलिये जब वह चलने-फिरने लगा तो अपनी टाँगोंकी ओर देखकर सहसा प्रसन्न होता था ।

इब्राहीम बोहमजीका एक सुन्दर कन्यासे प्रेम था । इस कन्यासे उसका विवाह नहीं हुआ था । उसकी मृत्युके पश्चात् उस कन्याने एक अन्य व्यक्तिसे विवाह कर लिया था । खरेबी जानेपर इब्राहीमसे उस कन्याके सम्बन्धोंके विषयमें सभी बातें सही पायी गयीं । खरेबी पहुँचकर एहमदने वह स्थान भी दिखाया, जहाँपर कि वह कन्या रहा करती थी । इस कन्याके विषयमें ही एहमद— ‘जामिल’ कहकर अपने भाव प्रकट करता था ।

खोज करनेपर यह भी ज्ञात हुआ कि जिस ट्रक-दुर्घटनाके विषयमें वह कहा करता था, वह साहिद बोहमजीके साथ हुई थी । साहिद बोहमजी उसका पड़ोसी और मित्र था । उसकी मृत्युसे इब्राहीमको गहरा धक्का लगा था । अतः वह अक्सर ट्रक-दुर्घटनाकी चर्चा करता और बाल्य-कालमें ट्रकोंसे बहुत डरा करता था ।

जब एहमद खरेबीमें इब्राहीमके मकानमें पहुँचा उसके सामने कई चित्र प्रस्तुत किये गये । इनमेंसे अपने स्वर्गीय भाई भाउदका चित्र उठा लिया और कि यह चित्र उसके भाईका था । इसी प्रकार अपनी हुडाके चित्रको पहचान लिया । जब अचानक बहिन हुडा पर्देसे बाहर आयी और पूछा कि ‘वह कौन है बालकने अत्यन्त स्वाभाविक स्वरमें उत्तर दिया— तुम मेरी बहिन हो—हुडा ।’ उपस्थित सभी व्यक्ति हो गये ।

एहमदको शिकार खेलनेमें विशेष रुचि है । वह अपने पितासे जंगलमें जाकर शिकार खेलनेके लिये करता है । एहमदने यह भी कहा था कि ‘उसके पास बंदूक और एक रायफल थी, जिससे वह प्रायः शि खेला करता था ।’ खोज करनेपर पता चला कि इब्राही वास्तवमें शिकारका बड़ा शौक था । इसी प्रकार यह ज्ञात हुआ कि इब्राहीमके पास सचमुच एक बंदूक राइफल थी ।

घटनाओंकी खोज

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्या जयपुर पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक रीतिसे इस समस व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है । इस समस और भी पूर्णरूपसे अध्ययन किया जाय, इसके लिये है कि पाठकोंद्वारा विभागके पास अधिक-से-अ घटनाओंकी सूचनाएँ भेजी जायँ एवं घटनाओंके अध्य लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों । अतः पाठक महानुभा निवेदन है कि वे घटनाओंकी सूचना निम्न पतेपर भे कष्ट करें—

प्रोफेसर हेमेन्द्र बनर्जी,
संचालक,
पैरासाइकोलाजी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राजस्थान)

संशयकी ज्वाला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

कभी बचपनमें पढ़ा था कि विश्वास जीवनका रथ है और उदारता एवं सहिष्णुता उसके अश्व हैं। बहुतोंने पढ़ा होगा। यदि हम अपने और अपने चतुर्दिक् फैले जीवन-विस्तारपर दृष्टि डालें तो हमें पग-पगपर इसकी सार्थकताके दर्शन होंगे। सत्य बहुधा कल्पनासे भी विचित्र होता है। हम सिनेमा देखने जाते हैं; नाटक देखकर आँखें तृप्त करते हैं; किंतु हमारे आस-पास जो नाटक होते रहते हैं, उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। मानव आत्मतत्त्वप्रधान प्राणी है। इसी आत्मतत्त्वके अनुभवसे आत्मविश्वासका जन्म होता है और जब मनुष्यमें आत्मविश्वास आता है, तब उसमें दूसरोंका विश्वास करनेकी वृत्ति जगती है। जो दूसरोंका विश्वास नहीं कर सकता, वह अपना भी विश्वास नहीं कर सकता। **'संशयात्मा विनश्यति'**—जो संशयालु है, उसे तो नष्ट होना ही है। किंतु दुःख यह है कि संशयालु प्राणी केवल स्वयं नष्ट नहीं होता—वह अपने साथ दूसरोंको भी ले डूबता है।

यदि हम अपने या अपने मित्रों या पास-पड़ोसके कुटुम्बोंमें देखें तो देखकर ठक-से रह जायँगे कि संशयने क्या कर दिया है। संशय एक ऐसा विष है जो आदमीको खेला-खेलाकर मारता है; आदमी जितना उछलता है, कूदता है, उसके जालसे निकलनेका प्रयत्न करता है, उतना ही उसमें फँसता जाता है। जिन बातोंका अस्तित्व नहीं, वे उसके जादूसे सत्य हो जाती हैं; अर्थ अनर्थ हो जाते हैं; प्रकाश अन्धकार बन जाता है। एक आग जो मन-प्राण-शरीर सबको बुरी तरह जलाती है और देखते-देखते जीवनकी सुन्दर आकर्षक अट्टालिकाएँ भस्म हो जाती हैं।

मेरा दुर्भाग्य है कि ऐसे अग्निकाण्ड मैंने अपने जीवनमें बार-बार देखे हैं—अग्नि जिसे लगाने और जलनेवाले प्राणी प्रायः एक होते हैं। ऐसा ही मर्मवेधक काण्ड मैं आजकल देख रहा हूँ, छटपटाकर रह जाता हूँ और कुछ कर नहीं पाता। बात यह है कि मेरे एक मित्र हैं, स्वजन भी हैं। अच्छी भली गृहस्थी है। खाते-पीते लोग हैं। मित्रको अपने चारित्र्यपर अभिमान है; व्यसनोंसे प्रायः अछूते हैं। विद्वान् व्यक्ति हैं। पत्नी भी सीधी-सादी, भली और प्रेमल है। दोनों एक-दूसरेको चाहते हैं। मित्रने अपनी पत्नीके लिये बहुत कष्ट सहा है; अपनी सेवा, निष्ठा और मनोयोगके बल कई बार उसे मृत्युके भयानक जबड़ोंसे वे बाहर निकाल लाये हैं।

तीन महीने हुए, हमारे मित्रकी पत्नी फिर बीमार पड़ीं; खाटसे लग गयीं। पुरानी पेचिश थी। उसीमें ज्वर आने लगा। फिर आन्त्र-क्षयका संदेह हुआ। दो बच्चे थे; स्कूल जाते थे। घरमें नौकर था; वही भोजन बनाता था। कोई दूसरी स्त्री न थी। माँ थीं, किंतु बूढ़ी; अशक्त। वह अपनी एक दूसरी संतानके साथ रहती थीं—दूरके एक नगरमें। और यदि वह आ भी जातीं तो घर-गृहस्थी या रोगिणीकी देख-रेख करना उनके बूतेके बाहर था। कुछ दिन चला; पति रात-दिन पत्नीके लिये डाक्टर, वैद्य; दवा-दारूमें दौड़ते रहते; जीविकोपार्जनका कार्य तो था ही। डर लगने लगा कि वे भी बीमार पड़ जायँगे। तब रुग्णा पत्नीके बार-बार आग्रहपर उनकी कुमारी बहिन घरकी देख-रेखके लिये बुला ली गयी। बड़ी सुशील, सेवापरायण, हँसमुख बालिका थी वह। रात-दिन सेवामें लगी रहती; बच्चोंको नहलाती-धुलाती, तैयार करती और खिला-पिलाकर समयपर स्कूल भेजती; बहिन-बहनोईके लिये तो जान देती थी कोई कष्ट उन्हें न हो, इसका सदा ध्यान रखती। बड़े आग्रह और मनुहारसे जीजाजीको खिलाती; कभी समय मिल गया तो उनके पास बैठकर कुछ पढ़ती या चच करती। स्वभावकी मृदुल, प्रफुल्लित, विनोदिनी कुमारिका उसे क्या पता कि उसकी निर्दोष हँसी किसीके हृदयमें नरकके अंधकारकी सृष्टि कर रही है; उसे क्या ज्ञान कि उसकी सहजता-सरलता, उसका आग्रह और मनुहार, उसक सेवाका अमृत ही कहीं विष बन रहा है; और वह वि उसीकी मातृतुल्या भगिनीके हृदयमें शत-शत सर्प-दंशनोंक ऐंठन उत्पन्न करता है। जीवनकी वक्र रेखाओंसे अपरिचि लड़की अपनी सहज-सरल राहपर चलती रही। जीजाज दवादारू लिये-दिये शामको थककर चूर होकर घर लौटते पत्नीके अज्ञात भविष्यकी चोटसे घायल, बोझसे पिस रहे निराश एवं थके हुए पतिको खाने-पीनेके प्रति स्वभावत उदासीनता-सी रहती; कभी भूख मर जाती। बालिका उ

हँसाकर, मनाकर, आग्रह-अनुरोध करके खिलाती; उनके निराश मानसपर उसके मुस्कानकी चाँदनी फैल जाती। कभी वह बालिका खिलखिलाहट और विनोदमें घरपर छायी उदासीका घूँघट ऊपर उठा देती। इधर यह होता, उधर रुग्णा गृहिणी दाँत पीस-पीसकर रह जाती; ओठ काट लेती; क्रोध और आवेशमें छिपाकर दवा फेंक देती। चन्दनके हृदयमें धुवाँ भरने लगा।

कुछ दिनोंतक फोड़ा अंदर-ही-अंदर रिसता रहा; उसकी सोंपर रहस्यका पर्दा पड़ा रहा। अच्छे चिकित्सकोंके होते, च्छी-से-अच्छी दवाइयोंके होते, ममतापूर्ण चिकित्साके होते मारकी बीमारी बढ़ती गयी।

फिर एक दिन फोड़ा फूट गया और बेतरह मवाद कला। एक दिन रुग्णाने दवा खानेसे इन्कार कर दिया। छने और आग्रह करनेपर अंदरका रोष रोनेमें उभरा, फिर टूक्तियोंमें उतरा, यहाँतक कि गालियोंमें बिखर गया। हिन, जो बहिनके लिये माँ थी, कालभुजंगिनी हो उठी र दाँत पीसकर बोली—‘क्यों री, इसीलिये तुझे बुलाया कि तू मेरे ही सौभाग्यपर दाँत लगाये ?’ सरल बालिका ी-सी बहिनकी ओर देखती रह गयी। कुछ बोल न की। होश होनेपर बोली—‘कह क्या रही हो जीजी ! में हो ?’ जीजी आग हो गयीं। बोलीं—‘हाँ रे, मैं बेहोश मैं अन्धी हूँ; तभी तो कलकी छोकरी तू मुझे चरा रही ! मैं क्या तुम दोनोंकी आँखें नहीं पहिचानती ? तेरी नी नहीं देखती ? ये प्यासभरी आँखें, यह मनुहार ! । मैं तुझसे ज्यादा तेरे जीजाको नहीं जानती ? तू बहिन ं, डाकिनी है, चुड़ैल है। निकल जा मेरे घरसे !’

बहिन चुप रही; फिर शान्त और दृढ़ स्वरमें बोली—ऊँगी तो जरूर ही जीजी ! घर तुम्हारा है, मैं कौन हूँ घरकी ? जाऊँगी और फिर शायद कभी इस घरमें न ऊँगी। परंतु इतना कहे जाती हूँ कि सचमुच तुम आज-जीजाजीको नहीं पहिचान सकीं। तुम उनकी स्त्री र हो किंतु सिर्फ नामकी। सौभाग्य तो तुमने उसी दिन दिया जिस दिन उनमें तुम्हारा विश्वास खो गया, जिस तुम्हारे मनमें उनके लिये संदेह उभरा। तुमने उसको दिया, जो केवल तुम्हारा था। तुमने देवता-सा पति था, किंतु पाकर भी देवताको पा न सकीं, पहिचान न । यह न जान सकीं कि वे तुम्हें कितना चाहते हैं, तुम्हारे लिये कितना परीशान हैं, कितनी वेदना-व्यथा भोग रहे हैं। मैं तुमलोगोंके लिये कन्या-तुल्य थी; जीजाजीको पिता समझती थी; परंतु तुमने अपनी कल्पनामें देवताको राक्षस और बहिनको, पुत्री-सी बहिनको पिशाची मान लिया। जाती हूँ और फिर न आऊँगी।’

और लड़की चली गयी—रोषमें बेखाये-पिये, एकाकी, खतरा उठाकर, दूर-दराजका सफर करके गयी। बिना जीजासे मिले गयी; बिना बहिनके आशीर्वादके, बिना प्रेमभीनी बिदाईके गयी। बच्चे मौसीको जाते देख रो दिये। इतने ही दिनोंमें वे ऐसे घुल-मिल गये थे। दुबककर एक ओर पड़ रहे; इस क्रोधके विषसे जर्जर होकर रोगिणी बेजान, स्वयं आहत, मृतक-सी पड़ी रही। हँसता हुआ घर इतनी देरमें श्मशान हो गया।

शामको जब गृही घर आये तो यह सब मालूम हुआ। बच्चोंने कहा, नौकरने कहा; पत्नी कुछ न बोली। वैसे तो वह बड़े गम्भीर व्यक्ति थे; दुःख-सुख सब हँसते-हँसते सह लेते थे। किंतु इस बार न जाने क्या हुआ कि ऐसे खड़े रह गये मानो काठ मार गया हो। उसी रात घर छोड़कर चले गये। कहाँ गये, पता नहीं। अब स्त्री रोती है, सिर पटकती है, हाय करती है, खाना नहीं खाती, दवा फेंक देती है, कभी हँसती है, कभी फूटकर रो पड़ती है। कभी कहती है—‘मैं जीकर क्या करूँगी ? वे चुपचाप चले गये। मुझे दो बातें कहते, मुझे मारते, मेरी गलतीपर ताड़ना करते तो इससे अच्छा होता। पानेके लिये मैंने उन्हें खो दिया। क्या जानती थी कि यह परिणाम होगा ?’ बच्चे इधर-उधरसे आते हैं; माँको सहमी आँखोंसे देखते हैं, पूछते हैं—‘अम्मा, बाबूजी कहाँ हैं ? क्या अब हमारे लिये मिठाई न लायेंगे ?’ माँ हाय करती है, रो देती है।

मित्रको मैं बहुत प्यार करता था। उनकी सरलता एवं सहधर्मिणीके प्रति उनकी सच्चाईके लिये मेरे हृदयमें उनका बड़ा मान था। इसलिये मैं रोया हूँ; आज भी उद्विग्न हूँ। मित्र-पत्नीको बहुत सान्त्वना दी है; समझाया है, शान्त किया है। पतिके लौट आनेका आश्वासन दिया है, किंतु मैं जानता हूँ वे दृढ़निश्चयी हैं; उन्हें बड़ी गहरी चोट लगी होगी, तभी वे चले गये। चले गये हैं फिर कभी न आनेके लिये। चले गये हैं क्योंकि उनको अप्रत्याशित आघात लगा है। चले गये हैं कि जहाँसे बिजली गिरी तहाँसे

प्रहारकी उनको कभी आशा न थी। मैं जानता हूँ, वे पत्नीको कितना चाहते थे; घंटों मुझसे उसके बारेमें बातें करते, सोचते, भविष्यके सपनोंके महल बनाते रहते थे। उनको लगा होगा कि जिसकी ओर देखकर सब दुःख-कष्ट सहता रहा, जिसकी आशा दुनियाकी और निराशाओंको सहनेकी शक्ति देती थी, वह भी इतना क्षणभङ्गुर, इतना अविश्वसनीय निकला, तब यहाँ क्या लेकर रहूँगा ?

यह घर, जहाँ एक दिन प्रेमकी ज्योति जली थी और जहाँ मधुरिमाने हृदयोंका अभिषेक किया था, आज बिल्कुल टूट गया है; ध्वंस हो गया है। गृही चला गया है; और गृहिणी अपंग, असहाय और विच्छिन्न-सी रह गयी है। रोती है और छटपटाती है; छटपटाती है और रोती है। परंतु बाण प्रत्यञ्चासे निकल चुका है और अब लौटकर नहीं आयेगा।

तार्किक कहेंगे, पतिको इस सीमातक नहीं जाना चाहिये था। दूसरे कहेंगे कि पत्नी क्या सचमुच अपराधिनी थी, क्या समाजमें पर-स्त्रीसे घनिष्ठताका कुफल रोज दिखायी नहीं पड़ता ? तब उसे संशय हुआ तो कुछ असाधारण बात तो नहीं। परंतु तर्कसे जीवनकी समस्याओंका उत्तर नहीं मिलता। तथ्य यह है कि संशयकी आगने एक हरी-भरी गृहस्थीको देखते-देखते जलाकर राख कर दिया है। गृही टूट गया; गृहिणी टूट गयी; और बच्चे असाधारण तनावके वातावरणमें जी रहे हैं; क्या होगा, ईश्वर जाने। यदि मित्र लौट भी आये तो तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं पड़ता; जो पहले एकहृदय थे, उनके बीच संशयकी खाईं तब भी अट्टहास करती रहेगी। शरीर मिलें किंतु हृदय टूटकर फिर न जुड़ेंगे। (पर मैं चाहता हूँ, भगवान् करें, वे आवें। पूर्ववत् एकहृदय हो जायँ। मेरी धारणा असत्य हो !)

यह कोई काल्पनिक घटना नहीं है। अपने ढंगकी कोई अकेली घटना भी नहीं है। ऐसी घटनाएँ मैंने अनेक देखी हैं; बहुतोंने देखी होंगी। संदेहमें अपनी कल्पना-संततिको गुणित करनेकी अद्भुत शक्ति होती है। दृष्टि ही बदल जाती है। रंगीन आँखोंमें कुछ-का-कुछ दिखायी पड़ता है। निर्दोष हँसी वासनाके आवर्त्तोंमें ढक जाती है; उदारता-पर बलात् स्वार्थका रंग चढ़ा दिया जाता है। प्रत्येक बहिन कुलटा बन जाती है; प्रत्येक भाई केवल वासना और कामुकताका भारवाहक होकर रह जाता है। प्रत्येक अङ्ग-भङ्गी एक गूढ़ अर्थसे भर जाती है !

मैं यह नहीं कहता कि पुरुषकी ओरसे ऐसी शङ्काएँ नहीं पाली जातीं; नहीं, इस मामलेमें पुरुष स्त्रीसे बहुत गया-बीता है; वह तो स्वभावतः सशङ्क होता है। पुरुष या स्त्री, दोनों ही दोषी पाये जाते हैं। मेरे सामने तो ए घटना आ गयी और मैंने आपके सामने उसे रख दिय है। मैं यह भी नहीं कहता कि ऐसी घटनाएँ होती नहीं जिनमें ऊपरकी शालीनता आन्तरिक कल्मषका आवर बनायी जाती है; मैं तो कहता हूँ कि प्रायः ऐसा ही होता और आजके भोगप्रधान युगमें हमें सावधान तो रहना चाहिये। किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि प्रत्येक नारी सम्पर्कको संदेहसे देखना ऐसा विष है, जो जीवनक हरियालीको सुखा देता है और उसकी सम्पूर्ण गति कुण्ठित कर देता है। स्त्री प्रायः स्त्रीके प्रति उससे क अनुदार होती है, जितनी वह पुरुषके प्रति होती है। इसीलि जब उसमें संदेहका अङ्कुर उगता है तो फिर इस गति बढ़ता है कि रोकना कठिन हो जाता है। वह स्वयं जल है और दूसरोंको जलाती है और एक दिन सर्वस्व समा हो जाता है।

पहली बात तो यह कि जबतक बहुत गहरे कारण ए प्रमाण उपस्थित न हों, शङ्का और संदेहको मनमें लाना न चाहिये। दूसरी बात यह है कि यदि तुम्हारे मनमें ऐस संशय आ ही गया है तो उसमें अंदर-ही-अंदर घुलते रह एवं अनिष्टकारिणी कल्पनाओंमें डूबते जानेकी अपेक्षा य कहीं अच्छा होगा कि तुम एकान्तमें बैठकर प्रेमपूर्वक अप शङ्काओंपर बात कर लो। काँटेको हृदयमें रखनेकी जग उसे निकाल देना कहीं अच्छा होगा। विश्वासमें मनुष्य कु नहीं खोता; जहाँ खोनेका भान होता है वहाँ भी वही है ज बचा सकता है। यदि बातें ठीक भी हैं तो आस्था ए विश्वासका प्रेमल आचरण नरकमें भी स्वर्गकी प्रतिष्ठा क सकता है। वह डूबते मानवको धारासे निकालक फिर जीवनके सुरम्य तटपर खड़ा कर सकता है किंतु संशयमें तो मात्र विनाश ही है। संशयकी चिनगारी एक बार जलकर फिर बुझना जानती ही नहीं; हृदयका सारा रक्त पीकर भी वह नहीं बुझती। तुम जानते-बूझते इस आगसे मत खेलो। मैंने ऐसे अनेक दृश्य देखे हैं, जिनमें सती-साध्वी, सरला, निष्ठावती नारी अपने प्रेम, सेवा और सौहार्दके द्वारा पतिको वासनाओंके यम-पाशसे बाहर निकाल लायी है और अनुतापदग्ध पतिका अश्रुधवल मुख पुनः दाम्पत्यके सरल सुखद स्नेहसे चमक उठा है; किंतु मुझे एक भी दृष्टान्त ऐसा नहीं मिला है, जिसमे

संशयात्मा नारीने अपना या पतिका कोई कल्याण किया है। यहाँ जो बात स्त्रीके लिये कही गयी है, वही सब पुरुषके लिये भी सत्य है।

लोग यह भूल गये हैं या भूलते जा रहे हैं कि सम्पूर्ण शक्ति और सुखका स्रोत आत्मगत है। अपनेमें डूबकर ही अपनेको पाया जा सकता है। तुम्हारा जो कुछ है तुम्हारे ही पास है, तुम्हारे ही अंदर है। दूसरेपर तुम अपना प्रकाश फेंको, वह उज्ज्वल, धवल, पूत हो जायगा; दूसरेपर अन्धकार फेंकनेपर तो धवल मूर्ति भी कालिमामय दिखायी पड़ेगी।

इस जगत्में प्रभुशासन ही चलता है !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण)

हम समझते हैं कि पापको कोई देखता नहीं है तथा पुण्यका प्रत्यक्ष फल प्राप्त नहीं होता है; किंतु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। समाजमें निरन्तर एक ईश्वरीय शासन-विधान चल रहा है। हमें चर्मचक्षुओंसे यह दृष्टिगोचर नहीं होता, पर अलक्षितरूपसे यह प्रभुशासन कभी मन्द नहीं पड़ता। पुण्य सदा फलता है तथा पापीका नाश होता है। यह निश्चित है।

उस व्यापक शासकके सामने संसार-पट खुला हुआ है। कोई पर्वतपर छिपकर भी पाप कर रहा हो, वह भी उसे दीखता है। कोई गुप्त-दान या चुपचाप पुण्य कार्य कर रहा हो, उसका प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। सदाचारियोंके पुण्य कार्योंसे ही पृथ्वी टिकी हुई है।

कोई बचकर चलता हो, छिप-छिपकर काम करता हो, अकड़-अकड़कर गर्वमें डूबा हो, उस शासकसे कोई भूला हुआ नहीं हो सकता।

जहाँ दो व्यक्ति गुप्त बैठकर भी बातें करते हैं, वहाँ प्रभु तीसरा बनकर सम्मिलित रहता है।

(अथर्ववेद ४। १६। २)

ज्ञान-चक्षु खोलनेवाली कुछ घटनाएँ

(१)

एक बड़े लोकप्रिय और सफल जजने, जिन्हें ३२ वर्षोंका अनुभव प्राप्त है तथा जिन्होंने निष्पक्षता, सतर्कता और न्याय-कुशलतामें कीर्ति प्राप्त की है, अपने जीवनकी अनेक घटनाएँ सुनायी थीं, जिनसे प्रभु-शासनकी सत्यता स्पष्ट होती है—

ईश्वरप्रेरणासे न्यायमें सहायता मिली

सन् १९३३ की घटना है।

वह जमाना रजवाड़ोंका था। राजघरानोंके सम्पर्क और शिफारिशपर ही नौकरी और पदोन्नति होती थी। मेरी नौकरी भी जोधपुर राजघरानेकी शिफारिशपर लगी थी। कोई प्रतियोगिता या चुनाव नहीं हुआ था। उन्होंने मुझे उपयुक्त समझा। बस, उनके अनुग्रहसे मैं जज बन गया। मेरा रोम-रोम उनके प्रति उपकारोंका ऋणी था। वे मेरे अन्नदाता या यों कहूँ, जीवनदाता ही थे।

संयोग कहिये या मेरी अग्निपरीक्षा कहिये, एक बार मेरे कोर्टमें एक मुकदमा आया, जिसमें उन्हीं व्यक्तिने शिफारिश की, जिन्होंने मेरी नौकरी लगायी थी।

मैंने मुकदमेका अध्ययन किया तो मैं इस नतीजेपर पहुँचा कि ज्यादती राजघरानेकी ओरसे ही हुई थी और वहींसे सरकारी काममें हस्तक्षेप भी किया गया था।

मेरे सामने पेचीदा सवाल था। एक ओर उन महाशयकी शिफारिश थी और दूसरी ओर जजकी हैसियतसे न्यायका निर्णय मेरे ऊपर था। एक ओर कृतज्ञताका बोझ, तो दूसरी ओर निष्पक्ष न्यायका आन्तरिक तकाजा।

एक अजीब मानसिक उथल-पुथल थी। भावना और कर्त्तव्यके संघर्षने मुझे व्यथित कर डाला। मैं किधर निर्णय दूँ ! मुझे विक्रमादित्यके न्यायासनकी प्राचीन विश्रुत कथाएँ बार-बार कर्त्तव्यकी ओर ठेल रही थीं, साथ ही राजघरानेके प्रति वफादारी अपनी ओर खींच रही थी।

मैं सोचता, 'राजघरानेके पक्षमें निर्णय देनेसे मेरा

स्वार्थ सधता है और यदि मैं राजघरानेके विरुद्ध फैसला देता हूँ तो मेरी नौकरी मिट्टीमें मिल सकती है ।'

फिर मेरा विवेक जागकर मुझे सावधान करता—'तू जजकी कुर्सीपर बड़ी जिम्मेदारीकी जगह बैठा है । न्यायका दण्ड तेरे हाथमें है । तुझे नीर-क्षीर अलग-अलग करना है । अपराधी और निर्दोषकी परख करनी है । यदि अपराधीको दण्ड न मिला तो तू न्यायासनसे गिर जायगा । विक्रमादित्य-की आत्मा तुझे धिक्कारेगी । सत्य और न्यायका मार्ग ही ग्रहण कर ।'

यह मानसिक संघर्ष मुझे व्यग्र करता रहा । एक ओर समाजमें प्रतिष्ठाका लालच था, दूसरी ओर ईश्वरीय विधानके विरुद्ध कुछ करनेका गुप्त भय ।

मेरी आत्मा चीत्कार कर उठी । मनमें अनेक भाव थे—'हे भगवन् ! मैं क्या करूँ ? कर्त्तव्य-बोध दो मुझे !'

अन्तमें मेरे भीतर प्रभु बोले । मैंने सुना, कोई चुपचाप कह रहा था—

'सांसारिकताकी संकुचितता त्याग दे । निष्पक्ष न्याय कर । तू ईश्वरका प्रतिनिधि है । याद रख, तेरे हाथों शिवत्व स्थिर रहना चाहिये ।'

बस, मैंने निर्णय कर लिया । संशयके बादल छँट गये । अब मैं भावनाके कीचड़से मुक्त हो विवेक और न्यायकी सीधी सड़कपर चल रहा था । मेरे हाथ फैसला लिख रहे थे । मैंने क्या लिखा, यह मुझे मालूम नहीं । पर फैसला लिखा गया । दृढ़तापूर्वक सच्चे मनसे लिखा गया ।

सबको आशा थी कि मेरा निर्णय राजघरानेके पक्षमें होने जा रहा था ।

दूसरे दिन सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । फैसलेमें मैंने राजघरानेको दोषी ठहराया था और उनके विपक्षमें फैसला देते हुए सजा भी दी थी । अपने ही एक मित्र और हितैषी-को स्वयं मेरी ही कलमसे सजा मिल रही थी ! मैं सोचता था कि मेरा फैसला राजघरानेको हमेशाके लिये मेरा शत्रु बना देगा । सम्भव है, वे मेरा अहित भी कर बैठें । नौकरी ही छूट जाय ।

लेकिन-आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !!

तीन दिन बाद उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने पीठ ठोककर शाबासी दी और कहा, 'हमारा जजका चुनाव सही निकला । कसौटीपर तुम खरे उतरे । यदि तुम इस मुकदमेमें न्यायसे गिर जाते तो हमें हार्दिक क्लेश होता । तुम्हारा काम न्याय करना है । कौन जीतता है, कौन हारता है, कौन सजा पाता है, कौन मुक्त होता है—यह देखना नहीं । तुम इस परीक्षामें सच्चे उतरे । तुमपर हमें गर्व है ।'

वह दिन मेरी जिंदगीका मोड़ था । तबसे भगवान्की कुछ ऐसी कृपा और प्रेरणा रही कि मेरे अधिकांश फैसले न्यायकी दृष्टिसे सराहे गये । सजा पाकर भी अपराधी संतुष्ट रहे । मैं मानता हूँ कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें मनुष्यकी सर्वोत्तम उपलब्धियाँ न्याय और तर्क हैं । न्यायालय, न्यायाधीश और वकील मानवजातिके आध्यात्मिक विकासके प्रतीक हैं ।

भगवान् स्वयं मुश्किलें आसान करते हैं

एक बारकी बात है कि असेम्बली-चुनावसम्बन्धी चार मुकदमे मेरे पास निर्णयके लिये आये । काँग्रेसकी ८९ तथा गैर-काँग्रेसी पार्टीकी ८७ वोट पड़ी थीं । केवल तीन वोट खारिज कर देनेपर समूची सरकार बदल सकती थी । बड़ा जोर-शोर था । दोनों पार्टियाँ इस प्रयत्नमें थीं कि जजको प्रभावित कर दें और अपनी सरकार बना लें । जनतामें भी बड़ी हलचल और सरगर्मी थी । रोज उत्तेजित सभाएँ होतीं और नागरिक शान्ति-भङ्ग होनेका भय था । पुलिसकी सरदर्दी बढ़ी । मेरी निष्पक्ष नीतिके कारण मेरे पास सीधे सिफारिशके लिये तो कोई नहीं आया, किंतु मुझतक यह सूचना पहुँची कि मेरे निर्णयसे भारी सनसनी फैलेगी और कुछ राजनीतिक गुट नाराज हो जायँगे । अजीब समस्या थी ।

मैंने मनको टटोला । आत्माको झकझोरा, तो फिर अन्तर्ध्वनि आयी । मैंने सुना—

'मेरा शरीर परमात्माका है । मेरी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और प्राण ईश्वरके द्वारा संचालित होते हैं । मेरे मन, वचन, कर्ममें किसीका अनिष्ट नहीं है । मैं अभय हूँ । सत्य और न्याय मेरे आदर्श हैं । मेरे लिये परमात्माने संसारमें नीर-क्षीर-विवेक करनेका कार्य दिया है । जहाँ परमात्मा है, वहाँ मैं हूँ । जहाँ मैं हूँ, वहाँ न्याय है । संसारमें मेरा कोई द्वेषी नहीं, मेरे द्वारा किसीपर अन्याय नहीं होगा ।'

मैंने अर्जियोंको खूब अध्ययन किया । इतना सूक्ष्म अध्ययन शायद पहले कभी न किया होगा । अर्जियोंमें

कुछ-न-कुछ त्रुटि निकली और रद्द कर दीं। सरकार ज्यों-की-त्यों रही। काँग्रेसकी ही गवर्नमेण्ट बनी रही। दो वोटका अन्तर ही बना रहा। मेरे निर्णयसे दोनों ही पार्टियाँ प्रसन्न थीं। मेरी लोकप्रियता दोनोंमें समानरूपसे बनी रही।

ईश्वरके प्रति गुनहगार

एक मुकदमा आया। एक युवतीको एक मजदूरने छेड़ा था। पुलिसके सब-इन्सपेक्टरने उस मजदूरको मेरे सामने पेश किया। युवतीसे अपराधी पहचनवाया गया। उसने उसे पहचानते हुए कहा कि 'इसी व्यक्तिने मुझे छेड़ा था।' दूसरा कोई व्यक्ति नहीं था। बस, मैंने सजा सुना दी। उस मजदूरको सजा दे दी गयी।

कोई डेढ़ दो मास बाद वही बुजुर्ग थानेदार मेरे पास आये और उस पुराने मुकदमेका हवाला देते हुए बोले, 'जज साहब, आप तो कभी धोखा नहीं खाते थे। उस मुकदमेमें तो आपसे गलती हुई।'

'यह क्या कहते हैं, आप?' मैं आश्चर्यमें पड़ गया। 'हे भगवन्! यह क्या, मेरे हाथों अन्याय कैसे हुआ?'

फिर नये सिरेसे छानबीन की तो मालूम हुआ कि मुकदमा बनाया गया था। असली बात यह थी कि एक दुश्चरित्र ठेकेदारके यहाँ वह युवती मजदूरनी मजदूरी करने आयी थी और उसीने उसे छेड़ा भी था। पर उन दोनोंको रुपया रिश्वत देकर उस ठेकेदारको मुकदमेसे बिल्कुल निकाल दिया गया था। लड़कीने थानेमें रिपोर्ट दी थी, पर पुलिसने मामला कुछ और ही ढंगसे पेश किया था।

वास्तवमें मुझसे गलती हो गयी थी, यद्यपि मेरा कसूर नहीं था। अपने हाथों यह गलती मुझे इतनी वेदनापूर्ण लगी कि मानसिक आघातमें मैं तीन दिन बुखारमें पड़ा रहा। बड़ी आत्मग्लानि हुई। न्यायके प्रति, अपनी आत्माके प्रति तथा ईश्वरके प्रति मैं गुनहगार था। वह बुखार प्रभुके द्वारा दी हुई सजा थी।

गुप्त दैवी सहायता

अभी कुछ दिनका एक अनुभव है। रामतारण चक्रवर्ती अपनी पत्नी और बच्चोंके साथ छोटे सालेके विवाहमें जा रहे थे। हवड़ा स्टेशनसे उन्होंने गाँवके लिये एक बैलगाड़ी ली। गाड़ीवानको संदेह हो गया कि इनके पास बहुत-सा जेवर और रुपया है। उसने उन्हें लूटनेकी तरकीब सोची। बीचमें एक नदी पड़ी। यहीं उस दुष्टने बैलगाड़ीको खड़ा कर दिया और बोला, 'पास ही मेरा गाँव है। दो आदमियोंको ले आऊँ, तब यह गाड़ी नदीके पार जा सकेगी।' यह कहकर वह चुपचाप चला गया। कुछ देर बाद वह दुष्ट गाड़ीवान दो लठैतोंको लाया और रामतारण बाबूको छुरा दिखाकर उनका जेवर और रुपया लूट लिया। साथ ही शोर मचानेकी कोशिशमें हत्या करनेकी धमकी दी। इधर रामतारण मन-ही-मन ईश्वरीय रक्षाके लिये प्रार्थना कर रहे थे। एकाएक उन्होंने क्या देखा कि बैल पागल-से हो गये और रस्सा तुड़ा सींगोंसे उन दुष्टोंको मारने लगे। बैलोंका पागलपन बढ़ता गया। यहाँतक कि उन्होंने तीनों व्यक्तियोंको इतना घायल कर दिया कि वे जमीनपर रेंगने लगे। इतनेमें और यात्री भी उधरसे आ निकले। उनकी सहायतासे रामतारणको सारा जेवर और धन वापस मिल गया। भगवान्की गुप्त दैवी सहायताका यह चमत्कार है।

ईश्वरने मौतके मुँहसे बचाया

युद्धकालका एक सच्चा अनुभव है।

एक सैनिकके मुँहपर गोली लगी। वह मरा तो नहीं, घायल होकर तड़पने लगा। डाक्टरने उसे ऑपरेशनकी सलाह दी।

सब लोग समझते थे कि यह सिपाही घातक पीड़ासे सुबह तक जरूर मर जायगा; लेकिन सैनिकको प्रभुकी दैवी शक्तिमें अखण्ड विश्वास था। वह चुपचाप प्रार्थनाद्वारा उसी शक्ति-स्रोतसे ताकत खींचने लगा। उसने प्रभुसे प्रार्थना की—

'हे शक्तिके स्रोत! मुझे इतनी शक्ति दीजिये कि मैं इस विकट ऑपरेशनके कष्टको दृढ़तापूर्वक सहन कर सकूँ। मुझे कष्टनिवारक आत्मबल दीजिये। मैं अपनेको आपके हाथमें सौंप रहा हूँ। अब मेरा कोई अनिष्ट नहीं होगा।'

फिर उसने अनुभव किया कि ईश्वरीय शक्ति उसे मजबूत बना रही है। उसके शरीरके अणु-अणुमें शक्तिका संचार हो रहा है। परमात्माकी शक्ति उसे सम्हाले हुए है। उस आध्यात्मिक शक्तिको मनमें धारणकर वह निश्चिन्त

सो गया। प्रातः उठा तो उसे आश्चर्य हुआ। उसमें नयी ताकत भर गयी थी। लोग समझते थे कि वह मर चुका होगा, पर वह प्रसन्नतापूर्वक बोला—

'डाक्टर, मैं ऑपरेशनके लिये तैयार हूँ। मुझे उससे लाभ होगा। आप गोली निकाल दीजिये।'

सभी उसके साहसपर चकित थे। वास्तवमें उसका ऑपरेशन सफल हुआ और वह बहुत दिनोंतक नौकरी करता रहा। बादमें उसने बताया कि वह आध्यात्मिक शक्तिका अद्भुत प्रभाव था। ईश्वरीय विश्वासके द्वारा उसकी संकटकी घड़ी टली थी और वह मौतके मुँहमेंसे बचा था।

ईश्वरीय प्रेरणासे स्वयं अपनेको सजा

कभी-कभी ईश्वर स्वयं हमारे अंदर बोलता है और हम अपनी गलतियोंके लिये स्वयं अपनेको सजा देते हैं।

क्लोवर (साउथ करोलिना, अमेरिका) का एक समाचार है कि एक मेयरने, जो यहाँके स्थानीय जज भी हैं, अदालतमें अपने खिलाफ आरोप लगाये और स्वयंको दोषी पाया। सजा दी। मेयर साहबसे एक मामूली सड़कपर उनकी मोटरसे एक दुर्घटना हो गयी थी। उन्होंने अपने खिलाफ पेशी की और स्वयं अपनेको दोषी ठहराया। इसके लिये मेयरने स्वयं अपनेको १५ दिनकी कैद अथवा १५ डालर (७५ रुपये) जुर्मानेकी सजा सुनायी।

× × ×

मुरैनाका एक समाचार है कि १५ अगस्तके स्वतन्त्रता-दिवसके अवसरपर पुलिसके सम्मुख नगरा ग्रामनिवासी कुख्यात डाकू बल्देवसिंह और मुंशीसिंहने आत्म-समर्पण कर दिया। इनकी गिरफ्तारीके लिये ५००) रु०का इनाम घोषित था। कहते हैं कि डाकुओंको अपने निर्दय पाप-व्यवसायसे घृणा हो गयी और प्रायश्चित्तस्वरूप वे आत्म-समर्पणको तैयार हो गये।

भगवान् अपने भक्तकी उलझनें सुलझाते हैं

श्री ई० स्टेन्ले जोन्स अमेरिकाके प्रसिद्ध मिशनरी हैं। वे भारतमें धर्म-प्रचारके लिये आने लगे, तो स्वास्थ्य खराब हो गया। सबने सलाह दी कि उन्हें वापस लौट जाना चाहिये; पर वे न माने और अपने बढ़ते हुए संकटोंका बोझा लिये हुए भारत आ पहुँचे। थकानको मिटानेके लिये महीनों पहाड़ोंपर रहे। वे अपने संकटका वृत्तान्त इन शब्दोंमें लिखते हैं—

'मेरा दिमाग, शरीर और स्नायु सब थक चुके थे। मेरी शक्ति पूरी तरह जवाब दे चुकी थी। मुझे भय था कि शारीरिक दृष्टिसे मैं जीवनभर बेकार रहूँगा। वह मेरे जीवनका अत्यन्त अन्धकारमय समय था। उन दिनों मैं लखनऊमें कई सभाओंका आयोजन कर रहा था। एक रात प्रार्थना करते समय एक ऐसी घटना घटी जिसने मेरे जीवनको पूर्णतया बदल दिया। प्रार्थना करते समय मैं अपने विषयमें बिल्कुल नहीं सोच रहा था।

एकाएक सुनायी पड़ा—'क्या तुम वह काम करनेके लिये तैयार हो जिसके लिये मैंने तुम्हें भारत बुलाया है?'

मैंने उत्तर दिया—'नहीं, भगवन्! मैं थक चुका हूँ। मेरी शारीरिक शक्ति जवाब दे चुकी है।'

उत्तरमें सुनायी पड़ा, 'यदि तुम वह सब मुझपर छोड़ दो और उसकी चिन्ता न करो, तो मैं सब सँभाल लूँगा।'

मैंने तुरंत उत्तर दिया—'प्रभु, जैसी आपकी इच्छा।'

मेरे हृदयमें बड़ी शान्ति मिली और वह मेरे अङ्ग-अङ्गमें व्याप्त हो गयी। कोई चुपचाप मेरी सहायताको आ गया था। मुझमें अपार शक्ति आ गयी थी। मैं खुशीसे फूला नहीं समाया। जब मैं रातको अपने स्थानपर लौटा, तो मेरे पाँव जमीनपर नहीं पड़ते थे। धरती पवित्र बन गयी थी। फिर तो मैं कई दिनतक दिनभर काम करनेके बावजूद रातको देरतक काम करता रहा। उस घटनाको अब वर्षों हो गये, पर मैं भूल नहीं पाता हूँ। मैं सब कुछ भगवान्पर छोड़ता हूँ और सदा भगवान् मेरी सहायता करते हैं।

मैं भगवान्के हाथमें सुरक्षित हूँ

श्री जोसेफ एल० रयान, सुपरवाइजर फोरेन डिविजन, रोयल टाइपराइटर कम्पनी, न्यूयार्कसे अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

'मैं मुकदमेमें फँसा था और उसके लिये मुझे बहुत भारी मानसिक बोझ और चिन्ताका सामना करना पड़ा। जब मुकदमा खतम हो गया, तब मैं गाड़ीमें बैठकर घर लौट रहा था। मुझे यकायक मूर्छाने घेर लिया। दिलकी बीमारी थी। मेरे लिये साँस लेना भी असम्भव था। जब मैं घर गया तो डाक्टरने मुझे इन्जेक्शन दिया। जब मुझे होश आया तो मैंने देखा मेरी अन्त्येष्टि क्रियाकी तैयारियाँ मौजूद थीं।

मैंने अपने परिवारके लोगोंके चेहरोंपर भयंकर विषाद देखा। मैंने जान लिया था कि मेरी नाव डगमगा रही थी। बादमें मुझे पता चला कि डाक्टरने मेरी पत्नीसे कह दिया था कि आध घंटेके अंदर शायद मेरी जीवन-लीला समाप्त हो जाय। मेरा दिल इतना कमजोर हो गया था कि मुझे हिलने-डुलने और बोलनेकी मनाई कर दी गयी थी।

मैंने अपनी आँखें बंद कीं और पूरी निष्ठा और सच्चे हृदयसे प्रार्थना की, 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। 'हे राम! होगा वही जो तुझे मंजूर होगा। मैं तुम्हारे हाथमें सुरक्षित हूँ।'

जैसे ही मैंने इस विचारको अपनाया, मुझे राहत मिली। मेरा मृत्युका डर विलीन हो गया। यदि भगवान्‌की अदृश्य शक्ति उस समय मेरी सहायता न करती तो मैं आजतक जिंदा न होता। मेरा विश्वास है कि 'इस विश्वमें प्रभु-शासन चल रहा है। पापकी सजा और पुण्यका मधुर फल प्रत्यक्ष यहीं मिलता है।'

इस संसारमें गुप्तरूपसे ईश्वरीय शासन-विधान चल रहा है

याद रखिये, गुप्तरूपसे इस संसारमें प्रभु-शासन चल रहा है। अच्छाईका फल अन्तमें उत्तम होता है। ईमानदारी और सदाचारसे किये गये कार्यका फल सदा उत्तम और स्थायी होता है। ईश्वरका वरदान सदा साधुपुरुषके साथ होता है। प्रभुके शासनमें सर्वत्र न्याय है। सम्भव है कुछ देर लगे, किंतु अन्तमें भलाई, ईमानदारी, कर्तव्यपालन, न्याय, निष्पक्षता, सदाचारका फल श्रेष्ठ ही होता है।

इसके विपरीत पापका कोई कार्य चाहे कितने ही छिपकर क्यों न किया जाय, ईश्वर उसे देखते हैं और देर-सबेर अवश्य सजा देते हैं। कोई भी दुष्कर्म बिना सजाके नहीं रह सकता।

आप जिन्हें समाजमें फलता-फूलता देखते हैं, वह उनके पूर्वकृत सत्कर्मों और पुण्यकर्मोंका ही प्रभाव है। पापी और बेईमान सजाके बिना बच नहीं सकता। पुण्यसे शाश्वत सुख और पापसे दुःख, व्याधि, रोग, शोक—यही प्रभुका शासन है।

वेदोंमें प्रभुके शासनके विषयमें स्पष्ट किया गया है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥
(अथर्व० ४ । १६ । २)

अर्थात् स्मरण रखिये (उस) व्यापक प्रभुके आगे संसार-पट स्पष्ट खुला हुआ है। (वे हर जगह अच्छे-बुरे कार्योंको देखते हैं।)

कोई ठहरा हुआ हो या चल रहा हो; कोई चलता हो, छिप-छिपकर चलता हो या कि अकड़-अकड़कर चलता हो, उस परम प्रभु परमात्माकी दृष्टिसे कुछ भूला हुआ नहीं हो सकता।

जहाँ दो व्यक्ति गुप्त (छिपकर) बैठकर भी बातें करते हैं और यह समझते हैं कि कोई नहीं सुन रहा है, वहाँ प्र तीसरा बनकर शामिल रहता है।

इसलिये पाप-पुण्य छिप नहीं सकता।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥
(अथर्ववेद ४ । १६ । ३)

अर्थात् प्रभुका शासन कहाँ नहीं है? उसके नेत्रोंसे क्या छिपा है? यह भूमि उसीकी है। यह महान् विस्तृत आकाश उसीका है।

दोनों सागर उस प्रभुकी कुक्षियोंके समान हैं और इस छोटेसे पानीमें भी विद्यमान हैं। (यदि पानीमें छिपकर भी कोई पुण्यकर्म किया जाय तो उसका श्रेष्ठ परिणाम और पापकर्म किया जाय तो कुपरिणाम निकलता है।)

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात् न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥
(अथर्ववेद ४ । १६ । ४)

अर्थात् चाहे कोई आदमी अपने पापकर्म (चोरी, हिंसा, पक्षपात, व्यभिचार, मद्यपान, झूठ, कपट इत्यादि) को छिपानेके लिये आकाशको भी पार करके निकल जाय, पर यह कब सम्भव है कि वह ईश्वरीय शासनसे बाहर हो सके!

याद रखिये, उस सबसे बड़े शासकके सतर्क दिव्य सिपाही इस संसारमें सर्वत्र चौकन्ने होकर पाप-पुण्यकी खोज कर रहे हैं और हजारों नेत्रोंसे रात-दिन भूमिके बीचमेंसे भी हमारे कार्योंका मूल्याङ्कन कर रहे हैं।

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको वि राजति ॥ (अथर्ववेद ६ । ३६ । ३)

अर्थात् प्रभुके न्यायकी दिव्य ज्योति दूर-से-दूर चमक

रही है। वही भूत और भावी कामनाओंका लक्ष्य है। उसीकी न्याय-रश्मि सबके ऊपर राज्य करती हुई सदा जगमगाती है।

ईश्वरके द्वारा मिली हुई सजाएँ

श्री··पुलिस सुपरिटेंडेंट साहबके इकलौते पुत्र थे। मेरे साथ वे कक्षा ७ से कक्षा १० तक पढ़े थे। शहरके सबसे धनसम्पन्न और रईस आदमियोंमें उनकी गिनती थी। उनके पुत्र मोटरमें बैठ पढ़ने आते थे और बड़े शानसे जीवन व्यतीत करते थे। उनके विवाहमें हमें भी निमन्त्रित किया गया था। २०–२२ हजारका गहना और कपड़ा उन्हें दहेजमें मिला था। दोनों बड़े ही अमीर थे। धनकी धनसे शादी हुई थी। पिताकी सिफारिशसे श्री···भी थानेदार बन गये। उनके ठाठकी कुछ न पूछिये। हर प्रकारकी रंगीनी और मस्तीका दौरदौरा चलता रहता था। पिता कुछ विलासी प्रकृतिके थे। रिश्वत, झूठ-कपट, मारधाड़की खूब कमाई आती थी। उनकी संगतिमें ही···ने शराब पीना सीखा। पिताकी मृत्युके बाद घरका बोझ उनके ऊपर आ पड़ा। कोई नियन्त्रण न रहा। शराबखोरीकी आदत उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

आज श्री··फटे-हाल मिलते हैं। उनकी सारी सम्पत्ति शराबकी राह निकल चुकी है। पत्नी अध्यापन करके निर्वाह करती है। वे आवारागर्दी करते हैं। ऊपरी कमाईका जो धन जल्दी आया था, उतनी ही जल्दी हाथसे निकल गया है। ईश्वरकी सजा उन्हें मिल रही है। तिरस्कृत और उपेक्षाका जीवन वे बिता रहे हैं। प्रभु-शासनमें उन्हें झूठ-फरेब, मद्यपान, अनियन्त्रण, असंयमकी सजा मिल रही है!

× × × ×

श्री··बाबू सेक्रेरियटमें उच्च पदपर कार्य करते थे। रजवाड़ोंमें सेक्रेटरी सब गुप्त बातें जानते हैं और अपने लाभकी कर गुजरते हैं। ···बाबूने भी घोटाला किया और एक बड़े लंबे बाड़ेको—जिसमें २०–२५ राजके मकान थे, ले बैठे। बात बढ़ी तो नौकरीसे त्यागपत्र दे दिया। दो लाखकी जायदाद थी। उन्होंने सोचा—'शेष उम्रके लिये यह काफी है। अब राजकी नौकरीकी क्या जरूरत है।' कुछ वर्ष बड़ी मस्तीसे कटे। खाना-पीना, मित्रोंकी आवभगत अच्छी होती रही। शराबका शौक था। उम्रके साथ वह भी बढ़ा। फिर क्या था, एक-एककर सारी जायदाद स्वाहा हो गयी। आज···बाबूकी छोटी-सी दूकान है। वृद्ध हो गये हैं और एक-एक पैसेके लिये मुहताज हैं। जैसे रुपया आया, वैसे ही निकल गया है।

× × × ×

श्री··प्रसादने शराबके ठेकोंमें ढेरों रुपये कमाये। उनकी कई आलीशान कोठियाँ हैं। दिन-रात वे स्कूटरपर इस दूकानसे उस दूकानपर चक्कर लगाते रहते। उनके एकमात्र पुत्रका विवाह धूमधामसे हुआ। शहर भरमें धूम थी। लड़का मनचला था, जिसका एक पाँव सिनेमामें रहता था। उसे पत्नी पसंद न आयी। पत्नीसे मुक्ति पानेके लिये आवेशमें आकर वह उसकी हत्या कर बैठा। नदीमें फेंकते हुए वह पकड़ा गया। कत्लका मुकदमा चला और अनाप-शनाप रुपया बहानेपर बड़ी मुश्किलसे प्राण बचे। अब भी कोई-न-कोई मुकदमा चलता ही रहता है। शराबमें कमाया रुपया उसी मार्गसे निकल गया।

× × × ×

श्री··माने हुए इंजीनियर हैं। ३० वर्षोंतक सरकारी इंजीनियरके जिम्मेदार पदपर कार्य कर चुके हैं। इंजीनियरको भी ऊपरी आमदनीका मोह होता है फिर हमारे··* तो इस कलामें दक्ष थे। बड़े ठेकेदारोंसे मिलकर खूब सरकारी ठेकोंसे रुपया उड़ाया। मद्यपान, वेश्यागमन, व्यभिचार, मांसभक्षण सब कुछ किया। दो बार सरकारी मुकदमा भी चला, पर वकीलोंपर रुपया पानीकी तरह बहाकर साफ बच गये। कई लाखके आदमी हैं। पर ईश्वरीय प्रकोप यह है कि उनके कोई भी संतान नहीं है। इधर-उधर अनेक अनैतिक सम्बन्ध किये हैं। उनके कारण बड़ी ही बेइज्जती है। सभी थू-थू करते हैं। किसी भले घरमें आना-जाना नहीं है। गुप्त इन्द्रियके रोगोंसे जिंदा ही नरककी यातनाएँ भुगत रहे हैं। उनका जीवन अशान्ति, अतृप्ति और वासनाके ताण्डवसे रौरव नरक बना हुआ है। ईश्वरीय सजा पूरी चोटके साथ मिल रही है!

---

* लेखकने उपर्युक्त तीनों घटनाओंमें नाम लिखे थे। पर सम्पादकने नाम निकाल दिये हैं——सम्पादक

सादगी

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

उनके शरीरमें बहुत अधिक फुंसियाँ थीं। उनमें जलन रहती थी। खुजली होती थी। प्रायः आँव पड़ती थी। भूख लगती नहीं थी। सिरमें दर्द होना साधारण बात थी। दूसरे भी अनेक रोग थे। वे बहुत सम्पन्न थे। समाजमें प्रतिष्ठा थी। अच्छे समझदार तथा उच्च शिक्षा प्राप्त थे। भव्य शरीर मिला था उन्हें अपने शुभकर्मोंके फलस्वरूप; किंतु रोगोंने उन्हें युवावस्थामें ही जर्जर बना दिया था।

'भाई साहब !' वे मुझे इसी प्रकार पुकारते थे। सजातीय होने तथा आयुमें छोटे होनेसे उन्होंने इसे अपना अधिकार मान लिया था कि मुझे बड़ा भाई मानकर खुला व्यवहार करें। बहुत दुखी होकर आज वे आये थे—'अब तो शरीर छोड़ देनेको जी करता है।'

उन्होंने डाक्टर-वैद्योंकी बहुत चिकित्सा कर ली थी। अनेक बड़े नगरोंमें घूम आये थे। खूब इन्जेक्शन लगे थे और चूर्ण, गोलियाँ, अवलेह कितना खाया था, कुछ ठिकाना नहीं था। तैल, मरहम आदि भी भरपूर मला गया था। ओषधिके बिना भी मनुष्य दो-चार दिन जी सकता है, यह सोचना ही कठिन था उनके लिये। उनका कहना था—'मैं तो दवा खाते ही पैदा हुआ। दवा मुँहमें पहले गयी, माताका दूध पीछे मिला।'

मैं चिकित्सा-व्यवसायी नहीं हूँ। किसी भी चिकित्सा-पद्धतिका अच्छा जानकार भी नहीं हूँ। आयुर्वेद, होम्योपैथी तथा प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धतिसे थोड़ा-थोड़ा परिचय है और कोई पीड़ित हो तो उसका उपचार करना अच्छा लगता है। इसलिये कुछ ओषधियाँ भी रखता हूँ। सच पूछिये तो आस्तिक होनेके कारण मैं भाग्य-विधानमें आस्था रखता हूँ। इसलिये किसी चिकित्सा-पद्धतिमें मेरा आग्रह तथा आस्था नहीं है। रोग कर्म भोग हैं। कर्म फलका भोग होनेपर मिटते हैं और अशुभ कर्मके फलोदय काल आनेपर होते हैं। चिकित्सा भी एक प्रकारका प्रायश्चित्त है अशुभ कर्मोंका। अतएव जो रोगी सामने आया है, उसका कष्ट निवारण जैसे भी शीघ्र एवं सरलतापूर्वक सम्भव हो, वही पद्धति ठीक। विभिन्न व्यक्तियों तथा परिस्थितियोंके लिये विभिन्न पद्धतियाँ उपयुक्त हो सकती हैं, ऐसी मेरी धारणा है।

गरमीकी ऋतु थी; किंतु वे सुसभ्य व्यक्ति हैं। समा सुसंस्कृत एवं सम्मानित माने जाते हैं। अंग्रेजी शिक्षा त वेश उन्हें प्रिय है। मेरे पास वे कोट-पतलूनके पूरे वेशमें आये थे। मैंने उन्हें जब देखा, इसी वेशमें देखा है।

'देखो महेश, तुम अच्छे हो सकते हो ! तुम्हें केव कुछ महीने अपने-आपको मेरे निर्देशके अनुसार चलाने प्रस्तुत करना पड़ेगा।' मैंने उनसे कहा—'निराश होने कोई बात नहीं है।'

'मैं अभी—इसी क्षणसे प्रस्तुत हूँ।' उनके स्वर मुझे दृढ़ता तथा सचाईकी झलक मिली।

'ठीक है। इसी क्षणसे श्रीगणेश करो !' मैंने उन कहा—'देखो, यह आश्रम है। यहाँ संकोच करने आवश्यकता नहीं है। यह कोट, कमीज, पतलून उता डालो। जाँघिया और गंजी बहुत हैं इस मौसममें इ स्थानपर।'

मैं केवल धोती पहने खुले शरीर बैठा था, अतः उनक मेरी बात माननेमें कठिनाई नहीं हुई। मैंने उनसे कहा—'यह तुम्हारी चिकित्साका पहला पाठ है। इन वस्त्रों घर जाकर विदा कर दो। खादीकी धोती-कुर्ता पहिनक तुम अपने सभ्य परिचितोंमें मजेसे जा सकते हो।'

× × ×

'आज तुम्हारा पेट भरा नहीं होगा।' आश्रममें भोज की घंटी बजी तो महेशने भी हम सबके साथ ही भोज किया था। गेहूँ-चनेके मिले आटेकी रूखी रोटियाँ, मो चावलका भात, बिना छौंककी दाल और बिना मिर्च-मसाले का उबाला हुआ लौकीका शाक। आश्रमके चौकेमें घी जात ही नहीं। जो व्यक्ति खूब घी-मसालेसे भरपूर चटप भोजन करता आया है, अचार-चटनी, तीन-चार शाक, को मीठी वस्तु जिसके प्रतिदिनके भोजनके अनिवार्य अङ्ग हैं उसकी तृप्ति आश्रमके भोजनसे कैसे हो सकती थी।

'भाई साहब ! आज मेरा पेट खूब भरा है।' महेश अपने उत्तरसे मुझे प्रसन्न किया—'मुझे तो यह भोज बहुत प्रिय लगा है।'

'यह तुम्हारी चिकित्साका दूसरा पाठ है—सादगीका दूसरा पाठ । तुम्हारे घरके भोजनालयमें अब यह आदर्श रखकर भोजन बनेगा !'

'लेकिन घरमें और लोग भी हैं ।' महेशने आपत्ति की—'बाहरके अतिथि भी आया ही करते हैं ।'

'इस भ्रमको मनसे निकाल दो कि मिर्च-मसाला, अचार-चटनी तथा मिठाईके बिना भोजन रुचिकर नहीं होता । तुम्हारे-जैसी ही रुचि दूसरोंकी भी है और तुम देखते ही हो कि यह भोजन तुम्हें प्रिय लगा है ।' मैंने समझाया—'मक्खन और घी अपने यहाँ चलने दो; किंतु कम कर दो । खटाई-मिर्च जो चाहें, उन्हें देनेकी व्यवस्था रक्खो । मेवे तथा फल बढ़ा दो भोजनमें । फलतः किसीको तुम्हें दरिद्र या कृपण कहनेका अवकाश नहीं रहेगा । तुम इसी अयशसे तो घबरा रहे हो ।'

'मुझे बाहर मित्रोंके यहाँ जाना पड़ता है ।' महेशने यह कठिनाई ठीक ही सूचित की ।

'जहाँतक सम्भव हो, ऐसी गोष्ठियोंसे बचो !' मध्यम मार्ग ही निकालना आवश्यक था—'अवसर आनेपर चाय, काफी तथा शीतल पेय कम-से-कम लो । जहाँतक सम्भव हो, नहीं लो तो अच्छा । भोजन ही करना पड़े तो थोड़ा खाकर, मिर्च-मसालेके पदार्थ छोड़कर । कुछ भूखे पेट उठनेमें हानि नहीं है । पेटको उस समय या पीछे भी फल खाकर भर ले सकते हो ।'

'मैं प्रयत्न करूँगा !' विदा होते समय महेश केवल इतना कह गये थे । उनके स्वरमें उत्साह नहीं था । मैंने उन्हें कोई ओषधि नहीं बतलायी थी । जो व्यक्ति देशके सुयोग्य चिकित्सकोंका उपचार कर चुका हो, उसे ओषधि बतलानेकी भूल करनेसे मैं प्रायः बचता हूँ; क्योंकि ऐसी अवस्थामें दोष कहीं ऐसे स्थानपर होता है, जहाँ चिकित्सा-सिद्धान्त सामान्यतः संकेत नहीं करते ।

'भाई साहब !' महेश मुझे केवल दो महीने बाद मिले उसके और बहुत प्रसन्न दिखायी पड़े । उनके शरीरपर इस बार हिमश्वेत धोती-कुर्ता था तथा पैरोंमें चप्पल । उल्लासपूर्वक उन्होंने बतलाया—'आपकी सादगीके दोनों पाठ मेरे लिये बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं । क्या आप अगला पाठ देना आज ठीक समझते हैं ?'

उन्हें भूख लगने लगी थी । आँव पड़ना बंद हो गया था । शरीर अभी पूर्णतः रोगरहित नहीं हुआ था; किंतु आशा हो गयी थी कि स्वास्थ्य प्राप्त हो जायगा । बड़े उल्लासपूर्वक उन्होंने कहा—'मैंने पिछले पूरे एक महीनेसे कोई ओषधि नहीं खायी है । अब विश्वास हुआ है कि मैं ओषधि-सेवनके बिना भी जीवित रह सकता हूँ ।'

'अब भी बहुत कुछ करना शेष है ।' मैंने उनसे कहा—'मैं मानता हूँ कि भोजन तथा वस्त्रकी सादगी ही सम्पूर्ण सादगी नहीं है । आडम्बरपूर्ण वाणीका भी त्याग होना चाहिये । साथ ही व्यवहारमें भी सहजता-सरलता होनी चाहिये । मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहे बिना शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम नहीं रह सकता और मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहे, इसके लिये व्यवहार तथा वाणीमें सादगी अपेक्षित है ।'

'आपका यह तीसरा पाठ बहुत कठिन है ।' वे हँसकर बोले—'लेकिन यह अन्तिम पाठ है न ?'

वे ऐसी भाषा बोलते हैं, जैसी भाषा साहित्यिक निबन्धोंमें लिखी जाती है । शुद्ध हिंदीका आग्रह उन्हें नहीं है । अरबी, फारसी, अंग्रेजीके शब्दोंकी भरमार रहती है संस्कृत शब्दोंके साथ; किंतु बोलनेकी शैली, स्वरोंके उच्चारण, अङ्ग तथा हाथ-पैरका संचालन सब अद्भुत एवं नाटकीय । उनके व्यवहारमें भी लखनऊके पुराने नवाबोंका आडम्बर झलका करता है । अतः अपना पूरा स्वभाव बदलना उन्हें कठिन लगना ही था ।

'केवल एक पाठ' और मैंने भी हँसकर ही कहा—'लेकिन उसके लिये इस बार आपको मेरे साथ व्रजकी यात्रा करनी है ।'

× × ×

एक-दो मंजिलका छोटा मकान था वह, जिसमें हम लोगोंने प्रवेश किया । वृन्दावनसे एक साधुको मैं अपने साथ ले आया था; क्योंकि वे व्रजके स्थलोंसे परिचित थे । महेश भी इस बार व्रजयात्रामें मेरे साथ थे ।

एक दुर्बल देह, श्यामवर्ण, श्वेतकेश वृद्ध चटाईपर बैठे मिले उस मकानके ऊपरके कमरेमें । मस्तक तथा दाढ़ीके केश सम्भवतः पंद्रह दिनके बढ़े थे । शरीरपर बगलबन्दी और कटिमें एक वस्त्रखण्ड । वस्त्र स्वच्छ थे; किंतु मटमैले लगते थे । घरपर हाथसे धुले कपड़ोंमें जितनी सफेदी हो सकती है, उतनी उनमें थी । कमरेमें चारों ओर पुस्तकें फैली हुई थीं ।

'नीचे नारायणजी थे ?' मेरे साथके साधुने पूछा ।

'हाँ, उसे बिलायत जाना है । इसलिये मैंने छः महीनेके लिये अपने पास बुला लिया है ।' उन्होंने बताया—'वहाँके कृत्रिम तथा विलासी जीवनमें सुरक्षित रह सके, इतना अभ्यास यहाँ छः महीने रहनेपर उसे हो जायगा ।'

विशेष पूछनेपर पता लगा कि नारायण उनके पुत्रका नाम है । इस वर्ष एक विश्वविद्यालयमें विज्ञानसे एम्० ए० करनेमें उन्होंने सर्वोच्चताके अङ्क प्राप्त किये हैं । देशकी सरकारने विशेष प्रशिक्षणके लिये इंगलैंड भेजना स्वीकार किया है उन्हें और सरकारके व्ययपर उन्हें जाना है । सपत्नीक वे जायँगे । अतः यहाँ पिताके पास सपत्नीक संयम तथा सादगीका प्रशिक्षण प्राप्त करने आये हैं ।

घुटा सिर, बड़ी-सी चुटिया, घुटनोंसे ऊपरतक ही कटिवस्त्र, मटमैली बगलबंदी—इस वेशमें एक स्वस्थ सबल युवक हमें इस भवनमें प्रवेश करते ही मिला था । वह उसी समय एक बड़े टोकरे भर घास छीलकर लाया था और कुट्टी काटनेकी तैयारीमें था । मैं चौंक गया, जब मुझे बताया गया कि वही युवक नारायणजी थे । साथ ही यह भी पता लगा कि नारायणजीकी पत्नी नीचे चक्की चला रही हैं ।

हमलोग देरतक बैठे रहे । चलनेसे पहले ही पूछा गया—'भोजन करेंगे आपलोग ?'

'भोजन तो नहीं करेंगे ।' उन साधुने ही कहा—'किंतु बुआजीके हाथकी रोटीका एक-एक टुकड़ा प्रसादस्वरूप अवश्य लेंगे ।'

उन पण्डितजीके साथ उनकी वृद्धा बहिन भी रहती हैं । उन वृद्धाको ही साधुने 'बुआजी' कहा था । हमलोगोंको एक-एक रोटी और थोड़ी-थोड़ी दाल (यदि उसे दाल कहा जा सके) दी गयी । गेहूँ, चना, जौ, चावलके कण, दालके कण आदि पता नहीं कितने अन्नोंके मिश्रित आटेकी वह रोटी थी और दाल—उस चार-पाँच व्यक्तियोंके परिवारके लिये ढाई तोले दाल बनायी जाती थी । दालमें पानी ही था गरमा-गरम, किंतु उसमें हल्दी, नमकके अतिरिक्त हर्र, आवँला, पीपलके टुकड़े तथा कुछ शाकके टुकड़े भी डाले गये थे ।

'भाई साहब ! भोजन इतना स्वादिष्ट भी हो सकता है, यह बात आज ही समझमें आयी है ।' महेशने मेरे पास खिसककर धीरेसे कानमें फुसफुसाते हुए कहा ।

'किंतु तुम और रोटी नहीं पा सकते ।' महेशको मैंने मना किया; किंतु स्वयं मेरी इच्छा थी कि यहाँ भरपेट भोजन करनेकी बात साधुने अस्वीकार करके ठीक नहीं किया । लेकिन इस तपस्वी ब्राह्मण-परिवारको भूखे भी तो नहीं रखना था । क्या पता कि उनके घर और आटा होगा भी या नहीं, क्योंकि जिस घरमें प्रत्येक सदस्यको तीन लाख नाम-जप प्रतिदिन दैनिक कार्य करते हुए भी करना ही पड़ता है, उस घरमें अधिक आटा पीस लेनेका अवकाश कैसे मिल सकता होगा । आटा तो घरके सदस्योंका पीसा ही काममें वहाँ आता है ।

'मनमें संसारसे वैराग्य कैसे हो ?' भोजनके पश्चात् चलते-चलते साधुने अकस्मात् पण्डितजीसे पूछ लिया ।

'मेरे एक सम्बन्धीको मिठाई बहुत प्रिय लगती थी। उन्हें मधुमेह हो गया ।' पण्डितजीने बताया—'चिकित्सकोंने समझा दिया कि मीठी वस्तुका सर्वथा त्याग किये बिना रोग नहीं जायगा । रोग बना रहा तो फोड़े निकलने प्रारम्भ होंगे । बहुत कष्ट होगा । उनकी चीनी ही नहीं, आलू चावल आदि भी छूट गये । संसारके विषय दुःख देंगे—यह ठीक समझमें आ जाय तो वैराग्य अपने-आप हो जायगा ! ऐसा न हो, तबतक विवेक-विचार तथा प्रार्थनाका ही सहारा है ।'

'प्रार्थना कैसे की जाय ?' महेशने पूछा ।

'भगवान् पराये तो हैं नहीं कि उनसे कुछ कहनेके लिये नियम-पालन करना पड़े ।' पण्डितजीने समझाया—'वे अपने हैं । जैसे आप अपने लोगोंसे कुछ कहते हैं, उनसे कह लीजिये और जिह्वाको नाम-जपमें लगाये रहिये ।'

'भाई साहब ! आज सत्ययुगके एक ऋषि-परिवारका दर्शन आपने करा दिया ।' प्रणाम करके उस भवनसे बाहर आते ही भरे स्वरमें महेश बोले—'सादगीका यह आदर्श धन्य है; किंतु भाई साहब ! इस लक्ष्यको आदर्श मानकर केवल प्रयत्न कर सकूँ तो भी जीवनको धन्य मानूँगा । इसे अपना लेनेकी कल्पना भी अभी तो कठिन ही लगती है ।'

सेवक

[सच्ची कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

'सुनो भई भागवन्तगीता, जनम क्यों खोते हो रीता ।'

'ओहो, आज सुहावनी भोर-बेलामें यह भक्तिभरा मधुरगान कैसे हो रहा है ! अभी तो अरुणोदयकी स्वर्ण-किरणें हमारे द्वारकी दराजोंमेंसे आँगनमें झाँकी भी नहीं हैं—केवल पक्षियोंका कलरव प्रारम्भ हुआ है ।'

'सालभरतक प्रतीक्षा करते और देवी-देवता मनाते-मनाते आप काशीपुरीसे वापस आये हैं । इसी खुशीमें यह भजन अपने-आप मेरे हृदय-कमलमेंसे फूट निकला है, जिसे मैंने मन्दिरमें श्रीमद्भागवतजीकी कथा-समाप्तिपर महिलाओंके मुखसे सुना था ।'

'तो क्या काशीजीसे वापस आना खुशीकी बात है ? वहाँ तो कई भगवद्भक्त काशीवास करते और चाहते हैं कि अन्तसमय हमारी मृत्यु काशीमें ही हो । किंतु होता यह है कि मृत्युके दिन किसी कार्यवश वे काशीजीसे बाहर चले जाते हैं और वहीं उनकी मृत्यु हो जाती है ।'

'तो काशीजीमें मरना सरल नहीं है ?'

'हाँ, किसी पुण्यात्माको ही यह नसीब होता है । पण्डितजीके मुखसे काशी-माहात्म्य क्या तुमने नहीं सुना ?'

'कुछ भी हो, मैं अब आपको नहीं जाने दूँगी ।'

जगतनारायणजी बाल-बच्चोंको सँभालने घर आये थे । यहाँ मोहजालमें फँस गये । किंतु भगवत्-परायण व्यक्ति हरिभजनमें आनेवाले विघ्नोंको टालनेका उपाय सोच ही लेता है ।

'आज यह तैयारी कहाँ जानेके लिये हो रही है ?'

'यहाँसे थोड़ी दूर अमुक गाँवमें श्रीमहादेवजीकी छत्री बनवायी गयी है । वहाँ आज शिवजीका अभिषेक और ब्राह्मण-भोजन करवाया है । वहाँ जा रहा हूँ । संध्या समय वापस आ जाऊँगा ।'

संध्या समय बीत गया । रात्रि भी बहुत चली गयी, किंतु जगतनारायण आये नहीं । पत्नी व्याकुल हुई । उसने पड़ोसमें दौड़-धूप मचायी । तरह-तरहकी शंकाएँ उसके मनमें उठने लगीं । पड़ोसियोंने साथ दिया, पता लगाया । पर, जगतनारायण तो काशी पहुँच चुके थे । आज पत्र भी मिला । लिखा—'प्रिये ! मैं यहाँ आकर सुखी हूँ । मेरी प्रतीक्षा करना व्यर्थ होगा । तुम्हारी गोद भगवान्ने भर रक्खी है । इस अबोध बालकका पालन-पोषण करो । मधुसूदन बड़ा होगा, शिक्षित होकर आजीविका कमायेगा । विवाह होकर बच्चे भी इसके होंगे । दम्पति तुम्हारी खूब सेवा करेंगे । पौत्र-पौत्रियोंको गोदमें खिला-खिलाकर आनन्द-मग्न होना । पर यह समय-सापेक्ष कार्य है । धीरज रखना होगा । पेड़ आज बोते हैं, उसमें फल आते हैं मुद्दतके बाद । मैं चाहता हूँ कि वह शिक्षित होकर मानवता सीखे और मानव-जीवनका जो परम लक्ष्य है—भगवत्-प्राप्ति, उस ओर झुके ।'

'आपने बड़ा धोखा दिया । मुझे भी साथ क्यों न ले गये ? मैं अकेली लक्ष्यहीन हो रही हूँ । पति पास न हो तो स्त्रीकी जिंदगी क्या ! बालक तो अभी गोदको ही जानता है । सालों चाहिये इसके बड़े होनेमें । इतना लंबा समय आपके बिना मेरे सामने पहाड़-सा दिखायी दे रहा है ।'

'यह अधीरताकी बातें मत करो । मुझे स्वामीकी सेवा और तीर्थसेवनका लाभ उठाने दो, जीवन थोड़ा है । तुम आनन्दसे भगवान्के भजन-पूजनमें अपना जीवन बिताओ । अपने शीलकी रक्षा करनेमें तो सावधान रहना ही है ।'

यह है पति-पत्नीके पत्रव्यवहारका सार ।

× × ×

आज काशीजीकी कचौड़ी गलीमें सब लोग चौकन्ने होकर देख रहे हैं—एक धूम-धामसे ले जाती हुई शव-यात्राको । वे आपसमें इस प्रकार बातें कर रहे हैं—'यह बड़ा ही पुण्यात्मा पुरुष था । राजस्थानके एक नरेशको ब्रिटिश शासनने जब पदच्युत करके यहाँ काशी भेजा, तब प्रजाने आँसुओंकी अविरल धारा बहाते हुए उन्हें विदा किया था; किंतु साथ कोई नहीं आया । यही एक ऐसा व्यक्ति था—जो तहसीलदारीके पदसे इस्तीफा देकर तथा स्त्री और अबोध बालकको निराश्रित छोड़कर, नरेशके बार-बार मना करनेपर भी साथ आया और यहाँ स्वामी-सेवाके अतिरिक्त धर्ममय तीर्थसेवन करता हुआ भगवद्भक्तिमें जीवन बिता रहा था । इस दुर्लभ सेवककी अचानक मृत्युसे राजाजीको बहुत दुःख हुआ है । उनकी ओरसे इसका

दाह-संस्कार मणिकर्णिका घाटपर चन्दनकी लकड़ीसे होगा । ऐसा स्वामिभक्त, त्यागी और घर-गृहस्थीके मोहको सर्वथा छोड़ देनेवाला कोई विरला ही सेवक हो सकता है । इसने सेवकाईका एक आदर्श उपस्थित कर दिया है, जो सभीके लिये अनुकरणाय है ।'

(२)

इधर आमदनीका जरिया बंद हो जानेके कारण तहसीलदारनी बालकुँवर बड़े संकटमें पड़ गयी । कुछ दिनोंतक तो घरके जेवर, बर्तन, वस्त्र तथा दूसरा सामान बेचकर निर्वाह किया । उसमें भी वह आधा पेट भोजन करती, बालकको भरपेट खिलाती थी । किंतु सब बिक जानेपर भूखे रहनेकी नौबत आ गयी । भूखसे व्याकुल बालकका बिलखना देखा नहीं जाता था । अन्न मिलनेका कोई मार्ग दीखता नहीं था और भूखा भी कबतक रहा जाता ! निदान उसने मजदूरी करना अंगीकार कर लिया ।

एक दिन वह खेतमें मजदूरी कर रही थी । समीप ही अपना बालक खेल रहा था । वहींपर कुएँसे जल भरनेवाली दो महिलाओंमेंसे एकने कहा—'देख री ! इस पर्देमें रहनेवालीको आज खेत खोदते शर्म नहीं आती !'

'पगली, मजूरी करनेमें क्या शर्म ! सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रने तो चाण्डालकी नौकरी की थी । इसे संकटके दिन काटकर बालकको पाल-पोसकर बड़ा करना है । शील-संयमसे रहती है । इसके सुखके दिन नहीं रहे तो ये दुःखके दिन भी नहीं रहेंगे ।'

कृषक रामसुभगने जब बालकुँवरको पहचाना तो वह एकदम हाथ जोड़कर उसके पावोंमें पड़ गया । आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी । सभी देखकर चकित हो गये—'यह क्या नाटक है ?' वह बोला—'माताजी ! आप मजदूरी करना बिल्कुल छोड़ दें । मैं अमुक निधि प्रतिमास आपके पास घर पहुँचा दिया करूँगा । यह खेत, कुआँ, पशु, धनधान्य सभी तहसीलदार साहबकी निःस्वार्थ कृपासे ही मुझे प्राप्त हुए हैं । मैं उनकी कृपासे जन्मभरतक उऋण नहीं हो सकूँगा ।'

'नहीं, भाईजी ! मैं आपका ऋण लेकर कैसे चुकाऊँगी ! मुझे तो मजदूरी करके ही पेट पालना सुगम मार्ग दिखायी देता है ।'

'आप ऋण चुकानेकी जरा भी चिन्ता न करें । मैं अभीसे आपको भरपाईकी चुकती रसीद सरकारी स्टाम्पपर लिखे देता हूँ, ताकि मेरे पीछेसे मेरी संतान भी कोई दावा नहीं कर सकेगी ।'

'भाईजी ! आपकी इस कृपाकी मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ । परंतु मुझे तो कर्ज इस जीवनमें सूदसमेत चुकाना ही होगा । नहीं, तो भगवान्‌के दरबारमें क्या जवाब दूँगी !'

बालकुँवरके बार-बार इन्कार करते रहनेपर भी रामसुभग प्रतिमास निश्चित निधि स्वयं जाकर बड़े आग्रहके साथ दे आता था ।

समय निकल गया ।

(३)

बचपनसे ही मधुसूदन सात्त्विक गुणोंका परिचय देने लगा । सूर्योदयके पहले उठकर माताजीके चरणोंमें प्रणाम करता । उनका आशीर्वाद लेकर स्कूल जाता । वहाँ सद्गुणी छात्रोंके साथ रहनेमें सुख मानता, दुर्गुणियोंसे सदा दूर रहता । अपने अध्यापकोंको पितातुल्य पूजनीय मानकर उनकी प्रत्येक आज्ञाका चित्त-मनसे पालन करता । अध्ययनमें खूब परिश्रम करनेसे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होता । इन्हीं गुणोंसे उसको अध्यापकीकी नौकरी मिल गयी ।

वह घरका कोई भी काम माताजीको नहीं करने देता था । विवाहके पश्चात् सभी कार्य पति-पत्नी अपने हाथोंसे किया करते थे । ठीक समयपर माताजीको भोजन कराकर स्वयं भोजन करते थे । माताजीकी प्रत्येक आज्ञाका सहर्ष पालन करते हुए उन्हें हर प्रकारसे आराम पहुँचानेकी सदा चेष्टा किया करते थे । उन्हें भगवत्कथाएँ सुनानेके लिये एक पण्डितजीको नियुक्त कर दिया था ।

बालकुँवर बेटा-बहूकी सेवासे अत्यन्त प्रसन्न रहती और सदा उनको शुभाशीष् दिया करती थी ।

एक दिन पड़ोसिनने आकर कुछ बहकाया । किंतु वह बोली—'ऐसी बातें मत करो बहन ! बहू-बेटा मेरी खूब सेवा करते हैं । ऐसे पुत्र-पतोहू तुम्हें खोजनेसे भी नहीं मिलेंगे ।'

फिर भी 'मन्थरा' का जादू चल ही गया । एक दिन बालकुँवर जरा-सी बातपर बेहद नाराज हो गयी । मधुसूदनने पत्नीको बहुत डाँटा और दोनों माताके

चरणोंको आँसुओंसे भिगोते हुए हर प्रकारसे मिन्नतें कर-कर क्षमा-याचना करने लगे। माताका हृदय वात्सल्य-प्रेमसे भरा होता ही है। अन्तमें माताजीने जब प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया, तभी उन्होंने माताजीके साथ बैठकर अन्न-जल ग्रहण किया।

मधुसूदन नित्य देखता, न जाने कहाँ-कहाँसे नरम तिनके आदि कोमल वस्तुएँ चोंचमें ला-लाकर चिड़ियाने आँगनके वृक्षपर सुन्दर घोंसला बना लिया है। नर-माँदा चोंचमें चुगा लाकर चूँ-चूँ करते हुए बच्चोंको चुगाते रहते हैं।

'संध्या समय गाय रँभाती हुई बछड़ेसे मिलनेके लिये आतुरतासे दौड़ी आती है। उसके आँचलसे दूध झरता आता है।'

'देखा था, म० प्र० के मढ़ी ग्राममें जंगलमें ब्यायी गाय अपने बछड़ेको टाँगोंके बीचमें लेकर चारों ओरसे आक्रमण करते हुए ५। ७ भेड़ियोंको बड़ी बहादुरीसे सींगों-लातोंके द्वारा भगा रही थी। हम तो डरके मारे दूर-हीसे हो-हल्ला कर रहे थे।'

आँखों देखे ये दृश्य मधुसूदनको याद आ गये। पशु-पक्षियोंमें भी संतानके प्रति इतना प्रगाढ़ और निःस्वार्थ वात्सल्य-प्रेम देखकर उसकी मातृभक्ति और भी वज्रके समान सुदृढ़तर बन गयी।

मातृ-सेवाके साथ ही मधुसूदनने सत्य, संयम, सदाचार, सत्संग, सद्व्यवहार, समयका सदुपयोग और रात-दिन हरिभजनमें लीन रहना—इन गुणोंको भी अपना रक्खा था। युवकोंके चरित्रपर लोगोंकी सदा पैनी दृष्टि लगी रहती है। कहा है—

'जवानी आदमीकी माय-ए इल्जाम होती है।
निगाहें नेक भी इस उम्रमें बदनाम होती हैं॥'

किंतु युवक मधुसूदनने प्रयत्नपूर्वक सदाचारकी रक्षा करना सीख रक्खा था। उसके चाँदी-से श्वेत और विशुद्ध चरित्रकी प्रशंसा चौराहों, चबूतरों और घरोंके सभी नर-नारियोंमें सदैव होती रहती थी। मित्र आकर सिनेमा चलनेकी कहते '—माँसे गड़े धनका पता तो पूछ लो—पीछे पछताओगे' तो मधुसूदन बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़—कानोंमें अँगुली डालकर मधुर वाणीमें उत्तर देता—'भैया, ऐसी बातें मेरे सामने मत करो। रामलीला, रासलीला, हरिकथा, भक्तिपर वक्तृता कहीं हो रही हो तो बात करो!' उसकी ऐसी अपूर्व दृढ़ता देखकर मित्रोंपर एक उत्तम प्रभाव पड़ता था।

(४)

दिवस बीतते गये। गादीपर तकियेके सहारे बैठी-बैठी बालकुँवर पौत्र-पौत्रियोंको बड़े लाड़-प्यारसे खिलाती हुई सदा आनन्दमें मग्न रहा करती थी। सोचती—'पतिदेवने ठीक ही कहा था। वह आनन्द मुझे अब मिल रहा है। वे तो पतित-उधारणकी पतवारके सहारे पतितपावनी काशी-जीमें मृत्यु पाकर मुक्त हो गये। अब मुझे भी भगवान्‌के भजनमें लग जाना चाहिये।' भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'* पण्डितजीके मुखसे जबसे बालकुँवरने गीताका यह उपदेश सुना, तबसे तो वह रात-दिन भगवद्भजनमें लीन रहने लगी थी।

'बेटा! रामसुभगजीका ब्याजसमेत कर्ज चुकाना मत भूल जाना। चाहे आधा पेट भोजन करके पैसा बचाना, पर याद रहे, उनका एक पैसा भी बाकी न रहने पाये।'

'माताजी! आप निश्चिन्त रहें। अपने अपर्याप्त वेतनमेंसे भी मैं थोड़ा-थोड़ा प्रतिमास पैसा बचाकर एकत्र हुई निधिको ब्याजसहित उनके पास ले जाकर हाथ जोड़ चरणोंमें रख दूँगा और विलम्बके लिये क्षमा-याचना कर लूँगा।'

बालकुँवरके हृष्ट-पुष्ट शरीरको देखकर पड़ोसी आपसमें कानाफूसी करते—'भई, सुखका शरीर है। किंतु देह गलते क्या देर लगती है। पानीका बुदबुदा है जीवन। यदि इसके पुण्य अच्छे हुए तो अन्त समय सुधर जायगा।'

एकत्र निधिको मधुसूदन कई बार रामसुभगको देने गया; किंतु उसने बहुत आग्रह करनेपर भी हर बार लेनेसे इन्कार कर दिया। बोला—'मैं इस निधिको न लेनेका वचन दे चुका हूँ, उसका पालन करूँगा।' यदि मधुसूदन 'ना' 'ना' करनेपर भी निधि रामसुभगकी जेबमें रख

---

* अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ८। ५)

देता तो वह निकालकर उसकी जेबमें वापस रख देता। हालाँ कि दोनों अपनी-अपनी जेबोंको मजबूतीसे पकड़कर बंद किये रहते, लेकिन दोनों ओरसे जोर आजमानेकी मानो होड़-सी लग जाती थी। देरतक यह अपूर्व दृश्य चलता रहता था। एक-दो दिन नहीं, काफी अर्सेतक चला। मधुसूदनने अनेक बार मधुर-मधुर मिन्नतें भी कीं; पर व्यर्थ। अन्तमें एक दिन जब कि रामसुभग मौन होकर भगवद्भजनमें लीन बैठा था, तब अवसर पाकर मधुसूदन उस निधिको आसनके नीचे सरका आया। रामसुभगने जब देखा तो मनमें बहुत ही संकोच माना और उस सारी निधिको एक धर्मशालाके निर्माणके चंदेमें देकर उसने संतोष पाया।

(५)

पल, घड़ी, घंटे, दिन, मास, वर्ष जाते-जाते सत्तर बसंत बीत जानेके बाद बालकुँवरको बुढ़ापेकी निर्बलताने आ घेरा। शरीर रुग्ण रहने लगा। वह हृष्ट-पुष्ट शरीर, जो पड़ोसियोंकी ईर्ष्याका कारण बना हुआ था, धीरे-धीरे सूखने लगा। रक्त, मांस, मज्जा निकल-निकलकर कहाँ जा रहे हैं! किसे पता! पुत्र-पतोहू रात-दिन चिन्तित रहने लगे। अनेक प्रकारके इलाज, झाड़ा-फूँकी आदि कई उपाय करवाने लगे; पर सफलता नहीं मिली। रोगका पता नहीं चला। गीताका पाठ और अखण्ड हरिकीर्तन कराना, भूखोंको पक्वान्न, गायोंको हरी घास, कबूतरोंको जुआर खिलाना—ये सब पुण्य-कार्य किये जाने लगे।

मातृसेवामें तल्लीन रहनेके साथ ही मधुसूदनका भगवन्नाम-जप निरन्तर मन-ही-मन चलता रहता था। साधुसंतोंके सत्संगसे वह यह तथ्य जाने हुए था कि हरि-भजनमें संसारके दुःखोंको मिटाने, सुख-सम्पदा देने और यमदूतोंको भगानेकी बड़ी भारी शक्ति समायी हुई है।*

पतोहू रामदेवीने बच्चोंकी सँभाल एवं घरके अन्य आवश्यक कार्य करना गौण कर दिया था। वह पतिकी सँभाल और सासकी सेवामें तन-मनसे लगी रहती थी। दम्पतिके सम्मुख एक ही लक्ष्य था—हर तरह माताकी सेवा कर उसे चंगा करना।

'भाई! अपनी आजीविकाको सँभालो। नौकरी छूट जानेपर मिलना महाकठिन हो जायगा, आज ही अधिकारी तुम्हें पदच्युत कर देनेका जिक्र कर रहे थे।'

मित्रका आभार मानते हुए मधुसूदनने दृढ़तासे कहा—'माताजीकी सेवाका अवसर जीवनमें फिर कब आयगा! नौकरी कल छूटती हो तो भले ही आज छूट जाय। भगवान् दूसरी रोजी खोज देगा। उस दाताके हजारों हाथ सदा खुले रहते हैं। आकाशके तारों और सिरके बालोंसे भी अधिक संख्यक प्राणियोंको वह नित्य समयपर भोजन देता है। न हाथी भूखा रहता है, न चींटी। मेरी उसीको चिन्ता है।'

अखण्ड-कीर्तनके श्रवणसे बालकुँवरकी बेहोशी कभी-कभी टूट जाती। उसे भगवन्नामकी ध्वनि सुनकर आन्तरिक प्रसन्नता होती—शान्ति मिलती, ऐसा आभास उसके मुखमण्डलके भावोंको देखकर मिल रहा था। देखकर सभी कहते—'अब तो सुधार हो रहा है!'

रुग्णाके नेत्र बंद हो गये थे। साँसका थोड़ा-थोड़ा आवागमन हो रहा था। तुलसीदलके साथ गङ्गाजल पिलाते ही उसकी आँखें एकाएक खुलीं—साथ ही वह साहस करके उठ बैठी। चेष्टाएँ कुछ ऐसी मालूम होती थीं कि मानो कोई अत्यावश्यक कार्य करना शेष रह गया है, जिसे संसार छोड़नेके पहले पूरा करना है। उसने काँपते हुए अशक्त दोनों हाथ पुत्र-पतोहूके मस्तकपर रक्खे—बालकोंको परम स्नेहभरी निगाहसे निहारा। एक बड़ी ही शान्तमुद्रा बन गयी थी—उसकी। मुखमण्डल, नेत्रोंके भाव बता रहे थे, मानो वह बेटा-बहूको केवल स्नेहवश ही नहीं, बल्कि उनकी अथक सेवाके बदले उन्हें अशेष आशीर्वाद देकर निहार कर रही है। सूखे हाथोंकी चूड़ियाँ सरककर कुहनीतक आ गयी थीं। चूड़ियोंकी खनक बता रही थी, मानो महाप्रया की घण्टी बज रही है।

ठीक ऐसे ही समय पास रहनेवाले वकीलजीने अ परिवारवालोंको तुरंत बुलाया। बोले—'देखो, इस अ दृश्यको और शिक्षा ग्रहण करो इससे।'

---

* भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्। तर्जनं यमदूतानां रामरामेतिगर्जनम्॥ (रामरक्षास्तोत्र, ३६वाँ श्लोक)

शुभ काम दिखावेके लिये न करें

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्राचीन कालकी अपेक्षा वर्तमानमें शुभ कार्योंकी प्रवृत्ति वैसे ही कम होती जा रही है। यों जो थोड़ी भी शुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी एक बड़ी खराबी घुस गयी है—दिखावेकी। मनुष्य काम थोड़ा करता है पर दिखावा अधिक करता है, जिससे लोग उसकी प्रशंसा करें, हृदयकी प्रेरणा वहाँ काम नहीं करती हुई नजर आती है, इससे उसके फलमें भी कमी होना स्वाभाविक है। जीवन दिनोंदिन नकली-सा बना जा रहा है, अंदर कुछ है तो बाहर बोलना एवं आचरण करना उससे भिन्न प्रकारका है। भावनाशून्य धर्माचरणका फल हो भी क्या सकता है? पर आजकल धर्माचरण प्रायः दिखावेके लिये ही किया जाता है; अतः वास्तवमें वह धर्माचरण न होकर ढोंग या मायाचार-सा हो जाता है।

धर्म ऋजुता अर्थात् सरलता है। मन, वचन, कायाकी एकताके साथ जो कुछ भी किया जाता है उसका फल बहुत अच्छा मिलता है। पर जब बिना परिश्रम किये ही बाहरी दिखावेसे 'वाह-वाह' मिल जाती है, तब दुर्बलहृदय मनुष्यका उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। बाहरमें अच्छा लगे या लोग उसे अच्छा कहें, इसी उद्देश्यसे जो शुभ प्रवृत्ति की जाती है उसका फल तो उतना ही मिलेगा न कि लोग उसकी प्रशंसा कर दें और उसे अच्छा समझने लग जायँ। आत्मकल्याण उस प्रवृत्तिसे कुछ भी नहीं हो सकता। अपितु ढोंग या मायाचारके कारण आध्यात्मिक पतन ही होता है। जिन प्रवृत्तियोंसे महान् लाभ मिलनेका शास्त्रोंमें उल्लेख है, उन प्रवृत्तियोंको करते हुए भी हमें उसका इच्छित परिणाम क्यों नहीं मिलता, इसपर यदि विचार करें तो हमें स्पष्टरूपसे अपनी कमी नजर आयेगी। फल तो भावनाके अनुसार ही मिलता है। दिखावेके लिये की जानेवाली क्रियाओंका फल, शास्त्रोंमें वर्णित महान् लाभ कैसे मिल सकता है? बाह्य आडम्बरोंसे आन्तरिक शुद्धि हो ही नहीं सकती।

गीताका कर्मयोग तो यह शिक्षा देता है कि जबतक शरीर आदिसे सम्बन्ध है, तबतक कुछ-न-कुछ प्रवृत्तियाँ तो करनी ही पड़ेंगी, पर इसमें कर्तृत्वका अभिमान एवं फलकी आसक्ति न रक्खी जाय। पर हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति फलकी कामनासे ही होती है। काम थोड़ा-सा हो और लाभ अधिक मिले, यही सभीकी इच्छा रहती है। काम और यशकी कामना तो वर्तमानमें बहुत ही बढ़ गयी है। दानको ही लीजिये—जहाँ मनुष्यका थोड़ा-सा नाम और यश होता हो उसके लिये तो लंबी रकम देनेमें भी मनुष्य संकोच नहीं करता। पर ऐसे किसी महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये आज चन्दा मिलना कठिन हो गया है, जिसमें व्यक्तिका नाम या यश न होता हो। गुप्तदान आज कितने लोग करते हैं, यह हमसे छिपा नहीं है। जो कोई भी गुप्तदान करते हैं, वे भी बहुत बार तो मन-ही-मन कीर्तिकी कामना रखते हुए नजर आते हैं। करुणावृत्ति, उदारता एवं अन्तःप्रेरणापूर्वक थोड़ा भी किया हुआ दान महान् लाभका कारण होता है; पर आजका अधिकांश दान कार्यकी महत्तापर विचार न करते हुए दूसरोंके दबावसे या दिखावेके लिये ही किया जाता है।

हमारे साधारण व्यवहारमें भी इस दिखावे या नकलीपनका बहुत अधिक प्रभाव दिखायी देता है। आत्मीयताका गहरा प्रेम-सम्बन्ध जैसा पुराने व्यक्तियोंमें देखनेको मिलता था, आज स्वप्न-सा हो गया है। दो व्यक्ति मिलते हैं, तो शिष्टाचारके नाते एक दूसरेसे नमस्कार आदिका व्यवहार कर लेते हैं। मित्रता एवं प्रेमकी लंबी-चौड़ी बातें की जाती हैं, पर वह है केवल दिखावेमात्रकी, अन्तरात्माको टटोलिये तो यही मालूम होगा। जिन व्यक्तियोंके पास कुछ पूँजी नहीं है, वे भी बाहरी टीपटाप द्वारा अपनेको धनवान् दिखानेका प्रयत्न करते हैं। कपड़ोंकी सफाई बहुत अधिक दिखायी देती है, पर मनमें तो मैल भरा पड़ा है। बातोंमें शूरवीरता है, पर हृदयमें कायरता है। लंबे तिलक, हाथमें माला और मुखमें राम-नाम जपते हुए अपने लिये भक्त या धर्मात्मा होनेका दिखावा किया जाता है; पर हृदयमें भक्ति और धर्म नहीं होता। इसीलिये तो आजकल लोगोंकी देव गुरु-भक्ति एवं धर्मके प्रति श्रद्धा कम होती चली जा रही है।

आत्मोत्थानके लिये सबसे पहली और जरूरी बात यह है कि कपटरूप कालुष्यको दूर किया जाय। सरलता और सादगीको अपनाया जाय। अपने दोषोंको छिपानेका प्रयत्न न हो और अपने गुणोंका प्रदर्शन नहीं किया जाय। हम जिस स्थितिमें हैं, तदनुसार हमारा बाहर और भीतर एक-सा

हो। केवल दिखावेके लिये कुछ न करें। जो कुछ भी हो सब अन्तःप्रेरणासे ही किया जाय। आज हमारे जीवनमें जो नकलीपन बढ़ रहा है, उसे रोका जाय। हम जो भी काम करें, वह हृदय या आत्म-प्रेरणासे ही करें, दिखावेके लिये नहीं। दिखौवापन तो धोखेकी टट्टी है, भोलेभाले लोग उसके चक्करमें फँस जाते हैं। जैसे वेश्याका प्रेम बनावटी या दिखाऊ होता है, अन्तरमें वह किसी व्यक्तिसे प्रेम नहीं करती। उसका प्रेम केवल पैसे या धनसे होता है। वैसे ही धार्मिक एवं व्यावहारिक वृत्तियाँ दूसरोंको ठगने या अच्छी लगनेके लिये करते हैं तो इससे चित्तकी शुद्धि नहीं होती, अपितु चित्त दूषित और मलिन होता है; फलतः इसका परिणाम भी अच्छा नहीं हो सकता। व्यवहारमें शिष्टाचारका पालन करना पड़ता है, यह अलग बात है; पर पारमार्थिक कामोंको केवल दिखानेके लिये ही नहीं करना चाहिये।

हम प्राचीनकालके लोगोंको देखते हैं, वे कितने बड़े-बड़े काम कर गये हैं। उन्होंने अपना नामतक भी प्रकट नहीं किया तब प्रशंसा आदि तो बहुत दूरकी बात है। बड़े-बड़े ग्रन्थकार हुए, पर वे किसी ग्रन्थमें अपनी प्रशं या परिचयके लिये दो शब्दतक भी न लिख सके।

जो काम करता है, उसका नाम स्वयं हो जाता है। और नाम यदि न भी हो तो भी उसे तो आत्मसंतो होता है। और यही सबसे बड़ा नाम है। नाम तो यहाँ बड़ोंका भी स्थिर नहीं रहा तो आपका-हमारा क्या रहनेवा है? लंबा काल बीतनेपर नाम भुला दिया जाता है। प्रदर्शन-प्रवृत्तिका लाभ बहुत ही साधारण एवं अस्थायी है। बाहरी टीम-टामसे सच्चाई छिप नहीं सकती। दूसरोंको धोखा देना अपनेको ही धोखा देना है। कपट-क्रिया महान अनर्थकारी है।

अपने दोषोंको छिपानेसे दोषोंको बढ़ावा मिलता है और अपने गुणोंकी प्रशंसासे अभिमान पनपता है। इसीलिये संत पुरुष अपने साधारण दोषको भी बहुत बड़ा मानते हैं। दिखावेकी प्रवृत्ति तो दूषित है ही।

◆

भरत-राम-मिलन

(१)

भरतसे मिलने आये राम।
यहाँ भरतके रोम-रोममें पहलेसे ही छाया राम॥
नयन भरतके अश्रु बहाकर चरण रामके धोये।
राम-राम कह उठा हृदय, हो विकल राम भी रोये॥
जटा रामकी बढ़ी, भरतके लिखा भाल पर राम।
भरतसे मिलने आये राम॥

(२)

लंका जीत राम घर आये,
सुर-मुनि-गण आनन्द मनाये,
आज अवधमें मंगल छाये,
धन्य हो गये भरत जीतकर जीवनका संग्राम।
भरतसे मिलने आये राम॥

(३)

करने सुखद रामका दर्शन,
आये दौड़े परिजन-पुरजन,
गूँज रहा अभिनन्दन-वन्दन,
चरण पकड़कर भरत कह रहे अपना अवध सम्हालो राम।
भरतसे मिलने आये राम।

—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़, 'कमल' वेदान्तर

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पूर्ण निर्भरतायुक्त नामजप तथा प्रार्थनाका आश्चर्यजनक फल और दूधवालेकी आदर्श निर्लोभिता

मेरे पतिदेवने एक होटल चलाया था । पर उसमें घाटा हो गया और लगभग दो हजार रुपये दूकानदारोंका कर्ज चुकाना बाकी रह गया । वे लोग बार-बार तकाजा करने लगे । इससे तंग होकर मेरे पतिदेवने एक वर्षका समय माँग लिया और गाँवसे दूर एक कुटिया बनाकर उसमें रहने लगे । सब ओरसे निराश होकर उन्होंने ऋणमुक्तिके लिये भगवान्से ही अर्थलाभके निमित्त प्रार्थना करना उचित समझा और वे आर्त होकर भगवान्को पुकारने लगे । समय जाते देर नहीं लगती । ११ महीने २१ दिन बीत गये । कहींसे भी कोई अर्थ-लाभ नहीं हुआ । उनकी कर्ज चुकानेकी अवधिमें केवल नौ दिन शेष रह गये । महाजनोंने जोरसे तकाजा शुरू किया । उन्होंने कहा—'भाई ! यह कलियुग है, इस युगमें भगवान् मर गया है । जब परिश्रम किये बिना भोजन भी नहीं मिलता, तब तुम-जैसे आलसी बनकर बैठनेवालेका कर्ज भगवान् चुका देगा—यह सोचना ही मूर्खता है । भगवान् है कहाँ । अब यदि आजसे नवें दिन तुम हमारा कर्ज नहीं चुका दोगे तो हम बीच बाजारमें जूतोंसे मारकर तुम्हारी इज्जत बिगाड़ेंगे । तुम्हारा भगवान् कहाँ है, यह हम भी देखेंगे ।' मेरे पतिदेवको बात बुरी तो लगी, पर वे क्या करते ।

मेरा हृदय इसे सहन नहीं कर सका । तब मैंने उन महाजनोंसे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—'भाई ! आप अब कृपापूर्वक मेरे पतिदेवको दस दिनका समय मेरे कहनेसे और दें । इसके बाद मैं आपलोगोंके घर जाकर आपका पैसा-पैसा कर्ज चुका दूँगी । ऐसा न हो तो आप मेरे पतिके साथ ही मुझको भी जूतेसे मार सकते हैं ।' उन्होंने पूछा, 'आपका कौन है जो कर्ज चुका देगा ?' मैंने कहा—'मेरा एक सगा भाई है, वह धनाढ्य है, वही मेरा कर्ज चुकायेगा ।'

वे लोग लौट गये । मेरे पतिदेवने पूछा—'बम्बईमें तुम्हारा भाई कौन है ?' मैंने कहा—'भगवान् ही मेरा भाई है, मैं उसीसे माँगूँगी ।' मेरे पतिदेवको मेरी बातपर कैसे विश्वास होता, पर उपाय भी क्या था ! उन्होंने कहा, जैसी भगवान्की इच्छा ।

तब मैं गीताप्रेससे प्रकाशित 'सीताराम-भजन'की पुस्तिका लेकर मौन (सांसारिक बातोंके लिये) होकर अखण्डरूपसे (निद्राके चार घंटे छोड़कर) सतत नाम-स्मरण करने लगी । दस दिनोंतक सतत यह क्रम चला । दसवें दिन बम्बईसे एक दूधवाला भैया आया । बम्बई छोड़ते समय उसके चालीस रुपये हमें देने थे । मेरे पतिने पाँच-पाँच रुपयेके आठ प्राइज बाण्ड (Prize Bond) खरीदे थे । रुपये न होनेसे उनके बदलेमें वे आठों 'प्राइज बाण्ड' उसको दे आये थे । उसने आकर कहा कि 'भाई ! तुम्हारे इनामी बाण्डपर ७५००) रुपयेका इनाम मिला है । वही रुपये मैं लेकर आया हूँ ।' हमलोग तो सुनकर आश्चर्यचकित और गद्गद हो गये । उसने अपने चालीस रुपये और आने-जानेका रेलभाड़ा काटकर शेष सब रुपये हमें दे दिये और वह लौट गया । भगवान्ने अपने नामकी महिमा सिद्ध की और हमारी इज्जत बचा दी । हम उस दूधवाले भैया*के भी अत्यन्त कृतज्ञ हैं और इस घोर अर्थ-पैशाचिकताके युगमें उसकी ऐसी ईमानदारीकी प्रशंसा करते हैं, जो जरा भी लालचमें नहीं पड़ा और पूरे रुपये तुरंत दे गया ।†

—श्री के० लक्ष्मीदेवी

(२)

मनुष्यको मृत्युका ग्रास बनते कैसे देखा जाय ?

धीमु भाई परोपकारी और दयायुक्त सहृदय डाक्टर थे । विदेशसे लौटे डाक्टर होनेपर भी उनके व्यक्तित्वमें दूसरेको सुखी करनेकी कला और कठोरताके बदले नम्रता तथा सरलता टपकी पड़ती थी ।

उन्होंने एक साइकल ले रक्खी थी, उसपर दवाकी बेग लेकर वे आस-पासके गाँवोंमें जाते । वहाँ बीमार ग्रामीणोंकी दवा करते, उन्हें आश्वासन तथा धीरज देते और

---

* बम्बईकी ओर दूध बेचने तथा दरवानी आदि करनेवाले उत्तरप्रदेशीय तथा बिहारी भाइयोंको 'भैया' नामसे पुकारते हैं ।

† यद्यपि परिश्रम—उद्योग न करके यों बैठना सबके लिये उचित नहीं है । अतः हम इसका समर्थन नहीं करते । उद्योग अवश्य करना चाहिये तथापि पूर्ण निर्भरता होनेपर भगवान् अवश्य ही फल देते हैं; इसके प्रमाणरूपमें ही यह घटना छापी गयी है ।

—सम्पादक

हँसी-खुशीकी बातें करते। रात-बिरात कभी भी अकस्मात् कोई ग्रामीण बुलाने आता तो बिना जी चुराये वे अपनी नींद हराम करके हँसतेमुख उसके साथ चले जाते।

जोरके जाड़ेकी आधीरातके समय किसीने आकर दरवाजा खटखटाया। डाक्टरने दरवाजा खोल दिया।

डाक्टरको देखते ही आया हुआ ग्रामीण उनके पैरोंपर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाकर कहने लगा—'मेरे भाईके संनिपात हो गया लगता है। आप चलियेगा? आपकी दवासे कदाचित् उसकी जान बच जाय···'

डाक्टरने तुरत ही दवाकी बेग साइकलपर रक्खी और वे उस ग्रामीणके साथ जल्दीसे चल पड़े।

दूसरे दिन दुपहरके साढ़े बारह बजनेपर भी डाक्टर नहीं लौटे, तब उनकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई।

लगभग डेढ़ बजे एक गाड़ा डाक्टरके घरके सामने आकर रुका। उसमेंसे किसान-जैसे दो आदमियोंने डाक्टरके नंगे, लहूलुहान, बेहोश शरीरको नीचे उतारा। डाक्टरकी पत्नी तो पागल-सी हो गयी। गाँवसे तत्काल दूसरे डाक्टरको बुलाया गया और धीमु भाईके इलाजकी व्यवस्था हुई। दो ढाई घंटे बाद उनको होश हुआ। हालत पूछनेपर डाक्टरने बतलाया—

'पिछली रातको आया हुआ ग्रामीण झूठा था। उसके साथ मैं थोड़ी दूर गया था कि उसने मुझे रोक लिया। फिर चाँटा मारकर मुझे ढकेल दिया। खड़ा होकर मैं उसका सामना करूँ, इसके पहले ही आस-पासकी झाड़ियोंमेंसे उसके तीन-चार साथी और निकल आये और उन्होंने मुझपर हमला कर दिया। मैं एक-दो बार चिल्लाया। इसी बीच मेरे सिरपर बड़े जोरका आघात लगा। मैं अचेत हो गया। फिर क्या हुआ, मुझे पता नहीं।'

डाक्टरकी पत्नीने उन किसानोंसे पूछा—'डाक्टरको तुम कहाँसे लाये?'

'हम गाड़ा लेकर गाँवकी तरफ आ रहे थे, तब एक ओर हमने किसीको लहूलुहान अचेत पड़े देखा। नजदीक जाकर देखा तो डाक्टर साहब थे। हमलोग बहुत बार दवा लेने आया करते हैं, इसलिये डाक्टर साहेबको पहचानते थे।'—यों किसानोंने बताया।

डाक्टरके गरम कपड़े, कलाईकी घड़ी, जूते, साइकल और पाकेट—जिसमें चालीस-पैंतालीस रुपये थे—सब वे चोर लूट ले गये थे।

एक सप्ताहके बाद डाक्टर धीमु भाई पूरी तरह अच्छे हो गये। तब तुरंत ही उन्होंने एक नयी साइकल खरीदी और फिरसे पूर्ववत् गाँवोंमें जाना-आना और रोगियोंका इलाज करना शुरू कर दिया।

कुछ दिनों बाद एक दुपहरीको कोई एक ग्रामीण दौड़ता हुआ दवाखाने आया और डाक्टरसे विनय करने लगा—'डाक्टर साहब! मेरी स्त्री बच्चा होनेके बादसे बेहोश पड़ी है। अभी खून बह रहा है—दया करो।'

तुरंत ही डाक्टरने दवाखाना बंद करके साइकल सँभाली। उनको जाते देख किसी एक हितैषीने व्यं- विनोदसे कहा—'आपके उपकारका बदला ये लोग कैसे चुकाते हैं, इसका अनुभव तो आपको अच्छी तरह हो चुका है। धीमु भाई! इतनेपर भी आपने दौड़-भाग शुरू की? यह न करके मेरे भाई! प्रैक्टिसमें मन लगाइये तो सेवा भी होगी और कुछ बनेगा भी।'

इस व्यावहारिक सूचनाको सुनकर डाक्टरने रहस्यमं मुसकान बिखेरते हुए कहा—'भाई! सेवा करना और सं आनेपर पैर पीछे रखना—दोनों बातें एक साथ कैसे च सकती हैं? एककी भूलका दण्ड दूसरेपर लादनेका मु क्या अधिकार है? किसीको भी बीमारीसे—संकटसे बचा का प्रयत्न करनेमें ही मेरे जीवनकी सार्थकता है। मैं केवल चार सौ रुपये मात्रकी चीजें लुटी हैं, इतनेके लि ही मैं रोकर बैठ जाऊँ और हाथमें शक्ति रहते भी मनु जैसे मनुष्यको मौतका ग्रास बनते निष्ठुर हृदयसे देख रहूँ? क्यों?' धीमु भाईने जवाब दिया।

हितैषी सज्जन इनकी सेवाभावनाकी उमंग देख अवाक् बने इनको जाते देखते रहे। अखण्ड आनन्द।

—रमेश

(३)

प्रभुकृपासे बिना दहेजके आदर्श विवाह

'श्री·····की लड़की युवती हो गयी थी। अ लड़कीके हाथ पीले करनेकी बड़ी चिन्ता थी। कई लड़के देखे। लड़की थोड़ी पढ़ी भी थी। पढ़े लड़कोंके अभिभावक लड़कीके साथ दहेज भी माँगते

दहेजके नामपर उनके पास फूटी कौड़ी भी न थी। एक वही लड़की थी जिसे बड़े लाड-प्यारसे पाला था। पढ़ाया था। आज हिंदू समाजमें दहेजका बोझ लड़कीवालेके दिलमें घुटन रखता है। दिन-रात उन्हें मानसिक पीड़ा रहती है।

……उन्होंने इधर-उधर कोशिश की पर सफलता नहीं मिली। लड़की भी बड़ी थी। समझदार थी। वह पिताकी परेशानी देखती कि कई जगह जाते हैं, पर उदास ही लौटते हैं। पिता लड़कीको समझाते ताकि धैर्य रक्खे—कहीं गलत रास्तेकी ओर कदम न उठा दे। लड़की दुखी हो उठती। वह अपने दुर्भाग्यपर रो पड़ती। कभी-कभी आत्महत्या करने-तकके विचार आते। वह रामायणका पाठ नित्य करती थी, शंकरजीको जल चढ़ाती थी। यह उसका बचपनसे स्वभाव था। अब वह करुण प्रार्थना करती। कई महीने ऐसे बीत गये। ऐसी दशामें दिन-रात उसे घुटन रहती। खाना-पीना अच्छा न लगता। किसीसे दिल खोलकर बातें करना उसने छोड़ दिया। सदा उदास रहती। एक सहारा प्रभुका था सो थोड़ी आशा आती,—पर काम होनेमें देरी देख मन अधीर हो उठता। पिताने लाख कोशिश की, इधर-उधर सिर मारा। पर कोई ठीक लड़का न मिला। लड़का मिले तो दहेजकी असमर्थता। दहेज न माँगे तो लड़का और परिवार ठीक नहीं। लड़की अपने जीवनसे तंग आ चुकी थी। तभी पिताको एक-दो आदमियोंने सलाह दी कि अमुक जगह एक सज्जन हैं। उनका लड़का पढ़ा-लिखा है, अच्छे स्वभावका है। वहाँ जाओ, पर वे बोले कि 'उस लड़केके लिये तो एक आदमी……हजार रुपये दहेज कह आये थे। पर तब मामला तय नहीं हुआ था।' पिताका मन फिर उदास हो गया। लड़की समझदार थी। उसने पितासे कहा 'आप वहाँ जाइये तो सही।' इधर सुबह प्रार्थना की, रोकर प्रभुसे कहा कि 'अगर यह काम न हुआ तो फिर अब मुझे उठा लेना इस पृथ्वीसे। बहुत दिन हो गये, पिताजीकी यह परेशानी देखी नहीं जाती।'

पिता गये। बातें कीं, लड़केको देखा। लड़केका पिता लड़कीके पिताकी करुण दशा देख पिघल गया। सोचा कि लड़की यदि अच्छी हो तो बिना दहेज शादी करनेमें क्या हर्ज है। धनका क्या होता है। यदि भगवान्‌को धन देना नहीं होगा तो फिर कहीं घाटा लग जायगा और क्षति हो जायगी। यदि लड़की खराब मिल गयी तो जिंदगी भर रोना रहेगा। उन्होंने 'हाँ' कर दी। कहा कि 'लड़की देखकर तय करेंगे।' लड़की देखी, पसंद आ गयी। सगाई पक्की हो गयी। वरीक्षा हुई। लड़कीका मनोभार हटा। पिताने चैनकी साँस ली। लड़केका पिता सोचता था 'मैं बिना दहेज यदि विवाह करूँगा तो समाजमें और लोग भी मेरा अनुसरण करेंगे। समाजकी एक बुराई दूर होगी।' अब लड़केके पिताको इसमें गौरव बोध होने लगा। लड़कीके पिताने किसी तरह बारातके स्वागत, भोजनादिके लिये धन एकत्र कर लिया और आनन्दपूर्वक विवाह हो गया। लड़की ससुराल गयी। अच्छे माता-पिता एवं खुशहाल घर इसने पाया। पति धार्मिक प्रकृतिका तथा दहेजप्रथाका विरोधी था। लड़कीके मनसे ऐसा पति पाकर हीन भावना हट गयी। दहेज दिये बिना हृदयसे चाहनेवाला ऐसा पति उसे मिला। उस लड़कीके हृदयोद्गार ये हैं, जो हरेकको प्रेरणा देंगे—

१—यदि ईश्वरपर आस्था तथा विश्वास रक्खा जाय तो हर तरह काम पूरा होता है। सब सुख मिलते हैं। ईश्वर अपने सहारे पड़े लोगोंका कार्य या तो स्वयं अपने हाथों कर देते हैं या प्रेरणा देकर किसी दूसरेसे करवा देते हैं। कभी निराश नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को अपना प्रिय और सबल संरक्षक मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। विश्वासपूर्वक प्रतिदिन प्रार्थना करनी चाहिये। अपने दिलकी बात प्रभुसे कहकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। भरोसा रखना चाहिये कि जब उन्हें अपनी बात बता दी तो अब मौकेपर काम अवश्य हो जायगा, वे खुद सँभाल करेंगे।

२–ईश्वर सुनते हैं, सबकी सुनते हैं। सब कुछ देते हैं, कोई शिकायत नहीं रहती। सद्बुद्धिसे बढ़कर मूल्यवान् वस्तु क्या है। वही सबसे पहले देते हैं। भगवान् ही परम निर्भरयोग्य हैं तथा हर तरह समर्थ हैं। भगवान्‌को अपना माननेमें हर तरह कल्याण है। भगवान्‌को कोई पराया क्यों मानता है? वे तो अपनेसे भी अपने हैं। परायेपनका भान क्यों होता है।

३–बिना कुछ भी दहेज लिये जो अपने लड़कोंका विवाह करते हैं, वे अपना और समाजका कल्याण करते हैं। उनका यह कार्य—प्रयास सराहनीय है। मानवता भी यही है कि लड़की अच्छी सुसंस्कृत परिवारकी हो ताकि लड़केको अच्छी धर्मसङ्गिनी मिले। लड़की भी ऐसे धार्मिक तथा उच्च विचारोंके परिवारमें आकर अपनेको धन्य मानती है। नवयुवती लड़कियोंको धैर्यपूर्वक धर्मका पालन करना चाहिये। अधीर न होना चाहिये कि इतनी बड़ी उम्र हो

गयी। अपने मनमें भार न रखना चाहिये। न स्वतन्त्र होकर उच्छृङ्खलता अपनानी चाहिये। स्त्री-स्वातन्त्र्य स्त्रीके गुणोंको नष्ट करता है। शास्त्रोचित-धर्म ही श्रेष्ठ है। विश्वासपूर्वक भगवान्से प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये।

(४)

साधारण गृहस्थ, पर महान् संतहृदय

उस दिन मैं अपनी साइकिल ठीक करवानेको, जयपुरके एक दूकानदारके यहाँ ले गया, देखा तो एक पुलिस अधिकारी उक्त दूकानदारको बुरी तरह धमका रहा था और दूकानदार चुपचाप सुन रहा था। अन्तमें उस अधिकारीने केस बनाकर उसे गिरफ्तार करना चाहा। दूकानदार अब भी चुप! पूछनेपर उसने यही कहा कि 'जो भी उचित हो, करें, मैं तैयार हूँ।' वास्तव बात क्या थी यह मुझे पीछे मालूम हुआ। साइकिल टायर-ट्यूबोंपर कोई कण्ट्रोल सरकारकी ओरसे नहीं है, न मूल्य-नियन्त्रण ही है, केवल कम्पनीकी ओरसे दर निश्चित है और परचीद्वारा टायर-ट्यूबकी बिक्री होती है। पुलिस अधिकारी बहुत अधिक टायर बिना परची चाहते हैं, पर जबसे परचीका चलन हो गया है, दूकानदार अधिक टायर उन्हें दे नहीं सकते। इससे रुष्ट होकर ही यह कार्यवाही की जा रही थी। इस सारे समयमें दूकानदारके मुखपर व्याप्त अखण्ड शान्ति दर्शनीय थी। मैंने कभी इतनी प्रभावकारिणी शान्ति नहीं देखी थी। केस तो कुछ बनता नहीं था, फिर भी महाजनको गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे दिन न्यायालयसे जमानतपर उसकी मुक्ति हो गयी और कुछ समय बाद पुलिसने रिपोर्ट दे दी कि कोई वाका हुआ ही नहीं; अतः चार्जशीट नहीं देनी है।

सांसारिक दृष्टिसे कितना भारी अन्याय हुआ उक्त सज्जनपर, किंतु मैं इस मामलेमें कुछ आकृष्ट हो जानेके कारण जानकारी रखता रहा और एक दिन मैं उक्त सज्जनसे कह ही बैठा—'क्या आप इस अन्यायके विरुद्ध कोई केस न्यायालयमें मानहानिका, या आर्थिक हानिका नहीं कर रहे हैं?' जवाब जो कुछ मिला उससे मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ—'भैयाजी! रामजीने जो रच रक्खा था, वही हुआ। अनेकों रूपोंमें रामजी विराजमान हैं। उनकी इच्छा है—पालन करें या मारें। भगवान् दयालु हैं, कर्मोंको भुक्ता कर मायासे छुड़ा देते हैं। वे किसी भी वेशमें पधारें, उनको शत-शत प्रणाम है। भगवान्के किसी भी रूपके विरुद्ध सांसारिक न्यायालयमें कार्यवाही करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी अघटनघटनापटीयसी लीलाको धन्यवाद है। कोटि-कोटि, शरणागतोंकी लज्जा वे ही रखनेवाले हैं। भगवान् उक्त अधिकारीको सद्बुद्धि प्रदान करें और यदि कोई दण्ड इस सम्बन्धमें कर्मानुसार मिलना हो तो उसे क्षमा करें। मैं गृहस्थ सांसारिक, अकिंचन हूँ। वे मेरे माता-पिता, बन्धु-सखा, विद्या-बुद्धि-गुरु तथा उ-प्रेरक हैं। निश्चय ही अन्याय करना और अन्याय सहना दोनों पाप है; किंतु शरणागतवत्सलकी ऐसी ही प्रेरणा है। विरोध किससे किया जाय? किससे बदला लिया जाय। क्या अपने-आपसे क्या सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामीसे। भैयाजी! आनन्दमयके प्रत्येक कार्यमें आनन्द ही क्यों न लिया जाय? वे अधिकारी तो इस शरीरका भला करने आये थे। आमदनीपर बुरा प्रभाव पड़ेगा तो यह जीव (आश्रित) भगवान्के योगक्षेमसे वञ्चित थोड़े ही रह जायगा।'

उत्तर सुनकर मैं चकित रह गया। क्या आज भी संसारमें ऐसे संत गृहस्थ मौजूद है—जो इतना अन्याय सहकर भी किसी प्रकारकी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही करना उचित नहीं मानते, बल्कि सबको भगवान् मानते और उनके विधानपर विश्वास करते हैं। इस कारण मैं जब कभी उधरसे निकलता हूँ, तो मन-ही-मन प्रणाम कर लेता हूँ।

—मदनलाल

(५)

अपकारीके प्रति भी अनोखी दया और भलाई

अभी हालकी घटना है। मुश्किलसे एक दो साल हुए होंगे। यहाँके जूट-हैसियन बाजारके बाड़ेमें एक महाजनका पाटिया है। वयोवृद्ध महाजन बड़े भगवद्भक्त, परोपकारी, धर्मनिष्ठ महानुभाव हैं जो अब अधिकतर व्रजमण्डल आदिमें ही निवास करते हैं। यहाँका कारोबार उनके सुयोग्य लड़के सँभालते हैं। तो इस पाटियाका सारा काम एक मुनीम सँभालता था जो कि महाजनके चाचाके सालेका लड़का था। एक बार उसकी नीयत बिगड़ी और वह अवसर पाकर करीब पौने दो लाख रुपयेका कबाड़ा एवं गोलमाल करके दिल्ली निकल गया।

सब लोग एवं महाजनके चाचा आदि भी उसे पकड़ना चाहते थे; क्योंकि प्रतिष्ठित फर्म थी। मुनीमके विरुद्ध सारे

सबूत भी मिल गये थे और काम भी उसका अत्यन्त निन्दनीय था ही। पर धन्य है उस महाजन सेठके विलक्षण विवेक, दूरदर्शिता और उदारताको। जब आखिरमें यह खबर उनके पास पहुँची और उनके चाचाने उसे पकड़ानेपर जोर दिया तो वे महाजन बोले—'रुपये तो अब किसी हालतमें आनेके हैं नहीं; क्योंकि वे तो गल-पच गये। अब तो वह कबाड़िया हो ही गया तो फिर क्यों उसके साथ ऐसी कार्रवाई करके रहा-सहा आपसी व्यवहार-बर्ताव भी बिगाड़ा जाय। धन तो गया ही, उसके साथ-साथ व्यवहार भी खतम हो जायगा।' इतना ही नहीं, उसकी एक जेवरकी पेटी जो इन्हीं महाजनके लड़कोंके पास रक्खी थी तथा उसके नगद पाँच हजार जो यहाँ जमा थे, इन्होंने उदारतापूर्वक सब उसके यहाँ पहुँचा दिये। महाजनका ऐसा आदर्श त्याग और अपकारीके प्रति भी अनोखी दया और भलाईका बर्ताव देख सब लोग दंग रह गये और महाजनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इस युगमें अपकारीके साथ भी दया-भलाईका बर्ताव करनेवाले ऐसे आदर्श महाजन जल्दी नहीं मिलेंगे।

—वल्लभदास बिन्नानी 'ब्रजेश' साहित्यरत्न

(६)

ईमानदार ताँगेवाला

गत वर्ष, ग्रीष्मावकाशमें अपनी सहधर्मिणीको लेनेके लिये मैं दिल्ली गया था। प्रातःकाल छः बजेकी मोटरसे मुरैना (ग्वालियर) जाना निश्चित हुआ। मेरे साले साहबने एक ताँगा मँगवा दिया और स्वयं सायकिलपर टिकट लेनेको पहले ही चले गये। सामान और सवारियोंसे लदकर ताँगा बस-स्टैण्डपर पहुँचा। मैं अपनी श्रीमतीजीको सामान उतरवानेकी हिदायत देकर टिकट-खिड़कीकी ओर साले-साहबके पास चला गया। टिकट लाकर जब मैं बसमें सामान चढ़ाने लगा तो देखा कि दो सूटकेस नहीं थे। उन सूटकेसोंमें हमारा सभी कुछ था—मेरे सभी अच्छे कपड़े, नकद रुपये, श्रीमतीजीकी कीमती साड़ियाँ और जेवर आदि। सूटकेसोंको न देखकर तो मेरी आँखोंके आगे अँधेरा छा गया। सभीके चेहरे फक्क हो गये।

आजकल, जहाँ आये दिन लूट-खसोट, छीना-झपटी और दिन-दहाड़े आँखोंमें धूल झोंककर लूटनेकी घटनाएँ होती रहती हैं; जहाँ कुली, ताँगेवाले, टेक्सीवाले लोगोंको चकमा देनेकी ताकमें रहते हैं, वहाँ इस प्रकारसे अनायास अप्रत्याशित सूटकेस मिली देखकर कौन उसे लौटा देनेकी मूर्खता करेगा? दिल्ली भारतकी राजधानी, जहाँ आये दिन इस प्रकारकी घटनाएँ होती रहती हैं। वहाँकी धक्कमपेल और भीड़-भड़क्केमें उस ताँगेवालाका पता लगाना, जिसका न हुलिया याद, न नम्बर प्लेट मालूम, नितान्त ही असम्भव-सा कार्य है। पुलिसमें रिपोर्ट लिखवाकर और आफत मोल लेना था। इधर मोटरका समय भी होता जा रहा था। कुछ भी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या करें। आखिर घर जाकर क्या जवाब देंगे? अपनी जल्दबाजी और मूर्खताका इजहार किस मुखसे करेंगे और आजकलके इस अर्थसंकटमें कैसे इतनी बड़ी क्षतिकी पूर्ति कर पायँगे? सभी ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखायी दे रहा था। साले-साहब सायकिलपर इधर-उधर खोज कर रहे थे, किंतु उनका यह प्रयास अँधेरेमें टटोलनेके समान ही था। जिस किसीसे भी कहते, वही हँसता और कहता कि 'इतनी बड़ी दिल्लीमें कहीं भला उसका पता भी लग सकता है? अरे भाई! वह तो कभीका घर पहुँचकर खोल-खालके आनन्द मना रहा होगा।' ऐसे उत्तर सुनकर हम और भी निराश हो गये और सबको रुलाई-सी आने लगी।

जब मनुष्य निरुपाय हो जाता है, जब उसकी शक्ति अपनी सीमापर स्थित हो जाती है, तभी वह भगवान्‌की ओर दौड़ता है। मेरी श्रीमतीजी, 'उनकी बहिनें और मैं—सभी आर्त होकर मन-ही-मन भगवान्‌को पुकारने लगे। उनकी कृपाको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करने लगे। कुछ ही क्षण बीते होंगे वह ताँगेवाला आकर कह रहा है—'बाबूजी! अपने ये दोनों सूटकेस तो ले लो। ये सीटके नीचे अंदर ही रक्खे रह गये। यह तो मैं जब दूसरी सवारीका सामान रख रहा था, तब इनपर निगाह पड़ी। उसी समय सवारी छोड़, यहाँ भागा चला आया। मुझे डर था कि कहीं आप चले न गये हों, अन्यथा फिर आपका घर ढूँढ़ना पड़ता।' सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये।

मन-ही-मन मैंने जहाँ एक ओर उस दयालु ईश्वरको नमन किया, वहीं ईश्वरके साक्षात् प्रतिरूप उस ताँगेवाले प्रति भी मेरा मन कृतज्ञतासे भर गया। मैंने उसे देवस्वरू समझा और पुरस्कारस्वरूप उसे कुछ देना चाहा। किं उस आदर्श मानवने तो कुछ भी लेनेसे इन्कार कर दिया विश्वास नहीं हो रहा था कि इस धोखा-धड़ी, छल-फरे

और बेईमान दुनियामें भी एक गरीब ताँगेवाला इतना ईमानदार होगा । मेरी समझसे वह ताँगेवाला साधारण व्यक्ति नहीं था, जिसने इतने बड़े प्रलोभनपर विजय प्राप्त कर उसे यों ही ठुकरा दिया ।

—प्रो० यदुवीरप्रसाद भटनागर

(७)

‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’ की एक झलक

कोई बारह वर्ष पुरानी बात है कि पूज्य भाई महात्मा श्रीसाधकजी (भू० पू० मिट्ठूलाल चौधरी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) मेरे स्थान दिल्लीमें पधारे और मुझे अपने साथ काश्मीरकी यात्रापर ले चलनेका उन्होंने आग्रह किया । मैं इस बात-पर राजी हो गया कि वे ही दोनोंका सब खर्च बर्दाश्त करेंगे और जब कभी मेरे पास रुपये बचेंगे, तब मैं उनको अपनी सुविधाके अनुसार आधा खर्च वापिस कर दूँगा । जब दिल्ली स्टेशनपर पहुँचे तो दो टिकट लुधियानेतक खरीदे । डिब्बेमें बैठते-बैठते ही मेरी जेब कट गयी । पर उसमें केवल एक छोटी डायरीका बटुआ ही था, जिसमें न जाने कबसे दो-चार आने पड़े हुए थे । श्रीसाधकजीने कहा कि ‘अच्छा हुआ; क्योंकि जब तुमने कहा था कि एक पैसा भी नहीं लेकर चलूँगा तो फिर इतने पैसे ही जेबमें डालनेकी क्यों बेईमानी की ?’ लुधियानेमें सात दिन श्रीस्वामीरामकी ‘रामकुटी’ पर ठहरे । वहाँ मेरे तीन प्रवचन ‘सत्संगमें ‘योगक्षेम’ पर हुए । पर संयोगवश ऐसा हुआ कि कानपुरसे भाई नवलकिशोर भरतियाजीकी बीमारीकी खबर मिली और श्रीसाधकजीको कानपुर बुलाया गया । गरमीके दिन थे, श्रीसाधकजीने कहा कि ‘शाण्डिल्यजी ! तुम अब देहरादून-मंसूरी चले जाओ, जहाँ तुम्हारा पुत्र एन० डी० ए० में प्रोफेसर है और कल मैं भी कानपुर चला जाऊँगा ।’ श्रीसाधकजी मुझे लुधियाना स्टेशनपर पहुँचाने मेरे साथ चले । रास्तेमें कहने लगे कि—‘बच्चू ! मैंने तो काश्मीर-यात्राका खर्च बर्दाश्त करनेको कहा था, न कि मंसूरी जानेका—अब लल्लूजी ! बिना पैसेके कैसे जाओगे ?’ मैंने कहा कि ‘भाई साहब ! क्या ‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’वाली बात भूल गये जो ऐसा कहते हो ।’ स्टेशन-पर उन्होंने मेरी जेबमें पाँच रुपये डाल दिये और देहरादून-को तार दे दिया कि स्टेशनपर मुझे मोटर लेने आ जाय । सेकंड क्लासका देहरादूनतकका टिकट भी खरीदकर मुझे दे दिया । पर गाड़ी आनेमें कुछ देर थी, इतनेमें प्लेटफार्मपर मेरा एक विद्यार्थी मिला और कहने लगा कि ‘गुरुजी, यहाँ कैसे और कहाँ जा रहे हो ?’ सब बातें बतायीं तो वह कहने लगा कि ‘मैं रेलवेका अफसर हूँ और आज इसी गाड़ीमें मेरा केबिन फर्स्ट क्लासका जुड़ेगा, आप मेरे साथ उसीमें चलिये। चाय-पानी, खाने-पीनेका और ओढ़ने-बिछानेका सब इन्तजाम है । मैंने कहा कि ‘सेकंड’ क्लासकी टिकट खरीद ली है।’ उसने कहा कि ‘इसे लौटा दो ।’ पर श्रीसाधकजीने कहा कि ‘अब टिकट लौटाना ठीक नहीं है—है तो यह भी बेजा कि तुम उस केबिनमें फर्स्ट क्लासमें यात्रा करो—पर तुम्हारे विद्यार्थीका आग्रह है इसलिये आरामसे उन्हींके डिब्बेमें मजे-से सोते हुए चले जाओ ।’ मैंने कहा कि ‘देखी योगक्षेमकी झलक ।’ हँसने लगे । दूसरे दिन प्रातः देहरादून स्टेशनपर पहुँचे तो मुझे लेने मोटर नहीं आयी । वहाँसे छः-सात मील क्लीमेंट टाउनमें जाना था । प्लेटफार्मपर एक वहींके कप्तान साहब मिल गये । मैंने उनसे कहा कि ‘भाई ! एक आपके यहाँ ‘शाण्डिल्य’ रहते हैं, उन्हें जानते हो ?’ कहने लगे कि ‘वह मेरे बँगलेके पास ही रहते हैं और मेरे मित्र हैं ।’ मैंने कहा कि ‘प्रभुने मुझे उनका पिता बनाया है ।’ वे हँसे और मुझे अपनी मोटरमें ले गये और मेरे पुत्रके बँगलेपर उतार-कर चले गये । मेरे पहुँचनेके दस मिनट बाद लड़केको मेरा लुधियानेसे भेजा हुआ तार मिला । वहाँसे मैंने श्रीसाधकजी-को पत्र लिखा कि ‘आपके पाँचों रुपये और टिकट जेबमें ज्यों-की-त्यों पड़े हैं । आपका तार पहुँचा नहीं था, पर एक कप्तान साहब अपनी मोटरमें यहाँ पहुँचा गये—रातमें बड़ा अच्छा भोजन मिला । प्रातः रेलमें चाय-मिठाई इत्यादि सबका प्रबन्ध विद्यार्थीने कर दिया था ।’ श्रीसाधकजीका उत्तर आया कि ‘भैया ! मैं तो साधक ही हूँ—तू तो सिद्ध है ।’ मैंने उनको फिर लिखा कि ‘भाई साहब ! सिद्ध संतों-की चरण-रजके बराबर भी नहीं हूँ । पर प्रसन्नता इस बातको जानकर अवश्य होती है कि परमात्माने अपने अनुग्रहसे आपको और मुझको यह विश्वास दिला दिया कि वास्तवमें श्रीकृष्ण भगवान् अपने मुझ-जैसे क्षुद्र-से-क्षुद्र भक्तोंका भी ‘योगक्षेम’ निभानेका भार अपने ऊपर लिये रहते हैं । तभी तो कहा है कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—एम्० एल्० शाण्डिल्य (प्रोफेसर)

(८)

कोमल कवि-हृदय

एक समय मित्रोंको साथ लेकर स्व० गुजराती कवि कलापी माथेरान गये थे। मित्रोंमें मस्त कवि त्रिभोवन तथा हरगोविन्द भी थे। एक दिन दुपहरके बाद कलापी मित्रोंके साथ बैठे थे। इसी बीच एक पक्षियोंको बेचनेवाला बुलबुल तथा मैनाओंके पिंजरे लिये बेचने आया। बुलबुलोंको देखते ही कलापीको आनन्दावेश हो आया। ऐसी बुलबुलें उनके गाँव लाठीमें नहीं हैं, इसको लेकर वे खेद करने लगे। लाठी ग्राम बुलबुलोंके चहचहाहटसे भर जाय तो कितना आनन्द हो। उन्होंने ऐसी कल्पना करके कुछ बुलबुलें खरीद लीं और उनके पिंजरेको टाँगकर एक दृष्टिसे बुलबुलोंकी ओर देखने लगे। कलापीजीके इस बर्तावसे हरगोविन्द नाराज होते जा रहे थे। उन्होंने पीछेसे उग्र स्वरमें कहा—'ठाकुर! आपकी लाठीमें बुलबुलें अपने-आप आयें, ऐसा बगीचा लगाइये। फिर तो बुलबुलें अपने-आप आयेंगी। आपको इस प्रकारका वातावरण या बाग तो बनाना नहीं है और बुलबुलें जरूर चाहिये। इसीसे बेचारे गरीब पक्षियोंको पकड़कर पिंजरोंमें बंद करके दीवालोंमें कैद रखते हैं। बेचारे वनके जीवोंको वनोंमें नहीं जीने देते।' पास बैठे हुए मित्रोंमेंसे श्रीजीवनराम दवेने हरगोविन्दको रोकना चाहा। तब हरगोविन्दने कहा—'मैं आपसे कुछ नहीं कहता, आप क्यों बीचमें पड़ते हैं?' कलापीने कहा—'कहिये कविजी! मुझे क्या करना चाहिये?' हरगोविन्दने कहा—'आपको राजा बनकर यह आदेश जारी करना चाहिये कि इस प्रकारके पक्षियोंको पकड़कर जो पिंजरोंमें बंद करेगा, उसको कड़ा दण्ड दिया जायगा। ऐसा न करके आप तो खरीदने बैठ गये। अतः ये लोग कल और पक्षियोंको पकड़ लायेंगे और फिर आप इन्हें मुँहमाँगे दाम देकर खरीद लेंगे।'

उत्तरमें हँसकर कलापीजीने कहा—'हाँ, मैं सभी खरीद लूँगा'—इस वाक्यको सुनते ही हरगोविन्द खूब नाराज होकर बोले—'आप-जैसे लोग ही इन गरीब पखेरुओंके दुःखके कारण हैं। अपने कानको आनन्द देनेके लिये खुले आकाशके पक्षीको पिंजरेकी कैदमें डालकर बेचारेको बेमौत मार डालते हैं। इतना कहकर कवि हरगोविन्द बैठक छोड़कर चले गये।

बुलबुलोंके सभी पिंजरे कलापीने तुरंत खरीद लिये और उनको बँगलेके पोर्चमें टँगवा दिया। शामको कलापी मित्रोंके साथ घूमने निकले, तब हरगोविन्द साथ नहीं गये। उन्होंने मुँहतक नहीं दिखाया। भोजन भी उन्होंने साथ न करके अकेले ही किया। दूसरे दिन बड़े सबेरे कवि हरगोविन्द अपने नित्यके कार्यक्रमके अनुसार हाथमें छड़ी लेकर घूमनेके लिये सीढ़ी उतरकर नीचे पोर्चसे निकल रहे थे कि वहाँ प्रातःकालके धुँधले उजियालेमें सामने टँगे हुए पिंजरोंके बगलमें छायाचित्रकी तरह खड़े कवि कलापी दिखायी दिये। कलापी स्थिर खड़े थे। हरगोविन्दने नजदीक जाकर देखा तो सभी पिंजरे खुले थे और उनमेंसे उड़-उड़कर जाते हुए बुलबुलों और मैनाओंकी ओर कवि कलापी रसभरी दृष्टिसे देख रहे थे और छोड़े हुए पक्षियोंसे मानो कह रहे थे कि 'अरे पक्षियो! सुखसे चुगो और गीत गाओ।'

यह देखकर हरगोविन्दने कहा—'ठाकुर! आपको यही करना था तो मुझे कहना चाहिये था न?' कलापीने कहा—'आपकी बात सत्य है। बन्धनसे छूटकर उड़-उड़कर जाते हुए पक्षी कैसे सुन्दर लगते हैं!'

इतना कहकर पक्षियोंको उड़ाकर वे दोनों कवि मित्र प्रातःकाल अकेले आगे बढ़ते हुए उजियालेमें दूरतक घूमने निकल गये। अखण्ड आनन्द।

—शिवलाल फोटोग्राफर

(९)

मोतियाबिंदुनाशक सुरमा

स्वास्थ्यभण्डार विगत सात वर्षोंसे मोतियाबिंदुनाशक सुरमा निःशुल्क बाँट रहा है। उससे लाभान्वित होनेवाले अनेक सज्जनोंने मुझसे यह आग्रह किया है कि उस सुरमेके तैयार करनेकी विधि 'कल्याण' में प्रकाशित करा दी जाय ताकि दूसरे लोग भी सुरमा तैयार करके लाभ उठा सकें। प्रेमी पाठकोंसे विशेष निवेदन केवल यह है कि हमें इस सुरमेका नुस्खा एक योगिराज महात्माने बताया था और इसके द्वारा धनोपार्जन न करनेका हमसे वचन लिया था; अतः पाठक भी कृपया हमारे इस वचनकी रक्षा करते हुए इसके द्वारा धनोपार्जनका प्रयास न करें।

सुरमा बनानेकी विधि—

इस सुरमेमें केवल दो चीजोंका प्रयोग होता है—(१) नीमके फूल, (२) कलमी शोरा।

नीमके फूल जब वृक्षपर पक जायँ तो उन्हें वृक्षसे तोड़ लें। (भूमिपर गिरे हुए न उठावें क्योंकि उसके साथ रेत या मिट्टीका अंश भी आयेगा जो रोगके लिये हानिकारक है।) फूलोंकी हरी डंठल फूलसे अलग करके निकाल दें। (यदि डंठल नहीं निकाली जायगी तो सुरमा बारीक नहीं पिस पायगा और तब आँखमें लगाते समय कष्ट देगा।) फूलोंको छायामें सुखा लें। गर्द, मिट्टी आदिसे बराबर बचाते रहें। छायामें ही सूख जानेपर काली खरलमें इन्हें खूब बारीक-बारीक पीस लें। तत्पश्चात् समान मात्रामें कलमी शोरा मिलाकर पुनः पीसें। कपड़ेसे छानकर शीशीमें रख लें। बस, सुरमा तैयार हो गया।

सेवन-विधि—

१. केवल रात्रिको सोते समय सलाईसे लगावें।

२. त्रिफला (हर्र—१ भाग, बहेड़ा—२ भाग, आँवला—४ भाग) कूटकर रात्रिको साफ बर्तनमें (मिट्टी-का पात्र हो तो अच्छा है) शुद्ध जलके साथ भिगो दें। प्रातःकाल छानकर उससे आँखें धोवें तथा तीन घूँट पी लें।

३. सूर्योदयसे पूर्व नंगे पाँव हरी घासपर कम-से-कम आध घंटा भ्रमण अवश्य करें।

४. चिकित्सा प्रारम्भ करनेसे पूर्व प्रथम तीन दिन शौच हो आनेके पश्चात् शुद्ध जलसे बस्तीकर्म (एनिमा) करें और फिर जब कभी पेट गड़बड़ हो तो बस्तीकर्म करें। एनिमाकी विधि ज्ञात न हो तो किसी स्थानीय चिकित्सकसे पूछें या हमारी 'आरोग्यशास्त्र' पुस्तकमें देखें जिससे स्वास्थ्यके सभी नियमोंका भी ज्ञान होगा।

५. प्रातःकालके जलपानमें गायका मक्खन और मधु (शहद) अथवा गौका धारोष्ण दूध पीवें।

६. भोजन सात्त्विक और सुपाच्य करें। वादी, बहुत गरम और देरसे पचनेवाली वस्तुएँ न खायें। दूध, घी, माठा, मक्खन—सभी चीजें गाय अथवा बकरीकी भैंस, भेड़ आदिकी नहीं। मांस, मदिरा, तम्बाकू, आयल, चाय, भाँग, गाँजा, प्याज, लहसुन, तेल, आइसक्रीम, बरफ, मिर्च खाना मना है। काली मिर्च सकते हैं।

एक विशेष प्रयोग—

कुछ रोगियोंने इस सुरमेके सेवनके साथ ही मोति बिंदुनाशक हवनसामग्रीसे हवन भी किया। अनेक रोगियोंने आशातीत लाभ होनेकी सूचना दी (एक रोगीका तो चश्मा लगानेका अभ्यास जाता बिना चश्मेके ही सब काम करता है) जब कि कुछने लाभ अनुभव नहीं किया। इसके निश्चित परीक्षण नहीं किये जा सके हैं। जो सज्जन उक्त हवनसाम हवनयज्ञ भी करना चाहें वे हवनसामग्री तैयार करने विधि, हवन करनेकी विधि एवं मन्त्र 'देवयज्ञ' पुस्त देखें।

जो सज्जन सुरमा स्वयं तैयार करनेमें असमर्थ हों अपना पता लिखा, टिकट लगा लिफाफा भेजकर 'स्वास् भण्डार, १६ केलाबाग, बरेली (उ० प्र०)'से सुरमा सकते हैं।

—श्रीरवीन्द्र अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०, १६ केलाबाग,

(१०)

सुखपूर्वक प्रसवका नुस्खा

स्त्रियोंको प्रथम प्रसवमें प्रायः बड़ा कष्ट हुआ करता और बहुधा अस्पतालोंकी शरण लेनी पड़ती है। यहाँ नुस्खा लिखा जाता है। इसके सेवनमें बड़ा लाभ होता है एक कीलो मेथीके बीज चक्कीमें पीसकर उनका चून लिया जाय। फिर उस बिना सिके हुए चूनमें शुद्ध घी गुड़ मिलाकर आध पावके लड्डू बना लिये जायँ और एक लड्डू ८वें महीनेवाली गर्भवती प्रतिदिन प्रातः खाना शुरू कर दे तो ९ महीने होनेपर सुखपूर्वक बालक जन्म होता है। प्रसूतिको कोई भी कष्ट नहीं होता।

—हीरालाल पर

(११)

आदर्श सद्व्यवहार

उस समय प्रान्तीयताका इतना पतनकारी प्रचार नहीं था। सन् १९३३ की अगस्त मासकी बात है 'सोफ्ट केक सेस कमेटी'के कार्यालयका नियुक्तिपत्र लिये मैं बम्बईके 'बोरीबंदर' स्टेशनपर उतरा। उस समय केवल तीन रुपये मेरे पास थे। इतने विशाल शहरका आश्रय लेनेके लिये कहाँ जाऊँ। मैं इसी उधेड़-बुनमें पड़ गया। 'खान-पान मिल जाय, पर स्थान न मिले'—ऐसी परिस्थिति थी। बम्बई आफिसके उच्च अधिकारीके नाम मैं सिफारिशी पत्र साथ लाया था। अतएव सबसे पहले उन्हींसे मिलनेका मैंने निर्णय किया। खोजते-खोजते मैं उनके निवास-स्थानपर जा पहुँचा। मुझे देखते ही उन्होंने स्वस्थ मनसे मेरा स्वागत किया। खा-पीकर आफिस जाते समय रास्तेमें ही उन्होंने मुझसे पूछा—'भाई! आपने रहनेकी जगहका क्या प्रबन्ध किया है?' मैंने कहा—'साहेब! मैं इस शहरसे सर्वथा अपरिचित हूँ। पैसे भी ज्यादा साथ नहीं लाया; आप जैसे रास्ता बतायेंगे, वैसे ही करूँगा।' उन्होंने तुरंत ही जेबमेंसे बीस रुपयेके नोट निकालकर मेरे हाथपर रखते हुए कहा—'आपने देखा मेरे यहाँ जगहका बड़ा ही अभाव है, बड़ी कठिनतासे हमारा काम चलता है। ये रुपये रखिये, अधिक चाहिये तो माँग लीजियेगा। परंतु रहनेकी व्यवस्था कहीं अन्यत्र कर लीजियेगा। मैं इस विषयमें लाचार हूँ।' मैं तो इन्हींके यहाँ ठहरनेकी आशा लेकर बैठा था, सुनते ही मेरे होश गुम हो गये।

आफिसमें पहुँचकर रजिस्टरमें हस्ताक्षर करके मैं स्थानकी खोजमें निकल पड़ा। जहाँ गया सभीने उत्साहपूर्वक चाय-पानीसे मेरा स्वागत किया। परंतु स्थानकी व्यवस्थाकी बातपर सभीने किसी-न-किसी बहाने अपनी असमर्थता प्रकट की।

निराश-मुँह शामको मैं आफिस लौटा। बड़े अधिकारी तो नहीं थे, परंतु जिला वीरभूम, बंगालके, इसी आफिसमें काम करनेवाले श्रीचटर्जी महाशय वहाँ बैठे थे। इन्होंने पहला ही प्रश्न—'रहनेकी कहाँ व्यवस्था की' किया। सारी परिस्थितिका परिचय देकर मैंने कहा कि अभी तक तो कहीं ही व्यवस्था नहीं हो सकी है और व्यवस्था न हुई तो मैंने वापस लौट जानेका विचार किया है। मैंने उनसे यह भी कह दिया। यह सुनकर वे कुछ भी बोले तो नहीं, किंतु चिन्तित चेहरा लिये वे उठकर बाहर चले गये।

दूसरे दिन सवेरे बड़े अधिकारीके घर, जहाँ मैं रहता था, वे आये, और स्थानकी व्यवस्था हो गयी है—यह बताकर उन्होंने मुझे सामान लेकर साथ चलनेको कहा। परेल जंक्शनपर बंगाली भाइयोंका सहकारी निवास-स्थान (मेस) था। वे मुझे वहाँ ले गये और रहनेकी सारी व्यवस्था उन्होंने कर दी।

बंगाली मित्रोंने, अन्यभाषी व्यक्तियोंको अपने मेसमें न रखनेका नियम होते हुए भी गत रात्रिको विशेष सभाका अधिवेशन करके एक गुजराती भाईको स्थान देनेका प्रस्ताव पास करके जो सहृदयता दिखलायी; इसके लिये मैंने उन समीका बड़ा ही आभार माना।

लगातार छः महीनेतक मैं वहाँ रहा। फिर घरके लोगोंके आ जानेपर मैंने एक कोठरी किरायेपर लेकर उसमें जाते समय मेसके मन्त्री महोदयसे खर्चका हिसाब माँगा। वे बोल उठे 'भाई! आप तो हमारे अतिथिके रूपमें यहाँ रहे हैं। आपके पाससे खर्चके पैसे लेना बनता ही नहीं।' ऐसी थी उनकी उन्नत भावना।

उस समय भाषाकी दृष्टिसे राज्य-रचना नहीं हुई थी। अब भाषावार राज्य रचना होनेके बाद, यह खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि एक ही देशके, हम विभिन्न भाषी एक दूसरेके समीप आनेके बदले—दूर-दूर होते चले जा रहे हैं। अखण्ड आनन्द।

—शान्तिलाल बोले

* * *

मन्त्र-तन्त्रज्ञाताओंसे निवेदन

कानपुर दालमण्डी मुहल्लेमें यहाँके प्रसिद्ध वैद्य पं० रामेश्वरजी मिश्रके घरके सामने श्रीमोतीलालजी नामके एक वैश्य रहते हैं। अवस्था लगभग ४० वर्ष, दो संतानोंके पिता, घरमें माता-पिता, स्त्री विद्यमान, साधारण आर्थिक स्थितिके व्यक्ति हैं। लगभग चौदह वर्षसे उनके शरीरमें कोई ऐसी आत्मा प्रवेश कर गयी, जिसके द्वारा उनकी हालत बहुत दयनीय एवं शोचनीय हो गयी है। शरीरस्थ आत्मा किसी ऐसी भाषामें बात करती है, गीत गाती है, प्रार्थना करती है तथा घंटों धाराप्रवाह बोलती है, जिसे आजतक कोई नहीं जान पाया है कि वह कौन-सी भाषा किस देशकी है। मोतीलालजी हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्मावलम्बियोंके तीर्थोंपर, मजारोंपर हो आये हैं; किंतु अबतक कोई उनको ठीक नहीं कर सका। आत्माका आवेश होनेके पूर्व जबान ऐंठने लगती है, बोली लड़खड़ाने लगती है और थोड़ी देरमें किसी अजनबी भाषामें धाराप्रवाहिक बातचीत, गाना आदि शुरू हो जाता है। अबतक कोई यह भी नहीं जान सका है कि अंदरसे बोलनेवाली आत्मा भूत, प्रेत, ब्रह्मराक्षस, जिन्न आदि किसकी है। बहुत कहने-सुननेसे ऐसा पता चल है कि कभी-कभी वह आत्मा यह कहती है कि 'इस व्यक्तिके सुन्दर स्वस्थ शरीर तथा सुरीली आवाजसे प्रसन्न होकर मैं कुछ दिनोंके लिये इसके अंदर आया था, किंतु अब कुछ ऐसा हो गया कि इच्छा करनेपर भी मैं इससे अलग नहीं हो पा रहा हूँ, इससे अबतक जिन लोगोंने इसे देखा है, वे सब ऊपरी सतहके जानकार रहे हैं, अंद प्रवेश करनेकी क्षमता उनमें न होनेके कारण कोई मुझे बाहर नहीं कर सका। भारतभरमें मेरा चैलेंज है कि कोई जानकार अंदर प्रवेश करके मुझे एवं इसे एक दूसरेसे मुक्त करें। मैं स्वयं अलग होना चाहता हूँ, किंतु नहीं हो पाता। बराबर इसके अंदर ही रहता हूँ। जब अलग हूँगा तब प्रत्यक्षरूपसे झाड़नेवाला मुझे देखेगा, और तभी हमलोग एक दूसरेसे मुक्त होंगे।' मोतीलालजीको कभी-कभी दूर दृष्टि, दूर श्रवणशक्ति भी प्राप्त हो जाती है और दूर-दूरकी घटना देख पाते एवं बातें सुन लेते हैं। यह सब उस आत्माके कारण ही होता है। वह आत्मा उनको कोई काम भी नहीं करने देती। मेरे एक मित्र डाक्टर श्रीएस० के० वाजपेयीने, जिन्हें आध्यात्मिक साधन (Spiritualism) आदिमें भी बहुत दिलचस्पी है—इस केसमें काफी समय दिया है औ द्रव्य भी व्यय किया है। डाक्टरों और अस्पतालोंकी रिपोर्टके अनुसार यह व्यक्ति पागल नहीं है, और न इसका मानसिक संतुलन ही खराब है। दवा वगैरहसे कोई लाभ नहीं हुआ। जप आदि भी व्यर्थ हुए। यह व्यक्ति स्वयं कुछ जप या साधन नहीं कर सकता; क्योंकि वह शरीरस्थ आत्मा उसे कोई साधन नहीं करने देती। दिन-प्रतिदिन कमजोरी बढ़ती जा रही है—परंतु अब भी मोतीलालजी काफी तगड़े एवं स्वस्थ हैं। इनका केस मन्त्र-तन्त्र आदि विद्याओंके ज्ञाताओंके लिये एक चुनौती है, जिसे वे लोग कृपया स्वीकार कर अपने बलकी परीक्षा करें और एक गरीब व्यक्तिको किसी शक्तिशाली आत्माके चंगुलोंसे बचाकर विद्याकी सार्थकता दिखा पुण्य लाभ करें। पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पतेसे करनेकी कृपा करें। श्रीमोतीलालजी—द्वारा डा० श्रीएस० के० वाजपेयी ६०।४७ नयागंज कानपुर—(C/o Dr. S. K. Bajpai, 60/47, Nayaganj, Kanpur.)*

—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंह प्रतिहार

* * *

---

* कुछ वर्षों पूर्व एक सज्जनकी एक ऐसी ही सूचना 'कल्याण'में छपी थी, पर वे सज्जन बुरी तरह ठगे गये। उनके पास पत्र बहुत आये पर अधिकांश झूठे ही निकले। अतएव श्रीमोतीलालजी भी सावधान रहें। किसी भी हिंसात्मक साधनको कभी स्वीकार न करें।

'कल्याण' का वार्षिक मूल्य किसी अपरिचित व्यक्ति या संस्थाको जमा नहीं देना चाहिये

'कल्याण' के नये-पुराने ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य मनीआर्डरद्वारा सीधे व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेसको ही भेजनेकी कृपा करें अथवा गीताप्रेस, गोरखपुरकी निजी दूकानों, स्टेशन-स्टाल या प्रेससे सम्बन्धित निम्नलिखित प्रतिष्ठानोंपर भी जमा करा सकते हैं; किंतु इनके अतिरिक्त अन्य किसी संस्था या व्यक्तिके पास 'कल्याण' के निमित्तसे कोई भी रकम कदापि भूल करके भी जमा नहीं करानी चाहिये। हमारे यहाँ ऐसी कई शिकायतें आयी हैं, जिनसे पता चलता है कि राजस्थान मैगजीन सप्लाई सेण्टर, जयपुर, मेसर्स जोशी सब्सक्रिप्सन एजेन्सी, अमृतसर तथा अन्यान्य मैगजीन (पत्रिका) सप्लाई एजेन्सी या 'सप्लाई-सेण्टर' आदि नामोंसे 'कल्याण' के ग्राहक बनानेका उद्देश्य बतलाकर लोगोंसे रुपये वसूल किये गये हैं जो हमें प्राप्त नहीं हुए, परिणामतः ग्राहकगण अङ्कोंसे वञ्चित रहे।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी निजी दूकानें

कलकत्ता—श्रीगोविन्दभवनकार्यालय, पता—१५१, महात्मा गाँधीरोड।
दिल्ली—श्रीगीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान—२६०९, नई सड़क।
पटना— " " " —अशोक राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।
कानपुर— " " " —नं० २४/५५, बिरहाना रोड।
वाराणसी—गीताप्रेस कागज-एजेन्सी—नं० ५९। ९ नीचीबाग।
हरिद्वार—श्रीगीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान—सब्जीमण्डी, मोतीबाजार।
ऋषिकेश—श्रीगीताभवन —गङ्गापार, स्वर्गाश्रम।

गीताप्रेसके स्टेशन-स्टाल

दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी—इन पाँच स्थानोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी हैं।

सम्बन्धित प्रतिष्ठान

लखनऊ—श्रीमोतीलाल श्यामसुन्दर, पता—नं० २५ श्रीरामरोड, अमीनाबादपार्क।
नागपुर—श्रीरामभण्डार, 'गीतामन्दिर',—सुभाषचन्द्ररोड।
बम्बई—श्रीगोपाल-ग्रन्थालय, —१८७, दादीसेठ अग्यारीलेन।
बीकानेर—श्रीनारायण-भण्डार, —रामपुरिया कालेजके पास।

गीताप्रेसकी इन निजी तथा सम्बन्धित दूकानोंके अतिरिक्त अन्य किसी जगहपर 'कल्याण' या 'कल्याण-कल्पतरु'का वार्षिक मूल्य जमा नहीं देना चाहिये। अन्यथा उस रकमकी पूरी जिम्मेदारी जमा देनेवाले सज्जनोंकी होगी, हम उसके किसी प्रकारके उत्तरदायी नहीं होंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस, (गोरखपुर)

भूल-सुधार तथा निवेदन

(१) विगत फरवरी (सन् १९६५) मासमें प्रकाशित 'कल्याण'के पृष्ठ ७६१ पर भूलसे ऐसा छप गया कि 'कल्याण' सन् १९६३ के अङ्क ५-६में पीपलके पत्तेके प्रयोगसे सर्प-विष उतरनेकी बात छपी थी। वस्तुतः पीपलके पत्तेसे विषके उतरनेकी बात वर्ष ३४ (सन् १९६०) के अङ्क २ के पृष्ठ ७६६ पर और अङ्क ८ के पृष्ठ ११५० पर है। पाठकगण इस भूलको कृपया सुधार लें।

पाठकोंकी जानकारीके लिये एक बातका और निवेदन है कि गङ्गाजलमें बनी आँखकी अनुभूत दवा वर्ष (सन् १९६०) के अङ्क ६ के पृष्ठ १०२४ पर और 'बजरंग बाण' वर्ष ३८ (सन् १९६४) के अङ्क ६ के पृष्ठ पर प्रकाशित है।

(२) 'कल्याण'के 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' पृष्ठ ६५४ के दूसरे कालममें 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्र एक बीसा यन्त्र छपा है। इसमें 'णं' अक्षरके साथ '७' अङ्क छपना चाहिये था। पर वह '७' के अङ्कका टाइप छपाई समय टूट गया। अतः वहाँ केवल 'णं' रह गया। पाठक वहाँ 'णं'के साथ '७' अक्षर लिखकर उसका प्रयोग करें।

—सम्पादक

एक सूचना

'कल्याण' के 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' पृष्ठ ३२८ में 'श्रीभगवन्नामका रहस्य' शीर्षक एक ले श्रीविजयशंकरप्रसाद राय 'पङ्कज' लेखकके नामसे छपा है। यह लेख 'कल्याण' के गत २७ वें वर्षकी सातवीं संख्या पृष्ठ ११४४ में प्रकाशित हो चुका है। इसके लेखक हैं—प्रो० श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०, बी-एस्० सी० महोदय इन सज्जनने पूर्वप्रकाशित उपर्युक्त लेखकी प्रायः अक्षरशः नकल करके अपने नामसे छपनेको भेज दिया। लेख पहले छपा था, इससे स्मृति रही नहीं; लेख अच्छा लगा—इससे छाप दिया गया। इसका हमें खेद है। 'कल्याण' के अध्ययनशील पाठक महोदयने यह भूल पकड़ी और हमें लिखा, तब पता लगा। इस भूलके लिये हमें खेद है। नहीं किस मोहसे दूसरेका लेख अपने नामसे प्रकाशित करानेकी दुष्प्रवृत्ति हो जाती है। इन सज्जनको हम क्या स्वयं ही इनको अपने इस कार्यके लिये पश्चात्ताप होना चाहिये।

—सम्पाद

'कल्याण'के पुराने चार प्राप्य विशेषाङ्क

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मू० रु० ६.५०, डाकव्ययसहि

२—मानवता-अङ्क

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे ३९, दोरंगा १, इकरंगे १०१, रेखाचित्र ३९, मू० रु० ७.५०, डाकव्ययसहि

३—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १,सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (भगवान् श्रीकृष्णकी विभिन्न रोचक लीलाओंसे सम्बन्धित)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखाचित्र १२०, मू० रु० ७.५०, सजि० रु०८.

इन विशेषाङ्कोंकी जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतियाँ शेष हैं, उनके समाप्त हो जानेपर ये भी उसी प्रकार दुर्ल सकते हैं (जैसे शेष चौंतीस नहीं मिल रहे हैं और उनके लिये जनता बार-बार प्राप्त करनेका आग्रह कर रही अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर मँगवा लेनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरख

कल्याण

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

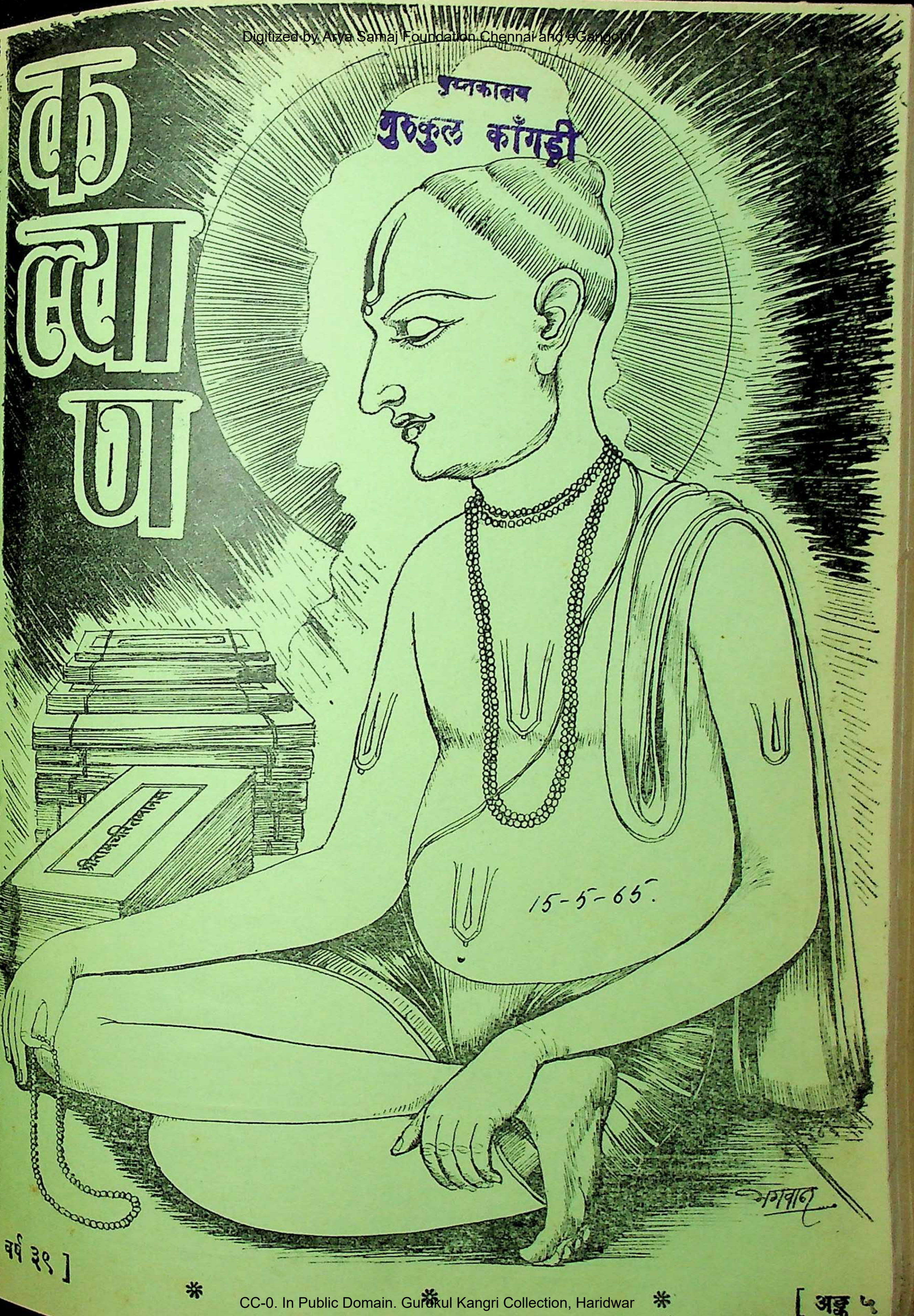
श्रीरामचरितमानस
भगवान

15-5-65.

वर्ष ३९] * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२२, मई १९६५

विषय पृष्ठ-संख्या
१—मुरली-हरण-लीला [कविता] ··· ८९३
२—कल्याण ('शिव') ··· ८९४
३—सच्ची शिव-भक्ति (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ८९५
४—परदोषदर्शन और कुसङ्गसे हानि तथा गुणदर्शन और सत्सङ्गसे लाभ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ८९७
५—मधुररस ब्रह्मके संस्पर्शसे सब मन-इन्द्रिय निहाल हो गये [कविता] ··· ९०१
६—वरिवस्या-रहस्यका दर्शन (डा० सुधीरकुमार गुप्त) ··· ९०२
७—भगवत्कृपा दीनकी सम्पत्ति है [कविता] ··· ९०६
८—शिवका विषपान (डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ९०७
९—निरतिशय सुखकी प्राप्ति और आत्मसाक्षात्कार (आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री) ··· ९१०
१०—जिन ढूँढ़ा तिन पाइया (श्रीअजयकुमारजी) ··· ९११
११—कृष्ण-कल्पतरु सेव [कविता] (श्रीहितहरिवंश महाप्रभु) ··· ९१२
१२—मधुर [कविता] ··· ९१३
१३—मनको उपदेश [कविता] (श्रीसूरदासजी) ··· ९१४
१४—रासलीला (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ··· ९१५
१५—व्रजवासकी विधि [कविता] (संत श्रीव्यासदासजी) ··· ९१८
१६—मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी) ··· ९१९
१७—प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक-चिन्तन (श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ९२२
१८—सब माननेकी बात है! (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, मानस-शास्त्र-विशेषज्ञ) ··· ९२४
१९—सरलता [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ९२६
२०—लोकोपकारकी भावना (श्रीचक्रधरजी 'नलिन') ··· ९३०
२१—समय, शक्ति एवं साधन (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ··· ९३२
२२—सभ्यतासे मदहोश हुए हम कहाँ जा रहे हैं ? (श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया) ··· ९३४
२३—समाजव्यापी पतनका निवारण (श्रीधर्मवीरजी) ··· ९४१
२४—मुसकानकी मधुरता [कविता] (स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी) ··· ९४३
२५—महानताका रहस्य (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ९४४
२६—अटूट आस्था (श्रीबद्रीनारायणजी शर्मा) ९४४
२७—गीता-गुह्य (एक महात्माद्वारा लिखित ग्यारह श्लोकोंकी व्याख्या) ··· ९४५
२८—आराध्य रामका नखशिख (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, डी० लिट०) ··· ९४९
२९—पढ़ो, समझो और करो ··· ९५१
३०—प्रार्थना [कविता] ··· ९५६

चित्र-सूची

१—गोस्वामी तुलसीदासजी (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२—मुरली-हरण-लीला (तिरंगा) ··· ८९३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण
भारतमें ४
विदेशमें ५
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

गीताप्रेसके मूल संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका परम प्रयाण

गीताप्रेसके मूल संस्थापक, संचालक, प्राणदाता श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका नाम 'कल्याण'के सभी पाठक भलीभाँति जानते हैं। इधर कुछ दिनोंसे वे बीमार थे और गत दिनाङ्क १७ अप्रैल, १९६५ शनिवारको उन्हींके द्वारा संस्थापित गीता-भवन, ऋषिकेशमें पवित्र गङ्गा-तटपर संध्याके लगभग ४ बजे उनका देहावसान हो गया। वे मुक्त महापुरुष थे, संत थे; अतएव भौतिक देहके अवसानसे उनकी कोई हानि नहीं हुई। वे तो अपने स्वरूपमें ही स्थित थे और अब भी हैं ही; पर उनके प्रत्यक्ष उपदेशसे, उनके आचरणसे, उनके व्यवहार-बर्तावसे असंख्य लोगोंको जो परम लाभ अनवरत चिरकालसे प्राप्त हो रहा था, वह अब नहीं होगा। उनके अपने लिये शोक या दुःख प्रकट करनेकी जरा भी बात न होते हुए भी हमलोग जो उनके प्रत्यक्ष उपदेशोंसे वञ्चित हो गये, यह हमारे लिये बहुत बड़ी हानि है और इसका भयानक दुःख भी है ही। अब तो हम सभीको उनके जीवनमें आचरित व्यवहारोंके द्वारा और वे जो धार्मिक और आध्यात्मिक अमूल्य साहित्य दे गये हैं, उसको अपने जीवनमें उतारने और उसके प्रचार-प्रसारके द्वारा ही लाभ उठाना चाहिये। यही उनकी परम सेवा होगी, उनका वास्तविक स्मारक होगा और उनके अनन्त उपकारोंके बदलेमें कुछ निवेदन करने योग्य सम्पत्ति होगी। 'कल्याण'के समस्त पाठक-पाठिकाओंसे हमारा यह विनम्र निवेदन है कि वे श्रीजयदयालजीके आत्माके लिये किसी प्रकारका शोक प्रकाश न करके उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करें, उनके भावों और विचारोंका प्रचार करें और जीवनमें परम लाभ प्राप्त करें।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

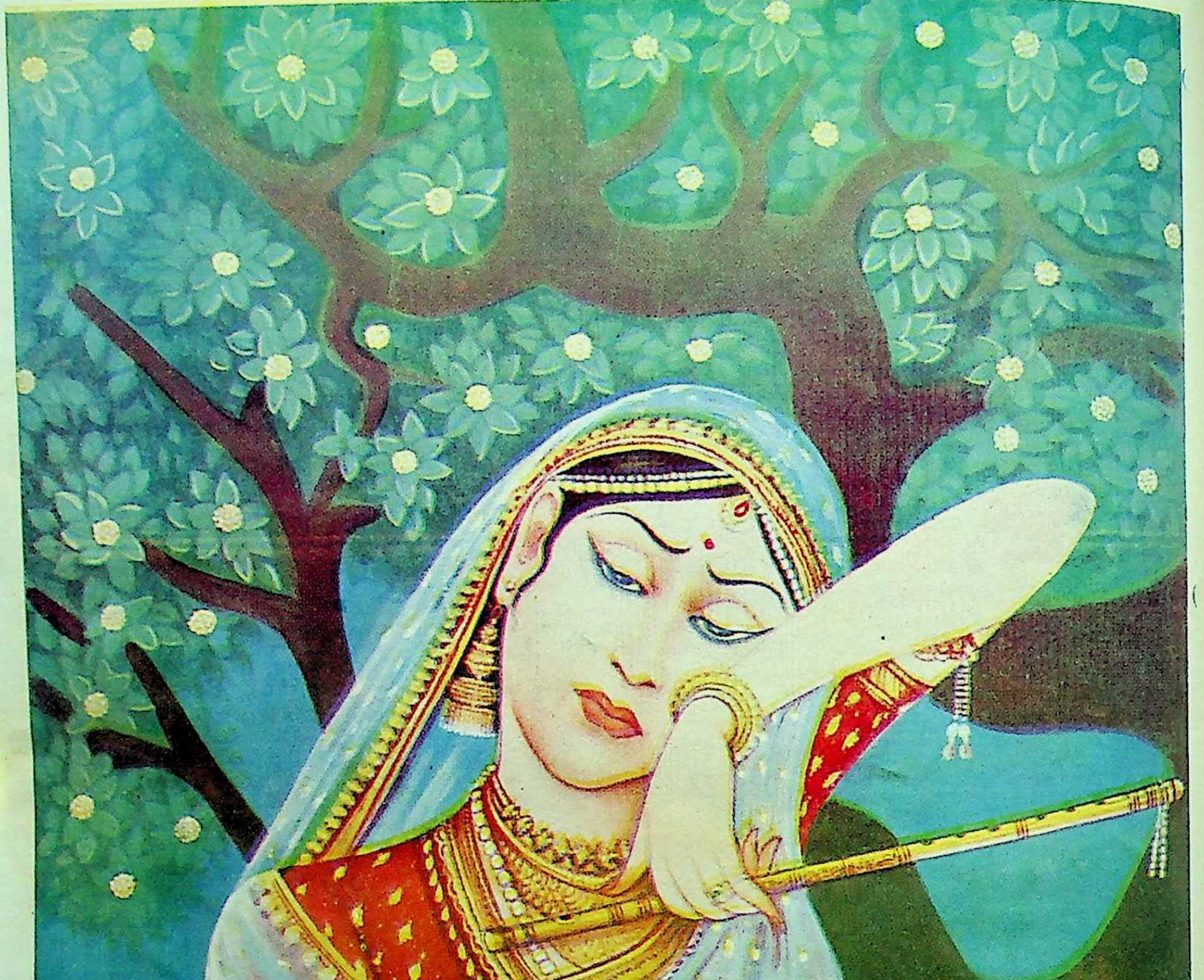

मुरली-हरण-लीला

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२२, मई १९६५ | संख्या ५
पूर्ण संख्या ४६२

मुरली-हरण-लीला

कदँब वृक्ष छाया सुखद, राजत स्यामा स्याम ।
करत परस्पर रुचिर मधु, बिबिध बिनोद ललाम ॥
खेलत-खेलत ही लई, राधा मुरलि छिपाय ।
लाड़िलीकी लीला ललित, समुझे स्याम सुभाय ॥
छिपे तुरत, राधा बिकल बिरहाकुल गंभीर ।
ठाढ़ी, भरे बिषाद मन, रस-सागरके तीर ॥
'औचक कहँ प्रियतम गये' चिंता चित्त अपार ।
भ्रुकुटि कुटिल भइ मान बस, मगन विचित्र विचार ॥

याद रक्खो—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही परम तत्त्वके नाम हैं। वे ही भगवान् निर्गुण, निर्गुण-सगुण, सगुण, सगुण-साकार, साकार, निर्गुण-सगुण-साकार—सब कुछ हैं। उनके गुण उनके स्वरूपभूत अभिन्न हैं। उनका आकार उनका स्वरूपभूत अभिन्न है। जीवोंकी भाँति उनका मङ्गलशरीर न तो कर्मजनित है, न परतन्त्रतासे प्राप्त है, न पाञ्चभौतिक है। न वह कभी बनता और न नष्ट ही होता है। वह लीलास्वरूप नित्य है, वह स्वेच्छामय है और वह सच्चिदानन्दघन-स्वरूप है।

याद रक्खो—भगवान्‌का दिव्य मङ्गल-स्वरूप मायासे नहीं दीखता है। मायासे दीखनेवाली वस्तु असत् होती है, वह दीखती भर है; पर उसकी सत्ता नहीं होती। भगवान् नित्य सत् हैं; वे दीखें या न दीखें—उनका स्वरूप तो नित्य सत्य है ही। उनकी कृपा होनेपर ही दीखता है। लीलासे कहीं प्रकट हो जाता है, कहीं अन्तर्धान हो जाता है। पर वह नित्य सत्य सनातन और दिव्य चिन्मय है।

याद रक्खो—भगवान्‌में न तो इच्छा है, न उन्हें किसी अप्राप्त वस्तुके प्राप्त करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि न तो कुछ उन्हें अप्राप्त है और वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी कोई सत्ता ही नहीं है। उनकी सारी लीला अपनेमें अपने-आपसे ही अपने-आपके लिये अपने-आप ही हुआ करती है। लीला और लीलामय दो नहीं हैं।

याद रक्खो—भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌से पृथक् नहीं है। वह उन्हींकी स्वरूपभूता है और सदा अभिन्नरूपसे उन्हींमें स्थित रहती है। वह शक्ति जहाँ लीलारूपमें प्रकट होती है, वहाँ पृथक् दीखती है; जहाँ प्रकट लीलाका विराम है, वहाँ वह दिखायी नहीं देती। दिखायी न देनेपर भी वह उनमें है ही और दिखायी देनेपर भी वह वस्तुतः उनसे पृथक्—भिन्न नहीं है। श और शक्तिमान्‌का नित्य अविनाभाव अभिन्न सम्बन्ध है जहाँ शक्ति प्रकट है, वहाँ भगवान् व्यक्त माने जाते और जहाँ वह अप्रकट है, वहाँ अव्यक्त। पर यह व्य और अव्यक्त भाव भी—भगवान्‌में कोई अवस्था नहीं है। वे किसी भी अवस्थामें परिणत नहीं होते उनमें जो कुछ दिखायी देता है, वह सब वस्तुतः उन स्वरूपसे भिन्न नहीं है।

याद रक्खो—भगवान्‌का कभी विकास या अविका नहीं होता। वे नित्य सत्य सनातन स्वरूपाति स्वमहिमामें स्थित हैं। कोई किसी भी भावमें, किसी स्वरूपमें उनको देखे, उनकी उपासना करे—सब हैं और सब उन्हींकी उपासना होती है। वे उपासक भावानुरूप उसके सामने प्रकट होकर उसका सारा हरण करके उसे अपने यथार्थ दिव्य स्वरूपका ज्ञा करा देते हैं, वह कृतकृत्य हो जाता है।

याद रक्खो—भगवान् सर्वमय हैं, सर्वातीत है सर्वगुणसम्पन्न हैं, सर्वथा गुणरहित हैं; सर्वाधार है सबसे परे हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं 'सर्व' रूपमें वे ही अभिव्यक्त हैं। वे एक हैं, अन हैं, असीम हैं; वह एकता, अनन्तता और असीमता उनमें उन्हींसे है।

याद रक्खो—भगवान्‌में यह कल्पना ही नहीं हो कि वे ऐसे हैं, ऐसे नहीं हैं; वे निर्गुण ही हैं, सगुण नहीं हैं; सगुण ही हैं, निर्गुण नहीं हैं; वे निर्विशेष ही हैं सविशेष नहीं हैं; वे सविशेष ही हैं, निर्विशेष नहीं हैं। वे सब कुछ हैं और उनके अतिरिक्त किसी भी भावकी सत्ता नहीं है। वे ही इन सारे भावों—स्वरू में विभिन्नरूपसे व्याख्यात होते और अपना साक्षात् कराते हैं। अतः सारे संदेह-भ्रमको छोड़कर अपने-अप भावानुसार उनका आराधन-पूजन करना चाहिये।

'शिव'

सच्ची शिव-भक्ति

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

सबके हृदयमें चेतन है । प्राणीमात्रकी सत्ता इस चेतनके कारण है । सारा ब्रह्माण्ड चेतनके कारण है । वह चेतन ही शंकर है ।

समस्त सचराचरमें व्यापक जो चेतन है, वही पहले था, उसमें और कुछ न था । जब ब्रह्माण्डके उत्पन्न होनेका समय आया तो उसमें एक दमकते हुए प्रकाशवाले अण्डेके आकारकी एक आकृति उत्पन्न हुई । जैसे पानीमें तुम्वा तैरता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका उत्पत्ति-स्थान एक अण्ड उत्पन्न हुआ । उसकी उत्पत्तिके पहले सर्वत्र एकरस था । उसमेंसे आकार उत्पन्न हुआ, वह शंकरका लिङ्ग था । शिव-भक्त उस आदि लिङ्गकी उपासना करते हैं । शिवका अर्थ है—'कल्याण' उस अण्डकोषकी वृद्धि होनेपर उसमेंसे अनेक प्रकारकी सृष्टि और जीव उत्पन्न हुए । जीवमात्रका कल्याण करनेवाला होनेके कारण वह 'शिव' कहलाता है । प्राणीमात्रके लिये सुख प्रदान करनेवाला होनेके कारण वह 'शंकर' कहलाता है । यह शिव-लिङ्ग ही पहले उत्पन्न हुआ था । परमात्मा जो अव्यक्त था, वही शिवरूपमें प्रथम उत्पन्न हुआ । उसके हाथ-पैर आदि कुछ भी नहीं थे । अतएव वह साकार होते हुए भी निराकार था । वही शंकर प्राणीमात्रके हृदयमें चेतनरूपमें विराज रहा है ।

मूल चेतनस्वरूप व्यापक था । जिस प्रकार तिलमें तेल व्यापक है, जैसे फूलमें सुगन्ध व्यापक है, उसी प्रकार चेतनमें शक्ति है । चेतन और शक्ति, दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं । जैसे हम अपनी शक्तिको अपनेसे अलग नहीं कर सकते, उसी प्रकार चेतनसे उसकी शक्ति पृथक् नहीं हो सकती । इस कारण जहाँ-जहाँ चेतन है, वहाँ-वहाँ शक्ति है । जहाँ-जहाँ शिव है, वहाँ-वहाँ शक्ति है । इसी कारण शक्ति शिवकी अर्द्धाङ्ग कहलाती है । जहाँ शिव होता है, वहाँ शक्ति होती ही है । शिव और शक्ति एक ही रूप हैं । तथापि बोलनेमें पृथक्-से जान पड़ते हैं । इसी कारण कवि और चित्रकार उन्हें विभिन्न रूपोंमें चित्रित करते हैं ।

गणपति अर्थात् गणका—इन्द्रियोंका पति, अर्थात् जीव । वह शिव-शक्तिका पुत्र कहलाता है । उसको उत्पन्न करनेवाली शक्ति है, शिव नहीं । शिव तो अकर्ता हैं, प्राणीमात्रकी उत्पत्ति शक्तिसे होती है । जैसे मनुष्य सारा काम अपनी शक्तिसे करता है और शक्तिके विना कुछ होता नहीं; परंतु शक्ति चेतनके विना कोई काम नहीं कर सकती । अतएव परमात्मा शिवके सामीप्यके कारण शक्ति चराचरको उत्पन्न करती है । वह शक्ति ही गणपति अर्थात् जीवको उत्पन्न करती है । सारा ब्रह्माण्ड शिवकी सत्तासे है, इसको शिवके सामीप्यके कारण शक्तिने उत्पन्न किया है । सृष्टिमात्रमें शिव व्यापक है, प्राणीमात्रके हृदयमें जो चेतन है, वह शिवस्वरूप है । प्राणीमात्रका भला चाहना, यथोशक्ति भला करना, प्राणीमात्रपर प्रेम रखना—शिवकी सच्ची पूजा है । किसीको अपनेसे क्लेश न हो, इस प्रकार जीवनयापन करे । जिस स्थितिमें रहे, जहाँ रहे, वहाँ आनन्दमें रहना सीखे । सब सगे-सम्बन्धी, हित-मित्र पक्षियोंके बसेरा-जैसे हैं । ऋणके बन्धनमें सब एकत्र हो गये हैं । ऋणके बन्धनके समाप्त होते ही अलग हो जायँगे । इसलिये जबतक अपना शरीर है, तबतक सबके साथ शान्ति और आनन्दमें रहे । शिव जैसे शान्त, एकरस हैं, वैसे ही शिव-भक्तको शान्त होना चाहिये । शिव जैसे दयालु हैं, वैसे ही उनके भक्तमें भी दया होनी चाहिये ।

शिवजी जैसे जगत्‌के वैभवकी इच्छा नहीं करते, बल्कि तप और भक्ति ही करते हैं, उसी प्रकार शिवभक्तको भी जगत्‌के भोगकी ओर ममता न करके परमात्मा शिवकी भक्ति और इन्द्रिय-निग्रहरूप तप करना चाहिये। शिवको जैसे एकान्त प्रिय है, उसी प्रकार उनके भक्तको आवश्यकतानुसार दूसरोंके साथ संसर्ग रखकर एकान्त सेवन करना चाहिये ।

जीवके लिये भक्ति साधन है और आनन्द उसका फल है । नित्य आनन्दमें रहना ही सारे जीवनका प्रयत्न होना चाहिये । संतोष आनन्दकी उत्पत्तिका स्थान है । अपने कर्मसे, धर्मयुक्त उद्यमसे जो कुछ प्राप्त हो, उससे अधिककी इच्छा न करे । इसका नाम 'संतोष' है । यह संतोष जब अपनेमें दृढ़ हो जाता है, तब आनन्द फलता है । योगदर्शनमें लिखा है कि 'संतोषसे अनुत्तम सुख मिलता है ।' जो लोग कचमच करते हैं, उनको पूरा नहीं मिलता और झंझट पैदा करके दुःख बटोरते हैं । हम भोजन करने बैठे । रसोईमें कोई वैसी बात नहीं है, जो कुछ है खानेयोग्य है । उसे खाकर आनन्दमें रहनेवाला संतोषी है । पर जो कहते हैं, यह ठीक नहीं, वह ठीक नहीं, इस प्रकारके कचमच करनेवालोंको भी खाना ही पड़ता है, किंतु वे स्वयं वृथा क्लेश उठाते हैं और दूसरेको क्लेश उठानेके लिये विवश करते हैं ।

जगत्‌में हमारे इच्छानुसार ही सब होनेवाला नहीं है । हम जो कुछ चाहते हैं, वह सब कुछ मिलनेवाला नहीं है । अतः कर्मानुसार जो मिले, उसीमें आनन्दित होना चाहिये । खेतमें उपजे हुए अन्नपर लड़नेकी इच्छा करना जैसे ठीक नहीं, उसी प्रकार अपने किये हुए कर्मका फल मिले तो उसमें कचमच किस बातकी ?

अब यदि चेतना चाहते हो तो जान लो कि पा- का फल दुःख है और पुण्यका फल सुख है । दुः को दूर करना है तो अबसे पुण्य-कर्म करो, सु जरूर मिलेगा । परमात्माकी भक्ति सबसे बड़ा पुण्य है प्राणीमात्रकी यथाशक्ति सेवा भी पुण्य है । कुछ न बने तो प्रतिदिन, 'हे परमात्मा ! प्राणीमात्रका भला क ऐसी प्रार्थना करनेसे भी बड़ा पुण्य होता है । किसी का बुरा न चाहना भी पुण्य है । सबको अपनेसे सु हो—ऐसा व्यवहार करना तो पुण्य ही है । जैसे परमात्म सबको प्रिय है, जैसे अपनी आत्मा सबको प्रिय है, उसी प्रकार तुम्हारे सम्पर्कमें जो आवे, उसको तुम प्रि न हो तो जरूर तुम्हारेमें दोष है । हमारा बर्ताव इतन निर्दोष होना चाहिये कि किसीके लिये हम त्रासरू दुःखरूप, भयरूप और कण्टकस्वरूप न बनें ।

जो निर्दोष है, वह सबको प्रिय है । निर्दोषता ह सुन्दरता है । निर्दोषता ही आकर्षण है । जितन हृदय निर्मल होगा, उतना ही चेहरेपर सौन्दर्य निखरेगा

उजली चमड़ीसे सुन्दरता नहीं होती । निर्मल हृद से मुँहपर अनुपम आकर्षण तेज आता है, वही स सुन्दरता है; वह सबको आकर्षित करती है, सबको निहाल करती है । इसी कारण नन्हा बच्चा सबको प्यारा लगता है; क्योंकि वह निर्दोष है ।

तुम निर्दोष बनो, तुम निष्कपट बनो, तुम सा बनो, तुम शंकरके भक्त बनो, तुम सत्यवादी बनो, तु हँसमुख बनो । तुम प्राणीमात्रका हित चाहनेवाले यथाशक्ति हित करनेवाले बनो । वैसा बननेमें परमा तुमको सहायता और शक्ति प्रदान करें । ईश्वर तुम्हा भला करें । परमात्मा सबका भला करें ।

परदोषदर्शन और कुसङ्गसे हानि तथा गुणदर्शन और सत्सङ्गसे लाभ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधकको उचित है कि वह किसी भी व्यक्तिमें दोषबुद्धि, दोषदर्शन और उसके दोषोंकी चर्चा न करे। न तो दूसरोंके दोषोंकी बातें सुने, न देखे, न कहे, न मनन करे और न सोचे-विचारे ही। मन-बुद्धिमें दूसरोंके अवगुणोंको स्थान देनेसे अन्तःकरण मलिन होता है; क्योंकि यह मनुष्य-शरीर खेत है और इसमें अन्तःकरण ही बीज बोनेकी भीतरी भूमि है। भगवान्‌ने भी गीतामें शरीरको खेत बताया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
(१३ । १)

‘हे अर्जुन! यह शरीर ‘क्षेत्र’ इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको ‘क्षेत्रज्ञ’ इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।’

अतः जैसे खेतमें जिस प्रकारका बीज बोया जाता है, वैसा ही वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही बीजरूपसे मनमें स्थान पाये हुए दोषोंके संस्कार ही समय पाकर कुसङ्गसे वृक्षरूप धारण कर लेते हैं। दूसरोंमें दोषबुद्धि करनेसे उनमें तुच्छता और घृणाबुद्धि हो जाती है एवं अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है। दूसरोंकी निन्दा करने और सुननेसे जिनकी निन्दा की और सुनी जाती है, उनकी आत्मामें दुःख होता है। इसलिये दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेवालेको बड़ा भारी पाप लगता है। पाप तो दूसरेने किया, किंतु उस पाप करनेवाले मनुष्यकी चर्चा करनेसे चर्चा करनेवाला भी उस पापमें शामिल हो जाता है। अतः जिसकी निन्दा की जाती है, उसके किये हुए पापोंका अंश उस निन्दकको भोगना पड़ता है। दूसरोंके दोषोंकी चर्चा करनेसे वाणी, श्रवण करनेसे कान, दर्शन करनेसे नेत्र, मनन करनेसे मन और सोचने-विचारनेसे बुद्धि—ये सभी दूषित होकर उसका पतन हो जाता है। जैसे मैला जहाँ लग जाता है, उसीको अपवित्र बना देता है। वैसे ही, बल्कि उससे भी बढ़कर यह मनुष्यको अपवित्र बना देता है। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकारके दोष उससे उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये इसमें साधकके लिये किंचिन्मात्र भी लाभ नहीं है; बल्कि सब प्रकारसे हानि-ही-हानि है। अतः मनुष्यको इस दोषसे सर्वथा बचकर रहना चाहिये।

जैसे नीच, नास्तिक, पापी मनुष्यका सङ्ग अत्यन्त हानिकर है, वैसे ही दूसरोंके अवगुणोंकी चर्चा करनेवाले मनुष्योंका सङ्ग भी घातक है। उनका सङ्ग करनेसे उनमें प्रीति हो जाती है और प्रीति होनेसे उनकी बातका असर हो जाता है। जैसे वर्तमानकालमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, चोरबाजारी, सरकारी करों (टैक्सों) की चोरी करनेवाले व्यक्तियोंका सङ्ग करनेसे सङ्ग करनेवाले मनुष्यके मनमें भी लोभके कारण यही जँच जाता है कि इस समय झूठ, कपट आदि दोषोंसे रहित सर्वथा न्याययुक्त शुद्ध व्यापार कोई कर ही नहीं सकता और न उस व्यापारसे जीवन-निर्वाह ही सुखपूर्वक हो सकता है। इस तरहका बुरा असर पड़ जानेके कारण मनुष्य न्याययुक्त सत्य शुद्ध व्यापार करनेसे निराश हो जाता है जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। इसलिये कुसंगसे मनुष्यको सर्वथा बचकर रहना चाहिये। जैसे अपने परिवारके किसी व्यक्तिके प्लेग हो जानेपर उस व्यक्तिमें प्रीति रखते हुए भी उसके छूने आदिका परहेज रखते हैं, उससे बचकर रहते हैं। वैसे ही दोषी व्यक्तिसे घृणा नहीं करनी चाहिये, पर उसके दोषोंसे घृणा करके उन दोषोंसे बचकर रहना चाहिये।

परदोषदर्शनमें महान् हानि है और सच्चे गुणोंके दर्शनमें महान् लाभ है । ऐसा समझकर सबमें गुणबुद्धि ही करनी चाहिये, मनुष्यको गुणग्राही बनना चाहिये ।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

जड चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥
(बाल० ६)

‘विधाताने इस जड-चेतन विश्वको गुण-दोषमय रचा है, किंतु संतरूप हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुण-रूपी दूधको ही ग्रहण करते हैं ।’

श्रीनारायण स्वामीजीने कहा है—

तज पर अवगुन नीर को छीर गुनन सौं प्रीति ।
संत हंस की सर्वदा नारायन यह रीति ॥

‘संतरूपी हंसकी सदा यही रीति होती है कि वे पराये अवगुणरूपी जलका त्याग करके उसके गुणरूपी दूधमें ही प्रीति करते हैं ।’

इसलिये साधकको किसी भी मनुष्य या प्राणीमें कोई भी गुण हो, उसको ग्रहण करना चाहिये । जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग और उनके गुणोंकी चर्चा करनेसे उनका सङ्ग या गुणचर्चा करनेवाले मनुष्यमें उनके गुण और भावोंका असर होकर सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है, वैसे ही किसी भी मनुष्यके गुणोंकी चर्चा की जाय तो उसमें लाभ ही है । फिर भगवान्के गुणोंकी चर्चा करनेसे लाभ हो, इसमें तो कहना ही क्या है । वह तो मनुष्य-जीवनका प्रधान प्रयोजन ही है । श्रीभागवतमें कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(१ । ५ । २२)

‘विद्वानोंने इस बातका निरूपण किया है कि मनुष्यकी तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दानका एकमात्र प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति भगवान्के गुणों और चरित्रोंका वर्णन किया जाय ।’

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः ।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ३ । ३२)

‘जो लोग बार-बार भगवान्के उदार और [illegible] गुण और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है । उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतों और उपवासोंसे नहीं होती ।’

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां
यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४९)

‘जिस वचनके द्वारा भगवान्के परम पवित्र यशका गान किया जाता है, वही परम रमणीय, रुचिकर और प्रतिक्षण नित्य नया है । उससे अनन्त कालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है । मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस गुण-गानके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है ।’

श्रीभगवान् तो गुणोंके सागर हैं । सारे संसारके प्राणियोंमें जो गुण हैं, वे सब मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्के गुणकी एक बूँदके समान भी नहीं है । भगवान्के गुण चिन्मय, दिव्य और नित्य हैं; किंतु प्राणियोंमें जो भी गुण हैं, वे भगवान्के गुणका एक प्रतिबिम्बमात्र हैं ।

अतः हमलोगोंको भगवान्के, सिद्ध भगवद्भक्तोंके, उत्तम साधकोंके और साधारण मनुष्योंके सद्गुणों और सच्चरित्रोंका वाणीसे वर्णन, कानोंसे श्रवण, नेत्रोंसे दर्शन, मनसे मनन और बुद्धिसे निश्चय करना चाहिये । इस

प्रकार करनेसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि——सब परम पवित्र हो जाते हैं।

महापुरुषों और उत्तम साधकोंका सङ्ग तो परम लाभदायक है; क्योंकि उनके श्रद्धापूर्वक सङ्गसे उनमें और उनके गुण-आचरणोंमें रुचि होकर वे गुण और आचरण अन्तःकरणमें उदय होने लगते हैं। इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी शास्त्रोंमें विशेष महिमा गायी गयी है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् शंकरके वचन हैं——

क्षणार्धेनापि तुलयेन स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(४ । २४ । ५७)

'भगवान्के प्रेमी भक्तोंका यदि आधे क्षणके लिये भी समागम हो जाय तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्षको कुछ नहीं समझता; फिर मर्त्यलोकके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है——

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
(सुन्दर० ४)

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सब सुखोंको तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय तो भी वे सब मिलकर दूसरे पलड़ेमें रक्खे हुए उस सुखके बराबर नहीं हो सकते जो लव (क्षण) मात्रके सत्सङ्गसे होता है।'

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(उत्तर० ६१)

'सत्सङ्गके विना हरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, उसके विना मोह नहीं भागता और मोहके गये विना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥
(उत्तर० १२५ ख)

'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर वह संत-समागम श्रीहरिकी कृपाके विना नहीं हो सकता, ऐसा वेद और पुराण गाते हैं।'

भगवान् गीतामें कहते हैं——

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३ । २५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो ध्यानयोग (भक्तियोग), ज्ञानयोग और कर्मयोगमेंसे किसी भी योगसे रहित मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसंदेह तर जाते हैं।'

श्रीभगवान्का सङ्ग और दर्शन तो विशुद्ध अनन्य प्रेम होनेसे ही होता है। यद्यपि भगवान् सब जगह समान रूपसे व्यापक हैं; पर वे प्रेमसे ही प्रत्यक्ष होते हैं——

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा० च० मा० बाल० १८४ । ३)

भगवान्में प्रेम होता है श्रद्धासे। श्रद्धा होती है भगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझनेसे। ये सब समझमें आते हैं महापुरुषोंके और उत्तम साधकोंके सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके मननसे। इसलिये संत, महात्माओं और उच्च कोटिके साधकोंका सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन अवश्य ही करना चाहिये।

सत्-शास्त्रोंमें जहाँ भी भगवान्के क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, प्रेम आदि-आदि गुणोंका वर्णन आता है, उनका शास्त्रों और महापुरुषोंसे श्रवण, अध्ययन, कथन, मनन और निश्चय करना चाहिये एवं उनको सुनकर और मनन करके अतिशय प्रसन्न, रोमाञ्चित, प्रमुदित और आह्लादित होना चाहिये। इसी प्रकार भगवत्प्राप्त भक्तोंके गुण और चरित्रोंको शास्त्रोंमें

पढ़कर और अध्ययन-मनन करके मुग्ध होना चाहिये। भगवान्ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वेंसे १९वें श्लोकतक भगवत्प्राप्त भक्तोंके लक्षण बताये हैं तथा दूसरे अध्यायके ५५वेंसे ५८वेंतक, छठे अध्यायके ७वेंसे ९वेंतक और चौदहवें अध्यायके २२वेंसे २५वेंतक उच्चकोटिके महापुरुषोंके लक्षण बताये हैं। एवं तेरहवें अध्यायके ७वेंसे ११वेंतक ज्ञानके नामसे, सोलहवें अध्यायके पहलेसे तीसरेतक दैवी सम्पदाके नामसे, सतरहवें अध्यायके १४वेंसे १७वेंतक सात्त्विक तपके नामसे उत्तम साधकोंके धारण करनेयोग्य गुणोंका उल्लेख किया है। इनके सिवा और भी गीता-रामायण आदि ग्रन्थोंमें जगह-जगह वर्णन मिलता है। उनका अध्ययन करके उनको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

साधारण पुरुषोंके भी गुणोंका परस्पर कथन करनेसे वाणी पवित्र होती है, श्रवण करनेसे कान पवित्र होते हैं, उनके आचरणोंका दर्शन करनेसे नेत्र पवित्र होते हैं, मनन करनेसे अन्तःकरण पवित्र होता है और हृदयमें बीज रूपसे धारण करनेपर वह वृक्षरूप हो जाता है जिससे हृदय पवित्र होता है। इस प्रकार उनके गुणोंका कथन करनेसे वे गुण हमारे अंदर आने लगते हैं। एवं दूसरोंके गुणोंकी स्तुति करने और सुननेसे उनकी आत्मा प्रसन्न होती है और करनेवालेके चित्तमें भी प्रसन्नता होती है तथा उसमें गुण-बुद्धि होती है, जिससे अवगुणोंका अभाव और गुणोंकी वृद्धि होती है। इस तरह किसीके भी गुणोंके कथन-श्रवण आदिसे अनेक लाभ हैं। फिर महान् पुरुषोंके और ईश्वरके गुण-चरित्रोंका कथन, श्रवण, मनन, धारण करनेसे अतिशय लाभ हो इसमें तो कहना ही क्या है।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि भगवान्, महापुरुष, उत्तम साधक और साधारण मनुष्योंके भी गुणोंका ही बार-बार अवलोकन करें, किसीके भी दोषोंका किसी प्रकार भी कभी अवलोकन न करें; क्योंकि गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्ने कर्मयोगका उपदेश देकर उसमें दोषदृष्टि न करनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा की है और करनेवालोंकी बड़ी भारी हानि बतायी है। वे कहते हैं—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥
(गीता ३ । ३१-३२)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिरहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं; परंतु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ।'

भक्त अर्जुनको भगवान्ने अपनेमें दोषदृष्टि न करनेके कारण ही अतिगोपनीय ज्ञान-विज्ञानका तत्त्व-रहस्य बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गीता ९ । १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

आगे चलकर भगवान् गीताशास्त्रश्रवणके महत्त्व-वर्णनमें भी साधकके लिये दोषदृष्टिसे रहित होना परम आवश्यक बतलाते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
(गीता १८ । ७१)

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

'जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ।'

किंतु जो दोषदृष्टि करता है, उसका अन्तःकरण मलिन रहता है, इसलिये वह दोषदृष्टिके कारण शास्त्र-श्रवणसे भी लाभ नहीं उठा पाता । इसीसे असूयाको गीतामें आसुरी सम्पदाका एक प्रधान लक्षण बताया गया है—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
(१६ । १८)

'वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ।'

असूयाका तात्पर्य यह है कि दूसरोंके दोष देखना, देखकर उनकी निन्दा करना और गुणोंमें दोषारोपण करना । अतः मनुष्यको इन सब दोषोंसे रहित होना चाहिये । श्रीअत्रि ऋषिने अनसूयाके लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि ।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता ॥
(अत्रिस्मृति ३४)

'जो गुणवानोंके गुणोंका खण्डन नहीं करता, थोड़े गुणवालोंकी भी प्रशंसा करता है और दूसरोंके दोषोंमें प्रीति नहीं करता, उस मनुष्यका वह भाव अनसूया कहलाता है ।'

इन लक्षणोंको भलीभाँति समझकर इस भयानक असूया दोषको अवश्य दूर करना चाहिये; क्योंकि किसी भी मनुष्यको बुरा समझकर उसमें दोष देखना साधकके लिये महान् हानिकर और परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है ।

महाभारतमें श्रीवेदव्यासजीने शुकदेवजीसे कहा है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(शान्ति० २५१ । ६)

'जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।'

अतएव हमलोगोंको किसीमें भी दोषबुद्धि न करके सबमें गुणबुद्धि ही करनी चाहिये तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, जिससे हममें गुणोंकी वृद्धि होकर हम परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो सकें ।

मधुररस ब्रह्मके संस्पर्शसे सब मन-इन्द्रिय निहाल हो गये

काननि सुनौं स्याम की मुरली, नैननि निरखौं रूप ललाम ।
घ्राननि सूँघौं अंग-गंध सुचि, परसौं त्वचा अंग अभिराम ॥
रसना चखौं प्रसाद मधुर अति, बानी नित्य करै गुन-गान ।
मन में बस्यौ रहै नित मेरे आठौं जाम मधुर रसखान ॥
करत संग अनबिरत अनूपम मन-इंद्रिय सब भए निहाल ।
पाय मधुर-रस-ब्रह्म-परस रति बढ़त निरंतर निरवधि काल ॥

वरिवस्या-रहस्यका दर्शन

(श्रीभास्कररायकी अपनी टीकाके अनुसार)

(लेखक—डा० सुधीरकुमार गुप्त)

प्रथम अंश

१. भारतीय धर्म और दर्शनमें तन्त्रसाहित्यका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस लेखमें श्रीभास्कररायके वरिवस्या-रहस्यका लेखककी अपनी 'प्रकाश' नामक टीकाके अनुसार संक्षिप्त विषय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तन्त्र-दर्शनमें यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

२. शिवमें 'विमर्श' नामक नैसर्गिकी स्फुरत्ता शक्ति है। उसीके योगसे वह जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है[1]। इसी शक्तिके परिणमनसे सम्पूर्ण अर्थमयी, शब्दमयी, चक्रमयी और देहमयी सृष्टि उत्पन्न हुई है[2]। अर्थमयी सृष्टि शिवसे प्रारम्भ होकर क्षितिपर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंके रूपवाली है। शब्दमयी सृष्टिमें परा आदि वैखरी पर्यन्त शब्द-सृष्टि आती है। चक्रमयीमें बिन्दु आदि भूगृह पर्यन्त और देहमयीमें सूक्ष्म आदि स्थूल पर्यन्त सृष्टिका अन्तर्भाव होता है[3]।

३. उसका ज्ञान गायत्रीसे होता है जो शिवके ज्ञानके उपाय, चौदह विद्याओंके सारभूत वेदोंका भी सार है[4]।

४. इस गायत्रीके दो रूप हैं—स्पष्ट और अस्पष्ट। यह चारों ही वेदोंमें परम गोपनीय है। गायत्रीमन्त्रके 'तत्सवितुः' आदि तीन पाद तो स्पष्ट हैं, परंतु चौथा पाद अस्पष्ट है। यह चौथा पाद **'परोरजसे सावदोम्'** है। यह एक रूप हुआ। श्रीविद्या गायत्रीका दूसरा रूप है[5]।

५. यद्यपि तन्त्रराज और सौन्दर्यलहरी आदिमें हादि-विद्याका प्रथम उद्धार बताया गया है, तथापि कादि-विद्याका ही प्राधान्य माना गया है। इसी विद्यासे षोड़शीकी घटना होती है। इसीमें रहस्यार्थके प्रतिपादक अक्षर हैं। त्रिशतीमें भी इसीका आदर है। त्रिपुरोपनिषद्में इसीको अन्य सब विद्याओंका मूल बताया है। शांखायन ऋग्वेदमें **'चत्वार ईं बिभ्रति'**[6] कहकर इसीका सर्वप्रथम उद्धार माना गया है। योगिनीहृदय आदिमें वर्णित और आगे कहे जानेवाले अर्थोंका स्वारस्य इसीमें पाया जाता है।

६. इस कादि-विद्याको वेदपुरुष **'कामो योनिः कमला'** आदि सांकेतिक शब्दोंसे प्रकट करता है, व्यक्त रूपमें नहीं[7]। **'कामो योनिः कमला'** शांखायन श्रुति है। इस श्रुतिके अनुसार इस विद्यामें प्रयुक्त सांकेतिक शब्दोंका विवरण इस प्रकार है—

काम—क
योनि—ए
कमला—तुरीय (चौथा) स्वर=ई
वज्रपाणि—ल
गुहा—लज्जाबीज
हस—स्वरूप
मातरिश्वा—क
अभ्र—ह
इन्द्र—ल
गुहा—लज्जाबीज
सकल—स्वरूप
माया—लज्जाबीज

७. इस विद्याके तीन कूट हैं—(१) वाग्भव, (२) कामराज और (३) शक्ति। वाग्भवमें श्रीकण्ठ (=अ) के साथ क्रोधीश (=क्), कोणत्रय (—त्रिकोण) [=ए], लक्ष्मी (=ई), अनुत्तर (=अ) के साथ मांस (=ल्), अर्थात् क्+अ, ए, ई और ल्+अ अक्षर हैं[8]।

८. कामराज कूटमें अक्षर (=अ) से पृथक्-पृथक् संयुक्त शिव (=ह्), हंस (=स्), ब्रह्मन् (=क्), वियत (=ह्), शक्र (=ल्) आते हैं[9]।

९. शक्तिकूटमें शिव (=ह्) और वियत् (=ह्) के अतिरिक्त कामराज कूटके ही अक्षर हैं। इन प्रत्येक कूटोंके अन्तमें एक-एकके परिमाणसे कुल तीन हृल्लेखा जोड़ी जाती हैं[10]।

---

[1] वर. १।४। [2] वही १।५। [3] वर. १।५ पर टीका। [4] वर. १।६। [5] वही १।७। [6] ऋ० ५।४७।४।

[7] वर. १।८। [8] वही १।९। [9] वही १।१०। [10] वही १।११।

१०. **हृल्लेखामें** बारह अक्षर होते हैं—व्योम (= ह्), अग्नि (=र्) और वामलोचना (=ई), बिन्दु (= ं), अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मनी । बिन्दुसे लेकर अन्तके नौ अक्षरोंकी समष्टि नादसंज्ञक होती है । ये नौ अक्षर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कालोंमें उच्चारण की जानेवाली ध्वनि-विशेष या वर्णविशेष हैं; क्योंकि चतुःशतीशास्त्रमें नादके अर्थोंका वर्णन मिलता है । योगिनीहृदय, ज्ञानार्णव आदिमें १-भूमि, २-चन्द्र, ३-शिव, ४-माया, ५-शक्ति, ६-कृष्ण, (-मादन !), ७-अध्व-मादन, ८-अर्धचन्द्र और ९-बिन्दु—इन नौ वर्णोंके समूहको 'मेरु' कहा है, जिससे महात्रिपुरसुन्दरीके मन्त्र समुद्भूत होते हैं ।

११. प्रथम और तृतीय कूटोंमें १८-१८ और द्वितीयमें २२ अक्षर होते हैं । इस प्रकार यह विद्या ५८ अक्षरोंकी होती है[११] ।

१२—कालका परमाणु 'लव' होता है । इसका लक्षण यह है कि कमलके पत्तोंके समूहको नुकीली सूईसे भेदन करनेमें जो समय लगता है, वह 'लव' कहलाता है । इसलिये सूक्ष्मतम कालका मापन या ग्रहण सम्भव नहीं । ऐसे २५६ लवोंकी एक मात्रा होती है । बिन्दुमें १२८ लव होते हैं, अर्धचन्द्रमें ६४, रोधिनीमें ३२, नादमें १६, नादान्तमें ८, शक्तिमें ४, व्यापिकामें २, समनामें १ लव होते हैं और उन्मनामें 'काल'का परिमाण नहीं होता है । इस प्रकार नाद (=नौ अक्षरोंका समूह) का काल २५५ लव या एक लव कम एक मात्रा बनता है । वाक्कूटमें एक लव कम ११ मात्राएँ, कामराजमें एक लव कम ११½ मात्राएँ और शक्तिकूटमें एक लव कम ८½ मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार समस्त मन्त्रमें ३ लव कम ३१ मात्राएँ बनती हैं[१२] । अक्षरोंकी उत्पत्ति कण्ठ आदि स्थानोंमें स्पृष्ट आदि अन्तः और विवार आदि बाह्य प्रयत्नोंमें होती है[१३] ।

१३. वाक्कूट प्रलयाग्निके तुल्य है और मूलाधार तथा अनाहत चक्रोंके बीचमें व्याप्त है । कामराजकूट करोड़ों सूर्योंके प्रकाशवाला है और अनाहत तथा आज्ञाचक्रके बीचमें व्याप्त है । तीसरा शक्तिकूट करोड़ों चन्द्रोंकी कान्तिके तुल्य है तथा आज्ञाचक्रसे ललाटमध्य तक फैला हुआ है। इस प्रकार ये कूट छः पद्मोंमें व्याप्त हैं[१४] ।

१४. शब्दकी सृष्टिप्रक्रिया इस प्रकार है—जैसे बड़के बीजमें वटवृक्षका सूक्ष्म रूप निहित होता है और उस बीजस्थ सूक्ष्म रूपसे विशाल वट-वृक्षकी उत्पत्ति, विकास और ह्रास आदि सम्पन्न होते हैं, इसी प्रकार त्रिपुरसुन्दरी ही शब्द-सृष्टिके सूक्ष्म रूपको धारण करनेवाली है। यही 'परा' शब्दसे कहलाती है और सूक्ष्म शब्द-सृष्टि-शक्ति-रूप प्रवृत्तिसे स्थूल शब्दसृष्टिकी निमित्त (=कारण) बनती है । इसे ही '**माति नरति कायतीति च**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मातृका कहते हैं । यद्यपि यह परा नामक त्रिपुरसुन्दरी निर्विकार है, तथापि अनादि कालसे चले आनेवाले प्राणियोंके अदृष्टके कारण उसके मनमें निहित विश्वको रचनेकी कामना उत्पन्न होती है[१५]—कि मैं अनेक हो जाऊँ, अतः मुझे सृष्टि करनी चाहिये[१६] । इस विश्वसिसृक्षारूप ईक्षण-प्रवृत्तिको ही निमित्त मानकर इसके लिये ही 'पश्यन्ती' पदका प्रयोग किया जाता है । यही 'पश्यन्ती' नामक मातृका करणों (=इन्द्रियों) के मार्गसे उत्पन्न (=प्रकट) होनेके कारण 'उत्तीर्णा' कहलाती है । वामादि आठ शक्तियाँ इसके अवयव हैं । इस प्रकार वह ही व्यष्टि और समष्टिरूपसे नौ प्रकारकी है । उसीसे अविकृत शून्य आदि नौ नाद उत्पन्न होते हैं । नादध्वनि कहलानेवाली इनकी समष्टि 'परा'के समान न तो अति सूक्ष्म है, न वैखरीके समान अति स्थूल है । यही मध्यमा मातृका है । अविकृत, शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर नामोंवाली नादनवक है और मूलाधार आदि छः कमलोंवाले नादमें और नादके अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित है ।

१५. इन नौ नादोंसे अ, क्, च्, ट्, त्, प्, य्, ळ् नामक नौ वर्गोंवाली वैखरी नामक मातृका उत्पन्न होती है । वैखरीका अर्थ है—(वै) निश्चयसे स्पष्टतर होनेके कारण (खम्) कानोंके विवरमें वर्तमान आकाशरूप श्रोत्रेन्द्रियमें (राति) जाती है, अर्थात् वहाँ अनुभव होती है—सुनायी पड़ती है । इस प्रकार ककारादिमें कत्व आदि वर्णोंके धर्म

---

[११] वही १ । १४ । [१२] वही १ । १७-१८ । [१३] वही १ । १९ ।

[१४] वही १ । २०-२१ । तु० क० 'पञ्चकोशोंका सिद्धान्त । अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' आदि पाँच मन्त्रोंमें भी पाँच कोषोंकी ओर निर्देश मालूम पड़ता है ।

[१५] तु-क- 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' । ऋ० १० । १२९ । ४ ।

[१६] तु.क. तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। छा०उ० ६ । २ । ३ ।

और षड्जत्व आदि ध्वनियोंके धर्मके अनुभवमें आनेसे मूलाधारसे उत्पन्न हुआ नाद मालाकी मणियोंमें. सूत्रके समान वर्णोंमें व्याप्त रहता है। साथ ही घड़ेमें मिट्टी और वस्त्रमें तन्तुओंके समान यह नाद वर्णोंसे पृथक् न होकर तद्रूप ही होता है।[१७]

१६. बिन्दु मण्डलाकार होती है और ललाटके मध्य दीपकके समान चमकती है। अर्द्धचन्द्र उस (बिन्दु) के ऊपर स्थित है। दीप्ति और रूपमें यह अर्द्धचन्द्र ही है। रोधिनी उससे अगली स्थिति है, रूपमें त्रिकोण है, चन्द्र-ज्योत्स्नाके समान शुभ्र है। नादका वर्ण पन्नेके समान है और उसका रूप दो बिन्दुओंके बीच खड़ी रेखा है। नादान्त विद्युत्की चमकवाला है और बायीं ओर बिन्दुसे युक्त हलके समान है। शक्ति बायीं ओर तिरछी रक्खी हुई दो बिन्दुओंसे निकलनेवाली रेखा है। व्यापिकाका रूप बिन्दु है जिसपर त्रिकोणका केन्द्र ठहरा हुआ है। व्यापिका-की चोटीकी बिन्दु हटानेसे यह उन्मना हो जाती है। इससे ऊपर महाबिन्दु है। शक्ति और अगली दो स्थितियोंमें १२ सूर्योंका इकट्ठा प्रकाश होता है।[१८]

१७. प्रथम कूटके नादको दूसरे कूटके नादके साथ तथा दूसरे कूटके नादको तीसरे कूटके नादके साथ उच्चारण करे, अलग-अलग उच्चारण न करे।[१९] तीसरे कूटके नादको पहले दो कूटोंके बिन्दुसे प्रारम्भ करके समनापर समाप्त करते हुए उच्चारण करे। समनाको उन्मनीके अन्तर्भूत कर दे।[२०]

१८. इस विद्यामें तीनों कूटोंको पृथक्-पृथक् वा समष्टिरूपमें प्रयुक्त करनेसे सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या (=नामरहित)—इन चार बीजोंकी भावना (=कल्पना) की जाती है।[२१] इन चारों बीजोंके भी इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि रूपमें पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिङ्ग और मातृकामें प्रयोगसे चार भिन्न रूप हो जाते हैं।[२२]

१९. अनाख्या तिरोधान और अनुग्रहकी समष्टिको कहते हैं। अथवा यह कृत्यपञ्चकोंमें उदासीनताका अवलम्बन नामक (या—रूपी) स्थिति-विशेष है। यहाँ पुटादि षट्क और धाम-सप्तक पृथक्-पृथक् तीन रूपवाले होते हैं। एक-एक उनकी समष्टि होती है। इस प्रकार ये चार-चार हैं। पुट—ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय और इन (तीनों) का (पारस्परिक) सामरस्य हैं। धाम—चक्र, नाथ, दशा, शक्तित्रय, आत्मरूप सात हैं। इनमें (चक्र—) अग्नि, सूर्य, सोम और ब्रह्म चक्र हैं; (नाथ—) मित्रेश नाथ, षष्ठीश नाथ, उड्डीश नाथ[२३] और आश्चर्यानन्द नाथ हैं; (दशा)—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया हैं; शक्तियाँ—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और शान्ता हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रिया और अम्बिका भी तथा कामेश्वरी, व्रजेश्वरी, भगमालिनी और महात्रिपुरसुन्दरी भी शक्तियाँ हैं। तथा आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा आत्माएँ हैं। तत्त्व—आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व और सर्वतत्त्व हैं। पीठ—कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और उड्याण हैं। ये ही समय और आम्नाय भी कहलाते हैं। लिङ्ग—स्वयम्भू, बाण, इतर और पर हैं। पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और परा मातृकाएँ हैं। अथवा, धामके पदार्थ रूपमें वर्णित तीनों शक्तियाँ मातृपदके अर्थ हैं।[२४]

२०. सृष्टिकर्म तीन प्रकारका होता है—सृष्टिकी रचना, उसकी स्थिति और उसकी संहृति। इसी प्रकार स्थितिकर्म भी स्थिति-सृष्टि, स्थिति-स्थिति और स्थिति-संहृति रूपमें त्रिविध है। संहृति-सृष्टि, संहृति-स्थिति और संहृति-संहृति रूपसे संहृति भी तीन प्रकारकी है। भारती, पृथिवी, रुद्राणीके साथ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमसे इन उपर्युक्त सृष्टि आदि त्रिकोंके अधिपति हैं।

२१. भाव यह है कि (i) प्रथम कूटमें 'क' ब्रह्मका ही रूपान्तर है। त्रिकोण भारती-स्वरूप है। शान्ता, अम्बिका और आत्माका मिथुनरूप तूर्य स्वर विष्णुस्वरूप है। 'ल' पृथिवी-स्वरूप है। 'ह' रुद्रस्वरूप है। 'र' रुद्राणीस्वरूप है। (ii) द्वितीय कूटमें मध्यम 'ह' को छोड़कर शेष अक्षरोंकी यही स्थिति है। (iii) तृतीय कूटमें दूसरे कूटका मध्यम परित्यक्त 'ह' ब्रह्मस्वरूप है। इस कारण भारतीसे

---

१७. व० र०, अड्यार सं०, १९४८, पृ० १७—१८।

१८. वही १। २२—२७। १९. वही १। २८।

२०. वही १। २९—३०। २१. वही १। ३२।

२२. वही १। ३३।

२३. मुपा० उड्डीशनाथ। २४. वर० १। ३३ की टीका।

आरम्भ करके ही 'स' से आरम्भ किया गया है।

२२. इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी त्रिमूर्ति अपनी-अपनी शक्तियों—भारती, पृथिवी और रुद्राणीके साथ सृष्टिके तीनों कर्मोंकी अधिपति है। तथा (शक्तिकूटमें) मन्त्रके विभिन्न अक्षरोंके स्वरूपवाली है।[२५]

२३. प्रथम कूटकी हृल्लेखा (ह्रीं) में स्थित कामकला (ई) में वर्तमान गुरुमुखमात्रसे ही ज्ञातव्य सपरार्धकलाको वह्निकुण्डलिनी कहते हैं।

द्वितीय कूटमें यह सूर्यकुण्डलिनी और तृतीय कूटमें सोमकुण्डलिनी कहलाती है। बिन्दु आदिकी समष्टिरूप नाद[२६] यहींसे उत्पन्न होता है और यह दीपशिखाके ऊपर वर्तमान काजलकी पङ्क्तिके समान है। अनाहतसे आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद तीनों प्रकारकी सृष्टिरूप तीनों लोकोंके मोहन, सम्पूर्ण आशाओंका परिपूरक और सर्वसंक्षोभणरूप तीनों चक्रोंका रूपान्तर ही है।

२४. भ्रूमध्यसे आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद तीन प्रकारके स्थिति-कर्मरूप सम्पूर्ण सौभाग्यदायक, सम्पूर्ण प्रयोजनोंके साधक और सबकी रक्षाके आकर तीनों चक्रोंका अन्य रूप ही है। बिन्दुस्थानसे आरम्भ होकर उत्पन्न हुआ नाद त्रिविध संहृति-कर्मरूप सम्पूर्ण रोगोंका नाशक, सब सिद्धियोंको देनेवाला और सम्पूर्ण आनन्दमयरूप तीनों चक्रोंका ही दूसरा रूप है।[२७]

२५. जपकालमें पाँच अवस्थाओं, छः शून्यों और सात विषुवतोंका ध्यान आवश्यक है। अवस्थापञ्चकमें पहली अवस्था जागरावस्था है। यह अवस्था वाक्, हाथ, पैर, मूत्रेन्द्रिय और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों और नाक, कान, आँख, जिह्वा और त्वचारूप पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होकर जगत्का व्यवहार सम्पन्न करना है। इसके कारण ज्ञानको प्रकाश रूपमें तृतीय कूटस्थ 'र' में विचारना चाहिये। भाव यह है कि इन्द्रियोंके व्यवहारकी सम्पादिका जागरावस्थाका मूल प्रकाश तृतीय कूटके 'र' से व्यक्त होता है।[२८]

२६. तृतीय कूट (हृल्लेखा) की कामकला (ई) में चारों अन्तःकरणों—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तके व्यवहाररूप स्वप्नावस्थाके उत्पादक प्रकाशकी स्थिति होती है। दूसरे कूट (=गल) के 'ल' को भी इसी प्रकार हृदयङ्गम करना चाहिये।[२९]

२७. तीसरे कूटकी बिन्दुमें सुषुप्ति होती है, जिसमें चारों अन्तःकरण और जीवात्मा भी लीन हो जाते हैं।[३०] नादके द्वारा तुरीय अवस्थारूप पूर्ण चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। वह अर्धचक्र आदि तीन अक्षरोंमें व्याप्त रहती है।[३१]

२८. मानवोंकी वर्णनाके क्षेत्रसे बाहर पूर्ण आनन्दरूप तुरीयातीत अवस्था नादान्तसे प्रारम्भ होनेवाले पाँच अक्षरोंमें स्थित है।[३२]

२९. तीसरे कूटके रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त और व्यापिका स्थानोंमें मयूरपिच्छ (चन्द्रक) के आकारके पाँच शून्य होते हैं। उन्मनामें छठा रूपहीन महाशून्य होता है।[३३]

३०. विषुवत् सात हैं—प्राण, मन्त्र, नाडी, प्रशान्त, शक्ति, काल और तत्त्व। ककाररूपी वायु ही प्राण है। प्राण, आत्मा और मनकी एकता ही प्राणविषुवत् है।[३४] प्रथम कूटके नादकी चार बीजोंसे एकता ही मन्त्रविषुवत् है। ये चार बीज तीनों कूटोंको (i) पृथक्-पृथक् (व्यष्टिरूपमें) और (ii) एक साथ (=समष्टिरूपमें) ग्रहण करने, (iii) अपनी आत्माका मूलाधारसे उठे हुए नादसे योग करने और (iv) उन्हें अनाहतसे प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्रतक समस्त आधारों (=षट् चक्रों) में व्याप्त नादके रूपमें समझनेसे प्राप्त होते हैं।[३५] मूलाधारसे उत्पन्न हुए नादको प्रत्येक चक्रके ऊपर और नीचे स्थित (अतः संख्यामें) बारह ग्रन्थियोंका भेदन करते हुए सुषुम्णा नाडीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्रतक फैलाकर (उच्चारण करनेसे) उत्पन्न हुआ नाडी, नाद और अर्ण (=वर्ण-पङ्क्ति) का संयोग नाडीविषुव कहलाता है।[३६]

तृतीय कूटके सात स्थानों—रेफ (=र्), कामकला (=ई) तथा हार्दकला (=ह्रीं) के बिन्दुसे नादान्तपर्यन्त

---

[२५] वर. १। ३४–३५। [२६] देखो, वही १। १२-१३। [२७] वही १। ३६। [२८] वही १। ३७।

[२९] वही १। ३८। [३०] वही १। ३९। [३१] वही १। ४०। [३२] वही १। ४१। [३३] वही १। ४२–४३अ। [३४] वही १। ४३ आ। [३५] वही १। ४४–४५अ। [३६] वही ४५ आ–४६

अक्षरोंके उच्चारणसे जो सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है उस सूक्ष्मतर नादके शक्तिसे लय (=ऐक्य) का चिन्तन प्रशान्त-विषुव है।[३७] शक्तिस्थानसे ऊपर उठे हुए सूक्ष्मतम नादका व्यापिकाका उल्लङ्घन करके समनामें लयकी भावना करना शक्तिविषुव है।[३८] समनासे ऊपर उठे हुए अत्यन्त सूक्ष्मतम नादका उन्मनामें लय-चिन्तन कालविषुव है।[३९]

३१. तत्त्वविषुव—बत्तीस कमलोंमें सबसे नीचेके दो कमल अकुल-पद्म कहलाते हैं। शेष सब कुल-पद्म हैं। ककारसे आरम्भ कर उन्मनापर समाप्त होनेवाले श्रीविद्याके कूटोंके सब अवयवोंमें व्यापक, अकुल पद्मसे उन्मनातकके प्रदेशोंमें स्थित तथा ३½ (=अध्युष्ट) निमेष और ३१७ त्रुटियोंका समय लेते हुए नादका उच्चारण करनेपर तत्त्वज्ञान शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। यही तत्त्वविषुव है जो चैतन्यके ज्ञानका मूल (=प्रमुख) साधन है।[४०] यद्यपि विद्याक्षरोंका आरम्भ मूलाधार कुलपद्मसे ही होता है तथापि चक्रराजकी सकला नामक भावनाका आरम्भ सबसे नीचेके सहस्रदल कमलसे होनेके कारण तथा कुल और अकुल विद्याओंमें भेद न होनेके कारण श्रीविद्याका आरम्भ भी उसी अकुल-पद्मसे बताया गया है। आँखके स्पन्दनके कालके बराबर एक निमेष होता है। इसका तीसवाँ भाग तत्पर कहलाता है। तत्परका सौवाँ भाग त्रुटि कहलाता है। अतः त्रुटि निमेषका तीन हजारवाँ अंश होता है। इस क्रमसे नाद इस उच्चारणमें १०.८१७ त्रुटियोंका समय लगता है।[४१]

३२. पाँचों अवस्थाओं, छओं शून्यों, सातों विषुव और नौओं चक्रोंको समझते हुए तथा मन्त्र (=मनु) सत्य अर्थको जानते हुए (विद्याके) अक्षरोंका उच्चार करना 'जप' कहलाता है।[४२]

३३. इस 'जप' वर्णनमें तीन नादोंको तीन चक्र मा कर छः चक्रोंसे मिलाकर नौ चक्र कहा गया है। चक्र संकेतमें इन तीन नादरूप चक्रोंके स्थानपर सकल, निष्क और सकल-निष्कल नामक चक्रोंका परिगणन किया है सकल चक्रमें (i) अकुल सहस्रार (ii–vi) मूलाधार आदि पाँच चक्र (vii) सूक्ष्म जिह्वा, (viii) भ्रू-मध्य और (ix बिन्दु स्थानमें तीनों लोकोंके मोहन आदि नौ चक्रों ध्यान किया जाता है। निष्कल चक्रमें बिन्दुसे प्रार करके उन्मनातक उसका ध्यान किया जाता है। ती सकल-निष्कल चक्रमें महाबिन्दुमें ही उसका चिन्तन कि जाता है।[४३]

३४. विद्याके ५८ अक्षर हैं। उनमेंसे प्रथम कूट औ द्वितीय कूट—प्रत्येकके बिन्दु आदि नौ-नौ अक्षरों—अर्था कुल १८ अक्षरोंको निकालकर शेष ४० अक्षरोंका उच्चार ही इस जपमें अभिप्रेत है।[४४]

भगवत्कृपा दीनकी सम्पत्ति है

भय मत करो, न साहस छोड़ो, रक्खो प्रभुपर दृढ़ विश्वास।
प्रभुकी कृपा सहज कर देगी, सब बाधा-विघ्नोंका नाश॥
करते रहो सदा श्रद्धासे प्रभुके ही प्रीत्यर्थ प्रयास।
जा पहुँचोगे सुखपूर्वक तुम परम लक्ष्य—भगवत्के पास॥

× × × ×

भगवत्कृपा दीनका धन है, है उसपर उसका अधिकार।
नहीं योग्यताकी आवश्यकता, नहीं देश-कुल-धर्म-विचार॥
नहीं प्रश्न 'अधिकारी' का कुछ, नहीं शर्त कुछ, नहीं करार।
हो विश्वास परम दृढ़ केवल दीनबन्धुपर बिना विचार॥

---

३७. वही ४७–४३ अ। ३८. वही १। ४८आ। ३९. वही १। ४९अ। ४०. वही १। ४९आ–५१। ४१. व टीका। ४२. वही १। ५२। ४३. वही टीका। ४४. वही।

शिवका विषपान

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शिवकी लीलाओंमें उनके द्वारा विषपान करनेकी कथा अत्यन्त सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। कहा जाता है कि जिस समय देवता और असुर समुद्र-मन्थन कर रहे थे, उस समय कई रत्न उत्पन्न हुए। उन्हींमें क्रमशः हालाहल विष भी प्रकट हुआ। उसके दसों दिशाओंमें व्याप्त लपटोंसे देवता जलने लगे। किसीको यह साहस न हुआ कि उस विषको ग्रहण कर सके। तब देवोंने मिलकर शिवजीसे प्रार्थना की कि वे विषको शान्त करें। शिवने परिस्थिति समझकर इसे स्वीकार कर लिया। इसी कथाकी पृष्ठभूमिमें गुसाईंजीने लिखा है—

जरत सकल सुर बृंद, बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपालु संकर सरिस॥

सचमुच विष पीकर शंकरने समस्त संसारपर बड़ी कृपा की, अन्यथा हालाहल विषकी लपटोंसे प्राणिमात्र भस्म हो जाते। विषको पचानेकी सामर्थ्य शिवमें ही थी। इसी पराक्रमके कारण वे देवदेवता महादेव कहलाये। विष साक्षात् मृत्युका रूप है जो प्राणोंका लोप कर देता है। विष-पानके कारण ही शिवजीकी संज्ञा मृत्युञ्जय हुई। वैसे तो सभी देवता अमर माने जाते हैं, किंतु विषके रूपमें साक्षात् स्थूल मृत्युसे लोहा लेकर और उसे अपने शरीरमें पचाकर वास्तविक मृत्युञ्जयकी उपाधि शिवको ही प्राप्त हुई। विषपान करनेपर भी शिवके शरीरसे स्वर्गीय प्राण-शक्तिकी सुगन्धि ही निकलती रही। मृत्युकी दुर्गन्ध उनका स्पर्श न कर सकी। वे मृत्युसे मुक्त होकर अमृतके गर्भमें प्रतिष्ठित हो गये। लिङ्ग-पुराणमें समुद्र-मन्थनकी कथाका उल्लेख करते हुए लिखा है कि विषपान करनेके अनन्तर शिवजी हिमालयकी कन्दरामें एकान्तमें जाकर बैठ गये। देवता उनकी स्तुति करना चाहते थे कि उन्होंने विषपान-जैसा महान् पराक्रम किया। उन्होंने देखा कि शिवजी हिमालयकी गुफामें ध्यानमग्न हैं। देवता वहीं पहुँचे और उनकी प्रशंसा करने लगे कि 'महाराज! आपने जैसा पराक्रम किया वैसा आजतक किसीने नहीं किया था।' शिवजीने उत्तर दिया कि 'मैंने यह स्थूल विष पीकर कुछ भी विचित्र बात नहीं की। मेरी दृष्टिमें वस्तुतः बड़ा वह है जो इस संसारमें भरे हुए विषको पचा सकता है। संसारको निचोड़नेसे या अनुभव करनेसे जो विष सामने आता है वह विष स्थूल विषकी अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है। सबके लिये वह प्रकट होता है। उसपर विजय पाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

इस कथाके मूलमें एक और भी प्राचीन कल्पना है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समुद्रके सामने अनन्त और अपार है (**पुरुषो वै समुद्रः**)। इस समुद्रमें मनरूपी जलराशि भरी हुई है। नित्यप्रति उसीका मन्थन होता रहता है और उसके मन्थनसे गुण और दोष दोनों प्रकट होते हैं। जो गुण या सत् पक्ष है वह अमृतका रूप है और जो दोष या असत् पक्ष है वह विषका। जो दोषोंको जीतकर मनके शिवात्मकरूपकी रक्षा कर सकता है वही सच्चा शिव है। शिवके विष-पानकी अन्य व्याख्या वैदिक प्रतीकवादके अनुसार इस प्रकार है—

यह विश्व और प्रत्येक प्राणी अग्नि और जलके संयोगसे बना है (**अग्नीषोमात्मकं जगत्**) अग्नि पिता और जल माता है। अग्नि देवों और जल असुरोंका निवास है। जलका अधिपति वरुण असुरोंका अधिपति है। अग्निका अधिपति रुद्र महादेव है जो सब ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है (**अग्निर्वै रुद्रः** । शतपथ० ५। ३। १। १०)। अग्नि ज्योति, दिन और ऊष्माका रूप है एवं जल रात्रि, तम और हिमका रूप है। इन प्रतीकोंकी व्याख्या प्राचीन वैदिक दर्शनका अङ्ग थी। तदनुसार अग्नि या रुद्र प्राणाग्निकी संज्ञा थी और जल उसके विपरीत प्राणके निराकरणका सूचक। मनुष्यके अपने शरीरमें यह बात प्रतिक्षण प्रत्यक्ष घटित हो रही है। यहाँ रक्त दो प्रकारका है—एक लोहित और दूसरा नील। और दोनोंके प्रवाहित होनेकी धमनी नाड़ी और शिराएँ अलग-अलग हैं। शुद्ध रक्त लाल धमनियोंद्वारा शरीरमें अभिसरण करता है। उसमें प्राणवायु या अमृतका संस्पर्श और शक्ति देखी जाती है। वह जीवनका पोषक है। नीले रंगकी नाड़ियोंमें अशुद्ध रक्तका प्रवाह शरीरस्थ विषोंको लेकर हृदयकी ओर बहता रहता है और वहाँ प्राणवायुके सम्पर्कसे पुनः शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार अमृत और विषका द्वन्द्व या चक्र हर समय घूमता रहता है। इसीसे जीवनकी सत्ता बनी रहती है। यदि प्राणात्मक

अग्नि शरीरकी नस-नाड़ियों और कोशोंमें उत्पन्न होनेवाले मल या विषको दग्ध करके शुद्ध न करे तो अत्यधिक विष-संचयसे मृत्युका होना सम्भव है। अतएव यह कल्पना यथार्थ है कि शरीरकी शिवात्मक प्राणाग्नि निरन्तर विषका पान करती रहती है। इस विषम गरलका शोषण और पाचन होनेसे ही शरीरकी देवात्मक शक्तियाँ या इन्द्रियाँ स्वास्थ्यलाभ करती हैं। अमृत और मृत्युके संघर्षका यह नाटक प्रतिक्षण जीवनकी रक्षाके लिये प्रत्येक प्राणीके अध्यात्म-केन्द्रमें हो रहा है। मनुष्य पशु-पक्षी और वृक्ष-वनस्पति सब अपनी शिवात्मक प्राणशक्ति या प्राणाग्निके द्वारा विश्वरूप मृत्युका पराभव करते हैं। अतः शिवके विषपानकी कथा-कहानी मात्र नहीं। प्रत्येक पुरुषरूपी समुद्रमें जो जलीय रत्नोंका मन्थन हो रहा है, उसीसे विष और अमृत दोनों उत्पन्न होते हैं। प्राण अमृत और अपानके वेग विषाक्त होते हैं। प्राणकी विजय और अपानकी पराजय विष और अमृतका ही रूपक है। इस प्रकारके विष, भूत प्राण और मन तीनों धरातलोंपर उत्पन्न होते रहते हैं। इन तीन अग्नियोंके सम्मिलित रूपको वैदिक परिभाषामें वैश्वानर कहा जाता है। प्रत्येक प्राण-केन्द्रमें इसकी प्रतिष्ठा है।

अयमग्निर्वैश्वानरो यो यमन्तः पुरुषे ।
(शतपथ० १४ । ८ । १० । १ ।)

शरीरस्थ वैश्वानर सूर्यरूपी विराट् वैश्वानरसे निरन्तर शक्ति प्राप्त करता रहता है। अग्नि, वायु, आदित्य—इन तीन अग्नियोंकी सत्ता अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंमें है। दोनों एक दूसरेसे संयुक्त या मिले रहते हैं। विराट् वैश्वानर शक्तिशाली महासुपर्णके समान है और अध्यात्म वैश्वानररूप प्राणाग्नि भूमिस्थ वर्तिका या वटेरके समान है। द्युलोकके सुपर्णने अपने बलसे भूमि या पञ्चभूतोंकी इस वर्तिकाको अपने दृढ़ पंजोंमें पकड़ रक्खा है।

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाम्—और जबतक दोनोंका यह सम्बन्ध अक्षुण्ण है तभीतक जीवन सकुशल है। इस वर्तिकाके रक्षक दो अश्विनीकुमार या प्राणापान हैं। एक ओर अमृतका महासमुद्र है और दूसरी ओर मृत्युसे आच्छादित वरुणके आसुरी रूपमें प्रवाहसे वञ्चित सड़े हुए जल हैं। इन्द्रका प्रतिनिधि सुपर्ण एवं वरुणके प्रतिनिधि नाग हैं। ये ही सौपर्णेय और काद्रवेय कहलाते हैं। सुपर्णोंकी माता विनता और नागोंकी कद्रू है जिनके पारस्परिक द्वन्द्वकी महती कथा पुराणोंमें आयी है। उसका मूल बीज ब्राह्मण-ग्रन्थों और वेदोंमें है। प्रसिद्ध है कि सुपर्ण या गरुड़ अपने पंखोंकी शक्तिसे स्वर्गतक पहुँचकर वहाँसे अमृतका घट लाये थे। विषसे भरे हुए नाग भी अमृतका भाग चाहते हैं; किंतु वे केवल उन कुशाओंको ही चाट सके जिनपर अमृतका घट रक्खा गया था। कुशाओंको वैदिक भाषामें बर्हिष् भी कहते हैं। सर्वप्रथम पुरुषके निर्माणमें कुशाओंसे नस-नाड़ियोंमें ही अमृत-जलसे प्रोक्षण किया जाता है। विष तो केवल दूरसे ही प्राणधाराओंका स्पर्श कर पाता है। उन धाराओंमें विषका संचार साक्षात् मृत्युका रूप है।

अमृत और मृत्युका यह द्वन्द्व विश्वव्यापी है। सूर्यकी रश्मियोंमें भी ये दोनों तत्त्व हैं। प्रत्येक सूर्य-रश्मि प्रकाश और ताप उत्पन्न करती है। प्रकाशसे अमृत और तापसे मृत्युका जन्म होता है। प्रकाशकी किरणें पोषक और तापकी रश्मियाँ विनाशक होती हैं। इन्हींके मेलसे सूर्यका वर्णछत्र या रंगोंकी पट्टी बनती है। प्रत्येक रश्मि उसीका रूप है। इसे ही वैदिक परिभाषामें नील-लोहित इन्द्रधनुष कहा जाता है। रुद्रका एक स्वरूप या नाम वेदोंमें व्रात्य है। व्रात्य वह स्वरूप है जो सृष्टि यज्ञसे पूर्व सब दिशाओंमें अधिकतम वेगसे विचरनेवाला रौद्र पुरुष है। वह व्रात्य जिस धनुषको धारण करता है उसका उदर या झुका भाग नील और पृष्ठ भाग लोहित कहा गया है। नील छोटी रश्मियाँ और लोहित बड़ी रश्मियाँ हैं जैसा कि किरणोंकी नीली और लाल रंगकी पट्टियों (स्पेक्ट्रा)में देखा जाता है।

पुराणोंमें भगवान् शंकरका एक अतिप्रिय नाम नील-लोहित भी है। उनका कण्ठ नील और शेष शरीर लोहित है। कण्ठ आकाशका प्रतीक है, जहाँसे शब्दका उदय होता है और शेष भारभूत कबन्ध या शरीरके प्रतीक हैं। इन चारोंमें विश्वकी सत्ता अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है या उन्हें दूषित कर सकती है। किंतु चाहे जितना हालाहल विष हो वह अनन्त सूक्ष्म आकाशमें विलीन हो जाता है और उसे दूषित नहीं कर पाता। आकाशकी वायु विषसे दूषित हो सकती है, किंतु आकाश नहीं; वह पञ्चभूतोंमें सबसे अधिक विभु या व्यापक है। वेदान्तदर्शनमें तो आकाशको ब्रह्मका स्वरूप कहा गया है। (आकाशस्य तल्लिङ्गात्) अर्थात् ब्रह्मके समान ही आकाश भी तत्स्वरूप है। वह अव्यक्त है और वह शब्दद्वारा मूर्त होता है। जैसे ब्रह्म

विश्वद्वारा मूर्त होता है । इस प्रकार जो कण्ठ-देश आकाशका अध्यात्म केन्द्रमें स्थान है, वहाँ ही भगवान् शिवने विषको स्थान दिया और नीलकण्ठ कहलाये । कहना चाहिये कि विष भी वहाँ अमृत बनकर ही रह पाता है और भगवान्‌की मृत्युंजय उपाधिको चरितार्थ करता है । योगविद्याके अनुसार पञ्चभूतोंके पाँच चक्र हैं, जिनके केन्द्र मेरुदण्डमें हैं । उनमें पाँचवाँ विशुद्ध चक्र कण्ठ-देशमें माना जाता है । उसका तत्त्व आकाश है । वह सबसे ऊपर है, उससे नीचे चार चक्र और हैं । उनमें हृदयगत अनाहत चक्रका अधिपति वायु है । उदरमें जठराग्निके रूपमें क्रियाशील मणिपूर चक्रका अधिष्ठाता अग्नि है । उदरस्थ देशमें क्रियाशील जलोंसे अधिष्ठित स्वाधिष्ठान चक्र है, जो प्रजनन शक्तिका नियामक है । मूलाधार चक्रका देवता पृथ्वी है, जिससे विसर्जन किया जाता है । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत—इन चारों चक्रोंसे जो चार मल विसर्जित किये जाते हैं, वे विषसे भरे हुए होते हैं । यहाँतक कि अनाहत चक्रमें क्रियाशील वायुके भी शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं । प्रत्येक क्षणमें भीतरकी विषदूषित वायु बाहर आती रहती है और बाहरके अमृतको पीकर पुनः भीतर लौटती है । यह विधान प्रकृतिके प्रत्येक प्राणीमें रहता है । प्राण और अपानके चक्रात्मक व्यापारका नाम ही जीवन है; किंतु अनाहत या चौथे चक्रसे ऊपर जब हम कण्ठदेशीय विशुद्ध चक्रकी ओर देखते हैं तो वहाँसे उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म शब्दमें कोई स्थूल विष नहीं दिखायी पड़ता । शब्दके दो रूप हैं—एक सूक्ष्म अर्थ और दूसरा स्थूल अक्षर । सूक्ष्म अर्थका सम्बन्ध मनसे होता है और स्थूल शब्दका सम्बन्ध नीचेके चार अङ्गोंसे—विशेषतः नाभि और हृदयसे होता है, ऐसा शिक्षा-शास्त्री शब्दोंकी तरङ्गोंके विषयमें कहते हैं । मन या चिन्तनका सम्बन्ध मस्तिष्कके सहस्रदल कमलसे है, जहाँ भगवान् शिवका निवास माना जाता है । वहीं आज्ञा या ज्ञानका चक्र है । जाननेकी सब क्रियाएँ वहींसे होती हैं । वह अमृतका लोक है । भगवान् शिवके मस्तकपर विराजमान चन्द्रमा उसी अमृतका प्रतीक है, जो सदा शीतल रहकर अमृतकी वर्षा करता रहता है । जितना भी स्थूल केन्द्रीय नाड़ी-जाल है, सब उस अमृतसे सिञ्चित होकर अमृतत्व प्राप्त करते हैं । उससे शरीरस्थ हलाहल विषकी ज्वालाएँ शान्त होती रहती हैं । अग्निविद्याके ये विभिन्न रहस्य हैं । शरीरस्थ भगवान् शिवकी महिमा और अमृतमयी सोमात्मक शक्तिको कौन पूरी तरह जानता और कह सकता है ।

शिवके विष-पानकी कथा कोई इतिहासका तथ्य नहीं जो किसी सुदूर अतीतमें घटित हुआ है । किंतु यह तो नित्यकी लीला है, जो मन, प्राण और पञ्चभूतोंके धरातलपर नित्य होती रहती है । ईश्वरकी दिव्य रचनाका यह सर्वोत्कृष्ट नियम-है कि यहाँ अमृत या देवोंकी विजय और विष या असुरोंकी पराजय निश्चित है । कहा गया है कि जब प्रजापतिने देवोंकी सृष्टि की, तब अमृत, ज्योति और सत्य इनका प्रादुर्भाव हुआ एवं जब असुरोंकी सृष्टि की तब मृत्यु, तम और अनृतका जन्म हुआ । जैसे ही शुद्ध चित्-शक्ति या मन देवलोकसे पञ्चभूतोंके धरातलपर अर्थात् भौतिक शरीरमें आता है, तभी वह मलोंसे लिप्त बन जाता है । उस चित्तकी शुद्धि निरन्तर आवश्यक है और वह सहस्रदल कमलमें निवास करनेवाली भगवान् शिवकी चिन्मय शक्तिसे ही सम्भव है । समस्त चर और अचर भगवान् शिवकी भावमयी शक्तिसे निर्मित हैं । भूतोंके अशुद्ध भाव चिन्मय आत्म-तत्त्वके शुद्ध भावोंसे पवित्र किये जाते हैं । अमृत और विषका यह तारतम्य सदा ध्यानमें रखने योग्य है । भगवान् शिवके विष-पानका मार्मिक संकेत उसी ओर है । स्थूल विषका पान करना अपेक्षाकृत सरल है; किंतु सूक्ष्म भावोंमें व्याप्त मानस-विषको वशमें करना ही सच्चा पराक्रम—शिवत्वका लक्षण है ।

शिवके शरीरमें सर्प लिपटे रहते हैं, ऐसी पुराणोंकी कल्पना है । सर्प साक्षात् विष या मृत्युका लक्षण है । किंतु अमृतस्वरूप शिवपर उस विष या मृत्युका कोई प्रभाव नहीं होता । मानसिक या मनन-समाधिके आदिदेवता शिव मनस्तत्त्वके अधिष्ठाता हैं । मनसे ही वे मृत्युञ्जय बने हैं । ऋग्वेदकी कल्पनाके अनुसार शिवके तीन नेत्र हैं । अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्नि । सूर्यको पिंगला या यमुना, चन्द्रमाको इडा या गङ्गा और अग्निको सुषुम्ना या सरस्वती भी कहा जाता है । इसी कारण शिवकी संज्ञा त्र्यम्बक है । इन तीनोंमें भी जो सुषुम्ना या सरस्वती है, वह सबसे मुख्य शक्ति है । वह सरोवरसे निकलनेवाली धारा है । मन ही वह दिव्य सरोवर है, जहाँसे सुषुम्ना या सरस्वतीका जन्म होता है । वह सरस्वती सबसे अधिक पवित्र धारा है । (पात्रिका नः सरस्वती) अमृतके विचारोंके अनेक वेग उसीसे जन्म लेते हैं, जो पृथ्वी और आकाशमें व्याप्त हो जाते हैं ।

सूर्य और चन्द्रके द्वन्द्वात्मक स्पन्दनको नियमित करनेवाली धारा सरस्वती ही है। सूर्यको वैदिक भाषामें घर्म या द्वन्द्व कहते हैं, जिसका अर्थ गरमी है। चन्द्रमाको हिम कहा गया है। घर्म और हिम—दोनों मध्यस्थ अग्निके ही दो रूप हैं। एकमें ताप और दूसरेमें प्रकाशका स्रोत है। त्र्यम्बक शिवका विशिष्ट रूप सुगन्धिमय है। अर्थात् जब शरीरकी प्राणशक्ति सब दोषोंका शमन कर देती है, तब शरीर-संचारी रसोंसे दुर्गन्धि हट जाती है और सुगन्धि उत्पन्न होती है। शुभ गन्धको योगका प्रथम लक्षण कहा है। दूषित गन्ध मृत्युकी ओर और शुभ गन्ध अमृतकी ओरसे जाती है। अतएव शिवके मृत्युञ्जय मन्त्रमें यही प्रार्थना की गयी है कि हम मृत्युसे छूटें, अमृतसे नहीं। (**मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्**)।

निरतिशय सुखकी प्राप्ति और आत्म-साक्षात्कार

(लेखक—आचार्य **श्रीराम**प्रतापजी शास्त्री)

निरतिशय सुख-प्राप्ति उस अवस्थाका नाम है—जहाँ परम सुखकी प्राप्ति होनेपर किसी प्रकारके अन्य सुखकी अभिलाषा न रह जाय। दूसरे शब्दोंमें परम सुख मिल जानेपर प्राप्तव्य कोई वस्तु ही नहीं रह जाती है। आत्यन्तिक सुख वही है, जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख होता ही नहीं है। इसी परम लक्ष्यको चरम-लक्ष्य, परम-पुरुषार्थ, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि विभिन्न शब्दोंमें अभिहित किया गया हैऔर इसकी प्राप्तिके अनन्तर किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी उत्पत्ति होती ही नहीं है। परमार्थका अर्थ ही यह है कि उस वस्तुकी प्राप्ति हो जाय, जिसके पा जानेपर पुनः और किसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा न रह जाय। वस्तुतः कोई ऐसी वस्तु ही शेष नहीं रह जाय, जिसके लिये इच्छा उत्पन्न हो। इसीको 'निरतिशय सुख' या 'आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति' कहा जाता है। इसीलिये भगवती श्रुति कहती है—

न स भूयोऽभिजायते सोऽमृतत्वाय कल्पते।

अस्तु! सृष्टि-प्रतिपादन करनेवाली जितनी श्रुतियाँ हैं, उनकी एकवाक्यता भगवान् व्यासने '**न वियदश्रुतेः। अस्ति तु गौण्यसम्भवात्।**' (अ० २।३।१-३) इत्यादि सूत्रोंमें उक्त प्रकारसे की है। सृष्टि-क्रममें वर्णित जो पचीस तत्त्व कहे गये हैं, उन सबमें परस्पर कार्य-कारणभाव श्रुतियोंमें दिखाया है। वहाँ सबका मूल कारण परमात्माका साक्षात्कार ही है। कार्य-कारणभाव दिखानेका यही अभिप्राय है। तभी तो तत्त्वोंमें परस्पर भाव भी श्रुतियोंद्वारा वर्णित है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।

तात्पर्य यह कि पहले इन्द्रियोंका ज्ञान होनेके बाद ही विषयोंका ज्ञान होता है। विषयोंके ज्ञानके बाद मनका, उसके बाद बुद्धिका—इस प्रकार पूर्व-पूर्वके बाद उत्तरोत्तरका ज्ञान करते-करते सबसे परे परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार बाह्य-वस्तुके ज्ञान होनेके बाद ही उसके अन्तःस्थ अर्थात् भीतरी वस्तुका ज्ञान होना सम्भव है। इसी प्रकार परमात्माका सर्वान्तःस्थ और सर्वान्तर्यामी होना भगवती श्रुति बताती है। इस प्रकार स्थूल पदार्थके ज्ञानके बाद ही सूक्ष्म पदार्थका ज्ञान होना सम्भव है। सूक्ष्मके ज्ञानके बाद ही उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमका ज्ञान या साक्षात्कार हो सकता है।

समस्त कारणोंका भी कारण सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही है और अत्यन्त सूक्ष्म—कुशाग्र बुद्धियोंको श्रुतिकी सहायतासे आत्माका साक्षात्कार सम्भव है। परमात्माका यथार्थ-स्वरूप बतानेमें श्रुति भी अपनेको असमर्थ पाती है और इसीलिये बार-बार कहती है—'**नेति, नेति**' '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**' इतना ही नहीं, 'बृहदारण्यक' में लिखा है—'**वेदा अवेदाः**' अर्थात् समस्त पदार्थोंका बोध करानेवाले वेद भी परमात्माका सम्यग् बोध करानेमें असमर्थ रहते हैं। फिर भी, दुर्बोध होनेपर भी श्रुति अपना प्रयत्न नहीं छोड़ती। इतना ही नहीं, 'अन्नं ब्रह्म' कहकर अत्यन्त मन्दबुद्धियोंकी भी दृढ़ भावनाको सुदृढ़ कराती है। किसी भी वस्तुमें सर्वोत्तम ब्रह्मकी भावना हो, यही श्रुतिका मुख्य उद्देश्य है। माताकी तरह 'अन्नं ब्रह्म' कहकर वह हमें ब्रह्म-जिज्ञासाकी ओर प्रेरित करती है। सहज स्नेहमयी माँकी भाँति श्रुति भी कभी वञ्चना नहीं करती, प्रत्युत यथाधिकार अन्नसे प्राण, प्राणसे मन, मनसे बुद्धिकी ओर हमें प्रेरित करती है। बादमें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जानेपर—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' का उपदेश देती है।

अधिकार-भेदसे अनेक मार्ग ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये कहे गये हैं। वे श्रुतियाँ प्रणवादि मन्त्रोंका जप और प्रतिमादि-पूजनसे परम लक्ष्य ब्रह्म-साक्षात्कारकी ओर हमें केवल प्रेरित ही नहीं करतीं, प्रत्युत उसमें प्रतिष्ठित करानेके लिये उपाय भी बताती हैं। वे कहती हैं कि परमात्म-सदनके प्रवेश-द्वारपर ही द्वारपालोंकी तरह प्रतिबन्धकरूपमें विषय और इन्द्रियाँ विद्यमान रहती हैं। इनको वशमें करना नितान्त आवश्यक है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

इसके बाद श्रुति कहती है—मन और बुद्धि जो अधिकारी वर्ग हैं, उन्हें ब्रह्मरूपमें ही देखो—

यथा मनो ब्रह्म व्यजानात्।
प्राणो ब्रह्म व्यजानात्।

इसके बाद 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः' अनन्यभावसे ब्रह्ममें निष्ठा करो। इस प्रकार श्रुत्युपदेशके अनुष्ठानसे जब पूर्णता आ जाती है, तभी परमात्मा उसे आत्मीय समझकर देखता है। यही परमात्माकी स्वीकृति है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

आत्मसाक्षात्कार ही मोक्षका कारण या स्वरूप है। इसमें साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं रह जाती। साधनान्तरकी अपेक्षाका निषेध भी स्वयं श्रुति करती है।

'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

अर्थात् उस परमात्माको जानकर ही मनुष्य अमृत अर्थात् मुक्त हो जाता है। मुक्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। बल्कि यह सम्यग् ज्ञान ही मुक्ति है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन् परमं ब्रह्म याति नान्येन हेतुना॥

जो मनुष्य सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता है, वह परब्रह्मको प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है।

जिन ढूँढ़ा तिन पाइया

(लेखक—श्रीअजयकुमारजी)

इस सृष्टिमें केवल दो ही वस्तुओंका आभास होता है, प्रथम तो चेतन-जगत्, दूसरे जड-जगत्। इसीको विद्वानोंने 'सृष्टि' कहा है। चेतन-जगत्में मानवका स्थान सर्वोच्च है। उसीको यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह सृष्टिके रचयितासे सम्बन्धित प्रश्नोंपर मनन करे, उन्हें व्यावहारिकरूप प्रदान करे और जीवनको सफल बनाये। विद्वानोंने इच्छानुकूल सृष्टिके रचयिताके प्रति विभिन्न भाव अभिव्यक्त करते हुए समाजके सम्मुख प्रस्तुत किये। किसीने भवसागर माना तो किसीने मृत्यु-लोक मानकर इसकी चर्चा की। इत्यादि।

मैं संसारको कला-प्रदर्शनीका स्वरूप देता हूँ। यह कला-प्रदर्शनी जड-चित्रों तथा चेतन-चित्रोंसे सुशोभित है। इस नानारूपात्मक जगत्में एक-से-एक सुन्दर चित्र हैं, जिनकी तुलना एक दूसरेसे नहीं की जा सकती। इस प्रदर्शनीका दर्शक मानव है जो कि भिन्न-भिन्न भावोंसे देखता है और भिन्न-भिन्न भावनाओंकी धारणा अपने शब्दोंमें अभिव्यक्त करना प्रारम्भ कर देता है। कुछ दर्शक तो प्रदर्शनीके चित्रोंकी तो प्रशंसा करते ही हैं; किंतु कलाकारको जाननेकी अत्यधिक इच्छा प्रकट करते हैं। ऐसे पुरुष बिरले ही होते हैं।

शेष मानव-दर्शक तो कलाकी स्तुति करके चित्र क्रय करनेकी भावना प्रकट करते हैं और उस भावनामें खो जाते हैं तथा क्रय करनेका पूर्ण प्रयास करते हैं। उन्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं कि कलाकार कौन है? एक पटपर यह लिखा होता है कि 'ये चित्र किसी भी मूल्यपर विक्रयके लिये नहीं हैं।' उसपर बिना ध्यान दिये कलह करना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें न मिलनेसे क्रोध आता है; परंतु यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती है।

उपर्युक्त बातोंने मानव-दर्शकोंको दो वर्गोंमें विभक्त कर दिया। अब ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न विचारणीय है। प्रथम दर्शकोंमेंसे एक दर्शकने अपने विचार प्रदर्शनीके प्रति अन्य दर्शकोंके सम्मुख निम्न रूपसे अभिव्यक्त किये—

तुलसी या संसारमें भाँति-भाँति के लोग।
सब सों हिल-मिल चालिये, नदी नाव संजोग॥

उपर्युक्त भाव दूसरे दर्शकोंको श्रवणमें सुन्दर तो लगते हैं, किंतु चित्र क्रय करनेकी भावना बुद्धिपर इतने प्रबल रूपसे छायी हुई होती है कि वे अपनेको सँभाल नहीं पाते और पुरानी समस्यामें पुनः व्यस्त हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रदर्शनी देखनेका समय समाप्त हो जाता है और

वे (दर्शक) अपमानित करके प्रदर्शनीसे बाहर निकाल दिये जाते हैं । दर्शक चिल्लाते रह गये । इसी वर्गके दर्शकने अपने शेष साथियोंको चलते समय एक शिक्षा दी जो कि निम्न रूपसे है—

कहो रहीम केतिक रही, केतिक गई बिहाय ।
माया ममता मोह पड़, अंत चले पछताय ॥

इस अनुभूतिका प्रभाव दर्शकोंके मनपर कुछ समयके लिये पड़ा तो अवश्य, पर अल्प समयमें ही यह भावना कपूरकी तरह उड़ गयी और कलहात्मक वार्ता पुनः प्रारम्भ हो गयी।

हमें तो यहाँपर प्रथम वर्गके दर्शकोंकी चर्चा करनी है, न कि दूसरे वर्गवालोंकी ।

ऐसे दर्शक प्रदर्शनीमें निश्चित समयके लिये आते तो अवश्य हैं और कलाकृतियोंकी गद्‌गद कण्ठसे प्रशंसा भी करते हैं; किंतु वे अपना अमूल्य समय क्रय-विक्रयमें व्यय न करके प्रदर्शनीके देखनेके समयके लक्ष्यको सम्मुख रखकर चित्रकारकी खोजके लिये कटिबद्ध होकर, व्याकुलताके साथ उसे ढूँढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे वे उस महान् कलाकार (ईश्वर या ब्रह्म) के साथ अपनी एकता स्थापित करके कला-प्रदर्शनीका रहस्य जानना चाहते हैं । वे कलाकृतियोंके मोहमें नहीं फँस जाते । वे इस सिद्धान्तके विश्वासी हैं कि प्रयास करना हमारा जीवनपर्यन्त लक्ष्य है। वे बार-बार सच्ची लगनके साथ प्रदर्शनीके चक्कर लगाते रहते हैं । आवागमनके चक्रसे संत्रस्त न होकर एक जिज्ञासुके रूपमें वे ईश्वर, जगत् और जीवके रहस्यको जानना चाहते हैं और इस सीमातक ढूँढ़ते हैं कि उनके मुखारविन्दसे अनायास ही निम्न शब्द निकल पड़ते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी । जाति जीव जल थल नभ बासी ॥
सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

और प्रयास जारी रखते हैं । ज्यों-ज्यों कलाकारके पास आनेका समय समीप आता जाता है, वे धैर्य और हर्षके साथ समयकी प्रतीक्षा करते हैं और ब्रह्मरूपी कलाकारके पास जानेके लिये सदैव तत्पर रहते हैं और वह शुभ घड़ी आ जाती है जब उनका (ब्रह्मरूपी) कलाकारसे योग हो जाता है ।

इन सब बातोंका यह तात्पर्य निकला कि कला-प्रदर्शनीमें चित्र क्रय करनेमें समय व्यतीत न करो, नहीं तो पश्चात्तापके अतिरिक्त कुछ हाथ न आयेगा और तुम प्रदर्शनीका समय समाप्त होनेके बाद सेवकों (मृत्यु) से अपमानित करके बाहर निकाल दिये जाओगे । यदि एकता स्थापित हो गयी तो फिर सभी पदार्थ मिल जायँगे ।

◆

कृष्ण-कल्पतरु सेव

तनहि राख सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कल्पतरु सेव ॥
निकसि कुंज ठाढ़े भए, भुजा परस्पर अंस ।
राधाबल्लभ मुख कमल निरखत हित हरिबंस ॥
सब सौं हित, निहकाम मन, बृंदावन बिश्राम ।
राधावल्लभ लाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ॥
रसना कटौ जु अन रटौ, निरखि अन फुटौ नैन ।
स्रवन फुटौ जो अन सुनौ, बिनु राधा जसु बैन ॥

—श्रीहितहरिवंश महाप्रभु

मधुर

स्याम सरोज बदन सुचि सुंदर
नयन-जुगल चंचल सुबिसाल।
भ्रकुटि कुटिल आकर्षति मुनि-मन
मृगमद-कुंकुम तिलक सुभाल॥
झूमि रहीं अलकावलि कारी
घुँघरारी घन रुचिर विचित्र।
कानन कुंडल ज्योति छिटक रहि
कलित कपोलनि रचना चित्र॥
सीस मुकुट मनि-मोर-सिखाजुत
लसत मंजु बर बिनु उपमान।
अरुन अधर बिकसित दसनावलि
छाई मंद मधुर मुसुकान॥
उर बिसाल सोभित मुक्ता-मनि-
सुरभित कुसुम-तुलसिका हार।
कटि किंकिनि रव सुमधुर बाजत
झनकत पग नूपुर झनकार॥
रूप अनूप अपार अलौकिक
धरे चल रहे मारग स्याम।
राधा निरखि रही अपलक दृग
बैठि झरोखे बदन ललाम॥
नेत्र अतृप्त निरखि सुंदरता
आनँद सागर उर न समात।
बही दृगन धारा अबाध गति
प्लावित कर सुचि मुख-जलजात॥

श्यामवर्णका जिनका पवित्र सुन्दर बदन-कमल है, जिनके दोनों नेत्र सुन्दर विशाल और चञ्चल हैं, जिनकी टेढ़ी भौंहें मुनियोंके मनको खींच रही हैं, जिनके सुन्दर भालपर कस्तूरी-केसरका तिलक सुशोभित हो रहा है। जिनके सिरपर परम सुन्दर विचित्र काली घनी घुँघराली अलकावली झूल रही है, चित्रोंकी रचनासे युक्त कलित कपोलोंपर जिनके कानोंके कुण्डलोंकी ज्योति छिटक रही है, जिनके सिरपर मणियोंका मयूरपिच्छ-संयुक्त ऐसा परम मनोहर श्रेष्ठ मुकुट सुशोभित है कि जिसकी उपमाके योग्य कहीं कोई नहीं है। जिनके लाल-लाल अधरोंपर मन्द मधुर मुसुकान छायी है जिसमें उनकी दन्तपंक्ति विकसित हो रही है। जिनके विशाल वक्षःस्थलपर मुक्ता, मणि तथा सुगन्धित पुष्पोंके और तुलसीके हार सुशोभित हैं। जिनके कटिप्रदेशमें करधनीके घुँघरुओंकी सुमधुर ध्वनि बज रही है और जिनके पैरोंमें नूपुरोंकी झंकार झनक रही है। ऐसे अनुपम अपार अलौकिक दिव्य रूपको धारण किये श्यामसुन्दर मार्गसे जा रहे हैं। श्रीराधाजी झरोखेमें बैठी—उनके परम सुन्दर वदनको अपलक नेत्रोंसे निरख रही हैं। श्यामसुन्दरके सौन्दर्यको निरखकर राधाके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं, हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ पड़ा है, वह समा नहीं रहा है और उस समुद्रकी पवित्र रसधारा (नेत्रोंके द्वारा) अत्यन्त अबाध गतिसे पवित्र मुखकमलको प्लावित करके बहने लगी है।

देखि राधिका मुखससि सुखमय
हरषि भए मोहन रसमग्न।
सहसा एक नयो भय उपज्यौ
तातें भयो स्याम सुख भग्न॥
देखि मोहि प्रियतमा राधिका
कितनी सुखी भई एहि काल।
आँखिन ओझल होत अदरसन तें
कैसी होगी बेहाल॥
सहि पावैगी कैसे राधा
हृदय बिदारक सो उर-सूल।
हाय पुकार रो उठे मोहन
सहसा गये सकल सुख भूल॥

श्रीराधाके मुखचन्द्रको सुखमय देखकर श्रीश्यामसुन्दर मोहन हर्षित होकर प्रेम-रसमें निमग्न हो गये। पर अचानक उनके हृदयमें एक नया भय उत्पन्न हो आया, जिसके कारण श्यामसुन्दरकी वह सुखकी स्थिति

टूट गयी। वे सोचने लगे—'प्रियतमा राधिका इस समय मुझे देखकर कितनी सुखी हो रही है, पर मैं जब चला जाऊँगा, तब आँखोंसे ओझल होते ही मुझे न देखकर इसकी कैसी दुर्दशा होगी। मेरे अदर्शनसे इसके हृदयमें जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला शूल उत्पन्न होगा, उसे यह राधा कैसे सहन कर सकेगी?' इतना सोचते ही श्यामसुन्दर 'हाय! हाय!' पुकार सहसा रोने लगे। वे अपना सारा सुख भूल गये।

देखि बिषाद भरयौ प्रियतम-मुख
कॉंपि उठ्यौ राधा तन धीर।
उठी हृदय तें हूक बिंधि गयौ
मानों बिषम बिषबुझ्यौ तीर॥
निज सुख हेतु स्याम सनमुख मैं
आई क्यों अपराधिनि आज।
जो सुख, स्याम-दुःखकौ कारन
ता पर परी क्यों नहीं गाज॥
नहीं आवती जो सन्मुख मैं
होती नहिं आनंद बिभोर।
मेरी भावी दुख-संका तें
तो न दुखी होते चितचोर॥
मेरे दुःख दुखी वे प्रियतम
मेरे सुख तें सुखी असान।
तिनकूँ नित्य दुखी मैं करती
निज-सुख इच्छामें बेभान॥
कबहुँ न मैं देखूँ अब तिनकूँ,
देख जु पाऊँ रहूँ सचेत।
सुख-लहरी आवै न बदनपर
प्रगट न होवै सुख संकेत॥

इस प्रकार प्रियतम श्यामसुन्दरका मुख विषादसे भरा देखकर धैर्यवती राधाका शरीर काँप उठा। उनके हृदयमें हूक उठ खड़ी हुई, मानो भयानक विषका बुझा तीर हृदयमें बिंध गया हो। वे सोचने लगीं—'मैं अपने सुखके लिये आज क्यों श्यामसुन्दरके सामने आयी! मैं अपराधिनी हूँ। मेरा जो सुख, प्रियतम श्यामसुन्दरके दुःखका कारण हो, उसपर वज्रपात क्यों नहीं हो गया! मैं आज यदि सन्मुख न आयी होती और श्यामसुन्दरको देखकर आनन्दमें विभोर न हुई होती तो मेरे भावी दुःखकी आशङ्कासे वे मेरे चित्तचोर दुखी नहीं होते। वे मेरे प्रियतम मेरे दुःखसे दुखी हैं और मेरे सुखसे ही वे अपार सुखी होते हैं। पर मैं अपने सुखकी इच्छामें अचेत होकर सदा उन्हें दुखी ही करती रहती हूँ। किंतु अब तो मैं यही चाहती हूँ कि मैं उनको कभी न देखूँ, और यदि कभी देख भी पाऊँ तो इतनी सावधान रहूँ कि न तो मेरे मुखपर सुखकी कोई लहर आवे, न संकेतसे ही कहीं सुख दिखायी दे।

मनको उपदेश

करि हरि सौं सनेह मन! साँचौ।
निपट कपट की छाँड़ि अटपटी, इंद्रिय बस राखहि किन पाँचौ॥
सुमिरन कथा सदा सुखदायक, विषधर विषय विषम बिष बाँचौ।
सूरदास प्रभु हित कै सुमिरौ आनँद करि कै नाचौ॥

—श्रीसूरदासजी

रासलीला

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम')

पढ़ता था—शायद दसवें दर्जेमें। तब कभी-कभी स्टेशन किसीको लाने, किसीको पहुँचाने जाता। स्टेशनपर चहल-पहल मुझे कुछ अच्छी लगती थी। इंजन धीरे-धीरे अनेक डिब्बोंको बाँधे जब प्लेटफार्मपर आता, तो लगता कोई सम्राट् बड़ी शानसे आ रहा है। कितने लोग उसकी प्रतीक्षामें रहते हैं। वह आग तो निकालता था, पर कितना शान्त था। कितने बोझे उसपरसे उतरते और कितने फिर लद जाते—वह उफ् भी न करता। जब चलता तो गर्वसे सिर उठाकर सीटी बजाता हुआ। सेवा जो कर रहा था।

यह स्टेशन भी क्या जगह है? यहाँ मुसाफिर आते-जाते। वही मुसाफिर तो रोज न होते, पर आना-जाना—भीड़ वैसी ही रोज रहती। कोई सामानके साथ, कोई बेसामान; कोई रोता-सा, कोई हँसता-सा; हर सूरत देखनेमें आती। कुछ खोये-खोये-से इधर-उधर ढूँढ़ते फिरते; कुछ अपना बोझ स्वयं ढो रहे थे, कुछ औरोंसे ढुआ रहे थे। सबमें रवानगी थी। स्थिर था बस, वह मूक प्लेटफार्म, जिसको अनेकों अपने पैरोंसे रूँध रहे थे। संत था वह।

जब रेल चली जाती—हलचल कम हो जाती तो मैं वहाँ टँगे बड़े-बड़े चित्रोंको ध्यानसे देखता। काशी, नासिक, पुरी, श्रीवृन्दावन इत्यादि सभी थे वहाँ। मैं एक मानसिक चित्र, जो इन चित्रोंसे कहीं रंगीन होता, तैयार कर लेता। तस्वीरें जैसे सजीव हो उठतीं—जैसे मैं उनके घाटों-गलियोंमें घूमने लगता, खो ही जाता समझो। बम्बई, दार्जिलिंग, नैनीताल इत्यादि चित्र अच्छे लगते, पर काशी, नासिकमें कुछ विशेषता थी और वृन्दावन? वृन्दावन तो आत्माको बाँध ही लेता था।

कितने ही दिनोंसे वृन्दावन जानेकी इच्छा थी, पर मेरे पास मैले कपड़े* बहुत थे। सोचता धोकर साफ करके तब चलूँगा। अपने-आप थोड़े-थोड़े धोता था। थोड़े ही धो पाता—सब उजले कर ही न पाता, शहरकी दौड़धूपमें साफ फिर मैले हो जाते। न जाने कैसा संग था। फिर कोई धोनेवाला भी तो ठीक नहीं मिला। सोचा, जो है वही लेकर चल चढ़ूँ, कोई वृन्दावनमें ही धो देगा।

चला फिर स्टेशनकी ओर—अबकी स्वयं ही जानेको। रेल आयी, भीड़ दौड़ पड़ी। बड़ा-सा गट्ठर मैले कपड़ोंका, छोटी-सी पोटली उजले कपड़ोंकी—कुछ उजले और कुछ मैले कपड़े पहने हुए एक डिब्बेमें घुसने लगा। सभीके पास गट्ठर थे—मैले, पर सभी कहते 'हाँ हाँ' इतना बड़ा गट्ठर लेकर यहाँ कहाँ धँसेगा। मैं सब अनसुनी करके आँख बचाकर सब लिये-दिये एक डिब्बेमें घुस ही तो पड़ा। यहाँ लोगोंने अपना सामान इधर-उधर ऊपर-नीचे रख दिया, पर मैं तो अपनी पोटली चिपकाये ही रहा—बैठा रहा। कभी मैं उनके सहारे, कभी वे मेरे सहारे। उन्हींका मेरा संग था, वे ही मेरे साथी थे। वे ही थे मेरे भूत, वर्तमान और भविष्य।

वृन्दावन आया-आया क्या, बस, पहुँच गया। वह वृन्दावन, जिसका वर्षोंसे स्वप्न देखता था, जिसकी मनमोहक तस्वीरें खींचता था, और जहाँ-तहाँ शतरंजकी गोटीकी तरह राधा-कृष्णको बैठा देता, चलाता, कभी किसीको हरा देता, कभी किसीको जिता देता। उसी वृन्दावनमें आ गया। यहाँ भी देखा, कुछ मैले ही कपड़े पहने थे—कुछ साफ, जिनमें इत्र[2] लगा था, जो खुद सूँघते और दूसरोंको सुँघाते। कितने ही रँगे कपड़े पहने थे—कितनोंके नीचे लंगोट[3] झलक रहे थे, अंदर बनियाइनकी जेबें बाहर झाँक रही थीं—किसी बोझसे नीचे झुकी थीं। कुछ एक वस्त्रधारी[5] भी थे, वे बचकर चलते। और कुछ ऐसे भी थे जो स्वच्छ सफेद वस्त्र[6] पहने थे, मस्तीसे झूमते चलते थे बेखबर। दिगम्बर[7] भी थे, सभी थे हमारे वृन्दावनमें।

मैं भी बचता-बचाता टिकनेका स्थान ढूँढने लगा, पर कोई पैर ही न धरने दे। सोचा था वृन्दावन तो लखनऊ नहीं, वह तो हमारे प्रभुका है—चाहे जहाँ पड़ रहूँगा, पर यहाँ तो कितनोंने ही छोटे-छोटे स्वच्छन्द राज्य स्थापित कर रक्खे थे। उनकी घेरी धरती उनकी थी—ऊपर

---

* कपड़े—कर्म।

१. संत। २. घमंडी। ३. ब्रह्मचर्यहीन। ४. द्रव्य एकत्रित रखना। ५. साधक। ६. सूफी। ७. देहाध्यास न रखनेवाले।

आसमानतक उन्हींका था, तो फिर मैं क्या करता। मैंने कहा—'प्रभु! जब रखना ही नहीं था तो क्यों बुलाया। तुम्हारी इतनी बड़ी दुनिया छोड़कर आया हूँ तुम्हारे पास, तुमने बुलाया जो तो फिर क्या ठहरने न दोगे?' जैसे कोई अज्ञातमें मुस्करा दिया—मुझे लगा किसीसे बातें हो गयीं। बस चल पड़ा यमुनाकी ओर। घाटपर खड़ा था—यमुना इठलाती मचलती हुई बह रही थी, लहरोंमें नृत्य था, बहावमें संगीत था। एक मस्तीका आलम था, जिसमें सभी बहती चीजें डूबती-उतराती चली जा रही थीं। मैं देखता ही रहा—देखते-ही-देखते चाँद भी पानीमें उतर आया। अनगिनत तारे कूद पड़े, खेल चल पड़ा—आँख-मिचौनी। मैं सोचने लगा क्या यही 'रासलीला' है?

एक घाटपर अपनी छोटी-बड़ी उजली-मैली पोटली रखकर बैठ गया, देखता रहा उस यमुनाको, जो वृन्दावनमें रंग उड़ेलती है, जिसकी गोदमें गोपाल खेलते थे। घूम-घूमकर घाटके पास झाड़ियोंको देखता फिरा, उनके अंदर झाँकता, सूँघता, जैसे कोई पागल खोये हुए बाल-गोपालको, छिपे हुए नन्दलालको खोजता हो। थक गया, घाटपर आकर पोटलीका सहारा लेकर लेटा—बस, आँख लग गयी, सो गया।

कुछ हलचलकी आवाजें आने लगीं, कुछ पायल झनक उठे, कुछ खड़ाऊं बोल पड़े। लोग लीला देखने जा रहे थे, मैं उठ बैठा। बड़ी गठरी तो यमुना-जलमें भीग गयी, उसे एक किनारे रखकर—छोटी पोटली दबाकर मैं चल पड़ा लीला देखने—कृष्ण-लीला।

एक बगीचा था, मञ्चपर छोटे-से गोपाल, बड़ी-सी राधा, छोटी-बड़ी गोपियाँ और कुछ टेढ़े-सीधे गोपसखा थे। वंशी थी, मृदंग था, करतालें और झाँझें थीं। बजी वंशी, बोला मृदंग और फिर चला नृत्य। देखते ही बनता था। होलीका दृश्य रंगसे भरा था। माखनचोरी! मक्खनकी गोलियोंसे दर्शक भरपूर हो गये—ठगे-ठगेसे सब रह-गये। छके थे सब। क्या पिला रहे थे, क्या पी रहे थे। न जाने क्या था वह। हल्की-हल्की फुहार वर्षाकी थी—वह वर्षा थोड़े ही थी, मद्यकी झड़ी लगी थी, सब नशेसे थे चूर, कोई इधर, कोई उधर; न वस्त्रकी खबर, न शरीरका ध्यान; न लाजका, न मर्यादाका ज्ञान। सब अपने स्वामीके आलिङ्गनमें जो थे।

लीला समाप्त हुई, सब तितर-बितर हो गये। मैं अपनी सफेद कपड़ोंकी पोटली दबाये घाटको लौटा, आ बैठा—देखा यमुना[1] मेरे बड़े गट्ठरसे खेल कर रही थी, हिला-डुलाकर किनारेपर ले आयी थी, देखते-देखते कपड़े बह चले, मैं हँस दिया, यमुनाकी हर लहर मुस्करा दी। मैंने कहा, 'माँ! यह भी ले जाओ' फिर सफेद कपड़े भी इन्हींके हवाले कर दिये, वह उन्हें भी लेकर चल दी। पोटली खुल गयी, कपड़े बिखर गये, मैं उनको देखने लगा—वह कुर्त्ता, वह धोती, वह लँगोटी। फिर कह 'पालग', मुँह मोड़ लिया। सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपरको चला, पर यह लँगोटी! हाँ! यह तो होनी ही चाहिये। फेंकूँ कि न फेंकूँ, हाथ लगाया उतारूँ, पर उतारा नहीं; कुछ निश्चय न कर सका। कोई बोला 'यह मैली हो गयी है, धो डाल' बस यमुनामें घुस गया, कमर-भर पानीमें खड़ा हो गया। लँगोटी खोल मल-मलकर धोने लगा, एक लहर आयी जोरकी और साथ ही पैरमें काटा कछुएने[2]—वह लड़खड़ा गया, लँगोटी हाथसे छूट गयी—लहरोंमें वह बह चली, हाथ बढ़ाया—मैं बढ़ा, पर वह तो बह गयी। मैंने कहा 'माँ, यह भी ले लिया। अब कहाँ जाऊँ कैसे, दिगम्बर? माँ! तुम्हारी गोदमें नंगा ठीक है, पर संसारके बीच क्या यह ठीक है? जो तुम्हारी इच्छा।' प्रणाम किया और बाहर निकलने लगा। एक लहरका थपेड़ा लगा। देखा, एक स्वच्छ कोरे वस्त्रका टुकड़ा मेरे कमरमें लगा। क्यों? माँका प्रसाद था, लपेट लिया। कफन था किसीका। तो क्या माँ! यहाँ कफन[3] ही चाहिये? बस, उस कफनको लपेटे 'उनके' वृन्दावनमें स्वच्छन्द विचरने लगा।

रातको थककर सो गया। शायद तीन बजेका समय होगा—कुछ घुँघरूकी आवाज आयी जैसे एक चहल-पहल मची हो। देखा, ऊपर आकाशमें कितने ही स्वरूप एक ही ओर जल्दी-जल्दी जा रहे हैं, नीचे पृथ्वीपर भी हलचल-सी मची थी। मैंने ऊपरवालोंसे पूछा—नेत्रोंसे 'क्यों भाई कहाँ?' कोई बोला ही नहीं। कइयोंसे पूछा, पर कौन सुनता? वे तो शीघ्रतामें थे। फिर एक संतने कहा 'रासलीला'। बोले नहीं, होंठ नहीं हिले, बता दिया मूक

---

[1] भक्तिरूपी नदी। [2] कच्छप अवतार प्रभुकृपा। [3] इन्द्रिय-ज्ञानरहित।

वाणीसे। 'रासलीला' सुनकर मैं तड़प उठा, कूद-कूदकर ऊपर उठनेका प्रयास करने लगा, पर उठ ही न पाता, जैसे वह कफन ही बोझ बन जाता। किसीने ऊपरसे हँस दिया—फिर आवाज दी 'देह यहाँ नहीं आता प्यारे'[1]। यह कफन उतार दे'। बस, मैंने कफन उड़ा दिया और एक दम ऊपर उठ चला, ज्योत्स्नाका जामा पहने, ज्योत्स्नाकी एक किरनके सहारे।

ऊपर पहुँच गया, किसीने एक टीका लगा दिया जैसे दिव्य दृष्टि खोल दी। आस्मानमें कहीं मेला लग रहा था। श्रीकृष्ण थे, राधा थीं, गोपियाँ थीं, कुछ सखा थे। और दर्शक—साधु-संत, गृहस्थ—सभी तो थे, जो पहुँच सकते थे। रोशनी थी, अन्धेरा था। छिटकी-छिटकी चाँदनी थी, फूलोंकी सुगन्ध थी, रंग थे, बहती धार थी नदी-सी। दर्शक सब बैठ गये। न जाने किसपर गोपियोंके पैर मचल पड़े, वंशीपर श्रीकृष्ण खड़े थे न जाने काहेपर। मृदंगपर थाप पड़ी, मजीरे बोल उठे, स्वर छिड़ गये। श्रीकृष्ण मुस्कराये, राधाको छेड़ा, बोले—'राधे! तुम एक नृत्य करो, जैसा हम कहें तो हम जानें।' राधाके तेवर बदल गये, बोली 'कहो'।

श्रीकृष्ण बोले—

चन्द्रबदनी! नाचो तो देखि।
ना होब भूषणेर ध्वनि ना नड़िबे चीर।
द्रुतगति चरणे ना बाजिबे मञ्जीर॥
विषम संकटे ताले बाजाइब बाँशी।
धनु अंकेर माझे नाचो बुझिब प्रेयसी॥
हारिले काड़िमे लबो बेशर काँचली।
जितिले तोमारे दिब मोहन मुरली॥

'चन्द्रमुखी! मैं देखूँ, तुम नाचो। पर शर्त यह है, नाचते समय न तो गहनोंकी आवाज हो, न कपड़ा हिले, चरणोंकी तेज चालमें भी मंजीर न बजें, ताल भी न गड़बड़ हो, मैं तालपर मुरली बजाऊँगा, तुम यदि हार जाओगी तो मैं तुम्हारी नकबेसर और कंचुकी छीन लूँगा, जीतोगी तो तुम्हें मोहन मुरली दे दूँगा।'

श्रीराधे बिजलीकी तरह चमक उठी, वह नृत्य क्या था—बस, दामिनी दमक रही थी। जैसे सर्प एक ही स्थानपर द्रुतगतिसे चल रहा हो, जैसे एक बबूला हवामें ऊपर वह चला हो—जैसे प्राण महाप्राणसे मिलने उठ पड़े हों। श्यामसुन्दरने जैसे बताया था, वैसे ही राधा नाच रही थी। श्यामसुन्दर चारों ओर देखते हुए अपनेको छिपा रहे थे। सबने पुकारकर कहा—'राधा जीत गयी। नागर हार गये।' सारा गोपीसमूह हँस पड़ा। उल्लाससे, गर्वसे, हर्षसे देवताओंने ताली बजायी, 'जै राधे-जै राधे' गूँज उठा।

जेमनि बोले श्याम नागर तेमनि नाचे रहि।
मुरली लुकाय श्याम चारि दिके चाई॥
सबाई बोले राई जय नागर हारिले।
दुःखिनी कहिछे गोपीमंडल हाँसाले॥

श्रीकृष्ण शर्माये, पर मुस्कराये, हारे; पर जीते। राधाका नृत्य, राधाकी चाल, राधाकी मुस्कान, छेड़छाड़—ये ही तो उनकी श्वास हैं। इन्हींमें तो उनके प्राण हैं। इसीपर तो वे न्योछावर हैं।

ठुमककर राधा श्रीकृष्णके पास आ गयीं। बोलीं,—'श्रीकृष्ण! अब तुम नाचो, जैसा मैं कहूँ, और हारे तो मैं वंशी छीन लूँगी। 'कैसे? बोलो'।

राधाने कहा—सुनो—

श्याम तोमाके नाचते हबे।
ना नाडिबे गण्ड मुण्ड नुपुरेर कड़ाई।
ना नाडिबे बनमाला बूझिब बड़ाई॥
ना नाडिबे क्षुद्र घन्टि श्रवणेर कुण्डल।
ना नाड़िबे नासार मोती नयनेर पल॥
ललिता बाजाय बीणा बिशाखा मृदंग।
चित्रा बाजाय सप्तस्वरा राइ देखे रंग॥
तुङ्गविद्या कपिलास तुम्बुरा रंगदेवी।
इन्दुरेखा बाजाय पिणाक मंजिरा सुदेवी॥
उद्घट ताले यदि हारो बनमाली।
चूड़ा बाँशी केड़े लबो, दिब करताली॥
यदि जिते राइ दिबो आमरा होबो दासी।
नईले कारागारे घोर दुःखिनी शुनि हासी॥

'श्यामसुन्दर! तुम्हें नाचना पड़ेगा। शर्त यह होगी कि नाचते समय गाल, सिर नहीं हिलेंगे। नूपुर नहीं हिलेंगे। गलेकी वनमाला नहीं हिलेगी। तभी तुम्हारी बड़ाई समझी जायगी। क्षुद्र घंटिकाएँ तथा कानोंके कुण्डल भी नहीं हिलेंगे। नासिकाका मोती और आँखोंकी पलकें भी नहीं

---

[1] सूक्ष्मशरीरसे जा पाता है।

हिलेंगी। ललिता वीणा बजायेंगी, विशाखा मृदङ्ग, चित्रा सप्तस्वरा, तुङ्गविद्या कपिलास, रंगदेवी तंबूरा, इन्दुरेखा पिनाक और सुदेवा मंजीरा बजायेंगी। विचित्र तालोंमें कहीं भी हे वनमाली! तुम यदि हार गये तो हम ताली बजाकर तुम्हारे मस्तकका चूड़ा और हाथोंसे मुरली छीन लेंगी। यदि कदाचित् तुम जीत गये तो हम सब तुम्हारी दासी हो जायँगी। नहीं तो, तुम्हें हमारे घोर कारागारमें रहना पड़ेगा।'

बड़ी उमंगसे, बड़ी तत्परतासे श्रीकृष्णने फेंटा कसा, वंशी खोंसी। सबकी ओर देख, राधासे आँख मिलायी, मुस्कराये, जगह बनायी जैसे नृत्य करनेकी उतावली हो, पर! पर वे तो एकदम भाग खड़े हुए। सबने ताली पीट दी, सब ठहाका मारकर हँस पड़े।

फिर राधा भागी पीछे, और पकड़ ही तो लायी हाथमें हाथ लेकर, फिर पैर मचल पड़े, घुँघरू बोल पड़े, हवामें मादकता बही, देखनेवाले होश खो बैठे, ऐसी थी यह रासलीला। आकाश गूँज उठा, हृदय काँप उठे, शरीर सिहर पड़े, आँखोंमें वर्षा ऋतु उमड़ पड़ी। सब ही तार बज उठे एक स्वरसे। बस, एक कम्पन थी, बस, एक ध्वनि थी—ऐसी थी वह 'रासलीला'।

जब सोयी शक्ति[१] जगा रहा था—आसनपर था—तो सुषुम्ना नाड़ीसे सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी कुछ इस प्रकार गुँथी थी जैसे धनुषमें दो तार बँधे हों। मूलाधारमें एक नोक, भ्रूमध्यमें दूसरी नोक, द्रूत्रपर धनुषका झुकाव था, इसी धनुषाकारमें शक्ति चलती अनेकों चालोंसे, अनेकों ज्योतिसे, अनेकों शब्दोंसे, अनेकों स्वरोंसे। कितना रस था उसमें, कितनी मादकता, कितनी दिव्यता? क्या यह 'रासलीला' है? हमारे अंदर ही! क्या अनहद ही वह स्वर नहीं, जो बिना कोई अङ्ग हिले बोले! क्या इस ओंकार ध्वनिमें कोई स्वरूप रहता है? नहीं! तभी तो श्रीकृष्ण भाग खड़े हुए। पर यह अवस्था कितनी देर? शक्ति सदा शिवसे मिलती है तो क्या वह सुख—आनन्द आनन्द नहीं? क्या अमृतकी वर्षा नहीं है? तो क्या यही 'रासलीला' है हमारे अंदर?

इसी रासलीलाका वर्णन ही तो है—

ऐसा देस दिवाना रे लोगो जाय सो माता होय।
बिन मदिरा मतवारे झूमे जनम-मरन दुख होय॥
बिना सीप अनमोलक मोती बिन दामिनि दमकाही।
बिन ऋतु फूले फूल रहत है अमृत रस फल पाई॥
अनहद सबद भँवर बिच गुँजरै संख पखावज बाजे।
ताल घंट मुरली घनघोरा भेरि दमामै गाजे॥
रम्भा नृत्य करे बिनु पगसूँ बिन पायल ठनकारै।
सिद्धि गर्जना अति ही भारी घुँघरू गति झनकारै॥

रहस्यकी बात है रासलीला, विरला ही कोई पहचाने—जिसे 'वह' पहचनवा दे, अपने आश्रयमें ले ले, अथवा रहस्य खोल दे। राधे कृष्ण! जय राधे कृष्ण!

* * *

व्रजवासकी विधि

ऐसै हीं बसिए व्रज बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि, उदर पोषिये सीथिन॥
घूरन में के बीन चिनगटा, रच्छा कीजै सीतन।
कुंज कुंज प्रति लोटि लगै उड़ि, रज व्रजकी अंगीतन॥
नितप्रति दरस स्याम स्यामा कौ, नित जमुना जल पीतन।
ऐसेहिं 'ब्यास' होत तन पावन, ऐसेहिं मिलत अतीतन॥

—संत श्रीव्यासदासजी

---

[१] कुण्डलिनी।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ८५५ से आगे]

तृतीय तरंग

(३५)

सखा ! उस दिनसे जाता नहीं,
कभी मैं नन्दगाँवके पास ।
डरा रहता, दुख जाये नहीं—
किसी विरहीकी मुझसे साँस ॥
अभीतक बढ़ा रहे हैं दर्द,
यशोदा मैयाके उद्गार ।
जलाती है प्राणोंको सखे !
विरहमें सुलग बसन्त बहार ॥
लता-गुल्मोंके भीतर पड़ा
दग्ध निर्जन यमुनाके तीर ।
सुनाता रहता हूँ, हा सखे !
स्वयं अपनेको अपनी पीर ॥
बढ़ रही द्विगुणित गतिसे कसक,
दिनोंदिन प्राणोंमें उन्माद ।
बना डालेगा पागल मुझे—
किसी दिन तेरा अमिट विषाद ॥
बुलाता है वह सूना गुल्म,
न आओगे क्या अब इस ओर ?
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३६)

कृष्ण ! इस सूनेपनमें यहाँ,
चला आया था ले यह भ्रान्ति ।
मिलेगी सम्भवतः अब मुझे—
अकेलेपनमें ही कुछ शान्ति ॥
किन्तु भैया ! आकर इस ठौर—
हो गया है मन और अशान्त ।
करेगा कैसे शीतल मुझे
स्वयं जब आकुल है एकान्त ॥
भर रहा है मुझसे भी अधिक,
मित्र ! यह भारी भारी साँस ।
तड़फता है मानों उर बीच,
चुभ गयी हो अति गहरी काँस ॥
हो गया हूँ अतिशय उद्भ्रान्त,
निरख पीड़ा इसकी गम्भीर ।
व्यथामें घुलकर कबसे हाय !
हो गया है नितान्त अशरीर ॥
न कर चाहे मेरा दुख दूर,
किन्तु कर इधर कृपाकी कोर ।
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३७)

बिखेरे था जो तेरे साथ,
श्याम सौरभका कोष अनन्त ।
पगा प्रेमिल पीड़ामें, पीत
पड़ गया; पागल मधुर वसन्त ॥
छेड़ता है जब व्याकुल पवन,
प्रकम्पित होता है सब गात ।
चूमते हैं जब प्रेमी मधुप,
सहमता जैसे कोमल पात ॥
बढ़ाते हैं पीड़ा सौ गुनी,
प्रणयके गीत मिलनके राग ।
गये सब झुलस रँगीले फूल,
लगी तेरे बिछोहकी आग ॥
अरे मैं अच्छा आया इधर,
बचाने प्राण, शान्तिके हेत ।
यहाँ तो जला रहे हैं मुझे,
और ये पीले पीले खेत ॥

न मेरी ओर सही, पर हाय !
निहारो इस दुखियाकी ओर ।
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३८)

सिसकते सी-सी करते हुए,
शरदके सिकुड़े ठिठुरे प्राण ।
खोजते फिरते चारों ओर,
न मिलता किन्तु कहीं भी त्राण ॥
तुम्हारी देखा करता राह,
शरद पूनमका व्याकुल चन्द ।
तड़फते हैं अधरोंपर अभी,
तुम्हारे महारासके छन्द ॥
हो गया शीतल सारा गात,
जम गयी हैं स्वाँसें सुकुमार ।
पड़ा है प्राणोंपर इस तरह,
शरदके, भैया ! विरह-तुषार ॥
तुम्हारे नृत्य-गान-संगीत,
सभीको बना कभी जो श्रेष्ठ ।
हाय ! अब उसी शरदकी आज,
हो रहीं मुद्राएँ निश्चेष्ट ॥
न कर मेरी चिन्ता, पर निठुर !
थाम इसके दामनका छोर ।
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(३९)

स्वरिल मुरलीसे निकले मधुर,
मल्हारोंके रसभीने बोल ।
याद कर कर सावनके प्राण,
रहे मनमें पीड़ाएँ घोल ॥
लगी दृगसे आँसूकी झड़ी,
जगत कहता आयी बरसात ।
घिरी साँसोंमें काली घटा,
गहन जैसे अँधियारी रात ॥
छुटाती है धीरज, बेपीर !
पीरकी बिजली उरमें चमक ।
कि जैसे छहर गयी हो हाय !
तुम्हारे क्रीट-मुकटकी दमक ॥
तड़फता मैं और,
देख वर्षाकी भीषण झड़ी ।
वहीं मिलती है उस क्षण हाय,
विरहके ओरछोरकी कड़ी ॥
किंतु फिर भी पहले जग प्राण,
दुखी इस ऋतुको सुखमें बोर ।
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(४०)

सखे ! देखा है जबसे दग्ध,
ग्रीष्मके उरका मैंने दाह ।
हुआ करुणाप्लावित मैं अरे,
भूल बैठा हूँ अपनी आह ॥
फफोले फूट फूटकर हाय,
हृदयमें बन बैठे हैं घाव ।
तप्त बालूमें जैसा पड़ा,
छटपटाता हर कोमल भाव ॥
तिलमिलाती हैं जलती साँस,
तड़फते दहके दहके प्रान ।
पजलती अधरोंपर हो विकल,
मिलन-स्मृतिकी मधुमय मुसकान ॥
हो गया है जल जलकर हाय,
तापमय जिसका सकल शरीर ।
अरे इस तप्त ग्रीष्मकी कृष्ण !
न देखी जाती मुझसे पीर ॥
छोड़ हम सबको, पहले इसे—
बना जा शीतल नन्दकिशोर !
अरे ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(४१)

विरागी, विरही, व्याकुल, व्यथित,
क्षुब्ध, सन्तप्त, दुखी, अति मौन ।
शीत-सा, त्यागी, वसनविहीन,
अरे होगा पतझड़-सा कौन ॥
झुरझुरी-सी भर कर हर समय,
सिहरता रहता जिसका गात ।
झुलसते अनचाहेसे तरस,
अश्रुसे झरते रहते पात ॥
देख दुखियाते जिसको सभी,
न करता कोई पलभर प्यार ।
बना रहता फिर भी गम्भीर,
छिपाये शान्त पलकमें ज्वार ॥
निरख इतनी निस्पृहता और,
हृदयमें अनगिनती अंगार ।
हो गया है सौ गुना अधीर,
सखा ! मेरे दुखका संसार ॥
पीरको मेरी रह रह अरे,
गया जो बार-बार झकझोर ।
बचा ओ गोपीवल्लभ ! उसे
सलोने राधाके चितचोर ॥

(४२)

सुलगते ऋतुओंके ये दृश्य,
न लेने देते सुखकी साँस ।
एक ही साथ प्राणमें लगे,
चुभी हैं जैसे सौ सौ फाँस ॥
कहाँ छिप जाऊँ मुझको नहीं
दीखता कोई ऐसा ठौर ।
जहाँपर नहीं बनूँगा अरे
कृष्णके विरह-कालका कौर ॥
दीखता नहीं कहीं भी मुझे
आज व्रजमें कोई सुख-ठाँव ।
न मिलती तिलभर शीतल भूमि,
प्रज्वलित होते हर तल पाँव ॥
यहाँ क्या इस जीवनसे लाभ
नहीं जिसमें कोई आनन्द ।
बनाऊँगा यमुनाको गोद
आज निश्चित सुन लो गोविन्द !
जिया जाता अब ऐसे नहीं
हर घड़ी सहते संकट घोर ।
सुनो ओ गोपीवल्लभ कृष्ण !
सलोने राधाके चितचोर ॥

(४३)

सोचकर यों, पागलकी तरह
दौड़ जा कालिन्दीके कूल ।
नमनकर यमुना माँको
और लगा मस्तकपर व्रजकी धूल ॥
अश्रुप्लावित नयनोंसे निरख,
प्रेमसे नन्दगाँवकी ओर ।
किया सादर प्रणाम करबद्ध,
वहींसे होकर आत्मविभोर ॥
कहा फिर व्याकुल स्वरसे, कृष्ण !
जा रहा हूँ मैं अब गोलोक ।
मिलूँगा तुमको भैया ! वहीं,
न करना सुनकर मेरा शोक ॥
लताओ ! वृक्षो ! कुंज-करील !
कदम्बो ! अन्तिम राधेश्याम !
सुभग बरसाने ! राधे बहिन !
तुम्हें मेरे शत कोटि प्रणाम ॥
और फिर चढ़ा अर्घ्यकी भाँति
व्रजधरापर नयनोंसे बूँद ।
कृष्णका प्यारा मनसुख हाय !
गया झट कालिन्दीमें कूद ॥

(क्रमशः)

प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

मानव-जीवनकी प्रगति दो बातोंपर निर्भर करती है। एक सदा नये-नये श्रेष्ठ काम करते रहनेसे और दूसरे सदा नये आध्यात्मिक विचारोंको मनमें लानेसे। काम करनेसे मनुष्यका लौकिक अनुभव बढ़ता है। उसके मानसिक भावोंका शोध होता है और उसे अपने-आपको जाननेका अवसर मिलता है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने भीतर रहनेवाली अमित शक्तिका ज्ञान प्राप्त करता है, उससे उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। उसके मनमें नयी सूझ उत्पन्न होती है। इसके कारण वह अपनी भूलोंको सुधार सकता है और अपने कामको सुन्दर नवीन ढंगसे करता है। इंगलैण्डके प्रसिद्ध साहित्यकार बेकन महाशयने क्रिया और चिन्तनको प्रगतिशील जीवनके लिये नितान्त आवश्यक बताया है। अरस्तू महाशयके अनुसार सच्चा सद्गुण वह है, जिसका एक ओर आधार क्रिया हो और दूसरी ओर ज्ञान हो। सच्चा सद्गुणी मनुष्य बाहरी सफलतासे अपने जीवनकी मौलिकताको नहीं मानता, वह किसी कार्यकी सफलता इस विचारसे देखता है कि उसे कहाँतक मौलिक ज्ञान प्राप्त हुआ है। हमारे पुराने ग्रन्थ योगवासिष्ठने कर्म और ज्ञानरूपी दो पंख माने हैं। मनुष्य न केवल कर्मसे और न ज्ञानसे अपने जीवनको प्रगतिशील अथवा सफल बना सकता है। अच्छा ज्ञान वह है, जो कर्मका पथप्रदर्शक बने, जो मनुष्यकी कार्यक्षमताको बढ़ावे। इसी प्रकार कोई भी भला कर्म मनुष्यमें नये ज्ञानकी वृद्धि करता है। सभी कर्मोंका अन्त नये आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि करता है।

जब मनुष्यके जीवनमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका साम्य न होकर किसी एककी अत्यधिक वृद्धि होने लगती है तो मानसिक विषमताकी स्थिति उत्पन्न होने लगती है। यही स्थिति मानसिक रोगकी स्थिति है। जो मनुष्य सदा काममें ही लगे रहते हैं, वे आध्यात्मिक चिन्तनकी क्षमता खो देते हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवनकी सफलताको बाहरी परिणामोंके द्वारा मापने लगते हैं। जैसे-जैसे उन्हें बाह्य संसारमें सफलता मिलती है, वे आगे बढ़ते जाते हैं। बाहरी सफलताको जीवनकी प्रगतिका मापदण्ड बना लेनेपर मनुष्यमें अहंकारकी वृद्धि हो जाती है। फिर वह अपनी सफलताके आध्यात्मिक कारणको भूल जाता है। ऐसी अवस्थामें उसकी सूक्ष्म दृष्टिका ह्रास हो जाता है। इसके कारण उससे नाना प्रकारकी भूलें होने लगती हैं। इन भूलोंके कारणको वह अपने आपमें न खोजकर अपनेसे बाहर खोजने लगता है। वह अपनी असफलताका दोष दूसरोंके ऊपर मढ़ने लगता है और जब उसमें दूसरोंके प्रति दोष-दृष्टि आ जाती है, तब वह अपने मित्रोंकी संख्या घटा लेता है और शत्रुओंकी संख्या बढ़ा लेता है। जब मनुष्यकी दृष्टि सर्वथा लौकिक हो जाती है तो प्रत्येक नये कामके हाथमें लेते ही उसके मनमें अनेक प्रकारके सन्देह उत्पन्न होने लगते हैं। इन सन्देहोंके कारण वह किसी भी कामको पूरी लगनसे नहीं कर सकता। फिर उसे अपने चारों ओर निराशावादका वातावरण दिखायी देता है। ऐसा व्यक्ति उत्साहहीन होकर क्रियाहीन हो जाता है। यदि उसका पूर्व अभ्यास भला हुआ तो वह क्रियाहीन होनेपर अपने आपमें ही अपनी असफलताका कारण खोजने लगता है। वह अपने अभिमानको त्याग कर अपने आपको किसी महान् तत्त्वके प्रति समर्पित कर देता है। ऐसा करनेपर उसमें नया उत्साह आ जाता है। जिस मनुष्यका पूर्व अभ्यास आध्यात्मिकताके प्रतिकूल होता है, वह लौकिक विफलताकी उपस्थिति होनेपर मृत्युका आवाहन करने लगता है। फिर जैसा उसका आन्तरिक मन चाहता है, बाहरी घटना भी उसी प्रकारकी घटित होती है अर्थात् वह अपने-आपका विनाश कर डालता है।

जिस प्रकार केवल कर्म मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता, उसी प्रकार केवल ज्ञान भी मनुष्यके जीवनको प्रगतिशील नहीं बनाता। कर्मके बिना ज्ञान अनुभव-हीन होता है। वह पोथी-पण्डितका ज्ञान होता है। कर्मके द्वारा मानसिक भावोंका परिष्कार होता है। इसके न होनेपर मनुष्यका चिन्तन निराशावादी, नकारात्मक और अन्धकारमय हो जाता है। उसकी बुद्धि उसे किसी एक निश्चयपर नहीं ले जाती। उसे सभी कुछ दोषपूर्ण दिखायी देते हैं। वह सभी वादोंमें झूठ-ही-झूठ देखता है। किसी भी सिद्धान्तसे उसे संतोष नहीं होता। ऐसी अवस्थामें उसे बाध्य होकर आध्यात्मिक चिन्तनसे उदासीन होना पड़ता है। वह अपने आत्मबिश्वासको खो बैठता है। इस प्रकार कर्मकी अवहेलना करके जो व्यक्ति हमेशा आध्यात्मिक चिन्तनमें लगा रहता

है, उसे ठोस ज्ञान लाभ नहीं होता। सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान वह है जो कि अनुभवकी भित्तिपर खड़ा हो। यह अनुभव संसारमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंमें पड़नेसे, अनेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आनेसे और अनेक प्रकारके आचरण-व्यवहार करनेसे आता है। जो मनुष्य जान-बूझकर अपने मनको कर्ममें नहीं लगाता, उसे बाध्य होकर अपने-आपको कर्ममें लगाना पड़ता है।

संसारके साधारण लोग भोगासक्त और कर्मासक्त होते हैं। आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर प्रवृत्ति थोड़े ही लोगोंकी होती है। अतएव जितनी आवश्यकता ज्ञानासक्त लोगोंको कर्मकी बतानेकी है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता कर्मासक्त लोगोंको ज्ञानमें अनुराग रखनेकी बतानेकी है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य अपने आपमें निहित मूल शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करता है। मनुष्यकी कर्ममें सफलता उसके अपने-आपके विषयमें अर्थात् मानसिक शक्तियोंके विषयमें समुचित ज्ञान प्राप्त करनेपर निर्भर करती है। जो व्यक्ति अपनी मानसिक शक्तियोंके विषयमें जितना ही अधिक सोचता है, उतना ही अधिक उन शक्तियोंके विषयमें ज्ञान प्राप्त करता है। विचारकी शक्ति कितनी अधिक है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। जब मनुष्य अपनी विचारशक्तिको केवल अपनी बाहरी सफलतासे मापता है तब वह एक भारी भूल करता है। हम जो कुछ कार्य बाह्य जगत्में कर सकते हैं, वह हमारी वास्तविक कार्य करनेकी योग्यताका क्षुद्र भाग है। मनुष्यमें कार्य करनेकी कितनी शक्ति है, इसका स्वयं उसे ज्ञान नहीं रहता। वह थोड़ी-सी सफलताको ही बहुत-सी मान लेता है और फिर वह उसे भी खो देता है। मनुष्यकी किसी बातमें कार्यक्षमता उसके आत्मविश्वासपर निर्भर करती है। यह आत्मविश्वास सच्चे आध्यात्मिक चिन्तनका परिणाम होता है। जो मनुष्य वर्तमान कालके कर्तव्यपर ही अपने ध्यानको केन्द्रित करता है और बची हुई शक्तिको आध्यात्मिक चिन्तनमें लगाता है, उसका आत्मविश्वास कभी विनष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति प्रत्येक कार्यके सम्बन्धमें आगे-पीछेकी बातको बहुत सोचा करता है, जो भविष्यके बारेमें अत्यधिक चिन्तित रहता है, वह अपनी बहुत-सी शक्ति व्यर्थकी चिन्तामें खो देता है। ऐसे व्यक्तिका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है। फिर उसकी कार्यक्षमता भी जाती रहती है और उससे अनेक प्रकारकी भूलें होती रहती हैं। ये भूलें बिगड़े हुए मानसिक साम्यकी प्रतीक हैं। ये मनुष्यको आध्यात्मिक चिन्तनकी आवश्यकता बतलाती हैं। जब मनुष्य अपनी सफलतासे अत्यधिक फूलकर लंबी-लंबी योजनाएँ बनाता है, तब भी वह अपने मानसिक साम्यको खो देता है। उसकी योजनाएँ अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ उत्पन्न करती हैं। उसके मनमें अनेक प्रकारके संदेह लाती हैं और इस प्रकार मनुष्यकी सफलता भी उसकी विफलताका कारण बन जाती है।

आध्यात्मिक चिन्तन चिन्ताओंके निवारणका सर्वोत्तम मार्ग है। जब मनुष्यका मन नित्य-तत्त्वके पहचाननेमें लग जाता है, तब वह अपने जीवनमें आनेवाली घटनाओंको उतना महत्त्व नहीं देता, जितना कि वह आध्यात्मिक चिन्तनके अभावमें देता है। इसके कारण ये घटनाएँ उसके मनको उद्विग्न नहीं करती हैं। जब मनुष्य शान्त रहता है, तब वह मनकी अशान्त अवस्थाकी अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकता है। मनुष्य भावी घटनाओंके चिन्तन करनेसे जितनी अपनी मानसिक शक्तिको खोता है, उतनी मानसिक शक्तिको वह काम करनेमें नहीं खोता। मनुष्यकी अत्यधिक मानसिक शक्ति अपने मनमें भयके विचारोंको लानेसे नष्ट होती है। मनुष्यके भय उसके जीवनमें उन्हीं घटनाओंको घटा देते हैं, जिनसे वह डरता है। इन भयोंकी उत्पत्तिका कारण वर्तमान कर्तव्यको छोड़कर भविष्यके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना है। आध्यात्मिक चिन्तनसे मनुष्य वर्तमानमें रहना सीखता है और इस कारण वह अकारण भयोंसे अपने आपको मुक्त कर लेता है।

आध्यात्मिक चिन्तन मनुष्यको नित्य-तत्त्वकी ओर ले जाता है। मनुष्यकी शक्तिके ह्रासका प्रधान कारण उसका व्यक्तिगत स्वार्थोंके विषयमें अत्यधिक चिन्ता करना होता है। जब मनुष्य अपने कार्योंका लक्ष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी पूर्ति न बनाकर किसी महान् आदर्शकी प्राप्तिको बना लेता है, तब उसका मन डावाँडोल अवस्थासे मुक्त हो जाता है। वह क्षणिक सफलता या विफलतासे न तो उत्साहित होता है और न उद्विग्न। जिस मनुष्यके कार्योंका उद्देश्य सबका कल्याण होता है, उसकी क्षमता अपार होती है। परंतु अपने कार्योंका लक्ष्य मनुष्य, सभीका कल्याण तबतक नहीं बना सकता, जबतक कि वह अपने आन्तरिक स्वत्वकी सर्वव्यापी तत्त्वसे एकता नहीं देखता। जब मनुष्य यह देखने लगता है कि सभीके कल्याणके बारेमें सोचनेमें ही उसका कल्याण है और सबके हितचिन्तनसे उसे

वास्तविक सुख और शान्ति उपलब्ध हो सकती है, तभी वह अपने वैयक्तिक स्वार्थको छोड़कर अपने मनको दूसरेके कल्याणमें लगा सकता है। इसके लिये प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन करना नितान्त आवश्यक है। जबतक मनुष्यको यह ज्ञान नहीं होता कि दूसरोंका लाभ करनेसे न केवल उसे लौकिक ज्ञान लाभ होता है, वरं उसे आन्तरिक पूर्णताका अनुभव होता है, तबतक वह पूरे मनसे कभी भी दूसरोंके कल्याणमें नहीं लग सकता।

जो लोग आध्यात्मिक चिन्तनसे विमुख होकर केवल लोकोपयोगी कार्यमें लगे रहते हैं, वे अपनी ही सफलतापर अथवा अपने सद्गुणोंपर मोहित हो जाते हैं। वे अपने-आपको लोकसेवकके रूपमें देखने लगते हैं। ऐसी अवस्थामें वे आशा करते हैं कि सब लोग उनके कार्योंकी प्रशंसा करें, उनका सम्मान-सत्कार करें और उनके आदेशका पाल करें और बिना किंतु-परंतुके उनका कहा मानें। ऐसे लोगों अपनी ही बातको ऊँची तथा सच्ची माननेकी प्रवृ उत्पन्न हो जाती है। फिर उनका बढ़ा हुआ अभिमान उन् अनेक लोगोंका शत्रु बना देता है। वे द्वेषका पोषण कर हैं, इससे उनकी लोकसेवा उन्हें वास्तविक लोकसेवक बनाकर, लोक-विनाशकका रूप दे देती है। वे अहंकारव केवल अपनी ही बातका समर्थन तथा उसीके अनुसार का करते जाते हैं। उनका हठधर्म उन्हें विनाशकी ओर जाता है। आध्यात्मिक चिन्तनके बिना मनुष्यमें विनीत-भा नहीं आता और न उसमें अपने-आपको सुधारनेकी क्षम रह जाती है। वह भूलोंपर भूलें करता चला जाता है औ इस प्रकार अपने जीवनको विफल बना लेता है।

सब माननेकी बात है !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, मानस-शास्त्रविशेषज्ञ)

हमारी शक्तियोंका हमें ज्ञान नहीं है। हम मामूली चालसे चलते और आलस्यभरे दिमागसे विचार करते हैं। इस अधूरे प्रयास और थके हुए संकल्पबलके कारण हम जो कुछ हो सकते हैं, वह नहीं हो पाते। बहुत-से विद्यार्थी मामूली खेल-कूद, सस्ती नेतागिरी, फिल्म-एक्टिंग तथा फैशनकी देखरेखमें ही अपना मूल्यवान् जीवन समाप्त कर देते हैं और वर्षके अन्तमें फेल होकर अध्ययन छोड़ बैठते हैं। जब कि वे ही यदि मनोयोग-पूर्वक श्रम करते तो प्रसिद्ध डाक्टर या इंजीनियर बन सकते थे। वे अपनी गुप्त सोयी हुई मानसिक शक्तियोंको नहीं जानते। इसीलिये ऊपरके स्तरवाला जीवन व्यतीत करते हैं।

जो मामूली श्रम करेगा या आलस्यमें पड़ा अथवा देरतक सोया रहेगा, वह दो कौड़ीका साधारण नागरिक बनकर रह जायगा। ऐसे ओछे व्यक्ति, कामचोर एक ही स्थितिमें पड़े रहते हैं। वे कूपमण्डूक हैं। वे अपने बुजुर्गोंकी ही कमाई खाते रहते हैं। बड़ी-बड़ी जायदादें खतम कर डालते हैं और सदा दुःखोंसे पिसते रहते हैं।

हम यह क्यों नहीं सोचते कि पुराने जमाने मनुष्यने जो कुछ किया है, हम उससे भी अधिक क सकते हैं। हम प्राचीनकालकी अपेक्षा आज अधि चतुर, ज्ञानवान्, विवेकवान् और साधनसम्पन्न हैं।

वास्तवमें सब कुछ कारण हमारे 'मानने' में है। यदि हम अपने आपको मजबूत मानने लगें, हर शु कार्यमें समर्थ सोचने लगें, सफल कहने लगें, भाग्यवा समझने लगें, तो निश्चय ही बहुत ऊँचे उठ सकते हैं। हम अपनेको कुछ मानें, अपनी शक्तियाँ बढ़ावें, अ अंदर विश्वास करें, फिर उसीके अनुरूप श्रम करें तो महान् पद प्राप्त कर सकते हैं।

हम मानते नहीं, विश्वास नहीं करते, इसलिये का नहीं कर दिखाते। दुनियाँमें कोई भी कार्य पहले 'मा लेने'से होता है।

वस्तुतः जैसा हमारा 'मानना' होगा अर्थात् जै हमारा अपने विषयमें आधारभूत विचार होगा, वैसा ह फल होगा। गलत माननेका फल गलत और ठी माननेका फल ठीक होता है। इस स्वर्णसूत्रका उदाहर हम अपने जीवनमें क्षण-प्रतिक्षण देख सकते हैं।

यदि हम किसी बातका अस्तित्व मानते हैं, तो उसके अस्तित्वकी खोज करेंगे और न हुआ, तो हमारा मानना गलत था।

अपने मन, शरीर, आत्माकी शत-शत शक्तियोंका और संसारमें जितना हम कर सकते हैं, जो हमारी पहुँचके भीतर है, जो वस्तुतः हमें कर ही डालना चाहिये, उस सबका ज्ञान हमें न होनेसे ही, उसका उपयोग न होनेसे ही हमें सर्वत्र दुःख, अभाव और शून्य प्रतीत होता है।

याद रखिये, सब शक्तियाँ, सूक्ष्म जगत्का सब भण्डार हमारे 'मानने' की बाट जोह रहे हैं कि हम उन्हें मान लें, तब वे प्रकट हों ।

ये सब जाग्रत् और प्रकट होकर प्रकाशमें आनेके लिये हमारे विचारोंकी जादूभरी आज्ञाका रास्ता देखते हैं। हमने अपनेको जगत्में जैसा मान रक्खा है, वह बहुत थोड़े अंशोंमें सत्य है और अभी बहुत बड़े अंशोंमें गलत है।

हमारा अस्तित्व हमारे आजके माननेकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचा माननेपर निर्भर है। यदि हम अपनेको मनुष्य समझते हैं तो हमें प्राचीन वीरों, प्राचीन विद्वानोंसे भी बड़े अद्भुत करिश्में कर दिखाने चाहिये। इतना ही नहीं, यदि हम अपनेको ईश्वरका सद्गुणी पुत्र समझ लें, तो ईश्वरके सब गुण, दिव्य शक्तियाँ, आत्म-ज्ञान, सर्वोच्च शक्ति अथवा यों कहिये कि ईश्वरत्व हमें प्राप्त हो जाय ।

यदि हमें यह विश्वास हो जाय कि हम बलके देवता हैं। मनोराज्य हमारा है। हम पूर्ण स्वतन्त्र हैं, तो हम किसीका भी सहारा न लें। आवश्यकता है बस माननेकी और सवाल हल करनेकी ।

चींटी और शेर—दोनोंके उदाहरण सामने हैं। तुम किसके बच्चे हो ? तुम्हारी कितनी महान् परम्पराएँ हैं ? तुम कितना अधिक कर सकते हो ? तुममें कितनी अद्भुत शक्ति है ? तुम मालिक बनोगे या नौकर ? यह आज ही निर्णय कर लो ।

हमारे विश्वासमें, निश्चय और संकल्पबलमें क्या-क्या चमत्कार सम्भव हैं, यह अकथनीय है। हम अपनी शक्तियोंकी खोज ही नहीं करते। हम समझते हैं कि संसारकी जो चाल नजर आती है, वही हममें है। हम भी मामूली-से निरीह प्राणी हैं—यही हमारी गलती है ।

दूसरी कमजोरी यह है कि हमें अपने मनमें उत्साह ही नहीं है। हम नीचोंको देखते हैं, अपने सम्बन्धमें साधारण-से विचार रखते हैं, फिर उन्नतिशील कैसे होंगे ?

पर्वतकी चोटीपर दृष्टि जमानेवाला अवश्य यह इच्छा करेगा कि देखें तो वहाँ कैसा है। जो दृष्टि ही नहीं उठाता, वह भला उन्नतिके शिखरपर कैसे चढ़ेगा ?

हम उन्नत पुरुषोंके विचारों, कार्यों एवं उनके जीवनको देखते ही नहीं, अपने आस-पास ही देखते हैं, मामूलीसे ही संतुष्ट हो जाते हैं; फिर उन्नतिके विचार कैसे आवें और उन्नति कैसे हो ?

प्राचीन और वर्तमान कालके महापुरुषोंने जो-जो बड़े कार्य किये हैं, उन्हें देखकर हम अचम्भा करते हैं और यह कहते हैं कि 'उन लोगोंमें शक्ति थी, इसीलिये उन्होंने यह महान् कार्य किया। हममें शक्ति नहीं है।' ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है। उन लोगोंके बड़े कार्योंको देखकर हमें भी इच्छा करनी चाहिये और उत्साह आना चाहिये कि हम भी वैसा ही, प्रत्युत उससे भी हजारगुना बड़ा और ऊँचा कार्य करें ।

अपने प्रति अखण्ड विश्वाससे ही हम भविष्य बना सकते हैं ।

नास्ति चात्मसमं बलम् ।

अपनेपर भरोसे-जैसी दूसरी कोई शक्ति नहीं है ।

* * *

सरलता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

माता-पिताने उसका नाम तो बुधिराम रक्खा था; क्योंकि उसका जन्म बुधके दिन हुआ था; किंतु सृष्टिकर्ताने उसे बुद्धि देनेकी कृपा नहीं की। आस-पासके लोग उसे बुद्धू कहकर पुकारते थे और वह भी इसी शब्दको अपना नाम समझता था। अपने इस नामके सर्वथा अनुरूप ही वह था। कुशल यह थी कि गड़रियेके घरमें जन्म हुआ था। भेड़ें चरानेका काम करना था अपने जीवनमें उसे। भेड़ कितना नासमझ पशु है, यह तो आप जानते ही हैं।

मुझसे एक बार एक पशु-पालन-विद्याके जानकारने कहा—'किसी क्षेत्रकी घास गायें चर चुकी हों तो उसमें घोड़े तथा खच्चर अपना पेट भर ले सकते हैं। घोड़ोंके चरने योग्य घास न रह जाय तो भेड़ें वहाँ चरकर तृप्त होंगी। भेड़ भी न चर सकती हों, तब वहाँ बत्तख पक्षी चर सकते हैं।'

गाँवके बाहर दूरतक ऊसर भूमि थी। ऊसरके मध्यमें तो नहीं; किंतु कुछ एक ओर हटकर ग्रामकालिकाका पक्का चबूतरा था और एक नीमका वृक्ष था। बुद्धूकी भेड़ोंका वह ऊसर मुख्य चरागाह था। गर्मियोंमें जब गधे भी ऊसरपर चरनेको कुछ नहीं पाते थे, भेड़ें इधर-उधर मुँह चलाती ही रहती थीं।

'मैया! मैं एक झपकी ले लूँ। तुम तबतक मेरी भेड़ें ताके रहना।' बुद्धू ग्रामकालिकाको 'कालीमाई' कहता था और जब उसकी अपनी माँ यदा-कदा उसकी भेड़ें सँभाल लेती है, उसे घर भेज देती है तो यह चौरेवाली माँ थोड़ी देर उसकी भेड़ें क्यों नहीं सँभाल सकती?' वह सीधा-सा गँड़रिया अपनी सरल भाषामें अपनी बात कहकर वहीं चौरेसे नीचे नीमकी छायामें अपना मैला गमछा बिछाकर लेट जाया करता था। उसकी लाठी बगलमें पड़ी होती, लोटा-डोरी समीप रक्खे होते और वह डेढ़-दो घंटे मजेमें खर्राटे लेता पड़ा रहता। उसके शरीरपर चींटियाँ घूमती हैं या दूसरे कीड़े, इसका उसे कुछ पता नहीं होता। निद्रा प्रायः तब टूटती, जब वृक्षकी छाया दूसरी ओर हट जाती और उसके मुखपर धूप आ जाती। गमछा फटकारकर धूलि झाड़ दी, लाठी तथा लोटा-डोर उठा ली और भेड़ोंको सँभालनेमें लग गया।

कालीमाई बुद्धूकी भेड़ सँभाल लें। गङ्गामाईमें वह डुबकी लगा लेता है, जब भेड़ चराते गङ्गाके समीप पहुँच जाय। पीपलके नीचे जो शंकरबाबाकी पिण्डी रक्खी है, वे केवल इतने काम आते हैं कि उसके सामनेसे निकलते समय उनको हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया जाय। इस प्रकारके और भी अनेक देवबाबा हैं, जैसे 'डीहबाबा' (ग्रामदेवता), 'सतीमाई' जैसी कुछ 'माई' भी हैं। किसीका चौरा है, किसीका टीला है, किसीका निवास किसी वृक्षपर ही है। बुद्धूने इनमेंसे किसीको देखा नहीं है, किंतु किसीके भी होनेमें उसे कोई संदेह नहीं है। वह इन सबको हाथ जोड़कर सिर झुकाता है समीपसे निकलते समय, और इनमेंसे किसीको कोई काम बतानेमें उसे संकोच भी नहीं होता। कोई भेड़ खो गयी है तो ब्रह्मबाबा उसे ढूँढ़नेमें सहायता कर दें, कोई आँधीमें भटक गयी है तो सतीमाई उसे बचाये रक्खें, कुएँ-नालेमें गिरने न दें। ऐसी छोटी-मोटी प्रार्थनाएँ वह करता ही रहता है और उसे किसीसे

शिकायत नहीं है कि किसीने कभी उसकी कोई प्रार्थना अनसुनी कर दी ।

× × ×

'अबे ओ बुद्धूके बच्चे !' गाँवके ठाकुरसाहब क्रोधमें भरे आये हैं उसके पास । इस समय वे कुछ भी कह सकते हैं ।

'मालिक ! मैं बुद्धू हूँ । मेरे बापका नाम तो मंगल्लू है ।' बुद्धू हाथ जोड़कर ऐसे सहज भावसे कह देता है, जैसे ठाकुरसाहबने उसे पहचाना नहीं हो । वह कहता ही जाता है—'मेरा तो विवाह ही नहीं हुआ मालिक ! मेरे बच्चा कहाँसे आयेगा ।'

'कल तू मेरे खेतमें भेड़ें क्यों नहीं लाया ?' ठाकुरसाहबने डाँटकर पूछा । वे जानते हैं कि बुद्धूसे सिरपच्ची करना व्यर्थ है । वह गालीको भी कम ही गाली समझ पाता है । लेकिन आषाढ़ लग गया है । धानका बीज डालनेवाले खेतमें भेड़ें न बैठायी गयीं तो केवल खादके बलपर धानका रोपा इतना नहीं बढ़ेगा कि गहरे खेतमें लगाया जा सके । कल सबेरे इसीलिये अपने-आप बुद्धूके पास आये थे और कह गये थे कि वह शामसे चार-पाँच दिन उनके खेतमें भेड़ें बैठावे ।

'मालिक ! मैं क्या कर सकता हूँ ।' बुद्धू असहायकी भाँति हाथ जोड़े सामने खड़ा कह रहा था—'तिवारी पण्डित आये और भेड़ोंको अपने खेतमें हाँक ले गये । अब सात दिनका तो बन्धन हो गया उनके यहाँ ।'

'आज शामको मैं हाँक ले जाऊँगा । बन्धन तेरा मेरे यहाँ पहलेका है । मैंने पहले कहा है तुझे ।' ठाकुरको बहुत क्रोध आया । तिवारीसे उनकी कुछ कसमकस चलती है । वैसे भी जब उन्होंने कह रक्खा था, तिवारी क्यों भेड़ें हाँक ले गये ? इस समय यह न्यायकी बात सुनने-समझनेको उनका मन प्रस्तुत नहीं था कि केवल कहनेसे बात पक्की नहीं होती । गँड़रियोंको कुछ पैसे, गुड़-सीधा भी रात भेड़ बैठानेके लिये पहले देना पड़ता है । ठाकुरने तो कुछ दिया नहीं था और तिवारीने जब दे दिया है, उनका काम पूरा होनेसे पहले गँड़रिया दूसरेके खेतमें भेड़ें कैसे ले जा सकता है ?

'मुझे चार जूता मार लो मालिक !' बुद्धूने मस्तक झुका दिया । वह नहीं चाहता है कि ठाकुर तथा तिवारी परस्पर लड़ें, लाठियाँ चलें और फिर कचहरी दौड़ें लोग ।

'तुझसे क्या मतलब है ।' ठाकुरने दहाड़ ली—'तिवारीको मैं देख लूँगा ।' इधर गँड़रिये कम हैं । कुल चार-पाँच झुंड भेड़ोंके हैं आसपासके कई गाँवोंके बीचमें । आषाढ़ लगनेसे पहले ही उनके लिये किसान दौड़-धूप करने लगते हैं ।

'मालिक ! आप भले मेरे हाथ-पैर तोड़ डालो ।' बुद्धू तो इस प्रकार खड़ा हो गया है, जैसे ठाकुर सचमुच उसके हाथ-पैर तोड़ने ही वाला हो—'लेकिन मेरी भेड़ोंके लिये लड़ाई होगी तो मैं दिनमें ही चार गाँव दूर भेड़ हाँक ले जाऊँगा । अभी बादलका नाम तो कहीं दीखता नहीं । आठवें दिनसे आपके खेतमें भेड़ आ जायँगी ।'

'आठवें दिन फिर कोई और हाँक ले गये तो ?' ठाकुरका स्वर कुछ ढीला पड़ गया ।

'मालिक ! मैं क्या कर सकता हूँ । गँड़रिया तो आप सबकी सुननेको ही पैदा हुआ है ।' बुद्धूने एक सरल मार्ग बतला दिया—'आप आठवें दिन सबेरे ही गुड़-सीधा दे देना । बन्धन हो जायगा तो कोई भेड़ हाँकनेकी हिम्मत नहीं करेगा ।'

'अच्छी बात !' ठाकुरने समझ लिया कि भूल उनसे हुई है । लेकिन इस गँड़रियेको इतने सस्ते वे छोड़ देनेवाले नहीं थे । चलते-चलते उन्होंने दो हाथ धर नहीं

दिया तो केवल इसलिये कि अपने खेतमें भेड़ें बैठाना आवश्यक था; किंतु धमकी देते गये—'इस बार थानेदारको बड़ा भेड़ा देना पड़ेगा, तब पता लगेगा तुझे कि ठाकुर संग्रामसिंहसे गुड़-सीधा अगाऊ कैसे मिलता है।'

× × ×

'सरकार ! मुझे कुछ कह लीजिये; पर मेरे इस भेड़ेको मत ले जाइये। मेरा झुंड सूना हो जायगा।' आज बुद्धू बहुत व्याकुल हो गया था। उसकी समझमें ही नहीं आता था कि क्या करे वह। उसने कभी किसीको देवा-पूजामें बलि देनेके लिये भी अपना कोई भेड़ा नहीं बेचा था, और यह भूरा तो उसके झुंडकी शोभा है। सफ़ेद रंगका ऐंठी हुई सींगोंवाला खूब तगड़ा भेड़ा। बुद्धूको बहुत प्यारा है वह। अपने हाथसे घास तोड़कर वह इसे खिलाता, सहलाता तथा अपने साथ दौड़ाता है। आज थानेका सिपाही जुम्मन खाँ उसी भेड़ेको चौकीदारसे उठवाकर लेने आ गया है। बुद्धू गिड़गिड़ा रहा है—'सरकार, आपके बाल-बच्चे होंगे। कोई उनके गलेपर छुरी फेरने लगे……!'

'चुप……!' तड़से थप्पड़ मारते हुए जुम्मन खाँने एक भद्दी गाली दी—'बहुत उछल-कूद करेगा तो ले जाकर बंद कर दूँगा। भेड़ा न हुआ कोई अजीज हो गया। बाल-बच्चेका नाम लेता है यह……।' फिर गाली दी सिपाहीने।

'आप मुझे बंद कर दीजिये। जेल भेज दीजिये; किंतु इसे छोड़ दीजिये।' बुद्धू रोने लगा था। भेड़ा चिल्ला रहा था। बड़े ही व्याकुल नेत्रोंसे अपने पालककी ओर देख रहा था। सिपाही और चौकीदारने अकस्मात् भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उसे पकड़ लिया था। अब उसके दोनों ओरकी टाँगें एक-एक हाथमें पकड़कर चौकीदारने उसे कन्धेपर धर लिया था। आगे क्या होता है, जैसे भेड़ेको इसका अनुमान हो गया था। वह शरीर तो हिला नहीं सकता था, पकड़ कड़ी थी। छटपटानेका भी अवसर नहीं था, केवल सिर इधर-उधर हिलाता तथा चिल्लाता था। उसके प्रत्येक शब्दसे जैसे बुद्धूका हृदय फटा जाता था।

'इसे छोड़ दूँ!' सिपाही जुम्मन खाँ क्रूरतापूर्वक हँसा—'कल थानेकी जाँच करने जो सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब आ रहे हैं, उन्हें क्या परोसा जायगा, मेरा सिर या तेरा !'

बुद्धू रोता-गिड़गिड़ाता कुछ दूर साथ गया; किंतु सिपाहीने उसे पीटकर, धमकाकर लौटनेको विवश कर दिया। रोता-कलपता वह लौट रहा था, तभी उसकी दृष्टि नीमके पेड़तले बने ग्रामकालिकाके पक्के चबूतरे पर गयी। एक बार वह चीखा—'कालीमाई !'

किंतु उस चबूतरेकी ओर बढ़ते बुद्धूके पैर अपने आप रुक गये। वह अपने ओठोंमें ही बुदबुदाया—'बेचारी माई क्या करेगी। वह थाना-पुलिससे कैसे सलटेगी ?' अनपढ़ सरल गँड़रिया—उसकी अपनी माँ भी तो पुलिसके नामसे काँपती है। थानेके दारोगाके हाथ-पैर जोड़कर घरकी एक बकरीको काँजी-हाउससे छुड़ाना था तो उसका बाप गया था। बुद्धूको यह भी पता नहीं कि काँजी-हाउस और थानेमें अन्तर है और उसका बाप काँजी-हाउसके मुंशीके ही पास गया था।

'यह काम शंकरबाबा कर दे सकते हैं !' अपने स्वर्गीय पिताकी याद आते ही बुद्धूको पीपलके पेड़के नीचे पिण्डीके रूपमें बैठे शंकरजीकी याद आ गयी और फिर तो वह दौड़ पड़ा। वहाँ उसने पिण्डीके पास पीपलकी जड़पर अपना सिर प्रायः पटक ही दिया—'बाबा, मेरे भेड़ेको बचा दो। थानेदारको मनाकर उसे छुड़ा लाओ बाबा ! सिपाही मेरी बात सुनता नहीं है।

अवश्य ठाकुरने सिपाहीको भड़का दिया होगा । तुम इतनी दया करो बाबा !'

भगवान् शंकरको भी ऐसा भोला, इतना सरल प्रार्थना करनेवाला काहेको कभी मिला होगा । इतना अद्भुत काम भी उन्हें काहेको किसीने कभी बताया होगा । गँवार गँड़रियेके आँसू टपाटप उनकी लिङ्गमूर्तिपर गिर रहे थे । इतनी निष्कपट सहज सरल अर्चाकी उपेक्षा भी वे आशुतोष कैसे कर सकते थे ।

बुद्धू रोता रहा, गिड़गिड़ाता रहा और तब अकस्मात् उसे ध्यान आया कि अपनी भेड़ोंकी खोज-खबर उसने देरसे नहीं ली है । 'उसे ला दो बाबा !' फिर उसने कहा और लाठी उठाकर भेड़ोंका झुंड जहाँ छोड़ आया था, उधर चल पड़ा ।

× × ×

'मैंने उस गँड़रियेको पीपलके नीचे शंकरजीकी मूर्तिपर आँसू टपकाते और गिड़गिड़ाकर रोते देखा है । वह पता नहीं क्या 'थानेदार' कह रहा था—वैद्यजीने दारोगासाहबकी नाड़ी देखी और गम्भीर होकर बोले—'दुखीकी पुकार दीनदयालके कान बहुत शीघ्र सुन लेते हैं । आपने उसे तंग तो नहीं किया है ?'

'उसका एक भेड़ा आज पकड़ मँगाया था ।' दारोगा चौंका—'अभी वापस भिजवाता हूँ । क्या पता था कि वह ऐसा चमत्कारी भगत है ।'

थानेदारने सिपाही जुम्मन खाँको बुलानेको कहा तो सूचना मिली—'उसे जूड़ी चढ़ी है । पाँच-सात कम्बल ओढ़े काँप रहा है । कुछ बकने-झकने लगा है ।'

'वह चौकीदार कहाँ है, जो भेड़ा लाया था ?' थानेदार अब बुरी तरह घबरा गया था । उसकी घबराहट तब और बढ़ गयी, जब पता लगा कि चौकीदार तो भेड़ा किसी प्रकार पहुँचा गया है, उसे तो रास्तेमें ही ज्वर आ गया था । इधर दशा यह थी कि थानेदारके इकलौते पुत्रकी अवस्था बिगड़ती जा रही थी । उसे हैजा हो चुका था ।

'मेरी दवा यहाँ कुछ नहीं कर सकती ।' वैद्यजी पुराने ढंगके श्रद्धालु मनुष्य हैं । उन्होंने दो टूक उत्तर दे दिया—'देवकोपके बीच मैं नहीं पड़ूँगा । आप किसी औरको बुलाइये ।'

भेड़ा इस बार एक सिपाहीके कन्धोंपर लादा गया और दारोगाजी स्वयं घोड़ेपर बैठकर उसे लौटाने चले । किंतु जब घोड़ेसे उतरकर उन्होंने 'भगतजी' कहकर बुद्धूके पैर पकड़ लिये तो वह बेचारा घबरा गया । उससे एक शब्द भी बोला नहीं गया ।

'मेरे बच्चेको बचा लीजिये !' थानेदार हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहा था और बुद्धू गिड़गिड़ा रहा था—'मैं कोई जड़ी-बूटी नहीं जानता । वैद्यबाबाको बुलाइये ।'

'वैद्यबाबा जवाब दे गये !' थानेदारने कहा—'उसे आप ही बचा सकते हैं ।'

'मैं तो कुछ नहीं जानता !' अचानक बुद्धूको स्मरण आया कि शायद शंकरबाबा दवा-दारू जानते हैं । वह उठ खड़ा हुआ—'आप थाने चलो । मैं बाबासे विनती करता हूँ ।'

'बाबा, तुम्हें दवा-दारू आती है क्या ? बेचारे थानेदारका लड़का बीमार है । एक ही बेटा है उसके । उसे कोई जड़ी दे दो न !' बुद्धू पीपलके नीचे बैठा प्रार्थना कर रहा था, अतः थानेदारको लौटनेपर अपना पुत्र रोगहीन मिला तो आश्चर्यकी क्या बात है ?

लोकोपकारकी भावना

(लेखक—श्रीचक्रधरजी 'नलिन')

क्या आपने कभी यह विचार किया है कि आप दैनिक जीवनमें दूसरोंके हितमें कहाँतक उनकी सहायता करते हैं। मुझे लगता है कि आप लोकसेवाके लिये मनमें अवश्य विचार करते होंगे, पर आपकी अत्यधिक व्यस्तता, निष्प्रयोजन अपने ऊपर एक भार लेना, अहंभाव तथा अर्थाभाव निश्चितरूपसे आपको रोकते होंगे; किंतु मैं यह नहीं मानता हूँ कि वास्तवमें आपमें लोकोपकारकी थोड़ी-बहुत इच्छा नहीं है।

हमारे वर्तमान दैनिक जीवनमें सैकड़ों ऐसे अवसर आते हैं, जब हम समाजसेवाका कुछ काम कर सकते हैं, जिसके हेतु न विशेष समय ही देनेकी आवश्यकता है, न अर्थ-व्ययकी। यदि सचमुच अपनी भावनाको साकार रूप देनेमें प्रयत्नशील हों तो आप एक भी ऐसा अवसर न खोयें, जिसमें आपकी सहायतासे किसी दूसरेका हित हो सकता हो।

आपको यह नहीं विस्मृत करना चाहिये कि समाजसेवाका कार्य दूसरोंको ही लाभप्रद नहीं होता, वरं आप भी उन कार्योंके द्वारा स्वयं लाभान्वित होते हैं। आप किसी आवश्यक व्यक्तिकी कोई छोटी-सी सहायता कीजिये, आप स्वयं ही अनुभव करेंगे कि आप अपनी दृष्टिमें कितना ऊँचा उठ गये हैं तथा आपके हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ पड़ेगा। यह अनिर्वचनीय हार्दिक हर्ष आप बाजारसे नहीं खरीद सकते, वरं यह तो आपके प्रत्युपकारका फल है। आपके ये कार्य—उन लोगोंके हेतु वरदान हैं, जिनकी सेवा करके आप समाज या राष्ट्रका चरित्र ऊँचा करते हैं।

ऐसा कहा गया है कि सच्चे हृदयसे की जानेवाली क्षणभरकी समाज-सेवाका महत्त्व आदर्शात्मक समाजसेवा या महीनोंतक की गयी समाज-सेवासे कम नहीं है। निःस्वार्थभावसे सेवा करनेपर जो हार्दिक सन्तोष प्राप्त होता है, वह व्यक्तिके चरित्र एवं व्यक्तित्वके विकासके साथ-साथ उसका नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान भी करता है। निःस्वार्थ त्याग एवं लोकोपकारकी भावना व्यक्तिके भेद-भावको मिटाकर हृदयकी कलुषताका शमन कर व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास करती है।

आप जब बहुत वेगमें किसी आवश्यक कामसे जा रहे हैं और कोई आपसे विशिष्ट स्थान—अस्पताल या स्टेशनके लिये पूछता है तो आप सरलतापूर्वक उसको आवश्यक जानकारी देकर उसकी सहायता कर सकते हैं। आप मार्गमें किसी असहाय व्यक्तिका बोझ उठाकर, किसी ऐसे व्यक्तिकी सहायता कर, जिसे बस या रेलका टिकट खरीदनेमें पैसे कम पड़ रहे हों, किसी ऐसे यात्रीको अपनी साइकिलपर बिठाकर उसे कुछ दूर ले जाकर उसकी यात्रा-दूरीको कम कर, किसी बीमार आदमीको अस्पताल पहुँचाकर, किसी अनजान परदेशीको भोजन तथा निवास देकर—आप उसके सहायक हो सकते हैं; पर बहुधा देखा यही जाता है कि कभी समयाभाव, कभी अर्थाभाव और कभी आवश्यक योग्यताका अभाव आपको वस्तुतः ऐसे लोकोपकारसे वञ्चित रखता है।

नगरोंमें बहुधा लोग पते पूछते रहते हैं—पर बहुत ही कम लोग उनकी सहायता कर लोकसेवाके अवसरका उपयोग कर पाते हैं। नगरोंमें बहुत-से लोग समाजसेवाकी संस्थाएँ स्थापित करते, सम्मेलन करते, भाषण देते हैं; पर वास्तवमें उनमें प्रायः समाज-सेवाकी भावना परिलक्षित नहीं होती। अहंकारी कभी लोकसेवक नहीं हो सकता, कारण कि उनके नेत्रोंपर अहंकारका पर्दा पड़ा है। पर एक विनम्र-हृदयीके लिये लोकसेवाका द्वार सदैव खुला है।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ पैदल कालना ग्रामकी ओर जा रहे थे कि मार्गपर एक 'मोटिया' को गठरीपर दुर्गन्धित पड़े, दस्त और उलटीसे लथपथ, भिनभिनाती मक्खियोंसे आच्छादित, एक बूँद पानीके हेतु तरसते देखा। जब कि उस अछूतकी ओर जाकर कोई भी सहायता नहीं

कर रहा था। विद्यासागरजी अपने सहयात्रीकी सहायतासे उस रोगीको कन्धेपर उठाकर मील-डेढ़ मील ढोते हुए कालना ले गये। वहाँ उन्होंने उसका मल-मूत्र धोकर उसकी दवा आदिकी व्यवस्था कर आदर्श सेवा-शुश्रूषा-द्वारा उसे स्वस्थ कर दिया। वह व्यक्ति विद्यासागरजीके इस लोकोपकारी कृत्यसे अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनके इस कृत्यकी प्रशंसा करता हुआ गद्गद होकर चला गया।

लोकोपकारका भाव मूलतः त्याग और बलिदानका अद्भुत समन्वय है। लोकोपकारमें व्यक्तिको अपने कष्टसे अधिक दूसरोंके कष्टोंका अनुभव होता है। एक रात आचार्य रामचन्द्रशुक्लके पास एक सज्जन पधारे। उन्होंने विपन्न मुद्रामें, नेत्रोंसे अखण्ड अश्रु धारा प्रवाहित करते हुए शुक्लजीसे कहा—'मेरा घर नीलाम होने जा रहा है। मैं लुट गया, मिट गया, अब मैं उसे कैसे बचाऊँ?' आचार्यजी मौन सब सुनते रहे। पुनः उठे। अपनी धर्मपत्नीके समीप जाकर उन्होंने उनकी दुर्दशा बतायी तथा जेवर लाकर उन्हें दे दिया; और इस प्रकार उन्होंने अपने त्यागके द्वारा उपर्युक्त सज्जनकी लाज बचायी।

एक बार मैं बसद्वारा एक ऐसे स्थानपर गया, जहाँ बस समाप्त होनेके पश्चात् भी कच्चे रास्ते चलकर छः मील पैदल जाना था। मईका महीना, दोपहरको ग्यारह बजे बसने मुझे पहुँचाया था। अत्यन्त परेशान होकर मैं मार्गपर चल दिया; क्योंकि मुझे एक बजे पहुँचकर वहाँसे एक बारातमें सम्मिलित होना था। चित्त घबराया हुआ था। मैं थोड़ी ही दूर चला ही था कि एक सज्जन अपनी साइकिलके द्वारा उधरसे निकले। उन्होंने मुझे स्वच्छ वसन पहने देखकर मुझसे मेरे गन्तव्य स्थानको पूछा और फिर वे मुझसे साइकिलपर बैठनेका अनुरोध करने लगे। मैंने शिष्टाचारवश उन्हें कष्ट न देनेकी इच्छा प्रकट की; पर वे न माने और मुझे आदरपूर्वक उस भीषण ग्रीष्ममें पसीनेसे लथपथ हाँफते हुए उस स्थानपर छोड़ने गये, जहाँ कि मुझे जाना था। मैं उनकी इस लोकोपकारी भावनासे दबा हुआ था, जिसका बदला किसी प्रकार भी किसी रूपमें भी नहीं चुकाया जा सकता था।

मैं स्वयं एक अध्यवसायी व्यक्ति हूँ, मैं अपने जीवनपर जब दृष्टिपात करता हूँ तो मेरी आँखोंके समक्ष ऐसे सहस्रों व्यक्तियोंके रूप आते हैं, जिन्होंने किसी-न-किसी रूपमें मेरी सहायता की है और मैं आज भी उनका ऋणी हूँ। उन छोटी-छोटी सहायताओंसे मुझे निरन्तर बल तथा प्रेरणा मिली और मैं आगे बढ़ता रहा।

प्रत्येक दैनिक जीवन हमें ऐसे अवसर प्रदान करता है कि यदि हमारा मन, इच्छा प्रबल हो तो अपनी सामर्थ्यभर सेवा-सहायताके द्वारा हम अनेकानेक लोगोंको लाभान्वित कर सकते हैं। धन ही सब कुछ नहीं है। वरं इस जगत्में बहुत-से ऐसे दुखी हैं जो केवल सहानुभूतिके दो शब्दोंके लिये तरसते रहते हैं। प्रेमसे प्रेमकी और सद्भावनासे सद्भावनाकी प्राप्ति होती है। जब मधुर शब्दावलीसे ही दीन-दुखियोंका कष्ट घटता है तो फिर प्राप्त धनका, प्रेमका एवं उदारताका उपयोग हम नैसर्गिकरूपसे प्रचुर मात्रामें लोकोपकारके लिये क्यों न करें। हर व्यक्ति अपने समाजका और प्रोत्साहकों तथा सहायकोंका ऋणी है, जिन्होंने कि उसे समय-समयपर विविध सहायताएँ दी हैं। उनसे मुक्ति पानेका श्रेष्ठ उपाय यही है कि उसे अन्य सभी लोगोंकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायताएँ तथा सेवाएँ करनी चाहिये।

आज व्यक्तिवादी युगमें लोकोपकारकी भावना कम होती जा रही है; पर अब भी ऐसे लोगोंका अभाव नहीं है जो दूसरोंके हितमें सर्वस्व अर्पित करते रहते हैं। आनन्ददायिनी लोकोपकारकी भावना आत्मतुष्टिके साथ-साथ जीवन निर्माण करती हुई अबाध गतिमें निरन्तर त्रिपथगाके समान प्रवाहित है। आवश्यक है हम उस पवित्र भावनाको अपनाकर अपने तथा दूसरोंके हृदयोंको सन्तोष प्रदान करते रहें।

समय, शक्ति एवं साधन

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

किसी भी कार्यकी सफलता समय, शक्ति एवं साधनपर अवलम्बित है। इस साधन-त्रिपुटीके बिना साध्य-प्राप्ति असम्भव है। साधारणतया सभी व्यक्तियोंको हम यही कहते पाते हैं कि 'क्या करें, अमुक काम करनेकी इच्छा तो है, पर अवकाश नहीं मिलता, अथवा शक्ति और साधनोंकी कमी है।' पर वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो यह बात बहुत अंशोंमें सही नहीं है। कार्य न हो सकनेका कारण समय, शक्ति और साधनोंका अभाव उतना नहीं है, जितनी तीव्र इच्छाकी कमी है। उत्कट अभिलाषा और पूरी लगन हो तो समय मिल ही जायगा, साधन भी इकट्ठे हो ही जायँगे और शक्ति-स्रोत भी फूट निकलेगा। हम जिनकी कमी महसूस कर रहे हैं, वे हमसे दूर नहीं हैं; पर दूर दिखायी देनेका कारण है उनका दुरुपयोग। अर्थात् हम प्राप्त साधन, शक्ति एवं समयका सदुपयोग करना नहीं जानते। यदि समय ही नहीं है तो कुत्सित वासनाओं एवं व्यर्थके प्रपञ्चों और बुरे कामोंको करनेके लिये तीनों चीजें कहाँसे आ जाती हैं? इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे हमारी गलत धारणाका सहज ही पता चल जायगा।

पग-पगपर हम अनुभव करते हैं कि जिस कामको हम सबसे अधिक आवश्यक समझते हैं, वही पहले हो जाता है। किसी भी कार्यको करनेके लिये 'समय नहीं है' कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारा समय अन्य उपयोगी या आवश्यक कार्य (जिसे भी हमने मान रक्खा हो) में लगा हुआ है। यदि हम उसे गौण करके उसके स्थानपर, जिसे करना चाहते हैं, उसको प्रधान मान लेंगे तो वही समय पहले कामसे निकलकर दूसरेके लिये लग जायगा। उदाहरणार्थ—हमारे सामने दो काम साथ ही करनेके लिये उपस्थित हैं, जैसे भोजन करना और बीकानेर जानेके लिये गाड़ी पकड़ना। हमारी बुद्धि इनमेंसे अधिक आवश्यक कार्यपर विचारकर एकको पहले ग्रहण करेगी। मान लीजिये, हमें यह अनुभव हुआ कि बीकानेर जाना ज्यादा जरूरी है और भोजन करनेमें समय देनेपर गाड़ी नहीं मिलेगी, तो हम भूखे ही रहकर समयपर स्टेशन पहुँचनेके लिये तैयार हो जायँगे। यदि हमें इसके विपरीत भोजन करना आवश्यक प्रतीत हुआ तो चटसे भोजन करने बैठ जायँगे, चाहे समयपर स्टेशन न पहुँचनेपर गाड़ी छूट ही क्यों न जाय। यही बात अन्य सभी कार्योंके विषयमें समझनी चाहिये। इससे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे कि मौखिकरूपमें चाहे हम किसी एक कार्यको अधिक आवश्यक बतलाते हुए दूसरेके लिये समयाभाव कह दें, पर वास्तवमें अनुभव यही होगा कि उसके लिये समय न मिलनेका प्रधान कारण यह है कि उससे अधिक दूसरे कामको आवश्यक मानकर उसके लिये हमने अपना समय दे रक्खा है। समय तो है, उतना है ही। उसे किस काममें लगाना है, किसमें नहीं, यह हमारी मनोवृत्ति या विचारपर निर्भर है।

अपने समग्र जीवन-कालपर जरा गहराईसे विचार करें तो पता चलेगा कि समय तो हमारे पास बहुत है, किंतु हम उसका ठीकसे उपयोग नहीं कर पाते। मान लीजिये, हमारी आयु पचास वर्षकी है। उसके दिन १८००० और उसके घंटे ४३२००० होते हैं। मिनट बनाइये तो दो करोड़ उनसठ लाख बीस हजार होंगे। अब प्रत्येक कार्यके लिये कितना समय चाहिये, इसका हिसाब लगाइये। आपको यह स्पष्ट अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा कि समय हमारे पास कम नहीं है। अतः समयकी कमीका बहाना छोड़ देना ही उचित है।

दूसरी दृष्टिसे विचार करें तो प्रतीत होगा कि व्यर्थ जाते हुए समयपर कड़ी निगरानी रखना आवश्यक है। जिन कामोंमें जितना समय लग रहा है, उससे कम समयमें वह हो सकता है या नहीं? सोचिये, और जितने भी कम समयमें वह हो सके, कर डालनेका प्रयत्न कीजिये। इससे आपको बहुत बड़ी सफलता मिलेगी। मान लीजिये आप छः घंटे नींद लेते हैं, आधा घंटामें खाते हैं तथा पाव घंटेमें स्नान करते हैं। इसी प्रकारसे अन्य काम करते हैं। अब आप प्रयत्न कीजिये कि नींदमें आधा घंटेकी बचत, खाने-स्नान करनेमें ५-४ मिनटकी बचत हो। इसी तरह जिन सैकड़ों कामोंमें, बातोंमें, आपका सारा समय लग रहा है, प्रत्येकमेंसे यथासम्भव कुछ-कुछ बचत कीजिये तो बहुत-से समयकी बचत करके आप उसे उस अच्छे काममें लगा सकेंगे, जिसे करनेके लिये आपको समय ही नहीं मिल रहा था।

विचार करनेपर बहुत-से कार्य तो आपको 'अनावश्यक' प्रतीत होने लगेंगे; क्योंकि जब अमुक व्यक्तिका अमुक काम न करनेपर भी काम चल जाता है तो आपका क्यों नहीं चलेगा? आप जो वैसा मान रहे थे, वह आपकी भ्रान्त धारणाका ही परिणाम नजर आयेगा। आप स्वयं अन्य

जरूरी काम उपस्थित होनेपर उसे बिना किये काम चला लेते हैं, तब उस समय भी चल सकता है । इस तरह जिनके न करने या कम करनेसे अधिक असुविधा उपस्थित न हो, उन्हें और उसके बदले कार्य-क्रममें अन्य कुछ कार्योंको नोट कर लीजिये । इसी प्रकार बुरी आदतों, कार्यों, व्यर्थकी बातें बंद करनेमें जुट जाइये । थोड़े ही समयमें आपके समयकी कमीका प्रश्न हल हो जायगा ।

अब साधनोंको लीजिये । विश्वमें साधन सर्वत्र बिखरे पड़े हैं । पद-पदपर साधनोंका ढेर लगा हुआ है, पर अपनी अज्ञानतावश हम उनसे लाभ नहीं उठा रहे हैं । जिसे काम करना है वह खोजमें लग जायगा और इधर-उधर साधनोंको खोज निकालेगा और जुटा लेगा । आज यदि कम साधन मिलें तो कोई बात नहीं, प्रयत्न चालू रहनेपर कल और मिल जायँगे । कार्य करनेवालोंको साधन नहीं मिलेंगे, इस बातको आप मनसे ही हटा दीजिये । विश्वासको बढ़ाइये, साधन मिलकर रहेंगे । बहुत-से मनुष्य 'इतनी सामग्री जुट जाय, तभी काम शुरू करेंगे' यह निश्चय कर बैठते हैं, शक्तिको लगाते नहीं । अतः साधन पूर्ण नहीं होते और कार्य हो ही नहीं पाता । मेरी रायमें जितने साधन प्राप्त हों, उन्हींके अनुसार काम करना प्रारम्भ कर दीजिये । आपके पास सौ रुपयेकी पूँजी है तो उसीके अनुरूप कार्य प्रारम्भ कर दीजिये । हजारके लिये बैठे न रहिये । काम करते रहेंगे, सफलता मिलती रहेगी । साधन जुटते रहेंगे । सच्ची लगन है तो सफलता अवश्यम्भावी है । हताश मत होइये, घबराकर काम मत छोड़िये, प्रयत्न करते रहिये । पूरे न सही, जितने भी साधनोंसे काम प्रारम्भ करेंगे, उतना फल तो कहीं नहीं जायगा । अन्यथा अधिकके पीछे थोड़ा भी खो बैठेंगे और इसके लिये आपको जीवनभर पश्चात्ताप करना पड़ेगा ।

कुछ साधन बने-बनाये नहीं होते, तैयार करने पड़ते हैं और उन्हें हम उपेक्षावश खो बैठते हैं । कुछका उपयोग नहीं कर पाते, कुछको पहचानते भी नहीं । जहाँ-जहाँ जो भी गलती हो, सुधारिये । सच्चे खोजीके लिये साधन दुर्लभ नहीं हैं ।

सच तो यह है कि समयकी भाँति साधनोंका भी हम बहुत दुरुपयोग कर रहे हैं । मनीषियोंका कहना है कि जो साधन पापके हैं, वे ही धर्मके भी बन सकते हैं । साधनोंका अच्छे या बुरे रूपमें उपयोग बहुत कुछ हमारी विचारधारापर निर्भर है । धनको ही ले लीजिये । इसका सदुपयोग किया जाय तो बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं और भोग-विलास एवं दूसरोंको कष्ट देनेके लिये धन लगावें तो उनसे बहुत अनिष्ट हो सकता है । अतः साधनोंके सदुपयोग करनेकी कला भी ध्यानपूर्वक सीखनी आवश्यक है । गुण और दोष हर चीजमें मिलेंगे । हममें गुण-ग्रहणकी दृष्टि होगी तो उसकी अच्छाइयोंसे लाभ उठायेंगे । दोषमयी दृष्टि होगी तो दोषके भागी बन जायँगे । वास्तवमें साधन अपने-आपमें अच्छे-बुरे कुछ भी नहीं हैं, हम उनका जैसे उपयोग करना चाहें, कर सकते हैं ।

एक ही वस्तुको प्राप्तकर एक सुखी होता है और एक दुखी । दूसरोंकी बात जाने दीजिये । अपने जीवनमें ही कभी किसी चीजको प्राप्त कर हम आनन्दमें फूले नहीं समाते और परिस्थितिकी भिन्नतासे वही वस्तु हमें अन्य समय जहर-सी लगने लगती है । अतः साधनोंके सदुपयोगके सम्बन्धमें विवेकसे काम लेना चाहिये । एक ही साधनपर अड़े न रहकर अपना काम दूसरेसे निकल सकता हो तो उससे लाभ उठानेमें चूकना नहीं चाहिये । एकान्त आग्रह न रखकर अनेकान्त दृष्टिसे काम लेना चाहिये ।

इसी प्रकार शक्तिपर भी विचार कीजिये । वास्तवमें शक्ति कहीं बाहरसे नहीं आती । समय और साधन तो बाह्य साधन हैं, पर शक्ति सबका मूल कारण है । उसका अक्षय भण्डार तो हमारे अंदर भरा पड़ा है, पर उपेक्षावश हम उसे भूल बैठे हैं, वह अंदर दबी पड़ी है । अतः साधनोंके द्वारा उसका विकास करना है, उसे प्रकाशमें लाना है । उसकी कमीका अनुभव भी उस शक्तिके अन्य कामोंमें लगे रहनेके कारण ही है । वास्तवमें हमने अपनी शक्ति विविध कामोंमें बिखेर रखी है । उसे बटोरकर सञ्चय करनेकी परमावश्यकता है । अनावश्यक एवं बुरे कार्योंमें शक्तिका जो अपव्यय हो रहा है, उसे मिटानेके लिये मिल जाना पड़ेगा और आवश्यक कार्यमें लगाकर अभ्यासके बलपर उसका विकास करना होगा । आत्म-विकास एवं साहसकी अभिवृद्धि करनी होगी । लुप्तप्राय एवं सुप्त-चेतनाको जाग्रत् करना होगा ।

संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है कि शक्ति-संचय कीजिये, प्राप्त साधनोंके अनुसार ही आगे बढ़िये, समयको व्यर्थ खोनेसे बचाइये, सफलता आपकी मुट्ठीमें है ।

सभ्यतासे मदहोश हुए हम कहाँ जा रहे हैं ?

(लेखक—श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया)

इतिहासका अध्ययन दो परस्पर सम्पूरक काम करता है । पहला तो यह कि आजतक हुई घटनाओंके अध्ययनसे हमें उस दिशाका, जिस ओर वर्तमानमें हम चले जा रहे हैं, ज्ञान हो जाता है । दूसरा यह कि जिस विकासश्रेणी तक हम पहुँचे हैं, उस वर्तमान परिस्थितिकी तुलना पूर्व विकासकी-जैसी ही परिस्थितिसे कर सकते हैं, ताकि हम उसका फलितार्थ जान सकें और उसके लाभालाभको ध्यानमें लेते हुए अपना भावी कार्यक्रम बना सकें ।

सभ्यता और बर्बरता

पूर्व इसके कि हम भूत और वर्तमान घटनाओंकी तुलनासे भावी परिणामका अनुमान लगानेका प्रयत्न करें, हमें सभ्यता और बर्बरतासे क्या अभिप्रेत है, यह भी समझ लेना आवश्यक है; क्योंकि संसार आज सभ्यताके एक शिखरकी ओर तेजीसे दौड़ता चला जा रहा है, ऐसी मान्यता है और जो अपनेको पिछड़े मानते हैं अथवा जिन्हें सभ्य संसार पिछड़ा या अर्धविकसित कहता है, वे सब बड़ी तेजीसे उसी पथके गामी हो रहे हैं । यही क्यों, वे अपनी परम्पराको सर्वथा भुला देनेतकका आग्रह करते हैं, जैसा कि आज भारतवर्षका पाश्चात्य शिक्षाविभूषित और संस्कारित व्यक्ति प्रबल वेगसे कर रहा है ।

पिछले पचास वर्षकी घटनाएँ इतनी व्यापक और भयंकर हैं और उनकी प्रतिध्वनि इतनी जबरदस्त है कि हमारे सब मूल्य और अस्तित्वके तौर-तरीके उलटपुलट हो गये हैं । हमारे रहनेके तरीकेके आधार ही देशमें और विदेशमें, आमूलचूल बदल गये हैं और उसकी परिभाषा करनेमें 'विप्लव' शब्द भी नितान्त असमर्थ है । गार्हस्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और धार्मिक—कोई भी जीवन उससे अछूता नहीं बचा है । लोगोंका तो यहाँतक कहना है कि काल और अवकाश (Time and Space) तकमें यह व्याप गया है । मानवकी संयोजनशीलताने इस बातका ठीक-ठीक अनुमान लगा पाना ही प्रायः असम्भव कर दिया है कि हमारी अपनी ही पीढ़ीमें हमारी जड़ें कितनी उखड़ गयी हैं और यदि हम इस अंधाधुंधी दौड़में क्षणके लिये भी नहीं रुकेंगे तो सन् १९१४ से १९६४ तकका यह काल दो विभिन्न संसारोंको अलग करनेवाला ही हो जायगा । हम यह महसूस अधिकाधिक करते जा रहे हैं कि भूतकालकी स्थितिको प्राप्त करना निरी कल्पना और सदिच्छा मात्र है । त्राण इसीमें है कि हम नयी दुनियाकी रचनामें लग जायँ और पुरानीको सर्वथा भूल जायँ । पिछले पचास वर्षोंसे पुरानी दुनिया विघटित होती ही रही है । अगले पचास वर्ष नयी दुनियाके गढ़नेमें हमें लगा देना होगा; परंतु यह विघटित पुरानेकी मरम्मत करनेके प्रयत्नमें समय खोनेसे नहीं चलेगा । हमें सर्वथा नयी नींव ही लगानी होगी । इसीलिये यह कहा जा सकता है कि हमारी सभ्यता एक ऐसे मोड़पर पहुँच गयी है कि जहाँ हम अपनेसे ही यह पूछनेको विवश हों कि हम किधर जा रहे हैं और हम किस प्रकारके भावी जीवनकी नयी नींव लगा रहे हैं ?

हाँ तो, अब हमें सभ्यता और बर्बरताको भी ठीक-ठीक इसलिये समझ लेना आवश्यक है कि इसका मानक बड़ा ही अस्थिर है । एक युगकी सभ्यता किसी आगामी युगमें असभ्यताकी कोटि तकमें आ जा सकती है । जैसे हम सभ्यता, संस्कृति आदि शब्द समान अर्थमें प्रयोग करते नहीं हिचकते हैं, हालाँकि इनसे अभिव्यञ्जित होनेवाले भावोंमें अन्तर भी है, वैसे ही अंग्रेजीके तीन शब्द 'सिविलाइजेशन', 'कल्चर' और 'रिफाइनमेंट' प्रायः समान अर्थमें प्रयुक्त किये जाते हैं । हालाँकि इनसे अभिव्यञ्जित होनेवाले भावोंमें भी अन्तर है; परंतु हमें इस अन्तरमें जानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है । सामान्य रूपसे ये शब्द क्या निर्देश करते हैं—यह जान लेना ही हमारे लिये आवश्यक है; परंतु इसमें भी एक कठिनाई है जैसा कि हमारे प्रधान मन्त्री स्वर्गीय पण्डित नेहरूजी तकने सन् १९५०में 'इंडिया काउंसिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स'में इस विषयपर बोलते हुए स्पष्ट स्वीकार किया था कि संस्कृति क्या है ? इसकी परिभाषा या व्याख्या मैं आपको नहीं दे सकता हूँ; क्योंकि मुझे यह अभीतक प्राप्त नहीं हुई है ।' परंतु साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि उन्होंने अपने सत्रह वर्षके प्रधान मन्त्रित्वकालमें इस देशको पाश्चात्त्य देशोंके समकक्ष संस्कृत और सभ्य बनानेमें कुछ भी उठा नहीं रक्खा था ।

स्पष्ट परिभाषाकी कठिनाई होते हुए भी, इसकी ठीक-ठीक अभिव्यञ्जनाका सहजतम संकेत इस या इन शब्दोंका विरोधी बर्बरता शब्दमें मिल जाता है । व्येबस्टरके अंग्रेजी कोशमें 'पाशविकता और सभ्यताके बीचकी स्थितिको 'बारबरिज्म (बर्बरता)' कहा है । और इस स्थितिका प्रमुख लक्षण है—'प्राक्कालीन विशृङ्खलावस्था या अराजकता ।'

इसलिये यदि यह कहा जाय कि संस्कृति या सभ्यता इस विशृङ्खलावस्था या अराजकताकी विरोधी स्थिति है तो उससे अभिप्रेत है 'नियमितता और अनुशासन'की स्थिति या अवस्था। अर्थात् अब मानवकी प्रवृत्तियाँ अपने साथियों और अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओंका विचार कुछ भी नहीं रखकर यदृच्छाक्रमसे होनी बंद हो गयी है। यही नहीं, अपितु वे एक निश्चित आदर्शके अनुसार प्रवाहित हो रही हैं। बर्बरता या बारबरिज्ममें व्यवस्थाका, संगठनका एकदम ही अभाव होता है। अतः सभ्य या संस्कृत समाज परिवार या वंशकी स्थितिसे आगे बढ़कर अधिक संश्लिष्ट सम्बन्धों-वाले समूहोंमें व्यवस्थित या संगठित होना चाहिये और उसमें निरी सगोत्रताकी अपेक्षा अन्य कारणोंके लिये परिस्थापित नमूनेपर प्रवृत्तिका यथानुक्रममें एवं यथास्थानमें संनिवेशन भी होना चाहिये।

परंतु इस प्रकारकी व्यवस्था और संगठन तो मधुछत्तों और बमीठोंमें भी देखा जाता है। अतः हमें बर्बरता या बारबरिज्मसे मिल रही दूसरी ऐसी सूचनाका विचार करना होगा कि जो मानव-समाजकी विशिष्टताकी ओर हमें ले जाय। उसके लिये हमें 'बर्बर' या 'बर्बरपन' शब्दसे क्या अभिप्रेत है, इसका विचार करना होगा। इस या इन शब्दोंका प्रयोग हम तब करते हैं, जब कि कोई घटना या व्यवहार हमारी उस भावनाको ठेस पहुँचाता है कि जिसे हम संवेदनशील भावना या 'फाइनर फीलिंग्स' कहते हैं। सभ्यता या संस्कृति इन अधिक आध्यात्मिक आकाङ्क्षाओंसे किसी-न-किसी तरह सुसंगत होनी चाहिये। यह मानवीय विकासकी उस स्थितिका निर्देश है कि जिसमें नैतिक, सुरुचिसम्मत और बौद्धिक मूल्योंको विशिष्ट स्थान मिल गया है और प्रवृत्तिका पूर्वोक्त संनिवेशन विशद उपयोगितावादी आधारसे कहीं ऊँचा है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सभ्य—सुसंस्कृत समाज ऐसे मानवोंका समूह है कि जो आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही लाभोंके लिये संगठित—व्यवस्थित हो और उसकी सभ्यता-संस्कारिता उतनी ही अधिक या न्यून हो गयी हो कि जितनी कम या अधिक उस संगठनद्वारा उसके सदस्योंकी आध्यात्मिक और भौतिक उन्नतिमें सहायता मिलती रहेगी।

इस परिभाषाके अनुसार मानव-समाजकी न तो निरी भौतिक उन्नति ही संस्कृति कही जा सकती है और न निरी आध्यात्मिक यानी आत्मासम्बन्धी उन्नति ही। श्रीनेहरूजीने अपने उपर्युक्त व्याख्यानमें संस्कृतिके अङ्ग शिल्पकला, संगीत और साहित्यका संक्षेपमें विचार करनेके पश्चात् यह समस्या प्रस्तुत करते हुए कि 'क्या संस्कृति मनुष्यके आन्तरिक किसी विकासका भी सूचन करती है ?' इस प्रकार उत्तर दिया था कि—'अवश्य, यह तो होना ही चाहिये। हम दूसरोंके साथ किस प्रकार बरतें' 'क्या यह संस्कृति है ?' 'अवश्य, यह भी होना चाहिये।' 'दूसरेको समझनेकी शक्ति भी क्या संस्कृति है ?' हाँ, 'मैं ऐसी ही धारणा रखता हूँ।' 'अपने-आपको दूसरोंको समझानेकी शक्ति भी संस्कृति है ?' 'हाँ, मैं मानता हूँ कि यह सब संस्कृति ही है। जो मनुष्य दूसरेका दृष्टिबिन्दु नहीं समझ सकता, वह उतने अंशमें बुद्धि और संस्कृति दोनोंमें पिछड़ा हुआ है; क्योंकि बहुत ही कम व्यक्तियोंके सिवा, कोई एक व्यक्ति अपनेमें पूर्ण चतुराई और ज्ञान होनेका दावा कर ही नहीं सकता है। सामनेके पक्ष अथवा समूहके पास भी थोड़ा-सा ज्ञान, समझदारी अथवा उसके कहनेमें कुछ तथ्य हो सकता है और यदि हम अपने मनके द्वार बंद करके बैठ जायँ तो केवल अपने-आपको उस प्रकारके तथ्यसे ही वञ्चित नहीं कर रहे हैं, अपितु हम अपने मनका ऐसा झुकाव भी बना रहे हैं कि जो एक संस्कारी मनुष्यके झुकावके विरुद्ध है।'

सच पूछा जायःतो सच्ची आध्यात्मिकता भी यही है। इस सच्ची आध्यात्मिकताके अभावमें भौतिक उन्नतिके शिखरपर पहुँचे समाजोंका न केवल घोर पतन हुआ, अपितु वे संसारके इतिहाससे भी नामशेष हो गये। भारतवर्षकी आध्यात्मिक उन्नति एवं अवनतिका आज विचार करना आवश्यक नहीं; क्योंकि हम भारतवासी आज आँख मींचकर पाश्चात्त्य (यूरोप और अमेरिकाकी) संस्कृति-का ज्यों-का-त्यों अनुकरण करना ही देशके लिये प्रेय और श्रेय मानने लगे हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें सच्ची आध्यात्मिकताके पैर कभी भी नहीं जम पाये। इनका आदर्श सदा रही थी यूनानकी एथीनियन संस्कृति, जिसके विषयमें यह कहा जाता है—

'Greeks possessed no or little tradition for either public or private morality, and even what little there was, was swept away in the intellectual ferment of the 5th century. Having no religious background to their morality, they were particularly vulnerable to this sort of attack; for when man's enquiring mind could find no deeper foundation for morality than his own unconsidered habit, he saw no *a priory* reason for disregarding the more attractive claims of his own passions. Thus self-expression and even self-gratification, became the only standards of virtue.'

अर्थात् यूनानियोंके सार्वजनिक या वैयक्तिक शीलकी कोई परम्परा नहीं थी। थोड़ी जो भी कुछ थी, वह पाँचवीं शतीके बौद्धिक आन्दोलनमें बह गयी। उनके शील किसी धार्मिक पृष्ठभूमिपर आधारित नहीं थे, इसलिये वे इस प्रकारके आक्रमणके विशेषरूपसे शिकार हो गये; क्योंकि जब मानवके जिज्ञासु मनको शीलकी अपनी ही अविचारिक प्रकृतिके सिवा गहरी नींव नहीं मिली तो उसे अपनी ही वासनाओंके अधिक आकर्षक दावोंकी अवहेलना करनेका पूर्वज्ञानानुयायी कोई कारण नहीं दिखायी दिया। इस प्रकार स्वाभिव्यञ्जन ही नहीं, स्वतुष्टिकरण उनके शीलका एकमात्र मानक हो गया।

पिछले ६० वर्षोंके वैज्ञानिक विकासने आज पाश्चात्त्य देशोंको ठीक उसी स्थितिमें ला दिया है जो आजसे २५०० वर्ष पूर्व यूनानके एथन्स और स्पार्टामें उपस्थित थी। आजके यूरोप और अमेरिकाका भी स्वाभिव्यञ्जन और स्वतुष्टिकरण जीवनका महान् ही नहीं, एकमात्र आदर्श हो गया है। तभी तो जान-बूझकर अमेरिकाके सैनिक मानहाटन (अपरनाम ऐटॉमिक एनर्जी) प्रोजेक्टके अध्यक्ष मेजर जनरल ग्रोव्ज (Major Gen. Groves) ने, एकदम ठंढे हृदयसे, अमेरिकाके तत्कालीन प्रेसीडेंट श्रीट्रूमैनसे सन् १९४५ के अगस्तमें, उस समय जब कि जापान युद्ध बंदकर संधिकी बातें राजनयिकोंद्वारा चला रहा था, हिरोशिमा और नागासाकी नगरोंपर घातक बम फिंकवानेकी आज्ञा ले ली और लाखों ही असैनिक नागरिकोंको मौतके घाट उतार दिया और वहाँका वातावरण इतना विषैला एवं दूषित कर दिया कि जिसके परिणाम आज भी कई जापानी भुगत रहे हैं। इसमें उनका एकमात्र लक्ष्य संसारपर अमेरिकाकी धाक बैठाना था, दूसरा नहीं। परंतु उनका अभिमान चूरनेको रूस कुछ ही वर्षोंमें उनसे कहीं अधिक आगे निकल गया।

विचारसरणीका ऐसा ही परिणाम है कि सदियोंसे चले आ रहे कानूनी प्रतिबन्धोंको दूर कर अनैतिक स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलताको वैध बना देनेकी संसारके विधि और न्यायशास्त्रीतक भी जोरोंसे प्रयास कर रहे हैं। इसे कदाचित् आजके संसारकी स्त्री-समाजका समर्थन भी प्राप्त है; क्योंकि किसीने विधि और न्यायशास्त्रियोंके ऐसे प्रस्तावके विरोधमें आवाज तक नहीं उठायी है। ऐसा लगता है कि स्त्रियोंने पुरुषोंकी भोग्य होना ही अपना परम धर्म स्वीकार कर लिया है!

नैतिक मूल्यों और नैतिक मापदण्डोंका आमूलचूल परिवर्तन

कुछ ही दिन हुए समाचारपत्रोंमें यह छपा था कि फ्रांसने स्त्रियोंके खुले वक्षःस्थलवाले बेदिंग सूटोंकी बिक्रीपर प्रतिबन्ध लगा दिया कि जिनका प्रयोग अमेरिका और इंगलैंडकी स्त्रियोंमें खूब बढ़ता जा रहा है। स्त्रीके वक्षःस्थलका आवरणरहित बेदिंग सूट (नदी-तालाब और समुद्रमें नहाते-तैरते समय पहननेकी पोशाक विशेष) पाश्चात्त्य देशोंमें बेदिंग सूट पहने स्त्री और पुरुष समुद्रतटों और स्नानगृहों आदिमें ही चारों ओर घूमते-फिरते दिखायी नहीं देते हैं, अपितु इस वेशभूषामें सभी तरहके संसारव्यापी विज्ञापनोंमें उनका प्रदर्शन भी आम बात है। भारतवर्षमें ऐसे दृश्य अबतक तो अपवाद ही थे, और पाश्चात्त्य विज्ञापनदाताओंको भारतीय-पत्रोंमें विज्ञापनके लिये इस वेशभूषामें भारतीय स्त्रियाँ नहीं मिलती थीं, इससे उन्हें खेद ही रहता था और इसी कारण वे भारतीयोंको असभ्य तक कहनेपर उतारू हो जाते थे। इस नयी प्रकारके ऐसी 'खुली छाती' के बेदिंग सूटकी कल्पना मात्रसे हम भारतीय यदि चौंक उठें तो क्या आश्चर्य है? परंतु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि आज हमारे नैतिक मूल्य और नैतिक मापदण्ड भी बड़ी तेजीसे बदलते जा रहे हैं। आज नग्न शिल्पकलाकृतियाँ अप्सराओंके नामसे अथवा खुजराहो आदि प्राचीन स्थानोंकी कलाओंकी अनुकृतियोंके नामसे नगरोंके राजमार्गों और विशेषतया चित्रपट-गृहोंके प्रवेशमण्डपोंमें दिखाना आम प्रथा होती जा रही है।

एक समय था जब कि पैरिस ऐसे प्रदर्शनोंमें अग्रणी कहा जाता था। परंतु आज अग्रणी है संसारका सबसे अधिक धनी देश अमेरिका। धन और विलासकी पराकाष्ठाका, ऐश्व

प्रतीत होता है कि चोली-दामनका साथ है। रूसके भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीक्रुश्चेव जब पिछली बार अमेरिका गये तो उन्होंने अमेरिकाके नग्न प्रदर्शनोंकी तीव्र टीका की थी। पर धन और विलासमें मदहोश क्या कभी ऐसी टीकाकी परवा करते हैं जो अमेरिका करता। हम भारतीय कदाचित् लजायें, परंतु अमेरिकाके माता-पिता संध्यासमय चङ्क्रमण या तफरीको जा रही अपनी युवती अविवाहित पुत्रीको चितानेके लिये न तो यह पूछते लजाते हैं कि 'बेटी! संततिनियन्त्रणके साधन साथमें लेना तो नहीं भूली हो ना?' और न बेटी ही यह उत्तर देते लजाती है कि 'ममी! मैंने वैज्ञानिक साधन सब साथमें ले लिये हैं।' बेरोकटोक यौनविलास अमेरिकाकी सभी अवस्थाओंकी स्त्रियोंके लिये आजकी समाजका मानो सामान्य नियम हो गया है।

यह स्वच्छन्दता भी सुसभ्य सुसंस्कृत अमेरिका-जैसे देशोंको अपर्याप्त प्रतीत हो रही है, इसीलिये संसारके कानूनदाँ और न्यायशास्त्री पूर्ण निर्वन्धमुक्त यौनाचारका न केवल समर्थन करनेको ही उद्यत हो गये हैं, अपितु प्रत्येक देशको ऐसे प्रतिबन्धक कानून सर्वथा ही उठा लेनेको, और यदि यह सम्भव न हो तो, उन्हें पर्याप्त शिथिल करने अथवा अमलमें नहीं लानेकी सिफारिश करते हैं, जैसा कि जुलाई १९६४ में दी हेग (हालैंड) में दण्डविधानकी नवम अन्ताराष्ट्रिय परिषद्के स्वीकृत एक प्रस्तावसे प्रतीत होता है। इस परिषद्में ५४ राष्ट्रोंके ५०० न्यायशास्त्रियों और कानूनदाँओंने भाग लिया था। बहुत सम्भव है कि भारतवर्षके प्रतिनिधि भी उसमें हों; क्योंकि सभी अन्ताराष्ट्रिय परिषदोंमें भाग लेनेको आजकल भारतवर्ष सदा ही आतुर रहता है। इन प्रतिनिधियोंने यौन अपराधोंके लिये दिये जानेवाले दण्डको, जितना भी हो सके हलका किये जानेकी आवश्यकता-पर पूरा-पूरा बल दिया और अन्तमें सर्वानुमतिसे चार विभागवाला निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया—

(१) यौन-आचार और उसके द्वारा कुटुम्बके प्रति होनेवाले अपराधोंके विषयमें यह परिषद् मानता है कि व्यभिचार और ऐसे कामोंको फौजदारी अपराध नहीं मानना चाहिये और एक ही जातिके दो वयस्क व्यक्तियोंमें परस्परकी सम्मतिसे होनेवाले यौन-व्यवहारके विरुद्ध फौजदारी कानूनद्वारा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये।

(२) कामावेशप्रेरक बीभत्सताको उत्तेजन नहीं मिलता हो और सामाजिक स्वास्थ्यके संरक्षणके नियमोंका भङ्ग नहीं होता हो, इस प्रकारके संतति-नियमके साहित्यका वितरण अथवा उसके साधनोंके प्रचारको अदालतमें विचारणीय अपराध नहीं माना जाना चाहिये।

(३) जिन देशोंमें गर्भपातको अपराध माना जाता है, वहाँ विधिविहित गर्भपात करनेकी क्रियाको अपराधके दायरेमेंसे बाहर कर दिया जाना चाहिये।

(४) जहाँ स्त्री अथवा पुरुषकी सम्मति हो, वैसी दशामें कृत्रिम गर्भाधान करानेकी क्रियाको अवैध नहीं माना जाना चाहिये।

हेग अन्ताराष्ट्रिय परिषद्का यह प्रस्ताव बता दे रहा है कि संसार किन नये मूल्यों और नये मापदण्डों एवं व्यवहारोंकी ओर तेजीसे प्रगति कर रहा है। एक समय था कि जब सारा ईसाई संसार और राज्य बहुपत्नीत्वके भारतीय रिवाजको परम हेय मानता था और अमेरिकामें जब मारमन लोगोंने बहुपत्नीत्व अपने समाजमें प्रचलित किया तो सारा ही अमेरिका उसके विरोधमें उठ खड़ा हुआ था और अन्तमें इस तीव्र विरोधके सामने मारमनोंको सिर झुका देना ही पड़ा था। क्या बहुविवाह आजके स्वीकृत हो रहे विवाहबाह्य यौनसम्बन्धसे बुरा था या है? परंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृति और नैतिकताके मापदण्ड संसारमें सदा ही बदलते रहे और रहते हैं। यही नहीं, इसका एकमात्र निर्णायक होता है धनीवर्ग, जो अपनेको एकदम प्रतिबन्धमुक्त रखना ही जीवनका परम-चरम लक्ष्य मानता रहा है।

देखा जाय तो हमारे भारतवर्षमें भी समृद्धि-वृद्धिके साथ-साथ आज यही विचारधारा जोर पकड़ती जा रही है। हालाँकि यदा-कदा तथाकथित अश्लील पोस्टरों, अश्लील शिल्पाकृतियोंके प्रदर्शनोंके विरुद्ध भी आन्दोलन चलते हैं। कुछ ही दिनों पूर्व बम्बईके नूतन बने 'अप्सरा' नामके चित्रप्रदर्शक-गृहकी बाहरी दीवालपर गोखमें प्रदर्शित किये उन्नत पर खुले वक्षःस्थलवाली अप्सराके शिल्पके विरुद्ध आन्दोलन चला था तो अभी 'चित्रलेखा' नामके रंगीन चित्रपट प्रदर्शित कर रहे 'आपेरा हाउस' नामके प्रदर्शनगृहके प्रवेशमण्डपमें खुजराहो—शिल्पके नमूनेकी कृतियोंका प्रदर्शन भी आन्दोलनका विषय बन गया था। ऐसी कृतियाँ संसारके शिल्पकारोंने बनायी ही क्यों और आज भी बनाते ही क्यों? इसका न पहले कभी विचार किया और न आज ही कोई करता है। आश्चर्य तो यह है कि भारतवर्ष-जैसे देशमें ही ऐसे

तथाकथित अश्लील शिल्पवाले स्थानतक पवित्र तीर्थ घोषित हो गये हैं, जहाँ तीर्थ करने लाखों ही देशवासी प्रतिवर्ष जाते हैं। रूसके मनीषी टाल्स्टाय ही इसके एकमात्र अपवाद हैं, जिन्होंने ऐसे शिल्पियोंको कलाविद् नहीं, कहा है अर्थदास और उन शिल्पोंको लाखों रुपये खर्चकर बनवाने और खरीदनेवालोंको सबसे अधिक धिक्कारा है, जिन्होंने येनकेन प्रकारेण अपने कमाये हुए धनद्वारा शिल्पके इस व्यभिचारको जन्म और प्रोत्साहन दिया और देते हैं।

पर केवल धनके तो मनीषियोंने तीन ही मार्ग बताये हैं और वे हैं दान, भोग और नाश। नाश किसीसे नहीं रोका जा सकता है। पर नाश हो उससे पहले मुक्तहस्त दान भी विरले ही कर पाते हैं। इस तरह धनके लिये तीसरा मार्ग भोग ही रह जाता है, जिसकी मनुष्यमात्रमें स्वाभाविक इच्छा पायी जाती है। भोगका ही तो पर्याय या दूसरा नाम 'विलास' है, जिसकी न कोई सीमा है और न एक राजमार्ग ही।

भारतवर्षकी आज किस ओर गति है ?

सरकारकी ओरसे राष्ट्रीय स्तरपर संततिनियमन—नियन्त्रणका आज न केवल हर प्रकारसे प्रचार ही किया जा रहा है अपितु उसके साधन भी मुफ्त दिये जानेकी योजना काममें आ रही है। हमारे दूर पूर्वके पड़ोसी जापान देशने तो इसी लक्ष्यसे गर्भपातको अपराधमुक्त घोषित कर ही दिया है। भारतीय संस्कृतिके सातत्यके संरक्षकोंकी आज आवाज दिनोंदिन इसलिये अरण्यरोदन होती जा रही है कि ब्रह्मचर्यको अप्राकृतिक और अनैतिक तक भी मान लिया गया है। नैतिकता वही मानी जाने लगी है कि जो व्यक्तिको समयके साथ बदलनेका अवसर दे और उसे अधिक सुविधाएँ और स्वतन्त्रताएँ दे। इसलिये वे नियम जो सहूलियतोंकी जगह ज्यादा कठिनाइयाँ और परेशानियाँ पैदा करते हैं, स्वयमेव अनैतिक हैं और उन्हें न मानना ही नैतिकता है। यदि कोई विवाहिता या अविवाहिता स्त्री किसी भी परिस्थितिमें, गर्भको न चाहे तो उसे पूरा हक है कि उसे उसके लिये बाध्य नहीं किया जाय। ऐसे नियम, जो उसके इस हकमें बाधाएँ उपस्थित करते हैं, सर्वथा असामाजिक, अनैतिक और अमानवीय हैं। (सरिता, अङ्क २३३, दिसम्बर १५, १९६४, पृष्ठ ७५) आश्चर्य यही है कि स्त्रीके इस स्वातन्त्र्यका पोषक और समर्थक अधिकांशतः पुरुष है, जिसकी कामवासनाकी तृप्तिके दुष्परिणामका गर्भ रूपमें भार स्त्रीको ही वहन करना पड़ता है, पुरुषको नहीं। पुरुष मानो अपने लिये नहीं, अपितु स्त्रीपर उपकार करने लिये ही उससे व्यभिचार करनेको बाध्य होता है और स्त्री दुःखसे दुखित होकर वह उसे सब तरहसे मुक्त करा देने अत्यन्त आतुर है ! स्त्रीपर लगे प्रतिबन्धोंके हट जाने अधिक-से-अधिक लाभ अपनी स्वच्छन्द नीच वृत्तिको तृ करनेमें वह उठा पायेगा, यह स्वीकार करनेका साहस उन नहीं है। अपने-आपको वह निर्दोष मानता और मनवा चाहता है। यह कैसी विडम्बना आजकी सभ्यता ए संस्कृतिकी है ?

संसारकी बात करनेसे क्या लाभ यदि हम अ देशकी गति-विधिकी ओरसे ही आँखें मूँद लेंगे ! हमें जान चाहिये कि गर्भपातको कुछ शर्तोंपर वैध करानेकी मां आज देशमें जोर पकड़ती जा रही है। अभी यह मां विवाहित स्त्रीके लिये है, यही नहीं, अपितु इसकी मां करनेवाले पति-पत्नीकी सहमतिसे गर्भपात करना-कराना वैध कराना चाहते हैं। जैसे कि मैसूर राज्यके स्वास्थ्यम श्रीनागप्पा अल्वाने हालहीके परिवारनियोजन सप्ताहों अवसरपर पत्र-प्रतिनिधियोंकी कान्फ्रेंसमें बोलते हुए बंगलोरमें कहा था कि—यद्यपि मैसूर-सरकारने केन्द्र-सरकारकी इ विषयकी पूछताछका अभीतक कोई भी उत्तर नहीं दि है; परंतु मेरी अपनी निजी राय तो यह है कि यदि ह अनधिकारित गर्भपातसे होनेवाली हानियोंसे बचना चाह हैं तो हमें इस शर्तपर गर्भपातको वैध अधिकारित कर दे देना चाहिये कि जब पति-पत्नी दोनों ही इसके लिये सम्म हों तो वह गर्भाधानके तीन महीनेके भीतर-भीतर कि या करा लिया जाय।

इस वक्तव्यमें स्वास्थ्यमन्त्रीकी स्पष्ट स्वीकृति यह है कि देशमें गर्भपातोंकी संख्या पूरी वृद्धिपर है, हालाँकि यह ए दण्डनीय अपराध फौजदारी कानूनके अनुसार ही है, चाहे गर्भपात करने और करानेवाले अदण्डित भले ही किसी कारणसे रह जाते हों। इस विषयमें कुछ ही महीनों पू प्रकाशित नैतिक और सामाजिक स्वास्थ्यमण्डल, बिहार शाखाके तत्त्वावधानमें, पटना नगरके प्रमुख विहा वैज्ञानिक (पैथोलोजिष्ट) डाक्टर श्रीपूर्णेन्दुनारायणसिंहके, जो बिहार विधान सभाके सदस्य भी हैं, द्वारा किये राज्यम

सर्वेक्षणकी प्रतिवेदना पठनीय, मननीय और विचारणीय है। इसका सार कलकत्तेके अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दुस्तान स्टैन्डर्ड' के ता० १ सितम्बर १९६४ के अङ्कमें इस पत्रके पटना कार्यालयने प्रकाशित कराया था। इसका सार संक्षेपमें इन शब्दोंमें दिया था—

कम-से-कम चार दर्जन गर्भपातके मामले पटना नगरके विभिन्न निदानशालाओं (क्लिनीकों) में प्रतिदिन परिचालित होते हैं और बिहारके स्कूलों एवं महाविद्यालयोंकी प्रति सौ विद्यार्थिनियोंमेंसे चार विवाहपूर्व यौनसम्बन्ध करनेवाली पायी गयी हैं और इनमेंसे अनेक अविवाहित माताएँ भी बनी हैं। यह सर्वेक्षण वहाँ 'अनैतिक व्यापारदमनविधान' (Supression of Immoral Traffic Act) के प्रचलित होनेके आठ वर्ष बाद किया गया था। इस अनैतिक व्यापारवृद्धिके कारणोंपर उस सर्वेक्षणमें इस प्रकार कहा गया था—

"Cheap novels, circulation of secret pronographic literatures and gradual change in social habits are found to be responsible for these social evils.

Fallen women thrown out of profession after introduction of the Act were found responsible in some cases for alluring young girls.

The survey also found poverty another reason for increased sex offences in schools and colleges.

Another interesting point which the survey has high-lighted is that agents are 'not operating now in red-light areas but everywhere and anywhere. As soon as the sun goes down, they spread their net and victimize girls.' Normally no girl gets into bad habits on her own, the survey adds.

The survey found duller boys and girls to be more susceptible to 'invitations' than comparatively higher ones.

It reveals that middle-income group boys and girls are found indulging in these vices more than other groups. Modern outlook, economic conditions and sophisticated ways of life are mostly responsible for this. Although public opinion held girls responsible for sins, the survey says, boys, more than girls, are responsible and they are real culprits.

The survey suggests sex education in schools and colleges might have some salutary effects on growing vices among middle class families."

'घासलेटी सस्ते उपन्यास, गुप्त अश्लील साहित्यका प्रचार और सामाजिक प्रकृतियोंमें शनैः-शनैः परिवर्तन' इन सामाजिक बुराइयोंके कारण पाये गये।

अनैतिक-व्यापार-दमन-विधानके प्रचलनके बाद इस व्यवसायसे महरूम हुई पतिताएँ भी नवयुवतियोंको फुसलानेकी कुछ मामलोंमें उत्तरदायी पायी गयीं।

सर्वेक्षणने स्कूलों और कालेजोंमें यौन-अपराधोंकी वृद्धिका कारण गरीबी भी पाया।

सर्वेक्षण जिस महत्त्वकी एक और बातकी ओर ध्यान खींचता है, वह यह है कि 'अब दलाल लालबत्तीवाले क्षेत्रोंमें काम नहीं करते, अपितु यत्र-तत्र सर्वत्र घूमते हैं।' ज्यों ही सूर्यास्त होता है, वे अपना जाल फैला देते हैं और युवतियोंको फँसा लेते हैं। साधारणतया कोई युवती स्वतः इस हीन मार्गपर नहीं चलती है, सर्वेक्षण यह भी कहता है।

मन्दबुद्धि युवक-युवतियाँ ऐसे निमन्त्रणोंकी आसान शिकार होती हैं और अपेक्षाकृत अच्छी बुद्धिवाले कम, यह भी सर्वेक्षणमें पाया गया है।

मध्य आयके युवक-युवतियाँ इन ऐबोंकी अन्य आय समूहोंके युवक-युवतियोंकी अपेक्षा अधिक रसी हैं। आधुनिक दृष्टिकोण, आर्थिक स्थिति और तर्कप्रधान जीवनरीतियाँ इस स्थितिके लिये अधिक उत्तरदायी हैं। यद्यपि जनमत इसके लिये युवतियोंको ही जिम्मेदार ठहराता है, परंतु सर्वेक्षणके अनुसार युवक ही युवतियोंकी अपेक्षा अधिक उत्तरदायी हैं और वे ही यथार्थ अपराधी—दोषी हैं।

सर्वेक्षणकी सूचना है कि स्कूलों और कॉलेजोंमें

यौनशिक्षाका प्रचार मध्यवित्त परिवारोंमें बढ़ रही—इस बुराईपर कुछ स्वास्थ्य-हितकर प्रभाव डाल सकता है।

यदि ऐसा सर्वेक्षण प्रत्येक प्रान्त या राज्यके लिये किया जाय तो हमें देशके नैतिक ह्रास और उसकी मंद या तीव्र गतिका ठीक-ठीक पता चल सकता है। हम शुतुर्मुर्गकी तरह धूलमें सिर छुपाकर स्थितिको देखने अथवा सच माननेसे इन्कार करें, उससे तो स्थिति बिगड़ती ही जायगी। आज हमारा राजनैतिक ध्येय जनतान्त्रिक समाजवाद है, जिसमें हमारी नैतिक स्थिति बिगड़ते जानेसे तभी बच सकती है कि हमारी सरकारें ही नहीं, अपितु हम सब इस प्रयत्नमें भी रहें कि देशका स्थायी भविष्य आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिकके साथ-साथ नैतिक उत्थानपर निर्भर करता है। माननीय श्रीप्रकाशजीकी समितिने देशमें फिरसे नैतिक और धार्मिक शिक्षाके शीघ्रातिशीघ्र आयोजनकी सिफारिश की थी, परंतु उसे ताकमें रखकर भुला दिया गया। आज समय आ गया है कि उस प्रतिवेदनपर सच्चे दिलसे ही नहीं, अपितु पूरी शक्तिसे काम किया जाय*। हम पाठकोंका ध्यान फरवरी १९६४ की 'कादम्बिनी'में प्रकाशित सुश्री सरस्वती चौधरीके लेख 'हमें लज्जा आनी चाहिये' की ओर आकर्षित करते हैं, जिसमें नाइजीरियामें उत्साह और मुँहमाँगे मूल्यपर निमन्त्रित किये गये शिक्षित भारतीय किस नीतिसे व्यवहार कर रहे हैं—उसका सच्चा चित्र खींचते हुए सुश्री सरस्वती चौधरीको अपने लेखका उपर्युक्त शीर्षक देनेको बाध्य होना पड़ा है।

यह सत्य है कि समृद्धि और नैतिकताका चोली दामनका परंतु उलटा साथ है। समृद्धि जैसे बढ़ती है, नैतिकता उससे अधिक तेजीके साथ गिरती है। संसारका इतिहास डंकेकी चोट कहता है कि संसारकी नागरिक सभ्यताओंका पतन पूर्ण समृद्धि भोगते हुए भी इस नैतिक ह्रासके कारण हो गया जब कि गाँव संसारमें आज भी जीवित हैं। हमारे गाँव इन पिछले १७ वर्षोंमें जितने उजड़े और नगर जितने बसे, उतने शायद पिछले दो हजार वर्षोंमें भी नहीं हुआ होगा। महात्मा गाँधीजी हमारे रामराज्यके लिये ग्रामोंको समृद्ध बनाना चाहते थे, जबकि हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू नगरोंके अभिभूत थे। नेहरूजीको उनकी भूल समझानेका समय आया, उससे पहले ही गाँधीजी परलोकवासी हो गये। नेहरूजीने इन सत्रह वर्षोंमें जो कुछ किया, वह सब हमारे सामने है। यहीं नहीं, पर उनके विशिष्ट व्यक्तित्वके सामने दबी रही बुराइयाँ भी आज प्रतिदिन तेजीसे एवं स्पष्ट रूपमें उभर रही हैं। हम अब चेत जायँ—इसीमें हमारा कल्याण है। नहीं तो, 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत' वाली कहावत ही हमपर चरितार्थ होगी। हमें हमारी भारतीय नींवपर ही समृद्ध होना है। पाश्चात्त्योंसे हम सीखें अवश्य ही, परन्तु जो सीखें उसे अपने भारतीय रूपमें। यदि नहीं परिणमन करेंगे तो 'कौआ चला हंसकी चाल' वाली हमारी दशा हो जायगी।

* * *

---

* बड़े ही दुःखका विषय है कि धर्मप्राण, सदाचारपरायण भारत आज बड़ी तेजीके साथ अधर्म, अनाचार और नैतिक पतनकी ओर अग्रसर हो रहा है। हमारे शिक्षा-मन्दिर (विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय और उनमें दी जानेवाली सहशिक्षा आदि) इस विनाशकी अग्निमें ईंधन झोंकनेका काम कर रहे हैं और अवाञ्छनीय साहित्य तथा सिनेमा इतने जोरकी आँधी है कि वह इस विनाशकी आगको उत्तरोत्तर जोरोंसे भड़का रही है। हम अपने पवित्रतम प्राचीन आचार, शिक्षा और संस्कृतिकी ओरसे सर्वथा उदासीन होते जा रहे हैं!

हमारी भारतीय संस्कृतिमें 'अर्थ' और 'काम'का विरोध नहीं है; इसीसे हमारे 'पुरुषार्थ चतुष्टय'में—'अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष'—चारोंका निर्देश है। अवश्य ही वे 'अर्थ और काम' होने चाहिये 'धर्मके' द्वारा नियन्त्रित और उनका लक्ष्य होना चाहिये—'मोक्ष'। पुरुषार्थचतुष्टयमेंसे यदि 'धर्म' और 'मोक्ष'को निकाल दिया जाय तो केवल 'अर्थ' और 'काम' बच रहते हैं और केवल अर्थ और 'काम' जब जीवनके साध्य-साधन बन जाते हैं, तब मनुष्य असुरभावापन्न होकर पतित हो जाता है। आज यही हो रहा है। यह प्रवाह कानूनोंसे नहीं रुकेगा। यह रुकेगा—बुराई और भलाईका स्पष्ट रूप तथा परिणाम बतलानेवाली 'धर्म-शिक्षा'से। अतः देशके मनीषियोंको तुरंत सावधान होकर इस बहुमुखी पतनके प्रवाहको रोकना चाहिये।

समाजव्यापी पतनका निवारण

(लेखक—श्रीधर्मवीरजी)

एक अमेरिकन लेखकने अपने लेखमें संयुक्तराज्योंके विद्यालयों एवं महाविद्यालयोंके विषयमें कई ऐसी बातें लिखी हैं जिनको वहाँके लड़के-लड़कियाँ अनुकूल नहीं समझेंगे—कड़वी समझेंगे और जो बातें सत्यपर निर्भर करती हैं, वे कुछ कड़वी प्रतीत होती ही हैं। लेखकने आरम्भमें ही एक दिलचस्प उदाहरण दिया है; वह लिखता है, 'अमेरिकाके ऑरिगन-राज्यमें चार वर्ष पूर्व हाईस्कूलके एक लड़केने एक निबन्ध लिखा, जिसके कारण उसका नाम पहले नंबरपर आया और उसे दो सौ डालर इनाम मिला। निबन्धका विषय था—'ईमानदारी मेरे लिये कितने महत्त्वका सिद्धान्त है।' अबकी इसी लड़केने जब परीक्षा दी, तब यह अपने पास बैठे लड़केकी उत्तर-पुस्तकसे नकल करता पकड़ा गया। दण्ड-स्वरूप उसका नाम काटकर उसे स्कूलसे निकाल दिया गया। उस लड़केसे पूछा गया—'तूने ऐसा क्यों किया ?' उसने यह उत्तर देते हुए किसी प्रकारकी लज्जाका अनुभव नहीं किया कि 'मैं अभागा हूँ जो पकड़ा गया, नहीं तो स्कूल और कालेजका प्रत्येक लड़का बेईमानी करता है। फिर कौन-सा लड़का है, जिसे बेईमानी नहीं करनी पड़ती ?'

अन्तिम दो वाक्योंमें लगाये गये दो इल्जाम बहुत संगीन हैं। पहला—प्रत्येक लड़का बे-ईमानी करता है। दूसरा—कौन-सा लड़का है, जिसे बे-ईमानी नहीं करनी पड़ती ? इन चौदह शब्दोंका विश्लेषण किया जाय तो कितनी ही बातें हमारे समक्ष आती हैं। उनमेंसे प्रमुख यह है कि स्कूलों-कालेजोंवाले बे-ईमानीको बे-ईमानी नहीं समझते तभी तो ऐसा करते हुए लज्जाका अनुभव नहीं करते।

कुछ समय हुआ एक वृद्ध वकीलसे मैंने कहा—'बाबूजी, मुझे समझ नहीं आती कि आदमी झूठ क्यों बोलता है।' वे वकील नगरकी बार ऐसोसिएशनके प्रधान थे। स्थानीय महाविद्यालयकी प्रबन्ध-समितिके प्रधान थे। अच्छे धनवान् थे। प्रतिष्ठा भी खूब थी। कई एक सामाजिक संस्थाओंके साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने मुझसे सवाल किया—'प्रोफेसर साहब, मुझे समझ नहीं आती कि आदमी सच क्यों बोलता है। मैं सुबहसे लेकर शामतक झूठ बोलता हूँ।'

थोड़ी देर सोचनेके पश्चात् मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि यदि इस सज्जनके लड़के-लड़कियाँ झूठ बोलते हैं तो किसीको हैरान नहीं होना चाहिये। क्यों ? इसलिये कि वे सब पिताके बनाये झूठके वातावरणमें पलते हैं। और यदि इन लड़के-लड़कियोंकी माता आर्यसमाजके साप्ताहिक सत्सङ्गमें जाती हैं तो वह अपने आपको एक प्रकारसे धोखा देती हैं या फिर इतनी सरल हैं कि उन्हें अपने पतिके चरित्रका कुछ पता ही नहीं।

एक सज्जन एक स्थानमें विश्वविद्यालयकी परीक्षाओंके सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुए। उन्होंने बताया—'मैंने कई लड़कोंको परीक्षाभवनमें दूसरोंकी नकल करते हुए पकड़ा। परंतु मुझे उस समय बहुत आश्चर्य एवं खेद हुआ, जब एक युवती भी ऐसा काम करते हुए, रँगे हाथों पकड़ी गयी। उसने अपनी सुथनीकी तहोंमें उन विभिन्न प्रश्नोंके उत्तर लिख रक्खे थे जिनके आनेकी उसे आशा थी। लड़कीके पकड़े जानेके पश्चात् पुलिसने उसके घरसे दूसरी सुथनी मँगवाई और उत्तरोंवाली सुथनी उतरवाकर ऊपर विश्वविद्यालयके कार्यालयमें भेज दी गयी ताकि उसे प्रमाण माना जाय।'

"एक अन्य अनुभव और भी अधिक मनोरञ्जक तथा दुःखद है। परीक्षाहालमें एक सौसे अधिक परीक्षार्थी लड़के-लड़कियाँ बैठे थे। बायें कोनेमें बैठे एक लड़केपर एक दिन मेरी नजर पड़ी तो उसपर संदेह हुआ। मैंने उसे वहाँसे उठवाकर अपनी मेजके सामनेकी पंक्तिमें उसकी कुर्सी लगवा दी। थोड़ी देरके पश्चात् उसने वहाँ भी अपनी गुप्त कार्यवाही आरम्भ कर दी। तत्पश्चात् वह शौचालयमें गया। मैंने एक निरीक्षकसे कहा कि इस लड़केको शौचालय तब जाने दिया जाय जब शौचालय अच्छी प्रकारसे देख लिया जाय कि वहाँ कोई कागज तो नहीं रक्खा है। लड़केको यह बात मालूम न होने पायी और न उसे संदेह हुआ कि उसपर किसीकी दृष्टि है।

"वह शौचालयमें गया और कुछ कागज दरवाजेके एक कोनेमें ठूँस आया। स्वयं मैंने जाकर शौचालयकी तलाशी ली और वे कागज, जो संख्यामें तीन थे, पकड़ लिये। सभी हाथसे लिखे थे। इनको लेकर मैं परीक्षा-भवनमें सुपरिंटेंडेंटके मञ्चपर आकर अपनी कुर्सीपर आ बैठा। थोड़ी देर उनका अध्ययन किया। मैंने देखा कि लेखकने तीन अक्षर विशेष ढंगसे लिखे हैं। अब मैंने उस लड़केके निकट जाकर

उसकी उत्तर-पुस्तकपरके इन्हीं तीन अक्षरोंका शौचालयके कागजोंके उन अक्षरोंसे मुकाबला किया। वे एक दूसरोंके साथ मिलते थे! अब मेरे कहनेपर उस लड़केको परीक्षा-भवनसे बाहर ले जाया गया।

"उससे पूछा गया—'क्या ये तीन कागज आपके हैं?'

'जी मेरे हैं।'

'क्या आप इनको बाथरूममें रख आये थे?'

'जी नहीं।'

'तब ये वहाँ कैसे पहुँच गये?'

'सम्भव है किसीने बाहर पड़ी मेरी कॉपीसे फाड़कर पढ़ लिये हों और वह उन्हें बादमें बाथरूममें रख आया हो!'

"मैंने उसे छोड़ दिया—'जाइये, आप अपनी सीटपर बैठकर अपनी उत्तर-पुस्तकपर प्रश्नोंके उत्तर लिखिये।' कुछ देर बाद फिर संदेह हुआ। उसकी गति-विधिसे ऐसा प्रतीत हुआ कि अभी इसके पास कुछ और भी है। अब मैं उसे भवनसे बाहर ले गया। वहाँ पुलिसका सिपाही ड्यूटीपर खड़ा ही था। उसके सामने उस लड़केसे कहा—'बोल, तेरे पास कोई अनुचित कागज तो नहीं है?'

'न जी' उसने उत्तर दिया। 'मैं जानता हूँ कि जब हम परीक्षा आरम्भ होनेसे पूर्व भवनमें प्रविष्ट होनेवाले थे, तब आपने सबसे यह कहा था कि अपनी-अपनी जेबोंको टटोलकर देख लें कि किसी प्रकारका कोई कागज तो नहीं रह गया। तब मैंने भी अपनी जेबें देखी थीं और कोई कागज न रहने दिया था।'

'बहुत अच्छा। मेरे मुँहसे निकला। मैंने पुलिसके सिपाहीकी ओर देखकर कहा—'इसकी जामा-तलाशी लीजिये' कोई कपड़ा न छोड़िये।'

"सिपाहीने लड़केका कोट उतरवाया। साथ ही जूते उतरवाये। जूतोंमेंसे छपी हुई पुस्तकके कुछ पन्ने निकले। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, पूरे दस!

"अब लड़केके हाथके तोते उड़ गये। 'क्षमा कीजिये' स्वयं उसने कहा—'गतवर्ष मैं फेल हो गया था।'

'तो अबकी क्या पास हो जाओगे?' मेरे मुँहसे यह कटाक्ष निकल गया! 'तुम्हारी ये करतूतें तो तुम्हें कालेजसे भी निकलवा देंगी।'

"वह रोने लगा, हाथ मलने लगा। मेरे दोनों पाँव पकड़ लिये उसने। उसके हाथोंसे अपने पैर छुड़वाकर मैं पीछे हट गया।

'मैं मारा जाऊँगा सुपरिंटेंडेंट साहब, अबकी क्षमा कर दें' आँसुओंकी नदी बहाते हुए उसने कहा और कोटकी लाइनिंगसे चार छपे हुए कागज और निकाल दिये।

'और भी हैं क्या?' मैंने पूछा! परंतु वह चुप रहा।

'इसके कपड़े उतार दीजिये, मैंने सिपाहीको आदेश दिया।

"सिपाहीने वैसा ही किया और तलाशी लेने लगा। उसका दायाँ हाथ लड़केकी गुदाके पास जा पहुँचा तो वहाँसे कागज निकलते चले आये। वे संख्यामें बारह थे। सभी छपे हुए। इकनॉमिक्स (अर्थशास्त्र) की हिंदी पुस्तकके थे।

"अब उस लड़केकी मानसिक दशाका अनुमान कोई भी कर सकता है। काटो तो खून नहीं। पाँव पड़ने लगा। मेरे जूते तो वह चाट ही गया। पता नहीं उसकी आँखोंमें इतना पानी कहाँसे आया। वह रोता ही चला गया। मैंने समझा कि यह सचमुच ही प्रायश्चित्त कर रहा है। परंतु मेरा यह विचार भ्रममूलक निकला। जब अन्य अनेक प्राध्यापकोंके प्रार्थना करनेपर मैंने उसे क्षमा करनेका विचार प्रकट किया, तब उसने उस दिन परीक्षा समाप्त होनेपर भवनसे बाहर आकर यों शेखी बघारी 'देखा, बेटेको कैसा चकमा दिया!'

ये उदाहरण क्या बतलाते हैं? यही कि हमारा नैतिक चरित्र बहुत ही पतित हो चुका है। अमेरिका बहुत ज्यादा अमीर है। सम्भवतः वह धन-दौलतके बूतेपर दूसरे राष्ट्रोंका मुकाबला कर सकता है। परंतु भारत तो बहुत निर्धन है। यह निर्धन राष्ट्र अपनी वर्तमान स्थितिमें दूसरे राष्ट्रोंका मुकाबला नहीं कर सकता। भारतपर चीनके आक्रमणके समय हमने देखा कि किस प्रकार कुछ बड़े अधिकारियोंने तेजपुरमें देशको धोखा दिया। हम इस बातको भी भुला नहीं सकते कि एक वायुयान-चालकने युद्धक्षेत्रमें लड़ रहे सैनिकोंको बिभिन्न प्रकारकी सामग्री पहुँचानेके बजाय उसे कलकत्ताके बाजारमें जा बेचा।

प्रश्न होता है, क्या स्कूलों-कालेजोंके लड़के ही इस बे-ईमानीके लिये जिम्मेदार हैं? जरा गहन विचार करनेपर मालूम होगा कि नैतिक चरित्रके इस पतनके लिये माता-पिता, स्कूलोंके अध्यापक, कालेजोंके प्राध्यापक, सरकार और सरकारी मन्त्री, अधिकारी सभी—उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त समाजके सभी विभिन्न अङ्गों—व्यापारी, कारखानादार, सरकारी मुलाजिम, वकील, डाक्टर, नाई, धोबी, मोची, कुँजड़े आदि—सभीका हाथ इस गिरावटके पैदा करनेमें

है। पत्रकार इससे बच नहीं सकता। उसे भी अपनी खाटके नीचे लाठी घुमाकर देखना चाहिये।

इस अवस्थाको देखकर एक हिंदुत्व-प्रेमी राष्ट्रभक्तने मुझसे कहा—‘कभी-कभी तो इन बातोंसे इतनी अन्तर्वेदना होती है कि समाजको छोड़कर भाग जानेको जी चाहता है। परंतु फिर अपने आपसे प्रश्न होता है, भागकर जाओगे भी तो कहाँ ?’

इस समाजव्यापी पतनका जरा बारीकीसे अध्ययन करनेपर प्रतीत होता है कि इसके लिये हम सभी उत्तरदायी हैं। इसलिये इस विलक्षण रोगको दूर करनेका उपाय सभीके हाथमें है। किसी एकके प्रायश्चित्त करनेसे यह कार्य नहीं हो सकता; परंतु सभी लोग तो इस ओर ध्यान ही नहीं देते। वे कहते हैं—‘हमें इस विषयमें चिन्तन करनेकी फुरसत ही नहीं है।’ तब यह गुत्थी कैसे सुलझे ? इसका एक उपाय यह है कि हिंदुत्व-प्रेमी सभी भक्त अपने-अपने स्थानपर सच्चे दिलसे इसका निवारण अपने सजीव उदाहरणसे करें। हम दूसरोंके सामने अपनी शुद्धता–विमलता एवं ईमानदारीका उदाहरण बिना विज्ञापनबाजी या अहंकारके रख सकते हैं।

मुसकानकी मधुरता

(रचयिता—स्वामीजी श्रीजयरामदेवजी)

(१)

जाने किस कारणसे प्रियवर !
होता तुमसे अनुराग नहीं।
प्रत्यक्ष दुसह दुख पाकर भी,
होता विषयोंका त्याग नहीं॥

(२)

क्षणभंगुर जीवनका दीपक,
क्या जाने किस क्षण बुझ जाये।
यह जान-जान अनजान बनूँ,
इस भ्रमकी कौन थाह पाये॥

(३)

यह मेरा ही भ्रम है, अथवा
यह दोष प्रबल है मायाका।
उठ-उठकर मैं गिर जाता हूँ,
विश्वास न जगमें छायाका॥

(४)

जाने कितने जीवन मेरे,
मिलनोत्कण्ठामें बीत गये।
मोहादिक दैत्योंसे लड़कर
मैं हार गया, वे जीत गये॥

(५)

प्राणोंमें है न प्रणय-पीड़ा,
आँखोंमें अश्रु नहीं आते।
मनमें न मिलनका जोश उठे,
हैं अङ्ग न आतुर अकुलाते॥

(६)

कुछ प्यास लगी थी, पर कच्ची
शीशेकी प्याली फूट गयी।
ऊपरसे यों पत्थर बरसे,
आशाकी डाली टूट गयी॥

(७)

बिन भक्ति कृपा करना सीखो,
बिन दैन्य दया कछु दरसा दो।
बिन विनती भी घनश्याम ! कभी,
चातकपर अमृत बरसा दो॥

(८)

हे हृदयेश्वर ! दर्शन देकर,
तन-मनमें प्रेम-सुधा भर दो।
अपनी मुसकान-मधुरतासे,
नीरस जीवन रसमय कर दो॥

महानताका रहस्य

मेरे प्रभु !

रह-रहकर मेरे मनमें महान् होनेकी हुड़क उठती है; लेकिन जब मैं अपनी पूँजीकी ओर निगाह डालता हूँ, साधन-सम्पन्नताकी ओर दृष्टि करता हूँ तो मेरा दिल टूट जाता है—जी छूट जाता है। मुझे कुछ भी तो ऐसा नहीं मिलता, जिसे पाथेय बनाकर मैं महानताके पथपर पैर रक्खूँ। जिस किसी भी अपनी विशेषताको लेकर तनिक जी रुकता भी है, तो इधर-उधर आँखके उठते ही दीख पड़ता है कि उसके तो इस दुनियामें कितने ही एक-से-एक बढ़कर समन्दर बने बैठे हैं और परिणामतः तुरंत ही ज्यों-का-त्यों पुनः बैठ जाता है। जी ही बैठ जाय—बैठा रहे, तो फिर उठे-बढ़े कौन ?

और इतनेपर भी कुछ सोच-समझकर, कुछ भ्रम-भटककर किसी ओर दो डग धरता भी हूँ, तो अपनेसे अधिक साधन-सम्पन्नों एवं पूँजीपतियोंसे कुचल-पीसकर धर दिया जाता हूँ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि निराशाका घटाटोप मुझे चारों ओरसे छा लेता है। आशाके नामपर इस भरी-पूरी दुनियामें मुझे कहीं कुछ भी तो नहीं सूझता; मेरे लिये कहीं कुछ भी तो नहीं रह पाता।

ऐसेमें प्रभु ! जब सभीसे मेरा जी खट्टा हुआ होता है, हटा हुआ होता है, मुझे तुम्हारी सुधि आती है और मैं अपने समस्त हीनत्वको साथ लिये अपनी क्षुद्रतासे क्षुब्ध एवं महानताके लिये लालायित हुआ, सबको झटक, एकमात्र तुम्हारा होकर आँखोंमें आँसू भरे हुए, हाँफता-काँपता-सा तुम्हारे चारु चरणोंमें लोटनियाँ लेने लगता हूँ। सब सुध-बुध—स्वयंकी स्वयंता भी एक सिरेसे बिसर जाती है।

और तब आनन-फानन आश्चर्योंका आश्चर्य फट पड़ता है—मुझे सर्वाङ्गसे चकित-स्तम्भित करते हुए!

देखते-देखते निमिषार्धमें निराशाका घटाटोप छिन्न-विच्छिन्न होकर आशाका प्रकाश फैल जाता है। तुम्हारी करुणाका समन्दर मौजमें आकर असीमताकी उछालें लेने लगता है और तब मैं तुम्हारे गले लगा तुमसे····तुम परम पूर्णसे परम अभेद हुआ, अपने हीनत्वको शून्यपद प्रदान कराता, स्वयं महानोंका महान् बनकर अपनी हुड़क पूरी कर रहा होता हूँ····कृतकृत्यताका शिखर छू रहा होता हूँ।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

अटूट आस्था

मेरी जीवन-नैया
किनारे लगा दे प्रभु !
मत विचार कर
मेरी त्रुटियोंपर,
अक्षम्य अपराधोंपर
हर गलतीके बाद
तेरा नाम ले लेता हूँ
तुझे याद कर लिया करता हूँ
पापके परिणामोंसे घबराकर
तेरी शरणमें आ जाता हूँ

इसका मतलब है—
अपने कुकृत्यपर
पछता लेता हूँ !
उत्तरोत्तर
मेरे अपराधोंकी संख्या
कम हो रही है
यह प्रत्यक्ष
प्रबल प्रमाण है
कि मैं तुझपर
अटूट आस्था रखता हूँ !

—बद्रीनारायण

गीता-गुह्य

(एक महात्माद्वारा लिखित ग्यारह श्लोकोंकी व्याख्या)

गीता-गुह्यका अर्थ है—श्रीमद्भगवद्गीताका गूढतम सारतत्त्व। इस सारतत्त्वका संकलन एक वैराग्यसम्पन्न गीता-विचारक महात्माने ग्यारह श्लोकोंमें किया है। वास्तवमें ये ग्यारह श्लोक गीताके गूढतम भावोंसे भरे हुए हैं। महात्माजीका विश्वास है कि अध्यात्मविषयक जितने भी प्रश्न या संदेह उठ सकते हैं, उन सबका समाधान इन एकादश श्लोकोंद्वारा होना सम्भव है। इसमें संदेह नहीं कि ये श्लोक प्रत्येक अध्यात्म-पथके पथिकके लिये अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण निरन्तर चिन्तनीय एवं मननीय हैं। कुछ साधक मित्रोंका कहना है कि 'इस गीता-गुह्यकी हिंदीमें व्याख्या कर दी जाय तो जिज्ञासुओंको इससे बड़ा लाभ हो सकता है।' उनके इस आदेशसे प्रेरित हो मैं योग्यताशून्य होनेपर भी इन श्लोकोंपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ और इस धृष्टताके लिये सादर क्षमा चाहता हूँ।

जगत्में अधिकांश ऐसे लोग हैं, जो स्वाध्यायके बलपर बड़ी ऊँची बातें करते हैं। वे अपने सम्भाषणोंमें तत्त्वज्ञान और विवेककी गम्भीर बातें प्रस्तुत किया करते हैं। तर्कों और युक्तियोंद्वारा अपनी बातको न्यायसंगत और धर्मसम्मत सिद्ध करके दूसरोंसे उसको मनवा लेनेकी क्षमता रखते हैं; परंतु यह सब उनका प्रज्ञावाद मात्र है। वे स्वयं उसमें स्थित नहीं हैं। उनके मनमें नश्वर वस्तुओंके प्रति आसक्ति है; मोह है। वे अशोच्यके लिये शोक करते हैं और ज्ञानी पण्डितोंकी तरह बातें करते हैं। गीतामें ऐसे लोगोंकी बातोंको 'प्रज्ञावाद' की संज्ञा दी गयी है। अर्जुन भी किसी समय इस प्रज्ञावादके शिकार हो गये थे; परंतु भगवान्‌ने गीताका गुह्य ज्ञान देकर उन्हें बचा लिया। अतः हमें प्रज्ञावादको दूरसे ही त्यागकर गीताके गुह्य ज्ञानका आश्रय लेना चाहिये। मनुष्यको सबसे बड़ा भय मृत्युसे लगता है। वह सोचता है—एक दिन मैं मरूँगा, मेरे सम्बन्धी मरेंगे, फिर उनके बिना मैं और मेरे बिना वे कैसे रहेंगे ? यही महान् मोह है। गीता कहती है—हम सब शरीर नहीं, इन्द्रिय, मन-बुद्धि भी नहीं, इन सबसे परतर आत्मा हैं, 'यो बुद्धेः परतस्तु सः।' विभिन्न शरीरोंका अभिमानी जीवात्मा भी जडतत्त्वोंसे परे विशुद्ध चेतन है, चेतन परमात्माका सनातन अंश है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' अतः कभी उसका नाश नहीं होता। यह जानकर मृत्युके भयसे सर्वथा रहित हो जाना चाहिये। रह गयी शरीर या संसारमें इसी तरह सदा बने रहनेकी बात, सो तो सर्वथा असम्भव है। संसार परिवर्तनशील है, अनित्य है। शरीर क्षणभङ्गुर है, पुराने वस्त्रकी तरह एक दिन जीर्ण-शीर्ण होनेवाला है—यही इसका स्वभाव है। अतः कोई भी जीवात्मा संसारमें किसी एक ही शरीरमें सदा रह नहीं सकता, यह बहुत स्पष्ट बात है। क्या कोई भी मनुष्य सदा एक ही वस्त्र पहने रह सकता है ? कदापि नहीं। वस्त्र-परिवर्तनकी तरह शरीर-परिवर्तन भी अवश्यम्भावी है। गीता-गुह्यका प्रथम श्लोक यही संदेश देता है—

प्रज्ञावादान् निराकृत्य गीतागुह्यं प्रगृह्यताम्।
नैव नाशो निवासो वा कस्यचिदिति निश्चितम्॥

मरनेवाले शरीरको, जड-संघातको कौन बचा सकता है ? बालूकी भीतको सुस्थिर बनाये रखनेकी सम्भावना कौन करेगा ? बालूकी भीत तो ढहेगी ही, मरनेवाला मरेगा ही। पञ्चतत्त्वोंका बना हुआ यह प्राकृत प्रपञ्च मरणधर्मा ही तो है। इसीसे तो इस लोकको मर्त्यलोक कहा गया है; यहाँ कौन ऐसी वस्तु है, जो अमर रह सकेगी। इसी तरह जो अवध्य—अमृत्युगोचर—अमर आत्मा है, उसे कौन मार सकता है ! गीता कहती है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इसे शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं गला सकता और हवा भी नहीं सुखा सकती। यह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है (गीता २। २४)। जो यह मानता है कि आत्मा किसीको मारता है और जो इसे मारा गया समझता है, वे दोनों ही मूर्ख हैं। आत्मा न तो मारता है और न मरता ही है। (२। १९) असत् वस्तु असत् ही रहेगी और सद् वस्तु सत् ही। असत् सत् नहीं होगा और सत् असत् नहीं हो सकता—**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।** (गीता २। १६) इसलिये जन्म और मृत्यु—यह भ्रान्त कल्पना है। वास्तवमें किसीके जन्म और मृत्यु नहीं होते। आत्मा तो अजन्मा और अमर है। उसका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहना जन्म और जीवन कहलाता है और उस सम्बन्धका हट जाना मरण कहा गया है। उस जन्म और मरणके पहले और बाद भी उसकी सत्ता है, फिर जन्म-मरण कैसा ! जड़ वस्तुके जन्म-मरण भी भ्रम ही हैं। घड़ा बनता है और फूटता है, इसको कोई उसका

जन्म और मरण कहे तो कहता रहे । विवेकी जानते हैं वह पहले भी मिट्टी था और बादमें भी वही है । नाम-रूपकी कल्पना आयी और गयी । वस्तु तो वह-की-वही है । गीता-गुह्यकी वाणीमें यही बात पढ़िये—

क्रियमाणं हि को रक्षेत् कोऽवध्यं हन्तुमर्हति ।
असदसद्धि सत्सच्च जन्ममृत्युर्न तत्त्वतः ॥ २ ॥

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थितिके अनुसार जो कार्य प्राप्त हो जाय—जिसे करना जनहितकी दृष्टिसे आवश्यक हो जाय, वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर करने योग्य है, भले ही वह कार्य युद्धके रूपमें, स्वजनोंके साथ भी संग्रामके रूपमें प्राप्त हुआ हो, वह कर्तव्य-कोटिमें आ जाता है । कर्तव्य-कार्य कर्तव्य (करने योग्य) ही है । परंतु उसे करनेका एक अच्छा ढंग है । विषका शोधन करके औषधके साथ उसका योग कर दिया जाय तो घातक विष भी अमृततुल्य प्राणरक्षक बन जाता है । इसी तरह यद्यपि कर्म बन्धनकारक होता है, तथापि गीतोक्त योगके द्वारा यदि उसका सम्पादन हो तो वह न केवल बन्धन-निवर्तक होता है, अपितु परमानन्दपदकी प्राप्ति करानेवाला बन जाता है; उस कर्मसे परमेश्वरकी पूजा करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।
(गीता १८ । ४५ का उत्तरार्द्ध)

वह कला है समता । मनुष्य सिद्धि-असिद्धिमें सम हो जाय । फलासक्तिको त्याग दे । राग-द्वेषसे, अहंता-ममतासे शून्य एवं निष्पक्ष हो जाय । जैसे न्यायाधीश जब न्यायके सिंहासनपर बैठता है, तब किसी भी अपराधीके प्रति उसके मनमें राग या द्वेष नहीं होता । वह कहीं पक्षपात न रखकर अपराधके अनुसार दण्डकी व्यवस्था देता है । उस दशामें मृत्युदण्ड देकर भी वह पापका भागी नहीं बनता । इसी तरह निष्पक्ष, निर्मम, निरहंकार होकर कर्तव्यका अनुष्ठान हो तो वह बन्धनकारक नहीं होता, वह साधन एवं समाराधन बन जाता है । गीता-गुह्यकी अमृतमयी वाणीमें इस उपदेशका रसास्वादन कीजिये—

कर्तव्यश्चेद्धि कर्तव्यः संग्रामः स्वजनैरपि ।
निष्पक्षो निर्ममो भूत्वा न्यायाधीशासनस्थवत् ॥ ३ ॥

जो संसार-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कौशलसे और यज्ञके भावसे कर्म करना चाहिये । कौशल क्या है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**—योग ही कर्मविषयक कौशल है । तब फिर योग क्या है ? योग है समता—**'समत्वं योग उच्यते'** । इस समत्व-बुद्धिसे युक्त हो—आसक्ति, फलेच्छा, कर्तृत्वाभिमान आदिके त्यागपूर्वक सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्म करना चाहिये । यही योगस्थ होकर कर्म करना है । यह योग ही कर्म-विषयक कौशल है । यज्ञ क्या है, इसे भी समझ लेना आवश्यक है। दूसरेके हितके लिये जो अपनी वस्तुका त्याग है, वह यज्ञ है । प्रजापतिने यज्ञसहित प्रजाकी रचना करके प्रजाओंसे कहा—'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा उन्नति करो । यह तुम्हें अभीष्ट भोगोंको देनेवाला होगा। तुम और देवता इस यज्ञके द्वारा एक दूसरेका उन्नयन करते हुए परम कल्याणके भागी होओगे ।' इन सबका मथितार्थ निकाला जाय तो जनता-जनार्दनकी तथा देवताओंकी जो सेवा-पूजा भगवत्प्रीत्यर्थ की जाती है, वह सब यज्ञ है। यज्ञभावसे जो क्रिया की जाती है, वह बन्धन नहीं, मोक्ष देनेवाली होती है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

—यज्ञार्थसे भिन्न कर्म करनेवाला जन-समुदाय बन्धनमें पड़ता है । इसीलिये गीतामें भगवान्ने अनासक्त भावसे यज्ञार्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।

इस प्रकार कर्म करना श्रेयस्कर है । जो ऐसा नहीं करता, उसपर मायाका चक्र घूम सकता है और माया कर्म न करनेवालेको बियुक्त—योगसे वञ्चित कर देती है । भगवान्ने गीतामें कहा है—कोई क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता । कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है । कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषय-चिन्तन करना मिथ्याचार है । मनको संयममें रखते हुए कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला अनासक्त पुरुष श्रेष्ठ माना गया है । यही बात निम्नाङ्कित श्लोकसे अभिव्यक्त होती है—

कौशलेन क्रिया कार्या यज्ञभावान्मुमुक्षुणा ।
मायाचक्रं विवर्तेत मायाक्रियं वियोजयेत् ॥ ४ ॥

अब प्रश्न होता है कि कर्मयोग और ज्ञानयोगमें परस्पर कोई सम्पर्क स्थापित होता है या दोनों एक दूसरेसे असम्पृक्त रहते हैं ? इसका उत्तर गीता-गुह्यके शब्दोंमें इस प्रकार है—

योगो ज्ञानेन स्याद् युक्तो ज्ञानं योगेन संविशेत् ।
भूर्भुवोवच्च सर्वत्र प्रश्नात् तयोर्व्यवस्थितिः ॥ ५ ॥

योग ज्ञानसे युक्त हो सकता है और योगसे ज्ञानमें प्रवेश किया जा सकता है । जसे भूलोक (पृथ्वी) और भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) एक दूसरेसे नित्य ओतप्रोत हैं, इसी तरह सर्वत्र कर्मयोग और ज्ञानयोगमें घनिष्ठ सम्बन्ध है । गीता भी कहती है—

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।

अर्थात् जो फलकी दृष्टिसे ज्ञानयोग और कर्मयोगको एक देखता है, वही ठीक देखता है । इन दोनोंमेंसे एकका भी सम्यक् आश्रय लेनेवाला पुरुष दोनोंका फल पाता है । अतः सांख्य और योगको एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् बतानेवाले मूर्ख हैं । पण्डितजन उन्हें पृथक् नहीं मानते । इसलिये फलपर दृष्टि रखते हुए दोनों साधनों को परस्पर संयुक्त कहना असंगत नहीं है । इसके सिवा निष्काम कर्मयोगके अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है । शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानका प्रकाश स्वतः आविर्भूत होता है, अतः '**योगो ज्ञानेन युक्तः स्यात्**' यह कथन ठीक ही है । इस प्रकार योगसे ज्ञानमें निष्ठा होती है; अतः 'ज्ञानं योगेन संविशेत् ।' यह कथन भी असंगत नहीं है । फिर उन दोनोंकी जो पृथक्-पृथक् व्यवस्था है, उसकी संगति कैसे लगेगी ? इसके उत्तरमें कहते हैं—'**प्रश्नात्** तयोर्व्यवस्थितिः ।' प्रश्नसे उनकी व्यवस्थाका रहस्य जानना सम्भव है । 'प्रश्न' शब्द प्रणिपात और सेवाका भी उपलक्षण है । प्रणिपात (नमस्कार), परिप्रश्न (जिज्ञासा) और सेवाद्वारा महापुरुषको संतुष्ट करके ही तत्त्वज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और तत्त्वदर्शी पुरुष ही उस ज्ञानका उपदेश कर सकते हैं । अधिकारीकी दृष्टिसे वे सांख्य और योग प्रारम्भमें पृथक्-पृथक् साधन हैं; परंतु परिपक्वावस्थामें दोनों दोनोंके फल देनेमें समर्थ हैं, अतः एक भी कहे जा सकते हैं ॥ ५ ॥

सबके सारभूत परमात्मा हैं । यह संसार अनित्य—असार और असुख है, यहाँ सर्वसार-स्वरूप परमात्माका स्मरण-चिन्तन ही मानव-जीवनका परम कर्तव्य है, गीता-गुरुकी वाणीमें—

संस्मरन् सर्वसारं तं तदर्थं कर्म कल्पयन् ।
तदादर्शस्त्वमेवासि तस्य भावः स एव हि ॥ ६ ॥

सर्वसारभूत परमात्माके सम्यक् स्मरणपूर्वक उन्हींके लिये—उनकी ही प्रीतिके लिये सब कर्म करते रहना चाहिये । साधकजन ! इसके आदर्श तुम्हीं हो । तुम्हीं निरन्तर परमात्मस्मरणपूर्वक तदर्थ कर्म करनेवालेके आदर्श (उदाहरण) बन सकते हो । तुम उन परमात्माकी सत्ता हो, अतः स्वयं वह परमात्मा ही हो ॥ ६ ॥

हम पतित हैं, पथभ्रष्ट हैं, क्या हम परमात्मचिन्तनके अधिकारी हो सकते हैं ?—ऐसी चिन्ता न करो; क्योंकि—

पतितपावनः श्रीशः प्रीतः पत्रेऽपि पितृवत् ।
धर्म्यामृतेन संसेव्यः सगुणो निर्गुणोऽपि सः ॥ ७ ॥

भगवान् श्रीपति पतितोंके भी पावन हैं । किरात, हूण, आन्ध्र और पुक्कस आदि अधम जातिके लोग भी उनके आश्रित भक्तोंका भी आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं ।* भगवान् स्वयं कहते हैं—'मेरी शरण लेकर पापयोनि भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।'† अत्यन्त दुराचारी ही क्यों न हो, यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगता है तो शीघ्र ही शुद्ध, धर्मात्मा हो जाता है ।‡ 'अर्जुन ! तू सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जा । मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर ।'§ ऐसे पतितपावनके होते हुए पतितको भी भगवत्प्राप्तिके विषयमें निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है । वे हम सबका उद्धार करनेके लिये उत्सुक हैं, हमारी राह देखते हैं, हमें अङ्कमें उठा लेनेको उतावले हैं । हम उनकी ओर चलें तो सही । पतितपावन होकर भी यदि वे दयालु न हों, किसीसे उनकी प्रीति न हो तो वे क्या भला कर सकते हैं ? ऐसी शङ्काके लिये भी गुंजायश नहीं है । जो स्तनमें विष लगा मार डालनेके लिये आयी हुई पूतनाको भी माताकी गति दे सकते हैं, उनसे बढ़कर दयालु और कौन हो सकता है ?×

गीतामें वे अपनेको समस्त भूतोंका सुहृद् बताते हैं ।÷ अतः विश्वास करो कि भगवान् श्रीहरि पतितपावन होनेके

---

* किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

† मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

‡ अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।

§ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

× अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

÷ भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

साथ-साथ प्रेमी भी हैं । चेतन जीवोंपर ही नहीं, जड वृक्षोंके एक-एक पत्तेपर भी उनका पिताके समान प्रेम है । वे पत्ते-पत्तेको पिताका प्यार देकर पालते हैं । उनका 'धर्म्यामृत'के द्वारा सम्यक् सेवन करना चाहिये । गीताके बारहवें अध्यायमें श्लोक १३ से १९ तक जो भक्तोंके लक्षण तथा सात्त्विक गुण वर्णित हुए हैं, उनको 'धर्म्यामृत' कहा गया है । उस धर्म्यामृतको अपनाकर तदनुरूप गुणोंसे युक्त होकर वैसी ही निष्ठासे उन पतितपावन सर्वभूतसुहृद् श्रीपतिकी समाराधना करनी चाहिये । वे एक ही परमात्मा सगुण भी हैं और निर्गुण भी । उन एक ही सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णके भजनसे समग्र परमेश्वरकी आराधना हो जाती है ॥ ७ ॥

गीतामें जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा गया है और शरीरको क्षेत्र । वहाँ ज्ञानका भी विस्तृत वर्णन है । शरीर और संसार-का मूल परब्रह्म है । इन्हीं सब बातोंको सूत्ररूपसे गीता-गुह्यकी शब्दावलीमें पढ़िये और मनन कीजिये—

शरीरं क्षेत्रमित्याहुर्ज्ञानं सत्त्वव्यवस्थितिः ।
मूलं ज्ञेयं परं ब्रह्म जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात् ॥ ८ ॥

हमारा यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं (इसका ज्ञाता पुरुष क्षेत्रज्ञ है) । इन दोनोंके तत्त्वका बोध ही ज्ञान है । गीतामें इस ज्ञानके साधनोंका (१३ । ७ से १३ । ११ तक) वर्णन मिलता है । इन सबके द्वारा ज्ञानी पुरुषकी सत्त्वगुणमें स्थिति होती है । सत्त्वगुण प्रकाशक कहा गया है; अतः सात्त्विक पुरुषके अन्तःकरणमें ही उस ज्ञानका प्रकाश होता है, जहाँ त्रिपुटी समाप्त होकर सब कुछ ज्ञानरूप ही रह जाता है । अतः सत्त्वमें स्थितिको ही यहाँ ज्ञान कहा गया है । सत्त्व परमात्माका नाम है, परमात्मनिष्ठा भी 'ज्ञान' पद वाच्य है । पूर्वोक्त सगुण-निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबका मूल है, ऐसा जानना चाहिये । गीतामें भगवान्‌ने प्रकृतिको सम्पूर्ण जगत्‌की जननी और अपनेको बीजाधान करनेवाला पिता कहा है । ब्रह्मसूत्रमें **'जन्माद्यस्य यतः'** इस सूत्रके द्वारा यह बात बतायी गयी है कि इस जगत्‌के जन्म, स्थिति और प्रलय—जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है । अतः जगत्‌का मूल परब्रह्म ही है—यह निश्चित हो जाता है । अन्वयी हेतुसे यह बात सिद्ध है । **'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः'** कारणकी सत्ता होनेपर ही कार्यकी सत्ता है; परमात्मा हैं, तभी उन जगदाधारके सहारे जगत् टिका हुआ है । इस प्रकार यहाँ अन्वय—सहचार है । परमात्मा सबका मूल है; आधार है एवं उसीसे जगत्‌की उत्पत्ति आदि होते हैं, इस बातके शतशः प्रमाण-वचन वेदशास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं ॥ ८ ॥

परमात्मा वह अमृत है, जिसका बोध—अनुभव हो जानेपर अन्य सब कुछ विरस हो जाता है—

गुणार्हमम्बरं येन व्यावृतं वै तदमृतम् ।
यद् बुद्ध्वा विरसं सर्वं येन स्यान्मधुरं मधु ॥ ९ ॥

जिसने शब्द-गुणके आश्रयभूत आकाशको व्याप्त कर रक्खा है, वह परब्रह्म परमात्मा 'अमृत' कहा गया है । जिसको जान लेनेपर अन्य सब कुछ विरस, रसहीन हो जाता है, उनके सम्बन्धसे ही मधु मधुर प्रतीत होता है । मधुका माधुर्य वास्तवमें वह अमृतमय ब्रह्म ही है । अतः उस मधुरातिमधुर मधुराधिपतिका ही रसास्वादन करना चाहिये; क्योंकि **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।'** विषय तो विष हैं; जिसे अमृत उपलब्ध है, वह विषपान क्यों करे ? उसे तो नित्य-निरन्तर उस अमृत-रससिन्धुमें ही गोता लगाना चाहिये ॥ ९ ॥

जगत्‌में बन्धन और मोक्ष—दोनोंके मार्ग हैं । उनकी जानकारी और प्राप्ति कैसे हो ? यह गीता-गुह्यकी वाणीमें सुनिये—

तपस्त्यागादिभिर्लिङ्गैर्मुक्तिमार्गः प्रतीयते ।
दम्भदर्पादिभिर्लिङ्गैर्बन्धमार्गो न गम्यते ॥१०॥

तप और त्याग आदि ज्ञापक चिह्नोंसे मुक्ति-मार्गकी पहचान होती है तथा दम्भ, दर्प आदि चिह्नोंसे बन्ध-मार्गकी । इस बन्धमार्गपर सच्चे साधक नहीं चलते ॥ १० ॥

गीता-गुह्यका अन्तिम संदेश यों है—

इत्थं हि साधु वर्तेथा यथा त्वां तु स्मरेद्धरिः ।
परित्यज्य प्रवृत्तिं वा सर्वदैकं हरिं स्मर ॥११॥

तुम इस प्रकार साधु-बर्ताव करो—भक्तों और संतोंके ऐसे सदाचारको अपनाओ, जिससे श्रीहरि निरन्तर तुम्हें स्मरण करें—**'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** कहकर प्यारसे याद करते रहें । अथवा यदि धर्मानुष्ठान या विशिष्ट आचारका निर्वाह सम्भव हो तो सारी प्रवृत्तियोंका परित्याग करके सदा-सर्वदा एकमात्र श्रीहरिका ही स्मरण करो, **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'**—भगवान्‌का यह आह्वान सुनकर एकमात्र उन्हींके शरणागत हो जाओ । फिर तो बेड़ा पार है ॥ ११ ॥

व्याख्याकार—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री साहित्याचार्य

आराध्य रामका नखशिख

(रचयिता—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, डी० लिट्०)

प्रणव हुआ तारकमें विकसित, तारकने त्रिबीज प्रगटाया
और त्रिबीज घना होकर ही बना त्रिकोण वक्ष मनभाया ।
रं से कर, आ से पद, मं से मुखने अपनी ज्योति दिखायी
भीतरके दृढ़ नाद तत्त्वने बाहर प्रभुकी आकृति पायी ॥

अग्निबीज आपद्-अपहर्ता, सायुध द्विभुज परम ललाम है
धनुः कर्म है, अनासक्ति शर, सत् स्वरूप अभिवन्द्य राम है ।
इन हाथोंमें जगद्व्यवस्था, इन हाथोंमें जग-जन-रक्षा
इन हाथोंमें अभय-दान है, इनमें ऋद्धि-सिद्धि प्रत्यक्षा ॥

पञ्चतत्त्व-रचना-प्रपञ्च सब इनके पंजोंपर नचता है
जिनपर इनका छत्र तन गया, उनको क्या पाना बचता है ।
इनकी मुट्ठीमें लय-लीला, करतलपर अपवर्ग-स्वर्ग है
दसों अँगुलियोंपर दस दिशाका आश्रित ललित निसर्ग-सर्ग है ॥

सूर्यबीज सब सम्पद्-दाता, ज्ञान और विज्ञान-विधाता
पद-पद्मोंके रूप परम पद, चिन्मय भूत-भविष्यत्-ज्ञाता ।
इन चरणोंमें सकल चेतना, इन चरणोंमें सकल क्रान्ति है
इन चरणोंमें भुक्ति-मुक्ति है, इन चरणोंमें परम शान्ति है ॥

साधक-मनका कलुष-पङ्क है, उसमें ये पङ्कज खिल जायें
साध यही, इन चरणोंकी नख-किरणोंके कुछ कण मिल जायें ।
श्रद्धाकी मधुकरी इन्हींसे माँग मधुकरी रमे इन्हींमें
इनपर ही लोटे रहनेके हों मेरे अरमान न धीमे ॥

चन्द्रबीज लोकाभिराम, जो लोकोत्तर-आनन्द-विलासी
जिस लावण्य-सिन्धुके लघुतम सीकरसे त्रैलोक्य-सुपासी ।
भक्ति-चकोरी-चन्द्र राम-मुख अग-जग-श्री-सौन्दर्य समेटे
महक रहे इसका प्रसाद पा संत-सुमन भी सुरभि लपेटे ॥

मुक्ता मिस मुक्तोंकी माला यदि इस मुखके मूल विराजी
तो श्रुति-आश्रयसे मकराकृत कुटिलोंने सात्त्विक छवि साजी ।
ऊपर प्रेम-हेम मणि-मण्डित कण-कण करुणा-किरण-प्रसारी
काम-कल्पनाके करोड़ सुख इस अद्भुत मुखपर बलिहारी ॥

इसके विशद प्रभा-मण्डलसे कान्ति-शान्ति-निर्झर झरते हैं
प्रेय-श्रेय इसके ललाटपर जयका स्वतः तिलक करते हैं ।
इस मुखपर है श्वेत-श्यामने सम्मोहन-लीला विस्तारी
इस मुखका जो ध्यान-धनी हो, वह है भाग्यवान अधिकारी ॥

इस मुखके दो केन्द्र-विन्दु हैं—एक नयन हैं, अपर अधर हैं
नयन रसीले, अधर हँसीले, नयन सलोने, अधर मधुर हैं ।
नयन कमल-जैसे विशाल हैं, कमला-सृष्टि रचानेवाले
वैसे अधर-पलाश अनुग्रहका रस अथक लुटानेवाले ॥

इन नयनोंमें प्रेम-अमृत है इन नयनोंमें भक्ति-सुधा है
इन नयनोंके कृपा-वारिसे, आपूरित समग्र वसुधा है ।
इन अधरोंमें भरे मुखर वर, इन अधरोंमें मौन विमोहन
इन अधरोंमें मन्द-स्मित है, जो अमन्द आनन्द-महाघन ॥

नयनोंकी, अधरोंकी विद्युत्, चरणोंके पथसे गति पाती
चरणाश्रित पर वह विद्युन्मय कृपा कृपा करती न अघाती ।
जिसके उरमें चरण बस गये, प्रभुने उसतक हाथ बढ़ाये
इस चतुरङ्ग-चमूका मेरा चञ्चल मन बँधुवा बन जाये ॥

कर-सरोज हैं, पद-सरोज हैं, अधर-सरोज, नयन-सरोज हैं
सब अनुराग-लालिमा-रञ्जित, स-प्रसाद-माधुर्य-ओज हैं ।
दीनबन्धुका पीताम्बर है, दीनोंपर अपनत्व खरा है
पीला यदि नीलेमें लय हो तो वह निश्चय हरा-भरा है ॥

मधुराधिपका अखिल मधुर है, परम हृद्य इनकी संस्तृति है
नरकी प्रकृति हुआ जो चाहे, नारायणकी वह आकृति है ।
करुणा-वरुणालयका नख-शिख,भाव-रचित,अतिशय अनूप है
निराकार-साकार रूपमें दृग-संमुख रघुवंश-भूप है ॥

चित् या अचित् कि लक्ष्मण-सीता, कहनेको ही भिन्न-भिन्न हैं
जीव-जगत् सब रामचन्द्रमें, रामभद्र सबमें अभिन्न हैं ।
सुस्थिर हैं, फिर भी गतिदाता; मौन, किंतु प्रतिपल सस्वर हैं
मूर्ति नहीं, ये मूर्त चेतना, सुदृढ़ सत्य आराध्य अमर हैं ॥

तन्मयतासे पूर्ण समर्पण-भावोंके शुचि अर्घ्य चढ़ाये
जाग्रत् ज्योति जगमगी देखे, मन आरती स्वतः बन जाये ।
निश्चय है—मद-लोभ-मोहके शलभ तभी तो भस्म बनेंगे
और सुरभिमय जग-मङ्गलके वृत्त-विसारी धूम तनेंगे ॥

वृत्त-विसारी धूम तना दो, जीवन मङ्गल-धाम बना दो
चरण-शरण देकर अपना लो, सेवाका उल्लास घना दो ।
कह दो, प्रभु! इस चित्त-वृत्तिका तुममें, केवल तुममें लय हो
प्रणव तुम्हीं, उद्धारक-तारक, राम! तुम्हारी जय हो जय हो ॥

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श पतिव्रता पत्नी

आजके इस भौतिक भोगप्रधान युगमें—जहाँ दिनोंदिन पवित्र त्यागमयी भारतीय संस्कृतिका ह्रास हो रहा है, मानवताका पतन हो रहा है, आसुरी भोगवाद, फैशनपरस्ती तथा नास्तिकताकी बड़े वेगसे वृद्धि हो रही है, भाई-भाई, पिता-पुत्र तथा पति-पत्नीके बीच कलहाग्नि जल उठी है, सेवाके स्थानपर नीच स्वार्थ-साधन ही जीवनका लक्ष्य बना जा रहा है, नारीके आदर्श सतीत्वका मजाक उड़ाया जा रहा है और भारतीय-संस्कृति-विरोधी तलाक-प्रथा भी पनप रही है, वहाँ आज भी कई ऐसी भारतीय संस्कृतिका गौरव बढ़ानेवाली घटनाएँ देखनेमें आती हैं, जिनसे भारतीय संस्कृतिका गौरव बढ़ता है और मानवता तथा नैतिकताको प्रोत्साहन मिलता है। ऐसी ही एक घटना नीचे लिखी जा रही है।

लगभग दस वर्ष पूर्वकी घटना है—

हमारे पड़ोसमें एक सम्पन्न कुलीन परिवार रहता था। परिवारमें एक एम्० ए० पास शिक्षित युवक भी था। तीन सौ रुपये प्रतिमास कमाता था। वह अविवाहित था। अन्तमें उसका सम्बन्ध एक कुलीन तथा सम्पन्न परिवारकी कन्यासे तय हुआ।

कन्या विशेष रूपवती नहीं थी, पर सद्गुणवती तथा विदुषी थी। तदनन्तर उनका विवाह हो गया। युवक अपनी पत्नीको कम ही पसंद करता था। उसकी इच्छा थी कि कोई अत्यन्त सुन्दरी तरुणी उसकी अर्द्धाङ्गिनी बनती। युवकको दुर्भाग्यवश कुछ मनचले रँगीले मित्रोंका कुसङ्ग मिल गया। वह अपनी सुशीला विवाहिता पत्नीको छोड़कर अपने कार्यालयमें ही काम करनेवाली एक युवतीपर आसक्त हो गया। विवाहिता पत्नी भी दुखी थी, पर बेचारी विवश थी। वह करती भी तो क्या ?

अन्तमें वह ससुराल छोड़कर पीहर चली गयी। युवकका अधिकतर समय युवतीके पास ही कटने लगा। धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगा। भाग्यकी विडम्बना देखिये—युवक कुष्ठरोगसे ग्रस्त हो गया।

नयी तरुणी, वह तो एक तरहसे रखेल थी। विलास-सुखके लिये साथ हुई थी। वह अब युवककी सेवा करना तो दूर, उसे छोड़कर ही चली गयी। युवकका सुन्दर सुगठित शरीर निर्बल होने लगा। चेहरा कुरूप हो गया। शरीरसे आभा झरनेके स्थानपर मवाद चूने लगा। शारीरिक शक्ति दिनोंदिन क्षीण होने लगी। घरवाले तो उससे वैसे ही नाराज थे, उन्होंने भी उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

उसकी विवाहिता पत्नी आदर्श नारी थी। उसने पतिको तलाक नहीं दिया था। पीहरमें वह संयमपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी।

जब उसने पतिकी बीमारी और इस प्रकार उसके प्रति सबकी उपेक्षाका हाल सुना, तब वह एक नौकरको साथ लेकर ससुराल लौट आयी। आते ही उसने पूरे तन-मनसे लगनके साथ पतिकी सेवा करना शुरू कर दिया। उसको नहलाना, खिलाना, समयपर ओषधि देना आदि सब कार्य स्वयं अपने हाथोंसे करने लगी। उसने पतिकी बुराइयोंकी तथा उसके दुर्व्यवहारोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। एक कुष्ठरोगपीड़ित कामी पतिकी भी सेवा करना उसने भगवान्‌की पूजा समझा। उसने आदर्श नारी-धर्मका पालन किया। निरन्तर सेवा-शुश्रूषा और औषध-सेवनसे पति थोड़े ही दिनोंमें भला-चंगा हो गया।

अब उसे अपने पूर्वके कर्मोंपर घोर पश्चात्ताप हुआ। वह पत्नीसे क्षमा माँगने लगा। पत्नीने कहा—'आप मेरे भगवान् हैं। आपकी सेवा करना मेरा धर्म है। क्षमा तो उल्टे मुझे माँगनी चाहिये, जो मैं आपसे इतने दिन दूर रही।'

यह कहकर वह पतिके चरणोंमें गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी।

पतिने उसे अपने गलेमे लगाया और प्रतिज्ञा की कि भविष्यमें वह कोई अनैतिक कार्य नहीं करेगा। आज वे पति-पत्नी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

यह है भारतीय नारीके चरित्रका एक आदर्श।

—प्राध्यापक श्याममनोहर व्यास, एम्० एस०सी०

(२)

आप मेरी भी माँ हैं

सन् १९५२ में पुराने सौराष्ट्र राज्यमें जमीनके सुधारके

सम्बन्धमें कानून बना और उस कानूनके अनुसार गरासदारी और बारखली आदि जमीनें—जोतनेवाले किसानोंके अधिकारमें मानी जाने लगीं और उन्हें प्राप्त करनेके लिये फार्म भरकर सरकारमें दिये जाने लगे । ऐसे किसानोंमें एक ठाकरसी पटेल नामके आदमी थे । उनके पास ३० बीघा जमीन गरासदारी और ३० बीघा बारखली थी । यों कुल ६० बीघा जमीन वे जोतते थे । उन्होंने फार्म भरकर पेश कर दिया । बारखली जमीन एक विधवा ब्राह्मणीकी थी । उस ब्राह्मणीने पटेलके पास जाकर कहा कि 'यह जमीन मेरी और मेरे पुत्रकी आजीविकाका साधन है । तुम यदि मुझ ब्राह्मण और गरीब परिवारकी आजीविका लूट लोगे तो मैं दुखी हो जाऊँगी । आटा माँगकर मैं अपनी आजीविका नहीं चला सकती, अतएव दया करके मेरी जमीनका फार्म तुम वापस ले लो । भगवान् तुम्हारा भला करेगा ।' इस प्रकार बहुत-बहुत प्रार्थना करनेपर भी पटेलका हृदय पिघला नहीं और ब्राह्मणी हताश होकर घर लौट आयी ।

एक दिन उसी गाँवके एक प्रतिष्ठित और समझदार पटेलने ब्राह्मणीको सलाह दी कि 'तुम ठाकरसी पटेलके लड़के छगनके पास जाओ और उसके सामने अपनी कठिनाई रखो । आशा है कि वह कुछ करेगा । बहुत समझदार है और भला भी है ।' ब्राह्मणीने छगनके पास जाकर सारी बातें बतायीं और कहा कि इस जमीनको तुम्हारे पिता न लें, इसलिये तुम उन्हें समझाओ और ब्राह्मण-परिवारकी रक्षा करो ।

छगनने कहा—'मैं पिताजीको समझाऊँगा । वे मान लेंगे तो बहुत ठीक है; नहीं तो, मैं आपको किसी तरह भी ३० बीघा जमीन वापस दिलवा दूँगा—यह आप निश्चय समझें ।'

छगन भाईकी उत्साहवर्द्धक बात सुनकर ब्राह्मणीने समझा कि मेरा आधा काम तो हो ही गया । उसे बड़ा आनन्द हुआ । छगनने दूसरे दिन अपने पितासे बात की, पर वे नहीं माने । छगन निराश हो गया और सोचने लगा कि 'ब्राह्मणीको दिये हुए वचनके लिये अब क्या करना है ।'

बहुत सोच-विचारके बाद छगनके दिमागमें एक बात आयी कि 'मैं यदि पिताजीसे अलग हो जाऊँ तो मुझे जमीनका आधा हिस्सा मिल जाय और मेरे हिस्सेमें आयी हुई जमीन मैं उस ब्राह्मणीको दे दूँ और स्वयं कहीं मजदूरी करके अपना पेट पालन करूँ ।'

इस तरह निश्चय करके वह अलग हो गया और अपने हिस्सेकी जमीन उस ब्राह्मणीके नाम करके तुरंत उसके पास पहुँचा । जाकर कहा—'लीजिये, मैं आपकी जमीन वापस करने आया हूँ । अब आप अपनी जमीनकी, जैसा ठीक समझें, व्यवस्था करें ।'

इस बातको लगभग दस वर्ष बीत गये, तब एक दिन प्रातःकाल एक घोड़ागाड़ी छगन पटेलके दरवाजेपर आकर खड़ी हुई । उसमेंसे एक बाई नीचे उतरी और छगन पटेलसे कहने लगी—'छगन ! तुमने मुझे पहिचाना है ?'

'क्यों ? पहिचानता कैसे नहीं ?'

'तो मैं तुमसे मिलने आयी हूँ !'

'मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ ।'

'देखो, भाई छगन । जो जमीन तुमने मुझे वापस दी थी, उसकी पैदावारसे मैंने गिरीशको पढ़ाया और अब वह नौकरीमें लग गया है, अच्छा वेतन पाता है । यह सब तुम्हारी त्यागभावनापूर्ण वृत्तिका फल है । मैं जीवनभर तुम्हारे उपकारको कभी नहीं भूल सकती, तथापि मैं अपने मनकी शान्तिके लिये तुम्हारी दी हुई जमीन तुम्हें वापस दे रही हूँ और इसके साथ ही मेरे रहनेका मकान भी तुम्हें उपहाररूपमें दे रही हूँ ।'

इस प्रकार कहते-कहते ब्राह्मणीका हृदय विचित्र भावनाओंसे भर गया । इसके जवाबमें छगनने इतना ही कहा—'आप अकेले गिरीशकी ही माँ नहीं हैं, मेरी भी माँ हैं—और वह उसके चरणोंमें लुढ़क पड़ा ।' 'अखण्ड आनन्द'

—हरजीभाई गॉडाभाई दलवाडी

(३)

आज भी सत्ययुगके लोग हैं

खरगौनमें श्रीदयारामजी कुम्हार और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई अपने परिवार-सहित रहते हैं । एक दिन सौ० गंगाबाई रेवाबाई रघुवंशीके घर कचरा लाने गयी थीं । टोकरीमें कचरा भरकर घर लायीं और उसे एक जगह रख दिया । उस कचरेकी टोकरीको जब श्रीदयारामजीने जमीनपर उड़ेला तो उसमें उनको एक चमकदार वस्तु दिखायी दी । उन्होंने झट उठाकर देखा तो वह

सोनेकी कंठी थी। सोनेकी कंठी कचरेमें देखकर श्रीदयारामजीको बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने तुरंत गंगाबाईको बुलाकर पूछा कि 'आज कचरा किनके यहाँसे आया है ?' सौ० गंगाबाईने कहा कि 'आज तो मैं केवल रेवाबाई रघुवंशीके यहाँ ही गयी थी और वहींसे कचरा भरकर लायी हूँ।' तब श्रीदयारामजीने वह सोनेकी कंठी बतायी और कहा कि 'यह कंठी इसी कचरेकी टोकरीमेंसे निकली है।' कंठी देखकर गंगाबाईको भी आश्चर्य हुआ। तब श्रीदयारामजीने कहा कि 'तुम तुरंत जाओ और रेवाबाईको यह कंठी दे आओ, वह बेचारी ढूँढ़ती होगी और दुखी होगी।'

तब सौ० गंगाबाई उस सोनेकी कंठीको लेकर रेवाबाई रघुवंशीके यहाँ गयी और उनसे पूछा कि 'तुम्हारी कोई चीज गुम तो नहीं हो गयी है ?' तब रेवाबाईने कहा कि—'क्या कहूँ, बहिन ! बच्चोंने सोनेकी कंठी न मालूम कहाँ गिरा दी है, कुछ पता नहीं चलता। सारा घर ढूँढ़ लिया, पर कहीं मिली नहीं। हम सब परीशान हैं।' यह सुनकर सौ० गंगाबाईने हँसते हुए वह कंठी रेवाबाईके हाथोंमें सौंप दी और कहा कि 'दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। यह कंठी अभी मैं जो आपके घूरेपरसे गधोंके लिये कचरा भरकर ले गयी थी, उसी कचरेकी टोकरीमें घरके लोगोंको मिली है। उन्होंने मुझे तत्काल आपको दे आनेके लिये भेजा है। इसीसे मैं अभी देने आ गयी। अपनी कंठी सम्हालो और चिन्ता छोड़ दो।' यह सारी बातें सुनकर रेवाबाईको अपार हर्ष हुआ और उन्होंने कंठी लेकर रख दी।

बादमें रेवाबाईने अपने सारे परिवारको पास बुलाकर श्रीदयाराम तथा उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाईको भी बुलाया और परिवारवालोंसे कहा कि—'आजसे तुम इनको भी अपने परिवारका समझना। और जब भी अपने परिवारमें विवाह आदि कार्य हों, तब इनको भी बराबर आमन्त्रित करते रहना और आदरपूर्वक भोजन कराना।'

तबसे आजतक रेवाबाईके परिवारवाले सम्पन्न होनेपर भी इस गरीब कुम्हार-दम्पतिको बराबर आमन्त्रित करते हैं और उनका भोजनादिसे प्रेमके द्वारा आदर-सत्कार करते हैं। आज रेवाबाई नहीं हैं, उनका स्वर्गवास हो गया है। परंतु श्रीदयाराम और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई जीवित हैं और रेवाबाईके परिवारद्वारा होनेवाले स्वागत-सत्कारकी सराहना करते हैं। यदि श्रीदयाराम और उनकी धर्मपत्नी सौ० गंगाबाई सोनेकी कंठीसे मोह करते और नहीं लौटाते तो पापके भागी होते और जीवनभरके स्वागत-सत्कारका अवसर नहीं पाते। परंतु उक्त गरीब कुम्हार-दम्पतिने सोनेकी कंठीका मोह न कर अपनेको पापसे बचा लिया और एक आदर्श उदाहरण उपस्थित किया। वास्तवमें आज इस घोर कलियुगमें भी सत्ययुगके कुछ लोग विद्यमान हैं। मुझे उक्त दम्पतिका प्रत्येक बार खरगौन जानेपर चरण छूनेका सौभाग्य मिलता है, यह मेरा अहोभाग्य है। मैं दोनोंके चरण छूकर अपनेको कृतार्थ मानता हूँ।

—विष्णुराम सनावद्या 'सुमनाकर'

(४)

दयाकी एक झलक

यह बात सन् ६३ की है। पंचायत समिति कोटड़ामें जोगीवड़ नामक एक ग्राममें बाँसकटाईके कार्यपर एक सरकारी नौकर कार्य करता था। जोगीवड़में ही कोटड़ाके एक मुसलमान सज्जनकी दूकान है, जो अजीजभाई फौजदारके नामसे विख्यात हैं। एक दिन इस सरकारी नौकरने किसी लड़कीके साथ छेड़खानी की। उसपर अजीजभाई फौजदारने सरकारी नौकरको समझाया एवं कुछ शिक्षाप्रद बातें कहीं, परंतु उनका सारा समझाना बेकार हुआ। आखिरमें सरकारी नौकर एवं अजीजभाईके बीच बोलचाल हो गयी और उससे वहाँ एक लड़ाईका-सा रूप बन गया। अजीजभाईने उसके एक चाँटा मार दिया। उसपर सरकारी नौकरने एस्. डी. ओ. आफिस, कोटड़ामें मुकदमा चला दिया कि 'एक सरकारी व्यक्तिको पीटा गया।' इस मुकदमेकी कार्यवाही शुरू हुई। फैसलेमें बम्बु मार्ट सरकारी नौकरको ५१) रुपये जुर्माना एवं एक दिनकी सजा (जेल) मिली। फैसलेके समय अजीजभाई भी वहीं मौजूद थे। फैसला सुनकर वे इस सोचमें पड़ गये कि 'यह व्यक्ति पैसा कहाँसे लायेगा ? एवं सजा होनेपर इज्जत जायगी।' सरकारी नियमानुसार रुपया जमा कराना जरूरी था। उस समय अजीजभाईके दिलमें दयाकी एक लहर दौड़ी और उन्होंने अपनी जेबसे ५१) रुपये निकालकर कोर्टमें जुर्माना जमा करा दिया। और एक दिनकी सजाको भी पूरी कोशिश करके माफ

करवाया। जब यह बात उस सरकारी नौकरको मालूम हुई तो उसकी आँखोंसे कृतज्ञताके आँसू उमड़ पड़े। उसने अपनी गलती स्वीकार की और क्षमा माँगी।

इस प्रकारके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

—विजयसिंह राव, आमेट

(५)

उपकार

दूसरी एल्-एल्० बी० परीक्षाका पहला दिन था। छः-छः महीने रातों जगकर परिश्रम किया था। जवानीके कीमती छः महीने इसीमें लगाये थे। अब हुआ यह कि परीक्षाके लिये समयसे पहले नहीं आ सका। परीक्षाके दिन ही अहमदाबाद पहुँचा और स्टेशनसे सीधे ही लॉ कालेजकी तरफ दौड़ा। ला कॉलेज पहुँचा, उस समय १० बजकर ५० मिनट हो चुके थे। परीक्षा १० बजकर ३० मिनटपर शुरू होनेवाली थी। यों २० मिनट मुझे देर हो ही गयी, पर लॉ कालेज पहुँचनेपर पता लगा कि इस बार परीक्षा लॉ कालेजमें न होकर गुजरात कालेजमें होगी। मेरे तो मानो प्राण-से ही निकलने लगे। शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया। १० मिनटसे भी कम समय शेष था। न पहुँच सका तो यूनिवर्सिटीके कानूनके अनुसार पेपर नहीं मिलेगा।

मैं मुट्ठी बाँधकर गुजरात कालेजकी ओर दौड़ा। लगभग १०० कदम दौड़ा हूँगा कि एक युवक साइकिलसे आता हुआ सामने मिला। पता नहीं क्यों, मैंने उस युवकको तुरंत रोका और उससे कहा—'भाई! मेरी आज दूसरे वर्षकी एल्-एल्० बी०की परीक्षा है, देर हो गयी है, गुजरात कालेज जल्दी पहुँचना है। तुम अपनी साइकिल दे दोगे?'

मेरे आश्चर्यके बीच उसने तुरंत ही मुझे साइकिल दे दी। न जान, न पहचान। आजकलका अविश्वासका वातावरण, जहाँ प्रतिदिन धोखेबाजीके किस्से बनते हैं।

परंतु उसने तो साइकिल दे दी। केवल इतना ही कहा—'सुपरवाइजरको चाभी दे दीजियेगा।' मैं समयपर पहुँच गया और मुझे इस पेपरमें डिस्टिंक्शन मिला। इसमें मेरा परिश्रम तो था ही, पर उस युवकके उपकारका भी हिस्सा अवश्य था।

उसके बाद उस युवकसे मिलना नहीं हुआ, पर उसकी मीठी याद बार-बार आया करती है और मनमें आता है कि उसका ऋण कब चुका सकूँगा। 'अखण्ड आनन्द।'

—जयकान्त ज. राव

(६)

ईश्वरकी लीला अपरम्पार है!

जीवनमें कई बार ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, जिनके मर्मतक पहुँचनेमें बेचारी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। ऐसी ही एक घटनाने मेरी बुद्धिके सामने आजतक प्रश्नचिह्न उपस्थित कर रक्खा है।

ग्वालियरसे भाभीका पत्र आया कि—'यदि अवकाश हो तो कुछ दिनोंके लिये चले आओ। पिताजी बहुत याद करते हैं।' घर गये काफी अरसा हो चुका था और मुझे उन्हीं दिनों कार्यवश आगरा भी जाना था। लौटती डाकसे मैंने लिख दिया—'सोमवारको प्रातः पंजाबमेलसे चलकर दोपहर आगरा उतरूँगा और वहाँसे तीन बजेकी मद्रास-जनतासे चलकर आपके पास शामको पहुँच जाऊँगा।'

आगरेमें क्लेमकी कुछ जरूरी कार्यवाही पूरी करनी थी। काम अधिक नहीं था। कुछ कागजोंपर केवल दस्तखत भर करवाने थे। समयपर मैं वहाँ पहुँच गया। क्लेमके कार्यालयमें गया तो पता चला कि आफिसर साहब ही अभी तक तशरीफ नहीं लाये। बारह बज चुके थे। इंतजारके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं था। और भी कई आदमी मेरी तरह मन मसोसकर बैठे थे और सरकारी अधिकारियोंकी इस स्वेच्छाचारितापर आलोचनाएँ कर रहे थे। मैं भी उनमें शरीक हो गया। दो बजे कहीं जाकर पता चला कि अधिकारी महोदय तो दूसरे दरवाजेसे अंदर प्रवेश कर चुके हैं। कार्यवाही आरम्भ हुई। प्रायः चार बजे मेरी बारी आयी और साढ़े चार तक मैं मुक्त हो गया। गाड़ी निकल चुकी थी। दिलमें बड़ा कुढ़ा। पास ही बस स्टैण्ड था। पूछनेपर पता चला कि ग्वालियरके लिये बस तैयार है। उसीमें बैठ गया। रातको नौ बजे बस ग्वालियर पहुँची।

घर पहुँचा तो मौत-सी चुप्पी छाई देखकर मन शङ्कित हो उठा। कुछ समझ न सका। अंदर लपका तो माँ रोती हुई मेरी ओर दौड़ीं और मुझे गलेसे लिपटाकर मेरी कुशलताकी सौ-सौ दुआएँ ईश्वरसे माँगने लगीं। माजरा क्या है? मेरी समझमें कुछ भी न आया तो झिड़क

मैंने पूछा, 'माँ, रो क्यों रही हो ? कुशल तो है न ?' इतनेमें दौड़ी-दौड़ी भाभी भी आ गयीं । सारी गुत्थी उन्होंने सुलझा दी—'बड़े भाई साहब तुम्हें लेनेके लिये स्टेशन शामको गये थे तो उन्हें पता चला कि मद्रास-जनता आगरा और ग्वालियरके बीच किसी मालगाड़ीसे टकराकर दुर्घटना-ग्रस्त हो गयी है और भारी संख्यामें यात्री हताहत हुए हैं । घर इत्तला देकर भाई साहब शामसे गाड़ी लेकर उधर ही गये हैं । तुमने उसी गाड़ीसे आनेका लिखा था न ? फिर········?'

मैं अवाक् रह गया । मेरा मस्तक गाड़ीके चक्केकी तरह घूमने लगा । यदि क्लेम-आफिसर समयपर आ जाते तो मैं निश्चय ही अपने निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार मद्रास-जनतापर चढ़ता, और······ और········कालके मुँहमें जा गिरता ।

ईश्वरकी भी कैसी विचित्र लीला है ?

—कौटिल्य उदियानी

(७)

माताके अमोघ शुभाशीर्वादका फल

मेरे पूज्य पिता, स्वर्गीय पं० प्रयागदीनजी शुक्ल फैजाबाद कमिश्नरीके तत्कालीन मुंसरिम थे । सन् १९०२ या १९०३ की बात है । उन दिनों मेरी अवस्था पाँच वर्षकी थी और मैं अबोध बालक था । हमलोग महाजनी टोलेमें एक किरायेके घरमें रहते थे, जो दोमंजिला था । दैवयोगसे एक दिन मैं न जाने कैसे ऊपरकी छतरसे गिर पड़ा । सिरमें ऐसी चोट आयी कि मैं बेहोश हो गया और मेरे मुँह, नाक एवं कानसे रुधिर बह चला । उन दिनों वहाँ एक मुसल्मान डाक्टर मेरे पिताजीके मित्र रहते थे । डाक्टर साहब तत्काल आ गये और मेरी मरहम-पट्टी हुई और उनकी चिकित्सासे मैं एक सप्ताहमें लगभग ठीक हो पाया; किंतु डाक्टर साहबने मेरे पिताजीसे कहा था कि 'इस बच्चेके दिमागमें ऐसी चोट लगी थी कि इसके बचनेकी आशा नहीं थी और अब अगर आप इसकी जिंदगी चाहते हैं, तो इससे कोई भी दिमागी काम मत लीजियेगा ।'

मेरी माता कोमलाधीश सरकार राघवेन्द्रकी परम उपासिका और रामचरितमानससे इतना प्रेम रखती थीं कि गृहस्थीके साधारण संकटोंमें भी हमेशा अखण्ड पाठका अनुष्ठान आरम्भ कर अकेले ही या मेरी बड़ी बहिनकी सहायतासे २४ घंटोंके भीतर ही पाठ समाप्त करके हवन इत्यादि कर डालती थीं, तब उठती थीं । मुझे स्मरण है कि दूसरे दिन जब मैंने आँखें खोलीं, तब वे 'आरति श्रीरामायनजी की' गा-गाकर अपनी रामायणजीकी आरती उतार रही थीं और पिताजी हाथोंमें पुष्प लिये खड़े-खड़े सामने युगल सरकारके सिंहासनको एकटक देख रहे थे । आरती हो गयी, पुष्पवर्षा भी हो गयी, प्रसाद बँटा और माताने सस्नेह मेरे मस्तकपर अपने पाणिपङ्कज फेरते हुए यह कहा था कि—

'अजर अमर गुननिधि सुत होहू ।
करहिं सदा रघुनायक छोहू ॥'

सजल नयन गद्गद स्वरसे पिताजीने भी मेरा हाथ पकड़कर उनके श्रीचरणोंसे छुला दिया और यह कहा कि 'बेटे ! अब तुम बिलकुल अच्छे हो गये ।'

इसके पश्चात् मेरी पढ़ाई-लिखाई उक्त डाक्टरकी सलाहके कारण मन्दगतिसे ही चलती रही और मेरा पालन-पोषण भी लाड़-दुलारसे कुछ इस प्रकारका हुआ कि मैं हाई स्कूल भी न पास कर पाया । इसके बाद सन् १९२६ में पिताजी, जिन्होंने अब डिप्टी कलेक्टरीसे अवसर प्राप्त किया था, गाँवमें रहने लगे । उधर माताका स्वास्थ्य कुछ ऐसा बिगड़ा कि वे अगस्त १९२७ की २४ तारीखको ब्राह्ममुहूर्तमें गोलोकवासिनी हो गयीं । पिताजीको उनके निधनसे ऐसी चोट पहुँची कि वे बहुधा मौन रहने लगे और अपना समय अधिकतर धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने और पूजा-पाठमें बिताने लगे । मुझे इसी बीच एक अंग्रेजोंके बड़े फर्ममें, जो सी० एल० सी० के नामसे प्रसिद्ध था और जिसका हेडक्वार्टर मद्रासमें था—नौकरी आगरेमें मिल गयी । मैं वहाँ मोहल्ला नामनेरमें डाक्टर कालीचरण दुबेकी कोठीमें रहकर काम किया करता था और हजारों रुपयेका माल वहाँ गोदाममें रक्खा रहता था । १२ सितम्बर १९२० की रातको मुझे इसी घरमें डाकुओंने घुसकर गोरखोंवाली भुजालीसे ऐसा घायल किया कि मेरा दाहिना हाथ तो बिलकुल बेकार हो गया—कुहनी और कलाईकी हड्डियाँ बाहर निकल पड़ीं । बायें हाथमें भी गहरा घाव लगा और हड्डी कट गयी । गाल तथा ठुड्डीपर भी चोटें लगीं और एक घाव बायें तरफ छातीमें ऐसा लगा कि लगभग फेफड़ोंतक पाँच इंच

लंबा घुस गया—डाकू कुछ ले न जा पाये और भागे, परंतु मुझे मरा हुआ ही समझकर वे वहाँ छोड़ गये थे।

मुझे अस्पतालमें छः महीने लगे। मौतसे लड़ाई भी होती रही। डाक्टर लोग हाथोंको काट डालनेके लिये तैयार थे; परंतु मैंने उस दशामें भी उन्हें हाथ काटनेसे यह कहकर रोक दिया कि मेरी हाथों बिना जिंदगी किस कामकी होगी—मैं अमर तो हूँ नहीं, इसलिये मुझे आप मर जाने दें। मैं हाथ न कटवाऊँगा। रुग्णावस्थामें चारपाईपर पड़े-पड़े मैं अपनी माताका स्वप्न देखा करता और उनके आशीर्वादके सहारे यही सोचता रहता कि मैं मर नहीं सकता। धीरे-धीरे वास्तवमें मैं स्वस्थ हो ही गया और अब मेरे दोनों हाथ ठीक हैं। केवल दाहिना हाथ कुछ खराब है—क्योंकि मैं उससे खा-पी तो नहीं सकता; परंतु लिखता उसीसे हूँ। बायाँ हाथ बिलकुल ठीक है, जिसके सहारे खाता-पीता हूँ, मोटर सायकिल, मोटरकार, सायकिल इत्यादि सब चला लेता हूँ और कुएँसे पानी भी भर लेता हूँ और आज ६७ वर्षकी अवस्थामें भी एक युवककी तरह मीलों चल-फिर लेता हूँ। लोग कहने लगते कि तुम तो युवावस्थावालोंको भी मात करते हो—इस जर्जरावस्थामें भी मुझे यह सुलभ है और अजरका अर्थ भी यही तो होता है। और डाकुओंके घातक प्रहारसे बचना ही तो अमरता थी। फिर मैं वैसे कोई परीक्षा पास नहीं हूँ—परंतु लिखने-पढ़नेमें, बोलचालमें, हिंदी और अंग्रेजी आदि इतनी अच्छी जान गया हूँ कि मुझसे यह कोई भ्रमसे भी नहीं कह सकता कि मैं किसी युनिवर्सिटीका ग्रेजुएट नहीं हूँ। यही 'गुण-निधि' के लक्षण भी हैं। तो 'अजर', 'अमर', 'गुणनिधि' के ये सब लक्षण केवल माताके आशीर्वादके ही फल हैं। जो कोई चाहे आकर साक्षात् इसकी सत्यताकी परीक्षा कर ले। मैं निरभिमान उसे विश्वास दिलाता हूँ कि वह इस चमत्कारको देखकर चकित हो जायगा। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि माताके उस आशीर्वादने ही मेरी रक्षा करके मुझे अजर, अमर और गुणोंसे युक्त इतना सम्पन्न अबतक बनाये रक्खा है। धन्य हैं युगल सरकार, जिन्होंने माताकी लाज रखकर मुझे ६७ वर्षका ऐसा और इस योग्य किया कि मुझे लोग देखें-सुनें और समझें तथा भगवान्‌में आस्था रखकर संसार-सागरको पार करें। —रामकृपाल शु

◆

प्रार्थना

हमारे जीवन लाड़िलि-लाल।
रासबिहारिनि, रासबिहारी लतिका-हेम, तमाल॥
महाभाव-रसमयी राधिका, स्याम रसिक रसराज।
अनुपम अतुल रूप-गुन-माधुरि अँग-अँग रही बिराज॥
दोउ दोउन हित चातक-घन प्रिय, दोउ मधुकर-जलजात।
प्रेमी प्रेमास्पद दोउ, परसत दोउ दोउन बर गात॥
मेरे परम सेव्य सुचि सरबस दोउ श्रीस्यामा-स्याम।
सेवत रहूँ सदा दोउनके चरन-कमल अभिराम॥

श्रीहरिः

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा लिखित जीवनको सरलतासे उन्नतम आध्यात्मिक आदर्शोंकी ओर अग्रसर करनेवाली सरल, सुन्दर, शिक्षाप्रद सचित्र और सस्ती पुस्तकें

	मूल्य रु. न. पै.
श्रीमद्भगवद्गीता–तत्त्व-विवेचनी नामक हिंदी-टीका, पृष्ठ ६८४ ···	४.००
आत्मोद्धारके साधन–पृष्ठ-संख्या ४६४, रंगीन चित्र ४ ···	१.२५
भक्तियोगका तत्त्व–पृष्ठ-संख्या ४५६, रंगीन चित्र ४ ···	१.२५
कर्मयोगका तत्त्व–पृष्ठ-संख्या ४२०, दो तिरंगे, तीन सादे चित्र ···	१.१२
महत्त्वपूर्ण शिक्षा–पृष्ठ-संख्या ४७६, रंगीन चित्र ४ ···	१.००
परम साधन–पृष्ठ-संख्या ३७२, तिरंगे चित्र ५,	१.००
मनुष्य-जीवनकी सफलता–पृष्ठ-संख्या ३५२, तिरंगे चित्र ५···	१.००
परमशान्तिका मार्ग–पृष्ठ-संख्या ४१६, चित्र रंगीन ४, सादे २ ···	१.००
मनुष्यका परम कर्तव्य–पृष्ठ-संख्या ४१०, चित्र रंगीन ४···	१.००
ज्ञानयोगका तत्त्व–पृष्ठ-संख्या ३८४, चित्र रंगीन ३ ···	१.००
प्रेमयोगका तत्त्व–पृष्ठ-संख्या ३८०, चित्र रंगीन ५, सादा १ ···	१.००
तत्त्व-चिन्तामणि–भाग १ सचित्र, पृष्ठ ३५२	०.६२
,, – ,, २ सचित्र, पृष्ठ ५९२	०.८७
,, – ,, ३ सचित्र, पृष्ठ ४२४	०.७०
,, – ,, ४ सचित्र, पृष्ठ ५२८	०.८१
,, – ,, ५ सचित्र, पृष्ठ ४९६	०.८१
,, – ,, ६ सचित्र, पृष्ठ ४५६···	१.००
,, – ,, ७ सचित्र, पृष्ठ ५२०···	१.१२

	मूल्य रु. न. पै.
तत्त्व-चिन्तामणिका गुटका संस्करण–	
भाग –१ सचित्र पृष्ठ ४४८, सजिल्द	०.५०
,, –२ सचित्र, पृष्ठ ७५२, सजिल्द	०.५६
,, –३ सचित्र, पृष्ठ ५६०, सजिल्द	०.५०
,, –४ सचित्र, पृष्ठ ६८४, सजिल्द	०.६२
,, –५ सचित्र, पृष्ठ ६२१, सजिल्द	०.५६
परमार्थ-पत्रावली–भाग १ पृष्ठ ११२, सचित्र	०.२५
,, –भाग २ पृष्ठ १७२, सचित्र	०.२५
,, –भाग ३ पृष्ठ २००, सचित्र	०.५०
,, –भाग ४ पृष्ठ २१४, सचित्र	०.५०
अध्यात्मविषयक पत्र–पृष्ठ १६४, सचित्र···	०.५०
शिक्षाप्रद पत्र–पृष्ठ २४२, सचित्र ···	०.५०
रामायणके कुछ आदर्श पात्र–सचित्र, पृष्ठ १६८	०.३७
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा–पृष्ठ १७६ ···	०.३७
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र–स०, पृष्ठ १२८	०.२५
आदर्श भ्रातृ-प्रेम–पृष्ठ १०४ ···	०.२५
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ–पृष्ठ १२८ ···	०.२५
आदर्श नारी सुशीला–पृष्ठ ५६ ···	०.२०
ध्यान और मानसिक पूजा–पृष्ठ ३२ ···	०.२०
गीता-निबन्धावली–पृष्ठ ८० ···	०.१६
श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति–पृष्ठ ४८, सचित्र	०.१२
नवधा भक्ति–पृष्ठ ६४, सचित्र ···	०.१२
बाल-शिक्षा–पृष्ठ ६४, सचित्र ···	०.१२
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–पृष्ठ ३६···	०.१०
नारी-धर्म–पृष्ठ ४८ ··· ···	०.१०
गीता पढ़नेके लाभ ··· ···	०.१०
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा ···	०.०८
श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश ···	०.०६
सच्चा सुख और उसके प्राप्तिके उपाय	०.०६
सामयिक चेतावनी ···	०.०६

17 MAY 1965
826

	मूल्य रु.न.पै.
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन ...	०.०६
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग-का रहस्य	०.०५
संत-महिमा	०.०५
वैराग्य	०.०५
भगवान् क्या हैं ?	०.०३
भगवान्की दया	०.०३
सत्सङ्गकी कुछ सार बातें ...	०.०३
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग	०.०३
सत्यकी शरणसे मुक्ति	०.०३
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय ...	०.०३
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग ...	०.०३
व्यापार-सुधारकी आवश्यकता ...	०.०३
परलोक और पुनर्जन्म	०.०३
ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन ...	०.०३

	मूल रु.न.
अवतारका सिद्धान्त	०.०
चतुःश्लोकी भागवत-सटीक ...	०.०
धर्म क्या है ?	०.०
तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें	०.०
महात्मा किसे कहते हैं ? ...	०.०
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है ...	०.०
प्रेमका सच्चा स्वरूप	०.०
हमारा कर्तव्य	०.०
ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है	०.०
त्यागसे भगवत्प्राप्ति	०.०
चेतावनी	०.०
कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ ...	०.०
शोकनाशके उपाय	०.०
श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव ...	०.०
ग़ज़ल गीता	०.०

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले उनके छपे मूल्यपर स्थानीय विक्रेताओंसे अथवा हमारी नि दूकानोंसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, इससे भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओं के लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार कि जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दिनाङ्क २१ व २२ नवंबर १९६५ को प रामायण-परीक्षाएँ दिनाङ्क ९ व १० जनवरी १९६६ रविवार, सोमवारको होनेवाली हैं। केन्द्र व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनाप दिनाङ्क ३० अगस्त १९६५ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिख नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभव
पो०—स्वर्गाश्रम (पौड़ी गढ़वाल) उत्तर प्रदेश

कल्याण

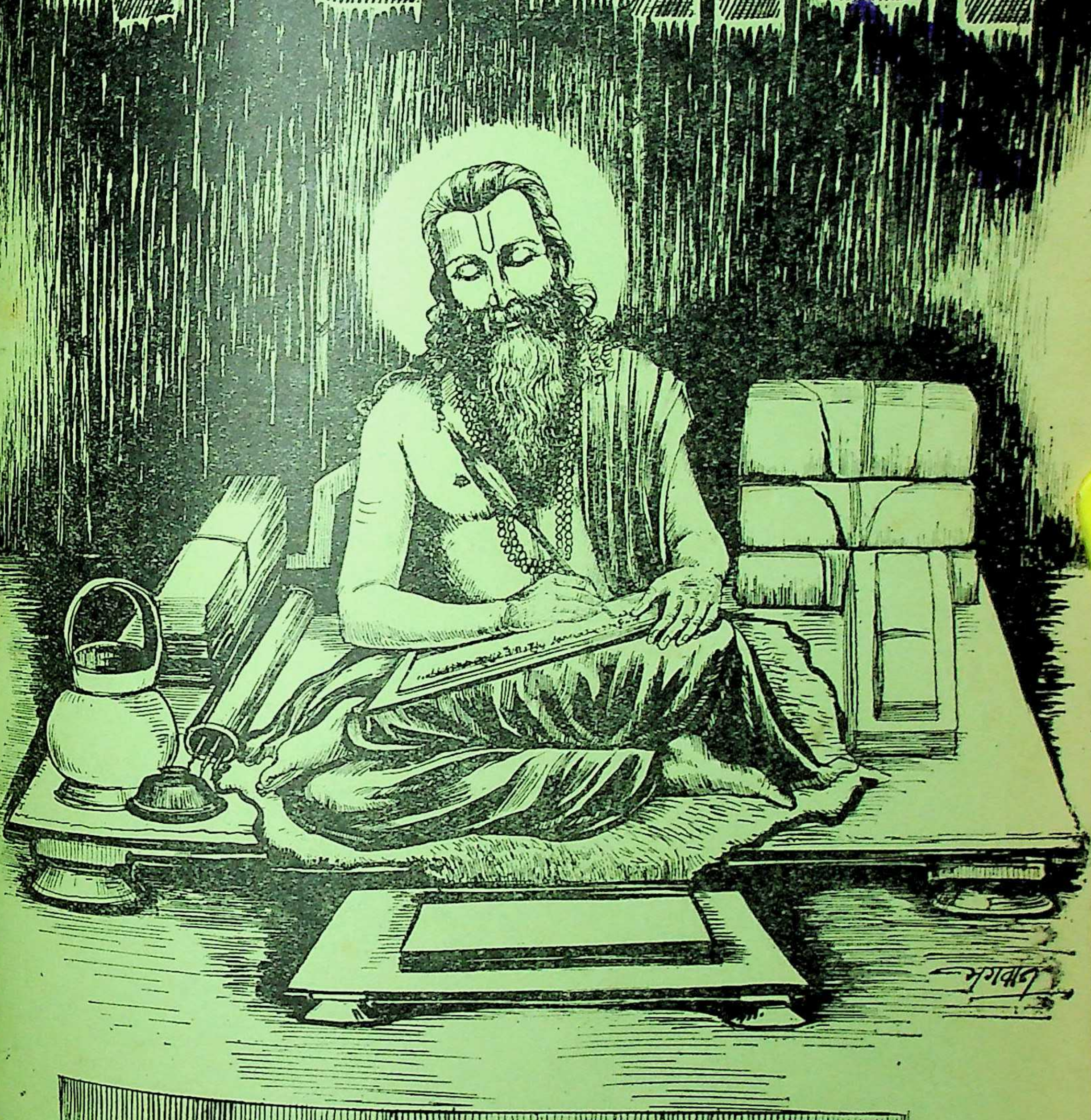

वर्ष ३९]

२०.६.६५

* * *

[अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़ २०२२, जून १९६५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–गोपियोंका विरह-विहार [कविता] ··· ९५७
२–कल्याण ('शिव') ··· ९५८
३–गीतामूर्ति श्रीजयदयालजी (डा० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना) ··· ९५९
४–सत्यं परं धीमहि (स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ९६३
५–मानव-जीवनका प्रयोजन–भगवत्प्राप्ति (राष्ट्र-संत श्रीतुकडोजी महाराज) ··· ९६५
६–रामायणमें श्रद्धा, प्रेम और आचरण आदिकी शिक्षा (ब्र० श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ९६६
७–भले शब्दोंकी प्रचण्ड शक्ति (डा० श्री-रामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण) ··· ९७१
८–बिना इठलाये, बिना दर्प दिखाये (श्री-बालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ९७३
९–मधुर ··· ··· ९७४
१०–अन्धेको सब कुछ दरसाई (श्रीगोविन्दजी शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ९७५
११–स्मरण [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ९७७
१२–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्री-जसवंतजी रघुवंशी) ··· ९८०
१३–ईर्ष्याका भूत (श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०) ··· ९८४
१४–गीत [कविता] (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ··· ९८६
१५–आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका वयो-विचार-विमर्श (श्रीचन्द्रकान्तजी बाली) ··· ९८७
१६–स्नायुमण्डलका तुलनात्मक अध्ययन (डा० श्रीशान्तिप्रकाशजी आत्रेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ९९२
१७–कलियुगमें कल्याणका उपाय (श्रीसत्यस्वरूपजी माथुर) ··· १००२
१८–भगवत्कृपापर दीनका अधिकार [कविता] १००४
१९–ऋण-शोध (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ··· १००५
२०–एक परिचित संन्यासी (श्रीराजेन्द्र-प्रसादजी जैन) ··· १०१०
२१–पढ़ो, समझो और करो ··· १०१३
२२–वेद-विभूति [कविता] (विद्यावाचस्पति डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०) ··· ··· १०१६
२३–परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके सम्बन्ध-में कुछ ··· १०१७
२४–कृतज्ञता-प्रकाश तथा क्षमा-प्रार्थना ··· १०२०

चित्र-सूची

१–महाभारतके रचयिता भगवान् वेदव्यास ··· (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–गोपियोंका विरह-विहार (तिरंगा) ··· ९५७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै
विदेशमें ५६ पै
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

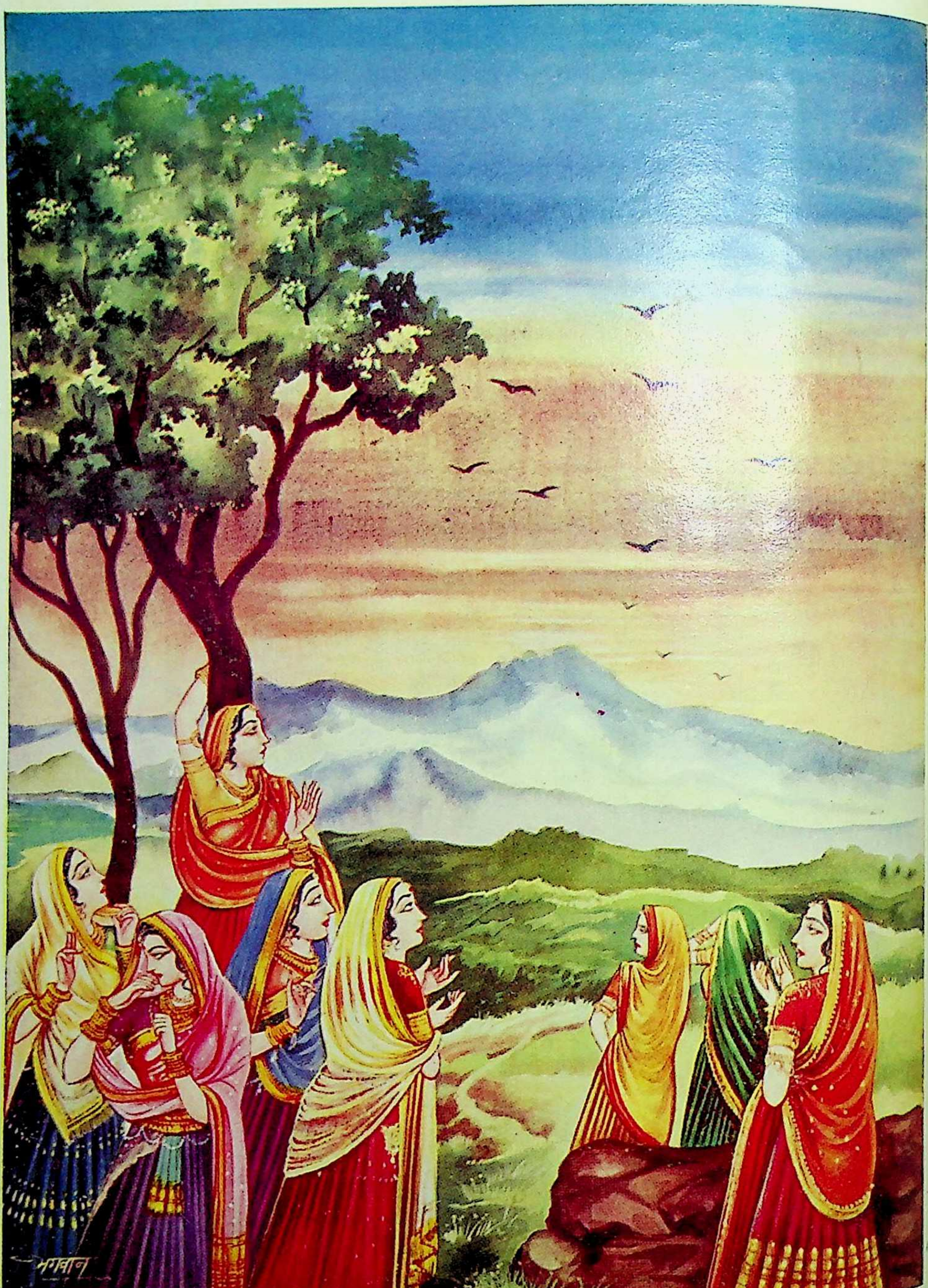

गोपियोंका विरह-विहार

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्थं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर आषाढ २०२२, जून १९६५ { संख्या ६
पूर्ण संख्या ४६३

गोपियोंका विरह-विहार

गये श्यामसुंदर जब मथुरा, छोड़ पवित्र प्रेम-रस-धाम ।
विरहातुरा गोप-रमणी सब पागल-सी हो गयीं तमाम ॥
एक देखती, कहीं प्रगट हो दर्शन दे दें, नभकी ओर ।
एक निराश हुई अति आकुल भई पूर्व-स्मृति मग्न-विभोर ॥
एक देख कुछ आशा-अंकुर भरती अति मनमें अनुराग ।
एक चकित-सी सोच रही, क्यों किया हमारा प्रियने त्याग ॥
सभी खिन्न, विच्छिन्न हृदय सब, भिन्न-भिन्न कर रहीं विचार ।
आठों पहर गोपियाँ करतीं श्याम-संग यों विरह-विहार ॥

१०-१—

कल्याण

याद रक्खो—भगवान् एक हैं । उन्हींमें सारी सृष्टि है । प्रत्येक प्राणीके वे सुहृद् हैं । वे चाहते हैं कि हम उनसे मिलें, उनकी प्रीति प्राप्त करें, पर हम ऐसे अभागे हैं कि हम उनके चाहनेपर भी उनसे मिलना नहीं चाहते ।

याद रक्खो—हमारे न चाहनेपर भी वे हमसे मिलना चाहते हैं और मिलना चाहते हैं एकान्तमें । वे कभी अपमानके रूपमें आते हैं, जिससे सम्मानकी सारी भीड़ हट जाती है । वे कभी निन्दाके रूपमें आते हैं, जिससे प्रशंसाका सारा कोलाहल शान्त हो जाता है । वे कभी दारिद्र्यके रूपमें आते हैं, जिससे आस-पास घेरा डाले रहनेवाले स्वार्थियोंके दल हट जाते हैं । वे कभी असफलताके रूपमें आते हैं, जिससे सफलताकी पूजा करनेवालोंका सारा समूह तितर-बितर हो जाता है और वे कभी भयानक पीड़ाके रूपमें आते हैं, जिससे उस पीड़ाके अतिरिक्त और कुछ भान ही नहीं रहता । इस प्रकार वे विभिन्न प्रतिकूल रूपोंमें आकर तुम्हें अकेला कर देते हैं और फिर अकेलेमें तुमसे मिलते हैं ।

याद रक्खो—वे किसी भी रूपमें आवें, जब दूसरेकी सत्ता नहीं रहने देते, तब उनसे स्वाभाविक ही एकान्त-मिलन होता है । उस एकान्त-मिलनमें यदि तुम उनको पहचान लेते हो तो तुम कृतकृत्य हो जाते हो । फिर तुम्हारे लिये कुछ भी करना-पाना शेष नहीं रह जाता । पर जबतक तुम उन्हें नहीं पहचान लेते, तबतक तुम्हारा भटकना और जलना नहीं मिट सकता ।

याद रक्खो—अनुकूलताकी भीड़में उन्हें पहचानना बड़ा कठिन होता है । उस समय चारों ओर ऐसा कोलाहल मचा रहता है कि तुम उसीमें अपनेको खो देते हो । वे परम सुहृद् भगवान् तुम्हें इस कोलाहलसे मुक्त करके अपने स्वरूपका पहचान करानेके निमित्त विभिन्न प्रतिकूलताओंके रूपमें आते हैं । प्रतिकूलतामें भीड़ तथा कोलाहल नहीं रहता । पहचान जल्दी होती है । ये सभी प्रतिकूलताएँ वस्तुतः उनके परम सौहार्दका ही परिचय है ।

याद रक्खो—जब पेटमें या सिरमें भयानक पीड़ा होती है तो उस समय उस पीड़ाके अतिरिक्त कुछ भी भान नहीं रहता । उस पीड़ाके रूपमें वे एकमात्र अकेले रह जाते हैं और अकेलेमें तुम उन्हें पहचानकर एकान्तमें मिल सकते हो । वहाँ कोई बाधा देनेवाला नहीं रहता । इस प्रकार प्रत्येक भयानक प्रतिकूलतामें तुम उन्हें पहचानकर सहज ही एकान्त-मिलनका सुख लूट सकते हो । प्रतिकूलतामें वे ही आते हैं और आते हैं तुम्हें एकान्त-मिलनका सुख देनेके लिये ।

याद रक्खो—प्रियतम भगवान्‌को पहचानते ही प्रतिकूलताका सारा दुःख मिट जायगा और यह प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी अनन्त कृपासे स्वयं प्रतिकूलताका रूप धारण किया है और इस प्रकार अपने एकान्त-मिलनका दिव्य अनुभव करा वे तुम्हें कृतकृत्य करनेको पधारे हैं । उनको पहचानो, स्वागत करो और उनसे मिलकर कृतार्थ हो जाओ ।

'शिव'

गीतामूर्ति श्रीजयदयालजी

(लेखक—डा० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना)

विगत वैशाख कृष्ण २, १७ अप्रैल शनिवारको अपराह्णमें उत्तराखण्डमें अपने प्रिय धर्मक्षेत्र कर्मक्षेत्र ऋषिकेश स्वर्गाश्रमके गीताभवनमें गीतामूर्ति श्रीमन्त सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने शरीर त्यागकर परम प्रयाण किया लगभग अस्सी वर्षका एक आदर्श कर्मयोगीका जीवन बिताकर । श्रीगोयन्दकाजीके निधनसे भारतीय संस्कृति और साधनाकी अखण्ड परम्पराका एक सुयोग्यतम लोकसंग्रही गृहस्थ संत चला गया, जिसके जीवनका एक-एक श्वास, शरीरका एक-एक रक्तकण भगवान् वासुदेवके गीतामृतसे सुवासित एवं आलोकित था । लोकमान्य तिलकके बाद गीताका इतना अनन्य निष्ठावान् भक्त शायद हुआ नहीं । गोयन्दकाजीका सम्पूर्ण जीवन गीताके प्रकाशसे प्रकाशित था, गीताके अमृतसे ओतप्रोत था । एक शब्दमें कहा जाय तो वे साक्षात् 'गीतामूर्ति' थे, गीताके सशरीर अवतार ही थे । गीतानुसारी जीवनका ऐसा उदाहरण भारतीय संस्कृति और साधनाके इतिहासमें विरल ही है ।

राजस्थानके बीकानेर राज्यके चूरू नगरमें सामान्य वैश्यकुलमें जन्म, बंगालके बाँकुड़ामें व्यापारक्षेत्र, परंतु गोरखपुरका गीताप्रेस, कलकत्तेका गोविन्दभवन, चूरूका ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, ऋषिकेश स्वर्गाश्रमका गीताभवन, वृन्दावन, नवद्वीप और चित्रकूटके भजनाश्रम जिसका कर्मक्षेत्र-धर्मक्षेत्र अखण्ड गङ्गाके प्रवाहकी तरह, सूर्यनारायणकी तरह जिसका कर्मयोगी जीवन, लोक-सेवामें, लोक-कल्याणमें जीवनका एक-एक क्षण—ऐसे थे श्रीमन्त सेठ श्रीजयदयालजी—

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।

बहुत बचपनमें ही गीता हाथ लगी, एक सूत्र मिल गया जिसके सहारे सारे शास्त्र-पुराणोंको अधिगत कर लिया । भारतीय संस्कृति और साधनाके व्यापक क्षेत्रमें जो कुछ भी, जितना कुछ भी सत्यं शिवं सुन्दरं है, उसे आत्मसात्कर जीवनमें चरितार्थ कर लिया । शास्त्र-चिन्तन चिन्तनमात्र ही नहीं रह गया, वह जीवनका अविभेद्य अङ्ग बन गया । गीता केवल कण्ठस्थ नहीं हृदयस्थ, जीवनस्थ । साँस-साँसमें वे गीता ही जिये, गीतामें ही जिये, गीताके लिये ही जिये । गीताका इतना महान् अनन्य अनुरागी अब कहाँ मिलेगा ?

और आश्चर्य होता है उनकी दैनिक चर्याको देखकर । प्रातःकाल ४ बजेसे रातके ११-१२ बजेतक अखण्ड भावसे कर्मरत । कहीं प्रमाद नहीं, आलस्य नहीं, तन्द्रा नहीं, विश्राम नहीं, आराम नहीं, शिथिलता नहीं, उदासीनता नहीं । ऐसा लगता यह व्यक्ति चिर जागरूक है, सतत सावधान है । जबसे होश सँभाला और यज्ञोपवीत संस्कारसे सम्पन्न हुए, नियमपूर्वक दोनों कालकी संध्योपासना ठीक समयसे—प्रातःकालकी सूर्यनारायणके उदयके पूर्व, संध्याकालकी सूर्यास्तके पूर्व । यात्राओंमें हों, सभाओंमें हों, विचार-विमर्शमें हों, बीमार हों, चाहे जहाँ भी हों, जैसे भी हों संध्योपासनाके समय वे सब कुछ छोड़कर एकदम सहसा संध्यामें लग जाते और क्या मजाल कि उनकी एक भी संध्या नागा हुई हो । गीताके समान ही संध्योपासनमें उनकी अनन्य निष्ठा थी । प्रातःकालीन संध्याके पश्चात् वे नियमपूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करते और योगासन करते । गीता और सहस्रनाम उन्हें खूब अच्छी तरह कण्ठस्थ थे; परंतु पाठकी विधि ही है कि ग्रन्थ देखकर पाठ किया जाय और वे विधिके बहुत अनुशासनको कड़ाईके साथ पालन करनेवाले थे । आँखोंसे कम दीखने लगा था । विधिवत् गीता और सहस्रनाम वे सुनते, नियमपूर्वक

सुनते । गायत्री और हरिनामके प्रति भी उनकी वैसी ही अनन्य निष्ठा थी ।

कई बातोंमें उन्होंने अपने लिये नियमोंका कवच बना लिया था—भोजनके सम्बन्धमें, वस्त्रके सम्बन्धमें । भोजनमें वे कुल तीन चीजें लेते थे । हल्का सात्त्विक भोजन । गोदुग्धपर उनका विशेष आग्रह था । वस्त्र भी शरीरपर बस एक धोती, एक चौबन्दी, एक चादर । कहीं जाना-आना होता तो सिरपर शर्बती रंगकी पगड़ी और पैरोंमें फलाहारी जूते । जबसे होश सँभाला चमड़ेके जूतोंका व्यवहार नहीं किया, विदेशी वस्त्र छुए नहीं, अंग्रेजी दवाइयाँ लीं नहीं । अंग्रेजी दवामात्रसे उन्हें घृणा-सी थी । गोली, सूई, मिक्श्चर किसी रूपमें भी वे ग्रहणको तैयार नहीं होते । यहाँतक कि कई अवसरोंपर प्राण जानेका खतरा उठा लिया; परंतु अंग्रेजी दवा लेनेसे साफ-साफ इन्कार कर दिया । इतना ही नहीं, स्वजनोंको भी अंग्रेजी दवाके विषसे सर्वथा मुक्त रक्खा । कितना विलक्षण था उनका सर्वतोमुखी आत्मसंयमका भाव—ऐसी तपश्चर्या जो सहज ही उनके जीवनका अङ्ग बन गयी थी ।

श्रीमन्त गोयन्दकाजी एक विशिष्ट मिशन लेकर आये थे और आपने अपना सम्पूर्ण जीवन, जीवनकी एक-एक साँसको उस मिशनकी पूर्तिमें होम कर दिया । गीता उनकी समस्त प्रवृत्तियोंके केन्द्रमें थी और स्वयं गीतानुसारी जीवन बिताया, हजारों व्यक्तियोंको उसी पावन पथपर प्रवृत्त किया, प्रवृत्त कराया । उनके जीवनका कम्पास सदा गीतोन्मुखी रहा । गीता उनके लिये भगवान्की केवल वाणी ही नहीं थी, भगवान्का दिव्य मङ्गलमय विग्रह थी, भगवान्का हृदय थी । भगवान्ने अपना गीतारूपी हृदय गोयन्दकाजीके हृदयमें ढाल दिया था और गोयन्दकाजीने उस अमृतप्रसादको पिछले साठ-पैंसठ वर्षोंतक दोनों हाथ लुटाया; साहित्य प्रकाशित कर लुटाया, प्रवचनोंद्वारा लुटाया, प्रोत्साहनोंद्वारा लुटाया । स्वयं अपना वैसा ही जीवन बनाकर लुटाया । गङ्गाके अजस्र प्रवाहकी तरह उनके गीता-प्रवचनोंका अजस्र प्रवाह चलता रहा । लगता था यह व्यक्ति केवल गीताके लिये ही इस पृथ्वीपर आया है ।

इस महदनुष्ठानमें उन्हें कई साथी मिले; परंतु तीन ऐसे मिले जो सर्वथा इस अनुष्ठानके अनुरूप ही थे । सबसे विरल साथी, सखा, मित्र, सचिव थे घनश्यामदासजी । आत्मसमर्पणकी प्रतिमूर्ति, '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**'का जीवन्त उदाहरण । समर्पणकी जो सुषमा घनश्यामजीमें देखनेको मिली, वह आजके हिसाबी-किताबी दुनियामें कहाँ मिलती है । वे अपना जवाब आप ही थे—एक, अद्वितीय, अनन्य । गोयन्दकाजीमें उन्होंने अपना '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**' सब कुछ, सब कुछ पा लिया । सोते-जागते '**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः ।**' सेठजीने उन्हें 'अपना' लिया । गोयन्दकाजीकी सारी कर्मशक्ति घनश्यामजीमें स्वतः स्फूर्त हुई अपनी पूरी सजगता और तेजस्विताके साथ । यहाँतक कि अखिल भारतीय तीर्थयात्रामें १०४-१०५ डिग्री ज्वर और खाँसी आदिके होते हुए, शरीर सर्वथा अस्वस्थ जीर्ण-शीर्ण होते हुए भी घनश्यामजीने सेठजीके अनुष्ठानको सविधि सम्पन्न किया ही । उन्होंने अपने तन-मन-धनको कभी भी अपना नहीं माना, सब कुछ '**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**' । समर्पणकी मनोहारी मूर्ति । गीताप्रेसके इतिहासमें ही क्यों, श्रीगोयन्दकाजीकी समस्त प्रवृत्तियों एवं अनुष्ठानों तथा संकल्पोंको रूपायित करनेमें श्रीघनश्यामदासजीका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखा मिलेगा, अमृताक्षरोंमें । आत्मनिवेदनका सौन्दर्य एवं आनन्द क्या है, कैसा होता है कोई घनश्यामजीसे जाने । और क्या आश्चर्य कि कुछ साल पहले यहीं

इसी ऋषिकेश स्वर्गाश्रमके गीताभवनमें घनश्यामजीने गङ्गातटपर गोयन्दकाजीकी गोदमें अपना शरीर छोड़ा । ऐ मरण ! तेरा कितना अनुपम पावन शृंगार उस दिन हुआ था । जिस मृत्युपर मानवकी कौन कहे देवता भी तरसते होंगे, ईर्ष्या करते होंगे ।

यह निःसंकोच स्वीकार करना चाहिये कि घनश्यामजीके बाद गीताप्रेस शनैः-शनैः श्रीहीन होने लगा । घनश्यामजी प्रेसके कर्मचारियोंके सच्चे शुभचिन्तक थे । उनके अभावमें वे अपनेको अनाथ मानने लगे । गोयन्दकाजी अनायास किसीको खोजना या पुकारना होता तो 'घणसाम'को पुकार बैठते । बादमें होश आता कि उनका घनश्याम तो 'घनश्याम'में सदाके लिये जा मिला है । घनश्यामजीके जानेके बाद सेठजीका जैसे परम अन्तरङ्ग अनन्य सखा-सचिव-सेवक चला गया । उस अभावकी पूर्ति कोई न कर सका, वह बना रहा, सालता रहा ।

हाँ, सेठजीकी कर्मशक्तिकी धारा घनश्यामजीमें जैसे उतरी थी, वैसे ही उनकी भावशक्तिकी धारा श्रीपोद्दारजी (पूज्य श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) में उतरी । उनसे भक्तिकी एक मधुर प्रखर धारा बह निकली । श्रीभाईजीने हरिनामका रस, लीलाका रस बरसाना शुरू किया और हजारों नहीं, लाखों-लाखों व्यक्तियोंको प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूपमें इस भावराज्यमें प्रवेश कराया । यह कहा जा सकता है कि श्रीभाईजीके कारण ही गीताप्रेसके साहित्यका इतना विकास हुआ और वह सभी क्षेत्रोंमें श्रद्धा और सम्मान पा सका, उसका इतना व्यापक प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव हो सका ।

आरम्भमें कहते हैं, श्रीपोद्दारजीने श्रीगोयन्दकाजीको ही सम्बोधित कर—

'जय दयाल जय दयाल, जय दयाल देवा'

—कविता लिखी थी । भगवान् महाविष्णुकी पूजा-अर्चाका संस्कार भी सम्भवतः श्रीमन्त सेठजीसे ही प्राप्त हुआ होगा; परंतु बादमें धीरे-धीरे श्रीपोद्दारजी श्रीराधाकृष्णके लीलारसमें उतरते गये, उतरते-उतरते उसीमें प्रायः खो गये—'कल्याण'में 'मधुर' एवं राधाष्टमी-उत्सव-समारोह इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

—स्वामी श्रीरामसुखदासजीको श्रीमन्त सेठजीका वैराग्य-तत्त्व मिला । कई बातोंमें, विचारमें, आचारमें, प्रचारमें, उच्चारमें, प्रवचनमें ! स्वामी रामसुखदासजी सेठजीकी 'कार्बन कापी' या 'प्रतिच्छवि' प्रतीत होते हैं—वैसे ही बैठना, वैसे ही 'नारायण, नारायण, नारायण'की नामधुन, गीताकी गहराईमें उतरनेकी वही दक्षता, उसकी बारीकियोंका वैसा ही सूक्ष्म विश्लेषण एवं उद्घाटन—लगता है सेठजीने अपना सारा ज्ञान घोलकर स्वामीजीको पिला दिया है, परंतु फिर भी सेठजी सेठजी थे, स्वामीजी स्वामीजी हैं ।

यों सेठजीको सारी गीता याद थी और उसके एक-एक श्लोक प्रिय थे; परंतु फिर भी कुछ श्लोक विशेष प्रिय प्रतीत होते थे—जिनमेंसे स्वयं श्रीमन्त सेठजीका अन्तर्जीवन झाँकता था—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

× × ×

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

× × ×

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

× × ×

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

× × ×

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

× × ×

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

× × ×

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

श्रीमन्त सेठजीके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं—तत्त्व-चिन्तामणि सात भाग, परमार्थ-पत्रावली, आत्मोद्धारके साधन, ज्ञानयोगका तत्त्व, प्रेमयोगका तत्त्व, भक्तियोगका तत्त्व, कर्मयोगका तत्त्व, महत्त्वपूर्ण शिक्षा, परमसाधन आदि-आदि । परंतु उनकी सबसे प्रिय कृति है 'गीतातत्त्व-विवेचनी' । एक बार ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम चूरूमें सेठजीने स्वयं भाषणमें स्वीकार किया था कि संस्कृतका पठन-पाठन तथा आयुर्वेद उन्हें विशेष प्रिय है । एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें पूछनेपर बताया कि व्यर्थके नौ-छःमें क्यों पड़ते हो—गङ्गा-स्नान करो, संध्या-गायत्री करो, गीताका स्वाध्याय करो और हरिनामका आश्रय लो । श्रीमन्त सेठजी हम सभीके अभिभावक थे । गार्जियन थे । एक बार ऋषिकेश जाते समय उनसे पटना स्टेशनपर मैं मिला । श्वास-कष्टका उभार था । उसे कुछ दबाये रखनेके लिये मुँहमें पान लिये हुए था । सेठजीने देखा और पूछ ही तो दिया—'क्यों, पान खानेकी आदत कबसे पड़ गयी ?' उनके प्रति हमलोगोंका 'सम्भ्रम'का श्रद्धा-आदरका भाव था । उनके सत्संगमें समाधिका आनन्द मिलता था । उनके अट्टहाससे ऋषिकेशका समस्त वातावरण गूँजता था । बड़ा ही मुक्त अट्टहास था उनका । गङ्गाके तटपर हिमालयकी गोदमें इस ऋषिकल्प गृहस्थ संतने सत्सङ्गका सदाव्रत चलाया—पिछले पचास वर्षोंसे प्रतिवर्ष नियमित रूपसे । गतवर्ष अतिशय अस्वस्थताके कारण नहीं जा पाये और इस वर्ष मात्र शरीर-त्यागके लिये ही इस उत्तराखण्डकी पावन भूमिमें गङ्गाके तटपर हिमालयकी गोदमें—अपने प्रिय गीता-भवनमें—सहस्र-सहस्र सत्सङ्गी भाइयोंसे घिरे हुए—पास ही श्रीभाईजी, श्रीस्वामीजी रामसुखदासजी, स्वामीजी श्रीचक्रधरजी, स्वामी भजनानन्दजी श्रीमोहनलालजी, ! गीताका ध्यान करते हुए, गीतागायकका ध्यान करते हुए, हरिनामके अमृत-वर्षामें भगवान्का प्रिय भक्त भगवान्की गोदमें सदाके लिये सो गया…………!!!

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़े ओढ़िके मैली कीन्ह चदरिया।
दास कबीर जतनसे ओढ़े ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया।

सचमुच श्रीजयदयालजीकी चादरपर कोई दाग नहीं पड़ा, उन्होंने साईंसे उसे जैसी पायी वैसी ही—ज्यों-की-त्यों—बेदाग, साईंके चरणोंमें धर दिया । सब 'श्रीकृष्णार्पण'का जीवन, श्रीकृष्णार्पणकी प्रयोगशाला, कोटि-कोटि हृदयोंकी श्रद्धाञ्जलि उन पावन चरणोंमें—श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक ।

जयदयालजी नहीं हैं; परंतु जयदयालजी चिर अमर हैं—जबतक ऋषिकेशकी गङ्गा इस देशको पावन करती रहेगी, जबतक गीताप्रेसका साहित्य इस देशको ज्ञानालोकित करता रहेगा, जबतक ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम एवं भजनाश्रमोंकी वेदध्वनि एवं हरिनामका उद्घोष गूँजता रहेगा—जबतक इस देशमें एक भी आस्तिक पुरुष बच रहेगा, जबतक राम और कृष्णका नाम इस देशमें रहेगा तबतक भक्तप्रवर, ज्ञानिशिरोमणि, कर्मयोगकी आदर्श मूर्ति श्रीगोयन्दकाजीका यशःशरीर अमर है, अमर है, अमर है । ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः ।

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'

सत्यं परं धीमहि

[अहिंसा परमो धर्मः]

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

जैसे तेल और सुगन्धि, दोनोंके मिलनेसे इत्र कहलाता है, उसी प्रकार प्राण और वासना दोनोंके मिश्रणको चित्त कहते हैं। चित्त और चेतन अर्थात् आत्मा दोनों पृथक् तत्त्व हैं। चित्त दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है। चित्त विकारवश है और आत्मा निर्विकार है। चित्त परतन्त्र है और आत्मा स्वतन्त्र है। चित्त आदि और अन्तवाला है, आत्मा अनादि और अनन्त है। चित्तको ही हर्ष, शोक, क्रोध, भय, मोह और ममता होती है, आत्मा इन सबसे परे है। अतएव चित्त और आत्मामें साम्य नहीं है।

चित्तमें वासना है, आत्मामें नहीं। आत्मामें इच्छाकी स्फूर्ति होनेपर चित्तरूप होकर आत्मा चित्त-द्वारा भोग भोगता है, इस कारण वह जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है। इसी कारण वह अनेक शरीर धारण करता है और छोड़ता है। सबका कारण भोगकी इच्छा है। भोगेच्छाका नाश हो तो वह मुक्त हो जाय।

चित्तका आधार आत्मा है और आत्मा स्वतन्त्र है। लोग समझते हैं कि मेहनत करनेसे धनकी प्राप्ति होती है। पर धन सकाम पुण्यका फल है और ज्ञान निष्काम पुण्यका फल है। जिसको ज्ञान-प्राप्ति करनी है, उसे धन प्राप्त नहीं होगा। उसे कामचलाऊ धन हो सकता है और यदि धन होगा भी तो वंश-परम्परागत प्राप्त धन होगा, जैसे राजा या धनवान्के घर जन्म अथवा थोड़े प्रयत्नसे अचिन्त्य धनकी प्राप्ति।

सकाम पुण्य भी तीन प्रकारके हैं। आन्तरिक उमंगसे, पर-प्रेरणासे और बहुत दबावमें पड़कर किये जानेवाले। क्रमशः इनसे धनप्राप्ति होती है। परसेवासे धनप्राप्ति होती है और बहुत आयाससे भी धनप्राप्ति होती है। ये मुख्य भेद हैं, पर अवान्तर बहुत भेद होते हैं। निष्काम पुण्यके भी इसी प्रकार तीन भेद हैं—योगी अथवा ज्ञानीके यहाँ जन्म, यह उग्र निष्काम पुण्यका फल है। निष्काम पुण्यवालेका 'योगक्षेम' ईश्वर वहन करते हैं।

यदि ज्ञान, शान्ति, मुक्ति अथवा जन्म-मरणसे छुटकारा चाहिये तो विशेष प्रवृत्ति छोड़कर **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**—इस भगवद्वाक्यको याद करो। भगवान्की शरणमें जाओ। यदि ज्ञानका मार्ग पकड़ते हो तो एक-एक बात सोचकर करो, विवेकका आदेश लिये बिना कुछ न करो। जिस कामको करनेका विवेकका आदेश न मिले, उसे न करो। भोगेच्छाका त्याग करो। यह जगत् निश्चित है, अनादि युगसे आजतक वह निश्चित रहा और आगे भी निश्चित रहेगा। कौन कब राज्य करेगा, कब मरेगा, कब जन्मेगा, कब प्रलय होगी, सब निश्चित है। यह समझकर 'मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ'—इस भावनाको त्याग दे और भगवान् जो देहसे कराते हों उसे करते जाओ। बिना आसक्तिके, बिना ममताके।

हमारे यहाँ एक जादूगर आया था। जादू और नाटक, इन दोनोंके द्वारा तत्त्वज्ञान समझा जा सकता है। उस जादूगरके जानेके बाद एक सज्जन कहने लगे कि कलकत्तेमें एक जादूगर आया था। उसने एक नया तमाशा दिखाया। वहाँके पुलिस-सुपरिंटेंडेंटको भी देखनेकी इच्छा हुई। वह अंग्रेज था। वह दो-

तीन आदमियोंके साथ जादूगरके पास गया । खेल एक पुराने मकानके खंडहरमें बगीचेके सामने शुरू हुआ । जादूगर और उसका लड़का, दो ही तमाशा दिखलानेवाले थे । तमाशा शुरू करते ही उसने जमीनमेंसे एक लम्बी रस्सी खींचकर निकाली और उसको सीधा खड़ा कर दिया । उस आठ-दस हाथ निकली लम्बी रस्सीके ऊपर दूसरा वह लड़का चढ़ गया । ऊपर जाकर उलटा सो गया । जादूगरने नीचे उस रस्सीमें आग लगा दी । रस्सीके साथ-साथ वह लड़का जलकर खाक हो गया । यह सारा काम पुलिस-कप्तानके सामने हुआ । उसने इसके तीन फोटो ले लिये । पश्चात् जादूगरने लड़केको ज्यों-का-त्यों बुलाकर सबके सामने उपस्थित कर दिया । तमाशा खतम हो गया । पुलिस-अफसर प्रसन्न होकर पैसा देकर चले गये । घरपर फोटो धुलवाकर देखा कि तीनों फोटोमें केवल वह मकान, वह जादूगर और उसके पास खड़ा वह लड़का—इन तीनोंके सिवा और कुछ नहीं है । रस्सीका पैदा होना, लड़केका उसपर चढ़ना और लड़के और रस्सीका जलकर भस्म हो जाना—इनका उनमें नामोनिशान भी न था ।

यह समझनेकी बात है । जिस प्रकार जादूगरकी कारीगरीसे यह सब होता हुआ दीखा, पर वस्तुतः कुछ भी नहीं हुआ था । केवल जादूगर और उसका लड़का दो ही थे । इसी प्रकार वास्तवमें परमात्मा ही है । जगत् और उसकी क्रियाशक्ति केवल माया है । फोटोमें केवल जादूगर और उसका लड़का आया । इसी प्रकार ज्ञानसे विचारनेपर, समाधिमें देखनेपर एक चेतन ही दीखता है । जगत् कदापि नहीं दीखता । हमारा शरीर और इसकी प्रत्येक प्रवृत्ति परमात्माके जादूमें हो रही है । माण्डूक्य उपनिषद्पर गौडपादाचार्यने कारिका लिखी है, उन कारिकाओंके कठिन होनेके कारण श्रीशंकराचार्यने उनका भाष्य किया है । उसमें गौडपादाचार्यने ऊपर लिखे अनुसार जादूके खेलका दृष्टान्त दिया है । बीसवीं सदीके मेस्मेरिज्मकी अन्ति शोधका वर्णन जिस जादूमें हुआ है, वह चार-पाँ सदीके गौडपादाचार्यके समयमें था ।

जगत् जीवात्माको फँसानेके लिये है । वह जबतक जीवित है, तबतक 'अब यह करूँ, अब वह करूँ'के चक्करमें पड़ा रहेगा । मुझे भी ऐसा ही हुआ, कुछ दि पहले मैं भी कहता था कि मैं देशसेवाका कार्य का हूँ । पर लोकसेवाके साथ-साथ अनेक मनोरथ उत्प हो गये । यह जगत् मिथ्या है, यह निश्चित है त मन जो-जो संकल्प करता है वह संकल्प ही ज और मृत्यु प्रदान करनेवाले हैं । सहज तौरपर प्रभु जो आदेश देते हैं, वही होता है । प्रभुका आदेश है नहीं—यह जानना सहज है । जिसमें देश, का साधन, शक्ति, संयोग सब अनुकूल हों, उसे ईश्व इच्छित समझना चाहिये और जिसका भार उ अपने मनके बलसे उठाना हो, वह अपना इच्छि समझना चाहिये । साइकिलपर बैठा आदमी दौड़ घोड़ागाड़ीको पकड़ता है तो साइकिल बिना पैर हिला अपने-आप चलती है । इसी प्रकार मनुष्य जगत्के प्रवाहमें अपने शरीरको लगा दे तो वह थकेगा नहीं।

अहंता और ममता ही थकानेका साधन है। अब कोई अपेक्षा नहीं है, कोई वासना नहीं है, क्षणभरमें छूट जाय तो भी कुछ कहना नहीं है और न कुछ करना है । सब निश्चित है । इस शरी जितना करनेका विधान है, उतना किये बिना मरनेवाला नहीं और जो करनेका विधान नहीं है लाख उपाय करनेपर भी वह होनेको नहीं है । अत 'यह किया, यह करता हूँ और यह करूँगा' वासना छोड़नेपर ही छुटकारा मिल सकता है । बातको समझनेपर ही सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है

* * *

मानव-जीवनका प्रयोजन—भगवत्प्राप्ति

(लेखक—राष्ट्रसंत श्रीतुकडोजी महाराज)

मानव-जीवनका प्रधान प्रयोजन भगवत्प्राप्ति ही है । अतः हमारे सभी कर्म इसी उद्देश्यसे होने चाहिये । बिना भगवत्प्राप्तिके मानव-जीवन अर्थशून्य हो जाता है ।

आजकल हम देख रहे हैं कि हमारे देश-जीवनमें धार्मिक मूल्य कम होते जा रहे हैं । मैं तो समझता हूँ कि इससे हमारा पतन ही होगा । कोई भी राष्ट्र धर्मसे ही जीवित रहता है । धर्म-विहीन राष्ट्रका ध्वंस हो जाता है । इसलिये हमें इस बातपर गम्भीरतासे सोचना होगा । जीवनके हर क्षेत्रमें आज जो शोचनीय विकृति उत्पन्न हो गयी है—उसका एकमेव कारण हमारी आध्यात्मिक वृत्तिका अभाव ही है । पञ्चवर्षीय योजनाओंसे हमारा वह उत्थान नहीं हो रहा है, जो महान् उत्थान आध्यात्मिक ज्ञानसे हो सकता है । मनुष्य अपने जीवनमें संयम, सेवा एवं त्याग आध्यात्मिक ज्ञानकी अनुभूतिसे ही सीख सकता है और यही संयम, सेवा एवं त्याग—देशकी उन्नतिका सच्चा पथ है ।

राष्ट्र-जीवनमें ये आदर्श गुण दिन-प्रति-दिन कम होते जा रहे हैं । हमारा समाज वस्तुतः आज सहयोगी-समाज नहीं रह गया है । सहयोग एवं सहकार्यका हम नारा अवश्य लगाते हैं; परंतु हमारा सहकार्य सहकार्यका आभासमात्र ही है । पैरोंका मिलना, मिलना नहीं होता । जबतक हम हृदयसे एक नहीं होते तबतक हमारा मिलन केवल ऊपरी मिलन होता है । हमारा सहकार्य होता है—समान स्वार्थसाधनाके लिये किया हुआ समझौता ! वह आन्तरिक वस्तु नहीं होती । आध्यात्मिक विकाससे हम 'आत्मवत् सर्वभूतानि' का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । फिर ऐसी अवस्थामें सहयोग-सहकार्य हमारा एक स्वभाव-सा बन जाता है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—यह हमारी वृत्ति बन जाती है । यही है जीवनमें आध्यात्मिक अनुभूतिका मापदण्ड ।

चारित्र्य एवं नैतिकताका जो अभाव दीख रहा है—उसका कारण भी यही है कि हमने अपने-आपको नहीं पहचाना । शिक्षाके क्षेत्रमें आजकल नैतिकताका अभाव खटकता है । देशके शिक्षण-मनीषी इस विषयमें चिन्तित हैं । राष्ट्रपति श्रीराधाकृष्णन्‌जीने इसका जो उपाय बतलाया है, वह समझनेकी चीज है । वे कहते हैं कि पाठशालाओंमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षाको अनिवार्य करना चाहिये । आपने धार्मिकतापर जो जोर दिया है—वह आपकी उत्तम सूझ है । परंतु आज केवल शिक्षा-क्षेत्रमें ही नहीं, जीवनके हर क्षेत्रमें आध्यात्मिक शिक्षाकी अनिवार्य आवश्यकता है । ऐसा करनेपर ही वर्तमान दूषित वायुमण्डल शुचितासम्पन्न हो सकेगा, दूसरा मार्ग नहीं है ।

अन्तमें मैं यही कहूँगा कि आध्यात्मिक साधनोंको अपनाकर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलनेमें ही सब कुछ निहित है । व्यक्ति-विकास, समाज-विकास, राष्ट्र-विकास, विश्व-विकास—आदि सब इसीमें आ जाते हैं ।

* * *

रामायणमें श्रद्धा, प्रेम और आचरण आदिकी शिक्षा*

(लेखक—ब्र० श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

रामायणसे हमलोगोंको श्रद्धा, प्रेम, आचरण आदिकी शिक्षा लेनी चाहिये। श्रद्धाकी पराकाष्ठा है कि 'श्रद्धेयकी आज्ञा और संकेतके अनुसार चलना।' जहाँ उसके अनुसार चलना नहीं बनता, वहाँ प्राणोंका रहना कठिन हो जाता है। और प्रेमकी पराकाष्ठा है प्रेमास्पदके वियोगका अत्यन्त असह्य होना। प्रेमास्पदके वियोगमें प्रेमीके प्राणोंका रहना कठिन हो जाता है—जैसे राजा दशरथका भगवान् राममें प्रेम था तो रामका वियोग होनेसे उनके प्राण चले गये। भगवान् रामकी दशरथजीमें श्रद्धा थी। यद्यपि पिताने अपने मुखसे तो वन जानेकी आज्ञा नहीं दी थी; किंतु कैकेयीको वरदान दे दिया था, तब उसीमें उनकी आज्ञा मानकर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नताके साथ राज्यका त्याग करके, सीताजी, माता कौसल्याजी और लक्ष्मणकी राय न होनेपर भी, वनमें चले गये और भरतजीके अनुरोध करनेपर भी वापस नहीं लौटे।

भगवान् राममें सीताजीका प्रेम भी बहुत सराहनीय है। भगवान् रामने वन जाते समय सीताको वनके भयंकर कष्टोंको बतलाकर सास-ससुरकी सेवाके लिये अयोध्यामें रहनेका अनुरोध किया; किंतु सीताने कहा—'प्रभो! ये सब वनके क्लेश आपके वियोगके सामने कुछ भी नहीं हैं, अतः आप मुझे साथ ले चलिये तथा यह भी कहा—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

(रा० च० मा० अयो० ६७)

भगवान् रामने समझ लिया कि इसको हठपूर्वक यहाँ रक्खा जायगा तो यह प्राणत्याग कर देगी, वनमें जानेका आग्रह नहीं छोड़ेगी, अतः वे उसे अपने साथ ले गये। यदि कहें कि 'जब रावण सीताको ले गया और वे लंकामें रहीं, तब उनके प्राण कैसे रहे?' तो उसका कारण यह है कि वे भगवान्का जप-ध्यान करती रही थीं, उनके प्राण मानो कारागारमें बंद हो गये थे। वह ध्यान ही उस कारागारका किंवाड़ था। नेत्र अपने चरणोंमें लगाये थीं, यही ताला था और भगवान्के नामका निरन्तर जप पहरेदार था। अतः उनके प्राण जानेका कोई रास्ता ही नहीं रहा। भगवान् श्रीरामके पूछनेपर कि सीता अपने प्राणोंकी रक्षा किस प्रकार करती है? हनुमान्जीने बताया—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

(रा० च० मा० सुन्दर० ३०)

इसपर यदि कोई कहे कि 'जब श्रीरामके द्वारा सीताका सदाके लिये त्याग हुआ, तब उनके प्राण कैसे रहे?' इसका उत्तर यह है कि उस समय भगवान् रामने लोकापवादके कारण लक्ष्मणको आदेश दिया था कि तुम वाल्मीकि-आश्रमके पास सीताको छोड़ आओ, अतः उसमें भगवान् रामकी आज्ञा थी और श्रद्धेयकी आज्ञाका पालन करना श्रद्धालुका परम धर्म है; इसलिये उन्होंने उसे भगवान्की आज्ञा मानकर ही प्राणोंको रक्खा था। सीताने लक्ष्मणसे उस समय कहा भी था कि मेरे उदरमें गर्भ है, नहीं तो, मैं अभी प्राणत्याग कर देती, वंशकी रक्षाके लिये ही मैं प्राणधारण करती हूँ।

इसी प्रकार शत्रुघ्नका भी भगवान् राममें बहुत उच्चकोटिका श्रद्धा और प्रेम था। वाल्मीकीय रामायणमें उत्तरकाण्डमें लिखा है कि लवणासुरको मारनेका प्रसंग

---

* परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीने अपने भौतिक देहका परित्याग कर दिया। यह लेख उनकी रुग्णावस्थामें पहलेका लिखाया हुआ है। 'कल्याण'के पाठकोंको यह जानकर आनन्द होगा कि अभी चार लेख और भी उनके लिखवाये हुए हैं, जो क्रमशः प्रकाशित होंगे।

आनेपर श्रीरामचंद्रजीने प्रस्ताव किया—'लवणासुरको कौन मारेगा ?' इसपर भरतजी बोले—'लवणासुरको मैं मारूँगा, उसे मारनेका काम मुझे सौंपा जाय।' तब शत्रुघ्नजीने कहा—'प्रभो ! मझले भैया तो अनेकों कार्य कर चुके हैं, नन्दिग्राममें तपस्याका कष्ट भी बहुत उठा चुके हैं, अतः अब इस सेवकके रहते इनको और कष्ट न दिया जाय।' भगवान्ने कहा—'बहुत अच्छा, शत्रुघ्न ! तुम जाओ और लवणासुरको मारकर वहाँका राज्य तुम्हीं करो, मैं जो कहता हूँ उसके विरोधमें कोई उत्तर न देना।' शत्रुघ्नजी बहुत लज्जित हुए और बोले—'नाथ ! बड़े भाइयोंके रहते छोटेका राज्यपर अभिषेक उचित तो नहीं, पर अब मुझे तो आपकी आज्ञाका पालन करना है, वास्तवमें भैया भरतजीके प्रतिज्ञा कर चुकनेपर मुझे कुछ बोलना ही नहीं चाहिये था, जैसा मैंने अपराध किया वैसा दण्ड पा लिया। मैं बीचमें न बोलता तो आप क्यों मुझे वहाँ जाकर राज्य करनेको कहते।' फिर वे दुःखित हृदयसे वहाँ गये और लवणासुरको मारकर वहाँका शासन करते रहे।

जब भगवान् राम परमधाम पधारने लगे, तब उन्होंने मित्रोंको, भाइयोंको सबको बुलाया। शत्रुघ्नजी यह सोचकर कि भगवान् राम मुझे कहीं यहीं रहनेकी आज्ञा न दे दें। भगवान्के पास आये और बोले—'आप सदाके लिये परमधाम पधार रहे हैं, अतः मैं भी आपके साथ चलूँगा, आप मुझे इसके विपरीत आज्ञा न दें, यह मैं आपसे धृष्टता करता हूँ; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन मेरेद्वारा हो।' शत्रुघ्नजी भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर सकते थे, अतः भगवान् उनको भी साथ ले गये।

पद्मपुराण पातालखण्डमें वर्णन आता है कि लोकापवादके कारण भगवान् रामने शत्रुघ्नको आज्ञा दी कि तुम सीताको ले जाकर वाल्मीकि-आश्रमके पास छोड़ आओ, यह सुनकर वे मूर्छित हो गिर गये। स्वामीकी आज्ञाका पालन नहीं होनेपर शत्रुघ्नजीकी ऐसी दशा हो जाती है। शत्रुघ्नजीका चरित्र अधिकांशमें भरतजीके साथ ही है; इसलिये जैसा भरतजीका श्रद्धा और प्रेमका भाव था, उसीके समान ही शत्रुघ्नजीका भी समझ लेना चाहिये।

लक्ष्मणजीका भी भगवान् राममें श्रद्धा और प्रेम अपार था। लक्ष्मणजी प्रारम्भसे अन्ततक भगवान् रामके साथ रहे। अपनी इच्छासे कभी अलग नहीं रहे। कहीं रहे तो उनकी आज्ञासे ही रहे, पर वह भी बहुत ही कम।

वन जानेके समय श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे कहा—'भाई भरत और शत्रुघ्न यहाँ नहीं हैं, पिताजी वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरा दुःख है, अतः तुम यहीं रहकर माता-पिताकी सेवा करो' यह सुनते ही लक्ष्मणजी प्रेमके कारण बहुत ही व्याकुल हो गये और भगवान्के चरण पकड़कर बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ७१। १, ३, ४,)

भगवान्ने सोचा कि 'यह मेरे वियोगमें प्राणोंका त्याग कर देगा।' इसलिये उन्होंने कहा—'माता सुमित्राकी आज्ञा ले आओ।' लक्ष्मणजीके द्वारा आज्ञा माँगनेपर सुमित्रा बोलीं—

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ७३। २, ७४। ३)

तब लक्ष्मणजी हर्षपूर्वक श्रीरामके साथ वनमें चले गये।

जब श्रीरामचन्द्रजी महाराजकी लक्ष्मणके प्रति यह आज्ञा हुई कि 'लोकापवादके कारण मैंने सीताका त्याग कर दिया है, अतः तुम वाल्मीकि-आश्रमके पास ले जाकर सीताको छोड़ आओ।' तब सीताको वनमें छोड़ आना उनके लिये बड़ा ही कठोर कार्य था; फिर भी उन्होंने श्रद्धाके कारण ही इस कठोर आज्ञाका पालन किया; क्योंकि श्रद्धालुके लिये श्रद्धेयकी आज्ञाका पालन न करना मरणके समान है।

वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डका प्रसंग है। साक्षात् काल तपस्वीके वेषमें भगवान् रामके पास आये और उन्होंने भगवान्से यह स्वीकार करा लिया कि हमारी बातचीत एकान्तमें हो और बातचीतके समय बीचमें कोई आ जाय तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाय। लक्ष्मणजीको पहरेपर बैठा दिया। उस समय दुर्वासा ऋषि आये और बोले—'मुझे श्रीरामसे अभी बात करनी है।' लक्ष्मणने कहा—'अभी ठहरिये।' दुर्वासाजी बोले—'लक्ष्मण! तुम इसी क्षण श्रीरामचन्द्रजीसे मेरे आनेकी सूचना दे दो, नहीं तो मैं सबको शाप दे दूँगा।' लक्ष्मणने सोचा—'सबका नाश नहीं होना चाहिये, मेरे प्राण भले ही चले जायँ।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने भीतर जाकर श्रीरामचन्द्रजीको सूचना दे दी कि 'दुर्वासाजी आये हैं और आपसे अभी मिलना चाहते हैं।' लक्ष्मणजीकी बात सुनकर भगवान् राम कालको विदा करके दुर्वासाजीसे मिले और उनका आतिथ्य-सत्कार किया। फिर कालके वचनोंका स्मरण आनेपर उन्होंने वसिष्ठजीसे राय ली कि 'न्यायसे तो लक्ष्मणको प्राणदण्ड देना चाहिये, पर मैं भाईको प्राणदण्ड कैसे दूँ?' वसिष्ठजीने कहा—'श्रेष्ठ पुरुषोंको त्याग देना ही उनके लिये प्राणदण्डके समान है।' तब श्रीरामजीके द्वारा लक्ष्मणजीका त्याग हो गया, पर लक्ष्मणजी प्रेमके कारण भगवान्के वियोगको सह नहीं सके, इसलिये सरयूके निकट जाकर उन्होंने प्राणत्याग कर दिये। कैसा अलौकिक प्रेम है।

इस प्रकार लक्ष्मणजीके बर्तावमें भी स्थान-स्थानपर श्रद्धा और प्रेमका भाव मिलता है।

भरतजीका तो भगवान् राममें बहुत उत्तम श्रद्धा और प्रेम था ही। वे तो श्रद्धा और प्रेमकी मूर्ति ही थे। जब उन्होंने सुना कि मेरे कारण ही भगवान् राम वन गये हैं, तब माता कैकेयीसे उन्होंने न कहने योग्य बातें कहीं और भगवान्को लौटा लानेके लिये वे चित्रकूट चले गये। भगवान् श्रीराम कोशिश करनेपर नहीं लौटे, बल्कि आज्ञा दी कि 'पिताजीने मुझको चौदह वर्षके लिये वन दिया है और तुमको राज्य दिया है। इसलिये तुम जाकर चौदह वर्ष राज्य करो।' भरतजीको भगवान्का वियोग असह्य था, किंतु श्रद्धाके कारण वे अयोध्या वापस आ गये। चित्रकूटसे लौटते समय उन्होंने भगवान्से कहा—'यदि चौदह वर्षकी अवधिके बाद तुरंत आप नहीं पहुँचेंगे तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।' वे आकर नन्दिग्राममें संयम-नियमपूर्वक रहने लगे और जब अवधिमें एक दिन शेष रह गया, तब भरतजी प्रेमके कारण इतने व्याकुल हो गये कि उनके प्राणोंका रहना कठिन हो गया। उनका इतना प्रेम था कि यदि समयपर भगवान् नहीं पहुँचते तो उनके प्राण रहते ही नहीं। वे कहते हैं—

बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥

(रा० च० मा० उत्तर० प्रारम्भकी चौपाई ४)

उनकी उस समयकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी लिखते हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात॥

(उत्तर० १ क, ख)

जब हनुमान्जीसे उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी और सीताजीसहित पधारे हैं

हैं तो उनकी प्रसन्नताकी कोई सीमा नहीं रही। जैसे कोई मछली जलके वियोगमें तड़फती हो और उसको जलमें डाल देनेसे उसके प्राण बच जाते हैं, वैसी ही दशा भरतजीकी हुई। भरतजीका कितना उच्चकोटिका प्रेम था कि भगवान्‌के वियोगमें एक क्षण भी उन्हें युगके समान प्रतीत होता था। यह है प्रेमकी पराकाष्ठा। कहाँतक लिखा जाय—भरतजीका तो सारा जीवन ही श्रद्धा और प्रेमसे ओतप्रोत था।

इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी आदि भक्तोंकी भी भगवान्‌में बड़ी ही श्रद्धा थी। हनुमान्‌जी सदा भगवान् रामकी आज्ञामें तत्पर रहते थे। वे प्रायः भगवान्‌के साथ ही रहे। कहीं कभी अन्यत्र गये, जैसे सीताकी खोजके लिये गये, लक्ष्मणजीके शक्तिबाण लगकर मूर्छित हो जानेपर जड़ी-बूटी लानेके लिये गये, भरतको अयोध्यामें भगवान् रामके पधारनेका संदेश देनेके लिये गये, तो वहाँ वे भगवान् रामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही गये थे। **हनुमान्‌जीने दासकी भाँति भगवान्‌के चरणोंमें रहकर उनकी आज्ञाओंका पालन किया था। उनकी महिमा क्या लिखी जाय, भगवान् स्वयं अपनेको उनका ऋणी मानते थे—**

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ३१।३-४)

भगवान् श्रीराम तो मर्यादापुरुषोत्तम थे। उनके सारे ही चरित्रोंमें त्याग, श्रद्धा, प्रेम, विनय, दयालुता, सुहृदता, उदारता, भक्तवत्सलता, प्रजावत्सलता, सदाचार, गुरुजनोंका सम्मान, धर्म, नीति आदि-आदि अनन्त गुण भरे हुए हैं।

भगवान् श्रीरामका माता कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राके साथ भी बड़ा ही उच्च कोटिका आदर-सम्मान और श्रद्धाभक्तिसे पूर्ण व्यवहार था। हमलोगोंको भी उनकी भाँति अपने माता-पिता आदिके साथ आदर और भक्तिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये। जब वनवासके बारेमें माता कैकेयीने बतलाया कि 'तुम्हारे पिताने मुझे दो वरदान देनेके लिये प्रतिज्ञा की थी और मैंने जो अच्छा लगा, सो माँग लिया; पर उनको तुम्हारा संकोच हो रहा है। एक ओर तो पुत्र-स्नेह है और दूसरी ओर प्रतिज्ञा। तुम चाहो तो उनकी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो।' इसपर भगवान् रामने कहा—'यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है और बहुत आनन्दकी बात है।'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ४०।४—४१)

इतना ही नहीं, श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे भी कहा कि तुम माता कैकेयीके साथ बुरा बर्ताव मत करना और जब लक्ष्मणजीने कैकेयीपर दोष लगाया तो उनसे भी कह दिया कि तुमको माता कैकेयीपर दोष नहीं लगाना चाहिये। **वन देनेवाली माता कैकेयीके प्रति भी उनका सदा श्रद्धा और पूज्यभाव ही रहा। यह बहुत ही उच्चकोटिका आदर्श है। भाइयोंके साथ भी भगवान्** रामका बहुत ही प्रेमका व्यवहार था। जब वे बाल-अवस्थामें भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय भाइयोंको प्रसन्न करनेके लिये स्वयं हारकर भाइयोंको जिता दिया करते थे। श्रीभरतजीने बतलाया है—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५९।४)

महाराज दशरथने भगवान् रामको राज्यतिलक करनेका विचार किया, उस समय भगवान् रामने उस बातको जानकर पश्चात्ताप करते हुए कहा—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥

बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ९ । ३-४)

इस प्रकार उनको अपने राज्याभिषेककी बात बहुत ही अनुचित प्रतीत हुई । यह भाइयोंके प्रति कैसा प्रेमका भाव है ।

मित्रोंके साथ भी आपका प्रेम अतुलनीय था । जब आप सीता-वियोगके संकटमें पड़े हुए थे, वैसी अवस्थामें भी सीताकी सुधि भुलाकर आपने मित्र सुग्रीवका कार्य पहले सम्पन्न किया । वहाँ आपने मित्रके धर्म बताते हुए कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६ । १, ३)

फिर मित्र सुग्रीवको आश्वासन भी देते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें । सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥
(रा० च० मा० किष्किन्धा० ६ । ५)

भगवान् श्रीरामकी भक्तवत्सलता भी अनुपम थी । जिस समय भक्त विभीषण उनकी शरणमें आया, उस समय सुग्रीव आदिने उनको कैद करनेकी राय दी; किंतु भगवान् रामने कहा—'कैसा भी कोई क्यों न हो, मेरी शरण आनेपर मैं उसका त्याग नहीं कर सकता। शरणागतका भय-निवारण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा है ।'

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी । मम पन सरनागत भयहारी ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ४२ । ४, ४३ । १)

अध्यात्मरामायणमें भी भगवान् श्रीरामने इसे अपना व्रत (प्रण) बतलाया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(युद्ध० ३ । १२)

"मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय माँगता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ ।"

इसी प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम प्रजाके प्रति भी बड़ा ही प्रेम रखते थे । वे राज्यका शासन इस प्रकार मर्यादासे करते थे कि राम-राज्यके समय प्रजाको बड़ी सुख-शान्ति थी । उनका राज्य-शासन भी अतुलनीय था । श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम राज बैठें त्रैलोका । हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं । पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी । सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा । सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
(रा० च० मा० उत्तर० १९ । ४; २०; २१ । १-२-३)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामका तो सारा ही चरित्र परम आदर्श और अनुकरणीय है । हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये । जब भगवान् रामका चरित्र पढ़ने-सुनने और कहनेसे ही मनुष्यका मन पवित्र हो जाता है, फिर उनका अनुकरण करनेसे परम लाभ हो, इसमें तो कहना ही क्या है ।

ऊपर तुलसीकृत, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायण तथा पद्मपुराणके कुछ रामचरित्रसम्बन्धी शिक्षाप्रद प्रसङ्गोंका दिग्दर्शन कराया गया है। उनका विस्तार पाठकोंको मूल ग्रन्थोंमें अर्थसहित देखना चाहिये एवं उनके भावोंको हृदयमें धारण करके उनके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

भले शब्दोंकी प्रचण्ड शक्ति

क्या आपने इसका कभी अनुभव किया है ?

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण)

भद्रं श्लोकं श्रूयासम् । (अथर्ववेद १६ । २ । ४)

अर्थात् मैं सदा भला शब्द ही सुना करूँ ।

एक बार असुरोंने इन्द्रपुरीको घेर लिया । उनके पास बड़ी सुसज्जित सेना थी । हर प्रकारके हथियारोंसे सज्जित हो उन्होंने युद्धके लिये इन्द्रको ललकारा ।

'हमारा युद्धमें सामना करो । हम अपने बाहुबलकी शक्तिसे तुम्हें परास्त करना चाहते हैं । यदि हमसे डरते हो तो हार स्वीकार करो । इन्द्रपुरी हमारे हवाले करो ।'

विशाल असुर-सेनाको देख महाप्रतापी इन्द्र एक बार तो काँप उठे । 'बहुसंख्यक शत्रुके सामने मुट्ठीभर देवतालोग क्या कर सकेंगे ? मेरी पराजय निश्चित-सी है । यों तो मेरी इन्द्रपुरी ही छिन जायगी । अब तो किसी बाह्य दैवी शक्तिसे सहायता लेनी चाहिये । अपनी सीमित शक्तियोंसे तो इन्द्रपुरीकी रक्षा होती नहीं दीखती ।'

उनके सामने प्रश्न था, 'असुर कैसे मारे जायँ ?'

भगवान्‌ने सलाह दी, 'केवल शब्दशक्तिके देवता ॐकी सहायतासे ही आप सबमें नव प्राण और नव उत्साहका संचार सम्भव है । वे ही मेरी शक्तिके स्रोत हैं । उनकी कृपासे मुर्दा दिलमें नयी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है । आप उन्हींके पास जाइये और उनसे शब्द-शक्ति ग्रहण कीजिये । भले शब्दोंमें भी प्रचण्ड शक्ति भरी हुई है । उसकी साधना कीजिये ।'

महाराज इन्द्रको कुछ धैर्य हुआ । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे ॐ (ओम्) देवके पास पहुँचे । मुँहपर अमित शान्ति और धैर्यकी साक्षात् मूर्ति ॐके दर्शनमात्रसे उनमें शक्तिका संचार हुआ ।

इन्द्रने ॐसे कहा, 'हे भगवान्‌के शक्तिस्वरूप ॐ ! आप शब्दशक्तिके देवता हैं । हम आपको अपना नेता बनाकर असुरोंकी सेनासे युद्ध करना चाहते हैं । आप ईश्वरकी शक्ति और सामर्थ्यके रूप हैं । आपके नामके उच्चारणमात्रसे हम देवताओंमें नयी शक्ति और नयी स्फूर्ति आयेगी । आपके नामके प्रत्येक स्वरमें प्रचण्ड शक्ति भरी हुई है । आपका नाम उच्चारण करते रहनेसे हममें निरन्तर साहसका प्रादुर्भाव होगा । इस संकटके समयमें हमारे नेत्र आपपर लगे हुए हैं । हे स्वरदेवता ! हमारी सहायता कीजिये ।'

'ओम्' (ॐ) सोचते रहे । देवताओंपर बड़ा संकट था । उन्हें वीरता, साहस, धैर्य, उत्साहवर्धक शब्दोंकी आवश्यकता थी । उनके शरीरमें हाथ, पाँव, नाक, मुँह सभी तो था । केवल आत्म-विश्वास और साहस कमजोर पड़ गया था । उत्साहवर्द्धक शब्दोंसे उनके वे ही शरीर फिर शक्तिशाली बन सकते थे । उनके लिये शब्दोंकी शक्तियोंकी योजना करनी होगी ।

देवताओंकी विनयपर उन्हें दया आ गयी । ओम् एक शर्तपर देवताओंको दिव्य सहायता देनेको तैयार हुए ।

सबने पूछा, 'हे देव ! कहिये आपकी शर्त क्या है ?'

'ओम' बोले, 'मेरी शर्त इस प्रकार है—

'न मामनीरयिन्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयुर्यदि वदेयुरब्रह्म तद् स्यादिति ॥'

(गोपथ ब्रा० २ । १ । २२)

अर्थात् 'मुझ 'ओम्'को पहले पढ़े बिना ब्राह्मण वेदोच्चारण न करें। मेरे नामका उच्चारण सबसे पहले किया जाया करे। यदि कोई ब्राह्मण मेरा नाम लिये बिना वेद-पाठ कर दे तो वह देवताओंद्वारा स्वीकार न किया जाय।'

'ओम्'के बिना असुर जीते नहीं जा सकते थे। अतः देवताओंने उनकी यह शर्त मान ली। उन्होंने देवताओंकी सेनाका संचालन किया।

पूरी सेनाके सामने वे खड़े थे। वे बोले, 'देवताओ! मेरा नाम उच्चारण करते-करते पूरे धैर्यके साथ आगे बढ़िये। आप सिंधुकी थाह नाप लेंगे। कायरता दूर होगी। शिथिल पगोंमें अटल विश्वासकी शक्ति आयेगी। आज आप अपनी शक्तिको पहचान लीजिये। आपमें दैवी शक्तियाँ सो रही हैं। मेरा नाम लेनेसे वे खुल जायँगी।'

देवताओंकी सेना आगे बढ़ी। घोर युद्ध हुआ। देवताओंकी सेना विश्वास भरे उच्च स्वरमें 'ॐ····ॐ····ॐ ॐ···· ओम्····ओम्'का उच्चारण कर रही थी। उस शब्दकी प्रचण्ड शक्तिसे पूरी सेनामें नयी शक्ति और जोश उमड़ रहा था। वे नये उत्साहसे दानवोंकी बड़ी सेनाको काट रहे थे। थकी हुई सेना जैसे ही 'ओम्' शब्दका उच्चारण करती, वैसे ही उसे नयी शक्ति फिर मिल जाती। उसकी शक्ति अक्षय हो गयी थी। इस शब्दका चमत्कार संजीवनी शक्तिके समान जीवन और प्राणदायी था।

युद्ध समाप्त हुआ। 'ओम्'की शब्दशक्तिके कारण देवता विजयी हुए थे। सब देवताओंने ॐका जयकार किया।

तबसे ॐ अमर हो गये। थके-हारे, जीवनमें निराश, उत्साहहीन व्यक्तियोंको जीवनमें नवजीवन, नयी प्रेरणा और नयी शक्ति देनेके लिये 'ओम्' शब्दका प्रयोग प्रचलित हुआ।

संकटमें, विपत्तिमें युग-युगसे जनताने 'ओम्' शब्दके उच्चारण तथा श्रवणसे आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। नये सिरेसे वे जीवनके मोर्चेपर आरूढ़ हुए हैं।

मैंने सदा परखा है। आप भी देखें तो पायेंगे, हर एक विपत्तिमें मनुष्यको शक्ति और नया साहस देनेवाला यह अद्भुत चमत्कारी 'ॐ' शब्द है।

'ॐ' ब्रह्मबीज है। त्रिविध ओंकाररूपी ब्रह्मका संक्षिप्त रूप है। इसकी ध्वनिमें ऐसा सूक्ष्म कम्पन उत्पन्न होता है कि चारों ओर शक्ति और साहसकी लहरें फैलती हैं। अतः दिनमें कई बार इसका प्रयोग करनेसे, बच्चोंके नामके रूपमें इसे रख लेनेसे दैवीशक्तिका प्रादुर्भाव होना प्रत्येक समझदार व्यक्ति समझ सकता है।

'ॐ' शब्दका विश्लेषण और महिमा

अ, उ, म् के संयोगसे यह महत्त्वपूर्ण शब्द बना हुआ है। 'ॐ' परमात्माका उत्तम नाम है। वेदादि शास्त्रोंमें परमात्माका मुख्य नाम 'ॐ' ही बताया गया है।

माण्डूक्योपनिषद्में लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिद२ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।

अर्थात् 'ओम्' वह अक्षर है जिसमें भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् ओंकारका एक छोटा-सा व्याख्यान है। सभी शक्तियाँ, ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ इसी ओंकारमें भरी हुई हैं।

छान्दोग्य उपनिषद्में 'ओम्'की चमत्कारी महिमाका वर्णन करते हुए लिखा गया है—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्। एषां भूतानां

पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्‌रसो वाच ऋग्‌रस ऋचः साम रसः साम्न उद्‌गीथो रसः । स एष रसानाᳪ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्‌गीथः ॥ (१ । १ । १—३)

अर्थात् 'ओम्' अक्षर उद्गीथ है । अतः उसकी उपासना करनी चाहिये । सब भूतोंका रससार पृथ्वी है । पृथ्वीका रस जल है । जलका सार ओषधियाँ हैं। ओषधियोंका सार मानवदेह है । मानवदेहका सार वाणी है । वाणीका सार ऋचा अर्थात् वेद है । ऋचाका सार सामवेदद्वारा भगवान्‌का यशोगान है । सामवेदका सार उद्गीथ है । यह जो उद्गीथ है, वह सब रसोंमेंसे रसतम, सारतम और सर्वोत्कृष्ट है ।

यह 'ओम्' सबका श्रेष्ठ आलम्बन है । इसी शक्तिपूर्ण शब्दका सहारा लेकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है ।

सच मानिये, 'ओम्' की शक्ति अपार है । इसके उच्चारणसे मनुष्यमें शुद्ध और सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं ।

विराट्, अग्नि, विश्व आदि परमात्माके नाम 'अ' अक्षरके अंदर सम्मिलित हैं । हिरण्यगर्भ, वायु, तेजस् आदि 'उ' के अन्तर्गत हैं ।

ईश्वर, आदित्य आदि परमात्माके नाम 'म' में आ जाते हैं ।

इस प्रकार 'ओम्' शब्दमें अनन्त दैवी शक्तियाँ भरी हुई हैं । 'ओम्'में बल है, बुद्धि है, जीवन है । 'ओम' में इन्द्रियोंका संयम है ।

भगवान् श्रीकृष्णने 'ओम्'की महिमाका वर्णन करते हुए गीताके आठवें अध्यायमें लिखा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् जो आदमी मन और इन्द्रियोंको वशमें कर 'ओम्' शब्दका जप करता है, वह ब्रह्मका स्मरण करता हुआ इस भौतिक देहको त्यागकर परम पदको प्राप्त होता है । इस पदको प्राप्त करनेके बाद जीवात्मा जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

बिना इठलाये, बिना दर्प दिखाये

(लेखक—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

रातमें
शूलोंकी सेजपर सुलाकर
प्रातः
फूलोंकी वाटिकामें जगाते हो,
जिससे
सुरभित रहूँ, सौरभ बखेरूँ,
बिना इठलाये; बिना दर्प दिखाये ।

मधुर

महामनोहर शरत्पूर्णिमाकी उज्ज्वल ज्योत्स्नामयी मधुर रात्रि है। सुन्दर यमुनातट है। प्रेमनिधि श्रीकृष्ण आज स्वयं ही प्रेमपाशमें बँधना चाहते हैं। वे यमुना-पुलिनपर पधारकर त्रिभुवनको विस्मरण करा देनेवाले सुमधुर मुरली-सङ्गीतके द्वारा व्रजदेवियोंका आवाहन करते हैं। व्रजदेवियाँ आती हैं। वे व्रजदेवियाँ कैसी हैं और वहाँ क्या होता है?

परम प्रेममयी श्रीराधा
गोपीजन सब कायव्यूह।
कृष्णप्रेम परिपूर्ण हृदय सब
दिव्य पूर्ण रस-भाव-समूह॥
क्षमा-क्रोध, सुख-दुःख, प्रशंसा-
निन्दा, मान-नीच अपमान।
जीवन-मृत्यु, विराग-राग, शुचि-
त्याग-भोग सब, ज्ञानाज्ञान॥
शान्ति-अशान्ति, विवेक-भ्रान्ति सब,
हास्य-रुदन, गायन-चित्कार।
सभी श्याम प्रियतमको लेकर
एकमात्र शुचि कर्म-विचार॥

श्रीराधाजी परमप्रेममयी हैं, श्रीगोपसुन्दरियाँ सब उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं। उन सबके हृदय श्रीकृष्ण-प्रेमसे और दिव्य रस तथा भाव-समूहोंसे परिपूर्ण हैं। उनके क्षमा और क्रोध, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, मान और नीच अपमान, जीवन और मृत्यु, वैराग्य और राग, पवित्र त्याग और सारे भोग, ज्ञान और अज्ञान, शान्ति और अशान्ति, विवेक और सारी भ्रान्तियाँ, हँसना और रोना, संगीत और चीत्कार—सभी पवित्र कर्म और विचार एकमात्र प्रियतमको लेकर होते हैं। (भगवान् श्यामसुन्दरसे सम्बन्ध होते ही समस्त कर्म और समस्त विचार शुद्ध-पवित्र हो जाते हैं और श्रीगोपाङ्गनाओंके सभी कर्म तथा विचार श्यामसुन्दरको लेकर—श्यामसुन्दरके सुखार्थ ही होते हैं। अतः वे परम पवित्र हैं।)

कृष्णप्रेम-रस-भावित-मति सब
कृष्णमिलन-हित आकुल प्राण।
रहतीं सदा समुत्सुक करने
रूप-सुधा-मधु-रसका पान॥
इह-परके विलास-सुख-भोगों-
का करके आत्यन्तिक त्याग।
कृष्णप्रेममत्ता थीं वे सब
मूर्तिमान प्रियतम-अनुराग॥
पाकर आज अगाध अखण्ड
स्वयं रसराज रसार्णवरूप।
महाभावरूपा व्रजसुन्दरि
सुख-सुषमासे हुईं अनूप॥
इसीलिये श्रीकृष्ण सच्चिदा-
नन्द पूर्ण पर-तम भगवान्।
भगवत्ता सब भूल रसिक
चूडामणि रस-शेखर रसवान्॥
प्रेमविवश स्वेच्छामय वे कर
सहज प्रेमबन्धन स्वीकार।
करने लगे गोपसुन्दरियों-
का रसमय आदर-सत्कार॥
त्यागपूर्ण रस मधुर देखकर
ललचा उठे स्वयं भगवान्।
करने लगे स्वयं रसलोलुप
बन वे रस-याञ्चा मतिमान्॥
नव-नीरद-नीलाभ श्यामघन
मानो दामिनि-दलमें आज।
घन दामिनि, दामिनि-घन अगणित
बीच-बीचमें रहे विराज॥
दिव्य मिलनका उनको करके
दुर्लभ दिव्यानन्द प्रदान।
करने लगे स्वयं उस दिव्य
रसामृतका शुचि सादर पान॥

वे सब गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण-प्रेम-रस-भावित-मति

और सभीके प्राण श्रीकृष्णके मिलनके लिये सदा व्याकुल रहते थे। इस लोक और परलोकके समस्त विलास, सुख तथा भोगोंका आत्यन्तिक त्याग करके वे सब कृष्णप्रेम-मतवाली गोपाङ्गनाएँ प्रियतम श्रीकृष्णके प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप थीं। आज वे महाभावरूपा व्रजसुन्दरियाँ उन स्वयं रसराज अगाध अखण्ड रस-समुद्र-रूपको प्राप्त कर अनुपम सुख-शोभासे सम्पन्न हो गयीं। इसीसे सच्चिदानन्द पूर्ण परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर रसिकचूडामणि, रसशिरोमणि रसवान् बनकर प्रेमवश स्वेच्छासे ही प्रेम-बन्धन स्वीकार करके उन गोपसुन्दरियोंका रसमय आदर-सत्कार करने लगे और उन गोपाङ्गनाओंके मधुर दिव्य रसको देखकर वे स्वयं भगवान् उसके लिये ललचा उठे एवं वे मतिमान् स्वयं रस-लोभी बनकर रसकी याचना करने लगे। वे भगवान् नव-नीरद-नीलाभ श्यामसुन्दर मानो आज मेघरूपसे गोपिकारूप अगणित बिजलियोंके दलमें एक-एक बिजलीके साथ एक-एक मेघके रूपमें बनकर विराजित हो गये। तदनन्तर उन गोपसुन्दरियोंको अपने दिव्य मिलनका दिव्यानन्द प्रदान करके स्वयं उस पवित्र दिव्य रस-सुधाका आदरके साथ आस्वादन-पान करने लगे।

अन्धेको सब कुछ दरसाई

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री साहित्यरत्न)

बहन कहती—हिमालय भारतके उत्तरमें है। भाई प्रतिवाद करता—नहीं हिमालय कोई दिशा नहीं है, उससे आगे जानेपर वही हिमालय दक्षिणमें आ जाता है। कोई स्थान कहींसे पूर्व है, कहींसे पश्चिम; कहींसे उत्तर तो कहींसे दक्षिण। यह धरती गोल है। इसका कोई ओर-छोर नहीं, कोई दिशा नहीं। बहनके जिज्ञासा उठती—तो फिर लोग दिशाओंको मानते क्यों हैं? 'मूर्ख हैं' छोटा-सा उत्तर देता भाई, जिसमें गर्वकी दुर्गन्ध आती। पर बहनके छोटे-से मनमें मूर्ख और विद्वान्के लिये कोई भेद नहीं था। भाई, उसका भाई था—दिग्विजयी, चौकन्ना, एक-दम समर्थ और बहन—लजीली, प्रज्ञाचक्षु मगर मनभावन। भाईके प्रतापके आगे अच्छे-अच्छे नहीं टिकें, सामर्थ्यके आगे लोग बरबस झुक जायँ। बहन प्रियदर्शिनी, बोलीमें सम्पूर्ण आत्मीयता घोलकर बोलनेवाली, जिसे देख हर व्यक्ति झुक जाय, स्वतः उसका वशंवद हो जाय।

एक आश्चर्य था—बहन जब चले तो गन्तव्य स्वयं सिमटकर उसके पास आ जाय और भाई जब जाय तो दिग्भ्रान्त हो जाय, दिशा स्वीकारे बिना भी दिशा-हीन हो जाय। सदा चौराहेपर ही खड़ा रहे। भाईको स्वयंको आश्चर्य होता कि यह मूढ-अन्धी भी कैसे गन्तव्यतक पहुँच जाती है? कभी कोई शिकायत नहीं करती। एक विचित्र-सी प्रश्न-परम्परा और दाह उठता उसके अन्तरमें। पर उस दाह और प्रश्न-परम्परासे तो वह भटकता ही अधिक था। भाग्यका कोई अस्तित्व नहीं था उसकी दृष्टिमें, किंतु कर्मका फल भी यथोचित नहीं मिल रहा था उसे, जिसके लिये वह अपने निर्दोष प्रयत्नोंको भी सदोष मान लिया करता था। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र जो ठहरा। समर्थ होकर भी रिक्त था वह, विजयी होकर भी निराश्रित था, पर बहन आत्मलीन, सर्वथा प्रसन्न—मगन रहती थी। भाईकी मनःस्थितिपर उसे अतिशय दुःख था। वह चाहती थी भाई भी संतुष्ट रहे, सुखी—प्रसन्न रहे, किंतु जब कभी वह **भाईको समझानेकी चेष्टा करती, एक झिड़की, एक**

व्यंग, एक उपहास मिलता, पर इससे कभी कोई अप्रिय भावना नहीं उभरी, कोई प्रतिक्रिया नहीं उपजी। वह वैसी ही सरल-स्वच्छ-सुन्दर अमर्षहीन बनी रही।

भाईका नाम था 'तर्क' और बहन थी 'श्रद्धा'। तर्क बुद्धिकी सक्रिय किंतु भ्रान्त अवस्था है, श्रद्धा एक दिशादृष्टि है। श्रद्धा जब जगती है तो तृप्ति मिलती है, जो भी मिलता है, वह पूर्ण और प्रीतिकर लगता है। तर्क जब व्याप्त होता है तो सहस्रचक्षु होकर एकके बाद एक प्रश्नोंको लेकर, जिसमें केवल वितृष्णा है, भटकन है। ज्ञानसे विवेक जगता है, अज्ञानसे तर्क और श्रद्धामें जाकर तो मानवकी उज्ज्वल आत्मा आलोकित होती है। जहाँ न प्रश्न हैं, न वितृष्णा। विवेक एक उपलब्धि है, तर्क एक असंयत साधना।

× × ×

पश्चिमी अथवा अनात्मवादी देहपरक विचारधाराने हमको भी प्रभावित किया है। उस संस्कृतिके उग्र प्रभावने हमारी आस्थाकी जड़ें हिला डाली हैं। श्रद्धाके स्थानपर तर्कको प्रतिष्ठित किया है उसने। और परिणाम यह सामने आया है कि आज हम दिङ्मूढ बने एक चौराहेपर खड़े हैं। धर्म श्रद्धाकी ही पद्धति है और नैतिकताका दूसरा नाम; किंतु तर्कका डिण्डिम घोष करनेवालोंने 'पाप और धर्मको दुनियाकी सबसे बड़ी दासता' कहा। हमने भी मान लिया। धर्म और श्रद्धा हेय बन गये। धर्महीन अथवा श्रद्धारहित वातावरणमें अनैतिकताका विष व्यापे तो यह कोई अप्राकृतिक अथवा आश्चर्यजनक घटना नहीं। तर्कके सहारे हम कहाँ आ गये यह हमारा इतिहास बता रहा है। जिस शान्तिके लिये सारी अनात्मवादी सभ्यता लालायित है, आज भारत भी उसी दिशामें जा रहा है—जो उसके पास था उसे खोने जा रहा है। भ्रष्टाचार एक राष्ट्रीय समस्या बन गया है। अनैतिकताका विष अनुदिन बढ़ता जा रहा है। हम विकासमान जो हैं, प्रबुद्ध जो हो गये हैं।

दो उदाहरण हमारे सामने हैं—एक कार्यालयके बाबूका और दूसरा तपती लूमें, विजन-वनमें प्याऊ लगानेवाली बुढ़ियाका। बाबूके पास डायरी है, अपने कामका लिखित प्रामाणिक लेखा-जोखा है, किंतु कामकी मात्रा वही है जो कामका समय बढ़नेसे पहले थी। काम-काजमें वही तर्क और प्रश्न उठते हैं। पत्रोंका सारहीन, अन्तहीन क्रम चलता है। यदि ऐसा न हो तो तर्कका, उन लोगोंकी सक्रिय बुद्धिका प्रभाव क्षीण हो जाय। उधर बुढ़ियामें श्रद्धा है। लेखा-जोखा रखनेका कोई ढंग नहीं रहते हुए भी वह समयपर आती है। ठंडा पानी पिलाना अपना धर्म समझती है। अपने कामके प्रति अटूट श्रद्धा है उसे। उसका धर्म उसकी श्रद्धा है।

× × ×

अन्धेका शाब्दिक अर्थ नेत्रहीन ही नहीं होता वरं जो अपने लक्ष्यको ही तल्लीन होकर देखता है, केन्द्रित हो जाता है वह भी इतर वस्तु जगत्‌से दूर हो जाता है, निर्दृष्टि हो जाता है, अन्धा हो जाता है। ऐसी दृष्टि किस कामकी जो विविध रूप दिखाये, मृगतृष्णामें भटका दे। ऐसी स्थितिमें न द्रष्टाको कुछ मिलता है न दृष्टिकी सार्थकता ही सिद्ध होती है। उस विविध दृश्यावलिमें एकके दर्शन नहीं होते, तर्कमें सुनिश्चित उपलब्धि नहीं; क्योंकि जो आज पाया है कल वही पुराना पड़ जायगा, वही तर्क उसे निरर्थक कर देगा। श्रद्धा एकचित्त होकर भी विशाल है। 'सियाराम'को इष्ट माननेवाली श्रद्धामें सारा संसार प्रतिबिम्बित हो जाता है। काँचके शत-शत टुकड़ोंमें एक ही आस्था झलकती है।

ठीक ही तो है 'अन्धेको सब कुछ दरसाई' देखनेके लिये अन्धा होना चाहिये—एकाग्र दृष्टि श्रद्धा चाहिये।

स्मरण

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'भगवन् ! मुझे भय बहुत लगता है ।' महर्षि त्रितका दर्शन करने आये थे महाराज दिव्यभद्र और उनके साथ ही आयी थी राजकुमारी । जब पिता महर्षिसे विदा होनेकी अनुमति लेने लगे तो उस बालिकाने ऋषिके पदोंमें मस्तक झुकाकर प्रार्थना की ।

'बालिकाओंके लिये भीरु होना अस्वाभाविक नहीं है ।' ऋषिने अञ्जलि बाँधे, मस्तक झुकाये सामने खड़ी उस दस वर्षकी बच्चीकी ओर देखा ।

'सब मेरा उपहास करते हैं । मुझे तो एकाकी कक्षमें दिनमें जाते भी भय लगता है !' उस राजकन्याके विशाल निर्मल नेत्र भर आये और अरुण सुकुमार अधर काँपने लगे—'भैया कहते हैं कि मैं उनके उपयुक्त बहिन नहीं हूँ ।'

'जब भय लगे, भगवान्का स्मरण कर लिया करो !' महर्षिने सहज भावसे कह दिया ।

'भगवान्का स्मरण !' बालिका चिन्तामें पड़ गयी ।

'यह अतिशय चपल है ।' महाराजने अपनी कन्याकी कठिनाई सूचित की—'कुछ काल एक स्थानपर तो इसका शरीर स्थिर नहीं रह पाता । इधरसे उधर फुदकती फिरती है । मन कैसे इसका स्मरणमें लगेगा ?'

'युवराज मणिभद्रकी गदा देखी है वत्से ?' ऋषिने इस बार ध्यानपूर्वक राजकुमारीकी ओर देखा और स्नेह-सने स्वरमें बोले—'उससे बहुत विशाल ज्योतिर्मय गदा है श्रीहरिकी ।

'कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।'

'शत्रुओंके रक्तसे लथपथ श्रीहरिकी उस अत्यन्त प्रिया कौमोदकी गदाका स्मरण तू कर लिया कर !'

'श्रीहरिके तो कोई शत्रु नहीं । वे तो सबके परम सुहृद् हैं ।' राजकन्याने आश्चर्यसे कहा—'माताजीने तो मुझे यही बताया है ।'

'तुम्हारी माताने सत्य कहा है । श्रीहरि प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, किंतु उनके आयुध-आभरण उनके समान ही चिन्मय हैं ।' बालिकाके विवेकने ऋषिको सुप्रसन्न किया था । वे समझा रहे थे—'भगवदाश्रित जनोंको उत्पीड़ित करनेवालोंको प्रभुकी गदा स्वयं शत्रु मान लेती है । वह स्वयं नियुक्ता है ऐसे शत्रुओंको शमित करनेमें । इसीलिये वह अत्यन्त प्रिया है हरिकी ।'

राजकन्याका समाधान हो गया । उसने महर्षिको पुनः वन्दन किया और पिताके साथ वह राजसदन लौट गयी ।

× × ×

'भगवन् !' महापूजाके उपकरण समीप रखकर राजकुमार चण्डबाहु दण्डवत्-प्रणिपात करते भूमिपर गिर पड़े । उठनेपर उन्होंने अवधूतके चरण पकड़ लिये । रात्रिके अन्धकारमें उनके अश्रु भले न देखे जा सकें, उनके भरे कण्ठके स्वर टूट रहे थे—'आपके अतिरिक्त और कोई मुझे अवलम्ब नहीं दे सकता ।'

राजकुमार आज सायंकाल विक्षिप्तप्राय राजसदन लौटे थे । क्रोधसे बार-बार पैर पटकते मुट्ठियाँ बाँधकर अधर दंशन करते । अंगारनेत्र राजकुमारके सामने आनेका साहस राजमाता तकको नहीं हुआ था । अपने कक्षमें वे बार-बार 'हुँ' करते चक्कर काटते रहे और प्रहर-रात्रि व्यतीत होनेपर कुछ निश्चय करके स्वयं सामग्री एकत्र करने लगे ।

'मैं एकाकी जाऊँगा !' राजकुमारके आदेशकी अवहेलना करके एक विश्वस्त अनुचरने उनका अनुगमन किया था । वह शस्त्रसज्ज सावधान सेवक साथ है,

इसका अनुमान भी राजकुमार नहीं कर सके। अन्धकारमें वह उनसे पर्याप्त दूर रहा है।

राजकुमार आज अपने रथसे गुप्तरूपसे अङ्गनरेशकी राजधानी गये थे। अङ्गराज महाराज दिव्यभद्रसे उनके पिताकी शत्रुता है; किंतु मकरध्वज तो यह सब नहीं देखता। जबसे अङ्गराजकुमारी श्रीजगन्नाथके रथयात्रा-समारोहमें दृष्टि पड़ी, राजकुमार उन्हें किसी प्रकार भूल नहीं पाते। अपने चरोंकी सूचनाके अनुसार राजोद्यानमें राजकन्याके सम्मुख अकस्मात् उपस्थित होकर उसे चकित कर देनेमें वे सफल हो गये थे।

'अनार्योचित कर्म है यह !' राजकन्याने तुच्छ सेवककी भाँति उन्हें झिड़क दिया—'लज्जा आनी चाहिये आपको। तत्काल आप चले नहीं जाते तो भैया मणिभद्रकी गदाके पारुष्यसे परिचित होना पड़ेगा और अङ्गराज्यका कारागार आपका आतिथ्य करेगा !'

राजकन्याने सचमुच सहेलीको सूचना देने भेज दिया था। सिरपर पैर रखकर राजकुमारको भागना पड़ा। इतना तिरस्कार जीवनमें अपमानित होनेका प्रथम अवसर था। राजकुमार क्रोधसे उन्मत्त हो उठे—'इस अभिमानिनीको अपने पैरोंपर डालकर रहना है।'

संकल्प कर लेना सरल है; किंतु उसकी पूर्तिके साधन सोचने लगे तो हृदय बैठ गया। नाममात्रका राज्य है उनका। अङ्गनरेशसे युद्धकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अङ्गके युवराज मणिभद्रसे द्वन्द्व करने जायँ तो उपचारके लिये भी भवन लौट सकेंगे—कम सम्भावना है। अन्ततः राजकुमारको कुलेश्वर कौलिकका स्मरण आया था।

भयावह अन्धकार, घोर श्मशानभूमि, उल्लूककी कभी-कभी कर्णवेधी ध्वनि तथा शृगालोंका शब्द; किंतु क्रोध एवं क्षोभके आवेशमें राजकुमारने इधर ध्यान ही नहीं दिया था। वे सीधे चलते गये।

जलकर चिताकी लपटें शान्त हो चुकी थीं; फ अंगारोंका धूमिल प्रकाश था। कृष्णवर्ण, दीर्घ प्रचण्ड काय, रूक्ष विकीर्णकेश, दिगम्बर अवधूत कुले कौलिक जैसे इस शीतकालकी रात्रिमें धूनीके सु पड़े हों, इस प्रकार उस चिताके पार्श्वमें भूमिपर पड़े थे

'तू कामक्षुब्ध आया है !' अवधूतने अपने प प्रणत, हिचकियाँ भरते राजकुमारको तथा उनके द्वा लाये गये महापूजाके उपकरणोंको सहजभावसे देखा।

'कामना आपके यहाँ तो अपमानिता नहीं है देव !' राजकुमारने पुनः पदोंपर मस्तक रक्खा।

'निगमके साधक कामनाको निर्मूल करके परिपूत होते हैं और आगम कामनाका केन्द्रीकर करके उसमें आत्माहुति देनेका आह्वान करता है। अवधूत अपनी मस्तीमें बोलने लगे—'शुद्ध सच्चिदान ही महाशक्तिके अङ्कमें सत्त्व, रज, तम होकर प्रतिफ होता है। ऋषि त्रित चित्‌का साक्षात्कार करते आत्मरूपमें और कुलेश्वर रजोगुणकी चरम परिण आत्माहुति करके 'शिवोऽहं' कहता है। त्रित कुलेश्वरमें जो तारतम्य देखे, मूर्ख है वह। किंतु गर्वोक्तिको राजसदेह कुलेश्वरका कण्ठ ही व्यक्त सकता है। सत्त्वशरीर त्रितको तो सौम्यता प्राप्त जगतीके जीवनमें।'

'तू यह सब समझेगा नहीं।' अचानक बो बोलते अवधूत चुप हो गये। राजकुमारकी ओर दो देखकर फिर बोले—'तुझे सिद्ध आकर्षण चाहिये श्रद्धा और संयम सर्वत्र साधनामें अनिवार्य हैं; तन्त्रके साधकमें लोकोत्तर साहस भी चाहिये। ब्रह्माण्ड विस्फुटित हो जाय तो भी साधकका अविचल रहे—कर सकेगा ?'

'कर सकूँगा !' दृढ़स्वर राजकुमारने स्वीकार कि

'अहङ्कारका औद्धत्य !' अवधूतने अट्टहास किया

'कोई क्षति नहीं होती शरीरोंके शीर्ण होनेसे । कालीके ग्रास हैं ये देह और तू शाश्वत है । 'स्मरण'से संघर्ष करने चला है तू । महामायाकी इच्छा········ ।'

अवधूतके प्रलापको राजकुमारने नहीं समझा; किंतु अपनेको उन्होंने कृतार्थ माना; क्योंकि अवधूतने उन्हें आकर्षण-प्रयोगकी सम्पूर्ण विधि समझा दी थी और वे गर्व कर सकते थे कि कुलेश्वर कौल-जैसे महासिद्धने मन्त्रदान किया था उन्हें ।

× × ×

'क्या है ?' राजकुमारीने इधर-उधर देखा । अकस्मात् उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी थी । कक्षमें मन्द प्रकाश है सुगन्धित तैलप्रदीपका और उसकी दोनों सहेलियाँ शान्त सो रही हैं उसके समीप ही । अन्ततः वह क्यों जाग गयी ? उसकी निद्रामें विघ्न कैसे पड़ा ? आज उसे भय क्यों लग रहा है ?

महर्षि त्रितने आजसे छः वर्ष पूर्व उसे भय-निवारण-का उपाय बतलाया था—'श्रीहरिकी गदाका स्मरण—वह स्मरण तो उसका जीवन बन गया और जब वह आखेटमें अब अपने अग्रजके साथ अश्वारूढ़ होकर निकलती है, बचपनमें उसका उपहास करनेवाले उसके बड़े भाई मणिभद्र अब कहते हैं—'मेरी बहिनके सामने वनराज भी पूँछ दबाकर भागता है । अङ्गराजकुलकी यशोमूर्ति है मेरी अनुजा !' और आज रात्रिमें यह भय—अकारण भय उसी राजकुमारीको ? अपनी शय्यापर ही वह बैठ गयी और मन्द स्वरमें स्तवन करने लगी—

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे
निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो-
भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥
(श्रीमद्भागवत ६ । ८ । २४)

लगा कक्ष स्निग्ध चन्द्रिकासे परिपूर्ण हो गया है । चन्द्रोज्ज्वल विशाल गदा आविर्भूत हो गयी है और उससे झर रही है वह स्निग्ध, उज्ज्वल, असीम वात्सल्यधाराके रूपमें एक शुभ्र ज्योत्स्ना । राजकन्याने अपना मस्तक झुकाया और उसे कुछ ऐसा मधुर आलस्य आया कि वह शय्यापर पुनः लुढ़ककर गाढ़ निद्रामें मग्न हो गयी ।

वह रात्रि थी कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी । महा-रात्रिका मुहूर्त जाग्रत् करने राजकुमार चण्डबाहु श्मशानमें बैठा था रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही । आज अपना आकर्षण-प्रयोग सम्पूर्ण करके ही आसनसे उठेगा । इसी रात्रिमें, इसी श्मशानभूमिमें अभिमानिनी अङ्गराजकन्या उसके चरणोंपर गिरेगी ।

'ठं ठां ठूं वौषट्' अत्यन्त कर्कश किंतु दृढ स्वर गूँज रहा है श्मशानकी नीरवतामें । प्रज्ज्वलित चितामें पड़ी पीत सर्षपकी आहुतियोंकी पूय गन्ध वायुमें भरी है । नीलवसन, रक्तचन्दनचर्चित-देह राजकुमार सर्षपके साथ अपराजिताके पुष्पोंकी अनवरत आहुति चिताग्निमें डाले जा रहा है ।

कङ्काल देह प्रकट हुए, चिल्लाये, नृत्य करते रहे और स्थिर खड़े हो गये । शतशः अदृश्य महानागोंकी फूत्कार वायुमें उठी एवं लीन हो गयी । ज्वालाएँ स्थान-स्थानपर धधकीं, बढ़ीं, बुझ गयीं । राजकुमार अविचल रहा, निष्कम्प रहा और उसका स्वर स्थिर रहा—'ठं ठां ठूं वौषट् !'

राजकुमार तब भी निष्कम्प रहा जब साक्षात् चामुण्डा—श्मशान-कालिका, नीलवसना, करालदंष्ट्रा, कपालमालिका अट्टहास करती चिताग्निसे बाहर ऐसे कूद पड़ी, जैसे साधकके मस्तकपर ही कूद जायगी ।

'ठं ठां ठूं वौषट् ! आनय तां········ ।' अचानक सम्पूर्ण गगनमें जैसे प्रलयाग्नि प्रकट हो गयी । प्रचण्ड ज्वालमालावृता सहस्राशनि-भीषणा अद्भुत अनन्तदीर्घा एक महागदा आकाशमें आयी और चामुण्डा श्मशान-कालिकाने अपने केश नोच लिये । उसके शरीरका

नीलाम्बर भस्म हो गया क्षणार्धमें । 'ठं !' एक अकल्पनीय दारुण शब्द—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जैसे चूर्ण-विचूर्ण हो गया हो ऐसा विकराल विकट विस्फोट !

आज आप विज्ञानकी कृपासे परमाणु-विस्फोटकी भयंकरताका कुछ अनुमान कर सकते हैं । विश्वके मूलमें जो मातृका बीज है, उन बीजाक्षरोंमें किसीका विस्फोट हो जाय, सृष्टि—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका कहीं पता नहीं लगेगा । यह तो सर्वेश्वरकी अपार महिमा है कि बीजाक्षरोंका विस्फोट समष्टिमें सम्भव नहीं । वह सदा साधकमें—व्यष्टिमें होता है ।

'ठं' साधकके मस्तिष्कमें उसके बीजाक्षरका विस्फोट हो गया । कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड फट गये मानो उसके मस्तकमें । यह बीजाक्षरपर चिन्मय श्रीहरिकी गदा स्मरणाघात—राजकुमार उस दिनसे एक असाध्य उन्माद का आखेट हो गया । वह अकस्मात् दौड़ता, भागता, वस्त्र नोचता और 'ठं' का आर्तनाद करके मूर्छित हो जाया करता था ।

साधु-समुदायकी जनश्रुति तो यह भी है कि उसी समयसे आकर्षणके अभिचारके लिये चामुण्डा श्मशान कालिकाका अनुष्ठान वर्जित हो गया है । अनुष्ठान आरम्भ करते ही वह उन्मादिनी हो उठती है और साधकको ही अपना शिकार बना लेती है ।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ९२१ से आगे]

चतुर्थ तरंग

(४४)

छा रही थी प्राची दिशि ओर
लालिमा मधुरिम ललित ललाम ।
विटप-वल्लरियोंपर प्रिय विहग
गा रहे थे जय राधेश्याम ॥
रागरंजित मादक उल्लसित,
उषाने खोले अपलक पलक ।
खिली थी बाल अरुणके मंजु
मदिर अधरोंपर स्वर्णिम झलक ॥
कर रहे थे घण्टे घड़ियाल
शंख मन्दिर मन्दिरमें घोर ।
वन्दनाके स्वर सुन भर पुलक
कुहकते थे द्वारोंपर मोर ॥
कर रहे थे अवगाहन-स्नान,
भक्त-जन, कालिन्दीके कूल ।
भजन-पूजन संध्यासे निबट
चढ़ाते थे सिरपर व्रज-धूल ॥
हो रही मन्थर गतिसे दीप्त
भव्य रवि नारायणकी शक्ति ।
अर्घ्य दे यमुना जलसे भक्त
समर्पित करते श्रद्धा भक्ति ॥

(४५)

उठी थी कई दिवसके बाद
राधिका होकर आज सचेत ।
चली वह भी सखियोंके साथ
अतः यमुना-नहानके हेतु ॥
हो गया था मृदु तन अति क्षीण,
लता-सी लहर-लहर बेहाल ।

सहारे सखियोंके हो अवश
चल रही धीमी डगमग चाल ॥
पहुँचते ही व्याकुल हो गयी
देख यमुनाका श्यामल नीर।
छिटक विद्युति-सी चौंकी तड़प,
जग गयी फिरसे सोयी पीर ॥
सँभाला ललिताने तत्काल
बाँहमें बाँह प्रेमसे डाल।
बँध गयी हिचकी कह—'हा कृष्ण',
नयनसे झरने लगे प्रवाल ॥
बँधाया जैसे-तैसे धीर
पुनः कर भाँति-भाँति परितोष।
छलक आते थे फिर भी अश्रु,
नहीं हो पाता था संतोष ॥

(४६)

अन्ततः सबने किसी प्रकार
किया श्रीकालिन्दीमें स्नान।
लगा व्रज-रजका टीका भाल
दिया दीनों दुखियोंको दान ॥
कहा राधाने फिर हो विकल,
चलो सखि वन-विहारको आज।
हो गये हैं कितने ही दिवस,
नहीं देखे मैंने व्रजराज ॥
विशाखे ! देखो मुझको हाय !
लगा है जाने कैसा रोग।
हो गयी हूँ मैं कितनी निठुर,
साध बैठी जो ऐसा जोग ॥
छोड़कर मिलना-जुलना सभी
पड़ी रहती हूँ सुखसे गेह।
निभायी मैंने अच्छी प्रीति
श्यामसे कर स्वारथका नेह ॥
हो गयी सो तो हो ही गयी,
न होने दूँगी पर अब चूक।
मिलूँगी नित्य श्यामसे सखी !
वनोंमें कोयलिया-सी कूक ॥

(४७)

सखी ! वे आते होंगे नित्य,
न पा करके फिर मुझको वहाँ।

तड़फते होंगे कितने हाय !
अरी ! मैं मर जाऊँ कह कहाँ ? ॥
चलौ री चलौ न रोको मुझे,
खटकती अब पल-पलकी देर।
नहीं सुनती तुम, देखो अरे,
रहा है मुरलीमें वह टेर ॥
इस तरह भरकर मधुर तरंग
अंगमें, दौड़ चली तत्काल।
चल रही थीं जो कुछ क्षण पूर्व
डगमगा गिरती पड़ती चाल ॥
सखी भी पीछे-पीछे भगी,
सभीमें छाया अनुपम मोद।
छलकता था अतिशय उन्मत्त
सभीके उरमें प्रेम-पयोद ॥
अन्तमें वन-विहारमें पहुँच
घूमने लगीं सभी व्रज-बाल।
पूछतीं कुंजोंको भर नीर—
यहाँ आये थे क्या नँदलाल ॥

(४८)

लताओ ! चुप क्यों हो, ओ बेल !
बता तू ही अधरोंको खोल।
नहीं आये थे क्या प्रिय कृष्ण !
गये जो प्राणोंमें रस घोल ॥
कदम्बो ! तुम बतलाओ, लता-
बेल तो करती हमसे डाह।
श्यामने रुककर कितनी देर
यहाँ देखी थी मेरी राह ॥
अरे ! तुम भी चुप हो, तब ओ
करील भैया ! तू ही कर दया।
हाय ! मेरा प्यारा घनश्याम
तुझीसे है क्या कुछ कह गया ? ॥
और फिर देख सभीको मौन
गया राधेका धीरज छूट।
कर गया सब ही को दुख-मग्न,
विरहकी सरिताका पुल टूट ॥
चली सब होकर विकल निढाल,
उतर आयी जमुनाकी ओर।

व्यथित ललिताने देखा चौंक
कदम्बोंके झुरमुटकी ओर ॥

(४९)

किनारेपर नीचेकी ओर
झुकी थीं दो डालें अति सघन।
नीरमें श्यामल छवि अवलोक
छू रही हों जैसे प्रिय-चरन ॥
उन्हींमें पीले वस्त्रोंसहित
रुका उलझा है एक शरीर।
झपटकर पहुँची उसके निकट,
हो रहा था मन अमित अधीर ॥
विशाखा ललिता जलमें उतर
डालके ज्यों ही पहुँचीं पास।
चीखकर बोली राधे ! अरे,
देख, यह है मनसुखकी लाश ॥
हाय ! कर, राधा होकर विकल
वहींसे पड़ी नीरमें कूद।
देख प्रियके साथीकी दशा।
हो गयी बेसुध आँखें मूँद ॥
विशाखाने राधा ली थाम,
उठा ललिता मनसुखकी देह।
अन्य सखियोंका आश्रय लिये
किनारे लायी सहित सनेह ॥

(५०)

निरीक्षण कर जानी यह बात,
चल रही है साँसा अति मन्द।
भरा सबके मनमें उस समय
एक अतिशय मीठा आनन्द ॥
निकाला पहले जल कर यत्न,
वसन भीगे सब दिये उतार।
उढ़ा चादर पहुँचाया ताप,
और फिर किये अन्य उपचार ॥
इस तरह बैठे बैठे वहाँ
बीतने चला तीसरा पहर।
खुले तब मनसुखजीके नैन,
हर्षकी लहरी अनुपम लहर ॥
स्नेहसे करतीं सार सँभाल
चलीं फिर सब बरसाने ओर।
पहुँचते समय क्षितिजमें शेष
दिवाकरकी थी थोड़ी कोर ॥
मनसुखेको समझा बहुभाँति,
सुनाकर स्नेहिल मधुर प्रसंग।
राधिका घर अपने ले गयी
हृदयमें भर अति मोद उमंग ॥

(५१)

अतः फिर कई दिवस तक रहे
मनसुखाजी राधाके गेह।
लुटाते रहे बबा वृषभानु
सहित मैयाके भारी नेह ॥
एक दिन ललिताको ले साथ
गयी राधे संकेत-स्थान।
मनसुखा भी थे उनके संग-
कृष्णका करते थे गुण-गान ॥
आज थीं राधा व्यथित विशेष,
नयनसे बरस रही थी पीर।
विकल थीं ललिता भी कम नहीं,
मनसुखा भी थे अधिक अधीर ॥
एक-से मिल बैठे थे सभी,
बावरे पागल विरही मस्त।
कृष्णमय थे तीनोंके प्राण,
लुप्त था दृगसे जगत समस्त ॥
चाहते थे कहना कुछ सभी,
हो गये थे पर सभी अवाक।
कृष्ण-रस ही, उस क्षण, उस ठौर-
बना था केवल चित्र सबाक ॥

पञ्चम तरंग

(५२)

पीरकी सीमा हुई विलुप्त
विरहकी गलियोंमें जब डोल।
नयनमें घनीभूत हो गये
चित्र सुधिके तब दशा अबोल ॥
हटी, अकुलाई राधा, चला
नयनसे अविरल अश्रु-प्रवाह।
विकल हो डूबी जिसमें स्वयं-
सुतल, तल, अतल, वितलकी थाह।

व्यथित अधरोंसे निसरे, विलख,
कृष्णके मीठे नाम ललाम।
कन्हैया, केशव, बाल-मुकुन्द,
मदन-मनहर मोहन, घनश्याम॥
वेणुधर, गिरधर, हे नँदलाल,
मुरारी, दामोदर, गोविन्द!
सलोने ओ मेरे चितचोर!
अरे ओ वृन्दावन-व्रजचन्द!॥
दिखाऊँ कैसे तुमको हाय!
हुआ जो उर मेरेका हाल।
अरे आ एक बार तो देख,
मनसुखा भैयाके गोपाल॥

(५३)

छोड़कर मुझे विलखती कृष्ण
हुए हैं जबसे मुझसे दूर।
हो गये हैं ओ मनसुख वीर!
नयनके तारे दोनों चूर॥
भूल बैठे हैं स्वर पहचान
श्रवण मोहन-स्वरमें हो लीन।
मनसुखे! शेष शक्तिको हाय!
ले गयी निष्ठुर मुरली छीन॥
चुरा अधरोंका मधु संगीत
दे गया विरह रागकी पीर।
अरे मनसुख भैया! किस तरह—
दिखाऊँ तुझे कलेजा चीर॥
रख गया है छातीपर छली
प्राणलेवा पहाड़-सा भार।
हो गये हैं बिल्कुल बेसुरे
मनसुखे! उर-सितारके तार॥
भटकती हूँ ज्यों कोई पात
भटकता फिरे छोड़कर डाल।
न देगा क्या अब आश्रय कभी
मनसुखा! तेरा प्रिय गोपाल?॥

(५४)

लता, वन, कुंज, वल्लरी आदि
रहे हैं सभी आज भी झूम।
एक मैं ही हतभागिन हाय!
भरे रहती हूँ उरमें धूम॥
कुहकते हैं ले-लेकर नाम
कृष्णका नाच-नाचकर मोर।
और मैं अभागिनी हर समय
भरे रहती हूँ दुखकी रोर॥
नित्य पीते अब भी मकरन्द
मधुप कोमल कलियोंके हाथ।
और मैं अपना प्रेम-पराग
लिये फिरती हूँ बनी अनाथ॥
मनाते हैं उत्सव, आनन्द,
चहककर डाल-डालपर विहग।
और मैं अपने ही घर-द्वार
मनसुखे! रह जाती हूँ सुलग॥
कर गयी है कैसी दुर्दशा—
विरह-सागरकी बाढ़ विशाल।
देख जा एक बार ही सही
मनसुखा भैयाके गोपाल॥

(५५)

रही है जबसे सिरपर नहीं
सखा प्यारे तेरेकी बाँह।
कसकती है काँटे-सी हाय!
कलेजे वंशीवटकी छाँह॥
अकेली जान मुझे असहाय
मनसुखे! कालिन्दीका नीर।
चुभोता है अन्तरमें अरे!
एक ही साथ सैकड़ों तीर॥
घुल गयी हैं पीड़ामें स्वाँस
मित्र तेरेकी कर-कर याद।
बस गया प्राणोंमें मनसुखे!
श्यामका दुखता विरह-विषाद॥
देखती हूँ नित उनकी बाट
बिछाये पथमें व्याकुल नैन।
तरसते पल-पल आकुल श्रवण
पान करने मोहनके बैन॥
लूट मेरा तन-मन चितचोर
गया है ऐसा जादू डाल।
न पल कल लेने देता मुझे
मनसुखे! तेरा प्रिय गोपाल॥

(क्रमशः)

ईर्ष्याका भूत

[पिशुन-कर्म 'जहरकी पुड़िया' का घृणित धर्म]

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०)

उर्दूके एक शायरने कितनी सुन्दर बात बहुत सीधे-सादे शब्दोंमें कही है—

जोशे हमदर्दी नहीं जिसमें वह इन्सान नहीं।
ज़ाहिरा सूरते आदम है मगर जान नहीं॥

—स्व० मुंशी कालिकाप्रसाद श्रीवास्तव 'नदीम' (लेखकके पितामह)

अर्थात् जिसके हृदयमें सहानुभूतिका वेग नहीं, वह मनुष्यकी आकृतिमें दिखायी देनेपर भी निर्जीव है। यथार्थमें वह भूत है, जो नाना प्रकारके उपद्रव करके लोगोंको कष्ट पहुँचाता है।

'सहानुभूति'का अर्थ है 'दूसरेके दृष्टिकोण और उसकी परिस्थितियोंको समझना' तथा 'दूसरेके दुःखमें वैसे ही कष्टका अनुभव करना'। सहानुभूतिके अभावसे ही हृदयमें ईर्ष्याका जन्म होता है। ईर्ष्याका अर्थ है 'दूसरेको होनेवाले लाभसे दुःख पाना' अथवा 'किसीकी बढ़ती न देख सकना'। ईर्ष्या, जिसका एक नाम 'मत्सर' है, और जो मनुष्यके छः शत्रुओंमेंसे एक है, अपने आपमें एक भूत है, जो व्यक्तिपर बुरी तरह सवार हो जाता है। सहानुभूतिसे दूर रहकर निष्प्राण बननेवाला ईर्ष्यालु व्यक्ति उससे भी बड़ा भूत है, जो समाजको आक्रान्त करते हुए वातावरणको विषाक्त बनानेका दूषित प्रयास करता है।

जॉन स्टुअर्ट मिलने कहा है—'सभी भावावेगोंमें सबसे अधिक घृणास्पद और समाज-विरोधी भाव है, तो द्वेष।' किंतु शैरीडनके अनुसार 'मानव-हृदयमें कोई भी भाव इतनी मजबूतीसे जमा हुआ नहीं है, जितना द्वेष या डाह।' अभिप्राय यह है कि ईर्ष्याके आधिपत्यसे मनुष्य कुछ कठिनाईसे ही छुटकारा पा सकता है। उससे बचनेका एक ही उपाय है, ईर्ष्याके विरोधी तत्त्व 'सहानुभूति'को हृदयमें जगाना। सहानुभूति वह जादू है, जिससे विभिन्न मतभेद समाप्त हो जाते हैं।

किंतु महात्माओं-जैसी सम्पूर्ण सहानुभूति भी विरोधका सामना करती आयी है। सहानुभूतिकी उदारता यदि एक ओर आंशिक रूपमें हो और दूसरी ओर सहानुभूतिकी भावनाका नितान्त अभाव हो, तो संघर्षकी स्थिति आये बिना नहीं रहती। सहानुभूतिसे शून्य व्यक्तिका दृष्टिकोण सदैव संकीर्ण रहता है और वह सब समय स्वार्थपरतासे घिरा रहता है। स्वार्थान्ध होकर जब कोई व्यक्ति द्वेषसे भर जाता है तो वह दूसरेकी अच्छी-बुरी प्रत्येक बातपर खीज प्रकट किये बिना नहीं रहता।

द्वेष और वैमनस्यके लिये यह आवश्यक नहीं कि कोई कुछ दुःख पहुँचावे, तभी उससे वैरभाव माना जाय। ईर्ष्याकी कैकयी कृतघ्नतारूपी मन्थरा-सहचरीके बहकावेमें आकर अपने साथ निजत्वका भाव रखनेवाले या उपकार करनेवालेके भी बड़े-से-बड़े अनिष्टके लिये तत्पर हो जाती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने ठीक ही कहा है—'तुम्हारी निन्दा वही करेगा, जिसकी तुमने भलाई की है'। ईर्ष्या करनेवाला किसीके द्वारा अपने प्रति किये गये उपकारोंपर बिल्कुल ध्यान नहीं देता—अपकारोंको भले ही बढ़ाकर सोचे।

किसी स्वार्थी और कृतघ्नी जीवको जब ईर्ष्याका भूत लग जाता है, उसे अपनी स्थितिपर संतोष नहीं रहता। भले ही कुछ निचली होनेपर भी उसकी अपनी स्थिति चाहे सुदृढ़ हो, तो भी वह उससे असंतोषका अनुभव करने लगता है। फलतः वह अपनेको नितान्त दुखी समझ बैठता है। अपने पासकी वस्तु उसे आनन्द नहीं देती। पड़ोसीकी मुर्गी उसे राजहंस-जैसी दिखायी देती है। दूसरेका वैभव देखकर वह अपना आनन्द आप खो बैठता है। अ अभावको बहुत बढ़ाकर देखते हुए वह अपने आन जान-बूझकर दुःखका वातावरण बना लेता है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति अत्यन्त भयंकर होता है—अपने लि और उस समाजके लिये, जिसमें वह जन्म पाता है। अ ही कल्पनासे निर्मित अभावका अहर्निश चिन्तन करते हुए वह उन्नतिसे निराश हो बैठता है और उन्नतिके लि उद्यम भी छोड़ देता है। उसका एकमात्र उद्यम दूसरों हानि पहुँचानेका हो जाता है। विनाशमें लीन होकर सभीसे घृणा करने लगता है।

संसारमें पचास फीसदी लोग केवल इसीलिये दुखी हैं कि वे औरोंसे ईर्ष्या करते हैं, अर्थात् अपने आपसे असंतुष्ट हैं। अधिकतर यह ईर्ष्या अकारण होती है और इसका दंश प्रायः सभीको चुभता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे जितना सद्गुणी क्यों न हो, यह गर्व नहीं कर सकता कि उससे कोई घृणा नहीं करता। काल्टनके अनुसार 'हजारमें एक व्यक्ति ही ऐसा होगा, जो हमारी विपत्तिपर सच्चे मनसे तरस खाये, शेष सभी सच्चे जीसे हमारी सफलतासे घृणा करेंगे।' किंतु हीरोडोटसने एक वीर पुरुषके रूपमें कहा है—'तरस खाये जानेसे डाह किया जाना अच्छा है।'

एक अंग्रेज विद्वान्ने 'ईर्ष्या'की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यह धारणा प्रकट की है कि डाहके लिये कारण जुटानेका दोष सदैव उन व्यक्तियोंका है, जो सफलता प्राप्त करते हैं। इस विद्वान्के अनुसार 'ईर्ष्या वह मानसिक व्यथा है, जो सफल व्यक्ति अपने पड़ोसियोंको पहुँचाते हैं।' सैनेकाका कथन है—समूहकी आदत है कि वह सुप्रसिद्ध व्यक्तियोंपर भौंके, जिस प्रकार छोटे कुत्ते अपरिचितोंपर भौंका करते हैं।' जितना ही अधिक वैभव होगा, उतना ही अधिक डाह वह भड़कायेगा; परंतु वीर और भाग्यशाली ईर्ष्याको सह जाते हैं। सचमुच कितने ही लोगोंने द्वेष करनेवालोंसे वैभव पाया है। ईर्ष्यामें भरकर कोई किसीके पतनकी जितनी चाह करेगा, उतनी ही अधिक निराशा द्वेष रखनेवालेके पल्ले पड़ेगी; क्योंकि परमेश्वर जो केवल अच्छाईकी ओर ध्यान देता है, उस सफल व्यक्तिको और भी ऊँचा उठाना चाहेगा। ईर्ष्यायुक्त व्यक्ति परनिन्दापरायण हो जाता है। वह निन्दा करके दूसरोंको गिराकर उनके गौरवपूर्ण स्थानपर अधिकार करना चाहता है। जब रिश्तेदारी कायम हुई है, तो एक कहावतके अनुसार हम कह सकते हैं कि ईर्ष्या और आलस्य जब विवाह-सूत्रमें बँध गये, तो उन्होंने उत्सुकताको जन्म दिया, अर्थात् ईर्ष्यालु व्यक्तिकी क्षमता सो जाती है और चुगली खानेके लिये उत्सुकता या अधीरता उसमें जाग जाती है। सफल व्यक्तिके दोषोंकी खोज करने और उसकी बुराईका कोई भी अवसर हाथसे न जाने देनेकी उत्सुकता भी कितनी अनोखी है। किसीने कहा है—'ईर्ष्या प्रेमकी बहिन है, जिस प्रकार शैतान देवदूतोंका भाई।' इन दो जुड़वाँ बच्चोंमें ईर्ष्या प्रेमको नष्ट कर देती है।

एक अत्यन्त छोटा कीड़ा बढ़िया कपड़ेमें लगकर उसे चाट जाता है। उसी प्रकार ईर्ष्या उसी हृदयको जला-जलाकर खाक करती है, जिसमें वह जन्म पाती है। मत्सरका शिकार अवसर पाते ही आत्मप्रचारके साथ परनिन्दाका प्रकरण खोल देता है और प्रत्येक सम्भव उपायसे दूसरोंको गिरानेकी बातोंमें उलझ जाता है। कुण्ठा लेकर वह अपनी शक्ति और सामर्थ्यको आप ही कुण्ठित कर बैठता है। जो समय उसे अपने चरित्रको निर्मल बनाने और निजका विकास करनेमें लगाना चाहिये, उसे वह यों ही गँवा देता है। वह नहीं सोच पाता कि जिनसे उसे डाह है, उनका पतन हो सकता है तो उनके सद्गुणोंके ह्राससे। मूढ़ नर नहीं समझ पाता कि सच्चे-पूरे मानवका वह हृदय नहीं, जो यह कामना करे कि किसीके अनिष्टकी नींवपर मैं अपनी प्रभुताका प्रासाद निर्मित करूँ। दिनकरजीकी दृष्टिमें 'ईर्ष्यासे जला-भुना आदमी जहरकी एक चलती-फिरती गठरीके समान है, जो हर जगह वायुको दूषित करती फिरती है। उसकी हँसी मनुष्यकी नहीं, राक्षसकी हँसी होती है।' निन्दाके बाणोंसे दूसरोंको बेधकर वह केवल दैत्योंका आनन्द पा सकता है। ईर्ष्या जन्म पाती है हीनताकी भावनासे। जन्म या परिवार-सम्बन्धी कोई गुप्त रहस्य, गृह-कलह, निर्धनता, कोई शारीरिक हीनता, प्रेम-सम्बन्धमें विफलता आदि कारणोंसे व्यक्तियोंमें हीनताकी ग्रन्थि पड़ जाती है। हीनता लेकर ईर्ष्याको अपनानेवाला सदैव चिन्तित रहता है कि मैं तिरस्कृत या उपेक्षित क्यों हूँ, जबकि दूसरे आगे बढ़कर प्रमुख स्थानपर हैं। ईर्ष्यालु व्यक्ति अनुभव करता है कि उसमें किसी वस्तुकी कमी है, पर वह दूसरोंके पास है। वह नहीं समझ पाता कि उस वस्तुको कैसे प्राप्त करे। क्रोधमें भरकर वह उनसे जलने लगता है, जिन्हें वह मन-ही-मन अपनेसे श्रेष्ठ मानता है। एक अंग्रेज विद्वान्के अनुसार 'बुलबुल लज्जासे मर जाती है, यदि कोई दूसरी चिड़िया उससे अच्छा गाती है।'

नीशे नामक दार्शनिकने कहा है—'मनुष्यमें जो गुण महान् समझे जाते हैं, उन्हींके चलते लोग उससे जलते भी हैं।' क्षुद्र हृदय और संकीर्ण दृष्टिवाले ईर्ष्यालु व्यक्तियोंको जिन्होंने भले आदमियोंपर कीचड़ उछालनेका धंधा अपना रक्खा है, नीशेने 'बाजारकी मक्खियाँ' कहा है और उनके

भिनभिनानेकी चिन्ता न करते हुए उनसे दूर रहकर सद्गुणोंकी साधना करते रहनेकी सलाह दी है। पर जिन्हें समाजमें रहना है, वे ईर्ष्यालुके साथ चाहे जितनी उदारता बरतें, बदलेमें बुराई ही पा सकेंगे। चुप रहनेपर भी उनका कल्याण नहीं; क्योंकि तब तो ईर्ष्यालु और भी क्रुद्ध होंगे। आस्कर वाइल्डका परामर्श विचारणीय है कि अपने शत्रुओंको सदा क्षमा करते रहो; क्योंकि उन्हें इससे अधिक चिढ़ानेवाली बात दूसरी नहीं। जो लोग मीठी मारपर विश्वास न ला सकें, उनके लिये आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी सीख तथ्य-भरी है 'साधुसे साधु प्रकृतिवालेको क्रूर लोभियों और दुर्जनोंसे क्लेश पहुँचता है। अतः उनके प्रयत्नोंको विफल करने या भयसंचारद्वारा रोकनेकी आवश्यकतासे हम बच नहीं सकते।'

दो शब्द उन लोगोंसे भी जिनके स्वभावमें ईर्ष्या घुल-मिल गयी है। उनके अन्तरकी हीनता ही तो दूसरोंकी श्रेष्ठता स्वीकार करती है। परमपिताने सबको समान शक्तियाँ दी हैं। जिनमें वे कुछ अधिक विकास देखते हैं, उनके पदचिह्नोंपर वे धैर्य और लगनके साथ बढ़ें और हरि-कृपापर विश्वास रक्खें, तो वे भी कुछ सफलता पा ही जायँगे। जिस अभावके कारण उनमें ईर्ष्या पनपी है, उसकी पूर्तिके लिये रचनात्मक उपायोंकी खोज करनेवाला मानसिक अनुशासन उनके लिये सर्वथा आवश्यक है। अपनी ईर्ष्याको स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धाकी ओर मोड़ रखनेके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहें। 'निन्दक नियरे राखिये' के अनुसार जब वे अपने वैरियोंका स्वभाव निर्मल कर सकते हैं, तो क्यों न शक्तियोंको निजके चरित्रकी निर्मलतामें लगावें। और फिर कहीं तो संतोष करना पड़ेगा। जिस वस्तुको वे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंमें बहुत बड़ी सफलता मान बैठे हैं, बहुत सम्भव है, वे उससे वैसे संतुष्ट न हों। कारण कि ईर्ष्याका कहीं अन्त नहीं; इस विशाल संसारमें एक-से-एक बड़े पड़े हैं और सच्चा बड़प्पन वही है, जहाँ समुचित उद्योगके बाद जो मिल सके उसीमें बड़ा संतोष है।

[लेखककी अप्रकाशित कृति 'महकते मोती' से]

गीत

(रचयिता—प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण')

चुप चुप निठुर, परीक्षा कैसी !

कोई भाव नहीं उठ पाता,
आँख न कोई भर पाती है;
अगुरु धूमकी तेज गन्ध, पर
मूर्ति न तनिक सिहर पाती है;
क्षिप्र वेगकी शिक्षा कैसी !
चुप चुप निठुर, परीक्षा कैसी !

विषम परिस्थितियोंकी छाया,
शोक श्लोकमें बदल न पाता;
लहरें नहीं पकड़में आतीं,
हृदय-समुन्दर है पछताता;
मोह-मुक्तिकी दीक्षा कैसी !
चुप चुप निठुर, परीक्षा कैसी !

दुर्बल साँस आस है थोड़ी,
छलना सूखी डाल हिलाती;
नभमें कुहरा भरा हुआ है,
कृपा-कोरकी घटा न छाती;
अनुपम त्याग-तितिक्षा कैसी !
चुप चुप निठुर, परीक्षा कैसी !

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका वयो-विचार-विमर्श

(लेखक—श्रीचन्द्रकान्तजी बाली)

परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजकी जीवन-लीला अनिर्वचनीय है। साक्षात् शारदाजी उनका लीला-यशोगान गा रही हैं; इससे न तो भगवती शारदाकी आत्मसंतुष्टि हुई है, न लीलागाथाकी इतिश्री हुई है। परब्रह्म स्वयं अनन्त हैं; उनकी अहैतुकी कृपा अनन्त है; उस कृपाके वशीभूत होकर परब्रह्मके अंगीकृत श्रीविग्रह अनन्त हैं[१] और एक-एक श्रीविग्रहकी लीलागाथा अनन्त है।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजकी पावन एवं मधुर जीवनलीला भक्तोंके लिये श्रद्धाप्रेरक, आनन्दोद्बोधक एवं मनो-मोदकारक भले ही हो, पर तर्कानुजीवी कठोरकर्मा इतिहासकारोंके लिये वह आकर्षण-विहीन ही है—यह देखकर हृदय खिन्न होता है। इसमें इतिहासकारोंपर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। इतिहासकारके लिये गोपकुमार श्रीकृष्णने मथुरानरेश कंसको मारा—इस घटनाका तबतक कुछ भी मूल्य नहीं, जबतक उसके साथ तिथिका उल्लेख न हो। एक तिथियुक्त क्षुद्र-से-क्षुद्र घटना भी इतिहासकारके लिये आदेय हो जाती है, जब कि तिथिविहीन महान्-से-महान् घटकको वह हठात् उपेक्षित करके इतिहास-कर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। इतिहासकारकी इस कठोर एवं आवश्यक प्रवृत्तिको संदर्भमें रखकर आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णमहाराजकी वयःपर विचार-विमर्श उपस्थित करते हैं। इसे परब्रह्म श्रीकृष्णके लीलासिन्धुको पार पानेका अहंकार न समझ लिया जाय, बल्कि भगवल्लीलामें अपने जीवनके कतिपय क्षणोंके सर्वात्मना समर्पणका यह लघुतम प्रयास मात्र है—यह विनम्र प्रार्थना है।

भविष्यपुराणमें लिखा है— भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने १३५ वर्ष लीलाका चमत्कार दिखाकर श्रीविग्रहका परित्याग कर दिया[२]। श्रीमद्भागवत महापुराणमें यह वयोमान १२५ वर्ष लिखा है[३]। दो पुराणग्रन्थोंकी विसंगत उपलब्धियोंमें १० वर्षीय अन्तरालको विष्णुधर्मोत्तरपुराणके संदर्भमें सुगमतापूर्वक सुलझाया जा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका वयोमान-निर्धारण महाभारतकाण्डके तिथिनिर्धारणपर निर्भर करता है। वराहमिहिरके वचनोंका मनमाना अन्वय लगाकर इतिहासकारोंने महाभारतकाल २४४८ ईसापूर्वमें परिकल्पित कर रक्खा है। इधर प्रख्यात इतिहासकार कल्हणने कलिसंवत् ६५३ में महाभारत समरकी बात उठायी है, जो तिथिविज्ञानके अनुसार इतिहासकारोंकी स्थापनाकी पुष्टि करती है। इतिहासकारोंकी उक्त स्थापना न केवल पौराणिक संदर्भोंके विपरीत[६] है,

---

१. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
(गीता ४। ५)

२. पञ्चत्रिंशदुत्तरं च शतं वर्षं च भूतले।
उषित्वा कृष्णचन्द्रश्च ततो गोलोकमागतः॥
(भविष्यपुराण)

३. यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो॥
(भागवत)

४. आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षट्-द्विक-पञ्च-द्वियुतः शककालः तस्य राज्ञश्च॥
(राज० तर० १। ५६)

अर्थात् २५२६—७८=२४४८ ईसापूर्वमें महाभारत संग्राम हुआ।

५. [क] शतेषु षट्सु सार्धेषु अधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन् कुरुपाण्डवाः॥
(राज० १। ५१)

[ख] प्रयाते अधिकेऽप्यर्थं समाः षट्कशते कलेः।
काश्मीरेष्वास्त गोनन्दः पार्थानां सेवया नृपः॥
(राज० ८। ३४०७)

अर्थात् ३१०१ ईसापूर्वसे—६३५ घटानेपर= २४४८ ईसापूर्व पूर्ववत् सिद्ध हुआ।

६. यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदा दिने।
प्रतिपन्नः कलियुगस्तस्य संख्यां निबोधत॥
(वायुपुराण ९९। ४२८)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका अन्तर्धान ३१०१ ईसापूर्वमें हुआ—यह पुराणसम्मत है और तिथिविज्ञानपर पूर्णतया आधृत है। ३१०१ ई० पूर्व=००-कलिपूर्व।

बल्कि वराहमिहिर एवं कल्हणकी काल-गणनासे भी समन्वय खो चुकी है।[७]

वास्तवमें महाभारतकाण्ड ३१४८ ईसापूर्व [४७ कलिपूर्व] में घटा था। ३१४८ ईसापूर्व तथा २४४८ ईसापूर्वमें ७०० वर्षोंका अन्तराल है। इतिहासमें व्याप्त इस ७०० वर्षीय भूलका जबतक सम्मार्जन न किया जायगा, तबतक इतिहास-मार्ग प्रशस्त न हो सकेगा[८]। इतिहासमें ७०० वर्षीय भूलकी उपज भी अकारण नहीं है। भारतवर्षमें नन्दवंशने कितने वर्ष राज्य किया? जबतक इस तथ्यका अनुसंधान न किया जायगा, तबतक सभी प्रकारकी भ्रान्तियाँ एवं विसंगतियाँ उभरी-उभरी ही रहेंगी। महाकवि दण्डीने नन्दका शासनकाल ८८ वर्ष लिखा है।[९] पुराण-ग्रन्थोंमें यह शासनकाल १०० वर्ष ही लिखा है।[१०] वास्तवमें ८८ वर्ष अथवा १०० वर्ष नन्दका शासनकाल है, नन्दवंशका नहीं। नन्दवंशने पूरे ८०० वर्ष भारतवर्षमें शासन किया था। भारतके प्रख्यात ग्रन्थ सुमतितन्त्रमें नन्दवंशके ८०० वर्षीय शासनकालका निर्देश निर्भ्रान्त शब्दोंमें अङ्कित है।[११] इतिहासकार भ्रमवश एक या दो नन्दोंके शासनका कालमान १०० वर्ष ही कूतते रहे और नन्दवंशको दृष्टि-ओझल रखकर ८००−१००=७०० वर्षोंको बराबर चूकते रहे। यदि आज नन्दवंशके शासनकालका नूतन अनुसंधान किया जाय और १०० वर्षीय नन्द-शासनको ८०० वर्षीय नन्दवंश-शासनमें परिणत किया जाय तो महाभारतसे लेकर अद्यावधि इतिहासका तिथिक्रम ठीक हो जाय। सो, जब हम इतिहासकारोंकी स्थापना—२४४८ ईसापूर्वमें महाभारतकाण्ड हुआ—में ७०० वर्षीय भूलका सम्मार्जन करते हैं तो २४४८+७००=३१४८ ईसापूर्वमें महाभारतकाण्डकी सम्भावनापर स्थिर हो जाते हैं।

श्रीकृष्णजन्म, महाभारतसंग्रामकाल

संग्रामकालमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज केवल ८८ वर्ष ४ मासके युवक थे। वयोमानमें महाराजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, सुयोधन आदि महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजीसे ज्येष्ठ थे; व्यास, द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह प्रभृति उनसे वृद्ध माने जाते थे। यद्यपि उनकी यह अष्टाशीति [८८] वयोमात्रा साक्षात् किसी पुराणग्रन्थमें वर्णित नहीं है; तथापि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परम्परागत जन्मकुण्डली—जो गर्गमहाराज-जैसे ज्योतिर्विज्ञर्षिद्वारा प्रणीत है और ज्योतिर्विद्-समाजद्वारा सुरक्षित है—एवं महाभारतकालीन ग्रहस्थितिके[१२]

---

७. द्रष्टव्य—कल्हणकृत कालगणना (नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष २८ अंक १-२ वर्ष २०२० विक्रमी।)

८. जैन-समाज महावीरका समय ५२७ ईसापूर्व मानता है; पुराण-मतानुसार, राजतरङ्गिणीके कालक्रमानुसार एवं स्वयं जैन-ग्रन्थोंके संदर्भानुसार महावीर स्वामीका समय १२२७ ईसापूर्व सिद्ध होता है। इसमें भी ७०० वर्षीय च्युतिपर विचार करनेकी आवश्यकता है। ५२७+७००=१२२७ ईसापूर्व।

९. एष खल्विदानीम् अष्टाशीतिम् अद्धानतीत्य निष्ठिते महापद्मे तत्पुत्रानष्टौ······दशभिर्वत्सरैकैकमुद्धृत्यापकोपितेन मनस्विना चाणक्येन मौर्यचन्द्रगुप्तः प्रतिष्ठापितः। (पृष्ठ १८३)

१०. भुक्त्वा महीं वर्षशतं ततो मौर्यान् गमिष्यति।—अग्निपुराण

११. [क] युधिष्ठिरो महाराजो दुर्योधनस्तथापि वा।
उभौ राजौ सहस्रे द्वे वर्षस्तु सम्प्रवर्तति॥
नन्दराज्यं शताष्टं वा चन्द्रगुप्तस्ततो परम्।
राज्यं करोति तेनापि द्वात्रिंशच्चाधिकं शतम्॥
राजा शूद्रकदेवश्च वर्षसप्ताब्धि चाश्विनौ।
शकराजा ततो पश्चाद् वसु-रन्ध्र-कृतं तथा॥
(सुमतितन्त्र)

[ख] इन श्लोकोंमें आर्षसंस्कृत है।

[ग] सुमतितन्त्रकी दो प्रतियाँ वर्तमान हैं—१ प्रति ब्रिटिश म्यूजियममें सुरक्षित है और दूसरी प्रति नेपालस्थ विद्वद्वर पं० हेमराज शर्माके पास है। इन श्लोकोंको प्रचारित करनेका श्रेय श्रीमद्भगवद्दत्तजीको है [भारतवर्षका बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६६]

१२. श्वेतो ग्रहस्तथा चित्रां समतिक्रम्य तिष्ठति॥ १२॥
धूमकेतुर्महाघोरः पुष्यं चाक्रम्य तिष्ठति॥ १३॥
मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः।
भगं नक्षत्रमाक्रम्य सूर्यपुत्रेण पीड्यते॥ १४॥
शुक्रः प्रौष्ठपदे पूर्वे समारुह्य विरोचते॥ १५॥
रोहिणीं पीडयत्येवमुभौ च शशिभास्करौ।
चित्रास्वात्यन्तरे चैव विष्ठितः परुषो ग्रहः॥ १७॥
वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
ब्रह्मराशिं समावृत्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः॥ १८॥
संवत्सरस्थायिनौ च ग्रहौ प्रज्वलितावुभौ।
विशाखायाः समीपस्थौ बृहस्पतिशनैश्चरौ॥ २७॥
(भीष्मपर्व, अध्याय ३)

——भारतीय ज्योतिष, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, पृष्ठ १७० हिन्दी संस्करण। यह कुण्डली उसी उपलब्धिके अनुसार कल्पित की गयी है।

तुलनात्मक अध्ययनसे नितरां स्पष्टतया ज्ञात हो जाती है। यथा—

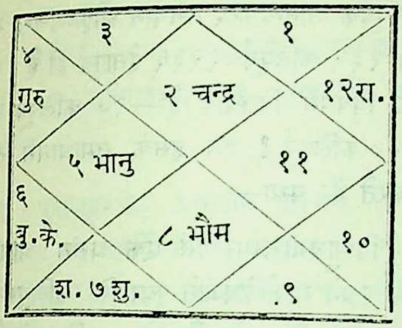
श्रीकृष्णजन्माङ्गम्

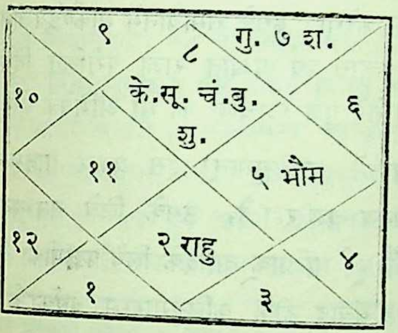
महाभारत-कुण्डली

इन दो कुण्डलियोंमेंसे शनि, गुरु तथा राहुकी समान-परिणाम-प्रसूत करनेवाली गणनाद्वारा अष्टाशीति [८८] वर्षीय अन्तराल कालकी कठोर परीक्षा की जा सकती है।

शनि—शनिदेव एक राशिमें ३० मास विश्राम करते हैं और ३० वर्षोंमें द्वादशराशीय अपना भगण समाप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके जन्माङ्गमें शनिदेव स्वोच्चराशि तुलामें वर्तमान हैं। महाभारतकालमें भी वह तुला राशिमें हैं। अतः ३०×३=९० वर्षोंमें शनिदेव तुलासे चलकर तुलामें जा पहुँचे हैं। यहाँ शंका होनी स्वाभाविक है कि गीता-गायनकालमें आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ८७॥-९० वयके किस वर्षमें थे ? इसका उत्तर राहुगति एवं गुरुगतिसे मिल जायगा।

राहु—यह ग्रह सदा वक्रगतिसे चलता है और एक राशिमें १८ मास विश्राम करके १८ वर्षोंमें अपना भगण समाप्त करता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जन्मकुण्डलीमें राहु मीन राशिमें हैं और महाभारतकालमें वृष राशिमें हैं। राहुको वृषसे वक्र चलकर मीनमें पहुँचनेके लिये २ वर्ष अभी शेष हैं। अतः १८×५=९० वर्षमेंसे २ गये, शेष ८८ रहे। राहुके अंशांशकी कल्पनामें २ वर्षका ही संशोधन होता है।

गुरु—गुरुदेव वक्री-मार्गीके वैषम्यका समाधान स्वयं करते-करते १२ वर्षोंमें अपना भगण समाप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके जन्माङ्गमें गुरु कर्क राशिमें हैं और उच्चांशमें हैं। महाभारतकालमें गुरुदेव तुला राशिमें थे। अतः १२×७=८४ वर्षोंमें गुरुदेव कर्कसे मिथुनतक पहुँच पाये एवं कर्क-सिंह-कन्या-तुला राशियोंमें ४ वर्ष व्यतीत कर गये। ८४+४=८८ वर्ष इस प्रकारसे फलीभूत होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका जन्म भाद्रपद कृष्णाष्टमी-के दिन माना जाता है। महाभारत-संग्राम [कुण्डलीके अनुसार] मार्गशीर्षमें हुआ था।[१३] अतः सूर्यगतिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण महाभारतकालतक ८८ वर्ष ४ मासके थे।

मास-गणनाका परित्याग भी कर दिया जाय तो ३१४७+८८=३२३५ ईसापूर्व, तदनुसार ४६+८८=१३४ कलिपूर्वमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने अवतार लिया था—इसमें कोई विकल्प नहीं।[१४]

महाभारत-पश्चाद्वर्ती द्वापरयुगीन इतिहास

महाभारतकाण्डके पश्चात् महाराज युधिष्ठिर सिंहासना-सीन हुए और धर्मपूर्वक उन्होंने शासन किया। उनका पूरा तिथिक्रम इस प्रकारसे है—

[१] महाराज युधिष्ठिर १५ वर्षतक अपने चाचा धृतराष्ट्रसे पूछ-पूछकर राज्य चलाते रहे। अर्थात् ३१४८-१५=३१३३ ईसापूर्व तक।[१५] इसके पश्चात् राजा धृतराष्ट्र भीमके व्यंग्य वचनोंसे आहत होकर वन-प्रस्थान कर गये।[१६]

---

१३. मासानां मार्गशीर्षोऽहम् । (गीता)

१४. गणनाको सरल रखनेके लिये हमने ३१४८ ई० पू० को ३१४७ ई० पू० लिखा है। वैसे ३१४८+८८=३२३६ ईसापूर्व=१३५ कलिपूर्व जन्मकाल यथार्थ है।

१५. पाण्डवाः सर्वकार्याणि सम्पृच्छन्ति स तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दशपञ्चकम् ॥
(आश्रमपर्व २ । ६)

१६. ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ।
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ॥
(आश्रमपर्व ३ । ६)

[२] पाण्डवनरेशने २१ वर्ष स्वायत्त शासन किया। अपने चाचाके प्रस्थानके पश्चात् पाण्डव स्वयं शासन चलाते रहे। अर्थात् ३१३३−२१=३११२ ईसापूर्वतक।

[३] १५+२१=३६वें वर्ष महाराज युधिष्ठिरको विपरीत लक्षण नजर आने लगे। विपरीत निमित्तसे तात्पर्य भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रह-परित्यागसे पूर्व अनिष्टसूचक अपशकुनोंसे है।[१७] वही हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके अन्तर्धानके पश्चात् पाण्डव अभिमन्युपुत्र परीक्षित्को अभिषिक्त कर हिमालय प्रस्थान कर गये। अर्थात् ३११२−१=३१११ ईसापूर्वतक।

[४] अभिमन्युपुत्र परीक्षित्ने ६० वर्ष राज्य किया। १० वर्ष कलिपूर्व एवं ५० कलियुगतक।[१८] अर्थात् ३१११−६०=३०५१ ईसापूर्वतक।

इस तिथिक्रमके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका अन्तर्धान ३१११ ईसापूर्व=१० कलिपूर्व प्रकट होता है। इस तिथिक्रमके अनुसार श्रीमद्भागवतवर्णित श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका वयोमान १२५ ही सिद्ध होता है।[१९] अतः ३१११+१२५=३२३६ ईसापूर्वमें भगवान्ने अवतार धारण किया—यही सुविचारित निष्कर्ष है।

१० वर्षोंका समाधान

भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजकी आयुष्य १३५ वर्ष अंकित है। श्रीमद्भागवत-पुराणके अनुसार वह कालमान १२५ है। संयोगकी बात है; दोनों पक्षोंके अनुसार जन्मतिथिमें कोई विसंवाद नहीं; यथा—

भविष्यपुराण—अन्तर्धान-तिथि ३१०१ ईसापूर्व; जन्म+१३५=३२३६ ईसापूर्व; भागवतपुराण—अन्तर्धान-तिथि ३१११ ईसापूर्व; जन्म+१२५=३२३६ ईसापूर्व।

निश्चयपूर्वक आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका प्राकट्य १३५ कलिपूर्व=३२३६ ईसापूर्व ही है। अलबत्ता अन्तर्धानके विषयमें विसंवाद है—१० कलिपूर्व अन्तर्धान हुए या ००-कलिपूर्व? हम इसके समाधानमें दो तथ्य उपस्थित करते हैं; यथा—

(१) विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें एक प्रसंग आया है।[२०] श्रीकृष्णपौत्र वज्रने मार्कण्डेयजीसे पूछा कि 'कलियुगसे [पूर्व] १० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अब कलियुगमें मैं कितने समय और शासन करूँगा एवं परीक्षित् कितने समयतक और शासन करेगा?' इसके समाधानमें मार्कण्डेयजीने कहा—'आजसे पचास वर्ष पश्चात् राजा परीक्षित् दिवंगत होंगे और तभी तेरे पुत्र 'अचल' का भी अभिषेक होगा।'

मूलपाठमें 'कलियुगात्' इस प्रकार पञ्चम्यन्त प्रयोग है। जो समय चल रहा है, उसके लिये सप्तम्यन्त प्रयोग होता है।[२१] पूर्व या प्राक् आदिके लिये पञ्चमीका ही विधान है।[२२] यह संवाद ठीक कलियुगारम्भ वर्षका है। अर्थात् ००-कलिवर्षमें खड़े होकर वज्रने प्रश्न किया और मार्कण्डेयने उत्तर दिया। कलियुगसे १० वर्ष पूर्व वज्रको शासन करते हुए तभी माना जा सकता है, जब श्रीकृष्णका अन्तर्धान

---

१७. षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
दद‍र्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥
(मौसलपर्व २ । २)

१८. [क] विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः।
षष्टिवर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति॥
(सौप्तिकपर्व १६ । १४)

[ख] प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन्॥
(आदिपर्व ४९ । १७)

१९. द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या—३

२०. संवत्सराणां दशकं तथा कलियुगाद् [प्राग्] गतम्॥५॥
वज्र उवाच—
कियत्कालपरीमाणं मया शास्या वसुंधरा।
परीक्षिता च धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि भृगूत्तम॥
मार्कण्डेय उवाच—
अद्यप्रभृति राजेन्द्र समाः पञ्चाशके गते॥ १०॥
परीक्षिति महाराजे दिवं प्राप्ते कुरूद्वहे।
मथुरायां तथा भावी तव पुत्रोऽचलो नृपः॥ १३॥

२१. यथा—रस-रस-व्योम-बाणमिते कलौ युगे…'इत्यादि। पञ्चाशके गते।

२२. अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते।
(अष्टाध्यायी २ । ३ । २९)
इस प्रकार इनके अर्थमें भी पञ्चमीका प्रयोग होता है।

३१११ ईसापूर्वमें माना जाय। यदि भगवान्‌का अन्तर्धान ३१०१ ईसापूर्व=०० कलिपूर्वमें[२३] मान लें तो महाभारत-कालमें तथा श्रीकृष्ण-प्राकट्यकालमें १०-१० वर्षकी क्षति मानकर गणना करनी पड़ेगी, जिससे अन्य अनेक प्रश्नचिह्न खड़े हो जायँगे। अतः भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका अन्तर्धान १० कलिपूर्व=३१११ ईसापूर्वमें मानना ही श्रेयस्कर है।

(२) पुराणग्रन्थोंमें यथापाठ यत्र-तत्र कालगणनाका निर्देश है, वह सब सप्तर्षि-संवत्‌के अनुसार है। सप्तर्षि-संवत्-पर हम सविस्तर अन्यत्र लिख रहे हैं।[२४] सप्तर्षि-संवत् एक दिव्यगणना है। उसके दिन, मास, पक्ष, वर्ष एवं कल्पादि सब दिव्य-गणना-विधानके अनुसार ग्राह्य होते हैं।[२५]

सामान्य नियमानुसार १८ सौ वर्षोंका एक दिव्य दिवस होता है। इस नियमानुसार ९ सौर वर्षका दिवस और ९ सौर वर्षकी रात्रि मानी जायगी। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र महाराजने कलियुगसे एक दिव्य दिवसपूर्व सायंकाल=सौर मानानुसार १० वर्ष पूर्व अपनी लीलाका संवरण कर लिया तथा मानवीचरित्रका अन्तिम पटाक्षेप कर दिया। स्पष्ट है, जबसे सप्तर्षिकालमानका अन्तर्भाव हुआ है, जबसे दिव्यगणनाका लोप हुआ है, तबसे भगवान् श्रीकृष्णके कालमानमें १० वर्षोंका विसंवाद उठ खड़ा है। वायुपुराणके ९९ अध्यायके ४२८ वें श्लोकके अनुसार जिस दिन भगवान् अन्तर्धान हुए, उसी दिन कलियुगका आरम्भ हुआ। दिव्य कालगणनाकी उपेक्षा करनेवाली प्रतिज्ञा 'एक दिन' का अर्थ ००—कलिपूर्व=३१०१ ईसापूर्व ही लगायेगी, इससे भिन्न नहीं; दिव्य कालगणनाको संदर्भमें रखकर निर्णय लेनेवाली प्रतिभा दिव्यदिवस [१८ सौर वर्ष] के अर्ध कालमानके अनुसार १०=कलिपूर्व=३१११ ईसापूर्व ही अर्थ लगायेगी। अतः भागवतपुराणमें तथा भविष्यपुराणमें आगत श्रीकृष्णचन्द्रवयोमात्रामें १० वर्षकी घटा-बढ़ीका रहस्य यही है।

२० अगस्त १९६५ में होनेवाली जन्माष्टमीके पुण्यपर्व-पर आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजका ५२०१ वाँ प्राकट्य-महोत्सव मनाया जायगा।[२६]

सुविचारित निष्कर्ष—

१. महाभारतकाण्ड ३१४८ ईसापूर्वमें ही घटित मानना चाहिये। यदि इसमें १० वर्षकी क्षति उठाकर ३१३८ ईसापूर्व मान लिया गया तो भगवान् श्रीकृष्णके जन्मकाल तथा महाभारतकाण्डकालका अवधान ८८ वर्षोंसे बढ़कर ९८ वर्ष हो जायगा, जो गुरु-राहु-शनिके कालमानके लिये असह्य हो जायगा।

२. महाभारतकालीन इतिहास तथा विष्णुधर्मोत्तर-पुराणके संदर्भमें भगवान् श्रीकृष्णका अन्तर्धान ३१११ ईसापूर्वमें ही सम्भव है; और तभी श्रीमद्भागवतका संदर्भ भी चरितार्थ माना जा सकता है। तीन-तीन ग्रन्थसंदर्भोंके समवेत फलितार्थोंकी उपेक्षा कर सकना आसान न होगा।

३. भागवतपुराण तथा भविष्यपुराणका अन्तर्धान विषयक तिथिमान-वैषम्य सप्तर्षि-संवत्‌के अन्तर्भावसे हुआ है। तर्कसंगत एवं संदर्भसिद्ध भगवान्‌का अन्तर्धान-वर्ष १० कलिपूर्व एवं अपनी आयुष्य १२५ वाँ वर्ष है।

ये पंक्तियाँ केवल भावोद्रेकके कारण प्रकाशमें नहीं

---

[२३] द्रष्टव्य टिप्पणी संख्या—२ तथा ६।

[२४] प्रकाश्यमान ग्रन्थ भारतीय संवत्।

[२५] त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशद्यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः॥ वायुपुराण ५७। १७
षष्टिर्दैवतयुगानां चैकसप्ततिरेव च।—
त्रिंशद्यान्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः॥ वायुपुराण ९९। ४२० पाठान्तर
सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्॥ ९९। ४१९
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्।
सा सा दिव्या स्मृता षष्टिर्दिव्याह्नाश्चैव सप्तभिः॥
तेभ्यः प्रवर्तते कालो दिव्यः सप्तर्षिभिस्तु तैः। ९९। ४२० पाठान्तर
सप्तर्षीणां तु ये पूर्वा दृश्यन्ते उत्तरादिशि।
ततो मध्येन च क्षेत्रं दृश्यते यत्समं दिवि॥ ९९। ४२१
तेन सप्तर्षयो युक्ता ज्ञेया व्योम्नि शतं समाः।
नक्षत्राणामृषीणां च योगस्यैतन्निदर्शनम्॥ ९९। ४२२

[२६] [क] ३२३६+१९६५=५२०१: ईसवीय गणनानुसार।
[ख] १३५+५०६६=५२०१: कलिगणनानुसार।

आर्यी; न इनके पीछे मात्र श्रद्धाका बल निहित है। भावना एवं श्रद्धा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके प्रति हमें अधिक-से-अधिक विनम्र ही बना सकती हैं। इन पंक्तियोंमें उपस्थित पौराणिक संदर्भोंका जो समुचित समन्वय किया गया है, उसके पीछे अभिनव अनुसंधानकी भावना निहित है। अभीष्ट अर्थ-संदोहनके लिये शब्दोंकी खैंचतान हमें इष्ट नहीं है। हमारी मंगलनिष्ठा केवल इस बातके है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजकी पावन एवं लीलाको इतिहासके पृष्ठोंमें शोभन-स्थान मिल सके—इत्यलम्।

['भगवान् श्रीकृष्णकी डायरी'का भूमिका-भाग]

स्नायुमण्डलका तुलनात्मक अध्ययन*

(लेखक—डा० श्रीशान्तिप्रकाशजी आत्रेय एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

पाश्चात्त्य शरीर-विज्ञान (Physiology) अधिक प्राचीन नहीं है। चिकित्सक विलियम हार्वे (William Harvey) के द्वारा १६२८ ई०में किये गये रक्तपरिसंचरण (Blood Circulation) अन्वेषणसे ही इसकी नींव पड़ी है। अर्ध १९वीं शताब्दी तक इसकी प्रगति बहुत धीरे-धीरे हुई थी, भले ही उस कालमें आगेकी प्रगतिके आधारभूत कुछ अन्वेषण हुए थे। ऐसी स्थितिमें भला आधुनिक युगके लोग यह कैसे मान सकते हैं कि भारतवर्षमें शरीर-विज्ञान (Physiology) का ज्ञान अतिप्राचीन कालमें भी आधुनिक कालके पाश्चात्त्य शरीर-विज्ञानके ज्ञानसे अगर अधिक नहीं तो, किसी भी हालतमें न्यून नहीं था। किंतु शास्त्रोंके अध्ययनके द्वारा इसकी (भारतीय शरीर-विज्ञानकी) प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। भारतवर्षमें शरीर-विज्ञान (Physiology) का ज्ञान ही योग तथा दर्शनका आधार था। अतः शरीर-विज्ञान (Physiology) भारतवर्षमें प्राचीनतम है। मानव-शरीर ही सम्पूर्ण कर्म-साधनाका आधार है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये नर-देहका ज्ञान अति आवश्यक है; क्योंकि जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें विद्यमान है, वह सब मानव-शरीरमें भी सूक्ष्मरूपसे विद्यमान है। 'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'। यदि हम ठीक-ठीक समग्र विश्वको जानना चाहते हैं तो उसके लिये हमें ठीक तरहसे मानव-शरीरको जानना चाहिये। इस तरहसे भारतवर्षमें मानव-शरीरका अध्ययन अति प्राचीनकालसे ही परम आवश्यक समझा जाता था। वेदोंमें भी इसको वर्णित किया गया है। अथर्ववेदमें मानव-शरीरको आठ चक्र, नौ द्वारोंवाली देवोंकी अयोध्यापुरी कहा गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(का०—१०, अ० १, सू०—२, ३१

मानव-शरीर भोगायतन है। साथ-ही-साथ इसमें कर्म स्वतन्त्रता भी है, जिससे पूर्णत्वकी ओर बढ़ना हो सकता है क्योंकि उसके लिये (पूर्णत्व प्राप्त करनेके लिये) कर्म पर आना ही पड़ता है। इसी कारण परमार्थ-सिद्धिके लि मानव-शरीर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके ज्ञान ही विश्वातीत सत्ताका ज्ञान भी अवलम्बित है। अ भारतीय परम्परामें मानव-शरीरका सही-सही पूर्ण त निश्चित ज्ञान अनिवार्य-सा ही था। उसके बिना एक प भी बढ़ना कठिन था। भारतीय मनोविज्ञान शरीर-विज्ञानके ऊपर आधारित है। दिव्य देह प्राप्त करने तथा अम प्राप्त करनेके लिये यथार्थरूपसे मानव-देह-ज्ञान, प्राची योगी लोग आवश्यक समझते थे। प्राचीन योगियों मानव-देहका अच्छी तरहसे विश्लेषण किया है जो वि योग-ग्रन्थोंमें विभिन्न स्थलोंपर अपने-अपने ढंगसे दि गया है। योगाभ्यासके लिये मानव-शरीरमें विद्यमान चक्रों (९ चक्रों), सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों, पाँ आकाशों, बारह ग्रन्थियों, तीन शक्तियों, तीन धाम त नाड़ीचक्रका प्रधानरूपसे क्रमशः ज्ञान होना अ आवश्यक है।

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥

(सि० सि० पद्धति २। ३१

---

* विशद विवेचनके लिये लेखकके 'योग-मनोविज्ञान' तथा 'भारतीय मनोविज्ञान' नामक ग्रन्थ देखनेका कष्ट क

(डा० शान्तिप्रकाश आत्रेय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, सिटी पैलेस बलरामपुर, गोंडा, उ० प्र०)

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥
(गोरक्षपद्धति १३)

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्॥
(योगचूडामण्युपनिषत् ३)

योगीको तो मानव-शरीरमें स्थित इन आन्तरिक विषयोंका ज्ञान भली प्रकारसे होना ही चाहिये। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार—ये योगग्रन्थोंमें दिये गये चक्रोंके प्रचलित नाम हैं। (‘योगमनोविज्ञान’ अध्याय २६में पृष्ठ ३६७ से ३८३ तक) सहस्रार चक्रको चक्र नहीं माना गया है। अतः षट् चक्र ही कहे जाते हैं। नाथयोगी इन चक्रोंकी संख्या ९ मानते हैं। ‘सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति’में ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान-चक्र, नाभिचक्र, हृदयद्वार, कण्ठचक्र, तालुचक्र, भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र, आकाशचक्र नाम मिलते हैं। (‘सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति’ २। १ से ९ तक।) सोलह आधारों, अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और मध्यलक्ष्य (उभयलक्ष्य), इन तीनों लक्ष्यों तथा निर्गुण आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश आदि पञ्च आकाशोंका विवेचन ‘सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति’ तथा अन्य योग-ग्रन्थोंमें मिलता है। (सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति २। १० से ३० तक) इसके अतिरिक्त शुद्ध चेतनके आवरणस्वरूप १२ ग्रन्थियोंका भी ज्ञान योगीको होना चाहिये, जिनका उल्लेख तान्त्रिक योग-ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है। माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद और शक्ति—ये १२ ग्रन्थियोंके नाम हैं। चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि—ये तीन धाम हैं। (तान्त्रिक वाङ्मयमें शाक्त दृष्टि-देह-विज्ञान १११, ११२) योग-ग्रन्थोंमें मुख्यरूपसे १४ नाड़ियोंके नाम प्राप्त होते हैं। जिनमें इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं। इनमें भी सुषुम्नाका स्थान योगमें सर्वोच्च है। अन्य सब नाड़ियाँ उसके अधीन हैं। नाड़ियोंकी संख्या अधिकाधिक ही होती चली जाती है। नाड़ियाँ तथा उपनाड़ियाँ सचमुचमें अनन्त हैं। उनमें सम्पूर्ण शरीर गुथा हुआ है। वे हमारे रोम-रोमसे जुड़ी हैं। (योगमनोविज्ञान पृष्ठ ३४७ से ३८९ तक)

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि प्राचीन योगियोंको शरीर-विज्ञानका भली प्रकार ज्ञान था। विद्वानोंको इस ओर ध्यान देना चाहिये तथा इस बातका अन्वेषण करना चाहिये कि भारतीय प्राचीन शरीर-विज्ञान (Physiology) का ज्ञान आधुनिक पाश्चात्त्य शरीर-विज्ञान (Physiology) की तुलनामें कौन-सा स्थान प्राप्त करता है। वह किस सीमा तक निम्न, समान वा अधिक है। दूसरे, विद्वानोंको इस बातका भी अन्वेषण करना चाहिये कि प्राचीन विद्वानोंने यह ज्ञान कैसे प्राप्त किया था? क्या इस पद्धतिसे आज भी यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? शास्त्रोंमें हमें विच्छेदन-क्रिया (Dissection) के प्रमाण भी मिलते हैं। तक्षशिला आदि शिक्षा-केन्द्रोंमें शल्य-चिकित्सा-शिक्षणके प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। रोगीकी हृदय-शल्य-क्रिया विद्यार्थियोंको परीक्षामें दिये जानेके प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

पाश्चात्त्य आधुनिक शरीर-विज्ञानमें स्नायुमण्डलके अन्तर्गत केन्द्रीय स्नायुमण्डल, स्वतः संचालित स्नायुमण्डल तथा सम्पूर्ण नाड़ी-जालका विवेचन किया गया है। केन्द्रीय स्नायुमण्डलके अन्तर्गत सुषुम्ना तथा मस्तिष्क आते हैं।

(१) सुषुम्ना[1]

तन्त्रों तथा सब योगशास्त्रोंमें सुषुम्नाका विवेचन अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। शाण्डिल्योपनिषद्में स्पष्ट-रूपसे दिया है कि सुषुम्ना गुदाके पीछे मेरुदण्ड (Vertebral Column) में विद्यमान है, जिसमें ब्रह्मरन्ध्र ऊपर शीर्षतक चला गया है, जहाँ जाते-जाते यह स्पष्ट, सूक्ष्म तथा व्यापक हो जाता है। इस सुषुम्नाको विश्वधारिणी तथा मोक्षका मार्ग बताया है। यहाँ इस कथनसे स्पष्ट है कि यहाँ सुषुम्ना, मेरु-दण्ड-रज्जु तथा ब्रह्मरन्ध्र, मेरु-दण्ड-रज्जुका केन्द्रीय छिद्र (The central canal of the Spinal Cord) ही है जो निम्न भागसे प्रारम्भ होकर खोपड़ीके छिद्र (Foramen Magnum) तक चला जाता है।

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते।

गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति॥

(शाण्डिल्योपनिषद् १। ४। १०)

यह छिद्र खोपड़ीके पीछेवाली हड्डी (Occipital bone)

---

[1] १. योगमनोविज्ञान—२६ अध्याय।

में स्थित है। योगशिखोपनिषद्में हृदयकी १०१ नाड़ियोंका विवेचन मिलता है, जिनमेंसे एक नाड़ी शीर्षकी तरफको सीधी चली जाती है। इन १०१ नाड़ियोंमें एक समस्त दूषणोंसे रहित परा नाड़ी है, जिसमें ब्रह्मरूप सुषुम्ना विद्यमान है। गुदाके पृष्ठभागमें शरीरको धारण करनेवाला मेरुदण्ड है। इसके खोखले भागमें इड़ा तथा पिंगलाके बीच ब्रह्मनाड़ी स्थित है। इस ब्रह्मनाड़ीको ही सुषुम्ना कहा गया है, जिससे शरीरकी समस्त नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं। इसीमें समस्त विश्व स्थित है। यही विश्वके प्राणियोंकी अन्तरात्मा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता।
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी॥
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित्॥
प्राणान् संधारयेत्तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरेव समभ्यसेत्॥
गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन्वीणादण्डस्तु देहभृत्।
दीर्घास्थिदेहपर्यन्तं ब्रह्मनाडीति कथ्यते॥
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूर्यरूपिणी॥
सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नानानाडीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि॥

(योगशिखोपनिषद् ६। ४—९, १३)

सुषुम्नाके महत्त्वको भी इस उपनिषद्में बड़े सुन्दर ढंगसे बताया गया है—

गङ्गायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम्।
मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
श्रीशैलदर्शनान्मुक्तिर्वाराणस्यां मृतस्य च।
केदारोदकपानेन मध्यनाडीप्रदर्शनात्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
सुषुम्नायां यदा गोष्ठीं यः कश्चित्कुरुते नरः।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥
सुषुम्नैव वरं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः॥
अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमास्तथा।
सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(६। ४१—४६)

सुषुम्नाकी स्थिति शरीरके मध्यमें है, जो मूलाधारसे प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है।

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते।
सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति॥

(अद्वयतारकोपनिषद् ५)

त्रिशिखोपनिषद्में भी बताया है कि यह पद्म सूत्रकी तरह है तथा मूलाधार चक्रपर स्थित है और वहाँसे सीधे ऊपरकी ओर जाती है—

कंदमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी॥

(त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् मन्त्रभाग ६७)

दर्शनोपनिषद्में १४ नाड़ियोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनाड़ीको सुषुम्ना कहा है, जो रीढ़की हड्डियोंके छिद्रमें स्थित है। यह इन रीढ़की हड्डियोंके छिद्रोंमेंसे होकर सीधे मस्तिष्कतक चली गयी है—

कंदमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता।
तिष्ठन्ति परितस्तस्य नाड्यो मुनिपुंगव।
द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश॥
आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा।
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥
पृष्ठमध्यस्थिते नाम्ना वीणादण्डेन सुव्रत।
सहमस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता॥

(दर्शनोपनिषद् ४। ५—१०)

ब्रह्मविद्योपनिषद्में भी उपर्युक्त विवेचनके समान ही सुषुम्नाका परा नाड़ीके नामसे वर्णन मिलता है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मशिखा सा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथापरा॥

(ब्रह्मविद्योपनिषद् १०)

षट्-चक्र-निरूपणमें सुषुम्ना नाड़ीके भीतर वज्रा नाड़ी तथा वज्राके भीतर तीसरी चित्रणी नामक नाड़ी बतायी गयी है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सुषुम्ना नाड़ीमें कई नाड़ियाँ सम्मिलित हैं तथा ब्रह्मनाड़ी, चित्रणी, वज्रा, सुषुम्ना ये सब मिलकर मेरु-दण्ड-रज्जु (Spinal Cord) कही

सकती हैं। मेरुदण्ड (Vertebral Column) में ही सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी तथा मनोवहा नाड़ी स्थित हैं। शिवसंहितामें मेरु-दण्ड-रज्जुकी सबसे भीतरी चित्राके सूक्ष्मतम छिद्रको ब्रह्मरन्ध्रका नाम दिया गया है। चित्रा सुषुम्नाके मध्यमें फैली हुई है। यह सुषुम्नाका केन्द्र तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मार्मिक भाग है। यह अमरत्व प्रदान करनेवाली तथा ध्यान करनेसे योगीके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाली है। शिवसंहितामें सुषुम्नाको ही ब्रह्ममार्गसे सम्बोधित किया है। मस्तिष्कीय रन्ध्रपर ही सुषुम्नाका मस्तिष्कसे सम्बन्ध होता है। चित्रा पाँच मौलिक रंगोंवाली चमकदार बतायी गयी है।

तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा मम वल्लभा।
ब्रह्मरध्रं च तत्रैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शुभम्॥
पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णामध्यचारिणी।
देहस्योपाधिरूपा सा सुषुम्णामध्यरूपिणी॥
दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम्।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो दुरितौघं विनाशयेत्॥
(शिवसंहिता २। १८—२०)

आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंका सिद्धान्त है कि इन पाँच मौलिक रंगोंके मिश्रित होनेपर भूरा रंग बन जाता है। अतः चित्राको चमकदार भूरे रंगकी बताया गया है। सुषुम्नाको श्वेत कहा है। ऋग्वेदके सौभाग्य-लक्ष्मी-उपनिषद्में भी सुषुम्नाका रंग श्वेत कहा है। सुषुम्नाकी स्थिति इड़ा और पिङ्गलाके मध्यमें बतायी गयी है।

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम्, तत्र वामे इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्णां श्वेतवर्णां ध्यायेत।

शिवसंहितामें सहस्रदल-कमलको सुषुम्ना-छिद्रके ऊपरी भागपर स्थित बताया है। वहाँसे लिंग और गुदाके बीचके स्थानतक सुषुम्ना चली आती है। अन्य सब नाड़ियाँ इसे घेरे हैं तथा इसके आश्रित हैं। सुषुम्ना, अधोमुखी योनिसे जो कि सहस्रदलकमलके मध्यमें है, निकलकर मूलाधार तक जाती है तथा सुषुम्ना-छिद्र भी इस छिद्रसे प्रारम्भ होकर मूलाधारतक चला गया है। ऊपरी छिद्रसे लेकर सुषुम्ना-छिद्रसहित समस्त छिद्रको ही, जिसमें मस्तिष्कका खोखला भाग भी सम्मिलित है, ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है।

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥
तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारेण योन्यन्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः॥
ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः।
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुराहितम्।
तत्कंदे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥
तस्या मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम्॥
(शिवसंहिता ५। १५९—१६२)

तन्त्रोंमें मस्तिष्क और सुषुम्नाको ही चेतनाका केन्द्र माना है। मस्तिष्क और सुषुम्नाके नीचेसे ऊपरके सब भागोंसे ही चेतनाका कार्य होता है। सुषुम्नाके भीतर चित्रानामक शक्तिमेंसे होकर चेतनाका प्रवाह चलता है। सुषुम्नाके आधारमें स्थित खोखले स्थान ब्रह्मरन्ध्रके मुखपर ही इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना मिलती हैं। इस स्थानको त्रिवेणीका प्रयाग कहा गया है।

ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम्॥
(शि० सं० ५। १७१, १७३)

सुमेरु पर्वतके समान ही शरीरके मध्यमें मेरु सुषुम्ना (Spinal Cord) है, जिसके ऊपर आठ कलाओंवाला अर्धचन्द्र स्थित है, जिसका मुख नीचेकी तरफको है तथा जिससे दिन-रात निरन्तर अमृतकी वर्षा होती रहती है। इस अमृतके दो भाग हो जाते हैं। एक भागके द्वारा मस्तिष्क और सुषुम्ना आदिकी रक्षा होती है, दूसरा भाग सुषुम्ना-रन्ध्रमें प्रवेश करता है तथा वहाँसे फिर वापिस होकर निकलता रहता है।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथा देशं व्यवस्थितः।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः॥
वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै॥
इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनी जलम्।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम्॥
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः॥
अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात्।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः॥
(शि० सं० २। ६—९)

सुषुम्नामें प्रतिक्षेप-क्रिया (Reflex Action) के केन्द्रों तथा उसके समन्वयात्मक कार्य आदिका विवरण शिवसंहितामें प्राप्त होता है। उसके अतिरिक्त सुषुम्नाके पाँचों विभागोंकी तरफ भी संकेत मिलता है, जो कि ग्रीवा-सम्बन्धी (Cervical), वक्षभाग (Dorsal), कमरका भाग (Lumbar), त्रिक भाग (Sacral), अनुत्रिक भाग (Coccygeal) है। ये पाँच भाग मेरुदण्डके हैं, जिनमें सुषुम्ना स्थित है।

> **इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु।**
> **षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥**
> **पञ्चस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च।**
> **प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रतः ॥**
> (शि० सं० २ । २७-२८)

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट होता है कि भारतीय प्राचीन शास्त्रोंमें किया गया सुषुम्नाका विवेचन आधुनिक शरीर-विज्ञान (Physiology) तथा शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy) के समान ही है। आधुनिक शरीर-विज्ञान (Physiology) के अनुसार भी मेरु-दंड-रज्जु (Spinal Cord) रीढ़की हड्डियों (मेरुदण्ड) के भीतर है। निम्न भागसे लेकर ऊपर सुषुम्ना शीर्ष (Medulla Oblongata) तक सुषुम्ना चली गयी है। इसी स्थानको शास्त्रोंमें त्रिवेणी वा प्रयाग कहा है। आधुनिक शरीर-विज्ञानमें भी इसका महत्त्व और कार्य शास्त्रोंमें कहे गये महत्त्व तथा कार्यके समान ही है। शरीर-विज्ञानमें इसके भीतरी पदार्थको भूरा बताया है। इस भूरे पदार्थ (Gray matter) को ही शास्त्रोंमें चित्रा कहा गया है, जिसका विवरण ऊपर किया जा चुका है। शरीर-विज्ञानमें भी इसके ऊपरी भागको शास्त्रोंके समान ही श्वेत माना है। यह उपर्युक्त पाँच विभागोंमें तो विभाजित है ही। सुषुम्ना-रन्ध्र ही जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है, शरीर-विज्ञान (Physiology) में मेरु-दण्ड-रज्जुका केन्द्रीय छिद्र (The Central Canal of Spinal Cord) कहा गया है। इस छिद्रमें सदैव प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal-fluid) प्रवाहित होता रहता है। (योग-मनोविज्ञान—अध्याय २६ । ३५९-३६३) इसे ही शास्त्रोंमें अमृत कहा है। शरीर-विज्ञानके अनुसार भी सुषुम्ना (Spinal Cord) से नाड़ियाँ उदय होकर सम्पूर्ण शरीरमें अपना जाल बिछाये हैं। आधुनिक शरीर-विज्ञान (Physiology) भी इसमें प्रतिक्षेप-क्रिया (Reflex Action) के केन्द्र तथा उसके समन्वयात्मक कार्यको मानता है। इस प्रकारसे सुषुम्नाकी रचना तथा कार्यका विवरण प्राचीन शास्त्रोंमें भी आधुनिक शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy) तथा शरीर-विज्ञान (Physiology) के ही समान है, बल्कि शास्त्रोंके सूक्ष्म अध्ययनसे तो यह प्रतीत होता है कि आधुनिक अन्वेषणोंके आधारपर प्राप्त ज्ञानसे भी उन्हें कहीं अधिक ज्ञान था।

(२) मस्तिष्क[1]

मस्तिष्कके विषयमें योगशास्त्रोंमें पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। शिव-संहितामें सहस्रारके मध्यमें उसे दो विभागोंमें विभाजित करनेवाली योनिका विवरण मिलता है, जिसके नीचे चन्द्रमा बताया गया है। सहस्रार बृहन्मस्तिष्कीय वल्क (Cerebral cortex) है तथा यह योनि महान्-रन्ध्र (Longitudinal fissure) है।

> **पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे सरोरुहे।**
> **तस्याधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ॥**
> (शि० सं० ५ । १७७)

१६ कलाओंवाले अमृतसे पूर्ण चन्द्रमाकी स्थिति सिरमें बतायी गयी है।

> **शिरःकपालविवरे ध्यायेद् दुग्धमहोदधिम्।**
> **तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥**
> **शिरःकपालविवरे द्विरष्टकलया युतः।**
> **पीयूषभानुं हंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ॥**
> (शि० सं० ५ । १८८-१८९)

इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्कके १६ विभाग हैं जो कि प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal fluid) से युक्त हैं। मस्तिष्कके ये १६ भाग शरीर-रचना-विज्ञान (Anatomy) के अनुसार निम्नलिखित हो सकते हैं।

१. बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum), २. लघु मस्तिष्क (Cerebellum), ३. सुषुम्ना शीर्ष (Medulla Oblongata), ४. सेतु (Pons), ५. मध्य मस्तिष्क (Mid brain), ६. महासंयोजक (Corpus Callosum), ७. रेखी पिण्ड (Corpus Striatum)

---

[1] १. योगमनोविज्ञान—२६ । ३६३-६७)

८. पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary gland), ९. शीर्ष-ग्रन्थि (Pineal gland), १०. चेतक (Thalamus), ११. अधश्चेतक (Hypothalamus), १२. अधस्थैलमस (Subthalamus), १३. अनुथैलमस (Metathalamus), १४. एपीथैलैमस वा ऊर्ध्व चेतक (Epithalamus), १५. रक्तक-जालिकाएँ (Choroid Plexuses), १६. ब्रह्मरन्ध्र (Ventricles) ।

बृहन्मस्तिष्कीय वल्क (Cerebral Cortex) को शिव-संहितामें शिवका स्थान कैलाश कहा है। यह समस्त ज्ञान तथा चेतनाका केन्द्र आधुनिक शरीर-वैज्ञानिकोंद्वारा भी माना गया है। योगशास्त्रोंमें तो इसका बहुत विस्तृत विवेचन प्राप्त होता ही है। प्राचीनकालीन योगियोंको बृहन्मस्तिष्कीय वल्कके स्थानोंका ज्ञान था। ये स्थान हमारे प्रत्येक अङ्गसे सम्बन्धित केन्द्र हैं—ऐसा ज्ञान भी योगियोंको था।

गुदमूलशरीराणि शिरस्तत्र प्रतिष्ठितम् ।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥
(गो० सं० १ । ७६)

सुषुम्ना शीर्ष (Medulla oblongata) का विवेचन योगशास्त्रोंमें मस्तिष्कके एक प्रमुख अङ्गके रूपमें मिलता है। यहाँपर सहानुभूतिक रज्जुओं (Sympathetic Cord) का मिलन होता है। यहींको होकर सब नाड़ियाँ अपने-अपने सम्बन्धित संवेदन क्षेत्रोंमें जाती हैं। यह गङ्गा (इड़ा), यमुना (पिङ्गला) तथा सरस्वती (सुषुम्ना) का मिलन-स्थान है, जिसे त्रिवेणी वा प्रयाग कहा गया है। शिव-संहितामें इसे अति गोपनीय तीर्थ बताया है।

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन् स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥
इडा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः ॥
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥
.... ।
नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ॥
(शि० सं० ५ । १७२—१७५, १८१)

शास्त्रोंके अनुसार यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह मेरु-दण्ड-रज्जुको मस्तिष्कसे मिलाता है। बृहन्मस्तिष्कीय वल्क (Cerebral Cortex) के परिवलनों (Convolutions) को चन्द्रकला कहा गया है। शास्त्रोंमें चेतक (Thalamus) को मनश्चक्र कहा गया है। मेरु-दण्ड-रज्जु वा सुषुम्ना मस्तिष्कके चौथे खोखले भाग (Fourth Ventricle) तक पहुँचती है। तथा अन्तिम ऊपरी हिस्सेमें खुलती है, जहाँसे तृतीय खोखले हिस्से (Third Ventricle) में पहुँचती है। ये सब खोखले हिस्से (Ventricles) तथा सुषुम्नाका केन्द्रीय रन्ध्र मिलकर ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है। ये सब रन्ध्र प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal fluid) से भरे रहते हैं। इसको शास्त्रोंमें अमृत कहा है। चारों रन्ध्रोंके ऊपरी भाग रक्तक-जालिका (Choroid Plexuses) को ढकनेवाले भाग एपीथीलियल (Epithelial) के द्वारा रक्तसे प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव विसरित होता है। मृदुतानिका (Pia mater) की तहें रन्ध्रों (Ventricle) के टेलाकोरायडिया (Tela-chorioidea) को बनाती हैं। इन तहोंकी रक्तवाहिकाओं (Blood vessels) से रक्तक-जालिका (Choroid Plexuses) निर्मित हैं। इन रक्तक-जालिकाओंसे ही प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal fluid) निकलता है।

प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रवसे पार्श्व-रन्ध्रों (Lateral Ventricles) के भर जानेपर मोनरो रन्ध्र (Foramen of Monro) से होकर तृतीय रन्ध्र (Third Ventricle) तथा उसके बाद नाली या कुल्या (Aqueduct) से होकर चतुर्थ रन्ध्र (Fourth Ventricle) से मेगेन्डी-मध्यवर्ती-रन्ध्र (Medial Foramen of Magendie) तथा दो पार्श्वलस्चका रन्ध्र (Two Lateral Foramina of Luschka) के द्वारा अधोजाल-तानिका-स्थलों (Subarachnoid space) में जाकर अनु-मस्तिष्क-कुण्ड (Cisterna Magna) में पहुँचता है। अनुमस्तिष्क-कुण्ड (Cisterna-Magna) से प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro spinal fluid) मेरु-दण्ड-रज्जु-छिद्र वा सुषुम्ना-रन्ध्र (Spinal Canal) में प्रवेश करता है तथा वहाँसे फिर ऊपरकी तरफको वापिस होकर अधोजाल-तानिका-स्थल (Subarachnoid space) में पहुँच जाता है। अनु-मस्तिष्क-कुण्ड (Cisterna Magna) से यह द्रव

समस्त मस्तिष्कके भागोंको तर करता रहता है । अधोजाल-तानिका देशोंसे यह द्रव जाल-तानिका-अङ्कुर (Villi of the Arachnoid mater) के द्वारा अवशोषित होता रहता है । यह निरन्तर उत्पन्न होता तथा निरन्तर ही रक्तमें मिलता रहता है । उपर्युक्त बहावके क्रमके साथ-साथ हर रन्ध्रमें यह उत्पन्न भी होता रहता है, जो कि उसीमें मिश्रित होता चला जाता है । सब रन्ध्र एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं तथा सुषुम्ना-रन्ध्र (The Central Canal of the Spinal cord) के सिलसिलेमें विद्यमान हैं । प्रत्येक पार्श्वरन्ध्र तीन शृंगों (The Anterior, Posterior and Inferior Horns or Carnua) में फैला है । प्रत्येक पार्श्वरन्ध्रकी दीवाल तथा छतमें रक्तक-जालिकाएँ (Choroid Plexuses) होता हैं । ये रक्तक-जालिकाएँ (Choroid Plexuses) तीसरे तथा चौथे रन्ध्रकी छतोंमें भी विद्यमान हैं । ये रक्तक-जालिकाएँ (Choroid Plexuses) मस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) की उत्पत्तिमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं । इस द्रवसे सब अधोजाल-तानिका-स्थल, मस्तिष्कके सब रन्ध्र तथा सुषुम्ना-रन्ध्र भरे रहते हैं, जिससे मस्तिष्क तथा सुषुम्नाकी सुरक्षा रहती है । प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) निरन्तर उत्पन्न होता रहता है तथा सामान्यतः जिस शीघ्रतासे उत्पन्न होता रहता है, उतनी ही शीघ्रतासे पुनः अवशोषित होता रहता है । यह क्रिया सदैव चलती रहती है ।

प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) के विषयमें शास्त्रोंमें ठीक उपर्युक्त शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) तथा शरीर-शास्त्र (Physiology) के समान ही विवरण प्राप्त होता है ।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधां वर्षत्यधोमुखः ।
ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥
इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम् ।
पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥
एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थित. ।
अपरः शुद्धदुग्धाभो हर्षकर्षितमण्डलः ।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥
मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ॥
पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ॥
एषा सूर्यपरामूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ॥
(शि० सं० २ । ६-१

शास्त्रोंमें शरीरको ब्रह्माण्ड कहा गया है, जि विश्वके समस्त देश विद्यमान हैं । तीनों लोकोंमें जो कुछ वह सब इस शरीरमें स्थित है । सुमेरु पर्वतके समान शरीरके मध्यमें मेरु सुषुम्ना (Spinal Cord) है, जि ऊपर आठ कलाओंवाला अर्ध-चन्द्र स्थित है, जिसका नीचेकी तरफको है तथा जिसमें दिन-रात निरन्तर अमृतका होता रहता है । यह विवरण ठीक ऊपर बताये हुए विवरण ही समान है । उपर्युक्त कथित रन्ध्रोंके भाग जि प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebrospinal fluid) उत्पन्न होकर निकलता रहता है, अर्धचन्द्राकार हैं त संख्यामें चार हैं । ये रन्ध्र निम्नलिखित आठ भागों विभक्त हैं, जिन्हें शास्त्रोंमें अष्टकला कहा गया है । रन्ध्रोंमेंसे दो पार्श्व-रन्ध्रों (Two Lateral Ventricles के अलग तीन-तीन विभाग (The Anterior, Posterior and Inferior Horns) हो जाते हैं, जो मिलकर आठ भाग हुए । ये सब अधोमुखा, जैसा शास्त्रोंमें लिखा है, होते हैं तथा निरन्तर प्रमस्तिष्कीय-मे द्रवको उत्पन्न करते तथा बहाते रहते हैं । इस प्रमस्तिष्की मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) के जिसको शि संहितामें अमृत नामसे सम्बोधित किया गया है, (शि संहिता २ । ५ । ६) दो भाग हो जाते हैं । एक भाग द्वारा समस्त शरीर अर्थात् मस्तिष्क और सुषुम्ना आदि रक्षा होती है, दूसरा भाग सुषुम्ना-रन्ध्रमें प्रवेश करता है तथा वहाँसे फिर वापिस होकर निकलता है । (शिव-सं २ । १०-११) यह अमृत जैसे-जैसे उत्पन्न होता रहता वैसे-वैसे ही अवशोषित भी होता रहता है । मेरु (Spi Cord) के मूल भागपर बारह कलावाला विद्यमान है, जो इस अमृत अथवा प्रमस्तिष्कीय-मेरु किरण-शक्तिसे पान करता रहता है, जो समस्त भ्रमण करता रहता है । (शिव-संहिता २ । १०-११) प्रकारसे शिव-संहिताका यह कथन स्पष्टरूपसे व्यक्त

कि यह प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) एक प्रक्रियासे रक्तके भीतर मिश्रित होकर समस्त शरीरमें भ्रमण करता रहता है ।

भारतीय शास्त्रोंमें हमें केवल इन सबका रचनात्मक तथा क्रियात्मक ज्ञान ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि इन सबको नियन्त्रित करके शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास करनेकी विधियाँ भी प्राप्त होती हैं । भिन्न-भिन्न केन्द्रोंपर संयम करनेसे अनेक अलौकिक शक्तियाँ उदय होती हैं। उदाहरणस्वरूप प्रमस्तिष्कीय-मेरु-द्रव (Cerebro-spinal Fluid) को विशिष्ट क्रियाके द्वारा जिह्वासे पान करके योगी मृत्युको जीत लेता है । रोगमुक्त होता है । अनेक शक्तियाँ प्राप्त करता है । अभ्यास बढ़ाते चलनेसे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त करता है । कामदेवके समान सुन्दर हो जाता है । भूख, प्यास, निद्रा और मूर्छा आदि उसे नहीं सताती ।

सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत् ।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम् ॥
राजदन्तबिलं गाढं सम्पीड्य विधिना पिबेत् ।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥
काकचञ्च्वा पिबेद्वायुं संध्ययोरुभयोरपि ।
कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ॥

(शिवसंहिता ३ । ८५–८८)

× × ×

दन्तैर्दन्तान्समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
ऊर्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥

(शि० सं० ३ । ९१)

× × ×

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥
रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥

(शि० सं० ३ । ९३–९५)

स्वतःसंचालित स्नायुमण्डल
(Autonomic Nervous System)

इस स्वतःसंचालित स्नायुमण्डलका आधार मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड (Vertebral Column) में स्थित वज्रा, चित्रणी आदि नाड़ियोंसहित सुषुम्ना नाड़ी (Spinal Cord) है । इस मस्तिष्क-मेरु-धुरी (Cerebro-spinal anis) से ही सम्पूर्ण स्वतःसंचालित स्नायुमण्डल सम्बन्धित है। इसमें बहुत-से चक्र तथा पद्म स्थित हैं। चित्रणी नाड़ी इन सब चक्रों तथा पद्मोंमेंसे होकर गुजरती है । यह तो आधुनिक शरीरविज्ञान (Physiology) के समान ही है । आधुनिक शरीरविज्ञानके अनुसार सुषुम्ना (Spinal Cord) के दोनों तरफ नीचेसे ऊपरतक समानान्तर स्नायुकोषोंके गुच्छोंकी एक जंजीर (Chain of Ganglia)-सी है जिनमेंसे निकलकर स्नायुतन्तु सम्पूर्ण आन्तरिक अङ्गोंमें जाते हैं । यह स्नायुमण्डल सभी भीतरी अङ्गोंका संचालन एवं नियन्त्रण करता है, जिसके लिये यह किसी बाह्य उत्तेजनाकी अपेक्षा नहीं रखता है । यह हमारी अनैच्छिक क्रियाओंसे सम्बन्धित है । इसी कारण इसे स्वतःसंचालित स्नायुमण्डल (Autonomic Nervous System) कहते हैं। संगीत-रत्नाकर (स्वराध्याय पिण्डोत्पत्ति-प्रकरण १४४–१५६) में मेरुदण्ड-रज्जुमें स्थित सुषुम्नाके दोनों तरफ समानान्तर स्नायुकोषोंके गुच्छोंकी जंजीरमेंसे बायीं ओरकी जंजीरको इडा तथा दाहिनी ओरकी जंजीरको पिङ्गला कहा है । अतः सुषुम्नाके बायीं ओर इडा तथा दाहिनी ओर पिङ्गलाकी स्थिति मानी है ।

इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णां सा समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥
पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
मध्यनाडीं समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ॥
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥

(शिव-संहिता २ । २५–२७)

योग-उपनिषदों तथा अन्य सब योगशास्त्रोंमें इडा तथा पिंगला नाड़ियोंको क्रमशः सुषुम्नाके बायें तथा दायें ही स्थित बताया है । इस प्रकारसे इन तीन नाड़ियोंके द्वारा ही मुख्य रूपसे यह स्वतःसंचालित स्नायुमण्डल निर्मित है । इनमेंसे ही नाड़ियाँ निकलकर सब आन्तरिक अवयवोंमें जाती हैं । उपर्युक्त विवरणसे यह नहीं समझना चाहिये कि इसका सम्बन्ध केन्द्रीय स्नायुमण्डल (Central Nervous System) से बिल्कुल ही नहीं है । केन्द्रीय स्नायुमण्डल काफी हदतक इसकी क्रियापर अपना असर डाल सकता है, किंतु साधारणतः

इन दोनोंकी क्रियाएँ अलग-अलग स्वतन्त्ररूपसे चलती रहती हैं ।

स्वतःसंचालित स्नायुमण्डल (Autonomic Nervous System) के दो मुख्य विभाग हैं । १–सहानुभूतिक (Sympathetic), २–उपसहानुभूतिक (Para-sympathetic) । सहानुभूतिक स्नायुमण्डलको थौरेसिको लम्बर मण्डल (Thoracico lumbor System) कहा जाता है तथा उपसहानुभूतिक स्नायुमण्डलको क्रेनियो-सैक्रल मण्डल (Cranio-sacral system) कहते हैं । इन दोनोंसे ही स्नायुसूत्र सब आन्तरिक अवयवोंमें जाते हैं । इन दोनोंकी प्रतिक्रिया एक-दूसरेसे विरोधी होती है । दोनोंके संतुलनपर ही स्वतःसंचालित स्नायुमण्डलकी क्रियाएँ आधारित हैं ।

योगीके लिये तो इसका ज्ञान अनिवार्य ही है; क्योंकि उसे समस्त भीतरी अङ्गोंकी क्रियाओंपर नियन्त्रण करना पड़ता है । सब आन्तरिक अङ्गोंको जिस प्रकारसे योगी क्रियाशील करना चाहे, कर सकता है । साधक इनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके ही योगसाधनकी तरफ चलता है । अतः सब योगशास्त्रोंमें इनका विवेचन स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है ।

उपसहानुभूतिक मण्डल (Para-sympathetic system) के त्रिक् भाग (Sacral part) के द्वारा ही मलत्याग, मूत्रत्याग तथा वीर्यस्खलन होता है । इस त्रिक् भागसे निकलनेवाली २, ३, ४, नाड़ियोंके द्वारा ये तीनों क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं । योगशिखोपनिषद्में इन तीनों नाड़ियोंके नाम क्रमशः कुहू, वारुणी तथा चित्रा हैं । संगीतरत्नाकरमें कुहू मेरुदण्ड-रज्जुके बायीं ओर त्रिक् जालक (Sacral plexus) की प्यूडिक नाड़ी (Pudic Nerve) बतायी गयी है । गान्धारीको बायीं जंजीर इडाके पृष्ठ भागमें बायीं आँखसे लेकर बायें पैरतक स्थित बताया है । ग्रीवा-जालक (Cervical Plexus) की कुछ नाड़ियाँ मेरु-दण्ड-रज्जुमेंसे होकर नीचेकी त्रिक् जालक (Sacral Plexus) की गृध्रसी-तन्त्रिका (Sciatic-Nerve) से मिलती हैं । हस्तजिह्वा बायीं जंजीर इडाके सम्मुख बायीं आँखके कोनेसे मेरु-दण्ड-रज्जुमेंसे होकर नीचे बायें पैरके अँगूठेतक फैली हुई है । सुषुम्नाके दाहिनी ओर सरस्वती नाड़ी जिह्वामें चली गयी है, जिसे कि ग्रीवा-जालक (Cervical Plexus) की अधोजिह्व तन्त्रिका (Hypoglossal-Nerve) कहा जा सकता है । दाहिनी जंजीर पिंगलाके पृष्ठभागमें पूषा दाहिनी आँखके कोनेके नीचे उदरतक चली गयी है । इसे ग्रीवा और कटि नाड़ियोंसे सम्बन्धित तार कहा जा सकता है । पयस्विनी पूषा और सरस्वतीके मध्यमें स्थित है । इसे ग्रीवा-जालक (Cervical plexus) की दाहिनी अलिन्द-शाखा (Auricular Branch) कहा जा सकता है । शङ्खिनी गान्धारी और सरस्वतीके मध्य ग्रीवाजालक (Cervical Plexus) के बायें अलिन्द शाखा (Auricular Branch) है । दाहिनी जंजीरके अग्र भागमें दाहिने अँगूठेसे दायें पैरतक यशस्विनी स्थित है । त्रिक् जालक (Sacral Plexus) नाड़ी कुहू और यशस्विनीके मध्यमें स्थित है । इसकी शाखाएँ नीचेके धड़ और अङ्गोंमें फैली हुई हैं । कटि-जालक (Lumbar Plexus) नाड़ियाँ विश्वोदरा कुहू और हस्तिजिह्वाके मध्यमें स्थित हैं । नीचेके धड़ और अङ्गोंमें इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं । अनुत्रिक नाड़ियाँ (Coccygeal Nerves) अलम्बुषा त्रिक कशेरुका (Sacral Vertebrae) से होकर जननमूत्र अङ्गोंतक फैली हैं ।

नाडीजाल

नाड़ियोंका विशद विवेचन हमें प्रायः सब योगग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है । सबने सुषुम्ना नाड़ीको ही मुख्य माना है तथा इस मुख्य नाड़ीके दोनों तरफ बायें तथा दायें स्थित इडा और पिंगलाका महत्त्व भी प्रदर्शित किया है, जिसका विवेचन किया जा चुका है । इन तीन नाड़ियोंके आधारपर ही अन्य सब नाड़ियोंकी स्थिति बतायी गयी है ।

दर्शनोपनिषद्में नाड़ियोंकी स्थितिका विवरण निम्नलिखित है——
(योगमनोविज्ञान–३५५ पृष्ठ)–

सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्ना पार्श्वयोः स्थिते ।
गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः ॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरा स्थिता ॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥
गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।
अलम्बुषा स्थिता पायुपर्यन्तं कंदमध्यगा ॥

पूर्वभागे सुपुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः ।
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुंगव ।
यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः ।
पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥
सरस्वती तथा चोर्ध्वं गता जिह्वा तथा मुने ।
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते ।
गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥
विश्वोदराभिधा नाडी कंदमध्ये व्यवस्थिता ।
(४ । १३–२३)

सुपुम्नाके बायें और दाहिने क्रमशः इडा और पिङ्गला स्थित हैं। सरस्वती और कुहू सुपुम्नाके अगल-बगल स्थित हैं। गान्धारा और हस्तिजिह्वा अग्रभागमें स्थित हैं। पिङ्गलाके पृष्ठ और अग्रभागमें पूषा और यशस्विनी स्थित हैं। कुहू और हस्तिजिह्वाके मध्यमें विश्वोदरा विद्यमान है। यशस्विनी और कुहूके मध्यमें वरुणा स्थित है। दर्शनोपनिषद् मूल ग्रन्थमें **'पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी'** इस प्रकारसे दिया है, जिसका अर्थ 'पूषा और सरस्वतीके मध्यमें यशस्विनी कही जाती है' किंतु हमको ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थलपर पयस्विनीकी जगह यशस्विनी अशुद्ध छप गया है। अतः यहाँपर हम यह कह सकते हैं कि पूषा और सरस्वतीके मध्यमें पयस्विनी है। गान्धारा और सरस्वतीके मध्यमें शङ्खिनी कही गयी है। कंदके मध्यमें गयी हुई अलम्बुषा गुदा तक स्थित है। पूर्णमासीके समान प्रकाशित सुपुम्नाके पूर्व भागमें कुहू स्थित है। यहाँपर सुपुम्ना स्पष्टरूपसे श्वेत बतायी गयी हुई मालूम पड़ती है। ऊपर और नीचे स्थित नाड़ी दायीं नासिकाके अग्रभाग तक चली जाती है। इडा बायें नाकके अन्ततक स्थित है। यशस्विनी बायें पैरके अंगूठेके अन्तिम भाग तक स्थित है। पूषा पिङ्गलाके पृष्ठभागमेंसे होकर बायीं आँख तक पहुँचती है। पयस्विनी दाहिने कानमें जाती है। इसी प्रकारसे सरस्वती जिह्वाके अग्रभागमें पहुँचती है और दाहिने पैरके अंगूठेके अन्त तक हस्तिजिह्वा जाती है। शङ्खिनी नामक नाड़ी दायें कानके अन्त तक जाती है। गान्धारा नाड़ीका अन्त दाहिने नेत्रमें होता है। विश्वोदरा नाड़ी कंदके मध्यमें स्थित है। दर्शनोपनिषद्में इन नाड़ियोंके देवताओंका भी विवेचन प्राप्त होता है। सुपुम्ना, इडा, पिङ्गला, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा, गान्धारा, पयस्विनी, विश्वोदरा, कुहू और शङ्खिनीके देवता क्रमशः शिव, हरि, ब्रह्मा, विराज, पूषन्, वायु, वरुण, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति, पावक (अग्नि), जठराग्नि और चन्द्रमा हैं।

उपर्युक्त विवरणसे घ्राण-नाड़ियाँ (Olfactory Nerves); श्रवण-नाड़ियाँ (Auditory Nerves); दृष्टि-नाड़ियाँ (Optic Nerves) तथा हाइपोग्लोसल (Hypoglossal) आदि अन्य नाड़ियोंके नाम स्पष्टरूपसे मिलते हैं।

डा० राखालदास रायजीने अपनी पुस्तक (Rational Exposition of Bharatiya Yoga Darshan, Page 99) में नाड़ियोंके आधुनिक शरीर-रचना-शास्त्रीय नाम निम्नलिखित प्रकारसे दिये हैं—

अलम्बुषाको अग्र रज्जुकामें स्थित ज्ञानवाही पूलिका (Sensory Fasciculus in the anterior Funiculus), कुहूको पश्च रज्जुकामें स्थित ज्ञानवाही पूलिका (Sensory Fasciculus in the posterior Funiculus); वरुणाको ऊर्ध्व हनु तथा अधो हनु नाड़ी (Maxillary of mandibular nerve), यशस्विनीको पार्श्व रज्जुमें ज्ञानवाही पूलिका (Sensory Fasciculus in the Lateral Funiculus), पिङ्गलाको दायीं तन्त्रिका सिरा (The right nervous terminale), पूषाको दृष्टि-नाड़ी (The Optic Nerve), पयस्विनीको प्रघ्राण-तन्त्रिका (Vestibular Nerve), सरस्वतीको अधोजिह्वा-तन्त्रिका (Hypoglossal or Lingual Nerve), शङ्खिनीको कर्णावर्त-तन्त्रिका (The Cochlear Nerve), गान्धाराको नेत्र-तन्त्रिका (The Opthalmic Nerve), इड़ाको बायीं तन्त्रिका सिरा (The left nervous terminale), हस्तिजिह्वाको जिह्वाग्रसनी तन्त्रिकाका ज्ञानवाही भाग (Sensory portion of the Glossopharyngeal Nerve) तथा विश्वोदराको वेगस तन्त्रिकाका ज्ञानवाही भाग (Sensory portion of the Vagus nerve) कहा है।

जिन नाड़ियोंके नाम योग-शास्त्रोंमें मिलते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी नाड़ियाँ हैं, जिनकी संख्याका उल्लेख

विभिन्न प्रकारसे विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलता है। सच तो यह है कि नाड़ियाँ ७२,००० वा ३००००० वा ३५०००० की संख्यामें ही नहीं हैं। ये तो अनन्त हैं, जो नाड़ियों तथा उपनाड़ियोंके रूपमें शरीरके एक-एक रोमकूपसे सम्बन्धित हैं। सम्पूर्ण स्थूल शरीरमें इन नाड़ियोंका जाल बिछा हुआ है। छोटे-से-छोटा स्थान भी इन नाड़ियोंसे रहित नहीं है। ये नाड़ियाँ स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारकी हैं। कुछ इन्द्रियोंद्वारा दृष्टिगोचर होता हैं, कुछ ऐसी हैं जो इन्द्रियोंके द्वारा यन्त्रोंकी सहायतासे भी दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। भौतिक विज्ञानको उन सूक्ष्म नाड़ियोंका ज्ञान नहीं है, किंतु योगियोंने उन सूक्ष्म नाड़ियोंके विषयमें भी ज्ञान प्राप्त किया था, जो कि योग-ग्रन्थोंसे स्पष्ट हो जाता है। सचमुचमें अभी तक हमारा वैज्ञानिक ज्ञान अधूरा है, जिसके द्वारा हमें अन्नमय कोष अर्थात् इस स्थूल शरीरके समस्त सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अङ्गोंका भी पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं है। अन्य सूक्ष्म जगद्विषयक तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी तो चर्चा करना बेकार ही है। वे बेचारे अपनी अनभिज्ञताके कारण सूक्ष्म विषयोंका अस्तित्व ही अस्वीकार कर बैठते हैं। योगी लोगोंने तो अनेकों इन्द्रियातीत विषयोंका ज्ञान स्वयं प्राप्त कर दूसरोंको भी प्रदान किया है। समाधि-प्रज्ञा-प्रकाशमें कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता है। फिर साधारण स्थूल-शरीर-अवयव-सम्बन्धित ज्ञानकी तो बात ही क्या है। आज सबका परम पावन कर्तव्य हो जाता है कि अपने उस प्राचीन ज्ञानको शास्त्रोंके गहन अध्ययन, मनन एवं उनके द्वारा बताये मार्ग-पर चलकर, प्राप्त कर उस ज्ञानप्रकाशकी किरणोंको समस्त विश्वको प्रदान कर दुःखित, पीड़ित तथा अज्ञानी प्राणियोंके दुःख, पीड़ा तथा अज्ञानको नष्ट कर विश्वका कल्याण करें। मेरा पूर्ण विश्वास है कि बिना शास्त्रकथित योग-साधनाके मार्गपर चले विश्वशान्ति एवं कल्याण प्राप्त नहीं हो सकता।

कलियुगमें कल्याणका उपाय

(लेखक—श्रीसत्यस्वरूपजी माथुर)

जिस युगमें जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा हमारे शास्त्रोंने दी है, उन कर्मोंको यदि उन युगोंमें किया जाता है तो अवश्य ही लाभ होता है। यह सिद्धान्त हमारे त्रिकालदर्शी पूज्य ऋषियोंका है जिसमें संदेहकी कोई गुंजाइश नहीं।

वर्तमान युगके लोगोंको यह सिद्धान्त इस प्रकार भी समझाया जा सकता है कि जैसे ऋतुएँ अपने प्रभावको सर्दी-गरमी और वर्षाके रूपमें दिखलाती हैं, उसी प्रकार युग भी अपने रूपको प्रकट करते हैं—जाड़ेकी ऋतुमें हम चाहे जितने गरम कपड़े पहनें तथा अग्नि और आधुनिक साधनोंका कितना भी सहारा लें, किंतु जाड़ेकी ऋतु अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रह सकती—इसी प्रकार कलियुगमें अन्य युगोंमें करनेयोग्य कर्मोंको करें तो उतना लाभ नहीं होगा जितना कि होना चाहिये—जैसे जाड़ेकी ऋतुमें अग्नि इत्यादिकी सहायतासे थोड़ी देरको जाड़ा मिट जायगा, किंतु फिर जाड़ा लगने ही लगेगा।

यह तो ऋतुओंकी पहचानका उदाहरण है, अब युगकी पहचान किस प्रकार की जाय यह एक प्रश्न है? और इसका सरल उत्तर यह है कि युगकी पहचान संसारके मनुष्योंके आचार-विचारसे होती है, जब पृथ्वीके अधिकांश मानव जिन आचार-विचारोंमें रत हों, उन आचार-विचारोंको शास्त्रोंसे मिलान कर लो। बस, समझमें आ जायगा कि यह अमुक युग है।

वर्तमान युगके अधिकांश व्यक्तियोंके आचार-विचार श्रीरामचरितमानसमें वर्णित कलियुगके प्रसंगसे बिल्कुल मिलते हैं। यह प्रसंग काकभुशुण्डि-गरुड़-संवादमें है जो उत्तरकाण्ड रामचरितमानसमें है। रामचरितमानसके प्रेमी सज्जन तो इस संवादसे भली प्रकार परिचित होंगे तथा वर्तमान युगको लगभग सभी भारतवासी कलियुगके नामसे ही पुकारते हैं। अतः श्रीकाकभुशुण्डिजीके आँखों-देखे कलियुगके हालको मैं यहाँ निवेदन नहीं कर रहा हूँ। इस निवेदनमें तो केवल कलियुगसे कल्याणका उपाय ढूँढ़नेका प्रयत्न है जो इस प्रकार है—

उत्तरकाण्ड रामचरितमानसमें श्रीकाकभुशुण्डिजीने कलियुगका हाल बताकर इसमें कल्याणका उपाय भी बतानेकी कृपा कर दी अर्थात् अन्तमें श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

दोहा—प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान ।
येन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान ॥
(१०३ (ख)

अर्थात् धर्मके चार पद हैं, किंतु कलियुगमें केवल एककी साधना आवश्यक है। वह धर्म है दान। दान जिस किसी भी तरीकेसे दिया जाय, कलियुगमें वह कल्याण ही करेगा, किंतु कलियुगके लोगोंके लिये श्रीकाकभुशुण्डिजीने यह भी कहा है—

'तपसी धनवंत दरिद्र गृही'

तथा—

'बिन अन्न दुखी सब लोग मरैं'

अर्थात् कलियुगमें गृहस्थ तो दरिद्र होंगे और अन्नाभावमें सब लोग दुखी होंगे तथा मरेंगे। अतः शंका यह उत्पन्न हो जाती है कि 'जब अधिकांश लोग दरिद्र और दुखी होंगे तो वे दान कहाँसे देंगे। दानकी वस्तुओंका विवरण आम तौरपर यह है कि दानमें रुपया, पैसा, सोना-चाँदी, अन्न-वस्त्र तथा ओषधि और हाथी-घोड़े, रथादि दिये जाते हैं। इन वस्तुओंमेंसे किसी एकको भी देनेकी सामर्थ्य वर्तमान युगकी महँगाईसे पीड़ित अधिकांश जनताकी नहीं है। इसका अर्थ यह निकला कि वर्तमान युगके अधिकांश व्यक्ति दान करके अपना कल्याण ही नहीं कर सकते यह तो काकभुशुण्डिजीकी तरकीब समझमें नहीं आयी।' यह प्रश्न मेरे भी मस्तिष्कमें उत्पन्न हुआ, किंतु मैंने सोचा कि श्रीकाकभुशुण्डिजी तो महान् थे, उनकी वाणी असत्य तो हो ही नहीं सकती, यह तो अपनी विचारशक्तिकी कमीका कारण है। अतः उपर्युक्त दोहापर पुनः विचार किया और भगवान्‌की कृपासे सही समाधान भी सामने आ गया, जो इस प्रकार है—

उपर्युक्त दोहामें जुड़े शब्द येन केन विधिका अर्थ है जिस किसी भी प्रकार जो दिया जाय वही दान है। और उससे कल्याण अवश्यम्भावी है। दानकी उपर्युक्त वस्तुएँ तो प्रत्येकको उपलब्ध नहीं, किंतु रामचरितमानसके अनुसार और भी कुछ है जिसे दिया जा सकता है और उसका तुरंत फल भी मिल सकता है। वर्तमान भौतिक विज्ञानके विद्वान् तुरंत फल मिलनेकी बातपर तो विश्वास करते हैं, शेष किसीपर नहीं। अतः तुरंत फल देनेवाले दानोंकी परिभाषा इस प्रकार है—अभयदान, विद्यादान, आरोग्यदान, आदरदान, मानदान, जलदान, फलदान, ज्ञानदान तथा श्रमदान। इनमें कुछ उपकरण ऐसे हैं जिन्हें व्यक्तिविशेष ही दे सकते हैं, जैसे अभयदान देनेके लिये शक्तिमान् होना चाहिये। विद्यादान देनेके लिये पढ़ा-लिखा और आरोग्यदान देनेके लिये वैद्य या डाक्टर, किंतु अन्य उपकरणोंको सभी प्रयोगमें ला सकते हैं। उदाहरणस्वरूप आदर-दान और मान-दान तथा श्रमदान—ये सभी ऐसे दान हैं कि इनमें कुछ भी नहीं लगता। केवल रसनाको हिलाना पड़ता है। बस, दान हो गया और उसका तुरंत फल भी मिल गया। आपके सामने कोई भी व्यक्ति आता है और आप उसका आदर कर देते हैं तो वह व्यक्ति आपका भी आदर अवश्य करेगा। यदि आप किसीको मान देते हैं तो उसके द्वारा आपको भी मान मिल जायगा। तात्पर्य यह है कि इन दानोंका फल तुरंत मिल जाता है और इस प्रकारके दान सभी कलियुगी व्यक्ति कर सकते हैं।

इन दानोंका उल्लेख तुलसीकृत रामचरितमानसमें भी किया है। उदाहरणस्वरूप देखिये निम्न चौपाइयाँ—

दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान मान परिपूरन कीन्हे ॥

यह चौपाई बालकाण्डके दोहा ३२८ के आगे है, जब माता जानकीजी पालकीमें सवार हो गयीं, तब महाराज दशरथने समस्त ब्राह्मणोंको बुलाया। इन ब्राह्मणोंको वस्तुओंका दान तो वे पहले ही कर चुके थे; किंतु वस्तुओंके दानसे स्वाभिमानी ब्राह्मण थोड़े ही तृप्त हो सकता है, उसको तो मान-दान भी चाहिये। अतः दशरथजीने चलते समय सभी ब्राह्मणोंको मान-दान देकर परिपूर्ण कर दिया।

अब दूसरी चौपाई बालकाण्डके दोहा ३२० से आगेकी देखिये—

सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी ॥

विनययुक्त सुन्दर वाणीसे मान-दान करके श्रीजनकजीने सभी बरातियोंको सम्मानित किया। तीसरी चौपाई बालकाण्डके ३५१ दोहाके आगेकी है। बरात अयोध्या आ जानेके पश्चात् श्रीवशिष्ठजीके आज्ञानुसार ब्राह्मण-भोजन कराया गया और इसके पश्चात् दशरथजीने ब्राह्मणोंको आदर-दानसे प्रसन्न कर दिया—

आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे ॥

जिस समय भगवान् राम सीताजी और लक्ष्मणजीसहित वन जानेको द्वारसे निकलकर खड़े हुए तो प्रजाके

सभी लोगोंकी भीड़ देखी; सब लोग दुखी थे । अतः भगवान् रामने अन्य लोगोंको प्रियवचन कहकर समझाया और इसके पश्चात् ब्राह्मणोंको बुलाया तथा—

गुर सन कहि बरषासन दीन्हे । आदर दान बिनय बस कीन्हे ॥

ब्राह्मणोंको वरषासन देनेके पश्चात् उन्हें आदर-दान भी दिया । अब उस समाजमें याचक और मित्रवर्ग रह गये तो भगवान्ने याचकोंको दानमानसे संतुष्ट किया तथा मित्रवर्गको पवित्र प्रेमसे । देखिये अयोध्याकाण्डके ७९ संख्यक दोहासे आगे—

जाचक दान मान संतोषे । मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥

उपर्युक्त चौपाइयोंसे आदर और मान दान देनेकी आवश्यकता सिद्ध हो जाती है । ये उपकरण भी दानकी संज्ञामें हैं और इनके अतिरिक्त अन्य आवश्यक खाने-पीनेकी छोटी-छोटी वस्तुएँ भी हैं—जैसे हल्दी-धनिया-नमक-मिर्चा-चीनी, चाय-पान आदि । इन वस्तुओंके लेन-देनकी आवश्यकता प्रायः समय-असमय पड़ जाती है और दान यदि आवश्यकतापर दिया जाय तो सोनेमें सुगन्ध है; बल्कि मैं तो यह कहूँगा, कोई वस्तु किसीको उसकी आवश्यकतापर ही दी जाय, तभी वास्तवमें वह दान कहलायगी, अन्यथा अनावश्यक किसीको कुछ भी दे डालो तो उससे कोई विशेष लाभ नहीं और न उसे वस्तुतः दान कहा ही जायगा ।

उपर्युक्त छोटी-छोटी वस्तुएँ भी कभी-कभी महान् दानका फल दे डालती हैं । उदाहरणस्वरूप आपके पड़ोसीके रात्रिके समय ऐसे अतिथि आते हैं जो चाय पीनेके आदी हैं—किंतु आपके पड़ोसीके पास चीनी नहीं है । चीनी कन्ट्रोलकी वस्तु है । बाज़ार बंद हो चुका । इसलिये कालेबाज़ारसे भी नहीं मिल सकती । आपके पास यदि चीनी है तो आप उसे चायके लिये दे दीजिये । यह दान आपका महान् हो गया और इसका फल देनेके लिये आपका पड़ोसी अवसरकी ताकमें रहेगा और कभी समय आनेपर इसका चौगुना तो चुकाकर ही देगा । एवं तुरंत फल मिलनेमें भी देर नहीं । आपका पड़ोसी जब चाय तैयार कर आये अतिथिको देगा तो आपको भी अवश्य एक कप चाय पीनेको कह ही देगा । तात्पर्य यह है कि आपको दानका फल तुरंत मिल गया ।

वस्तुओंके दानमें पात्र-कुपात्रका भी बन्धन हमारे शास्त्रोंने रख दिया है; किंतु आदर-मान आदि दानोंमें जिनमें कि एक भी पैसा खर्च नहीं होता—पात्र-कुपात्रका भी कोई ध्यान रखनेकी आवश्यकता नहीं; कारण कि संसारके सभी स्त्री-पुरुष आदर और मानके याचक ही मिलेंगे; अतः आप इन्हें दिल खोलकर आदर एवं मानदान दीजिये और तुरंत फल प्राप्त कीजिये । दूसरे शब्दोंमें आप इस घोर कलिकालमें अपना कल्याण इस प्रकार कर सकते हैं । यह नुस्खा हमारे महान् पूज्य भक्तशिरोमणि महात्मा श्रीकाकभुशुण्डिजीका अनुभूत है जो कदापि असत्य सिद्ध नहीं होगा । 'बोलो सियावर रामचन्द्रकी जय'

* * *

भगवत्कृपापर दीनका अधिकार

भय मत करो, न साहस छोड़ो, रक्खो प्रभुपर दृढ़ विश्वास ।
प्रभुकी कृपा सहज कर देगी सब बाधा-विघ्नोंका नाश ॥
करते रहो सदा श्रद्धासे प्रभुके ही प्रीत्यर्थ प्रयास ।
जा पहुँचोगे सहज शीघ्रतम परम लक्ष्य प्रभुके ही पास ॥
भगवत्कृपा दीनका धन है, जन्मसिद्ध उसपर अधिकार ।
नहीं योग्यताकी आवश्यकता, नहीं देश-कुल-धर्म-विचार ॥
नहीं प्रश्न अधिकारीका कुछ, नहीं शर्त कुछ, नहीं करार ।
हो विश्वास परम दृढ़ केवल दीनबन्धुपर बिना विकार ॥

ऋण-शोध

[सच्ची कहानी केवल नाम बदले हुए]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

'अवधेसके द्वारें सकारें गई, सुत गोद कै भूपति लै निकसे'

अरुणशिखाकी पहली ध्वनि सुनते ही शय्या त्याग कर, शौच स्नानादिसे निवृत्त हो, ऊनी वस्त्रमें भगवत्-स्तोत्रोंकी पुस्तकको बाँध, उसे बगलमें दबा, हाथमें आचमनी-समेत जलपूर्ण पंचपात्र लेकर, पादुकाएँ पहने बाबाजी नित्य उपर्युक्त पदको गुनगुनाते हुए मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करने जाया करते थे—जमीदारजीके भवनके सामने होकर ।

मन्दिरमें पूजा बड़े ही भक्ति-भावसे करते । पाठ करते समय—**'कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभम्'** इस ध्यानको ऊँची ध्वनिसे बड़े प्रेमके साथ बोलते थे । गाँवके सब बालक एकत्र हो जाते और वे भी इस ध्यानके श्लोकको एक साथ जोर-जोरसे बोलते थे । पूरा ध्यान ही उन्हें याद हो गया था, जिसे वे खेल-खेलमें बोलते जाते थे । बाबाजी जब देखते तो प्रसन्न होते । सोचते—'आज भारतवर्षमें बालकोंके सामने धार्मिक प्रदर्शन होनेकी बड़ी ही जरूरत है, ताकि वह स्मृति उनके मस्तिष्कमें आजन्म बनी रहे और वे प्रेमसहित धार्मिक जीवन बितावें । परंतु खेदकी बात है कि आजके युगमें इसकी बहुत कम आवश्यकता समझी जा रही है । बचपनमें ही बालक गलत रास्तेपर लग जाते हैं ।'

लौटते समय बाबाजी जमीदार प्रभुदयालजीके पास बैठकर चिलम पीते हुए मानसकी चौपाइयोंके अर्थ-अर्थान्तरपर चर्चा करते । एक दिन बोले—'कानूनगो ! तुम्हारे भवानीको तो समझाओ । यह सुजानसिंहसे बड़ी दोस्ती गाँठे हुए है । मैं कहता हूँ कि वह दुर्गुणोंका पुतला है । एक दिन उससे भारी धोखा खायगा यह ।'

'बाबाजी ! मैं क्या करूँ ! वह मेरी मानता नहीं । सयाने बेटेसे कुछ भला-बुरा कहना भी उचित नहीं है । वह तो सलाह लेने योग्य माना गया है । इस दोस्तीके दुष्परिणामोंको सोच-सोचकर मैं भी मन-ही-मन बड़ा दुखी होता रहता हूँ ।'

भवानीदयालकी मित्रता आजसे नहीं, कुछ वर्षोंसे खूब अच्छी तरह सुजानसिंहके साथ निभ रही है, ऐसी कि जिसे देखकर लोग कहा करते हैं—'दुनियामें दोस्त और दोस्ती हो तो ऐसी हो, मित्रताका आदर्श इनसे सीखने-जैसा है ।'

× × ×

सुजानसिंह भरेपूरे घरका मालिक, धनी, खेती एवं बागबगीचेका स्वामी है । मिष्टभाषी, व्यवहारकुशल और चतुर व्यक्ति । उसकी साख उस क्षेत्रमें चारों ओर फैली हुई थी, जिससे उसके नामपर हजारों रुपये उधार मिल जानेमें कभी किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं आती थी । जमीनका लगान, सिंचाई आदि सरकारी कर वह सबसे प्रथम तहसीलमें जमा कराकर रसीद ले लिया करता था । उसकी प्रतिष्ठा, लेन-देनकी शुद्धता, सद्व्यवहार और ईमानदारीके विषयमें किसीको कोई संदेह होने ही क्यों लगा । गरीबोंके सहायक स्वच्छ श्वेत पोशाकवाले सुजानसिंहकी सूरतमें ऐसा जादू था कि एक बार जो उससे मिलता, वही उसकी ओर आकर्षित हो जाता था ।

एक बार ग्रीष्म ऋतुकी दुपहरीमें जबकि अंशुमाली अपनी तप्त किरणोंसे प्राणियोंको तपा रहे थे, पक्षी भी झाड़ियोंकी झुरमुटमें ठंडी जगह बैठे यह तप्त समय बिता

रहे थे, ऐसे समय सुजानसिंह अपने गाढ़े मित्र भवानीदयालके पास आया । तपन मिटाई । बोला—'प्रिय भवानी ! मुझे सरकारी लगानके ५००) रु० आज ही जमा करके रसीद प्राप्त करनी है । खलियानमें मेरी फसलके गेहूँ तैयार किये हुए रक्खे हैं । उन्हें बाजारकी मंडीमें ले जाकर बेचना है । बहुत-सा रुपया आ जायगा । तब तुम्हारे ५००) रु० लौटा दूँगा ।'

सुजानसिंह-जैसे ईमानदार और गाढ़े मित्र, जिसके लिये लोग कहा करते थे कि हुण्डियोंके भुगतानका समय टल सकता है, किंतु सुजानसिंहका वायदा एक घड़ी भी नहीं टल सकता, उसे इन्कार करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं था । फौरन ५००) रु० दे दिये गये ।

दिन, सप्ताह, पक्ष, मास बीतते-बीतते पाँच वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी न रुपये माँगे गये और न दिये गये ।

(२)

मानवजीवनकी एक-एक घड़ी अलग-अलग रंग लाती है । मनुष्यके मनमें यदि अहर्निश भगवत्-स्मरण चलता रहे और सत्संगतिका सुयोग उसे निरन्तर मिलता रहे, तो उसका मन असद्विचारोंकी ओर जानेसे रुक सकनेमें समर्थ हो सकता है । यदि यह न हो तो मनुष्यकी वृत्तियाँ अवसर पाकर ऐसे दुष्कर्म और लोभ-लालचमें पड़ जाती हैं कि उसे भला-बुरा दिखायी नहीं देता और वह भलाईके बदले बुराई करनेमें भी नहीं चूकता—स्वार्थवश अन्धा हो जाता है । कहा है—

'यूँ तो कहनेको बशर बीनाँ भी है दानाँ भी है ।
पर इससे बढ़ा दुनियामें कोई दीवाना भी है ?'

सुजानसिंहके मानसके एक कोनेमें कुविचारके एक छोटेसे टुकड़ेका उदय हुआ—'यदि मैं ये ५००) रु० न लौटाऊँ तो ?' कई दिनोंतक इसका उत्थान-पतन होता रहा । परंतु एक दिन, जैसे बदलीका एक क्षुद्र टुकड़ा धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते सारे आकाशपर छाकर अन्धकार कर देता है, उसी प्रकार सुजानसिंहके अशुभ विचार पनपते-पनपते उसके मानसाकाशपर अन्धकार जमा बैठे । अन्तमें उसने निश्चय कर ही लिया कि—'अवश्य ही रुपये नहीं दूँगा ।'

एक दिन प्रातःकाल सुजानसिंहने भवानीदयालको अपने घर बुलाया । खुशी-खुशी भवानीदयाल, मित्रसे मिलनेकी उत्सुकतामें शीघ्र वहाँ पहुँचा । उसके मनमें यह उमंग थी कि शायद मित्रके घरपर आज कोई बड़ा उत्सव होगा । मित्रके साथ बड़ा आनन्द मनायेंगे ।

भवानीदयालके पहुँचते ही सुजानसिंहने उसकी तरफ इस तरह देखा, जैसे सिंह अपने शिकारको देखता है । उसकी बदली हुई त्योरियाँ देखकर भवानीदयालको बड़ा आश्चर्य हुआ कि मित्रका आज यह कैसा अजीब हाल है ! आवभगत कुछ नहीं, मिष्ट वाणी एकदम कहाँ गयी ! वह स्नेहभरी चितवन, वह आदर-सत्कार, प्रीतिपूर्ण व्यवहार—सब आज कहाँ लुप्त हो गये !!

इन विचारोंका दौर भवानीदयालके मनमें चल ही रहा था कि सुजानसिंह एकाएक बोल उठा—'भवानी ! आज तुमको ब्याज समेत ५००) रु० पा लेनेकी रसीद मुझे लिख देनी होगी !' एकान्त कक्षमें यह शब्द गूँजकर विलीन हो गये ।

'यह क्या कह रहे हो मित्र ? मैंने तुमसे कभी रुपये माँगे नहीं हैं । न आजतक किसीसे इन रुपयोंके बारेमें चर्चा की है । मुझे रुपये आनेकी कोई भी जल्दी नहीं है—जरूरत भी नहीं है । तुम्हारे पास आवें, और जब तुम देना चाहो तब देना । मैं तो यह भी कहता हूँ कि रुपये कभी माँगूँगा ही नहीं—लूँगा ही नहीं । फिर, आज तुम्हारा यह बदला हुआ भाव क्यों है ?'

'मैं और बातें नहीं सुनना चाहता । तुमको अभी इसी वक्त इसी बैठकमें सूदसमेत ५००) रु०की रसीद लिख देनी होगी मुझे ।'

---

१ देखने योग्य । २ समझदार ।

भवानीदयाल किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बगलें झाँकने लगा ।

इतनेमें ही सुजानसिंह गर्जकर बोला—'बोलो लिखते हो या यह शस्त्र उठाऊँ ?' यह कहते हुए उसका हाथ पास ही रक्खी हुई तलवारपर गया ।

अब तो भवानीदयालका धीरज छूट गया । भयके मारे उसका सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया । मुँहसे कोई शब्द नहीं निकला । आँखोंके कोये गीले होने लगे ।

काँपते हुए हाथोंसे उसने कलम उठायी और पूरी रसीद लिख दी ।

'इसकी मुझे जरूरत थी, लोगोंको दिखानेके लिये, ताकि मेरी साखमें बट्टा न लगे । समझे तुम ?' सुजानसिंहने कुछ ठंडे भावसे मुस्कुराते हुए कहा ।

दो गवाहोंको वहीं बुलाकर रसीदपर गवाही करवा ली गयी । भवानीदयालको गवाहोंके पूछनेपर भयभीत हृदयसे हाँ करनी पड़ी ।

तभीसे भवानीदयालके मनमें एक भयंकर भय बैठ गया । वह घर-बाहरके सब काम तो करता; किंतु भयके साम्राज्यमें ।

× × × ×

'मैंने कैसी चतुराई की । ५००) रु० किस खूबीसे बचा लिये ?' अन्तर्ध्वनि हुई—'अच्छा नहीं किया, भारी धोखा दिया—अपने अभिन्न, ईमानदार और सच्चे मित्रको ।'

'ऐं, यह दूसरी बात दिलमें क्यों उठी, ध्वनिका आभास कैसे हुआ ? मेरे दो मन हैं क्या ?'

'क्या मैंने अपने गाढ़े मित्रको तुच्छ स्वार्थ-साधनके हेतु भारी धोखा दिया—बड़ा दुर्व्यवहार किया उसके साथ ?' मेरे मनसे ही पूछता हूँ ।

विवेक बोला—'हाँ !'

धीरे-धीरे मनकी उथल-पुथल, विधि-निषेध, भलाई-बुराई, ईमानदारी-बेईमानी और रामचरितमानसमें मित्रताका सत्प्रसङ्ग एवं अपनी ओरसे मित्रके साथ किया हुआ धोखा, तलवारपर हाथका बढ़ना, निर्दोष भोले मित्रका गिड़गिड़ाना—ये सभी सुजानसिंहके मन-मस्तिष्कमें रात-दिन उठते रहे, बैठते रहे और बेचैन करते रहे उसे । इन सबका प्रभाव उसके चेहरेपर दीखना भी स्वाभाविक ही था ।

अतः लोग उसके चेहरेकी उदासीको देख-देखकर कहते—'ठाकुर साहिब ! आजकल आप किस रंजमें डूबे रहते हैं ? चेहरा फीका पड़ता जा रहा है । वह खुशहाली कहाँ काफूर हो गयी ?' सुजानसिंह सुनकर चुप हो जाया करता था ।

(३)

भवानीदयालके मनोरम उद्यानमें एक साधुजी आकर ठहरे । उनका शिष्य श्रीरामचरितमानसकी चौपाइयाँ मधुर स्वरमें पढ़ता था और साधुजी उनके ऐसे-ऐसे अर्थ करते थे, जैसे बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी, भक्त और मानस-मर्मज्ञ भी नहीं कर पाते । किंतु साधुजी निरक्षर थे । यही तो श्रोताओंको आश्चर्य होता था । एक दिन उनमेंसे किसीने साधुजीसे यह रहस्य पूछ ही तो लिया ।

साधुजी हँसकर बोले—सुनो भाई !

'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥'

मैं संतोंकी एक बड़ी जमातमें नौकर था । साधुओंकी लँगोटियाँ धोता, चौका-बरतन करता । पड़ावके स्थानको साफ-सुथरा करके गोबरसे लीपता और खूँटे गाड़कर तम्बू खड़े करता था । संतजन नित्य तुलसीकृत रामायण पढ़ने बैठते और भाँति-भाँतिसे अर्थ करते थे । मैं कामसे निपटकर कथा सुनने बैठ जाता और खूब ध्यानसे सुनता था । सुनते-सुनते मुझे सब कण्ठस्थ हो गया । मेरे साथियोंको यह शौक

नहीं था। किंतु **'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'** के अनुसार प्रभुकी मुझपर ही हरि-कथाका लाभ उठानेकी कृपा थी।

जमात बिखर गयी। मैं लघुमतिके अनुसार हरि-कथा कहता फिरता हूँ। भगवान् श्रीरघुनाथजीका चरित्र तो सौ करोड़ विस्तारवाला है और उसका एक-एक अक्षर मनुष्योंके महान् पापोंका नाश करनेवाला है—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥
(रामरक्षास्तोत्र १)

ऐसी महामहिमावाले श्रीरामकी कथा कहनेका भला किसमें साहस हो सकता है; क्योंकि हरि-कथाओंका भी पार नहीं है;—

हरि अनंत हरि कथा अनंता।
कहहिं सुनहिं समुझहिं श्रुति संता॥
(तुलसी)

किंतु प्रभु-कृपासे ही मैं उनका थोड़ा-बहुत गुणगान करनेसे अघाता नहीं हूँ। कहा है—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
(तुलसी)

एक बड़ी बात यह है कि श्रीहनुमान्जीकी ऐसी दया है कि वे ही मुझे इस पुण्यकार्यसे कभी विरत नहीं होने देते।

करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद?
महावीरका यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।
(साकेत-गुप्तजी)

श्रोता साधुजीका उपदेश सुनकर प्रसन्न हुए। एक दिन भवानीदयालने साधुजीको अकेले पाकर उनसे ५००) की रसीदकी चर्चा कर दी। कहा—'यह मैंने त्याग और पुण्यका कार्य किया है।'

साधुजी हँसकर बोले—'यह तो तुम 'जबरदस्तका ठेंगा सिरपर' और 'रपट पड़ेकी हरगंगा' वाले त्याग और पुण्यको समझे हुए हो। हम तो तुम्हारे त्याग-पुण्यकी प्रवृत्ति तब मानें जब हमारे गुरुजीका भंडारा १०००) रुपये लगाकर कर दो।'

'५००) रु० तो वे गये, १०००) और लगाऊँ, यह कहाँकी बुद्धिमानी!' किंतु फिर भी साधुजीके प्रस्तावने भवानीदयालके विचारोंमें उथल-पुथल जरूर मचा दी। सोचते-सोचते अन्तमें एक दिन हजार रुपयेके व्ययसे भंडारेकी रसोई करवा ही दी। परगनेके सभी भोजनार्थ आये। सुजानसिंहने भी आकर भोजन किया; पर चेहरा उदास था उसका।

(४)

सुजानसिंहके बड़े उद्यानमें घने वृक्ष-लताओंकी शीतल छाया देखकर साधुओंकी एक बड़ी जमात आकर ठहरी। उनको भोजन करानेका प्रस्ताव भी सुजानसिंहने मान लिया यह सोचकर कि उन ५००) रु०के व्ययसे जमातका भोजन करा देनेपर इस पुण्यसे मेरा पाप और मनस्ताप मिट जायगा।

भोजन बड़ी तृप्तिके साथ हो गया। भोजनोपरान्त सभीने जमातको विदा दी और संत-समागमका बखान करते हुए अपने-अपने घर लौटे।

× × ×

वह दौड़ता ही गया ऊबड़-खाबड़ जमीनमें गिरता-पड़ता चिल्लाता हुआ—'महाराज! ठहराओ हाथीको!' महन्तजी एवं सभी साधु पीछेकी ओर झाँके। 'अरे, यह तो सुजानसिंह दिखायी देता है।' 'महाराज! मैंने बड़ा पाप किया है। अधर्मके धनसे आपका भोजन करा दिया है। मुझे अपने साथ पशुओंकी तरह बाँध ले चलो। तभी शुद्ध होऊँगा।' यह कहकर सुजानसिंह सिसक-सिसककर रोने लगा।

महन्तजीने पास ही बैठे छोटे महन्तजीसे कहा—'याद है आपको मनुस्मृतिका वह श्लोक, जिसमें कहा गया है कि अनुताप करने और पुनः पाप न करनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेसे मनुष्य किये हुए पापोंसे मुक्त हो जाता है और उसका मन फिर पवित्र हो जाता है!* परंतु यह मनुष्य-प्राणीमें ही सम्भव है, इतर प्राणियोंको पश्चात्तापकी ज्वाला नहीं सताती।'

फिर वे अत्यन्त दीनभावसे खड़े हुए सुजानसिंहसे बोले—'भाई शान्त होओ! आपके द्वारा करायी गयी भोज्यसामग्रीका महाभोग हमारे ठाकुरजीके आरोग लेनेसे वह पवित्र हो गयी थी। वही महाप्रसाद हमने बड़े प्रेमसे पाया है। आप निश्चिन्त होकर घर जायँ और हरि-भजन करें।'

इस तरह समझाकर महन्तजीने कुछ साधुओंके साथ सुजानसिंहको उसके घर भेज दिया।

किंतु चैन न मिला उसे। उसके हृदयकी पश्चात्ताप-जन्य ज्वाला शान्त नहीं हुई। अपने किये काले कर्मकी कलुषता मिटानेके लिये वह छटपटाने लगा। उसकी घबराहट और बेचैनी 'जौक'के शब्दोंमें यहाँतक बढ़ गयी कि—

लोग घबराके यह कहते हैं कि मर जायँगे।
मरके गर चैन न पाया तो किधर जायँगे?

किंतु जैसे मेहँदीके पत्ते पिस जानेपर रंग देते हैं, उसी प्रकार वह कुछ सँभला। एक उपाय सूझा उसे। एक दिन जब कि प्रातःकालकी अरुणिमा पूर्व दिशामें कुछ-कुछ दीखने लगी थी, वह थैली बगलमें दबाकर दबे पाँव घरसे निकल पड़ा और चुपचाप सीधा भवानीदयालके घर गया। भवानीदयाल द्वारपर इसे देखकर काँप उठा। 'शत्रुका क्या भरोसा, कोई हथियार छिपाकर लाया होगा, अभी मेरे ऊपर वार करनेवाला ही है।'

भवानीदयाल यह भयभरे भ्रमकी बातें सोच ही रहा था कि इतनेमें सुजानसिंह उसके पैरोंपर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा। अविरल अश्रुधारा बहनेसे भवानीदयालके पाँव गीले हो गये। फिर भी उसका भय भागा नहीं। भला धोखेबाजका क्या भरोसा। 'यह नाटकीय खेल है इसका।' किंतु मानवताके नाते थोड़ी देरके पश्चात् उसने उसे हाथोंका सहारा देकर उठाया। उठते ही सुजानसिंहने काँपते हुए हाथोंसे रुपयोंकी थैली भवानीदयालके हाथोंमें रक्खी। तुरंत भवानीदयालके मनमें संदेहकी एक हल्की-सी ध्वनि उत्पन्न हुई—'बम'। पर उसके सामने ही सुजानसिंह रो-रोकर गिड़-गिड़ाकर बार-बार क्षमा कर देनेकी याचना कर रहा था। भवानीदयाल भी आखिर मानव-हृदय रखता था। कबतक संशयको लिये रहता। अन्तमें उसे पूरा विश्वास हुए बिना नहीं रहा। उसकी आँखोंसे भी अश्रुओंकी धारा बहने लगी। एकदम दोनों मित्र एक दूसरेसे चिपट गये। वर्षोंके बिछुड़े हुए एक मित्रने दूसरे मित्रको खूब ही हृदयसे लगाया। देरतक इसी दशामें रहे। नयनोंके जलसे अपने-आप पाँव धुलने लगे। मौन होकर एक दूसरेने स्नेह भरी निगाहोंसे निहारा। दोनोंके मुखोंपर मिलनेकी खुशी झलक रही थी।

लोग एकत्र हो गये। थैलीमें १००१) रुपये थे।

आज सुजानसिंहको सच्ची शान्ति मिली। उसके हर्षका पार नहीं था।

उस समय दिन चढ़ आया था। मानो भगवान् सूर्यके सारथि अरुणने सप्ताश्वोंकी चाल इसी दृश्यको देखनेके लिये तेज कर दी हो।

---

* कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते। नैवं कुर्यात् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥
(११ वाँ अध्याय)

एक परिचित संन्यासी

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

कहो बच्चा, क्या काम है ।

मुझे बच्चा न कहो कमल ! मैं तो तुमसे वर्ष-दो वर्ष बड़ा ही हूँगा । बहुत समयसे तुमसे एकान्तमें मिलनेका अवसर ढूँढ़ रहा था । वास्तवमें तुम-जैसे प्रतिभाशाली छात्रको संन्यासीके वेषमें देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हो रहा था । सो आज उस जिज्ञासाको शान्त करना चाहता हूँ । तुम्हारी तो कोई नारि भी नहीं मुई और न कोई सम्पत् ही नासी है, फिर तुम मूँड मुँडाकर संन्यासी कैसे बन गये ?

तो क्या जीवनमें असफल होकर ही लोग संन्यास लेते हैं ? यदि ऐसा भी हो तो भी क्या बुरा है । ऐसा कह-कहकर तुम संन्यास-मार्गके प्रति हीन भावना क्यों प्रकट कर रहे हो ? राजनीति और साहित्यके महारथियोंमें भी तो अधिकांश ऐसे ही हैं जो जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें असफल हो चुके थे । उदाहरण दूँगा तो कटुता उत्पन्न होगी ।

ऐसा है, मैं मानता हूँ । कटुता उत्पन्न मत करो ।

मनुष्य असफलताके लिये नहीं बना । यदि वह एक क्षेत्रमें सफल नहीं हो सकता तो दूसरेमें सफल हो सकता है, और वह दूसरा क्षेत्र पहिले क्षेत्रसे नीचा भी हो सकता है, ऊँचा भी । संन्यास, साहित्य अथवा राजनीतिमें ऐसे लोग भी आते हैं जो अपने-अपने क्षेत्रोंमें पूर्णतया सफल हों; परंतु वह सफलता उनकी आकांक्षाओंको पूरा करनेमें नितान्त असमर्थ हो । इसी युगमें स्वामी रामतीर्थ और स्वामी विवेकानन्द-जैसे प्रतिभाशाली नररत्न संन्यासमार्गमें आये थे । क्या उन्हें सम्पत्ति नहीं मिल सकती थी या उनका विवाह नहीं हो सकता था ?

तुम्हारी ऐसी कौन-सी आकांक्षाएँ थीं जो जीवनमें पूरी नहीं हो सकती थीं ?

अमरत्वकी इच्छा । अविनाशी सुख ।

यह सब मृग-मरीचिका है । न अमरत्व ही प्राप्त हो सकता है और न अविनाशी सुख ही ।

एक विज्ञानके विद्यार्थीके मुखसे ऐसी बात नहीं निकलनी चाहिये । सारी वैज्ञानिक प्रगति इसी विश्वासपर आश्रित है कि मनुष्यकी प्रत्येक स्वाभाविक और प्राकृतिक कामनाकी पूर्तिका कोई-न-कोई साधन अवश्य है । मनुष्यने जलपर चलना चाहा, विज्ञानने जलपर चलकर दिखला दिया । मनुष्यने वायुमें उड़ना चाहा, विज्ञानने वायुमें उड़ाकर दिखला दिया । मनुष्यने चन्द्रमामें पहुँचना चाहा और विज्ञा उस इच्छाको भी पूरा करके दिखला रहा है । जब मनु की सारी कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं तो फिर अमरत्व औ अविनाशी सुखकी कामना क्यों पूरी नहीं हो सकती ? क यह कामना वायुमें उड़ने और चन्द्रलोकमें पहुँचनेसे अधि व्यापक, अधिक सार्वभौम और अधिक स्वाभाविक नहीं है! क्या तुम इस कामनाको कृत्रिम अथवा अप्राकृतिक मा हो ? नहीं, तो फिर इसकी पूर्त्तिका कोई-न-कोई साधन न नहीं होगा । संन्यासमार्ग उसीकी खोजका साधन है । क तुम तो वैज्ञानिक होनेके साथ-साथ आस्तिक भी हो । क परम पिता परमात्मा सारे ही जीवधारियोंमें कोई ऐसी काम उत्पन्न कर सकता है जिसकी पूर्त्तिका कोई साधन न हो उसने भूख दी तो अन्न भी उत्पन्न किया, प्यास दी तो जलका भी प्रबन्ध किया । फिर कैसे मान लिया जाय अमरत्वकी केवल कामना भर देकर बिना उसकी पूर्ति कोई साधन बनाये वह निश्चेष्ट हो गया ।

कमल ! तुम्हें तर्कमें कोई भी पराजित नहीं कर सक और मैं तो सदैव ही तुमसे पराजित हुआ हूँ । परंतु ही निर्णय नहीं है । यह बतलाओ—यदि हम सभी संन्या हो जायँ तो संसारका अधिक चक्र कैसे चले । खेती-बा कौन करे, श्रम कौन करे और उनके अभावमें जब अ उत्पन्न ही न हो, वस्त्र-उद्योग ठप हो जाय तो संन्यासि लिये ही भोजन-वस्त्र कहाँसे आयें । यदि समाज लोगोंको भोजन-वस्त्र देनेसे हाथ खींच ले, जो उनके उद में रञ्चमात्र भी सहायता नहीं पहुँचाते तो क्या यह सम का अपराध होगा ?

अवश्य होगा । समाजसे अति आवश्यक अन्न-वस्त्र का संन्यासीको पूर्ण अधिकार है । समाजमें सम्पत्ति दो प्र की है—उत्तराधिकारमें प्राप्त और श्रमद्वारा उपार्जित । उ सम्पत्तिमें अवश्य ही संन्यासीका कोई अधिकार न परंतु पूर्वजोंकी छोड़ी हुई सम्पत्तिमें तो सभीका अ है । हमने अपना वह अधिकार स्वेच्छासे छोड़ दिया तो क्या वह सम्पत्ति इतनी भी नहीं थी कि हम बलपर अन्नकी भिक्षा माँग सकें ।

एक तुम्हें उत्तराधिकार प्राप्त था तो सभीको नहीं अपना उत्तराधिकार छोड़कर आनेवाले संन्यासी कि और घरकी सम्पत्ति नष्ट होनेपर संन्यासी बननेवाले कित

धनी और निर्धनका जो अनुपात कर्मशील समाजमें है, वही पूर्वधनी और पूर्वनिर्धनका अनुपात संन्यासियोंमें है। तुम निर्धनवर्गके लिये संन्यास मार्गको बंद नहीं कर सकते।

मैं बंद करना नहीं चाहता हूँ; परंतु जब तुम अर्थोपार्जनके लिये किसी प्रकारके श्रममें विश्वास नहीं रखते तो अपने पूर्वजोंकी सम्पत्तिमें ही तुम्हारा क्या अधिकार रह जाता है! उन्होंने भी तो अर्थोपार्जनके लिये श्रम किया था। तुम्हारी तरह सभी संन्यासी हो जायँ तो इस आर्थिक चक्रका क्या होगा? क्या यह टूटकर चूर-चूर नहीं हो जायगा?

सम्पत्तिके उत्पादनमें श्रम ही कारण नहीं है, प्रकृति भी कारण है। भूमि, वर्षा, धूपके बिना केवल श्रमके द्वारा अन्न कैसे उत्पन्न करोगे। क्या वन, नदी, सागर और सोने-चाँदी तथा लोहे-कोयलेकी खानें प्रकृतिकी देन नहीं हैं। श्रमशील-वर्ग केवल सम्पत्तिके उस भागपर ही एकाधिकार कर सकता है, जो उसके श्रमका उचित मूल्य है। सारी सम्पत्तिका कारण श्रम नहीं है। जो प्रकृतिकी देनका मूल्य है, उसमें सभीका अधिकार है। श्रमशील और हम-जैसे निठल्ले, प्रकृतिमाताके सामने सब समान हैं। संन्यासी अपनी आवश्यकताओंको इतनी कम कर लेता है कि समाजकी सम्पत्तिमें जो उसका न्यायोचित भाग है, उसके भी एक बहुत छोटे अंशसे उसका निर्वाह हो जाता है। रही आर्थिक चक्रकी बात सो आर्थिक चक्र तो धर्म और सदाचार-परायण होनेसे भी टूट जायगा। यदि अन्ताराष्ट्रीय युद्ध और सशस्त्र विद्रोहका भय जाता रहे, जो मैं समझता हूँ जाना ही चाहिये, तो शस्त्रास्त्रोंका निर्माण, बहुत-सा वस्त्र-उद्योग, जूता-उद्योग, बहुत-से यातायातके साधन ठप हो जायँगे। राजनीतिविशारदोंका कहना है कि युद्धोंका भय जाते ही २५% आर्थिक चक्र टूट जायगा। यदि समाजसे चोर, डाकू, लुटेरे, उपद्रवी जाते रहें तो पुलिस, जेल, वकील और न्यायालयोंकी क्या आवश्यकता है? क्या तुम नहीं जानते कि जिस दिन कचहरी बंद होती है, उस दिन गाँवमें मोटर चलानेवाले रोते-पीटते दिखायी देते हैं। मुकदमेबाजी समाप्त होते ही २५% आर्थिक चक्र और टूट जायगा। स्वास्थ्य उन्नत होते ही जब चिकित्सकों, औषधालयों, अत्तारों और ओषधि-निर्माणशालाओंकी आवश्यकता नहीं रहेगी, २५% चक्र और टूटेगा। इस प्रकार ७५% आर्थिक चक्र तोड़नेका तो हम सभी उद्योग कर रहे हैं। शराब, भाँग, गाँजा, चरस, बढ़ी हुई कामुकता, पाउडर, लिप्स्टिक २०% आर्थिक चक्रको चला रहे हैं। तो क्या आर्थिक चक्रको चलता रखनेके लिये हम लोगोंमें मुकदमेबाजी, राष्ट्रोंमें विग्रहके बीज बोते रहें? क्या आर्थिक चक्र चलता रहनेके लिये जनताको रोगी, मद्यप और कामुक बनाये रखना उचित होगा?

अच्छा यह समझाओ, संन्यास-मार्गसे तुम अमरत्व और अक्षय सुख कैसे प्राप्त करोगे?

परमात्माको प्राप्त करके।

परमात्मा कैसे प्राप्त होगा?

समस्त कामनाओंका त्याग करके।

तो क्या परमात्माने स्वयं सब कामनाएँ त्याग दी हैं? क्या परमात्मामें कोई कामना नहीं है? तो फिर वह सृष्टिकी रचना क्यों करता है, क्यों धर्मके अभ्युत्थान, दुष्टोंके दमन और साधुओंके परित्राणके लिये बार-बार अवतार लेता है? कमल! तुम निष्काम परमात्माके उपासक नहीं हो। तुम्हारा परमात्मा निष्काम नहीं है। वह सकाम है। वह धर्म-संस्थापनके लिये हर समय आनेको तैयार है और तुम इस भूतलपर रहते हुए भी उसका प्रिय करनेको उद्यत नहीं हो। तुम कैसे भगवद्भक्त हो। क्या तुम्हारे राम और कृष्ण संन्यासी थे?

मैं तुम्हारा आशय नहीं समझा।

समझ गये, पर उत्तर नहीं दे पा रहे हो। बोलो ऐसी अवस्थामें जब कि शत्रु सीमामें घुस आये हों। कम्युनिस्टोंकी विशाल सेना आर्थिक समानताका मोहजाल फैलाकर जनताको धर्म, सदाचार, ईश्वर—यहाँतक कि राष्ट्र और परिवारके प्रति भी विद्रोही बना रही हो; जहाँ देशमें विदेशी भाषाको बनाये रखनेके लिये लोग प्राणोंपर खेल रहे हों, जहाँ आर्थिक ढाँचा टूट रहा हो, जहाँ समाजकी कोई सेवा किये बिना ही भावोंमें तेजी आनेके कारण लोग करोड़ों पीट लेते हों, जहाँ दिन-रात जी-तोड़ परिश्रम करनेके पश्चात् भी वेतनभोगी दिन-प्रति-दिन अपनी आयको घटता हुआ पाता हो। जहाँ भ्रष्टाचार और घूसका बोलबाला हो और जहाँ ऐसी विकट परिस्थितिमें भी शासनाधिकारी कुर्सियोंके लिये सिरफुटव्वल कर रहे हों वहाँ और ऐसे समयमें तुम्हारे निष्काम हो जानेसे कौन प्रसन्न होंगे? तुम्हारे धनुर्धारी राम या चक्रधारी कृष्ण?

दोनों ही प्रसन्न होंगे। मैं राम और कृष्णमें भेद नहीं करता। तुमने आज जिस भयावह स्थितिका चित्र खींचा है, मैं उससे परिचित हूँ। परिचित तुम भी हो और मैं

मी। अन्तर केवल इतना है कि मैंने उन सबके कारणोंकी खोज की है, तुमने नहीं।

क्या कारण है इस सबका।

हमारा राग टूट गया है। अपनी परम्पराओं, आस्थाओं और संस्कृतिके प्रति हमें कोई राग नहीं रहा। इस युगमें जितने भी नेता हुए हैं, सबने हमारे रागपर प्रहार किया है। सबने सिखाया है कि प्राचीनताके मोहजालको छोड़, जो बात देश और समाजके लिये लाभदायक हो उसे ग्रहण करो। तुलाधार बन जाओ, एक पलड़ेमें हानि और एकमें लाभ रखकर तोल लो। सब बुद्धिगम्य कर दिया। बुद्धिसे ऊपर उठना मानो कोई भीषण अपराध हो।

देश और समाजका हित तो हमें सोचना ही चाहिये।

पर हम सोच नहीं सकते। हित-अहित हम केवल उसीका सोच सकते हैं, जिसके प्रति राग हो। देश और समाजके प्रति राग उत्पन्न किये विना ही प्राचीनताका राग नष्ट कर दिया गया और जब जीवनका राग किसी उच्चतर स्तरपर नहीं रहता तो मनुष्य धन, स्त्री और अहंका उपासक बन जाता है। आज सीमापर शत्रुके घुस आनेपर भी हमारा खून क्यों नहीं खौलता; क्योंकि हमें देशसे राग नहीं है; हम बुद्धिसे ऊपर नहीं उठे, हम हानि-लाभकी बात करते हैं। इस भूमिमें दलदल है, यह बेकार है। यह पथरीली है। इनके जानेसे हमारी क्या हानि है! गाय कट गयी तो क्या हुआ। २००) में फिर आ जायगी। मन्दिर टूट गया तो क्या हुआ फिर बन जायगा। रागहीन राष्ट्रकी विचारधारा ऐसी ही नपुंसक और प्राणहीन होती है।

तो फिर आओ तुम और हम देशका अलख जगायें। सारे भारतको राष्ट्र-रागसे प्लावित कर दें।

जबतक देशवासियोंमें राग नहीं होगा, तबतक देशके प्रति राग उत्पन्न नहीं हो सकता।

तो फिर करोड़ों देशवासियोंके प्रति रागात्मक भावनाका प्रसार करें।

देश और राष्ट्र सांस्कृतिक शब्द हैं। राग संस्कृतिके प्रति उत्पन्न होता है। एक ही संस्कृतिके अनुयायी एक राष्ट्र कहलाते हैं और जहाँ वे रहते हैं, वह उनका दे कहलाता है।

तो फिर अपनी संस्कृतिके प्रति ही राग जगाने प्रयत्न करो।

सो कर रहा हूँ।

कैसे?

वैराग्यद्वारा।

वैराग्यकी साधना कैसे करते हो?

रागद्वारा।

वाह, अच्छी पहेली है रागसे वैराग्य और वैराग्यसे रा

राग और वैराग्य—दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। न को पूर्णतया रागी ही है न वैरागी ही है। एक वस्तुमें राग हो ही दूसरियोंमें राग छूट जाता है…

छूटता नहीं संतुलित हो जाता है।

यह बात तो मैं बहुत देरके पश्चात् बतलाता। अ है तुम मेरी विचारधारा समझ रहे हो। परिवारमें रा हो जानेका अर्थ है अपनेमें वैराग्य हो जाना और तुम् शब्दोंमें अपनेमें राग परिवारके निमित्त संतुलित हो जा परिवारका रागी खाता-पीता न हो या सदैव आत्मवा धुनमें रहता हो ऐसी बात नहीं है। वह अपनी भरपूर र करता है; परंतु परिवारके निमित्त अपनी आकांक्षाओं और अपनेको होम देनेमें उसे आनन्दका अनुभव हो है, दुःखका नहीं। राष्ट्र और देशका राग हमारे व्यक्ति परिवारगत, प्रदेशगत, समाजगत रागको संतुलित देता है, नष्ट नहीं करता। इसी प्रकार ईश्वरका राग नि ऊपर कोई राग नहीं है, सारे रागोंको संतुलित कर दे है। मैं इसी रागको जगानेका प्रयत्न कर रहा हूँ। ज इसे वैराग्य कहती है और जबतक वह राग न जगे त सारे रागोंको मैंने समेट लिया है। यही मेरा वैरा रागके निमित्त।

ऐसे रागको नमस्कार।

ऐसे वैराग्यको नमस्कार।

ऐसे राग और वैराग्यको नमस्कार

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सौजन्यता

सन् १९३६ में एक अमेरिकन महिला टोकियो नगरके कष्टप्रद ग्रीष्मसे त्राण पानेके लिये जापानके उत्तरमें समुद्रतटपर स्थित एक स्वास्थ्यप्रद छोटी-सी बस्तीमें अपनी सप्तवर्षीया कन्याके साथ निवास कर रही थी। इस बस्तीका नाम टाकायामा है। रेलका स्टेशन सेनडाई वहाँसे बीस मील दूर है और जिस पहाड़ीपर स्थित बँगलेमें यह रहती थी, वहाँसे पक्की सड़क भी आध मील दूर है। यहाँपर कोई डाक्टर नहीं था और दवा भी सेनडाईमें ही मिल सकती है।

एक दिन सहसा कन्याके मुखमें छाले हो गये और उसको ज्वर भी हो गया। माँने टोकियो-स्थित विशाल अमेरिकन अस्पताल सेंट ल्यूकको तारद्वारा बच्चीकी दशासे सूचित किया और वहाँसे उत्तर आया कि 'एक विशेष ओषधिके ४० प्रतिशत घोलका मुखके छालोंपर प्रयोग करो।' माता टैक्सी कारमें जाकर सेनडाईसे दवा बनवा लायी; किंतु उस घोलके एक ही बारके प्रयोगसे बच्चीका मुख जल गया और वह चीत्कार कर रोने लगी। माता समझ गयी कि कोई बड़ी भूल हो गयी है। इतनेमें ही वहाँका तारबाबू आया और कहने लगा कि 'औषधका घोल भूलसे ४ प्रतिशतके स्थानपर ४० प्रतिशत तारमें लिखा गया था, जिसके लिये वह क्षमा-प्रार्थना करने आया है।'

इधर बच्चीका कष्ट असह्य हो गया। रातकी टोकियोको जानेवाली डाकगाड़ीके लिये समय नहीं रहा था। इसलिये दिनकी पैसेंजर गाड़ीसे ही जाना होगा। जैसे-तैसे रात कटी, किंतु कन्याका सारा मुखमण्डल सूज गया था, उसपर काले-काले धब्बे पड़ गये थे और वह ज्वरसे बेहोश हो रही थी।

बच्चीको टैक्सीतक पहुँचानेके लिये वह समुद्रतटपर मछेरोंके पास सहायता पानेके लिये गयी। यह सुनते ही कि बच्ची बीमार है, मछेरोंने अपनी नावें समुद्रसे निकाल लीं और चार मछेरे माताके साथ उसके निवास-स्थानपर गये। माताका विचार था कि बच्चीको बाँसकी कुरसीपर बिठाकर उठाया जाय; किंतु मछेरोंने कहा कि इसमें बच्चीको कष्ट होगा और उन्होंने बच्चीकी खाटके चारों पायोंको रस्सोंसे बाँधकर रस्सोंको अपने गलेसे लपेट लिया और हाथोंसे रस्सोंको पकड़कर धानके खेतोंकी मुण्डेरोंपरसे चलकर बड़े आरामसे टैक्सीकी सीटपर बच्चीको लिटा दिया और तब ये चारपाई लेकर लौट गये। वापस आनेपर जब महिलाने उनकी सेवाके लिये पारितोषिक देना चाहा तो उन्होंने इन्कार कर दिया कि 'बच्ची बीमार थी, उसको ले जाना ही था।'

पैसेंजर गाड़ीमें केवल तीसरे दर्जेके डिब्बे थे और बड़ी भीड़ थी। महिलाने रेलके गार्डसे कहा कि 'बच्ची बहुत बीमार है, वह छः सीटोंका किराया देगी। यदि छः सीटोंके गद्दे ब्रेकमें बिछा दें जिसपर बच्चीको लिटाया जा सके और वह बच्चीके सिर तथा मुखपर बर्फ रख सके।' माताकी प्रार्थना सुनकर गार्ड कहीं गया और थोड़ी ही देरमें वापस आकर बच्चीको स्ट्रेचरपर लिटाकर उठा लिया और एक भव्य सैलूनके दरवाजेपर ले गया। वहाँ जापानके उस समयके गृहमन्त्री कौनेमूके उशियाके सचिवने माताका अभिवादन किया और कहा कि 'गृहमन्त्रीको यह जानकर दुःख हुआ है कि आपकी बच्ची बहुत बीमार है और उन्होंने कहा है कि आप उनके शयनागारको स्वीकार करें।' महिलाने कहा कि 'हम इनके शयनागारमें घुसकर इनको कैसे कष्ट दे सकते हैं।' इतनेमें गृहमन्त्री महोदय स्वयं आ गये और कहने लगे कि 'आपकी बीमार बच्चीको बिस्तरकी आवश्यकता है। यह आवश्यकता मुझे पूरी करनेकी अनुमति देनेकी कृपा करें।'

बच्चीको एक सुन्दर बिस्तरपर लिटा दिया गया। उसके ऊपर पंखा चल रहा था। धूल और मक्खियोंसे बचावके लिये बच्चीके मुखपर एक उज्ज्वल जाली उढ़ा दी गयी। ठंडी पट्टी करनेके लिये धुले-धुलाये तौलिये रख दिये गये। अगले स्टेशनपर कई आईसबैग (बर्फ भरकर ठंडक पहुँचानेके थैले), एक बर्फका तकिया तथा दो सिल्ली बर्फ गाड़ीमें आ गयी। अवश्य ही गृहमन्त्रीने तारद्वारा यह प्रबन्ध किया होगा।

इस गाड़ीके साथ भोजनका डिब्बा नहीं था। यात्री लोग अपने घरसे भोजन लाते थे अथवा स्टेशनोंसे मोल लेकर काम चलाते थे। महिलाको भोजनकी सुधि नहीं थी, किंतु बच्चीका मुख हरा करनेके लिये यवजल (Barley water) और उसकी माताके लिये गरमागरम सुन्दर भोजन तथा फल आ गये।

दोपहर भर जब गाड़ी तपते मैदानमेंसे जा रही थी, एक कुली द्वारपर बर्फ तोड़ता रहा। जहाँ गाड़ी ठहरती, बर्फकी नयी सिल्ली आ जाती। बाहरके ताप तथा ज्वरके प्रकोपको कम करनेके लिये बच्चीका माथा, गर्दन तथा कंधे बर्फसे ढके रहे। पीछे सेंट ल्यूक अस्पतालके डाक्टरने कहा कि 'बच्चीके जीवनकी रक्षा बर्फ और शीत पेयके उपचारने ही की; क्योंकि इनसे ज्वरका प्रकोप और मुखकी सड़न रोकी जा सकी।'

जब गाड़ी डइमो (टोकियो नगरका एक स्टेशन) पहुँची तो रोगीको ले जानेवाली गाड़ी (Ambulance Car) स्टेशनपर तैयार थी। जब महिला मन्त्री महोदयका धन्यवाद करनेके लिये उचित शब्द ढूँढ़ रही थी, जो उसे मिल नहीं रहे थे, मन्त्री महोदयने कहा कि 'जो थोड़ी सेवा मैं कर सका, यह मुझे करनी ही थी; क्योंकि आप मेरे देशकी अतिथि थीं।' महिला कृतज्ञतासे गद्गद हो गयी।

—निरञ्जनदास धीर

(२)

शिक्षितोंका कर्तव्य

स्व० श्री वा० मो० शाह एक छात्रालयका संचालन करते थे। उस छात्रालयमें एक दिन एक विद्यार्थीने 'हाउस-मास्टर' से शिकायत की कि 'आज नौकरने जल नहीं भरा है।' हाउस-मास्टरने नौकरको बुलाकर उसपर छड़ी फटकार दी। अन्तमें शिकायत आयी वा० मो० शाहके पास। उन्होंने हाउस-मास्टरसे पूछा कि 'तुमने कभी घर और उसकी व्यवस्था देखी भी है या नहीं?' परंतु वह बेचारा तो अभी अविवाहित था, अतएव प्रश्नका सच्चा अभिप्राय नहीं समझ पाया। परिणाममें वा० मो० शाहने फिर स्पष्टरूपसे पूछा कि 'तुम्हारी माता या पत्नी किसी दिन कोई काम करना भूल जायँ या खूब थकी होनेके कारण न कर सकें तो क्या तुम उन्हें लकड़ीसे मारोगे?' परंतु 'घर' और 'कुटुम्ब' की भावनाका स्पर्श न कर सकनेवाला वह 'हाउस-मास्टर' क्या उत्तर देता? वा० मो० शाहने समझ लिया कि इस जगहपर किसी विवाहित पुरुषको ही रखना चाहिये। अतएव उसके साथ कोई विवाद न करके उसका काम किसी बालबच्चेदार आदमीको सौंपनेका उन्होंने निर्णय कर लिया; फिर शिकायत करनेवाले विद्यार्थीको बुलाकर पूछा—कि 'तुम्हारी माँ यदि किसी दिन जल देना भूल जायँ तो तुम अगाड़ जल पीओगे? या अपने हाथसे भरकर जल पी लोगे?' इस विद्यार्थीको उन्होंने समझाया कि नौकरकी भूल तो थी ही, परंतु तात्कालिक उपायके रूपमें विद्यार्थीको स्वयं पहले जल भर लेना चाहिये था और उसके बाद ही शिकायत करनी चाहिये थी। उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी जब अपने पीनेका पानी स्वयं नहीं भर लेने-जितने कर्त्तव्यको नहीं समझ सकता तो फिर आठ रुपयेके अपढ़ नौकरसे 'कर्त्तव्य'-पालनकी आशा कैसे रक्खी जा सकती है? 'अखण्ड आनन्द।'

—त्रिभुवन वीरजी भाई हेमाणी

(३)

भक्तकी ईमानदारी

'रतनगढ़ शहरसे थोड़ी दूर एक टीबेपर प्रकृतिकी सुरम्यस्थलीमें भगवान् श्रीहनुमान्जीका एक मन्दिर है। वहाँ अनंग, बेघरबारके भक्त लोग आश्रय पाते हैं। श्रीभानीरामजी महाराज वहाँ विराजते हैं; अतः उस स्थानका नाम 'भानीधोरा' हो गया है। उनमेंसे एक श्रीसुखराम नामके सज्जन भी वहाँ रहते हैं। आप जोधपुरके हैं, लेकिन रहते भानीधोरा ही हैं। आप बाजारसे आश्रमके लिये सामान आदि लानेका कार्य करते हैं। २९ अप्रैल १९६५ बुधवार शामको ४ बजे जब आप बाजारमें घंटाघरके पाससे गुजर रहे थे तो एक ताँगेके पहियेके पास आपको दबा हुआ एक बटुआ मिला, जिसमें ५४२१) रुपये कुछ पैसे पाये गये थे। आपने वह बटुआ अपने थैलेमें रख लिया और आप उसके मालिककी तलाशमें इधर-उधर चक्कर लगाने लगे।

वह बटुआ छापरके श्रीगुमानीरामजी दूगड़का था जो रतनगढ़ पचीस-तीस भरी सोना बेचने आये थे। दूगड़जीने ज्यों ही सिगरेटके लिये जेबमें हाथ डाला कि वह गिर पड़ा, फिर अशोकस्तम्भके पास फिर हाथ डाला तो बटुआ नदारद था।

आप वहीं भौंचक्के-से हो गये और पागलकी तरह चिल्लाने लगे। करीब छः बजे श्रीसुखरामजी स्टेशन-की तरफ उन्हें ढूँढ़ने गये तो रास्तेमें सेठजीको पागलकी तरह देखा, तब उन्होंने उनसे कुछ बातें पूछकर यह जान लिया कि बटुआ उन्हींका है और वह बटुआ उनको दे दिया। बटुआ पाते ही सेठजी फिर भौंचक्के-से हो गये। होश आनेपर सेठजी श्रीसुखरामजीको पाँच सौ भेंटमें देने लगे किंतु आप तो वहाँसे 'जय सियाराम' कहकर 'भानीधोरा' आ गये।

यह घटना आँखों देखी सर्वथा सत्य है।

—एल० डी० महर्षि कोविद

(४)

यह संसार ओसका मोती

झाँसीसे दतियाकी ओर राजमार्गपर चौथे मीलका स्तम्भ एक पुलियाके निकट खड़ा है। १८ फरवरी ६५ की सायंकाल साढ़े पाँच बजे हमारी लारी इस पुलियापरसे गुजर रही थी। एक दस वर्षीय बालक सड़कके बीचो-बीच आगे चला जा रहा था। हार्न देनेपर वह इंजिनके समीप ही आ गया। ड्राइवरने बचावके लिये लारीको एक ओर मोड़ दिया। लड़का भी हक्का-बक्का होकर उधर ही मुड़ पड़ा। मुश्किलसे एक फुट दूरीपर लड़केको बचाते हुए ड्राइवरने लारी रोकी।

लड़का तो बचा ही, लारी भी मीलके पत्थरकी टक्करसे बची। पक्की सड़कसे हटकर कच्ची कगारपर गाड़ी तिरछी होकर ऐसी रुकी, जहाँसे आगे कहानी कुछ दूसरी होती। ब्रेक न सधता, तनिक और बढ़ती, तो किनारेके तीन फुट गहरे पाँच फुट लंबे गड्ढेमें गिरती। ऐसे गड्ढे पी० डब्ल्यू० डी० वाले सड़कपर मिट्टीकी सुन्दरता बिछानेके लिये खोद रखते हैं।

ड्राइवरका कमाल समझा जाय या भगवान्का करिश्मा या सवारियोंकी अपनी किस्मत। गाड़ी गड्ढेसे फुट भर दूर ही रुक गयी। स्पष्ट था कि लारी उधर बढ़ती तो सँभल न पाती। उलटकर वह दूसरी ओर गड्ढेके आगे दस-बारह फुट गहरी और काफी लम्बी-सी एक खाईमें कलाबाजी दिखाती हुई चूर-चूर हो जाती। दूर उधर खेत और सड़कके बीचमें बरसाती पानीके जमावकी यह खाई कब्रिस्तान बननेसे बच गयी!

ज्यों ही लारी रुक पायी, चालक शान्त स्वभावसे उतरा। बालकको दिलासा देते हुए उसने कहा—'ऐसे न चला करो। तुम भी बचे और सवारियोंकी जान बची। मरनेमें कसर न थी। किसके लड़के हो? कहाँ जा रहे हो?'

लड़केने बताया, वह नाई-पुत्र है । दो मील आगे सिमरधा गाँवमें एक ब्याहमें जा रहा है । माँ-बाप उसे घरपर अकेला छोड़कर दावत खाने वहाँ गये हैं । इसलिये वह गुस्सेमें भरा चला जा रहा था । माँ-बापपर उसे इतना क्रोध था कि मर जानेसे भी उसे डर न था ।

विवाहोंके सीजनमें ठसाठस भरी गाड़ीमें दो छोटी बहुओं और एक गँवई दूल्हेके अतृप्त अरमानोंने ही शायद सबके प्राण बचाये । किसीने लड़केसे कहा—'अरे, तू नहीं डरता, तो न सही । पर आज तूने हम सभीकी जान ली होती । भगवान् ही सीधा था, जो सभी बच गये । हम सभीका भाग्य अच्छा था, जो दुबारा जन्म हुआ ।'

मैंने कहा—'भाई, हमारा भाग्य तो बड़ा लीचड़ है । भाग्य तो लड़केका ही चोखा है, जिसमें इतनी हत्याएँ बिल्कुल नहीं लिखी थीं—नहीं तो, नर-संहारमें देर क्या थी ।'

'जान तो बची, पर फटीचर गाड़ीकी बाकी चालने नीचेका कोई पिन निकाल दिया । फिर तो वह ऐसी बिगड़ी कि दो घंटे तक सुधरनेका नाम न लिया । सवारियाँ झल्लाती रहीं । मैं तो चार घंटेकी जल्दीके पीछे आगरासे झाँसी तक मेलका चक्कर लगाता हुआ दतिया वापिस जा रहा था । मेल दतियापर रुकती नहीं । समय और पैसा तो व्यर्थ गया । पर होते-होते बचनेवाली एक भयंकर दुर्घटनाने दो बड़े मन्त्र दे दिये—

और

जैसो मोती ओसको, तैसो यह संसार ।
नर चेता नहिं होत है, प्रभु-चेता तत्काल ॥

—हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्० टी०

वेद-विभूति

(रचयिता—विद्या-वाचस्पति डा० श्रीहरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०)

है वैदिकताका वैभव परम पुरातन,
वैदिक शिक्षा अति पुण्यमयी, अति पावन,
ऋषि-मुनि वेदामृत-पान किया करते थे ।
वेदोंपर प्यारे प्राण दिया करते थे ।
उस दिव्य ज्योतिसे ज्ञान उजाला करिये—
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

वह मानवताका अविचल-अटल सहारा;
सब जीव-जन्तुओंपर अति प्रेम प्रसारा,
वसुधा कुटुम्बका भव्य भाव विस्तारा,
कल्याण-त्राण, तप-त्यागमयी ध्रुव धारा,
वैदिकताके बलसे भवसागर तरिये—
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

अघयुक्त अशान्त भावना भभक रही है,
अन्याय-स्वार्थकी ज्वाला धधक रही है,
मानव, मानवपर वज्रबाण बरसाता,
हा ! एक-दूसरेको जीते-जी खाता,
वैदिक विधानसे सबके संकट हरिये—
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

मन-वचन-कर्ममें जब शुचिता आयेगी,
जन-जीवनमें नैतिकता छा जायेगी,
प्रिय पुण्य-पताका घर-घर फहरायेगी,
सब सृष्टि वेदकी गुण-गरिमा गायेगी,
शुभ धर्म धारणा धन्य ध्यानमें धरिये,
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

जो तत्त्व अभ्युदय-निःश्रेयस-साधक है,
जो व्यष्टि-समष्टि परम प्रभु आराधक है,
जिसने मानव-मंगलकी ज्योति जगायी,
जो प्राणिमात्रके लिये सदा सुखदायी,
वह श्रेयस्कर सद्धर्म, उसे अनुसरिये,
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

वर वेद पूज्य कल्याण-त्राण दाता हैं,
सद् ज्ञान-भानु प्रेरक पथ-निर्माता हैं,
जबतक वेदोंकी ज्योति जगी जीवनमें,
शुचिता-ऋजुता थी, ममता रही न धनमें,
वेदोंके लिये जिओ, वेदोंपर मरिये,
वेदोंकी विमल विभूति विश्वमें भरिये ।

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके सम्बन्धमें कुछ

श्रद्धेय श्रीसेठजीका शरीर इधर एक वर्षके अधिक समयसे रुग्ण था । यद्यपि वे स्वरूपतः सदा स्वस्थ थे । (**समदुःखसुखः स्वस्थः ।**) वे बाँकुड़ा थे । पर गत मार्च मासमें ऐसा अनुमान हो गया था कि उनका भौतिक देह बहुत दिन नहीं चलेगा । अतः उनके इच्छानुसार उन्हें बाँकुड़ासे गीताभवन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) के पवित्र गङ्गातटपर लाया गया । वे ३१ मार्चको यहाँ पहुँच गये थे । तदनन्तर ता० ६ अप्रैलको भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार भी वहाँ पहुँच गये । परिवार-घरके प्रिय बन्धु तथा सत्संगी भाई-बहिन भी प्रचुर संख्यामें पहुँचने लगे और अन्ततक बहुत लोग आ गये । शरीरकी स्थिति उत्तरोत्तर गिरने लगी । पर देहावसानके पाँच दिन पहलेतक वे पत्र सुनते तथा उनके उत्तर लिखवाते रहे । बोलनेकी शक्ति कम हो गयी थी और उदर, पीठ तथा सिरमें भयानक पीड़ा थी, तथापि वे धीरे-धीरे बोलते और उपदेशकी बात कहते थे । प्रतिदिन—यहाँतक कि देहावसानके दिनतक उन्होंने संध्या की, सूर्यार्घ्य दिया । नामजप तो उनका अन्तिम क्षणतक चलता रहा । सदाचारादि नियमोंका पालन भी अक्षुण्णरूपसे अन्त समयतक उनका चालू रहा । उन्होंने भयानक-से-भयानक पीड़ामें भी कभी एलोपैथिक दवा तो ली ही नहीं । आयुर्वेदिक ओषधियोंमें भी, उनका सेवन नहीं किया, जिनमें कुछ भी अपवित्र वस्तुका कोई संयोग रहा हो । खानपानमें उनका नियमपालन ज्यों-का-त्यों बना रहा । वे आदर्श सदाचारी थे । अपनी अस्सी वर्षकी दीर्घ आयुमें उन्होंने आजन्म भारतीय संस्कृति, ऋषिप्रणीत सनातनधर्म, अध्यात्मतत्त्व, ईश्वरभक्ति, गीतोक्त निष्कामकर्मयोग, ज्ञान, दीनसेवा, गोसेवा एवं प्राणिहित आदिके सेवन तथा प्रचार-प्रसारके द्वारा भगवान्‌की जो अवर्णनीय सेवा की, वह सर्वथा आदर्श और चिरस्मरणीय है । साधनामें भक्तिकी प्रधानता, सिद्धान्तमें निष्काम कर्मयोग और स्वरूपतत्त्वमें अद्वैत ब्रह्मनिष्ठा आपके जीवनमें प्रतिष्ठित थी । उन्होंने इनका केवल प्रचार ही नहीं किया—स्वयं साधन किया और अनुभव प्राप्त किया । वे जीवन्मुक्त महापुरुष थे ।

दिनांक १६ रात्रिको उन्होंने भाई हनुमानप्रसादसे ध्यान करानेको कहा । पहले तो वे नहीं समझे, परंतु पुनः संकेत प्राप्त करनेपर उन्होंने सेठजीके प्रिय 'आनन्द' तत्त्वका विशेषणोंसहित उच्चारण किया । उन्होंने उसे बार-बार सुना । बड़े प्रसन्न हुए । तदनन्तर पुनः वैसा ही संकेत मिला, तब हनुमानप्रसादने उन्हें पुनः आनन्दतत्त्वके शब्द कई बार सुनाये, फिर अद्वैत ब्रह्मके बोधक कुछ श्रुतियाँ सुनायीं और उन्हें उनके अपने नित्य सत्य ब्रह्म-स्वरूपका वर्णन सुनाया । जो कुछ सुनाया उसमेंसे कुछ यहाँ दिया जा रहा है—

आनन्दतत्त्वके उद्गार

आनन्द, आनन्द, सत् आनन्द, चित् आनन्द, पूर्ण आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अमृतस्वरूप आनन्द, स्वरूपानन्द, आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, विज्ञान आनन्द, कैवल्यानन्द, महदानन्द, अजरानन्द, अक्षरानन्द, नित्य आनन्द, अव्यय आनन्द, अनन्त आनन्द, अपार आनन्द, परात्परानन्द, असीम आनन्द, परमानन्द, अनिर्वचनीय आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, अपरिमेय आनन्द, निरतिशय आनन्द, आनन्दमय आनन्द, आनन्दमें ही आनन्द, आनन्दसे ही आनन्द, आनन्दको ही आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द, आनन्द ।

तदनन्तर कहा—

'आपमें न जन्म है, न मृत्यु है; न जरा है, न रोग है; न वृद्धि है, न ह्रास है; न विकास है, न विनाश है; न मन है, न चित्त है; न प्राण है, न अप्राण है और न इन्द्रिय है, न इन्द्रियोंके विषय हैं;—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥
(कठोपनिषद् १ । ३ । १५)

‘जो शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूपरहित है, अव्यय है, रसरहित है, नित्य है, गन्धरहित है। इस अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे पर और ध्रुव तत्त्वको जानकर मनुष्य मृत्युमुखसे छूट जाता है।’

आप ऐसे ही हैं। आप सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मस्वरूप हैं: नित्य हैं, निरामय हैं। आप दिव्य हैं, अमूर्त पुरुष हैं, बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं, न बाहर हैं, न भीतर हैं: आप अजन्मा हैं: आप प्राण-रहित, मनरहित, शुद्ध उज्ज्वल अक्षर परात्पर ब्रह्म हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥
(मुण्डक० २ । १ । २)

आप नित्य हैं, विभु हैं, सर्वगत हैं, सर्वातीत हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अविनाशी हैं—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं····अव्ययम्····
(मुण्डक०)

आप सर्वप्रकाशरूप हैं, चिन्मात्र ज्योति हैं, तीनों कालोंसे मुक्त हैं, कामादि विकारोंसे रहित हैं, आप समस्त दैहिक दोषोंसे मुक्त, सदा निर्दोष हैं, आप निर्गुण हैं।

आप नित्यमुक्त हैं, अतएव मुक्तिसे रहित हैं, आप सदा समरूप हैं, शान्त हैं, पुरुषोत्तम हैं, यही आपका स्वरूप है। केवल एक ब्रह्म ही ब्रह्म है और वही आप हैं।

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥
कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ।
सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ॥
(मैत्रेय्युपनिषद्)

आप भूमा हैं, अल्प नहीं हैं। जो भूमा है, वही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। जहाँ अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता, वह भूमा है और जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है वह मरण-शील है। वह भूमा अपनी महिमामें ही स्थित है। भूमाके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। वह भूमा आपका स्वरूप है।

‘यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखम्····यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।·········स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित·····

(छान्दोग्य०)

‘आत्मा पापरहित है, जरा-मरणरहित है, शोक विषादरहित है, क्षुधा-पिपासारहित है, सत्य-काम और सत्यसंकल्प है। वह आत्मा आप हैं। आप नित्य विशुद्ध चिन्मय परमतत्व हैं—

‘य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः·····,

(छान्दोग्य०)

‘नित्यं विशुद्धं चिन्मयपरं तत्त्वम् ।’

आप नित्य आलम्बनरहित, नित्य भयरहित, नित्य द्वैताद्वैतरहित, नित्य प्रशान्त, नित्य निर्मल, नित्य जन्मजरामरणसे रहित, नित्य परिपूर्ण, नित्य मायातीत-गुणातीत, नित्य निर्द्वन्द्व, नित्य आत्मतृप्त, नित्य आत्मरत, नित्य आत्मसंतुष्ट और नित्य आनन्द-स्वरूप हैं।

आप नित्यमुक्त हैं, आप जीवन्मुक्त हैं। ब्रह्म आपका स्वरूप है और आप उस नित्य ब्रह्ममें ही अभिन्न प्रतिष्ठित हैं। एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म ही है।

'अयमात्मा ब्रह्म', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म', 'तत्त्वमसि,' ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

जिस समय भाई हनुमानप्रसाद उन्हें यह सब सुना रहे थे, उस समय सेठजीके चेहरेपर आनन्दकी लहरें-सी उठ रही थीं। वे अत्यन्त प्रसन्न थे। सोये-सोये ही बारंबार हनुमानप्रसादको हाथोंसे खींचकर उनके गलेमें दोनों हाथ डालकर उन्हें हृदयसे लगाना चाहते थे।—बार-बार सुनानेका संकेत करते थे और इससे उन्हें बार-बार सुनाया भी जाता था। सब सुननेके बाद वे आनन्द-गद्गद वाणीसे धीमे स्वरमें बोले—'ठीक है—ठीक है। सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही है। और कुछ भी नहीं है। आनन्द आनन्द।'

गत दिनांक १७ अप्रैलको दिनके लगभग ४ बजे पवित्र गङ्गातटपर परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके भौतिक देहका त्याग हो गया। निष्काम कर्मयोगकी सजीव प्रतिमा और अद्वैत ज्ञानके एक प्रकाशमान सूर्यका अस्त हो गया। यों तो उनके उपदेश अमर थे और नित्य अमर रहेंगे।

श्रद्धेय सेठजीके अन्तिम अमृतोपदेश

बाँकुड़ासे गीताभवन (स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश) आते समय लखनऊमें दर्शनार्थ आये हुए लोगोंसे कहा—

'नित्य नियमपूर्वक अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना, उनकी सेवा करना और उनका आज्ञापालन करना।'

'नित्य निरन्तर भगवान्के नामका श्रद्धासहित निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक जाप करना और भगवान्के स्वरूपका ध्यान करना।'

'एक क्षणके लिये भी भगवान्के नामको कभी न भूलना।'

'खूब मनसे ये सब करना और जरा भी कमी रहे तो उसके लिये एकान्तमें श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करुण भावसे गद्गद होकर रोते हुए भगवान्से प्रार्थना करना।'

'सबको भगवान्का स्वरूप समझना।'

'सब वस्तुओंको भगवान्की समझना।'

'सब कार्य भगवान्के समझना और भगवान्के लिये ही सब काम करना।'

'नित्य श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमके साथ यह सब करनेपर बारह महीनेमें भगवान्की प्राप्ति हो सकती है……'

देहावसानसे कुछ ही दिनपूर्व गीता-भवनमें कहे और लिखवाये हुए अमूल्य वाक्य—

'दुर्गुण, दुराचार, दुर्विचार, दुर्व्यसन, दंभ, मद, अभिमान, अधिक निद्रा, आलस्य, प्रमाद, विषयभोगोंका तथा भोगियोंका सङ्ग—इनको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। ये सब आसुरी सम्पत्ति हैं।'

'सद्गुण, सदाचार, सद्विचार, सत्संग, सरलता, साधुता, नम्रता, ज्ञान, वैराग्य एवं ईश्वरकी भक्ति—इनको अमृतके समान समझकर इनका नित्य निरन्तर सेवन करना चाहिये। यह दैवी सम्पत्ति है। यही सार तत्त्व है।'

'आसुरी सम्पदा नरकके लिये है और दैवी सम्पदा कल्याण करनेवाली है।'

श्रद्धेय सेठजीके भौतिक देहावसानपर उनके 'गोविन्दभवन ट्रस्ट'का प्रस्ताव

'गोविन्द-भवन-कार्यालयके मूल संस्थापक, संचालक, अध्यक्ष और प्राणस्वरूप श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका गत दिनाङ्क १७ अप्रैल, शनिवार, सन् १९६५ मिति वैशाख कृष्णा द्वितीया संवत् २०२२ को दिनके ४ बजे गीताभवनमें ही देहावसान हो गया। अतएव सर्वसम्मतिसे यह सभा उनके भौतिक देहका और उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली सहायताका भयानक अभाव अनुभव करती है। यद्यपि वे नित्य ही अपने आत्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित थे। भौतिक देहके अवसानसे उनकी स्वरूप-स्थितिमें किसी प्रकारकी भी हानि-लाभकी कल्पना नहीं की जा सकती, तथापि उनके द्वारा प्राप्त होनेवाले बाह्य सहयोगसे वञ्चित हो जानेका बड़ा भारी आघात लगा है और इसके लिये इस सभाके सभी ट्रस्टी अत्यन्त दुःखित हैं। उन्होंने अन्तिम समयतक इस ट्रस्टके साथ ही उनके अपने द्वारा संस्थापित संस्थाओंको एवं लाखों-लाखों व्यक्तियोंको अपने उपदेश, आदर्श आचरण, सत्सिद्धान्तकी आचारके पालन, सत्परामर्श एवं विविध प्रकारसे सहायता दी है उसका कोई भी बदला नहीं है। सभा इसके द्वारा संचालित सभी संस्थाओंसे, कार्यकर्ताओंसे एवं श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा उठानेवाले संख्यातीत नर-नारियोंसे सादर अनुरोध करती है कि वे सब लोग उनके भौतिक अवसानपर शोक न मनाकर उनके दिव्य और आदर्श आचरणोंको अपने जीवनमें उतारकर प्रति सच्ची श्रद्धाका परिचय दें और उनके का, उनके द्वारा लिखित सिद्धान्तोंका प्रचार-प्रसार उनकी पवित्र स्मृतिको बनाये रक्खें और बढ़ाते यही उनका वास्तविक स्मारक है।

* * *

कृतज्ञता-प्रकाश तथा क्षमा-प्रार्थना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके इस भौतिक देहत्यागसे देशकी, धर्मकी क्षति हुई है, वह अवर्णनीय है। समस्त देशके कोने-कोनेसे हमारे पास बहुसंख्यक तार, पत्र आये हैं और अभी आ रहे हैं। इन सहानुभूति, संवेदना प्रकट करनेवाले तथा श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनेवालोंमें बड़े-बड़े संत-महात्मा, सम्मान्य आचार्य, केन्द्रिय मिनिस्टर, प्रदेशोंके मिनिस्टर, माननीय जननायकगण, परम आदरणीय विद्वान्, बड़े-बड़े व्यापारी, प्रसिद्ध समाचारपत्रोंके संचालक तथा सम्पादक, सम्मानास्पदा देवियाँ, देशकी विभिन्न संस्थाएँ तथा कल्याणके एवं गीताप्रेसके साहित्यके पाठक-पाठिका, स्वजन-समुदाय, सर्वसाधारण—सभी श्रेणीके हमारे सम्मान्य व्यक्ति हैं। विभिन्न भाषाओंके पत्रोंने सम्पादकीय वक्तव्य छापे हैं। हम उन सभीके कृतज्ञ हैं। प्रयत्न तो यही है कि सभी अलग-अलग उत्तर देकर कृतज्ञता प्रकट की परंतु तार-पत्रोंकी संख्या अत्यधिक होने, कई पूरा पता न होने तथा पत्र न मिलने या छूट जानेके कारण सब पत्रोंके उत्तर नहीं सकेंगे। देशभरकी इस संवेदना तथा सहानुभूतिसे लोगोंको बड़ा ही बल तथा आश्वासन मिला है। लिये मैं गीताप्रेस, कल्याण-परिवार तथा श्रद्धेय निज परिवारकी ओरसे हार्दिक कृतज्ञता प्रकट हुआ अत्यन्त विनीतभावसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

—हनुमानप्रसाद

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके जीवनको ऊँचा उठानेवाले लेखोंके संग्रह

(प्रत्येक भागमें सर्वथा स्वतन्त्र अलग-अलग लेख हैं)

इन लेखोंमें लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक—सर्वतोमुखी उन्नति करानेमें सहायक एवं सभी वर्ण, आश्रम, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाओंके कामकी यथेष्ट सामग्री है। वस्तुतः ये लेख परमात्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये 'चिन्तामणि' के समान हैं।

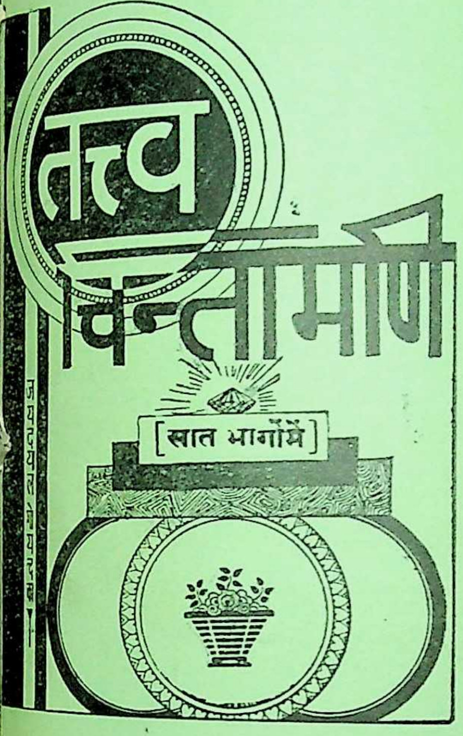

	मू॰ रु.न.पै.
भाग १—में २९ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ३५२, चित्र तिरंगे २	०.६२
भाग २—में ४८ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५९२, चित्र तिरंगा १	०.८७
भाग ३—में ३३ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४२४, चित्र तिरंगे २	०.७०
भाग ४—में ३१ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२८, चित्र तिरंगे ५	०.८१
भाग ५—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४९६, चित्र तिरंगे ४	०.८१
भाग ६—में ३४ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ४५६, चित्र तिरंगा १	१.००
भाग ७—में ३२ लेखोंका संग्रह, पृष्ठ ५२०, चित्र तिरंगा १	१.१२

श्रीगोयन्दकाजीकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

१-**श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी**—गीताविषयक २५१५ प्रश्न और उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक ढंगकी **हिन्दी टीका**, पृष्ठ ६८४, चित्र तिरंगे ४	४.००
२-**आत्मोद्धारके साधन**—पृष्ठ ४६४, रंगीन चित्र ४	१.२५
३-**भक्तियोगका तत्त्व**—पृष्ठ ४५६, रंगीन चित्र ४	१.२५
४-**कर्मयोगका तत्त्व**—पृष्ठ ४२०, दो तिरंगे, तीन सादे चित्र	१.१२
५-**महत्त्वपूर्ण शिक्षा**—पृष्ठ ४७६, रंगीन चित्र ४	१.००
६-**परम साधन**—पृष्ठ २७२, रंगीन चित्र ५	१.००
७-**मनुष्यजीवनकी सफलता**—पृष्ठ ३५२, रंगीन चित्र ५	१.००
८-**परम शान्तिका मार्ग**—पृष्ठ ४१६, रंगीन चित्र ४, सादे २	१.००
९-**मनुष्यका परम कर्तव्य**—पृष्ठ ४१०, रंगीन चित्र ४	१.००
१०-**ज्ञानयोगका तत्त्व**—पृष्ठ ३८४, रंगीन चित्र ३	१.००
११-**प्रेमयोगका तत्त्व**—पृष्ठ ३८०, रंगीन चित्र ५, सादा १	१.००

सभी पुस्तकोंका डाक-व्यय अलग।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)**

आसुरी शक्तियोंपर विजय पानेके लिये भगवदाराधन और देवाराधन कीजिये

भारतीय संस्कृति प्राणीमात्रमें एक 'भगवान्' और 'आत्मा' मानती है। इसीलिये प्राणीमात्रका हित उसका सहज स्वभाव है। सबमें परस्पर प्रेम रहे, सब सबका हित-साधन करें, कोई किसीसे द्वेष-वैर न सब सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें—यह हमारा आदर्श है। इसीसे भारतका यह स्वाभाविक नारा है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सब सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सभीको कल्याणका साक्षात्कार हो और दुःखका भाग कि न मिले।' परंतु इस परम पवित्र आदर्शपर विश्वके मनुष्य चलते रहें, इस आदर्शका पालन-संरक्षण विस्तार हो, इसके लिये प्रयत्न तथा इसमें बाधा देनेवाली प्रबल आसुरी शक्तियोंका दमन आ है। आसुरी शक्तिके दमनमें उसका भी हित है। दमन न होनेपर वह यदि बढ़ती चली जायगी तो उ उसका पापपूर्ण विस्तार होता जायगा, जो उसके लिये भी परिणाममें अत्यन्त घातक होगा। जैसे श किसी अत्यन्त सड़े हुए अङ्गको आपरेशनके द्वारा निकलवा देना आवश्यक होता है, उसी प्रकार विश्वमानव सड़े हुए अङ्गका भी आपरेशन आवश्यक है। फिर, जहाँ भौतिक राज्य-संचालनके द्वारा भगवान्की करनी है, वहाँ तो सुरक्षाका प्रयत्न भी भगवत्पूजाका एक आवश्यक अङ्ग है। हमलोगोंने शान्ति और अ नामपर इसकी ओर ध्यान नहीं दिया, इसीसे आज दुर्दान्त चीन और पाकिस्तान भारतपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं और इस समय चीनके द्वारा सैन्य-संग्रहके अतिरिक्त आक्रमणकी कोई क्रिया न होनेपर भी पाकिस्तान जहाँ-तहाँ आक्रमण भी आरम्भ कर दिया है। इनके इस बढ़े हुए रोगका नाश करके इन्हें नीरोग क इनका हित-साधन करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव भारतको अपना बल-विक्रम, शौर्य-वीर्य इतना बढ़ा चाहिये कि किसीका भी भारतकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखनेका साहस न हो और भारतकी जो भूमि अ पूर्वक दबा ली गयी है, उसे भी लौटा देना पड़े। इस दिशामें हमारी सरकारको पूरा प्रयत्न करना चाहि जनताको हर तरहसे उसमें सरकारकी सहायता करनी चाहिये।

भारत सदासे ही शान्ति चाहता है और वह सदा ही शान्ति चाहता रहेगा; पर यदि उस अन्यायपूर्वक आक्रमण करना चाहेगा तो उसको पूरा दण्ड दिया जायगा—यह हमारी नीति होनी चा

परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल भौतिक बल-विक्रमसे ही काम नहीं चलेगा। पूर्ण प्राप्त करनेके लिये 'अध्यात्म-बल'—'दैवी बल'की परम आवश्यकता है। अतएव मूर्खतावश भारतपर आक्रमण वाले इन देशोंकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये और भारतके अजेय बलके सामने इनका साहस सदाके लिये न जाय; इसके लिये स्थान-स्थानपर भगवदाराधन और देवाराधनका पवित्र कार्य होना चाहिये। वैदिक तान्त्रिक विष्णुयाग, रुद्रयाग, गायत्रीपुरश्चरण, सहस्रचण्डी, लक्षचण्डी आदिके द्वारा शक्तिकी आराधना, आदिके द्वारा भगवान् शंकरकी उपासना, वाल्मीकीय रामायण तथा रामचरितमानसके सम्पुटित पारायण, स्तोत्र, नारायणकवच, शिवकवच आदिके अनुष्ठान, बगलामुखीके अनुष्ठान, अखण्ड नामकीर्तन तथा प्रार्थनाके आयोजन सर्वत्र होने चाहिये।

हम अपने देशवासियोंका ध्यान नम्रतापूर्वक इधर खींचते हुए उनसे निवेदन करते हैं कि वे आ क्षेत्रमें तन-मन-धनसे यथाशक्ति सरकारकी सहायता करते हुए ही विशेषरूपसे भगवदाराधन और देवा ओर ध्यान देकर इन अनुष्ठानोंका आयोजन उत्साहपूर्वक करें-करायें, भगवान्की कृपापर विश्वास रखें भगवान्का आश्रय होगा और पर्याप्त बल होगा, वहाँ विजय सुनिश्चित है।

जहाँ कृष्ण योगेश्वर प्रभु हों, जहाँ धनुर्धारी हों पार्थ। मेरे मतसे वहाँ सदा श्री, विजय, भूति ध्रुव नीति

विनीत—

कल्याण

ल कांगड़ी

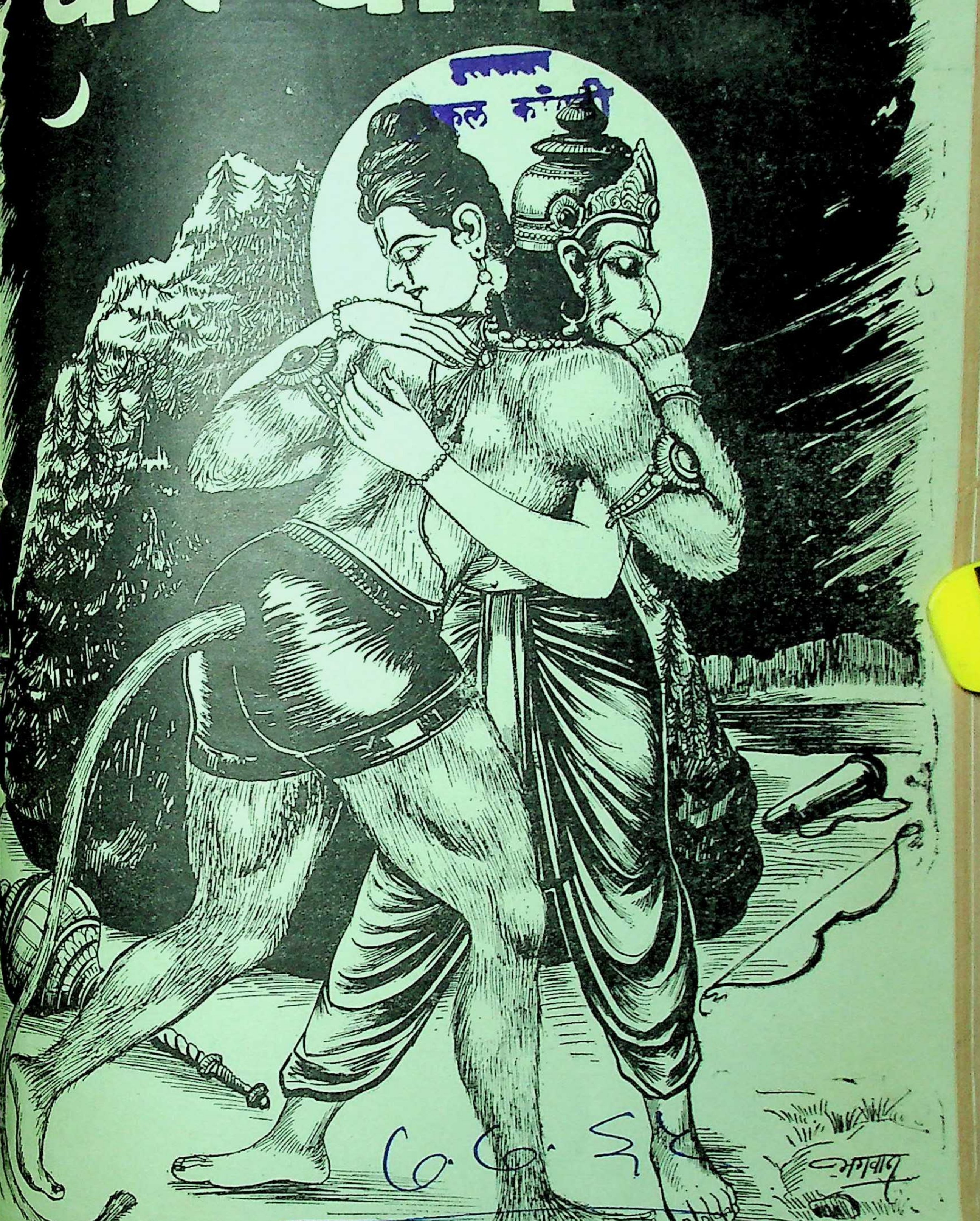

6.6.5

Deep

र्ष ३१]

* * *

[अङ्क ७

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण २०२२, जुलाई १९६५

विषय ··· पृष्ठ-संख्या

१–प्रेमकी लूट [कविता] ··· १०२१
२–कल्याण ('शिव') ··· १०२२
३–परमात्माकी प्राप्तिके लिये सार-सार बातें (ब्र० श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १०२३
४–प्रार्थनाका प्रभाव (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, का० व्या० सां० स्मृतितीर्थ) ··· १०२८
५–सत्य संकेत (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· १०३१
६–मधुर ··· ··· १०३२
७–सेवा [कहानी] (श्री'चक्र') ··· १०३४
८–बनजारा बनिये ! (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) ··· ··· १०३८
९–भगवान्‌में सदेह लीन (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १०४१
१०–मौतके मुँहसे बचा और इस प्रकार नयी जिंदगी मिली ! (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण) ··· १०४६
११–तुलसीके शब्द (डा० हरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· १०५१
१२–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी) ··· १०५८
१३–गीतामें सत् और असत्‌का विवेक (डा० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १०६१
१४–श्रीगदाधर भट्टकी जीवन-झाँकी (क० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग साहित्यरत्न) ··· १०६५
१५–तथागतकी आस्तिकता (प्रो० श्रीदेवदत्तजी भट्टि) ··· १०७१
१६–पराजय, गुरु और युवक (प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्, साहित्यरत्न) ··· ··· १०७३
१७–अन्तिम समयकी प्रार्थना (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ··· १०७६
१८–मित्र [कहानी] (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ··· ··· १०७७
१९–पढ़ो, समझो और करो ··· १०८२

चित्र-सूची

१–भक्त-भगवान्‌की भेट (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–प्रेमकी लूट (तिरंगा) ··· १०२१

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(१०

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०२२, जुलाई १९६५ { संख्या ७
पूर्ण संख्या ४६४

प्रेमकी लूट

चली स्याम-गत-चित्ता ग्वालिनि धर सिर दधि-पूरन मटकी ।
चिंतत स्याम, पुकारत स्यामहि, पहुँची बन इकंत भटकी ॥
मधुर बिकलता गोपी-मनकी, स्याम-चित्तमें जा खटकी ।
प्रगटे तुरत, मधुर गोपी-मुखपद्म दृष्टि-भ्रमरी अटकी ॥
निरखि स्याम सन्मुख सहसा मन छयौ अमित अचरज आनंद ।
देखि रही अपलक अचरज, अंगुरि धरि चिबुक, बदन सुखकंद ॥
रसमय स्याम लैन हिय-रस-दधि भर्‍यो लगे लूटन स्वच्छंद ।
छलक्यो दधि उत, इत मन-रस-निधि छलक्यो, बढ़्यो तोरि सब बंध ॥

याद रक्खो--भगवान् चिदानन्दस्वरूप हैं, परमानन्दमय हैं और वे दिन-रात आठों पहर तुम्हारे साथ रहते हैं---सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-बैठते---सभी समय सभी अवस्थाओंमें। तुम उनको भूले हुए हो, इसीसे दुखी होते हो। उनका अनुभव नहीं करते, इसीसे भय-विषादसे भरे रहते हो। अनुभव करो---तुम्हारे जीवनके प्रत्येक क्षणमें भगवान् तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे जीवनकी प्रत्येक क्रियामें भगवान् तुम्हारे साथ हैं।

याद रक्खो--वास्तवमें समस्त जगत्के रूपमें एकमात्र भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं। वे आनन्दस्वरूप हैं। जगत्में जो कुछ सुन्दर-भयानक हो रहा है, सब उन्हीं आनन्दस्वरूपकी आनन्दमयी लीला है; इसे अनुभव करो और नित्य सुखी हो जाओ।

याद रक्खो--भगवान्से रहित जिस जगत्की कल्पना है, वह सर्वथा असत् है और जहाँ उसकी कल्पित सत्ता है, वहाँ वह अनित्य, अपूर्ण तथा नित्य अत्यन्त दुःखमय है। उसमें सदा सर्वत्र दुःखकी ही नयी-नयी ज्वालाएँ प्रकट होती और भड़कती रहती हैं; उससे त्राण पाना हो तो वह जिन आनन्दमय भगवान्में कल्पित है, सदा सर्वत्र उन आनन्दमय लीलामय भगवान्को और उनकी आनन्दमयी लीलाको ही देखो।

याद रक्खो--तुम भी आनन्दमयकी आनन्दमयी लीला-सुधाधाराके प्रवाहमें ही उन्हीं लीलासमुद्रकी एक तरङ्ग बने बह रहे हो, जब तुम उस आनन्दसमुद्रकी तरङ्ग हो तब स्वयं आनन्दसमुद्रके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो।

याद रक्खो--जगत्में जो कुछ भी व्यवहार हो रहा है---सब उनकी आनन्दमयी लीला है, और जो कुछ भी हैं, सब वे स्वयं आनन्दमय भगवान् ही हैं। अतः प्रत्येक व्यवहारमें उनकी लीलाके दर्शन करो और प्रत्येक पदार्थमें स्वयं लीलामयके। प्रत्येक फलके स्वरूपमें भी लीलामय भगवान् ही आते हैं,---कभी रोग बनकर---कभी नीरोगता बनकर; कभी सृजन बनकर---कभी संहार बनकर; कभी मान बनकर---कभी अपमान बनकर; कभी सुख बनकर---कभी दुःख बनकर; और कभी लाभ बनकर---कभी हानि बनकर। तुम सबमें सदा उन्हींको देखो।

याद रक्खो--वे भगवान् ही सब कुछ हैं। माता, पिता, गुरु, पति, भाई, मित्र, जिस किसी भी रूपमें---जैसा जो कुछ भी सम्बन्ध मानकर उनको अपना बना लो। वे उसी रूपमें तुम्हारे बनने और तुमको अपना बनानेके लिये तैयार हैं।

याद रक्खो--विश्वासके योग्य वही होता है जो सत्य है, नित्य है; असत्य और अनित्यपर विश्वास करनेवाला तो निराश ही होता है, धोखा ही खाता है। सत्य और नित्य एक भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवा और जो कुछ भी है, सब असत्य है, कल्पित है और देखनेमें भी अनित्य प्रत्यक्ष है। अतएव भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसीपर विश्वास तथा भरोसा करोगे तो वह तुम्हारी मूर्खता होगी; क्योंकि तुम उससे धोखा ही खाओगे।

याद रक्खो--तुम भगवान्पर विश्वास करके उन्हींको एकमात्र अपना मानकर उनकी ओर बढ़ना चाहोगे तो वे सहज अहैतुक सुहृद् तुम्हें सुखपूर्वक अपनी ओर खींच लेंगे। तुम्हारे सारे बाधा-विघ्नोंका सहज ही नाश हो जायगा। तुम्हारा पथ सुगम, सुखमय और प्रशस्त हो जायगा। इतना ही नहीं---जब तुम उनकी ओर चलना शुरू कर दोगे तब वे अपने प्रणके अनुसार तुम्हारी ओर चलना आरम्भ कर देंगे। वे चलेंगे अपनी चालसे और उनकी चाल है चलनेका संकल्प करते ही वहीं पहुँच जाना। अतएव वे भगवान् तुम्हारे पास तुरंत आ पहुँचेंगे और उनका मङ्गलमय पावन सुदुर्लभ दर्शन-स्पर्श प्राप्तकर तुम कृतार्थ हो जाओगे। फिर कण-कणमें प्रतिक्षण अनवरत-रूपसे तुम उनके दर्शन करते रहोगे, तुम्हारा जीवन धन्य हो जायगा।

'शिव'

परमात्माकी प्राप्तिके लिये सार-सार बातें

(लेखक—ब्र० श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यजन्म पाकर यदि परमात्माको प्राप्त कर लिया तो बहुत ही ठीक है, नहीं तो बड़ी भारी हानि है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही परब्रह्म परमात्माको जान लिया तब तो बहुत कुशल है और यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है—यही सोचकर बुद्धिमान् पुरुष प्राणीमात्रमें परब्रह्म परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।'

मनुष्यजन्मकी उन्नति और सफलताके लिये यहाँ कुछ साधनोपयोगी बातें बतायी जाती हैं। इनको पालन करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

मनुष्यके जीवनमें तीन काल हैं—साधनकाल, व्यवहारकाल और शयनकाल—इन तीनों कालोंको ही उच्च-से-उच्च साधनकाल बना लेना चाहिये।

सोनेके समय भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और लीलाका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये। उससे स्वप्न भी अच्छा आता है और वह शयनकाल भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है।

व्यवहारकालमें जो कुछ भी किया जाय, उसे साधनका रूप देना चाहिये। शास्त्रके विरुद्ध तथा प्रमाद, आलस्य और व्यसनमें एक क्षण भी नहीं बिताना चाहिये। सारे प्राणियोंको भगवान्का स्वरूप या उनमें भगवान्को व्यापक समझकर या वे सब भगवान्के ही हैं—ऐसे भगवद्भावसे उनकी निष्कामभावपूर्वक तत्परतासे सेवा करनी चाहिये।

इस प्रकारके भावसे की हुई सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अतएव सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके सहित यह समस्त संसार भगवान्से ही उत्पन्न हुआ है और भगवान्से ही व्याप्त है, भगवान् ही अपनी योगमायासे संसारके रूपमें प्रकट हैं। अतः यह संसार उनका ही स्वरूप है और इसमें जो कुछ हो रहा है, वह उनकी ही लीला है। इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्की सेवा है—ऐसा समझकर अपने शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका सबके हितके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। एवं संसारमें जो भी कुछ हो रहा है, उसको भगवान्की लीला समझकर भगवान्के प्रेममें मस्त रहना चाहिये। इस संसाररूप नाट्यशालामें भगवान् हमलोगोंको अपनी लीलाके रूपमें नाटक दिखा रहे हैं। भगवान्के इस अभिनयमें सम्मिलित होकर हमें इस नाट्यशालाके स्वामीकी रुखके अनुसार अभिनय करना चाहिये। नाटक करनेवालोंमें दो भाव रहते हैं। एक तो स्वाँगका भाव और दूसरा वास्तविक भाव—जैसे किसी मनुष्यको नाटकमें एक राजाका स्वाँग मिला और उसी मनुष्यके पिताको सिपाहीका स्वाँग मिला। एक तीसरे व्यक्तिने उस राजासे शिकायत की कि इस सिपाहीने चोरोंको छोड़ दिया है, तब राजा सिपाहीको बुलाकर

धमकाता है, इसपर सिपाही कहता है—'हजूर ! यह मेरी भूल हो गयी, आगे भविष्यमें ऐसी भूल नहीं होगी ।' इसपर राजाने उसको क्षमा कर दिया । विचार करना चाहिये । ऊपरसे तो उस राजा बने हुए मनुष्यका यह भाव है कि मैं राजा हूँ और यह सिपाही है तथा उस अभिनयमें उसे जैसा व्यवहार उसके साथ करना चाहिये, वैसा ही बर्ताव करता है और उसमें कमी नहीं आने देता; पर भीतरसे यह समझता है कि ये मेरे पूजनीय पिता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ । इसी प्रकार हमें व्यावहारिक दृष्टिसे तो हम जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थितिमें हैं, उसीके अनुसार उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतासे सबके साथ विनयपूर्वक यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार करना चाहिये । और वास्तवमें अपने अन्तःकरणमें सदा वह भाव रहना चाहिये कि सब भगवान्‌के स्वरूप हैं तथा सबमें भगवान् हैं—ऐसा अनुभव करके भगवान्‌के प्रेममें मग्न रहना चाहिये । जैसे नाटकका अभिनेता यह समझता है कि नाटकमें स्वाँग करनेवाले व्यक्तियोंसे मेरा यह सम्बन्ध नाट्यभरके लिये है, वास्तविक नहीं है । अतः वह किसीसे भी अपना वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता । इसी प्रकार इस संसारके सभी सम्बन्ध माने हुए हैं, वास्तविक नहीं हैं—ऐसा समझकर हमें इनसे वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहिये; क्योंकि वास्तवमें तो हमलोगोंका नित्य सम्बन्ध एक भगवान्‌से है एवं जैसे नाटकका वह राजा यह समझकर 'कि मेरे साथ इस सिपाहीका सम्बन्ध तो नाट्यके लिये है,' वह नाटकके नियमानुसार सिपाहीके साथ सब यथायोग्य व्यवहार करता हुआ भी अपने पिताके असली सम्बन्धको नहीं भूलता, इसी प्रकार हमलोगोंको इस संसारमें सबके साथ शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार निःस्वार्थभावसे यथायोग्य बर्ताव करते हुए वास्तवमें हमारा जो भगवान्‌के साथ नित्य असली सम्बन्ध है, उसको कभी नहीं भूलना चाहिये । किंतु सबके साथ निष्कपटभावसे सत्य व्यवहार करना चाहिये तथा सत्य, प्रिय, हितकर, विनययुक्त वचन बोलने चाहिये । अपनेमें अच्छेपनका अभिमान और स्वार्थका भाव कभी नहीं आने देना चाहिये । मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और आरामको कहीं भी स्थान नहीं देना चाहिये । जो कुछ करनेयोग्य कार्य हो, उसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को याद रखते हुए निष्कामभावसे करना चाहिये । ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । फिर उसमें दुर्गुण, दुर्भाव, बुरे और व्यर्थ संकल्प कभी नहीं रह सकते । फिर हमारा जीवन बदल जाता है । दिन-पर-दिन हमारी उन्नति विशेषरूपसे होने लगती है । फिर हमारा यह व्यवहार-काल भी साधनके रूपमें परिणत हो जाता है ।

एकान्तके समय संध्या-गायत्री, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, स्तुति-प्रार्थना आदि जो भी कुछ साधन करें, उन सबको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अर्थ और भावको समझकर निष्कामभावसे निरन्तर तत्परताके साथ करते रहना चाहिये एवं उस साधनको गुप्त रखना चाहिये । प्रकट करनेसे साधन सुरक्षित नहीं रहता, वह दम्भके रूपमें बदल जाता है । श्रद्धापूर्वक किये हुए साधनमें उत्साह रहता है, प्रेमसे किये हुए साधनमें प्रसन्नता रहती है, निष्काम भावपूर्वक किये हुए साधनसे शान्ति मिलती है, अर्थ और भावको समझकर निरन्तर किया हुआ साधन कीमती (मूल्यवान्) होता है । अतः शयनकाल, व्यवहारकाल और साधनकाल सबको परम साधनका रूप देकर उच्च-से-उच्च भावपूर्वक साधन करना चाहिये ।

किंतु अपने साधनमें सफलता या उन्नति देखकर साधकको उसमें सुखका अनुभव करके उस सात्त्विक सुखमें भी रस नहीं लेना चाहिये । रस लेनेसे मनुष्य सुखके लोभमें आकर उसमें फँस जाता है, जिससे वह ऊपर नहीं उठ सकता; क्योंकि सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञान भी आसक्तिके कारण बाँधनेवाले हो जाते हैं । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
(१४ । ६)

'हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है ।'

अभिमानसे मनुष्यकी उन्नति रुक जाती है और पतन हो जाता है । कोई मनुष्य भूलसे ऐसा मान ले कि 'मैं मुक्त हो गया, अब मुझे कुछ भी नहीं करना है' तो इस मान्यताके कारण वह साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता बल्कि पतनकी ओर जाने लगता है । इसलिये अपनेमें गुणोंको लेकर अच्छेपनका अभिमान कभी किञ्चिन्मात्र भी भूलकर भी नहीं करना चाहिये । संसार और शरीरमें जो अभिमान, ममता, आसक्ति और कामना है, यह भी साधनमें बड़ा भारी विघ्न है । इसलिये इन सबका सर्वथा त्याग करके, जिससे समस्त प्राणियोंका परम हित हो उसीके लिये निष्कामभावसे तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे मनुष्यको परम शान्ति शीघ्र ही मिल सकती है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२ । ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है ।'

इसलिये यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना आदि जो भी शुभ कर्म करें, उन सबको भगवान्की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे करना चाहिये । मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्वार्थ और आरामके लोभसे नहीं करना चाहिये । स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्की प्रेरणा तो शास्त्रविरुद्ध क्रियाके लिये कभी नहीं होती । जो शास्त्रविरुद्ध क्रिया बनती है, उसमें अपने स्वभावका दोष हेतु है, जिसमें काम प्रधान है । जब अर्जुनने यह पूछा कि—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥
(गीता ३ । ३६)

'हे कृष्ण ! फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ।'

तब इसके उत्तरमें भगवान्ने यही कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला और बड़ा पापी है । इसको ही तुम इस विषयमें वैरी जानो ।'

अतएव अपनेमें किसी भी प्रकारका शास्त्रविपरीत आचरण हो तो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । सब दोषोंके मूल कारण काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुण ही हैं । क्रोध अपने दोषोंपर करना चाहिये और उन दोषोंका सर्वथा समूल विनाश कर डालना चाहिये तथा कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । कामना करनी ही हो तो भगवान्का भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिये और भगवान्में परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेके लिये करनी चाहिये । धन, सम्पत्ति और सांसारिक पदार्थोंका लोभ कभी नहीं करना चाहिये । लोभ करना ही हो तो भजन-ध्यानका साधन उत्तरोत्तर बढ़े, इसका लोभ करना चाहिये । उसमें कभी संतोष नहीं करना चाहिये ।

साधकको दूसरोंके दुर्गुणों तथा दुराचारोंको न कभी देखना, न चर्चा करना, न श्रवण करना और न

किसीमें दुर्भाव करना चाहिये । दूसरोंके दोषोंकी चर्चा करनेसे उसकी आत्माको दुःख होता है और दूसरोंमें दुर्गुण-दुराचार देखनेसे उनके संस्कार अपने हृदयमें जमते हैं तथा अपनेमें अभिमान और दूसरेमें घृणाबुद्धि होती है । इसलिये इसमें सब प्रकारसे पतन ही पतन है । ऐसा समझकर भूलकर भी कभी दूसरेके दोषोंकी ओर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये ।

इसी प्रकार अपनेमें सद्गुण-सदाचारका आरोप करके अभिमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि उससे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा जाग्रत् होती है एवं घोर पतन हो जाता है ।

कोई अपने मनके विपरीत भी आचरण करे तो उसपर न दुःख करना चाहिये और न क्रोध करना चाहिये; किंतु यदि स्वभावके दोषसे उसपर क्रोध आ जाय तो उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । यदि हमपर कोई क्रोध करे तो हमें अपनी भूलकी खोज करनी चाहिये और उससे विनयपूर्वक पूछना चाहिये—'मेरा कोई दोष हुआ होगा, तभी तो आपको उत्तेजना हुई है । मेरी जो भी भूल हो गयी, उसको क्षमा करनेके लिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । मुझे मेरी भूल बतावें, जिससे मैं भविष्यमें सावधान हो जाऊँ ।' दूसरा हमपर क्रोध करे, उस समय अपने मनमें यह भाव भी नहीं रहने देना चाहिये कि इसने मेरा कोई अपराध किया है, इससे बदला लेनेकी भावना कभी नहीं हो सकती ।

इस प्रकार किसी भी कारणसे अपनेको दूसरेपर क्रोध आ जाय, तब अपना ही अपराध मानकर उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे और दूसरेको हमपर क्रोध आ जाय तब भी अपना ही अपराध मानकर उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे तथा पुनः वैसी भूल न करनेका दृढ़ निश्चय करे, यह कल्याणका मार्ग है ।

इसके विपरीत, हमको किसीपर क्रोध आ जाय त उसीपर दोष डालना कि तुम हमारे क्रोधके कारण क और उसको हमपर क्रोध आ जाय तब भी उसीपर दो लगाना—यह पतनका मार्ग है ।

किसी भी प्राणीको किसी भी निमित्तसे किञ्चिन्मा कभी दुःख नहीं पहुँचाना चाहिये; क्योंकि दूसरे हिंसा करके, उसको दुःख पहुँचाकर जो कुछ सु प्राप्त किया जाता है, उससे बहुतगुणा अधिक दुःख दूसरे का अहित करनेके फलस्वरूप भोगना पड़ता है । अ किसीका भी अहित करना अपना ही अहित कर है । ऐसा समझकर दूसरेका अहित किञ्चिन्मात्र न भूलकर भी नहीं करना चाहिये । बल्कि सब प्रका से मन, वाणी, शरीर आदिके द्वारा अभिमान औ स्वार्थसे रहित होकर सबके साथ विनययुक्त और स व्यवहार करते हुए सबका हित ही करना चाहिये। यह धर्मका सार है । श्रीरामचरितमानसमें बताया गया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।

(रा० च० मा० उत्तर० ४० । १

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं

(रा० च० मा० अरण्य० ३० । ५)

भगवान् गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।

(गीता १२ । ४ का उत्तरार्ध

वे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं । अतः अपनी सारी चेष्टा शास्त्रके अनुकू और भगवान्की प्रसन्नताके लिये अभिमान और स्वा से रहित होकर सबमें भगवद्भाव रखते हुए केवल सब हितके उद्देश्यसे ही धैर्य और उत्साहपूर्वक कर चाहिये । इसके विपरीत कभी कोई दूसरी चेष्टा होनी नहीं चाहिये । चाहे कोई अपने अनुकूल करे प्रतिकूल, अपनेको सबमें सदा समभाव रखना चाहि तथा निःस्वार्थभावसे सबके साथ समानभावसे प्रेम

करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे ही मनुष्यजन्मकी सफलता है, नहीं तो मनुष्यजन्म व्यर्थ है ।

इसलिये ऊपर बताये हुए सभी साधनोंको हर समय भगवान्‌के गुण-प्रभावयुक्त परम दयामय स्वभावका पद-पदपर दर्शन करते हुए तथा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही करना चाहिये । इससे बहुत ही शीघ्र सफलता मिल सकती है ।

भगवान्‌के समान हेतुरहित दया, प्रेम और हित करनेवाला संसारमें कोई नहीं है । ऐसा समझकर अपने अतिशय प्रेमास्पद भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ानेके लिये उनमें परम श्रद्धा करनी चाहिये । भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व—रहस्य समझनेपर उनमें परम श्रद्धा अनायास ही होती है और भगवान्‌के अनन्य शरण होकर करुणाभावपूर्वक हृदयसे स्तुति-प्रार्थना करनेपर भी उनकी दयासे परम श्रद्धा होकर भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम हो सकता है ।

भगवान्‌में क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, संतोष, सरलता, सुहृदयता, ज्ञान आदि असंख्य गुण भरे हुए हैं । भगवान् गुणोंके सागर हैं, सारे संसारके गुणोंको एकत्र किया जाय तो वे उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदके समान भी शायद ही हों, भगवान्‌के गुण दिव्य, नित्य और चिन्मय हैं तथा संसारमें जो गुण प्रतीत होते हैं, वे सब जड और क्षणिक हैं एवं उन गुणसागर भगवान्‌के एक अंशके प्रतिबिम्बमात्र हैं । इसी प्रकार भगवान्‌का प्रभाव और उनकी महिमा भी अतिशय अपरिमित हैं । संसारमें जो भी कुछ गुण, प्रभाव, महिमा, ऐश्वर्य, विभूति, सामर्थ्य आदि दृष्टिगोचर होते हैं, वह सब मिलकर भगवान्‌के प्रभावका एक अंशमात्र है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भगवान्‌ने अपने किसी एक अंशमें धारण कर रक्खा है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१० । ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान । अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है । मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।'

भगवान्‌के उपर्युक्त प्रभावको हरेक परिस्थितियोंमें पद-पदपर हर समय अनुभव करते रहनेसे मनुष्यकी बहुत शीघ्र उन्नति हो सकती है ।

भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल और मधुर है । उनके समान स्वभाव तो किसीका है ही नहीं । वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर कभी देखते ही नहीं । श्रीभरतजीने कहा है—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥
(रा० च० मा० उत्तर० प्रारम्भकी चौ० ३)

अपने भक्तके प्रति भगवान्‌का इतना वात्सल्यभाव रहता है कि कैसा भी कोई पापी क्यों न हो, शरण आनेपर उसका वे कभी त्याग करते ही नहीं । जब रावणसे अपमानित होकर भक्त विभीषण भगवान्‌की शरणमें आये उस समय भगवान् सुग्रीव आदि अपने प्रियजनोंसे परामर्श करते हैं और उनके दिये हुए परामर्शका आदर करते हुए भी अपने स्वभावके विरुद्ध होनेसे उनकी बातको काममें नहीं लाते और कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी ।
मम पन सरनागत भयहारी ॥
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू ।
आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई।
मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहिं पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥
जौं सभीत आवा सरनाई।
रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥
(रा० च० मा० सुन्दर० ४३। ४, ४४। १ से ४)

भगवान्‌का शरणागत भक्तके साथ कैसा उच्चकोटि का व्यवहार है। उनका यह बहुत ही कृपापूर्ण भक्त-वत्सलताका स्वभाव है। अतः हमलोगोंको हरे परिस्थितिमें भगवान्‌के गुण-प्रभावको तथा उनकी अहैतुकी दया और प्रेमपूर्ण स्वभावको देख-देखकर ह समय प्रेममें मग्न होकर विभोर रहना चाहिये। प्रकार श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रेममें ही नित्य-निरन्तर मग्न रहनेपर भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र भगवान्‌की प्रा हो सकती है।

* * *

प्रार्थनाका प्रभाव

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, का० व्या० सां० स्मृतितीर्थ)

इस दुःखालय संसारमें पतित त्रिविध तापसे संतप्त प्राणीकी जब बाह्य साधनोंसे दुःखकी निवृत्ति होती हुई नहीं दिखायी पड़ती, तब वह ईश्वरकी प्रार्थना करता है। प्रार्थनामें जब अनन्यता आती है, तब उसकी पूर्ति करनेमें भगवान् देर भी नहीं करते।

पृथ्वीपर जब पापकी वृद्धि और धर्मका ह्रास होता है, तब पृथ्वी अपने सृष्टिकर्ता ब्रह्मासे अपना दुःख कहती है और ब्रह्माजी स्वयं और देवताओंको भी अपने साथ लेकर भगवान् विष्णुकी शरणमें जाते हैं और उनकी स्तुति करते हैं। स्तुतिसे संतुष्ट होकर आकाशवाणीद्वारा वे ब्रह्माको सान्त्वना देते हैं। और ब्रह्माजी देवताओंसे कहते हैं—

पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि॥
(श्रीमद्भा० १०। १। २२)

अर्थात् पुराणपुरुषोत्तम भगवान् स्वयं इस देवीके दुःखको दूर करेंगे। आपलोग उनकी सेवा लिये यदुवंशमें जाकर मनुष्यका शरीर धारण करें तबतक आपलोग पृथ्वीतलपर रहें, जबतक भगवान् कालशक्तिसे पृथ्वीका दुःख दूर करनेके लिये पृथ्वी रहेंगे। आकाशवाणीसे भगवान्‌ने कहा है कि वसुदेव राजाके घर अवतार ग्रहण करूँगा।

अतः मैं आपलोगोंको यही उचित सलाह हूँ कि उस वसुदेवके घर नररूप धारण करनेपर आनन्दित करनेके लिये देवियाँ गोपकन्याओंके प्रकट हों। यथा—

वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥
विष्णोर्माया भगवती यया संम्मोहितं जगत् ।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति ॥
(श्रीमद्भा० १० । १ । २३—२५)

तात्पर्य यह है कि प्रार्थनाके प्रभावसे बड़ी-से-बड़ी आपत्तियाँ तत्क्षण दूर हो जाती हैं । महाभारतमें द्रौपदीकी प्रार्थनासे भगवान्को वस्त्ररूप धारण करना पड़ा, ऐसी कथा आती है ।

श्रीमद्भागवतमें भी गजेन्द्र और ग्राहकी कथा आती है । जब ग्राहसे लड़ते-लड़ते गजेन्द्र थक जाता है और सगे-सम्बन्धियोंकी सहायता निष्फल हो जाती है, तथा मृत्युका समय संनिकट मालूम पड़ने लगता है, तब उसके मनमें पूर्वजन्मका संस्कार जागरित होता है और वह उस दयासागरकी शरण ग्रहण करता है । यथा—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या समाधाय मनो हृदि ।
जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । १)

इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी जन्ममें किया हुआ सत्कर्म, भगवन्नामका स्मरण आदि समयपर हमारी रक्षा करते हैं । किया हुआ सत्कर्म या दुष्कर्म जन्मान्तरमें समय आनेपर अपना प्रभाव दिखला ही देता है ।

जब पूर्वजन्मका पुण्य-संस्कार जागरित हुआ, तब वह गजेन्द्र अपने हाथमें उपहारार्थ एक कमलका पुष्प लेता है और कहता है—

माहक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै-
र्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय ।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । १७-१८)

वह कहता है, 'मेरे जैसे शरणागतोंको अज्ञानात्मक पशु-बन्धनसे छुड़ानेवाले, स्वयं मुक्तस्वरूप, अत्यन्त दयालु, नमस्कारमात्रसे आत्मस्वरूपमें लीन कर लेनेवाले तथा आत्माके रूपमें सबके अन्तःकरणमें निवास करनेवाले, संसाररूपमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाले, सबसे महान् भगवान् आपको नमस्कार है ।

'हे भगवन् ! जो अपने शरीर, पुत्र, सगे-सम्बन्धी, घर, धन और परिवारमें सदा आसक्त रहता है, उसके लिये आपकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है । आप स्वयं इस त्रिगुणात्मक मायासे सर्वथा निर्लिप्त हैं । जो लोग मुक्त हो गये, वे भी अपने अन्तःकरणमें सदा आपका ध्यान करते हुए ज्ञानस्वरूपका अनुशीलन करते रहते हैं । ऐसे सर्वेश जो आप हैं, आपको नमस्कार है ।'

इस तरह गजेन्द्रकी प्रार्थनाके प्रभावसे प्रसन्न होकर भगवान् दयापरवश हो गये और उन्होंने उस तालाबसे गजेन्द्रको ग्राहके साथ बाहर निकाल कर ग्राहके मुखको चीरकर उसे छुड़ा दिया । यथा—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम्॥
(श्रीमद्भा० ८ । ३ । ३३)

वेद और पुराण सभी भगवान्की स्तुतियोंसे भरे पड़े हैं और जिसने सच्चे हृदयसे भगवान्की स्तुति की, उसकी आपत्ति तुरंत दूर हो गयी । इसीसे शास्त्रमें लिखा है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

भगवान्‌को भूलकर इस नश्वर पदार्थके विनाशी भोगको चाहना ही तो दुःखका मूल है और भगवान्‌के नामोंका जप, सदाचारका पालन, सबका हित-चिन्तन ही तो सुख है।

भगवान् इस कलियुगमें भी प्रार्थना करनेपर विपत्तिको कैसे दूर करते हैं, इसको मैं एक प्रत्यक्ष घटनाके उदाहरणसे आपको बताता हूँ।

कलकत्तेके आर्यन बैंककी शाखा गयामें खुली थी। यह १९४४ ई०की घटना है। उस बैंकमें एक अर्थाधिकारी (Cashier) आई० ए० पास नियुक्त हुए थे। बैंकके मैनेजर उन्हींके ग्रामके थे। इलाहाबाद बैंकसे १००००) रुपयेका बीमा आया था, जिसको अर्थाधिकारीने लेकर अपनी समझमें तिजोरीमें रख दिया। हजार-हजारके नोट बीमाके लिफाफेमें थे; परंतु भूलसे रुपयेवाला बीमा तो कौंटरपर छूट गया और उसी तरहका दूसरा लिफाफा उसकी जगह भूलसे रख दिया गया। दूसरे दिन जब उनको बीमाका लिफाफा न मिला, तब उन्होंने मैनेजरसे पूछा; क्योंकि कोषगृहमें दूसरे किसीको जानेकी आज्ञा न थी। मैनेजर साहबने पुलिसको खबर दी। पुलिस आयी, परंतु पुलिसने मैनेजरके कहनेपर भी अर्थाधिपति (Cashier) को नहीं पकड़ा।

सायंकालमें Cashier के पिता कलकत्ते जा रहे थे, रास्तेमें अपने पुत्रसे मुलाकात करने उसके डेरेपर गये। उस समय Cashier अपने डेरेपर आ गये थे, उनसे पिताको समाचार ज्ञात हुआ। पिताको देखते ही Cashier तो रोने लगे। परंतु पिताने कहा—'पुत्र! रोओ मत, भगवान् निर्दोषको कभी दण्ड नहीं देते। उनके दरबारमें अन्याय नहीं होता।'

इस तरह लड़केको धैर्य देकर वे और कहीं नहीं गये, स्नान करके पासमें ही एक श्रीराधाकृष्णके मन्दिरमें गये और उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! यदि मेरे पुत्रने इस रुपयेको लिया हो तब तो इसको दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि यह दोषी नहीं है तो इसका बाल भी बाँका न होना चाहिये।' इस तरह बहुत देरतक उन्होंने भगवान्‌सें न्यायके लिये प्रार्थना की।

दूसरे दिन कलकत्तेके हेडआफिसके मैनेजरने पुलिसको रुपयेका प्रलोभन देकर Cashier को पकड़वानेकी कोशिश की, परंतु पुलिसने उन्हींको डाँटा और कहा कि 'घूस देनेके अपराधमें मैं आपको ही गिरफतार कर लूँगा। भला चाहते हों तो मेरी आफिससे निकल जाओ।'

दस दिनोंतक अर्थाधिकारी गयामें रहे, परंतु पुलिस उनके पास न आयी और न कुछ पूछ-ताछ की। दस दिनोंके बाद वे अपने घर चले गये। उसके बाद उनके पिता भी आठ दिनोंतक इस मामलेकी प्रतीक्षा करते हुए रहे। परंतु जब इसके विषयमें कोई खोज विनोद न हुई, तब वे भी पुनः घर लौट गये। अन्तमें पुत्रको धैर्य देकर उन्होंने पुनः घरसे कलकत्तेके लिये प्रस्थान किया।

वे जब पुनः गया पहुँचे, तब मैनेजर साहबके चाचाके मकानपर वे ठहरे। वहीं एक नौकरने उनसे कहा कि 'बैंकके जो रुपये आपके पुत्रकी भूलसे बाहर रह गये थे, वे मिल गये।' पूछनेपर उसने बतलाया कि 'मैनेजर साहबको ही मिले और ज्यों-के-त्यों उसी बीमाके लिफाफेमें।

मैनेजर साहबने कहा कि 'बैंकके उसी Cashier के कौंटरपर मुझको लिफाफा मिला ।'

वस्तुतः वह आपत्ति ऐसी थी कि उस लड़केका जीवन बरबाद हो जाता और १००००) रुपयेमें उसकी सारी सम्पत्ति बिक जाती । परंतु भगवान्‌के सामने सच्चे न्यायके लिये की हुई प्रार्थना सफल हो गयी । उस दिनसे उनके पिता और अर्थाधिकारी दोनों ही भगवान्‌की प्रार्थनापर दृढ़ विश्वास करने लगे ।

अतः जो लोग भगवान्‌की प्रार्थनापर विश्वास नहीं करते, उनकी बुद्धि मन्द है । यदि किसीकी प्रार्थना सफल नहीं होती है तो इसमें कारण उनकी प्रार्थनामें अनन्यताका अभाव रहता है । अथवा स्वार्थवश हम अनुचित वस्तुकी माँग करते हैं ।

भगवान्‌की प्रार्थनामें वह शक्ति है कि जो अनुल्लंघनीय ब्रह्मदण्ड है, उससे भी रक्षा हो जाती है । श्रीमद्भागवतमें विद्याधरोंके राजा सुदर्शनने सौन्दर्य-मदसे मत्त हो कुरूप ऋषियोंको देखकर उनका उपहास किया था । जिससे ऋषियोंको कुछ क्रोधावेश हो गया, और उन लोगोंने उसको सर्पयोनिमें जन्म लेनेका शाप दे दिया । उसको भी भगवान्‌ने अपने चरणकमलके स्पर्शसे पुनः विद्याधरोंका अधिपति बनाया और अन्तमें मुक्त कर दिया । यथा—

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३४ । ९)

उसने भी विद्याधर-स्वरूपको प्राप्तकर भगवान्‌का दर्शन किया और कहा—

शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः ।
यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३४ । १४)

अतः प्रार्थनाकी अतुलनीय शक्ति और महत्तापर विश्वास करके सबको प्रार्थनासे लाभ उठाना चाहिये ।

सत्य संकेत

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

मेरी शक्ति सीमित है और आकांक्षाएँ अनन्त ।

यह शक्ति-कमल········अहंकार-कीचसे उत्पन्न । सर्वग्रासी काल-हस्तीका एक कौर मात्र है !

और ये आकाङ्क्षाएँ ।···· मानो रक्तबीजकी अनन्त दुहिताएँ हैं । एक-एककी पूर्ति अनेकानेकको जन्म देती रहती है ।

परंतु—

परंतु सीमितता असीम हो सकती है, काल-कौर कमल सहस्र-दल कमल बन सकता है, आकाङ्क्षाएँ शून्याङ्कके दर्शन कर सकती हैं । शर्त केवल इतनी है कि तुम मुझे—मुझ नगण्यको अपनेसे—स्वयंसे युक्त होने दो—एक हो जाने दो ।

स्मरण रहे, याचना करना मेरा स्वभाव नहीं है ।

यह कथन-कृति केवल सत्यके प्रति संकेत भर है ।

बोलो, क्या कहते हो प्रियतम ?

मधुर

उदय हुए जब श्रीवृन्दावन-
चन्द्र पूर्णतम चन्द्रस्वरूप ।
उज्ज्वल स्निग्ध सुधामयि शीतल
किरणें लहरा उठीं अनूप ॥
पूर्ण पूर्णिमा प्रगटी पावन,
हुआ अविद्या-तमका नाश ।
प्रेम-प्रभा हुई उद्भासित,
छाया शुद्ध सत्त्व-उल्लास ॥
पावन यमुना-पुलिन प्रकट हो,
छेड़ी मोहिनि मुरली-तान ।
किया श्यामने प्रेममूर्ति व्रज-
सुन्दरियोंका प्रिय आह्वान ॥
भूल गयीं अग-जगको, भूलीं
देह-गेहका सारा भान ।
जो जैसे थी, वैसे ही चल—
पड़ी, छोड़ लज्जा, भय, मान ॥

जब परिपूर्ण चन्द्रमास्वरूप श्रीवृन्दावनचन्द्र कृष्णचन्द्र प्रकट हुए, तब उनकी उज्ज्वल, स्निग्ध, अमृतमयी शीतल अनुपम किरणें सब ओर लहराने लगीं। आज सबको पवित्र करनेवाली पूरी पूर्णिमा प्रकट हो गयी, अविद्या-अन्धकारका नाश हो गया। प्रेमकी प्रभा उद्भासित हो उठी और सर्वत्र विशुद्ध सत्त्वमय उल्लास छा गया। जब यमुना-तटपर प्रकट होकर श्यामसुन्दरने मुरलीकी मोहिनी तान छेड़ी और उसके द्वारा प्रेममूर्ति व्रजसुन्दरियोंका प्रिय आवाहन किया, तब उसे सुनते ही वे सब अग-जगको भूल गयीं। वे अपने घर-शरीरका सारा भान भूल गयीं और जो जहाँ जैसे जिस अवस्थामें थी, वह वहाँसे वैसे ही उसी अवस्थामें सारी लज्जा, भय और मान छोड़कर चल पड़ी।

होता उदय मधुर रस नव-नव
रूपोंमें जब कृष्णानन्द ।
रुक पाता न पलक प्रेमीका
तब रस-लोलुप मन स्वच्छन्द ॥
नहीं खींच पाता फिर उसको
भुक्ति-मुक्तिका कोई राग ।
प्रेम-सुधा-रस-मत्त दौड़—
पड़ता, वह सहज सभी कुछ त्याग ॥
प्रियतमके प्रिय मधुर-नाम-गुण-
लीला-कथा सुधा-रस मग्न
सर्व समर्पित होता उसका
होता सहज मोह-भ्रम भग्न ॥

जब मधुर-मधुर कृष्णानन्द-रस नये-नये रूपोंमें प्रकट हो उठता है, तब प्रेमीजनका उस रसका लो स्वच्छन्द मन एक पल भी रुक नहीं पाता। फिर उ प्रेमीको भोग-मोक्षका कोई भी राग खींच नहीं सकत और वह प्रेम-सुधा-रसमें मत्त प्रेमी सहज ही सभी कु त्यागकर दौड़ पड़ता है। वह प्रियतमके प्रिय मधु नाम-गुण-लीला-कथा-सुधा-रसमें निमग्न हो जाता है फिर उसका सहज ही सारा मोह-भ्रम भङ्ग हो जा है और सर्वस्व प्रियतमके समर्पित हो जाता है।

राधामुख्या भावमयी सब
व्रजसुन्दरियाँ कर अभिसार ।
पहुँचीं तुरत श्याम-चरणोंमें
उन्मादिनि हो मधुर उदार ॥
किया समर्पण परम मुदित मन,
सहज अखिल जीवन आचार ।
बनी सर्वथा एकमात्र वे
प्रियतम सुख-मूरति साकार ॥

अतएव राधा जिनमें मुख्य हैं, वे सब व्रजसुन्दरियाँ—गोपरमणियाँ उन्मादिनी होकर प्रियतमके लिये निक पड़ीं और तुरंत ही मधुर एवं उदार प्रियतमके चर जा पहुँचीं। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने अत्यन्त प्रमुदि मनसे सहज ही अपना जीवन तथा जीवनके अखि आचार—प्रियतमके प्रति समर्पण कर दिये और वे स सर्वथा एकमात्र प्रियतमके सुखकी साकार मूर्ति बन ग

सहज अमित सौन्दर्य, परम
माधुर्य, अतुल ऐश्वर्य निधान

पूर्णकाम निष्काम सहज जो
आत्माराम स्वयं भगवान ॥
गोपीके उस त्यागशुद्ध रस
मधुर दिव्यका करने पान।
लालायित हो उठे परम
आतुर हो रसदाता रसखान ॥

जो सहज ही अपरिमित परम अतुलनीय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके निधान हैं, जो सहज ही पूर्णकाम, निष्काम और आत्मारामस्वरूप स्वयं भगवान् हैं, वे सबको रस प्रदान करनेवाले, रसके खान आज गोपीके उस त्यागके द्वारा विशुद्ध हुए दिव्य मधुर रसका पान करनेके लिये परम आतुर होकर लालायित हो उठे।

प्रेमीजन-मन-रञ्जन प्रभुने
किया उन्हें सादर स्वीकार।
आत्माराममयी रसक्रीडा
विविध विचित्र रची सुखसार ॥
किया कराया दिव्य परम रस-
दान-पान अति कर सम्मान।
प्रति गोपीको दिया परम सुख
धर अनन्त वपु दिव्य महान ॥

उन प्रेमीजनोंके मनका रञ्जन करनेवाले प्रभुने उन श्रीगोपाङ्गनाओंको आदरपूर्वक स्वीकार किया और सुखकी साररूपा आत्माराममयी विविध विचित्र रस-क्रीडाओंकी रचना की। अत्यन्त सम्मान करके उनको दिव्य परम रसका दान किया और स्वयं पान किया तथा अनन्त दिव्य महान् स्वरूप प्रकट करके प्रत्येक गोपीको परम सुख प्रदान किया।

प्रेमभिक्षु बन स्वयं किया
गोपी-प्रदत्त सुख अङ्गीकार।
बोले—प्रेमरमणियो ! यह
निरवद्य तुम्हारा रस-व्यवहार ॥
घरकी तोड़ अटूट बेड़ियाँ
तुमने मुझे भजा अविकार।
सदा बढ़ाता रक्खेगा यह
मुझपर सुखमय ऋणका भार ॥
नहीं चुका सकता मैं बदला
इसका देव-आयु—चिरकाल।
तुम्हीं स्व-साधुतासे कर सकतीं
मुझे कभी ऋणमुक्त निहाल ॥

अखिललोकमहेश्वर स्वयं भगवान्ने प्रेमभिखारी बनकर गोपियोंके दिये हुए सुखको अङ्गीकार किया। फिर वे बोले—'प्रेमसुन्दरियो ! तुम्हारा यह विशुद्ध प्रेम-रसका व्यवहार जो तुमने घरकी अटूट शृङ्खलाओंको तोड़कर मेरा निर्विकार (स्वसुखवाञ्छारहित) भजन किया है, मुझपर सदा ही सुखमय ऋणका भार बढ़ाता रहेगा। (प्रेमी भक्तके प्रेम-ऋणका बढ़ता हुआ बोझ प्रेमास्पद अनन्त सुखस्वरूप भगवान्के लिये बड़ा सुखमय होता है।) मैं देवताकी आयुमें भी चिरकालतक तुम्हारे इस ऋणका बदला नहीं चुका सकता, तुम्हीं चाहो तो अपनी साधुतासे मुझे कभी ऋणमुक्त करके कृतार्थ कर सकती हो।

राधा आदि गोपरमणी सब
सुनकर प्रियतमकी यह बात।
हुईं चकित वे लगीं देखने
अपलक दृग प्रिय-मुख-जलजात ॥
देते दिव्य अनन्त परम सुख,
निजको ऋणी मानते आप।
कैसा शील स्वभाव विलक्षण,
कैसा हृदय उदार अमाप ॥

श्रीराधा आदि गोपाङ्गनाएँ सब प्रियतमकी यह बात सुनकर चकित हो गयीं और निर्निमेष नेत्रोंसे प्रियतमके मुख-कमलकी ओर निहारने लगीं। उन्होंने कहा—'हमलोगोंको स्वयं दिव्य अनन्त परम सुख देते हैं, पर उलटा मानते हैं—अपनेको ऋणी। प्रियतमका कैसा शील-स्वभाव है और कैसा उनका विशाल उदार हृदय है!'

* * *

सेवा

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'यहाँ कोई धर्मात्मा है ?' इस युगमें बड़ा अटपटा प्रश्न है यह, किंतु ये बाबाजी लोग कहाँ सीधे ढंगसे बात करना जानते हैं। इनकी रहनी टेढ़ी, इनका वेश अटपटा, इनकी वाणी अटपटी और इनका आराध्य टेढ़ी टाँगवाला। भला यह भी कोई बात हुई कि कोई भरी भीड़से पूछने लगे कि 'उसमें कोई भला आदमी है ?'

अकाल पड़ा है। पिछले वर्ष इन्द्रदेवने इतनी अधिक कृपा की कि भूमिमें पड़ा बीज उगकर भी सड़ गया। अतिवृष्टि किसी प्रकार झेल ली गयी, किंतु इस वर्ष तो मेघोंके देवता भूल ही गये हैं कि इस ओर भी उनकी सेना आनी चाहिये। इस प्रदेशमें भी प्राणी रहते हैं और उन्हें भी जल ही जीवन देता है। आषाढ़ निकल गया तबतक आशा थी; किंतु अब तो श्रावण भी सूखा ही समाप्त होने जा रहा है।

घरोंमें अन्न नहीं है। खेत और चरागाहोंमें तृण नहीं है। सरोवर सूख चुके हैं। कूपोंमें कीचड़ मिला पानी प्यास बुझानेके लिये रह गया है। कितने दिन वह भी काम चला सकेगा ? ऐसी अवस्थामें पशु कितने मरे, कौन गिने। जिसे जहाँ सूझा, वह उधर निकल गया परिवार लेकर। पूरा प्रदेश उजड़ने लगा है। वृक्षोंके पत्ते और छाल जब आदमीका आहार बनने लगें, विपत्ति कितनी बड़ी है, कोई भी समझ सकता है। सरकारी सहायता आयी है। कुछ संस्थाएँ भी सेवाके क्षेत्रमें उतरी हैं; किंतु तप्त तवेपर कुछ शीतल बूँदें पड़कर अधिक उष्णता ही तो उत्पन्न करती हैं।

यज्ञ-अनुष्ठान तो हुए ही, अनेक लोकप्रचलित टोटके भी हुए; किंतु गगनके नेत्रोंमें अश्रु उतरे नहीं। देवता रुष्ट हुए सो तुष्ट होनेका नाम ही नहीं लेते। समयमें सबसे भारी विपत्ति आती है भिक्षुकोंपर। बेचारे बहुत पहिले भाग गये। किंतु कुछ अक्ख होते हैं। हनुमत्-टीलेके बाबा बजरंगदास ऐसे अक्खड़ हैं। उनकी कुटिया तो आजकल क्षुधार्तो लिये कल्पवृक्ष बन गयी है। मध्याह्नमें पवन-पुत्रको अर्पित करके सदाकी भाँति अब भी बाबाजी उच्च 'भण्डारमें भगवत्प्रसादकी सीताराम !' घोषित करते और उस समय जो कोई भोजनके लिये आ जाय, अपने-आप पंगतमें बैठनेका अधिकार है। इन दि प्रतिदिन दो-ढाई सौ व्यक्ति भोजन करते हैं।

पता नहीं कहाँसे आता है इतना अन्न इन धारीके पास। पूछनेपर एक दिन कहने लगे— टेढ़ी टाँगवाला गदाधारी देवता किसलिये यहाँ खड़ा है भूमिमें अन्न नहीं होगा तो देशका प्रशासक मरेगा; किंतु हनुमन्तलालके लाड़िलोंके लिये आकाश अन्नकी वर्षा करनी होगी।'

ऐसे अडिग अक्खड़ अवधूतने जब आसपास सूचना भेजकर कुटियापर बुलवाया, बड़ी आशा हो थी ग्रामके श्रद्धाप्राण लोगोंको। अवश्य बाबाजी दैवी विपत्तिका कोई उपाय पा चुके हैं। किंतु सायंकाल श्रीहनुमान्जीके सम्मुख आसपासके गाँवोंके लोग एकत्र हो गये तो बाबाजी पूछते हैं 'यहाँ कोई धर्मात्मा है ?'

कोई और धर्मात्मा हो या न हो, बाबाजी तो हैं अब देवताके सम्मुख झूठ भी कोई कैसे बोले। भीतर सभी नंगे। किससे कुछ ऊँचा-नीचा नहीं है

है । किंतु बाबाजी तो एक-एककी ओर देखने लगे हैं । चुपचाप नेत्र नीचे कर लेनेके अतिरिक्त किसीके पास और क्या उपाय है ।

'श्रीमारुति प्रभुका आदेश है कि यहाँ इस प्रदेशमें जो एकाकी धर्मात्मा है, उसका आश्रय लिया जाय ।' बाबाजी कह रहे थे—'केवल वही इस अकालको टाल सकता है । उसके असम्मानके कारण यह विपत्ति आयी है । देवता भी धर्मका आश्रय लेनेवालेका अपमान करके कुशलपूर्वक नहीं रह सकते हैं ।'

'कौन हैं वे ?' सबके हृदय सोचने लगे हैं । कोई भी तो ध्यानमें नहीं आ रहा है । कोई साधु आसपास अब इन महाराजको छोड़कर रहे नहीं । जो दो-तीन कुटिया बनाकर रहते भी थे, तीर्थयात्रा करने चले गये हैं । कोई ब्राह्मण, कोई विद्वान्, कोई अहीर, काछी आदि भगत—लेकिन इनमेंसे किसीका अपमान होनेकी बात तो सुनी नहीं गयी । ऐसे व्यक्तियोंके प्रति तो ग्रामके लोगोंकी सहज श्रद्धा है । अब इस अकालके समयमें किसीको कुछ देनेसे किसीने मना कर दिया हो तो हो सकता है; किंतु क्या विवश मनुष्यका यह ऐसा अपराध है कि उसपर इतना भयंकर देवकोप पूरे प्रदेशको भोगना पड़े ?

'श्रीहनुमान्जीने कहा है कि उसका पता लगाना होगा ।' बाबाजीको स्वप्नमें आदेश हुआ है, यह वे बता गये । उन्होंने यह भी कह दिया कि इससे अधिक स्पष्टीकरणकी आशा अब करना नहीं चाहिये । देवताओंको परोक्ष-कथन ही प्रिय है । 'आप सब प्रयत्न करें । मैं भी कल प्रातःकालसे पता लगानेमें लगूँगा ।'

× × ×

'तुमने कैसे सीखा इस अद्भुत उपासनाको ?' बाबा बजरंगदास आज इस हरिजन बस्तीके एक कोनेपर बनी झोपड़ीके द्वारपर आ गये हैं । श्रीपवनकुमारने जिनका संकेत किया, वे धर्मात्मा कौन हैं, यह पता लगानेकी धुन है उन्हें । जो आस्तिक नहीं है, भगवान्में जिसकी आस्था नहीं है, वह तो धर्मात्मा हो नहीं सकता । गाँवोंमें बसनेवाले लोग एक-दूसरेसे अच्छी प्रकार परिचित होते हैं । बाबा बजरंगदास प्रायः आसपासके ग्रामीणोंको व्यक्तिगत रूपसे जानते हैं । उनमें जहाँ भी कुछ आशा की जा सकती थी, सबके समीप वे हो आये हैं । आज अचानक उन्हें स्मरण आया कि द्विजाति तथा दूसरे लोगोंसे मिलनेकी धुनमें उन्होंने हरिजन-बस्तियोंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया है । स्मरण आते ही वे चल पड़े थे इस झोपड़ीकी ओर ।

पूरी चमारटोलीकी झोपड़ियाँ सटकर बनी हैं; किंतु यह झोपड़ी सबसे थोड़ी दूर है । केवल नाम ही इस झोपड़ीके स्वामीका अलगू नहीं है, वह दूसरोंसे सब बातोंमें कुछ भिन्न है । गाँवोंकी हरिजन-बस्तियोंमें आजकल दो भगत हैं । वे भूमिपर सोते हैं । अपने हाथसे बना भोजन और अपने हाथसे खींचा जल काममें लेते हैं । किंतु बाबा बजरंगदास उन्हें जानते हैं । वैसे भी वे लोग प्रायः प्रतिदिन हनुमत्-टीलेपर पहुँचते हैं । लेकिन अलगू सबसे भिन्न है । उसे अपने लँगड़े बछड़ेसे ही अवकाश नहीं कि कहीं आये-जाय । उसका स्मरण आते ही बाबाजी चौंके थे ।

सुनते हैं कि बेटेका ब्याह करके अलगूका बाप मरा था, किंतु स्त्री टिकी नहीं । वह कहीं और चली गयी । अलगू तबसे अकेला है । जूते बनाकर पेट पाल लेता रहा है वह; किंतु अब यह धंधा भी चल नहीं रहा है । अपनी झोपड़ीमें वह अकेला है, यदि उसके लँगड़े बछड़ेको आप उसका साथी न गिनें । अब वह लकड़ियाँ चुनता है, उपले लाता है और कुछ न मिले तो शीशमके पत्ते, झरबेरी, बेल, उदुम्बरके पके फलोंसे अपना काम चला लेता है ।

एक गाय थी अलगूके; किंतु अति वृष्टिमें वह भी ठंडसे अकड़कर चल बसी । गायके बछड़ेका एक पैर बचपनमें ही टूट गया दौड़ते समय किसी दरारमें पड़कर । किसी काम आ सके, ऐसा वह रहा नहीं; किंतु अलगू तो उसे देवता मानता है । पहिले वह गायकी पूजा करता था, तब कुछ समझमें आनेकी बात भी थी । गौ माता हैं । विद्वान् पण्डित लोग भी गायको हाथ जोड़ते हैं । गायकी पूजा करते भी लोगोंको देखा गया है । किंतु लँगड़े बछड़ेकी पूजा होती कहीं किसीने सुनी है ? गाय मरी तो अलगू उसके बछड़ेकी पूजा करने लगा । वह कहता है—'गाय देवी माता हैं तो उनका बेटा देवता कैसे नहीं है !'

आजकल फूल कहीं मिलते नहीं । अलगू आम, नीम या शीशमके पत्तोंकी माला ही बछड़ेको पहिना देता है । वह उसके चारों खुर धोकर पीता है । बछड़ेको दण्डवत् करता है । बछड़ेके छोड़े घास-पत्तोंमेंसे कुछ-न-कुछ पत्ते खा लिया करता है । रातमें बछड़ेके पास ही भूमिपर सोता है । बछड़ा गोबर करे या मूत्र—तुरंत स्वच्छ करेगा । अपने गमछेसे बछड़ेको पोंछता रहेगा । बछड़ा हुंकार करे तो दोनों हाथ जोड़कर उसके सामने सिर झुकायेगा ।

लोग अलगूका परिहास करते हैं । बाबा बजरंगदासने उसकी बातें सुनी हैं । बहुत लोग उसे 'बछड़ा भगत' कहकर चिढ़ाते हैं । इस वर्ष कुओंका जल घटने लगा, किंतु अलगूकी कुइयाँमें पानी आज भी नहीं घटा है । हरिजनबस्तीमें सरकारी कुआँ दो वर्ष पहिले बना है । उससे पहिले हरिजन गाँवके बाहरके कुएँसे पानी लाते थे । पानी लाने गया था अलगू उस कुएँपर तो गाँवके ठाकुरोंके खेतमें पानी जा रहा था उस कुएँसे । अलगूने मोटका पानी न लेकर कुएँसे खींचना चाहा तो ठाकुरने कुछ कहा-सुना । लौटकर अलगू यह कच्ची कुइयाँ खोदनेमें लग गया था । कि दिनमें इस कुइयाँमें पानी आ गया था और हरिजनोंके लिये पक्का कुआँ बननेतक यह कुइयाँ हरिजनोंकी पूरी बस्तीको जल पिलाती थी । अब थोड़ी-सी भूमि घेर रक्खी है अलगूने । दूसरा कोई होता तो उसमें चार बेल लगा कुम्हड़े, तोरईकी; किंतु अलगू उसमें कभी ज्वार बो है, कभी अरहर, कभी सन और कुछ न हो तो घा अपने बछड़ेका पेट भरनेको छोड़कर उसे दूसरी चिन् ही नहीं रहती । इस अकालमें भी उसका घेरा घास हरा है । सबेरे-शाम वह पानी खींच-खींचकर थक जा है उस घेरेको गीला रखनेके लिये ।

आज बाबा बजरंगदासको अचानक स्मरण आ है कि अलगू धर्मात्मा है । वह कहाँ कोई नौक व्यापार करता है कि उसे कुछ काला-सफेद करने विवश होना पड़े । अचानक ही कल रात बाबा बजरंगदासने एक पोथी उलटते हुए पढ़ा—'वृषभ धर्म रूप है ।' उन्हें स्मरण आया कि पिछले वर्ष जो भागव पण्डित आश्रमपर कथा बाँचने आये थे, उन्होंने कुछ ऐसा ही कहा था कि 'राजा परीक्षित्को बैल रूपमें धर्मके दर्शन हुए । उस बैलके तीन पैर टूटे हु थे ।' अलगूका बछड़ा भी तो लँगड़ा है । उ तीन पैर नहीं टूटे हैं तो क्या हुआ, वह पूरा धर्म न सही, धर्मका रूप तो है । अलगू उस बछड़ेकी ही करता है । तब कहीं हनुमान्जीका संकेत……

अलगू तो हक्का-बक्का रह गया कि उसकी झोंप द्वारपर ये बाबाजी आये हैं । उसके पास तो आसन देने योग्य भी कुछ नहीं है । दूर पृथ्वीपर रखकर वह काँपता हुआ खड़ा हो गया है । बाब की दृष्टि अलगूके बछड़ेपर है । अब यह दो व बछड़ा बैल लगता है । गलेमें पत्तोंकी माला, मस्त सफेद मिट्टीका टीका और पासमें गुग्गुलकी धू

रही है । अलगू अपनी पूजासे ही उठकर आया है ।' बाबाजीने फिर पूछा—'यह तुम्हें किसने बताया कि बछड़ेकी पूजा किया करो ?'

'मुझ चमारको भला, कौन बतायेगा'—अलगू उसी प्रकार दीन स्वरमें बोला । 'बाप गायकी पूजा करता था । मैं भी बचपनसे वही करने लगा । एक बार काशीजी गया था । दशाश्वमेधघाटकी सीढ़ियोंपर एक नंगे संत रहते थे । कोयलेकी भाँति वे काले थे और उनकी आँखें लाल-लाल थीं । उन्होंने सीढ़ियोंपर ही एक काला बछड़ा लोहेकी जंजीरमें बाँध रखा था । बछड़ेके गलेमें फूलोंकी माला मैंने देखी थी । कोई बाबाजीको पूड़ी, मिठाई या फल देता था तो बछड़ेके आगे रख देते थे । बछड़ा खा लेता तो उसमेंसे बचा-खुचा स्वयं खा लेते । बछड़ा सूँघकर छोड़ देता था तो फेंक देते थे ।'

'ओह, तो उन महात्माने तुम्हें यह बताया है । तुम उनके शिष्य हो ।' बाबा बजरंगदासने श्रद्धापूर्वक कहा ।

'वे तो मौन रहते थे । मुझ-जैसे पापी चमारको भला, वे चेला क्यों बनाते ।' अलगू सहज भावसे बोला । 'मैं तो दूरसे उनके सामने मत्था टेककर चला आया था । मेरी गौ माता मर गयीं तो मुझे उन महात्माकी याद आ गयी । मैं गौ माताके बछड़ेकी सेवा करने लगा । एक बार एक पण्डितजीने बताया था कथामें कि कलियुगमें सेवा ही बड़ा धर्म है । मुझ नीच जातिसे आप-जैसे महात्मा या कोई ब्राह्मण तो सेवा करायेंगे नहीं, गौ माताके बेटेकी सेवा करता हूँ ।'

'भाई अलगू, मैं साधु हूँ और तुम्हारे दरवाजेपर आया हूँ ।' बाबा बजरंगदासने विनयके स्वरमें कहा । 'तुमसे भिक्षा माँगता हूँ । साधुको नहीं करोगे तो पाप होगा । तुमको कभी ठाकुरने गालियाँ दी थीं, उनको क्षमा कर दो ।'

'इसमें क्षमाकी बात क्या है । चमारको तो बड़े लोग गाली देते ही हैं ।' अलगू बड़ी दीनतापूर्वक बोला । 'महाराज, ठाकुर-ब्राह्मणोंकी गाली तो हमारे लिये आशीर्वाद है । आप कहाँकी कितनी पुरानी बात उठा लाये हैं । मैं तो उसी दिन भूल गया उस बातको ।'

'तुम भूल गये; किंतु तुम्हारे ये धर्मदेवता नहीं भूले हैं । यह अकाल इस प्रदेशपर इनके कोपसे आया है ।' बाबाजीने हाथ जोड़ दिये । 'मैं तुमसे क्षमा माँगने, प्रार्थना करने आया हूँ कि लोगोंपर, यहाँके पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियोंपर दया करो । तुम इनसे प्रार्थना करोगे तो अवश्य वर्षा होगी ।'

'महाराज ! मेरे प्रार्थना करनेसे वर्षा हो जाय, लोगोंकी विपत्ति मिटे तो मैं क्यों प्रार्थना नहीं करूँगा । मैं ही क्या कम विपत्तिमें हूँ वर्षा न होनेसे ?' अलगूने भूमिपर सिर रखा । 'किंतु आप मुझे अपराधी मत बनाओ । मुझे आप आशीर्वाद दो ।'

बाबा बजरंगदासके विदा होते ही अलगू अपने लँगड़े बछड़ेके पैरोंके पास हाथ जोड़कर बैठ गया—'देवता ! तुम वर्षा करा सकते हो ! वर्षा कराओ देवता ! पानी बरसने दो । सबकी विपत्ति दूर होने दो ।' वह आँख बंद किये बोलता जाता था । उसे पता भी नहीं था कि वायुका वेग कब बढ़ा । कब आकाश भूरे घने मेघोंसे ढक गया । उसने तो चौंककर तब बछड़ेके सम्मुख मस्तक रखा, जब मेघ-गर्जनके साथ झड़ीकी बूँदोंने द्वारसे आकर उसकी पीठ भिगो दी ।

बनजारा बनिये !

(लेखक—श्रीसुन्दरलालजी बोहरा)

एक बार आकाश कर्णभेदी चीखोंसे सिहर उठा। भगवान् दत्तात्रेयने ऊपरकी ओर देखा। एक चीलके पीछे असंख्य चीलें प्राणपणसे लगी हुई थीं। चीलका बुरा हाल था। किंतु दूसरे ही क्षण पीछा करनेवाली सारी चीलें धरतीकी ओर झपट पड़ीं। चीलने अपनी चोंचमें जकड़ा हुआ मांसखण्ड धरतीपर गिरा दिया था। वह भयरहित होकर शान्तिसे वृक्षकी डालपर बैठ गयी। भगवान् दत्तने उसे अपना गुरु स्वीकार किया।

परिग्रह-प्रवृत्ति ही हमारी मानसिक अशान्तिका कारण है। हमें मानव-प्रकृतिकी शुद्धतामें संदेह है। भविष्यको हम अपना ही मान बैठे हैं। अपनी वर्तमान आवश्यकताका हमें भान है, फिर भी हम संग्रह करते हैं। हम स्वयं किसी चीजका सुखपूर्वक उपभोग नहीं कर पाते; अन्य लोग हमारे संगृहीत पदार्थोंकी ओर आँख उठाकर भी देख लें, यह हम सहन नहीं कर सकते। हम अपने आपको मृत्युंजय मान बैठे हैं।

सिकंदर महान्‌ने मृत्युसे पूर्व अपने सेवकोंको आदेश दिया कि उसके दोनों हाथ कफनसे बाहर रक्खे जायँ ताकि परिग्रही लोग जान सकें कि अन्तमें उनका कौन सहयोगी होता है। सिकंदरने अन्तिम बार एक नजर भर इस दुनियाका वैभव देखा। उर्वशीके समान असंख्य ग्रीक सुन्दरियाँ; सिकंदरके लिये हर क्षण मर मिटनेको तत्पर चमचमाते हुए हथियारों-से युक्त, कतारोंमें खड़े हुए ग्रीक योद्धा; हीरे-जवाहिरातोंसे छलकती हुई संदूकें। और सिकंदरने सदाके लिये आँखें मूँद लीं। उसकी दोनों हथेलियाँ कफनसे बाहर चित पड़ी थीं। सच ही कहा गया है—

इकट्ठे गर जहाँ के जर, सभी मुल्कों के माली थे।
सिकंदर जब गया दुनियासे, दोनों हाथ खाली थे॥

क्या सिकंदर महान्‌की आकाङ्क्षाओंसे भी हमारी एषणाएँ—आकाङ्क्षाएँ तीव्रतर हैं? क्या उस महान् यूनानीसे भी अधिक हम वैभव-सम्पन्न हैं?

किंतु हम लाचार हैं। निन्यानबेके चक्करमें हमें और कुछ दीखता ही तो नहीं है। रात-दिन हम 'हाय माई, अन्न थोड़ा' की रट लगाये हुए हैं। सुख हमारे पास है, पर हम उसे सट्टा-बाजार और सिनेमा-घरोंमें खोजते फिरते हैं।

एक सेठके भवनके नीचे एक मोचीकी दूकान थी। दिनभर मोची जूते बनाता रहता और साथ ही सरस भजन भी गाता रहता। ऊपर पलंगके मुलायम गद्दोंपर पड़े रहनेवाले सेठ हर क्षण मानसिक अशान्ति और चिन्ताकी आगमें जलते रहते। मोचीके भजनोंसे सेठको बड़ी राहत मिली। उसने खुश होकर मोचीको इनामके रूपमें सौ रुपये दिये। मोची बड़ा प्रसन्न हुआ। तबसे उसे हरदम यही चिन्ता रहने लगी कि कब दो सौ रुपये पूरे हों। यों करते-करते उसका भजन गानेका क्रम टूट गया। सेठने जब दो-चार दिनतक मोचीको गाते हुए नहीं सुना तो उसने इसका पता लगवाया। मोचीको भी तो अब सेठवाली बीमारी लग चुकी थी।

भगवान्‌के प्रति हमारा रुझान भी उस मोची-जैसा ही है।

पग-पगपर हमें सीख मिलती है, फिर भी हम गुरु और ज्ञानकी खोजमें भटकते हैं। एक मोदीकी दूकानमें अनेक प्रकारके मेवे पड़े रहते हैं, किंतु मोदीकी जीभको उससे कोई सरोकार नहीं; एक हलवाई मिठाइयाँ बनाता है, किंबहुना रात-दिन मिठाइयोंसे ही विरा

रहता है, किंतु उसकी जीभसे शायद ही लार टपकती हो। एक ग्वाला दिनभरमें सैकड़ों गौएँ चराता है; किंतु शामको जब वह अपने घर लौटता है, तब उसके पास सिवा एक लाठीके और कुछ नहीं बचता; एक बनजारा अथवा घुमक्कड़ व्यक्ति देश-विदेशोंमें भ्रमण करता है, किंतु कहीं एक जगह घर बनाकर नहीं बैठता। महर्षि लोमशको अनेक बार इन्द्रासनकी मनुहार की गयी थी, पर वे तो हमेशा ही सिरपर एक चटाई ढोनेवाले ही बने रहे।

क्या कोई धनिक व्यक्ति रुपयोंकी दीवारोंसे बनी हुई जेलमें बंद रहकर भी नहीं चाहेगा कि एक नये पैसे-रूपी कील उस जेलके किवाड़के किसी छेदमें न लगायी जाय, भले ही वह कील (कमरेमें हवाका अभाव हो जानेके कारण) उसकी मौतका कारण बने ?

ठीक ही कहा गया है—

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुःश्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते॥

व्यक्तिमें वित्तैषणा अथवा संग्रह-प्रवृत्तिका जन्म समुदायमें रहनेसे होता है। कई बार दुर्भिक्षका सामना करते रहनेके कारण भी व्यक्ति संग्रहशील बन जाता है। अपनी लोकैषणाकी तृप्तिके लिये भी लोग अधिकाधिक वस्तुओंका संग्रह करते हैं। किंतु सही शब्दोंमें, अधिक संग्रहका नाम ही अधिक दुःख है।

संग्रहशील व्यक्तिको सदा चोरों-लुटेरोंका भय बना रहता है। सरकारकी ओरसे भी अधिकाधिक टैक्सकी माँग ऐसे ही लोगोंसे की जाती है। परिवारवाले भी ऐसे ही व्यक्तियोंके प्रति कृत्रिम सेवाभाव प्रदर्शित-कर धन ऐंठना चाहते हैं। यह निस्संदेह है कि एक संग्रहशील व्यक्ति मानसिक रूपसे कभी शान्त नहीं रह सकता; शारीरिक रूपसे भी वह हीन ही बना रहता है। फिर भी वह 'कुछ और' की आदतको नहीं त्याग सकता। सच है—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।

एक परिग्रही व्यक्ति सदा बेचैन रहता है। मृत्युके बाद भी उसके द्वारा संगृहीत पदार्थ परिवारवालोंमें कलहका कारण बनते हैं। सत्य है—

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥

फिर भी हम कष्टदायक काञ्चनकी कामना करते रहते हैं। हममेंसे अधिकांश लोग अर्थकी कामनासे ही धार्मिक ग्रन्थोंका पाठ करते हैं।

शिवजी अन्नपूर्णाके पति हैं, फिर भी अर्द्धनग्न और खप्परधारी हैं। यही सच्चा अनासक्त भाव है।

पानी खींचनेकी एक डोली कुएँसे भरी हुई निकलती है, किंतु बाहर आकर घड़ेको ही भरती है। यही सच्चा जीवन है।

हमें कोठारी बननेकी अपेक्षा कबाड़ी बनना चाहिये। एक कोठारीको सोते-बैठते अनेकों चाबियोंको अपनी कमरसे लटकाये हुए रहना पड़ता है; एक कबाड़ी (नीलाम करनेवाला) इधरसे माल लाता है और उधर रवाना कर देता है। रातको सुखकी नींद लेनेका नुस्खा तो एक कबाड़ी ही बता सकता है।

आकाशमें बादलोंका झुंड एकत्रित होता है। गर्जना करके बादल दुनियाको यह दिखाना चाहते हैं कि विश्वके पालनहार वे ही हैं। किंतु दूसरे ही क्षण लपलपाती हुई बिजली उनकी छातीको दागती हुई उन्हें सावधान करती है,—'आपका दम्भ व्यर्थ है। आपका जन्म गर्जना करनेको नहीं हुआ है।' बादलोंको पानी-पानी होना ही पड़ता है।

और तो और, हम दूसरा श्वास नहीं ले सकते जबतक पहले श्वासद्वारा ली हुई हवाको वापिस न निकालें। फिर भी हम पदार्थोंका संग्रह करें ?

पहाड़ीको तोड़कर खानका पता लगाया जाता है, किंतु किसी सपाट सड़कके बीचमें कुआँ नहीं खोदा जाता।

रेशमका कीड़ा अपनी महत्ता सिद्ध करनेके लिये अपने चारों ओर धागा बुनकर लपेटता है। कालान्तरमें यही धागा उसे खौलते हुए पानीमें ला डालता है। ठीक उसी प्रकार एक परिग्रही व्यक्ति पदार्थोंकी संग्रहरूपी सरायका स्वामी बनकर बैठता है। ठग लोग ऐसे ही सरायवालोंको लूटा करते हैं।

एक तराजू दिन भरमें अनेक प्रकारके पदार्थ तौलता है। किंतु शामको उसकी स्थिति वैसी ही रहती है जैसी दूकान खुलते समय थी। यही सच्चा जीवन है।

महाराजा भर्तृहरिको वैभवका कोई अभाव नहीं था। पर आध्यात्मिक दृष्टिसे वे सदा ही अशान्त बने रहते थे। अन्ततः उन्हें भी स्वीकार करना ही पड़ा—

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

विदेहराज जनकके जीवनका एक प्रसङ्ग है। अपने गुरु याज्ञवल्क्यके आश्रमपर वे ज्ञान-श्रवणमें तल्लीन थे। आश्रमपर श्रोताओंका जमघट लगा हुआ था। इसी बीच नगरसे किसी व्यक्तिने आकर नगरमें आग लगनेका समाचार दिया। एक-एक करके श्रोतागण भागने लगे। पर जनक उपदेश सुननेमें तल्लीन रहे। नगरसेवकोंने पुनः आकर समाचार दिया कि अग्निकी लपटें राजमहलतक पहुँच चुकी हैं। किंतु विदेह तो फिर भी कथा-श्रवणमें मग्न! अग्नि जनकपुरका कुछ भी नुकसान नहीं कर सकी। ऋषिने ही श्रोताओंकी परीक्षा लेनेके लिये उस काल्पनिक अग्निका आविष्कार किया था। सच्चे आत्मज्ञानी तो जनक ही थे।

जनक-जैसी विरक्तिका अभाव ही हमारे आध्यात्मिक पतनका कारण है।

एक मादा बिच्छू रात-दिन अपना ध्यान अपने अण्डोंमें लगाये रहती है, उन्हें पीठपर ढोती है। कालान्तरमें अण्डोंसे निकले हुए नन्हे बिच्छू ही उसकी मौतका कारण बनते हैं।

हम वस्तुओंके संग्रहद्वारा किसी भी नयी चीजका 'निर्माण' नहीं कर सकते। पृथ्वी-तत्त्वसे बनी हुई चीजोंको हम अपनी इन्द्रियोंकी इच्छाके अनुरूप विभिन्न साँचोंमें ढाल सकते हैं। इस प्रकार रात-दिन हम अपने इन्द्रिय-सुखके लिये नये-नये पदार्थोंकी कल्पना करते रहते हैं। पर तृप्ति नहीं होती। पृथ्वी-तत्त्वसे उपलब्ध पदार्थोंको विभिन्न रूपोंमें तैयार करना शतांशमें भी निर्माण नहीं है—यह 'निर्माण' हमारे अन्तःकरणके विकार एवं तुच्छ कामनाओंके मात्र प्रदर्शनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी इन्द्रजाली निर्माणसे हम सुख प्राप्त करना चाहते हैं, यही हमारी सबसे महान् भ्रान्ति है। युगकी वैज्ञानिक प्रगति इस भ्रान्तिका जीता-जागता उदाहरण है। यही प्रगति हमें अपने सही पथसे भटका रही है। आये दिन नये-नये आविष्कार हो रहे हैं और इस प्रकार चक्रवृद्धि रूपसे हमारी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। सच कहा जाय तो हम अपने रक्तमें मिले हुए काले साँपके विषको आकका दूध पीकर नष्ट करनेकी प्राणघातक चेष्टा कर रहे हैं।

सच्चा सुख तो इसीमें है—

किसी घरमें न घर कर बैठना इस दारे फ़ानीमें।
ठिकाना बेठिकाना औ, मकाँ बर लामकाँ रखना।

महर्षि लोमश हमें प्रेरणादायक हों।

* * *

भगवान्‌में सदेह लीन

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अणिमादि अष्टसिद्धियोंके अतिरिक्त गुटिका, अञ्जन, पादलेप, पादुकासिद्धि, खड्गसिद्धि आदि अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं ।[1] इसी प्रकार द्वन्द्वसहन, दूरश्रवण-दर्शन, मनोजव, कामरूप, परकायप्रवेश, संकल्प-सिद्धि, अप्रतिहतगति, आज्ञासिद्धि, अग्निविषजलादिका स्तम्भन तथा अपराजितादि अन्य बहुत-सी सिद्धियाँ भी बतलायी गयीं[2] हैं । तथापि शास्त्रकारोंने धर्म-मोक्ष-सिद्धिको विशिष्ट सिद्धि बतलाया है—

धर्मार्थकामसिद्धिश्च मोक्षसिद्धिरनुत्तमा ।
(स्क० चतुरशी० ५९ । ५५)

मोक्षसे भी जीवन्मुक्ति तथा सदेह भगवद्विग्रहप्रवेशको विशिष्ट सिद्धि कहा गया है । श्रीविष्णुपुराण तथा श्रीविष्णु-धर्मोत्तर आदिकी अनेकानेक कथाओंमें भगवान्‌द्वारा भक्तशरीरमें प्रवेशावस्थानादिकी बार-बार चर्चा आयी है । त्रेतायुगके देवासुरसंग्राममें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने शशादपुत्र पुरंजयके देहमें प्रवेश किया था । (विष्णु० ४ । २ । २६) । इसी प्रकार धुन्धुनामक दैत्यके वधके लिये देवताओंकी प्रार्थनापर उत्तङ्कके कल्याणार्थ भगवान्‌ने कुवलाश्व राजाके शरीरमें प्रवेश किया था—ऐसी कथा हरिवंश, ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, वायु तथा विष्णुपुराण आदिमें आयी है—

योऽसावुत्तङ्कस्य[3] महर्षेरपकारिणं धुन्धुनामानमसुरं वैष्णवेन तेजसाप्यायितः पुत्रसहस्रैः ··· जघान धुन्धुमार-संज्ञामवाप । (विष्णु० ४ । २ । ४०)

तमाविशत्तदा विष्णुर्भगवान् तेजसा प्रभुः ।
उत्तङ्कस्य नियोगाद् वै लोकस्य हितकाम्यया ॥
(ब्रह्माण्ड० ३ । ६३ । ४९, वायु० ३ । ८८ । ४९, ब्रह्मपुराण ७ । ७५, हरिवंश० १ । ११ । ४५)

उपर्युक्त चारों स्थलोंमें यह श्लोक एक रूपमें ही उपलब्ध होता है । इससे भी इस बातकी निर्बाध स्वीकृति ज्ञात होती है । इसी प्रकार मान्धातृपुत्र पुरुकुत्सके भी शरीरमें भगवान् विष्णुके प्रवेशकी बात है—

आह च भगवाननादिनिधनपुरुषोत्तमो योऽसौ यौवनाश्वस्य मान्धातुः पुरुकुत्सनामा पुत्रस्तमहमनुप्रविश्य

---

[1] (क) अञ्जनं पादलेपश्च पादुकासिद्धिरेव च ।
गुटिका खड्गसिद्धिश्च महासिद्धिः सुदुर्लभा ॥
दिव्यौषधैश्च या सिद्धिर्मन्त्रस्पर्शोद्भवा च या ।
(स्क० अवन्ती२-चतुरशी० लिङ्गमा० खं० अ० ५९ । ५३-५४;
" " ७४ । ५६-५७;
" रेवाख० करुणाभ्युदयस्तो० १८१ । ४९)

(ख) भागवत ११ । १५ तथा स्कन्द०रेवाखण्डादिमें इन सिद्धियोंको शिव-विष्णुभक्तिसे अत्यन्त सुलभ कहा गया है । चतुरशी० लिङ्गके सिद्धेश्वरमाहात्म्यमें इनका केवल अवन्तीस्थ सिद्धेश्वर लिङ्गके दर्शनसे ही सुलभ हो जाना कहा गया है—

एता याः सिद्धयः प्रोक्ता अपरा लघिमादयः ।··· ···
जायन्ते नात्र संदेहः श्रीसिद्धेश्वरदर्शनात् । (वही ५५)

(ग) स्क०ब्रह्मखण्ड, सेतुमाहात्म्य १८ । १८–२५ के अनुसार ये सभी सिद्धियाँ सुतीक्ष्णजीको केवल रामकुण्डमें स्नान तथा रामस्तोत्रके पाठसे प्राप्त हो गयी थीं—

स्तुवतो रामचन्द्रं च स्तोत्रेणानेन सुव्रताः ।
तीर्थं च रघुनाथस्य कुर्वतः स्नानमन्वहम् ॥
अभवन्निश्चला भक्तिः रामचन्द्रेऽतिनिर्मला ।
अभूदद्वैतविज्ञानं प्रत्यगात्मैकलक्षणम् ॥
अनधीतत्रयीज्ञानं तथैवाश्रुतवेदनम् ।
परकायप्रवेशे च ··· योगिलभ्यानि सत्तमाः ॥

वस्तुतः यह सब गीता १८ । ४९-५५, विशेषकर ५४-५५ का भाष्य है । इसी प्रकार त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् भी विशेषकर गीता १८ । ५४-५५ का भाष्य है ।

[2] भागवत स्क० ११ अध्याय १५ श्लो० १ से ३० तक ।

[3] वुदकस पाठ भ्रष्ट है—'वुत्तङ्कस्य' होना चाहिये । कुवलयाश्व भी अशुद्ध है । कुवलाश्व होना चाहिये । कुवलयाश्व दूसरा ही हुआ है । (द्रष्टव्य मै० उ० १ । ४)

तानशेषान् दुष्टगन्धर्वानुपशमं नयिष्यामीति । ···रसातलगतश्चासौ भगवत्तेजसाप्यायितात्मवीर्यः···।' इत्यादि

(विष्णुपु० ४ । ३ । ६, ९)

इसी प्रकार विष्णुधर्ममें सुमति आदिकी कथा है। वास्तवमें 'विष्णु' शब्दका कुछ अर्थ भी इसी प्रकारका है—

विशतेः नुक्प्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुः
(विष्णुस० शां० भा० १४, पृ० ७३ सं० गीताप्रेस)

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥
(विष्णुपुराण ३ । १ । ४५)

गीता ८ । ११; ११ । ५४ तथा १८ । ४९ से ५५ में भी इस सिद्धिकी चर्चा है—उसके 'विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः' 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।' (११ । ५४) तथा 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां', 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म···' 'ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्[4]' आदि शब्द प्रत्यक्ष ही इसे स्मरण दिलाते हैं। और त्रिपाद्विभू० महानारायणोप० पृ० ३०२ (काशी हि० प्रे० संस्करण) स्कन्द०, सेतुमाहात्म्य १८ । १८, ३५ आदिमें इसका श्रेष्ठतम भाष्य है।

इसके समर्थनमें पुराणोंमें अनेकानेक उदाहरण तथा आख्यान भी प्राप्त होते हैं। वस्तुतः उनका यदि यहाँ संग्रह किया जाय तो वह भी एक बड़ा पोथा बन जाय। य
केवल थोड़ी-सी घटनाओंका ही उल्लेख किया जा रहा है—

विष्णुपुराण ४ । ४ । ८० आदिमें खट्वाङ्गकी भगवान्में लय होनेकी बात स्पष्ट है—

अशेषदेवगुरौ भगवत्यनिर्देश्यवपुषि सत्तामात्रात्म-न्यात्मानं परमात्मनि वासुदेवाख्ये···लयमवाप।

शाकलदेशके राजा चित्रसेनकी मनोरमा नामकी कन्या जातिस्मरा[6] थी। उसने विवाह नहीं किया और अविमुक्तेश्वर लिङ्गमें प्रविष्ट होकर लीन हो गयी—

सापि दृष्ट्वैव तल्लिङ्गं तस्मिँल्लिङ्गे लयं गता।
(स्कन्द, अवन्ती, चतुरशी० माहा० ७८ । ५०)

इसी प्रकार पिङ्गलनामक ब्राह्मणकी पुत्री भक्तिम पिङ्गला भी पिङ्गलेश्वरमें लीन हो गयी। (वही, ८१ । ८१)

दर्शनात्तस्य लिङ्गस्य तस्मिँल्लिङ्गे लयं गता॥

इसी प्रकार स्कन्दपुराण, काशीखण्डमें कई कथाएँ हैं। वीरेश्वरलिङ्गमें तो वेदशिरामुनि, चन्द्रमौलि, भरद्वाज तथा कई गन्धर्व-अप्सरादि सदेह प्रविष्ट और लीन हो गये हैं—

नृत्यन्ती निजभावेन पुरा ह्यत्राप्सरोवरा।
सदेहा कोकिलालापा लिङ्गमध्ये लयं गता॥
ऋषिर्वेदशिरा नाम जपन् वै शतरुद्रियम्।
अत्र ज्योतिर्मये लिङ्गे सशरीरोऽविशत् पुरा॥
चन्द्रमौलिभरद्वाजौ उभौ पाशुपतोत्तमौ।
वीरेश्वरं समभ्यर्च्य गायमानौ लयं गतौ॥
(काशीख० १० । १०६-१०९)

इसी प्रकार ॐकारेश्वर लिङ्गमें कपिल, साव

---

[4] (क) माम् अद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसम् अजम् अजरम् अमरम् अभयम्··· आकाशकल्पं···विशते।
(शां० भा० गी० १८ । ५५)
(ख) प्रविशति प्राप्नोति। (गी० रामानुजभा० १८ । ५५)
(ग) विशते आनन्दरूपो भवति, विशते लीलासु इति वा इति शेषः। (वल्लभसं० अमृ० तरं० टीका)
(घ) सकलचेतनाचेतनभिन्नाभिन्नस्वभावं ··· मां साक्षादनुभवति। विशते निरतिशयानन्दं ··· 'यो मां पश्यति सर्वत्र ··· प्रणश्यति।' (केशवकाश्मीरिभट्टाचार्यकृत तत्त्वप्रकाशि० १८ । ५५)
(ङ) विशते—मद्रूप एव भवति। (मधुसूदनसरस्वती १८ । ५५ गी०)
(च) विशते—'अहं ब्रह्मास्मि' इति ब्रह्मणि अहंबुद्धिं प्रवेशयति। (शंकरानन्द—")
(छ) विशते—मदाकारो भवति। (सूर्यदैवज्ञ—परमार्थप्रपा)
[इत्यादि—गुजरा० प्रिं० प्रेस० संस्क०]

[5] —शबरी आदिके सम्बन्धमें भी कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख है—

'छलिन की छौंड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति
कीन्ही लीन आपु में सुनारी भोंड़े भील की।
(कवितावली ७ । १८)

'हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे' आदि।

[6] —ऐसी बहुत-सी कथाएँ 'जन्मान्तर' रहस्य लेखमें नहीं आयीं। काकभुशुण्डि आदिकी भी नहीं आयी—'सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोहँ न घेरी' आदि। इधर ३-५-६५ के Northern India Patrika में भी एक ऐसी घटनाका उल्लेख है, जिसपर विशेष प्रकाश अभी नहीं डाला गया है।

श्रीकण्ठ, पिङ्गल और अंशुमान् नामक पाँच पाशुपत शिवभक्त एक साथ ही लीन हो गये थे—

कपिलश्चैव सावर्णिः श्रीकण्ठः पिङ्गलोंऽशुमान् ।
एते पाशुपताः सिद्धाः···कृत्वा पञ्चापि पूजनम् ।
नृत्यन्तः सहुडुत्कारं तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययुः ॥

(का० उ० ७३ । ६०)

इसीमें माधवी भी सदेह लीन हुई थी—

वैशाखस्य चतुर्दश्यामेकदा सा तु माधवी ।
···गायन्ती मधुरं गीतं नृत्यन्ती निजलीलया ।
ध्यायन्ती लिङ्गमोंकारं तत्र लिङ्गे लयं ययौ ॥

(वही ७४ । ९५)

परमाचार्य श्रीगर्गाचार्यजी महाराज भी भरद्वाजके पुत्र दमनके साथ इसी ॐकारेश्वरमें लीन हो गये थे ।

दमनोऽपि हि धर्मात्मा गर्गाचार्येण संयुतः ।
आराध्य श्रीमदोंकारं तस्मिँल्लिङ्गे लयं गतः ॥

(वही ७४ । ११७)

इसी प्रकार परम दिव्य प्रसिद्ध त्रिलोचनलिङ्गमें परिमल नामका नागराज अपनी तीन नागी पत्नियोंसहित सदेह लीन हो गया था—

गायन् गीतं सुमधुरं नागीभिः सहितः कृती ।
आत्मानं चाति विस्मृत्य मध्येलिङ्गं लयं गतः ॥

(काशीख० उत्तरा० ७६ । ११७)

यह कथा ठीक इन्हीं श्लोक, पद, अक्षरोंमें स्कान्द०, अवन्ती०, चतुरशीतिलि० माहात्म्यके ४५ वें अध्यायमें भी है तथा यह श्लोक भी इसी प्रकार ४५ । १४४ में सुरक्षित है ।

स्कन्दपुराणके सभी खण्डोंमें तथा अन्यान्य पुराणोंमें भी इस प्रकारकी अगणित कथाएँ हैं । ये पूरी कथाएँ सचमुच बहुत ही रोचक हैं और ये भक्तलोग अपने समयके बड़े ही प्रभावशाली, दिव्य, भगवत्कृपा प्राप्त तथा सदाचारादि-गुणोपेत थे । भारतका इतिहास कितना प्राचीन तथा कैसा महत्त्वपूर्ण है, इसमें कितने सतयुग-त्रेतादि कालोंका व्यवधान हुआ है, कहना कठिन है । पर आजके धूर्त पाश्चात्त्य ऐतिहासिक इन्हें तिरोहितकर केवल दो हजार वर्षोंके हमारी पराजयका ही इतिहास लिखते हैं ।

सुतरां, इस प्रकारकी घटनाएँ पिछले दिनों भी होती रहीं । इनकी परम्परा सर्वथा लुप्त नहीं हुई है । भक्तिमती मीराबाईके अन्तमें द्वारकास्थ श्रीरणछोड़जीके विग्रहमें सदेह लीन होनेकी घटनाका वर्णन श्रीप्रियादासजीने किया है—

बेगि लैकै आओं, मोकों प्रान दै जिवावौ,
अहो गए द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै ।
सुनि बिदा होन गई राय रनछोड़ जू पै
छाड़ौ राखौ हीन, लीन भई नहिं पाइयै ॥

(भक्तमाल, भक्तिरसबोधिनीव्याख्या ४८०)

इसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभुके भी अन्तमें भगवान् जगन्नाथके श्रीविग्रहमें सदेह लीन होनेकी घटनाकी बहुत प्रसिद्धि है ।

(द्रष्टव्य चै० चरिताव० ख० ५, पृ० २०६ गीताप्रेस, चै० चरितामृ० अन्त्य ली०)

वस्तुतः भगवान्‌की कृपासे इस संसारमें कुछ भी दुर्लभ और आश्चर्यकर नहीं है ।

परम दिव्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके विविध आख्यानों तथा भजन-फलश्रुतियोंमें भी भक्तोंके सदेह भगवान्‌में अथवा उनके लोकोंमें प्रवेशकी बात अत्यन्त स्पष्टरूपसे आयी है ।

मृत्युरस्मादपैति । (१० । ३ । २७)
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ।
(१० । ३ । ३३)

यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ।
(४ । ९ । ५२)

अपि देहमव्ययम् । (८ । ३)

मृत्युर्धावति पञ्चमः ।

मृत्युश्चरति मद्भयात् । (३ । २५ । ४२)

बलिनोऽन्तकोरगात्···भीतं प्रपन्नं परिपाति यो भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि । (८ । २ । ३३)

—आदि वचनोंमें सुपुष्टरीत्या भजनके प्रतापसे मृत्युके टलनेकी बात आयी है । गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके भी 'आई मीचु मिटति जपत रामनाम को' (कवितावली) तथा कबीरदास आदिके 'नामसनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय' आदि पदोंका भी यही भाव दीखता है । ध्रुव, प्रह्लाद, गजेन्द्र, हनुमान् आदिके आख्यान भी इसके प्रबल पोषक हैं । प्रह्लादको मारनेके लिये उसके पिताके द्वारा बार-बार

प्रयुक्त मृत्यु-कृत्या आदिके अभिचार निष्फल होते रहे। 'मोको घालु जार, चाहे मार डारु······प्रह्लाद उबारे बार-बार।

इसी प्रकार भागवतादि ग्रन्थोंमें ध्रुवके विषयमें कथा आती है कि जब श्रीसुनन्दादि पार्षदोंने ध्रुवके पास आकर भगवान्का संदेश सुनाया और वे स्नानादि करके मुनियोंको प्रणामकर प्रभुके पास चलनेके लिये विमानपर चढ़नेको उद्यत हुए, तब उन्होंने देखा कि मृत्यु भी आ रहा है। उसने ध्रुवके चरणोंमें आकर अपनी कृतार्थताके लिये प्रार्थना की। इसपर उन्होंने उसके मस्तकपर अपना पैर रख दिया और विमानपर चढ़कर गये—

मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत्—
तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥
(४ । १२ । ३०)

यदा ध्रुवो विमानमारोढुमगच्छत् तदा मृत्युरागत्य तं प्रणम्योवाच हे महाराज मामङ्गीकुरु, 'उवाच ध्रुवः स्वागतं ते, क्षणं तावदुपविश। एवमुक्त्वा स विष्णोः स्मरणं कृत्वा मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा विमानमारुरोह।' [श्रीधरी भावार्थ-दीपिका व्याख्या।]

रामायण-भागवतादिमें प्रभु श्रीरामको देखनेवालों, रामद्वारा देखे ज़ानेवालों, रामको छूनेवालों, उनके द्वारा छूए जानेवालों, उनके साथ बैठ जानेवालों, उनके साथ चलनेवालों, उनके पीछे चलनेवालों तथा उनकी परिचर्या करनेवालोंको भी सदेह उन्हींके लोकोंको प्राप्त होनेकी बात आती है। पुराण रामायणादिके रामोपाख्यानोंमें सर्वत्र अयोध्याके स्थावर-जङ्गमादि समस्त प्राणिवर्गके भगवान् रामके साथ सदेह जीवित ही वैकुण्ठ जानेकी बात आती है—

ततः सस्त्रीपुमांसस्ते सपक्षिपशुबान्धवाः।
राघवस्यानुगाः सर्वे हृष्टा विगतकल्मषाः॥
यानि भूतानि नगरेऽप्यन्तर्धानगतानि च।
राघवं तान्यनुययुः स्वर्गाय समुपस्थितम्॥
यानि पश्यन्ति काकुत्स्थं स्थावराणि चराणि च।
सर्वाणि रामगमने अनुजग्मुर्हि तान्यपि॥
नोच्छ्वसत् तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपि दृश्यते।
तिर्यग्योनिगताश्चैव सर्वे राममनुव्रताः॥
(श्रीवाल्मीकिरामायण ७ । १०९ । १५, २०—२२)

य उत्तराननयत् कोसलान् दिवम्।
(श्रीमद्भा० ५ । १९ । ८

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥
(श्रीमद्भागवत ९ । ११ । २२

'जड चेतन जग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन प्रभु हेरे।
ते सब भए परम पद जोगू।

भूतान्यदृश्यानि च यानि तत्र
ये प्राणिनः स्थावरजङ्गमाश्च।
साक्षात्परात्मानमनन्तशक्तिं
जग्मुर्विरक्ताः परमेकमीशम्॥
(अध्यात्मरा० ७ । ९ । ४

यान्तं दिवं मामनुयान्ति सर्वे
तिर्यक्शरीरा अपि पुण्ययुक्ताः।
(७ । ९ । ६१ का पू

बात यहींतक न रही, सृष्टिकर्ता विधाताने तो भाव होकर यह नियम ही बना दिया कि जो भूलकर भी आपका भजन कर लेगा, वह भी योगि-मुनि-दुर्लभ लोकको ही प्राप्त हो जायगा—

ये चापि ते राम पवित्रनाम
गृणन्ति मर्त्या लयकाल एव।
अज्ञानतो वापि भजन्तु लोकां-
स्तानेव योगैरपि वाधिगम्यान्॥
(अध्यात्मरामा० ७ । ९ । ६

अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ राम सिय लखन
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि

पता नहीं इस प्रकार अबतक कितने पावन भगवान्में लीन हुए अथवा उनके लोकको सदेह प्राप्त

इसी प्रकार भक्तप्रवर सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र अपनी समस्त प्रजाके साथ सदेह भगवद्धामको प्रविष्ट

---

* महाराज हरिश्चन्द्रकी गणना सर्वत्र श्रेष्ठ भगवद्भक्तों गयी है——द्रष्टव्य भक्तनाममालिका, तथा भक्तमालादि—

रुक्मांगद हरिचंद्र भरत दाधीच उदारा।
सुरथ, सुधन्वा, सिबी, सुमति अति बलिकी दारा॥

गुरुकुल काँगड़ी

राज्ञा सह तदा सर्वे हृष्टपुष्टसुहृज्जनाः ।
सपुत्रभृत्यदारास्ते दिवमारुरुहुर्जनाः ॥
(मार्कण्डेयपुराण ८ । २७)

महाभारतादिमें विदुरके युधिष्ठिरकी देहमें लीन होने तथा महाराज युधिष्ठिरके सशरीर स्वर्गारोहणकी बात सर्वथा स्पष्ट तथा विस्तारसे वर्णित है ।

गजेन्द्र यद्यपि हीनयोनिमें प्रविष्ट था, तथापि भगवत्-स्तुति, भक्तिके प्रभावसे भगवान्द्वारा संस्पृष्ट होकर तत्काल चतुर्भुज वैष्णव विग्रहमें परिणत हो गया—

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥
(भाग० ८ । ४ । ६)

इसी प्रकार भगवान् व्यास, शुकदेव, हनुमान्जी, नारद-सनकादि नित्य सिद्धदेहको प्राप्त होकर भजन-भक्ति-परायण हुए ।*

इधर कलियुगमें भी श्रीकबीरदास, नानक, श्रीमद्वल्लभाचार्यजी, चैतन्य महाप्रभु, तिरुपण्ण, साधु माणिक्य तुकाराम†, मुक्ताबाई, मीराबाई आदि अगणित भक्तोंके सदेह भगवद्-विग्रहादिमें लीन होनेकी बात ज्ञात है । उनके पार्थिव शरीरकी प्राप्ति लोगोंको न हुई । भविष्यपुराण तथा विविध भक्तमालोंमें ऐसी घटनाएँ असंख्य हैं ।

कबीरदासके विषयमें रीवाँराज तथा प्रियादासजीने इस प्रकार लिखा है—

अतिसय पुष्प तुरंत मगाई ।
तामें निज तनु दियो दुराई ॥
सबके देखत तज्यो सरीरा ।
—इत्यादि (पृष्ठ ७३८)

मगहरमें जाय, भक्तिभावको दिखाय,
बहु फूलनि मँगाय, पौढो मिल्यौ हरिरागी है ।

अर्थात् उनका शरीर पुष्पोंमें ही विलीन हुआ—उसका पता किसीको न चला ।‡ (द्र० आड्यार बुलेटिन मार्च १९१६)

इसी प्रकार श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके सशरीर गङ्गामें ऊपर उठनेकी बात प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि वैष्णवाचार्य श्रीविष्णुस्वामीको साक्षात् भगवान्ने ही एक प्रतिमा तैयार कराकर दी थी और अन्तमें उन्होंने भी भजन करते हुए उसीमें प्रवेश किया था । दिग्विजयोंमें शंकराचार्यजीके भी सशरीर कैलासारोहणकी बातें हैं । उन्हें ले जानेके लिये इन्द्रादि देवता विमान लेकर आये थे—**'इन्द्रोपेन्द्रप्रधानैः··· सरसिरुहभुवा दत्तहस्तावलम्बः··· धाम नैजं प्रतस्थे'**
(शंक० दि० १६ । १०७)

योगवासिष्ठादिमें भी ऐसे कई उदाहरण हैं । उपनिषदों, वेदान्तग्रन्थोंमें तो **'विशन्ति यद् यतयो'** (कठ०) **'प्रवेष्टुं च परंतप', 'प्रविशेत् तदनन्तरम्'** के उपाय-प्रकारादिपर पूर्णरीत्या सम्यग् विवेचन प्राप्त होता है ।

◆

---

* इसमें अतिशयोक्तिका अनुमान ठीक नहीं; क्योंकि सत्यवादी ऋषियोंने साक्षात् हरपत्नी भगवती सतीके शवका शिवद्वारा ढोये जाने तथा विष्णुचक्रद्वारा उसे काट-काटकर गिरानेका वर्णन कालिकादि पुराणोंमें किया है ।

† तुकारामका अन्त उनके गीताप्रेससे प्रकाशित चरित्रमें अन्तिम पृष्ठपर देखना चाहिये ।

‡ रीवाँराजकी रामरसिकावली भक्तमालामें अधिकांश भक्त इसी प्रकार लीन होते हैं । चोलराजको एक कन्या मिली थी । उसकी शादी उन्होंने धूमधामसे श्रीरङ्गजीसे की । उत्सवके अन्तमें वह रङ्गजीमें ही लीन हो गयी—'कन्या लीन भई हरि माहीं ।' पृ० ४५१ । योगिवाहादि भी इसी प्रकार लीन हुए—'लीन भयो हरिचरनन्ह माहीं ।' (पृ० ४५२)

मौतके मुँहसे बचा और इस प्रकार नयी जिंदगी मिली !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनकेसरी, विद्याभूषण)

पानीमें भी मीन पियासी

राकफेलरको कौन नहीं जानता ?

'वह अपने युगका सबसे अमीर व्यक्ति था। उसका धन ही उसकी ख्यातिका कारण था।'

आपका उत्तर ठीक है।

वास्तवमें राकफेलर अमेरिकाका सबसे बड़ा पूँजीपति था। धनकी महिमा दूर-दूरतक स्वयं फैलती है। अपने व्यापारसे राकफेलरने सबसे अधिक धन कमाया था। उसे लक्ष्मीपुत्र कहा जाता था।

कहते हैं उसके पास इतनी असीम धनराशि थी कि पूरे शहरको भोजन देता रहे, तो भी न बीते। कमाई भी न करे, तो कई पीढ़ियाँ उसी शानसे सुख भोगती रहें !

हमारे यहाँ कुबेरको धनका देवता कहते हैं। इस दृष्टिसे आधुनिक धन-कुबेर राकफेलर था। मंडीमें वह जिस मालको खरीदना प्रारम्भ करता, पूरी मंडीकी वस्तुओंको खरीद डालता। उसके मुकाबलेमें खड़े होनेकी हिम्मत किसीको न थी, कोई उसके साथ प्रतियोगिता करनेकी हिम्मत ही न कर पाता था।

यदि केवल धन-सम्पदा, जमीन-जायदाद इत्यादिको ही मनुष्यकी सुख-शान्तिका आधार या ऐश-आराम ही संसारका चरम लक्ष्य समझा जाय, या सफलताकी कसौटी माना जाय तो राकफेलरको संसारका सबसे प्रसन्न और सफल व्यक्ति समझा जाना चाहिये था।

वह रुपयेकी शक्तिसे सभी कुछ खरीद सकता था—उत्तमोत्तम भोजन, बढ़िया वस्त्र, आलीशान गगनचुम्बी महल, कोठियाँ, मोटरकार, हवाई जहाज, आमोद-प्रमोद तथा भोगविलासकी असंख्य आधुनिकतम वस्तुएँ, हर प्रकारका सुख और सुविधा !

सच मानिये, कुछ भी उसके लिये असम्भव न था ! इस समाज और धरतीका कौन आनन्द था, जो उसके रुपये उसे खरीदकर न दे सकते थे।

राकफेलरकी व्यापारिक बुद्धिका चमत्कार इस बातसे जाना जा सकता है कि उसने अपने दस लाख डालर २३ वर्षकी कच्ची उम्रमें ही कमा लिये थे।

वह व्यापारमें कुशल था, साहसी था, बाजारके भावोंके उतार-चढ़ावमें दूरदर्शी था। उसके हाथोंमें व्यापारिक था और थी हृदयमें धनकी अतृप्त आकाङ्क्षा। संसारके प्रसिद्ध स्टैन्डर्स वैक्यूम आइल कम्पनीका स्वामित्व उसने ४३ वर्षकी आयुमें ही प्राप्त कर लिया था। अपार धनराशि बैंकोंमें उसके नामपर जमा थी। अनेक सूत्रोंसे अनापशनाप धन आ रहा था।

असमयमें ही मौतके मुँहमें

पर शोककी बात थी ! जीवनका हरा-भरा सुन्दर और मधुर रूप वह नहीं देख पाया था ! उसका यौवन रूपी फूलोंपर फुदक तो रहा था, पर अंदरसे अतृप्त और शुष्क ही था। धन और सांसारिक उन्नतिमें लहरा-लहराकर वह अपना भ्रमर मन न टटोल पाया था !

५३ वर्षका धनकुबेर मनसे अशान्त और उद्विग्न था। उसे नाना प्रकारकी छोटी-बड़ी चिन्ताओंने अपना शिकार बना लिया था।

बात यह थी कि उसे हर समय कोई-न-कोई चिन्ता बनी ही रहती थी। धन अपने साथ अतृप्ति भी लाता है। हर घड़ी विषाद, व्यापारमें हानिकी आशङ्का, हिसाब-किताबमें गड़बड़ी, आयकर-सम्बन्धी मुकदमोंकी परेशानी, कम्पनियोंमें नुकसानका डर, बैंकोंके फेल हो जानेकी कुकल्पना, चलते फिरते किसी मुकदमेमें फँस जानेकी परेशानी, रुपया न डूब जाय—चोरी न हो जाय इत्यादि चिन्ताएँ उसे हरदम सताती रहती थीं।

कभी वह सोचता—कौन कार्यकर्त्ता कैसा काम कर रहा है ? व्यर्थ समय बरबाद तो नहीं कर रहा है ? भ्रष्टाचार करेगा, या नुकसान तो नहीं पहुँचायेगा, धोखा तो नहीं देगा ? एक नहीं, सैकड़ों प्रकारकी छोटी-बड़ी, तात्कालिक या देरमें आनेवाली चिन्ताओंने उसे बुरी तरह अपने कुटिल पंजोंमें जकड़ लिया था।

बाहरसे रेशमी सिल्कके बहुमूल्य वस्त्र पहननेवाला गगनचुम्बी अट्टालिकाओंमें निवास करने और प्रतिदिन नवीन सुस्वादु कीमती भोजन करनेवाला, सैकड़ों नौकरोंसे अपनी सेवा कराकर भी बेचारा राकफेलर ५३ वर्षकी आयुमें केवल अतृप्ति और चिन्ताओंके कारण सूखकर

हड्डियोंका नर-कंकालमात्र रह गया था ! कैसी दुर्वह विडम्बना थी !

चिन्ताके कारण उसके शरीरका बुरा हाल था । सिरके बाल उड़ गये । फिर भौंहके बाल कम होने लगे । गंज होती जा रही थी । वह सोचता था यह क्या माजरा है ।

उसकी भूख कम होते-होते जाती रही । अब हालत यह थी कि बढ़िया भोजन मेजपर शानसे लगा उसकी प्रतीक्षा कर रहा है और उसके सामने जानेमें ढिलमिल कर रहा है ! घरवाले चाहते हैं कि किसी प्रकार दो कौर भोजन कर ले, पर भोजनकी ओरसे उसे अरुचि है । कभी अग्निमान्द्य तो कभी कब्ज, कभी दस्त तो कभी पेचिश ! डाक्टर हैरान कि क्या करें, कैसे प्राण बचायें !

उसके चेहरेके तेज और लावण्यपर वृद्धावस्थाकी कालिमा मँडराने लगी । मौतकी कुटिल छाया उसपर पड़ रही थी ! गाल पिचके और दाँत जवाब देने लगे । रातको नींद न आती, गुदगुदे बिस्तरपर करवटें बदलते-बदलते आँखें खोले-खोले ही सारी रात कट जाती । बुरे स्वप्न दीखते थे !

कमरमें दर्द और झुकाव था, चलते हुए पैर लड़खड़ाते थे । ऐसा लगता था जैसे कोई भारी-भरकम अट्टालिका अब गिरी, अब गिरी !

चारों ओर उसे अपने कामके बिगड़ जानेका गुप्त भय सताया करता था । जीवनसे वह निराश—निरुपाय था ! मनमें तनाव था और हृदय बेचैन ।

बाहरसे कोई अनुमानतक नहीं कर सकता था कि इस अमीरको भी जीवनमें कोई परेशानी हो सकती थी, पर उसके भीतर तो चिन्ताओंकी आग जल रही थी और अत्यन्त कुटिल संकल्पोंका संघर्ष चल रहा था । प्रतिदिन उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी । एक चिन्ता बढ़कर दस नयी-नयी चिन्ताओंको जन्म दे रही थी । वह चिन्ताके वास्तविक विषयसे परीशान न रहकर उसके प्रतीकसे परीशान रहने लगा । उस धनकुबेरके अस्थि-पञ्जरवत् शरीरको देखकर दुःख होता था ।

जीवनके प्रभातमें वह ऐसा न था

जीवनके प्रभातमें राकफेलर एक हट्टे-कट्टे स्वस्थ शरीरवाला युवक था । उसमें मानसिक तनाव न था । वह गाँवमें रहता था । वहाँके निर्द्वन्द्व वातावरण तथा उन्मुक्त वायु और खुले प्रकाशमें बड़ा हुआ था । जिंदगीके प्रति उत्साह था, शरीर मजबूत था । कंधा उठा, सीना तान, मस्त बैलकी तरह चला करता था ।

लेकिन मायाके कुचक्रने उन्हें चौपट कर दिया । जैसे-जैसे उसके पास धन आता और इकट्ठा होता गया, वैसे-वैसे ही अधिकाधिक अमीर बननेकी अदम्य अभिलाषा, अमीरियतमें दूसरोंको परास्त करनेकी प्रतियोगिताके भाव मनको दबाने लगे । आर्थिक चिन्ताओंने उसके फूल-जैसे मस्त जीवनपर घातक विषैला तनाव डालना शुरू कर दिया । मानसिक तनावके कारण उसकी तन्दुरुस्ती क्रमशः गिरती गयी । ५३ वर्षकी आयुमें वह सूखकर अस्थियोंका ढाँचा मात्र रह गया ! पानीमें भी जैसे मछली प्यासी थी ! जलमें कमल सूख रहा था । उसका जीवन चलता-फिरता मुर्दा था ।

तनिक कल्पना कीजिये, उसकी आय प्रति सप्ताह बीस लाख डालर थी, किंतु वह प्रति सप्ताह दो डालरका भोजन भी नहीं पचा पाता था । थोड़ेसे दूध तथा रोटीके एक टुकड़ेको पचा लेना भी उसके लिये बड़ी बात थी ।

थोड़ी-सी हानि या व्यापारमें नुकसानकी आशङ्कासे वह बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाता था । चिन्ता उसे बुरी तरह दबा देती । एक चिन्ता आते ही रातभर उनींदा रह जाता था वह ।

एक बार यह हुआ !

जिंदगीमें थपेड़े आते रहते हैं । समुद्रकी लहरोंकी भाँति उतार-चढ़ाव जीवनका क्रम है ।

राकफेलरने चालीस हजार डालर मूल्यके अनाजका एक जहाज व्यापारके लिये विदेश भेजा था । यह ग्रजलेक्स-से होकर गया था । मालकी सुरक्षाके लिये प्रायः बीमा कराया जाता है । इस जहाजका बीमा करानेमें डेढ़ सौ डालर खर्चा आता था । इस पैसेको बचानेके लोभसे बीमा नहीं कराया गया । वैसे ही जहाज यात्रापर रवाना हो गया ।

संयोगकी बात, उस रातको लेक्सपर बड़ा तूफान आया ।

इस तूफानका पता चलते ही, राकफेलरको अपने जहाजकी सुरक्षाकी भयानक चिन्ता लग गयी । वह सोचने लगा—'कहीं यह तूफानमें डूब न जाय ? भयंकर

नुकसान हो जायगा । हाय, कितनी बड़ी गलती हो गयी । इस जहाजके मालके नष्ट हो जानेसे व्यापारमें बड़ी हानि हो जायगी ! तब क्या होगा ? उफ्, मेरी मूर्खता, मेरी अदूरदर्शिता …! अब क्या करूँ ?'

हजारों प्रकारकी चिन्ताओंने उसे झँझोड़कर रख दिया । सारी रात करवटें काटते बीती ।

सबेरे जब उसका भागीदार जौर्ज गार्डनर आफिस आया, तब उसने राकफेलरको बड़ा चिन्तातुर देखा । सब आशङ्का सुनी । उसे भी लगा कि थोड़े-से पैसोंके लोभमें आकर भारी मूर्खता कर बैठे हैं । व्यापारमें बड़ी हानिकी आशङ्का थी ।

किंतु अब क्या हो सकता था ? तीर हाथसे छूट चुका था ।

'अरे भाई ! जो कुछ भी हो, जल्दी करो । किसी मूल्य-पर बीमा हो सके तो तुरंत करा दो । अब देर मत करो । जल्दी दौड़ जाओ । जितनी अधिक देर होती है, नुकसानकी आशङ्का बढ़ती जाती है ।'

राकफेलरने अपने भागीदारको किसी शर्तपर अधिक-से-अधिक प्रीमियम देकर तुरंत अनाजसे भरे हुए जहाजका बीमा करवानेको दौड़ाया ।

बेचारा गार्डनर दौड़ा-दौड़ा गया । बड़ी मिन्नतें—खुशामदें कीं; जो कुछ अधिक-से-अधिक बीमाकी रकम माँगी गयी, उसे देकर आखिर किसी तरह जहाजका बीमा करवा दिया गया । तब राकफेलरकी चिन्ता कुछ दूर हुई । चाहे खर्च अधिक हो गया, पर बीमा तो हो गयी—यही संतोष था ।

फिर एक नया मानसिक आघात !

किंतु चिन्ता भूतकी तरह मनुष्यपर सवार हो जाती है और नित्य नये-नये कारण ढूँढ़ती रहती है । राकफेलरके मनपर फिर हथौड़ेकी चोट लगी । एक नयी परीशानीने उसे फिर व्यग्र कर दिया ।

यह सब क्यों हुआ ?

बीमा करवाये ७-८ घंटे हुए थे कि इसी बीच समाचार आया कि उसका माल गन्तव्य स्थानपर सही-सलामत पहुँच गया था । सौभाग्यसे उसे कोई नुकसान नहीं हुआ था । और कोई शुद्ध प्रवृत्तिका व्यक्ति होता तो ईश्वरकी इस बड़ी कृपाके लिये अनेक धन्यवाद देता, दान देता और खुशियाँ मनाता । प्रेमसे मित्रोंको भोजन कराता । उसकी प्रसन्नताका कोई ठिकाना न होता ।

पर राकफेलर नकारात्मक विचारों (Negative thinking) में फँसा रहनेवाला धनकुबेर था । उसने अब इस तरह सोचना प्रारम्भ किया—

तनिक-सा काम था और मैं यों ही इतना डर गया । इस व्यर्थ भयसे आक्रान्त होकर बीमा करानेमें मैंने यों ही अपने डेढ़ सौ डालर बरबाद कर दिये । हाय, मेरा इतना धन जरा-सी फिक्रसे नष्ट हो गया । मैं भी कैसा अदूरदर्शी मूर्ख हूँ ! कितना नुकसान हो गया ! ऐसे धन बरबाद करता रहा, तो मुझे व्यापारमें लाभ कैसे होगा ? कहीं मैं गरीब न हो जाऊँ ?

इसी प्रकार कुत्सित चिन्तन करते-करते अपने धनकी चिन्तामें राकफेलर बीमार पड़ गया । उसने अधिक चिन्तित होकर खटिया ही पकड़ ली । दिनभर वह अपनी फजूल-खर्चीकी बातपर परीशान रहता । उस हानिके विचारोंने मनमें गुत्थी (Complex) बनकर जीर्ण चिन्ताका रूप धारण कर लिया । धनकी रक्षा और हाथसे यों ही निकले हुए धनके पश्चात्तापने जैसे उसे पागल-जैसा कर दिया । आत्मग्लानिके विचार उसे परीशान करने लगे ।

ऐसे जीवनसे क्या लाभ ?

यह झाँकी है दुनियाके एक सबसे अमीर आदमीके जीवनकी । ऐसे रुपये या व्यापारसे क्या लाभ, जो मनुष्यका अन्त ही कर दे ? राकफेलरके पास अनाप-शनाप रुपया था जिसे शायद वह गिन भी नहीं पाता था । कोई सांसारिक अभाव न था; पर फिर भी वह अपना सारा दिन अधिकाधिक धन कमाने या उसे बनाये रखने, जोड़ने और उसीके विषयमें सोचने-विचारनेमें व्यय करता था और किसी कामके लिये जैसे उसके पास कोई समय ही नहीं था ।

अब समस्या यह थी कि राकफेलरको मौतके मुँहसे कैसे बचाया जाय ? कौन-सी चिकित्सा की जाय, जिससे उसके प्राण बचें ? बड़े-बड़े चिकित्सक आये, पर दवाईसे कोई लाभ न हुआ; क्योंकि उसकी बीमारी तो मानसिक थी ।

उसके गुप्त मनमें असंतोष, लालच और चिन्ताएँ भावना-ग्रन्थियोंका रूप धारण किये बैठी थीं । मनोवैज्ञानिकोंसे सलाह ली गयी । किसी भी तरकीबसे प्राण बचें ।

मनोवैज्ञानिक सलाह, जिससे नया जीवन मिला

मनोवैज्ञानिकोंने कहा, 'जिस व्यक्तिमें लोभका भाव जितना अधिक होता है, वह उतना ही अधिक चिन्ताओंसे भर जाता है। लोभीका मन संसारके उपयोगी रचनात्मक कार्योंको छोड़कर केवल एक छोटेसे केन्द्रमें जम जाता है। धनकी कामनाएँ कभी तृप्त नहीं होतीं, हजारसे लाख और लाखसे करोड़ होनेपर भी अधिकाधिक पिपासा बढ़ती ही जाती है। अतः संग्रहका भाव त्यागकर संतोषका भाव अपनाना चाहिये।

'जिसके चित्तमें संतोष है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है; जिसके पैरमें जूते हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो चमड़ेसे ढकी है।

'संतोषरूपी अमृतसे तृप्त एवं शान्तचित्तवाले पुरुषको जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवाले बड़े-से-बड़े धनवान् लोगोंको कहाँ प्राप्त हो सकता है!'

राकफेलरके मित्रोंको सलाह दी गयी कि यदि उसे बचाना है तो उसका मन धनकी अतृप्त कामनासे हटाकर अन्य मनोरञ्जक विषयोंकी ओर लगाना चाहिये।

राकफेलरके भागीदार गार्डनर महोदयने उपर्युक्त सलाहको कार्यान्वित करनेकी एक युक्ति सोची। वह इस प्रकार थी—

गार्डनरने दो हजार डालरमें एक पालवाली नाव खरीदी। उसने स्वयं उसे चलाना सीखा। वह मजेमें उसे चलाता, प्रकृतिके उन्मुक्त चिन्तारहित वातावरणमें रहता और धार्मिक भजन गुनगुनाया करता था। इस नुस्खेसे उसे लाभ हुआ।

एक शनिवारको उसने राकफेलरको नौका-विहारका निमन्त्रण देते हुए कहा—'काम छोड़ो; चलो, इस धनके दमघोटू वातावरणसे बाहर निकलकर दिल बहलायें। नावमें घूम लेने और भजन गानेसे तन और मन ताजा हो जायगा। जिंदगीमें रस और परिवर्तन आ जायगा। इस परिस्थिति और स्थानका परिवर्तन करो।'

राकफेलर उत्तेजित होकर बोला—'ऐसे फालतू कामके लिये मेरे पास वक्त नहीं।'

गार्डनरने प्रेम-हठ किया—'मेरे मित्र! तनिक खुले जीवन, उन्मुक्त प्रकृति, निश्चिन्त जीवनका आनन्द लो, परमेश्वरके नाममें स्वास्थ्यकी शक्ति छिपी है। भक्तिके गीत गुनगुनाओ, सांसारिकता छोड़ो।'

राकफेलरको जबरदस्ती उस वातावरणसे हटाया गया। जैसे-जैसे वह धनके कुचक्रसे निकला और ईश्वरत्वकी ओर बढ़ा, वैसे-वैसे ही उसके स्वास्थ्यमें लाभ दिखायी दिया। उसने अनुभव किया कि माया-मोहमें अतिलिप्त रहना आधि-व्याधिका कारण है। अब उसने और भी ध्यानपूर्वक मनोवैज्ञानिक सलाह ली। मनोवैज्ञानिक डाक्टरोंने उसे कुछ और विस्तारसे लाभदायक सूत्र बतलाये, जो इस प्रकार थे—

"चिन्तासे दूर रहे; क्योंकि यह मानसिक तनाव उत्पन्न करती है। रुपये कमाने, ऋण वसूल करने, शेयरोंके भाव ऊँचे-नीचे होने, बैंकोंके फेल होने या अपनी पूँजीके मारे जानेकी किंचित् भी चिन्ता न करे। मनसे इस प्रकारका सारा तनाव (Tension) त्याग दे।

"शरीरसे होनेवाले मनोरञ्जक रचनात्मक कार्योंमें दिलचस्पी ले। पर्याप्त मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद किया करे। बागवानी, पानीमें तैरना, खूब टहलना, पर्वतीय प्रदेशोंकी पैदल यात्राएँ करना-जैसे काम किया करे। प्रतिदिन हलका व्यायाम किया करे।

"चिन्ता दूर करनेके ऊपरी तरीके जैसे सिगरेट, शराब, जुआ वा नशेबाजीके उपाय सब बिल्कुल ही छोड़ दे।

"कई बार दिनमें हलका भोजन करे। चाय, कहवा, मिठाई, नाश्ते इत्यादि छोड़कर हलका और फल तथा दूधयुक्त भोजन किया करे।

"मनको भय और लोभके प्रबल आवेगोंसे बचाता रहे। संतोष और तृप्तिकी शिवभावना और उदारताकी भावनाओंका अभ्यास और प्रयोग करे। हानि-लाभ दोनों ही स्थितियोंमें मनको पूर्ण शान्त, संतुलित और अविचलित रक्खा करे। मनमें सदा 'ईश्वर मेरे साथ हैं, मेरे सहायक और रक्षक हैं'—यह भाव रक्खे। किसी भी घटनाके विषयमें अधिक चिन्तित न रहे। अन्तिम परिणाम ईश्वरपर छोड़कर हर दशामें अपने मनको संतुलित बनाये रहे। प्रतिदिन भगवत्-पूजनसे दिनका प्रारम्भ करे और सोनेसे पूर्व दिनकी समाप्तिपर ईश्वरको धन्यवाद दे और प्रतिदिन भजन गाया करे।"

इस प्रकार नयी जिंदगी मिली

अब राकफेलर इन नियमोंका दृढ़तासे पालन करने लगा।

जिंदगी बचानेके लिये उसने इन नियमोंको जीवनमें ढालना शुरू किया ।

कुछ महीनोंमें ही उसे इस नुस्खेसे लाभ होने लगा । उसके जीवनका एक नया अध्याय आरम्भ हुआ । वह संकुचित स्वार्थ और लोभके विचारोंसे मुक्त होकर संतोष-रूपी अमृतसे तृप्त होने लगा । खेलने-कूदने, आमोद-प्रमोद करने, नये-नये मनोरञ्जनोंमें समय देने लगा । वह बाग, देहात और खुले स्थानोंमें घूमता, नाचता और गाता था । सबसे बड़ी बात यह हुई कि वह भौतिकवादसे हटकर अध्यात्मवाद, भजन, पूजन, ईश्वर-चिन्तन और कल्याण-भावनामें रमण करने लगा । गिरजाघर जाकर धार्मिक भाषण सुनना, प्रार्थनामें सक्रिय भाग लेना, धार्मिक ग्रन्थ पढ़ना और धार्मिक उत्सवोंमें भाग लेना उसके जीवनका अङ्ग बन गया ।

इस प्रकार राकफेलरकी जिंदगीने नयी करवट ली । धनके मायाचक्रसे पिण्ड छूटा । सांसारिकताके संकीर्ण दायरेसे हटकर अब वह संतोषवृत्तिकी ओर लगा । सेवा, कर्तव्य, भगवत्पूजन, निर्द्वन्द्व प्रसन्नतामूलक आशावादी दृष्टिकोण आ गया । धीरे-धीरे उसके शरीर और मनका कायाकल्प हो गया । खोया हुआ स्वास्थ्य और जीवन फिर लौट आया । जो व्यक्ति मौतके मुँहमें प्रतिदिन मरनेकी बाट देख रहा था, उसे नयी जिंदगी मिली, नया यौवन मिला और वह तीस वर्ष और अधिक जीवित रहा । राकफेलरने अपनी इस नयी जिंदगीके मनोरञ्जक संस्मरण लिखे हैं । उनके अनुभवोंमेंसे कुछ कामकी बातें यहाँ दी जाती हैं ।

'मैं धनकी चिन्तासे छूटा तो मुझे नयी जिंदगी मिली। मैंने अनुभव किया है कि धनके असंतोषसे बढ़कर और कोई दुःख नहीं है ।

'मैंने गोल्फ खेलना सीखा, खुली हवामें सुबह-शाम दूर-दूर तक टहलनेकी आदत डाली । प्रकृतिके वातावरणमें रहनेसे मेरी चिन्ता भागी । मैंने अनुभव किया कि शराफतसे जीवित रहनेके लिये मनुष्यको बहुत थोड़े-से पैसोंकी जरूरत है ।

'धन-संचयकी चिन्ता त्यागकर मैंने अपने पास-पड़ोसके साधारण व्यक्तियोंके जीवन तथा व्यक्तिगत समस्याओं, उनके हर्ष-विषाद, दुःख-दर्दमें सहानुभूतिपूर्वक हिस्सा लिया तथा उनके दुःख-दर्द दूर करनेका उपाय किया । नयोंसे मेल-जोल बढ़ाया । इन नये सम्पर्कोंसे मेरी चिन्ताएँ कम हो गयीं ।

'मैंने अपनी सम्पत्तिकी चिन्ता छोड़ दी । मुझे अनुभव हो गया कि जीनेके लिये सुरक्षाकी दृष्टिसे मुझे भविष्यमें कपड़ा, भोजन और सम्मान सदा यों ही मिलता रहेगा। इसलिये मैं प्रतिवर्ष कितना कमाता हूँ और कितना खर्च करता हूँ, इस हानि-लाभके विचारको मैंने त्याग दिया। मैंने अनुभव किया कि धनकी अपेक्षा जीवनमें और भी अधिक मूल्यवान् बहुत-से कार्य करनेके लिये मौजूद हैं।

'कितना धन मैं कमा सकता था, इसकी चिन्ता छोड़कर अब मैं यह सोचने लगा कि मेरा कितना धन गरीबोंके लिये सुख, शान्ति, सेवा, आराम और आनन्द खरीद सकता है। परोपकार और दानमें मैंने करोड़ों रुपया वितरित करना प्रारम्भ किया । अस्पतालों, अनाथालयों और पुस्तकालयोंमें बहुत सहायताएँ कीं । इस प्रकार मेरी नयी जिंदगी शुरू हुई और मुझे शान्त, तृप्त और दीर्घ-जीवन मिला ।'

राकफेलरने जीवनका जो नवनीत निकाला था, वह हमारे ऋषि-मुनि बहुत संक्षेपमें पहले ही इस प्रकार लिख गये हैं—

तृप्त दीर्घ-जीवनके अनमोल उपाय

सर्वंस्त्विन्द्रियलोभेन संकटान्यवगाहते ।
सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥
संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं सुखम् ।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् संतुष्टः सततं भवेत् ॥

(पद्म० सृष्टि० १९ । २५८-२६१)

स्मरण रखिये, मनुष्यकी इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे मनुष्यका मूल्यवान् जीवन संकटमें पड़ जाता है ।

याद रखिये—जिस मनुष्यके हृदयमें संतोष है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है; जिसके पैर जूतेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो चमड़ेसे ढकी हुई है ।

अर्थात् संतोषरूपी अमृतसे तृप्त एवं शान्त चित्तवाले पुरुषोंको जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवाले लोगोंको कहाँ प्राप्त हो सकता है ।

असंतोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है । अतः सुख (और दीर्घ-तृप्त जीवन) चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये ।

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥
यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥
यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व २१ । २–५)

संतोष ही सबसे बड़ा स्वर्ग है । संतोष ही सबसे बड़ा सुख है । संतोषसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है । इस संतोषकी प्रतिष्ठा—स्थिरता निम्नलिखित उपायोंसे होती है—

अर्थात् कछुवेकी भाँति जब सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, तब यह स्वयंप्रकाश आत्मा शीघ्र ही भेददृष्टि-रूप मलको त्यागकर अपने ही स्वरूपमें स्थित हो जाता है ।

जब न तो इसे दूसरेका भय रहता है और न इससे दूसरे भय खाते हैं और जब यह इच्छा और द्वेषको जीत लेता है, तब इसे आत्माका साक्षात्कार होता है ।

जब यह मनसा-वाचा-कर्मणा किसी भी जीवके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीसे राग ही करता है, तब इसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

इन महत्त्वपूर्ण तथ्योंका मर्म समझनेसे कोई भी मौतके मुँहसे बचकर नयी जिंदगी पा सकता है ।

चिन्ता छोड़िये और प्रसन्न रहिये ।

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर हरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

कविताका सृजन कल्पनाकी सहायतासे होता है और कविको यह आशा होती है कि उसका सहृदय पाठक काव्य पढ़ते समय अपनी कल्पनाको जागरूक रक्खेगा । अंग्रेजीमें एक कहावत है कि कवि ही कविको समझ सकता है । यहाँ पाठक-कविका अर्थ ऐसे व्यक्तिसे है जिसकी कल्पना-शक्ति विकसित हो और जो विद्युद्गतिसे तत्क्षण स्थितिका अपनी आँखोंके सामने सजीव चित्र खींचनेमें सशक्त हो । कविता बनाते समय कवि कभी हँसता है, कभी मुस्कुराता है, कभी चुप होकर रुक जाता है । कभी सहानुभूतिसे, कभी घृणासे, कभी क्रोधसे, कभी वेदनासे उसकी लेखनी गति पाती है । कभी वह संकोच-पूर्ण होता है, कभी व्यंग-भरा और कभी आँसुओंका पर्दा डालकर उसकी लेखनी चलती है । कवि यह नहीं बतलाता कि इस स्थानपर यों रुकना है, उस स्थानपर मेरे शब्द यह कहते हैं किंतु अर्थ कुछ और है । कविके भाव उसके शब्दोंमें छिपे रहते हैं, जैसे शान्त सरितामें उसकी सोती हुई लहरियोंका कलकल नाद । यह पाठकका कार्य है, यह उसका धर्म है कि अपनी कल्पना-द्वारा कविके यथोचित भावोंको समझे और उन भावोंका उन परिस्थितियोंके संदर्भमें मूल्याङ्कन करे, उन नाटकीय स्थलोंकी अप्रकट स्थितियोंको सामने लाये, जो कविके शब्दोंमें निहित हैं और जिनको कविने कलाकारके नाते अध-कहा, अध-खिला, अध-प्रकट करके छोड़ दिया ।

महान् कलाकार कविवर तुलसीदासजीकी अनुपम कृति श्रीरामचरितमानसका पूर्ण आनन्द हमें तभी मिलेगा, जब हम अपनी कल्पनाको सजग रखकर उसका सादर पाठ करें । उदाहरणस्वरूप अयोध्याकाण्डका तीसवाँ दोहा लीजिये—

धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे रायँ ।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठायँ ॥

इसका अर्थ टीकाकार यों करते हैं कि 'धर्मकी धुरीको धारण करनेवाले राजा दशरथने धीरज धरकर नेत्र खोले और सिर धुनकर तथा लंबी साँस लेकर इस प्रकार कहा कि इसने मुझे बड़े कुठौर मारा ।' इस अर्थको पढ़नेसे यह लगता है कि राजा दशरथने यह वचन रानी कैकेयीसे कहे; क्योंकि कोपभवनमें उस समय केवल दो ही व्यक्ति थे—राजा और रानी—और अगर राजाने कुछ कहा तो

कैकेयीके अतिरिक्त वहाँ कौन था जिससे वे ये शब्द कहते ? परंतु ऐसी बात नहीं थी । राजा दशरथने ये शब्द कैकेयीसे नहीं कहे । वास्तविक स्थिति जाननेके लिये इस दोहेके बादकी ये चौपाइयाँ पढ़नी आवश्यक हैं—

आगें दीखि जरत रिस भारी । मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई । धरी कूबरीं सान बनाई ॥
लखी महीप कराल कठोरा । सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा ॥
बोले राउ कठिन करि छाती । बानी सबिनय तासु सुहाती ॥

उपर्युक्त दोहे और चौपाइयोंको पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कविवरने राजा दशरथका बोलना चौथी चौपाईमें कहा है—'बोले राउ कठिन करि छाती' । दोहेमें राजाके बोलनेका उल्लेख नहीं है । यदि हम कल्पनाकी सहायता लें तो हम देखते हैं कि राजा दशरथ प्रेमपरिपूर्ण हैं । उन्होंने कैकेयीसे प्रेमपूर्वक कहा—

तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई

और रानीको प्यारसे समझाया । उत्तरमें रानी हँसी और—

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का

कहकर मृदुभावसे कहना आरम्भ किया, जिसको सुनकर राजा दशरथ सहम गये और कुछ बोल न सके—

'गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा'

और

'बिबरन भयउ निपट नरपालू'

और

माथें हाथ मूदि दोउ लोचन । तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन ॥

इसके बाद रानी बोलती गयीं और राजा दशरथ माथे हाथ दिये दोनों आँखें बंद किये सोचमें पड़े रहे । तीसवें दोहेमें वे धैर्य धरकर आँखें खोलते हैं, परंतु बोलते नहीं हैं । आँखें खोलकर वे कैकेयीको देखते रहते हैं । वे देख रहे हैं कि कैसे—

'मनहुँ रोष तरवारि उघारी'

—के समान वे उनके सामने खड़ी हैं । राजा अभी बोलते नहीं हैं । बोलेंगे तो वे चौथी चौपाईमें । अब प्रश्न यह होता है कि 'मारेसि मोहि कुठायँ' उन्होंने कब कहा ?

पहली बात जो इस विषयमें विचारणीय है, वह यह है कि क्या रूठी भामिनीको मनानेके लिये उससे यह कहना कि तूने 'मारेसि मोहि कुठायँ' लोकव्यवहारकी दृष्टिसे नीतिसंगत होगा ? क्या ऐसे उलाहनेसे भामिनीके प्रियतमके प्रति द्रवीभूत होनेकी सम्भावना प्रबल हो सकती है ? कविवर तुलसी स्वयं इस पक्षमें नहीं हैं कि ऐसी परिस्थितिमें रानीको कोई कटु शब्द राजा कहें । तभी तो वे कहते हैं कि यद्यपि रानी कैकेयी इस योग्य नहीं थीं, फिर भी छाती कठिन करके राजा दशरथ उनसे कुछ देर बाद—

'बानी सबिनय तासु सुहाती'

—बोले । इस समय तो नरपाल दशरथका एकमात्र उद्देश्य रानी कैकेयीको प्रसन्न करके अपनेको उनका प्रियतम और विश्वासपात्र सिद्ध करना है । ऐसी अवस्थामें 'मारेसि मोहि कुठायँ' ऐसे कटु शब्द इस दिशामें सहायक नहीं हो सकते हैं । इसलिये यह कहना कि ये शब्द राजा दशरथने रानीको कहे—न नीतिकी दृष्टिसे उचित है, न संदर्भके अनुसार सम्भव है, न कविकी शब्दरचनासे ध्वनित होता है । तब फिर इन शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि ये शब्द राजा दशरथद्वारा बोले नहीं गये । उन्होंने यह रानी कैकेयीसे नहीं कहा । ये शब्द राजा दशरथके मनका भाव हैं जो उनके मनमें ही रहा और जिसे उन्होंने प्रकट नहीं किया । जब 'धरम धुरंधर' कोसलेशने धैर्य धारण करके आँखें खोलीं, तब उनका भाव कैकेयी रानीके प्रति यह था कि इसने विश्वासघात करके 'मारेसि मोहि कुठायँ' । वे ये शब्द बोले नहीं । राजाके मुँहसे ये शब्द निकले नहीं । मनमें उन्होंने ऐसा सोचा । 'हाय ! प्रियतमा होकर, प्राणेश्वरी होकर, हृदयरानी होकर इसने 'मारेसि मोहि कुठायँ !!!' अप्रकट रहकर न बोले जानेपर ये शब्द जैसा तीव्र असर करते हैं, वैसा वे मुँहसे निकलनेपर न करते । भावकी असह्य वेदनाने शब्दोंको मूक बना दिया !

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल शब्दोंके अर्थपर निर्भर करनेसे कविका आशय वैसा शुद्धरूपसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, जैसा कल्पनाकी सहायतासे स्थितिको समझनेके प्रयाससे ।

कभी-कभी स्थितिका पूर्ण विचार न रखनेसे कैसी भूल हो जाती है, इसका उदाहरण अयोध्याकाण्डके ७२वें दोहेमें पाया जाता है । दोहा यह है—

समुझि सुमित्राँ राम सिय रूपु सुसीलु सुभाउ ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ ॥

इसका अर्थ टीकाकारोंने यों किया है कि सुमित्राजीने श्रीरामचन्द्रजी और श्रीसीताजीके रूप, सुन्दर शील और स्वभावको समझकर और उनपर राजा दशरथका प्रेम देखकर अपना सिर पीटा और कहा कि पापिनी कैकेयीने बुरी तरह घात लगाया।

यह प्रसङ्ग लक्ष्मणजीका माँसे विदा माँगनेका है। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि कैकेयी सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीके लिये वैसी ही पूज्य माता है जैसी श्रीरघुनाथजीके लिये। इसलिये सुमित्राजी कैसे अपने पुत्रके सामने उन कैकेयी रानीको पापिनी कह सकती थीं, जिनकी आज्ञा श्रीरघुनाथजीने शिरोधार्य की ? सुमित्राजीका दशरथप्रियतमा रानी कैकेयीको अपने पुत्रके सामने पापिनी कहना अशिष्ट ही नहीं था बल्कि गृहकलहको प्रोत्साहित करना था। बुद्धिमती सुमित्रा रानी अपने प्रिय पुत्रको मर्यादारहित व्यवहारकी शिक्षा देकर लक्ष्मणजीके मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्रके योग्य सेवक बननेकी कैसे आशा कर सकती थीं ? एक बात तो यह हुई कि सुमित्राजीका रानी कैकेयीको पापिनी कहना अयोग्य और अनुचित है। दूसरी बात यह है कि सुमित्राजी तो बिल्कुल बोलीं ही नहीं, जैसा इस दोहेके पढ़नेसे स्पष्ट होता है, यद्यपि टीकाकार इस दोहेका अर्थ करते हुए कहते हैं कि सुमित्राजीने कहा कि पापिनी कैकेयीने बुरी तरह घात लगाया।

नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु पापिनि दीन्ह कुदाउ ॥

—कविवरके इन शब्दोंसे यह बात नहीं झलकती कि सुमित्राजीने कुछ कहा या वे मुँहसे कुछ बोली हों। सुमित्राजी बोलीं अवश्य, किंतु उनका बोलना इस दोहेमें नहीं पाया जाता। वे इसके बादवाली चौपाईमें बोलती हैं—

धीरजु धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदु बानी ॥

तब फिर 'पापिनि दीन्ह कुदाउ' का रहस्य क्या है ? इन शब्दोंको यदि सुमित्राजीने लक्ष्मणजीके प्रति मुँहसे नहीं निकाला तो ये शब्द कौन बोला और किससे बोला ?

यदि हम वास्तविक स्थितिको कल्पनाद्वारा अपने सामने सजीव करें तो हम देखते हैं कि लक्ष्मणजी अपनी जननीके सामने खड़े हैं। उन्होंने माँसे सब कथा विशेषरूपसे अर्थात् सविस्तर कह दी है। सुमित्राजी इस कथाको सुनकर सहम गयीं। लक्ष्मणजी समझते हैं कि उनकी माता पुत्र-प्रेमवश स्तब्ध हैं और अब ईश्वर जाने श्रीरघुनाथजीके साथ वनगमनकी आज्ञा देंगी या नहीं।

लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहिं सनेह बस करब अकाजू ॥

परंतु सत्य कुछ और है। कर्णकटु हृदयविदारक कथा सुनकर सुमित्राजी सहम गयी हैं। राजा दशरथका कैकेयीके प्रति अगाध प्रेम और रानीका विश्वासघात, 'प्रान प्रान के जीवन जी के' श्रीरघुनाथजीका श्रीजनकललीके साथ वनगमन, मार्गमें लोगोंके इस प्रकार धिक्कारनेका भय कि—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥

—राजा दशरथका सोच, जिनका 'जीवनु राम दरस आधीना' था—ये सब विचार सुमित्राजीके मनमें आये और परिणाम सोचकर वे सहम गयीं। उन्होंने सिर पीटा और मन-ही-मन सोचा 'पापिनि दीन्ह कुदाउ'! परंतु उन्होंने लक्ष्मणजीसे यह अपने मनकी बात कही नहीं। यद्यपि टीकाएँ यही कहती हैं कि उन्होंने लक्ष्मणजीसे ऐसा कहा। प्रिय पुत्र लक्ष्मणजीसे तो वे बड़ा धैर्य धारण करके मीठी वाणीसे बोलीं—

जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥

……………………………………………

अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह कहना भूल है कि सुमित्राजीने लक्ष्मणजीसे कहा 'पापिनि दीन्ह कुदाउ'। ये शब्द रानी सुमित्राजीके आन्तरिक भावके द्योतक हैं। यह सुमित्राजीके ऊपर लक्ष्मणजीके राम-वनगमन-कथाकी प्रतिक्रिया थी, जो संयमद्वारा सुमित्राजीने प्रकट नहीं होने दी।

पाठककी कल्पना किस प्रकार स्थितिकी सजीव तस्वीर खींचकर अर्थको पूर्ण कर देती है। इसका एक और उदाहरण देखिये—स्थान कोपभवन; पात्र राजा दशरथ और रानी कैकेयी। कविवर कहते हैं—

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर ॥

यह अयोध्याकाण्डका २५ वाँ सोरठा है। इसका अर्थ टीकाएँ इस प्रकार करती हैं कि राजा बार-बार कह रहे हैं—हे सुमुखी ! हे सुलोचनी ! हे कोकिलबयनी ! हे गजगामिनी ! मुझे अपने क्रोधका कारण सुना।

यह अर्थ देखकर ऐसा लगता है जैसे राजा दशरथ रानी कैकेयीके पास लिखित 'पेटिशन'—प्रार्थनापत्र—लेकर

गये हों और जिस प्रकार आजकल मानपत्र पढ़े जाते हैं उन्होंने उस प्रकार उसे पढ़कर सुना दिया कि हे सुमुखी, सुलोचनी, कोकिलबयनी गजगामिनी देवीजी ! मुझे अपने क्रोधका कारण सुनाओ ।

यदि यह गद्यांश होता तो कदाचित् इस प्रकार अर्थ करनेमें हानि न होती । परंतु यह पद्य है; ये कविके शब्द हैं, जो कुछ कहता है, कुछ अन-कहा छोड़ देता है । कविका संसार संकेत-भरा संसार है । कविके शब्दोंमें संकेतकी भाषा छिपी रहती है—जैसे मानव-हृदयमें समवेदना । यदि समवेदना नहीं है तो वह हृदय मानव-हृदय नहीं है । जिस भाषामें संकेत नहीं है, वह भाषा है; परंतु कविकी वाणी नहीं है । कविकी बात समझनेके लिये कल्पनाकी सहायता चाहिये । बिना कल्पनाके हम शब्दोंका अर्थ समझ सकते हैं, परंतु कल्पनाकी सहायतासे हम कविका अर्थ समझ पाते हैं । प्रस्तुत प्रसङ्गमें यदि हम कल्पनाकी सहायता लें तो हम देखेंगे कि राजा दशरथ रानीको समझा रहे हैं । रानी प्राणप्रिया हैं किंतु रूठी हैं, राजाका भाव है—

मनु तव आनन चंद चकोरू ।

राजा प्रियतम हैं, प्राणनाथ हैं । वे प्रेमभरे नयनोंसे रानीकी ओर देख रहे हैं । वे सोचते हैं कि कैसा सुन्दर है यह मुखड़ा जो रूठकर भी मनहर लगता है । ऐसा सुन्दर मुखड़ा तो और कहीं देखा नहीं—जिसे बरसों देखा, फिर भी नया लगता है । राजा बड़े प्रेमसे सुकोमल वाणीसे कहते हैं—

सुमुखि, कारन मोहि सुनाउ निज कोप कर ।

लेकिन रूठी रानी नहीं बोलती । वह कैसी सुन्दर है, यह वह जानती है । अपने सुन्दर मुखड़ेकी प्रशंसा सुननेकी उसे आदत-सी पड़ गयी है । नित्य सुनती है, तरह-तरहसे सुनती है । इस प्रशंसासे उसका दिल न पिघला ।

राजाकी आँखें रानीके मुखपर लगी हैं । 'मनु तव आनन चंद चकोरू ।' वे सोचते हैं कि इस सुमुखीकी आँखें कैसी हैं ! कैसी मानभरी, कैसी रंगभरी !!! लेकिन आज तो यह सीधी देखती ही नहीं है । राजा बड़े प्रेमसे सुकोमल वाणीसे कहते हैं—

सुलोचनि, निज कोप कर कारन मोहि सुनाउ ।

राजाने सोचा कि रानीकी आँखें सम्भवतः अपनी प्रशंसा सुनकर राजाकी ओर देखें । लेकिन ऐसा न हुआ । रानी सयानी हैं, यों बातोंमें आनेवाली नहीं हैं । कोपभवनमें वे कुछ ठानकर आयी हैं ।

राजा दशरथ बहुत दुखी हैं । हाथसे अपनेको रानी छूने भी नहीं देतीं । 'परसत पानि पतिहि नेवारई ।' सरोष हैं, क्रोधसे भरी हैं । मान नहीं रही हैं । चुप हैं । कुछ बोलें तो राजा उन्हें समझावें भी । पाषाणमूर्तिको कोई कैसे समझावे ? दुखी राजा बड़े प्रेमसे सुकोमल वाणीसे फिर कहते हैं—

पिकबचनि, मोहि निज कोप कर कारन सुनाउ ।

परंतु रानी नहीं बोलतीं !! राजा दशरथका दुःख बढ़ता जाता है । ऐसी सुन्दर रानी—और यह कठोर कोपभवन !! फूल-सा कोमल शरीर, जो पलंगपर गुदगुदे गद्दोंपर लेटनेके लिये विधाताने बनाया है, आज कठोर भूमिपर पड़ा है !! जिस सुन्दर शरीरके लिये कलाकारोंने आभूषण सोच-सोचकर बनाये थे, वह आभूषणहीन है । हल्के, कोमल रंग-रंगके सुन्दर वस्त्रोंसे सजनेवाला सुन्दर शरीर आज फटे-मोटे वस्त्रोंमें लिपटा पड़ा है ।

भूमि सयन पटु मोट पुराना । दिए डारि तन भूषन नाना ।

राजा दशरथ बहुत दुखी हैं । वे फिर बड़े प्रेमसे सुकोमल वाणीसे कहते हैं—

कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर ।

इस प्रकार राजाने रानी कैकेयीको कभी सुमुखी कहकर, कभी सुलोचनी कहकर, कभी पिकबयनी कहकर, कभी गजगामिनी कहकर उनके रूठनेका कारण पूछा । एक ही बार चारों विशेषण लगाकर एक वाक्यमें प्रश्न नहीं कर दिया । यही ध्वनि कविवरके 'बार-बार कह राउ' शब्दोंसे निकलती है ।

सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि ।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर ॥

इन शब्दोंको बोलनेमें दस सेकंड लगते हैं । क्या कहीं दस सेकंडोंमें सरोष रानी, रूठी रानी मनायी जा सकती है ! ऐसी बात नहीं है । कविने ये शब्द लिखकर यह भी आशा की कि पाठककी कल्पना ऐसी जागरूक होगी कि उनके सहायतासे वह पूरे दृश्यको सजीव कर सकेगा, जिसका संकेत कविने अपने शब्दोंमें किया है ।

एक और उदाहरण लीजिये—

आशुतोष प्रभु चन्द्रमौलि दूलह बनकर हिमाचलके यहाँ पधारे हैं। परंतु 'जड़ बरु बाउर' देखकर गिरिनारी विलाप करने लगती हैं। वे कहती हैं—

नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥
अस उपदेसु उमहि जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा॥
साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥
पर घर घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥

ये चार चौपाइयाँ हैं और अधिकतर लोग इनको एक साथ पढ़ डालते हैं और इसका अर्थ उसी प्रकार एक साथ लगा देते हैं। परंतु यहाँ भी कल्पनाकी सहायतासे स्थिति समझनेका प्रयास आवश्यक है। मैना दुखी हैं। रो रही हैं। कैसा पागल आधा-नंगा दूलह आया! क्या आशा थी और क्या हुआ!!! वे अपनी अत्यन्त सुन्दर सुकुमार कन्या पार्वतीको गले लगाकर बिलख-बिलखकर रो रही हैं। क्या ऐसे 'जड़ बरु बाउर' के लिये ही पार्वतीने 'अतुल तप भारी' किया था!! रोते-रोते मैना कहती हैं—

नारद कर मैं काह बिगारा।

जब नारद आये थे तब हिमाचलने उनका कैसा स्वागत किया था, उनके चरणोंमें मैनाने सिर नवाया था, "चरन सलिल सबु भवन सिंचावा' और उन्होंने, हाय! मुनि होकर, संत होकर—

भवन मोर जिन्ह बसत उजारा॥

यह कहते हुए मैना फूट-फूटकर रोती हैं। हिचकी बँध जाती है और बोल नहीं सकतीं। आँसू बह रहे हैं। उन्हें पोंछती जाती हैं। फिर कुछ तबियत सँभलती है तो कहती हैं—

अस उपदेस उमहि जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहि लागि तपु कीन्हा॥

बिचारी सीधी-सादी भोली उमा!! क्या उसकी मति नारदने फेर दी! मैनाके आँसुओंकी धारा फिर फूट निकलती है। वर बौराह—उन्मादग्रस्त है, इस स्मृतिसे उनका दिल टूट जाता है। आँसुओंकी अटूट धाराएँ बह चलती हैं। पार्वतीको देखकर उनको यह तीर-सा लगता है कि—

कस कीन्ह बर बौराह बिधि जेहिं तुम्हहि सुंदरता दई।

और वह पार्वतीको गलेसे लगाये फूट-फूटकर रोने लगती हैं। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है। वे बोल नहीं पातीं। रोती रहती हैं, रोती रहती हैं। फिर कुछ देर बाद उनके मुँहसे निकलता है—

साचेहुँ उन्ह कें मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥

और हिचकियाँ लेती हुई वे कहती हैं—

पर घर घालक लाज न भीरा।

और फिर दुःखसे तड़पकर बोलती हैं—

बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा।

यह कहकर उनके दुःखका अन्त नहीं रहता।

मैनाका रोना, उनकी अटूट अश्रुधारा, उनका हिचकियाँ भरना, उनका अवरुद्ध कण्ठ, उनका 'बरु बौराह' की याद करके सुकुमारी पार्वतीको देखकर हृदयविदारक दुखकी विकलताका चित्र कल्पना ही खींच सकती है और इसी कल्पनाके द्वारा इन चौपाइयोंका ठीक अर्थ समझमें आता है।

कभी-कभी कविवर तुलसीके शब्दोंमें अकारण पुनरावृत्ति दिखायी देती है और आश्चर्य होता है कि तुलसी-ऐसे महान् कलाकार शब्दोंका व्यर्थ प्रयोग करें, जैसे कोई रत्नोंका बिना मूल्य समझे उन्हें सड़कपर फेंक दे। उदाहरण लीजिये। कथा किष्किन्धाकाण्डकी है—

'रघुपतिप्रियभक्तम्' मारुतसुतके माध्यमसे श्रीरामसुग्रीव-मिताई हो गयी है।

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाषा॥
कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी॥
मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥
गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥
राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥
मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

जब सुग्रीवने ऐसा विश्वास दिलाया कि वे सब प्रकारसे करुणानिधानकी ऐसी सेवा करेंगे कि 'प्रभुको कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ेगा और जैसे अनायास जानकीजी हर ली गयी थीं, वैसे ही वे स्वयं प्रभुके पास आ जायँगी' तब श्रीरघुनाथजीका धर्म था कि वे सुग्रीवसे उसके दुःखका कारण पूछकर इसके निवारणार्थ कुछ आश्वासन कपिपतिको देते। सखाधर्म तो यही बतलाता है। अतएव प्रभु पूछते हैं—

सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव॥

अब यहाँ विचारणीय यह है कि 'कारन कवन बसहु बन' प्रभुका प्रश्न है । 'तुम किस कारण वनमें रहते हो ?' यह पूरा प्रश्न है । प्रश्न करनेवाला उत्तरकी प्रतीक्षामें है । उत्तर इस प्रश्नकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है । यदि कोई व्यक्ति असमय हमारे यहाँ आये तो हम उससे पूछते हैं, 'कहो, भाई, कैसे आये ?' जिसके उत्तरमें वह अपना हाल-चाल हमें बतलाता है । हमारा प्रश्न होता है, 'कैसे आये ?', जिसका अर्थ होता है कि तुम कैसे आये, यह हमको बतलाओ । हम यह तो प्रश्न नहीं करते कि 'तुम कैसे आये, इसका उत्तर हमको दो ।' जब विद्यार्थी कक्षामें देरसे पहुँचता है तो अध्यापक पूछते हैं, 'तुम देरसे क्यों आये ?' ऐसा प्रश्न तो अध्यापक नहीं करते हैं कि 'तुम देरसे क्यों आये, इसका उत्तर तुम हमको दो, जो तुमसे यह प्रश्न कर रहे हैं ।' 'कैसे आये ?' या 'तुम देरसे क्यों आये ?'—ऐसे प्रश्नोंमें यह वाक्य छुपा हुआ है कि 'इसका उत्तर मुझको दो ।' प्रश्न करनेमें ही यह भाव आ गया । इसलिये जब प्रभुने सुग्रीवसे पूछा 'कारन कवन बसहु बन?' तो इस प्रश्नमें यह बात सांकेतिकरूपसे छुपी हुई थी कि 'मोहि कहहु सुग्रीव ।' प्रश्न जब श्रीराघवेन्द्रका है तो उत्तर इसका उनको ही तो दिया जायगा । 'मोहि कहहु सुग्रीव' का अनावश्यक प्रयोग क्यों हुआ ?

इसका समाधान करनेके लिये कल्पनाकी सहायतासे वास्तविक स्थिति हमें अपनी आँखोंके सामने लानी पड़ेगी । यहाँ श्रीरघुनाथजी हैं, सुग्रीव हैं, लक्ष्मणजी हैं और मारुतसुत हैं । हनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजी और कपिपतिकी 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' । इसके बाद लक्ष्मणजीने सब रामचरित कहा, जिसे सुनकर सुग्रीवकी आँखें भर आयीं । राम-कथा सुननेके प्रतिक्रियास्वरूप सुग्रीवकी आँखोंमें आँसू भर आये, जिससे यह प्रतिध्वनित हुआ कि वे प्रभुके सच्चे सखा हैं; क्योंकि वे मित्रका दुःख सुनकर दुखी हुए । उन्होंने श्रीजानकीजीका वस्त्र लाकर करुणानिधानको दिया, जिसे गले लगाकर प्रभुने ऐसा विरह-नाटक किया कि सुग्रीवको बहुत दुःख हुआ और श्रीरघुनाथजीको सान्त्वना देते हुए उन्होंने यह विश्वास प्रभुको दिया कि 'उनसे श्रीजानकीजी स्वयं आ मिलेंगी ।' इस प्रकार दो बार सुग्रीवने अपनी सच्ची मित्रताका प्रमाण दिया । अब प्रभुने अपने सखाका दुःख पूछा ।

कारन कवन बसहु बन—

श्रीरघुनाथजीका यह प्रश्न है । परंतु सुग्रीव चुप रहे । कुछ उत्तर न दिया । मारे लाजके चुप रहे । क्या कहते कि बड़े भाईने 'हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी'। 'हरि लीन्हेसि सर्बसु' तक तो फिर भी सह्य था; परंतु 'अरु नारी' से तो नाक क गयी । कपिपति संकोचवश चुप रहे । अन्तर्यामी प्रभु उनकी ओर कृपादृष्टिसे देख रहे हैं । वे समझ गये कि सुग्रीवको कुछ संकोच है, जिसके कारण वे चुप हैं । जब कपिपति कुछ देरतक नहीं बोले, तब प्रभुने प्रश्न दोहराया—

मोहि कहहु सुग्रीव ।

'मुझसे कहो, हे सुग्रीव !' मुझसे—'मोहि' पर यहाँ ज़ है । 'मोहि' कौन ? जिनकी मित्रताके साक्षी स्वयं अग्निदेव हैं, जिनके अलौकिक चरित्रको स्पष्टरूपसे लक्ष्मणजीने कहा था, जिनसे पूर्णरूपसे हनुमान्‌जीने 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' थी और जिनसे सुग्रीवने 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।' जिन श्रीरघुनाथजीको देखकर सुग्रीवको ऐसा लगा कि यह 'कृपासिन्धु' और 'बलसींव' हैं—ऐसे 'मोहि' से सखा सुग्रीव सब बात कहो । सहानुभूति और प्रेमपूर्वक प्रश्नकी पुनरावृत्तिसे—दूसरे बार प्रश्न नाम लेकर करना प्रेम-सूचक है—कपिपतिको प्रभुकी समवेदना और सहायतामें विश्वास उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने संकोच त्यागकर श्रीरघुनाथजीको अपना दुःखपूर्ण वृत्तान्त सुनाया । कपिपतिने दो बार करुणानिधानके प्रति अपनी सच्ची मित्रताका प्रमाण दिया था । प्रभुने भी दो बार प्रश्न करके सुग्रीवके प्रति अपनी सहानुभूति दिखायी । यदि हम इस पूरी पंक्ति—कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव—का एक साथ अर्थ करें तो कपिपतिकी मनोवैज्ञानिक स्थिति हमारी आँखोंके सामने नहीं आती और न प्रश्नकी पुनरावृत्तिका समाधान मिलता है ।

इसी प्रकारका एक और उदाहरण लीजिये । कवि कहते हैं—

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी । मूरतिमंत तपस्या जैसी ।
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी । करहु कवन कारन तपु भारी ।
केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू । हम सन सत्य मरमु किन कहहू ।

इनका अर्थ टीकाओंमें इस प्रकार दिया है कि 'ऋषियोंने पार्वतीजीको कैसी देखा मानो मूर्त्तिमान् तपस्या ही हों । ऋ बोले—हे शैलकुमारी ! सुनो, तुम किस लिये इतना कठोर तप कर रही हो ? तुम किसकी आराधना करती हो और क्या चाहती हो ? हमसे अपना सच्चा भेद क्यों नहीं कहतीं ?' चौपाइयाँ सरल हैं; परंतु यदि हम इनका ठीक अर्थ सम

चाहते हैं तो हमारे लिये कल्पनाकी सहायतासे वास्तविक स्थितिकी तस्वीर खींचना अत्यन्त आवश्यक है ।

जब शंकरभगवान्‌के पास सप्त ऋषि पहुँचे, तब उन्होंने पार्वतीजीकी प्रेमपरीक्षाके लिये इन महात्माओंको भेजा । ये महात्मा हवाईजहाजमें बैठकर भड़भड़ करते हुए नहीं आये, न मोटरमें बैठकर जोरोंसे होर्न बजाकर पों-पों करते आये, वे खड़ाऊँ पहनकर खट-खट करते हुए भी नहीं आये । वे चुपकेसे आये, आहिस्तासे आये, धीमे-धीमे आये, आदर-पूर्वक आये । वे तपस्विनी, अनन्त-प्रेम-अम्बुधि-मग्ना पार्वती-जीका ध्यान खट-खट करके भग्न करना नहीं चाहते थे । सप्तऋषि इतने धीमे और आहिस्तासे आये, इतना आदर-सहित आये कि कविवर तुलसीको उनके आनेकी आहटतक नहीं मिली । इसीलिये कविवरने सप्तऋषियोंका आना स्पष्ट नहीं किया । सप्तऋषि जब वहाँ पहुँचे, उन्होंने देखा कि चारों ओर सन्नाटा है । एक अत्यन्त गम्भीर शान्ति है और प्रेममग्ना पार्वतीजी मूरतिवंत तपस्या बनी बैठी हैं और उनकी तपस्यासे वहाँका वातावरण प्रेम-रस-विभोर हो रहा है । उनका यह स्वरूप उस घनी शान्तिमें देखकर महात्मा लोग स्तब्ध हो गये और थोड़ी देरतक उनके मुँहसे कोई शब्द न निकला । फिर महादेव शंकरभगवान्‌का आदेश उन्हें याद आया और वे सप्रेम, सादर, मधुर स्वरमें धीरेसे बोले—

सुनु सैलकुमारी,

कुछ देर बाद पार्वतीजीने आँखें खोलीं । थोड़े समयतक सप्तऋषि उन्हें सादर देखते रहे; क्योंकि पार्वतीजी विशेष प्रकारसे सुकुमार थीं ।

अति सुकुमार न तनु तप जोगू ।

परंतु इतनी सुकुमार होते हुए भी उन्होंने ऐसी तपस्या की थी कि आकाशवाणीने कहा—

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी । भए अनेक धीर मुनि ग्यानी ॥

ऐसी अनुपम तपस्यारत पार्वतीजीको ये महात्मा लोग सादर देखते ही रहे । फिर उन्होंने मधुर स्वरसे पूछा ।

करहु कवन कारन तपु भारी ।

यह प्रश्न करके महात्मालोग चुप हो गये । परंतु पार्वतीजीने कुछ उत्तर नहीं दिया । अभी तपस्याका खुमार बाकी था । वे ठीक प्रकारसे वर्तमानमें नहीं आयी थीं । फिर कुछ क्षण पश्चात् ऋषियोंने पूछा—

केहि अवराधहु—

पार्वतीजी चुप थीं । वे क्या उत्तर देतीं ? वे अपने निजके उत्तराङ्गकी आराधनामें थीं, शिवा शिवस्वरूपा हो रही थीं—क्या उत्तर देतीं ? पार्वतीजी चुप थीं । प्रश्नकर्त्ता ऋषि थे, द्रष्टा थे । वे देखकर स्वयं समझ सकते थे । वे पार्वतीजीसे कहलवाना क्यों चाहते थे ? इनकी तपस्याकी कथा विश्व-विख्यात थी । पार्वतीजी कुछ न बोलीं । सप्तऋषियोंने एक बार फिर पूछा—

का तुम्ह चहहू,

किसकी आराधना है और किस लाभार्थ ? आखिर ये महात्मालोग प्रेम-परीक्षा जो ले रहे थे । ये पार्वतीजीके मौनसे कैसे संतुष्ट हो जाते ?

परंतु पार्वतीजीने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया । उत्तर क्या देतीं ? कोई चाह थी ही नहीं । अकाम शिवकी आराधनामें कामना कैसी ? पार्वतीजीको यह प्रश्न निरर्थक लगा । वे चुप रहीं । सप्तऋषियोंने तीन प्रश्न किये । ऐसा भारी तप क्यों, किसकी आराधनामें और किस लाभार्थ कर रही हो—ये प्रश्न थे; परंतु तपस्यासे जगी पार्वतीजी चुप थीं । अब महात्मालोगोंसे न रहा गया । जिस प्रेमपरीक्षा-कार्यके कारण वे आये थे, वह ठीकसे पूरा नहीं हो रहा था । अतएव उन्होंने फिर पूछा—

हम सन सत्य मरमु किन कहहू ।

‘हमसे’—यहाँ ‘हम’ पर विशेष बल है—सत्य मर्म क्यों नहीं कहती हो ? ‘हम’ कौन ? निष्काम संत—

संत सरल चित जगत हित,

जो लोक-कल्याणार्थ जीवन व्यतीत करते हैं, जिनका सबके प्रति सम भाव है । हे पार्वती ! तुम ऐसोंसे अपना ‘मरमु’—अपनी गुप्त बात क्यों नहीं कहतीं ? जब इन महात्माओंने ‘हम’ पर विशेष बल देकर प्रश्न पूछा, तब पार्वतीजीको इस बातका ध्यान आया कि उनके सामने जगत्‌-वन्द्य ऋषि खड़े हैं और वे प्रश्न प्रेमपूर्वक पूछ रहे हैं और यह चुप हैं । बराबर प्रश्न सप्रेम पूछनेपर उत्तर न देना अभिमानसूचक अथवा निरादरसूचक है । और फिर ये तो साधुलोग ठहरे—

साधु ते होइ न कारज हानी ।

तब पार्वतीजीने बहुत सकुचाते हुए उत्तर दिया।

इस स्थलकी चौपाइयोंको यदि हम एकके बाद दूसरी पढ़ डालें और एक ही प्रवाहमें उनका अर्थ कर डालें परंतु कल्पनाकी सहायतासे स्थितिका चित्र अपने सामने न खींचें तो हमको इस प्रसङ्गका न नाटकीय मूल्य (ड्रमैटिक वैल्युएशन) समझमें आयेगा, न इस प्रसङ्गके इन्द्रधनुषके समान क्षण-क्षण बदलते भावोंका आनन्द मिलेगा। जैसा प्रारम्भमें कहा था—एक कविको कवि ही भलीभाँति समझ सकता है इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीकी रचनाके अर्थ, भाव और रस समझनेके वास्ते हमें सुसंस्कृत कल्पनाकी सहायता लेना अनिवार्य है; क्योंकि तुलसी भक्तराज ही नहीं थे, वे एक अलौकिक कलाकार थे।

* * *

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ९८३ से आगे]

(५६)

बिछुड़कर माधवसे हो गयी
मनसुखा बीरन ! दशा विचित्र।
बदलते रहते पल-छिन हाय !
हृदय-पटपर भावोंके चित्र॥
कभी लगता है—जैसे देख
मुझे हँसती है सारी सृष्टि।
और फिर ऐसा लगता कभी,
कर रही है आँसूकी वृष्टि॥
हँसाते कभी, रुलाते कभी,
विहँसते मुरझाते-से फूल।
विकल करती है जिनकी चुभन,
कभी प्यारे लगते वे शूल॥
कभी लगती है इतनी मधुर
विरहकी दहकी-दहकी आग।
कि जिसमें डूबी-डूबी साँस
बढ़ाया करती है अनुराग॥
और फिर कभी जहर-से लगें
उसीके लाल-लाल अङ्गार।
सजाते जब स्वासोंको पुलक,
मिलनके स्वप्न, बने शृङ्गार॥

(५७)

झूमता है मेरा हर रोम,
कभी जब बनता ऐसा चित्र।
कि जैसे घूम रहा है संग,
मनसुखा भैया ! तेरा मित्र॥
और फिर हाय ! नहीं जब पास
दीखता है वह जीवनमूर।
भटकते रहते व्याकुल नैन
क्षितिज-सीमाओंमें अति दूर॥
कभी काटा करती है कुञ्ज,
कभी मिलता उनमें आवास।
कभी भरती उरमें उन्माद,
कभी तड़पाती है बरसात॥
कभी ये काले-काले मेघ
मिलनके सुखका देते स्वाद।
कभी भरते प्राणोंमें व्यथित
विरहकी पीड़ाका अवसाद॥
हाय ! यह आँखमिचौनी नहीं
कभी क्या हो पायेगी बंद।
सतायेंगे कबतक यों, अरे !
बिछुड़ने-मिलनेके ये छन्द॥

(५८)

किंतु जिस दिन था मैंने तुम्हें
निहारा कालिन्दीमें, भ्रात !।
बढ़ रहा है तबसे हर समय
विकल पीड़ाओंका उत्पात॥
सुहाता नहीं लुभाता प्रात,
रिझाती नहीं सिंदूरी साँझ।
नहीं पाती हूँ लाखों जगह
छिदे-टूटे इस मनको राँझ॥

बनाते हैं अब वे सब स्थान
हृदयमें गहरे-गहरे घाव ।
जलाते हैं मेरा हर रोम
मिलनके खट्टे-मीठे भाव ॥
आँख भर देखा जाता नहीं
हाय ! अब नंदगाँवकी ओर ।
उठाते ही ऊपरको पलक
छलक पड़ती है भर-भर कोर ॥
गिरी है ऐसी बिजली, अरे !
राखकी ढेरी हुआ शरीर ।
न देता निमिष मात्र भी साथ,
मनसुखा बीरन ! मेरा धीर ॥

(५९)

मनायेगा अब मुझको कौन,
करूँगी अब मैं किससे मान ।
सोचते ही दुखसागर मध्य
डूब जाता मेरा सुख-यान ॥
बुलायेगा अब कोई नहीं
मिलन-रसमें हो प्रेमविभोर ।
टीसता है कर-कर यों याद,
मनसुखे भैया ! दर्द अछोर ॥
सुनायी नहीं पड़ेगी, हाय !
अरे, अब मुरलीकी मधु टेर ।
घूमते ही मनमें यह बात,
गिरे बिजली-सी लाखों बेर ॥
हो गये हैं पर इतने वज्र,
मनसुखा बीरन ! मेरे प्रान ।
तड़पते, घुटते, पिसते रहें—
न पर चाहें निष्ठुर अवसान ॥
दीखती नहीं पल्लवित हाय !
हृदय-काननकी कोई डाल ।
कर गया जबसे वज्र-निपात,
मनसुखे ! तेरा प्रिय गोपाल ॥

(६०)

जगाता नहीं हाय ! अब कोइ
अमृत-सा घोल' बड़े ही भोर ।
सालती है प्राणोंको हाय !
प्रात अब विहगवृन्दकी रोर ॥
सजायेगा भी कोई नहीं,
अरे ! कर पुष्पोंसे शृङ्गार ।
जानकर चुभें शूल-से हाय !
वस्त्र-भूषणके प्रिय अंबार ॥
मिलेगा नहीं हाय ! अब कभी
मधुर मीठे करका सुस्पर्श ।
समझ निश्चित, मेरा हर अङ्ग
छटपटा रह जाता है तरस ॥
न होंगे क्या अब भैया ! कभी
निठुर उस मनमोहनके दरस ।
देख तो, मेरे आकुल नैन
रहे हैं कबसे रिमझिम बरस ॥
न जाने कैसे काले अङ्क
लिखे विधनाने मेरे भाल !
ले गया लूट सभी सुख-चैन,
मनसुखा ! तेरा प्रिय गोपाल ॥

(६१)

एक दिन बढ़ी अमित जब पीर,
गयी मैं भैया ! सेवाकुञ्ज ।
वहाँ भी मिला निगोड़ा हाय !
विरहका दहका-दहका पुञ्ज ॥
तड़पती थी हर व्याकुल बेल,
सिसकता था हर लता-वितान ।
छिन गयी थी अधरोंसे हाय !
मधुर वल्लरियोंकी मुसकान ॥
न पूछो अब उस स्थलका हाल,
राससे जब-तब होकर श्रान्त ।
विगतश्रम होते सबके साथ—
श्याम था हा ! कितना उद्भ्रान्त ॥
पीरकी व्यथा-भरी-सी हूक
रही थी पात-पातसे फूट ।
हाय ! उन सबको ऐसे देख,
गया मेरा सब धीरज छूट ॥
वहीं उस श्याम-कुञ्जके निकट
गिरी मैं हो बेसुध, बेहाल ।
न पिघला फिर भी निर्दय हाय !
मनसुखा ! तेरा प्रिय गोपाल ॥

(६२)
खोजती फिरती मुझको वहाँ
तभी यह ललिता पहुँची आय ।
बँधाती थी रो-रोकर धीर,
स्वयं भर-भर अति गहरी हाय ॥
पहुँच उस नीरकुंडके निकट
लगीं हम होने पुनः अचेत ।
श्यामने बनवाया था जिसे,
हाय ! उस प्रिय ललिताके हेत ॥
सलिलकी सहलाता था पीर,
लहरका व्याकुल कलकल-गान ।
विलखता था सूनापन भरे,
प्राणमें जिसका हर सोपान ॥
रुदन हम दोनों करती रहीं
वहाँपर बड़ी देरतक बैठ ।
रहा था जैसे कोई हाय !
कलेजा भीतर-भीतर ऐंठ ॥
समझ तुझको अपना-सा दुखी
सुना बैठी हूँ भैया ! हाल ।
भर गया है नस-नसमें पीर,
मनसुखा ! तेरा प्रिय गोपाल ॥

(६३)
कामबन, निधिबन, मधुबन—सभी
जलाते हैं, बस, इसी प्रकार ।
निकलते हैं हा ! फिर भी नहीं,
अरे इन प्राणोंको धिक्कार ॥
कृष्णके जाते ही ये हाय !
गये क्यों नहीं निकल भर हूक ?
बिछुड़ते ही मोहनके अरे,
बिलखकर हुए न क्यों सौ टूक ? ॥
अभागे पाते कल पल-निमिष
न, जलते रहते हैं दिन-रात ।
एक ही धुनमें रहते मग्न,
न सुनते और किसीकी बात ॥
बसाये बैठे हैं चुपचाप,
न जाने पागल कैसा मोह !
सतानेपर भी जिनको हाय !
मधुर लगता है विषम विछोह ॥
समझ बैठे हैं शायद, अरे—
कभी तो आयेंगे नंदलाल ।
निठुर हैं इतने नहीं कदापि,
हाय ! वह प्रिय कोमल गोपाल ॥

(६४)
मनसुखे ! यही आशाका तन्तु
बना है स्वासोंका आधार ।
नहीं तो अबतक कबकी छोड़
भाग जातीं तन-कारागार ॥
और फिर मैं ही तो हूँ नहीं
अकेली व्रजमें अधिक अधीर ।
यशोदा मैया भी तो नहीं
सह रही होंगी कुछ कम पीर ॥
सुना है वे तो निशिदिन तड़प
भरा करती हैं ऐसी हाय ।
जिस तरह डकराती है, अरे !
बिछुड़ बछड़ेसे कोई गाय ॥
कई दिन सोचा है धर धीर,
चली जाऊँ भैया ! नँदगाँव ।
बिलखती उस मैयाके अरे,
एक दिन तो छू आऊँ पाँव ॥
किंतु लखते ही घरका द्वार
विवश गिरती हूँ हुई निढाल ।
मिलूँगी कैसे उससे, हाय !
छुटा जिसकी गोदीका लाल ॥

(६५)
देख मुझको माधवके साथ
पैर धरते ही घरके द्वार ।
झूम सुखसे, छातीसे लगा,
प्यार करती रह-रह पुचकार ॥
मलाई-माखन-मिश्री हाय !
खिलाती जो कर-कर मनुहार ।
निरखती हम दोनोंकी ओर,
बलैयाँ लेती सौ-सौ बार ॥
हाय ! उस माँका टूटा हृदय,
नयनके आँसूकी जलधार ।
फटी छातीके अब गिन टूक,
प्राणकी पीड़ाओंका ज्वार ॥

विलखते अधर, काँपते चरण,
थरथराते हाथोंकी पीर ।
हाय ! उस करुणमूर्तिको देख
रख सकूँगी मैं कैसे धीर ॥
न जाने देते मुझको वहाँ,
मनसुखा भैया ! ऐसे ख्याल ।
कर गया है हा ! कितना विवश
कृष्ण केशव माधव गोपाल ॥

(६६)

हाय ! उस घरके आँगन-द्वार
रहे होंगे कितना दुख ढाल ।
छुप गया है प्राणोंका प्राण
खेलकर जिसमें ग्यारह साल ॥
दिखायी देते होंगे हाय !
अनेकों विकल विलखते दृश्य ।
तड़पता होगा जिनसे बिंधा
और भी व्याकुल बना भविष्य ॥
सुनाती होगी हर दीवार,
अरे ! जब गीले-गीले गीत ।
हाय ! तब वर्तमानकी और
बढ़ाता होगा पीर अतीत ॥
मनसुखा भैया ! तू ही बता,
हाय क्यों उस घरका संसार ।
न मेरे ही ऊपर वन निठुर,
और बरसायेगा अङ्गार ॥
मनसुखा बीरन मेरे हाय !
किस तरह पूरूँ उरके साल ।
और भी करता गहन कुरेद
यादसे तेरा प्रिय गोपाल ॥

(क्रमशः)

* * *

गीतामें सत् और असत्का विवेक

(लेखक—डा० कन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'सत्' को अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त माना है

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥
(१७ । २६)
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥
(१७ । २७)

अर्थात् सत्य भाव, श्रेष्ठ भाव तथा उत्तम कर्मके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' कही जाती है और उस परमात्मा-के अर्थ किया हुआ कर्म भी निश्चित रूपसे 'सत्' ही कहा जाता है ।

उक्त श्लोकोंसे स्पष्ट है कि गीताकार 'सत्' को सत्यं तथा शिवंसे सम्बद्ध मानते हैं तथा उनकी दृष्टिमें ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया हुआ कर्म भी 'सत्' के ही अन्तर्गत है । जिसकी त्रिकालावाधित सत्ता हो, उसे 'सत्य' का नाम दिया जा सकता है । साधु-भाव अथवा शिवत्वके कारण ही कोई वस्तु तीनों कालोंमें स्थिर रह सकती है । इससे सिद्ध है कि सत्यं तथा शिवं एक ही सिक्केके दो पहलू हैं । जो असत् अथवा मिथ्या है, उसके पाँव नहीं होते और 'साँचको कभी आँच नहीं होती ।' पुष्प सुन्दर लगता है, फलके रूपमें परिणत होकर वह 'शिवं' का रूप धारण कर लेता है; किंतु जिन नियमोंसे पुष्प फलमें परिणत होता है, वे नियम 'सत्यं' के अन्तर्गत हैं । इस दृष्टिसे विचार किये जानेपर तो न केवल 'सत्य' और 'शिव' ही, वल्कि 'सुन्दरं' भी एक ही सूत्रमें आवद्ध जान पड़ते हैं । किंतु उक्त श्लोकोंमें गीताकारकी दृष्टि 'सत्यं' और 'शिवं' की ओर ही रही है । गीतामें 'सत्' का उक्त विवेचन 'ओं तत्सत्' के संदर्भमें हुआ है । इसी प्रसङ्गमें 'असत्' के सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
(१७ । २८)

जो यज्ञ, दान, तप या अन्य कोई कार्य विना श्रद्धाके होता है, वह असत् कहलाता है । वह न तो यहाँके कामका है, न परलोकके लिये उपयोगी है । गीतामें अन्यत्र भी 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।' कहकर

श्रद्धाकी बड़ी प्रशस्ति की गयी है। यह निस्संदेह सत्य है कि श्रद्धाके बिना सत्यं तथा शिवंके प्रति कोई लगाव पैदा नहीं होता। जिस वृत्तिके कारण मनुष्य सद्भाव तथा साधुभावको दृढ़तासे पकड़े रहता है, उसे ही श्रद्धाका नाम दिया जाना चाहिये। जहाँ श्रद्धा नहीं, मनका लगाव नहीं, वहाँ कोई भी कार्य भाररूप, मिथ्या और व्यर्थ हो जाता है। इसलिये बिना श्रद्धासे किये हुए यज्ञ आदिको यदि असत् कहा जाय तो यह सर्वथा उचित ही है। श्रद्धाका सम्बल जिनके पास नहीं, उनके लिये तुलसीने भी 'रामचरितमानस' को 'अगम' ठहराया है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ॥

मार्कण्डेयपुराणके 'देवीमाहात्म्यम्' में भी 'श्रद्धा सताम्' कहकर सत्य और श्रद्धाका अभिन्न सम्बन्ध स्थिर किया गया है। कुछ विद्वान् तो 'श्रत्' को सत्यके अर्थमें ग्रहणकर 'श्रद्धीयते अस्याम् इति श्रद्धा' इस प्रकार 'श्रद्धा' शब्दका निर्वाचन करते हुए बतलाते हैं कि सत्य ही श्रद्धाका अनिवार्य गुण है। समूचे वैदिक तथा परवर्ती साहित्यमें श्रद्धाका गुणगान किया गया है। ऋग्वेदमें तो श्रद्धापर पूरा सूक्त ही उपलब्ध है। आधुनिक युगमें महाकवि जयशंकरप्रसादने अपनी 'कामायनी' महाकाव्यद्वारा श्रद्धाको जो गौरव प्रदान किया है, वह सदैव स्मरणीय रहेगा। श्रद्धा और सत्यका यदि समवाय-सम्बन्ध है तो सत्यके महत्त्वकी भाँति श्रद्धाका महत्त्व भी कभी पुराना नहीं पड़ेगा।

सत् और असत्की समस्याके सम्बन्धमें गीताका बहुचर्चित तथा अनेकधा व्याख्यात सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्लोक निम्नलिखित है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(२ । १६)

अर्थात् जो असत् है, उसका अस्तित्व कभी हो नहीं सकता और जो सत् है, उसका अभाव कभी सम्भव नहीं। तत्त्वदर्शी लोग इन दोनों बातोंका अन्ततक विचार करके सिद्धान्तपर पहुँच चुके हैं।

सांख्यदर्शनको 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त मान्य है, जिसके अनुसार उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य-कारणमें अवश्यमेव अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारणकी वस्तुतः अभिन्नता है। कार्यकी अव्यक्तावस्थाका ही नाम कारण है और कारणकी व्यक्तावस्था ही कार्य है। इस प्रकार कार्य-कारणका भेद व्यावहारिक है, परंतु अभेद तात्त्विक है। इस सिद्धान्तको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।* दहीमें मक्खन पहलेसे ही है, उसे ही बिलोकर प्रकट कर दिया जाता है। सिकतासे तैल नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि उसमें तैल ही नहीं है, किंतु तिलोंसे तैल निकाला जाता है; क्योंकि उनमें तैल पहलेसे ही अव्यक्तरूपमें व्याप्त रहता है। इसी प्रकार तन्तुसे वस्त्र तथा स्वर्णसे कुण्डल आदिके निर्माणमें भी मात्र रूपान्तर होता है, वस्तुतः कोई नयी वस्तु नहीं बनती। वेदान्तदर्शनके आचार्य तो इससे भी आगे बढ़कर केवल एक ही मूल तत्त्वको 'सत्' मानते हैं, रूपान्तर भी उनकी दृष्टिमें 'असत्' ही है, उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं। इसी तरह प्रकाश और अन्धकारका द्वैत भी केवल काल्पनिक है। भावात्मक सत्ता तो प्रकाशकी ही है, अन्धकार तो उसका निषेधमात्र है।

'सत्' और 'असत्' सम्बन्धी अभिप्राय बहुत प्राचीन है। वृत्र और इन्द्रका युद्ध (जिसका ऋग्वेदमें वर्णन हुआ है) वस्तुतः प्रकाश और अन्धकारका युद्ध है। देव और असुर क्रमशः प्रकाश और अन्धकारके प्रतीक हैं। शतपथब्राह्मणमें सत् और असत् प्रवृत्तियोंके इस द्वन्द्व अथवा संघर्षको 'दैवासुरम्' के नामसे अभिहित किया गया है। यद्यपि ऋग्वेदकी ऐतिहासिक व्याख्या करनेवाले कुछ विद्वानोंने वृत्र और इन्द्रके युद्धको अनार्य तथा आर्योंके बीच युद्धके रूपमें ग्रहण किया है, तथापि शतपथब्राह्मणके निम्नलिखित उल्लेखसे स्पष्ट हो जाता है कि देवासुर-संग्रामको प्रतीकरूपमें ग्रहण करनेपर ही सम्पूर्ण प्रसङ्गोंका सम्यक् सम्भव है—

'तस्मादेतदृषिणाभ्युक्तम्।

न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न मित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्सः॥
(शतपथब्राह्मण ११ । १ । ६ । १०

अर्थात् हे मघवन् (इन्द्र)! तूने एक दिन भी युद्ध नहीं किया है, न तेरा कोई शत्रु ही है। तेरे युद्धोंके सम्बन्धमें लोग जो चर्चा करते हैं, वह केवल माया है, न तो आज और न कभी पहले ही तूने किसी शत्रुसे युद्ध किया है। शतपथ

---

* द्रष्टव्य भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय) पृ० ३३

ब्राह्मणमें ही नहीं, ऋग्वेदके दशम मण्डलमें भी प्रकारान्तरसे यही अभिमत प्रकट किया गया है—

मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥
(ऋग्वेद १० । ५४ । २)

वैदिक साहित्यमें जिन घटनाओंका वर्णन हुआ है, वे सब ऐतिहासिक हैं अथवा प्रतीकात्मक हैं, इस सम्बन्धमें अनेक विवादास्पद मतोंको देखते हुए 'इदमित्थं' कहना भले ही सम्भव न हो, तथापि यह मानना होगा कि हमारे देशमें वैदिक साहित्यकी अपने-अपने ढंगसे व्याख्या करनेवाले विद्वानोंके दो सम्प्रदाय थे—ऐतिहासिक सम्प्रदाय तथा नैरुक्त सम्प्रदाय। ऐतिहासिक सम्प्रदायके व्याख्याता वे हैं जो घटनाओंका प्रतीकात्मक अर्थ करते हैं। स्व० जयशंकर-प्रसादने कामायनीके 'आमुख' में उक्त दोनों मतोंमें सामञ्जस्य-सा स्थापित करते हुए लिखा था—'आदिम युगके मनुष्योंके प्रत्येक दलने ज्ञानोन्मेषके अरुणोदयमें जो भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है; क्योंकि उन चरित्रोंके साथ घटनाएँ कहीं-कहीं अतिरञ्जित-सी भी जान पड़ती हैं। तथ्य-संग्रहकारिणी हो जाती हैं, किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटनासे सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

श्रद्धा, मनु और इडाका उपाख्यान ऐतिहासिक है अथवा रूपकात्मक, इस सम्बन्धमें अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसादजीने लिखा था—

'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहासमें रूपकका भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि, प्रसादजीका झुकाव वैदिकोंके ऐतिहासिक सम्प्रदायकी ओर होते हुए भी, वे ऐतिहासिक और नैरुक्त दोनों सम्प्रदायोंमें समन्वय-सा स्थापित करते जान पड़ते हैं।

इससे भी आगे बढ़कर महात्मा गांधीने तो गीताको भी सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक रूपमें ग्रहण किया था। उन्हींके शब्दोंमें 'सन् १८८८-८९ में जब गीताका प्रथम दर्शन हुआ, तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वरन् इसमें भौतिक युद्धके वर्णनके बहाने प्रत्येक मनुष्यके हृदयके भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्वयुद्धका ही वर्णन है। मानुष योद्धाओंकी रचना हृदयके अंदर होनेवाले युद्धको रोचक बनानेके लिये गढ़ी हुई कल्पना है। धर्मका और गीताका विशेष विचार करनेपर यह प्राथमिक स्फुरणा पक्की हो गयी। महाभारत पढ़नेके बाद यह विचार और भी दृढ़ हो गया। महाभारत ग्रन्थको मैं आधुनिक अर्थमें इतिहास नहीं मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्वमें ही है। पात्रोंकी अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्तिका दर्शन करके व्यासभगवान्ने राजा-प्रजाके इतिहासको मिटा दिया है। उसमें वर्णित पात्र मूलमें ऐतिहासिक भले ही हों, परंतु महाभारतमें तो व्यासभगवान्ने उनका उपयोग केवल धर्मका दर्शन करानेके लिये ही किया है। महाभारतके भौतिक युद्धकी आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दुःखके सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा।'

अनासक्तियोगकी प्रस्तावना

वैदिकोंके नैरुक्त सम्प्रदायसे प्रभावित होकर गांधीजीने गीता अथवा महाभारतकी उक्त सांकेतिक व्याख्या की, ऐसा कहना सत्यका अपलापमात्र होगा; किंतु इतना निस्संदेह कहा जा सकता है कि महात्माजीद्वारा दी हुई रूपकात्मक व्याख्यासे चौंकनेकी आवश्यकता नहीं। हमारे देशमें पुरा कालसे रूपकात्मक व्याख्याकी पद्धति प्रचलित रही है। इस प्रसङ्गमें यह भी उल्लेखनीय है कि गांधीजी भी महाभारतके पात्रोंकी मूल ऐतिहासिकतासे इन्कार नहीं करते। महात्माजीको भी यदि किसी सम्प्रदायमें ही अन्तर्भुक्त करना हो तो हम उन्हें वैदिकोंके नैरुक्त सम्प्रदायमें ही समाविष्ट करना चाहेंगे।

वैदिकोंके उक्त दोनों सम्प्रदायोंमेंसे कौन-सा सम्प्रदाय अधिक मान्य है, इस ऊहापोहमें यदि हम न भी पड़ें तो भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मनुष्यके हृदयमें सत् और असत् प्रवृत्तियोंका द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। इसे स्वीकार करनेमें किसी भी मनीषीको कोई विप्रतिपत्ति न होगी। हमारे लिये विवेच्य विषय यह है कि मनुष्य 'असत्' से अनवरत संघर्ष करता हुआ

किस प्रकार 'सत्' की ओर उन्मुख हो। इस सम्बन्धमें गीताके निम्नलिखित श्लोककी ओर मैं विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

जो मनुष्य किसी कर्मके साथ युक्त नहीं, उसकी बुद्धि काम नहीं करती। कार्लाइलने यथार्थ ही कहा था कि जिस मनुष्यको अपना काम मिल गया है, उसे और किसी वरदानकी आवश्यकता नहीं, उसका कर्मयोग ही उसके लिये विभुका सबसे बड़ा वरदान है। गोस्वामी तुलसीदासका कर्मयोग उनका रामयोग था, जन्मभर इसी रामयोगकी साधना वे करते रहे। रामके रूपमें उन्होंने जीवनके बड़े-से-बड़े सत्यकी उपलब्धि की। इसी प्रकारकी बात हम गांधीजीके लिये भी कह सकते हैं। उनका कर्मयोग उनका सत्ययोग था और इसी सत्यकी उपासना वे आजन्म करते रहे। महर्षि वाल्मीकिने **'सत्यमेवेश्वरो लोके धर्मः सत्ये सदाश्रितः'** कहकर आस्था और दृढ़तापूर्वक सत्यको ही ईश्वरका रूप माना था। वर्तमान युगमें महात्मा गांधीने भी सत्यरूपी ईश्वरकी ही उपासना की थी। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यको अपने जीवनका लक्ष्य अथवा ध्येय प्राप्त हो जाता है, उसकी बुद्धि इधर-उधर भटकती नहीं। योगयुक्त व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञकी स्थिति प्राप्त कर सकता है, अन्य कोई नहीं। जिस व्यक्तिके पास जीवनका कोई लक्ष्य नहीं, उसे लगन या धुन नहीं होती। उसके हृदयमें भावनाकी आलोकमयी ज्वाला प्रदीप्त नहीं होती। भावनाकी आधारशिलापर ही जीवनका प्रासाद नये रूपमें प्रतिष्ठित रहता है। जिसके जीवनमें लगनकी ज्वाला नहीं जलती, उसका जीवन खाकका घर है। बिना लगनके, बिना भावनाके जीवनमें शान्ति नहीं और बिना शान्तिके जीवनमें सुख कहाँ? गीताका उक्त श्लोक मेरी दृष्टिमें बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोकमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनोंका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। बुद्धि, कर्म और भावना—तीनोंका समन्वय ही शान्ति तथा सुखका सुन्दर मार्ग है। 'कामायनी' में प्रसादजीने कहा है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मनकी,
एक दूसरेसे न मिल सके, यह विडम्बना है जीवनकी।

निष्कर्षमें यही कहा जायगा कि यदि कोई मनुष्य कि लक्ष्यसे युक्त रहेगा तो उसकी बुद्धि, भावना और क्रिया— तीनों समन्वित होकर उसके व्यक्तित्वको उदात्त बनानेमें देती रहेंगी। 'असत्'से लोहा लेनेका एक उपाय यह है कि मनुष्य किसी ध्येयसे इस प्रकार तादात्म्य स्थापित कर ले कि उसे 'असत्-चिन्तन' का अवसर ही न मिल सके। कि यदि वह किसी ध्येयसे युक्त नहीं रहा तो मनुष्यके लिये प पदपर स्खलनका डर है। 'सत्' के साथ युक्त हो व्यक्तिके अच्छे संस्कार बन जाते हैं और असत्-चिन्त दुष्प्रवृत्तियाँ उसे अभिभूत कर लेती हैं। भौतिक ऐश् दृष्टिसे देखा जाय तो रावणके पास क्या नहीं किंतु संस्कृतिके अभावके कारण उसका पतन हुआ। इसीलिये वाल्मीकिकी सीताने उसकी भर्त्सना करते हु कहा था—

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥
(सुन्दरका

अरे यहाँ संत क्या हैं ही नहीं अथवा संतोंके मा तुम अनुसरण ही नहीं करते? तभी तो तुम्हारी वि बुद्धि आचारविहीन हो गयी है। हमारे देशमें गाय मन्त्रका बड़ा महत्त्व है और इसका सबसे बड़ा कारण कि उसके द्वारा सद्बुद्धिकी प्रेरणा मिलती है। इसलिये ह जीवनमें यदि सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो वह है संस्का समष्टि, जिसे संस्कृतिका नाम दिया जाना चाहिये संस्कृतिकी उपलब्धि बिना साधनाके सम्भव नहीं। मद्भावभावितः' कहकर गीताकारने भी अनवरत साधनाकी पुष्टि की है। कबीरने भी यथार्थ ही कहा था—

सूर-घमसान है पलक दो चार का,
सती-घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजंतका काम भाई॥

◆

श्रीगदाधर भट्टकी जीवन-झाँकी*

(लेखक—कु० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग, साहित्यरत्न)

सज्जन, सुहृद, सुसील, बचन आरज प्रतिपालै ।
निर्मत्सर निहकाम कृपा-करुना कौ आलै ।
अवनि भजन दृढ़ करन धर्यौ बपु भक्तनि काजै ।
परमधाम कौ सेतु बिदित बृंदाबन गाजै ॥
भागवतसुधा बरषै बदन, काहूकौं नाहिंन दुखद ।
गुननिकर 'गदाधर भट्ट' अति सब ही कौं लागै सुखद ॥

—नाभाजी, भक्तमाल

इन पंक्तियोंमें गदाधर भट्टजीके जीवनकी एक झाँकी, उनकी चरित्रगत विशेषताओंकी झलक प्रस्तुत की गयी है । यह उनके अन्तः और बाह्य—दोनों पार्श्वोंका रेखाङ्कन है, हलके रंगोंमें डूबी कल्पना-तूलिकाका अस्फुट चित्रण है । हृदय वा भावपक्षका इससे परितोष हो सकता है; किंतु चिन्तनशील मानव-मन बाह्य जीवन वा कलापक्षकी बारीकियोंमें उतरकर उनके परतोंमें कुछ और अधिक पा जानेके लिये जिज्ञासु है । वह जीवनके उस तारतम्य, उतार-चढ़ाव, घटनाक्रमका विश्लेषण करना चाहता है, जिसने उसके अन्तःस्वरूपकी सृष्टि की, भक्त वा कविके रूपमें ढलनेकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की ।

तब सहज ही हमारी विचार-सरणि उनके स्थूल ऐतिह्य जीवन-विकासकी ओर उन्मुख होती है । किसी भी व्यक्तिका मूल्याङ्कन करनेमें हमारे समक्ष अन्तस्साक्ष्य, बहिस्साक्ष्य—ये दो साधन हैं; हम इन्हींपर जा रहे हैं ।

पारिवारिक परिचय

भट्टजीके पूर्वपुरुष कौन थे अथवा उनके माता-पिताके नाम क्या हैं, यह भी किसी भी स्रोतसे अज्ञात है । वे विवाहित थे, उनके संतानें थीं—यह अवश्य ज्ञात होता है । उनके दो पुत्र-रत्न (वल्लभरसिकजी और रसिकोत्तंसजी) विख्यात हैं । 'वल्लभरसिकजीकी वाणी' (एक व्रजभाषाका पद-संग्रह) प्राप्त है, जिसमें वर्षोत्सवों, नित्यविहार और रस-लीलाओंका स्फुट वर्णन है । ये भगवत्सेवापरायण और रसिक-समाज-सेवी होनेके नाते सरस अलंकारिक काव्यके विधायक हैं । इसी कोटिमें रसिकोत्तंसजी आते हैं, जिन्होंने सुन्दर भक्तिग्रन्थ 'प्रेमपत्तन'की रचना की । इससे अधिक पारिवारिक परिचयके कोई सूत्र अभीतक प्राप्त नहीं हैं । अवश्य ही इनका वंश-परम्परागत विद्वान्, काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञ एवं ग्रन्थ-प्रणेता महापुरुषोंसे अलंकृत होगा ।

दाक्षिणात्य आन्ध्र तैलंग होनेके नाते इनका मूल स्थान दक्षिणमें ही कोई ग्राम है । कौन-सा, कहाँ, यह कहा नहीं जा सकता । इनके वंशधर अद्यावधि वृन्दावनमें भट्टपरिवारके नामसे विद्यमान हैं । इस आधारपर विदित होता है कि वे पंचद्राविड-ब्राह्मणान्तर्गत वेल्लनाटीय आन्ध्र-तैलंग हैं । परम्परागत प्रकाण्ड वैदुष्य और श्रीमद्भागवतके सुमधुर प्रवचनकर्ता होनेके कारण ही वे 'भट्ट' पदसे अवबोधित होते हैं और आज भी उनका परिवार 'भट्टजी' नामसे व्रजमण्डल तथा सुदूर देशमें विख्यात है । वे वाशिष्ठ, मैत्रावरुण, कौण्डिन्य—इन त्रिप्रवरोंसे अन्वित कौण्डिन्यस् गोत्रमें उत्पन्न तैत्तिरीय आपस्तम्ब-शाखाध्यायी कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं । इनकी आन्ध्रजातीय अवटंक 'करंजी' है । सम्भवतः वैदिक प्रक्रियाओंमें करञ्ज वृक्षकी शाखा आनेके कारण ये करंजी कहलाये होंगे । इनके वंशमें कुलदेवके रूपमें लक्ष्मीनारायणका अर्चन होता है । यों इनके सेव्यनिधि श्रीमदनमोहनलाल हैं, जो उनके वंशधरोंसे सेवित वृन्दावन अठखम्भा, पुराना शहरमें विराजमान हैं ।

भट्टजीके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें भी कुछ ज्ञात नहीं होता । वे आनुवंशिक संस्कारोंके वश लौकिक जीवनसे विरक्त और भगवद्भक्तिमें अनुरक्तसे प्रतीत होते हैं । गृहस्थ-स्थितिमें रहते हुए भी अनासक्तभावसे किस प्रकार वे मानवोचित कर्तव्योंका पालन करते हैं और आजीविकावश विप्रोचित वृत्तियोंमें संलग्न होकर भी अपने वास्तविक स्वरूप वा जीवनलक्ष्यके प्रति कितने जागरूक हैं, यह उनके एक पदसे विदित होता है—

कहा हम कीनों नर तन पाइ ।
हरि परितोषन एकौ कबहूँ बनि आयो न उपाइ ॥
हरि हरिजन आराधि न जाने, कृपन वित्त चित लाइ ।
बृथा बिषाद, उदर की चिंता जनमहि गयौ बिताइ ॥
सिंहत्वचा कौ मढ़यौ महापसु खेत सबनि कौ खाइ ।
ऐसे ही धरि वेष भक्त कौ घर-घर फिरयौ पुजाइ॥

---

* अप्रकाशित 'श्रीगदाधर भट्ट, सटीक काव्य-वाणी' से ।

जैसे भोर चोरके आएँ इत चितवत बितताई ।
ऐसे ही गति भई 'गदाधर' प्रभु किन करहु सहाई ॥
(पद-सं० ३)

यह कविका आत्मालोचन है—अपने प्रति सच्ची ईमानदारी, सच्ची निष्ठा है । अखण्ड सच्चिदानन्दरूप हरिके रसस्वरूपसे दूर सांसारिक मृगतृष्णाओंसे उत्पन्न मिथ्या विषाद और उदरकी चिन्तासे ही समग्र जीवनको व्यतीत होते देखकर उनका हृदय कितना आकुल है ! उन्हें वित्तमें चित्त देकर कृपणताविवश हो 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' होकर भक्त-वेशका बाना रखना पड़ता है, यह उनकी दृष्टिसे आत्मवञ्चना है; फिर घर-घर जाकर व्यक्ति-पूजा कराना उनकी आत्मनिष्ठाके विरुद्ध है । पर वे विवश हैं । अब जब सारा जन्म व्यर्थ बीत जाता है, तब वे आत्म-कल्याणके लिये प्रभुसे विनय करते हैं ।

इन पंक्तियोंसे ध्वनित होता है कि भट्टजीकी पारिवारिक स्थिति आर्थिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं है और जीविकानिर्वाहके लिये उन्हें जहाँ-तहाँ भटककर विडम्बित होना पड़ता है । इच्छाके विरुद्ध उन्हें जब-तब दम्भका भी आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । ब्राह्मणोचित आकाशी वृत्तिके लक्ष्य वे एक प्रौढ़ वयतक बने हुए ज्ञात होते हैं । 'जैसे चोर भोर के आएँ' शब्दोंसे यह संकेत मिलता है । 'जनमहि गयो बिताइ' से भी इसकी पुष्टि होती है । यों जीवमात्रकी सामान्य स्थिति ही इससे निरूपित हुई है, तथापि कविके श्रीमद्भागवत-प्रवचनकार होनेके नाते, उनकी पौराणिक वृत्ति है और उसकी प्रायः विपन्नावस्थासे इसकी संगति बैठती है । उनकी आत्मामें एक तड़प है, पीड़ा है अपनी कृपण वृत्तिसे; इसीलिये अब वह अधिक भटकना नहीं चाहते, प्रभुकी शरण छोड़कर·····

तजि तुमसे अति हितू 'गदाधर' डहकायौ बहु ठौर ।
अब जिनि होहु कबहु या कृपनहि तुम छाडें गति और ॥
(पद-सं० २०)

ऐसा लगता है कि भट्टजी व्रज और व्रजराजके चरणोंमें पूर्ण शरणागतिके पूर्व आत्मकल्याणके लिये विविध साधनोंके लिये प्रयासरत रहे हैं, इसीलिये तो कहते हैं···

कवन उद्यम आपुनै करि सक्यौ निजु बिस्तार...
(पद-सं० २१)

ये उद्यम वे ही हो सकते हैं, जिनके बिना भी, भक्ति-परवश होकर अथवा उन्हें आर्तभावसे पुकारनेपर ही जीवको प्रबल पातकोंके होते हुए भी अपनाकर अभयदान देते हैं—

···ग्यान ध्यान जप तप तीरथ व्रत जोग जाग बिनु संजम···
(पद-सं० २३)

इसीलिये अपनी भक्ति-विमुख साधनाओंसे विरत होकर हरिनामका आश्रय लेनेके लिये अपने मनको उद्बोधित करते हैं । अपनी विविध उपदेशक वृत्तिपर भी उनके कठोर आत्म-भर्त्सनाके शब्द देखिये—

···पर अपवाद स्वाद जिय राच्यौ, बृथा करत बकवाद घनेरौ···
(पद-सं० २२)

व्रजसे सम्बन्ध

जो भी हो, वृन्दावन आनेके पूर्व ज्ञानकर्म आदि उपासनाओंसे वे आत्मशान्ति ढूँढ़ रहे होंगे; किंतु किं पूर्वसंचित संस्कारों वा पुण्यके बलपर हरिकी ही किं सुन्दर अन्तःप्रेरणासे उनका चित्त 'श्यामरंग' की ओर आकर्षित हुआ । भक्तिका बीज, कौन जानता था कि उनको इतने सुन्दर सरस फलोंको देनेके लिये अङ्कुरित पल्लवित और पुष्पित, फलित होगा एक मधुर कल्प कल्पवृक्षके रूपमें । भट्टजीका गोपीहृदय स्वप्न-दृष्ट श्याम सुन्दरकी रूप-माधुरीमें अटक गया । गोचारणविहारी कन्हैया भी तो ऐसी ही मोहिनी डालकर आसक्त कर लेता है । उन्होंने सुन रखा था, उनकी यह हिलग काव्य-वाणीमें उतरी । वे रूपमुग्ध, रसमुग्ध हो गा उठे—

स्याम रंग रँगी ।
देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माँहि पगी ॥
संग हुतौ सपुने अपुने पुनि सोइ रही रस मोइ ।
जागेहुँ आगें दृष्टि परै लखि नैकु न न्यारौ होइ ॥
एकजु मेरे नैननि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन ।
गाइ चरावत जात सुन्यौ सखि सो धौं कन्हैया कौन ॥
कासो कहौं, कौन पतियावै, कौन करै पचि बादु ।
कैसे कैं कहि जात गदाधर गूँगे कौ गुड़ स्वादु ॥
(पद-संख्या १

अनुपम श्यामरूपको आँखोंमें भरकर भक्त कवि हृदय रस-विभोर हो उठा । रस-पगे, रँगमगे, भावभरे पदकी पंक्तियाँ भावुक संतोंके मधुर कण्ठ-स्वरमें जाकर गयीं । संयोगवश वाणी-वीणाके तारोंको निनादित करती हुई

स्पन्दित साधु-कण्ठोंके माध्यमसे, वे वृन्दावनकी किसी निकुञ्ज-लता-वल्लरिकी माधुरीमें विलसे जीवगोस्वामिपादके कानोंमें प्रतिध्वनित हुई। अपने हृदयकी रसानुभूतिमें तादात्म्य पाकर वे भाव-विह्वल हो उठे। सुदूर दक्षिणमें रमे, किंतु 'श्याम-रसमें' डूबे, गदाधर भट्टजीकी आसक्ति, भाव-मुग्धताकी इस गहराईपर उन्हें विस्मय हुआ। एक भावुक हृदयको वृन्दावनके माधुर्यकी ओर आकर्षित करने और उससे आत्मीयता जोड़नेके लिये एक पत्र उन्होंने भट्टजीको लिखा—

अनाराध्य राधापदाम्भोजरेणु-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान्
कुतः श्यामसिन्धौ रसस्यावगाहः॥

जिसने श्रीराधिकाकी चरण-कमल-रजकी आराधना नहीं की तथा श्रीराधा-चरण-कमलाङ्कित श्रीवृन्दावनका जिसने आश्रय नहीं लिया और राधा-भाव-रस जाननेवाले रसिकोंका सङ्ग नहीं किया, वह कैसे श्याम-रस-रूप-सागरमें गोता लगा सकता है?

पत्र लेकर दो साधु वृन्दावनसे दक्षिणको चल पड़ते हैं। मानो आज एक भक्ति-भावकी लड़ीमें उत्तर और दक्षिणको अनुप्राणित किया जा रहा है। मानवकृत वा अप्राकृतिकरूपसे मान्य मर्यादाओं, भौगोलिक परिवेष्टनोंमें बँधी सीमाओंको एक भक्ति-रस-धारासे आप्लावितकर उनमें एकात्मभाव, एकरूप लाया जा रहा है। अपने निवास-पुरके एक कूपके समीप रूप-रसमें तन्मय बैठे भट्टजीका परिचय पाकर साधुओंद्वारा उन्हें पत्र दिये जानेपर उनकी क्या भावावेशकी दशा होती है, नाभाजीकृत 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादासजीके शब्दोंमें देखिये—

'स्यामरंग रँगी' पद सुनि कै गुसाँई जीव
पत्र दै पठाए उभै साधु बेगि धाए हैं।
रैनी बिन रंग कैसैं चढ़्यौ, अति सोच बढ़्यौ,
कागदके प्रेम मढ्यौ तहाँ लैकैं आए हैं॥
पुर ढिग कूप, तहाँ बैठे रस-रूप लगे,
पूछिबे कौं तिनही सौं नाम लै बताए हैं।
रहौ कौन ठौर? सिरमौर बृंदाबनधाम,
नाम सुनि मूर्च्छा ह्वै कैं गिरें प्रान पाए हैं॥
काहू कही, भट्ट गदाधरजी एही जानौ,
मानौं उहि पाती चाह फेरि कै जिवाए हैं।
दीयौ पत्र हाथ, लायौ सीस सौं लगाइ धाइ,
बाँचत ही चले बेगि बृंदावन आए हैं॥
मिले श्रीगुसाइजी सौं, आँख भरि आई नीर,
सुधि ना सरीर धीर धारि वहाँ गाए हैं।
पढ़ सब ग्रंथ नाना, कृष्णसंग कथा रँग,
रसकी उमंग अंग-अंग भाव छाए हैं॥

व्रज-वृन्दावनके माधुर्यके प्रति उनके हृदयका आकर्षण—उनकी विरहासक्ति कितनी तीव्र है, इस विवरणसे विदित होता है। वे तत्क्षण वृन्दावन प्रस्थान करते हैं और जीवगोस्वामिपादसे मिलन होनेपर उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा प्रवाहित होने लगती है। भावाधीर और आत्मविस्मृत अवस्थामें व्रज पाकर गद्गद हो जाना उनके सरस-भावुक हृदयका द्योतन है। व्रजके माहात्म्य और रसनिधिताका ज्ञान तो उन्हें पूर्वसे था ही, बिना इसके इतनी गहन आसक्ति व्रज-व्रजराजके प्रति हो ही नहीं सकती, जैसी कि उनके 'स्याम रंग रँगी' पदसे व्यक्त होती है; साथ ही यह भी विदित होता है कि एक लंबी वयतक प्रौढावस्थातक उनका सम्पर्क व्रज तथा व्रजके भावुक संतोंके साथ सत्सङ्ग, कथाप्रवचन, भक्ति, ग्रन्थानुशीलन, श्रीमद्भागवतानुकथन आदिके रूपमें रहना चाहिये अन्यथा वृन्दावन आनेके पूर्व ही इतनी गहरी भक्ति-भावना उनके हृदयमें घर कर ही नहीं सकती। उन्होंने व्रज-भावनाका ही नहीं, व्रजसाहित्य और व्रजभाषाका भी गम्भीर अध्ययन किया जान पड़ता है। व्रज-परम्पराकी परिष्कृत काव्य-व्यञ्जनाएँ थोड़ेसे वर्षोंकी साधना नहीं, वह तो बाल्यावस्थासे ही व्यासङ्गका विषय होना चाहिये। तभी इतनी प्रौढ़, संस्कृत काव्य-शैली वे दे सके, जिसे मिश्रबन्धुओंने भी पद्माकर कोटिकी मानी है। यह समग्र साधना वा अनुशीलन, हो सकता है, साहित्य-स्वाध्याय वा सत्सङ्गसे दक्षिणमें ही प्राप्त किया हो अथवा जब-तब अस्थायीरूपसे व्रजवास करके भी। जीवगोस्वामीकी प्रेरणासे स्थायी वृन्दावनवास, दक्षिण-त्यागके अनन्तरसे तो उनकी भावनाओंसे उनके श्यामरंगमें और भी प्रगाढ़ता आ गयी और फिर उन्होंने गुसाईंजीसे मिलकर व्रजके भागवत-रसका आस्वादन किया।

शिक्षा

उनकी शिक्षाके सम्बन्धमें कोई ऐतिह्य उल्लेख भले ही प्राप्त न हो, उनके काव्यको देखकर यह अनुमान होता है कि उन्होंने व्रजसाहित्यका, विशेषकर अपने युगकी विविध

काव्य-परम्पराओंका, भक्ति और रीति-साहित्यका व्यापक अध्ययन किया होगा। अपने सभयके वृन्दावनमें व्याप्त भक्ति-रस-सम्प्रदायोंका ज्ञान भी उनका कम नहीं है। गौडीय भक्ति-ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अनुशीलन तो है ही, जब कि वे चैतन्य महाप्रभु एवं उनके अनुगत जीव, रूप, सनातन आदि षड् गोस्वामियोंकी परिचर्या निकट सेवा और सत्सङ्गमें रहे।

पढ़े सब ग्रंथ नाना संग कृष्णकथा रंग,
रसकी उमंग अंग अंग भाव छाए हैं॥

—इन पंक्तियोंसे यह प्रतिबिम्बित होता ही है। यों श्रीमद्भागवतके वे समर्थ वक्ता थे ही। श्रीमद्भागवत-से रस-ग्रन्थका मर्म-ग्रहण कुछ काल वा वर्षोंकी वस्तु नहीं, वह तो परम्परागत संस्कारों और आनुवंशिक ग्राह्य-शक्तिका सुफल एवं पूर्व पुण्योंका प्रतिफल है। फिर श्रीमद्भागवतकी पूर्वापर-संगति भी सम्बन्धित, आनुषङ्गिक शास्त्रालोचन बिना नहीं हो सकती। वे सामान्य 'कथाभट्ट' थे ही नहीं। भक्ति-सम्प्रदायोंके सुगढ़ केन्द्रस्थल वृन्दावनमें लोकप्रिय वक्ताके रूपमें कोई टक्करका व्यक्ति ही टिक सकता है। इसके अतिरिक्त उनकी बहुमुखी प्रतिभा थी, वे बहुश्रुत और बहुसंतसंगी थे। अतः उनका व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक ज्ञान भी विशाल था। संस्कृत वृत्तोंमें संस्कृत-कोमल-कान्त-पदावलिमें प्रासादिक रचनाएँ भी उनके संस्कृत-ज्ञानकी गुरुताका भी अभिसूचन करती हैं, जिसमें काव्य, साहित्य, दर्शन, नीति आदि बहुविध ज्ञानका समावेश है।

भट्टजी बाल्यावस्थासे ही नम्रता, दया, दाक्षिण्य, विवेक आदि सद्गुणोंकी मूर्ति थे। कण्ठकी मधुरता उनके लिये दैवी देन थी। फिर हृदयकी सरसता मिलकर उस कण्ठ-माधुरीको और भी परिवर्द्धित कर देती थी। वे स्वयं भगवत्कथामृतरूपी मेघके समक्ष चातककी-सी निष्ठा लेकर रस-लालायित रहते थे। श्रोताओंकी तो बात ही क्या थी? वे तो उनकी कथाकी ख्यातिको सुनकर सुदूर देशोंसे दौड़े चले आते थे। व्रज छोड़कर ये तो एक क्षण भी बाहर नहीं जाते थे। भगवल्लीला, रूप-माधुरी और व्रज-महिमाको लेकर अपने प्रवचनमें ऐसी रस-वर्षा करते थे, जिससे श्रोताओंके तन-मन प्रेम-रसमें डूबकर आप्यायित हो जाते थे। भक्तमालका उपरिलिखित छप्पय उनके जीवनकी एक सुन्दर झाँकी दे रहा है।

दीक्षा

जीवगोस्वामीकी प्रेरणा पाकर भट्टजीने स्थायी व्रजवास करते हुए वृन्दावनमें श्रीमद्भागवत-प्रवचनके प्रसङ्गसे महाप्रभुके मुख्य अनुगामी षड् गोस्वामियोंमेंसे श्रीरघुनाथ-भट्ट गोस्वामीकी परम्परा स्वीकार की। उनसे श्रीराधाकृष्ण-मिलित विग्रह श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुप्रवर्तित गौड़ेश्वर वा गौडिया सम्प्रदायकी दीक्षा ग्रहण की गोपालमन्त्रके रूपमें और श्रीगोविन्ददेवकी इष्ट-साधना— उपासना प्रारम्भ की, जैसा कि उनके काव्यसे व्यञ्जित होता है।

नमो नमो जय श्रीगोविंद।
आनँदमय ब्रज सरस सरोवर प्रगटित बिमल नील अरविंद।
(पद-सं० ५)

श्रीगोविंदपदारविंदसीमा सिर नाऊँ।
श्रीबृंदाबनबिपिनमौलिवैभव कछु गाऊँ॥ (पद-सं० ६)
श्रीबृंदाबनजोगपीठ गोबिंदनिवासा।
तहाँ श्रीगदाधरसरन चरनसेवाकी आसा॥
श्रीगोबिंदपदपल्लव सिर पर विराजमान।
कैसे कहि आवै या सुख कौ परिमान॥ (पद-सं० १३)
जय महाराज ब्रजराज कुल तिलक।
गोबिंद गोपीजनानंद राधारमन।
(पद-सं० १२)

—इन कतिपय उद्धरणोंसे गोविन्दपदारविन्दमें उनकी कितनी गहन निष्ठा व्यक्त होती है! इनकी सारी काव्य-साधना गोविन्ददेवके मन्दिरमें ही बैठकर हुई। प्रभुके संनिधानका सुन्दर प्रेरक वातावरण और कौन-सा हो सकता है? हृदयमें लीलानुस्मरण, मनन, चिन्तन, कथन करते जाते हैं और उन्हीं भावनाओंको काव्यकी रेखाओंमें गुम्फित। जीवनकी साधना, आराधना ही उनके काव्यका विषय बन गयी। उनका लीला-काव्य उनके जीवन-काव्यका ही प्रतिरूप था, भक्त और कविरूपमें एकरसता तो थी ही।

ग्रन्थ-रचना

भट्टजीकी काव्य-सर्जना केवल कवि होनेके नाते तो थी ही नहीं, इसीलिये कोई ग्रन्थ-रचनाके लक्ष्यसे उन्होंने नहीं लिखा। जब-जब लीलावेशसे उनका हृदय आविष्ट हुआ, तन्मयतामें डूबकर उन्होंने पद-रचना की। इसीलिये फुटकर पद उनके उपलब्ध होते हैं, जिन्हें भक्तोंने पीछे जाकर 'वाणी' के रूपमें संकलित वा लिपिबद्ध कर लिया। जिन्हें

भावुक संतोंने उस संग्रहको 'मोहिनी वाणी' भी नाम दिया है। भट्टजीके यावन्मात्र पदोंका संग्रह जो उपलब्ध होता है, वह संख्यामें ८६ है। सम्भवतः उस समय व्रज-साहित्यमें 'वाणी' वा काव्यके रूपमें तथा गद्यात्मक भक्तोंकी 'वार्ता'के रूपमें जो 'चौरासी'की परम्परा चल रही थी, कवि उसीसे प्रभावित हुआ हो और कुछ न्यूनाधिक पदोंको मिलाकर यह संख्या आ पहुँची हो। 'हित चौरासी' और 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' इस प्रकारके साहित्य हैं, आध्यात्मिक दृष्टिसे भी इस ८४की संगति दार्शनिक विद्वानोंने बैठायी है, जिसकी प्रेरणा साहित्य और व्यवहारमें तथा भक्ति-सम्प्रदायोंमें अविकल ग्रहण कर ली गयी है। इन पदोंमेंसे चार पदोंमें 'मुकुन्द', 'मुकुन्दचन्द, कल्यानमुकुन्द वा मुकुन्दकल्यान' छाप है। शेषमें 'गदाधर' है, प्रभु, दास, विप्र, भट्टके साथ।

श्रीमद्भागवत-कथा-शैली

यह काव्य-रचना भट्टजी विशुद्ध भक्त-रूपमें 'सारंसारं समुद्धृतम्'के संदर्भमें, 'मधुकरी' वृत्ति लेकर, श्रीमद्भागवतके आलोकमें करते रहे। वे भागवत-तत्त्वका, पुष्टि-पथका विशद रूपसे चिन्तन, रसास्वाद और रसप्रदान करते रहे। 'मधुकरी' तो गौडीय संतोंकी आजीविका है। व्रजवासियोंके घरोंसे अप्रेरित रोटीका एक-एक टूक माँगकर, उसीमें भगवत्प्रसादकी भावना कर, केवल भगवत्सेवा-स्मरण व्रजवास दर्शन-लीलानुकथन मात्रके लिये पेट भर लेना उनकी दैनिक चर्या है, उनके अपरिग्रही जीवनकी भाव-साधना है। भट्टजीके शब्दोंमें वह तो मानो 'कृष्ण-अनुराग मकरंदकी मधुकरी' पद-सं० १० का साकार रूप है, जिसे वे 'गोपीभाव' वा 'राधा-तत्त्व-रूप'से काव्यमें निरूपित करते हैं।

भट्टजीने श्रीमद्भागवतको काव्य-भक्तिका आधार वा रस-स्रोतरूपमें ग्रहण करते हुए भी, वर्ण्य विषयके लिये हृदय-रूप वा रस-धर्मरूप दशमस्कन्ध-पूर्वार्द्धकी उन्हीं व्रजलीलाओंको चुना है, जिनमें मानव-मन सहजमें रम सके। भक्ति, विनय और माहात्म्यका पुट देकर स्वरूपसौन्दर्य, व्रजलीलाओं, रास-विलास, ऋतुलीलाओं आदिका रसायन जो उन्होंने सिद्ध किया है, वह समग्र भक्ति-परम्पराओंको अमोल सिद्ध हुआ है। उनकी वर्णन-चातुरी कुछ ऐसी विलक्षण है कि उस थोड़े-से काव्यमें ही समस्त भगवल्लीलाओंके संकेत सरल स्निग्ध रूपमें आ गये हैं। किसी भी विषयका अनावश्यक विस्तार नहीं किया है और किसी विषयको, जो उनकी भावनाको पोषण—संवर्द्धन देनेवाला हो, वे छोड़ भी नहीं गये हैं। वे तो **'सारङ्ग इव सारभुक्'** ठहरे। श्रीमद्भागवतका सम्पूर्ण रसास्वाद इने-गिने चौरासी पदोंमें बाँधना बहुत बड़ी रस-मर्मज्ञता है। उनकी पद-योजना, शब्द-माधुरी इतनी ललित है, जो एक रस-लीलाओंके प्रवचनकारके लिये आवश्यक है। उसीके कुछ छींटे सम्भवतः भट्टपरिवारकी कथा-शैलीमें अविकल उतर आये हैं। काव्य-कथा-शैलीमें इतना साम्य किसी अज्ञात शक्तिकी ही प्रेरणा है। एक उदाहरण—

अलकनि की झलकनि लखि पलकनि गति भूलि जाति

(पद-सं० १९)

अलकनि की झलकन पै, कपोलन पै पलकन पै गोरज छाय रही है

(श्रीनित्यानन्द भट्ट, वृन्दावनकृत अष्टकालीन नित्यलीला)

इस प्रकार भागवती कथाके अपने किसी पारम्परिक संस्कारको व्रज-रसमें पागकर उन्होंने विकसित किया और अग्रिम परम्पराओंके लिये भट्टपरिवार और व्रज-भक्ति-पथ दोनोंको एक अनूठी वस्तु प्रदान की। उन्होंने भगवत्कथाको व्यासादि-कथित वेद-ग्रन्थ-मन्थन-सार-रूप 'अघ संहारिनि, कलि-काल-तारिनि' और—

मंगलविधायिनी प्रेमरसदायिनी भक्ति अनपायिनी होइ जिय सर्वथा

(पद-सं० २४)

—माना है। उसका यह प्रेम-रस-दायित्व और भक्तिमाधुर्य ही जब उनके कोमल कण्ठस्वरसे मिलता था, तो वह श्रोताओंके हृदयपर और ही चमत्कार दिखलाता था, जिससे विषय-विकारकी निवृत्तिपूर्वक कितने ही कुटिल, दम्भी, छली व्यक्तियोंका अन्तः निर्विकार, पवित्र और भक्तिभावसे विनत हो जाता था।

विशिष्ट घटनाएँ—

उनके जीवनकी कुछ ऐसी विशिष्ट घटनाओंका उल्लेख भक्तमालके टीकाकार प्रियादासजीने कुछ कवित्तोंमें इस प्रकार किया है—

नाम हौ कल्यानसिंह जाति रजपूत पूत,
बैठ्यौ आइ कथा सों अमृत रंग लाग्यौ है।
निपट बिकट बाँस और हवा प्रकास गाँव
हास-परिहास तज्यौ तीया दुख पायौ है॥
बानी भट्ट संग सों अनंग बास दूरि भई,
करौ लैकै नई आनि हीये काम जाग्यौ है।

माँगति फिरति हुती जुवती और गर्भवती,
कह्यौ लै रुपैया बास नैकु कह्यौ राख्यौ है ॥
गदाधर भट्टजी की कथामें प्रकास कह्यौ
अहो कृपा करौ अब मेरी सुधि लीजिये ।
दई लौंडी संग लाभ गंग चित्त भंग कीये,
दीये लै बताइ अब मेरो कह्यौ कीजिये ॥
बोले आप बैठिये जू जापै नित करो हिये,
पाप नहीं गयौ मेरौ दरसन दीजिये ।
स्रोता दुःख पाइ भावै झूठी यह मार नासै,
साँची कहि राखी सुनि तन मन छीजिये ॥
फाटि जाइ भूमि तौ समाइ जाइँ स्रोता कहैं,
बहे दृग नीर ह्वै अधीर सुधि आई है ।
राधिकावल्लभदास प्रकट प्रकास भास,
भयौ दुखरासि तब सुनि सो बुलाई है ॥
साँची कहि दीजै नहीं अभी जीव लीजै डारि,
सबै कहि दई सुख लियौ संज्ञा भाई है ।
काढि तरवार तीया मारिबे कल्यान गयौ,
दयौ सो प्रबोध हमै करी दया नाई है ॥

× × ×

रहै काहू देसमें महंत आयौ कथा माँहि,
आगै लै गए देखि सबै साधु भीजे हैं ।
भरे अस्रुपात सोच होत क्यों न स्रोताहिं,
पर्‍यौ कर लै उपाय दै लगाइ मिर्च खीजे हैं ॥
संत एक जानि कै बताइ दई भट्टजू को
गए उप सबै जब मिलौ अति रीझे हैं ।
ऐसी चाह होइ मेरे रोइकै पुकार चली,
जलधार नयन प्रेम आइ भीजे हैं ॥

× × ×

आयौ एक चोर घर संपति बटोरि गाँठ,
बाँधी लै मरोरि क्यौंहू उठै नहिं भारी है ।
आइकै उठाइ दई देखौ इनि रीति नई
पूछौ ना प्रीति भई भलौ मैं बिचारी है ॥
बोले आप लै पधारौ होत ही सवारौ आवै,
और दसगुनी मेरे तेरे यही ज्यारी है ।
प्राननि कै आगै धरौं आनि कै उपाइ करौं,
रहे समुझाइ भयौ सिस्य चोरी टारी है ॥

× × ×

प्रभु की टहल निज करन करत आप
भक्ति कौ प्रताप जानै भागवत गाई है ।
देत है तै चौका कोउ सिस्य वो हौ भेंट लायौ,
दूरि हौ तैं दास देखि आयौ यौं जनाई है ॥
धोयौ हाथ बैठो आइ सुनिकै रिसाइ उठे,
सेवा ही में बनाइ याकौं खीजि समुझाई है ।
हियै हित रास जग आस कौ विनास कियौ,
पीयौ प्रेम रस ताकी आस लै दिखाई है ॥

कितना साधु-व्यक्तित्व है ? जिसका आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्वतः एक दानवको मानव बना देता है। भट्टजीके प्रति जनसाधारणमें कितनी श्रद्धा थी, उनका हृद कितना वीतराग, करुणा और कृपासे आपूरित था, भक्तिमें उनका चित्त कितना निरत था और उनमें कित सहिष्णुता एवं शान्ति थी—इन घटनाओंसे विदित होता है। इन्हीं सब सद्गुणोंके कारण व्रजके सभी भक्ति-सम्प्रदायों उन्हें समादर प्राप्त था। उन्हें सिद्ध आचार्य-कोटिमें मान माध्व-गौडेश्वर सम्प्रदायमें तो महिम-स्थान दिया ही है, उनका भी अपना शिष्य-सेवकाना है और वे आचा पण्डितरूपमें आदृत हैं।

इस प्रकार भट्टजी श्रीगोविन्दपदारविन्दमें अनुरक्त हो सम्पूर्ण जीवनमें भक्ति और काव्य-साधनामें निरत रहे। भौति यशोलिप्सा, अर्थ-कामना और व्यक्ति-पूजा-माहात्म्यसे दू हरिचिन्तन ही उनका एकमात्र लक्ष्य था। अन्य सा कवि वा विद्वानोंकी भाँति उन्होंने न तो काव्यमें अ चरित्रके सम्बन्धमें कोई संकेत दिया, जिससे अन्तःसा सामग्री मिल सके, न कोई ग्रन्थ-रचना ही करके अप अमर करनेका प्रयास किया। तथापि उन्होंने जो कु भाव-भीने क्षणोंमें दिया, उसे उनके भक्तोंने, रस- भावुकोंने उनकी अमृत-वाणीके रूपमें आत्मसुखके लि संग्रह कर लिया। उनकी अक्षय कीर्ति और भावी पीढ़ि रस-वृत्तिको पोषण देनेके लिये उतना ही पर्याप्त है। उन काव्य, उनकी भावनाएँ ही उनकी जीवन-गाथा हैं, जीव दर्शन है।

तथागतकी आस्तिकता

(लेखक—प्रो० श्रीदेवदत्तजी भट्टि)

बुद्धधर्मके प्रवर्त्तक तथागत विश्वकी उन कतिपय विभूतियोंमेंसे हैं, जिनके विषयमें हम कह सकते हैं कि उन्होंने विश्वकी विचारधाराको एक समयोचित एवं आवश्यक रुख दिया । जगत्के बौद्धिक तथा दार्शनिक इतिहासको, अपनी अलौकिक मेधाके पुनीत वर्णोंसे अङ्कित अमर पृष्ठ प्रदान किये ।

तथागतकी आस्तिकताके विषयमें निर्णय करनेसे पूर्व हमें आजसे अढ़ाई सहस्राब्दी पहलेके समय और परिस्थितियोंका विहंगावलोकन करना नितान्त उपयुक्त होगा ।

जैसे कि इतिहासके तात्कालिक इतिवृत्तके अधूरे पन्ने हमें बोध कराते हैं कि तथागत उस समाजकी रूढ़ियोंकी प्रतिक्रिया थे, जिसने हमारे अन्तःकरणसे उदात्त आचारोंके निदिध्यासन एवं आचरणको शिथिल करके बाह्य क्रिया-कलापोंकी परायणतामें आस्था रखनेकी प्रेरणा दी । ब्रह्मके नामपर यत्किञ्चित् इष्टानिष्ट किया जाने लगा । परम्परामें अन्ध-विश्वास होनेके कारण हमारा तर्क कुण्ठित होने लगा । समाजके खोखले कलेवरमें अलौकिकता, कल्पना और दिव्यता ऐसे घर कर गयी थी कि जिसके समक्ष संदेह करनेकी हमारी क्षमता शून्यप्राय थी ।

प्रायः ऐसी स्थितिमें तथागतका अवतरण हुआ था । उनका यह अवतरण प्रकृतिके उस नियमके अनुकूल था जिसके अन्तर्गत प्रत्येक क्रियाकी पराकाष्ठापर प्रतिक्रियाका जन्म हुआ करता है ।

गौतमकी जिज्ञासा एवं अध्यवसायने उन्हें 'बुद्ध' बनाया । 'बुद्ध' बनकर उन्होंने संसारकी पीड़ाका निराकरण करना चाहा और निराकरण उन्होंने ढूँढ़ा—आत्मशुद्धिमें आत्मसंयममें, आत्मदर्शनमें । उन्होंने देखा कि लोक शान्ति पानेका इच्छुक तो है, पर शान्ति ढूँढ़ रहा है किसी औरमें, अपनेमें नहीं । यदि वह अपनेमें शान्तिको उपलब्ध करनेका प्रयत्न करे तो सफलता मिल सकती है । बस, इसी एक मूल उद्देश्यको लेकर वे चले । उन्हें ऐसी आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई जिससे प्रेरित होकर वे ब्रह्मके विषयमें अधिक कहते । लेकिन जब-जब उन्हें आवश्यकता पड़ी तो अपनेके प्रसिद्ध देवताओंका स्मरण करना वे नहीं भूले । देवताओंकी केवल सत्ता ही उन्हें मान्य नहीं थी; बल्कि देवी-देवताओंकी शक्तियों, कृत्यों एवं विशेषताओंको भी उन्होंने स्वीकार किया था । हाँ, उन्होंने ऐसे ब्रह्मको स्वीकार नहीं किया जो हमारे सुखों और दुःखोंका कारण है, जो कि हमारे प्रत्येक कार्यमें हस्तक्षेप करता है और पुण्य-पापोंका उत्तरदायी है; क्योंकि ब्रह्मके लिये ऐसी धारणा बनाना किसी भी तर्कवान् व्यक्तिके लिये तर्कसंगत नहीं जँचता । उनका ऐसा कहना कोई ब्रह्मविरोधी नहीं था; क्योंकि ऐसी बातें तो हमारे पुराणोंमें भी स्थान-स्थानपर प्रतिपादित हैं—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते शरीर हे निस्तर यत्त्वया कृतम् ॥

(गरुडपुराण)

वे ऐसे देवको स्वीकार करनेके पक्षमें भी नहीं थे, जो गोमेध, अश्वमेध, नरमेघ आदि यज्ञ-यागोंमें पशुबलि या हिंसाकी आज्ञा देता है ।

तिविज्जासुतके अन्तिम भागमें तथागतने कहा है कि ब्रह्मविहारके अभ्यासके माध्यमसे हम उस ब्रह्मका सांनिध्य प्राप्त कर सकते हैं, जो एक मौलिक शक्ति है और समस्त जंगम-स्थावरका आधार है ।

इसी प्रकार धम्मपदमें एक स्थलपर भगवान् बुद्ध कहते हैं कि 'हे घर बनानेवाले, तुम्हें मैंने देख लिया है, अब तुम पुनः घर नहीं बना सकोगे' ।

गहकारक दिट्ठोऽसि पुना गेहं न माहसि,
सभा ते फासुका भग्गा, गट्ट कुट्टं विसंखितम्,
विसंखारगतं चित्तं तन्हानं स्वयमज्झगा ॥

(धम्मपद (जरावग्गो) १५४)

जरावर्गके इस पद्यमें तथागतने उस ब्रह्मकी ओर संकेत किया है जो इस पिण्डका निर्माण करता है और जन्म-मरणके पाशमें फाँसता है तथा जिसे देख लेनेपर मुक्ति मिलती है—निर्वाण प्राप्त होता है ।

ब्रह्मके दर्शन करनेपर भी महात्मा बुद्धके इस सत्यको

भिक्षुओं, भदन्तोंतक प्रकाशित न करनेका कारण निम्नलिखित घटनासे स्पष्ट होता है—एक बारकी बात है कि तथागत कौशाम्बीमें एक शिंशपा तरुके तले बैठे थे। उन्होंने शिंशपाके कुछ पत्ते अपने हाथमें लिये और कहा 'भिक्षुओ ! मेरे हाथमें अधिक पत्ते हैं या पेड़पर ?' भिक्षुओंने उत्तर दिया-- 'भगवन् ! पेड़पर।' तथागतने फिर कहा, 'भिक्षुओ ! ऐसे ही उस ज्ञानसे, जो मैंने तुम्हें दिया है, वह ज्ञान, जो मैंने तुम्हें नहीं दिया अधिक है।' तदुपरान्त उन्होंने कहा है 'कि मैंने वह ज्ञान तुम्हें इसलिये नहीं दिया, क्योंकि वह तुम्हारे कामका नहीं है।' (संयुत्तनिकाय)।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि भगवान् बुद्धके पास उपदिष्टसे कहीं अधिक अनुपदिष्ट रक्खा हुआ था जिसको उन्होंने कभी अपने उपदेशोंमें पुष्कल स्थान नहीं दिया। इसी अनुपदिष्टमें उनकी आस्तिकता निहित थी। समयकी माँग आस्तिकताके प्रचार करनेकी नहीं थी। समयकी माँग अपने आपका विश्लेषण करनेकी थी। संतप्त संसारको शान्ति प्राप्त करानेकी थी। ब्रह्मप्रह्व जनोंको आत्मप्रह्व बनानेकी थी।

एवमेव एक और उदाहरण देकर उन्होंने प्रत्येक प्रश्नको समाहित न करनेका आग्रह भी अपने शिष्योंसे किया है। उन्होंने कहा है—'यदि किसी एक व्यक्तिके विषाक्त बाण लगे और वह व्यक्ति उस बाणको निकालनेसे पहले यह पूछे कि बाण मारनेवाला कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? क्यों है ? तो वह अपने प्रश्नोंका उत्तर पानेसे पहले ही मर जायगा। इसी प्रकार जो शिष्य सभी प्रश्नोंका उत्तर पा लेनेकी चेष्टा करते हैं वे अन्तिम तथ्य (ब्रह्म) को जान लेनेसे पूर्व ही मर जायँगे। (' मज्झिमनिकाय)।

तथागतने ब्रह्मकी सत्ताको धर्म (धम्म) के रूपमें भी कई स्थलोंपर स्वीकार किया है (अंगुत्तर १-१४९)। मुक्त जीवकी स्थिति बताते हुए वे कहते हैं कि 'निर्वाणप्राप्त जीव शान्त तथा निश्चल होता है और वह आत्माके साथ चरम सुखकी अनुभूति करता है जो कि ब्रह्म (ब्रह्मभूत) बन गयी होती है (मज्झिमनिकाय १-३४४, २-१५९, अंगुत्तर २-२११)।

कई बार तो भगवान् बुद्ध उत्तमावस्थाके लिये 'ब्रह्म-प्राप्ति' शब्दका सीधा प्रयोग करते हैं (मज्झिमनिकाय १-३०४)।

इसी ब्रह्मको उन्होंने गृहकारक (गहकारक) कहा है क्योंकि ब्रह्म ही इस शरीररूपी गृहका निर्माता है। एक बार और भी तथागतने इसी शब्दसे ब्रह्मकी ओर इंगित किया है और कहा है कि मैं नाना योनियोंमें गृहकारकको ढूँढ़ता फिरा हूँ—

अनेक-जाति संसारं सन्धाविस्समनिब्बिसम्।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनम्॥

(धम्मपद (जरावग्गो) १५३

इन उद्धरणोंके अतिरिक्त देवताओंके उद्धरण भी तथागतने यत्र-तत्र धम्मपदमें अनेक बार प्रस्तुत किये हैं।

देवताओंके राजा देवराज इन्द्रका उदाहरण देकर तथागत कहते हैं कि इन्द्र अप्रमादसे ही देवताओंमें श्रेष्ठतम माना जाता है, अतः अप्रमादकी प्रशंसा करनी चाहिये एवं प्रमादकी गर्हा—

अप्पमादेन मघवा देवानां सेट्ठ तमं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा॥

(धम्मपद (अप्पमादवग्गो) ३०

इसके अतिरिक्त धम्मपदमें यम, मार, अन्तक, गन्धर्व, ब्रह्मा, नरक और स्वर्ग इत्यादि हिंदुमान्यताओंका क्रमशः पुष्फवग्गो—१, ३, ५, सहस्सवग्गो–६, कोधवग्गो-१, मलवग्गो–१, निरयवग्गो–६ में वर्णन पाया जाता है। अतः तथागतको नास्तिक कहना कदापि उचित नहीं। हाँ, यह अवितथ है कि तथागतको आत्मसाक्षात्कारके लिये तथा निर्वाणप्राप्तिके लिये ब्रह्मके ऊपर आश्रित रहना अपेक्षित नहीं था।

समयकी पुकारने उन्हें मानवको पीड़ाविमुक्त करानेके लिये 'स्व' का पाठ पढ़ानेको कहा। इसी स्वबोधके लिये उन्होंने अष्टाङ्गमार्ग आदि साधनोंकी शिक्षा दी।

* * *

पराजय, गुरु और युवक

(लेखक—प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, साहित्यरत्न)

'शिष्यात् पुत्रात् पराजयम्' अर्थात् शिष्य और पुत्रसे पराजयकी कामना करनी चाहिये—इस वाक्यका स्पष्टीकरण करते हुए मैं विद्यार्थियोंको यह समझानेका प्रयत्न कर रहा था कि पिता और गुरुके स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। संसारमें केवल दो व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो किसीकी वृद्धि एवं उन्नतिसे संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं। प्रत्येक गुरुकी यह इच्छा होती है कि उसके विद्यार्थी उससे अधिक विद्वान् एवं उच्च आसन ग्रहण करनेवाले बनें। प्रत्येक पिता यह चाहता है कि उसका पुत्र उससे अधिक सुखी, सम्पन्न एवं समृद्ध बने। पिता और गुरु वस्तुतः अपने पुत्र और शिष्यके व्यक्तित्वमें अपने आत्माका दर्शन करते हैं।

'ऐसा किस प्रकार सम्भव है ?'—कहते हुए एक विद्यार्थीने शंका उपस्थित की। उसके नेत्रोंमें अविश्वास एवं उपेक्षाके भाव स्पष्ट प्रकट थे। बालकका अविश्वास दूर करनेके विचारसे मैंने अपने व्यक्तिगत जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करते हुए कहा कि 'एक बार मैचमें मेरे टैनिसके गुरुने मुझसे पराजित होनेपर मेरी पीठ थपथपायी थी—अतः गुरुकी इस भावनाका मैं स्वयं प्रमाण हूँ।'

मैं समझता था कि मेरे उत्तरसे बालकका पूर्ण समाधान हो जायगा और गुरुके प्रति उसकी उपेक्षा निर्मूल हो जायगी। निरुत्तर होनेके स्थानपर उस विद्यार्थीने और भी अधिक कठोर प्रहार करते हुए प्रत्युत्तर प्रस्तुत किया—'मनमें तो जल ही रहे होंगे—ऊपरी मनसे पीठ थपथपा दी होगी।' मैं चुप हो गया।

विद्यार्थीका कथन मेरे लिये प्रायः एक पहेली ही बन गया। उसने मुझे ऊपरसे नीचेतक झकझोर डाला। मैं विश्लेषण करना चाहता था कि इस विद्यार्थीने मेरा अपमान करना चाहा था, अथवा समाजके प्रति अपना अविश्वास प्रकट किया था किंवा आर्ष-ग्रन्थकी प्रामाणिकता अस्वीकार की थी।

मैं विज्ञानकी एक कक्षाको हिंदी पढ़ा रहा था। परमाणु-शक्तिसे सम्बन्धित एवं संदर्भको मैं स्पष्ट कर रहा था। हिंदीके एक अध्यापकका यह प्रयत्न किसी सीमातक विद्यार्थियोंके लिये आश्चर्यमिश्रित मनोरञ्जनका विषय था। उनमेंसे कुछ तो सम्भवतः इसे मेरी अनधिकार चेष्टाके रूपमें देख रहे थे। एक कोनेमें बैठे हुए विद्यार्थियोंने इस विषयको लेकर आपसमें बातें करना आरम्भ कर दिया। 'डाक्टर साहब साइंस पढ़े हुए मालूम पड़ते हैं ?' 'जी हाँ, बी० एस्-सी० हैं।' 'तब हिंदीके अध्यापक क्यों बने ?' 'साइंस आगे चली न होगी ?' 'प्रिंसिपल सिंहने इनसे कहा होगा कि आप हिंदी पढ़ाइये—आपके बिना हिंदी विभागका काम चल नहीं रहा है'—आदि।

इन बातोंको मैं सुनी-अनसुनी करके आगे बढ़ता गया। परंतु आप सहमत होंगे कि उक्त वार्तालापमें अध्यापकके प्रति उपेक्षा, अपमान, निरादर, घृणा आदिके भाव ओतप्रोत थे। ऐसी स्थितिमें अध्यापक चुप हो जानेके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है। यह बात दूसरी है कि वह विवशतावश चुप हो अथवा अध्ययनके लिये कुछ सामग्री प्राप्त करके दार्शनिककी तरह मन-ही-मन मुस्करा दे।

उपर्युक्त दोनों घटनाएँ एक विशेष तथ्यकी ओर संकेत करती हैं। आजके नवयुवकके मनमें अपने बड़ोंके प्रति आस्थाका अभाव हो चला है तथा उदार-

भिक्षुओं, भदन्तोंतक प्रकाशित न करनेका कारण निम्नलिखित घटनासे स्पष्ट होता है—एक बारकी बात है कि तथागत कौशाम्बीमें एक शिंशपा तरुके तले बैठे थे। उन्होंने शिंशपाके कुछ पत्ते अपने हाथमें लिये और कहा 'भिक्षुओ ! मेरे हाथमें अधिक पत्ते हैं या पेड़पर ?' भिक्षुओंने उत्तर दिया-- 'भगवन् ! पेड़पर।' तथागतने फिर कहा, 'भिक्षुओ ! ऐसे ही उस ज्ञानसे, जो मैंने तुम्हें दिया है, वह ज्ञान, जो मैंने तुम्हें नहीं दिया अधिक है।' तदुपरान्त उन्होंने कहा है 'कि मैंने वह ज्ञान तुम्हें इसलिये नहीं दिया, क्योंकि वह तुम्हारे कामका नहीं है।' (संयुत्तनिकाय)।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि भगवान् बुद्धके पास उपदिष्टसे कहीं अधिक अनुपदिष्ट रक्खा हुआ था जिसको उन्होंने कभी अपने उपदेशोंमें पुष्कल स्थान नहीं दिया। इसी अनुपदिष्टमें उनकी आस्तिकता निहित थी। समयकी माँग आस्तिकताके प्रचार करनेकी नहीं थी। समयकी माँग अपने आपका विश्लेषण करनेकी थी। संतप्त संसारको शान्ति प्राप्त करानेकी थी। ब्रह्मप्रह्व जनोंको आत्मप्रह्व बनानेकी थी।

एवमेव एक और उदाहरण देकर उन्होंने प्रत्येक प्रश्नको समाहित न करनेका आग्रह भी अपने शिष्योंसे किया है। उन्होंने कहा है—'यदि किसी एक व्यक्तिके विषाक्त बाण लगे और वह व्यक्ति उस बाणको निकालनेसे पहले यह पूछे कि बाण मारनेवाला कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? क्यों है ? तो वह अपने प्रश्नोंका उत्तर पानेसे पहले ही मर जायगा। इसी प्रकार जो शिष्य सभी प्रश्नोंका उत्तर पा लेनेकी चेष्टा करते हैं वे अन्तिम तथ्य (ब्रह्म) को जान लेनेसे पूर्व ही मर जायँगे। (' मज्झिमनिकाय)।

तथागतने ब्रह्मकी सत्ताको धर्म (धम्म) के रूपमें भी कई स्थलोंपर स्वीकार किया है (अंगुत्तर १–१४९)। मुक्त जीवकी स्थिति बताते हुए वे कहते हैं कि 'निर्वाणप्राप्त जीव शान्त तथा निश्चल होता है और वह आत्माके साथ चरम सुखकी अनुभूति करता है जो कि ब्रह्म (ब्रह्मभूत) बन गयी होती है (मज्झिमनिकाय १-३४४, २-१५९, अंगुत्तर २-२११)।

कई बार तो भगवान् बुद्ध उत्तमावस्थाके लिये 'ब्रह्मप्राप्ति' शब्दका सीधा प्रयोग करते हैं (मज्झिमनिकाय १-३०४)।

इसी ब्रह्मको उन्होंने गृहकारक (गहकारक) कहा है; क्योंकि ब्रह्म ही इस शरीररूपी गृहका निर्माता है। एक बार और भी तथागतने इसी शब्दसे ब्रह्मकी ओर इंगित किया है और कहा है कि मैं नाना योनियोंमें गृहकारकको ढूँढ़ता फिरा हूँ—

अनेक-जाति संसारं सन्धाविस्समनिब्बिसम्।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनम्॥
(धम्मपद (जरावग्गो) १५३)

इन उद्धरणोंके अतिरिक्त देवताओंके उद्धरण भी तथागतने यत्र-तत्र धम्मपदमें अनेक बार प्रस्तुत किये हैं।

देवताओंके राजा देवराज इन्द्रका उदाहरण देकर तथागत कहते हैं कि इन्द्र अप्रमादसे ही देवताओंमें श्रेष्ठतम माना जाता है, अतः अप्रमादकी प्रशंसा करनी चाहिये एवं प्रमादकी गर्हा—

अप्पमादेन मघवा देवानां सेट्ठ तमं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा॥
(धम्मपद (अप्पमादवग्गो) ३०)

इसके अतिरिक्त धम्मपदमें यम, मार, अन्तक, गन्धर्व, ब्रह्मा, नरक और स्वर्ग इत्यादि हिंदुमान्यताओंका क्रमशः पुप्फवग्गो—१, ३, ५, सहस्सवग्गो–६, कोधवग्गो-९, मलवग्गो–१, निरयवग्गो–६ में वर्णन पाया जाता है। अतः तथागतको नास्तिक कहना कदापि उचित नहीं। हाँ, यह अवितथ है कि तथागतको आत्मसाक्षात्कारके लिये तथा निर्वाणप्राप्तिके लिये ब्रह्मके ऊपर आश्रित रहना अपेक्षित नहीं था।

समयकी पुकारने उन्हें मानवको पीड़ाविमुक्त करानेके लिये 'स्व' का पाठ पढ़ानेको कहा। इसी स्वबोधके लिये उन्होंने अष्टाङ्गमार्ग आदि साधनोंकी शिक्षा दी।

* * *

पराजय, गुरु और युवक

(लेखक—प्रो० डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०, साहित्यरत्न)

'शिष्यात् पुत्रात् पराजयम्' अर्थात् शिष्य और पुत्रसे पराजयकी कामना करनी चाहिये—इस वाक्यका स्पष्टीकरण करते हुए मैं विद्यार्थियोंको यह समझानेका प्रयत्न कर रहा था कि पिता और गुरुके स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं । संसारमें केवल दो व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो किसीकी वृद्धि एवं उन्नतिसे संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं । प्रत्येक गुरुकी यह इच्छा होती है कि उसके विद्यार्थी उससे अधिक विद्वान् एवं उच्च आसन ग्रहण करनेवाले बनें । प्रत्येक पिता यह चाहता है कि उसका पुत्र उससे अधिक सुखी, सम्पन्न एवं समृद्ध बने । पिता और गुरु वस्तुतः अपने पुत्र और शिष्यके व्यक्तित्वमें अपने आत्माका दर्शन करते हैं ।

'ऐसा किस प्रकार सम्भव है ?'—कहते हुए एक विद्यार्थीने शंका उपस्थित की । उसके नेत्रोंमें अविश्वास एवं उपेक्षाके भाव स्पष्ट प्रकट थे । बालकका अविश्वास दूर करनेके विचारसे मैंने अपने व्यक्तिगत जीवनकी एक घटनाका उल्लेख करते हुए कहा कि 'एक बार मैचमें मेरे टैनिसके गुरुने मुझसे पराजित होनेपर मेरी पीठ थपथपायी थी—अतः गुरुकी इस भावनाका मैं स्वयं प्रमाण हूँ ।'

मैं समझता था कि मेरे उत्तरसे बालकका पूर्ण समाधान हो जायगा और गुरुके प्रति उसकी उपेक्षा निर्मूल हो जायगी । निरुत्तर होनेके स्थानपर उस विद्यार्थीने और भी अधिक कठोर प्रहार करते हुए प्रत्युत्तर प्रस्तुत किया—'मनमें तो जल ही रहे होंगे—ऊपरी मनसे पीठ थपथपा दी होगी ।' मैं चुप हो गया ।

विद्यार्थीका कथन मेरे लिये प्रायः एक पहेली ही बन गया । उसने मुझे ऊपरसे नीचेतक झकझोर डाला । मैं विश्लेषण करना चाहता था कि इस विद्यार्थीने मेरा अपमान करना चाहा था, अथवा समाजके प्रति अपना अविश्वास प्रकट किया था किंवा आर्ष-ग्रन्थकी प्रामाणिकता अस्वीकार की थी ।

मैं विज्ञानकी एक कक्षाको हिंदी पढ़ा रहा था । परमाणु-शक्तिसे सम्बन्धित एवं संदर्भको मैं स्पष्ट कर रहा था । हिंदीके एक अध्यापकका यह प्रयत्न किसी सीमातक विद्यार्थियोंके लिये आश्चर्यमिश्रित मनोरञ्जनका विषय था । उनमेंसे कुछ तो सम्भवतः इसे मेरी अनधिकार चेष्टाके रूपमें देख रहे थे । एक कोनेमें बैठे हुए विद्यार्थियोंने इस विषयको लेकर आपसमें बातें करना आरम्भ कर दिया । 'डाक्टर साहब साइंस पढ़े हुए मालूम पड़ते हैं ?' 'जी हाँ, बी० एस्-सी० हैं ।' 'तब हिंदीके अध्यापक क्यों बने ?' 'साइंस आगे चली न होगी ?' 'प्रिंसिपल सिंहने इनसे कहा होगा कि आप हिंदी पढ़ाइये—आपके बिना हिंदी विभागका काम चल नहीं रहा है'—आदि ।

इन बातोंको मैं सुनी-अनसुनी करके आगे बढ़ता गया । परंतु आप सहमत होंगे कि उक्त वार्तालापमें अध्यापकके प्रति उपेक्षा, अपमान, निरादर, घृणा आदिके भाव ओतप्रोत थे । ऐसी स्थितिमें अध्यापक चुप हो जानेके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है । यह बात दूसरी है कि वह विवशतावश चुप हो अथवा अध्ययनके लिये कुछ सामग्री प्राप्त करके दार्शनिककी तरह मन-ही-मन मुस्करा दे ।

उपर्युक्त दोनों घटनाएँ एक विशेष तथ्यकी ओर संकेत करती हैं । आजके नवयुवकके मनमें अपने बड़ोंके प्रति आस्थाका अभाव हो चला है तथा उदार-

मना व्यक्तिके रूपमें वह एक अध्यापककी कल्पना करनेमें असमर्थ है। उसकी दृष्टिमें आधुनिक अध्यापक एक अधकचरा, कामचलाऊ आदमी होता है। इस कारण वह यह सोच सकनेमें असमर्थ है कि एक अध्यापक अपने शिष्यको अपनी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बनाना चाहता है। वह कदाचित् यह भी माननेको तैयार नहीं है कि आजकलके इस कामचलाऊ युगका अध्यापक एकसे अधिक विषयोंका विद्यार्थी हो सकता है। अनास्था एवं अविश्वासके अतिरिक्त उसके मनमें घृणाका अङ्कुर भी विद्यमान रहता है। वह अपने गुरुजनको आदरके स्थानपर उपेक्षा एवं निरादरकी दृष्टिसे देखनेका अभ्यस्त होता जा रहा है। इस भावकी पराकाष्ठा उस समय परिलक्षित होती है जब हमारा नवयुवक अपने माता-पिताके प्रति भी किसी प्रकारकी कृतज्ञताका अनुभव न करते हुए यह कह देता है कि 'मेरा लालन-पालन वे विवशतावश ही कर रहे हैं। संतान उनकी भोगवृत्तिका दुष्परिणाम है।'

हमारे नवयुवक-वर्गके मनमें इस प्रकारके भाव क्यों अङ्कुरित और पल्लवित होते हैं? वे इतने अविश्वासी, अश्रद्धालु एवं अशिष्ट क्यों होते जा रहे हैं? आदि प्रश्न हमें विचलित एवं विह्वल बना देते हैं। नवयुवकवर्गको केवल बुरा-भला कह देनेभरसे हमारा काम नहीं चलेगा। असहिष्णु बनकर हम अपना भविष्य अन्धकारमय बना लेंगे। अतः आवश्यक है कि हम शान्तचित्त होकर गम्भीरतापूर्वक स्थिति—परिस्थितिका विश्लेषण करें।

आधुनिक विज्ञानके साथ तर्क एवं विश्लेषणकी प्रकृति जाग्रत् हुई। 'अविश्वास' एवं 'संदेहशीलता' उसके आवश्यक परिणामके रूपमें समाजको प्राप्त हुए। कटुवाद इसीका दुष्परिणाम है। इस मनोवृत्तिके फलस्वरूप 'प्रमाण' और 'विश्वास' प्रायः समाप्त होते जा रहे हैं।

डार्विन, फ्राइड और कार्ल मार्क्सके भौतिकवादी दर्शनने आत्माको अस्वीकार करके मानवको जड और जडवादी बना दिया है। हमारा नवयुवक मानवके मनमानसमें उदात्तवृत्तिका दर्शन करना बुद्धिकी विडम्बना मान बैठा है। सम्भवतः उसके मतानुसार जीवनमें चेतना-विकास, स्नेह एवं उदारताके लिये कोई स्थान नहीं रह गया है। माता और पुत्र, पिता और पुत्री, भाई और बहिनके प्रेमको वह योनि-भावनाके पंकसे आवृत देखता है। अपने कामसे काम रखनेवाला व्यक्ति उसके मतानुसार समाजद्रोही है; क्योंकि कार्ल-मार्क्स कह गये हैं कि जिसके मुँहपर संतोषकी झलक दिखायी दे, वह 'शोषक' होनेके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है।

जनवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताने व्यक्तिको व्यक्तिवादी और उच्छृङ्खल बना दिया है। जनतन्त्रमें व्यक्तित्वको तौलनेके बजाय व्यक्तिको गिननेका चलन हुआ। फलतः व्यक्तित्वकी गुरुता और गम्भीरता विदा हो गयी।

साम्यवादने पूँजीपतिके प्रति घृणाका प्रचार किया। भरपेट रोटी खानेवाला प्रत्येक व्यक्ति घृणा एवं विद्वेषका पात्र बन गया। इसके दुष्परिणाम तीन रूपोंमें उपलब्ध हैं—(१) यदि आपके पड़ोसियोंको यह विश्वास है कि आप भरपेट रोटी खा लेते हैं, तो आपसे अधिक बुरा व्यक्ति कोई नहीं है। (२) आप यदि बाजारमें साफ कपड़े पहनकर निकलते हैं, तो आप समस्त घृणा एवं अपमानके स्वयं-प्रमाण पात्र हैं। तथा (३) गरीबीकी ओटमें समाजके अवाञ्छनीय तत्त्वको मनमानी करनेकी छूट मिल गयी है।

इन नवीन प्रवृत्तियोंने हमें अनेक नारे प्रदान किये हैं। कोई विचार केवल इसलिये बुरा है, क्योंकि उसमें प्राचीनताकी गन्ध आती है; कोई बात केवल इसलिये निन्दनीय है, क्योंकि वह सामन्तवादी है; कोई रीति केवल इसलिये त्याज्य है, क्योंकि वह जातिवादकी देन है; कोई बात केवल इसलिये समर्थन करनेयोग्य है, क्योंकि उसका कहनेवाला एक अशिक्षित भिखारी अथवा रिक्शाचालक है और कोई संस्था केवल इसलिये असामाजिक है, क्योंकि उसकी स्थापना करनेवाले व्यक्ति शिक्षित एवं धनाढ्यवर्गसे सम्बन्धित हैं आदि ।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त वातावरणका निर्माण हमारे राजनीतिज्ञोंद्वारा हुआ है और वे ही इससे आपाततः लाभान्वित भी होते देखे जा रहे हैं। ऐसे दूषित वातावरणमें सामान्य सामाजिक यदि परद्रोही, परधन-रत एवं पर-अपवादमें निरत हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है ? भीख माँगने और जेब काटनेको फैशनकी चीज समझ लेना भी मेरे विचारसे इसी दूषित वातावरणका परिणाम है ।

जिस समाजमें अविश्वास, घृणा एवं कटुवादकी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन प्राप्त होता हो, उस समाजका नवयुवक यदि हमारे उपर्युक्त छात्रोंकी भाँति अशिष्ट एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहारका अभ्यस्त हो जाय, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है । उसका व्यवहार यदि हमारे अन्धकारपूर्ण भविष्यका अग्रदूत है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने हृदयपर हाथ रखकर शान्तिपूर्वक विचार करनेका प्रयत्न करें ।

वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील विचारधाराएँ सदैव हितकारी हैं और उन्हें रोका भी नहीं जाना चाहिये । प्रश्न तो है उनके सीमित, संयत एवं सर्वहितकर उपयोगका । अमृततुल्य पौष्टिक एवं सुस्वादु पदार्थका असंयत प्रयोग अजीर्णकारी एवं रोगोत्पादक हो जाता है । अतएव आवश्यक है कि हम आगे बढ़नेके साथ-साथ रुकना और पीछे देखना न भूल जायँ । व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आज उच्छृङ्खलताकी सीमातक ही नहीं पहुँच गया है, अपितु वह दूसरेकी स्वतन्त्रताका अपहरण करनेवाला एवं परपीडनकारी भी बनता जा रहा है । पूँजीवादके प्रति उत्पन्न घृणा अब प्रत्येक शरीफ आदमीके जीवनको खतरेमें डालनेवाली चीज बनती जा रही है एवं विज्ञानद्वारा प्रदत्त तर्क एवं विश्लेषण अविश्वास एवं अनास्थाकी सीमाको पार करके अज्ञान एवं जडताके प्रतीक बन उनके प्रति दुराग्रह करने लगे हैं ।

प्राचीन अज्ञानजन्य परम्पराओंको विशृङ्खलित करनेका कार्य प्रायः समाप्त हो चुका है । अब नव-निर्माणकी आवश्यकता है । अतः हमारा कर्तव्य है कि जो कुछ हमने प्राप्त कर लिया है, कम-से-कम हम उसके प्रति तो आस्तिक और विश्वासी बन जायँ । प्रत्येक घटना प्रत्येक क्षण अतीत बनती रहती है । अतीतके प्रति निरङ्कुश अविश्वासका अर्थ वर्तमानके प्रति उपेक्षा और भविष्यके प्रति अविश्वास है । उपेक्षा और अविश्वासके वातावरणमें निर्माणका स्वप्न केवल दिवास्वप्न बनकर रह जाता है । हमारे उदीयमान नवयुवकोंका तथाकथित अशिष्ट व्यवहार खतरेकी घंटी है, जिसे सुनकर हमें सजग और सावधान हो जाना चाहिये तथा वर्तमानको प्याजके छिलकेकी भाँति निरर्थक समझकर बराबर त्याज्य समझते रहनेकी प्रवृत्तिपर अपने गन्तव्यकी भूमिकामें गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये ।

* * *

अन्तिम समयकी प्रार्थना

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (ईश० १५)

हे भगवन् ! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं । आपकी भक्ति ही सत्य धर्म है । मैं उस धर्मका पालन करता हूँ । आपका श्रीमुख, सच्चिदानन्दस्वरूप सूर्यमण्डलकी ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है । मैं आपका निरावरण प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ । मेरे मनोरथकी पूर्ति आप अवश्य करेंगे । आपके निरावरण दर्शनमें जो बाधाएँ हैं, आप उन सबको मेरे लिये हटा दीजिये ।

[इस मन्त्रका एक अर्थ यह भी है—'हे परमात्मन्, सोनेके पात्रसे अर्थात् सोनेकी तरह लुभानेवाली मायाकी यवनिकासे, आपका मुख आवृत है, यानी मैं विषयमें पड़ा हूँ । इस समय, हे सबके पोषक ! उस आवरणको इस सत्य-परायण साधकके लिये आप हटा दें, ताकि मैं आपका दर्शन कर सकूँ ।']

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह । तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

(ईश० १६)

हे भगवन् ! आप भक्तोंके पोषण करनेवाले हैं । एकमात्र आप ही सबको ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं । आप सबका नियमन करनेवाले हैं । आप भक्तोंके लक्ष्य हैं । आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं । हे प्रभो ! सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्य स्वरूपके दर्शन कराइये । आपका जो परम सुन्दर, कल्याणतम रूप है, उसे मैं आपकी कृपासे देख रहा हूँ । वह जो सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं भी हूँ ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳस्मर ॥ (ईश० १७)

मेरे प्राण, इन्द्रिय इत्यादि अपने-अपने उपादान (जल, वायु इत्यादि) में विलीन हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय । हे अग्निरूपी ब्रह्म (ॐ) ! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये । अन्तकालमें मैं आपकी शरणमें आ गया हूँ ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(ईश० १८)

हे अग्ने ! आप मुझे मङ्गलमय पथसे भगवान्‌के चरणोंमें पहुँचा दीजिये । आप मेरे कर्मोंको जानते हैं । यदि आपके जाने मेरा कोई कर्म ऐसा हो जो इस पथमें बाधा डाले, तो आप कृपाकर उसे नष्ट कर दीजिये । इस समय मैं और कुछ नहीं कर सकता, अतः बार-बार आपको नमस्कार करता हूँ ।

मित्र

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[सच्ची घटना—नाम बदले हुए]

(१)

'भई हम तो आरामको आराम समझकर ही आरामके साथ आराम करते हैं। आरामको हराम नहीं समझते।'

'बनासा, मैंने यह बात नहीं कही। आप बुरा मान गये। मेरे कहनेका तो अभिप्राय केवल इतना ही था कि प्रतिष्ठानके कार्यको भी कभी-कभी देख लिया जाया करे, ताकि आमद-खर्चका सही-सही हाल मालूम होता रहे।'

सेठ सुरपालजीके सुपुत्र रमेशजीको लाड़प्यारकी बोलीमें सभी लोग 'बनासा' कहा करते थे। वे एक ही पुत्र सुरपालजीके यहाँ, बड़े दान-पुण्य, व्रत-उपवास करनेपर उत्पन्न हुए थे। इनके जन्मोत्सवपर खूब खुशियाँ मनायी गयी थीं। दीन-दुखी और याचकोंको भरपूर इनाम दिया गया था।

सुरपालजीके पास धन-दौलतकी कमी नहीं थी। उन्होंने बड़ी ईमानदारी और कड़ी मेहनतसे कमाया था। उनके पूर्वज भी काफी रुपया कमाकर पिछली पीढ़ीके वास्ते छोड़ गये थे। इसीसे अब कोई अभाव—असुविधा उन्हें आरामकी जिंदगी बितानेमें महसूस नहीं होती थी; किंतु यह बात नहीं थी कि अपनी बड़े-बड़े नगरोंकी दूकानोंका काम सुरपाल न देखते हों। वे सभीके आय-व्ययको बड़ी बारीकीसे देखते और आगे आय बढ़ानेका मुनीमोंको मार्गदर्शन करते थे। उनकी सलाह और शासनके मुताबिक काम होनेसे दूकानोंपर आयके जरिये भी बढ़ते जाते थे। कार्यकर्ता उनके भयसे ईमानदारी और दिलचस्पीके साथ कार्य किया करते थे।

रमेश 'बनासा'के कमरेमें शीतकालमें रुई-भरे रेशमी पर्दे लगे रहते थे, ताकि जरा-सी भी शीतलहर उन्हें न लग जाय, नहीं तो जुकाम या निमोनिया हो जानेका भारी भय लगा रहता था—विशेषकर माता कुसलाजीको।

इसी प्रकार ग्रीष्म-ऋतुमें खसकी टट्टियोंका उपयोग होता था और उनपर हर समय जल छिड़कनेके लिये कई आदमी नौकर थे। पंखे चलते थे। कमरेमें शिमलाके समान शीतलता बनी रहती थी। उनके आराममें तनिक भी विघ्न न डाला जाय, यह सभीको हिदायत थी—उनके माता-पिताकी।

एक दिन बनासाके मास्टर साहबने पेढ़ियोंका कुछ काम देखते रहनेकी बात उनसे कही थी, जिसका उन्होंने ऊपरवाला उत्तर दिया था।

× × ×

खबर फैली कि नगरमें दो नामी गवैये आये हैं, जिनकी संगीत-कलाकी लोगोंमें खूब चर्चा हो रही है। मित्रोंके आग्रहसे बनासाके यहाँ भी इन मशहूर गायकोंका संगीत सुननेका आयोजन किया गया।

हसीन गायिकाने खड़े होकर लहजेके साथ मुरककर एक गजल गायी। साजिन्दे अच्छा साथ दे रहे थे। गजलमें एक शैरकी यह कड़ी थी—

'तुम तो नादां हो सनम किसकी बनी रहती है!'

गजल सुनकर सभीने तारीफके पुल बाँध दिये।

फिर उस्ताद हबीबुल्लाखाँ उठे। साज मिलाकर सितारके तारोंपर फुर्तीसे अभ्यस्त अंगुलियोंको चलाते हुए उन्होंने एक लाजवाब गजलमें यह शैर कहा—

'बनीके चेहरे पै लाखों निसार होते हैं
बनी बिगड़ती है, दुश्मन हजार होते हैं।'

इस शैरपर उस्तादजीको खूब दाद मिली।

संगीतज्ञोंको इनाम-इकराम देकर विदा कर देनेके बाद बनासाने अपने मास्टर साहबसे प्रश्न किया—'इन दोनोंकी गजलोंमें 'बनी' शब्दका अर्थ मैं समझ नहीं पाया। मुझे सब 'बनासा' कहते हैं, तो यह 'बनी' क्या बला है? कृपया समझाइये।'

'बनासा! 'बनी' शब्दके दो अर्थ हैं—प्रतिष्ठा (सफलता) और दुलहन। अपनी ही भूलों और आलस्यसे जब प्रतिष्ठा बिगड़ जाती है और आयके मार्ग रुक जाते हैं, तब मित्रादि लोग [illegible] हैं। दूसरे, नयी दुलहनको देखनेके

लिये सभी लोग लालायित रहते हैं। तीसरा अर्थ यह भी है कि समयके फेरसे किसीकी प्रतिष्ठा एक-सी नहीं रहती।

मास्टरसाहबकी इस उपदेशात्मक व्याख्याने बनासाके दिलपर कोई खास असर नहीं किया। बनासाके दोस्तोंकी संख्या वैसे तो अधिक थी, किंतु पाँच तो अन्तरङ्ग मित्र थे। इनमें भी चार तो ऐसे थे, जो बनासाकी प्रत्येक रंगरेली और आमोद-प्रमोदमें साथ रहकर उनका मन बहलाया करते थे। ये चारों उनके बचपनके बादके मित्र बने थे।

हाँ, केशव पुजारी उनके बालपनेका ही मित्र है। तबका, जब वे सेठ सुरपालके आँगनमें घुटरु-घुटरु चलते थे। विद्याध्ययन भी दोनोंका साथ ही हुआ था। जबतक सुरपालजी इस संसारमें रहे, तबतक केशवके सिवा अन्य मित्र बनासाके नहीं हो पाये थे; क्योंकि तब बनासाको बाहर निकलकर किसीसे मिलने-जुलनेकी आजादी न थी। इसमें अपने इकलौते लाड़ले लालको किसी प्रकारका अनिष्ट हो जानेकी शंका ही विशेष कारण था। बचपनसे वयस्क होनेतक केशव बनासाका प्रिय मित्र बना रहा। कोई भी काम ऐसा नहीं, जिसे केशवके बिना वे अकेलेहीमें कर लिया करते हों। केशवको बुलानेके लिये उनके पास हर समय एक नौकर मौजूद रहता था।

केशव पढ़नेमें जैसा तेज था, वैसा ही सुशील, अध्यापकोंका, माता-पिताका और गुरुजनोंका आज्ञाकारी एवं सदाचारी था। कोई भी जनसंकुल चौराहा ऐसा नहीं था, जहाँके लोग आपसमें केशवके अनेक सद्गुणोंका बखान न करते रहते हों। ऐसे सुयोग्य मित्रके साथ रहकर बनासामें भी सद्गुणोंका समावेश हो गया था—सेठ सुरपालके सामने ही।

किंतु उनकी मृत्युके बाद बनासाके उन चार मित्रोंने उनपर कुछ ऐसा प्रभाव जमाया कि वे अकारण ही केशवसे रुष्ट रहने लगे। केशव भी इस रहस्यको समझ गया था, इसीसे वह बुलानेपर भी कम ही आता-जाता था।

(२)

एक दिन पाँचों मित्रोंमें वार्तालाप हो रहा था। केशवका जिक्र आ गया। एक मित्र बोला—अजी, बनासाके साथ हमें मौज उड़ाते देखकर उसके मनमें जलन होती है। कभी आकर मिलता ही नहीं, तब यही समझा जाय कि

'वह खुलके क्या मिलेगा, घुंडी है उसके दिलमें।
वह चावल क्या पचेगा, जिसमें कनी रहेगी।'

पर वास्तवमें ऐसा नहीं था। कुछ दिनोंके पश्चात् केशव बनासासे मिलनेकी चाह मिटानेके निमित्त स्वयं उनके भवनपर गया। मित्र वहीं बैठे थे। सबका आग्रह हुआ कि वह कुछ संगीत सुनावे। भोलेभाले केशवने सुरीला राग छेड़ दिया और एक सुन्दर वैराग्य तथा भक्तिमूलक भजन गाया—

'खबर नहिं या जुगमें पलकी।'
सुकृत कर ले राम सुमिरि ले, को जाने कल की। खबर नहिं''''

इस भजनको सुनकर पासके कुछ भगवद्भक्त एकत्र हो गये। उनका आग्रह हुआ कि और भी भजन सुनानेकी कृपा हो। किंतु एक मित्र बीचहीमें बोल उठा—'केशव! कोई सिनेमाका गाना सुनाते तो हम दोस्तोंकी तबीअत हरी हो जाती, पर आप तो श्वान''''''' सभी मित्र कहकहा मारकर हँसने लगे।

मित्रोंकी यह व्यंगभरी बात सुनकर केशवको बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ। सोचा—'मैंने अनधिकारियोंके सामने यह भजन गाया ही क्यों? ऐसे लोगोंको, जिनके हृदयमें श्रीभगवान्‌का नाम सुननेकी चाह नहीं है, छोड़कर चल देना ही उचित है।

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।'
—तुलसीदासजी

और वह उसी समय शान्तभावसे चुपचाप वहाँसे उठकर चल दिया।

× × ×

धीरे-धीरे समय निकलता गया। आलस्य और उद्यमहीनताके कारण बनासाके आयके स्रोत रुकते गये। प्रतिष्ठानोंसे लाभकी अपेक्षा अधिक हानि होनेके आँकड़े आने लगे। मित्रोंद्वारा अपव्यय कराना जारी रहा; किंतु आयके बिना वह चलता कबतक। शनैः-शनैः यहाँतक हुआ कि प्रतिष्ठा और धन-दौलत सभी कुछ समाप्त हो गये। जबतक पेढ़ीकी साख बनी थी, अन्य साहूकारोंने बनासाको हजारों रुपये उधार देना चालू रक्खा; किंतु इनका दीवाला निकलता जानकर और निधि देना तो दूर रहा, पहलेकी अपनी लिखित रकमोंके लिये रात-दिन तकाजा करने लगे।

कुछ ऋणदाताओंने तो दावा करके घरका सामान कुर्क करवा लिया। शेष बनासाको तंग करने और खरीखोटी सुनाने लगे, जिससे उनकी बेचैनी बढ़ गयी। किंतु ऋण चुकानेके लिये बनासाके पास अब बचा क्या था। वे, उनकी पत्नी और चार बच्चे शेष थे, जो बुरी तरह पेट पालते थे। उन्हें वही कड़ी हमेशा याद आया करती थी—

'तुम तो नादां हो सनम किसकी बनी रहती है।'

(३)

'भाई, उसके पास चलकर उसकी सहायता तो करनी चाहिये। हमारे मौज-शौकमें उसने बहुत पैसा खर्च किया है। आज उसके दिन बिगड़ गये हैं, तो हमारा दोस्ती या मानवताके नाते फर्ज है कि बिगड़े वक्तमें उसका साथ दें।'

'ब्रजेश! तुम तो सिद्धपनेकी बातें करते हो। पानीकी तरह पैसा बहाया, तो उसे आयपर भी ध्यान देना चाहिये था। इसके ऐश-आरामका बेजा फायदा उठाकर कारिन्दोंने स्वार्थ-साधनमें इसकी सारी पूँजी बर्बाद कर दी। यह सट्टेसे धन बढ़ाना चाहता था। हम सीमित आयवाले उसकी मदद करने जायँ, तो अपने बाल-बच्चोंको कैसे पालें। उसे कियेका फल भोगना ही पड़ेगा।'

दूसरा मित्र बोला—'उसी बेचारेका क्या अपराध है, लक्ष्मीका प्रभाव ही ऐसा है। इसे पाकर बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी दीवाने हो जाते हैं। कहा है—

'ऐश भी हो इशरत भी हो आराम भी हो।
फिर रहे इन्सान काबूमें, बड़ी मुश्किल है।'

केशव गम्भीर स्वरमें बोल उठा—'गलत। बनासा वह चन्दन है, जिसपर साँपोंका विष भी असर नहीं कर सकता। किंतु तुमलोग उसके लिये विषसे भी अधिक साबित हुए हो और आज उसे ही दोषी बता रहे हो।'

चारों मित्रोंमेंसे कोई भी बनासाकी बिगड़ी दशाकी खबर लेनेको उनके भवनपर नहीं गया। बनासाके कई बुलावे आते, तब भी कोई जाना पसंद नहीं करता था। केशवको तो वे अबतक भी बुलाते नहीं थे। मानव-प्रकृति बड़ी अद्भुत है।

अभिन्न मित्रोंका भी पराया हो जाना देखकर बनासाको बड़ा आश्चर्य और दुःख होता था, पर किससे कहने जायँ मनोव्यथा। किसी तरह निर्धनताके दिन व्यतीत कर रहे थे।

× × ×

केशव पुजारी अपने परिवारके लोगोंमें बैठकर सदा संतोष-सुखका अनुभव किया करता था। उसे स्कूलकी अध्यापकीसे जो वेतन मिलता था, उसीमें किसी तरह गृहस्थीका गुजारा चलाता था—पर शान्तिके साथ। यदि किसी दिन रोटीके साथ दालका प्रबन्ध न हो सकता, तो इसका रंज-गम नहीं। किसी वस्तुके अभावसे कोई अशान्ति उत्पन्न नहीं होने देते थे—सभी घरवाले।

इस शान्ति और संतोषमें भी केशवके मनमें नित्य ही एक शूल चुभती रहती थी। 'आज लखपतिके पुत्र बनासाकी कैसी दीन-दशा हो गयी है। जो पर्दोंके अंदर बैठकर सरदी-गरमी, वर्षाके दिन बिताता था, वह आज दर-दर मारा फिरता है, उसे कहीं नौकरी भी नहीं मिलती। विधिकी कैसी विडम्बना है। अब मैं उनके साथ कैसे कर्तव्य निभाऊँ। वेतनसे तो घरका खर्च भी नहीं चल पाता। दूकानदारोंके तकाजे प्रतिदिन सुनता हूँ। क्या किया जाय?' इन विचारोंमें मग्न केशवके सामने प्रश्न था यही।

मुन्नी बोली—'पिताजी, मेरे ओढ़नी कब लाओगे?' मुन्नाने पूछा—'बाबूजी! मेरे जूते कब लाओगे?' पत्नीने कहा—'अब तो इस जीर्ण-शीर्ण साड़ीकी कपाल-क्रिया करवा दो।' केशव दिलासा देता कि—'मेरा एरियर[1] मिलनेवाला है। उससे हेमवतीका विवाह कर देंगे। बच्चोंके कपड़ोंके साथ ही तुम्हें भी अच्छी-अच्छी साड़ियोंसे सजा दूँगा।' पत्नी इस आश्वासनसे शान्त हो जाया करती थी।

× × ×

केशवके पिता यशोदानन्दन बनासाके यहाँ नित्य ही भगवान्‌की पूजा करने आया करते थे। इसके लिये उन्हें वार्षिक वेतन मिलता था, जो अब बनासाकी दीनदशा हो जानेके कारण कुछ समयसे नहीं मिला था। इस सम्बन्धमें जब बनासाने दुःख प्रकट किया, तो पुजारीजी धैर्य दिलाते हुए बोले—'मेरे वेतनकी चिन्ता न करें। यह तो भगवत्-सेवा है। किंतु आज मैं आपको एक मन्त्र बताना चाहता हूँ। आप अटल विश्वासके साथ रामनामका जप किया करो। रामनामकी महिमा अपार है। इस जपसे आपके सभी संकट दूर होकर सुख-सम्पदाकी प्राप्ति होगी। तुलसीदासजीने कहा है—

---

[1] १. वेतन-वृद्धिका इकट्ठा रुपया।

'राम नाम कलि कल्पतरु, सकल सुमंगल कंद ।
सुमिरत करतल सिद्धि सब, पग-पग परमानंद ॥'

भगवान्‌की ऐसी कृपा हुई कि बनासाके हृदयमें राममन्त्र-पर गहरा विश्वास जम गया और वे चित्त-मन लगाकर शान्तिपूर्वक एकान्त स्थानमें बैठकर नित्य रामनामका जप करने लगे ।

(४)

शिक्षाविभागसे आज वेतनवृद्धिका गत वर्षोंका इकट्ठा रुपया सभी अध्यापकोंको मिल रहा है । सभी उसे खर्च करनेकी सूचियाँ बना रहे हैं । केशव तो घरवालोंको पहले ही आश्वासन देता आया है । आज उनकी मनोकामना सिद्ध होनेका दिन है । केशवको लगभग ६००) रुपये मिले । सोचा उसने, 'भला घरके वायदे कैसे भुलाये जा सकते हैं । अन्न-वस्त्र तो इन रुपयोंमेंसे लाना ही है । थोड़ा ऋण-दाताओंको भी देकर संतुष्ट करना है ।' तो भी इन कामोंमें यह रुपया लगा देनेको उसका मन 'हाँ' नहीं कहता । वह ले जाता है केशवको लोकोपकारकी ओर । विवेक भी यही कह रहा है—कर्तव्य भी उसे यही सुझा रहा है ।

पावसकी रिमझिम वर्षामें भींजता हुआ केशव ६००) रु० के नोट जेबमें दबाये हुए प्रसन्न मनसे मार्गपर चला जा रहा है—द्रुत गतिसे । वह बनासाके भवनकी ओर मुड़ा । देखा—उस बड़ी हवेलीमें, जहाँ नौकरों-चाकरोंका जमघट रहता था, बनासा अकेले बैठे हैं—बैठकमें, अब वह सुखका शरीर नहीं—कृश काया है । 'बिगड़ी कौन बनावे मेरे प्रभु बिनु' यह भजन गुनगुना रहे हैं ।

बहुत दिनोंके पश्चात् बिना बुलाये केशवको आता देखकर बनासा कुछ सकुचाये । धन्य है इनके प्रेमको, मित्रताके आदर्शको, यह सोचते हुए उन्होंने कुर्सी खींचकर उसपर केशवको बड़े हर्ष और सम्मानके साथ बैठाया; आप नीचे बैठ गये । दोनों एक दूसरेकी ओर देखते हुए शान्त बैठे रहे । थोड़े क्षणोंकी शान्तिको भंग करती हुई पिंजरेकी मैना बोल उठी । साथ ही केशव बोल उठा—'प्रिय रमेशजी, आज इस गरीब मित्रकी यह तुच्छ भेंट आपको स्वीकार करनी पड़ेगी ।' यह कहकर ६००) की नोट बनासाके हाथोंमें थमाने चाहे । नोटोंको देखकर हाथोंको खींचते हुए बनासाने कहा—'ऐं, एक निर्धन दोस्तका धन लेकर मैं कहाँ निस्तार पाऊँगा ! आपके बालबच्चोंको दुःखमें डालकर ...' केशव तुरंत बोल उठा—'मेरे बालबच्चों-की चिन्ता न करें । इस मासका वेतन मिलेगा, उससे सब काम चला लूँगा । इन रुपयोंसे आप छोटा-सा धंधा शुरू करें । प्रभुकृपासे लाभ ही होगा ।'

'धंधेमें लाभ हुआ तो दूने १२००) सहर्ष लौटा दूँगा । नहीं, तो कुछ न दे सकूँगा ।' यह शर्त करायी बनासाने । और केशव तो कह चुका कि 'ये रुपये मैं कभी भी नहीं लूँगा ।'

भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणको नमस्कार कर, चरणोदक ले, उनकी चरण-रज मस्तकपर लगाकर एक छोटा-सा धंधा-रोजगार कर लिया बनासाने । और दीनबन्धुकी कृपा कुछ ऐसी हुई कि उन्हें यथेष्ट लाभ हुआ । दशा सुधरने लगी । पर वे ६००) के १२००) लौटाना नहीं भूले ।

(५)

पड़ोसके एक वयोवृद्ध महाशयसे ज्ञात हुआ कि 'केशव-की एक युवती कन्या कुँवारी है । बेचारे गरीब कहाँसे उसका विवाह करें—इसी चिन्तामें दोनों स्त्री-पुरुष रात-दिन चिन्तासे घुले जाते हैं ।' बात सुनकर बनासाके मनमें आनन्दकी लहर दौड़ आयी । तुरंत पूछ बैठे—'कितना रुपया खर्च होगा विवाहमें ?' 'कम-से-कम १५००)' वृद्ध महाशय बोले । 'हाँ, तो मैं जिम्मा लेता हूँ । वर मिल गया कि नहीं ?' बनासाने उत्सुकतासे पूछा ।

'वर तो मिल गया, पर गरीब होनेसे दोनों ओरका खर्च केशवसे ही कराना चाहता है । १५००) के लगभग खर्च हो सकते हैं ।'

वृद्धके ये वचन सुनकर बनासाने केशवके घर जा ३०००) रु० के नोटोंकी पोटली केशवकी पत्नीको थमाते हुए कहा—'केशव आवे तब उसे दे देना ।'

केशवने आकर नोटोंके साथ पत्र भी देखा । जिसमें हेमवतीका विवाह इन रुपयोंसे कर देनेका विनयपूर्वक आग्रह था । 'तूने रुपये लिये ही क्यों ?' पत्नीको उलाहना देता हुआ केशव तत्काल रुपये लौटानेको बनासाके घर गया । पर, वे तो हेमवतीके विवाहका निश्चय करानेको उनके ससुरालवालोंके यहाँ गये हुए थे, मिले नहीं ।

विवाह रच दिया गया । बाध्य होकर केशवको भें

उसी धनसे अपने यहाँ भी विवाहकी तैयारियाँ करनी पड़ीं। बरातकी आवभगतका सारा प्रबन्ध बनासाने किया और पाणिग्रहण-संस्कार सानन्द सम्पन्न हो गया। केशवने निश्चय कर लिया कि जीवनमें थोड़ा-थोड़ा पैसा बचाकर ३०००) रु० ब्याजसमेत अवश्य ही बनासाको लौटाऊँगा।

इधर कोई नहीं जान पाया कि बनासाको जितना लाभ हुआ था, सभी हेमवतीके विवाहमें लगा दिया। फिर गरीबीके दिन आ गये। परंतु प्रभुकृपा ऐसी हुई कि उन्हें एक अच्छे ठिकानेपर पर्याप्त वेतनकी बहुत आरामकी नौकरी मिल गयी।

बनासाकी फिर बढ़ोतरी देखकर बाजारमें दो कुँजड़े आपसमें बातचीत कर रहे थे। एकने कहा—"भई, सबकी दशा फिरती है। कहा है—'ऊजड़ खेड़ा फिर बसे, निरधनियाँ धन होय।' बनासा और केशवके उदाहरण हमारे सामने है।"

दिनेश, ब्रजेश, गणेश, सुरेश उन चारों मित्रोंने बाजारमें सौदा लेते हुए कुँजड़ोंकी बातें सुन लीं। सुनकर चारों बड़े ही उदास हो घर लौटते हुए मार्गमें आपसमें पश्चात्ताप कर रहे थे कि 'हम क्यों न बनासाकी बिगड़ीमें काम आये।' इतनेहीमें उन्हें उनके चिरपरिचित वृद्ध मौलवी साहब मिल गये। वे इन्हें देखते ही बोल उठे—'ओहो, आज बहुत दिनोंके बाद दिखायी दिये हो। उदास कैसे नजर आ रहे हो?'

'उदास तो नहीं, बनासा………' मौलवी साहब बीचहीमें बात काटकर बोल उठे—'हाँ-हाँ भई, वही तो मैं कह रहा था। आपलोगोंने अच्छा नहीं किया। सच पूछो तो साफ बात यह है कि—बुरा मत मानना—बनासा बिगड़ा आपहीकी बदौलत। पर जब वह दाने-दानेको मोहताज हो गया, तब भी आपने उसकी खबर नहीं ली! यह क्या इंसानियत है? जो किसीके दुखदर्द या बिगड़ी हालतमें काम न आये, वह चाहे कैसा ही जिगरी दोस्त हो, वह दोस्त तो है ही नहीं, बल्कि इंसान भी नहीं है—हैवान है। देखो केशवको। खैर, बाकीकी जिंदगी नेक काम करनेमें ही आपको बितानी चाहिये। यह मेरी नसीहत है।'

बातकी चोट लग गयी चारोंके दिलोंपर। वे घर न जाकर सीधे बनासाके यहाँ पहुँचकर अश्रुभरे नयनोंसे पश्चात्ताप करते हुए अपने अपराधकी बार-बार उनसे क्षमा-याचना करने लगे। बनासाने चारोंको छातीसे लगाते हुए शान्त भावसे कहा—'भाइयो, पश्चात्ताप न करो। इसमें आपका नहीं, मेरी ही अकर्मण्यताका दोष था। पर इसमें मुझे दुनियादारी और भले-बुरेकी पहचान अवश्य हो गयी है—

'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपतकाल परखिये चारी[1]॥'

'वास्तवमें संसारमें अमीर-गरीब कोई नहीं है, जैसा कि 'जौक'ने कहा है—

'कितने मुफलिस हो गये, कितने तवंगर हो गये।
खाकमें सब मिल गये, दोनों बराबर हो गये॥'

'अतः हम सबको रात-दिन भगवत्-भजन करते रहना चाहिये। यही दुर्लभ मानव-जीवन पानेका सार है।'

इसके पश्चात् उन मित्रोंका जीवन ही पलट गया। उन्होंने शेष जीवनमें अनेक परोपकारके काम किये। गरीब छात्रोंको वृत्तियाँ दिलवायीं, गुंडोंसे महिलाओंको मुक्त किया, गोशालाओंमें घासका प्रबन्ध कराया, कसाइयोंसे बूढ़ी गायोंको छुड़वाया, बहेलियोंसे चिड़ियोंके भरे पींजरे खाली करवाये, कबूतरोंको जुआर, चींटियोंको चींटी-चुगा डलवाने और बेरोजगारोंको रोजगार दिलानेका प्रबन्ध किया। रुपये लेकर झूठी गवाही देनेवालोंको विरत किया। कुएँ, बावलियाँ, मन्दिर-छत्रियाँ बनवायीं। भगवन्नाम-संकीर्तन-मण्डल कायम किये। डाकुओंके दलोंमें जा-जाकर साहसके साथ सदुपदेश दिये और रात-दिन इसी उधेड़बुनमें रहे कि क्या-क्या लोकोपकारके काम हम करें। यों नेक कामोंमें निरत रहते-रहते ही उन्होंने शेष जीवन, प्रत्येक श्वासके साथ हरिःस्मरण करते हुए व्यतीत किया।

---

[1] १. रामचरितमानस।

(१)

सूक्ष्मजगत्में महात्माओंका अस्तित्व

सन् १९६० में जब मैं चारों धामकी यात्राके लिये निकला तो मेरे पास कुछ भी नहीं था। वैसे तो कभी भी मेरे पास कुछ नहीं रहता। एक साधु-संन्यासीके भेषमें जगत्को संचालन करनेवाली उस शक्तिके आध्यात्मिक अन्वेषणार्थ ही मैंने यह कार्यक्रम बनाया था।

गंगोत्री जानेपर गङ्गा माताके उद्गमस्थान (जो कभी गंगोत्रीमें ही रहा होगा) गोमुखी जानेकी तीव्र आकाङ्क्षा हुई। वैसे पूर्वसे ही ऐसी धारणा थी किंतु साधन होनेपर ही जाना हो सकता है, बहुत ही कठिन मार्ग है, ऐसा सुनकर कुछ निश्चय नहीं कर पाया था।

गंगोत्रीमें कुछ दिन ठहरकर प्रबल विचार-शक्तिके महापुरुषका निर्माण कर रहा था कि अचानक महाभगवती गङ्गापर एक महात्मा, जो यात्री ही थे, मुझे गोमुखीके लिये प्रेरणा देने आये। उनके साथ दो भक्त भी थे। अतः दूसरे ही दिन हमलोगोंने प्रस्थान किया।

रास्तेमें काली कमलीकी धर्मशालामें एक रात्रि विश्राम करके जो आगे बढ़े तो रास्तेमें एक महात्माका आश्रम था। अब हमें आगेके मार्ग-दर्शनकी सुविधा एवं अन्य चाय आदिकी सुविधा भी वहीं मिली। उस दिन गङ्गा-दशहरा था। रास्तेमें पड़नेवाली एक नदी धूप पड़नेसे बढ़ जाती है। अतः हमें शीघ्र ही लौटना चाहिये—ऐसा निर्देश मिला। किंतु रास्तेमें रेतके पर्वतोंपर बिना किसी आधारके चलना बहुत कठिन प्रतीत हो रहा था। एक स्थानपर सहसा मैं गिरते-गिरते बचा। वास्तवमें गङ्गा-माईका स्मरण ही मुझे बचा सका था, किंतु एक अन्य स्थानपर पाँव फिसलनेसे मैं एकदम नीचे गिर पड़ा। यह स्थान एकदम गङ्गाजीमें था। गोमुखीके मार्गमें चिह्न-स्वरूप बड़े पत्थरोंपर छोटे पत्थर रक्खे हुए होते हैं। उन्हींके आधारपर क्वचित् जानेवाले यात्री जाते हैं, पुनः जो जिस मार्गसे जाता है, वहीं उसी प्रकारके पत्थर रखता हुआ भावी मार्ग-प्रदर्शनकी रूपरेखा स्थापित करता है। एक बार मार्ग भूलनेपर बहुत भटकना पड़ता है।

मैं थियोसाफिकल सोसाइटीका सदस्य हूँ। इस संस्थाकी मान्यताके अनुसार संस्थाके आद्य प्रवर्तक जीवन्मुक्त महात्माओंका अस्तित्व सूक्ष्म जगत्में है और वे लोग ऐसे [illegible]में स्वयं या अपने माध्यमद्वारा किंवा शिष्योंद्वारा जनकल्याण करते रहते हैं।

मैं एकदम घबराकर उन गुरुदेवका ध्यान करने लगा और मुझे आभास हुआ कि कोई अज्ञात शक्ति मुझे ऊपरकी ओर खींच रही है, किंतु घबराहटके कारण मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था। अन्तमें मैंने उस अव्यक्त शक्तिके अस्तित्वमें दृढ़ श्रद्धा करके पैर जमाकर पुनः ऊपरकी ओर चढ़नेका प्रयत्न किया। और मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि तुरंत ही मैं अपने साथियोंमें था जो मेरे लिये प्रार्थना कर रहे थे।

जैसे भी, हम गंगोत्री पहुँचे। स्नानोपरान्त कुछ जलपान किया। डिब्बोंमें जल भर रहे थे कि एक बर्फकी बड़ी चट्टान गिरी और हम सभी अचानक चौंक गये, किंतु उन अव्यक्त महात्माओंकी कृपासे वह चट्टान हमसे एक फुट दूर पर गिरी। यदि हम पानी भरनेके लिये थोड़ा आगे बढ़ते तो क्या होता, इसकी कल्पना करना सहज ही है। इस घटनाके उपरान्त वापिस आनेमें हमें सतत उस संरक्षकका आभास मिलता रहा। महात्माकी कुटियापर पहुँचकर हमने गङ्गा-दशहराके उपलक्ष्यमें प्रसाद पाया। तबसे मेरा विश्वास इन अव्यक्त जगत्के महात्मामण्डलमें दृढ़ हो गया। —स्वामी योगेश्वरानन्दगिरि एम्० टी० एस०

(२)

जन्म-जन्मतक कर्जका बन्धन

पाश्चात्त्य सभ्यतासे प्रभावित होनेके कारण चाहे आज पुनर्जन्ममें विश्वास न किया जाय, किंतु आज भी ऐसी अनेक घटनाएँ देखनेमें आती हैं जो इस विश्वासको बराबर दृढ़ करती रहती हैं।

गत वर्ष जूनकी बात है, निश्चित दिन याद नहीं आ रहा है लेकिन था कोई छुट्टीका दिन ही। मैं गाँव गया हुआ था। जलेसर, एटाके पास ही रेलवे लाइनके किनारे स्थित मेरा गाँव तलैयामें प्रतिबिम्बित बड़ा रमणीक लगता है, आमके वृक्षोंसे घिरी यह तलैया गर्मियोंमें भी कभी नहीं सूखती। आमके इस बागमें प्रायः बालक झुंड-के-झुंड खेलते रहते हैं। यहीं उस दिन एक बालक साँपके काटनेसे बाल-बाल बचा था।

दिन भरकी गपसपके बाद रातको सोनेहीवाला था कि यह खबर बिजलीके करंटकी तरह गाँव भरमें फैल गयी

कि मुखियाके जवान लड़केको साँपने डँस लिया। सभी हाय करके रह गये। ढाक बजना शुरू हुआ, आस-पासके गाँव-गाँवसे लोग इकट्ठे हो गये। अनेक मन्त्रज्ञाता और सर्पको जगानेवाले ओझा बुलाये गये, रातभर ढाक बजनेके बाद सवेरेके समय उस लड़केके विषका प्रभाव कम हुआ। वह झूमने लगा; तब कहीं हम सब लोगोंके चेहरोंपर कुछ रौनक-सी आयी। ढाक बजानेवालोंके दममें दम आया अपनी यह आंशिक सफलता देखकर।

वह बक्करा और बोला—'मैंने इसका कुछ नहीं बिगाड़ा था, तो भी इसने मेरे पीछेसे लाठी मारी। मैं बचकर भाग गया और रातको मौका पाकर मैंने इससे बदला ले लिया।'

तब ढाक बजानेवालोंने प्रश्न किया—'तुम उस अबोध बालकके सामने क्यों बैठे थे जो रेतमें बैठा खेल रहा था। उसे बचानेको ही ऐसा किया गया; क्योंकि वह तुम्हारे फनके ऊपर रेत डाल रहा था। डर था कि तुम उसे डँस लेते।' तब उत्तर मिला कि 'बात ऐसी नहीं थी, पिछले जन्ममें वह एक साहूकार था और मैं उसका किसान था। मैंने सौ रुपयेका कर्ज लिया था जो न चुका पाया, उसीके लिये मैं माफी माँग रहा था कि जब इन्सानका जन्म मिलेगा तो मैं चुका दूँगा। बीचमें इस मुखियाके लड़केने विघ्न डाला इसलिये मैंने इसको डँसा, अब इसे यही दण्ड है कि यह १००) उस बालकके बापको दे दे तो जहर उतर जायगा।' ऐसा ही किया गया तब लड़का विघ्नमुक्त हो गया।

कितना विचित्र विधान है। भगवान् करें—कर्ज लेना ही न पड़े और लिया जाय तो यहीं चुक भी जाय।

—मदनमोहन 'उपेन्द्र' साहित्याचार्य, विद्यावाचस्पति

(३)

जब भगवान्‌ने मार्ग-प्रदर्शन किया

घटना मई १९६० की है। गरमीकी छुट्टियाँ हो गयी थीं और मैं अपने पिताजी, माताजी एवं ताऊजीके साथ ऋषिकेश गया हुआ था। ताऊजी लगभग पंद्रह वर्षोंसे नेत्रविहीन हैं परंतु तीर्थाटन करनेकी इच्छा होनेके कारण वे भी हमलोगोंके साथ गये थे। ऋषिकेशमें लगभग पंद्रह दिन रहनेके बाद हमलोग घरके लिये लौट पड़े। लौटते समय यह निश्चित हुआ कि तीन या चार दिन हरिद्वारमें भी रहा जाय। हरिद्वार पहुँचकर स्टेशनसे बाहर पासवाली धर्मशालामें ही हमलोगोंने एक कमरा ले लिया और उसमें अपना सामान आदि रख दिया।

दूसरे दिन सवेरे आठ बजे हमलोग मंसादेवीके दर्शनार्थ चल दिये। देवीजीका मन्दिर पहाड़पर काफी ऊँचाईपर स्थित है और वहाँतक पहुँचनेके लिये जो रास्ते बनाये गये हैं, उनपर नेत्रविहीन ताऊजीका चलना सुलभ न था, अतः ताऊजीको हमलोग धर्मशालामें ही छोड़ आये थे।

मंसादेवीके मन्दिरतक पहुँचते रास्तेमें हमलोगोंको एक परिवार और मिल गया। वे लोग भी देवीजीके दर्शन करने जा रहे थे। यात्रामें दो व्यक्ति जब मिलते हैं तो वे बहुत जल्द एक दूसरेसे परिचित हो जाते हैं; यही हाल यहाँ हुआ; हम सब लोग परस्पर बातें करते मन्दिरतक पहुँचे और सबने देवीजीके दर्शन किये।

लौटते समय हम दोनों परिवार साथ-साथ ही लौटे। रास्तेमें विचार हुआ कि सूरजकुण्डके, जो मन्दिरसे अधिक दूर नहीं है, भी दर्शन कर लिये जायँ। विचारानुसार हमलोगोंने सूरजकुण्ड देखा और कुछ क्षण रुकनेके बाद वहाँसे लौट पड़े। थोड़ी दूरतक हमलोग परस्पर बातें करते चलते रहे, पर थोड़ी ही देर बाद पता चला कि हमलोग रास्ता भूल गये हैं। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ थे और बीचमें थी गहरी घाटी। शहरकी झलक भी हमलोगोंको नहीं दिखायी पड़ रही थी। दोपहरी निकट आती जा रही थी और धूप बढ़ती और तेज होती जा रही थी। प्यास अलग अपना प्रभाव दिखा रही थी। अब इसके सिवा कोई चारा न था कि अधिक ऊँचाईपर चढ़कर देखा जाय कि शहर किस ओर है और नीचे उतरनेका रास्ता किधरसे होकर जाता है। मन मारकर सब लोग टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे होते हुए ऊपरकी ओर बढ़ने लगे। थोड़ी दूरतक जानेके बाद आगेका मार्ग बंद हो गया, जिससे हमलोगोंकी परेशानी और बढ़ गयी। हमलोग फिर धीरे-धीरे उसी मार्गसे वापस लौटने लगे। वापस लौटनेपर एक और मुसीबत आ खड़ी हुई। एक स्थानपर आकर रास्ता दो भागोंमें बँट गया था। हमलोगोंको घबराहटमें यह भी ध्यान न रहा कि हमलोग किस रास्तेसे आये थे। सब लोग विचार-विमर्श करने लगे कि किस रास्तेपर चला जाय। मेरी तो प्यासके मारे जैसे जान ही निकली जा रही थी। दूसरे परिवारके साथ आये दो बच्चोंका भी यही हाल था। धूप इतनी तेज थी कि खोपड़ी तवे-सी तप रही थी और मालूम हो रहा था कि यदि आधे घंटे तक यही हाल रहा तो हमलोग चक्कर खाकर गिर पड़ेंगे।

मैंने उस संकटकालमें एकमात्र सहायक दीनबन्धु भगवान्‌का आर्तभावसे स्मरण करना शुरू कर दिया और इसका बड़ा ही आश्चर्यजनक फल हुआ।

सब लोग विचार-विमर्श कर ही रहे थे कि हमलोगोंको अकस्मात् एक आवाज सुनायी पड़ी—'जान पड़ता है कि आपलोग रास्ता भूल गये हैं।'

हमलोगोंने यह जाननेकी कोशिश की कि आवाज किधरसे आ रही है। सब लोग अभी इस बारेमें सोच ही रहे थे कि पुनः आवाज आयी—'आपलोग इधर आइये।'

हमलोग अनुमानसे एक रास्तेपर बढ़े। दो ही पग चलनेपर हमलोगोंने देखा कि एक बहुत ही बूढ़ा व्यक्ति, केवल एक लूंगी पहने, पहाड़की तपती हुई नंगी छातीपर बिना कुछ बिछाये बैठा है। मुझे आश्चर्य हुआ कि वह आदमी तपती हुई भूमिपर बैठा कैसे है?

उसके पास पहुँचकर सब रुक रहे और मैंने उससे पूछ ही लिया, 'बाबा! तुम यहाँ क्या करते हो?'

'भीख माँगता हूँ बेटा' उसका उत्तर था।

'यहाँ तुम्हें भीख कौन देता होगा, बाबा?' मुझे आश्चर्य हुआ और आश्चर्यकी बात ही थी।

'देखिये, आपलोग इस रास्तेपर चले जाइये।' मेरी बातको अनसुनी करके उसने एक ओर संकेत करते हुए कहा, 'थोड़ी दूर चलनेपर आपलोगोंको नीचे उतरनेका मार्ग मिल जायगा।'

हमलोग चलनेको हुए, तभी वे बुड्ढे बाबा फिर बोले—'धूप बड़ी तेज है और आपलोगोंको प्यास जरूर लगी होगी।'

'हाँ बाबा!' सबने एक स्वरसे कहा।

'तो परेशान मत होइये, आगे चलनेपर रास्तेमें एक मन्दिर मिलेगा, जहाँ आपलोगोंको पीने योग्य पानी मिल जायगा।'

यह सुनकर सबमें एक नयी स्फूर्ति आ गयी और सब बाबाको धन्यवाद दे आगे चल पड़े। दो ही पग चलनेपर माताजीने कुछ सोचा और थैलेमेंसे कुछ फल निकालकर, जो हमलोगोंने ऊपर चढ़ते समय ले लिये थे, बाबाको देनेके लिये वे पीछे मुड़ीं। तुरंत ही उन्होंने हम सबको रोक लिया और सबने आश्चर्यसे देखा कि बाबाजीका कहीं पता नहीं है। हमलोग फिर उस स्थानतक आये पर बहुत खोजनेपर भी वे कहीं दिखायी न पड़े। आखिर इतनी जल्दी बाबाजी चले कहाँ गये?

हमलोग मनमें तरह-तरहकी धारणाएँ बनाते हुए आगे बढे। बाबाजीके कथनानुसार हमलोगोंको पीने योग्य पानी भी मिल गया।

धर्मशालामें आकर जब मैंने ताऊजीको उक्त घटना सुनायी तो वे गद्‌गद होकर बोले, 'धन्य हो बेटा तुम! जो इस उम्रमें ही बूढ़ेके रूपमें तुम्हें भगवान्‌के दर्शन हो गये।'

—कृष्णकुमार वैश्य

(४)

होटलमें अद्भुत ईमानदारी

गत दिसम्बरकी बात है। मैं ट्रकके कुंडे सप्लाईका काम करता हूँ। कुंडेके बिलके रुपये गौहाटी सेंट्रल वर्कशापसे मिलते हैं; मैं रुपये लेने गौहाटी गया था। वहाँसे मैं २८,००० (अट्ठाईस हजार) रुपये लेकर अपनी जीपद्वारा घरको रवाना हुआ। रुपये तीन पार्टियोंके थे। चलते समय मनमें आया कि रात हो गयी है, आठ बजे हैं, यहाँ होटलमें भोजन करके ही चला जाय। तदनुसार मैंने श्रीपरमानन्दजी शर्माके 'दुर्गा-जलपान' उल्लूबाड़ी, गौहाटीमें जाकर भोजन किया। रुपये बेगमें थे। भोजन करके मैं जीपपर सवार होकर चल दिया। लगभग चार मील आनेपर मुझे बेगकी याद आयी। मैंने देखा और सोचा कि बेग होटलमें ही रह गयी है। मैं वापस आया, जीप होटलके सामने रुकी। उसके रुकते ही होटलके मालिक श्रीपरमानन्दजी शर्मा बेग हाथमें लिये मेरे पास आये और बोले—'भाई साहेब, आप चिन्तित मालूम पड़ते हैं। आपकी यह बेग सँभालिये। देखिये सही हालतमें तो है न?' मैं यों सहज ही बेगको सही-सलामत पाकर दंग रह गया। मानो ईमानदारी, सचाई और त्यागकी मूर्तिमान् सजीव प्रतिमाके रूपमें श्रीपरमानन्दजी मुझे प्रबोध दे रहे हैं!

आजके इस अर्थलोलुपताके युगमें, फिर होटलमें ऐसे व्यक्तियोंके दर्शन बड़े दुर्लभ होते हैं। मैं भगवान्‌से प्रार्थना करता हूँ, श्रीपरमानन्दजीका यह आदर्श सभीके लिये अनुकरणीय और कल्याणकारी हो।

—हेमराज अग्रवाल, खेत्री, गौहाटी (असम

श्रीहरिः

कल्याणके पुराने विशेषाङ्कोंमेंसे केवल चार ही मिल सकते हैं

१—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क

यह सुप्रसिद्ध वैष्णवपुराण 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' का साररूप है। इसमें दिव्य गोलोकविहारी परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी अमृतोपम गोलोकलीला तथा उनकी अवतारलीलाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। साथ ही सब देवताओंकी एकता, सारी शक्तियोंकी एकता, भक्तितत्त्व, सदाचार, कर्म और कर्मफलोंका, दिव्यलोकोंका, ज्ञान-विज्ञानका, चमत्कारपूर्ण दुर्लभ स्तोत्रों, कवचों और मन्त्रोंका विशद विवेचन है। अतएव यह अङ्क सभीके लिये परमोपयोगी और संग्रह करने योग्य है।

इसमें ७०० से अधिक पृष्ठ, बहुरंगे चित्र—१७, दोरंगा—१, सादे—६ और लगभग १२० रेखाचित्र हैं। इसका मूल्य केवल रु० ७.५० न० पै० (सात रुपये पचास पैसे) एवं सजिल्दका रु० ८.७५ न० पै० (आठ रुपये पचहत्तर पैसे) डाकखर्चसहित है। कृपया आज ही मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर इस दुर्लभ अङ्कको मँगाइये, एवं अपने इष्ट-मित्रोंको भी मँगानेके लिये प्रोत्साहित कीजिये। बादमें बिक जानेपर सम्भवतः निराश होना पड़े।

२—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, डाकव्ययसहित मू० ६ रु० ५० नये पैसे। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा बिना मूल्य।

३—मानवता-अङ्क

पृष्ठ-संख्या ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर ३९ बहुरंगे, एक दोरंगा, १०१ एकरंगे और ३९ रेखाचित्र। डाकव्ययसहित मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे।

देशभरमें चुने हुए महात्माओं और विद्वानों तथा विदेशी महानुभावोंके मानवतासम्बन्धी सद्विचारोंके संग्रहसे सम्पन्न और सबके द्वारा प्रशंसित।

४—'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ-संख्या ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८ कुल १६८। मूल्य रु० ७.५०।

३६ वें वर्षका यह 'संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क' प्रथम बार १,३१,००० छापा गया; परंतु उसकी माँग इतनी अच्छी रही कि सब प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गयीं और हजारों पुराने ग्राहकोंको भी अङ्क न मिल सके। इसलिये कामकी भारी असुविधा होनेपर भी २०,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा था।

यह विशेषाङ्क सुप्रसिद्ध शिवपुराणके साररूपमें सरल हिंदी भाषामें बहुत ही सस्ता है। इसमें भगवान् शिवकी बड़ी ही विचित्र मधुर लीलाओंका, भक्तवत्सलताका और उनके अवतारोंका तथा योगभक्तिके तत्त्वोंका बड़ा ही विशद और सर्वोपयोगी वर्णन है। कथाएँ बड़ी ही रोचक तथा प्रभावोत्पादक हैं।

व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

जाली छपे लेटर-पेपर और जाली प्रमाणपत्रके द्वारा रुपये ठगनेवालोंसे सावधान !

तथाकथित सर्वोदय आश्रमके स्वामी त्रिलोकीनाथ नामक व्यक्ति 'गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, एवं हनुमानप्रसाद पोद्दार'के शीर्षकसे जाली लेटरपेपर छपवाकर, उसपर ऋषिकेश १३ अप्रैल सन् ६५ दिनाङ्क देकर नीचे लिखा जाली प्रमाणपत्र टाइप करके मोदीनगरके सम्मान्य श्रीगूजरमलजी मोदीके पास गये और उस प्रमाणपत्रको दिखाकर उनसे पाँच सौ रुपये ले आये। टाइप किये हुए जाली प्रमाणपत्रका अविकल रूप यह है—

प्रमाण पत्र

पत्र वाहक श्री स्वामी त्रिलोकी नाथ जी महाराज बहुत ही कर्मठ एक कर्मयोगी, विद्वान एवं दार्शनिक तथा श्री हनुमान जी महाराज के महान उपासक हैं। स्वामी जी भारतीय संस्कृति के अनुरुप गोरखपुर से ३२ मील दूर सरजू माता के पावन तट पर सर्वोदय आश्रम की स्थापना किये हैं। मुझे भी आपने आश्रम की संरक्षक बोर्डमें रखकर मेरे पर वड़ी कृपा की है। आप अपने आश्रम में एक विशाल श्रीहनुमान मन्दिर का निमार्ण कार्य आरम्भ कर दिये हैं जिसके निमित्त श्री स्वामी जी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रमाण पत्र के साथ भिक्षा पर्यटन करने जा रहे हैं। आशा और निस मेरा आप से हार्दिक अनुरोध है कि मेरे सभी प्रेमी तथा उदार व्यक्ति सज्जन और महाजन स्वामीजी की आर्थिक सहायता करने की कृपा कर अपने दरवाजे से अपने दरवाजे से भिक्षुक को लौटने नहीं देंगे।

भवदीय

(जाली हस्ताक्षर) हनुमान प्रसाद पोद्दार

यह सारी जाली चीजें उन्होंने गीताप्रेसके और मेरे नामका दुरुपयोग करके लोगोंसे रुपये ठगनेके लिये बनायी हैं। सम्मान्य श्रीगूजरमलजीने मेरे प्रति प्रेम तथा सद्भाव होनेके कारण उन्हें रुपये दिये, इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ; पर मेरे नामपर वे ठगे गये, इस बातका मुझे बड़ा खेद है। स्वामी त्रिलोकीनाथ श्रीगूजरमलजीके अतिरिक्त और कहाँ-कहाँ गये तथा किन-किनसे कितने रुपये लाये—इसका पता नहीं है। अतएव वे यदि किन्हींसे इस प्रकार रुपये ले गये हों तो वे सज्जन कृपया रुपयेकी संख्या तारीखसहित मुझे लिख दें। साथ ही अपने यहाँकी पुलिसमें भी सूचना दे दें।

मेरे व्यक्तिगत नामका कोई भी पत्रक या लेटरपेपर मैंने छपाया ही नहीं है और न मैं प्रायः किन्हींको भी रुपये देनेके लिये पत्र या प्रमाणपत्र ही लिखता हूँ। अतएव मेरे सभी प्रेमियों तथा परिचितोंसे मेरा यह निवेदन है कि वे मेरे नामसे लिखे, छपे या टाइप किये हुए ऐसे किसी भी पत्र या प्रमाणपत्रपर किसीको भी मुझसे बिना पूछे रुपये-पैसे कुछ भी न दें और कोई यदि किन्हींके पास माँगने आवे तो तुरंत उसकी पूरी सूचना देनेकी कृपा करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

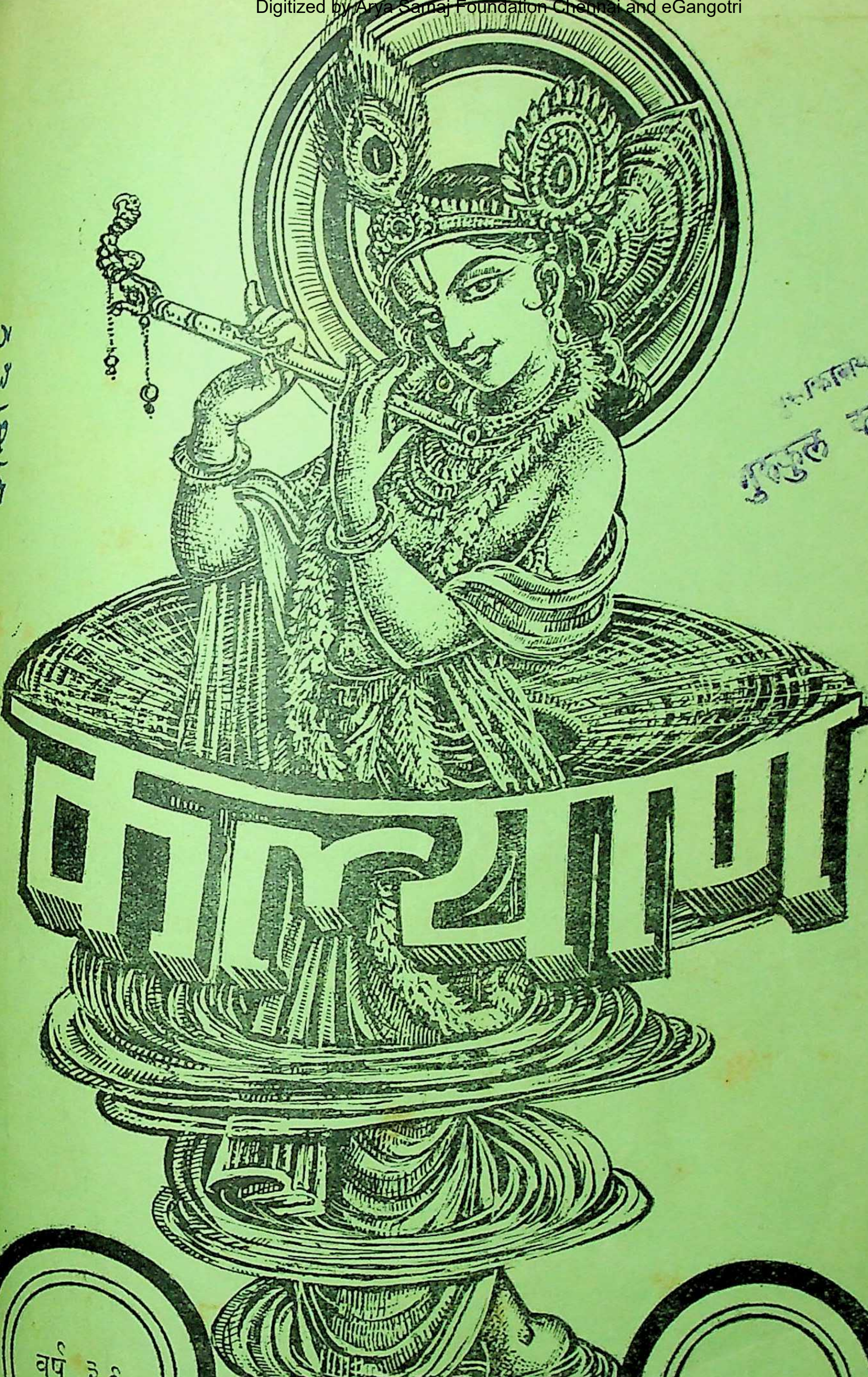
कल्याण
वर्ष ३९
अङ्क १

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०२२, सितम्बर १९६५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–कौसल्याकी गोदमें राम-शिशु [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ··· ११४९
२–कल्याण ··· ('शिव') ··· ११५०
३–एक महात्माका प्रसाद (संकलयिता–'माधव') ··· ··· ११५१
४–राग-द्वेषके त्यागकी, वैराग्य और निष्कामभावकी महिमा (ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ११५३
५–समस्त जीवन ही योग है [महायोगी श्रीअरविन्द] ··· ११५९
६–लीला और लीलामयमें अभेद [कविता] ··· ११६२
७–अहं ब्रह्मास्मि (डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य) ··· ··· ११६३
८–शान्ति और सुख या सुख और शान्ति (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) ··· ··· ११६५
९–हे दीनबन्धु भगवान् ! [कविता] (श्रीभगवतनारायणजी भार्गव एम्० पी०) ··· ··· ११६६
१०–श्रीकृष्णजन्माष्टमीका महान् महोत्सव (जन्माष्टमी-महोत्सवपर गीतावाटिकामें श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण) ··· ११६७
११–मधुर ··· ··· ११७५
१२–यज्ञ और ब्राह्मण (याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीराम शर्मा गौड़, वेदाचार्य) ··· ११७७
१३–स्वच्छता [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ११८०
१४–मूल साधना-रहस्य (श्रीविश्वेश्वर-नारायणजी) ··· ११८३
१५–मधुर राधा-कृष्णनाम [संकलित पत्र] ··· ११८५
१६–वाणी और आहारका संयम (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) ··· ११८६
१७–भारतीय एकताके आदिसंस्थापक आचार्य शंकर (श्रीअशोक महाजन) ··· ११८७
१८–वेणु-गीत [कविता] (श्रीसूर्यबलीसिंहजी 'दशनाम' एम्० ए०, (हिंदी-संस्कृत) साहित्यरत्न) ··· ११८९
१९–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी) ··· ११९०
२०–दया [कहानी] (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ··· ··· ११९४
२१–भगवन्नामसम्बन्धी आधुनिक शोधके कुछ नमूने (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· ११९९
२२–सुखकी चाह और उसकी सच्ची राह (श्रीशिवानन्दजी शर्मा एम्० ए०) ··· १२०३
२३–मैं सातवें आसमानपर हूँ (श्रीराजेन्द्र-प्रसादजी जैन) ··· १२०५
२४–पढ़ो, समझो और करो ··· १२०८

चित्र-सूची

१–मुरलीधर (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–कौसल्याकी गोदमें राम-शिशु (तिरंगा) ··· ११४९

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पें०)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

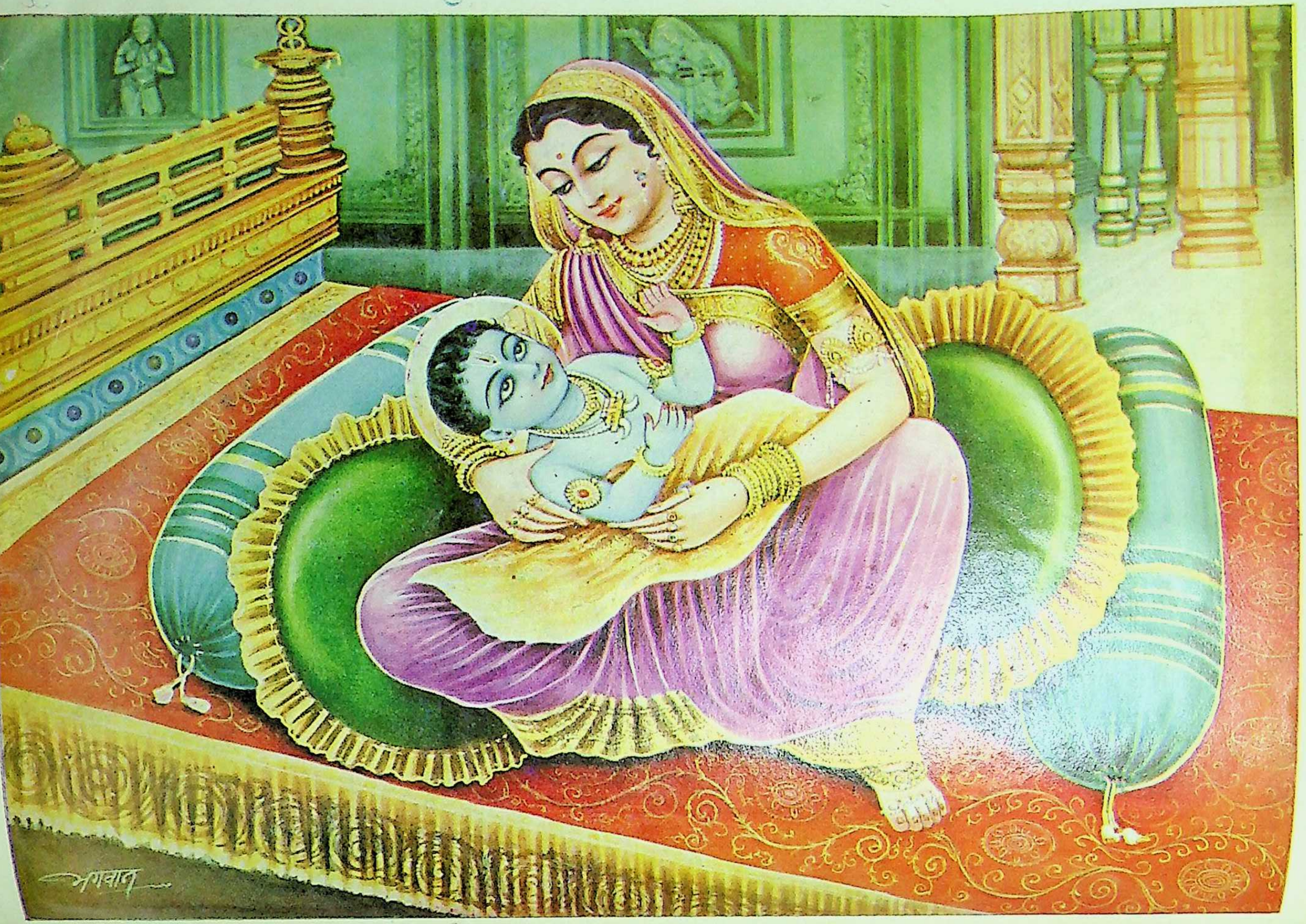

वात्सल्य—कौसल्याकी गोदमें रामशिशु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

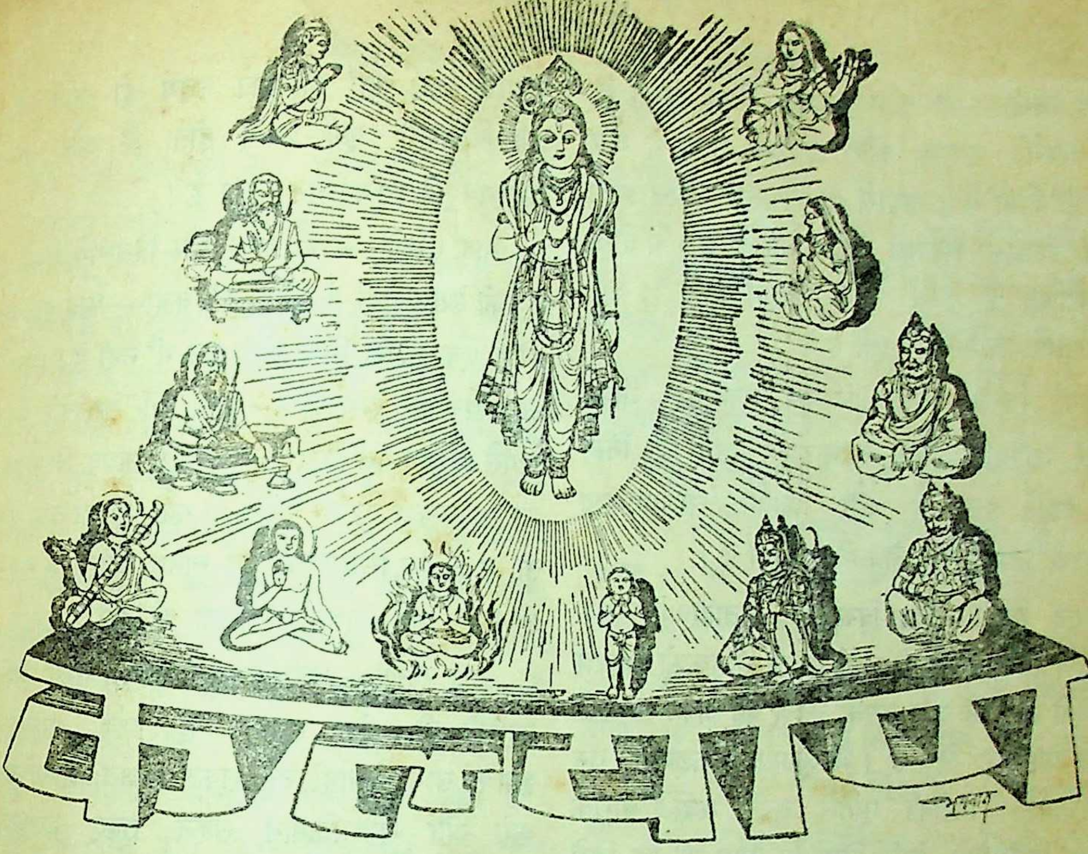

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०२२, सितम्बर १९६५ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ४६६

कौसल्याकी गोदमें राम-शिशु

सुभग सेज सोभित कौसिल्या रुचिर राम-सिसु गोद लिये ।
बार-बार बिधु-बदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये ॥
कबहुँ पौढ़ि पय-पान करावति, कबहूँ राखति लाइ हिये ।
बालकेलि गावति हलरावति, पुलकति प्रेम-पियूष पिये ॥
बिधि-महेस, मुनि-सुर सिहात सब, देखत अंबुद ओट दिये ।
तुलसिदास ऐसो सुख प्रभु पै काहू तो पायो न बिये ॥

(गीतावली—श्रीतुलसीदासजी)

⁂

सि० १—

कल्याण

याद रक्खो—जो काम श्रद्धासे किया जाता है, उसके करनेमें उत्साह और उल्लास रहता है और वह सफल होता है। श्रद्धासे ही विश्वास उत्पन्न होता है और विश्वास श्रद्धाका उदय कराता है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पर जहाँ श्रद्धा-विश्वास है, वहाँ सिद्धि सामने उपस्थित रहती है।

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वाससे मनुष्यका जीवन निरन्तर आशापूर्ण और आनन्दपूर्ण रहता है; नित्य नयी स्फूर्ति होती है और कार्यमें सरलता तथा पद-पदपर सफलताका बोध होता रहता है।

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वाससे वातावरणमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो साधकको निरन्तर बल देती रहती है और उसके बलपर वह अपने साध्यको सहज प्राप्त कर लेता है। भीलकुमार एकलव्यने गुरु द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्तिसे अपने श्रद्धा-विश्वासके बलपर धनुर्विद्यामें ऐसी निपुणता प्राप्त की कि जिसे देखकर अर्जुनको और गुरु द्रोणको भी स्वयं चकित होना पड़ा।

याद रक्खो—भगवान्‌को वही प्राप्त कर सकता है, जिसकी भगवान्‌के अस्तित्व और उनकी प्राप्तिमें श्रद्धा होती है। श्रद्धाके बिना सच्ची साधनाका प्रारम्भ ही नहीं हो पाता। संदेह रखनेवालेका मन कैसे उस कार्यमें लगेगा। संशयात्माका तो पतन या विनाश ही होता है।

याद रक्खो—श्रद्धाके बिना साधनमें तत्परता नहीं होती, तत्परताके बिना विभिन्न कार्यों तथा विषयोंमें मन, इन्द्रियाँ भटकते रहते हैं; इन्द्रिय-संयम हो ही नहीं पाता और इसके बिना साधनमें कभी सफलता नहीं मिलती।

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वाससे थोड़ी शक्ति हो तो वह बड़ी शक्ति बन जाती है और जहाँ बिल्कुल ही अशक्ति हो, वहाँ शक्तिका उदय हो जाता है। श्रद्धा-विश्वाससे पूर्ण प्रयत्न होता है और उससे असम्भव भी सम्भव बन जाता है।

याद रक्खो—सच्ची श्रद्धा और विश्वासमें शंका या तर्कको स्थान नहीं होता। गुरुने कहा—'सब कुछ ब्रह्म ही है, एक ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है।' शिष्यके श्रद्धा-विश्वासने ऐसा ही मान लिया और गुरुदेवके बताये मार्गसे श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके साधक शिष्य ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें सफल हो गया। शंका-तर्क होते तो, न तो इस सिद्धान्तको वह मानता और जब मानता ही नहीं, तब साधन तो करता ही कैसे ?

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वासके बिना मनुष्य अपने-आपको ही हीन समझता है और भगवान्‌की कृपाका लाभ भी नहीं उठा सकता। अतः आत्मविश्वास करो और सर्वशक्तिमान् सहज सुहृद् भगवान्‌की अहैतुकी कृपापर विश्वास करो। आत्मविश्वाससे भगवत्कृपामें भी विश्वास बढ़ेगा और भगवत्कृपासे अनायास ही साधनामें सिद्धि मिल जायगी।

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वास वह विशुद्ध और अखण्ड प्रकाश है तथा आशा-उत्साहको जगानेवाला महान् तेज है, जो साधकको प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें भी पथ दिखलाता है और उसके समस्त निराशामय विचारों तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंके अन्धकारको मिटाकर उसे जीवनकी पूर्ण सफलताके पथपर द्रुतगतिसे अग्रसर करता है।

याद रक्खो—श्रद्धा-विश्वास जीवन है और अश्रद्धा-अविश्वास मरण है। ऐसा दुःखद मरण है, जो अकस्मात् नहीं आता, पर घुला-घुलाकर मारता है। अतएव सदा सर्वदा श्रद्धा-विश्वासका सेवन करो!

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

[सेवा और प्रीतिमें ही जीवनकी पूर्णता है]

(संकलयिता—'माधव')

कोई भी मिल्कियत बिना मालिककी और कोई उत्पत्ति बिना आधारके नहीं होती तो फिर विश्वका कोई मालिक नहीं है तथा उत्पत्तिका कोई आधार नहीं है, यह कैसे हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें यदि कोई आस्था न करे, अथवा उसे कोई न माने, तब भी वह सभीका अपना है । पर 'अपने'में आस्था न करना सनाथ होनेपर भी क्या अपनेको अनाथ नहीं करना है ? क्या यह अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश नहीं है ? अर्थात् अवश्य है । अपना होनेसे ही अपनेको प्रिय है । हम उसे जानें, न मानें इससे कोई अन्तर नहीं होता । अपनेमें अपनी प्रियता स्वभावसिद्ध है । प्रियताकी जागृतिमें नीरसताका नाश है । नीरसताका नाश होते ही निर्विकारताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है । कारण कि समस्त विकार नीरसताकी भूमिमें ही उत्पन्न होते हैं । नीरसताका अत्यन्त अभाव एकमात्र प्रियतामें ही निहित है और प्रियता आत्मीयतासे ही साध्य है। आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वाससे ही होती है। इस दृष्टिसे आस्था सर्वतोमुखी विकासमें समर्थ है ।

समस्त विश्व किसीकी ओर दौड़ रहा है । प्रत्येक वस्तु स्वभावसे ही गतिशील है । गतिशीलतामें किसीका आकर्षण है । सभीको आकर्षण उसीके प्रति हो सकता है, जो 'है' । इस दृष्टिसे भी 'है' को न जाननेपर भी 'है' में आस्था होती है । इतना ही नहीं, प्रत्येक मानवका यह अपना अनुभव है कि उसकी कोई माँग है । वह प्रमादवश भले ही उस माँगको अनेक कामनाओंमें बदलनेका प्रयास करे, किंतु ऐसी कोई भी इच्छित वस्तु नहीं है जिससे अरुचि न हो । इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस रुचिकरकी माँग है उसे इन्द्रियदृष्टि तथा बुद्धिदृष्टिसे देखा नहीं है । इन्द्रियदृष्टि आदिसे देखे हुए रुचिकर पदार्थोंसे स्वतः उपरामता आती है और माँग शेष रह जाती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि माँग उसीकी है जिसे जानते नहीं, अतः उसमें आस्था अनिवार्य है । 'नहीं' की माँग नहीं होती, माँग उसकी होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है । अतः जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, यद्यपि उसे देखा नहीं है, परंतु उसमें आस्था करना अनिवार्य है ।

इन्द्रिय-दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट विदित होता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओंमें जो सौन्दर्य प्रतीत होता है वह किसी कारीगरकी महिमा गाता है । यदि वस्तुओंका अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य होता तो उनमें परिवर्तन न होता । सतत परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओंको किसीसे सौन्दर्य मिला है । मानव प्रमादवश सौन्दर्यको वस्तुओंमें आरोपित कर लेता है और परिणाममें वस्तुओंकी दासतामें आबद्ध होता है । वस्तुएँ मिट जाती हैं, दासता रह जाती है जो किसी भी मानवको स्वभावसे प्रिय नहीं है । इन्द्रिय-दृष्टिके आधारपर भी उस अनन्त सौन्दर्यमें आस्था हो सकती है जिससे सभीको सौन्दर्य मिलता है । मिले हुए सौन्दर्यमें आबद्ध होना अनन्त सौन्दर्यसे विमुख होना है । अनन्त सौन्दर्यकी माँग उत्तरोत्तर बढ़ती रहे तो स्वभावसे ही उसमें आस्था होती है । जिसे देखा नहीं, पर उसकी माँग है ।

अनन्त सौन्दर्यसे विमुख होकर ही मानव सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्यमें आबद्ध होता है जो विनाशका मूल है । सतत गतिशीलता यह सिद्ध करती है कि वह किसीसे मिलनेके लिये आकुल तथा व्याकुल है । इस दृष्टिसे समस्त सृष्टि किसी 'अपरिचित'की ओर तीव्र गतिसे जा रही है । यदि उसमें मानव आस्था कर ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक उसकी प्रियता होकर उससे अभिन्न हो सकता है । खोज करते-करते जबतक खोजकर्ता

अपनेको खो नहीं बैठता, तबतक उससे अभिन्न नहीं होता, जिसे आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है, कारण कि खोजमें मिली हुई सीमित शक्तियोंका अभिमान रहता है, जिसके रहते हुए असीम तथा अनन्तसे अभिन्नता सम्भव नहीं है। आत्मीयतासे जाग्रत् प्रियता अभिमानका अन्त कर वास्तविकतासे अभिन्न कर देती है जो आस्थामात्रसे ही साध्य है।

जबतक मानव अपने देह-जनित सीमित स्वभावमें आबद्ध रहता है, तबतक उसे 'बिना देखे'में आस्था नहीं होती, किंतु देह आदि वस्तुओंकी वास्तविकता जान लेनेपर जब मानव देह-जनित स्वभावसे अपनेको असंतुष्ट पाता है, तब उसे विवश होकर उसमें आस्था करनी पड़ती है कि जिसे देखा नहीं है। यदि ऐसा न होता तो दुःख, पराधीनता, जडता तथा अभावसे पीड़ित प्राणी उस अलौकिक जीवनकी माँग ही न करता जिसे देखा नहीं है। माँग उसीकी होती है जिसे देखा नहीं है और कामना उसकी होती है जिसे देखा है। माँग पराधीनतासे स्वाधीनताकी ओर गतिशील करती है और कामना पराधीनतासे आबद्ध रहती है। इस दृष्टिसे कामना और माँगमें भेद है। कामनाओंसे भिन्न माँगका होना, इस बातको सिद्ध करता है कि इच्छित वस्तुओंसे अतीत भी कोई 'अपना' है। अपनेमें अपनी आस्था न करना अपनी ही भारी भूल है। कामनारहित होते ही स्वतः उसकी ओर प्रगति होती है जो सृष्टिका उद्गम है। सृष्टिका मूल बीज 'अहं' है। उसीमें माँग है। माँगकी पूर्ति जिससे होती है, वही सभीका सब कुछ है और उसीमें आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। आत्मीयता अहंको अगाध प्रियतामें परिणत कर देती है और फिर प्रियतासे अभिन्न हो मानव उसके लिये उपयोगी सिद्ध होता है जिसमें उसने आस्था की है।

आस्था अपने प्रेमास्पदके लिये उपयोगी होती है और विचार अपने लिये उपयोगी होता है। विचारपथका पथिक पराधीनता, जडता, अभावसे रहित हो स्वाधीनता, चिन्मयता एवं पूर्णताको प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। किंतु आस्थापूर्वक मानव उसके लिये उपयोगी होता है, जिसने विचार प्रदान किया है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यका दाता जो है, उसीमें आस्था करनी है। वस्तु, योग्यता, सामर्थ्यका उपयोग अपने लिये हितकर है और आस्था उनके लिये हितकर है जिन्होंने सभीको सब कुछ प्रदान किया है। अर्थात् अपने दाताके लिये वही उपयोगी होता है जो अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक दातामें आत्मीयता स्वीकार करता है। यह सभीको स्पष्ट विदित है कि मिली हुई कोई भी वस्तु किसीकी व्यक्तिगत नहीं है। जब व्यक्तिगत नहीं है, तब उसका कोई दाता है। मिली हुई वस्तुओंमें ममता करना और दाताको अपना न मानना यह कहाँतक न्याययुक्त है ! वास्तविकता तो यह है कि दाता अपना है, वस्तुएँ उसकी हैं। उसकी दी हुई वस्तुओंके द्वारा ही विश्वकी सेवा होती है और आत्मीयताके द्वारा ही दातामें प्रीति होती है। सेवा मानवको जगत्के लिये और प्रीति जगत्पतिके लिये उपयोगी सिद्ध करती है। सेवा और प्रीतिकी अभिव्यक्ति होनेपर कुछ करना तथा पाना शेष नहीं रहता; कारण कि समस्त कर्तव्योंकी परावधि सेवामें और समस्त प्राप्तिकी पराकाष्ठा प्रीतिमें निहित है। प्रीतिके समान और कोई अलौकिक महान तत्त्व नहीं है। कारण कि प्रीति मानवको विभु कर देती है। महान्की प्रीति महान्को मोहित करती है, इस दृष्टिसे प्रीतिके समान और कोई अनुपम अलौकिक तत्त्व नहीं है जो एकमात्र आस्थासे ही साध्य है। करने-पानेका अन्त होनेपर सीमित अहंभाव स्वतः नष्ट हो जाता है, कारण कि करने-पानेका प्रलोभन ही परिच्छिन्नताको जीवित रखता है। इस दृष्टिसे सेवा तथा प्रीतिकी अभिव्यक्तिमें ही जीवनकी पूर्णता निहित है।

राग-द्वेषके त्यागकी, वैराग्य और निष्कामभावकी महिमा

(लेखक—ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारके विषयोंमें, पदार्थोंमें, प्राणियोंमें और क्रियाओंमें अनुकूलता और प्रतिकूलताकी जो प्रतीति है उसमें राग-द्वेष होना ही सब दोषोंकी खानि है। साधारण मनुष्योंका अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष होता है तथा राग-द्वेषसे ही सारे दोष और विकार उत्पन्न होते हैं। ये राग-द्वेष सारे पदार्थोंमें व्यापक हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३ । ३४)

'इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।'

जबतक राग-द्वेष रहते हैं तबतक कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करना परम आवश्यक है। इसीसे भगवान्ने गीतामें सभी साधकोंके लिये राग-द्वेषके त्यागकी बात जगह-जगह कही है। कर्मयोगके साधकके लिये कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गीता २ । ६४)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

ज्ञानयोगके साधनमें भी राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करनेके लिये कहा गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
(गीता १८ । ५१)

'विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो, शब्दादि विषयोंका त्याग करके, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट कर दे।'

सात्त्विक कर्मके लक्षणोंमें भी राग-द्वेषसे रहित होना आवश्यक बताया गया है—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
(गीता १८ । २३)

'जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है।'

भक्तियोगके साधकके लिये भी राग-द्वेषका त्याग करना आवश्यक बतलाते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(गीता १२ । १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

साधारण मनुष्यका जैसे अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष होता है, इसी प्रकार अनुकूलमें सुख और प्रतिकूलमें दुःख होता है। राग-द्वेषके नाशसे

ही समता आती है । समताकी सभी साधनोंमें आवश्यकता रहती है । समता सिद्ध महापुरुषमें तो स्वाभाविक ही रहती है और साधकके लिये वही साधन-रूपमें अनुकरणीय है; अतः साधकको अनुकूल-प्रतिकूल प्रतीत होनेवाले भावोंमें राग-द्वेषको मिटाकर सबमें समभाव करना चाहिये ।

भक्तिके साधनमें तो सबमें एक भगवद्बुद्धि होनेसे, ज्ञानके साधनमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव और अन्य सबका अभाव माननेसे तथा कर्मयोगके साधनमें सब पदार्थोंको क्षणभङ्गुर परिणामी उत्पत्ति-विनाशशील माननेसे अनुकूलता-प्रतिकूलतामें राग-द्वेष और हर्ष-शोकका सर्वथा नाश हो जाता है ।

प्रतिकूलताकी प्रतीति होनेपर भय, उद्वेग, वैर, ईर्ष्या, चिन्ता आदि अनेक दोष आते हैं; किंतु इन सबका मूल द्वेष ही है । इसी प्रकार अनुकूलताकी प्रतीति होनेपर काम, लोभ, स्नेह, ममता, प्रसन्नता आदि अनेक दोष आते हैं; पर इन सबका मूल राग ही है । इसलिये राग-द्वेषके त्यागसे सबका त्याग हो जाता है ।

गीतामें भगवान्‌ने 'राग'के स्थानमें कहीं 'स्पृहा'का कहीं 'आकाङ्क्षा'का और कहीं 'इच्छा' शब्दका भी प्रयोग किया है । जैसे **'सुखेषु** विगतस्पृहः' (गीता २ । ५६) **और 'पुमांश्चरति** निःस्पृहः' (गीता २ । ७१) में **'स्पृहा'**का भाव राग ही है । तथा—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥
(गीता ५ । ३)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ।'

इस श्लोकमें तथा १२वें अध्यायके १७वें श्लोकमें कथित 'काङ्क्षा'का अभिप्राय रागसे ही है, एवं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥
(गीता ७ । २७)

'हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ।'

यहाँ 'इच्छा' शब्द रागके ही स्थानमें आया है ।

इसी प्रकार अनुकूलता-प्रतिकूलताको ही कहीं 'प्रिय-अप्रिय' और कहीं 'शुभ-अशुभ' कहा गया है । जैसे—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(गीता ५ । २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(गीता १४ । २४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वह गुणातीत है) ।'

इन दोनों श्लोकोंमें आये हुए 'प्रिय-अप्रिय' शब्द अनुकूल-प्रतिकूलको ही लक्ष्य करानेवाले हैं । तथा—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ५७)

'जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।'

यहाँ 'शुभ-अशुभ'का भाव अनुकूल-प्रतिकूल ही है । इसलिये अनुकूलता-प्रतिकूलता और सुख-दुःखमें समभावयुक्त होना चाहिये; किंतु राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे तो सर्वथा रहित ही होना चाहिये; क्योंकि राग-द्वेष, हर्ष-शोक अन्तःकरणके विकार हैं और परमात्मप्राप्त पुरुषमें इनका लेशमात्र भी नहीं रहता । ईशावास्योपनिषद्‌में बताया गया है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(मन्त्र ७)

'जिस स्थितिमें आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उस स्थितिमें एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है ?' भाव यह कि सबमें एक विज्ञानानन्दघन परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोहादि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

और भी कहा गया है—'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १ । २ । १२) 'वह हर्ष-शोकको सर्वथा त्याग देता है अर्थात् उससे रहित हो जाता है ।' 'तरति शोकमात्मवित्' (छान्दोग्य० ७ । १ । ३) 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है ।'

यद्यपि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी शारीरिक सुख-दुःखकी प्रतीति तो होती है; क्योंकि सुख-दुःखकी प्रतीतिका अन्तःकरणके सिवा शरीरसे भी सम्बन्ध है । किंतु वे उसमें सम और निर्लेप रहते हैं; इसलिये हर्ष-शोक उनको तनिक भी नहीं होता । अतः हमलोगोंको सुख-दुःखकी प्रतीतिमें समभाव करना चाहिये और राग-द्वेष, हर्ष-शोकसे सर्वथा रहित होना चाहिये ।

इन राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि दोषोंके परिहारके लिये वैराग्यकी परम आवश्यकता है । जहाँ वैराग्य होता है, वहाँ राग-द्वेष कभी नहीं रहते और जहाँ राग-द्वेष नहीं रहते, वहाँ सारे विकारोंका स्वतः ही अभाव हो जाता है । वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती । गीतामें जहाँ-जहाँ कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोगका प्रकरण आया है, वहाँ-वहाँ वैराग्यको मुख्य माना गया है । भक्तिके साधनोंमें कहा गया है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।
(गीता १५ । ३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा काटकर (भगवान्‌के शरण होना चाहिये ।')

ज्ञानयोगका साधन भी वैराग्यके बिना सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानयोगके साधकके लिये भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

'इहलोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव करना एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना चाहिये ।'

अठारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें 'वैराग्यं समुपाश्रितः' कहकर दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेके लिये जोर दिया है ।

रागकी निवृत्ति हुए बिना कर्मयोग भी सिद्ध नहीं होता—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥
(गीता ६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ।'

इसी प्रकार गीता आदि शास्त्रोंमें यह बात स्थल-स्थलपर बतायी गयी है कि बिना वैराग्यके किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं हो सकती । जहाँ वैराग्य होता है, वहाँ स्वाभाविक ही संसारके विषयभोगोंसे उपरति होकर परमात्माके ध्यानमें स्थिति हो जाती है । कोई भी साधु-महात्मा और विद्वान् पुरुष कितना ही शास्त्रज्ञ और गुणी क्यों न हो, यदि उसमें वैराग्य नहीं है तो उसका कोई विशेष मूल्य नहीं । उदाहरणके लिये मान लीजिये—

एक गृहस्थके यहां कोई विद्वान् ब्राह्मण भोजन करने आये । गृहस्थने उनके लिये बहुत प्रेमसे भोजन बनवाया । आते ही उन्होंने पूछा—'क्या-क्या भोजन है ?' गृहस्थने बताया—'खीर-पूरी, साग-सब्जी आदि ।' उन्होंने कहा—'साथमें जलेबी अवश्य होनी चाहिये, उसका खीरके साथ बहुत मेल है ।' जब वे भोजन करके जाने लगे तब गृहस्थने उनको एक अच्छी ऊनी चद्दर दी । तब वे बोले—'सेठ ! आप-जैसोंके यहाँसे तो हमें दुशाला मिलना चाहिये था ।' गृहस्थने कहा—'हमारे पास दुशाला नहीं है, यह चद्दर ही है ।' तब वे चद्दर लेकर चले गये । किंतु उनकी इस प्रकार भोगोंमें और पदार्थोंमें आसक्ति देखकर उनके प्रति गृहस्थका श्रद्धा-विश्वास पूर्ववत् नहीं रहा । इससे सिद्ध हुआ कि विद्वान् और गुणी होनेपर भी यदि वैराग्य नहीं है तो उसका विशेष मूल्य नहीं है ।

किसी गृहस्थके यहाँ एक विरक्त साधु भोजन करने आये । उनके लिये गृहस्थने खीर-जलेबी, लड्डू, बरफी, पूरी-साग आदि तैयार करवाकर परोसा । उस भोजन-सामग्रीको देखकर उन्होंने कहा—'यह साधुओं और विरक्तोंके योग्य नहीं है, उनको ऐसा भोजन नहीं देना चाहिये । उनको तो रूखी-सूखी रोटी अच्छी लगती है ।' यह कहकर भोजन नहीं किया और वहाँसे जाने लगे । जाते समय गृहस्थ उनको बढ़िया ऊनी चद्दर देने लगे, तब वे बोले—'हमें इसकी आवश्यकता नहीं ।' और बहुत अनुरोध करनेपर भी उसको नहीं लिया । तब उस गृहस्थका उनमें श्रद्धा-विश्वास पहलेकी अपेक्षा भी अधिक हो गया । इससे समझना चाहिये कि यदि वैराग्य है तो वैराग्यके साथ सारे गुण अपने-आप ही आ जाते हैं । किंतु किसीमें विद्या और गुण भी हैं तो वे गुण वैराग्यके बिना स्थायी नहीं रह सकते । अतः जहाँ वैराग्य है, वहाँ सब कुछ है । इसलिये साधकको संसारके समस्त भोगोंसे, शरीरसे, सम्पत्तिसे और परिवारसे—सबसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये । महर्षि पतञ्जलिजीने समाधिकी सिद्धिके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो साधन बतलाकर वैराग्यके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन किया है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(१ । १५)

'देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्था है, वह वैराग्य है ।'

तत्परं **पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।**
(१ । १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह परवैराग्य है ।'

गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' क्योंकि सच्चे विवेकी पुरुषका तो विषयोंमें स्वाभाविक वैराग्य रहता है। अतः साधकको शरीर, संसार और भोगोंसे वैराग्य अवश्य करना चाहिये।

जब राग-द्वेषका नाश और संसारसे वैराग्य हो जाता है तब तो संसारके भोगों और पदार्थोंकी कामनाओंका भी अभाव हो जाता है; क्योंकि रागसे ही कामना उत्पन्न होती है—'सङ्गात्संजायते कामः' (गीता २।६२) किंतु जबतक तनिक भी कामना विद्यमान है, तबतक मुक्ति या परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। महाभारतमें बताया गया है—

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(शान्ति० २५१।६)

'जगत्‌में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।'

कामना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। सिद्ध पुरुषमें तो कामनाका अत्यन्त अभाव स्वाभाविक ही है। क्योंकि—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(गीता २।५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है अर्थात् उनसे रहित हो जाता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

साधकको भी सिद्ध पुरुषको लक्ष्यमें रखकर उसके अनुसार बननेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये। इहलोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। पदार्थ, प्राणी, शरीर किसीको भी लेकर किंचिन्मात्र भी कामना नहीं रखनी चाहिये। आत्मोद्धारके लिये कोशिश करनी चाहिये; किंतु आत्मोद्धारकी कामना निष्कामके तुल्य होते हुए भी न करना बहुत अच्छा है। मुक्ति या परमात्माकी प्राप्ति साध्य है तथा कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोग साधन है। साधकको किसी भी प्रकारकी कामना न रखकर उच्चकोटिका साधन करना चाहिये और उस साधनको साध्यसे भी बढ़कर आदर देना चाहिये। जैसे भोजन करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है, उसमें क्षुधानिवृत्तिकी आकाङ्क्षा करनेकी आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है, भगवत्प्राप्तिकी भी कामना करनेकी जरूरत नहीं है। भगवत्प्राप्तिमें प्रेम ही प्रधान हेतु है। किंतु यदि कामना ही करनी हो तो भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य विशुद्ध प्रेम होनेकी कामना करनी चाहिये। भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम होनेपर भजन-ध्यान आदि भक्तिके साधन उसमें अपने-आप ही आ जाते हैं और भजन-ध्यानका साधन होकर उसको भगवत्प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है।

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधकको भी निष्कामी अवश्य होना चाहिये; क्योंकि निष्कामभाव हुए बिना ज्ञानका साधन भी सिद्ध होना सम्भव नहीं है। किंतु ज्ञानके साधनद्वारा भी मुक्तिकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये, बल्कि विवेक और वैराग्यपूर्वक शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदि षट्सम्पत्ति तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंपर जोर रखकर

तत्परतासे साधन करना चाहिये । फिर ब्रह्मकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है ।

इसी प्रकार पूर्ण निष्कामभावसे कर्मयोगकी सिद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है; क्योंकि निष्कामभावसे कर्मयोगकी सिद्धि तो स्वाभाविक ही है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है ।'

किंतु भक्ति और ज्ञानके मार्गमें भी निष्कामभावकी परम आवश्यकता है । यद्यपि ईश्वरकी भक्ति सकाम भी हो सकती है; किंतु निष्काम-भक्तिके सामने वह बहुत ही तुच्छ है । भगवान्‌ने गीतामें अपने सभी भक्तोंको श्रेष्ठ और उदार बतलाया है, किंतु निष्कामी भक्तको तो सबसे श्रेष्ठ कहकर अपना स्वरूप ही बतलाया है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥
(७ । १८)

'ये सभी भक्त उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला निष्कामी ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ।'

ध्यान देना चाहिये । अर्थकी कामनावालेसे आर्त श्रेष्ठ है और आर्तसे मुक्तिकी इच्छावाला जिज्ञासु श्रेष्ठ है किंतु जो भगवान्‌का निष्कामी ज्ञानी भक्त है उससे श्रेष्ठ तो कोई है ही नहीं । भगवान्‌ने ऐसे निष्कामी ज्ञानी भक्तको अपना अत्यन्त प्रिय बताया है । इसका विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण गीता-तत्त्वविवेचनी टीकाके अ० ७ श्लोक १६-१७ में देख लेना चाहिये ।

श्रीरामचरितमानसमें भी स्वयं भगवान् श्रीराम कहते हैं—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
(अरण्य० १६)

श्रीमद्भागवतमें भी निष्काम भक्तकी बहुत प्रशंसा की गयी है—

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
(११ । २ । ५०)

'जिसके मनमें विषयभोगोंकी इच्छा और कर्मोंके बीज—वासनाओंका उदय नहीं होता तथा जो एकमात्र भगवान् वासुदेवमें ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १७)

'जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँ तक कि शरीर आदिमें भी अहंता-ममता नहीं रखते, जिनका चित्त मेरे ही प्रेमके रंगमें रँग गया है, जो संसारकी वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं और जो अपनी महत्ता—उदारताके कारण स्वभावसे ही समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामना जिनकी बुद्धिका स्पर्श नहीं कर पाती, उन्हें मेरे जिस परमानन्दस्वरूपका अनुभव होता है उसे और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षता (निष्कामता) से ही प्राप्त होता है ।'

इस प्रकार भक्तिके साधनमें भी निष्कामभावकी

श्रेष्ठताका निरूपण किया गया है । निष्काम भक्तके समान भगवान्‌को कोई भी प्रिय नहीं है । भक्त प्रह्लादमें यह निष्कामभाव विशेषरूपसे देखनेमें आता है । इसका दिग्दर्शन इसी वर्षके विशेषाङ्क 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क'में 'भगवान्‌के नामकी महिमा और उनसे प्रार्थना' शीर्षक लेखमें कराया गया है, पाठकोंको वहाँ देख लेना चाहिये ।

जिस प्रकार भगवान्‌का सम्पूर्ण प्राणियोंपर सदा ही हेतुरहित—बिना ही कारण निष्काम प्रेम और दया है, वैसे ही जिस भक्तका यावन्मात्र प्राणियोंपर निष्कामभावसे प्रेम और दया है वह महापुरुष भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा है (गीता १२ । १३-१४) ।

अतएव निष्कामभावके बिना किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती—ऐसा समझकर सभी साधकोंको अपनेमें सर्वथा निष्कामभाव लानेका तत्परतासे विशेष प्रयत्न करना चाहिये । किंतु यदि कोई साधक निष्कामी होकर भी अपनेको निष्कामी मानकर अभिमान रखता है तो यह उसके निष्कामभावमें कलङ्क है ।

अतः हमलोगोंको राग-द्वेषका त्याग करके संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य और निष्कामभाव करना चाहिये । इससे बहुत शीघ्र साधन तीव्र होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

समस्त जीवन ही योग है

[महायोगी श्रीअरविन्द]

प्रकृतिकी क्रियाओंकी दो आवश्यकताएँ हैं, जो ऐसा प्रतीत होता है, सदा ही मानव-क्रियाके महत्तर रूपोंमें हस्तक्षेप करती रहती हैं । ये रूप या तो हमारे साधारण कार्य-क्षेत्रोंसे सम्बन्धित हो सकते हैं या उन असाधारण क्षेत्रों और उपलब्धियोंकी खोज कर रहे होते हैं, जो हमें उच्च और दिव्य प्रतीत होती हैं । ऐसा प्रत्येक रूप एक ऐसी समन्वित जटिलता या समग्रताकी ओर उन्मुख होता है जो पुनः विशेष प्रयत्न और प्रवृत्तिकी विविध धाराओंमें विभक्त तो हो जाती है, पर फिर एक अधिक विशाल और अधिक शक्तिशाली समन्वयमें जुड़ भी जाती है । दूसरी बात यह है कि किसी चीजका अनेक रूपोंमें विकास एक प्रभावशाली अभिव्यक्तिका अनिवार्य नियम है; पर फिर भी वह समस्त सत्य और व्यवहार अत्यधिक कठोर ढंगसे निर्मित होता है, पुराना पड़ जाता है और यदि अपना पूरा गुण नहीं तो कम-से-कम उसका एक बड़ा भाग तो खो ही देता है । इसे लगातार आत्माकी नूतन धाराओंसे जीवन-शक्ति मिलती रहनी चाहिये जो मृत या मृतप्राय साधनमें जीवनका संचार करती रहें तथा उसमें परिवर्तन लाती रहें; केवल तभी उसे नव-जीवन प्राप्त हो सकता है । सदा ही पुनर्जन्म लेते रहना भौतिक अमरत्वकी शर्त है । हम एक ऐसे युगमें निवास कर रहे हैं जो भावी सृष्टिकी प्रसव-वेदनासे व्याकुल है, जब विचार और कर्म-सम्बन्धी वे समस्त रूप, जिनके अंदर उपयोगिताकी या स्थिरताके किसी गुप्त गुणकी सबल शक्ति मौजूद है, एक सर्वोच्च परीक्षामेंसे गुजर रहे हैं तथा उन्हें पुनः जन्म लेनेका अवसर प्रदान किया जा रहा है । वर्तमान जगत् 'मीडिया' के विशाल काल कड़ाहका दृश्य उपस्थित कर रहा है जिसमें सब कुछ डालकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये हैं, उन टुकड़ोंपर प्रयोग किये जा रहे हैं तथा उन्हें एकत्रित और पुनः एकत्रित किया जा रहा है, जिससे

या तो वे नष्ट होकर नये रूपोंके लिये बिखरे हुए उपादान जुटायें या फिर नव-जीवन प्राप्त करके पुनः प्रकट हो जायँ अथवा यदि वे अभी और जीवित रहना चाहते हैं तो रूपान्तरित हो जायँ। भारतीय योग अपने सार-तत्त्वमें 'प्रकृति'की कुछ महान् शक्तियोंकी एक विशेष क्रिया या रचना है; यह स्वयं विशिष्ट एवं विभाजित है और विविध प्रकारसे निर्मित है। अतएव यह अनादि युगोंका शिशु है तथा हमारे इस आधुनिक समयमें अपनी जीवन-शक्ति और सत्यके बलपर जीवित बचा हुआ है। अब यह उन गुप्त संस्थाओं और संन्यासियोंकी गुफाओंमेंसे बाहर निकल रहा है, जिनमें इसने आश्रय लिया था; यह आजकलकी जीवित मानवी-शक्तियों और उपयोगिताओंके भावी संघातमें अपना स्थान खोज रहा है। किंतु इसे पहले अपने-आपको पाना है, प्रकृतिके जिस सामान्य सत्य और सतत उद्देश्यको लाना है तथा इस नये आत्म-ज्ञान और आत्म-परिचयके द्वारा अपने पुनः प्राप्त और अधिक विशाल समन्वयको ढूँढना है। अपनी पुनर्व्यवस्था प्राप्त कर लेनेके बाद ही यह जातिके पुनर्व्यवस्थित जीवनमें अधिक सरलतासे तथा अधिक शक्तिशाली रूपमें प्रवेश पा सकेगा। इसकी क्रियाएँ यह दावा करती हैं कि वे जातिके इस जीवनको अन्तरतम गुप्त कक्षतक, अपने अस्तित्व और व्यक्तित्वकी उच्चतम चोटीतक ले जायँगी।

यदि हम जीवन और योग दोनोंको यथार्थ दृष्टिकोणसे देखें तो सम्पूर्ण जीवन ही चेतन या अचेतन रूपमें योग है। कारण, इस शब्दसे हमारा मतलब सत्तामें प्रसुप्त क्षमताओंकी अभिव्यक्तिके द्वारा आत्म-परिपूर्णताके लिये किया गया विधिवद्ध प्रयत्न और मानव-व्यक्तिका उस विश्वव्यापी और परात्पर सत्ताके साथ मिलन है, जिसे हम मनुष्य और विश्वमें अंशतः अभिव्यक्त होता हुआ देखते हैं। किंतु जब हम जीवनको उसके बाह्य रूपोंके पीछे जाकर देखते हैं तो वह प्रकृतिका एक विशाल योग दिखायी देता है,—उस प्रकृतिका, जो अपनी शक्यताओंकी सदा वृद्धिशील अभिव्यक्तिमें अपनी पूर्णता प्राप्त करनेकी तथा अपनी दिव्य वास्तविक सत्ताके साथ एक होनेकी चेष्टा कर रही है। मनुष्य उसका एक विचारशील प्राणी है, अतएव उसमें वह पहली बार क्रियाके उन स्वचेतन साधनों और इच्छाशक्तिसे युक्त प्रणालियोंकी रचना करती है जिनकी सहायतासे यह महान् उद्देश्य अधिक द्रुत और शक्तिशाली वेगसे पूरा हो सकेगा।

जैसा कि स्वामी विवेकानन्दने कहा है योग एक ऐसा साधन माना जा सकता है जो व्यक्तिके विकासको शारीरिक जीवनके अस्तित्वके एक ही जीवन-कालमें या कुछ वर्षोंमें, यहाँतक कि कुछ महीनोंमें ही साधित कर दे। अतएव योगकी वर्तमान पद्धति उन सामान्य विधियोंके एक अधिक संकुचित, पर अधिक सबल और तीव्र रूपोंमें संग्रह या संक्षेपसे अधिक कुछ और नहीं हो सकती, जिन्हें महती 'माता' अपने विशाल ऊर्ध्वमुख प्रयासमें शिथिलतापूर्वक, पर विस्तृत रूपमें तथा मन्द गतिसे पहलेसे प्रयुक्त कर रही है। इनका प्रयोग करते समय, बाह्य रूपसे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि सामग्री और शक्तिका अत्यधिक क्षय हो रहा है, किंतु इससे मेल अधिक पूर्ण हो जाता है। योगविषयक यह विचार यौगिक प्रणालियोंके यथार्थ और युक्तियुक्त समन्वयका आधार बन सकता है; क्योंकि तब योग एक ऐसी गुह्य और असामान्य वस्तु नहीं रह जाता, जिसका विश्व-शक्तिकी सामान्य प्रक्रियाओंके साथ तथा उस उद्देश्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता जिसे वह अपनी बाह्य और आन्तरिक परिपूर्णताकी दो महान् गतियोंमें अपने सामने रखती

है । बल्कि वह अपने आपको उन शक्तियोंके एक तीव्र और असाधारण प्रयोगके रूपमें व्यक्त करता है जिन्हें वह पहले ही अभिव्यक्त कर चुकी है या जिन्हें वह अपने अंदर कम उन्नत, पर अधिक सामान्य क्रियाओंमें अधिकाधिक संगठित कर रही है ।

यौगिक पद्धतियोंका मनुष्यकी प्रचलित मनोवैज्ञानिक क्रियाओंके साथ वही सम्बन्ध है, जो विद्युत् और वाष्पकी स्वाभाविक शक्तिके वैज्ञानिक प्रयोगका वाष्प और विद्युत्की सामान्य क्रियाओंके साथ है और उनका निर्माण भी एक ऐसे ज्ञानपर आधारित है जो नियमित प्रयोगों, क्रियात्मक विश्लेषणों तथा सतत परिणामोंके द्वारा विकसित एवं स्थापित हुआ है तथा जिसे इनसे समर्थन भी प्राप्त हुआ है । उदाहरणार्थ, समस्त 'राजयोग' इस ज्ञान एवं अनुभवपर आधारित है कि हमारे आन्तरिक तत्त्व, संयोग और कार्य तथा हमारी शक्तियाँ अलग-अलग की जा सकती हैं । उनमें विघटन हो सकता है, उन्हें नये सिरेसे मिलाया जा सकता है तथा उनसे नये और पहले असम्भव माने गये कार्य कराये जा सकते हैं, या फिर सब स्थायी आन्तरिक प्रक्रियाओंके द्वारा एक नये सामान्य समन्वयमें रूपान्तरित किये जा सकते हैं । इसी प्रकार 'हठयोग' भी इस बोध एवं अनुभवपर निर्भर करता है कि जिन प्राणिक शक्तियों और क्रियाओंकी अधीनता हमारा जीवन स्वीकार कर लेता है तथा जिनके साधारण कार्य रूढ़ और अनिवार्य ढंगके प्रतीत होते हैं, वे वशमें की जा सकती हैं, उन्हें बदला जा सकता है अथवा उन्हें रोका जा सकता है । इन सबके ऐसे परिणाम निकल सकते हैं, जो अन्यथा सम्भव न होते, साथ ही वे परिणाम उन लोगोंको, जो उनकी प्रक्रियाओंकी युक्तियुक्तताको नहीं पकड़ सकते, चमत्कारपूर्ण भी प्रतीत होते हैं । यदि योगके किसी अन्य रूपमें उसका यह गुण उतना प्रत्यक्ष न हो—कारण, ये रूप यान्त्रिक कम और सहजज्ञानयुक्त अधिक होते हैं तथा 'भक्तियोग'के समान एक दिव्य आनन्दके या 'ज्ञानयोग' के समान चेतना और सत्ताकी एक दिव्य असीमताके अधिक निकट होते हैं—तो भी ये हमारे अंदर किसी प्रधान क्षमताके प्रयोगसे आरम्भ होते हैं, इनके ढंग तथा उद्देश्य ऐसे होते हैं, जो उसकी दैनिक सहज क्रियाओंमें विचारमें नहीं आते । जो प्रणालियाँ योगके सामान्य नामके अन्तर्गत आती हैं, वे सब विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं । जो 'प्रकृति'-सम्बन्धी एक स्थिर सत्यपर आधारित होती हैं । वे सामान्य क्रियाओंसे ऐसी शक्तियाँ और परिणाम विकसित करती हैं, जो सदा प्रसुप्त अवस्थामें तो विद्यमान थे; पर जिन्हें उसकी साधारण क्रियाएँ आसानीसे अभिव्यक्त नहीं करतीं, यदि करती हैं तो बहुत कम ।

किंतु जैसा कि भौतिक ज्ञानमें होता है, वैज्ञानिक प्रक्रियाओंकी बहुलताकी अपनी हानियाँ होती हैं,—उदाहरणार्थ, इससे एक ऐसी विजयशील कृत्रिमता उत्पन्न हो जाती है, जो हमारे सामान्य मानव-जीवनको यन्त्रके भारी बोझके नीचे दबा देती है तथा एक प्रबल दासताके मूल्यपर स्वतन्त्रता और स्वामित्वके कुछ रूपोंका क्रय करती है । इसी प्रकार यौगिक प्रक्रियाओंके कार्यकी और उनके असाधारण परिणामोंकी भी अपनी हानियाँ और बुराइयाँ होती हैं । योगी सामान्य जीवनसे अलग हटना चाहता है और उसपर अपना अधिकार खो देता है । वह अपनी मानवीय क्रियाओंको दरिद्र बनाकर आत्माका धन खरीदना चाहता है तथा बाह्य मृत्युके मूल्यपर आन्तरिक स्वतन्त्रताकी इच्छा करता है । यदि वह भगवान्को पा लेता है तो जीवनको खो बैठता है, अथवा यदि जीवनपर विजय प्राप्त करनेके लिये अपने प्रयत्नोंको

बाहरकी ओर मोड़ता है तो उसे भगवान्‌को खो देनेका डर रहता है । इसीलिये हमारे भारतवर्षमें सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक उन्नति तथा बाह्य माँगमें एक विजयपूर्ण समन्वयकी परम्परा और आदर्शको स्थिर रक्खा गया है तो भी इसके अधिक उदाहरण देखनेमें नहीं आते । वस्तुतः जब मनुष्य अपनी दृष्टि और शक्ति अन्तरकी ओर मोड़ता है तथा योग-मार्गमें प्रवेश करता है तो ऐसा माना जाता है कि वह हमारे सामूहिक जीवनके महान् प्रवाह और मनुष्यजातिके लौकिक प्रयत्नके लिये अनिवार्यरूपसे निकम्मा हो गया है । यह विचार इतने प्रबलरूपसे फैल गया है और इसपर प्रचलित दर्शनों और धर्मोंने इतना बल दिया है कि जीवनसे भागना आजकल केवल योगकी आवश्यक शर्त ही नहीं, वरं उसका सामान्य उद्देश्य भी माना जाता है । योगका ऐसा कोई भी समन्वय संतोषप्रद नहीं हो सकता, जो अपने लक्ष्यमें भगवान् और प्रकृतिको एक मुक्त और पूर्ण मानवीय जीवनमें पुनः संयुक्त नहीं कर देता या जो अपनी पद्धतिमें हमारे आन्तरिक और बाह्य कर्मों और अनुभवोंमें समन्वय स्थापित करनेकी अनुमति ही नहीं देता, बल्कि उसका समर्थन भी नहीं करता । इस कार्यमें दोनों अपनी चरम दिव्यताको प्राप्त कर लेते हैं । कारण, मनुष्य एक उच्चतर जीवनका उपयुक्त स्तर एवं प्रतीक है । वह एक ऐसे स्थूल जगत्‌में अवतरित हुआ है, जिसमें निम्नतरका रूपान्तरित होना, उच्चतर तत्त्वके स्वभावको ग्रहण करना और उच्चतर तत्त्वका निम्न तत्त्वमें अपने आपको अभिव्यक्त करना सम्भव है । एक ऐसे जीवनसे बचना, जो उसे इसी सम्भावनाको चरितार्थ करनेके लिये दिया गया है । कभी उसके सर्वोच्च प्रयत्नकी अनिवार्य शर्त या उसका समस्त और अन्तिम उद्देश्य नहीं हो सकता, और न यह उसकी आत्म-उपलब्धिके अत्यधिक सबल साधनकी शर्त या लक्ष्य हो सकता है । यह किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें एक अस्थायी आवश्यकता तो हो सकती है या यह एक ऐसा विशिष्ट अन्तिम प्रयत्न भी हो सकता है, जो व्यक्तिपर इसलिये लादा जाता है कि वह पूरी जातिके लिये एक महत्तर सामान्य सम्भावनाको तैयार कर सके । योगका सच्चा और पूर्ण उपयोग और उसके उद्देश्य तभी साधित हो सकते हैं, जब कि मनुष्यके अंदर सचेतन योग, जैसा कि प्रकृतिमें अवचेतन योग होता है, बाह्यतः जीवनके साथ समानरूपसे व्यापक हो जाय और तभी हम मार्ग और उपलब्धि दोनोंको देखते हुए फिर एक बार अधिक पूर्ण और आलोकित अर्थमें कह सकते हैं—'समस्त जीवन ही योग है ।'

लीला और लीलामयमें अभेद

ईश्वरमें है नहीं कभी भी जन्म-मृत्यु, उत्पत्ति-विनाश ।
है विचित्र यह जग सारा ही, प्रभुका लीलारूप विलास ॥
जगके द्वन्द्व सर्वथा हैं सब प्रभुकी लीलाका विस्तार ।
प्रभुसे ही उत्पन्न सभी हैं, प्रभु ही हैं सबके आधार ॥
विविध रसमयी लीलासे है लीलामयका नित्य अभेद ।
देख-देख उनका लीला-नैपुण्य हँसो, मत मानो खेद ॥
प्रति लीलामें लीलामयको लो तुरंत ही तुम पहचान ।
'कभी न यह पहचान मिटे'—तुम माँगो यह प्रभुसे वरदान ॥

अहं ब्रह्मास्मि

[एक दार्शनिक विवेचन]

(लेखक—डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य)

उपनिषदोंमें कई ऐसे वाक्य मिलते हैं, जो सुननेमें बड़े छोटे हैं; किंतु अर्थकी दृष्टिसे बहुत बड़े हैं। ऐसे वाक्योंको वेदान्त-दर्शनमें 'महावाक्य' कहा गया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' भी एक ऐसा ही महावाक्य है।

इस वाक्यका सर्व-प्रथम प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद्में हुआ है। वहाँ कहा गया है—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्, अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत् सर्वमभवत् ।'

अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें एकमात्र ब्रह्म ही था। उसने अपनेको पहिचाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' और इस ज्ञानके प्रभावसे वह सब कुछ बन गया।

इस कथनका भाव यह है कि सृष्टिके आरम्भमें आकाश-पाताल, सूर्य-चन्द्रमा, सरित-सरोवर आदि यह प्रपञ्च उस स्थूल रूपमें व्यक्त नहीं था, जिसमें हम आज इसे देख रहे हैं। पुरुष और प्रकृतिका यह सारा प्रपञ्च परमात्मामें लीन था। परमात्माके अनेक नाम हैं। उनमेंसे एक है 'ब्रह्म'। ब्रह्म शब्दकी दो व्युत्पत्तियाँ हैं। एक है 'बृंहतीति ब्रह्म' अर्थात् जो सबसे बड़ा है, वह ब्रह्म कहलाता है। दूसरी व्युत्पत्ति है 'बृंहयतीति ब्रह्म' अर्थात् जो प्रपञ्चको सूक्ष्म रूपसे स्थूल रूपमें परिवर्तित करता है, अथवा यों कहें कि उसे अव्यक्तभावसे व्यक्तभावमें लाता है, वह ब्रह्म है।

प्रलय-वेलामें ब्रह्म प्रपञ्चको आत्मसात् करके अद्वैतमयी योग-निद्रामें विश्राम करता है। तत्पश्चात् सृष्टिके आरम्भमें वह अपने ब्रह्मरूपका अनुसंधान करता है और उस अनुसंधानसे शक्ति-सम्पन्न होकर, प्रपञ्चका स्थूलरूपमें विस्तार करके द्वैतमयी लीलामें निमग्न हो जाता है।

उपर्युक्त विवरणसे हमें विदित होता है कि स्वयं ब्रह्मने ही 'अहं ब्रह्मास्मि'का सर्वप्रथम उच्चारण और अनुसंधान किया था। तत्पश्चात् देवताओंमेंसे और ऋषियोंमेंसे भी जिस-जिसने ब्रह्मके आत्मानुसंधानका और उससे होनेवाले अद्भुत प्रभावका परिचय प्राप्त किया, उस-उसने स्वयं भी 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुसंधान करके देखा और उसके प्रभावसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त किया।

बह्वृचोपनिषद्में बताया गया है—

'अहं ब्रह्मास्मीति वा या भाष्यते' 'सा ब्रह्मानन्दकला'

अर्थात् 'अहं ब्रह्माऽस्मि'के द्वारा जिसका प्रवचन होता है, वही परब्रह्मका आनन्दमय भाव है।

पैंगलोपनिषद्में गुरु याज्ञवल्क्यका पैंगल नामक शिष्यको यह उपदेश है कि—

'अहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात्'

अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीवको मनमें इस प्रकारकी धारणाको दृढ़ कर लेना चाहिये कि मैं ब्रह्म हूँ।

कठरुद्रोपनिषद्में प्रजापतिने देवताओंको उपदेश देते हुए कहा था,—

'ज्ञात्वा ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्'

अर्थात् साधक यह जानकर कि मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही हो जाता है। यह प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक सत्यपर आधारित है। मनुष्य जो बनना चाहता है, बन सकता है। दृढ़ धारणासे क्या नहीं हो सकता? गीतामें श्रीभगवान्की उक्ति है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' जीवके ब्रह्म बननेकी बात गोस्वामी तुलसीदासजीने भी बतायी है—

'जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।'

शुकरहस्योपनिषद्में भगवान् शंकर अपने शिष्य शुकदेवसे कहते हैं—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

अर्थात् जीवकी उपाधि है अविद्याजन्य अन्तःकरण एवं ईश्वरकी उपाधि है माया। उपाधि-भेदसे एक ही चैतन्य कार्य और कारण बना हुआ है। कार्यकी उपाधिसे युक्त चैतन्य जीव कहलाता है और कारणकी उपाधिसे सम्पृक्त चैतन्यका नाम ईश्वर है। इन दोनों उपाधियोंको दूर करनेसे

जो बचता है, वही पूर्णज्ञानका लक्ष्य है, जिसमें जीव और ईश्वरके शुद्ध चैतन्यकी एकता झलकने लगती है।

सत्ताकी दृष्टिसे जीव और ईश्वर एक हैं और ये दोनों ही क्यों, संसारके सभी पदार्थ एक हैं। इस विचारसे ब्रह्म और जगत् भी एक ही हैं; क्योंकि ब्रह्मकी ही सत्ता जगत्में ओतप्रोत है, जैसा कि शंकराचार्यने कहा है—

'दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्त्तमानः।'

जीवका जीवत्व और ईश्वरका ईश्वरत्व—दोनों व्यावहारिक हैं। इन दोनों व्यावहारिक कल्पनाओंका परित्याग करनेपर केवल एक शुद्ध परमार्थ चेतन बचता है।

'अहम्'का वाच्यार्थ है शरीरधारी जीव और ब्रह्मका वाच्यार्थ है सृष्टिकर्ता परमात्मा। किंतु 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रमें इन दोनों पदोंके अभिधा शक्तिसे निकलनेवाले ये अर्थ नहीं लिये जाते; क्योंकि शरीरधारी जीवात्मा और सृष्टिकर्ता परमात्मा एक नहीं हैं। परमात्मा राजाके समान है और जीवात्मा प्रजाके समान। दोनोंमें बड़ा भारी भेद है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि'के अनुसंधानके समय लक्षणासे प्राप्त होनेवाले उसके लक्ष्य-अर्थपर दृष्टि रखनी पड़ती है। इसमें जीवके अविद्यांशका और ईश्वरके मायांशका परित्याग किया जाता है, चेतनांशका नहीं। एकांशका परित्याग होनेसे इस लक्षणाका नाम है भाग-त्याग-लक्षणा।

ज्ञानकी परिपूर्णता केवल इस बातमें नहीं है कि **'अहं ब्रह्मास्मि'** के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ मात्रको जान लिया जाय। इतनेसे जीवका कल्याण नहीं होता। ज्ञानकी वेदीपर प्रतिष्ठित होनेके लिये तीन सोपान हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। शुकरहस्योपनिषद्की उक्ति है—

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णबोधस्य लक्षणम्॥

पहला सोपान है—श्रवण, जिसका तात्पर्य है अनुभवी गुरुसे **'अहं ब्रह्मास्मि'** मन्त्रकी व्याख्याको सुनना। तत्पश्चात् दूसरा सोपान है—मनन अर्थात् सुने हुए अर्थको मनमें भलीभाँति जानना, समझना। और तीसरा सोपान है—निदिध्यासन अर्थात् सुने-समझे विषयमें, संशयरहित होकर, मनको एकाग्र कर लेना। यह निदिध्यासन ही अपनी उच्च भूमिकामें समाधि-रूपमें परिणत हो जाता है। ऐसी समाधिको प्राप्त करनेवाले व्यक्ति जबतक जीवित रहते हैं तबतक जीवन्मुक्त कहलाते हैं और अन्तमें प्रारब्धवश शरीर-सम्बन्ध न रहनेपर विदेहमुक्त हो जाते हैं।

तेजोबिन्दूपनिषद्में लिखा है कि कुमार कार्तिकेयने भगवान् शंकरसे जो ज्ञानराशि उपलब्ध की थी, उसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की भी चर्चा की गयी थी। वहाँ कहा गया है कि साधकको स्वात्म-मन्त्रका अर्थात् अपनी आत्माके मन्त्रका सदा अभ्यास करना चाहिये। वह स्वात्म-मन्त्र है 'अहं ब्रह्मास्मि'। इसका अभ्यास करते रहनेसे फिर किसी दूसरे मन्त्रकी आवश्यकता नहीं रहती—

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत्।

इस मन्त्रका जप करनेसे सब प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं, ज्वरादि शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं और मन चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है। इस मन्त्रके प्रभावसे साधकपर जादू-टोनेका असर नहीं हो सकता, उसके दुःख-शोक अस्त हो जाते हैं और काम-क्रोधादि अवगुण भी भाग जाते हैं। इस मन्त्रका चिन्तन करनेसे चित्तकी वृत्ति शान्त हो जाती है, भेद-बुद्धि हट जाती है, द्वैतका दुःख कट जाता है और संकल्प-विकल्पका पट भी फट जाता है। द्वैतान्धकारके विलीन होनेपर अद्वैतके आलोकमें एक ऐसे सुखकी प्रतीति होती है, जो अलौकिक है, अतएव यह कहना उचित ही है कि अपूर्व आनन्दका प्रदाता 'अहं ब्रह्मास्मि'—मन्त्र सब मन्त्रोंका शिरोमणि है। केवल यही एक ऐसा मन्त्र है जो शीघ्र ही मोक्षका दाता है—

सर्वमन्त्रान् समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र संदेहमण्वपि॥

त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद्में कहा गया है कि **'अहं ब्रह्मास्मि'** की भावनासे साधक परब्रह्ममें इस प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार नदीका प्रवाह समुद्रमें विलीन हो जाता है। महावाक्यके सम्बन्धमें अबतककी यह चर्चा वेदान्तके अद्वैत-सम्प्रदायके दृष्टिकोणसे की गयी है। अद्वैत मतके अनुसार जीवात्मा और परमात्मामें व्यवहार-दृष्टिसे भेद, किंतु परमार्थ-दृष्टिसे अभेद है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** का साधक लक्षणाद्वारा मन्त्रके लक्ष्यार्थकी भावना करता हुआ अपने और ब्रह्मके पारमार्थिक अभेदको प्राप्त कर लेता है।

किंतु वेदान्तमें अन्यान्य द्वैत-परक सम्प्रदाय भी हैं

जिनको समुदायतः भक्ति-सम्प्रदाय कहा जाता है । भक्तिके आचार्य जीवात्मा और परमात्मामें पारमार्थिक भेदको ही अङ्गीकार करते हैं ।

उनके विचारसे जीव व्यावहारिक सत्ता न होकर पारमार्थिक सत्ता है । जीव अनादि, अनन्त, शाश्वत और चिरन्तन है; और है वस्तुतः सच्चिदानन्द । श्रीभगवान्की मायासे मोहित होकर अज्ञानवश वह अपनेको त्रिगुणात्मक मान बैठा है । अतएव सद्गुरुके उपदेशके अनुसार जब वह **'अहं ब्रह्मास्मि'** का अनुसंधान करता है, तब वह अपनेको सच्चिदानन्दघन प्रभुके अंशके रूपमें देखता है ।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

जब ईश्वर सत्, चित्, आनन्द है, तब उसका अंश जीव भी सत्, चित्, आनन्द ही होना चाहिये । भक्त भी **'अहं ब्रह्मास्मि'** के अनुसंधानके समय लक्षणाका आश्रय लेता है । किसी वीर बालकके विषयमें जब ऐसा कहा जाता है कि यह बालक सिंह है, तब बालकको सर्वांशमें सिंह नहीं समझा जाता; क्योंकि बच्चेकी आकृति सिंहके समान नहीं होती । उस समय बालकमें सिंहके समान केवल शौर्यादि गुणोंकी ही कल्पना की जाती है । इसी प्रकार भक्त-जीव जब **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहता है, तब वह अपनेको सर्वांशमें ब्रह्म नहीं मानता; क्योंकि वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार वह न केवल बद्धावस्थामें ही, अपितु मुक्तावस्थामें भी 'जगत्की सृष्टि, स्थिति, प्रलय' नहीं कर सकता । अतएव वह अपने अनुसंधानमें केवल ज्ञान और आनन्द आदि गुणोंमें ही ब्रह्मके साथ साम्यका—साधर्म्यका अनुभव करता है । भगवान्के साथ ऐसी समताका अनुभव करनेवाले भक्त धन्य हैं; क्योंकि वे संसार-सागरके पार चले जाते हैं । उनके विषयमें श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥
(गीता १४ । २)

शान्ति और सुख या सुख और शान्ति

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

आज संसारमें चारों ओर अशान्ति है । वातावरण अशान्तिसे गूँज रहा है । यह सब देखते हुए भी मनुष्य शान्ति चाहता है । परंतु यह वस्तु चाहनेसे ही मिलती नहीं है। शान्ति तो एकाग्र साधनाका परिणाम है । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(गीता २ । ७१)

इस श्लोकका अर्थ ऐसा है—वह मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने—(१) सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग कर दिया है; (२) जो स्पृहारहित है, धन-दौलत कुछ चाहता नहीं है; (३) जो ममतारहित है—'मेरा, मुझकोके बन्धनसे मुक्त है; (४) जो अहंकाररहित है—दम्भ, मद, मात्सर्य-शून्य है । इतने गुणोंसे युक्त मनुष्य संसारमें रहकर भी शान्तिको प्राप्त होता है ।

और जब शान्ति नहीं है तो सुख भी नहीं है । भगवान्ने कहा है—**'अशान्तस्य कुतः सुखम् ।'** (गीता २ । ६६) जिसके मनमें शान्ति नहीं है, उसके लिये सुख कहाँ है—तो यह बात निश्चित है कि जो मनुष्य सुखसे रहता है, उसके मनमें अवश्य शान्ति है ।

अतः यह जानना उचित है कि सुख कैसे मिले ? भगवान्ने गीतामें कहा है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(१८ । ३७–३९)

—जिस सुखमें साधक पुरुष भगवान्के भजन, पूजन, ध्यानादिके अभ्याससे रमण करता है, ऐसा सुख आरम्भमें विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृत-

तुल्य है; अतएव वह आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है । जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृततुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके समान होता है । वह सुख राजस कहा गया है । जो सुख आरम्भमें, भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ।

इन बातोंको विचार-विश्लेषणसे देखते हुए यही कहना ठीक मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य अमृत-तुल्य सात्त्विक सुख ही प्राप्त करना चाहेगा; क्योंकि शान्ति है तो उसीमें है ।

परंतु अध्याय २के ७०वें श्लोकका उदाहरण शान्तिका एक विशेष रूप प्रकट करता है । श्रीभगवान् कहते हैं—जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है—भोगोंकी कामनावाला नहीं । सुतरां स्थितप्रज्ञ होनेमें ही मनुष्यका कल्याण है । भोग रहते हुए भी वह सुख-शान्तिसे विचलित नहीं होता है ।

ऐसे ही कर्मयोगी भी परम शान्तिको प्राप्त होता है । श्रीकृष्ण कहते हैं—**'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्'**—कर्मयोगी जब कर्मोंका फल त्याग करनेमें समर्थ होता है, तब वह नैष्ठिकी शान्ति—अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है । इससे अधिक शान्ति और कहाँ मिल सकती है ?

परंतु हाँ, इससे भी श्रेष्ठतर पद भगवान् यों वर्णन करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
(गीता ६ । १५)

—इस प्रकार वशमें किये हुए मनवाला योगी आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें जोड़ता हुआ मुझमें रहनेवाली निर्वाणपरमा—परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है ।

अब तो शान्तिकी चरम सीमातक पहुँच गये हैं। इसके उपरान्त और कुछ कहनेको नहीं रह गया है । केवल भगवान्ने जो पथ बतलाया है, उसे ठीक-ठीक पहचान लेना और उसपर चलना है । श्रीभगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
(गीता १२ । १२)

बिना तत्त्वज्ञानके अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे भगवान्के स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सर्वकर्मोंका फलत्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है । बस, त्याग ही एक यथार्थ मन्त्र है, जिससे सुखका यथार्थ स्वाद मिलता है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे दीनबन्धु भगवान !

अशरणशरण पतितपावन हे दीनबन्धु भगवान !
दीन मलीन स्वधर्महीनको कर दो अभय प्रदान ॥
पड़ा हुआ हूँ द्वार तुम्हारे, रोता हूँ अविराम ।
वरद हस्त मस्तकपर रक्खो तो पाऊँ विश्राम ॥ १ ॥
त्याग सकल आश्रय हूँ आया नाथ ! तुम्हारे धाम ।
अब विलम्ब मत करना प्यारे ! दे दो भक्ति अकाम ॥
पास न मेरे भक्ति-प्रेम है, श्रद्धाका नहिं नाम ।
फिर भी तुम्हें पुकार रहा हूँ, दो अब दर्शन राम ! ॥ २ ॥

—भगवतनारायण भार्गव एम० पी०

श्रीकृष्णजन्माष्टमीका महान् महोत्सव

(जन्माष्टमी महोत्सवपर गीतावाटिकामें श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
यस्योदनं जगत्सर्वं मृत्युर्यस्योपसेचनम् ।
दुर्विज्ञेयं सुविज्ञेयं श्रीकृष्णं प्रणमाम्यहम् ॥
वन्दे श्रीराधिकां देवीं व्रजारण्यविहारिणीम् ।
यस्याः कृपां विना कोऽपि न कृष्णं ज्ञातुमर्हति ॥
तुण्डे ताण्डविनीरतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी कलयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतःप्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने घटिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ॥

आज श्रीकृष्णजन्माष्टमीका महान् महोत्सव-पर्व है । आजके ही मङ्गलमय दिन इस सौभाग्यशाली पुण्य भूमण्डलपर अप्राकृत सच्चिदानन्दस्वरूप समस्त अवतारोंके मूल अवतारी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्का अपने अंशांशोंसहित पूर्णाविर्भाव हुआ था । भगवान्का अवतार तो बहुत-से कल्पोंमें होता है; परंतु पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें ही हुआ करता है । आज हम उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके इसी पूर्णाविर्भावका महोत्सव मना रहे हैं, यह उनकी अहैतुकी कृपाका ही प्रसाद है ।

विभिन्न श्रुतियोंने परात्पर परब्रह्मको पुरुषोत्तम, सबका आदिकारण, अखिल विश्वका तथा प्रकृतिका भी नियामक, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका आधार, सर्वज्ञ, सर्वमय, अजन्मा, अविनाशी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वाधार, सबका आश्रय, सर्वात्मा, अनन्त, आनन्दस्वरूप, परिपूर्णतम, अद्वितीय, एक, परम गूढ़, परमज्योतिःस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वशक्त्याधार आदि रूपोंमें वर्णन किया है । भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी महाभारत, श्रीमद्भागवत, महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता तथा विभिन्न पुराण-शास्त्रोंमें इसी प्रकारके अनन्त विशेषण प्रयुक्त हुए हैं । भगवान् शिव, ब्रह्मा, नारद, सनकादि मुनि, व्यासदेव आदि महर्षि, इच्छामृत्यु तथा ज्ञान-विज्ञानसमुद्र भीष्मपितामह आदि असंख्य महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णके पूर्ण पुरुषोत्तम होनेका वर्णन करते हुए उनकी आराधना-पूजा और स्तुतिको जीवनका परम सौभाग्य माना है । यहाँ स्थालीपुलाक-न्यायसे कुछ थोड़े-से वचन उद्धृत किये जाते हैं—

स्वयं भगवान्के वाक्य हैं*—

'मैं क्षर (नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र) से सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी अक्षर—जीवात्मासे भी उत्तम हूँ। इसलिये मैं लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ।' (गीता १५ । १८)

'मैं समस्त जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ (सबका आदिकारण हूँ) ।' (गीता ७ । ६)

'मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें (सूत्रके) मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है ।' (गीता ७ । ७)

'अर्जुन ! तुम समस्त भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जानो ।' (गीता ७ । १०)

'मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही समस्त जगत्की चेष्टा होती है ।' (गीता १० । ८)

'पूर्वमें बीते हुए, वर्तमानमें स्थित और भविष्यमें होनेवाले समस्त भूतोंको मैं जानता हूँ; परंतु मुझको कोई भी नहीं जानता ।' (गीता ७ । २६)

---

* यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १८)

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
(गीता ७ । ६)

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
(गीता ७ । १०)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ॥
(गीता १० । ८)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥
(गीता ७ । २६)

'मैं ही सबकी गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, समस्त शुभाशुभको देखनेवाला, सबका निवासस्थान, सबको शरण देनेवाला, सबका सुहृद्, सबके उत्पत्ति-प्रलयमें कारण, सबकी स्थितिका आधार, निधान और अविनाशी बीज (आदिकारण) हूँ।' (गीता ९ । १८)

'यह सब जगत् मुझसे परिपूर्ण है।' (गीता ९ । ४)

'सम्पूर्ण भूत मुझमें ही स्थित हैं।' (गीता ९ । ६)

'अर्जुन ! समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा मैं हूँ और मैं ही समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी हूँ।' (गीता १० । २०)

'सम्पूर्ण जगत्को मैं अपने एक अंशमात्रमें धारण करके स्थित हूँ।' (गीता १० । ४२)

'मैं अजन्मा, अविनाशीस्वरूप तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित रहकर अपनी योगमायासे आविर्भूत होता हूँ।' (गीता ४ । ६)

'मुझको जो पुरुष सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर और सब प्राणियोंका सुहृद् जान लेता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' (गीता ५ । २९)

'मैं अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय हूँ।' (गीता १४ । २७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(गीता ९ । १८)

'मया ततमिदं सर्वम्' (गीता ९ । ४)

'सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि' (गीता ९ । ६)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १० । २०)

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १० । ४२)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४ । ६)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५ । २९)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४ । २७)

अर्जुन कहते हैं—

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; आपको समस्त ऋषिगण, देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासदेव सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी बतलाते हैं और स्वयं आप भी ऐसा ही कहते हैं।' (गीता १० । १२-१३)

वसुदेवजी कहते हैं—'मैं जान गया, आप प्रकृतिसे परे साक्षात् पुरुषोत्तम हैं। आपका स्वरूप केवल अनुभव और केवल आनन्द है। आप समस्त बुद्धियोंके एकमात्र साक्षी हैं।' (श्रीमद्भागवत १० । ३ । १३)

'विभो ! ऐसा कहते हैं, आप स्वयं समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे रहित हैं; फिर भी जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय आपसे ही होते हैं।' (श्रीमद्भा० १० । ३ । १९)।

'आप ही सबके एक आत्मा हैं, आप ही एकमात्र सत्य हैं, आप पुराणपुरुष हैं, स्वयंप्रकाश हैं, आप अनन्त हैं, आप सबके आदि हैं, आप नित्य हैं, अविनाशी हैं, अखण्ड सुखस्वरूप हैं, पूर्ण हैं, एक हैं, समस्त उपाधियोंसे मुक्त अमृतस्वरूप हैं।' (श्रीमद्भागवत १० । १४ । २३)

श्रीरुद्रदेव कहते हैं—'आप परम गूढ़ हैं, परम ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हैं।' (श्रीमद्भा० १० । ६३ । ३४)।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
(गीता १० । १२-१३)

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥
(१० । ३ । १३)

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहात् ×××
(१० । ३ । १९)

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः॥
(१० । १४ । २३)

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि ×××
(१० । ६३ । ३४)

‘आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके हेतु हैं। आप सर्वत्र सम, परम शान्त, सबके सुहृद्, आत्मा और इष्टदेव हैं। आप एक, अद्वितीय, जगत्‌के आधार और अधिष्ठान हैं। देव ! हम संसारसे मुक्त होनेके लिये आपका भजन करते हैं।’ (श्रीमद्भागवत १० । ६३ । ४४)

पाण्डवोंके यहाँसे लौटनेपर संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं— ‘एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे भगवान् जनार्दन ही सबसे बढ़कर सिद्ध होंगे। श्रीकृष्ण संकल्पमात्रसे सारे जगत्‌को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें सारा जगत् समर्थ नहीं है। जहाँ सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता हैं, वहीं भगवान् रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र और युगचक्रको घुमाते रहते हैं। मैं यह सत्य कह रहा हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु एवं जड-चेतन जगत्‌के स्वामी और शासक हैं।’*

पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें जब पितामह भीष्मने सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करनेका आदेश दिया, तब शिशुपाल चिढ़ गया। उसने बहुत उल्टी-सीधी बातें भीष्मको सुनायीं। शान्तिप्रिय युधिष्ठिर कुछ डर-से गये। तब भगवान् श्रीकृष्णके महत्त्वका वर्णन करते हुए पितामहने जो वचन कहे, उनमेंसे कुछ ये हैं—

‘श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयके आधार हैं। यह सम्पूर्ण विश्व और चराचर समस्त प्राणी श्रीकृष्णकी क्रीड़ाके लिये हैं; वे ही अव्यक्त प्रकृति हैं और वे ही सनातन कर्ता हैं; वे समस्त भूतोंसे परे एवं अच्युत हैं, अतएव सबके पूज्यतम हैं। बुद्धि, मन, महत्तत्त्व, वायु, अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी तथा अण्डज, स्वेदज, जरायुज एवं उद्भिज—चारों प्रकारके प्राणी—सब श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं; वे ही सबके आधार हैं। सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, दिशा-विदिशा—सबके वे ही आधार हैं। जैसे वेदोंका मुख अग्निहोत्र, छन्दोंका मुख गायत्री, मनुष्योंका मुख राजा, नदियोंका मुख समुद्र, नक्षत्रोंका मुख चन्द्रमा, ज्योतिष्मान् पदार्थोंका मुख सूर्य, पर्वतोंका सुमेरु और पक्षियोंका गरुड़ है, वैसे ही संसारकी ऊँची-नीची और बीचकी जितने प्रकारकी गतियाँ हैं—उन सबके तथा तीनों लोकोंके मुख्य-स्थानीय—केन्द्रस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं।’* (महा० सभा० ३८। २३—२९)

प्रसिद्ध ज्ञानी तथा सर्वज्ञ देवर्षि नारदजी भी वहीं विराजमान थे। उन्होंने सबके सामने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

‘जो लोग कमलनयन श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करते, उन्हें जीवित ही मृतकके समान समझना चाहिये और उनके साथ कभी बात भी नहीं करनी चाहिये।’† (महाभारत सभा० ३९। ९)

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम्।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम्॥
(१०। ६३। ४४)

* एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥
भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम्॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥
(महा० उद्योग० ६८। ७—९, १२)

* कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्रीच्छन्दसां मुखम्।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम्॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम्।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम्॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम्॥
(महाभारत सभा० ३८। २३—२९)

† कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥
(महाभारत सभा० ३९। ९)

—ऐसे असंख्य वाक्य स्थान-स्थानपर कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यों, संतों तथा भक्तोंके जो प्रत्यक्ष अनुभव हैं, वे तो सर्वथा अकाट्य और असंदिग्ध प्रमाणस्वरूप हैं। भगवान्‌के विविध स्वरूप हैं। तत्त्वतः एक होनेपर भी उनमें लीलाभेदकी दृष्टिसे भेद है। उनके भी अवतार विभिन्न हेतुओंसे हुआ करते हैं। पर यह तो स्वयं भगवान्‌का, जो सभी रूपोंमें अंशी हैं, आविर्भाव है। इसलिये इसमें उन सभी रूपोंका भी अन्तर्भाव है। कोई इन्हें चतुर्भुज नारायण (महाविष्णु)का, कोई श्वेतद्वीपपति विष्णुका अवतार कहते हैं। कोई भगवान्‌के केशोंका अवतार बतलाते हैं तो कोई नारायण ऋषिका। इसीसे श्रीकृष्णके इस अवतारका रहस्य अत्यन्त गूढ तथा जटिल बन गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें यह स्पष्ट किया गया है कि इन पूर्ण परात्पर स्वयंभगवान् श्रीकृष्णमें इनके अवतारके समय चतुर्भुज नारायण महाविष्णु लीन हो जाते हैं, पृथ्वीपति विष्णु भी लीन हो जाते हैं और नारायण ऋषि भी सम्मिलित हो जाते हैं।

भगवान्‌का वस्तुतः न तो प्राकृत जीवोंकी भाँति जन्म होता है और न उनका कर्मजनित, रजोवीर्यसम्भूत पाञ्चभौतिक देह ही होता है। भगवान्‌का मङ्गलमय शरीर सर्वथा भगवत्स्वरूप है; वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण—त्रिविध मायिक देह नहीं है। उसका न कभी जन्म होता है न मरण होता है। वह कभी बनता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। वह नित्य, सत्य, चिन्मय भगवद्देह है, जो जन्म लेता हुआ-सा तथा अन्तर्धान हुआ-सा दिखायी देता है। इसीसे भगवान्‌ने अपनेको अजन्मा, अविनाशी तथा सबके ईश्वर रहते हुए ही अपनी इच्छासे प्रकट होनेवाला बताया है और कहा है कि 'जो मेरे इस दिव्य (अप्राकृत भगवत्स्वरूप) जन्म और कर्मको तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म धारण नहीं करता, मुझ भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।' जिस जन्म-कर्मका रहस्य जान लेनेपर जाननेवाला जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, वह जन्म-कर्म कितना विलक्षण तथा कैसा भगवत्स्वरूप है—इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

भगवान्‌में छः भग (ऐश्वर्य) नित्य अनन्तरूपसे रहते हैं और छः स्वरूपभूत दिव्य गुण होते हैं। इसीसे वे भगवान् कहे जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णमें इनका सम्पूर्ण प्रकाश है। इससे भी उनके लिये 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' कहा जाना सर्वथा सत्य तथा युक्तियुक्त है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

(विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४, ७९)

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छःका नाम 'भग' है। (और ये जिसके स्वरूपभूत हों, वह 'भगवान्' है।) त्याग करने योग्य गुण आदिको छोड़कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्‌गुण ही 'भगवत्' शब्द वाच्य हैं।

'ऐश्वर्य' उस सर्वेश्वरत्व या सर्ववशीकारिता-शक्तिको कहते हैं, जो सबपर अबाध गतिसे अपना प्रभुत्व कर सकती है। 'धर्म' उसका नाम है, जिससे सबका धारण, सबका मङ्गल तथा सबका उद्धार होता है। 'यश' अनन्त-ब्रह्माण्डव्यापिनी मङ्गल कीर्तिको कहते हैं। 'श्री' सब प्रकारकी सम्पत्तियोंकी जो एक मूल सत्तारूपा महान् शक्ति है, उसे कहते हैं। समस्त सम्पत्तियोंमें—(साम्राज्यसम्पत्ति, यशसम्पत्ति, शक्तिसम्पत्ति, वैराग्यसम्पत्ति आदि सभीमें) जो स्वाभाविक अनासक्ति है, उसे 'वैराग्य' कहा जाता है, और पूर्ण 'ज्ञान' तो भगवान्‌का स्वरूप ही है।

सर्वकालकी समस्त वस्तुओंके साक्षात्कारको 'ज्ञान' कहते हैं। अघटित घटना या असम्भव मानी जानेवाली घटना सम्पन्न करनेकी सामर्थ्यका नाम 'शक्ति' है—इसीसे भगवान्‌को 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथा कर्तुंसमर्थ' कहा जाता है। अनायास ही सबके धारण करनेकी शक्तिको 'बल' कहा जाता है। सबको नियन्त्रित करने—अधीन रखने और सबपर शासन करनेकी शक्तिका नाम 'ऐश्वर्य' है। विश्वब्रह्माण्डके कारण होनेपर भी सहज विकारहीन रहना 'वीर्य' है और सबको सहज ही अभिभव—पराभूत करनेका नाम 'तेज' है।

उपर्युक्त ऐश्वर्य और गुणोंसे सहज सम्पन्न हैं—भगवान् श्रीकृष्ण। इतनेपर भी मानवजगत्‌में एक आदर्श मानवकी लीला करके वे लोक-संग्रह करते हैं और सबके सामने एक महान् 'निष्काम' भावका प्रत्यक्ष उदाहरण रखते हैं। पर वे केवल ऐश्वर्यरूप ही नहीं हैं, मधुररूप भी हैं। उनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य और सम्पूर्ण माधुर्यका पूर्ण प्रकाश है। इसीलिये वे पूर्णतम हैं और 'स्वयं-भगवान्' हैं।

इनमें ऐश्वर्यमें भगवान् श्रीकृष्णका 'महत्त्व' प्रकट होता है और माधुर्यमें उनके आदर्श 'प्रियत्व' की झाँकी मिलती है। उनकी लीलामें कहीं जब केवल ऐश्वर्यका ही प्रकाश होता है, तब वहाँ माधुर्य अप्रकट रहता है और कहीं जब केवल माधुर्यका प्रकाश होता है, तब ऐश्वर्य छिपा रहता है। पर वृन्दावनकी कुछ लीलाओंमें इन दोनोंका सम्मिलित प्रकाश हुआ है, जो अत्यन्त मधुर तथा चमत्कारमय है। जैसे पूतनाका स्तनदुग्ध पान करते हुए ही भगवान्‌ने उसका वध किया है। यहाँ स्तन्यपानमें उनके माधुर्यका और वधलीलामें ऐश्वर्यका प्रकाश है। इसी प्रकार मदोन्मत्त महान् विषधर कालीयका दर्प चूर्ण करके उसका दमन करते समय भगवान्‌ने उसके फणोंपर कलापूर्ण बड़ा मधुर नृत्य किया है। यहाँ उसके दमनमें ऐश्वर्यका और नृत्यमें माधुर्यलीलाका प्रकाश है।

स्वयं भगवान्‌में प्रकारान्तरसे चौंसठ गुण बतलाये गये हैं। इनमेंसे पचास तो उच्चभूमिकापर आरूढ़ जीवोंमें भी भगवत्कृपासे प्रकट हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त पाँच गुण और हैं, जो श्रीरुद्र आदिमें होते हैं; अन्य पाँच गुण भगवान् श्रीपतिमें प्रकट हैं; किंतु चार ऐसे गुण हैं, जिनका पूर्ण प्राकट्य केवल नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें ही है—वे हैं लीलामाधुरी, प्रेममाधुरी, रूपमाधुरी और वेणुमाधुरी। इन चारों दिव्य गुणोंके कारण भगवान् श्रीकृष्ण मधुरातिमधुर हैं।

भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके कारागारमें होता है। प्राकृत जन्म तो भगवान्‌का है ही नहीं, पर सर्वभवनसमर्थ भगवान् चाहें तो प्राकृत जन्मकी लीला भी कर सकते हैं। किंतु यहाँ तो वह लीला भी नहीं—अद्भुत चतुर्भुज दिव्य रूपसे भगवान्‌का सहसा आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवतके प्रसङ्गके वर्णनका सार है—

कंस तमोमयका था काला पापचिह्न वह कारागार।
कालकोठरी थी, उसमें नियुक्त थे काले पहरेदार॥
भाद्रमासके कृष्णपक्ष की अँधियारी अष्टमि बुधवार।
काली अर्धनिशा थी, छाया अन्धकार था घोर अपार॥
अज-अविनाशी सर्वेश्वर प्रभु लेंगे अब मङ्गल अवतार।
अधिष्ठान कर प्रकृति निजामें, करके निज-माया विस्तार॥
उसी समय छा गया कक्षमें सहसा शीतल दिव्य प्रकाश।
बदल गया सब कुछ क्षणमें ही, करने लगी प्रकृति मृदु हास॥
काल हो गया परम सुशोभन सभी शुभ गुणोंसे संयुक्त।
शशि रोहिणिस्थित, थे सब नभमें ग्रह-नक्षत्र शान्तिसे युक्त॥
निर्मल हुईं दिशाएँ, तारे लगे जगमगाने आकाश।
नदियाँ हुईं स्वच्छसलिला, ह्रद हुए रात्रिमें कमलविकास॥
लदे वृक्ष कुसुमोंसे, पक्षी-भ्रमर कर उठे गान-गुँजार।
बहने लगी सर्व-सुखदायिनि शुचितम सौरभमयी बयार॥
असुरद्रुह-सज्जन-मन सहसा हुए प्रसन्न सहज स्वच्छन्द।
स्वर्ग बज उठीं देवदुंदुभीं जन्म अजन्माके आनन्द॥
बिना बजाये हुईं निनादित मध्यनिशा वे अपने-आप।
किंनरगण-गन्धर्व मुदित हो करने लगे गान-आलाप॥
विद्याधरी-अप्सरा सहसा नाच उठीं अति सुमधुर ताल।
सुर-मुनि मुदित कर उठे श्लाघा, देख धराका भाग्य विशाल॥
जलनिधि-जलधर मन्द मधुर स्वर गाने लगे स्व-सुखका गान।
हुए प्रकट देवी देवकिसे सुन्दर मधुर स्वयं भगवान॥
उदय हुए वैसे ही, जैसे षोडशकला-पूर्ण राकेश—
उगता प्राचीमें, न रह गया संतोंको तम-पीड़ा-लेश॥
कालोंको जो उज्ज्वल करता, ले वह अद्भुत काला रंग।
देख सामने पुरुषोत्तमको स्वयं रह गये दम्पति दंग॥
कोमल, कमलसमान नेत्र हैं मुनि-मन-मोहन, दीर्घ, रसाल।
शङ्ख-गदा शुचि पद्म-चक्रसे शोभित चारों भुजा विशाल॥
वक्षःस्थलपर शोभित है श्रीवत्स-चिह्न अतिशय अभिराम।
गले सुशोभित कौस्तुभमणिकी छिटक रही है विभा ललाम॥
नव-नीरद-घनश्याम कलेवर चमक रहा है शुचि रमणीय।
दमक रहा है सुन्दर तनपर दिव्य पीतपट अति कमनीय॥
मणिवैदूर्य अमूल्य विनिर्मित हैं किरीट, कुण्डल द्युतिमान।
कुञ्चित कुन्तल चमक रहे हैं उनसे दिनकर-किरण-समान॥
कटिमें है करधनी सुशोभित दिव्य रत्नमय सुषमागार।
बाँहोंमें अङ्गद शोभित हैं, हाथोंमें कङ्कण श्री-सार॥
अङ्ग-अङ्ग आभरण-विभूषित, दीप्ति छा रही चारों ओर।
देख रूप वसुदेव-देवकी हुए अतुल आनन्दविभोर॥

इसी प्रकार भौतिक शरीरत्यागकी भाँति भगवान् श्रीकृष्णका देहत्याग भी नहीं हुआ। वास्तवमें नित्यानन्दमय भगवत्स्वरूपभूत अप्राकृत देहका त्याग होता नहीं; क्योंकि वहाँ देह-देहीका भेद नहीं होता। पृथ्वीलोकके परित्यागको ही भगवान्‌का देहत्याग कहते हैं।

पृथिवीलोकसंत्यागो देहत्यागो हरेः स्मृतः।
नित्यानन्दस्वरूपत्वादन्यो नैवोपलभ्यते॥

(श्रीस्कन्दपुराण)

भगवान्‌के परमधाम पधारनेसे कुछ पहले ही उनका

गरुडचिह्नवाला दिव्य रथ घोड़े तथा ध्वजादि सामग्रीसहित आकाशमें उड़कर अदृश्य हो गया। इसके पश्चात् श्रीब्रह्मा, पार्वतीसहित भगवान् शिव, इन्द्रादि देवता, प्रजापति, मुनि, पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व आदि सब भगवान्की इस परम-धाम-प्रस्थानलीलाको देखनेके लिये आकाशपर छा गये। आकाश विमानोंसे भर-सा गया। सब लोग भगवान्का गुणगान करते हुए उनपर पुष्प बरसाने लगे।

भगवान्ने उन देवताओंकी ओर देखकर अपनी आँखें मूँद लीं और वे अपने परम रमणीय त्रिभुवनमोहन दिव्य स्वरूपभूत शरीरसहित ही परमधामको पधार गये। उस समय देव-दुन्दुभियाँ बज उठीं और पुष्पवर्षा होने लगी। विमानोंपर स्थित देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णको परमधाम पधारते हुए देखा। भगवान् श्रीहरिके साथ ही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति और श्रीदेवी भी उनके पीछे-पीछे चली गयीं।

इन्हीं स्वयं भगवान्ने महामानवके रूपमें धर्मपालन, अध्यात्मविचार, ज्ञान-विज्ञान, गो-ब्राह्मण-संरक्षण, मैत्री, गुरुभक्ति, मातृ-पितृभक्ति, पत्नीप्रेम, स्त्रीजातिके प्रति आदरबुद्धि, राजनीति, रणकौशल, विविधकलानिपुणता, अत्याचारका तथा अत्याचारियोंका दमन आदि सभी क्षेत्रोंमें आदर्श लीलाएँ करके जगत्के सामने मानवताका महान् आदर्श रक्खा। अपनी लीलामें सर्वथा निष्कामभावका आचरण करके आसक्ति-कामनारहित कर्मयोगीका और अहंकाररहित समत्वपूर्ण व्यवहार करके कर्तृत्वभावरहित समदर्शी ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानीका आदर्श, केवल वाणीसे नहीं, स्वयं आचरणके द्वारा रक्खा। अर्जुनके व्याजसे सर्वजन-हितकारी, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें बाधा-विघ्नोंको हटाकर साध्यकी प्राप्तिका सुन्दर सफल मार्ग बतलानेवाले दिव्य गीताज्ञानका उपदेश किया और अपने प्रेमीजनोंके साथ उनके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरभावके अनुसार पृथक्-पृथक् रूपसे अनुपम अतुलनीय यथायोग्य परम मधुर लीला करके उन्हें दिव्य रसास्वादन कराके तथा उनके कामना-लेश-गन्ध-शून्य प्रेम-रसका लालायित हृदयसे रसास्वादन करके उन्हें धन्य और कृतार्थ किया। ऐसे सबके अत्यन्त परम आत्मीय भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सभी क्षेत्रोंके भाग्यवान् नर-नारियोंका आकर्षित होकर उनके चरणोंपर अपनेको न्योछावर कर देना स्वाभाविक ही है।

भारतवर्षमें किसी प्रदेशकी कोई ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णके लीला-चरित्रपर तथा उनकी महिमापर कुछ नहीं लिखा गया हो। भारतमें जितने प्रसिद्ध साधु-महात्मा, संत-भक्त हुए हैं, सभीपर श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रभाव देखा जाता है। संस्कृतमें तो श्रीकृष्ण-साहित्य अपार है ही; हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, आसामी तथा दक्षिणकी तेलुगु, तमिळ, मळयालम, कन्नड आदि भाषाओंके साहित्यमें श्रीकृष्णकी गुणगाथाएँ भरी पड़ी हैं। जितने बड़े-बड़े लोकप्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, उनमें वैष्णव आचार्य तो श्रीकृष्णभक्त थे ही, अद्वैत वेदान्तके प्रसिद्ध प्रवर्त्तक आदि-शंकराचार्यने भी भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिको अपना सौभाग्य माना है। उन्होंने श्रीकृष्णके प्रेम, महत्त्व और रससे पूर्ण ऐसे स्तोत्रोंकी रचना की है, जिन्हें पढ़कर चित्त श्रीकृष्णरसमें डूब जाता है। उनके श्रीकृष्णाष्टक, श्रीअच्युताष्टक, श्रीगोविन्दाष्टक आदि प्रसिद्ध स्तोत्र बड़े ही भक्तिपूर्ण हैं। वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी मानस-पूजा करते थे, जिसका विधान उन्होंने स्वयं 'भगवत्-मानसपूजा' के नामसे लिखा है। उसमें सबसे पहलेका तथा अन्तका जो उपसंहारकालीन ध्यान दिया है, उससे पता लगता है कि वे भगवान् श्रीकृष्णके वृन्दावनविहारी गोपसखा और गोपीवल्लभ बालरूपका ध्यान किया करते थे।

पहला ध्यान है—

हृदम्भोजे कृष्णः सजलजलदश्यामलतनुः
सरोजाक्षः स्रग्वी मुकुटकटकाद्याभरणवान्।
शरद्राकानाथप्रतिमवदनः श्रीमुरलिकां
वहन् ध्येयो गोपीगणपरिवृतः कुङ्कुमचितः॥

हृदय-कमलके आसनपर सजल जलधरके समान श्याम शरीरवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं। उनके गलेमें वनमाला सुशोभित है, मस्तकपर मुकुट, हाथोंमें कङ्कण हैं तथा अन्यान्य अङ्गोंमें उन-उनके योग्य आभरण शोभा पा रहे हैं। शारदीय चन्द्रमाके सदृश उनका मनोहर मुख है, वे हाथोंमें सुन्दर मुरली धारण किये हुए हैं। केसरसमन्वित चन्दनसे उनका शृङ्गार किया हुआ है और चारों ओरसे गोपरमणियोंने उन्हें घेर रक्खा है।

उपसंहारकालीन ध्यान है—

सदा सेव्यः कृष्णः सजलघननीलः करतले
दधानो दध्यन्नं तदनु नवनीतं मुरलिकाम्।

कदाचित् कान्तानां कुचकलशपत्रालिरचना-
समासक्तः स्निग्धैः सह शिशुविहारं विरचयन् ॥

'जो अपने हाथमें दही, भात, मक्खन और मुरली लिये हैं और अपने स्नेही बाल-सखाओंके साथ खेल कर रहे हैं, जो कभी-कभी प्रेयसी गोपसुन्दरियोंके कुच-कलशोंपर पत्ररचना करनेमें आसक्त हो जाते हैं, वे सजल जलधरके सदृश कान्तिवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण सदा ही सेवन करने योग्य हैं।'

श्रीशंकराचार्यने एक बार अपनी माताकी मुक्तिके लिये—('मातृमोक्षार्थम्') भगवान् श्रीकृष्णसे प्रकट होकर दर्शन देनेकी प्रार्थना की। इस प्रार्थनाके प्रत्येक श्लोकके अन्तमें 'श्रीकृष्ण मेरे नयनगोचर हों—(मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः)' कहा गया है। भगवान्ने प्रार्थना सुनकर आचार्यके सामने शङ्ख, चक्र, कमल लिये प्रकट होकर उनको कृतार्थ किया। वह श्लोक है—

इति हरिरखिलात्माऽऽराधितः शंकरेण
श्रुतिविशदगुणोऽसौ मातृमोक्षार्थमाद्यः।
यतिवरनिकटे श्रीयुक्त आविर्बभूव
स्वगुणवृत उदारः शङ्खचक्राब्जहस्तः ॥

'संन्यासिप्रवर श्रीशंकराचार्यने जब माताकी मुक्तिके लिये श्रुतिवर्णित गुणसम्पन्न अखिल जगत्के आत्मा श्रीहरिकी आराधना की, तब वे निज गुणोंके सहित शङ्ख, चक्र, कमल हाथमें लिये श्रीसम्पन्न उदार रूपमें उनके सामने आविर्भूत हो गये।'

सम्मान्य श्रीशंकराचार्यजीने 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थमें यह प्रमाणित किया है कि भगवान् श्रीकृष्ण न तो एकदेशीय हैं, न अंशावतार ही, वरं वे सर्वगत, सर्वात्मा, समस्त अवतारोंके प्रवर्तक साक्षात् परमात्मा हैं। वे कहते हैं—

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः ॥

वे भगवान् श्रीकृष्णको ब्रह्मा-विष्णु-महेशसे भी पृथक् विकाररहित और सर्वश्रेष्ठ एक 'सच्चिन्मयी नीलिमा' बतलाते हैं—

कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयी नीलिमा।

वे भगवान्का किस रूपमें स्मरण तथा साक्षात्कार किया करते थे—इसे देखिये—

यमुनानिकटतटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरिस्थाप्य ॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्।
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम् ॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्।
मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम् ॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलंकारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम् ॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सह गोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत ॥

'यमुनाजीके निकट तीरपर महान् रमणीय वृन्दावनमें कल्पवृक्ष (कदम्ब) के नीचे पृथ्वीपर अपने चरणपर चरण रक्खे हुए भगवान् श्रीकृष्ण विराजित हैं। उनका घन-नील वर्ण है, वे अपने तेजसे समस्त विश्वको प्रभासित कर रहे हैं, पीताम्बर धारण किये हैं, समस्त अङ्गोंमें चन्दन-कर्पूर लगाये हैं, कानोंतक फैले हुए विशाल नेत्र हैं, कानोंमें कुण्डल झिलमिला रहे हैं, मुखकमलपर मधुर मन्द मुसकान छा रही है। कौस्तुभमणिसे युक्त हार पहने हुए हैं, कंगन, अँगूठी आदि श्रेष्ठ अलंकारोंको अपने ही प्रकाशसे समुज्ज्वल कर रहे हैं, गलेमें वनमाला लटक रही है, अपने तेजसे कलियुगको निरस्त कर रहे हैं, गुञ्जाओंसे अङ्गोंको सजा रक्खा है, सिरपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं और किसी कुञ्जके भीतर विराजित हो गोपोंके साथ वन-भोजन कर रहे हैं। ऐसे श्यामसुन्दरका स्मरण करना चाहिये।'

शाङ्कर-सिद्धान्तके प्रख्यात पोषक और अनुयायी, 'अद्वैतसिद्धि' नामक वेदान्त-ग्रन्थके रचयिता स्वामी श्रीमधुसूदन सरस्वती तो मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वकी जानकारीसे ही इन्कार करते हैं, यहाँतक कि श्रीकृष्णके महत्त्वको, उनकी भगवत्ताको न माननेवालोंके लिये वे सीधा नरकका रास्ता बतलाते हैं। उनके वचनोंका रस लीजिये—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् ।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः ॥

'ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनसे योगीलोग यदि किसी(अनिर्वचनीय) निर्गुण, निष्क्रिय, परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो किया करें—उनके साथ हमारा कोई विवाद नहीं है । हमारे लिये तो जो अलौकिक नीलवर्णकी ज्योति कालिन्दीके पुलिनोंमें दौड़ती रहती है, वही चिरकालतक नेत्रोंमें चमत्कार उत्पन्न करती रहे ।'

'जिनके हाथ वंशीसे सुशोभित हैं, जिनकी आभा नवीन मेघकी-सी है, जो पीतवस्त्र धारण किये हुए हैं, जिनके होठ पके हुए कुँदरू फलके समान लाल हैं, जिनका मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान मनोहर है और नेत्र कमलके समान हैं, उन श्रीकृष्णसे परे यदि कोई तत्त्व है तो उसे मैं नहीं जानता ।'

'स्वानुभवके अतिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे भी निर्णीत श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको जो सहन नहीं कर सकते, वे मूर्ख नरकगामी होते हैं ।'

अनिर्वचनीय-अचिन्त्यानन्त-परस्परविरुद्धगुणधर्माश्रयी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्त गुणगण हैं, उनका जितना स्मरण किया जाय, उतना ही मङ्गल है । आज हमलोग उनके प्राकट्य-महोत्सवके पर्वपर उनका पुण्य स्मरण करते हुए उनसे एक समर्पणमयी गोपाङ्गनाकी भावनामयी भाषामें विनीत प्रार्थना करते हैं—

हे परिपूर्ण ब्रह्म ! हे परमानन्द सनातन सर्वाधार !
हे पुरुषोत्तम ! परमेश्वर ! हे अच्युत ! उपमारहित उदार ! ॥
विश्वनाथ ! हे विश्वम्भर विभु ! हे अज अविनाशी भगवान ! ।
हे परमात्मा ! सर्वात्मा हे ! पावन स्वयं ज्ञान-विज्ञान ॥
हे वसुदेव-देवकी-सुत ! हे कृष्ण ! यशोदा-नँदके लाल !
हे यदुपति ! व्रजपति ! हे गोपति ! गोवर्धनधर ! हे गोपाल ॥
मेरे एकमात्र आश्रय तुम, तुम ही एकमात्र सुखसार ।
तुम्हीं एक सर्वस्व, तुम्हीं बस, हो मेरे जीवन साकार ॥
कितने बड़े, उच्च तुम कितने, कितने दुर्लभ, दिव्य, महान् ।
गले लगाया मुझ नगण्यको, सब भगवत्ता भूल सुजान ॥
प्रेम नहीं, रस नहीं जरा भी, तनिक नहीं है मनमें त्याग ।
साधन-हीन, दीन-जीवन मैं, तब भी तुम करते अनुराग ॥
देख तुम्हारी प्रकृति अनोखी, होता मन नव-नव उत्साह ।
छोड़ूँ तुम्हें न कभी, न होऊँ पृथक्—एक ही यह मन चाह ॥
पुण्य-पाप, परलोक-लोकका मुझे नहीं भय, तनिक विचार ।
चरणधूलिमें पड़ी रहूँ बस, तन-मन-धन कर सभी निसार ॥
रहे, जाय या जगका सब कुछ, मिले मान या लगे कलङ्क ।
सेवन करती रहूँ चरण-रज, एक यही, बस, मनमें अङ्क ॥
रहूँ भले विज्ञानभवनमें, पड़ी रहूँ या घन-तम-कूप ।
सुनती रहूँ तुम्हारी मुरली, रहूँ निरखती रूप अनूप ॥

अन्तमें उनका जय-जयकार कीजिये—

देवकीनन्दनकी जय
यशोदानन्दनकी जय
बोलो असुरनिकन्दनकी जय जय जय ॥ १ ॥
नन्दछैयाकी जय
नागनथैयाकी जय
बोलो माखन-चुरैयाकी जय जय जय ॥ २ ॥
दाऊ-भैयाकी जय
रासरचैयाकी जय
बोलो नृत्य-करैयाकी जय जय जय ॥ ३ ॥
मुरलीधारीकी जय
व्रजविहारीकी जय
बोलो कृष्णमुरारीकी जय जय जय ॥ ४ ॥
गोपीवल्लभकी जय
राधावल्लभकी जय
बोलो रुक्मिणिवल्लभकी जय जय जय ॥ ५ ॥
विश्वपावनकी जय
भक्तभावनकी जय
बोलो सर्वभुलावनकी जय जय जय ॥ ६ ॥
गीता-गायककी जय
लोक-नायककी जय
बोलो सर्वसुखदायककी जय जय जय ॥ ७ ॥
अखिलेश्वरकी जय
लोकमहेश्वरकी जय
बोलो भक्तजनेश्वरकी जय जय जय ॥ ८ ॥
नंद के आनंद भयौ, जै कन्हैयालाल की !

* * *

मधुर

पवित्र प्रेमके महान् समुद्रमें सतत विविध तरङ्गें उठा करती हैं। वे सभी अत्यन्त पवित्र तथा मधुर होती हैं। श्रीराधाजी वही पवित्र प्रेमका लहराता हुआ महान् समुद्र हैं। वे नित्य-निरन्तर प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेममें निमग्न रहती हैं। एक दिन एक सखीसे उनकी कुछ बातचीत होती है, उसीकी सांकेतिक झाँकी देखिये—

श्रीराधाजीको प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी स्मृति होती है—एक विचित्र लहर उठती है उनके हृदयमें। आँखें प्रेमके आँसुओंसे छलछला जाती हैं। शरीर शिथिल हो जाता है। वे अवश-सी—अनमनी-सी हो जाती हैं। तब सखियाँ सब विह्वल होकर इसका कारण पूछती हैं। इसपर वे कहती हैं—

मेरौ मन रूप-समुद्र पर्यौ ।
बदन-सुधानिधि इकटक निरखत
नैकहु नायँ टर्यौ ॥
नैन बिसाल रसाल बस्यौ मन
छिनहु नायँ निसर्यौ ।
अमल अधर मृदु हास मधुर छबि
आनँद अमित भर्यौ ॥
अलक-झलक मधुकर-मदहारी
लखि निज सुधि बिसर्यौ ।
अंग-अंग नख-सिखकी माधुरि,
बरबस रहत हर्यौ ॥

'सखि ! मेरा मन श्यामसुन्दरके रूप-समुद्रमें गिर पड़ा है। यह मेरा मन सुन्दर अमृतके भण्डार श्रीमुखको एकटक निरख रहा है, एक क्षणके लिये वहाँसे नहीं हटता। यह मेरा मन श्यामसुन्दरके रसपूर्ण विशाल नेत्रोंमें जाकर बस गया है, क्षणभर भी वहाँसे नहीं निकलता। यह मेरा मन श्यामसुन्दरके अधरोंपर छायी हुई मन्द मुसुकानकी निर्मल मधुर छविपर मुग्ध होकर अपरिमित आनन्दसे भर रहा है। यह मेरा मन श्यामसुन्दरकी घुँघराली केशराशिकी झलक—जो भ्रमरोंके चमकते हुए कृष्णवर्णके मदका हरण कर रही है—को देखकर अपने-आपको भूल गया है। क्या कहूँ सखि ! श्यामसुन्दरके नखसे लेकर शिखातक अङ्ग-अङ्गकी माधुरीने इस मेरे मनको बरबस हरण कर लिया है।'

श्रीराधाकिशोरीजीकी सखियाँ भी उन्हींकी काय-व्यूहरूपा थीं, अतः प्रेमसमुद्रकी ही लहरें थीं। एक सखीने रसकी वृद्धिके लिये कहा—'तो राधा ! जरा विवेक करो—मनको वहाँसे निकालनेकी चेष्टा करो।' तब राधाजी बोलीं—

मेरो मन मोहन छबि पै अटक्यौ ।
छायौ अति आनंद जबहिं तें
रूप-सुधा-रस गटक्यौ ॥
जगके हास-विलास-त्रास तें
रहत सदा ही सटक्यौ ।
स्वर्ग-मोच्छकी मिटी कलपना,
रूप-डोर-मन लटक्यौ ॥
तड़फड़ात दरसन हित निसिदिन
नैकु न मानत हटक्यौ ।
नित नव-नव उत्कंठा जागत
रहत सदा ही मटक्यौ ॥

'सखी ! हटाऊँ—निकालूँ कैसे, मेरा मन तो मोहनकी मोहिनी छविपर जाकर अटक गया। जिस क्षण इसने श्यामके रूपामृत-रसका भरपूर पान किया, उसी क्षणसे उसपर अत्यन्त आनन्द छाया रहता है। जगत्के न तो हास-विलास इसे खींच सकते हैं, न जगत्की भय-विभीषिका ही। यह हास-विलास-त्रास सबसे सदा ही दूर हटा रहता है। इस लोकके ही नहीं, परलोकके स्वर्ग-सुख, यहाँतक कि मोक्षतककी

कल्पना मिट गयी है । यह मेरा मन तो बस रूप-रज्जुमें बँधा लटक रहा है । पर जब कभी तन्मयता हो जाती है, रूप-सुधाका पान तिरोहित-सा हो जाता है तब तो फिर यह मेरा मन रात-दिन रूप-दर्शनके लिये तड़पा करता है, किसी भी रोक-थामको जरा भी नहीं मानता। फिर जब रूप-दर्शन होने लगता है तब मेरे इस मनमें नित्य नयी-नयी रूप-दर्शनकी उत्कण्ठा जगने लगती है और यह नित्य नये नखरे किया करता है ।'

सखियाँ मुग्ध हो गयीं राधारानीकी रूपदर्शनानन्दकी स्थितिका अनुभव करके । एक राधा-मानस-मर्मज्ञ सखीने रसवर्द्धिनी वाणीसे कहा—'राधा ! देखो—तुम्हारी इस प्रेम-लीलासे तुम्हारी कितनी अकीर्ति होती है, लोग तरह-तरहका कलङ्क लगाते हैं, तुम्हें दुखी करना चाहते हैं, अपमान करते हैं—अतएव तुम यह सब छोड़ क्यों नहीं देती ?' राधाजी बोलीं—'सखी ! तुम जानती हो—मेरा सुख क्या है, प्राणप्रियतमका सुख ही मेरा परम सुख है, वे मेरी इस प्रेमलीलासे सुखी होते हैं, अतः मुझे तो यही करना है—

बरजी मैं काहूकी न रहूँ ।
जा तें सुखी होयँ जीवनधन
सोई पंथ गहूँ ॥
कीरति-जस सब नसैं अबहि,
मैं घोर कलंक सहूँ ।
सगरौ मान जाय, मन प्रमुदित
मैं अपमान सहूँ ॥
मन की बात मनहि में राखूँ
काहू तें न कहूँ ।
प्रियतम प्यारे तें मैं कबहूँ
निज-सुख नायँ चहूँ ॥
कैसी हूँ स्थिति होय न मनमें
जगै छोभ कबहूँ ।
एकमात्र प्यारेके बल, मैं
निबहि, बहुरि निबहूँ ॥

सखी ! मैं किसीका बरजना नहीं मानूँगी । मे जीवनधन जिससे सुखी होते हैं, उसी पथका अनुसरण करूँगी । सारा कीर्ति-यश अभी नाश हो जाय । मैं घोर कलङ्कका वरण करूँगी । सारा मान चला जाय, मैं अत्यन्त प्रसन्न मनसे अपमान सहन करूँगी और अपने मनकी यह बात अपने मनमें ही रक्खूँगी, किसीसे कहूँगी भी नहीं । मैं अपने प्रिय प्रियतमसे कभी भी अपना भिन्न सुख नहीं चाहूँगी । कैसी भी अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति हो, मेरे इस मनमें (हर्ष या उद्वेगजनित) क्षोभ कभी नहीं उत्पन्न होगा । इसमें भी मेरा कोई साधन नहीं है, एकमात्र प्रियतमके बलसे ही अबतक मैं इस प्रेमव्रतका निर्वाह हुआ है और उन्हींके बलसे आगे भी मैं इसका पूर्ण पालन करूँगी ।'

इसके बाद उनका भाव बदला—नयी भाव-तरङ्ग का उदय हो गया । वे अनुभव करने लगीं—'मैं सुख देनेवाली कौन, क्या मैं प्रियतमसे पृथक् हूँ । नहीं-नहीं, हम दोनों एक ही हैं ।' इसी भावमें वे समाधिस्थ-सी हो गयीं । कुछ देर बाद बाह्य चेतना आनेपर सखियोंके पूछनेपर उन्होंने बताया—

सुनो सखि ! यह अनुभवकी बात ।
घुली-मिली मैं रहूँ स्याम-
प्रियतम सों सब दिन रात ॥
मन मति इंद्रिय धन्य होत नित
करत स्याम-संस्पर्स ।
जगके सब मिटि गये दुःख-सुख
द्वन्द्व विषाद प्रहर्ष ॥
मैं हूँ अथवा हैं वे प्यारे,
रह्यौ न तनिकहु ध्यान ।
'मैं-तू' की मिटि गयी कलपना,
रह्यौ न निज-पर भान ॥
करिबे वारी रही न अब मैं,
न्यारी तिन तें नेक ।
कौन कहा सुख दें अब का कौं
भये निरंतर एक ॥

'सखी! मेरी यह अनुभवकी बात सुनो! मैं समस्त रात-दिन श्यामसुन्दर प्रियतमके साथ घुली-मिली रहती हूँ। मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरी इन्द्रियाँ—नित्य श्यामसुन्दर-का दुर्लभ संस्पर्श प्राप्त करके धन्य होती रहती हैं। जगत्के दुःख-सुख, विषाद-हर्ष आदि सारे द्वन्द्व नष्ट हो गये हैं। यहाँतक कि मैं हूँ अथवा वे मेरे प्रियतम ही हैं, इसका भी तनिक ज्ञान नहीं रहा। 'मैं'-'तुम'की कल्पना भी मिट गयी। अपने-परायेका भान ही नष्ट हो गया। अब मैं अपने प्रियतमसे पृथक् जरा भी कुछ भी करनेवाली ही नहीं रह गयी। तब कौन किसको क्या सुख दे, जब दो न रहकर निरन्तर एक ही हो चुके।'

श्रीराधाके साथ ही सखियाँ भी सब प्रेमानन्द-समुद्रमें निमग्न हो गयीं।

* * *

यज्ञ और ब्राह्मण

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीराम शर्मा गौड़, वेदाचार्य)

देवता दो प्रकारके होते हैं—एक मनुष्योंमें ब्राह्मण और दूसरे देवताओंमें भौतिक देवता।

'अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः।'
(षड्विंशब्राह्मण १ । १)

'मनुष्योंमें ब्राह्मण ही देवता कहे जाते हैं।'

'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः।'
(तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ३)

'ये ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता हैं।'

ब्राह्मण-देवताके सम्बन्धमें कहा गया है—

'ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।'
(शतपथब्रा० २ । २ । २ । ६)

'जो ब्राह्मण वेदादि शास्त्रोंके ज्ञाता, बहुश्रुत और पूर्ण विद्वान् हैं, वे मनुष्योंमें देवता हैं।'

'विद्वांसो हि देवाः।'
(शतपथब्रा० ३ । ७ । ३ । १०)

'विद्वान् ही देवता कहे जाते हैं।'

'मन्त्रयज्ञपरा विप्राः' (ब्रह्मपुराण १८७ । ५०)

—के अनुसार ब्राह्मण ही वेदमन्त्र और यज्ञके ज्ञाता अथवा अनुष्ठाता कहे जाते हैं। ब्राह्मणोंपर ही यज्ञकी मर्यादाका रक्षण निर्भर है। ब्राह्मण ही यज्ञके रक्षार्थ वेदोंका अध्ययन कर उन्हें कण्ठस्थ रखते हैं और यज्ञोंमें वेदोंका उचित रूपसे प्रयोग कर वेदोंको जीवित रखते हैं। वेदोंके स्वाध्याय और रक्षणके कारण ही ब्राह्मणको भगवत्स्वरूप 'वेद' और 'यज्ञ' शब्दसे व्यवहृत किया गया है—

'ब्रह्म हि ब्राह्मणः।' (शतपथब्रा० ५ । १ । ५ । २)

'वेद ही ब्राह्मण है।'

'ब्रह्म हि यज्ञः।' (शतपथब्रा० ५ । ३ । ४)

'ब्राह्मण ही यज्ञ है।'

ब्राह्मण ही यज्ञके मुख्य आधार कहे जाते हैं। ब्राह्मणोंके बिना यज्ञ सुसम्पन्न नहीं हो सकते। महर्षि कात्यायनके—

'ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः।'
(का० श्रौ० सू० १ । २ । ८)

तथा यज्ञपरिभाषासूत्रकारके—

'ब्राह्मणानामार्त्विज्यम्' (२४)

—इस सूत्रसे स्पष्ट है कि यज्ञमें केवल ब्राह्मण ही 'ऋत्विक्' हो सकता है। इसीलिये प्रत्येक यज्ञमें हवन करनेवाले ब्राह्मण ही होते हैं। जिस प्रकार यज्ञमें हवन करनेके लिये ब्राह्मणोंका होना आवश्यक है, उसी प्रकार यज्ञ-कर्मको करानेके लिये 'आचार्य'का भी ब्राह्मण होना आवश्यक है।

यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ और पवित्र कर्म है। अतः पवित्रताकी दृष्टिसे यज्ञ करनेका अधिकार केवल द्विजको ही है। किंतु कुछ यज्ञ ऐसे हैं, जिनका अधिकार केवल 'ब्राह्मण'को ही है। जिन यज्ञोंको करनेका अधिकार क्षत्रिय और वैश्यको है, वे भी यज्ञके प्रभावसे यज्ञ करनेके समय ब्राह्मणत्वको प्राप्त करते हैं। ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये उन्हें यज्ञारम्भके समय दीक्षासम्पन्न होना पड़ता है। खासकर श्रौतयागमें दीक्षित होकर ही यजमान यज्ञ करनेका अधिकारी बनता है—

'दीक्षितोऽयं यजमानः।'

यज्ञार्थ दीक्षित होनेसे यजमान क्षत्रिय हो अथवा वैश्य हो, वह यज्ञमें प्रारम्भसे अन्ततक ब्राह्मणत्वको प्राप्त करता है—

'स ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति।'
(ऐतरेयब्रा० ७। २३)

अतः दीक्षासम्पन्न क्षत्रिय अथवा वैश्यको यज्ञके समय 'ब्राह्मण' ही कहना चाहिये। जो यज्ञसे उत्पन्न होता है, वह ब्राह्मण ही उत्पन्न होता है—

'तस्मादपि राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।' (शतपथब्रा० ३। २। १। ४०)

'य उ वै कश्च यजते ब्राह्मणीभूयेवैव यजते।' (शतपथब्रा० १३। ४। १। ३)

'जो कोई यज्ञ करता है, वह ब्राह्मण होकर (दीक्षित होकर) ही यज्ञ करता है।'

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (शु० य० ३१। ११)
'मुखादग्निरजायत' (शु० य० ३१। १२)

—के अनुसार ब्राह्मण और अग्निकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके मुखसे हुई है। अतः ब्राह्मण और अग्नि दोनों सहोदर भाई हैं। इसीलिये वेदमें ब्राह्मणको 'आग्नेय' और 'अग्नि' कहा है—

'आग्नेयो वै ब्राह्मणः।' (तैत्तिरीयब्रा० २। ७। ३१)
'ब्रह्म ह्यग्निः।' (शतपथब्रा० १। ४। २। २)

भविष्यपुराणमें ब्राह्मणको 'अग्निदेव' कहा है—

'ब्राह्मणा ह्यग्निदेवास्तु' (ब्राह्मपर्व १३। ३६)

ब्राह्मण साक्षात् अग्निके स्वरूप हैं, इसीलिये अग्निहोत्रीके लिये लिखा है—हवनके समय जब अग्निहोत्रशालाकी अग्नि शान्त हो जाय तब वह ब्राह्मणके हाथमें आहुति (हवनीय द्रव्य) देकर काम चलावे।

भगवान् मनुने कहा है—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते॥
(३। २१२)

'अग्निके अभावमें ब्राह्मणके हाथमें ही हवनीय पदार्थ (आहुति) देना चाहिये; क्योंकि जो अग्नि है, वही ब्राह्मण है—ऐसा वेदज्ञाता ब्राह्मणोंने कहा है।'

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (शु० य० ३१। ११)

—के अनुसार ब्राह्मणकी उत्पत्ति* विराट् पुरुषके

---

* आदौ ब्रह्ममुखाद् विप्रः समुद्भूतः पुरानघ।
वेदास्तत्रैव संजाताः सृष्टिसंस्थितिहेतवः॥
तस्माद् विप्रमुखे वेदाश्चार्पिताः पुरुषेण हि।
पूजार्थं सर्वलोकानां सर्वयज्ञार्थतो ध्रुवम्॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड ४८। ११२-११३)

मुखसे हुई है, इसीलिये ब्राह्मण† मुखसे ही अपना बल (विद्याबल) दिखाता है—

'तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति मुखतो हि सृष्टः।'

(ताण्ड्यमहाब्रा० ६।१।६)

वस्तुतः ब्राह्मणोंका मुख्य बल विद्याबल है, जिसका प्रदर्शन ब्राह्मणोंके मुखसे ही होता है। मनुस्मृति (८।२०) में लिखा है कि ब्राह्मण ही धर्मोपदेशक हो सकता है, शूद्रादि नहीं हो सकते। इसीलिये ब्राह्मणके लिये लिखा है कि उसे विद्याबल प्राप्त करना चाहिये, जिससे वह विद्याबलके द्वारा धर्मोपदेश करके समूचे संसारका कल्याण कर सके। ब्राह्मणको शास्त्रोंका विशेषतः वेदोंका परिज्ञान होना आवश्यक है—

'तद्ध्येव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति।'

(शतपथब्रा० १।९।३।१६)

'ब्राह्मणोंको देवमय वेदका इष्ट होना चाहिये, जिससे वह ब्रह्मवर्चसी हो जाय।'

'यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः।'

(शतपथब्रा० ४।६।७।५)

'जो ब्राह्मणोंमें परम विद्वान् है, वही अत्यन्त बलवान् कहा जाता है।'

अतः ब्राह्मणको विद्याबल अवश्य प्राप्त करना चाहिये। विद्याबलके द्वारा ही ब्राह्मण जगत्का कल्याण कर सकता है। विद्याबलसे सम्पन्न ब्राह्मणसे ही शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भगवान् मनुकी आज्ञा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २।२०)

ब्राह्मणोंको विद्याबल प्राप्तकर यज्ञ-सम्पन्न होना आवश्यक है; क्योंकि ब्राह्मणका मुख्य शस्त्र 'यज्ञ' ही कहा गया है—

'एतानि वै ब्रह्मण आयुधानि यद् यज्ञायुधानि।'

(ऐतरेयब्रा० ७।१९)

शतपथब्राह्मण (१।५।१।११) में लिखा है कि ब्राह्मण ही यज्ञके रक्षक और यज्ञके विधि-विधानके ज्ञाता होते हैं। इसलिये यज्ञोंमें वेदसम्पन्न ब्राह्मणोंकी प्रधानता और मान्यता होती है। ब्राह्मणोंकी प्रधानता और मान्यतासे ही यज्ञ सफल होते हैं।

प्राचीन समयमें सभी लोगोंकी यज्ञोंमें और ब्राह्मणोंमें बड़ी आस्था थी। यज्ञप्रेमी व्यक्ति यज्ञोंमें वेदशास्त्र-सम्पन्न ब्राह्मणोंका द्रव्यादिके द्वारा उचित सत्कार किया करते थे। उस समय सभी प्राणी सर्व प्रकारसे सुखी और संतुष्ट रहा करते थे, किंतु जबसे मनुष्योंमें यज्ञोंके प्रति अनास्था और ब्राह्मणोंमें अश्रद्धाकी प्रवृत्ति बढ़ी, तभीसे सभी प्राणी सब प्रकारसे दुःखित और पीड़ित रहने लगे। यदि पुनः सभी लोग यज्ञोंमें आस्था रखते हुए यज्ञोंके अनुष्ठापक और ब्राह्मणोंमें श्रद्धा रखते हुए ब्राह्मणोंके पूजक बन जायँ, तो फिर यह देश सभी प्रकारसे सुख-समृद्धिको प्राप्त हो सकता है।

शास्त्रोंमें जिस प्रकार यज्ञोंका महत्त्व है उसी प्रकार ब्राह्मणोंका भी महत्त्व है। ब्राह्मणोंमें समस्त देवता और समस्त यज्ञ निवास करते हैं। अतः देशको सुख-समृद्धिशाली बनानेके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान और ब्राह्मणोंका पूजन परमावश्यक है।

* * *

---

† 'वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः।' (मनु० ११।३३)

स्वच्छता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शशि सम्पूर्ण रात्रिकी यात्रासे श्रान्त होकर अपनी अस्ताचलकी सुकुमार शय्यापर शयन करने चला गया है। रात्रिके प्रहरी पक्षियोंको भी अवकाश प्राप्त हुआ है। तमः-प्रसारके अपकर्मसे आकुल रजनी रानी अनेकविध रुदनसे पक्षियोंको अशान्त बनाकर अब चली गयी है। उसके अश्रुबिन्दु तृण-पत्रोंपर सर्वत्र स्पष्ट लक्षित हैं। स्वच्छताका भव्य सेनानी भास्कर अपनी रश्मियोंकी मार्जनी लिये अन्धकारको जगतीके समस्त अञ्चलसे सावधानीपूर्वक स्वच्छ करता चला आ रहा है। अवश्य ही उसके इस आयासमें दिग्देवताओंका मुख अरुणिम रजसे रंजित हो उठा है। प्रभातके वन्दीजन पक्षि-समूह अपने सामूहिक संकीर्तनमें लग गये हैं। उनका स्वर एक साथ सबको सम्बोधित कर रहा है—'उठो! आलस्य त्यागो! जागो! ज्योतिका सत्कार करो! जीवन तुम्हारे द्वारतक जयघोष करता आ गया है!'

वे कृशकाय कबके उठ चुके हैं। कालके पद जैसे उन्हें पराजित करनेमें असमर्थ हो-होकर लौट जाते हैं। अहर्निश अखण्ड कार्यक्रम उनका चलता रहता है। इस अविराम अर्चनमें देवी निद्राको भी यदि कभी-कभी कुछ घड़ी-पल अवकाश प्राप्त हो जाय तो उनका सौभाग्य। वही सबसे अधिक उपेक्षिता हैं। अन्यथा वे सबको समय देते हैं। पूर्वसे निश्चय करके समय देते हैं। इन जनोंके रूपमें जनार्दन ही तो हैं, अतः जब वे स्वयं आराधनाका अर्घ्य लेने आते हैं, उनके किस रूपकी अर्चा अस्वीकार कर दी जाय। केवल अपने साथ वे कठोर हो सकते हैं। उनके शौच-स्नान, आहार-आरामका कोई निश्चित समय नहीं रहा है। इसमें भी यदि दूसरोंका आग्रह निमित्त न बने—कौन जानता है कि ये कैसे और कब अपनाये जायँ।

यह उनकी बात, उनका दृष्टिकोण है। कभी किसीकी एक कहानी पढ़ी है—'एक साधकने तपस्या करके वरदान पाया कि जिसे अपना एक रक्तकण दे देगा, उसका असाध्य रोग भी नष्ट हो जायगा। लोगोंने उसे दो दिन भी जीवित नहीं रहने दिया। सुइयाँ तथा अन्य शस्त्र चुभानेसे भी जब उसके देहसे रक्त निकलना बंद हो गया, अन्तिम आगतने उसे पैर बाँधकर वृक्षसे लटकाया। नीचे अग्नि जलायी और किसी प्रकार उसके देहका अन्तिम रक्तबिन्दु प्राप्त करके प्रसन्नचित्त लेकर वह लौटा।' कल्पित कथा सही, किंतु केवल स्वप्रयोजनपर दृष्टि रखनेवाले सामान्यजनोंकी मानस-प्रवृत्तिका सम्यक् निरूपण है इसमें और उनको देखकर लगने लगता है, यह कथा सत्य भी हो तो आश्चर्य नहीं। अपना प्रयोजन प्रत्येकके लिये वह अत्यन्त लघु लगता है। प्रत्येक समझता है, इतना अल्प आयास तो उसके लिये उन्हें करना ही चाहिये। स्वप्नतम सुमन भी सहस्रशः करोंसे जब देवतापर समर्पित होने लगते हैं, पाषाणका श्रीविग्रह भी किस प्रकार क्षीण एवं जर्जर हो जाता है, प्राचीन मन्दिरोंमें मैंने इसे देखा है। लेकिन लोक-मनोवृत्ति—उनकी असुविधा-पर किसीकी दृष्टि कहाँ जाती है।

यह तो चलता ही रहेगा। उनकी अन्य प्रवृत्तियोंमें भी तो कुछ दर्शनीय हैं। उनके शरीरपर दो घड़ी रहनेवाला कम्बल भी जलक्षालित होकर ही पुनः उपयोगके योग्य होता है। वे जिस तृणासनपर आसीन होते हैं, दूसरी बार उपयोगमें आनेके लिये उसे भी स्नान कराके सुखा लिया जाना चाहिये। वस्त्रकी बात तब बताना अनावश्यक है।

उनका शरीर—स्वच्छता तथा अर्चाके आयासने उसे अत्यन्त कृश कर दिया है। मल तो वहाँ कहाँसे रहेगा, कायाकी आवश्यक मिट्टी भी कई-कई बार स्नानसे धुलती, कृपालु आगतोंकी अर्चाका श्रम सहती क्षीणतर होती चली गयी है। कंकाल प्रायः रह गया है उनका शरीर।

उनका आग्रह देखता हूँ स्वच्छताके प्रति तो दूसरा पार्श्व इसका स्मरण आ जाता है। कई वर्ष हो गये जब कैलास-मानसरोवरकी यात्रापर गया था। पुण्य प्रदेश उसे यों ही नहीं माना गया है। सत्त्व ही सघन होकर जैसे सर्वत्र शुभ्र हिमके रूपमें एकत्र है। पूय-गन्ध वहाँ इस असीम शैत्यमें उठती नहीं। कुछ भी तो वहाँ नहीं सड़ता।

वहाँके लोग स्नान नहीं करते। शरीरमें जहाँ कभी स्वेद नहीं होता, स्नानकी आवश्यकता है या नहीं—कहता

कठिन है; क्योंकि शास्त्रकी दृष्टि स्वास्थ्यकी ही दृष्टि तो नहीं है। वस्त्र-प्रक्षालन-जैसी कोई क्रिया उस प्रदेशमें नहीं है। वे केवल ऊनके बुने वस्त्र पहिनते हैं या चर्माम्बर। स्मृतिकारोंने भी इन वस्त्रोंको वायुसे शुद्ध होनेवाला माना है। वे उसे हिम-शुद्ध करते हैं। कभी लगा कि वस्त्रमें स्वेदज प्राणी उत्पन्न हो गये हैं (स्वेद न होनेपर भी वे उत्पन्न होते हैं) तो वस्त्रको रात्रिमें बाहर खुले स्थानपर छोड़ देंगे। स्वच्छता सम्पूर्ण हो गयी।

अस्वच्छ हैं वे ? रुकिये, इतना सरल उत्तर इसका नहीं है। वह पुण्यप्रदेश–प्रातः उठनेपर मुखमें दुर्गन्धि अथवा मल वहाँ नहीं मिलता। दन्तधावनकी प्रथा वहाँ नहीं है, आश्चर्य क्या है। सर्वत्र रक्तको हिम करनेवाला सलिल–उससे कुछ क्षालित नहीं होता। जहाँ शरीरपर उसे लगायेंगे, मैल भी शरीरके समान कठोर होकर स्थिर बन जायगा और उष्णताकी उपलब्धिका साधन काष्ठ वहाँ होता नहीं। कुछ क्षुपमात्र यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। वायु-शुद्धि—देवभूमिकी सहज पावन, रजःस्पर्शसे सर्वथा रहित और अविराम अश्रान्त प्रवाहित वायुदेव वहाँ सचराचरकी शुद्धिमें स्वयं संलग्न हैं।

और अब मुझे वह मरु-प्रदेश स्मरण आ रहा है। मनका स्वभाव ही है तनिक-सा सूत्र ग्रहण करके उड़ान ले लेना। जलके अभावसे उत्पीड़ित वहाँका प्राणी। वह रजःशुद्ध है। मृत्तिका सर्वत्र मलिन ही तो नहीं करती, मार्जनका भी तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण वही है।

प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षाके लिये पावसमें जो मेघोंसे जीवनकी धारा प्राप्त होती है—जल जीवन है, यह बात उसी प्रदेशमें बुद्धि ग्रहण कर पाती है, वर्षाका वह जल कौशलपूर्वक वर्षभर सुरक्षित न रक्खा जाय, प्राण ही असुरक्षित हो जायँगे। उस जलको जो जीवनका अमूल्य आधार है, क्षालनके लिये अपव्यय कोई करे, समाज उसे क्षन्तव्य मान लेगा ?

रजःपूत प्राण हैं वहाँके; किंतु मुझे आश्चर्य हुआ जब मैंने देखा उस गृहमें गृहपतिके अर्चापीठपर भगवान् मत्स्यका श्रीविग्रह। इस रेणुका प्रदेशमें प्रलयाब्धि-विचरण-विनोदी मत्स्यकी आराधना ! अर्णव आवेष्टित कोई द्वीप उचित अधिकारी है इस अर्चाका और रम्यकवर्षमें वैवस्वत मनु यदि अपने त्राणकर्ताकी उपासना करते हैं, उचित है; किंतु मरुभूमिमें ?

'मैंने अनेक वर्ष अपनी स्वच्छतापर अभिमान किया !' पूछनेपर गद्गदकण्ठ, अश्रुलोचन गृहपति कह रहे थे–'इन सत्त्वमूर्ति प्रभुने इस अकिञ्चित्कर अज्ञपर अकारण कृपा की। इनका रजतस्वच्छ श्रीअङ्ग परम शीतल–सत्त्वघन ही तो है। गलितगर्व आज मैं अपनेको धन्य मानता हूँ।'

उनकी वाणीमें आकर्षण था। उनकी चेष्टामें स्पृहणीय सौजन्य था। उनका वर्णन मनको सम्पूर्ण विवरण ज्ञात कर लेनेको समुत्सुक बना रहा था। मुझे उनके यहाँ रुकना पड़ा; क्योंकि अवकाशमें वे हों, स्वस्थचित्त हों, तभी मैं उनसे सुननेकी आशा कर सकता था।

× × ×

'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' (२।४०) योगदर्शनकारकी इस बातपर कभी ध्यान ही नहीं गया था। मुझे तो मेरी स्वच्छताने इससे सर्वथा विपरीत बना दिया था। मुझे लगता था कि मेरे वस्त्र, मेरे पात्र, मेरे उपकरण दिव्य हैं। परम पवित्र हैं वे। मेरा शरीर पावन है। दूसरोंका अल्पतम स्पर्श मुझे क्लेश देता था। वे एकान्तमें मेरे अतिशय आग्रहपर सुना रहे थे—'यदि किसीकी छाया भी मेरे वस्त्रोंपर पड़ जाय, मैं वस्त्रोंको धोता था। अनेक श्रद्धालु आये; किंतु मैंने उन्हें झिड़क दिया। कोई इतना स्वच्छ पवित्र हो कैसे सकता था कि मेरी कोई क्षुद्र सेवा भी कर सके।'

'उन दिनों श्रीजगन्नाथपुरीमें रहता था। सागरतटका एकान्त रमणीय स्थान, नीलाचलका निवास; किंतु मैं दूरसे नीलचक्रके दर्शन करके ही संतोष कर लेता था। मन्दिरमें जानेपर अनेक लोगोंका स्पर्श होगा। अपवित्र हो जानेकी आशंकासे ही मेरा चित्त व्याकुल हो जाता था। कितना भाग्यहीन था मैं। श्रीजगन्नाथपुरीमें रहकर भी उन पुरुषोत्तमके दर्शनसे वञ्चित अपने अहंकारके कोशमें बंद कौशेयकीटकी भाँति घृणित !' रुदन करने लगे वे।

'परैरसंसर्गः' का कितना भ्रान्त अर्थ माना था मैंने।' तनिक स्वस्थ होनेपर बोले—'आत्मतत्त्वसे भिन्न प्रतीयमान समस्त प्रपञ्च 'पर' है। उससे असंसर्ग—उसमें अभिनिवेशका अभाव, यह बात तो कभी सूझी ही नहीं। जिस 'स्वाङ्ग'से 'जुगुप्सा'होनी चाहिये थी, वही परम पवित्र हो गया था मेरे

लिये और उससे भिन्न शरीर 'पर' थे। उनसे असंसर्ग साधनेमें ही मैं अपना समस्त पौरुष समर्पित कर चुका था।'

'अहंकार, घृणा, क्रोध, पता नहीं कितना कलुष मैंने स्वयं अपने अन्तःकरणमें भर लिया था और भरता जाता था। इतनेपर भी मानता था कि मैं स्वच्छ हूँ। पवित्र हूँ।' उन्होंने मेरी ओर नेत्र उठाये—'आज मुझे पता लगा है कि मैं कितना मूर्ख था। जल, मिट्टीके द्वारा मलके पिण्डको ऊपर-ऊपरसे प्रक्षालित करके मैंने मान लिया था कि वह स्वच्छ हो गया और इस अहंकारने मुझे उद्धत बना दिया। निर्बाध कलुष मैं चित्तमें भरता चला गया।'

'मुझे अत्यधिक क्लेश होता था तब, जब मैं समुद्रमें मछुओंको जाल खींचते देखता था। उनके जाल तथा शरीरसे निकली दुर्गन्धित अपवित्र वायुसे बचनेका कोई उपाय नहीं था। कितना भी मैं अपनेको द्वारके भीतर बंद कर लूँ, वह वायु मेरी नासिकामें आती थी और उसे अपने शरीरमें पहुँचनेसे मैं रोक नहीं सकता था।' इस समय भी जब वे यह चर्चा कर रहे थे, उनके भालपर किंचित् आकुञ्चन मैंने लक्षित किया—'समुद्रतटका मेरा निवास था। इन पापजीवी पशुप्राय लोगोंपर मुझे कितना क्रोध था ······।'

अचानक वे खुलकर हँसे। संस्कारवश जो क्षोभ मनमें आ रहा था, उसे इस प्रकार उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। कहने लगे—'कोई भी साधन प्रारम्भ होता है चित्तको शुद्ध करनेके लिये। शान्ति एवं सुखकी प्राप्तिके लिये—यह कहना अधिक उपयुक्त होगा; किंतु मेरे साधनने मेरे चित्तको अत्यन्त मलिन बना दिया था। मुझ-जैसा अशान्त एवं दुखी व्यक्ति मिलना कठिन था। अन्ततः व्याकुल होकर मैंने देहत्यागका निश्चय किया।'

'धवल ज्योत्स्नाने उदधिके अन्तरमें अपने नभस्थित आत्मजके प्रति वात्सल्य—पूर उठा दिया था। अम्बुधि शत-शत उच्छलित तरङ्गोंसे उडुनाथको अङ्कमाल देने उठता लगता था। इस महामहोत्सवका दर्शन करने श्रद्धालु जन सागरतीरपर आ जाते हैं, इधर मेरा ध्यान नहीं था। मैं स्वर्गद्वारसे दूर निकल गया और उच्छ्वास लेते पयोधिको अपना पवित्र शरीर समर्पित करने बढ़ा।' सर्वाङ्ग रोमाञ्च-कण्टकित हो गया उनका। उस क्षणका स्मरण करके वे कई क्षणोंतक मूक-विभोर बने रहे।

'लहरोंने मेरा स्पर्श किया और जैसे ही मैं वेगपूर्वक बढ़ा, मुझे उठाकर पुलिनपर पटक दिया। अकस्मात् एक शीतल उज्ज्वल डेढ़-दो हाथका मत्स्य भी मेरे ऊपर उछल आया। वह मेरे शरीरपर छटपटाया और तरङ्गके दूसरे आगमनके साथ सागरमें चला गया। दो क्षण लगे इस सबमें; किंतु उस शरत्पूर्णिमाकी रात्रिके वे दो क्षण—मेरे जीवनकी पूर्णताके क्षण थे वे। अनन्त अम्भोधिके अङ्कसे वे अकारण कृपासागर ही मुझे अपना स्पर्शदान करने आये थे।' दो क्षण रुक गये वे।

'मत्स्यका शरीरपर छटपटाना—मैं चौंका, घबराया और दुर्गन्धिसे व्याकुल हो गया। उठा तो लगा कि पूरे देहसे मछलीकी दुर्गन्धि आ रही है। वही दुर्गन्धि जो दूरसे आती थी तो मैं दौड़कर द्वार बंदकर लेता था। तीव्र घृणा—अपने देहसे उस क्षण पहली बार घृणा हुई।' कई क्षण फिर निस्तब्ध रहकर बोले—'अचानक मस्तिष्कमें जैसे प्रकाश-पिण्डका विस्फोट हुआ हो। निरन्तर अनन्त वारिराशिकी लक्ष-लक्ष तरङ्गोंसे धौतवपु मत्स्य इतना अपवित्र, इतना दुर्गन्धित और तेरी यह काया ? यह भी तो मांस-मेद, रक्त-कफ-पित्त, अस्थि-स्नायुका पिण्ड है। कुछ घड़े जलसे धोकर तू इसे पवित्र—स्वच्छ बना लेगा ?'

'भगवान् मत्स्य उस क्षणसे मेरे परम गुरु हैं। ये मेरे परमाराध्य हैं।' भरे कण्ठ वे कह रहे थे—'कुछ काल और वहाँ रहकर जन्मभूमि आ गया। अब मुझे जलाभाव पीड़ा नहीं देता। स्वच्छताकी सनकने मुझे पितृ-सेवासे वञ्चित किया था। प्रभुकी कृपासे वह उन्माद मिटा तो घृणा, अहंकार क्रोधके कल्मष अपने-आप चले गये। ये सब भी तो उसी गर्वतरुके कोटरमें आश्रय लेनेवाले प्राणी थे। तरु गिरा और ये निर्मूल हुए। पितृपदोंकी सेवा उनकी अन्तिम अवस्थामें ही मिली; किंतु मुझे पश्चात्ताप नहीं है। गर्वका शस्त्र जिसे आहत करता है, कुछ पीड़ा दिये बिना उसका व्रण कहाँ पूर्ण हो पाता है।'

× × ×

रस्सीपर चटाई, कम्बल, गैरिकवस्त्र सब साथ ही सूख रहे हैं। ये सूखकर उपयोग योग्य होंगे तो इनका स्थान दूसरे ले लेंगे। स्वच्छताका यह क्रम तो अबाध चलता है। प्रकृति अपने स्वभावसे तो सर्वत्र धूलि ही डालती है।

विकृत होना उसका स्वभाव है। स्वच्छता सायास प्राप्त करना पड़ता है। आयास शिथिल होगा—आवास हो, शरीर हो, अन्तःकरण हो—अवश्य वह अस्वच्छ हो रहेगा। स्वच्छता-का प्रयास तो चलता ही रहना चाहिये। जबतक जीवन है, जागृति है, इस आयासकी अपेक्षा तो रहेगी ही।

'यह मल-मूत्रकी थैली—इसमें धरा क्या है।' वे श्रद्धेय उस दिन कह रहे थे। स्वच्छताका इतना अथक आयास और वाणीका यह वर्णन—स्वच्छता सफल होती है यहाँ आकर, यह बात मुझे उस दिन उन मरुभूमिके ग्राममें उन श्रद्धेय गृहस्थने समझायी थी और उस साफल्यके साकार विग्रह इन श्रद्धेय शीर्णाङ्गके पदोंमें आज मैं प्रणिपात करता हूँ।

मूल साधना-रहस्य

[भगवन्नाम]

(लेखक—श्रीविश्वेश्वरनारायणजी)

मनुष्यके सामने अनेकों प्रकारकी समस्याएँ नित्य आया करती हैं। विशेषतः जो अध्यात्म-भावधारामें निमग्न हैं, उनके सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि आखिर मेरे लिये कौन-सा साधन विशेष उपयोगी होगा। वह बार-बार मनके इस उधेड़बुनमें लगा रहता है, परंतु समझ नहीं पाता कि किस मार्गका अवलम्बन करे। कभी वह अष्टाङ्गयोगकी साधनामें लगता है, कभी अनेक प्रकारके व्रतोंका अनुष्ठान करता है, कभी तीर्थसेवन करता है, कभी बड़े-बड़े यज्ञोंके अनुष्ठानमें धनको न्यौछावर करते हुए पाया जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि अपने समस्त जीवनको धर्म-शास्त्रोंमें कथित एक-एक नियमका अनुष्ठान करनेकी बात—यहाँतक भी कह देनेका साहस कर बैठता है कि यह एक परिश्रममात्र है। परंतु वह वास्तवमें इस ओर उचित ध्यान नहीं देता कि मेरा यह परिश्रम निष्फल क्यों हुआ? उल्टे धर्मशास्त्रोंकी निन्दा ही करने लगता है।

जितने भी साधन परोक्षरूपमें या अपरोक्षरूपमें हैं, हमारे आचार्य उनका गहन अध्ययन कर चुके हैं और अपना अनुभव भी व्यक्त कर चुके हैं; परंतु हम उसकी ओर ध्यान कहाँ देते हैं? हम तो अपना ही गीतगोविन्द प्रारम्भ कर देते हैं। तब हमें इसके वास्तविक मर्मका पता भी कैसे चले? यह युग घोर अनीतिका है, इसमें मनकी स्थिरता असम्भव है। किसी भी साधनमें पूर्णता प्राप्त करनेके लिये मनकी स्थिरता तथा समयकी आवश्यकता पड़ती है। यहाँ तो हम थोड़े समयके साधनकालमें मनको स्थिर नहीं कर पाते हैं, तब बहुत-बहुत कालतक साधन कैसे कर सकते हैं। योगदर्शनमें कहा है—'दीर्घकालतक निरन्तर सत्कार-पूर्वक साधन करनेपर वह दृढ़ होता है।' हम तो कुछ जरा-सा साधन करनेपर ही ऊब उठते हैं और अपने आराध्यदेवको ही इसके लिये कोसने लगते हैं। जितने भी साधनोंको देख रहे हैं, उनके वास्तविक रहस्यको समझनेके लिये हमें अपने आचार्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी कवितावलीकी ओर ध्यान देना चाहिये।

न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूँठ-जटो॥
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर राम रटो॥
(क० उ० ८६)

गोस्वामीजीकी कवितावलीको पढ़कर शायद बहुत

सज्जन यह भी समझ सकते हैं तथा आलोचना करना भी प्रारम्भ कर सकते हैं कि उन्होंने सभी साधनको **'सबु लागत फोकट झूठ जटो'** क्यों लिखा । इसके उत्तरमें वे उसी पंक्तिमें कहते हैं—'कलिमें न' । इन बातोंको वे हम कलियुगी प्राणियोंके लिये कह रहे हैं न कि अन्य युगके साधनावलम्बियोंके लिये । हम इस युगमें बड़े-बड़े साधनोंका अनुष्ठान कर पूर्णताको नहीं प्राप्त हो सकते हैं । साधनाकी थोड़ी सिद्धिमें ही हम भूल जायँगे; क्योंकि आखिर है तो यह अनीतिका राज्य—कलियुग । तब भला वह हमें पूर्णता प्राप्त ही कैसे होने देगा ? इसीलिये उन्होंने इस पंक्तिको लिखकर मूल साधनामार्गकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है । जिसे सदा सुख-शान्तिकी आकांक्षा है, उसे अपनी जिह्वासे नित्य भगवन्नाम उच्चारण करते रहना चाहिये ।

श्रीरामचरितमानसमें भी उन्होंने इसी भावको नीचेकी चौपाईमें व्यक्त किया है—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥

अर्थात् कलियुगमें न निष्काम कर्मयोगकी क्रिया परिपाक हो सकती है, न भक्तियोगकी और न ज्ञानयोगकी ही परिपूर्णता इस युगके लिये सहज सम्भव है । इस समय तो सर्वश्रेष्ठ मार्ग भगवन्नामका अवलम्बन ही है । **'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू'** इसीलिये कहते हैं कि वेदमें भगवत्प्राप्तिके ये तीन मार्ग बतलाये गये हैं । वेदमें ही इसका विस्तारसे उल्लेख मिलता है । परंतु इन साधनोंके करनेमें दीर्घ समय और मनकी स्थिरता आवश्यक है । आज उतना समय कहाँ है और न उतनी धृति और श्रद्धा ही है । तब प्राणिमात्रका कल्याण कैसे हो—इसके लिये हमारे आचार्योंने गम्भीररूपसे शास्त्रोंकी छानबीनके बाद यह निर्णय किया कि भगवन्नामकी शरणागतिसे ही कलियुगी प्राणियोंका उद्धार हो सकता है । इसीसे उन्होंने नाम-महत्त्वपर इतना जोर दिया है ।

दोहावलीमें नामको सर्वोपरि साधन—यहाँतक कहते हैं—

नाम राम को अंक है सब साधन है सून ।
अंक गये कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥

अर्थात् जितने प्रकारके साधन हैं सब शून्यके बराबर हैं, राम नाम अङ्क है । एकसे लेकर नौ तक अङ्क होता है । उसके बाद फिर एक ही आता है । अङ्क रहनेपर ही शून्यका महत्त्व होता है । सिर्फ शून्यका कोई अस्तित्व नहीं रहता है । परंतु जब उसे ही किसी अङ्कके साथ दिया जाता है तो शून्यका महत्त्व भी बढ़ जाता है । जिस प्रकार शून्यका महत्त्व बढ़ानेके लिये अङ्कका होना आवश्यक है उसी प्रकार विभिन्न साधनोंका महत्त्व भी प्रभुके नाममें ही निहित है । जिस तरह एकपर एक शून्य देनेसे दस होता है, दो शून्य देनेसे सौ और तीन शून्यसे हजार हो जाता है अर्थात् जितना भी शून्य बढ़ाते जाइयेगा उतना ही दसगुना बढ़ता भी जायगा । उसी तरह नामरूपी साधनके साथ संयुक्त होनेपर अन्य साधनोंका महत्त्व भी काफीरूपमें बढ़ जाता है । इसीको लेकर महात्मा कबीर भी कहते हैं—

एके साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
जो गहि सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥

महात्मा कबीर तो 'राम' नामको इतना अत्यधिक महत्त्व देते हैं कि यदि नामरूपी साधन प्राप्त है तो मूल तत्त्वकी प्राप्ति हो चुकी—शेष कुछ नहीं रहा । जिस प्रकार पेड़को हरा-भरा तथा समुचितरूपसे तरु-रसालयुक्त बनानेके लिये उसकी जड़में ही जलसे सिंचन किया जाता है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्तिरूपी फलके लिये मूल साधन भगवन्नाम-शरणागतिसे अन्य सभी

साधन हरे-भरे, पल्लवित, पुष्पित होते हैं तथा सभी साधनोंका अन्तिम उद्देश्य भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है। इस तरह मूल साधनाके नौसे गुणा करके प्रसङ्गमें यह भी कहा जाता है कि यदि नौ अङ्कमें फिर नौसे ही भाग दिया जाता है तो सिर्फ नौ ही नौ रह जाता है, उसीसे अनेकों अङ्क बढ़ते जाते हैं, परंतु मूल नौ ही नौ है; क्योंकि इसके आगे तो कोई अङ्क ही नहीं रह जाता है । इसीलिये कहा जाता है कि मूल साधन भगवन्नाम ही है, जिसे कबीरदास जोर देकर कहते हैं—

'जो गहि सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ।'

अब हम इस अन्तिम निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि इस युगमें भगवान्‌का नाम ही सर्वोपरि साधन है—इसे ही साधनोंमें मूल साधन कहते हैं । इसी नामाराधनासे अक्षय सुख तथा परम आनन्दकी प्राप्ति होगी। पर ऐसी भी बात नहीं है कि नामका महत्त्व केवल इसी युगमें इतना अधिक है—नाम-महत्त्व हर युगमें ही इतना अधिक रहा है। ध्रुव, प्रह्लाद आदि अनेकों भक्त प्राचीन युगोंमें हुए हैं। इन भक्तोंके चरित्र-श्रवण मात्रसे मनुष्योंमें भगवन्नामके प्रति श्रद्धा परिस्फुटित हो जाती है—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू ।
भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥
ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ ।
पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥

इस युगमें नामसाधनाकी विशेषता इसलिये सर्वोपरि है कि मनुष्य स्वाभाविकरूपसे विषयवासनाओंका दास बना हुआ है । ऐहिक क्षणिक सुखको ही अत्यधिक महत्त्व देता है । इसी विषय-सुखलिप्सामें अपने सम्पूर्ण जीवनको व्यय कर देता है। इसीमें उसकी अल्पकालीन जीवनयात्रा शेष हो जाती है । इन सब कारणोंसे कर्म, ज्ञान, उपासना आदि साधन-मार्गोंपर चलना बहुत ही कष्टसाध्य है । इसीलिये इस युगके लिये मूल साधना-रहस्य जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। भगवन्नाम-स्मरण सबके लिये सरल साधन भी है । हर दशामें नाम-स्मरण हो सकता है। अतः इस युगधर्मको समझते हुए नाम महाराजकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिये। इसीलिये मानसकार कहते हैं—

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका ।
भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
कलि केवल मल मूल मलीना ।
पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥
नाम काम तरु काल कराला ।
सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता ।
हित परलोक लोक पितु माता ॥
—इत्यादि

मधुर राधा-कृष्णनाम

राधेति नाम नवसुन्दरसीधुमुग्धं कृष्णेति नाम मधुराद्भुतगाढदुग्धम् ।
सर्वक्षणं सुरभिरागहिमेन रम्यं कृत्वा तदेव पिब मे रसने क्षुधार्ते ॥

राधा नाम नवीन सुन्दर अमृतमय मधु है, कृष्ण नाम अद्भुत मधुर गाढ़ा दूध है। मेरी प्यारी भूखी रसना ! इन दोनोंको मिलाकर उसे अनुरागसे सुस्निग्ध सुगन्धित और शीतल करके सब समय पीती रह ।

वाणी और आहारका संयम

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

मनुष्यके आरोग्यको स्थायी रखनेके निमित्त कुछ प्राकृतिक कार्योंके पालनके समय भी अपनी बुद्धिके द्वारा उन कार्योंको नियमित रखनेकी आवश्यकता होती है । त्रिधातुवादकी भित्तिपर आधृत इस शरीरमें मुख्य चालक रूपसे कार्यरत 'वायु' है; अतएव इसे स्वस्थ रखकर ही शरीरकी भी स्वस्थता कायम की जा सकती है । भोजन करना एक प्राकृतिक आवश्यकता है, इसी प्रकार मुखसे वाणीका उच्चारण भी प्राकृतिक ही है; पर दोनों कार्योंके समय इनपर नियन्त्रण रक्खा जाय तो हम उसके द्वारा अपने स्वास्थ्यको स्थिर रख सकनेमें समर्थ होंगे । 'वाक्-संयम' और 'आहार-संयम'—ये दोनों कार्य साधकके लिये योगसे सम्बन्धित प्रारम्भिक आचरण हैं । साधारण स्वस्थ जीवन और यौगिक क्रियाके अभ्यासके लिये भी दोनों संयमोंकी नितान्त आवश्यकता है । जब वात विकृत होता है तब वाणीकी भी वृद्धि हो जाती है । अनेक प्रकारके वायुविकार-कालके लक्षणोंमें वाचालता भी उसकी विकृतिके विशेष लक्षणोंमेंसे एक है । इसी प्रकार आवश्यकतासे अधिक अन्न ग्रहण करना भी वातविकारके लक्षणको प्रकट करता है । आहारसे 'असंतुष्टि'से स्पष्ट है कि प्राणी वायुकी विकृतिसे पीड़ित है । यद्यपि ये दोनों लक्षण स्थूल न होकर सूक्ष्म लक्षणके अन्तर्गत आते हैं, जिन्हें चतुर, पूर्ण अनुभवी और महारथी चिकित्सक ही भाँप पाते हैं । निम्नाङ्कित उक्तियाँ बानीमें यद्यपि गुरु गोरखनाथने अपने सम्प्रदायमें दीक्षित नवीन योगसाधकोंको लक्ष्यकर उक्त उपदेश दिये हैं, पर ये साधारण जीवन व्यतीत करनेवालोंके लिये भी उसी वजनके साथ लागू होते हैं जिस भाँति योगाभ्यासियोंके लिये पूर्ण उपयुक्त हैं । वे कहते हैं—

थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ । तिस घटि पवनां रहै समाइ ॥

अर्थात् अपनी वाणी और अपने आहारपर पूर्ण संयम रखना आवश्यक है । जो अल्पभाषी और अल्पभोजी हैं उनके शरीरके भीतरकी वायु निर्दोष रहती है ।

निर्विकार वायु ही प्राणीके स्वास्थ्यको स्थायी रखनेमें समर्थ होती है । कफ और पित्त—ये दोनों गतिशील नहीं हैं—इनमें गति भरनेके लिये वायुकी आवश्यकता होती है और वह भी स्वस्थ वायुकी । यह प्रेरक शक्ति-सम्पन्न और गतिशील धातु है । आयुर्वेदशास्त्रमें प्रमाणस्वरूप उदाहरण पेश किया गया है कि हाथीके शरीरको—उसकी विशाल कायाको पित्त नष्ट कर डालता है और घोड़ेके शरीरमें बलगम बढ़कर उसके स्वास्थ्यको केवल चौपट ही नहीं कर डालता, किंतु उसके शरीरको भी नष्ट करनेमें समर्थ हो जाता है; अतएव हाथीमें पित्त, घोड़ेमें कफ और मनुष्योंमें विशेष रूपसे वायुकी रक्षा करनी चाहिये ।

अधिक आहार करनेसे हमारे आमाशयपर दबाव पड़ता है, जठराग्निको स्वाभाविक शक्तिसे अधिक शक्ति खर्च करनी पड़ती है । अन्नका परिमाण, उदरके मध्य विशेष पहुँच जानेके कारण तमाम नसोंमें शिथिलता, शरीरमें आलस्य, उद्गार, उदरशूल, अग्निमान्द्य, किये हुए आहारके पाचनमें विलम्ब, मनकी चञ्चलता इत्यादि अनेक प्रकारके लक्षण उपस्थित हो जाते हैं । यदि आवश्यकतासे अधिक आहार करनेकी प्रवृत्ति बनी रही तो शरीरमें बिना पचा रस एकत्र होने लगता है जिसे 'आम' कहते हैं । इस आमरसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप जोड़ोंमें वेदना, सूजन, आलस्यकी अतिवृद्धि, मस्तिष्ककी दुर्बलता, हृदयमें धड़कन इत्यादि अनेक

संकर लक्षण प्रकट होने लगते हैं । अधिक आहारसे विशेषतः 'समान' और 'अपान' नामकी वायु विकृत होती है । समान और अपान वायुके विकृत होनेके कारण उधर ऊपरकी ओर आमाशय और नीचे मलाशय दोषयुक्त हो जाता है । इसी 'मलाशय' को वाताशय भी कहा जाता है; क्योंकि अपान वायुके विशेष कालतक ठहरनेका यही स्थल है । उपर्युक्त उक्तिमें 'आहार-संयम'के लिये इसी कारण उपदेश है । शरीरके रोगी रहनेसे न योगाभ्यास ही सध सकता है और न सांसारिक कार्य ही हो सकते हैं ।

'भाषणेनातिभीत्या' अत्रिसंहिताके इस वचनसे भय और अधिक बोलनेसे भी वातकी वृद्धि होती है; अतएव मितभाषी बननेका उपदेश उक्त उक्तिमें साधकोंके निमित्त है, पर यह संयम सांसारिक जनोंके लिये भी उसी प्रकार लाभप्रद है जिस प्रकार योगाभ्यासियोंके लिये । अति भाषणसे हृदयस्थ 'प्राणवायु'की विकृति होती है, जिसके कारण कण्ठ और जिह्वाशोष, भ्रम (चक्कर आना) और पिपासा इत्यादि अनेक विकार उपस्थित होते हैं । प्राणवायुका गुणधर्म विशेष रूक्ष है; अतएव अति भाषणसे उक्त रूक्षताकी वृद्धि होती है, जो स्वास्थ्यके लिये विशेष हानिकर है । ऊपरकी गोरखबानीके चतुर्थ चरणमें 'तिस घट पवनां रहै समाइ' कहकर मिताहारी और मितभाषीको लक्ष्यकर कहा गया है कि उनके शरीरके भीतरकी वायु विकृत न होगी; किंतु शरीरमें अपने विचरणवाले स्थानोंमें ही व्यवस्थित रूपसे बसी रहेगी और इस भाँति प्राणी पूर्ण स्वस्थ रह अपने निर्दिष्ट कार्यको पूरा करनेमें समर्थ रहेगा ।

भारतीय एकताके आदिसंस्थापक आचार्य शंकर

(लेखक—श्रीअशोक महाजन)

आजसे बारह सौ वर्ष पूर्व सारा देश पारेकी तरह बिखरा हुआ था । शुभाशुभ अनेक विभिन्न मत-मतान्तरोंकी विकृतियोंसे पीड़ित था तत्कालीन भारत । धर्मकी हालत बहुत ही बुरी थी । धर्मके नामपर धर्मका नाश करना ही धर्मकी सबसे बड़ी सेवा मानी जाने लगी थी ।

इस प्रकार धर्मके लिये वह एक महान् संकटका युग था । सारा भारत पाप और अत्याचारसे संत्रस्त था । यदि यही दशा कुछ दिन और रहती तो शायद भारतकी सनातन संस्कृतिका नाम-निशान ही मिट जाता ।

और, इस संकटको समाप्त करनेके लिये इस देशका केवल एक ही पुरुष सबसे आगे बढ़ा, जिसने बहुजन-स्वीकृत एक पवित्र धार्मिक भावनाका प्रतिपादन कर सारे भारतमें एक ही दर्शनकी स्थापना की और इस बिखरे महादेशको एकताके सूत्रमें बाँधा । वह था देशके धुरदक्षिणी प्रदेश केरलका एक महामेधावी—बालक शंकर ।

सात वर्षकी अवस्थामें शंकरने अपनी माँसे संन्यास ले लिया था, पर फिर भी उनका चित्त शान्त न था । मुक्ति और दीर्घशान्ति प्राप्त करनेके लिये सुदूर उत्तरके बद्रीनाथके वेदान्तज्ञाता गोविन्द भगवत्पादके पास जानेका उन्होंने निश्चय किया । धुरदक्षिणका जिज्ञासु, उत्तरकी ओर उन्मुख ।

शंकर मैसूरके घने वनोंसे होकर बढ़ रहे थे । ग्रीष्मकी ऋतु थी । सूर्यदेव अग्नि वर्षा कर रहे थे । शंकर थक गये और एक वृक्षके नीचे जाकर बैठ गये । पास ही एक तालाब था । उसके किनारे छोटे-छोटे मेढक क्रीड़ा कर रहे थे । वे जलसे निकलकर बाहर आते, वहाँ उछलते-कूदते-फाँदते और धूपसे व्याकुल होकर फिर पानीमें डुबकी लगाते । शंकर उनकी यह क्रीड़ा देख रहे थे । तभी एक विचित्र घटना हुई ।

मेढकोंका समूह खेलते-खेलते तटसे काफी दूर हो गया था । धूपके मारे वे सब बेचैन हो गये थे और उनकी साँस फूलने लगी थी । शंकरके मनमें उन मेढकोंके प्रति दया जाग पड़ी, वे उठ खड़े हुए । वे अभी मेढकोंके पासतक पहुँच भी न पाये थे कि कहींसे एक कृष्ण सर्प आकर उन मेढकोंके ठीक ऊपर फन पसारकर धूपसे उनकी रक्षा करने लगा ।

शंकरके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । मेढक तो सर्पका जन्मजात भोज्य है । फिर यह क्या हुआ ?

शंकरको सामने एक पहाड़का टीला दीख पड़ा, जिसपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । उन्हीं सीढ़ियोंसे वे ऊपर चढ़ गये और वहाँ निर्मित निर्जन कुटियामें बैठे तापसको उन्होंने झकझोर दिया । उससे उन्होंने इस विचित्र घटनाका रहस्य पूछा । उसने तत्काल उत्तर दिया कि 'उस स्थानपर श्रृङ्गी ऋषिका पावन आश्रम है, इसी कारण वहाँ नैसर्गिक शान्ति तथा निर्वैरताका अखण्ड साम्राज्य है और इसीलिये वहाँके जीव-जन्तु स्वाभाविक वैरभाव भूलकर सुखपूर्वक निवास करते हैं ।'

तपस्वीकी बात सुनकर विद्युत्की भाँति एक विचार शंकरके मनमें कौंध गया । यदि भूमिकी प्रतिष्ठासे हिंसक प्राणियोंमें एकता और प्रेमका संचार हो सकता है तो स्वयं भारतकी एकता, जनताकी एकता भूमिकी प्रतिष्ठाके द्वारा क्यों नहीं स्थापित की जा सकती ? घूम गया हिमालयसे कन्याकुमारी तकका विस्तृत यह भारत देश शंकरकी आँखोंके सम्मुख । यदि देशकी चारों दिशाओंमें स्थित तीर्थों और धामोंकी प्रतिष्ठा कर सारे देशकी धरतीको एक पुण्यभाव प्रदान कर दिया जाय तो सारा देश एक बार फिर एकताके सूत्रमें बँध जायगा ।

शंकरने पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ की । गोविन्दभगवत्पादके पास पहुँचकर उन्होंने वेदान्तकी शिक्षा ग्रहण की और बद्रिकाश्रममें चार वर्षोंतक निवास कर ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और अन्य प्रधान उपनिषदोंपर विशद भाष्य लिखे । भाष्य-रचनाके समय उनकी आयु केवल सोलह वर्षकी थी । ज्योतिषियोंके अनुसार उन्हें उस वर्ष मृत्युयोगकी आशंका थी । परंतु एक विचित्र घटनाने इस मृत्युयोगको भी नष्ट कर दिया ।

घटना इस प्रकार हुई । उन दिनों आचार्य शंकर उत्तरकाशीमें अपने शिष्योंको ब्रह्मसूत्र-भाष्य पढ़ाया करते थे । एक दिन प्रातःकाल एक कृष्णकाय ब्राह्मणने वहाँ आकर शंकरसे पूछा कि 'तुम कौन हो और इनको क्या पढ़ा रहे हो ?' एक विद्यार्थीने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि 'ये समस्त उपनिषदोंके मर्मज्ञ हमारे गुरु हैं जिन्होंने द्वैतमतके निराकरणके हेतु ब्रह्मसूत्रोंके ऊपर अद्वैतपरक भाष्य लिखे हैं ।' इसपर उस ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह बोला 'इस कलियुगमें ऐसा कोई नहीं जो बादरायण व्यासके सूत्रोंका मर्म भलीभाँति जानता हो । यदि तुम्हारे गुरु ब्रह्मसूत्रके विषयमें सचमुच कुछ जानते हैं तो कृपया एक सूत्रका अर्थ बतानेका कष्ट करें ।' शंकरने उत्तर देना स्वीकार कर लिया । ब्राह्मणका प्रश्न था कि 'पाँचवीं आहुतिमें जलको पुरुष क्यों कहते हैं ?' शंकरने उत्तर दिया—'आकाश, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा स्त्रीरूपी पाँच अग्नियोंमें क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा वीर्यरूपी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं और इस प्रकार जलको अर्थात् देहके उत्पादक पञ्चभूतोंके सूक्ष्म अवयवोंको पुरुष कहते हैं ।'

शंकरकी यह व्याख्या सुनकर वह ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया । दूसरे दिन उस ब्राह्मणने अपना भव्य रूप दिखलाया । वह ब्राह्मण वेदव्यास थे । वेदव्यासने शंकरकी प्रार्थनापर उनकी भाष्य-रचना देखी और शंकरके मृत्युयोगको टालकर उन्होंने उनको सोलह वर्ष

की आयु और प्रदान की । तदनन्तर वे अन्तर्धान हो गये ।

इन्हीं दिनों शंकरको ज्ञात हुआ कि इस समय आचार्य कुमारिल प्रयागमें हैं । अतः उन्होंने अपने शिष्योंसमेत प्रयाग पहुँचनेका निश्चय किया । प्रयाग पहुँचकर उन्होंने देखा, त्रिवेणीके तटपर तुषानलमें कुमारिलका आधा शरीर जल चुका था, परंतु उनके मुखपर तब भी दैवी कान्ति विद्यमान थी । मृत्युकी उस वेलामें कुमारिलने शंकरको अपने समीप देखकर उनसे कुछ पूछना ही चाहा कि शंकरने अपना भाष्य-ग्रन्थ आगे बढ़ा दिया । कुमारिलने ग्रन्थकी प्रशंसा करते हुए कहा—'यदि मैं इस तुषानलमें जलनेकी दीक्षा नहीं लिये रहता तो अवश्य इसपर वार्तिक लिखता ।'

इसके बाद शंकरने इस इच्छामृत्युका कारण पूछा । कुमारिलने कहा—'यह प्रायश्चित्त है । मुझसे दो बड़े पाप हुए हैं। मैंने जगत्के कर्ता, कर्मफलके दाता ईश्वरका खण्डन किया है और अपने बौद्ध गुरुका भरी सभामें तिरस्कार किया है, इसी कारण मैं जल रहा हूँ, यद्यपि मैं निर्दोष हूँ । मैंने यह सब जैमिनीय मतकी रक्षा और कर्मकी प्रधानताके लिये किया है । शंकर ! तुम अच्छे मौकेपर आ गये । अब तुम इस कार्यको आगे बढ़ाना और समस्त देशमें एक ही दर्शनकी प्रतिष्ठा करना ।'

शंकर उस मीमांसकके चितानलको प्रणाम कर आगे बढ़ गये । बस, उन्होंने अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर लिया । भारतमें एक समन्वयात्मक दर्शनकी प्रतिष्ठाके लिये वे ग्राम-ग्राम घूमे, नगर-नगर गये । भारतके उत्तरमें बद्रीनाथके पास ज्योतिर्मठ, दक्षिणमें रामेश्वरम्के पास शृंगेरीमठ, पूर्वमें जगन्नाथपुरीके पास गोवर्धनमठ और पश्चिममें द्वारिकापुरीके समीप शारदामठकी स्थापना कर सारे देशकी धरतीको उन्होंने एक पुण्यभाव प्रदान किया और समस्त भारतमें एक ही दर्शनका प्रतिपादन कर इस बिखरे महादेशको एकताके सूत्रमें बाँध दिया ।

◆

वेणु-गीत

मोहन मुरली मधुर बजाते ॥ टेक ॥
मोह रहे हैं जड-चेतनको मोहन मोहन गाते ॥
गोपी-ग्वालबाल-गौओंको वंशी टेर बुलाते ।
गा-गा गीत मधुर स्वरसे हैं सबको पूर्ण रिझाते ॥
जिनसे तुम अनुराग लगाते, वे तुमसे न लगाते ।
जिनको स्वाँग बताते हो तुम, वे तुमको न बताते ॥
जिनका संग नहीं तजते हो, वे तव संग न जाते ।
जिनका ध्यान सदा लाते हो, वे न तुम्हारा लाते ॥
पाँचों तत्त्व तीन गुणके हो तुम पुतले कहलाते ।
तजकर तीन तीन-दस होकर चौरासीमें आते ॥
वृन्दावन आनन्दधाम कह सबसे परे लखाते ।
दिखा प्राकृतिक सुन्दरताको सुन्दर-श्याम कहाते ॥
जलमें कमल-पत्र-सा रहना जग-जीवन सिखलाते ।
सत्संगति भव-सिन्धु-सेतु 'दशनाम' यही दिखलाते ॥

—सूर्यबलीसिंह 'दशनाम' एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्यरत्न

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ ११३४ से आगे]

सप्तम तरंग

(७९)

सुनो भैया ! ठहरो, इस भाँति
न जाओ कर सत्संग समाप्त ।
रुको तुम भी माँ ! थोड़ी और—
बहिन ललिते ! सुन लो दो बात ॥
सात दिन परछाँईकी तरह
लगाये रहे मुझे जब संग ।
रहे लिखवाते मुझको रुला—
करुण गीले दुख भरे प्रसंग ॥
बिना पूछे अब मेरी बात
चले जाना होगा क्या ठीक ?
सदा छोटोंके मनको रखें
बड़ोंकी यही सनातन लीक ॥
गया है वैसे तो पथ मोड़
सात दिनका स्वर्णिम सत्संग ।
किंतु भैया ! कुछ भाया नहीं—
तुम्हारा अन्तिम मुझे प्रसंग ॥
आप सबके प्रेमिल मन देख
उमड़ आये हैं मेरे भाव ।
उन्हें सुनकर मुझको भी और
दिये जाओ दो-एक सुझाव ॥

(८०)

अग्निमें जलकर तत्पश्चात्
शुद्ध होता सोना जिस तरह ।
आप सब भी वैसे ही पूर्ण
हुए हो झेल आग-सा विरह ॥
और तुमने तो भैया ! खेल
जानपर, जानी जीवन-कला ।
रक्तके आँसूसे ही सींच
सुमन शाश्वत पाये हो खिला ॥
और फिर स्वयं प्यार कर किया
कृष्णके तुम सबको निष्काम ।
दूर रहकर भी करता रहे—
प्यारकी वर्षा आठों याम ॥
कृष्ण-रसमें डूबे इस भाँति
कृष्णमय हैं तुम सबके प्राण ।
तुम्हारे रोम-रोम प्रति श्वास
कृष्ण-रसका ही करते पान ॥
अतः तुम सबके सब हो स्वयं—
'प्राप्त निश्चय' के पूरे योग्य ।
किंतु कुछ सोचो उसके लिये—
पूर्णतः है जो अज्ञ, अयोग्य ॥

(८१)

नहीं मैं जानूँ भैया ! लेश
मात्र भी कृष्ण-नामका सार ।
न तिलभर भी पनपा है कहीं
हृदयमें कृष्ण-चरणका प्यार ॥
न श्रद्धा-निष्ठा ही कुछ जगी—
पड़ा है उर यों ही सुनसान ।
जगत्के ही चिन्तनमें लिप्त
हो रहा श्वासोंका अवसान ॥
सताते हैं जब भैया ! मुझे
हर समय लोभ-मोह-मद-काम ।
किस तरह भायेगा तब मुझे
कहो माँ ! तुम्हीं कृष्णका नाम ॥

पतित हूँ इतना, मेरे पास
नहीं है रंच मात्र सद् गन्ध।
मिलेगी रोम-रोममें तुम्हें,
भरी मेरे अतिशय दुर्गन्ध॥
अतः आयेगा भैया ! नहीं
तुम्हारा निश्चय मेरे काम।
निवेदन है मेरा तो और
इसीसे चरणोंमें सुखधाम॥

(८२)

सुनो माँ ! पहले तो तुम करो
कृपाकी मेरे ऊपर कोर।
बाँध लो श्रीचरणोंके साथ
स्नेहसे मेरी जीवन-डोर॥
हटाओ फिर अन्तरमें भरे
वासनाओंके चित्र अनूप।
सजाओ नयनोंमें निष्काम
प्रेममय अपना पावन रूप॥
मातृवत् भावोंसे हे जननि !
कराओ सकल सृष्टिका नमन।
और तब कृष्ण-चरणमें डाल
सौंप दो उनके श्यामल चरण॥
प्राणको पुलकित, उरको द्रवित,
श्वासको सुरभित आठों याम।
बना दो माँ ! रसनाको रटा
कृष्णके मीठे-मीठे नाम॥
जगाकर धीरे-धीरे जननि !
हृदयमें ऐसे प्रभुका प्यार।
उठाना, कर देना आरम्भ
यादके कभी-कभी फिर ज्वार॥

(८३)

नित्य फिर रह-रह बढ़ने लगे
श्रवणकी व्याकुलता इस तौर।
कृष्ण-चर्चाओंके अतिरिक्त
जगत्‌की बात न भाये और॥
कृष्ण-गुण गायें, झूमें, लगे—
स्वरोंको कृष्ण-गानका स्वाद।
रहे तन रोमाञ्चित हर समय—
कृष्णकी कर-कर पल-छिन याद॥
इस तरह माँ ! जब रहने लगें—
प्राण तन-मन रसमें सरबोर।
हँसें, गायें, झूमें, हों मस्त
प्रेममें डूबें, आत्म-विभोर॥
उसी क्षण करना इतना और
बनाने कुन्दन मेरा भाग।
लगा देना धीरेसे कहीं
अन्तमें माँ ! वियोगकी आग॥
दया कर दे जाओ माँ ! मुझे
आज तो बस, इतनी-सी भीख।
मनसुखा भैयाके रह संग
मुझे तो यही मिली है सीख॥

(८४)

पुनः यह तुमसे भी है विनय
अरे भैया ! मेरी करबद्ध।
बिना इस महामन्त्रके कभी
न हो पाऊँगा शुद्ध-प्रबुद्ध॥
जगत्-ज्वरसे पीड़ित हो रहे
बन्धु ! मेरे सब तन-मन-प्रान।
ठीक कर सकता है बस, इसे
कृष्ण-प्रेमामृत-रसका पान॥
और फिर पाने शाश्वत स्वास्थ्य,
रोकने भावी विषम अनिष्ट।
औषधी राम-बाण है यही
अनुभवी, केवल विरहारिष्ट॥
कर चुके हो तुम भी उपयोग
रोग अपनेमें इसका स्वयं।
अतः तब भैया ! मेरे लिये
न इसमें किया चाहिये बहम॥

पिला दो मुझको भी कुछ घूँट
मधुर इस विरहासवके आज ।
सहारे तेरे मैं भी बन्धु !
जगा लूँ अपने सोये भाग ॥

(८५)

श्वास-कुञ्जोंमें मीठी वेणु
बजाये थिरक-थिरक नटराज ।
प्रणय-रस बरसाकर दिन-रात
भिगोता रहे मुझे रसराज ॥
प्राणके आँगनमें चितचोर
रिझाया करे कभी कर नृत्य ।
चुराकर छलिया खाया करे
हमारे मनका माखन नित्य ॥
हृदय-काननमें लकुटी लिये
बटोरे संगी साथी ग्वाल ।
चराता फिरे गाय-गोवत्स
कन्हैया गोपालक नँदलाल ॥
झूमते रहें देखकर जिसे
हुए रोमाञ्चित रोम-कदम्ब ।
रहें, भैया ! केवल घनश्याम
सब तरह प्राणोंके अवलम्ब ॥
चूमती रहें बहाकर अश्रु
भावना हर-क्षण उनके चरण ।
बनें इस जीवनके आधार
वही करुणामय अशरण-शरण ॥

(८६)

याद कर-कर माधवकी सदा
तड़पते रहें श्वासके विहग ।
विरहमें एक बार तो पूर्ण
प्राणका पंछी जाये सुलग ॥
मिलें मनके पगको हर ठौर
विरहके अंगारे ही दहक ।
कृष्ण-आश्रय ले बढ़ते रहें
न जायें रंचमात्र भी बहक ॥
भले ही कर दें बिल्कुल नष्ट
उपल पाषाण विरहके बरस ।
तड़प कर गाये राधेश्याम
आशाका पपिहा फिर भी तरस ॥
मिलनकी जगह विरहकी घटा
भले ही गरजें कर अति घोर ।
कुहक कर कृष्ण-कृष्ण ही किंतु
कहें फिर भी श्वासोंके मोर ॥
नहीं भय भैया ! मुझको भले,
लगे यह ऐसी भीषण आग ।
दीखता है मुझको तो शिवं
इसीमें अपना फूटा भाग ॥

(८७)

यशोदा मैयाका वह चित्र
नयनसे हटे न अब दिन-रैन ।
देखकर जिसको तुम भी बन्धु !
हो गये थे कितने बेचैन ॥
सोचता हूँ जबतक उर मध्य
जगेगी नहीं इस तरह पीर ।
छिदेंगे नहीं प्राणमें एक
साथ ही जबतक सौ-सौ तीर ॥
उस समयतक यह मेरा हृदय
वज्र निर्दय निष्ठुर पाषाण ।
न पायेगा निश्चय ही बन्धु !
जगतकी तृष्णाओंसे त्राण ॥
इसे तो भाते अब भी सदा
विषयभोगोंके तुच्छ विचार ।
रिझाते नहीं कृष्णके चरण
कलित कालिन्दी पुलिन कछार ॥
करा दो इस भटकेको भ्रात !
श्यामके मधुर प्रणयका वरण ।
मिटा सकते हैं इसकी भ्रान्ति
वही बस, केवल अशरण-शरण ॥

(८८)

और भैया ! वह दिन भी मुझे
अभीतक ज्यों-का-त्यों है याद ।
हृदयमें दर्द, प्राणमें पीर,
श्वासमें अति व्यापक अवसाद ॥
अमित आकुल व्याकुल तुम हुए
खड़े थे कालिन्दीके तीर ।
गये थे प्राणोंपर ही खेल
कलेजा उस क्षण मेरा चीर ॥
तभीसे मीठी-मीठी चाह
बस गयी है प्राणोंमें हाय !
प्राप्त करने ऐसी ही शक्ति
तड़पते हैं ये अति असहाय ॥
आत्म-हत्याका आशय नहीं
यहाँपर भैया ! मेरी बात ।
चाहता हूँ मैं तो इस तरह
दूसरा ही मङ्गलमय प्रात ॥
प्रीति कर प्रेमपात्रके लिये
जगे इतना पावन सम्मान ।
प्रेमसे मना महा आनन्द
प्राण तकका कर दें बलिदान ॥

(८९)

विकलता श्रीचरणोंकी भी न
भर रही है कुछ कम उत्साह ।
जिसे देखा है लिखते समय
स्वयं कर अविरल अश्रु-प्रवाह ॥
विलख कर ही जब तुम पा सके
अन्तमें सुखमय शाश्वत शान्ति ।
क्यों नहीं मुझको भी फिर बन्धु !
मिटा लेने दो अपनी भ्रान्ति ? ॥
तुम्हारा निश्चय तो मनसुखे !
प्रेमका है अन्तिम आदर्श ।
जहाँ रहता है मनमें नहीं
लेश भर भी आमर्ष-विमर्श ॥
बने प्रेमी, प्रेमास्पद एक
जहाँ करते हैं नित्य विहार ।
साधनाका यह अन्तिम रूप
नहीं साधनका प्रथम प्रकार ॥
अतः भैया ! अपनी ही तरह
कराओ मेरा शुभ आरम्भ ।
सौंप कर कृष्ण-चरणका प्रेम
रुलाओ मुझको भी हे अम्ब !

(९०)

जिस तरह स्वयं कृपा कर किया
सात दिन सेवामें स्वीकार ।
करो वैसे ही थोड़ा और
अधमपर दया पूर्ण उपकार ॥
बड़ोंके दर्शनके फल बड़े
यही है परम्परासे सुना ।
निमिष भरका पावन सत्संग
फलित होता होकर सौ गुना ॥
दया तब करो श्यामके सखे !
करो प्रिय मधुर प्रेमका दान ।
द्रवित हो राधे माँ ! हूँ शरण
देवि ! दो आँसूका वरदान ॥
बहिन ललिते ! छू तेरे चरण
हो रहा हूँ मैं विनयावनत ।
कृपा कर ऐसी जलता रहूँ
कृष्णकी स्मृतिमें मैं अनवरत ॥
निरख कर प्रेमदृष्टिसे सभी
धरो मेरे मस्तकपर चरण ।
धूल जिनकी निश्चय ही मुझे
करायेगी प्रभु-पदका वरण ॥

(शेष अगले अङ्कमें)

* * *

दया

[कहानी—सत्य घटनाके आधारपर]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

दया धर्मका मूल है, पापमूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये, जब लग घटमें प्रान ॥

वर्षाका गँदला जल निथरकर दर्पणके समान स्वच्छ और निर्मल हो सभी नदियों और तालाबोंमें शोभा पा रहा था। झाँकनेपर उनकी तलकी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों दिखायी देती थीं। ऐसा ही मद और मोहसे रहित संतोंका निर्मल हृदय तुलसीदासजीने बताया है।*

उस तालाबका जल भी निर्मल हो गया था, जिसमें ठाकुर निरंजन सिंह नौका-विहार कर रहे थे। उनके साथ बैठे संत गोपालजी—'तन रंग पतंग मुलम्मा है·····' भजन गा रहे थे। तटोंकी वन-शोभा देखते और पक्षियोंकी मधुर ध्वनि सुनते हुए ठाकुर साहब भजनकी लयमें आनन्दविभोर हो रहे थे। वहीं बतखोंका एक सफेद सुन्दर जोड़ा चोंचोंद्वारा आपसमें प्यार करता हुआ मन्दगतिसे तैर रहा था। 'विधाताने इसे भी हंसकी तरह सात्त्विक और सुन्दर पक्षी बनाया है। हंस तो मिश्रित दूध पानीको अलग-अलग कर देता है, जैसे संत गुणोंको ग्रहणकर अवगुणोंको छोड़ देते हैं।'† ठाकुर इन्हीं विचारोंमें थे कि उन्होंने बन्दूककी आवाज सुनकर इधर-उधर देखा तो तटके वृक्ष-लताओंके झुरमुटमें उनको एक बहेलिया दिखायी पड़ा। हिंसक मुद्रा, काला रंग, रक्तवर्ण आँखें, मोटे-ताजे शरीरपर तीर-कमान रखे हुए, हाथमें बन्दूक। इसीके निशाने बतखका जोड़ा मर चुका था। उसके शवको जा फेंककर वह अपने निकट खींचनेवाला ही था कि ठाकुर सिंहकी तरह गर्जकर बोल उठे—'बदमाश, तेरी यह हिम्मत! मेरे ही तालाबमें, मेरी ही बतखके सुन्दर जोड़ेपर वार? तुझे समझूँगा अच्छी तरह।'

'मेरे परिवारका पालन-पोषण ही इस धंधेसे चलता है। क्या आप नहीं जानते?' व्याधाने मानो लापरवाही दिखाते हुए कहा; और मृत जोड़ेको अपनी ओर खींचकर लेकर चलता बना।

मेरी आजीविकामें दखल देनेका ठाकुर साहबको अधिकार क्या है। मैं भी उनको कड़ा उत्तर दे सकता था; परंतु मैंने सोचा—

तुलसी या संसार में भाँति भाँति के लोग।
सब सों हिल-मिल चालिये, नदी नाव संजोग ॥

यह विचार करते-करते व्याधा अपने घरपर आ गया। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसने देखा कि आकाशमें घनघोर काली घटाके नीचे श्वेतवर्ण बगुलों की पंक्तियाँ स्वच्छन्द विहार कर रही हैं। देखकर उसे बतखके मृत जोड़ेकी स्मृति आ गयी। सिहर उठा वह। उसी समय निरंजनसिंहके घर जाकर गिड़गिड़ाता हुआ क्षमा माँगने लगा। ठाकुर बड़ी शान्तिसे उसको समझाते हुए बोले—'यह दुर्लभ मानव-तन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी विशेष कृपा विशेष पुण्यके कारण प्राप्त होता है। इस अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतन-स्वरूप जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है। इसलिये ईश्वरको अपने साथ रखकर त्यागपूर्वक इसे भोगते रहो। इसमें जरा

---

* सरिता सर निर्मल जल सोहा।
संत हृदय जस गत मद मोहा ॥
(रा० च० मा० किष्किन्धाकाण्ड)

† जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥
(रा० च० मा० बालकाण्ड)

आसक्त मत होओ; क्योंकि धनधान्य जो भोग्य पदार्थ हैं, वे किसीके भी साथी नहीं हैं ।* तुम जो जीवहिंसा करते हो, इस पापका फल तुमको अवश्य भोगना पड़ेगा । हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश—ये भगवान्ने अपने ही हाथमें रक्खे हैं । (तुलसी) इतिहासमें है कि बादशाह नादिरशाहके हुक्मसे दिल्लीमें कत्ले-आम हो रहा था । उसे रुकवानेकी इच्छासे एक वृद्ध वजीरने साहस कर बादशाहके सामने जाकर इस आशयका एक शैर सुनाया कि—'सभी लोग आपकी कहरकी निगाहके शिकार हो गये । मगर अब मरे हुए लोगोंको लुत्फकी निगाहसे जिंदा करो और फिर मारो ।'† बादशाहने इस शैरके मर्मभेदी भावको समझकर फौरन कत्ले-आम बंद करवा दिया । तात्पर्य यह है कि जो जिंदा नहीं कर सकता, वह मार भी नहीं सकता ।'

उपदेश उतर गया व्याधाके मनके भीतर । 'मैंने विना अपराध उन दोनों पक्षियोंके प्राण ले लिये ! चोट खाते ही किस तरह उन बेचारोंने गर्दन नटेर दी थी । उनका तड़पना, मरण-दृश्य अपने सामने प्रत्यक्ष-सा देखकर मैं अब बहुत पछता रहा हूँ । यह कैसा अपवित्र और पाप-सना धंधा है मेरा ! यदि इसे छोड़ दूँ, तो परिवारका पालन कैसे होगा ! पर, दुनियामें सभी लोग तो शिकारसे पेट नहीं पालते । मैं इस पापपूर्ण धंधेको अवश्य छोड़ूँगा, चाहे भूखे पेट ही क्यों न रहना पड़े ।' इन विचारोंके साथ बहेलिया रामूने शिकार करना सदाके लिये छोड़ ही दिया । वह दूसरे दिन घरपर बैठा-बैठा घरवालोंके ताने चुपचाप सुनता रहा । लोगोंने उसे गूँगा हो जाना समझकर दवाएँ देना चाहा । लोगोंके अधिक तंग करनेपर वह भूखा-प्यासा पास ही भगवान्के मन्दिरमें जा बैठा । 'हाय, हाय, मैंने अपने जीवनमें बड़े-बड़े पाप किये हैं । निरपराध पशु-पक्षियोंका वध करके पापी पेटको भरा है । सुना है कि यमदूत पापियोंको बड़ी यातनाएँ देते हैं । क्या वे सब मुझे भोगनी पड़ेंगी ? मेरे इन्कार करनेको कौन मानेगा ? हाय अब क्या करूँ !' यह सोचते-सोचते रामू मन्दिरमें विराजमान प्रतिमाकी ओर त्राण पानेकी दृष्टिसे देखकर गा उठा—

प्रतिपालक, प्रभुवर, पाहि माम्,
अव्यक्त, अगोचर, अज, अकाम ।
क्यों रूठे जीवन-कर्णधार,
छोड़ी नैया यह बीच धार ?
भवनिधि तरिहौं केहि भाँति नाथ !
जब लौं महेश गहिहौ न हाथ ।
करुणा-वरुणालय, त्राहि माम् ॥ ('सुधा')

उसने पुनः देखा । प्रतिमा हँस रही थी । मानो भगवान्के चारों हाथ अभयदान देनेके रूपमें उठ रहे थे । वह प्रसन्न हो गया । मैं अपने मनको खींचकर वशमें कर लूँगा, तब कैसे यह शिकारकी ओर दौड़ेगा ! मैंने पण्डितजीसे सुना था कि मन ही तो बन्धन और मोक्षका कारण है । विषयोंका सङ्ग करनेसे यह बन्धनकारी और विषयशून्य होनेसे मोक्षदायक बन जाता है ।* अब मैं ऐसा धंधा करूँगा, जिसमें जीवहत्या न हो ।' यह सोचते-सोचते रामूको वहीं तन्द्रा हो आयी ।

(२)

वह कृषक बन गया । एक हलकी खेतीकी जमीन उसे जमीदारजीने दया करके जोतनेको दे दी थी । अरुणोदय-

---

* ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥
(ईशावास्योपनिषद् १)

† कसे न माँद कि दीगर बतेग़े-नाज़ कुशी ।
मगर कि ज़िंदा कुनी ख़ल्क़रा व बाज़ कुशी ॥
(ख़ुसरो)

* मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।
(विष्णुपुराण ६ । ७ । २८-२९)

से लगाकर गोधूलिके समयतक वह अपने खेतपर परिश्रमके साथ काम करता रहता था । किंतु फिर भी उसके खेतमें अन्न बहुत कम उपजता था । मनौतीदार सेठ, अपनी बकाया रकम वसूल न होनेसे आगेके लिये अन्न-वस्त्रादि उसे भारी कठिनाईसे उधार देता था । उसकी दीनदशापर आश्चर्य प्रकट करते हुए लोग आपसमें बातें करते—'हमसे भी बहुत अधिक परिश्रम यह खेतमें करता है । शिकार करना इसने छोड़ दिया है । कई पशु-पक्षी पाल रक्खे हैं, दान-पुण्य करता है, श्रीसत्यनारायणकी कथा, श्रीमद्भागवतजीका सप्ताह करवाता और रात-दिन हरिभजन करता रहता है । फिर भी इसके अन्नकी उपज कम होनेका कारण समझमें नहीं आता ।' लोगोंने चौधरी रामलाल (रामू व्याधा)को सलाह दी कि—'तुम्हारे पासके बूढ़े बेकाम बैलों, गायों, भैंसों और घोड़ेको अच्छे दामोंपर भूरा कसाईको बेच दो, वह खरीदनेको तैयार है ।' यह सुनते ही रामलाल चौंक पड़ा । कानोंमें अंगुलियाँ लगाकर बोला—'राम राम ! ऐसे शब्द आज मैं कैसे सुन रहा हूँ ?' लोगोंको साफ-साफ जवाब दिया, 'क्षमा करें, अब मेरे सामने ऐसे शब्द कभी न कहें । जो पाप मैंने किये हैं, उनका फल तो भोग ही रहा हूँ; और अब ये नये पाप करके कहाँ निस्तार पाऊँगा । जिन्होंने मुझे जीवन भर लाभ पहुँचाया है, उन्हें निर्दयताके साथ पैसोंके लोभमें आकर कसाईके यहाँ कटवा दूँ—इसकी कल्पना करनेसे ही मेरा मन काँपता है । क्या करूँ मेरे पास पैसा नहीं है, यदि होता तो मैं बूढ़े और बेकाम हुए पशुओंके पालन-पोषणार्थ एक गोशाला बनवा देता और उसमें ऐसा प्रबन्ध कर देता कि मृत्युपर्यन्त ये पशु आरामसे जीवित रह पाते ।'

चौधरी रामलालके ग्रह-दशा पूछनेपर ज्योतिषी रामकुमारजीने बताया कि—'आपकी शनिकी दशा अब बीत चुकी है और जल्द अच्छी दशा लगनेवाली है । मैं दावेके साथ कहता हूँ कि आपके पास अनायास ही धन आयेगा । किंतु आज मैं आपको श्रीभगवान्‌के निम्नलिखित पावन नाम बताता हूँ । इनका स्मरण आप रात-दिन सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सब समय सर्वत्र निरन्तर किया कीजिये । ध्यानसे सुनकर इन नामोंको कण्ठस्थ कर लीजिये—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे।
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण गोविन्द दामोदर माधवेति॥

थोड़े ही दिनोंमें बहुत अधिक फल इस भजनसे आपको मिलेगा । परंतु विश्वासके साथ जपना ।'

रामलाल चौधरीको मानो पारसमणि मिल गयी। उसके पूर्वसंस्कार अच्छे थे । इसीसे उसको भगवान्‌के भजनमें अटल श्रद्धा उत्पन्न हो गयी और वह सदा भगवान्‌के नामोंकी रट लगाता रहता था ।

वह ग्रामवासियोंके सुख-दुःखमें बराबर सम्मिलित होता था । गरीब बीमारकी सेवा करते हुए अपने पासके पैसोंसे उसके लिये दवाइयाँ ला देता था। उसकी पत्नी भी गृहस्थीके कामोंसे निवृत्त होकर छोटे बच्चोंको साथ ले गाँवमें रोगियोंकी सेवा करने निकल जाती थी । दैवी गुण थे उसमें ।

रामलाल गाँवके सभी धार्मिक उत्सवोंमें मतवाला हो—तन-मनकी सुधि भूलकर श्रीभगवान्‌से निहोरे कर-करके नाच-कूदकर खँजरीपर द्रौपदी-पुकारकी यह लावनी अधिकतर गाया करता था—'नाथ मेरो कहा बिगरैगो, जायगी लाज तिहारी ।' उसकी तन्मयताकी अवस्था लोग बहुत देरतक देखते-देखते कह उठते-'कहीं यह पागल तो नहीं हो गया है ?' पर असलमें यह बात नहीं थी—मीरा पागल थोड़े ही थी, वह तो प्रेम-दीवानी थी ।

इस प्रकार रामलाल चौधरीके जीवनके दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष बीतते-बीतते बीस बसंत व्यतीत हो जानेके पश्चात् वह वृद्ध हो गया । परंतु खेतीसे मालामाल अब भी नहीं हो पाया ।

(३)

इधर ठाकुर निरंजनसिंह लगानका रुपया वसूल करनेको खलिहानोंमें अन्न तैयार हो जानेपर आया करते थे। यदि किसी दीन दुखी किसानके पास उपज न होनेके कारण रुपये देनेको न होते तो वे उसपर, दया नहीं दिखाते वरं तबतक तंग करते जबतक कि वह कहींसे भी किसी भी प्रकार इन्हें रुपये नहीं ला देता। किंतु हरिशंकरने साफ कह दिया कि—'आगामी वर्षकी फसल आनेपर मैं आपका रुपया सूद समेत हाथ जोड़कर दूँगा। पर अभी अपनी प्यारी गायको कदापि नहीं बेचूँगा। वह मेरे लिये चिन्तामणि-स्वरूपा है। दूध, दही, मठा, मक्खन, घी, कंडोंसे ईंधन तथा वयस्क बछड़ोंकी बिक्रीसे अर्थ-प्राप्ति आदि कई लाभ मुझे इससे हैं।' किंतु ठाकुर गायको कुर्क करवानेकी धौंस दिखाकर चले गये। चिन्तायुक्त हरिशंकरने रातको स्वप्न देखा कि 'दिन अस्त होते-होते कुर्कीमें उसके गाय-बछड़ेको ले जाया जा रहा है। हरिशंकर रोता हुआ पीछे दौड़ रहा है। पर ठाकुरकी लताड़ सुनकर बेहोश हो गिर पड़ता है। एक मित्र उसे चेतन करनेकी चेष्टा कर रहा है।'

इतनेमें ही मुर्गेकी ध्वनि सुनकर वह जाग उठा और तत्काल अपनी गायके पास गया। देखा, गाय शान्त मुद्रामें बैठी पागुर कर रही है, पास बछड़ा फुदक रहा है। देखते ही हरिशंकरका अन्तःकरण खिल उठा। उसने दोनोंको बड़े प्रेमसे पुचकारा, सहलाया, खुजलाया और हरी घास खिलायी।

× × × ×

ठाकुर साहबके पास पूर्वजोंका बहुत-सा धन संगृहीत था। वे ऐशो-आरामकी जिंदगी बिताते थे। किंतु दान-पुण्य या हरिभजन करनेमें विश्वास नहीं था उनका। उनकी पत्नी सुदेवी बड़ी धर्मशीला और दयावती थी। उसने कई दिनोंतक लगातार ठाकुर साहबको आग्रह, निहोरे और मिन्नतें कर-करके हरिभजन या दान-पुण्य करने एवं गरीबोंकी सहायता करते रहनेपर राजी कर लिया। फिर तो पत्नीकी सीखसे निरंजनसिंह ऐसे बन गये कि किसी भी प्राणीका थोड़ा-सा भी दुःख उनसे देखा नहीं जाता था। उन्होंने अनाथालय और मुफ्त दवाखानेकी स्थापना करवायी। सदाव्रत बैठाये, गोशालाओंमें दान दिया और अपना समय हरिभजनमें बिताने लगे।

पानी बाढ़ो नावमें घरमें बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

इस उक्तिको भी वे सदा चरितार्थ करते रहे।

दूसरे वर्ष हरिशंकरने तो पूरा रुपया दे दिया; किंतु एक वृद्ध किसानने नहीं दिया। ठाकुर निरंजनसिंहने वृद्ध किसानको ऊपरसे नीचेतक सरसरी निगाहसे देखा, वृद्धके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी थीं, शरीरमें कई जगह वृद्धता और निर्बलताके कारण मांस लटक आया था। काले जीर्ण-शीर्ण कंकालमें दो आँखें कोटरमें बैठी हुई चमक रही थीं। देखकर निरंजनसिंह किसी भूली हुई स्मृतिको ताजा करनेमें लग गये। एक पुराना दृश्य उनके सामने आ गया। आश्चर्यसे बोले—'अरे, तू तो रामू बहेलिया मालूम होता है! तेरे शरीरका यह हाल? कहाँ तेरी वह वज्रके समान गठीली-रोबीली मांसल देह और कहाँ आज यह नर-कंकाल?'

चौधरी रामलाल बोल उठा—'साहब! उस बत्तखके जोड़ेकी आहसे यह दुर्दशा हो गयी है मेरी। कहा है—

'मुई खालकी भाफ सों लोह भस्म हो जाय।'
(धौंकनीसे तात्पर्य)

'भई! मैं तो बड़े आश्चर्यमें हूँ। अब तू क्या कहना चाहता है?' ठाकुरसाहबने पूछा।

रामलाल चौधरी कहने लगा—'लगातार तीन वर्षसे मेरे खेतमें इतनी भी उपज नहीं होती कि बीज

देनेवालेका बीज तो जमा कर दूँ । जंगलसे कोदों और पंवारेके बीज ला-लाकर उसमें छटाँकभर आटा यदि मिल गया तो मिलाकर परिवारका गुजारा चला रहा हूँ । तनपर फटी धोती, सिरपर फटी पगड़ी आप देख ही रहे हैं । नंगे बदन चारों ऋतुओंकी मार सहते हैं । किसी तरह जीवित हैं । भगवान्‌का ही पूरा-पूरा अवलम्ब है । हमारे ये शरीर हाजिर हैं—रुपया नहीं है ।'

सुनकर ठा० निरंजनसिंहका हृदय दयासे द्रवीभूत हो गया । आँखोंमें आँसू छलक आये । सोचने लगे—'यह मानवदेह ऐसी है जो कई रंग बदलती है । मुझे भी बुढ़ापा सतायेगा । हे मेरे जरा-व्याधिविनाशक प्रभो ! रक्षा करना । मेरे अन्त समयकी आधीसे अधिक अवस्था बीत चुकी है ।

'चार दिनकी चाँदनी बही अँधेरी रात ।'

—बात होनेवाली है ।'

उन्हें मौन देखकर रामलाल बोल उठा—'क्या हुक्म होता है ?'

ठाकुर साहबकी मानो तन्द्रा टूटी । बड़े प्रेमसे बोले—'अभी आपका सब प्रबन्ध किये देता हूँ ।' चौधरीने सोचा—'प्रबन्ध क्या करेंगे । इनके जुल्म तो प्रसिद्ध ही हैं ।'

इतनेमेंही ठाकुर साहबने अपने कारिन्देको बुलाकर समझाया कि—'इस गाँवसे जितना भी रुपया वसूल हुआ है, उसमेंसे रामलाल चौधरीके पक्का मकान, अच्छे बैल, अच्छा बीज, दो हरवाहे, गाय, भैंस, अन्न-वस्त्र, जमीन, सिंचाई, बच्चोंकी पढ़ाई और नौकर-चाकर इत्यादिका प्रबन्ध कर इन्हें १०००) रु० नकद दे दो । बकाया निधि जो इनसे लेना है, वह सब माफ करता हूँ ।'

रामलालके भले दिन आ गये । शरीर भी बलवान् बनने लगा । पति-पत्नी रात-दिन श्रीभगवान्‌का भजन करते और ठाकुर साहबको असीसें दिया करते थे । दान-धर्म भी उनका बराबर चलता ही था । किंतु रामलालको अहर्निश एक चिन्ता सताया करती थी । वह यह कि कब मैं ठाकुर साहबका पाई-पाई रुपया सूद समेत लौटा पाऊँ । इस कामनाकी पूर्तिके लिये वह भगवान्‌से भी नित्य प्रार्थना किया करता था ।

दयासिन्धु भगवान्‌की ऐसी कृपा हुई कि एक वर्ष चौधरी रामलालके खेतोंमें बहुत अधिक अन्न उत्पन्न हुआ, जिसको बेचकर उसने ठा० निरंजनसिंहका कुल रुपया चुका दिया और शेष रुपयोंमेंसे निम्नलिखित तीन महत्त्वके कार्य करवाये—

(१) ग्रामवासियोंको पीनेके जलका कष्ट था । इसने वहाँ एक पक्का कुआँ बनवा दिया, जिसमें पीनेके योग्य मीठा और सुस्वादु जल निकल आया ।

(२) ग्राममें कई वर्षोंसे भगवान्‌का मन्दिर अस्तव्यस्त अवस्थामें पड़ा हुआ था, उसका जीर्णोद्धार करवाकर वहाँ एक पुख्ता तुलसी-स्थान बनवा दिया ।

(३) गाँवके बाहर एक ऐसी गोशाला बनवायी, जिसमें बूढ़े, अपंग, बेकार पशुओंका पालन होता रहे । इसके चारे-दाने, पानी और इलाजके लिये भी उसने अच्छी व्यवस्था करवा दी । इस पुण्यकार्यके निमित्त चौधरी रामलालने आसपासके ग्रामवासियोंसे भी सहायता ली । सबके साथ रामलालका उत्तम व्यवहार और मधुर आत्मीयता रहनेके कारण उन लोगोंने भी इस कार्यमें यथाशक्ति आर्थिक सहायता देकर हर्ष मनाया । इस प्रकार इस गोशालाका सदाके लिये ऐसा प्रबन्ध हो गया कि आसपासका कोई भी बूढ़ा बेकार पशु कसाईके हाथों अधिक-से-अधिक मूल्यपर भी नहीं बेचा जाय । यदि चुपके-चुपके किसीने दूर जाकर कसाईको अपना बूढ़ा बेकार पशु बेच दिया, तो उसपर पंचोंका दण्ड नियत कर दिया । ग्रामवासी सब एक सूत्रमें बँधे थे । अतः इस व्यवस्थाके सुचारु रूपसे चलते रहनेमें किसी

प्रकारकी कोई शंकाकी गुंजायश नहीं रहने पायी।

इस प्रकार तीनों कामोंको अपनी भक्ति, निष्ठा, कर्तव्य और धार्मिक भावनाके साथ सम्पन्न करा देनेके पश्चात् रामलाल सपत्नीक निशिदिन भगवान्‌के भजनमें लीन रहने लगा। घरकी खेती-बाड़ी और कारोबारको उसके दो सुयोग्य पुत्र सम्हालते रहे। आसपासके क्षेत्रमें रामलालके सत्संग और सम्पर्कमें आकर कई लोग भगवत्परायण बन गये। सुगन्धित पुष्पकी सुगन्ध एक जगहसे वायुमें उड़कर दूरतक फैल जाती है। इसी प्रकार श्रीभगवान्‌के भजनमें मस्त इस महात्मा रामलाल-की ख्याति भी थोड़े ही दिनोंमें फैल गयी और सब लोग इसके पास आकर भगवन्नाम-संकीर्तनमें सम्मिलित हो अमित लाभ उठाने लगे। इस सत्संगसे उधर चारों ओर सदाचार, धर्मभावना, भगवान्‌की पूजा-अर्चा और संयमित जीवन वितानेका प्रचार लोगोंमें हो गया। इसीमें सब लोग सुख-शान्तिका अनुभव करने लगे।

रामलाल और उसकी पत्नीके अशक्त और अत्यन्त वृद्ध हो जानेपर उसके दोनों पुत्रोंने उसकी खूब सेवाएँ कीं; और उन्हें भगवान्‌के भजन-स्मरण करनेमें लगाये रक्खा। सच्चे मनसे माता-पिताकी सेवा करते देखकर लोग इन दोनों पुत्रोंके लिये मातृ-पितृ-भक्त श्रवणकुमारकी उपमा देने लगे। इनके उदाहरणसे परगनेमें एक आदर्श स्थापित हो गया।

भगवन्नामसम्बन्धी आधुनिक शोधके कुछ नमूने

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भगवान्‌के नारायण नामके विषयमें 'कल्याण'के विगत विशेषाङ्कमें सम्पादकीय लेखमें महामना मालवीयजीके शब्दोंमें कुछ अच्छी सामग्री देखी होगी। यहाँ उसीपर पाठकोंके समक्ष कुछ आधुनिक शोधके नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं। ऐतिहासिकोंका अनुमान है कि प्रणवके प्रचारको देखते हुए मानना पड़ता है कि संसारमें यही पहला भगवान्‌का नाम आविष्कृत हुआ होगा। इस नामपर विशेषाङ्कमें डा० सम्पूर्णानन्दजीका लेख गया है। इतिहासके विद्वान् प्राचीनता-की दृष्टिसे दूसरा स्थान इस 'नारायण' नामको ही देना चाहते हैं; क्योंकि (जाप्य) भगवन्नामके रूपमें मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण तथा प्रारम्भिक उपनिषदोंमें यह नाम भी प्राप्त होता है[1]। प्रायः १८ पुराणों तथा महाभारतके भी प्रत्येक पर्वादिके प्रारम्भमें सर्वप्रथम नारायणका ही स्मरण देखा जाता है[2]। इस नामके सम्बन्धमें साम्प्रदायिक राग-द्वेष भी नहीं पाया जाता। वैष्णवोंके तथा शंकराचार्यके भी सम्प्रदायमें 'नारायणस्मरण' बड़े प्रेमसे किया जाता है—नमस्कारादिके समय। शंकराचार्यने गीतादि भाष्योंके आरम्भ करते समय इसी नामका स्मरण किया है।

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।

शंकरविजयग्रन्थके नवें प्रकरणमें नारायणकी विस्तृत महिमा है। श्रीविष्णुपुराण तथा भागवतमें नारायणका नाम प्रायः ३०० बार आता है। भागवतका नारायणवर्म प्रसिद्ध है। फिर—

नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥

---

[1] —भवान् नारायणो देवः (वाल्मीकि युद्ध० ११७।१३), तेन नारायणः स्मृतः (मनु० १। १०, भागवत २। १०। ११, विष्णुपुराण १। ४। ६, ब्रह्माण्ड १। ५। ५, वायुपुराण ६। ५, महाभारत ३। १८९। ३, ५। ७०। १०, १२। ३४१। ४० इत्यादि)

[2] —नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

यह श्लोक प्रत्येक पुराणके प्रारम्भमें तथा महाभारतके भी प्रत्येक पर्वके आरम्भमें है। इस श्लोकमें सर्वप्रथम नारायणको ही स्मरण किया गया है। श्रीमद्भागवतमें १। १। १ में न होकर १। २। ४ में यह श्लोक आ गया है। इस श्लोककी विस्तृत व्याख्या महाभारत नीलकण्ठी १-१-१ में है।

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥
(२ । ५ । १५-१६)[3]

—आदिमें बार-बार सभी योग, यज्ञ, गति-मुक्ति आदिको नारायणपरक ही बतलाया है। महाभारत, शान्तिपर्व ३३४ से ३५१ अध्यायोंतकका 'नारायणीय धर्म' भी प्रसिद्ध है। इसमें प्रायः प्रत्येक श्लोकमें नारायण शब्द आता है। अजामिलकी कथा बहुत पुरानी है। वह 'नारायण' नामके बहाने ही मुक्त हुआ था—

विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

(श्रीमद्भागवत ६ । ३ । २४, पद्मपुराण १ । ३१ । १०९ पूना संस्करण 'स्वर्गखण्ड' ३१ । ११० वेंकटेश्वर तथा मोरसंस्करण)

'पद्मपुराण'के क्रियायोगसारखण्डमें १ से ८ अध्यायोंतक, कालिकापुराणके २२वें अध्याय, गरुडपुराण पूर्वखण्डके २२०वें अध्याय, बृहद्धर्मपुराणके ४५वें तथा हरिवंशके ३ । ८८ । ४५ आदिमें भी इस नामकी बड़ी महिमा है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके वक्ता तो 'नारायण' ही हैं। तथापि इसके कृष्णजन्म १०९, प्रकृतिखण्ड ६४ आदिमें 'नारायण'की अद्भुत महिमा है। नारायण, अपरनारायण और त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् इसी नामपर हैं। अतः 'नारायण' नाम बहुत प्राचीन मान्य हैं[5]। मन्त्रमहार्णव, शारदातिलक, निर्वाणतन्त्र, कुलार्णव, तन्त्रसार, मेरुतन्त्र आदिमें भी नारायणोपासना नारायणमन्त्रकी विधि है। नारदपुराण, पाञ्चरात्रागमादिमें भी नारायण-मन्त्रादिका विधान है। अतः इसकी प्राचीनता निर्विवाद है।

यहाँतक तो ठीक ही है, किंतु इसके प्रतिकूल कुछ विचित्र अनुसंधानका नमूना लीजिये। श्रीलीलाधर बी० केनी अपने एक 'The Origin of Nārāyaṇa' लेखमें [B. O. R. Silver Jubilee Volume P. 250] लिखते हैं कि 'नारायण' शब्द मूलतः द्रविड़ भाषाका है। महाभारत वनपर्व ३ । १८९ । ३ में पूर्वोक्त 'आपो नारा' श्लोकका हवाला देते हुए उनका कथन है कि R. C. Dutta के अंग्रेजी अनुवादमें नर+अयनमें अयनका अर्थ घर किया है। किंतु घरका संस्कृत आयतन है, अयन नहीं; क्योंकि अयन शब्द उपर्युक्त श्लोकके अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता। वे अपने पक्षमें आप्टे तथा मोनियर विलियमके कोशका नाम लेते हैं और वे इसे द्रविड़ शब्द मान लेते हैं[6]। पुनः अपने पक्षमें वे काल्डवेलके साथ किटल, वेशी आदि विद्वानोंका नाम भी लेते हैं। (वही पृ० २५१)

पता नहीं विश्वभारतीकी किस काली अँधेरी कोठरीमें बैठकर आप अनुसंधान कर रहे हैं कि उन्हें पूरे संस्कृत-साहित्य तथा आप्टे—मोनियर विलियमके कोशोंमें भी 'अयन' शब्द नहीं मिला। हमारे पास आप्टेका छोटा कोश है तथापि उसमें भी स्पष्ट लिखा है—'अयनं going, moving, path, a place, site, abode, an entrance to an array of troops और उदाहरणमें भी वे 'रामायण' 'उत्तरायण' 'दक्षिणायन' 'अयनेषु च सर्वेषु' (गीता १ । ११) आदिको प्रस्तुत करते हैं। पुनः मोक्ष अर्थमें वे **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजुर्वेद ३१ । १८, श्वेताश्वतर उप० ३ । ८ आदि) का उदाहरण देते हैं। इसी प्रकार Dr. M. William भी वाजसनेयिसंहिता २२ । ७ (अयनाय स्वाहा, प्रायणाय स्वाहा) ऋग्वेद ३।

३—अति स्वल्पभेदसे ठीक ये दोनों श्लोक महाभारत शान्ति० ३४७ । ८१-८२ में भी आये हैं।

४—भारतीय विद्या (१९५१) में 'क्रियायोग'को स्वतन्त्र-पुराण सिद्ध किया है।

५—Journal of the Anthropological Society, Bombay, Jubilee volume; P. 37 के लेख Mohenjo Daro and the Indus Civilization के अनुसार वटवृक्षके पत्रपर शयन करनेवाले देव नारायण थे। तत्कालीन संस्कृतिमें ये ही उपास्य थे। महाभारत वनपर्व २११ । ९१-९३ में (दत्तसं० १८८ । ९०-९२ में) भी इन्हींका उल्लेख है।

६—**Dutta explains the word अयन as 'an abode'. But the ordinary Sanskrit word for it is आयतन and not अयन. The word अयन seems to be found only in the passage referred to above.**

(Cf. Apte and Monier William)

This fact and the intimate connection of this word with the Dravidian word Nārā, as well as its dorivation from a clear Dravidian root leaves no doubt about its origin. This is very likely another Dravidian word which has passed to the Sanskrit as अटवि, अणि, कला, etc.

(Cf. Caldwell, Comparative Grammar of the Dravidian Languages pp. 567-575)

३३ । ७ तथा निरुक्त आदिके उदाहरणसहित नैमिशायन, पुरुषायन, प्रशमायन, समुद्रायन आदि अनेक शब्दोंको लिखते हुए पूर्वोक्त सभी अर्थोंको स्वीकार करते हैं ।

आचार्य हेमचन्द्र भी अपने प्रसिद्ध 'अनेकार्थसंग्रह' कोश ३ । ३८० में लिखते हैं—

अयनं पथि गेहेऽर्कस्योदग्दक्षिणतो गतौ ।

अर्थात्—अयन शब्द मार्ग, घर तथा सूर्यकी द्विविध उत्तरायण-दक्षिणायन गतियोंका वाचक है ।

संस्कृतके प्रसिद्ध 'शब्दकल्पद्रुम' कोशमें 'अयन' शब्दके विवरणमें इस प्रकार लिखा गया है—

शास्त्रं । यथा—

'ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।'

—इत्यादि और बादमें पुनः प्रायः पूर्वोक्त बातें लिखी हैं । 'बृहद्वाचस्पत्याभिधान' में भी लिखा है—'भावे ल्युट्' । गतौ, इसमें अयन शब्दपर पूरे ४ पृष्ठ हैं । इसके ७वें अर्थमें 'गृहे' ८वेंमें 'आश्रये' तथा ९वेंमें 'स्थाने' लिखा है । उदाहरण प्रायः सब पूर्वोक्त ही हैं । इससे भी घर अर्थमें 'अयन'का प्रयोग बाहुल्येन स्पष्ट ही सिद्ध है ।

किंतु तथाकथित शोधकर्ताको न तो किसी संस्कृत-ग्रन्थमें 'अयन' शब्द मिलता है, न नारायण । उन्हें केवल 'अवदानशतकके' भा० १ पृ० १२९ पर—'नारायणस्य प्रणिपत्य प्रतिज्ञातं यदि मे भर्ता आगच्छति अहं ते सौवर्णचक्रं प्रदास्यामि' यह एक वचन मिलता है, पर चूँकि यह कथा मगधदेशकी है, अतः उन्हें वहाँके निवासी भी द्रविड़ किंवा अनार्य दीखते हैं[७] किंतु वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, रघुवंश आदिके अनुसार मगधमें अवदानशतक क्या, सत्ययुग-त्रेतासे ही आर्य निवास करते थे[८] ।

यह तो हुई 'नारायण'-नामकी बात । अब थोड़ा हरि-नामपर अनुसंधान देखिये । प्रणव तथा नारायण-नामके बाद जाप्य नामोंमें इसीका स्थान आता है प्राचीनताकी दृष्टिसे । [यों प्रचारमें रामनाम अधिक बाजी मार ले गया है ।]

सूरदासजीने—

हरि हरि सुमिरन करो । हरि चरनारबिंद उर धरो ॥

—का बार-बार स्मरण कराया है और सभी सम्प्रदायोंमें इस नामके प्रति समान आदर है । पर बिहारके एक पत्रमें एक अनुसंधानकर्ता महोदयने सीधे लिख मारा कि वाल्मीकिने अपनी पूरी रामायणमें ही हरि शब्दका कहीं प्रयोग नहीं किया । जब कि विभिन्न अर्थोंमें यह शब्द वाल्मीकिरामायणमें प्रायः २०० बारसे भी अधिक प्रयुक्त दीखता है । योगवासिष्ठ भी वाल्मीकिकी रचना मान्य है । उसमें तो यह शब्द और भी अधिक मिलता है । वाल्मीकिरामायणमें भी—

तमुवाच हरिः प्रातः कश्यपं गतकल्मषम् ।
(१ । २९ । २४)

—आदिमें इसका प्रयोग 'विष्णु' अर्थमें ही है । शेष वानर आदिमें यह शतशः प्रयुक्त है । उक्त अनुसंधानकर्ताने तुलसीदासपर अज्ञानका आरोप लगाते हुए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि रामावतार हरिका अवतार नहीं था । अतः तुलसीदासको इसे अपनी रामायणमें नहीं लिखना

७—The Avadānaśataka gives a story which says that the wife of a merchant of Rajagriha, the capital of Magadha, worships and promises Nārāyaṇa, a golden wheel, on the safe return of her husband, who had gone to the sea. And, accordingly, on the safe arrival of her husband, she goes, with a golden wheel and incense, to the Temple of Nārāyaṇa. This is a very clear indication that Nārāyaṇa was worshipped by the people of Magadha (South Behar) as the god of the seas. Now the Magadhas were a non-Aryan people (Olden Berg: the Buddha p. 400, Fick's Social Organization p. 8-9) Heras: New Vistas of Indian History, What India thinks pp. 118, Macdonell and Keith: Vedic Index 1. p. 159, Banerji: Pre-Historic Ancient and Hindu India p. 30-35, Aiyangar: Ancient India p. 6.

८—(क) मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ।
(रघुवंश ९ । १७)
(ख) ततो राजा दशरथः सुमित्रां मगधेशजाम् ।
(आ० रा० १ । १ । ७०)
(ग) मागधस्य नृपस्याथ तनयां च शुचिस्मिताम् ।
सुमित्रां नाम······ ··· ········· ··· ···
(पद्म० उत्त० २४२ । २८)
(घ) मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
प्राप्तिशं परमोदारं सत्कृतं पुरुषर्षभम् ।
(वाल्मीकि० बाल० १३ । २६)

चाहता था। उनकी दृष्टिमें यह केवल कृष्णका वाचक हो सकता है; क्योंकि वे पीताम्बरधारी थे। आश्चर्य है कि प्रसिद्ध डाक्टर ऑफ फिलासफरकी उपाधि प्राप्त लेखकको रामके वस्त्रका रंग भी ज्ञात नहीं है। यदि तुलसीदासको मूर्ख समझनेके पूर्व आपने एक बार उनकी रामायण (मानस) ही उलट ली होती तो आपको स्पष्ट दीख जाता—

'पीत झगुलिया तनु पहिराई।'…
पीत झीनि झगुली तन सोहा।
पियर उपरना काखा सोती।
तडित विनिंदक बसन सुरंगा।
तडित बिनिंदक पीत पट,
उदर रेख वर तीनि।
केहरि कटि पट पीत धर सुखमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥
पीत जग्य उपबीत सुहावा।…
कटि तूनीर पीतपट बाँधे।
पीत निर्मल चैल, मनहुँ मरकत सैल। (गीतावली)
भूषित उडुगन तडित घन। (मानस)

उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, नाटक, इतिहास आदिमें भी उनका वस्त्र पीला ही बतलाया गया है—

'पीताम्बरालंकृतम्' 'विद्युत्पुञ्जनिभाम्बरम्।' इत्यादि (श्रीविद्यार्णव पृष्ठ ४८२)

शारदातिलक, रामार्चनचन्द्रिका आदिमें भी सर्वत्र इसी प्रकारका ध्यान आता है।

उक्त डाक्टर लेखकने जो हरिनामका कारण माना है, शास्त्रोंका मत उसके भी विरुद्ध ही है। यदि अनुसंधानकर्ताने हरिवंश ३। ८८, नारदपुराण १। ११। १०० अथवा विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्यको ही एक बार उठाकर देखनेका कष्ट किया होता तो उन्हें हरिनामका कारण कुछ और ही दीखता। महाभारत शान्ति० ३४२। ६८ में हरि नामका कारण स्वयं भगवान् ही इस प्रकार बतलाते हैं—

इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम्।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः॥[9]

बृहन्नारदीयपुराणका कथन है—

'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।'

भगवान् दुष्टोंद्वारा भी याद किये जानेपर उनका पाप हर लेते हैं।

हरिवंश ३। ८८ में भगवान् शंकर कहते हैं—

आपो नाराः……यतस्त्वं भूतभव्येशः, तन्नारायणशब्दितः।
हरसि प्राणिनो देव ततो हरिरिति स्मृतः॥'[10]

अन्यत्र भी भगवान्का कथन है—

हराम्यवं च स्मर्तणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्। इत्यादि।
६

विष्णुसहस्रनामभाष्य ५३। ८२ आदिमें आचार्यपाद भगवान् शंकर भी लिखते हैं—

स्मृतिमात्रेण पुंसां पापं संसारं वा हरति इति हरिः।

इन सभी वचनोंका तात्पर्य हरने अथवा हरित (कृष्ण) वर्णसे दीखता है। यज्ञका भाग हरने, भक्तोंके पाप हरने तथा हरित (कृष्ण) वर्ण होनेका कारण हरि नामकी सार्थकता है। भागवत ९। १०। २ में यह शब्द रामावतारके कारणमें भी सुस्पष्टतया प्रयुक्त है—

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया॥

अधिकांशतया यह विष्णु[11] अथवा ब्रह्मके लिये प्रयुक्त है। महाभारत १३। १७। ७५ में शंकरके लिये भी प्रयुक्त है। अनेकार्थ-ध्वनिमञ्जरी आदिमें सूर्यादिके लिये भी प्रयुक्त है—

हरिरिन्द्रो हरिर्भानुर्हरिर्विष्णुर्हरिर्मरुत्।
हरिः सिंहो हरिर्भेको हरिर्वाजी हरिः कपिः॥
हरिरंशुर्हरिर्भीरुर्हरिः सोमो हरिर्यमः।
हरिः शुक्रो हरिः सर्पः स्वर्णवर्णो हरिः स्मृतः॥

'विश्वप्रकाश' कोश (रान्त ७८-७९), हेमचन्द्र अने

---

[9] ९—यज्ञोंमें आवाहन किये जानेपर अपना भाग ग्रहण करता हूँ तथा मेरा वर्ण भी हरित-कृष्ण श्रेष्ठ प्रकारका है, अतः मैं 'हरि' नामसे विख्यात हूँ।

[10] १०—प्राणियोंके हरण करनेसे आप हरि हैं।

[11] ११—उ० रघुवंश ३। ४८, १०। ८६, पाद्मोत्तर० ११ ब्रह्मवै० कृष्ण० १। १। १९-५२, ५५-६०, वामन ८ गरुड २। ९-२०, २३१-३४, पद्म० पाताल० १२। इन भगवान् श्रीहरिकी महिमा, नामनिरुक्ति आदि विशेषरूप निरूपित है।

(२।४८३) तथा मेदिन (२७।१००) आदिमें ऐसा ही निरूपित है। अतः लेखकका तुलसीदासपर आरोप सर्वथा अनुचित है और उनका प्रयोग समुचित है। इसी प्रकार उनपर उसके दूसरे आरोप भी गलत हैं।

सुखकी चाह और उसकी सच्ची राह

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी शर्मा एम्० ए०)

मङ्गलमय भगवान्‌की सृष्टि मङ्गलमयी है, उसका विधान भी पूर्णतः मङ्गलमय है। यह ब्रह्माण्ड अनन्त सुखसिन्धु भगवान्‌से उत्पन्न हुआ है और उसीमें विलीन होता है। तभी कुछ मङ्गलमय है, दसों दिशाएँ आनन्दसे परिपूर्ण हैं। उस आप्तकाम, पूर्णकाम, लोकाभिराम प्रभुकी समस्त सृष्टि-रचना सचमुच ही हमारे आनन्दके लिये हुई है। यह अनन्त दिङ्मण्डल देवाधिदेव प्रभुके अनन्त समुल्लाससे ही परिपूरित है; किंतु आश्चर्य, परम आश्चर्य और न केवल आश्चर्य अपितु वैचित्र्य है कि चारों ओर 'दुःख—घोर दुःख, कष्ट—परम कष्ट, व्यथा—अत्यन्त व्यथा—की पुकार सुनायी पड़ती है। यह दुर्भाग्य नहीं तो क्या है ? क्या पाँच या छः फुटका मानव इस सुखपूर्ण, विशाल एवं विस्तृत सृष्टि-मण्डलमें अणुमात्र सुख भी नहीं प्राप्त कर पाता है ? क्यों ? प्रभुने मनुष्यके स्वभावमें सुखकी चाह दी है और सुखी रहना उसका स्वाभाविक रूप है। क्यों, फिर मानव दुःखी है ?

वास्तवमें मानव सम्यक् प्रकारसे जीवन-पथपर चलना नहीं सीखता है और इसी कारणसे सुखसे ओतप्रोत सृष्टि उसे दुःखदायिनी प्रतीत होती है। सृष्टि तो हमारे प्रभुका सुखद विलासमात्र है। उस अनन्त ब्रह्माण्डनायक, ज्ञानिवास परमात्माका अंशस्वरूप आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है और सच्चे सुखका अनुभव तथा सृष्टिकी सुखमयताकी अनुभूति मानवको तभी प्राप्त होगी जब कि वह अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर उसीमें विचरण करेगा। अन्यथा त्रिगुणमयी मायाके कुचक्रमें फँसकर तथा अज्ञानतिमिरसे आवृत होकर वह सुखके स्थानपर दुःखका ही अनुभव करेगा। दुःख तो अज्ञानजन्य भ्रम है, अवास्तविक है और उसका निराकरण साध्य है।

जिस अनन्त सौन्दर्य-निधान श्रीधाम भगवान्‌के संस्पर्शके कारण जड सृष्टिकी वस्तुओंमें मनोरमता, आकर्षण एवं प्रियता है, उसे छोड़कर तथा भूलकर हम भौतिक वस्तुओंमें ही लिप्त हो जाते हैं और उन्हें भोग्य मान लेते हैं। उन भौतिक पदार्थोंको ही हम अपने सुखका आधार मान बैठते हैं; किंतु वे तो क्षणभङ्गुर एवं नश्वर हैं, अस्थायी हैं; अतः वे अक्षुण्ण एवं अबाध सुख पहुँचानेमें नितान्त अक्षम हैं, सर्वथा असमर्थ हैं। हम प्रायः समझते हैं कि केवल धन, पुत्र-कलत्रादि, यश, कीर्ति, सम्पत्ति प्राप्त होनेसे हम पूर्ण सुखी हो सकते हैं; किंतु यदि हम उन मनुष्योंको देखें जिन्हें यह सब प्राप्त हैं तथापि वे अत्यन्त दुखी हैं तो हमें ज्ञात होगा कि ये कितने निस्सार हैं। फिर हम धन, पुत्र, कलत्रादि, यश, कीर्ति, सम्पत्तिको अकस्मात् ही नष्ट होते भी प्रायः देखा करते हैं। इन्हें सुखका आधार मानते हैं पर इनके विनष्ट होते ही हमारा सुख भी नष्ट हो जाता है। इनसे अधिक गहन सुख बौद्धिक सुख है। इसी कारणसे अनेक वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार विद्वान् व्यक्ति बुद्धिरञ्जनको सांसारिक ऐश्वर्यकी अपेक्षा अधिक स्थायी एवं सारमय मानते हैं और वे भौतिक सुखोंका परित्याग कर, बौद्धिक वृत्तियोंमें ही कालयापन करते हैं। किंतु अनुभव सिखाता है कि उन्हें भी पराशान्ति प्राप्त नहीं होती है। उससे भी आगे बढ़कर आत्मरञ्जन है जो वास्तवमें परम शान्ति एवं आत्यन्तिक सुखका प्रदायक है। आत्माकी पिपासा है कि उसे आत्म-साक्षात्कारद्वारा परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो; उसकी सहज प्रवृत्ति है कि वह परमपदकी ओर अग्रसर हो। केवल भौतिक तथा बौद्धिक स्तरपर रहनेसे सब कुछ पाकर भी यथार्थतः आत्मसंतुष्टि नहीं होती है और आध्यात्मिक सुखकी अपेक्षा रह जाती है जिसके बिना जीवको सुख नहीं प्राप्त होता है। सेन्ट आगस्टाइनके समयसे ईसाइयोंमें एक उक्ति प्रचलित है कि 'प्रभुने मानवके हृदयको अपने लिये बनाया और मानव-हृदयको परमात्माको प्राप्त किये बिना सच्ची शान्ति नहीं मिलती।' प्रभुके समक्ष हृदयको उड़ेल दो, वही शरण है। सभी सभ्य एवं असभ्य जातियोंमें इस प्रभु-प्राप्तिकी पिपासाकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे चर्चा है। नान्यः पन्थाः। परम सुख, आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त करनेका अन्य कोई मार्ग नहीं है।

हमारे घरमें हीरोंका हार रक्खा हो; किंतु यदि हमें उसका ज्ञान नहीं है तो हम निर्धन हैं, भिक्षावृत्ति भी कर

सकते हैं। यदि हमें उसके मूल्यका उचित ज्ञान हो जाय तो फिर क्षणभरमें हम धनिक हो जाते हैं। आत्मतत्त्व भी वही हीरक हार है, जिसके मूल्यको न जाननेके कारण हम दुखी रहते हैं। **ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः**। इस मधुर तत्त्वके ज्ञात होनेपर संसारके भोग फीके हो जाते हैं। **भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः**। भोग्य पदार्थ नहीं भोगे जाते बल्कि धीरे-धीरे मानव ही भुक्त होकर भोगोंद्वारा क्षीणबल होनेसे नष्ट हो जाता है। भोगोंकी तृष्णा, इच्छा भी बूढ़ी नहीं होती, हम ही बूढ़े-जर्जर हो जाते हैं। हमारे लिप्त होनेसे ही भोग हमारे भक्षक बन जाते हैं।

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

अथवा—

जे विषया संतन तजे मूढ़ ताहि लिपटात।
ज्यों नर डारे वमन कर, स्वान स्वाद सों खात॥

सच पूछिये तो, वस्तुओंमें दोष नहीं है, हमारी वासना, भोग-भावना, तृष्णाका ही दोष है, संसारमें दोष नहीं है, सांसारिक बुद्धिमें मोहरूपी दोष है। आत्मबलको जाननेवाला व्यक्ति भोग्य-वस्तुओंका भोग करते हुए भी संसारमें लिप्त नहीं होता है। यही वैराग्यभाव है। आत्मबलके जाननेपर, परमात्मपदको प्राप्त होनेपर मनुष्य क्षणिक भोगोंसे ऊपर उठ जाता है। वह यश-अपयश, क्षणिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठकर परम सुख एवं आत्यन्तिक शान्तिमें प्रतिष्ठित हो जाता है। आनन्द-सिन्धुका अंश मानो आनन्द-सिन्धुमें विलीन हो जाता है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

जो सम्बन्ध जल-तरङ्गका जलसे है, घटाकाशका महाकाशसे है, प्रतिबिम्बका बिम्बसे है, मुकुट-कुण्डलका स्वर्णसे है, स्फुलिङ्गका अग्निसे है, वही सम्बन्ध हमारा परमात्मासे है। वह सबके हृदयमें है; किंतु जाननेसे ही (हीरेकी भाँति) सुखकी प्राप्ति होती है। प्रभुके साक्षात्कारसे ही सर्वाभावकी पूर्ति, पूर्णताकी अनुभूति होगी। प्रभुकी शरणागति ही इसका श्रेष्ठ उपाय है। शरणागतिका अर्थ होता है सच्चा रक्षक मानकर वरण करना। समस्त वेद-शास्त्रोंका सारभूत गीता है और गीताका रहस्य भक्तिपूर्ण शरणागति है। इन्द्रने जैसे **मामेव विजानीहि** का वरदान दिया, प्रभुने **मामेकं शरणं व्रज** कहा है। प्रभुका प्रण शरणागतकी रक्षा करना है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

—इत्यादि प्रभु ही त्वरासे तात्कालिक एवं आत्यन्तिक अभय तथा रक्षा प्रदान करनेमें समर्थ है। शरणागतिका अर्थ है अंशका अंशीसे सम्मिलन, सीकरका आनन्द-सिन्धुमें अवगाहन। जीव स्वयं आनन्दस्वरूप है; किंतु विश्वासे ही वह प्रकट होता है। उसमें भी प्रभुकी भाँति सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता, शासनशक्ति है।

प्रभुकी अनन्य भक्तिपूर्ण शरणागति जीवके लिये अद्भुत आनन्दका कारण होती है। रसिक भ्रमरकी रसिकता ही चरम सीमा आनेपर मीनकी (जलके प्रति) अनन्यता बन जाती है। अनन्यता गोपिकाओंकी भक्तिकी विशेषता थी। **'असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा'** प्रेमराज्यमें जीतकी होड़ नहीं होती, हारकी होड़ होती है। भक्तको सर्वत्र प्रियका दर्शन होता है और प्रियसे कोई शिकायत भी नहीं होती। श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर उनके मार्गको खोजती हुई गोपी एक सुविकसित पुष्पको देखकर कहती है—'सुन्दर पियके परस बिना अस फूल न होई।' वेदमें इसीको कहा है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** सचमुच ही वासना-कामनावाले हृदयमें शुद्ध निर्मल प्रेम-तत्त्व जाग्रत् नहीं होता है। **'न मलिनचेतसि बीजप्ररोहः'** पवित्र हृदय ही प्रेमके सारको पहचानता है।

प्रभु-भक्त कर्मके बन्धनमें नहीं पड़ता है। वह सत्कर्म और कुकर्म दोनोंसे ऊपर उठ जाता है। यदि कुकर्मका मान होना लोहेकी बेड़ी है तो सत्कर्मका अभिमान सोनेकी जंजीर है। भक्तको सत्कर्म (परोपकार, सेवा आदि) का अहंकार नहीं होता। सत्कर्म करना उसके लिये स्वाभाविक है, अतः उसे इसका अहंकार नहीं होता है। वह प्रभु-प्रेरणासे स्वभावतः सत्कर्म ही करता है; किंतु वह अपनेको निमित्तमात्र ही मानता है। कर्तृत्व—'मैं कर्ता हूँ' तो अहंकार है, एक बन्धन है। वह जानता है कि गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं और आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

वह निमित्तमात्र होकर प्रत्येक कर्म प्रभुप्रीत्यर्थ करता है और सब कर्म प्रभुको अर्पण करता है। उसका प्रत्येक कर्म प्रभुपूजा होता है। भगवद्भक्त प्रभुका स्मरण करते हुए इस प्रकार अनासक्त भावसे कर्म करनेसे 'कर्ता' नहीं होता है। **'मामनुस्मर युध्य च'** यह उसका आदर्श वाक्य है।

भगवद्भक्तका लक्षण है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

अर्थात् प्रभु-भक्त सब प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित एवं सबका निःस्वार्थ प्रेमी और हेतुरहित दयालु होता है। ममता (मोह-) से रहित, अहंकारसे भी रहित वह सांसारिक दुःख-सुखकी प्राप्तिमें समभावसे रहता है और क्षमाशील होता है। जो ध्यानयोगमें युक्त है, निरन्तर (लाभ-हानिमें समान) संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियों-सहित शरीरको वशमें रखता है और प्रभुमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह प्रभुमें अर्पित मन-बुद्धिवाला प्रभु-भक्त प्रभुको प्रिय है।

मैं सातवें आसमानपर हूँ

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

'वत्स! तुम अभीसे सातवें आसमानपर पहुँच गये और मैं तुम्हारा गुरु होता हुआ भी अभीतक पृथ्वीपर विचर रहा हूँ!'

'महाराज! मैं भी आपहीकी भाँति बहुत काल पृथ्वीपर विचरा हूँ। महात्माओंके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही मैं सातवें आसमान तक पहुँच पाया हूँ।'

'वह कौन-सा आनन्दमय मार्ग है, उसे बतलाओ। क्या मैं भी उसपर चल सकता हूँ? क्या मैं भी तुम्हारी भाँति पलक मारते-मारते पहले आसमानपर आ पहुँचूँगा? और फिर दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें—सबकी कहानी सुनाओ।'

सभीकी कहानी सुनाता हूँ। लो सुनो! मुझे एक महात्माने बतलाया कि अब समय ऐसा आ गया है कि हिंदू-जाति और हिंदू-धर्म दोनोंकी एक साथ तुम रक्षा नहीं कर सकते। यदि हिंदू-धर्मसे चिमटे रहे तो हिंदू-जाति नष्ट हो जायगी और जो हिंदू-जातिको मरनेसे बचाना चाहते हो तो हिंदू-धर्मको छोड़ना पड़ेगा और क्योंकि जाति धर्मसे बड़ी है, जाति रहेगी तो धर्मको फिर बुला लेंगे। अतएव तुम धर्मविहीन हिंदुत्वके उपासक बनो।' और मैं बना, जिसका फल यह हुआ कि मैं पहले आसमानपर आ पहुँचा।

इसके पश्चात् एक दूसरे महात्मा मिले। वे मेरी उन्नतिसे बहुत संतुष्ट थे। उन्होंने मुझे समझाया कि 'हमारे प्रिय देश भारतका हित और हिंदू-जातिका हित परस्पर-विरोधी हैं। यदि तुम हिंदुत्वके, भले ही वह धर्मविहीन हिंदुत्व हो, उपासक बने रहे तो देश चौपट हो जायगा। अतः तुम देश-प्रेमी बनो, जिसकी सबसे बड़ी कसौटी यह है कि तुम हिंदुत्वके विरोधी बन जाओ। जितनी तुम हिंदुओंको हानि पहुँचाओगे, समझो उतना ही नहीं, उससे कई गुना तुम देशको लाभ पहुँचा रहे हो।' इन महात्माके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही मैं दूसरे आसमानपर आ सका।

तीसरे महात्मा देशका बँटवारा चाहते थे। वे कहते थे कि 'जिस देशको अबतक तुमने प्रेम किया है, उसपर आरी चलना सहन करो। भूल जाओ कि कभी सक्खर बेला, चन्द्रनाथ, ननकाना साहब, पुरुषपुर और तक्षशिला तुम्हारे थे। भूल जाओ कि सिन्धु, झेलम और चनाब कभी ऋषिप्रवरा और आर्यप्रसूता थीं। बड़ा कठिन प्रश्न था। बड़ी कठिन परीक्षा थी। महात्मा कहते थे 'आधी छाँड़ि सारीको धावै, सारी मिले न आधी पावै' वाली उक्ति मत करो। भावुकता छोड़ यथार्थवादी बनो। बँटवारा स्वीकार करो' और मैंने हृदयपर पत्थर रखकर बँटवारा स्वीकार कर लिया। करोड़ों लोगोंको लुटते, पिटते, उजड़ते और मरते देखकर भी मैं अविचल बना रहा। माँ-बहिनोंके शीलभङ्गकी गाथाएँ भी मुझे विचलित नहीं कर सकीं। अपनी इसी योगसिद्धिके कारण मैं तीसरे आसमानपर चढ़ सका हूँ जो प्रत्येक मानवतनधारीके लिये शक्य नहीं है।

साधु—परंतु वत्स! उसे देशका बँटवारा न कहो। देशका संकोचन कहो। पाकिस्तान अवश्य ही एक मुस्लिम राष्ट्र है परंतु भारत हिंदू राष्ट्र नहीं। यहाँ तो हिंदू शब्दतक असहनीय है। हिंदूविश्वविद्यालय काशीके हिंदू शब्दपर भी आपत्ति है।

अब समझा। बँटवारा नहीं, सङ्कोचन। परंतु फल तो भावनाका ही मिलता है। मैंने तो बँटवारा समझकर ही स्वीकार किया था, इसलिये केवल बँटवारेका ही पुण्य हाथ लगा और मैं तीसरे आसमानतक ही आ सका। अस्तु।

अब चौथे आसमानपर चढ़नेकी सुनो। एक और महात्मा आये। उन्होंने अहंकारको सबसे बड़ा पाप बतलाया। वे बोले कि 'एक सभ्य राष्ट्रको—

यूनान, मिस्र, रोमो सब मिट गये जहाँसे ।
बाकी है अब तलक पर नामोनिशाँ हमारा ॥

—गा-गाकर अहम्मन्यताका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये, वल्कि चिल्लाकर-चिल्लाकर कहना चाहिये कि 'ऐ यूनान, मिस्र और रोमवालो ! तुम्हीं नहीं मिटे, हम भी मिट गये, नहीं मिटे तो मिट रहे हैं, मिट रहे हैं ।' महात्मा कहने लगे कि 'अहंकारशून्य बननेके लिये यह आवश्यक है कि तुमलोग अपने पास कोई भी ऐसी वस्तु मत रक्खो जिसे देखकर तुम्हें अपने ऊपर अहंकार उत्पन्न होता हो । हमने कहा, स्वामिन् ! हमारे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है । उन्होंने उत्तर दिया, नहीं है । तुम्हें अपनी रक्तशुद्धिका और उससे भी बढ़कर अपनी नारियोंपर बड़ा गर्व है । सो लगे हाथों तुम इनसे भी छुट्टी पा लो । हमने कहा, महात्मन् ! ऐसा ही होगा । हम अपने किसी भी आचरणद्वारा दूसरोंको अपनेसे नीचा सिद्ध करना नहीं चाहते । बेचारे यूरोप एवं अमरीकावाले अपने यहाँ फैले हुए दुराचार एवं तलाकसे बहुत दुखी हैं । उन्हें आत्मग्लानिसे बचानेके लिये हम स्वयं अपने यहाँ प्रत्येक आचार-विचारनाशक प्रथाको प्रश्रय देंगे । सज्जन ऐसे वस्त्र पहिनकर नहीं निकलते जो उनके साथियोंको प्राप्त न हों । अतएव हमें भी कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिये जिससे यूरोप और अमरीकावाले लज्जाका अनुभव करें । भारत-वासियोंका अहंभाव जाग्रत् न हो जाय, इसलिये भारतके पास भारतकी कोई वस्तु न रहने पाये । मन, छटाँक, रत्ती हटाकर किलो और ग्राम तथा कोस, योजन, बाँस, अंगुलके स्थानपर मीटर-लीटरका प्रचार होना चाहिये । देवनागरी अङ्क हटाकर रोमन अंकोंको और हो सके तो देवनागरी लिपि हटाकर रोमन लिपिको स्वीकार करना चाहिये ।

वत्स, तुम अवश्य ही इस मार्गपर चलकर चौथे आसमानपर पहुँच गये होगे । पर इससे और क्या लाभ हो सकता है ?

यह लाभ क्या थोड़ा है, चौथे आसमानपर पहुँच जाना । फिर भी तुम्हारे संतोषके लिये मैं बताये देता हूँ कि इससे हमारी भौतिक उन्नति होगी । यूरोप और अमरीकाके पद-चिह्नोंपर चलनेसे हमारे यहाँ खूब धन-दौलत बरसेगी और जब हमें किसी भी प्रकारके आर्थिक कष्ट नहीं होंगे तो फिर हम अध्यात्मकी ओर ध्यान दे लेंगे । अस्तु,

फिर एक और महात्मा आये । उन्होंने आर्थिक विकास, मुद्रास्फूर्ति, निर्यात प्रोत्साहनकी विशाल योजनाएँ सामने रक्खीं, जिनसे मैं घोर दारिद्र्यमें फँस गया । ऐसा आर्थिक संकट गुरुदेव, मेरे जीवनमें पहिले कभी नहीं आया था और मैंने यह सब शान्तिपूर्वक सहन कर लिया, तब मैं कहीं पाँचवें आसमानपर आ पहुँचा ।

वत्स ! अर्थ और भौतिकवादके पीछे तो तुमने अपने धर्म, जाति, देश और संस्कृतिको छोड़ा और वही अर्थ तुम्हें छोड़ना पड़ा ।

गुरुदेव ! मेरा त्याग तो देखिये । जिस अर्थके लिये मैंने सब कुछ छोड़ा, उस अर्थको छोड़नेमें भी मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ । भावी पीढ़ियोंकी बात थी । गुरुदेव ! ऐसा महात्मा बतलाते थे कि तुम जितने आर्थिक कष्ट शान्तिपूर्वक सहन करोगे, उतना ही भावी पीढ़ियाँ सुख-समृद्धिमें तिरी-तिरी फिरेंगी ।

परंतु वत्स ! कुछ वर्गोंकी तो वर्तमान पीढ़ियाँ भी सुख-समृद्धिमें तिरी-तिरी फिरती हैं । स्वराज्यप्राप्तिके पश्चात् उनका धन-वैभव १० गुणा, १०० गुणा, १००० गुणा और लाख गुणा तक बढ़ा है । भावी पीढ़ियोंके लिये वे क्यों कोई कष्ट नहीं उठाते । ठीक बात यह है, वत्स ! तुम कष्ट भोग रहे हो न केवल भावी पीढ़ियोंके लिये बल्कि कुछ वर्गोंकी वर्तमान पीढ़ियोंके लिये भी । फिर तुम-जैसे दरिद्रियोंकी भावी पीढ़ीके चने चबाने योग्य दाँत भी होंगे या नहीं, मुझे कुछ शंका है ।

सो तो मुझे भी है और प्रायः सभीको है, परंतु कुछ महात्माओंका यह कहना है कि बिना आँसू बहाये देशका विकास असम्भव है ।

वत्स ! उन महात्माओंने स्वयं विकासके लिये कितने आँसू बहाये । जिस आर्थिक व्यवस्थाको उन्होंने जन्म दिया है, उसमें उनके आँसू बहानेका अवसर कहाँ है ।

वे महात्मा परदुःखकातर हैं । हमें देख-देखकर अवश्य ही आँसू बहाते होंगे, भले ही उनके पास सुख और भोगके सभी साधन हों । यदि कुछ लोग परलोक और पुनर्जन्मके नामपर जनताको मूर्ख बनाते हैं तो इसी कारणसे परलोक और पुनर्जन्म मिथ्या नहीं ठहर जाते । जिन तत्त्वोंमें जनता-का स्वाभाविक आकर्षण होता है, उनके नामपर मूर्ख बनाने-की कला बहुत प्राचीन है । धर्म, ईश्वर, देवी, देवता, देश, राष्ट्र—इन सभीके नामपर जनताको मूर्ख बनाया जाता है । इन सबका आकर्षण कुछ कम होने लगा है । अतः विकास, भावी पीढ़ी, समाजवाद, विश्वशान्ति—ये नये उपकरण ढूँढ़ निकाले गये हैं । जनताको मूर्ख बनानेवाली यह कला हमारे देशमें पतनको प्राप्त न हो ।

साधु—अच्छा वत्स ! तुम छठे आसमानपर कैसे पहुँचे ?

गुरुदेव ! विश्वशान्तिका मन्त्र जपनेसे । जब चीनने हमारे देशपर आक्रमण किया तो हम नहीं लड़े । महावीर और गौतमके देशमें क्या खड्ग उठाना शोभा देता है । बड़ी शान्तिपूर्वक पञ्चशीलका मन्त्र जपते-जपते हमने अपनी हजारों एकड़ भूमि चीनसे दब जाने दी और अब उसे वापिस लेनेकी भी हमें कोई इच्छा नहीं । हमारा पड़ोसी चीन प्रसन्न रहे, इसीमें हमारी प्रसन्नता है ।

वत्स ! जो महावीर और गौतम भरे यौवनमें अपना राजपाट छोड़कर वनोंमें निकल गये, उन्हींके देशमें कुर्सियोंके लिये सिर-फुटव्वल शोभा देती है क्या ? तुम जब महावीर और गौतमको समझना नहीं चाहते तो उनका नाम मत लो । जब आक्रान्तासे लड़ना नहीं तो फिर सेनाके व्ययभारसे देशकी कमर क्यों तोड़े जा रहे हो ?

अच्छा, अब महावीर और गौतमका नाम नहीं लूँगा । छठे आसमानपर जब आ गया हूँ तो किसीका जी क्यों दुखाऊँ । जब चीनका ही जी नहीं दुखाना तो गुरुदेवका कैसे दुखा सकता हूँ । रही सेना तोड़नेकी बात । सो उससे आर्थिक चक्र टूट जायगा । बहुत लोग सैनिक, अफसर, क्लर्क, ठेकेदार, कारखाने इत्यादि बेकार हो जायँगे और आजके युगमें बेकार होकर घोर कष्ट उठायेंगे; इसलिये हम सेना नहीं तोड़ते । सेना लड़ती है तो हिंसा, तोड़ दी जाती है तो हिंसा, इसलिये सर्वोत्तम मार्ग यही है कि सैनिक व्यय तो खूब बढ़ा लिया जाय, परंतु लड़ा न जाय ।

अच्छा, वत्स ! तुम सातवें आसमानपर कैसे पहुँचे ?

जिस समय चीनने हमारी भूमि दबा ली तो कुछ मूर्खोंने इसे हमारी अहिंसाकी विजय न समझकर हमारी निर्बलता समझी; क्योंकि चीन एक सबल राष्ट्र समझा जाता है । अतएव सातवें आसमानपर पहुँचनेके लिये यह आवश्यक था कि कोई निर्बल राष्ट्र हमारी भूमि दबा ले और हम फिर भी अहिंसक और शान्त बने रहें, जिससे सच्चे अर्थोंमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो । वह सुवर्ण अवसर भी शीघ्र ही हाथ लगा और पाकिस्तानने हमारी भूमि दबा ली । हम शान्त रहे और पलक मारते ही सातवें आसमानपर पहुँच गये ।

अब, वत्स ! कहाँ पहुँचोगे ?

सातवें असमानके ऊपर तो कोई आसमान नहीं है । अब कहाँ पहुँचूँगा । और जीवन कभी स्थिर नहीं रहता । मुझे भय है कि कहीं मैं गिरने न लगूँ । गुरुदेव ! ऐसा कोई उपाय बताओ जो मैं स्थिर रह सकूँ ।

एक परमात्माको छोड़कर सब गतिशील हैं । स्थिरता चाहते हो तो परमात्माको प्राप्त करो ।

परमात्मा कैसे प्राप्त होगा ?

वैराग्यसे ।

तो क्या मेरा राग अब भी नष्ट नहीं हुआ । धर्म, जाति, देश, संस्कृति, राष्ट्रीय-गौरव, धन-सम्पत्ति, विजय, सुयश सभीके प्रति तो मेरा राग नष्ट हो गया है । बताओ मुझे राग है कहाँ ?

राग कभी नष्ट नहीं होता । पुत्र ! ढूँढो, तुम्हें अपना राग हृदयके एक कोनेमें छिपा हुआ मिलेगा । चारों ओरसे सिमटकर तुम्हारा राग कुर्सियोंके पीछे जा चिपका है । कुर्सियोंके रागको छोड़ोगे तो कुछ अपना और देशका कल्याण करोगे । नहीं तो, सातवें आसमानपर पहुँचकर भी इसी प्रकार भटकते रहोगे ।

कुर्सियोंका राग कैसे छूटे ?

परमात्मासे राग उत्पन्न करके । इसीको वैराग्य कहते हैं । 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।' ब्रह्मका अस्तित्व ज्यों-ज्यों समझमें आने लगता है, त्यों-त्यों संसार स्वयं मिथ्या भासने लगता है । उसके लिये माथा-पची नहीं करनी पड़ती। संसारका मिथ्यात्व समझमें आनेसे ब्रह्मका अस्तित्व आवश्यक नहीं, समझमें आ जाय । दबा हुआ राग उभड़कर किसी औरका अस्तित्व समझाने लगता है या मनुष्य नैराश्यके सागरमें डूब जाता है ।

कामिनी-काञ्चनका त्याग सुन्दर है, परंतु तभी, जब हम उन सब कामनाओंको त्याग दें जो कामिनी-काञ्चनके बिना पूरी नहीं हो सकतीं । शान्ति और सहनशीलता और महाव्रती अहिंसा तभी कल्याणकारी हैं, जब हम उन कामनाओंको त्याग दें जो युद्ध और हिंसाके बिना पूरी नहीं हो सकतीं । जिसे तलवार न उठानी हो, उसे राज्यकी कामना त्याग देनी चाहिये । वह देशपर शासन न करे । महावीर और गौतमने अहिंसा महाव्रतके व्रतियोंको राज्य-शासन करना नहीं बतलाया ।

* * *

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भाईका आदर्श

गंगाधरजीके दो लड़के थे–जगन्नाथ और बिलासीराम। उनकी पहली पत्नीके जगन्नाथ थे और उसका देहान्त हो जानेपर जो दूसरा ब्याह किया था, उसके बिलासीराम थे। बिलासीरामकी माँका भी कुछ दिनों बाद ही देहान्त हो गया। फिर गंगाधरजीने विवाह नहीं किया। लड़के दोनों विवाहित थे और उनके संतान भी थीं। जगन्नाथ और बिलासीराममें परस्पर बहुत ही सद्भाव था। आश्चर्यकी बात तो यह कि दोनोंकी पत्नियोंमें आपसमें बड़ा प्रेम था। बिलासीरामकी पत्नी तो अपनी जेठानीका माँसे बढ़कर आदर करती थी। इतना होनेपर भी गंगाधरजीने यह सोचकर कि 'दोनों लड़के दो माताओंके हैं, आगे चलकर लड़ें नहीं' इसलिये इनका बँटवारा कर देना चाहा। पर जगन्नाथ, बिलासीराम और दोनोंकी पत्नियाँ गोदावरी बाई तथा मोहरी बाई अलग होना नहीं चाहते थे। आखिर पिताके बहुत कहने-सुननेपर दूकानका कारोबार तो साथ बराबरके हिस्सेमें रक्खा, पर जगह-जमीन, गहना, नगद रुपये आदिका बँटवारा बड़े प्रेमसे कर लिया गया। दोनोंने ही अलग-अलग मकानोंमें रहना स्वीकार नहीं किया, तब गंगाधरजीने यह निश्चय कर दिया कि 'रहें तो एक ही मकानमें, पर रसोई अलग-अलग।' घरका तथा बच्चोंके विवाह-शादीका खर्च अपना-अपना अलग-अलग लगे। दोनों भाइयोंने पिताकी आज्ञा समझकर स्वीकार कर लिया। इससे सबसे अधिक दुःख हुआ बिलासीरामकी पत्नी मोहरी बाईको। कुछ समय बाद गंगाधरजी भी चल बसे।

अब दोनों भाई अलग-अलग खर्च लगाते हुए बड़े प्रेमसे रहने तथा बराबरकी हिस्सेदारीमें कारोबार करने लगे। इनका आसाममें व्यापार था। आमदनी भी उस जमानेके अनुसार अच्छी थी। दूकानका काम अधिकांशमें बिलासीराम ही सँभालते थे। वे अपने भाईका बड़ा आदर करते और उन्हें परिश्रमका काम नहीं करने देते। घरमें भी अलग-अलग रसोई होनेपर भी मोहरी अपनी जेठानीकी पाँचों लड़कियों तथा तीनों लड़कोंको अपने एकमात्र पुत्रसे भी बढ़कर स्नेह करती तथा उनकी सार-सँभाल रखती।

जगन्नाथका बड़ा परिवार होनेसे घर-खर्च भी अधिक लगा और एक लड़कीके ब्याहमें दस हजार और दूसरीके विवाहमें चौदह हजार–इस प्रकार चौबीस हजार दो विवाहोंमें नाम लिखे गये। उधर खर्च सीमित होनेसे बिलासीरामकी पूँजी बढ़ती गयी। एक साल व्यापारमें इतनी मन्दी आयी कि कारोबारमें कुछ आमदनी तो हुई ही नहीं, बल्कि चावल खरीदकर रक्खे थे, बाजार मन्दा होनेसे उनमें पर्याप्त घाटा लग गया। परिणामस्वरूप घाटे तथा खर्चकी रकमें मिलाकर जगन्नाथकी जमाकी सारी पूँजी ही नहीं पूरी हो गयी, वरं बारह हजार रुपये उनके नाम पड़ने लगे और बिलासीरामके लगभग सवा लाख रुपये जमा हो गये।

इस बातका पता लगनेपर मोहरी बाई बहुत दुखी रहने लगी। वह बार-बार अपने स्वामी बिलासीरामके सामने अपना दुःख प्रकट करके कहती कि 'हम दोनों घर फिरसे एक हो जायँ। सारी पूँजी दोनोंकी बराबर रहे, रसोई एक साथ हो और घरका खर्च, बच्चोंकी पढ़ाई, विवाह आदिका खर्च भी सब बराबरके हिस्सेमें ही लगे। उनके बच्चे आपके ही तो बच्चे हैं। आप धनी हो जायँ और आपके बड़े भाई तथा उनके बच्चे गरीब हो जायँ, यह तो सर्वथा अनुचित है तथा बड़े ही दुःखकी बात है।' बिलासीराम तो इस मतके थे ही–पत्नीकी इन बातोंसे उन्हें बहुत सुख-सान्त्वना मिलती और पुनः एक साथ हो जानेका संकल्प दृढ़ होता जाता।

इधर रुपये नाम पड़ने तथा घरके खर्च एवं लड़कियोंके विवाहकी चिन्तासे जगन्नाथ उदास रहने लगे और आखिर उनको हल्का-सा ज्वर रहने लगा। अब तो बिलासीराम और उनकी पत्नीकी चिन्ता बहुत ही बढ़ गयी। पत्नीने बार-बार कहा और बिलासीरामसे भी नहीं रहा गया। वे अपना बहुत दिनोंका संकल्प पूरा करनेपर तुल गये और एक दिन वकीलके यहाँ जाकर सब दस्तावेज बना लाये और तदनुसार ही बही-खातोंमें भी जमा-खर्च कर लिया। तदनन्तर बिलासीराम आकर भाई जगन्नाथके पास बैठ गये। उनकी पत्नी मोहरी बाई भी अपनी जेठानी गोदावरीके समीप जा बैठी। बिलासीरामने बड़े भाई जगन्नाथके पैर पकड़ लिये और वे रोने लगे। उनकी आँखोंसे आँसू बहते देखकर जगन्नाथको बड़ा खेद हुआ और उन्होंने बड़े स्नेहसे इसका कारण पूछा।

विलासीरामने रोते हुए बड़े ही विनीत शब्दोंमें कहा—'भाईजी ! आप बड़े हैं, मुझपर आपका अत्यन्त स्नेह है, इसीसे मैं आपके सामने बोलनेका साहस करता हूँ। मेरी धृष्टता क्षमा करें और मुझे कृपापूर्वक वचन दें कि आप मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर लेंगे।' जगन्नाथ स्नेह-गद्गद थे। उन्होंने कह दिया 'भैया ! तुम रोओ मत। जो कुछ कहोगे-मुझे स्वीकार है।'—विलासीरामने उत्फुल्ल हृदयसे दस्तावेज सामने रखकर हस्ताक्षर करनेकी प्रार्थना की। जगन्नाथने बिना ही कुछ पूछे उसपर हस्ताक्षर कर दिये। अब तो विलासीरामके आनन्दका ठिकाना न रहा। वे बोले-'भाईजी ! आपने बिना ही जाने-पूछे मेरी प्रार्थनापर अपने हस्ताक्षर करके मुझपर जो अपार विश्वास तथा कृपा की है, इसकी कहीं तुलना नहीं है। भाईजी ! बात यह है पूज्य पिताजी बँटवारा कर गये थे। आपको याद होगा। उस समय भी हमलोग इसके विरुद्ध थे। पिताजीके चले जानेके बाद तो मुझे इससे बड़ी बेचैनी रहने लगी। आपकी बहू तो मुझसे भी ज्यादा दुखी रही और मुझे बार-बार कहती रही। मेरा आपसे पूछनेका साहस नहीं होता। आप चिन्तासे बीमार हो गये—तब तो हम दोनोंकी चिन्ता और भी बढ़ गयी। मुझसे रहा नहीं गया। तब आपसे पूछे बिना ही मैंने ये दस्तावेज बनवा लिये। आपसे पूछता और आप अस्वीकार कर जाते तो, फिर तो मेरा मरण ही हो जाता। भाईजी ! इनमें यही लिखवाया गया है कि हम दोनों भाई अलग-अलग न रहकर पुनः पूर्ववत् एक साथ हो गये हैं। आपके नाम बारह हजार रुपये पड़ते थे, मेरे नामसे एक लाख पचीस हजार जमा थे। अतः उनमेंसे बारह हजार बाद देकर हमारी पूँजी एक लाख तेरह हजार दोनोंकी सीरमें रह गयी है। रसोई आजसे एक साथ ही होगी। आपकी बहूने उसकी सारी व्यवस्था कर ली है। रसोईका तथा और सब खर्च एक साथ ही घरमें लगेगा। लड़कियों तथा लड़कोंकी विवाह-शादीका खर्च भी सब घरमें ही लिखा जायगा। आपने दस्तावेजपर मुझपर कृपा करके हस्ताक्षर तो कर ही दिये हैं ! मैं प्रणाम कर रहा हूँ। आप मेरी पीठ ठोंककर और मेरे सिरपर हाथ फेरकर अपनी स्वीकृति दे दीजिये।' यों कहकर वे भाई जगन्नाथके चरणोंपर गिर आँसू बहाने लगे। जगन्नाथ क्या बोलते, वे तो कुछ सोच ही नहीं सके। पीठ ठोंककर सिरपर हाथ फेरकर उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। दोनोंके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली। उधर जेठानीके पैर पकड़कर मोहरी बाई रोने लगी। जेठानीने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया।

उसी समयसे जगन्नाथका ज्वर जाता रहा। घरमें आनन्द छा गया। अब भी उनका सब कामकाज खर्च वैसे ही एक साथ है, जगन्नाथके आठों बच्चोंके तथा विलासीरामके एक लड़केका विवाह हो चुका है। भरा-पूरा घर है। लड़के बड़े हो गये हैं; पर आपसमें बड़ा स्नेह है। अब अलग-अलग नहीं, दोनों भाइयोंके ही नौ लड़के-लड़कियाँ हैं।

—ताराचन्द अग्रवाल

(२)

बीमारी आशीर्वादरूप हो गयी

मैं डाक्टरके साथ बातें कर रहा था। विषय था 'बीमारी और बीमारीसे होनेवाला लाभ'—शारीरिक लाभ नहीं; किंतु मानसिक, आत्मिक या नैतिक।

इसी बीच सीढ़ियोंपर धम-धमकी आवाज हुई और एक अधेड़ उम्रका ग्रामीण 'राम-राम' कहता हुआ सामने आ खड़ा हुआ। मैंने उसकी ओर देखा—लगभग पचास वर्षकी उम्र, सुगठित और सशक्त शरीर, चेहरेपर कहीं एक भी झुर्री नहीं।

डाक्टरने उसके गाँव और घरबारके कुशल-समाचार पूछे। तदनन्तर उसके चले जानेपर डाक्टरने तुरंत ही मुझसे कहा—'संयोग भी एक चीज है, बीमारीसे होनेवाले लाभके प्रसङ्गमें मैं इसी आदमीकी बात आपको सुनाना चाहता था।'

मैंने डाक्टरके सामने देखा—उन्होंने बात आगे चलायी—'यह भाई गाँवका है। नाम है देवा। पाँच-छः वर्ष पहले मैं भी वहाँ था। यह देवा किसान है, अच्छी-खासी जमीन है। पर उस समय शराब तथा जुएके बिना घड़ीभर भी इससे नहीं रहा जाता। आसपासके सभी इससे डरते। इसकी इज्जत एक भयंकर गुंडे-जैसी थी। यह स्वयं तो खूब शराब पीता ही और सदा जुआ भी खेलता रहता, पर इसने तो भोले-भाले बहुत-से किसानोंको शराबी और जुआरी बना दिया था। पुलिस इसका नाम भी नहीं लेती।

एक बार शराब पीकर इसने भरे बाजारमें शरारत की। मैंने इसको समझाया—जरा उलाहना दिया तो यह मुझसे ही झगड़ पड़ा। मेरा शत्रु ही बन गया।

दूसरे ही महीने एक विशेष घटना हुई। देवुका लड़का बीमार पड़ा। एकमात्र लड़का था। सप्ताह भर तो देवुने कोई दवा ही नहीं करवायी। बीमारी बढ़ती गयी। टायफाइड था, उसमें न्यूमोनिया भी हो गया था। अन्तमें यह मेरे पास आया। मैं तुरंत ही दौड़ा गया। देखा तो लड़का बीमारीमें पूरा फँसा था, भयानक स्थिति थी। बड़ी देरतक लड़केकी देखभाल करनेके बाद सामने खड़े देवुपर मेरी नजर गयी। यह डबडबाई आँखों खड़ा था। मुझे लगा—'यह अवसर है। कदाचित् लाड़चावसे पाले हुए एकमात्र पुत्रका भयानक रोग पिताके मनकी कालिमाको भी साफ कर दे।'

तुरंत ही मैंने एक आदमीको दौड़ाया। जरूरी दवाएँ मँगवायीं। इलाज शुरू हो गया—आखिरीसे आखिरी। दूसरा दिन आया और बीत गया। सबने आशा छोड़ दी थी। गाँवोंमें जैसा हुआ करता है, चौबीसों घंटे सगे-सम्बन्धियोंका आना-जाना लगा था। उन लोगोंकी फुसफुसाहटसे मुझे पता लगा कि लड़केके पिताने लगभग चार दिनोंसे न तो कुछ खाया है, न शराब ही पी है।

दूसरी रात लड़का ऊँघसे जगा। दूसरी ओर बैठे देवुने आज पहली ही बार मेरी आँखसे आँख मिलायी। सदा-सर्वदा आग बरसानेवाले उन निर्दय नेत्रोंमें आज कितनी वेदना थी। उसके हृदयकी अकुलाहट उसके नेत्रोंमें उतर आयी थी। मैंने उसको आश्वासन दिया।

दूसरे दिनसे ही मुझे सफलताके चिह्न दीखने लगे। चौथे दिनसे तो लड़केकी दशा सुधरने लगी और सतत प्रयत्नके दसवें दिन लड़केको पूरा आराम हो गया।

तदनन्तर एक रात्रिको देवा मेरे घर आया। फीस और दवा-इंजेक्शनोंके दाम देने ही तो। मैंने कहा—'देवु! पैसे तो मिलते ही रहते हैं, तुम मुझे कुछ देना ही चाहते हो तो अबसे शराब और जुआ छोड़ दो और इस बरबादीसे दूसरोंको भी बचानेके प्रयत्नमें अपनेको लगा दो। ऐसा समझो कि लड़केकी बीमारीके समय तुम इस बुराईसे दूर थे, तुम्हारा मन पवित्र था। इसीसे भगवान्ने तुमपर कृपा की और बच्चा बच सका। बेटेके जीवनके बदलेमें इन बुराइयोंका त्याग कर दो।'

देवुकी आँखें भीग गयीं। उसने मेरे पैर पकड़ लिये—'साहेब! ये तो अब छोड़ ही दिये हैं। पर इतना तो आपको लेना ही पड़ेगा।'

आखिर मुझे पैसे लेने ही पड़े।

यह जो अभी गया है, यही वह देवा है। एक समय था भयंकर गुंडा। लोग इसके नामसे थरथर काँपते। आज लोग इसी देवुकी जबानपर मर-मिटनेको तैयार हैं। इस घटनाको पाँच वर्ष होने आये हैं। गाँवके शराब और जुएके दर्जनों अड्डोंमेंसे आज एक भी नहीं रह पाया है। यह सफलता देवुकी आभारी है—सचमुच इसका श्रेय तो है इसके लड़केकी भयानक बीमारीको ही। पता नहीं ईश्वर कब कैसे कृपा करते हैं। 'अखण्ड आनन्द'

—हेमराज एम्० काचा

(३)

प्राणार्पणका प्रण

'जब एक बार गुरु महाराजके हजूरमें (आदिगुरु ग्रन्थ साहबकी सेवामें) खड़े होकर, उन्हें साक्षी बनाकर कोई प्रण कर लिया, कोई शपथ ग्रहण कर ली, उन्होंने (पतिने) क्या और मैंने क्या—बात एक ही है—तो फिर हमारा कर्तव्य हो जाता है कि रहते दमतक पूरी ईमानदारीके साथ सच्चे दिलके साथ उसे पूरा करनेकी, सिर चढ़ानेकी पूरी-पूरी कोशिश करें। इस कोशिशमें यदि प्राण चले जाते हैं तो अपना अहोभाग्य समझकर, प्रसन्न-वदन जाने दें; एक शब्द भी मुँहसे कायरताका निकलने न पाये। हृदयमें भय, क्रोध, निराशा और पश्चात्तापका आभास मात्र भी न आने पाये।

कोई बात नहीं, यदि वे (पति) पीछे हट गये हैं—मैं जो तैयार बर तैयार हूँ। उनकी जगह सर्वस्व न्योछावर करनेको मैदानमें निकल आयी हूँ—कर्तव्य-क्षेत्रमें उतर आयी हूँ। आखिर उनका वाम अङ्ग ही तो हूँ और प्राण भी तो बायीं ओर ही होते हैं। हृदय-स्पन्दन वामभागमें ही होता है।

प्रायः इसी तरहके अनेक साहसिक मार्मिक धार्मिक

और सब तरहसे प्रशंसात्मक शब्द कहे थे—एक भेंटमें क्रान्तिकारियोंकी एक संदेशवाहिका स्वर्गीया कुसुम कुमारीसे बीबी गुलाब कौरने, जो एक अनपढ़ और सीधी-सादी पर भावनासे भरपूर देहाती नवयुवती थी। अमेरिका जानेके लिये अपने पति मानसिंहके साथ मनीला (फिलीपाइन)में सुखपूर्वक रहती हुई आज सर्वस्व त्यागकर भारतमें सशस्त्र क्रान्तिके लिये क्रियाशीला थी।

बात आजसे पचास वर्ष पहलेकी है, पर विस्तृत विवरण अपने पास न होनेके कारण और जो था वह भी विस्मृतिकी गहरी धूलसे धूसरित हुए रहनेके कारण प्रकाशित आज की जा रही है। आजका आधार है 'देशभक्त यादां' का एक पुराना अङ्क, जिसके लेखक हैं सरदार गुरबचनसिंह सहिंसरा और देशभक्त यादगारकमेटी (जलन्धर) द्वारा प्रकाशित बृहद् पंजाबी ग्रन्थ—'गदर पार्टीदा इतिहास।'

विवरण तो बीबी गुलाबका बहुत लंबा है, उसकी अमर कहानी बहुत विस्तृत है, पर यहाँ एक छोटेसे आभास-रूपमें ही दी जाती है।

पहला विश्वयुद्ध आरम्भ हो चुका था और समयसे लाभ उठानेके लिये दलोंके दल देशभक्त भारतीय अपने तमाम सुख-आराम और भोग-विलास छोड़कर, लह-लह करते खेत, चलते हुए कारोबार और सजे-सजाये बंगले त्यागकर, धन-दौलत लुटाकर सशस्त्र क्रान्तिद्वारा भारतको स्वाधीन और सुखी बनानेके लिये अमेरिका आदि देशोंसे भारतमें आ रहे थे।

अनेक जहाजोंमेंसे 'कोरिया' नामका एक जहाज युगान्तर आश्रम (अमेरिका)के अनेक क्रान्तिकारियोंको लेकर मनीला (फिलीपाइन) पहुँचा।

मनीलामें पहलेसे ही क्रान्तिकारियोंका एक संगठन मौजूद था जो जल्दी-से-जल्दी भारतमें जाकर क्रान्ति करानेको उत्सुक था।

वैसे तो मनीलाके गुरद्वारामें रोज ही दीवान लगता (सभा होती) और जोरदार भाषणों और कविताओंसे जनतामें जोश भरा जाता, भारतकी आजादीके लिये सर्वस्व बलिदान कर देनेको कहा जाता, पर आज कोरिया जहाजके यात्रियोंके आनेपर रंग और भी गहरा हो गया। उत्साह-सागरमें तरङ्गें उठने लगीं।

दीवानकी समाप्तिपर समय आया, घोषणा हुई—'नाम लिखवायें जो चलनेके लिये तैयार हैं।' बीसों लोगोंने उठ-उठकर बड़े उत्साहसे अपने-अपने नाम लिखवाये। मानसिंह नामके एक सज्जनने भी अपना नाम लिखवा दिया।

अगले दिन जब चलनेका समय आया तब मानसिंह विचलित हो गये। उन्होंने जानेसे इन्कार कर दिया। यह देखकर उनकी पत्नी गुलाब कौरको बड़ा आश्चर्य और दुःख हुआ। अलग ले जाकर उसने बहुत समझाया पर वे नहीं माने और अपने बदले हुए विचारपर अड़े रहे।

यह देखकर उनकी भार्याने दीवानमें गर्जते हुए कहा—'भाइयो ! आजादीके दीवानो !! मुझे दुःख है कि मेरे पतिदेव स्वतन्त्रताके संग्राममें लड़नेको तैयार नहीं हैं। वे आपलोगोंके साथ नहीं जायँगे। फिक्र नहीं, मैं जानेको तैयार हूँ। एकदम जानेको तैयार हूँ और अभी तैयार हूँ।'

दीवानमें प्रेम, करुणा और उत्साहका समुद्र उमड़ आया। कापुरुषोंमें भी उत्साह और वीरताका तूफ़ान उठ खड़ा हुआ और वे भी आगे बढ़-बढ़कर भुजाएँ उठाने, नारे लगाने और नाम लिखाने लग गये।

भर्तीका बाजार एकदम गरम हो गया और नेताओंका उत्साह चौगुना बढ़ गया। देखते-ही-देखते बीबी गुलाब कौर आज़ादीकी बलिवेदीपर चढ़नेके लिये तैयार हो गयी और साथियोंके साथ चल पड़ी।

जहाजमें और जहाज जहाँ लगता बीबी गुलाब कौर रणचण्डीकी तरह गर्जने लगती। लोगोंमें राष्ट्रीय भावना भरने लगती और देशके लिये मर-मिटनेको उत्साहित करने लगती। भाषण देती और 'गदर' अखबारकी कविताएँ गा-गाकर सुनाती।

उसका सुन्दर कण्ठ, पवित्र हृदय और रूप-यौवन खूब साथ देता। वह साक्षात् दुर्गा-सी लगती, झाँसीकी रानी प्रतीत होती, गढ़मंडलेकी रानी दुर्गावती दिखायी देती।

पापी, पतित और बुज़दिलकी हिम्मत न पड़ती उसकी ओर आँख उठाकर देखनेकी भी। वह धरतीमें धँसता जाता या पवित्र और राष्ट्रीय भावनामें ओतप्रोत होकर आसमानमें उड़ने लगता तथा परवाना बनकर आज़ादीकी शमाँपर मँडराने लगता।

आखिर २९ अक्टूबर १९१४ को बीबी गुलाब कौरवाला

जहाज कलकत्तामें आकर लगा। यह हांगकांगमें बदला हुआ 'तोशामारू' जहाज था। इसमें कोई पौने दो सौके करीब क्रान्तिकारी थे, जो सभी राष्ट्रीय भावनामें ओतप्रोत और सिरपर कफन बाँधे हुए थे। इनमें बीबी गुलाब कौरके अतिरिक्त सरदार जीवनसिंह गाँव दौलेवाला भी एक महान् योद्धा थे।

बीबी गुलाब कौरका जन्म-स्थान पंजाबके जिला संगरूरके गाँव बख्शीवालामें था और ब्याही हुई थी वह समीपके ही एक गाँव जखेपालमें। जीवनसिंहका गाँव दौलेवाला इन दोनोंकी सीमापर था।

पुलिसने कलकत्तासे सबको गाड़ीमें बैठाकर रायविंड भेज दिया और वहाँ पुलिसने एक सौ विद्रोहियोंको अपने घेरेमें लेकर शेष ७३ को लुधियाना भेज दिया। सी० आई० डी० के पास पूछताछके लिये इन ७३ में सरदार जीवनसिंह भी थे और बीबी गुलाब कौर भी। वहाँसे ये दोनों मुक्त हो गये और अपनी-अपनी ड्यूटीपर चले गये।

जीवनसिंह तो निकट भविष्यमें ही शहर फेरूवालाके केसमें या दूसरे लाहौर-साजिश केसमें शहीद हो गये और गुलाब कौर योजना असफल होनेपर भी अपनी धुनमें लगी रही। जरा भी न घबरायी। तनिक हतोत्साहित या निराश नहीं हुई। गाँव-गाँवमें फिर-फिर स्वाधीनताकी ज्वाला जगाती रही।

पहले वह पार्टीके केन्द्र-स्थान अमृतसरमें रही। फिर केन्द्रस्थान लाहौरमें बदला तो वहाँ चली गयी। वहाँ मूलचन्दकी सरायमें एक कोठरी लेकर रहने लगी। पार्टीके कामपर जानेवाला प्रत्येक व्यक्ति पहले बीबी गुलाब कौरके पास आता और वहाँसे प्रत्येक प्रकारकी जानकारी प्राप्त करके लक्ष्य स्थानको जाता।

जब लाहौरसे भी कार्यालय उठ गया, हुकूमतकी सख्तीसे ठप हो गया तो यह कोटला नौधसिंहमें सरदार अमरसिंहके यहाँ चली गयी। दिनभर गाँवोंमें प्रचार करती और रातको वहाँ आकर सो जाती। किसी देश-द्रोहीद्वारा पुलिसको भी पता चल गया। पुलिसने दोनोंको गिरफ्तार कर लिया। अमरसिंहको दो सालकी कैदकी सजा हुई बीबी गुलाब कौरको शरण देनेके अपराधमें और बीबी गुलाब कौरको बंगालके काले कानूनके अन्तर्गत नजरबंद कर दिया गया। पाँच वर्षतक वह नजर-बंद रही। फिर १९२१ में छूटी। पुलिस १९३१ उसके जीवित रहनेतक उसपर कड़ी नजर रखती रही और उसकी मामूलीसे मामूली गतिविधिका भी बड़ी गम्भीरतासे अध्ययन करती रही। वह पंजाबकी सच्ची वीराङ्गना थी। आदर्श देश-प्रेमिका थी और शहीदोंकी शिरोमणि थी।

आज देश ऐसी आत्माओंके ही प्रतापसे स्वाधीन है।

—गुराँदित्ता खन्ना

(४)

आदर्श ईमानदारी और हृदयकी विशालता

घटना लगभग चार वर्ष पुरानी है। त्यौहारका दिन था। हमारे घर दादीजी (हम उन्हें ऐसा पुकारते हैं) अपनी बहुओंके साथ आयी थीं। मेहमानोंका चाय-नाश्तेसे स्वागत हो रहा था। इतनेमें ही तमाम हँसी उदासीमें बदल गयी। सबको यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि (दादीजीकी) बड़ी बहूका सोनेका कीमती हार नहीं मिल रहा है। उनके ख्यालसे वह हमारे घर आनेके पहले था और गिरा भी होगा तो यहीं हमारे घरके आस-पास ही कहीं! मैं स्कूल गया था। माताजीका चेहरा फक्क पड़ गया। सभीने हार ढूँढ़नेकी यथासाध्य पूरी कोशिश की पर सब व्यर्थ!

उनके घरपर खबर पहुँची और उनके घरवालोंने तत्काल पुलिसमें इत्तिला कर दी और दूसरे ही दिन हमारे शहरके समाचार-पत्रोंमें भी विज्ञापन दे दिया गया। इससे हार खोनेकी बात सबको मालूम हो गयी। तीसरे दिनकी घटना है। उनके घरपर सब उदास थे। किसीका भी काममें जी नहीं लग रहा था। इतनेमें एक सज्जन उनके घर पहुँचे और उन्होंने उनका सोनेका कीमती हार देकर कहा कि विज्ञापन पढ़कर मैं आपको यह हार देने आ गया। पता और परिचय बतानेसे उन्होंने साफ इन्कार किया। केवल इतना ही कहा कि यह हार उन्हें स्टेशनके पास सड़कपर पड़ा मिला था। फिर समाचार-पत्रसे आपके नामका पता लग गया। परायी वस्तु रखनेका मेरा कोई भी अधिकार नहीं, इसलिये मैं यह आपको लौटा रहा हूँ। इसमें महत्त्वकी कौनसी बात है। यह तो केवल मानवता है। उन सज्जनकी ईमानदारी तथा विशालहृदयता अनुकरणीय है।

—श्यामसुन्दर माँगीलाल अग्रवाल

भूल-सुधार

१—कल्याणके 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' में पृष्ठ ६३० पर 'इन्द्राक्षी-यन्त्र' छपा है। उस यन्त्रमें 'उत्तर' के नीचे 'कालरात्रि' छपा है और 'कालरात्रि' के नीचे त्रिकोणमें 'क्षी' छपा है। यह 'क्षी' अशुद्ध है। 'क्षी' के नपर 'क्षै' कर लेना चाहिये।

२—कल्याणके अगस्त, ६५ (३९ । ८) के अङ्कमें पृष्ठ ११२२ पर श्रीलेखक महोदयका नाम श्रीगुरु रमप्यारेजी छप गया है। उसे श्रीगुरु रामप्यारेजी अग्निहोत्री पढ़ना चाहिये।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित
मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी उन्नति करनेवाले
सरल, सुन्दर शिक्षाप्रद लेखोंके एक संग्रह

☛ तत्त्व-चिन्तामणि पाँचवें भागके एक पृष्ठका कुछ अंश

काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना २६७

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रातःकालकी उपासना करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है। स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्‌को अपने साथ समझना चाहिये। मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं। गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं। कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है उसी प्रकार हमें भगवान्‌के हाथमें अपनी बागडोर सम्हलाकर उनके इशारेपर काम करना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्षमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा और हमारे इस साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार सायङ्कालकी उपासना करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें और सोनेके समय भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। उससे दुःस्वप्नोंका नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति रहती है।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग पाँचवाँ—सचित्र, पृष्ठ ४९६, मूल्य ८१ न० पै०, डाकखर्च रु० १.०५।

इसी पुस्तकका छोटे आकारमें गुटका संस्करण, सचित्र, पृष्ठ ६२१, मूल्य ५६ न० पै०, डाकखर्च ९० न० पै०।

विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

21 SEP 1965
/45

नयी पुस्तकें ! श्रीहरिः प्रकाशित हो गयीं !!

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६६ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ६२ न० पै०, हाथ करघेके कपड़ेकी जिल्द ७५ न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक केलेन्डर, प्रभुसे प्रार्थना, संतोंके अमूल्य उपदेश, भगवान्‌का विस्मरण कभी न हो, 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च', भगवान्‌में मन लगनेके साधन, आनन्दमय विचारोंका आवाहन किया करें, परम परमार्थ, नीति-सूक्ति, सन् १९६६ में घटित होनेवाले ग्रहण, कुछ जानने योग्य उपयोगी बातें—जैसे रेलभाड़ा, डाक, तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तौलकी नयी मेट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, कागजका माप, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ा चुकानेका नकशा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी है।

सन् १९६५ की दैनन्दिनी तीन बारमें एक लाख साठ हजार छपनेपर भी उसकी हजारों प्रतियोंकी माँग पूरी न हो सकी। अतः जिन्हें लेनी हो, वे पहलेसे ही ले लेनेकी कृपा करेंगे।

☛ गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे आपके समय तथा भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सव

संकलनकर्ता—श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या ९०, मूल्य ३० नये पैसे, डाकखर्च ७० न० पै०।

उत्सवके समय गाने योग्य प्राचीन एवं अर्वाचीन भक्त-कवियोंके चुने हुए पदोंका एक छोटा-सा संग्रह, भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप, महिमा और आविर्भावका प्रयोजन, जन्माष्टमी-व्रतकी विधि आदि उपयोगी सामग्रियोंका इसमें संकलन है।

भावुक भक्तोंके विशेष कामकी वस्तु है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीरामचरितमानस (बड़े अक्षरोंमें केवल मूल-पाठ), आठ रंगीन चित्रोंसहित

आकार २२×२९ आठ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५१६, मूल्य चार रुपये, डाकखर्च २ रु०।

बहुत दिनोंसे मानसके इस संस्करणके प्रेमी प्रतीक्षा कर रहे थे। अब छप गयी है। जिन्हें लेनी हो, वे मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर**

कल्याण

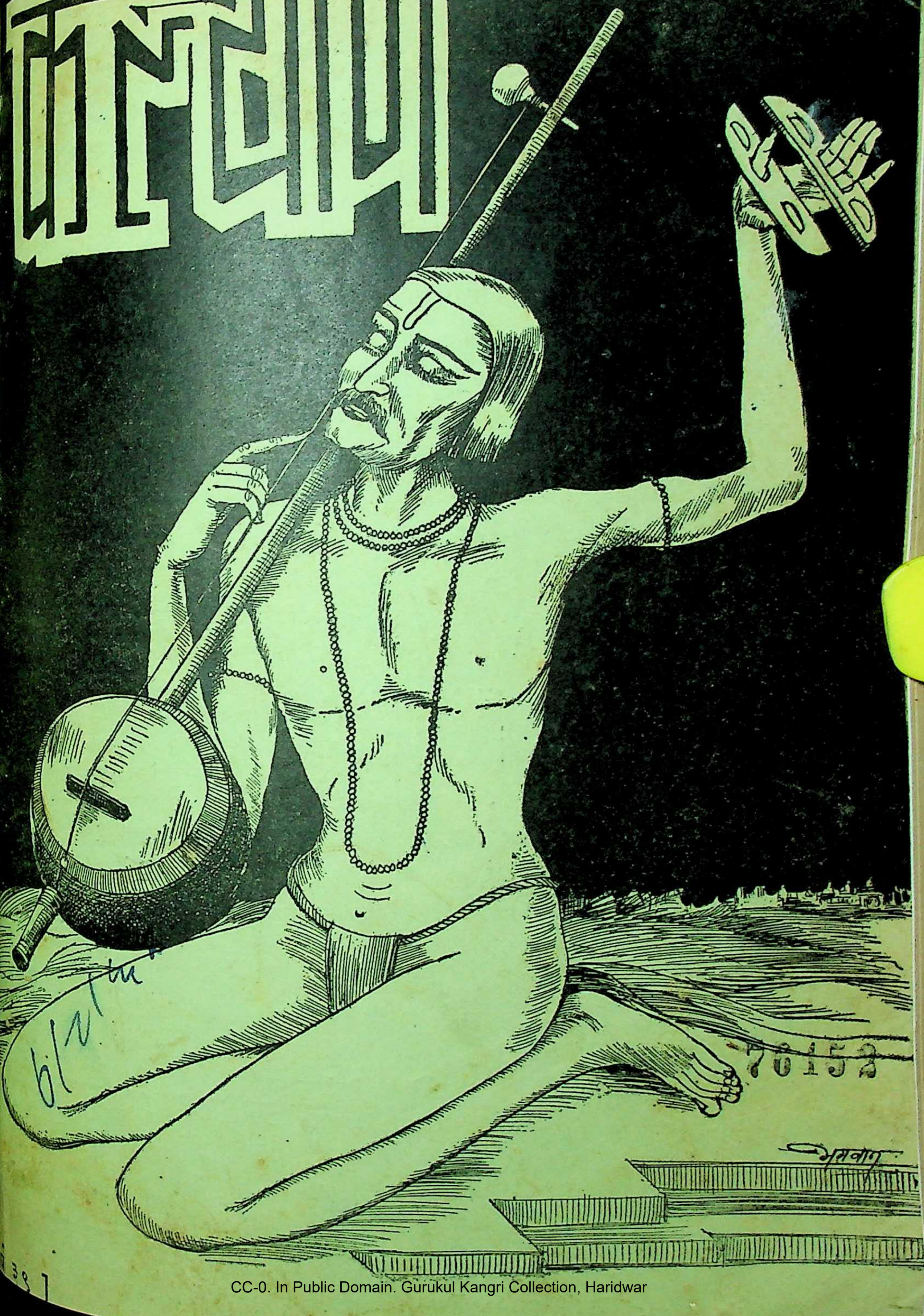

6/v/th

70152

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२२, अगस्त १९६५

विषय — पृष्ठ-संख्या
१–भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता [कविता] ··· १०८५
२–कल्याण ('शिव') ··· १०८६
३–मानव-उत्कर्ष (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ··· १०८७
४–एक महात्माका प्रसाद (संकलयिता—श्री'माधव') ··· १०९२
५–रामायणमें भरतकी अनुकरणीय परम श्रद्धा और प्रेम (ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १०९४
६–यथार्थ दृष्टि तथा सत्यदर्शन (साधुवेषमें एक पथिक) ··· ११०१
७–धन-शक्ति (संकलयिता—'माधव') ११०४
८–अन्तर्मुख-वृत्ति (विद्यावाचस्पति श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र') ··· ११०५
९–संतका स्वरूप [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ··· ११०७
१०–सफलता [कहानी] (श्री'चक्र')··· ११०८
११–व्यर्थकी चिन्ताएँ छोड़िये और प्रसन्न रहिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ११११
१२–अपने सभी काम नियत समयपर कीजिये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १११४
१३–मधुर ··· १११६
१४–प्रभुकी सत्ता (श्रीप्रह्लादरायजी व्यास 'साहित्य-सुधाकर') ··· १११९
१५–जीवनमें स्वरोदयको महत्ता (श्रीगुरु रमण्यारेजी अग्निहोत्री, गुरु-कुञ्ज-कुटीर, उपरहटी, रीवा, म० प्र०) ··· ११२२
१६–खोना सोना है (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ११२४
१७–प्रकाशके पुनर्जन्मकी आश्चर्य-घटना (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्रनाथजी बनर्जी) ··· ११२५
१८–जब क्रोध आता है ! (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) ··· ··· ११२७
१९–क्रोधनाशका उपाय ··· ११२८
२०–हिंदू-संस्कृतिके रंगमें रँगे रहीमके काव्यमें प्रभु-महिमा (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्०) ··· ११२९
२१–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी) ··· ११३१
२२–अपनी संस्कृतिके प्रति घोर अनास्था और पतन ! ··· ··· ११३५
२३–मानव ! सावधान ··· ११३६
२४–ये भीषण जीवहत्याके सरकारी उद्योग ! ११३७
२५–पढ़ो, समझो और करो ··· ११३८
२६–'धर्माङ्क'की सूचना ··· ११४७

चित्र-सूची

१–भक्त सूरदास (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ
२–भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता (तिरंगा) ··· १०८५

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५
विदेशमें ५६
(१० पें

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

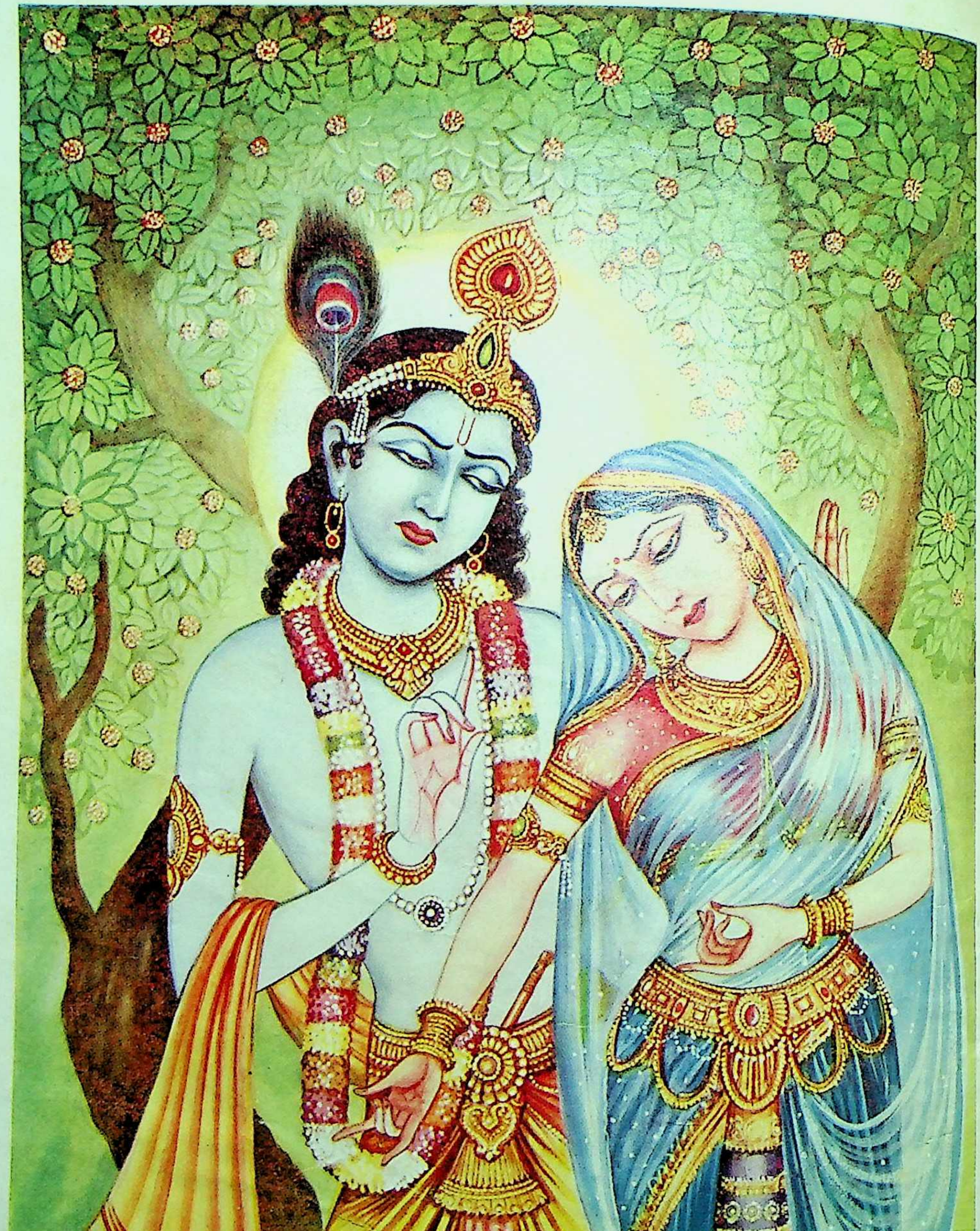

भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२२, अगस्त १९६५ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ४६५

भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता

मधुपुरि गँवन करत जीवन-धन ।
लै दाउए संग सुफलक-सुत, सुनि जरि उठी ज्वाल सब तन-मन ॥
भई बिकल; छायौ बिषाद मुख, सिथिल भये सब अंग सुसोभन ।
उर रस जर्यौ, सु रहे सूखि ह्वै दृग अपलक, तम ब्यापि गयौ घन ॥
लगे आय समुझावन प्रियतम, पै न सके, मगच्यौ बिषाद मन ।
बानी रुकी, प्रिया लखि आरत, थिर तन भयौ, मनौ बिनु चेतन ॥
भावी बिरहानल पिय-प्यारी जरन लगे, बिसरे जग-जीवन ।
कौन कहै महिमा या रतिकी, गति न जहाँ पावत सुर-मुनि-मन ॥

भ० १ -

याद रक्खो—जहाँ बदलेमें या फलरूपमें कुछ भी प्राप्त करनेकी कामना है, वहाँ विशुद्ध अनुराग नहीं है । इसीसे विशुद्ध अनुराग भुक्ति-मुक्तिकी कामनावाला संसारी मनुष्य नहीं कर सकता, न विशुद्ध प्रेम परम प्रियतम भगवान्‌के सिवा अन्यत्र कहीं हो ही सकता है ।

याद रक्खो—संसारमें एकके साथ जो दूसरेका सम्बन्ध होता है, वह चाहे व्यक्तिगत हो या समष्टिगत, उसमें परस्पर लेन-देनकी नीति रहती ही है, चाहे वह प्रकटमें न दिखायी दे । यहाँतक कि जो लोग निःस्वार्थ भावसे सेवा या पर-हित करते हैं, उनके हृदयमें भी यह भावना छिपी रहती है कि वे अपने इस सेवा या पर-हित-कार्यके द्वारा एक लोकोपकारी महान् आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, वरं बहुत गहरेमें जाकर देखा जाय तो उनमें किसी-न-किसी रूपमें मान-पूजा या ख्याति-प्रशंसाकी कामना छिपी रहती है ।

याद रक्खो—जो लोग निःस्वार्थभावसे देवाराधन, जनसेवा आदि कार्य करते हैं वे भी कम-से-कम इस कार्यके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि तो चाहते ही हैं और अपनेको सर्वथा निष्काम मानकर केवल मुक्तिके लिये ही साधना करते हैं, उनमें भी संसार-दुःख-निवृत्ति या जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी कामना रहती है । अतएव जहाँतक एकमात्र भगवान्‌में परम प्रियतम बुद्धि नहीं होती और प्रियतम-सुखके लिये ही जीवन नहीं बन जाता, वहाँतक किसी-न-किसी रूपमें अन्याभिलाषा रहती ही है । जहाँतक अन्याभिलाषा है—किसी भी रूपमें भुक्ति-मुक्तिकी कामना है, वहाँतक विशुद्ध प्रेम नहीं है । वह एक प्रकारका लेन-देनका व्यापार ही है । कम लाभका हो या अधिक लाभका—साधनाके फलस्वरूप किसी लौकिक दुःखकी निवृत्ति या किसी लौकिक वस्तुकी प्राप्ति हो जाय अथवा जन्म-मरणरूप दुःखकी निवृत्ति या मुक्तिकी प्राप्ति हो जाय ।

याद रक्खो—परम प्रियतम भगवान् अपने प्रेमी भक्तके अधीन होकर उसके विशुद्ध प्रेमरसका आस्वादन करते हैं और वह प्रेमी भक्त अपनेमें सदा-सर्वदा प्रेमका अभाव अनुभव करता हुआ परम प्रियतम भगवान्‌के स्वभावकी महिमा गाता रहता है और भुक्ति-मुक्ति सबका विसर्जन देकर केवल प्रियतम-सुखका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ उत्तरोत्तर विशुद्ध प्रेमकी अनन्तताकी ओर अग्रसर होता रहता है । यही परम प्रियतम भगवान्‌के साथ विशुद्ध प्रेमसम्पन्न भक्तका सम्बन्ध होता है और यह सम्बन्ध केवल प्रेमके लिये ही होता है और होता है परम प्रियतम भगवान् और विशुद्ध (भुक्ति-मुक्ति-वासनालेश-शून्य) प्रेमी भक्तमें ही।

याद रक्खो—ऐसा विशुद्ध प्रेमी भक्त वस्तुतः मुक्त ही होता है और वह वस्तुतः पराशान्तिको प्राप्त होता है । बल्कि मुक्ति और शान्ति अनायास ही अपनेको धन्य करनेके लिये उसकी सेवामें नियुक्त रहती हैं। अतः किसी प्रकारका भी कोई बन्धन उसको नहीं रहता और न किसी भी प्रकारकी कोई परिस्थिति उसकी शान्तिमें तनिक बाधक हो सकती है । हाँ, एक बन्धन उसमें अवश्य रहता है, वह है विशुद्ध प्रेमका बन्धन, जिसमें भगवान् स्वयं उसके साथ बँधे रहते हैं और इस बन्धनसे वह कभी मुक्त होना नहीं चाहता । यही तो उसका स्वरूप-सौन्दर्य है ।

'शिव'

मानव-उत्कर्ष

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते जब मनुष्य-शरीरमें आता है, तब उसका उत्कर्ष हो, इसके लिये शास्त्रोंने ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर रक्खी है कि जिसका अनुसरण करनेसे फिर संसारके चौरासी लाखके चक्करमें भटकना नहीं पड़ता ।

(१) पहला सिद्धान्त है—कर्मका फलभोग अनिवार्य है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

अर्थात् कितना ही लम्बा समय क्यों न बीत जाय, कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं होता । आजके किये कोई कर्म कालान्तरमें फल देंगे ही—आज ही दें, अगले जन्ममें दें, अथवा दो-चार कल्पोंके बाद दें । जब कभी दें, पर फल दिये बिना उनके नाशका कोई उपाय नहीं । हाँ, ज्ञानसे वे अवश्य नाश होते हैं, यह अपवाद है ।

(गीता ४ । ३७)

(२) दूसरा सिद्धान्त है—पुनर्जन्मका । इस जन्ममें मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल उसे इसी जन्ममें नहीं मिल सकता । ऐसे कर्म अगले जन्मोंमें फल देते हैं । अतएव उन-उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन्हींके अनुरूप कितने ही शरीर जीवको धारण करने पड़ते हैं । इस सिद्धान्तके समझ लेनेपर एक बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य अशुभ कर्म करनेमें डरने लगता है; क्योंकि उसका विश्वास होता है कि कर्मका फल भोगना ही पड़ेगा । इस युगमें तो हमलोग देखते हैं कि खून करनेवाले भी कानूनोंके दाँव-पेंचका उपयोग करके निर्दोष छूट जाते हैं; परंतु अगले जन्मोंमें उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं । यह ईश्वरका अटल नियम है । इसमें परिवर्तन करना किसीकी शक्तिमें नहीं है । मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंकी जा सकती है, परंतु ईश्वरको धोखा नहीं दिया जा सकता । वह तो अन्तर्यामीरूपसे मनुष्यके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचार और गुप्त-से-गुप्त कार्य जानता है ।

धरतीतलके भोंयरे छिपकर करिये काम ।
अन्तर्यामी देखता आठों पहर तमाम ॥

इस विश्वके अधिकांश मनुष्य पुनर्जन्म नहीं मानते, पर उनके न माननेसे उनका पुनर्जन्म नहीं होगा, ऐसी बात नहीं है । एक आम यदि मीठा होता है तो उस वृक्षके सभी आम मीठे होते हैं और खट्टा होता है तो सब खट्टे । इसका कारण यह है कि एक ही बीज-शक्ति तमाम आमोंमें काम करती है । परंतु मनुष्यके जन्ममें तो एक ही माता-पिताकी संतानोंका स्वभाव अलग-अलग देखा जाता है । इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न संस्कारवाले जीव पूर्वजन्मका ऋणानुबन्ध चुकानेके लिये एक ही घरमें इकट्ठे हो जाते हैं । इसीसे भाई-बहिनोंके स्वभावमें भी भेद दिखायी देता है । इस प्रकार पुनर्जन्म सिद्ध होता है तथापि न माननेवाले लोग प्रत्यक्षका भी आदर न करके नहीं मानते । इसमें उनका हठाग्रह ही कारण है ।

सन् १९६४ ई० की घटना है । यूरोपके किसी मुस्लिम देशके एक कुटुम्बमें एक बालकका जन्म हुआ । वह दो-तीन वर्षका हुआ तब उसने अपने पितासे कहा कि 'मुझे अपने घर ले चलो ।' पिताने कहा 'तू जहाँ है, वही तो तेरा घर है; क्योंकि तेरा जन्म यहीं हुआ है ।', पिताके बाहर जानेके बाद वह छोटा-सा बच्चा अकेला घरसे निकला और अपने पूर्वजन्मके घरपर जा पहुँचा । वहाँ एक अधेड़ उम्रकी महिला और उसकी दो लड़कियाँ बैठी थीं । उनको देखकर बालकने कहा—'क्यों प्रिये ! तुम प्रसन्न हो न ?' फिर लड़कियोंसे कहा—'मेरी प्यारी बेटियो ! तुम भी प्रसन्न हो न ?'

महिलाके द्वारा पूछे जानेपर बालकने उत्तर दिया कि 'मैं अमुक नामवाला तुम्हारा पति हूँ और ये दोनों (नाम लेकर) मेरी लड़कियाँ हैं । अमुक वर्षमें मेरी अमुक स्थानपर मृत्यु हुई थी और अबकी बार मेरा जन्म अमुक स्थानमें अमुकके घरमें हुआ है ।' यहाँ उस बच्चेने जितने नाम-धाम बताये, सब ठीक थे ।

इतने प्रमाण होनेपर भी न माननेवाले हठीले और दुराग्रही मनुष्य पुनर्जन्मको किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करते । ऐसे लोगोंके लिये तो मौन ही उचित है ।

(३) तीसरी है—वर्णव्यवस्था । कर्मफल-भोगका सिद्धान्त समझमें आ जानेपर पुनर्जन्मका सिद्धान्त समझते देर नहीं लगती । इस पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर भगवान्ने चार वर्णवाले समाजकी रचना की है, ऐसा कहा गया है (गीता ४ । १३) । यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'विगत जन्मोंके कर्मोंके

आधारपर ही मैंने चार वर्णवाले समाजकी रचना की है। वर्ण चार हैं—(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य और (४) शूद्र। सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले जीव ब्राह्मण-वर्णमें जन्म लेते हैं। तमोगुणकी प्रधानतावाले जीव शूद्र-देह प्राप्त करते हैं। सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी प्रधानतावाले क्षत्रिय देह प्राप्त करते हैं और तमोगुणमिश्रित रजोगुणवाले वैश्य-शरीर प्राप्त करते हैं।

इस वर्ण-व्यवस्थामें जिस वर्णमें जिसका जन्म होता है, वह उसी वर्णका कहलाता है और उस वर्णके उचित कर्मको वह यदि निष्कामभावसे करता है तो उत्कर्षको प्राप्त होता है।

यूरोप, अमेरिका आदि देशोंके लोग इतना तो मानते ही हैं कि अमुक घोड़ीके बछेरेमें अमुक प्रकारकी विशेषता होती है और इसीसे उसका विशेष मूल्य भी चुकाया जाता है। अमुक कुतियाके पिल्लेमें अमुक विशेषता होती है, इसलिये उसके भी ज्यादा पैसे दिये जाते हैं। केवल बाहरकी आँखोंसे देखनेपर तो सभी बछेरे एक-से होते हैं और सभी पिल्ले भी एक-से, परंतु अमुक माताकी संतान होनेके कारण उसमें विशेष गुण होते हैं, ऐसा माना जाता है। तथापि ब्राह्मणके घर जन्मे हुए बालकमें अमुक विशेषता और अमुक प्रकारके गुण होते हैं, वे शूद्रके यहाँ जन्मे हुए बालकमें नहीं होते; इस बातको वे लोग नहीं समझ पाते, अथवा वे समझना ही नहीं चाहते। इसीप्रकार एक क्षत्रियके यहाँ जन्मे बालकमें जो अमुक विशेषता होती है, वह दूसरे वर्णमें जन्मे हुए बालकमें नहीं होती। कुत्ते और घोड़ोंके सम्बन्धमें तो वे ठीक ऐसी ही बात मानते हैं, पर ब्राह्मणके यहाँ जन्मा हुआ बालक ब्राह्मण और वैश्यके यहाँ जन्मा हुआ बालक वैश्य और शूद्रके यहाँ जन्मा हुआ बालक शूद्र होता है, यह माननेको वे तैयार नहीं होते। विचार करनेपर इसका कारण यह दिखायी देता है कि यदि जन्मके अनुसार जाति मानी जाती है, तो पुनर्जन्म मानना पड़ता है, पुनर्जन्म माननेपर कर्मका सिद्धान्त भी मानना पड़ता है और इन दोनों बातोंका मान लेना यह सिद्ध करता है कि वे हमारे शास्त्रोंको मानते हैं एवं शास्त्रोंको माननेपर उन्हें नियन्ताके रूपमें ईश्वरको स्वीकार करना ही पड़ता है। इन्हीं सब कठिनाइयोंके कारण समझते हुए भी वे लोग जन्मसे जाति माननेको तैयार नहीं हैं और दुराग्रहसे ही अपनी बात पकड़े हुए हैं। ऐसे लोगोंको कौन समझा सकता है ? वहाँ तो भर्तृहरि कहते हैं—

'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्'

इस प्रकार मनको मनाकर मौन रखनेमें ही आनन्द है।

विगत जन्मोंके कर्मके अनुसार भगवान्ने जैसे चार वर्णकी रचना करनेकी बात कही ऐसे ही हमारे ऋषि-मुनियोंने मानव-स्वभावका अनुसरण करके उसके चार विभाग किये हैं—(१) पामर, (२) विषयी, (३) मुमुक्षु और (४) मुक्त।

(४) मुक्त—अर्थात् जिसने मानव-जीवनका उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है और इससे जो ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रारब्धके क्षय होनेतक जीवन्मुक्त स्थितिमें जीवन व्यतीत कर रहा है।

(३) मुमुक्षु। ऐसे मनुष्यको शास्त्रका परिचय होता है और वह यह समझता है कि मानव-जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, किंतु मोक्ष है; इसलिये वह अपने वर्तमान जीवनको यथाप्राप्तमें संतोषपूर्वक व्यतीत करता हुआ मोक्षकी साधनामें ही लग जाता है और जन्म-मरणके जालसे छूटनेके लिये उसमें इतनी तीव्र छटपटाहट पैदा हो जाती है कि वह वर्तमान जीवनके सुख-दुःखोंकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करता, परंतु उसका सम्पूर्ण लक्ष्य भवबन्धनसे छूटनेमें ही लगा रहता है। ऐसा पुरुष वेगसे अपने उत्कर्षकी प्राप्तिमें संलग्न रहता है और एक दिन वह अवश्य ही जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है।

(२) विषयी। ऐसे मनुष्यको शास्त्रका परिचय होता है, इसलिये वह यह समझता है कि 'मनुष्य-जीवनका लक्ष्य मोक्ष है।' परंतु उसकी भोगोंमें इतनी बढ़ी हुई आसक्ति होती है कि वह समझनेपर भी भोगोंको छोड़ नहीं सकता। वह कई बार ईश्वरका भजन भी करता है, परंतु करता है विषय-सुख प्राप्त करनेके साधनरूपमें। ऐसे मनुष्यकी स्थिति सरौतेके बीच सुपारी-जैसी होती है। वह समझता है कि भोग-पदार्थोंमें सुख नहीं मिलेगा, परंतु भोग-पदार्थोंमें उसका मन इतनी दृढ़तासे लगा हुआ होता है कि वह उसे हटा नहीं सकता। परिणाममें उसका सारा जीवन भोग-पदार्थोंके संग्रहमें ही समाप्त हो जाता है और यथेच्छ भोग-पदार्थ प्राप्त न होनेके कारण उसके जीवनमें निराशा छा जाती है एवं हाय-हाय करते ही वह प्राणोंको छोड़ देता है। ऐसे मनुष्यको चेतावनी देते हुए शास्त्र कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

भाइयो ! भोग-पदार्थोंके इकट्ठा करनेसे तुम्हारी भोग-तृष्णा शान्त नहीं होगी, परंतु घी डालनेसे जैसे अग्नि अधिक-से-अधिक प्रबल होती है, वैसे ही भोग-पदार्थोंके संग्रहसे भोग-तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और तृष्णा ही मनुष्य-को जन्म-मरणके चक्रमें घुमाया करती है ।

इसके लिये ययाति राजाका पुराण-युगका दृष्टान्त प्रसिद्ध है और वर्तमान युगका दृष्टान्त लें तो अमेरिकाका प्रत्यक्ष है । कहा जाता है कि जगत्के तमाम भोग, भोग-साधन और जगत्का सारा सोना अमेरिकामें है । इतना होते हुए भी अमेरिकामें दुःख अधिक-से-अधिक है । वहाँ पागलोंकी संख्या सबसे अधिक है । खून, चोरी, लूट, गर्भपात आदि त्रासदायक स्थितियोंमें अमेरिका सबसे आगे है । सच्चे अर्थमें अमेरिकामें कुमारी-कन्याका मिलना कठिन है । यदि भोग-पदार्थोंसे सुख-शान्ति मिलती होती तो अमेरिकाकी आज ऐसी बुरी स्थिति नहीं होती !

सार यही है कि भोगोंसे कभी तृप्ति होती ही नहीं । अतएव यदि सुख-शान्तिमें जीवन बिताना हो तो संतोषका सेवन करना चाहिये ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।

संतोषमें ही सुखका बीज रहता है । अतएव जिस मनुष्यको अपने उत्कर्षका साधन करना है उसे तो यथा-क्रममें संतोषसे जीवन बिताते हुए मोक्षकी साधनामें अग्रसर होना चाहिये ।

उपर्युक्त तीन प्रकारके मनुष्य केवल भारतवर्षमें ही निवास करते हैं । इसी कारण इस देशको कर्मभूमि कहा जाता है । भगवान् व्यासने ब्रह्माण्डपुराणमें स्पष्ट कहा है—

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम् ॥
को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत् ।

× × × ×

कर्मभूमिका अर्थ इतना ही है कि वहाँका मनुष्य यह समझता है कि मनुष्यजीवनका उत्कर्ष भोग-विलासके सेवनमें नहीं, परंतु भोगका त्याग करके मोक्षकी साधना करनेमें है । अतएव इस देशके मनुष्य नवीन कर्म करके मोक्षगामी होते हैं । यहाँ जैसे भारतवर्षको कर्मभूमि कहा गया है, वैसे ही मनुष्यशरीरको भी कर्मभूमि कहा गया है । ८४ लाख प्रकारके शरीर हैं, उनमें केवल मनुष्य-शरीरमें ही नवीन कर्म करनेकी क्षमता है । अन्यान्य ८३९९९९९ शरीर भोग-भूमि कहलाते हैं; क्योंकि उन शरीरोंमें जीव नवीन कर्म करनेमें समर्थ नहीं है । वहाँ केवल प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर ही शरीर छोड़ देना पड़ता है, पर मनुष्य-शरीरमें जीव नवीन कर्म करनेमें समर्थ है और इसलिये वह इस शरीरमें ही मोक्षकी साधना करके अपना उत्कर्ष साधन कर सकता है ।

जीवका अर्थ है शरीरमें रहनेवाला चेतनतत्त्व । गीतामें भगवान्ने इसको अपना अंश कहा है । भगवान्का यह अंश शरीरमें आनेके कारण अपने स्वरूपको भूल गया और अपनेको शरीररूप मानकर शरीरके ही सुखसे सुखी और शरीरके ही दुःखसे दुखी होने लगा । इस प्रकार अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीव अनेक योनियोंमें भटकता है; परंतु यदि उसे अच्छा संग मिल जाता है तो वह मोक्षकी साधना करके जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है ।

(१) बस, पामर तो पामर ही है । उसके लिये कोई पर्याय शब्द नहीं मिलता । केवल संकेतसे ही उसका अर्थ समझाया जा सकता है ।

एक गधेको जैसे 'मैं गधा हूँ' यह भान नहीं होता और एक कुत्तेको जैसे 'वह कुत्ता है' इसकी जानकारी नहीं होती तथा एक सूअरमें जैसे 'वह सूअर है' इस प्रकारकी समझ नहीं होती, उसी प्रकार पामरमें 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता । और जिसको 'मैं मनुष्य हूँ' इतना भी ज्ञान नहीं, उसे मनुष्य-शरीर कितना अमूल्य है और मनुष्य-जीवन कैसे प्राप्त होता है, यह कैसे समझाया जा सकता है । कोई समझानेका प्रयत्न करता है तो उसे ऐसा ही समझना चाहिये जैसे भैंसको भागवत सुनाना । हमारे शास्त्र तो कहते हैं—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया ।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तर यावन्न भिद्यते ॥

इस जन्म-मरणरूप दुःखका समुद्र जो यह संसार है, इससे तरनेके लिये अनेक जन्मोंके महान् पुण्योंके प्रतापसे और भगवान्की दयासे यह मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है । यदि कोई इसका उपयोग पशुकी तरह केवल विषय-सेवनमें ही करे तो उस मनुष्यको पारसमणि देकर बदलेमें एक सेर साग लेनेवाला मूर्ख ही समझना चाहिये । ठीक ही कहा गया है—

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः ।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी ॥

कुत्ता, सूअर और गधा भी रोज-रोज खाता-पीता है, आनन्द करता है और थकावट आनेपर सोता भी है। यदि मनुष्य इसी प्रकारका जीवन व्यतीत करता हो तो उसे इनसे उत्तम कैसे माना जाय ?

विष्णुपुराणमें कहा गया है—

> यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
> न करोति हरेर्भक्तिं स नरो गोवृषः स्मृतः ॥

जो मनुष्य अपना सारा जीवन केवल अपना पेट भरनेमें ही बिता देता है और यह जानता भी नहीं कि मैं मनुष्य हूँ और मनुष्यके लिये कर्तव्यरूप ईश्वरकी भक्ति नहीं करता उसे तो दो पैरवाला बैल ही समझना चाहिये।

पूर्वकालमें भारतवर्षमें 'चार्वाक' मत चला था, परंतु इस देशमें वह पनप नहीं सका और इसलिये वह नाममात्रको रह गया। ऐसे मनुष्योंने ही कदाचित् अपनी वासनाके बलसे अपना मत फैलानेके लिये यूरोपमें जन्म लिया हो, यह असम्भव तो नहीं कहा जा सकता। आज तो यह मत सारे विश्वमें फैल गया है और बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचे हैं। इसका सिद्धान्त ही है—

> यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

जबतक यह जीवन है खूब ऐश-आरामसे जीना चाहिये। ऋण लेकर (अथवा बड़ा-से-बड़ा पाप करके) भी भोग भोगने चाहिये; क्योंकि इस शरीरके भस्म हो जानेके बाद वापस लौटना कहाँ है अर्थात् मरनेके बाद ऐसे भोग भोगनेका अवसर फिर मिलनेका नहीं है।

इसीलिये इन लोगोंका स्वभाव **'कामोपभोगपरमा'** होता है। यों नष्ट हुए विवेकवाले अल्पबुद्धि लोग विषय-सुखके लिये हाय-हाय करते हुए परिणामका विचार न कर महान् भयंकर कर्मोंमें लगे हुए जगत्‌की शत्रुताका ही काम करते हैं और जगत्‌के विनाशमें ही अपनी शक्तिका उपयोग करते हैं। दम्भ, मान और मदसे छके हुए ये लोग कभी पूरी न हो सकनेवाली कामनाओंके साथ आग्रहसे चिपटे रहते हैं और मोहसे मिथ्या दुराग्रहोंके हठसे सदा पापाचारमें प्रवृत्त रहते हैं। (गीता ९। १०)

अधिक भोग प्राप्त करनेके लिये लगभग पचास वर्ष पूर्व इन लोगोंने मंगल-ग्रहमें जानेकी घोषणा की थी। उस विषयपर कई पुस्तकें भी लिखी गयी थीं। पर कुछ वर्षोंमें ही वह प्रयत्न छोड़ दिया गया। आज फिर चन्द्रमापर जानेका निश्चय किया जा रहा है। चन्द्रमापर जाना होगा कि नहीं, यह तो भगवान् जानें; परंतु इस जानेके प्रभावसे पृथ्वीको घेरे हुए जो पतले हवाके स्तर हैं, वे यदि नष्ट हो गये तो पृथ्वीका विनाश हो जायगा, यह निश्चय है। यदि चन्द्रमाका आकर्षण बढ़ेगा तो समुद्रमें बहुत भारी बाढ़ आकर पृथ्वीको डुबो देगी और यदि सूर्यकी गरमी बढ़ जायगी तो पृथ्वी जल जायगी। (इस प्रकारकी सूचना इन लोगोंके एक वैज्ञानिककी भी है।)

गत जनवरीमें हवामें जितनी गरमी थी, उतनी गरमी साधारणतया मार्चमें होनी चाहिये थी। क्या इससे यह सूचना नहीं मिलती कि सूर्यकी गरमीकी मात्रा बढ़ रही है! इसी प्रकार कुछ ही दिनों पूर्व धनुष्कोटिमें होनेवाली दुर्घटनासे क्या यह सूचना नहीं मिलती कि चन्द्रमाका आकर्षण बढ़ता जा रहा है ?

इस प्रकारकी वानरी-चेष्टा करके अपना ही विनाश करनेकी अपेक्षा तो प्रजाको सुख-शान्ति कैसे मिले, इसके विचारमें विज्ञानका उपयोग किया जाता तो बहुत अच्छा था, पर जिसको भोगोंकी ही भूख है, उसमें ऐसे सौम्य विचार कहाँसे आ सकते हैं। प्रकृतिके साथ इस प्रकार छेड़-छाड़ करनेका कैसा भयंकर परिणाम होता है इसका एक दृष्टान्त पञ्चतन्त्रमें है। उसे यहाँ दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

एक मोटा काठ चीरना था। चीरनेवालोंने दिनभर प्रयत्न किया, पर पूरी चिराई न होनेके कारण चीरे हुए भागमें एक पच्चड़ ठूँसकर वे लोग घर चले गये। इतनेमें ही कुछ बंदर वहाँ आये और अपने स्वभाववश छेड़-छाड़ करने लगे। उनमें एक बंदर चीरे हुए काठके पच्चड़के सामने बैठ गया। उसकी पूँछ चीरेके अंदर लटक रही थी। बंदरने दोनों हाथोंसे उस पच्चड़को बाहर निकालनेके लिये जोरसे हिलाना शुरू किया और कुछ ही देरमें पच्चड़के निकलते ही उसकी पूँछ और वृषण काठके दोनों भागोंमें दब गये और तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गयी।

आज इतनी अधिक संख्यामें वायुयान आकाशमें उड़ने लगे हैं और इसी प्रकार ट्रेनों और कारखानोंकी संख्यामें भी दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। इससे हवामें प्राणवायु (ऑक्सीजन) की मात्रा बहुत ही घट गयी है। परिणामस्वरूप प्रजाका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। जनताने लगभग आधी प्रजाने इसके लिये पुकार भी की, पर उसका कोई भी फल नहीं हुआ। केवल रूस, मास्को

के लिये वहाँके लोगोंको अधिक मात्रामें ऑक्सीजन रहा है। मानो मास्कोमें रहनेवाले ही उसकी प्रजा हैं, अन्यत्र रहनेवाले नहीं ! परंतु इसे कौन पूछ सकता है ।

परिणामका विचार किये बिना ही मनमाना आचरण करनेवालेको बंदर बतलाया गया है, सो ठीक ही है ।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥

मनमें कुछ भी आये और बिना ही विचार किये वैसा ही करने लगे, इस प्रकार करनेवाले लोगोंको 'वानर' कहा गया है। और कार्याकार्यका निर्णय करनेके लिये—अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं, इसका विवेक करनेके लिये जो शास्त्रोंका आश्रय लेते हैं, शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्म करते हैं, उन मनुष्योंको 'नर' कहा गया है ।

प्रकृति स्वभावसे ही अधोगामिनी है । अतएव मनुष्यसे पशु बनना सहज है । पशुभावमें जाते हुए मनुष्यको रोकनेवाला कोई तत्त्व है तो वह 'धर्म' है, पर उस धर्मको तो आज कानूनकी कलमसे देशनिकाला दे दिया गया है । यह बात यहींतक नहीं रुकी है, वरं धर्मके स्थानपर प्रजाके सामने रक्खे गये हैं—अवाञ्छनीय अनिष्टकारक आविष्कार ! जैसे कि सगोत्रविवाह, वर्णान्तर-विवाह, विवाह-विच्छेद, संतति-नियमनके साधनोंका प्रचार और उसके लिये ऑपरेशन, चिकित्सा और कोर्टमें विवाहकी रजिष्ट्री करवाना आदि-आदि । इससे आज देशभरमें अनाचार और दुराचार सर्वत्र फैल गया है । अब इसमें यदि भ्रूणहत्या (गर्भपात) अपराध नहीं है, ऐसा कानून और जुड़ गया, तब तो बस, भारत अवनतिके शिखरपर ही चढ़ जायगा ! जगत्के देशोंमें भारतवर्ष अनाचार, दुराचारमें सबसे आगे बढ़ा हुआ है, ऐसी मुहर लग जायगी ! अंग्रेजोंके इस देशमें आनेसे पूर्व भारतवर्ष तत्त्वज्ञानमें समग्र विश्वके लिये गुरुस्थानीय था, वही भारतवर्ष आज अनाचार और दुराचारमें सर्वोपरि हो रहा है ! इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है । इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

साधारण प्रजामें विवेक-बुद्धि नहीं होती । इससे शासनकर्ता जिस ओर उसको चलाते हैं, उसी ओर वह सहज ही चलने लगती है । इसीका नाम है—'यथा राजा तथा प्रजा ।' यहाँ राजाका अर्थ अमुक व्यक्ति नहीं, इसका अर्थ है जिसके हाथमें सत्ताके सूत्र हों, ऐसा एक या अनेक व्यक्ति । वे यदि त्यागका आदर्श रखते हैं तो प्रजा त्याग-प्रधान बन जाती है और भोग-विलासका आदर्श रखते हैं तो प्रजा अवश्य ही विलासी बन जाती है ।

इस प्रकार आज पवित्र भारतवर्षका अधिकांश समाज पामरकी कोटिमें आ गया है । इससे बचना है तो यूरोप-अमेरिकाको गुरुस्थानसे हटाकर उसकी जगह अपने शास्त्रोंकी गुरुस्थानपर प्रतिष्ठा करनी होगी और इसीके साथ-साथ कर्मके सिद्धान्तमें, पुनर्जन्ममें, कर्मके अनुसार जन्म और भोगमें और ऐसे ही अन्यान्य शास्त्रोंके सिद्धान्तोंमें श्रद्धा-विश्वास रखकर उसके अनुकूल जीवन बनाना पड़ेगा ।

अमुक कर्म करने योग्य है और अमुक नहीं, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंकी शरणमें रहना पड़ेगा और उनके आदेशानुसार आचरण करना पड़ेगा । गीताके सोलहवें अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

'जो मनुष्य शास्त्र-विधानका अनादर करके अपने सुखके लिये मनमाना आचरण करता है, वह कहीं भी सिद्धि प्राप्त नहीं करता—उसके मनोरथ सिद्ध नहीं होते । उसे सुख नहीं मिलता ।' इतना ही नहीं, किंतु शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेसे उसका परलोक बिगड़ जाता है । मृत्युके बाद आजकी अपेक्षा भी उसकी बुरी दशा होती है । इसलिये हे अर्जुन !—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

अतएव यह कर्म करना है या नहीं—इसके निर्णयके लिये शास्त्रका आश्रय लेना चाहिये और शास्त्रके विधानको जानकर तदनुसार ही कर्म करने चाहिये । ॐ भगवान् सबका मङ्गल करें ।*

'नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम् ।'

* * *

---

* 'कल्याण' के पाठक जानते हैं श्रीस्वामीजी महाराजके लेख कितने विचारपूर्ण और प्रकाश देनेवाले होते हैं। इनके लेखोंके न्दी अनुवादका एक संग्रह 'अध्यात्मपथप्रदर्शक' प्रथम खण्ड, नामसे प्रकाशित हुआ था, जिससे ज्ञानपिपासु हिंदीजगत्ने

एक महात्माका प्रसाद

[दुःख विकासकी भूमि है]

(संकलयिता—'माधव')

जो न चाहनेपर भी आ जाता है वही दुःख है और चाहते हुए भी चला जाता है वही सुख है। दुःख-सुखकी अनुभूति मानवमात्रको होती है। नवजात शिशु भूखसे पीड़ित होकर रोने लगता है। इस दृष्टिसे दुःख मानवकी सर्वप्रथम अनुभूति है। दुखीको देख किसी-न-किसीके हृदयमें करुणा अवश्य जाग्रत् होती है। करुणार्द्र मानव दुःखको अपनाता है और निज सुखको दुखीकी सेवामें व्यय करता है। दुखी दुःखकालमें पराधीनतासे व्यथित होता है। पराधीनताकी व्यथा स्वाधीनताकी लालसा जाग्रत् करती है। सुख न चाहते हुए भी चला जाता है, मानवमें केवल सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टिसे दुःखका आना और सुखका जाना वैधानिक तथ्य है।

अब विचार यह करना है कि दुःख क्यों है ? यदि जीवनमेंसे दुःखका भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुखका सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुखकी दासतासे रहित हो सकता है। सुखका सम्पादन और उसकी दासतासे रहित करनेमें दुःख ही हेतु है। दुःख मानवजीवनका आवश्यक अङ्ग है, फिर भी सभीको स्वभावसे प्रिय नहीं है।

दुःख-निवृत्तिका प्रश्न मानवका प्रश्न है, पर 'जब दुःख नहीं था तब मैं था' और यह अनुभव यदि होता तो दुःख कबसे आरम्भ हुआ और क्यों आरम्भ हुआ, इसका निर्णय सम्भव था। जबतक दुःखका सर्वांशमें अन्त न हो जाय, तबतक दुःखके कारणका बोध सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे दुःखके नाशका प्रश्न मौलिक प्रश्न है। सुख-लोलुपताके रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दुःखका अन्त सम्भव है ? कदापि नहीं। 'नहीं' की आसक्तिने ही मानवको उससे विमुख किया है जो सर्वकालमें है। दुःखके प्रभावसे प्रभावित बिना हुए सर्वांशमें सुखासक्तिका नाश सम्भव नहीं है। दृष्टिसे दुःख विकासकी भूमि है। दुःखका भय तभीतक है, जबतक मानव पराधीनताजनित सुख-लोलुपतामें है। अतः दुःख पराधीनताका अन्त करनेके लिये बुलाये आता है।

क्या इस निज-अनुभवसे यह स्पष्ट विदित नहीं होता जो दुःख पराधीनतासे रहित करनेके लिये आया है मङ्गलमय विधानसे आया है अथवा 'उस'की देन है मानवको पराधीनतासे मुक्त करना चाहता है। मानव भले ही न जाने, जिसने दुःखका निर्माण किया है। दुःखका प्रभाव मानवके लिये सर्वतोमुखी विकासमें हेतु है यह स्वीकार करनेके लिये वह बाध्य है। कामनाकी तथा पूर्तिमें ही दुःख-सुखका भास होता है। अर्थात् तथा ममतासे ही दुःख-सुखका जन्म होता है। अहं और अविवेक-सिद्ध हैं। निज-विवेकका आदर करनेपर अहं मम शेष नहीं रहते और फिर दुःखका भय तथा दासता भी नहीं रहती। सुखकी दासताका सर्वांशमें होते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टिसे विवेकका अनादर अर्थात् अपनी भूल ही मानवको दुःखमें आबद्ध करती है।

मानव साधक है। साधकपर दायित्व होता है उसकी कोई माँग होती है। मानवेतर प्राणियोंमें कामना वे साधक नहीं हैं। इस कारण उनपर कोई दायित्व है। मानवमें मानवता तभीसे आरम्भ होती है, सुख-दुःखसे परेके जीवनकी खोज करता है। भौतिक दृष्टिसे कर्तव्यपरायणता, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे असंगता आस्तिकवादकी दृष्टिसे शरणागति ही सर्वतोमुखी मुख्य साधन है। दुःखनिवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता प्रेमकी अभिव्यक्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

लाभ उठाया। अब दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हो गया है। दूसरे खण्डका मूल्य है डाकव्ययसमेत १.७५ पैसे। रजिस्ट्री मँगवानेपर ५५ पैसे अधिक लगेंगे यानी २.३० पैसे मूल्य होगा। दोनों खण्ड एक साथ मँगानेपर दोनोंका मूल्य तथा रजिस्ट्री कुल मिलाकर रु० ४.५५ लगेंगे। जिन लोगोंको इन पवित्र तथा कल्याणकारी ग्रन्थोंसे लाभ उठाना हो वे श्रीनटवरलाल द्वारा श्रीमदनमोहनजीकी हवेली, सिहोर (P. O. Sibor), सौराष्ट्रके पास मनीआर्डरसे रुपये भेजकर ग्रन्थ मँगवा लें। नहीं करते। —सम्पादक

अतः दुःखका आना, सुखका जाना मानव-हितकारी विधान है। दुःखसे भयभीत होना और सुखमें आवद्ध रहना मानवका प्रमाद है, जिसका अन्त करना मानवमात्रके लिये अनिवार्य है। दुःखके प्रभावने ही दुखीको दुःखहारीसे अभिन्न किया है। इस दृष्टिसे दुःख जीवनका बहुत ही आवश्यक अङ्ग है। दुःखसे वे ही भयभीत होते हैं जिन्हें दुःखहारीसे अभिन्नता नहीं होती है। दुःखका प्रभाव उनके लिये भी आवश्यक है, जिन्होंने दुःखहारीको आस्थापूर्वक स्वीकार नहीं किया। दुःखकी महिमासे ही मानव उसे जान पाते हैं जिन्होंने दुःखके प्रभावसे सुखासक्तिका सर्वांशमें अन्त कर दिया है। संदेहकी वेदनाने ही मानवको तत्त्वज्ञानसे अभिन्न किया है और पराधीनताकी पीड़ाने ही मानवको स्वाधीनता प्रदान की है। भोगजनित व्यथाने ही मानवको नित्य-योग प्रदान किया है। इस दृष्टिसे दुःखकी महिमा जितनी कही जाय कम है। जो मानव दुःखहारीसे अभिन्न हुए, उन्होंने दुःखको प्रियतमका संदेश जाना और जो 'है' से अभिन्न हुए उन्होंने दुःखको राग-निवृत्तिका सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वीकार किया और जिन्होंने सेवा स्वीकार कर समताके साम्राज्यमें प्रवेश पाया, उन्होंने दुःखको विकासकी भूमि स्वीकार किया। जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःखसे सर्वतोमुखी विकास हुआ उससे भयभीत होना, उसके प्रभावको न अपनाना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दुःख लिया जाता है, वह मानवको आनन्दसे अभिन्न करता है और जो दुःख देकर सुख सम्पादन किया जाता है वह मानवको घोर दुःखमें आबद्ध करता है। इस दृष्टिसे सजग तथा सावधान मानव प्राप्त सुखको देकर हर्षपूर्वक दुःखको अपनाते हैं और दुःख देकर सुखका सम्पादन नहीं करते हैं। सुख 'पर' की वस्तु है और दुःख 'अपनी' कारण कि, यदि सुखको अपनाया तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश किया और यदि दुःखको अपनाया तो मानव सर्वतोमुखी विकासका अधिकारी हुआ। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि समस्त विकारोंकी भूमि सुखासक्ति और विकासकी भूमि दुःखका प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है वह अवश्य जाता है, पर आये हुएका सदुपयोग न करना मानवकी भूल है। रहता वही है जिसमें आने-जानेकी बात नहीं है। अतः जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग दुखियोंकी सेवामें है और आये हुए दुःखका सदुपयोग अहं और ममके नाशमें है। जो मानव सुख आनेपर सेवापरायण नहीं होता, वह विवश होकर सुखासक्तिमें आवद्ध हो जाता है, जो विनाशका मूल है और जो मानव दुःख आनेपर अहं-ममका अन्त नहीं करता, वह बार-बार दुःखको भोगता है और भयभीत रहता है। इस दृष्टिसे दुःख-सुखमें जीवनबुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःखका सदुपयोग विकासका मूल है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने मानव-जीवनका यथेष्ट अध्ययन किया है।

सुखका प्रलोभन जबतक रहता है, तबतक दुःख अवश्य आता है। सुखके भोगीको न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट विदित है कि पराधीनता तथा जडताजनित सुखासक्तिके रहते हुए दुःखका आना अनिवार्य है। जिसे दुःखका अन्त करना हो उसे पराधीनताजनित सुखका अन्त करना होगा। सुखका अन्त दुःखके प्रभावके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आया हुआ सुख चला ही जाता है, पर उसका प्रलोभन सुखके भोगीमें अङ्कित हो जाता है। उस प्रलोभनका नाश तभी होता है, जब दुःखका पूरा-पूरा प्रभाव हो जाय। दुःखके प्रभावको न अपनाना और उससे भयभीत रहना मानवकी भारी भूल है। इस भूलका अन्त करना प्रत्येक मानवके लिये अनिवार्य है। भूलको भूल जान लेनेसे ही भूलका नाश होता है। सुखके प्रलोभनने ही दुःखके भयको जन्म दिया है। दुःखकी वास्तविकताका अनुभव मानव-जीवनमें ही सम्भव है। इस दृष्टिसे दुःख मानव-जीवनका मुख्य अङ्ग है, पर मानवको दुःखसे भयभीत नहीं होना है और न सुखकी आशा रखकर उसका आवाहन करना है, अपितु दुःखकी वास्तविकताको अपनाकर सुख-दुःखसे अतीतके जीवनसे अभिन्न होना है। इस दृष्टिसे दुःख सर्वोत्कृष्टताकी ओर अग्रसर करनेमें हेतु है। भूलके अन्त करनेमें, सुखलोलुपताके नाशमें, स्वाधीनताकी प्राप्तिमें, भोगकी वास्तविकताके परिचयमें और निर्विकारताकी अभिव्यक्तिमें दुःखका मुख्य स्थान है।

रामायणमें भरतकी अनुकरणीय परम श्रद्धा और प्रेम

(लेखक—ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे, यह बात सभी रामायणोंमें स्वीकार की गयी है। रामायणोंके सिवा पद्मपुराण, महाभारत आदिमें भी भगवान् श्रीरामके चरित्रोंका वर्णन आता है; किंतु उनमें संक्षेपसे है और रामायणोंमें बहुत विस्तारसे है। हमलोगोंको सभी रामायणोंमें वर्णित भगवान्‌के चरित्रोंसे लाभ उठाना चाहिये। उनमें तुलसीकृत रामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्मरामायण तो प्रधान हैं ही। सीताजी और भाइयोंके सहित जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके आदर्श चरित्र हैं, वे सबके लिये अनुकरणीय हैं। जो मनुष्य श्रद्धेय पुरुषकी आज्ञाके अनुसार ही चलता है, वही श्रद्धालु है तथा उससे भी बढ़कर श्रद्धालु वह है, जो आज्ञाकी तो बात ही क्या, उनके संकेतके अनुसार चलता है। एवं वह तो परम श्रद्धालु है जो श्रद्धेयके मनके अनुसार चलता है। श्रीभरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमके आदर्श हैं, अतः हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। यहाँ भरतजीके परम श्रद्धा और परम प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखा जाता है।

महाराज दशरथजीकी मृत्युके बाद जब भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे अयोध्यामें आये तो वे माता कैकेयीसे मिलने गये और उनको वहाँ यह मालूम हुआ कि श्रीरामका वनगमन ही पिताकी मृत्युका कारण है। भरतजीने सोचा—‘पिताजी सत्यवादी धर्मात्मा थे। माता कैकेयीने जो यह वरदान माँगा कि श्रीराम चौदह वर्षके लिये वनमें जायँ और भरत राज्य करें तथा पिताजीके बहुत समझानेपर भी माता कैकेयीने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब पिताजीकी आज्ञा मानकर श्रीराम वनको चले गये। अतः श्रीराम, सीता और लक्ष्मणके वन-गमनमें मैं ही हेतु हूँ।’ उस समय भरतजी श्रीराम-प्रेमके कारण पिताजीकी मृत्युको तो भूल गये और इस अनर्थमें अपनेको ही कारण जानकर सहम गये और मौन हो स्तम्भित हो गये।

> भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
> हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
>
> (रा० च० मा० अयोध्या० १६०)

इसी बातको लेकर भरतजी माता कैकेयीसे न कहने योग्य वचन कहने लगे—‘तू नहीं जानती कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तूने राज्यके लोभसे इतना अनर्थ कर डाला, तेरा मनोरथ बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कभी पूर्ण नहीं करूँगा, मैं वनमें जाऊँगा और श्रीरामको वापस लौटा लाऊँगा। वे ही अयोध्याके राजा होनेके योग्य हैं। मैं तेरा मुख देखना नहीं चाहता। जहाँ तेरी इच्छा हो, वहाँ चली जा। भगवान् राम तो सबका हित करते हैं। उन्होंने तेरा क्या अहित किया जो तूने उनको वन भेजकर न करने योग्य काम किया। जब तेरे हृदयमें श्रीरामको वनवास देनेका बुरा विचार आया, तभी तेरे हृदयके टुकड़े क्यों नहीं हो गये और वरदान माँगते समय जीभ गल क्यों नहीं गयी, मुँहमें कीड़े क्यों नहीं पड़ गये, श्रीरामजी तुझे वैरी कैसे लगे, तू कौन है? तू जो भी हो, अब मुँहमें स्याही पोतकर उठकर मेरी आँखोंकी ओटमें जा बैठ।’

उस समय जब मन्थरा सज-धजकर कैकेयीके पास महलमें आयी तो शत्रुघ्नजीने उसको लात मारी, जिससे उसका कूबड़ टूट गया। फिर जब वे आवेशमें आकर उसको जमीनपर घसीटने लगे, तब भरतजीने उनको मना कर दिया कि स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतः तुम इसे

क्षमा कर दो। और यह भी कहा, 'यदि मुझे यह आशंका न होती कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता।'

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥
(वा० रा० अयोध्या० ७८। २२)

'इसलिये यह जो जीती है—श्रीरामजीकी कृपासे ही जीती है। श्रीरामजीको तो यदि मन्थराके मारे जानेका पता लग जाय तो वे मुझसे और तुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीकी यह बात सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया।

इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास जाकर उनसे मिले और वहाँ ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिससे माताका हृदय द्रवित हो गया। माता कौसल्याने कहा—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १६८। १–३)

माता कौसल्याके इन वचनोंसे पता लगता है कि भरतजीका श्रीरामके प्रति कितना अगाध प्रेम था।

पिताजीकी शास्त्रानुकूल और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद भरतजी राजसभामें आये। वहाँ माताओं, मन्त्रियों और माननीय पुरुषोंकी ओरसे वसिष्ठजीने भरतजीसे राज्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया; परंतु भरतजी अस्वीकार करते हुए बोले—'आपलोग तो मेरे भलेके लिये ही कहते होंगे, पर मुझे इसमें भला नहीं लगता, मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं—यह आप स्नेहके वश होकर ही कहते हैं। मैं तो चित्रकूट जाकर श्रीरामके दर्शन करूँगा, इसीमें मेरा हित है। आप सब लोग मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान करें।'

जाउँ राम पहिं आयसु देहू।
एकहिं आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू।
सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १७७। ४)

तदनन्तर अपनी दीनता और भगवान् रामके दयालु स्वभावका वर्णन करने लगे—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
(रा० च० मा० अयोध्या १८२। २३-२४)

भरतजीके ऐसे प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये और सभीने उनके प्रेमकी प्रशंसा की।

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १८३। २)

तदनन्तर भरतजीने माताओं, मन्त्रियों, प्रजाजनों और गुरु वसिष्ठजीके सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान किया। उस समय भरत-शत्रुघ्न पैदल ही चलने लगे। तब अन्य लोग भी घोड़े, हाथी, रथोंको छोड़कर पैदल चलने लगे। यह देखकर माता कौसल्याने भरतजीसे कहा—'तुम रथपर चढ़ जाओ।' दोनों भाई माताकी

आज्ञाको सिर चढ़ाकर, उनके चरणोंमें सिर नवाकर रथपर चढ़कर चलने लगे ।

आगे, जब वे शृंगवेरपुरके निकट पहुँचे तो निषादराज गुह उनके भावको जाननेके लिये भेंटकी सामग्री लेकर उनके पास आया । गुहने पूछा—'आपका इतनी बड़ी सेना लेकर चित्रकूट जानेका क्या प्रयोजन है ? मनमें बुरा भाव तो नहीं है ।' भरतने कहा—'निषादराज ! मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, मुझपर जितनी शंका की जाय, उतनी थोड़ी है । मैं भगवान् श्रीरामको लौटाने जा रहा हूँ । यह सब भेंट-सामग्री तो भगवान् राम ही ले सकते हैं, मैं तो उनका सेवक हूँ ।'

फिर भरतने गुहसे कहा—'जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने रात्रिमें शयन किया था, वह स्थान मैं देखना चाहता हूँ ।' निषाद उनको वहाँ ले गया ।

जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु ।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु ॥
कुस साँथरी निहारि सुहाई ।
कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई ॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई ।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे ।
राखे सीस सीय सम लेखे ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १९८ । १-२)

कैसा अद्भुत प्रेम है । इस प्रकार करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह चली और उनका हृदय द्रवित हो गया ।

वाल्मीकीय रामायणमें गुहने भरतसे बताया है—"मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेकों प्रकारके खाद्य पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये पहुँचाये थे; पर उन्होंने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कर लीं; किंतु उन्हें ग्रहण नहीं किया, मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया । फिर उन्होंने कहा—'हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये, बल्कि सदा देना ही चाहिये ।' सीताजीसहित श्रीरामचन्द्रजीने उस रात उपवास ही किया । लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन्होंने पीया और बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया । तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर सुन्दर बिछौना बनाया । उसीपर श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था । लक्ष्मण रातभर पहरा देते रहे । मैं भी बन्धु-बान्धवोंके साथ पहरा देता रहा ।

"मैंने उनसे सोनेके लिये कहा किंतु वे बोले—जब श्रीरामजी और सीताजी पृथ्वीपर सो रहे हैं तो मेरा सोना कैसे हो सकता है ?" तब—

भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी उस शय्याको देखकर कहा—'जिन सीताजीका दर्शन सूर्य, चन्द्रमा आदिको भी नहीं होता था, उनका दर्शन आज वनमें कोल-किरात, भील और मृगोंको होता है । जो सदा राजमहलमें मुलायम बिछौनोंपर सोया करती थीं, वे आज कुशकी शय्यापर सो रही हैं । इसका कारण मैं ही हूँ । मेरा यदि जन्म न होता तो श्रीसीताजी और श्रीरामजीको यह कष्ट क्यों होता ।'

भरतजी एक रात वहाँ रहकर फिर गङ्गापार होकर आगे पैदल ही चलने लगे । तब सेवकोंने कहा—'नाथ ! आप घोड़ेपर सवार हो जाइये ।' इसपर भरतजी बोले—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए ।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा ।
सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

तत्पश्चात् भरतजी भरद्वाजजीके आश्रममें गये और उनको दण्डवत् प्रणाम किया । भरद्वाज ऋषि उनसे और वसिष्ठजीसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले और फिर भरतसे बोले—'चित्रकूट जानेमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है । तुम श्रीराम और लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते ?'

यह सुनकर भरतजीकी आँखें दुःखके कारण डबडबा आयीं और उन्होंने कहा—'मुने ! आप तो महात्मा पुरुष हैं। आप तो सब कुछ जानते ही हैं । यदि आप भी तुमपर शंका करते हैं, मुझे इतना अधम समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया ।' भरद्वाजजी बोले—भरत ! मैं तपके बलसे जानता हूँ, तुम रामको वापस लाने जा रहे हो, मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मुझे रामका दर्शन हुआ और रामके दर्शनका यह फल है जो मुझे तुम्हारा दर्शन हुआ ।'

सब साधन कर सुफल सुहावा ।
लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा ।
सहित पयाग सुभाग हमारा ॥
(अयोध्या० २०९ । २-३)

मुनिने फिर कहा—'रामने एक रात यहाँ निवास किया था, तुमको भी यहाँ रहना चाहिये ।' भरतको एक दिन युगके समान प्रतीत होता था; किंतु भरद्वाजजीकी आज्ञा मानकर वहाँ निवास किया । भरद्वाजजीने वहाँ अपने तपोबलसे ऋद्धि-सिद्धियोंके द्वारा उन सबके लिये अलग-अलग महल, हाथी, घोड़े आदि तथा खाने-पीने, रहनेकी सब प्रकारकी सुख-सुविधा और नाना प्रकारकी भोग-सामग्रियाँ उत्पन्न करवाकर सेना और परिवारसहित भरतजीका बड़ा भारी आतिथ्य-सत्कार किया । सब लोग ऐसी विचित्र भोग-सामग्रियोंको देखकर हर्ष और विषादके वश हो गये। किंतु भरतजी भरद्वाजजीकी आज्ञासे रातभर भोग-सामग्रियोंके साथ रहकर भी उन्होंने उनका मनसे भी स्पर्श तक नहीं किया ।

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब रात्रिका समय हुआ, तब भरतजीके लिये बनाये गये महलको देखकर उन्होंने उसे भगवान् श्रीरामके योग्य समझा और मनमें वहाँ भगवान् रामका आवाहन किया एवं भाई शत्रुघ्नके सहित वे भगवान् रामको सिंहासनपर विराजमान समझकर रातभर उनपर चँवर डुलाते रहे ।

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
बालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥
(वा० रा० अयोध्या० ९१ । ३८-३९)

भरतजीने उस राजमहलमें दिव्य राज्यसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजा रामकी भाँति उनका सम्मान किया । श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर जा बैठे । कितना निरभिमानता, त्याग और प्रेमका भाव है !

इस प्रकार रातभर वहाँ निवास करके प्रातःकाल वे चित्रकूटकी ओर चले गये, रास्तेमें ऋषि-मुनियोंसे और साधारण मनुष्योंसे भेंट करते हुए चित्रकूट पहुँचे । वहाँ चित्रकूटमें नदीके समीप सेनाको ठहराकर वे आगे गये । श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें वर्णन है, भरतजी, शत्रुघ्नजी और गुह—तीनों भगवान् रामकी खोजमें घूमते रहे । उस समय भरतजीके मनमें अनेक प्रकारके विचार आने लगे 'मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, अतः माता कैकेयीकी करनीके कारण भगवान् राम कहीं इस वनको छोड़कर दूसरे वनमें न चले जायँ ।'

समुझि मातु करतब सकुचाहीं ।
करत कुतरकु कोटि मन माहीं ॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३२ । ४)

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥
(रा० च० मा० अयोध्या०-२३३)

उस समय भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी । उनकी चाल जलके भँवरकी तरह हो गयी । माताकी करनीको

याद करनेसे पैर पीछे पड़ते थे, किंतु भक्तिके बलसे चले जा रहे थे; और भगवान्के स्वभावको याद करनेसे उनके पैर उतावले होते थे।

अस मन गुनत चले मग जाता।
सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी।
चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी।
जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू।
भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३३ । २–४)

गुह तो उस समय प्रेममें मुग्ध हो जडवत् हो गया। आगे चलते-चलते एक टीलेपर चढ़कर दूरसे ही देखा कि एक वृक्षके नीचे वेदी—चबूतरेपर श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और ऋषि-मुनि बैठे हैं, वह दृश्य देखते ही गुहने भरतजीसे सब बतलाया। भरतजी प्रेममें मुग्ध होकर वहींसे भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हुए चले। मार्गमें उन्हें भगवान् रामके चरणोंके चिह्न मिले। भरतजी भगवान्के चरणोंकी धूलि उठाकर प्रेममें मग्न हो हृदयमें, आँखोंमें और सिरमें लगाने लगे।

हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३७ । २)

भरतजीके ऐसे प्रेम-भावको देखकर सभी प्रेममें निमग्न हो गये। जड चेतन और चेतन जड हो गये। वहाँ पहुँचनेपर भरतजीने 'हे नाथ ! रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये।' यों कहते हुए दण्डवत्-प्रणाम किया। ऐसा करते हुए उनको लक्ष्मणजीने देखा। भरतजी श्रीरामकी विरह-व्याकुलतामें इतने कृश हो गये थे कि लक्ष्मणजी भरतजीको पहचान नहीं सके, उनकी बोलीसे ही पहचाना कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। उस समय लक्ष्मणजी भरतजीसे मिलना चाहते थे; पर यह सोचकर कि भगवान्की सेवामें बाधा आ जायगी—वे भरतजीकी ओर नहीं गये और भगवान्की सेवा करते रहे; फिर भगवान्को नमस्कार करके लक्ष्मणजीने कहा—'नाथ! भरतजी आपको प्रणाम कर रहे हैं।' यह सुनते ही भगवान् प्रेममें अधीर होकर उठे। वे धनुष-बाण, तरकस और वस्त्रोंको भी सम्हाल नहीं सके तथा भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनोंके उस प्रेमभावको देखकर सब अपनी सुध भूल गये। उस समयका उनका प्रेम-मिलन अवर्णनीय था।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २४० । १)

फिर भगवान् रामने भरतजीसे पूछा—'कैसे आये हो?' भरतजीने उत्तर दिया—'मैं अकेला नहीं हूँ, माताएँ, मन्त्रीगण, वसिष्ठजी आदि भी साथ हैं। आपके सत्संगमें बाधा न आवे, इसलिये उन सबको चित्रकूटमें नदीके पास ठहरा दिया है।' जब भगवान् रामने सुना कि माताएँ और वसिष्ठजी भी आये हैं, तब वे शत्रुघ्नजीको सीताके पास ठहराकर लक्ष्मण, भरत और गुहके साथ वहाँ आये, जहाँ माताएँ और वसिष्ठजी आदि ठहरे हुए थे। आकर उन्होंने मुनियों और माताओंको प्रणाम किया तथा माताओंको विधवा-वेषमें देखकर पूछा—'माताओं-का यह वेष क्यों?' वसिष्ठजीने बतलाया—'महाराज दशरथ परलोक सिधार गये।' पिताजीकी मृत्युका समाचार सुन-कर श्रीरामजीने पिताजीकी शास्त्रविहित क्रिया की। श्रीरामजीने सोचा—'जो अन्न अपने खानेका होता है, वही देवताओं और पितरोंको दिया जाता है'—ऐसा सोचकर उन्होंने दुःखित हृदयसे इंगुदीके गूदेमें के

ताकर उसके पिण्ड दिये तथा उस दिन सबने उपवास किया ।

तत्पश्चात् जब सब लोग एकत्र हुए, तब वसिष्ठजीने भरतसे कहा—'तुम और शत्रुघ्न तो वनको चले जाओ और राम, लक्ष्मण तथा सीताको अयोध्या लौटा दिया जाय ।'

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई ।
फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५५ । २)

यह सुनकर भरतजी बहुत ही प्रसन्न हुए ।

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता ।
भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५५ । ३)

और फिर भगवान् रामसे बोले—'हम सभी आपको अयोध्या ले जानेके लिये आये हैं ।' भगवान् रामने कहा—'भरत ! यह पिताजीकी आज्ञा है । उन्होंने मुझको वनका राज्य दिया है और तुमको अयोध्याका; फिर भी तुम संकोच छोड़कर जो कहो, वैसे ही मैं करनेको तैयार हूँ ।' भरतजी बोले—'प्रभो ! आपको संकोचमें डालना मेरा कर्तव्य नहीं है, आप ही संकोच छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा करें, मैं उसीको सिरपर धारण करके करूँगा ।' फिर उन्होंने अपने आधारके लिये भगवान्‌के चरणोंकी पादुका माँग ली और चरणपादुकाको सिरपर धारण करके लौटते समय कहा—'यदि आप चौदह वर्षकी अवधिपर नहीं पहुँचेंगे तो पंद्रहवें वर्षके पहले दिन ही मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।' भगवान् बोले—'मैं ठीक समयपर पहुँचा रहूँगा ।'

तदनन्तर भरतजीने नन्दिग्राममें आकर चौदह वर्ष-तक मुनियोंके वेषमें जटा रखते हुए ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक जमीनपर ही निवास किया और भगवान्‌की चरण-पादुकाको सिंहासनपर रखकर उनकी नित्य पूजा-उपासना करते रहे । अन्तमें जब चौदह वर्षकी अवधिका एक दिन शेष रह गया, तब वे व्याकुल होकर विचार करने लगे—'भगवान् राम क्यों नहीं आये, उनके न आनेमें मैं ही कारण हूँ । लक्ष्मणका अहोभाग्य है जो उनके साथ गये । भगवान् मुझको कपटी और कुटिल जानकर साथ नहीं ले गये; किंतु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही दयालु है । वे मेरे दोषोंको नहीं देखते हैं । वे दीनबन्धु हैं, इसलिये मुझे विश्वास है कि वे मुझे जरूर मिलेंगे । यदि वे नहीं मिलेंगे तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे । यदि उनके न मिलनेपर मेरे प्राण रह जायँ तो मेरे समान कोई अधम नहीं; क्योंकि मैं यदि उनके न आनेपर अग्निमें प्रवेश करके प्राण-त्याग करूँ तो यह तो एक प्रकारसे आत्महत्याके समान होगा । यदि मेरा सच्चा प्रेम होगा तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे ।' इस प्रकार वे भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हो गये । कैसा अद्भुत प्रेम है ।

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । क, ख)

उनकी इस अवस्थाको देखकर हनुमान्‌जी हर्षित हो गये और भरतजीसे बोले—'सीताजी और लक्ष्मणजी-सहित भगवान् राम आ रहे हैं ।' यह शुभ-संवाद सुनकर भरतजीके आनन्दकी सीमा नहीं रही और पूछा—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए । मोहि परम प्रिय बचन सुनाए ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । ४)

हनुमान्‌जीने बताया—'मैं भगवान् रामका दास हूँ ।' यह सुनते ही भरतजी उनसे बहुत आदरसे मिले और उनके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ा ।

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना ।
नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर ।
सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता ।
नयन स्रवत जल पुलकित गाता ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । ३-४-५)

भरतजीने हनुमान्‌जीसे कहा—'मैं तुम्हें क्या पुरस्कार दूँ। इस संदेशके बदलेमें देने योग्य संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, अतः मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।'

एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमान नाइ पद माथा।
कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥
(रा० च० मा० उत्तर० १। ६-७)

हनुमान्‌जी भरतजीके प्रेमको देखकर मुग्ध हो गये और वापस शृंगवेरपुर जाकर उन्होंने भगवान्‌को सब कथा सुनायी। तब भगवान् राम विमानमें बैठकर आये। सुग्रीव आदिसे कहते रहे—'यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मनुष्यको मेरा सामीप्य प्राप्त होता है। यह मेरी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी है, इसके समान मुझे वैकुण्ठ भी प्रिय नहीं है, इस रहस्यको कोई-कोई जानते हैं।' फिर भगवान् राम वहाँ पहुँचकर माताओंसे और वसिष्ठजीसे मिले, सब गुरुजनोंके चरणोंमें नमस्कार किया तथा फिर भरतजी और शत्रुघ्नजीसे मिले। उस समय भरतजी-ने भगवान् रामके चरण पकड़ लिये और प्रेम-मग्न हो पृथ्वीपर पड़े रहे। भगवान्‌ने ही उनको जबरदस्ती उठाकर हृदयसे लगा लिया।

उस समय दोनों भाइयोंके रोंगटे खड़े हो गये और प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी।

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।
नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए।
बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४। ३-४ तथा छंद १)

इस प्रकार भरतजीका सारा जीवन ही श्रद्धा और प्रेमसे भरा हुआ है। वास्तवमें भरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमकी मूर्ति ही थे। उनके प्राणोंकी रक्षा उनकी परम श्रद्धासे ही हुई। उन्होंने भगवान् रामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही विवश होकर भगवान्‌के वियोग-में चौदह वर्षकी इतनी लंबी अवधि बिता दी। भगवान् राम भरतजीके प्रेमको जानते थे, इसीसे वे लंका-विजयके पश्चात् भरतसे मिलनेके लिये अधीर हो गये थे। उस समय उन्होंने भक्त विभीषणसे कहा था—

भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
(रा० च० मा० लंका० ११६ क-ग)

उधर भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल थे तो इधर भगवान् राम भरतजीसे मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर थे—भगवान्‌का यह तो नियम ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इन दोनोंका ही परस्पर अलौकिक प्रेमाधार है। वास्तवमें वे दोनों अभिन्नहृदय थे। स्वयं भगवान् रामने हनुमान्-जीसे कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३५। ३)

अतएव हमलोगोंको भरतजीके परम श्रद्धा और परम प्रेमसे ओत-प्रोत परम पवित्र आदर्श चरित्रोंको भलीभाँति श्रवण, पठन और मनन करके उनके अनुसार भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम करना चाहिये।

* * *

यथार्थ दृष्टि तथा सत्यदर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

द्रष्टाकी जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही दर्शन होता है। दृष्टिके आगे जिस रंगका शीशा होता है उसी रंगका दृश्य प्रतीत होता है। दृष्टिसे ही भोग होता है, मानस-रोगोंकी वृद्धि होती है तथा योगानुभव होता है। अपनी दृष्टिसे संसारमें सभी प्राणी सुखसे पूर्ण तृप्त रहना चाहते हैं, दुःख किसीको भी प्रिय नहीं है। पर जिस सुखके लिये बड़े-बड़े प्रयत्न किये जाते हैं वह चाहे जाते हुए भी छिनता रहता है और दुःख न चाहे जाते हुए भी आता ही रहता है। ऐसा कोई सुखी दीखता ही नहीं है, जिसे दुःखका भय न हो। साधारण रूपसे देखनेमें सहस्रों प्राणी अपने प्रिय संयोग, अभीष्ट लाभ और सम्मान तथा विषयोपभोगसे रात-दिन सुखी दीखते हैं, पर प्रत्येक सुखीके संयोग, लाभ और शारीरिक जीवनका अन्त क्रमशः वियोग, हानि और मृत्युमें होता ही है। अपनी-अपनी दृष्टिसे प्राणी जहाँ कहीं सुख मान रहे हैं, वहाँ उसका अभाव ही है। प्रत्येक प्राणीको जो कुछ भी सुखका आधार मिला है, वह सदा नहीं रहेगा। उसके परापेक्षी सुखका अन्त एक-न-एक दिन दुःखमें ही होना निश्चित है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि जिस सुखके पीछे प्राणी दुखी होता है उसीके लिये वह फिर अनवरत प्रयास करता रहता है। इस तरहकी मूढ़ता अशिक्षितोंको ही नहीं, बड़े-बड़े शिक्षितों और विद्वानोंको भी मोहित बनाये रहती है।

सुखोपभोगका लालच ही हमें वस्तु तथा व्यक्तिके संयोगकी दासतामें बाँधे रखता है, भयातुर बनाता है। इस तरह सुखके लालच और दुःखके भयसे ही हम-लोग कभी पुण्यकर्म करते हैं तो कभी अनेक पाप—अपराध भी कर बैठते हैं। सुखोपभोगके लालच और दुःखके भय बुद्धिको स्थिर नहीं होने देते। सुखका अन्त दुःखमें देखकर किसी भोगीको योगी होनेके लिये उसकी बुद्धिका स्थिर होना परमावश्यक है। बुद्धिको स्थिर करनेके लिये वैराग्य, अभ्यास, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी पूर्णता अनिवार्य है।

यह देखकर भी महान् आश्चर्य होता है कि संत-महात्माओंके संग और सत्कथा-श्रवणके द्वारा वैराग्य, अभ्यास, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी कमीका ज्ञान होनेपर भी साधक इनकी पूर्णताका समुचित प्रयत्न नहीं करते, इसके विपरीत धन, मान तथा भोग-वस्तुकी पूर्तिके लिये रात-दिन चिन्तित रहते हैं। कुछ ऐसे भी साधक हैं जो प्रत्येक सुखोपभोगके अन्तमें दुःखका दर्शन करते हुए भोगी न रहकर योगी होना चाहते हैं, उनका ध्यान किसी आदर्श विरागी, त्यागी, अभ्यासी और ज्ञानी तथा प्रेमी भक्तकी ओर जाता है; ऐसे साधक किसीके ऐकान्तिक वैराग्यको देखकर आकृष्ट होते हैं, पर उसका-सा वैराग्य तो धारण नहीं कर पाते। प्रत्युत उस विरागीके ही रागी बन जाते हैं। इसी तरह कोई साधक किसी योगाभ्यासीकी अभ्यास-विधिपर आकर्षित होते हुए उसे तो नहीं ग्रहण कर पाता, उस योगाभ्यासीके निकट रहनेका ही अभ्यासी बन जाता है। कोई साधक किसीके आदर्श त्यागमें मुग्ध होते हुए उसके समान स्वयं त्यागी नहीं हो पाता, उस त्यागीका ही रागी बनकर अपनी प्रीतिको व्यक्तित्वमें सीमित कर बैठता है। कोई साधक ऐसा भी दीखता है जो अपनेमें यथार्थ ज्ञानकी कमीका अनुभव करते हुए किसीके कलात्मक प्रवचनको सुनकर उसे महान् ज्ञानी मानकर उसकी शरण लेता है, पर बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि वह भी उस ज्ञानीके संगसे अपने अन्तरमें ज्ञानज्योति प्रकाशित न करते हुए केवल ज्ञानीको,

देखते हुए संतोष मानता है, उसीका मोही हो जाता है। सहस्रों साधकोंकी इस तरहकी मोहमयी दुर्दशाको देखकर कृपालु गुरुजन उन्हें सावधान करते हैं कि परमार्थ-पथमें चलनेवाले जबतक इन्द्रिय तथा मनके द्वारा प्रतीत होनेवाले विषय-सुखके आस्वादसे विरक्त न बनेंगे, तबतक आदर्श विरागी, योगाभ्यासी, त्यागी और ज्ञानी अथवा प्रेमीका संयोग प्राप्त होनेपर भी उनके भोगी ही बनते रहेंगे, उनके द्वारा योगी न हो सकेंगे।

किसीमें आदर्श विराग, सिद्धिदायक अभ्यास, शान्तिप्रद पूर्ण त्याग तथा आनन्दमय प्रेमका दर्शन बुद्धि-दृष्टिसे होता है, पर उसी स्थानमें विरागके साथ विरागी, अभ्यासके साथ अभ्यासी, ज्ञानके साथ ज्ञानी तथा प्रेमके साथ प्रेमी और भक्तिके साथ भक्तका दर्शन इन्द्रिय-दृष्टिसे होता है। यह गुरु-निर्देश है कि सावधान होकर बुद्धि-दृष्टिसे दीखनेवाले विराग, अभ्यास, पूर्ण त्याग तथा तत्त्वज्ञान एवं प्रभु-प्रेमको अपनानेसे साधक स्वयं विरागी, अभ्यासी, त्यागी, तत्त्वज्ञानी और प्रभुप्रेमी बन जायँगे, इसके विपरीत इन्द्रिय-दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले विरागी, अभ्यासी, त्यागी तथा तत्त्वज्ञानी और प्रेमीके व्यक्तित्वसे ही मोह करेंगे तो असत्, अनित्यके भोगी बने रहकर नित्य सत्यके योगसे वञ्चित रह जायँगे।

यद्यपि किसी विरागी, योगाभ्यासी, आदर्श त्यागी और तत्त्वज्ञानी अथवा भगवत्प्रेमीमें प्रगाढ़ श्रद्धा होनेपर साधकपर उसके व्यक्तित्वका प्रभाव पड़ता ही है, पवित्र संगके प्रभावसे पवित्र भाव-विचारका अवतरण होता ही है तथापि किसी विरागी, योगाभ्यासी, त्यागी, भगवदनुरागीके मनमें यदि सांसारिक वासना, कामना अथवा धन-मान-सुखोपभोगकी तृष्णा छिपी रहती है तो उसके संगसे सद्गतिके स्थानमें दुर्गति भी हो सकती है; इसलिये साधकको सरल भावसे सर्वसमर्थ प्रभुकी ही शरण लेनी चाहिये; ज्ञान और संगका अभिमान छोड़ देना चाहिये।

ज्ञानका अभिमान रखनेवाले अनेक बुद्धिमान् विद्वान् साधन-पथमें अधिक भटकते देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने ज्ञानके अभिमानमें किसी साधुके स्थूल हृष्ट-पुष्ट देहमें मुग्ध होकर ही उसे सिद्ध महात्मा मान लेते हैं, किसी साधु-संन्यासीकी प्रवचन-कलामें आकर्षित होकर उसे प्रवचनके मध्य अंग्रेजी-फारसीके वाक्योंका प्रयोग करते देखकर महान् विद्वान् महात्मा समझ लेते हैं; किसी तपस्वीके नग्न शरीरमें वस्त्र न देखकर तथा मौन पाकर ही उसके सिद्ध तथा महान् तपस्वी होनेका अनुमान कर लेते हैं, किसी साधुको हरिनामध्वनिके साथ अश्रुपात तथा नृत्य करते और मूर्च्छित होते देखकर महान् भक्त होनेका निर्णय कर लेते हैं और अपनी समग्र श्रद्धा प्रकटकर उसका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं, उसमें प्रीति होनेके कारण प्रायः दीखनेवाले दोषोंमें भी गुणकी प्रतिष्ठा करते रहते हैं; पर यदि कोई व्यक्ति दम्भी, भोगार्थी तथा धनार्थी है तो वह कुछ समयतक भले ही किसीको धोखा दे सकता है, वह सदा ऐसा नहीं कर सकता; कभी-न-कभी दम्भ अथवा पाखण्ड प्रकट हो ही जाता है। कोई साधक जिज्ञासु अपने प्रमाद तथा ज्ञानके अभिमानवश किसीसे कुछ समयतक भले ही धोखा खा सकता है; वह भी सदाके लिये धोखेमें नहीं रह सकता, सर्वसमर्थ प्रभुके विधानसे उसे यथार्थ ज्ञान होगा ही।

यथार्थ ज्ञानमें अहंकार बहुत ही बाधक है। बुद्धिकी सीमाके भीतर जो कुछ भी आ जाता है उसीका अहंकार होता है। चाहे देहका बल हो, चाहे सुन्दर रूप हो, चाहे विद्या, तप या त्याग हो, चाहे शास्त्र-वेदका ज्ञान ही हो, सब कुछ बुद्धिकी सीमामें अहंकारको ही पुष्ट करता है। यह अहंकार ही रागवश भोगी बनता है, ज्ञानद्वारा योगी होता है। 'मैं हूँ'—यह असंग अहंका बोध है। इसी 'मैं हूँ' के बीच

जब कुछ मिल जाता है तब अहंका आकार अथवा अहंकार बन जाता है। यह अहंकार ही अपना परिचय देता है 'कि मैं इस नाम, जाति अथवा वर्णका हूँ, बलवान्, धनवान्, तपस्वी, त्यागी, विद्वान् और ज्ञानवान् हूँ।' यह अहंकार ही सत्यदर्शनमें बाधक बनता है। यह 'मैं' अपने साथ कुछ मिलाकर या किसी वस्तु, व्यक्ति या अवस्था अथवा परिस्थितिसे मिलकर जब अहंकार बन जाता है, तभी अपने स्वरूपको भूलकर यह जो कुछ भी सम्मुख देखता है, उसके रूपको भी नहीं पहचान पाता; इसे किसी भी दृश्यपदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत ज्ञानका अभिमान होता है। यह अहंकार न स्वार्थको जानता है, न परमार्थ ही समझता है; इसीलिये सुखके पीछे दुःख भोगता है, लाभके पीछे हानि देखता है, सम्मानके पीछे दीन—पराधीन हो जाता है, संयोगके पीछे वियोगसे पीड़ित होता है और माने हुए जीवनके पीछे मृत्यु देखता है। जहाँ यह अहंकार अपने आगे एक विशाल संसार देखता है पर अपने पीछे परमाश्रयको नहीं देख पाता, वहीं अनन्तकी अहैतुकी कृपासे बार-बार बलात् आनेवाले दुःखोंके तापसे तपकर कभी-न-कभी इसे यथार्थ दृष्टि—दूरदृष्टि अथवा सत्यदर्शकदृष्टि प्राप्त होती है और तभी यह अनित्यके साथ ही नित्य_तत्त्व, असत्‌के साथ सत् तत्त्व तथा परके साथ ही स्व-तत्त्वको साक्षात्कार करने लगता है।

किसी साधकको भगवान्‌के मनोऽभिलषित दर्शन हो जायँ पर देखनेकी यथार्थदृष्टि प्राप्त न हो तो इन्द्रिय-दृष्टि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आगे नहीं जा सकती; साधकका परम कल्याण तो बुद्धिदृष्टि, आत्मदृष्टि अथवा दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेपर ही सम्भव है। कोई साधक मूर्खों तथा अशिक्षितोंकी दृष्टिमें महान् विद्वान् भले ही बन जाय, निर्बलोंकी दृष्टिमें महान् बलवान् भले ही हो जाय, मन्द दृष्टिवालोंके कहनेसे उसे भले ही त्रिकालदर्शी मान लिया जाय, विषयासक्त, भोगी, आशापाशबद्ध जनोंके लिये भले ही मुक्त महान् संत गुरुपदमें प्रतिष्ठित हो जाय पर अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती। किसी भी प्रकारका संगाभिमान रहते वह बन्धनमुक्त नहीं हो सकता। परमात्मासे तनिक भी भिन्नता रहते वह भक्त नहीं हो सकता। यह निर्णय तत्त्ववेत्ताओं और बुद्धियोगियोंका है।

मनके संयोगसे शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयका भोग होता है। बुद्धियोग सुलभ होनेपर भोगके परिणामका दर्शन होता है। भोगवृत्ति ही दर्शनकी दृष्टिको आवृत किये रहती है। जबतक कहीं हर्ष होता है, शोक, राग या द्वेष होता है, जबतक भय-चिन्ता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंकी विषमता रहती है तबतक साधक ठीक भजन नहीं कर पाता; क्योंकि वह भोगी है, योगी नहीं है। कोई भी साधक प्राप्त शक्ति और योग्यताका परहितमें सदुपयोग करते हुए भोगकी सीमा पारकर बुद्धियोगी हो सकता है। वह यदि ऐसा नहीं कर सकता है तो प्रीतिपूर्वक परमप्रभुके स्मरण-चिन्तन-भजनसे उन्हींकी कृपाके द्वारा बुद्धियोगी हो सकता है। जबतक अहंकार शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, विद्या, तप, त्याग और ज्ञानका भोग करता है, तबतक योग नहीं हो सकता। नित्ययोगकी निरन्तर अनुभूतिमें भोगासक्ति ही बाधक है; इन्द्रिय-दृष्टिसे विषयजनित सुखको सत्य मान लेना ही भोगासक्तिमें सहायक है, इन्द्रिय-दृष्टिसे विषय-ग्रहण होता है, मनके संयोगसे भोग होता है; बुद्धियोगसे उसी भोगके परिणामका दर्शन होता है। यथार्थदर्शी ही त्यागी होता है, पूर्ण त्यागी ही प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करता है। पूर्ण त्यागी तथा पूर्ण प्रेमीके ही द्वारा परम पद प्राप्त किया जाता है।

धन-शक्ति

[महायोगी श्रीअरविन्द]

धनके चाहनेवाले या रखनेवाले धनके स्वामी तो क्या होते हैं, अधिकतर धनके दास ही होते हैं। धन जो बहुत कालसे असुरोंके हाथोंमें रहा और इसका जो बराबर दुरुपयोग हुआ, इससे इसपर दोषकी एक ऐसी गहरी छाप लगी हुई है कि उससे कोई मुश्किलसे ही बचता हो। इसीलिये प्रायः सभी आध्यात्मिक साधन-मार्गोंमें पूर्ण संयम, अनासक्ति और धनके सब बन्धनों तथा प्रत्येक प्रकारकी वैयक्तिक और अहंकार-युक्त वित्तैषणाके त्यागपर इतना जोर दिया जाता है। कुछ साधन-मार्ग तो धन-वैभवको पाप ही समझते हैं और यह बतलाते हैं कि दरिद्रता और अपरिग्रहका होना ही आध्यात्मिक स्थिति है। पर यह भूल है। इससे यह शक्ति दानवी शक्तियोंके हाथोंमें ही रह जाती है। इसका भगवान्‌के लिये पुनरुद्धार करना; क्योंकि यह भगवान्‌की है और भागवत जीवनके लिये भागवत-भावसे इसका उपयोग करना साधकका विज्ञानमूलक मार्ग है।

धनशक्ति और उससे प्राप्त होनेवाले साधनों और पदार्थोंसे तुम्हें वैरागियोंकी तरह भागना न चाहिये और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके भोगमें पड़े रहनेकी दासत्व-वृत्तिका ही पोषण करना चाहिये। धनको केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है, जिसे माताकी सेवाके लिये जीतकर लौटा लाना है और उन्हींकी सेवामें अर्पण कर देना है।

सारा धन भगवान्‌का है और यह जिन लोगोंके हाथोंमें है, वे उसके ट्रस्टी (रक्षक) हैं, मालिक नहीं। आज यह उनके पास है, कल कहीं और चला जा सकता है। जबतक यह इनके पास है, तबतक ये इस ट्रस्टका पालन कैसे करते हैं, किस भावसे करते हैं, किस बुद्धिसे उसका उपयोग करते हैं और किस काममें करते हैं—इसीपर सब कुछ निर्भर करता है।

अपने लिये जब तुम धनका उपयोग न करो। जो कुछ तुम्हारे पास है, जो कुछ तुम्हें मिलता है या जो कुछ तुम ले आते हो, उसे माताका समझो। स्वयं कुछ भी मत चाहो; पर वे जो कुछ दें, उसे स्वीकार करो और उसी काममें उसे लगाओ, जिसके लिये वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ, सर्वथा न्यायनिष्ठ, ठीक-ठीक हिसाब रखनेवाले तफसीलकी एक-एक बातका ध्यान रखनेवाले उत्तम ट्रस्टी बनो। सदा यह ध्यान रक्खो कि तुम जिस धनका उपयोग कर रहे हो, वह उनका है, तुम्हारा नहीं। फिर उनके लिये जो कुछ तुम्हें मिले, उसे श्रद्धाके साथ उनके सामने रक्खो, अपने या और किसीके काममें उसे मत लगाओ।

कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिये उसके सामने सिर नीचा मत करो। उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभावके वशीभूत मत हो। माताके लिये जब तुम किसीसे कुछ माँगो तो तुम्हें यह प्रतीत होना चाहिये कि माता ही तुम्हारे द्वारा अपनी वस्तुका किंचित् अंश मात्र माँग रही हैं और जिस व्यक्तिसे इस तरह माँगा जायगा, वह इसका क्या जवाब देता है, उसीसे उसकी परीक्षा होगी।

यदि धनके दोषसे तुम मुक्त हो; पर साथ ही संन्यासीकी तरह तुम उससे माँगते नहीं हो तो भागवत-कर्मके लिये धन जय करनेकी बड़ी क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। मनका समत्व, किसी स्पृहाका न होना और जो कुछ तुम्हारे पास है और जो कुछ तुम्हें मिलता है और तुम्हारी जितनी भी उपार्जन-शक्ति है, उसका

भागवती शक्तिके चरणोंमें तथा उन्हींके कार्यमें सर्वथा समर्पण। ये ही लक्षण हैं धनदोषसे मुक्त होनेके। धनके सम्बन्धमें या उसके व्यवहारमें किसी प्रकारकी मनकी चञ्चलता कोई स्पृहा, कोई कुण्ठा किसी-न-किसी दोष या बन्धनका ही निश्चित लक्षण है।

इस विषयमें उत्तम साधक वही है जो दरिद्रतामें रहना आवश्यक होनेपर वैसा रह सके और उसे किसी अभावकी कोई वेदना न हो या उसके अंदर भागवत-चैतन्यके अबाध पीड़नमें कोई बाधा न पड़े और वैसे ही यदि उसे भोगविलासकी सामग्रीके बीचमें रहना पड़े तो वह वैसे भी रह सके और कभी एक क्षणके लिये भी अपने धन-वैभव या भोगविलासके साधनोंकी इच्छा या आसक्तिमें न जा गिरे, असंयमका दास न हो अथवा धन रहनेपर जैसी आदतें पड़ जाती हैं, उनसे बेबस न हो जाय। भागवती इच्छा और भागवत आनन्द ही उसका सर्वस्व है। [संकलयिता—माधव]

अन्तर्मुख-वृत्ति

(लेखक—विद्यावाचस्पति श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')

भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें मोहग्रस्त हतबुद्धि पार्थ अर्जुनको उपदेश करते हुए कहा था—'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ मेरी अपरा प्रकृति हैं और यह अखिल ब्रह्माण्ड जिस शक्तिपर अवस्थित है, वह मेरी परा प्रकृति है।' ये दोनों प्रकृतियाँ अन्योन्याश्रय होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न हैं—यही इनकी विशिष्टता है।

इन आठ अपरा प्रकृतियोंमेंसे पहली पाँच व्यक्त हैं और शेष तीन अव्यक्त। साधारणतः जिसे हम प्रकृतिरूपसे मानते हैं, वह अपरा है। शरीर अपरा प्रकृति है। जीव, जिसके कारण शरीरकी स्थिति है, वह परा प्रकृति है। अपरा परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही इसका धर्म है, क्रिया है। इस समस्त परिवर्तन और हेर-फेरको नियन्त्रित करनेवाली शक्ति परा कहलाती है। आठों प्रकृतियाँ अर्जन करती और व्यय भी करती हैं। आती हैं और जाती भी। परिवर्तन और आवागमन इनका गुण है; परंतु परा प्रकृतिकी सहायताके बिना ये पङ्गु हैं—निष्क्रिय हैं। अपरा प्रकाश है और परा प्रकाशक है। अपरा प्रकृति जगत् है और परा प्रकृति ब्रह्म।

प्रकाश और प्रकाशक; जगत् और ब्रह्म—इन दोनों भावोंसे युक्त सृष्टिके कार्य और कारणोंकी उत्पत्ति हुई है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वाद और मतोंकी बुनियाद इन्हींपर उत्खनित हैं। मनुष्य अपने धर्मग्रन्थोंद्वारा परा प्रकृतिको खोजने और जाँचनेका प्रयत्न करता है। किंतु पुस्तकीय ज्ञान उसे परा प्रकृतिके पथपर ले जाकर भटका देता है—भ्रममें डाल देता है। उस समय मनुष्य दिग्भ्रान्त बनकर 'किंकर्त्तव्यविमूढ'-जैसा हो जाता है। ऐसा इसलिये होता है कि पुस्तकद्वारा प्राप्त ज्ञान स्वयं उसका अर्जित ज्ञान नहीं है। उसे बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके अनुभवमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

ज्ञान और अनुभव—दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। विद्या प्राप्त करना ज्ञान है और उसे अनुभवमें उतारना विज्ञान है। श्रद्धाके बिना कभी सत्य ज्ञान नहीं होता। श्रुतिका यह वचन प्रत्येक ज्ञानार्थी, विद्याभ्यासीको गाँठ लगाकर पल्ले बाँध रखना चाहिये—

'श्रद्धया सत्यमाप्यते।'

बिना श्रद्धाके सत्य नहीं मिलता और बिना सत्य ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति ही सच्चा विज्ञान है। श्रद्धा तदाकार वृत्तिका परिणाम है। निर्मल एवं शुद्ध बुद्धिको तदाकार वृत्ति सुलभ है। लड्डू मीठा होता है और उसके खानेसे प्रसन्नता होती है तथा शरीरको बलकी प्राप्ति होती है, परंतु केवल इतना ज्ञान मात्र होनेसे ही मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। लड्डू बनाकर खानेसे ही तुष्टि होती है। उसे बनाकर खाना अनुभव है, विज्ञान है। बनाकर खानेवालेको लड्डुओंके लिये इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। जब कभी उसे इच्छा होगी, बना लेगा। 'लड्डू बनाना ही

है'—ऐसा जबतक प्रबल संकल्प नहीं होता—लड्डूके साथ तदाकार वृत्ति नहीं मानी जा सकती, तबतक लड्डू बनानेके विज्ञानका जन्म नहीं होता। लड्डू बनाकर खानेवाला उसके स्वादकी, उसके आकारकी, उसके गुण-दोषकी उलझनमें नहीं पड़ता।

अनुभवरहित केवल पुस्तकीय ज्ञान व्यक्तिको बहिर्मुख बना देता है। उसे भ्रान्त बनाकर उलझन उत्पन्न कर देता है। जहाँ उलझन है—भ्रान्ति है, वहीं कुण्ठा है। जहाँ कुण्ठा है, वहाँ परमेश्वर नहीं, समदृष्टि नहीं, समानता नहीं।

सृष्टिके आरम्भमें इतना पुस्तक-साहित्य उपलब्ध नहीं था, जितना कि आज है। उस समय व्याकरण, न्याय, तर्क आदि शास्त्रोंका पता नहीं था। ये सब आत्मासे उत्पन्न हुए हैं। सब वस्तुओंका मूल अंदर है, बाहर नहीं। उदाहरणार्थ किसी यन्त्रको, जैसे मोटर, रेडियो आदिपर विचार करेंगे तो आप पायेंगे कि उनका आविष्कार मानव-मस्तिष्कसे ही हुआ है। मोटरके प्रथम आविष्कर्त्ताके पास उससे पूर्व कोई मोटर अथवा तत्सम यन्त्र नहीं था और न तद्विषयक कोई पुस्तक ही थी। रेडियोके आविष्कारकने अपनी अन्तर्बुद्धिसे ही रेडियो-विषयक खोज की, तब रेडियोका जन्म हुआ। जो वस्तुएँ अशक्य और असम्भव जान पड़ती थीं, वे उनके आविष्कर्ताओंको खेल-सा जान पड़ीं। प्रत्येक बातका बीज मनमें है और प्रस्फुटित तथा विकसित होकर वह बाहर आती है।

निसर्गने अपना कोषागार सबके लिये समानरूपसे खोल रक्खा है। वहाँ ऊँच-नीचका भेद-भाव तथा किसी प्रकारका कोई पक्षपात नहीं है। उस अगाध भण्डारसे रत्नराशि प्राप्त करनेके लिये हमारा आत्मा, मन और बुद्धि हमारे पास है। निमित्त प्राप्त होनेपर पदार्थकी उत्पत्ति सहज-सुलभ है। वैशाख और ज्येष्ठमें चलनेवाली आँधियोंमें जब घास आदिके सूक्ष्म बीज धूलके साथ उड़ते हैं, उस समय उस बवंडरमें 'घास आदिके बीज नहीं हैं' ऐसा नहीं कहा जा सकता। वर्षा ऋतुमें वर्षाजलका सिञ्चन निमित्त मिलते ही वे उग आते हैं। वे हरे होकर पृथ्वी-पृष्ठको हरा-भरा कर देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बिना निमित्तके उन बीजोंके रहते हुए भी कुछ नहीं हो सकता। अंग्रेजी भाषाकी एक कहावतका अभिप्राय है—

'अत्यन्त वृद्धा स्त्री दरिद्ररूपी निमित्तसे प्रताडित घर-घर भटकती है।' जो मनुष्य विद्वान् है, वह निर्धन नहीं रह सकता। वह अपना मार्ग किसी-न-किसी तरह ढूँढ ही लेता है। उसके पास लक्ष्मीके बीजको अङ्कुरित करनेके लिये विद्यारूपी जल निमित्त है। उन्नत देश विद्याके प्रतापसे ही अपनेको आगे बढ़ा पाये हैं।

आवश्यकताको नियमोंकी कोई जरूरत नहीं पड़ती। आवश्यकता नियमोंके बन्धनोंमें आबद्ध नहीं रहती। वह नियमोंको तोड़ डालती है और तोड़े हुए नियमोंसे अधिक श्रेष्ठ नियमोंका निर्माण करती है। भेदभावके नियम तोड़नेकी आवश्यकता हमें आज विवश कर रही है। हमारा ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है और उससे हमारी चिन्तन एवं मननशक्तिका ह्रास हो चुका है। हमलोग बाहरी पदार्थोंपर रीझते हैं; किंतु उसके अन्तरंगको ढूँढ निकालनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि बाहरसे आयी हुई वस्तु कदापि हमारी नहीं हो सकती। जो भीतरसे बाहर आवे, वही हमारी कही जा सकती है। वनवासी ऋषि-मुनियोंने बिना किन्हीं ग्रंथोंकी सहायताके अमित ज्ञानके श्रोत प्रवाहित कर हमें चिर ऋणी बनाया है। उनकी ज्ञान-गङ्गाकी गंगोत्तरी उनके मानस-तुषाराद्रिसे प्रकट होकर संसारके कल्मष-प्रक्षालनकी क्षमता रखती है।

मार्गशोधनमें संयम ही मनुष्यका सच्चा साथी बनता है। धारणा, ध्यान, समाधि—इन तीनोंके मिलनेसे संयमका जन्म होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम धारणा है, वहीं-का-वहीं उसे लगाना ध्यान कहलाता है और ध्यान लगी हुई वस्तुमें मनको तदाकार करना समाधि है। बिना समाधिके कोई भी ज्ञान नहीं होता। किसी कृषि कॉलेजसे स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण छात्र, कॉलेजसे निकलते ही कृषिविषयक बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें कर सकता है, परंतु गेहूँ बोनेके लिये कौन-सी और चनेके लिये किस किस्मकी भूमि उपयुक्त है, यह बात तो बहुत समयसे लगी हुई समाधिमें अनुभव प्राप्त एक अपढ़ किसान तत्काल बता सकता है।

स्वतन्त्र वृत्तिसे कार्य न हो तो मनुष्यके मनुष्यत्वका प्रादुर्भाव नहीं होने पाता। ईश्वर हममें व्यापक है—यह ज्ञान होनेपर भी, यथार्थ ज्ञानके अभावमें वासनाएँ हमारे मनमें उछल-कूद मचाये रहती हैं और उसपर अज्ञानका मैला आवरण पड़ा होनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो पाता।

काम करते समय अथवा मित्रोंसे गपशप लड़ाते समय मनका पता नहीं लगता। जप, तप, तीर्थ, यज्ञ-यागादि कर लेना सहज है, किंतु मनोवृत्तियोंके साथ एकान्तमें जो युद्ध किया जाता है, उसमें विजय पाना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य प्रत्येक दिन अधिक नहीं तो पाँच-दस मिनिट ही एकान्तमें बैठकर अपनी वृत्तिरूपी लहरोंका दमन करे, उन्हें अपनेसे दूर करनेका अभ्यास करे, तो उसे तुरंत अनुभव हो जायगा कि 'मन उसे हराता है या मन उससे हारता है।'

जिसने अपने मनपर अपना पूर्णाधिकार कर लिया, उसने संसाररूपी कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें विजय प्राप्त की, ऐसा मानना चाहिये। शास्त्रोंने ईश्वरोपासनाका विधान इसीलिये किया है। परंतु मनुष्य, उपासना ईश्वर सांनिध्यके लिये नहीं, बल्कि दिखावामात्रके लिये करने लगा है। उपासनामें प्रेमार्थ अथवा प्रेम-दृष्टिसे हमलोग ईश्वरको नहीं देखते। कर्तव्य कर्तव्यके लिये है, फलके लिये नहीं। ईश्वर-प्रार्थनामें फलप्राप्ति हमारा लक्ष्य होता है—उसमें कर्तव्यका ध्यान भुला दिया जाता है। यही कारण है कि हमारी प्रार्थना, पूजा निष्फल रहती है और पठन-पाठन मिथ्या हो जाता है।

गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति महान् प्रेम था। वे प्रेमके लिये श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं। वे सदैव यही चाहती थीं कि 'जन्म-जन्मान्तरमें भी श्रीकृष्णचन्द्रमें हमारा विशुद्ध प्रेम रहे।' वे अपने आराध्यसे यही माँगा भी करती थीं। विशुद्ध प्रेमका मधुर निर्झर सदैव उनके मानसमें बहा करता था। वहाँ वासना और कलुषताकी कल्पना भी नहीं थी। भीष्मसे युद्ध, गोपियोंसे प्रेम, अर्जुनको गीता-ज्ञान आदि बातें श्रीकृष्णकी विलक्षणता सूचित करती हैं। उनके जीवनकी सादगी अद्भुत थी। राज्योंको जीतकर उन्हें उनके सच्चे अधिकारियोंको सौंप दिया, अपना ज्ञान विश्व-कल्याणके लिये अर्जुनादिके माध्यमसे संसारको प्रदान किया। यह श्रीकृष्णरूपी आत्मा अर्जुनरूपी मनको प्रत्येक मनुष्यके अंदर गीताका पवित्र ज्ञान सुना रहा है। परंतु अर्जुन अर्थात् मन तैयार नहीं है। उसके हाथसे गाण्डीव स्खलित हो रहा है, शरीरसे पसीना बह रहा है और बारंबार मूर्च्छा आ रही है। वह कृष्ण अर्थात् आत्माकी बातें सुनना पसंद नहीं करता—उस ओर देखना तक नहीं चाहता। वह तो बाह्य—भौतिक वस्तुओंके सुखोंका लोभी हो रहा है। उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं है। उसके ब्रह्मचर्यकी नींव खोखली पड़ गयी है, गृहस्थाश्रमकी दीवारें हिल रही हैं, वानप्रस्थकी पर्णशाला टूट गयी है और संन्यासाश्रमका चमकीला स्वर्णकलश झुक गया है। फिर भी ऐसी दशामें भी बाह्य, सांसारिक बहिर्वृत्तियोंसे हटकर अन्तर्मुखी वृत्तिके अभ्यास एवं ग्रहणद्वारा, मनुष्य अपना वर्तमान और भविष्य परमोज्ज्वल बना सकता है।

◆

संतका स्वरूप

आकिंचन इंद्रीदमन रमन राम इकतार।
तुलसी ऐसे संतजन विरले या संसार॥
अहंवाद 'मैं' 'तैं' नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ।
दुखतें दुख नहिं ऊपजै, सुखतें सुख नहिं होइ॥
सम कंचन काँचै गिनत सत्रु मित्र सम दोइ।
तुलसी या संसारमें, कहत संत जन सोइ॥
बिरले बिरले पाइये माया-त्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी केक अनंत॥
मैं तैं मेट्यो मोह तम उग्यो आतमा भानु।
संतराज सो जानिये तुलसी या सहिदानु॥

—तुलसीदासजी

सफलता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

'अस्वस्थ देह, अशान्त मानस, अहंकार-उन्मत्त मानव यदि सफल हैं, तो असफल कौन कहा जायगा ?' वह आज पूर्णतः उत्तेजित है । आत्मघात करनेको उद्यत होनेवालेकी उत्तेजना अपनी चरम सीमापर होती ही है । ऐसा क्षुब्ध व्यक्ति किसीका भी संकोच नहीं करता । वह बलात् खींच लिया गया, जब गङ्गोत्तरीमें गङ्गाके प्रवाहमें अपना शरीर समर्पित करने जा रहा था । इस बातने उसे अधिक क्षुब्ध कर दिया है—'आप कहते हैं कि मेरे पास सम्पत्ति है, अधिकार है, सम्मान है । मैं इतना सफल जीवन प्राप्त करके यह अनर्थ क्यों कर रहा हूँ । यह बात आपके—एक साधुके मुखसे शोभा देती है ! मानव-जीवनके बहुमूल्य वर्षोंको विनष्ट करके, सतत श्रमसे स्वास्थ्यकी बलि देकर धातुकी चमकती राशि, कुछ रंगीन कागजके टुकड़ोंके पुलिन्दे अथवा मूल्यवान् कहे जानेवाले पत्थर पा लिये, मूर्खोंके समुदायने अपना अग्रणी मान लिया अथवा प्रशंसाके पुल बाँध दिये और इस प्रशंसा एवं अधिकारने अन्तरकी शान्तिको अपहरण कर लिया । इसपर अब आपके यह महाव्यंग्य कि मैं अत्यन्त सफल व्यक्ति हूँ !'

'किंतु अपघातका यह अनर्थ तुम्हें किस समस्याका समाधान देगा ?' साधुने शान्त स्वरमें कहा—'शेष प्रारब्धसे छुटकारा मिलना नहीं है । जीवनसे असमय भागनेका अपराध करके तुम अपनेको अधिकतम दण्डका ही भागी बनाओगे !'

'हे भगवान् !' वह दोनों हाथोंसे सिर पकड़कर बैठ गया और फूट-फूटकर रोने लगा ।

'भगवान् करुणावरुणालय हैं । उनका असीम अनुग्रह है तुमपर ।' साधुने स्वस्थ आश्वासन दिया—'अन्यथा सुयश, सम्पत्ति एवं शासनाधिकारके पीछे संसारके लोग पागल हैं ! उन्हें पतातक नहीं चलता कि यह उन्माद उन्हें किस गर्तमें अवश ले जा रहा है । शासनाधिकारके साथ अशान्ति, सम्पत्तिके साथ चिन्ता एवं श्रम तथा अस्वास्थ्य, सुयशके साथ अहंकार, अयशका भय आदि अनेक दोष रहेंगे ही । मनुष्यकी सबसे बड़ी असफलता यही है कि वह इन्हें जीवनकी सफलता समझता है । जब यह बात सूझने लगे तो समझना चाहिये कि मायानाथने अपना माया-यवनिका उठा लेनेका अनुग्रह किया है ।'

'महाराज ! मैं अधिक आस्थावान् नहीं हूँ ।' उसने सिर उठाया । 'तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार, भगवद्दर्शन, निर्विकल्प समाधि आदिमें मनुष्यकी सफलता है, मेरा ऐसा विश्वास नहीं है । जैसे सम्पत्ति, सुयश, शासनाधिकारका महत्ता सुनते-सुनते संस्कार बन गया है कि इनकी प्राप्ति जीवनकी सफलता है, वैसे ही ग्रन्थ पढ़कर अथवा आप लोगोंसे सुनकर समाधि आदिमें महत्त्वबुद्धि हो जाती है । एक संस्कार चित्तमें डालो कि अमुक अवस्था परम सफलता है और तब उस कल्पनाको साकार करनेमें जुटो ।'

'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि तुम सचमुच समझदार हो ।' साधु उसे गङ्गातटसे अपने आश्रममें ले आये । अग्निके समीप बैठनेके पश्चात् बोले—'देखो, सुखकी निर्बाध उपलब्धि ही प्राणियोंका स्वाभाविक लक्ष्य है । सच्चा सुखी आप्तकाम पुरुष ही होता है और आत्माराम ही आप्तकाम होता है ।'

'आप्तकाम हुए बिना अशान्ति तो मिटती नहीं ।' उसने स्वीकार किया—'कामनाके पीछे भागनेमें कितनी भी उसकी पूर्ति प्राप्त होती रहे विश्राम कहीं नहीं है । भोग उलटे रोगका प्रसाद देता है ।'

'अब विचार करके देखो !' साधु गम्भीर बन गये—'मद और मत्सर पामर पुरुषोंमें होते हैं । पाप करना ही जिन्हें प्रिय है, उनकी चर्चा अनावश्यक है । वे पतनके पथपर लुढ़के जा रहे हैं । अब आप्तकाम होनेमें चित्तके चार विकार बाधक रह जाते हैं—मोह, लोभ, काम और क्रोध । मोह और लोभ विषयी पुरुषको अपनाते हैं । ये स्थायी विकार हैं । प्रत्येक अवस्थामें, प्रत्येक आयुमें

ये बने ही रहते हैं। ये मन्द गतिसे बहते हैं; किंतु बद्धमूल होते हैं। इनको निर्मूल किये विना कोई साधक नहीं बनता। लोभ और मोहका उन्मूलन जहाँ हो जाता है, वहाँसे परमार्थका पथ प्रारम्भ होता है। साधकमें वैराग्य न हो तो साधन कैसे चलेगा और वैराग्यका अर्थ ही है—'लोभ तथा मोहका सम्यक् त्याग।'

'भगवान्ने तुमपर अनुग्रह किया है। तुममें वैराग्य आया है। लोभ-मोहसे तुम ऊपर उठ सके हो।' कुछ क्षण रुककर साधु बोले—'अब काम और क्रोधके वेगको सहनेकी क्षमता उत्पन्न करो। जीवनकी सफलता यही है कि मनुष्य इनके वेगको सह लेनेमें सक्षम हो। विश्वास करो, जिस दिन तुम यह शक्ति प्राप्त कर लोगे आप्तकाम हो जाओगे!'

'काम और क्रोध तो निमित्तज हैं।' वह उस दिन साधुके समीपसे उठ आया और धर्मशालाके अपने कमरेमें आकर सोचने लगा—'कोई प्रलोभन सम्मुख आयेगा तो मनमें उसे प्राप्त करनेकी वासना उठेगी। कोई अपने अभीष्टमें व्याघात बनेगा तो उसपर क्रोध आयेगा। तब ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता कि निमित्त प्राप्त ही नहीं हों।'

गङ्गोत्तरीसे वह लौटा; किंतु घर न आनेका तो निश्चय कर चुका था। तीर्थयात्रामें लगा रहा कुछ काल और यह यात्रा भी उसकी हिमालयके पर्वतीय तीर्थोंकी ही थी। अन्तमें एक एकान्त निर्झरके किनारे एक गुफाको अपना आश्रय बनाकर जम गया। पासके पर्वतीय ग्रामके लोग जैसे ही पहिली बार दर्शन करने आये, उसने बता दिया कि केवल शामको दो घंटे ही गुफासे निकलकर बाहर बैठेगा और कोई स्त्री अथवा कन्या उसकी गुफाके पास कभी आयी तो वहाँसे चला जायगा।

जप तथा गीता-भागवतका पाठ-स्वाध्याय। बड़ा शान्त तथा आनन्दमय जीवन उसे प्रतीत हुआ। अपने साथ थोड़ेसे वस्त्र, दो कम्बल, एक लोटा तथा गीता एवं भागवतकी पुस्तकें—इतनी ही सामग्री लाया था। ग्रामके लोग उसे आटा, आलू, नमक तथा दूध दे देते थे। शरीर-निर्वाहके लिये इतना सब पर्याप्त था।

'कहो नारायण! प्रसन्न हो?' अचानक एक दिन उसकी गुफापर वे गङ्गोत्तरीवाले साधु आ धमके। ये बाबाजी लोग विचित्र होते हैं। हाथ जोड़ो, प्रार्थना करो, धरनातक दे डालो किंतु ध्यान नहीं देंगे तो नहीं ही देंगे। किंतु यदि किसीकी ओर ढल पड़े; फिर उसका पिण्ड भी नहीं छोड़ेंगे। अब पता नहीं कैसे उसका पता लगाकर ढूँढ़ते हुए आये हैं। आये और सीधे गुफामें उसके आसनपर जाकर विराजमान हो गये।

'मेरा सौभाग्य!' वह हर्षविह्वल हो उठा। चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया उसने।

'सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यकी बात पीछे देखी जायगी। इस समय तो मैं तुम्हें यहाँसे निर्वासित करने आया हूँ। बैठो और स्थिर होकर सुनो!' साधुने उसके बैठ जानेपर कहा—'तुमने अपनेको भ्रममें डाल रक्खा है। कोई प्रलोभन सम्मुख न हो या स्वयंमें शक्ति न हो, यह अकामता अथवा काम-विजय नहीं है। सब लोग सम्मान करें, सब अनुकूल आचरण करें तो क्रोध किसीको क्यों आयेगा? साधकके लिये एकान्त आवश्यक है; किंतु इससे अपनेमें आप्तकाम होनेका भ्रम होता है। अवस्था आ गयी है कि तुम अब जन-सम्पर्कमें आकर आत्मपरीक्षण करो!'

उसके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी बाबाजी रुके नहीं। वे उसी समय चले गये। कठिनाईसे उन्होंने थोड़ा दूध स्वीकार किया था। उनके चले जानेके पश्चात् उसने भी गुफा छोड़ दी।

वह हिमालयकी तपोभूमिसे मैदानके कोलाहलपूर्ण क्षेत्रमें आ गया; किंतु यह अवतरण केवल शारीरिक नहीं रहा। उसे लगा कि वह मानसिक दृष्टिसे भी हिमालयसे नीचे गिर गया है। यह समाज, यह अशान्त वातावरण—उसे लगता है कि साधारण व्यक्ति भी उसकी अपेक्षा मानसिक दृष्टिसे अधिक सशक्त हैं।

अब उसे कौन बतावे कि जैसे चमड़ेके कारखानेका कर्मचारी चमड़ेकी गन्धके प्रति सहिष्णु हो जाता है, वैसे ही उत्तेजक वातावरणमें रहनेवाले व्यक्तिका चित्त भी क्रमशः क्षीणसत्त्व हो जाता है। उसे उत्तेजना-प्राप्तिके लिये अधिक उपकरण अपेक्षित होते हैं।

यह बात भी वह कहाँ समझता है कि चित्तमें एक साथ अनेक आवेग नहीं रह सकते। जिनके चित्तमें मोह या लोभ जितने प्रबल हैं, उन्हें काम या क्रोध उतने कम अभिभूत कर पाते हैं। लोभी व्यापारी हँसकर अपमान सह

लेनेमें चतुर होता है। किंतु शुद्ध जलके सरोवरमें सामान्य वायु भी लहरें उठाया करती हैं।

समाजमें नारीने अपनेको अर्धनग्न रखना सभ्यता मान लिया है। अब कोई कहाँतक नेत्र बंद किये चल सकता है। लोग सादे सामान्य वेशका ही उपहास करते हैं। तनिक वेशसे धार्मिकता व्यञ्जित हो तो उसपर व्यंग कसना आजके युवकोंको अपना गौरव जान पड़ता है।

बड़ी व्यथा, बड़ी अशान्ति मिली है उसे इस वातावरणमें आकर। वह तो उन्मत्त ही हो जाता यदि उसे अचानक वे साधु न मिल जाते। वृन्दावन वह आया तो भी उसे शान्ति नहीं मिली थी। बार-बार चित्तमें विकृति आती है। बार-बार रोष आता है। कितना भ्रममें था वह अपने सम्बन्धमें।

'बच्चे !' साधुने बहुत स्नेहपूर्वक उसके मस्तकपर हाथ रक्खा—'व्याकुल मत बन। ऐसा भवन नहीं बनेगा, जो जीर्ण न हो, मैला न हो। ऐसा शरीर नहीं होगा, जो रोगी न हो। यदि हो भी जाय, जैसा कि कुछ दिव्य देह अमर पुरुषोंका है तो कोई महत्ता उसकी नहीं है।'

'शरीर स्वस्थ रहे या रोगी, मैं चिन्ता नहीं करता।' उसने अश्रुभरे नेत्र उठाये।

'मैं यही कह रहा हूँ कि शरीरकी चिन्तासे पागल मत रहा कर!' साधुने स्नेहपूर्वक कहा—'सूक्ष्मशरीर भी शरीर ही है बच्चे !'

'भगवन् !' यह ऐसे चौंका, जैसे पैरोंके नीचे सर्प आ गया हो। भला इस बातसे क्या तात्पर्य हो सकता है इन साधुका ?

'काम और क्रोध स्थायी वृत्तियाँ नहीं हैं।' साधु समझाने लगे—'ये आवेग हैं, आँधीकी भाँति निमित्तके संयोगसे आते हैं। आनेसे पूर्व जिनका पता ही नहीं होता, उन्हें आनेसे ही तू कैसे रोकेगा ? समष्टिमें निमित्त आवें ही नहीं, किसीके वशकी बात है ?'

'तब ?' केवल नेत्रोंके भाव उसके पूछ रहे थे। शब्द वह चाहता भी तो कण्ठसे नहीं निकलते।

'आँधी तो आयेगी। आनेका पता लगे तो भवनके द्वार बंद कर ले।' साधुने अपनी बातकी व्याख्या कर दी—'काम तथा क्रोधके वेग तो आयेंगे। आनेपर सावधान होकर इन्द्रियोंके द्वार बंद कर। इनका वेग क्रियासे, शब्दसे, शरीरकी भावभङ्गिमासे बाहर निकले—शरीर छोड़कर ये बाहर जायँ, इससे पहिले ही इन्हें चित्तमें दबा दे। इनका वेग भीतर ही सहन कर लेनेकी क्षमता हो जाय तो तू आप्तकाम हो गया। सुखी हो गया। सफल हो गया।'

श्रीबाँकेविहारीजीके मन्दिरमें एक कोनेपर दीवालसे टिके वे दोनों आधे खड़े प्राय थे। मन्दिरके पट खुल गये। गोस्वामीने चिक उठाना प्रारम्भ कर दिया है। दोनों शीघ्रतासे सम्मुख आ गये। साधुने वार्ताका उपसंहार किया थोड़े शब्दोंमें—'अपने प्रयत्नसे कोई कदाचित् ही सफल होता है। सफलता इनके श्रीचरणोंमें रहती है। इतना स्मरण रख तो तुझे अशान्ति स्पर्श नहीं करेगी।'

× × ×

'सफलता श्रीकृष्णके चरणोंमें रहती है।' उसके मस्तिष्कमें गूँजते रहते हैं ये शब्द। उस दिन आरतीके पश्चात् निकला तो वे साधु उसे मिले नहीं। दर्शन करनेमें लगनेपर पता नहीं चला कि वे कब बाहर चले गये; किंतु इनके शब्द उसे भूले नहीं हैं। 'सफलता साधनके परिपाकमें नहीं है। वह किसी क्रियामें, पदार्थमें अथवा चित्तकी अवस्थाविशेषमें भी नहीं रहती। वह तो श्यामके श्रीचरणोंमें रहती है।'

'कन्हाई ! यह क्या ऊधम है ?' अब भी उसके चित्तमें विकार तो आता है। किंतु अब विकारका वेग उठते ही एक बात और आती है। वह अपने भीतर ही अपने अन्तर्यामी इस गोपकुमारपर बिगड़ता है। एक झिड़की और सब जैसे शान्त हो गया। अब बाह्य दृश्य अपना सिर धुनें। आँधियोंके उद्दाम वेगके प्रवेशके लिये जैसे वहाँ क्षुद्र छिद्र भी नहीं रह गया। बात बहुत सीधी है। मन्मथ भुवनविजयी भले हो; किंतु जहाँ उसकी आहटपर उसका बाप ही डाँट खा जाय, बेचारा बेटा वहाँ आनेका साहस करे भी तो कैसे।

'कृष्ण ! अब तू मुझे भी चिढ़ानेका साहस करता है!' क्रोध अधिक धृष्ट है पुष्पधन्वाकी अपेक्षा; किंतु उसके पद भी पलायन करते दीखते हैं जब प्रलयङ्करके भी परमाराध्य पर कोई कड़ी आँखें उठाता है। वह तो तबतक टिका रहता है, जबतक कि उसे यह स्मरण न आवे कि यह बाह्य निमित्त उसका वह चिर चञ्चल ही उपस्थित करता है।

किंतु वह अब भी दुखी रहता है—'मैं इस सुकुमारको क्यों बार-बार डाट देता हूँ। कितना संकोची है, यह कभी तनिक विनोद कर ही लेता है तो बिगड़ता क्या है।'

'क्यों रे, तू इसे भी दुःख कहता है ?' सदाकी भाँति वे साधु इस बार भी उसे अकस्मात् ही मिले थे। उन्होंने हँसते हुए कहा—'श्रीव्रजराजकुमारसे चाहे कामका सम्बन्ध हो या क्रोधका, वह तो विकार है ही नहीं। उससे तो घृणा करके भी मानव-असुर मुक्त हुए हैं। जहाँ क्षोभमें भी सुखस्वरूपकी स्मृति है, वहाँ दुःख कहाँ रहता है। श्रीकृष्णकी स्मृति—ठीक तब जब विस्मृतिकी सम्भावना ही सबसे अधिक है। तो वेग-सहिष्णुताका यह आधार पाकर ही तो सम्पूर्ण रूपसे सफल है।'

* * *

व्यर्थकी चिन्ताएँ छोड़िये और प्रसन्न रहिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजकी परिधिमें रहना सीखें

हम स्वास्थ्य और सुखके लिये आजकी परिधिमें रहना सीखें। आजकी परिधि अर्थात् आजकी जिंदगी सबसे अच्छी तरह जिएँ, उसमें पूरी कर्तव्यनिष्ठासे श्रम करें और फल ईश्वरपर छोड़ दें।

हजरत नूहने बड़ी लम्बी आयुका सुख भोगा था। कहते हैं कि उनकी दीर्घ आयु और सुखका रहस्य यह था कि वे प्रत्येक दिनको अतीत अर्थात् बीते हुए युग तथा भावी अर्थात् कलको आनेवाले युगसे अलग करके जीते थे।

प्रत्येक दिन फूलकी पंखुरीकी तरह अलग-अलग है। उसकी सुरभि, स्वाद, गन्ध और सौन्दर्य पृथक् है। सम्पूर्ण पुष्पकी ये पंखुरियाँ परस्पर मिलकर महकते फूलका आनन्द देती हैं।

उसी प्रकार जीवनका प्रत्येक दिन अलग-अलग जिया जाय। उसे विगत दिनोंकी कालिमासे अलग रक्खा जाय।

ये मूल्यवान् शब्द !

यही बात सर विलियम ओसलरने कही थी। वे दिनका प्रारम्भ जिस प्रार्थनासे करते थे, वह मूल्यवान् है—

'हे प्रभो ! हमें आजका भोजन जुटा दे। आजके दिनको सुख और आनन्दपूर्वक व्यतीत करनेकी शक्ति दे।'

इन शब्दोंका अर्थ सोचिये।

उन्होंने केवल 'आज' को अच्छी तरह व्यतीत करनेके लिये प्रभुकी कृपा और वरदान चाहा है। कलकी रोटीके लिये कहीं चिन्ता प्रकट नहीं की है। प्रत्येक 'आज' मिल-मिलकर आनन्दमय जीवन बनाता है। आजके दिनको पूरे जोश, पूरे उत्साह, आनन्द और सुखपूर्वक जी लेना कितना सरल है।

इस संसारमें अनगिनत जीव हैं। जलचर और नभचर हैं; कीट-पतंग हैं; फूल, पत्तियाँ और वृक्ष हैं। ये जीव ऐसे विकट और दुर्वह स्थानोंमें निवास करते हैं, जहाँ भोजन और जीवनके साधनोंका पहुँचना सहज नहीं है, किंतु फिर भी ईश्वरकी असीम कृपा देखिये, वे प्रतिदिन सभी जीवोंके भोजन और जीवननिर्वाहके साधन जुटाते हैं। सबको प्रतिदिन भोजन और विश्राम मिलता है। ईश्वरके अक्षय भण्डारमें कभी भी कमी नहीं पड़नेवाली है।

सब जीवोंकी तरह कहीं-न-कहींसे आपके भोजनका भी प्रबन्ध होगा ही। फिर व्यर्थ ही आप कलकी चिन्तामें घुल-घुलकर आधे क्यों हों ? 'कल' अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा।

आप कहते हैं, 'यह खूब कहा कि कलकी चिन्ता न करें ? क्योंकर हमारे सब उत्तरदायित्व पूरे हो जायँगे ?'

'आप हमारा मतलब पूरी तरह नहीं समझे। हमारा तात्पर्य यह है कि आप 'कल'की समस्याओंको हल करनेकी योजनाएँ सोचें, कठिनाइयोंको हल करनेका भरसक प्रयत्न करें, मित्रोंका भरपूर सहयोग लें, अपने परिवारकी भावी सुरक्षाका प्रयत्न करें, रुपया अधिक कमायें और बचाकर रक्खें, वृद्धावस्थाके लिये जोड़कर रक्खें, पर इतना सब कुछ कर लेनेके बाद सबसे बड़ी एक बात आप और करें।'

'वह क्या है ?'

'आप ऊपरकी बातोंके लिये अपने गुप्त मनमें चिन्ता कभी भी न रक्खें।'

योजनाएँ बनाना दूरदर्शिता है। कठिनाइयोंको दूर

करनेके लिये नयी-नयी युक्तियाँ सोचना बुद्धिमानी है, पर उनके लिये व्यर्थ ही चिन्तित होते रहना, रातको भी चिन्तामें डूबे रहना, गुमसुम रोनी सूरत बनाये रहना विषैली आदत है।

आपने हमारे देवताओं तथा सभी देवियोंके मुखपर मधुर मुस्कान देखी है। आपको कोई भी चिन्तित चेहरा कहीं नजर नहीं आयेगा।

ये मुस्कराते चेहरे आपसे कहते हैं कि 'दुनियावालो! 'कल'की चिन्ता व्यर्थ ही मत करते रहो। तुम कलकी क्यों चिन्ता करते हो? हमें स्वयं तुम्हारी चिन्ता है। तुम तो जिंदगीको पूरे उत्साहसे बिताओ।

एक सैनिककी सलाह

एक बार एक सैनिकसे उनके जीवनपर बातें होने लगीं। हमने कहा, 'फौजका जीवन खतरोंसे भरा है। मौत हमेशा छायाकी तरह पीछे पड़ी रहती है। किसी भी क्षण मुसीबत आ सकती है। हमेशा जानका खतरा है। आप कैसे जीते हैं?'

वह खिलखिलाया और निश्चिन्त मुसकान बिखेरता हुआ बोला— 'मौत···कठिनाइयाँ···मुसीबत, मुश्किलें दुनियामें बहुत हैं। असंख्य हैं। मृत्यु तो सिर्फ एक बार ही आनेवाली है। नौकरी करते समय हम एक बार ही इन सब समस्याओंपर खूब सोच-विचार कर लेते हैं। फिर हम उनकी ओर ध्यान न देकर प्रत्यक्ष आजकी समस्याओंको हल करनेमें ही अपनी शक्ति लगाते हैं। यदि हम सदा ही इन दैनिक चिन्ताओंको मनमें दबाये रक्खें, तो वे चिन्ताएँ निश्चय ही हमें गोली लगकर मरनेसे पूर्व ही समाप्त कर देंगी। हमने जीवनको जीनेका यही नियम बनाया है कि कलकी चिन्ता न करें; आजकी परिधिमें पूरी तरह खिलकर जिएँ।'

इस सलाहके शब्दोंपर ध्यान दें। यदि आप आजका दिन हँसी-खुशीसे जी सकते हैं, तो ऐसे ही सुखद दिनोंकी मनोहर कड़ी जीवनको मधुरतासे भर सकती है। यदि एक भी दिन दुःखसे भरा है, तो वह भविष्यको कष्टमय बना सकता है।

दिनके कमरोंमें बंद रहिये

वर्षों पूर्वकी बात है। अमेरिकामें सर विलियम ओसलरने येल विश्वविद्यालयके छात्रोंको भाषण देते समय चिन्ता दूर करनेका एक अनुभवपूर्ण उपाय इन शब्दोंमें बताया था—

'मेरी प्रसन्नता और उत्तम स्वास्थ्यका रहस्य यह है कि मैं दिनके कमरेमें बंद रहा हूँ।'

सबने उत्सुकतासे पूछा, 'दिनके कमरेमें बंद रहनेसे आपका क्या मतलब है?'

उन्होंने अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उत्तर दिया—

'दिनके कमरेमें बंद रहनेका मतलब स्पष्ट है। प्रत्येक दिनको सुबहसे सायंकाल तक अच्छे-से-अच्छे तरीकेसे व्यतीत करनेका प्रयत्न करना; उसमें उचित श्रम, मनोरञ्जन और पर्याप्त विश्रामका ध्यान रखना और अधिकाधिक आनन्द मनाना—यही एक दिनका कमरा है। मैं अपने-आपको प्रतिदिन इसीमें बंद रखता हूँ। एक-एक दिन अच्छा व्यतीत होते-होते मेरे जीवनके बहुत-से वर्ष बड़े ही सुख-शान्तिमय ढंगसे गुजरे हैं।'

'दिनका कमरा'—इसे कुछ और स्पष्ट कीजिये।

उन्होंने बातको स्पष्ट करते हुए आगे कहा—"मैं चाहता हूँ आप भी दिनकी परिधिमें बंद रहना सीखें। अपने मस्तिष्कके शेष कमरोंको बंद रक्खें, जिनमें आपकी जिंदगीकी बहुत-सी पुरानी कटु अनुभूतियाँ, दुःखद कटु बातें और नाना प्रकारकी चुभनेवाली स्मृतियाँ दबी पड़ी हुई हैं। उनमें आपकी नाना प्रकारकी बेवकूफियाँ, पश्चात्ताप पैदा करनेवाली अशिष्टताएँ और महामूर्खताएँ भरी पड़ी हैं। आप इन सबसे कभी छुटकारा नहीं पा सकते। हमारा अव्यक्त मन इन कटु अनुभूतियोंको कभी नहीं भूलता। वे सदैव गुप्त मनमें ठहरकर हमारे दैनिक जीवन तथा व्यवहारको प्रभावित किया करती हैं। आप इन अनुभूतियोंको किवाड़ोंमें बंद कर दीजिये। मन-मन्दिरके भव्य दृश्योंको ही खोलिये।

"थोड़ी देरके लिये उनकी दुःखभरी संचित पीड़ा, वेदना और हाहाकारकी काली परछाहीं अपने मुस्कराते हुए वर्तमान जीवनपर मत आने दीजिये। मनके किसी कमरेमें इन पुराने मुर्दोंको दफना दीजिये।

"बीते हुए जीवनवाले कमरेकी ही भाँति, वह कमरा भी फिलहाल बंद रखिये जिसमें भविष्यके लिये मिथ्या भय, शंकाएँ और निराशापूर्ण कल्पनाएँ एकत्रित हैं। इस अजन्मे भविष्यको भी मनकी कोठरीमें मजबूतीसे बंद कर दीजिये।

"इस प्रकार प्रसन्न रहनेके लिये मरे हुए 'अतीत' और अजन्मे 'कल'को अपने मुर्दे दफनाने दीजिये।

‘‘वर्तमान ही हमारा है। हमें तो पहले आजकी परवाह करनी है। यह मदमाता ‘आज’! यह उल्लासपूर्ण ‘आज’ ही हमारी अमूल्य निधि है। यह आपके हाथमें है। यह आपका साथी है। इस ‘आज’ की ही प्रतिष्ठा कीजिये। उसके साथ खूब खेलिये, कूदिये, मस्त रहिये और इसे अधिकाधिक उल्लासपूर्ण बनाइये।’’

यह ‘आज’ एक जीवित चीज है। इस ‘आज’ में वह शक्ति है जो दुःखद कलको भुलाकर भविष्यके भयोंको नष्ट कर सकती है—इसीलिये मनीषियोंने कहा है—

‘प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय’ (ऋग्वेद १० । १८ । ३)

अर्थात् हम नाचते और हँसते हुए जिंदगीमें निरन्तर आगे बढ़ें। हमारा मुख म्लान न हो; हमारे पाँव शिथिल न रहें; हमारा उत्साह कभी भंग न हो!

हर सुबह एक नयी जिंदगी लेकर आता है!

समझदार जिंदगीसे कभी निराश नहीं होते। वे सदा नया प्रयत्न करते हैं। उनके लिये हर सुबह एक नयी जिंदगी लेकर आता है।

‘आज मेरा सर्वोत्तम दिन है और मैं उससे सर्वाधिक आनन्द लूँगा।’ इस वाक्यको आप उस शीशेपर चिपका दीजिये, जिसमें प्रातः उठकर आप अपना मुख देखते हैं। इस वाक्यके दर्शनसे दिनभर आनन्दपूर्वक व्यतीत करनेके संकेत मिलेंगे। यह बीजरूपमें आपके गुप्त मनमें अंकित हो जायगा और आपको दिनको अच्छे रूपमें व्यतीत करनेके शुभ संकेत मिलेंगे।

इस शुभ संकेतका बड़ा लाभ यह होगा कि आप बीते हुए ‘कल’ और भविष्यमें आनेवाले ‘कल’ पर व्यर्थ ही चिन्ता करना छोड़ देंगे। अपने समस्त बुद्धि-कौशलसे आजका काम पूर्ण करेंगे। उसे सबसे बढ़िया तरीकेसे व्यतीत करनेके उपाय करेंगे।

यदि हम आजका कार्य उत्तम योजना बनाकर अच्छी-से-अच्छी तरह पूर्ण करें, तो निश्चय ही हमारा जीवन सुखद हो सकता है। एक-एक दिन अच्छा बीतकर हम अपना सम्पूर्ण भावी जीवन आनन्दपूर्ण तत्त्वोंसे भर सकते हैं।

भविष्यकी चिन्ताएँ आपके मौजूदा जीवनको खा डालती हैं। नया सोचने और उत्पादक कार्य करनेकी आपकी सारी शक्ति जाती रहती है। स्वास्थ्य जाता रहता है। प्रत्येक चिन्ता आपके खूनको कम करती है। एक भी चिन्ता मनमें निराशा पैदा कर सकती है। यह हमारे आत्मविश्वासको बड़ी हानि पहुँचाती है।

दूसरी ओर युद्ध, बीमारी, दिवाला, व्यापारिक मन्दी और मृत्युके अन्धकारपूर्ण रुदनमें उत्साहपूर्ण प्रयत्न, ईश्वरको अपने पक्षमें मानकर उन्नतिके लिये पूरी-पूरी कोशिशें आपके आत्म-विश्वासको बढ़ानेवाला है।

‘मैं यह कार्य कर सकता हूँ। मैं अपने प्रयत्नोंमें पूरी तरह सफल होकर रहूँगा। ईश्वरकी समस्त दिव्य शक्तियाँ मेरे साथ हैं।’—यह शुभ विचार आपकी कार्यशक्तिको, जीवनके उत्साह और आत्मबलको बढ़ानेवाला है। ये शुभ संकेत (Auto-Suggestions) जीवनको आनन्दमय बनानेके ठोस उपाय हैं।

बस, आजका बोझ किसी प्रकार उठा लीजिये

राबर्ट लुई स्टीवनसन एक कुशल अंग्रेजी निबन्धकार हो गये हैं। वे आजन्म बीमार रहे थे। मौतकी काली छाया सदा उनके सिरपर झूलती रही, पर उन्होंने कभी भी उसकी चिन्ता नहीं की थी, वे अपने रोगी जीवनसे ही आनन्द प्राप्त करते रहे थे। जिंदगीका रस उन्होंने अन्ततक खूब चखा था।

‘आप क्या बीमारीसे नहीं डरते? मौतकी चिन्ता आपको नहीं सताती?’

उन्होंने प्रसन्नता बिखेरते हुए पूरे आत्मविश्वासके साथ उत्तर दिया—

‘अजी साहब, बीमारी अपने ढंगसे चलती है। उसे चलने दीजिये। मैं जिंदगीके बचे हुए क्षणोंका आनन्द लेने, चिन्ताकी बजाय उसका सदुपयोग करनेमें विश्वास करता हूँ।’

‘फिर आपके जीवनका क्या निचोड़ है?’

‘मैं कष्ट और बीमारीमें भी आनन्दित रहा हूँ। चाहे किसीका बोझ (जीवनका उत्तरदायित्व) कितना ही भारी क्यों न हो, हर एक व्यक्ति अपना बोझ सायंकालतक तो ढो ही सकता है। एक दिन हर व्यक्ति अपना कठिन कार्य पूर्ण कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मधुरतासे, सहिष्णुतासे, प्रेमसे, पवित्रतासे शामतकका जीवन अच्छी तरह निश्चिन्त व्यतीत कर सकता है। बस, एक-एक दिन यों ही निश्चिन्त बीतनेसे पूरा जीवन आनन्दित हो जाता है। निश्चिन्त रहनेकी भी एक आदत है। यह आदत डाल लेनेसे दीर्घ-जीवन मिलता है।’

एक-एक दिनको मधुरतासे गुजारनेसे समूचा जीवन बदल जाता है।

डेल कारनेगीके निम्न शब्द अनुभवपूर्ण हैं और सदा गाँठमें बाँध रखने योग्य हैं—

'मनुष्य भी कैसा मूर्ख जीव है! वह जीवनके न जाने कितने सुखोंको भविष्यके लिये आगे ढकेलता जाता है। क्षितिजके उस पार सुदूर प्रदेशमें रहनेवाले किसी गुलाबके फूलसे परिपूर्ण उद्यानके सपने देखा करता है, जब कि उसी खिड़कीके नीचे समीप ही बाहर खिले हुए गुलाब अपनी सुवास फैलाते रहते हैं।'

कलकी चिन्ताको त्यागिये और आजका आनन्द लेनेके लिये तैयारी कीजिये। जो आनन्द आज प्राप्त किया जा सकता है, पहले उसपर ध्यान दीजिये।

जो कलकी चिन्ताओंके सहारे रहता है, वह शीघ्र ही भूखा मर जायगा। चिन्ता उसकी तमाम भूखको खतम कर देगी और नैराश्यका मानसिक रोग (मैलनकोलिया) उसे हमेशाके लिये पंगु-सा कर देगा। आजकी तनावपूर्ण जिंदगी मानसिक रोग उत्पन्न करती है। यदि कोई समस्या या कठिनाई है तो ठंडे मनसे उसे दूर करने, उसे सुलझानेका तरीका सोचिये, मित्रोंसे सहायता लीजिये, पर कृपाकर व्यर्थकी चिन्ताका बोझ अपने मनपर मत रखिये। सदा चिन्ता करते रहना एक मूर्खता है।

चिन्ताओंका जो जमघट आपके मनमें गुच्छा-सा बन गया है, उसका तार-तार पृथक् कीजिये। एक-एक चिन्ताको अलग-अलग दूर करते चलिये। बस, एक दिन वे सब हल हो जायँगी।

* * *

अपने सभी काम नियत समयपर कीजिये!

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

विश्वमें सबसे मूल्यवान् यदि कोई वस्तु है तो वह है—'समय'। अन्य सभी वस्तुएँ खो करके भी हम पुनः प्राप्त कर सकते हैं; पर गया हुआ समय वापस नहीं आता। मनुष्य आदि प्राणियोंकी आयु बहुत ही सीमित है और उसके समाप्त होते देर नहीं लगती। संकट या दुःखका समय बहुत लंबा लगता है और भोग, विलास या सुखका समय न मालूम किस तेजीसे चला जाता है कि हमें उसका भान भी नहीं होता। पर वास्तवमें समयकी न मन्द गति है, न तेज गति। हमें अपनी मनोवृत्तिके अनुसार उसका अनुभव होता है। अन्यथा हम देखते हैं कि दिन और रातके २४ घंटेके ६० मिनिट भी सुखी और दुखी व्यक्तिके लिये कम या अधिक परिमाणवाले नहीं होते। दोनोंके लिये एक ही समय लागू है, सुखी व्यक्तिका दिन-रात २३ घंटेका नहीं होता और न दुखीका २५ घंटेका होता है। इसलिये हमें जो सीमित आयु मिलती है, उसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग करके जीवनको सफल बनाना हमारा कर्तव्य होना चाहिये। पर खेद है हमें समयके इस मूल्य एवं महत्त्वका कुछ भी ध्यान नहीं है। अतः बहुत-सा समय हम व्यर्थ बर्बाद कर देते हैं। जब महापुरुष हमें चेताते हैं या मृत्यु आ घेरती है, तब हमें बड़ा पछतावा होता है। पर 'फिर पछताये क्या बने जब चिड़िया चुग गयी खेत।' तब तो हमारे लिये यही उचित है कि 'बीती ताहि बिसार दे, आगेकी सुधि लेय।'

समयकी बर्बादीका सबसे प्रधान कारण तो यही है कि हम उसके मूल्य या महत्त्वका ठीकसे अनुभव नहीं कर पाते। अन्यथा जब मृत्यु सिरहाने खड़ी है और न मालूम आयु कब समाप्त हो जाय, यह जानते हुए भी हम असावधान कैसे रह सकते हैं? दूसरा कारण है हमारे जीवनकी अव्यवस्था। इसके कारण भी हमारा बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है और साथ ही दूसरोंके समयकी भी बहुत बर्बादी होती है। उदाहरणार्थ हमारे भोजनका कोई निश्चित समय न हो तो हमें स्वयं परेशानी होती है, यदि रसोई बननेसे पहले हम भोजन करना चाहें तो नहीं कर पाते और भोजन बननेके बाद यदि समयपर नहीं खाते तो वह ठंडा और स्वादरहित हो जाता है। रसोई बनानेवाले तथा घरके अन्य लोग भी प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस तरह एकके पीछे सभी घरके लोगोंका कुछ-न-कुछ समय व्यर्थ चला जाता है। रसोई बनानेवाला भोजन करनेवालोंके समयकी पाबन्दी न देखकर ढिलाईसे काम करता है। वह इधर-उधरकी बातों एवं अन्यान्य प्रवृत्तियोंमें लग जाता है।

उसे समयपर और जल्दी काम करनेकी चिन्ता नहीं रहती। यदि भोजन करनेवाले सभी समयपर आकर भोजन कर लें तो उसे समयपर भोजन तैयार करनेकी चिन्ता रहेगी और थोड़े समयमें सब काम निपट जानेसे उसे अन्य कामोंके लिये भी समय मिल जायगा।

इसी तरह हमारे घरपर मिलनेका यदि कोई नियत समय नहीं तो बेचारे मिलने आनेवालोंको बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है। वे बहुत देरतक प्रतीक्षा करके अपने कामका समय खोते हैं और निराश होकर लौट जाते हैं। बहुतसे विशिष्ट आदमियोंका जीवन मैंने इतना व्यस्त देखा है कि उनके पास एक आता है एक जाता है। या कई व्यक्ति बिना मतलबके ही घंटे दो घंटे गप्पें मारने लगते हैं। इससे वे न तो समयपर खा सकते हैं, न समयपर सो ही सकते हैं और न कोई अन्य काम समयपर कर सकते हैं। यदि वे मिलने आनेवालोंके लिये एक समय निश्चित कर दें तो जो भी मिलना चाहेंगे, वे सभी उसी समयपर आ जायँगे और नियत समयके बाद आप वहाँसे उठ जानेवाले हैं, यह जानकर वे जरूरी और कामकी बातें थोड़े शब्दोंमें कह देंगे। इससे आपके समयमें कोई बाधा नहीं आयेगी। प्रत्येक कामके लिये एक समय निश्चित कर लेनेपर सभी काम व्यवस्थित रूपमें समयपर पूरे हो सकेंगे। बैंकोंमें आप देखते हैं कि रुपयोंके लेन-देनका समय दो घंटेका होता है। अतः सभी लेन-देन करनेवाले अपने अन्य कामोंको आगे-पीछे करके भी उस समय वहाँ पहुँच जाते हैं, इससे उनका काम भी हो जाता है और बैंकवालोंको भी अपना हिसाब जमा-खर्च कर रोकड़ और खाता तैयार करनेका समय मिल जाता है। इधर आप समयकी पाबंदी न रखकर काम करनेवाले व्यापारीकी दूकान देखिये, सुबहसे आधी राततक काम करनेपर भी वह अपना काम पूरा नहीं कर पाता। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी कितने कामोंमें व्यस्त रहते थे, पर सब काम नियत समयपर करनेके कारण उन्हें सभीके लिये समय मिल जाता था।

इस तरहके एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं; जिनसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हमें अपने प्रत्येक कार्यका समय-क्रम बना लेना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो, सभी काम इसी समय-क्रमके नियत समयपर करनेका अभ्यास डालना चाहिये। इससे हम जो कुछ करना चाहते हैं, उसके लिये समय निकाल पायेंगे। अपने और दूसरोंके समयकी बर्बादी रोककर उसे अच्छे कामोंके लिये बचा सकेंगे। प्रकृति भी हमको नियत समयपर काम करनेका संदेश देती है। सूर्य-चन्द्रका उदय, ऋतुओंका परिवर्तन सभी नियत समयपर अपने-आप हो रहे हैं।

पाश्चात्त्य लोगों और हमलोगोंके जीवनकी तुलना करें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि हमारी अपेक्षा वे समयका मूल्य अधिक जानते हैं। इसलिये वे प्रायः सभी काम नियत समयपर करते हैं।

हमसे वे कम काम करते हों, यह भी बात नहीं। अन्तर केवल यही है कि हम समयके उपयोगकी कला नहीं जानते, वे जानते हैं। हममेंसे बहुतसे व्यक्ति यह शिकायत करते हैं कि क्या बतायें अमुक काम करना था, पर समय नहीं मिलता, पर ध्यानसे देखा जाय तो उनमें मनोबलकी कमी है या समयके उपयोगकी कला वे नहीं जानते। हम प्रत्येक क्षण कार्यरत रहें। नित्य समयपर सभी काम करनेका अभ्यास डालें। बचे हुए समयको व्यर्थ न खोयें, पर उसे परोपकार, सेवा या आत्मोत्थानमें लगायें। साधनाके लिये भी नियत समय रखिये। सभी कामोंको समयपर करते रहनेसे आप साधन, भजन, सत्संगके लिये भी समय निकाल सकेंगे।

भगवान् महावीरने तो अपने शिष्य गणधर गौतमको सम्बोधित करते हुए बड़ी ही मार्मिक बात कही है कि समयमात्रका भी प्रमाद न करो अर्थात् समयको व्यर्थ न खोओ, न पापाचरणमें ही बिताओ। अपितु प्रतिपलका पूर्ण जागरूकता—विवेकके साथ सदुपयोग करो। हम अपना जीवन दूसरोंकी सेवामें लगा दें, न अपना और न दूसरोंका समय व्यर्थ खोवें, समयकी महानताको पहचानकर प्रतिपल समयको जीवनके उपयोगमें लायें।

मधुर

श्रीराधारानीको अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरसे प्रातःकाल सूर्योदयके कुछ ही पश्चात् प्रकृति-सुसज्जित काननकी कुञ्जकुटीरमें मिलनेका संकेत मिला था। तदनुसार वे वहाँ जानेवाली थीं और श्रीश्यामसुन्दर तो ठीक समयपर वहाँ पहुँच ही गये थे। पर राधारानी प्रातःकाल स्नान करके नित्यकी भाँति ज्यों ही प्रियतम श्यामसुन्दरकी मानस-पूजा करने लगीं कि उनका चित्त श्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्य-रसमें लीन हो गया। वे बाह्यज्ञानशून्य हो गयीं और चौबीस घंटे उसी अवस्थामें बीत गये। वे आभ्यन्तरिक प्रेमराज्यमें श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करती रहीं। अतः संकेतके अनुसार नियत समयपर कुञ्जकुटीरपर नहीं पहुँच सकीं। दूसरे दिन बाह्यज्ञान होनेपर भी उन्हें यही स्मरण रहा कि आज ही वह संकेत-दिवस है और यही समय है। अतएव वे अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके साथ प्रसन्नतासे कुञ्जकुटीर पधारीं। वहाँ जानेके बाद सखियोंके बतलानेपर उन्हें पूर्ण ज्ञान हुआ। तब उनकी सखियोंसे जो बातचीत हुई और तदनन्तर रससागरमें कैसी-कैसी लहरें आयीं, इसीका यहाँ अतिसंक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

मलयज पवन, उल्लसित पुलकित
लता-गुल्म-तरु क्षुद्र विशाल।
कानन कलित सुशोभित; पिक-शुक-
कूजित, मुकुलित मधुर रसाल॥
निर्मल जलपूरित सर-सरिता
करती शीतलता संचार।
कुञ्जकुटीर कुसुम नव-पल्लव,
करते अलि-कुल मधुर गुँजार॥
आयी अतिशय प्रमुदित राधा
अन्तरङ्ग सखियाँ ले साथ।
हँस-हँस थी कर रही मधुर
आलाप हिलाती कोमल हाथ॥
बता रही थी कैसे वह कल
आ न सकी थी कुञ्जकुटीर।
कैसे बेसुध थी, कैसे था
रहा अचेतन स्थूल शरीर॥
प्रियतम-ध्यान-जनित-सुखसागर-
में वह कैसे रही निमग्न।
रहा न था कुछ भी, थी वह बस,
केवल प्रियतमसे संलग्न॥
बाह्यज्ञान-विरहित, बरबस, वह
याद न रख पायी संकेत।
इसीलिये वह बाहर देख
न पायी प्रिय आनन्दनिकेत॥

मलयका सुगन्धित पवन बह रहा था; छोटे-बड़े लता, गुल्म, वृक्ष—सभी पुलकित थे, उल्लासमें भरे थे। वन सुसज्जित था, सुशोभित था, कोकिला-शुक आदि पक्षियोंकी मधुर ध्वनि सर्वत्र छा रही थी। मधुर आमपर मौर निकले हुए थे। निर्मल जलसे पूर्ण सरोवर और नदियाँ शीतलताका संचार कर रही थीं। कुञ्जकुटीर नवीन पल्लवों और पुष्पोंसे अलङ्कृत थीं। उनपर भ्रमरोंका समुदाय मधुर गुंजार कर रहा था। राधा अपनी अन्तरंग सखियोंको साथ लिये वहाँ कुञ्जकुटीरपर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ आयीं और हँस-हँसकर उनके साथ मधुर वार्तालाप कर रही थीं एवं बातोंके अनुकूल अपना हस्तकमल भी हिला-डुला रही थीं। वह यह बतला रही थीं कि गतकल वे कुञ्जकुटीरमें क्यों नहीं आ सकीं, कैसे बेसुध हो गयी थीं और कैसे उनका स्थूल शरीर चेतनाहीन हो रहा था। वे कैसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके ध्यानजनित सुखके समुद्रमें डूब रही थीं। वहाँ अन्य कुछ भी नहीं रह गया था, वे बस केवल प्रियतमके साथ लीला-स्वादन-सुख ले रही थीं। बाह्यज्ञान न रहनेके कारण वे विवश थीं और इसीसे कल यहाँ आनेका संकेत वे स्मृतिमें नहीं रख सकी थीं और इसीलिये वे बाहर अपने प्रियतम आनन्दनिकेतन श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन नहीं कर पायी थीं।

सखियोंसे कह रही लाड़िली
थी यों—इसी बीच शुचि एक
श्याम-सखी आ बोली—'राधा !
सुनो बात मेरी सविवेक ॥
अखिल-रसामृत-सिन्धु रसिक-प्रिय
यहाँ पधारे थे कल श्याम।
बड़ी मधुर आशा ले मनमें
तुमसे मिलनेकी अभिराम ॥
पर न प्राप्त कर तुम्हें, हुए
अति कातर दुखी स्वयं सुखधाम।
भूल अन्न-जल-निद्रा, रहे
प्रतीक्षामें आतुर वसु-याम ॥
अन्तरङ्ग सखियोंने प्रातः
देखा, पड़े अचेत उदास।
किसी तरह ले गयीं उठा
वे उनको सत्वर कुंजविलास ॥
छिड़क गुलाब कराया चेतन,
मनमें भरे विषाद अपार।
हा राधे ! हा प्राणवल्लभे !
प्रिये ! तभीसे रहे पुकार' ॥

इस प्रकार लाड़िली श्रीराधाजी कह ही रही थीं कि इसी बीच श्यामसुन्दरकी एक पवित्र सखी आकर कहने लगी—'राधा ! विवेकके साथ मेरी बात सुनो। अखिल रसामृतके सागर रसिकशिरोमणि प्रियतम श्यामसुन्दर कल यहाँ पधारे थे। वे तुम्हारे मनोहर मिलनकी बड़ी मधुर अभिलाषा लेकर आये थे, पर तुम उनको नहीं मिली। इससे वे स्वयं सुखके धाम भगवान् अत्यन्त कातर और दुखी हो गये तथा अन्न-जल और नींदको भुलाकर आठ पहरतक तुम्हारी आर्त होकर प्रतीक्षा करते रहे। तुम न आयी। प्रातःकाल अन्तरंग सखियोंने जाकर देखा श्यामसुन्दर उदास-मुख अचेत पड़े हुए हैं, तब वे किसी तरह उन्हें उठाकर तुरंत 'विलासकुञ्ज'में ले गयीं। वहाँ गुलाबजल छिड़ककर उन्हें चेत तो करा दिया पर वे तभीसे मनमें अपार विषाद-भरे 'हा राधे ! हा प्राण-वल्लभे ! हा प्रिये !' पुकार रहे हैं !'

श्याम-सखीसे सुनते ही दुःख-
प्रद समाचार यह घोर।
अधोमुखी हो सुधामुखी
श्रीराधा हुई विषाद-विभोर ॥
राधा-हृदय-विषाद क्षणोंमें
निकला, फैला चारों ओर।
मुरझाये तरु-लता, हो गये
अति विषण्ण शुक-पिक-अलि-मोर ॥
मलिन हुई सब वन्य-प्रकृति अति
छाया सभी ओर अनुताप।
तुरत जल उठा बड़वानल-सा
सर-सरिता-जल अपने-आप ॥

श्यामसुन्दरकी सखीके मुखसे यह घोर दुःखदायी समाचार सुनते ही अमृतमुखी श्रीराधा मुख नीचे करके विषादमें डूब गयीं। राधाके हृदयका विषाद क्षणोंमें ही (ह्लादिनीशक्तिके विषाद-ग्रस्त होते ही) बाहर निकलकर वनमें चारों ओर फैल गया। वनकी बेलें और वृक्ष मुरझा गये और शुक, कोकिला, मयूर तथा भ्रमर सब अत्यन्त दुखी हो गये। वनकी सारी ही प्रकृति अत्यन्त मलिन हो गयी। सभी ओरसे मानो वन जलने लगा। यहाँतक कि सरोवर और नदियोंका जल भी समुद्रकी अग्निकी तरह अपने-आप ही उबल उठा।

हो ब्याकुल अर्धोन्मत्त-सी
उठी, न तनकी तनिक सँभाल।
नेत्रोंसे बह चली उष्ण
धारा, था मन चञ्चल बेहाल ॥
दिव्य सुकोमल काँप उठा
सुकुमार मधुर वह स्वर्ण-शरीर।
करने लगी करुण-क्रन्दन वह
सिसक-सिसककर बनी अधीर ॥
हूँ मैं कैसी नीच पापिनी,
हुई ध्यान-सुखमें जो लीन।
भूली प्रियतम-सुख, मैं बनकर
स्व-सुख-वासना-जलकी मीन ॥
दुःख-हेतु मैं हूँ प्रियतमकी
नीच स्वार्थमें सनी असार।

ऐसे पतित घृणित जीवनको
बार बार अतिशय धिक्कार ॥
मेरे लिये प्राणवल्लभको
सहना पड़ा घोर संताप।
भूखे-प्यासे रहे, न सोये,—
किया भयानक मैंने पाप ॥
प्रेम-नामको किया कलङ्कित
काम-पापसे मैं भरपूर।
प्रियतम-सुखघातिनि मैं दुःख-
विधायिनि, सदा मोह-मद-चूर ॥
कैसा क्या मैं करूँ घोर इस
पातकका अब प्रायश्चित्त।
नहीं त्याग, तप, शुचिता मुझमें,
नहीं तनिक भी साधन-वित्त ॥
डूबी रहूँ दुःखसागरमें
नित्य निरन्तर काल अनन्त।
यदि इस पातक-बीज स्वसुख-
अभिलाषा-पातकका हो अन्त ॥

राधा व्याकुल होकर अर्ध-उन्मत्तकी तरह उठकर खड़ी हो गयीं। उन्हें अपने शरीरकी तनिक भी सुधि नहीं थी। उनके नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बह चली। मन चञ्चल था। सब तरहसे बुरा हाल था। राधाका वह अत्यन्त कोमल दिव्य मधुर सुकुमार स्वर्ण-सा शरीर काँप उठा और वह अधीर बनी हुई सिसक-सिसककर करुण क्रन्दन करने लगीं। बोलीं—मैं कैसी नीच पापिनी हूँ, जो ध्यानजनित सुखमें लीन हो गयी। मैं अपने सुखकी वासनारूपी जलकी मछली बन गयी। अपने सुखमें ही लगी रही और प्रियतमके सुखको भूल गयी। मैं सारहीन नीच स्वार्थमें सनी हुई प्रियतमके दुःखका कारण बनी। ऐसे मेरे पतित और घृणित जीवनको बार-बार अत्यन्त धिक्कार है। मेरे लिये प्राणप्रियतमको कितना घोर संताप सहना पड़ा। वे भूखे रहे, प्यासे रहे और सोये तक नहीं।—मैंने यह कितना भयानक पाप किया। मैंने प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित कर दिया; क्योंकि मैं निज-सुख-कामनारूप पापसे भरी-पूरी हूँ। मैं प्रियतमके सुखका नाश करनेवाली और दुःखका विधान करनेवाली हूँ। मैं सदा ही मोह और मदमें चूर रहती हूँ। हाय! अब मैं इस घोर पापका कैसे क्या प्रायश्चित्त करूँ? मुझमें न तो त्याग है, न तप और न पवित्रता ही है एवं न तनिक-सी भी साधन-सम्पत्ति है। अतएव यदि सारे पापोंके बीज इस निज-सुख-कामनारूप पापका अन्त हो जाय तो मैं नित्य-निरन्तर अनन्तकाल तक दुःखसागरमें डूबी रहनेको प्रस्तुत हूँ।

प्रभो! कृपाकर करो आज तुम
मुझे वरद हे! यह वर दान।
कभी नहीं छोड़ूँ प्रियतमको,
करूँ न कभी भूलकर ध्यान ॥
जहाँ बुलावें, जब जो चाहें,
जाऊँ, करूँ वही मैं काम।
मनकी छोड़ सभी मैं चिपटी
रहूँ चरण-युग आठों याम ॥

फिर बोलीं—हे प्रभो! हे वरदायक! मुझपर कृपा करके आज तुम मुझे यह वर प्रदान करो कि मैं कभी प्रियतमको न छोड़ूँ। कभी भूलकर भी उनका ध्यान न करूँ (क्योंकि ध्यानजनित निज सुखमें निमग्न होकर मैं उनके सुखको भूल जाती हूँ)। वे मुझे जहाँ बुलावें, वहीं जाऊँ; जब जो चाहें—वही काम करूँ। अपने मनकी सब कुछ छोड़कर मैं केवल उनके चरण-युगलसे ही चिपटी रहूँ।

इतना कह पड़ गयी धरणिपर
अकस्मात् होकर अज्ञान।
प्रकट हुए वे प्रेमरसार्णव
प्रियतम तुरत स्वयं भगवान ॥
उठा, भुजा भर ले निजाङ्कमें
किया भाल कोमल कर स्पर्श।
जगी चेतना देख प्राण-
प्रियतमको हर्षित, उमड़ा हर्ष ॥

उठी, पार्श्वमें बैठी, दोनों
लगे देखने अपलक नैन।
फिर बरसाने लगे नेत्र
दोनोंके शीतल रस सुख-ऐन ॥
लगे परस्पर क्षमा माँगने—
दोनों दोनोंके आराध्य।
धन्य प्रेम ! हो जाता जिसमें
साध्य सुसाधक, साधक साध्य ॥

इतना कहकर श्रीराधा अकस्मात् अचेतन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। इतनेमें वे प्रेमरस-समुद्र प्रियतम स्वयं भगवान् तुरंत प्रकट हो गये और अपनी भुजाओंसे भरकर उन्होंने राधाको उठाकर अपने अङ्कमें ले लिया तथा उनके भालपर अपने कोमल करसे स्पर्श किया। प्रियतमके करकमलका स्पर्श पाते ही राधाकी चेतना जाग उठी और सहसा प्राणप्रियतमको अपने समीप हर्षित देखकर उनका भी हर्ष उमड़ आया। वे उठकर बगलमें बैठ गयीं और दोनों दोनोंको निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगे। तदनन्तर दोनोंके नेत्र सुख-अयन सुशीतल रसकी वर्षा करने लगे। दोनों ही दोनोंसे परस्पर क्षमा माँगने लगे। दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं। इस प्रेमको धन्य है—जिसमें 'साध्य' 'सुन्दर साधक' बन जाता है और 'साधक' 'साध्य' बन जाता है।

◆

प्रभुकी सत्ता

(लेखक—श्रीप्रह्लादरायजी व्यास 'साहित्य-सुधाकर')

एक राजा बहुत घमण्डी तथा नास्तिक था, परंतु उसका मन्त्री बहुत विनम्र-स्वभाव तथा शान्तप्रकृतिका भगवद्भक्त था। वह नित्य राजासे कहता—'महाराज ! आप भी भगवान्की उपासना किया करें; क्योंकि उसकी इच्छाके विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जैसे शरीरके लिये भोजन परमावश्यक है, अन्यथा यह चल-फिर नहीं सकता, उसी प्रकार आत्माके लिये उपासना-प्रार्थनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँतक कि भोजनके विना तो आदमी जीवित रह सकता है; परंतु उपासना अथवा प्रभु-प्रार्थना किये विना मनुष्य जीवित मुर्दा है। जिस प्रकार मुँहको साफ करनेके लिये नित्य दाँतुन करना जरूरी है, कुछ दिन दाँतुन नहीं करनेसे हमारा मुँह सड़ने लग जाता है, उसमें कीड़े पड़ सकते हैं। उसी प्रकार आत्माको विकसित करनेके लिये नियमित उपासना करना भी जरूरी है। अन्यथा हमारे इस जीवनमें कीड़े पड़ जायँगे अर्थात् वह नष्ट हो जायगा और हम इस आवागमनके चक्करमें ही चक्कर काटते रहेंगे।' राजाको मन्त्रीकी बातोंसे बड़ा गुस्सा आता था, वह भगवान्के नामसे ही चिढ़ता था। एक दिन फिर मन्त्रीने उसे समझाया कि 'महाराज ! भगवान्का स्मरण किया करें' तो वह बहुत क्रोधित हुआ और उसने कहा कि 'इतने बड़े राज्यका शासन तो मैं चलाता हूँ और तुम कहते हो कि उसकी मर्जीके विना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। इस बातको तुम सिद्ध करो कि भगवान्की ही इच्छासे सब कुछ होता है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है। अन्यथा मैं तुम्हें प्राणदण्ड दूँगा। तुम्हें सात दिनका समय दिया जाता है अपने कथनको प्रमाणित करनेके लिये। आठवें दिन यदि तुम प्रभुसत्ता सिद्ध न कर सके तो तुम्हें फाँसीपर लटका दिया जायगा।'

प्रभुकी सत्ताको किस प्रकार प्रमाणित किया जाय, इसपर विचार करते-करते मन्त्री बहुत दूर जंगलमें पहुँच गया। उसे प्राणदण्डका भय नहीं था; क्योंकि

वह जानता था कि आत्मा अजर, अमर है, मृत्यु केवल परिवर्तन मात्र है शरीरके चोलेका। परंतु उसे चिन्ता इस बातकी थी कि वह अपनी बात किस प्रकार प्रमाणित करे; क्योंकि 'प्रभु है' इसका अनुभव तो उपासना या साधना करनेसे ही होता है। वह विचारोंमें खोया जा रहा था कि उसे सामने एक बालक तपस्या करता मिला। मन्त्री उसे नमस्कार करके पास बैठ गया। उस बालकने मन्त्रीसे कहा कि 'भाई! तुम गृहस्थी दिखायी देते हो। गृहस्थको छोड़कर क्या जंगलमें तपस्या करने आये हो? यदि ऐसी बात है तो तुम्हें वापस चले जाना चाहिये; क्योंकि गृहस्थमें रहकर जो ब्रह्मनिष्ठ होता है, वही वस्तुतः श्लाघ्य है।' मन्त्रीने कहा—'नहीं, तपस्वी बालक! मैं गृहस्थका त्याग करके नहीं आया हूँ। मेरे सामने एक समस्या है। राजाका कहना है कि सारा शासन मैं चलाता हूँ, प्रभुकी सत्ता कुछ नहीं करती। उसने कहा है कि प्रभुकी सत्ताको यदि तुम प्रमाणित नहीं करोगे तो आठवें दिन तुम्हें प्राणदण्ड दे दिया जायगा।' मन्त्रीकी यह बात सुनकर वह तपस्वी बालक मुस्करा उठा और उसको धैर्य बँधाते हुए बोला—'तुम चिन्ता मत करो और मुझे अपने राजाके पास ले चलो। मैं प्रभुकी सत्ताको सिद्ध कर दूँगा।' मन्त्री उस बालकको अपने साथ ले आया और दूसरे दिन उसे राजाके सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और बोला—'राजन्! आपका प्रश्न इतना साधारण है कि यह छोटा-सा बालक ही उसका उत्तर दे देगा।' राजाने उस बालकसे पूछा—'बताओ, भगवान् किस प्रकार शासन चलाता है?' बालकने कहा—'राजन्! आप जिज्ञासु बनकर मुझसे कुछ बात पूछना चाहते हैं, मुझसे कुछ समझना चाहते हैं तो यह कहाँ तक उचित है कि आप सिंहासनपर बैठे रहें और मैं आपके सामने खड़ा रहूँ? मुझे आप मानवताके नाते कोई आसन तो बैठनेको दीजिये।' राजाने अपनी भूल स्वीकार की और तुरंत अपने राज्यसिंहासनसे उतरकर उस बालकको उसपर बिठा दिया और आप उसके सामने खड़ा हो गया। जब बालक राज्यसिंहासनपर बैठ गया तो उसने कहा—

खुदाकी हुकूमतका हरसू अमल है।
तफ़्फ़कुरमें क्यों जान अपनी है खोता॥

'राजन्! क्या अब भी आपकी समझ नहीं आयी कि प्रभुकी सत्ता कितनी विचित्र है! वह जिसे चाहे एक क्षणमें राज्यगद्दीसे उतारकर भिखारी बना दे। आप थोड़ी देर पूर्व इस सिंहासनपर बैठे थे और उसने एक क्षणमें आपको उतारकर मुझे जंगलसे बुलाकर यहाँ राज्यसिंहासनपर बिठा दिया! क्या यह प्रभुकी सत्ताका चमत्कार नहीं?' राजा बालककी बातसे प्रभावित होकर नतमस्तक हो गया; परंतु अन्तःकरणसे पूर्ण संतुष्ट नहीं हुआ। बालकने कहा—'राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ। मेरे कण्ठ भी सूख रहे हैं। हो सके तो मेरे लिये एक गिलास दूध मँगवा दो।' राजाके एक इशारेपर ही एक सेवक दूधका कटोरा भरकर ले आया। दूधके कठोरेको हाथमें लेकर बालकने राजासे पूछा—'राजन्! क्या आप जानते हैं कि इस दूधमें घी है; परंतु क्या वह दिखायी देता है? निश्चय ही उत्तर होगा कि वह दिखायी नहीं देता। परंतु दूधमें घी है अवश्य। यदि इसी दूधको जमाकर दही बना दिया जाय और दहीको मथा जाय तो अवश्य घी निकलेगा। इसीलिये विद्वान् संतोंने कहा है—

दूध दहीमें रमि रह्या ब्यापक सब ही ठौर।
दादू वक्ता बहुत हैं, मथि काढ़े ते और॥

'राजन्! अब आप समझ गये होंगे कि भगवान् सर्वत्र है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है; परंतु जिस प्रकार दूधका दही जम जाता है उसी प्रकार यदि साधक अपनी साधनापर जम जाता है और अपने अन्तःकरणमें

मन्थन करता है, अर्थात् अपनी बुराइयोंको निकालता है और अच्छाइयोंको धारण करता है, तो उसका साक्षात्कार सम्भव है। इस मानव-हृदयमें दैवी वृत्तियाँ और आसुरी वृत्तियाँ जन्मसे होती हैं। जब एकान्त स्थानमें एक निश्चित स्थानमें एक निश्चित समयमें नित्य बैठकर मानव अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी करता है, तब इन दोनों वृत्तियोंका संघर्ष होता है और संघर्षसे शक्ति उत्पन्न होती है और आसुरी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। फिर मानवमें प्रेम एवं सेवाकी भावना पैदा हो जाती है।

'राजन्! यह जीवन जलतरंग-जैसा चपल है, यौवन कुछ ही दिन टिकता है। धन-सम्पत्ति, राज्य-लक्ष्मी आदि कमलपत्रपर पड़ी जलबूँदकी भाँति क्षणस्थायी हैं, विषय-सुखका प्रवाह वर्षा ऋतुमें चमकनेवाली बिजलीके समान है। ऐसा समझकर हे राजन्! इस भवसागरको यदि पार करना चाहते हो तो भगवान्की भक्तिमें चित्त लगाओ। बाह्य प्रवृत्तिमें लगे हुए मनको अन्तर्मुखी बनानेसे प्रसन्नता बढ़ती है, मन निर्मल होता है। प्रसन्नता या निर्मलताके बढ़नेसे परमात्माका दर्शन होता है और दर्शन होनेसे संसारके बन्धनोंका नाश होता है तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवान्से मिलनेके लिये सेवा, इन्द्रियसंयम, सत्य-मृदु वाणी, गुरुसेवा, भजन-ध्यान, समता, निर्मोहता, प्राणिसेवा, पूर्ण निष्ठासे सर्वत्र भगवद्भाव आदि आवश्यक हैं। जिस प्रकार पतिव्रता नारी अपने पतिके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुषका ध्यान नहीं करती, उसी प्रकार साधकको भी सिवा एक अपने इष्ट भगवान्के अन्यका ध्यान नहीं करना चाहिये।

'भगवान्को न माननेके कारण मनुष्य अहंकाररूपी बन्धनमें पड़ जाता है और आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दुःख भोगता है। उस दुःख-गर्तमें गिरे हुएको भगवान् प्रकाश देते हैं; पर मानव फिर भी नहीं सँभल पाता और बार-बार जाग्रत् करनेपर भी सुषुप्त रहता है। केवल मूर्खलोग ही कहा करते हैं भगवान् नहीं है जबकि वह सबके ही हृदयमें निवास करता है। भगवान् तो प्रेमस्वरूप हैं और प्रतिपल मानवका पथ-प्रदर्शन करता है तथा उसकी रक्षा करता है। राजन्! आप ईश्वरको नहीं मानते, इसलिये आपकी प्रजा भी प्रभुसे विमुख है और भगवान्को न माननेकी लहर आपके देशमें फैल गयी है। आपके देशमें आर्थिक विषमता है। प्रभुके साथ आर्थिक विषमताका सम्बन्ध जोड़ना न्यायसंगत नहीं। धन जीवनयापन करनेका एक साधन है, साध्य नहीं। जिन लोगोंने ईश्वरके स्थानपर धनको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया है, उनके जीवनमें अशान्ति है।

'इसलिये राजन्! यदि आप अपना, अपने देशका और जनताका कल्याण चाहते हैं तो स्वयं प्रभु-विश्वासी बनकर जनतामें भगवान्का विश्वास उत्पन्न कीजिये और उसके आर्थिक, नैतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक स्तरको ऊँचा उठाइये। निश्चय कीजिये प्रभुके भजन बिना मोक्ष नहीं होता।'

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

राजाके हृदय-कपाट खुल गये। अविद्या (अज्ञान)-का भूत भग गया, उसकी नास्तिकता नष्ट हो गयी और वह उस बालकका शिष्य बन गया एवं प्रभु-सत्ताके समक्ष नतमस्तक होकर भगवत्-भजन करने लगा। उसके राज्यमें सुख-शान्ति छा गयी। यों राजा तथा प्रजा दोनोंका जीवन-स्तर ऊँचा उठ गया।

* * *

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरु रमप्यारेजी अग्निहोत्री, गुरुकुल-कुटीर, उपरहटी, रीवा, म० प्र०)

जीवनमें स्वरोदयका ज्ञान परम सिद्धिदायक होता है। यह अत्यन्त गोपनीय विषय है, अत्यन्त उत्तम ज्ञान है और सबसे बढ़कर धन ही है। स्वर-बल संसारमें एक बड़ी भारी शक्ति है। इससे शत्रुका पराभव होता है, लक्ष्मीकी उपलब्धि होती है और संसारका ऐसा कोई भी काम नहीं जो इससे सिद्ध नहीं होता। स्वरोदयशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शंकर हैं, जिन्होंने भगवती पार्वतीको गोपनीय स्वरोदयका ज्ञान कराया था। प्राचीन ऋषि-मुनि इसके ज्ञाता होते थे और यही कारण था कि वे त्रिकालदर्शी, महान् सिद्ध, इच्छानुसार जीवन-मरणके अधिकारी थे। स्वरोदयका ज्ञान ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। स्वरोदय-ज्ञानकी महत्ता अनादिकालसे भारतीय जीवनमें अक्षुण्ण रही है और इसीके आधारपर भारत ज्ञानकी सृष्टिमें अग्रगण्य रहा है।

आज स्वरोदयका ज्ञान शायद ही किसीको है और जिसको यह ज्ञान होगा, वह जीवनमें महान् सफल व्यक्ति भी होगा। स्वरोदय-शास्त्र बहुत विस्तृत और गम्भीर अध्ययन एवं मननका विषय है। यहाँपर मैं जीवनमें काम आनेवाले कुछ स्वरोंका ही संक्षेपमें उल्लेख करूँगा और वह भी अपने अनुभव एवं बोधगम्यताके आधारपर ही।

यह शरीर अनन्त रूपवाली नाड़ियों (शिराओं) से बना हुआ है। नाभिसे लेकर कण्ठपर्यन्त बहत्तर हजार नाड़ियोंका जाल फैला हुआ है। इन्हीं नाड़ियोंमें संचरित होनेवाली वायु-गतिका ज्ञान ही स्वरोदय-ज्ञान है। नाभिमें स्थित कुण्डली-नलिका ही बहत्तर हजार शिराओंका आदिस्थान है। इस नलिकासे दस नाड़ियाँ ऊर्ध्वगामिनी और दस ही अधोगामिनी प्रधान हैं। इनमें कुछ तिरछी, कुछ ऊँची और कुछ नीची उपनाड़ियाँ हैं। सम्पूर्ण नाड़ियाँ चक्रकी भाँति समस्त शरीरमें व्याप्त हैं। इन नाड़ियोंमें दस नाड़ियाँ प्रधान हैं। इन नाड़ियोंकी स्थिति इस प्रकार है।

(१) इड़ा—शरीरके बायीं ओर अर्थात् शरीरके वामभागमें।

(२) पिंगला—शरीरके दाहिने भागमें।

(३) सुषुम्ना—मध्य शरीरमें।

(४) हस्तिजिह्वा—दाहिनी आँखमें।

(५) पूषा—दाहिने कानमें।

(६) यशस्विनी—बाँयें कानमें।

(७) अलम्बुषा—मुखमें।

(८) कुहू—लिङ्गदेशमें।

(९) शाङ्खिनी—गुदा भागमें।

(१०) गान्धारी—बायीं आँखमें।

इन दस नाड़ियोंमें भी प्रधान तीन ही नाड़ियाँ हैं, जिनसे स्वरज्ञान होता है। ये प्रधान नाड़ियाँ—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना हैं। दसों नाड़ियाँ शरीरके दसों द्वारोंपर स्थित रहती हैं। इन्हीं नाड़ियोंके आश्रयमें शरीरमें पाँच प्राणवायु और पाँच ही उपप्राण-वायु स्थित रहते हैं। प्राणों और उपप्राणोंकी स्थिति इस प्रकार है।

१—प्राणवायु—

(१) प्राण वायु—हृदयमें।

(२) अपान वायु—गुदा स्थानमें।

(३) समान वायु—नाभिदेशमें।

(४) उदान वायु—कण्ठके मध्यभागमें।

(५) व्यान वायु—समस्त शरीरमें।

२—उपप्राण वायु—

(१) नाग वायु—डकारके साथ निकलनेवाला।

(२) कूर्म वायु—जिस वायुके द्वारा आँखकी पलकें खुलती और बंद होती हैं।

(३) कृकल वायु—छींक आते समय वायुका वेग जो अंदर जाकर बाहर निकलता है।

(४) देवदत्त वायु—जँभाईके साथ अंदर प्रवेश करनेवाला वायु।

(५) धनञ्जय वायु—शरीरके जीवित तथा मृतक अवस्था तकमें बना रहनेवाला वायु।

उपर्युक्त पाँच प्राण और पाँच ही उपप्राण वायु शरीरके अंदर फैली हुई समस्त नाड़ियोंमें संजीवनी शक्तिका संचार किया करते हैं। यही प्राण और उपप्राण वायु नाड़ी-संचरणके प्रधान कारण हैं। प्राण वायुओंके अभावसे नाड़ियोंकी गति विकृत हो जाती है। नाड़ियोंकी स्वस्थता प्राण और उपप्राण वायुकी गतिपर ही निर्भर रहती है।

प्रधान तीन नाड़ियोंमें—इड़ामें चन्द्र, पिंगलामें सूर्य और सुषुम्नामें भगवान् शंकरजीका निवासस्थान प्राचीन ऋषियोंने माना है। इड़ानाड़ी शुभदायक और सभी कामोंमें सिद्धिदाता है। पिंगला नाड़ी जगत्को उत्पन्न करनेवाली और सुषुम्ना नाड़ी अशुभदायिनी मानी गयी है। इड़ा नाड़ीमें चन्द्रका निवास होनेसे चन्द्रनाड़ी और पिंगलामें सूर्यका स्थान होनेसे सूर्यनाड़ी भी कहा जाता है।

चन्द्रनाड़ीके प्रवाहके समय प्रारम्भ किये गये सभी कार्य सिद्ध होते हैं। सूर्यनाड़ी क्रूर कर्मोंमें—लड़ाई-झगड़े आदिमें सिद्धिदायक होती है। भुक्ति-मुक्तिका फल देनेवाले कर्म सुषुम्ना नाड़ीके प्रवाहमें करने उत्तम होते हैं। नाकके दोनों छेदोंसे समान प्रवाहवाली वायुकी गति सुषुम्ना नाड़ीका फल है।

शरीरका प्रधान रक्षक वायु ही है। शरीरमें बाहरसे भीतर दस अंगुल और भीतरसे बाहर बारह अंगुल वायुकी गति साधारण रूपसे होती है। यह गति स्थिरावस्थाकी है; किंतु शारीरिक क्रियासे इसकी गतिमें अन्तर हो जाता है। जैसे चलनेमें चौबीस अंगुल, दौड़नेमें बयालीस अंगुल, स्त्री-प्रसंगमें पैंसठ अंगुल, भोजन तथा वमनके समय अठारह अंगुल और सोते समय सौ अंगुल वायुकी बाह्यगति हो जाती है। ये गतियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंके द्वारा ही जानी जाती हैं। नाड़ियोंपर दिन, रात तथा तिथियोंका भी प्रभाव स्वाभाविक रूपसे पड़ता है। शुक्लपक्षमें चन्द्रस्वर प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक, उसके बाद चतुर्थीसे लेकर षष्ठीतक सूर्यस्वरका क्रम तीन-तीन दिनके अन्तरसे पूर्णमासीतक चलता है और कृष्णपक्षमें प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक सूर्यस्वर और चतुर्थीसे लेकर षष्ठीतक चन्द्रस्वरका क्रम अमावस्यातक चलता है। शुक्लपक्षमें ब्राह्ममुहूर्तके अवसरपर ढाई घड़ी चन्द्रस्वर और उसके बाद सूर्यस्वरका प्रवाह होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्षमें ढाई घड़ीतक सूर्यस्वर और फिर चन्द्रस्वर क्रम-क्रमसे दिनकी साठ घड़ियोंतक चलता रहता है। इस तरह मानव-स्वर दिन-रात तथा पाक्षिक गतियोंसे पूर्ण प्रभावित है।

उपर्युक्त क्रमसे यदि नाड़ियोंद्वारा स्वरकी गति चलती रहती है तो जीवन स्वस्थ और आनन्ददायी होता है और यदि इसके विपरीत यानी शुक्लपक्षमें चन्द्रस्वरके स्थानपर सूर्यस्वर और कृष्णपक्षमें सूर्यस्वरके स्थानपर चन्द्रस्वर प्रवाहित होता है तो जीवन कष्टमय एवं उलझनोंमें ही व्यतीत होता है। जीवनकी गतिविधिकी परीक्षाके लिये इन स्वरोंका ज्ञान होना आवश्यक है। ऋषि-मुनियोंको इन स्वरोंका पूर्ण ज्ञान रहता था; यही कारण था कि वे भविष्यके ज्ञाता होते थे। इन स्वरोंका प्रभाव व्यक्तिगत जीवनतक ही निर्भर

नहीं है, अपितु बाह्यजगत्की गति-विधियाँ भी निर्भर हैं। जिनके लिये सफल साधना और अभ्यासकी आवश्यकता होती है।

इस तरह यदि मानव अपनी स्वरगतियोंका आश्रय लेकर दैनिक जीवनमें प्रवेश करता रहे तो कोई संदेह नहीं कि वह भारी-से-भारी विपत्तिसे त्राण पा सकता है। स्वर-ज्ञानसे संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। दुर्लभ है स्वरज्ञानका अध्ययन और अभ्यास। इस छोटेसे निबन्धमें मैंने केवल स्वर-ज्ञानकी भूमिका ही लिख पायी है। यदि पाठकोंको यह विषय रुचिकर और कल्याणकारी प्रतीत हुआ तो मैं भविष्यमें इस प्रकार अधिक और विस्तृत प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूँगा।

* * *

खोना सोना है

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

खोना सोना है। सच, हँसी नहीं करता।
कैसे—जानना चाहते हो।
तो उतरो तनिक तहमें।
इस जीवनमें खोना-ही-खोना है कि कुछ और ?
कौन है जिसने उम्रके साथ-साथ कुछ-न-कुछ खो नहीं दिया है ?
और पानेके नाते देखें, तो भी क्या दीखता है ? यही तो !
जो पाया जाता है, जो पा रहे हैं क्या वह भी खोनेके लिये नहीं है ?

किसी-न-किसी दिन सब खोया ही जाता है अथवा हम ही उससे खोये जाते हैं। बात तो एक ही है। खोना हर हालतमें पत्थरकी लकीर बनकर रहता है।

तो खोनेसे तो बचा ही नहीं जा सकता। आवश्यकता भी नहीं है इसकी, क्यों खोना व्यर्थ नहीं, सोना बननेके लिये है। पर बने तो तब, जब बनाना आये किसीको।

स्मरण रहे—

योगः कर्मसु कौशलम्

खोनेमें खोओ और खोना सीखो तो सोना बना धरा है, मिला धरा है, हुआ धरा है।

वह सोना जिसपर स्वयं अकल्मषता मुग्ध है, जो नितान्त खालिस है, जिसमें न कभी खोट रहा है, न कभी रहेगा।

हाँ, तो सब खोकर यह सोना पाओ और फिर इस स्वर्ण-प्रभुमें स्वयंको खो अमर हो दिप्-दिप् दमको तीनों लोकमें, तीनों कालमें—सदैव !····सर्वत्र। और क्या चाहिये।

तो देखा न ?
खोना सोना है। सच, हँसी नहीं करता।

प्रकाशके पुनर्जन्मकी आश्चर्य-घटना

‘मैं छातामें अपनी माँके पास जा रहा हूँ।’ दस-वर्षीय मरणासन्न बालक निर्मलके मुखसे ये शब्द सुनकर बालकके माता-पिता तथा परिजनोंका शोक द्विगुणित हो गया। उन्होंने उसे मरणसे पूर्वका प्रलाप समझा। बालक इस समय अपने माता-पिताके साथ कोसीकलाँमें रहता था। छाता ग्राम उस स्थानसे छः मीलकी दूरीपर स्थित है। माता-पिता तथा परिजनोंको शोकमें रोता-बिलखता छोड़कर बालकने देहका त्याग कर दिया।

किंतु निर्मलकी मृत्युके प्रायः चार महीने पश्चात् ही जुलाई १९५०में छाता-निवासी श्रीबृजलाल वार्ष्णेयके कुलमें प्रकाश नामक एक बालकने जन्म लिया। जब यह बालक ४$\frac{1}{2}$ वर्षका हुआ तभीसे अर्द्धरात्रिके समय अपना बिस्तर त्यागकर वह प्रायः किसी मार्गकी खोजमें सड़कपर चलकर आ जाया करता था। उसके माता-पिता उसे ऐसा करनेसे रोकते तो वह कहा करता था ‘मेरा घर तो कोसीकलाँमें है और मैं वहाँ जाना चाहता हूँ।’ इस प्रकार निरन्तर चार-पाँच राततक प्रकाशद्वारा उपर्युक्त क्रियाकी पुनरावृत्ति किये जानेपर उसके माँ-बाप बड़े चिन्तित हो गये और उसके बाल-मनको बहलानेके लिये वे उसे यह कहकर विपरीत दिशामें ले गये कि उसे कोसीकलाँ ले जाया जा रहा है। बालक यह बात पहचान गया तथा बार-बार कोसीकलाँ जानेका आग्रह करने लगा। अन्तमें हारकर उसके पिता एक दिन उसे कोसीकलाँ ले आये और उसे अपनी दूकान पहचाननेके लिये कहने लगे। लेकिन दूकान बंद होनेसे वह बालक उसे पहचान न सका और जैन-परिवारसे बिना मिलाये ही उसके पिता उसे वापस छाता लौटा लाये; किंतु भोलानाथ जैनके परिवारवालोंको जब इस बातका पता चला कि कोई अद्भुत बालक उनसे मिलने छातासे कोसीकलाँ लाया गया था तो उस बालकके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा उनके मनमें जाग्रत् हुई और वे बालकसे मिलनेका अवसर देखने लगे।

प्रकाशको अपने पूर्वजन्मका स्मरण उस समयतक रहा जबतक वह ४॥-५ सालका था। किंतु उसके माता-पिता आदि द्वारा विशेष ध्यान न दिये जानेपर वह शनैः-शनैः अपने पूर्वजन्मकी घटनाओंके सम्बन्धमें भूलता गया और यदि वह यदा-कदा इस सम्बन्धमें अपनी कोई जिज्ञासा या हठ प्रदर्शन करता तो उसके पिता उसे पीटकर उस बातको भूल जानेके लिये बाध्य करते। इस प्रकार पाँच सालकी अवस्थाके पश्चात् बालकके मनसे उसके पूर्वजन्मकी बातोंको भुला दिया गया और या तो पिटाईके डरसे अथवा किसी अन्य कारणसे बालकको भी इस सम्बन्धमें कोई उत्साह न दिखानेके लिये विवश होना पड़ा और अब वह अपने पूर्वजन्मसे सम्बन्धित घटनाओंके विषयमें बहुत कम ही बोलता था।

इसी बीच एक महत्त्वपूर्ण घटना घट गयी। कोसीकलाँ-निवासी निर्मलके बड़े भाई श्रीजगदीशके एक पुत्रकी मृत्यु भी अल्पायुमें ही हो गयी। इस समय वह बालक ३॥ सालका था। इस बालककी मृत्यु हो जानेसे जैन-परिवारवालोंका छाता-स्थित प्रकाशके प्रति ममत्व फिर जाग्रत् हो गया और समयान्तरसे इस जैन-परिवारके बहुत-से सदस्य प्रकाशसे मिलनेके लिये आने लगे। प्रकाश बिना बताये हुए ही प्रायः सभीको स्वतः ही पहचान लेता और उन्हें उसी नामसे भी सम्बोधित करता जो उनका वास्तविक नाम होता। इस संदर्भमें जब निर्मलकी बहिन तारा उससे मिलने आयी तो प्रकाश खुशीसे रो उठा और उसने अपने पितासे पुनः आग्रह किया कि उसे कोसीकलाँ ले जाया जाय।

जैन-परिवारवालोंकी निरन्तर प्रार्थनापर प्रकाशके माता-पिता उसे कोसीकलाँ ले जानेके लिये राजी हो गये। कोसीकलाँ पहुँचकर प्रकाशने बस-अड्डेसे ही जैन-परिवारके घरका सही रास्ता दिखाना प्रारम्भ कर दिया, किंतु वह उनके मकानके दरवाजेके पास जाकर ठिठक गया और मकानके अंदर जानेसे हिचकिचाने लगा। इसका कारण स्पष्ट था कि निर्मलकी मृत्युके पश्चात् उस मकानका प्रवेशद्वार काफी बदला जा चुका था। किसी प्रकार घरके अंदर प्रवेश कर लेनेके पश्चात् उसने प्रथम दृष्टिमें ही निर्मलकी माँ, दो भाई तथा उनकी चाची एवं पड़ोसियोंको पहिचान लिया। उसने मकानके अंदरके उन भागोंसे भी अपना परिचय बतलाया जहाँ निर्मलके रूपमें वह रहता था और उसकी मृत्यु हुई थी।

दुर्भाग्यवश प्रकाशकी इस यात्राने उसके मनमें कोसीकलाँके प्रति एक विशेष लगाव उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप वह बार-बार अपने पिताजीसे उसे कोसीकलाँ ले जानेका आग्रह करता रहा। प्रकाशके पिता उसे अपने यहाँसे खो देनेके भयसे उसे पीटते और सब बातें भूल जानेके लिये कहते। यह क्रम चलता रहा।

किंतु प्रकाशकी कोसीकलाँकी दूसरी यात्राके पश्चात् ही करीब तीन सप्ताह बाद शोधकर्ताओंका एक दल घटनाकी जाँचके लिये पहुँचा। घटनाएँ इस समय ताजी थीं और लगातार पूछताछ किये जानेके कारण वार्ष्णेय-परिवारवालोंको यह भय लगने लगा कि कहीं वे बालकको सदा-सर्वदाके लिये अपनेसे खो न दें। शोधकर्त्ताओंने जिन विशेष बातोंका जिक्र इस घटनाके सम्बन्धमें किया है; वे संक्षेपमें यों हैं—

(१) छाता ग्राम तथा कोसीकलाँ छः मीलकी दूरीपर स्थित हैं। और चूँकि कोसीकलाँ एक व्यापारिक केन्द्र है इसलिये दोनों परिवारवालोंका वहाँ आना-जाना सम्भव है—किंतु वहाँ आते-जाते रहनेपर भी इस घटनासे पूर्व दोनों परिवारवालोंका परस्पर एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था और न दोनों परिवारवालोंके कोई भी सदस्य एक दूसरेको जानते ही थे। दरअसल उन्हें तो इस घटनाका पता प्रकाशके कोसीकलाँ जानेके बाद ही मालूम हुआ था।

(२) वार्ष्णेय-परिवारवालोंका कहना है कि प्रकाश अपनी पहली यात्रासे पूर्व कभी भी कोसीकलाँ नहीं ले जाया गया था। और जैन-परिवारवालोंका कहना है कि निर्मल भी अपने जीवनकालमें केवल एक बार छाता होता हुआ गुजरा था; किंतु वह वहाँ ठहरा नहीं था।

(३) प्रकाश और निर्मलके व्यक्तित्व और व्यवहारमें भी कुछ समानताएँ पायी गयी हैं। वार्ष्णेय-परिवारवालोंसे पूछताछ किये जानेपर उन्होंने बताया था कि प्रकाश रातमें सोते हुए बहुत बार उठ जाया करता था—और कोसीकलाँ भागनेकी चेष्टा करता था। उसकी इस चेष्टाके कारण वे लोग बड़े परेशान थे और कोई मार्ग निकालनेकी चिन्तामें थे। इसी बीच जैन-परिवारवाले जब उससे मिलने आये तो उन्हें देखते ही उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और तब वह विशेषरूपसे कोसीकलाँ जानेका आग्रह करने लगा।

(४) जब प्रकाशने शोधकर्ताओंके साथ अपने भाई जगदीशको देखा तो वह खुशीसे उछल पड़ा और ऐसा देखा गया कि उसके ऐसे व्यवहारसे वार्ष्णेय-परिवारवालोंमें यह डर व्याप्त गया कि कहीं यह लड़का हमेशाके लिये उनसे अलग न हो जाय।

(५) शोधकर्त्ताओंने यह भी पाया कि जब प्रकाश बड़ी बहिन तारासे मिला था तो अत्यन्त आत्मीयतासे उसने उसका नाम लेकर उसे सम्बोधित किया था और उस समय उसकी आँखोंमें आँसू भी थे। प्रकाशने इसी प्रकार निर्मलके पिता श्रीभोलानाथ जैनको

भी पहिचान लिया था । जब निर्मलका भाई देवेन्द्र वहाँ उससे मिलने आया तो उसने उसे देवेन्द्र कहकर ही पुकारा था । उसके अतिरिक्त लोगोंकी भीड़मेंसे उसने अपने पूर्वजन्मके एक भाई जगदीशको भी पहिचान लिया था । उसने अन्य जिन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थानोंकी पहिचान की उनमें दूकानमें रक्खा आगरेसे लाया गया काले रंगकी लकड़ीका एक बक्सा था, मकानका वह कमरा था जिसमें वह सोया करता था तथा अपने एक पड़ोसी टेकचन्दके बारेमें बताना था ।

इस प्रकार यह अनुभव किया गया है कि प्रस्तुत घटना पूर्वजन्मकी अनेक घटनाओंसे भिन्न तथा अलग महत्त्वकी है । और यह घटना उन विशेष घटनाओंमेंसे एक है जिनका अध्ययन तथा संग्रह हमारा यह विभाग पिछले कुछ वर्षोंसे कर रहा है । 'परामनोविज्ञानविभाग' राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, पूर्वाग्रहरहित होकर वैज्ञानिक प्रणालीके सहारे पूर्वजन्मकी समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन एवं अनुसंधान कर रहा है । इस हेतु हम सुधी पाठकोंसे निवेदन करते हैं कि इस प्रकारकी घटनाओंके सम्बन्धमें अधिक-से-अधिक जानकारी वे हमें भेजें और उनके सम्बन्धमें पर्याप्त साधन उपलब्ध करायें ताकि हम उनका विधिवत् अध्ययन कर सकें । इस सम्बन्धमें पाठक निम्नलिखित पतेपर पत्रव्यवहार कर सकते हैं—

प्रोफेसर हेमेन्द्रनाथ बनर्जी, संचालक परामनो-विज्ञान-विभाग
राजस्थान, विश्वविद्यालय जयपुर, (राजस्थान)

जब क्रोध आता है !

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

क्रोध एक मानसिक विकार है । जिस अनुपातसे यह मानसमें उत्पन्न होता है, उसीके अनुसार इसके कारण विकृत अवस्थाकी सूचना मिलती है । मनुष्य समझता है कि हमारे क्रोधसे दूसरे डरेंगे; पर उलटे अपने ही हथियारसे स्वयं चालक ही घायल हो जाता है । यह है क्रोधका गुणधर्म । जहाँसे यह उत्पन्न होता है, वहींपर प्रथम प्रहार करता है । इस दृष्टिसे क्रोधी व्यक्तिको बलशाली नहीं, किंतु निर्बल समझना चाहिये । इसका शीघ्र असर विचारशक्तिपर पड़ता है । इसके उत्पन्न होते ही प्रथम मस्तिष्क और बादमें विचारोंमें शून्यता आती है । एक चीनी लोकोक्तिमें कहा गया है कि 'तुम समझते हो कि हमारी जलायी हुई क्रोधकी आगमें हमारे दुश्मन जलकर भस्म हो जायँगे; पर यह तुम्हारी उलटी समझकी बलिहारी है । वस्तुतः सबसे पहले तुम्हीं अपने क्रोधकी आगसे जलकर संकुचित हो जाओगे ।'

गीतोपनिषद्के अनुसार आत्माको पतनोन्मुख करनेवाले तीन ही मानसिक विकार हैं—(१) काम, (२) क्रोध और (३) लोभ । गीताके अनुसार काम और क्रोधकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है । इस गुणकी अधिकता होनेपर विशेषतः पित्तदोष कुपित होता है । यों तो विदेहका वचन है कि क्रोध और शोकसे वात, पित्त और शोणित—ये तीनों कुपित होते हैं । वात और पित्त दोष हैं और इनके द्वारा प्रभावित रक्त दूष्य संज्ञक है । ये सभी विकृत हो शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंके उत्पादक बनते हैं; अतएव क्रोधको हमेशा ही शरीरका प्रबल शत्रु समझे, सदा सतर्क रहकर उसे जीतनेके उपाय करता रहे ।

उपर्युक्त सभी स्थितियोंको ध्यानमें रख बुद्धके वचनमें कहा गया है—अनत्थ जननो क्रोधो । अर्थात् क्रोध सभी प्रकारके अनर्थोंका जनक है । जिसने क्रोधको जीत लिया, उसने करीब-करीब सभी मानसिक

विकारोंपर अपना प्रभुत्व कर लिया । बौद्ध-साहित्यके मानसिक विकारोंके वर्णनक्रममें यह कहा गया है कि जब मन क्रोधाभिभूत हो जाता है, उस समय विवेककी शक्तिपरीक्षा शुरू होती है; क्योंकि क्रुद्ध व्यक्ति क्रोधकी ऊष्मामें अपने मनका संतुलन खो बैठता है । कैटो नामक एक विदेशी लेखकने कहा है कि जिस समय कोई क्रोधके चंगुलमें फँस जाता है उस समय उसका मुख तो खुला रहता है, पर उसके नेत्र (ज्ञान) बंद हो जाते हैं । क्रोध उत्पन्न होनेके समय उसके द्वारा होनेवाले परिणामोंका भी स्मरण कर लेना चाहिये; पर ऐसा उस वक्त सोचता कौन है ?

एक उक्तिका अंश है—क्रोध करे पै साधै मौन । क्रोध करनेसे शरीरमें जहरका अंश बढ़ जाता है । यह जहर रक्तमें विकार उत्पन्न होनेसे आता है । क्रोधित होनेसे शारीरिक दोष और उन दोषोंद्वारा दूष्य (रक्त) विकृत हो जाता है । विदेहका वचन है—

क्रोधशोकौ स्मृतौ वातपित्तरक्तप्रकोपनौ ।

भावार्थ यह कि विशेष क्रोधयुक्त होनेसे या शोक करनेसे स्मरणशक्ति, वात, पित्त तथा रक्त—ये विकारयुक्त या विशेषरूपसे कुपित हो जाते हैं । इन छहों—तीन मानस विकार तथा तीन शारीरिक धातु—वात, पित्त और रक्त—के विकृत होनेसे अनेक प्रकारकी स्वतन्त्र तथा संकर व्याधियोंके उपस्थित होनेकी सम्भावना बनी रहती है । अतएव प्रथम तो क्रोध करना ही नहीं और यदि क्रोध आ भी जाय तो उस कालमें मौनावलम्बन कर लेनेसे उसका वेग समाप्त हो जाता है । उपर्युक्त लोकोक्तिद्वारा ऊपर वर्णन किये हुए सभी विकारों या रोगोंसे शरीरकी रक्षाके लिये एक ही उपाय 'मौन' का अवलम्बन कर उन सबके आक्रमणसे बच निकलनेकी सलाह दी गयी है ।

क्रोधनाशका उपाय

छोटी हो या बड़ी—जब कामना पूरी नहीं होती, मनचाही बात नहीं होती तब कामनापर एक चोट लगती है और वह चोट खायी हुई कामना ही क्रोध बन जाती है । जबतक कामना है, तबतक क्रोध भी होगा ही; क्योंकि सारी कामनाएँ कभी भी, किसीकी भी पूरी नहीं होतीं । कामनाका नाश होता है—विषयासक्तिके न रहनेसे । अतएव विषयोंके बदले भगवान्में प्रीति की जाय और जो कुछ भी फल प्राप्त हो—मनचाहा या मनका न चाहा, अनुकूल या प्रतिकूल—उसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अपने सहज ही परमसुहृद् भगवान्का मङ्गल-विधान समझा जाय तो कामना यदि कहीं होगी भी तो उसपर चोट नहीं लगेगी—क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्की मङ्गलमयताके दर्शनके कारण समता रहेगी । यों विषय-कामना अपने-आप ही नष्ट हो जायगी और क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होगी । साधारणतया क्रोधसे बचनेका उपाय है—क्रोधके समय चुप रहना या भगवान्के नामका जप-कीर्तन करने लगना ।

* * *

हिंदू-संस्कृतिके रंगमें रँगे रहीमके काव्यमें प्रभु-महिमा

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी **पुरोहित**, एम्० ए०, बी० एड्)

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबरके दरबारके सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे अपने समयके अनुपम योद्धा ही नहीं, वरं प्रमुख साहित्यकार भी थे। मुसल्मान होते हुए भी हिंदू-संस्कृतिके प्रति उनका अटूट अनुराग था। अतः उन्होंने हिंदी भाषामें हिंदू-संस्कृतिका जितना वर्णन किया, उतना वे अरबी और फारसीमें मुस्लिम सभ्यताके तत्त्वोंको नहीं अपना सके। हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता रही कि इसने अहिंदू लोगोंको भी अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित किया। ये सब इस संस्कृतिकी विशालता तथा सजीवताके प्रतीक हैं। रहीमने हिंदूधर्मके शास्त्रोंका अध्ययन किया; हिंदू मान्यताओंको अपनाया। कहते हैं कि हिंदू-संस्कृतिके प्रबल समर्थक भक्तशिरोमणि संत कवि तुलसीदासजीसे उनकी प्रगाढ़ मित्रता थी। इतना ही नहीं, सम्राट् अकबरके प्रबल विरोधी, हिंदूधर्मके सजग प्रहरी, महाराणा प्रतापके प्रति उनका अटूट प्रेम था। हिंदूधर्मके प्रमुख तत्त्व ईश्वरोपासनामें उनका अपूर्व विश्वास था। यही कारण है कि प्रभु-महिमाको उन्होंने अपने काव्यमें अधिकाधिक स्थान दिया।

ईश्वरके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। एक समय मेवाड़के महाराणा अपने कर्तव्यसे डगमगाने लगे। तब उन्होंने महाराणाको जो संदेश भेजा, उसमें उनका ईश्वरपर अडिग विश्वास स्पष्टरूपमें झलकता है—

धर रहसी, रहसी धरम, खुस जासी खुरसाण।
अमर बिसंम्भर ऊपरै, राख निहचौ राण॥

'हे महाराणा ! धर्म और पृथ्वी विश्वकी सनातन सम्पत्ति है। परंतु मुगलोंका राज्य स्थायी नहीं है। अतः तुम ईश्वरपर विश्वास कर धर्मकी रक्षा करते रहो।'

ईश्वरकी अपार शक्तिका जगह-जगह रहीमने अपने काव्यमें वर्णन किया है—

अमर बेलि बिन मूलकी, प्रति पालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि, खोजत फिरिये काहि॥

बिना जड़की अमरबेलको प्रभु ही हरी-भरी रखते हैं। हे मानव! ऐसे कृपालु ईश्वरको छोड़कर तू संसारमें क्या ढूंढ़ता रहता है?

संतति संपति जानि कै, सबको सब कुछ देइ।
दीनबंधु बिन दीनकी, को रहीम सुधि लेइ॥

संतान, सम्पत्ति आदि सुख ईश्वर ही देनेवाले हैं। रहीम कहते हैं कि दीन-मानवकी सुधि लेनेवाले केवल ईश्वर ही हैं।

समय दसा कुल देखिकै, लोग करत सनमान।
रहिमन दीन अनाथको, तुम बिन को भगवान॥

संसारमें कुल और वैभवको देखकर ही प्रतिष्ठा दी जाती है। साधारण दीन मानवको अपनानेवाले तो प्रभु ही हैं, उनके सिवा और कौन है?

गहि सरनागत रामकी, भव सागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव॥

जीवनरूपी नौकाको प्रभुकी शरणमें छोड़ दो। भवसागरको पार करनेका इसके अतिरिक्त और कुछ भी उपाय नहीं है।

धन दारा अरु सुतनमें, रहत लगाये चित्त।
क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिनको मित्त॥

हे मानव! तू धन, स्त्री और संतानकी मायामें ही उलझा हुआ है। अन्त समयमें इनमेंसे कोई भी काम आनेवाला नहीं है। अतः तू ईश्वरको क्यों नहीं खोजता है?

जो रहीम तन मन दियो, कियो हिए बिच भौन।
तासों दुख सुख कहन कौं, रही बात अब कौन॥

ईश्वरने ही हमें तन-मन दिया। वह अपनी आत्मामें निवास करता है। उससे प्रार्थना करनेमें हमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होना चाहिये।

रहिमन राम न उर धरै, रहत बिषय लपटाय।
पसु खर खात सवाद सों, गुर गुलियाये खाय॥

रहीम कहते हैं कि मानव ईश्वरको तो अपने हृदयमें धारण नहीं करता है और विषय-वासनामें लिप्त रहता है। जैसे पशु खल (तिलोंका तेल निकलनेके बादकी वस्तु) तो स्वादसे खाता और गुड़ देनेपर भी नहीं खाता है।

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

प्रभुकी शोभा नयनोंमें समा जानेके बाद संसारके विषयोंकी ओर हमारी आँखें नहीं जायँगी। विषय-वासनाएँ प्रभुको देखकर उसी प्रकार फिर जायँगी। जिस प्रकार सरायको भरी हुई देखकर यात्री अपने आप वापस लौट जाता है।

रहिमन बहु भेषज करत, ब्याधि न छाँड़त साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ॥

बहुत अधिक चिकित्सा करनेपर भी रोग दूर नहीं होते हैं। केवल प्रभुकी शरणागति ही रोगोंसे छुटकारा दिला सकती है। जैसे जंगलके पशु-पक्षी किससे चिकित्सा कराते हैं? उनके तो एकमात्र चिकित्सक श्रीभगवान् ही हैं।

धूर धरत नित सीसपर, कहु रहीम केहि काज।
जिहि रज-मुनि-पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

संत कवि तुलसी और रहीममें परस्पर बड़ा प्रेम था। यदा-कदा ये मिलते भी रहते थे। मिलनेपर काव्य तथा धार्मिक चर्चा इनका प्रधान विषय रहता था। एक बार तुलसीने रहीमसे प्रश्न किया—'बताओ रहीम! हाथी अपने सिरपर बार-बार धूल क्यों डालता रहता है?' रहीमने उत्तर दिया—'हे संत महात्मा! हाथी प्रभुकी उस चरण-रजको ढूँढ़ रहा है, जिसके प्रतापसे गौतम-नारी अहल्याका उद्धार हुआ था।' (रहीमका हिंदूशास्त्रोंका अध्ययन अनूठा था।)

माँगे मुकुरिन को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥

संसारके लोगोंसे माँगनेपर वे मना भी कर जाते हैं। विपत्ति देखकर ये लोग साथ भी छोड़ देते हैं। हे मानव! प्रभु हमेशा देते रहते हैं। अतः उनसे माँगनेपर ही सुखकी प्राप्ति होती है।

रहिमन मनहि लगाय के, देखि लेहु किन कोय।
नरको बस करिबो कहा, नारायण बस होय॥

मनको लगानेपर क्या नहीं होता। कोई लगाकर देख ले मनुष्य तो क्या स्वयं नारायण वशमें हो जाते हैं।

जिहि रहीम चित आपनों, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि बासर लागो रहै, कृष्णचन्द्रकी ओर॥

अपने मनको चकोर बना लो, जिससे वह भगवान् श्रीकृष्णकी ओर सर्वदा लगा रहे।

दोहोंके अतिरिक्त रहीमने बरवै तथा पद भी लिखे हैं। उनमें भी प्रभु-भक्तिका भाव कूट-कूटकर भरा है।

पिय मूरति चित सरिया चितवति बाल।
चितवत अवध सबेरवा जपि जपि माल॥

× × × ×

पीतम मिले सपनवाँ भो सुख खानि।
आनि जगायेसि चेरिया भइ दुख दानि॥

रहीम सगुण उपासक थे। स्वप्नमें वे सुखकी खान श्यामसुन्दरको देखते हैं। परंतु दासीने आकर उनको (रहीमको) जगा दिया। अतः प्रभु-वियोगसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ।

भजि मन राम सियापति रघुकुल ईस।
दीन बंधु दुखटारन कोसलाधीस॥

हे मन! दीनबन्धु, दुःखोंको दूर करनेवाले कोसलाधीशका स्मरण करते रहो।

सगुणोपासना हिंदूसमाजकी अमूल्य निधि है। सूर, मीरां तथा रसखानकी तरह रहीम श्रीकृष्णके रूप-लावण्यपर लुभा जाते हैं। इस तरहके रहीमरचित अनेक पद मिलते हैं। उनमेंसे दो यहाँ दिये जाते हैं—

छबि आवन मोहनलालकी।
काछे कछनि कलित मुरली कर पीत पिछौरा सालकी॥
बंक तिलक केसर को कीनों दुति मानो बिधु बालकी।
बिसरत नाहिं सखी मों मनते चितवनि नयन बिसालकी॥
नीकी हँसनि अधर सुधरनि छबि छीनी सुमन गुलालकी।
जलसों डार दियो पुर इन पर डोलनि मुकुता मालकी॥
आप मोल बिनु बोलनि, डोलनि बोलनि मदन गोपालकी।
यह सरूप निरखै सोइ जानै इस रहीमके हालकी॥

श्यामसुन्दर, मदनगोपालके रूपको निरखकर कवि भाव-विभोर हो जाते हैं—

कमल दल नैननि की उनमानि।
बिसरत नाहिं सखी मो मनते मंद मंद मुसकानि॥
यह दसनन दुति चपला हू ते महा चपल चमकानि।
सुधा की बस करी मधुरता सुधा पगी बतरानि॥

गड़ी रहे चित उर विसाल की मुकत माल थहरानि ।
नृत्य साथ पीतांबरहू की फहरि फहरि फहरानि ॥
अनुदिन श्रीवृन्दावन ब्रज ते आवन-आवन जानि ।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्यामकी बानि ॥

वास्तवमें रहीम बड़े धन्य थे जो राजकाजमें इतने व्यस्त हते हुए भी उन्होंने इतने सुन्दर काव्यकी रचना की । त्संग, प्रभु-महिमा-वर्णनसे उन्होंने अपना जीवन सफल बनाया । मनुष्य चाहे किसी धर्ममें पैदा हुआ हो, यदि उसके पास मानवीय हृदय हो तो वह हिंदू-संस्कृतिके रूपपर मोहे बिना नहीं रह सकता । प्रभु-महिमाके महत्त्वको न समझकर आधुनिक लोग नास्तिक होते जा रहे हैं । इस तरह जीवनके स्थायी आनन्दसे हम दूर होते जा रहे हैं । आशा है हम रहीमकी उपर्युक्त प्रभु-महिमा-वर्णनसे प्रेरणा लेकर आस्तिक-भावसे ईश्वरका स्मरण करेंगे ।

◆

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ १०६१ से आगे]

(६७)

देख यों मुझको व्याकुल विकल
व्यथित पीड़ित निरीह असहाय ।
न फटती धरती भी तो अरे,
समा जाऊँ मैं जिसमें हाय ! ॥
अरे दिनकर ! कर तू ही दया,
जला दे, जो हूँ तेरे हाथ ।
कर लिया है प्राणोंने मेल,
मुझे छल, विरह-ज्वालके साथ ॥
अरे ओ नीलनिलय ! क्या नहीं
तुझे भी आती मुझपर दया ?
उठा ले तू ही फैला बाहँ,
धरासे तो, अब जी भर गया ॥
अरे मुझ हतभागिनिकी आह
नहीं सुनता है कोई आज ॥
हाय ! क्या मैं ही पैदा हुई
अकेली लेकर ऐसा भाग ॥
इस तरह हो व्याकुल छटपटा
तड़प मछली-सी और कराह ।
लोटने लगी धरणिपर हाय !
भग्न-मन राधा भर-भर आह ॥

षष्ठ तरंग

(६८)

उस समय देख दशा इस भाँति
छुट गया वसुन्धराका धीर ।
पवनके हुए द्रवित उच्छ्वास,
गगनके उरसे बरसी पीर ॥
विकल हो तड़प उठी छटपटा
मिलन-थलकी हरेक प्राचीर ।
रो पड़ा हिलकीभर मनसुखा,
डालपर सिसके बैठे कीर ॥
बह चला अविरल अश्रु-प्रवाह
बाँध उरके धीरजका तोड़ ।
हुई विह्वल ललिता, दुख गया
कलेजेको बेतरह झिझोड़ ॥
उठा राधाको छाती लगा
गोदमें रख मस्तक चुपचाप ।
पोंछ आँचलसे रह-रह अश्रु
लगीं करने अतिशय अनुताप ॥
दिशाओंके अकुलाये प्राण,
आह भर डोल गया भूगोल ।
बहे गद्गद स्वरसे जिस समय
विकल मनसुखके विह्वल बोल ॥

(६९)

न रो दीदी ! हा ऐसे विलख,
देख मुझ वज्र-हृदयकी ओर ।
मौतके मुँहसे भी जो निकल
जी रहा रह दुखमें सरबोर ॥

इस तरह तड़पानेसे कभी
न निकलेंगे ये आकुल प्राण ।
छटपटानेसे हे मेरी बहिन !
न पाओगी इस दुखसे त्राण ॥
एक दिन इसी भाँति मैं और
जा फँसा मात यशोदा-गेह ।
वहाँ भी बिलकुल तेरी तरह
विकल देखा था मैंने नेह ॥
उसीने बना दिया था मुझे
बावला इतना, जो मैं ऊब ।
जानकर जीवन दुखमय घोर
गया था कालिन्दीमें डूब ॥
किंतु अब दीदी ! तुमको देख
मिला है अनुपम नया प्रकाश ।
कला जीनेकी जागी भव्य,
हुआ हूँ अबके नहीं हताश ॥

(७०)

सोचता हूँ जब खोना प्राण
नहीं अपने हाथोंकी बात ।
किस लिये घुला-घुलाकर इन्हें
वृथा पहुँचायें भीषण ताप ॥
कृष्णमय होकर जब ये स्वयं
सदा करते हैं उनकी याद ।
बहिन ! तब बोलो कैसे ठीक
उन्हें पहुँचाना विषम विषाद ? ॥
अरे ये प्राण बने जो स्वयं
सलोने साँवरियाका गेह ।
लगाना उसमें दीदी ! आग
कौन-सा है बोलो यह नेह ? ॥
हाय ! जिस मन-मन्दिरमें बिठा
प्राण करते मोहनसे रमण ।
कहाँका दीदी ! वह उपदेश
करायें उन्हें मृत्युका वरण ?
अतः जब जीना ही है हमें,
सीखनी होगी जीवनकला
नहीं तो लुट जायेगा बहिन !
आजतक जो कुछ भी है मिला ॥

(७१)

प्राणकी भट्ठीमें जो सुलग
प्रज्वलित रहता है दिन-रात ।
न जिसको रंच मात्र भी कभी
बुझा पाती दृगकी बरसात ॥
अग्निमें घृत-आहुतिकी भाँति
और भी जाता है जो भड़क ।
पजलती रहती है हर साँस
न जलती फिर भी दुखकी कड़क ॥
उबलता रहता पल-पल प्यार
कढ़ाईमें ज्यों स्मृतिकी, उफन ।
बदलता रहता क्षण-क्षण रंग,
लपटकी बढ़ती ज्यों-ज्यों तपन ॥
दीखता जिसमें नव निर्माण,
अन्तमें आता है वह दृश्य ।
चमक उठता कुन्दन-सा बहिन !
उपस्थित क्षण बन मधुर भविष्य ॥
खोलता है दीदी ! जो जटिल
अखुल उलझी जीवनकी विरह ।
किस तरह हो सकता है कहो—
प्राणलेवा वह साथी विरह ॥

(७२)

मिलन भी वैसे तो अति मधुर
प्राणमें भरता है उन्माद ।
न फिर भी कम मीठा है बहिन !
प्रतीक्षित उत्कण्ठाका स्वाद ॥
प्रेमके तिल-तिल नूतन भाव
मिलनमें पीते हैं रस शान्त ।
किंतु अमरित-रस पीती सदा
बहिन ! पपिहाकी प्यास अशान्त ॥
प्रेमके भावोंको संयोग
बनाता मधुरस पिला सुषुप्त
सुनाता जाग्रतिका संदेश
वियोगी प्रेमीका उर तप्त ॥

किंतु कहनेका आशय नहीं,
विछुड़नेको ही करें सँयोग ।
परिस्थितिकी है यह तो बात—
गया है मिल जब स्वयं वियोग ॥
ठीक है पीना ही तब बहिन !
हमें उसका भी प्रेम-पराग ।
रागका रस जब हमने पिया,
लगायें क्यों ना हृदय विराग ॥

(७३)

किया करता प्रेमीका हृदय
निरन्तर प्रेमास्पदका ध्यान ।
उसीके भजन, मनन, गुण-गान,
कीर्तन, चिन्तन-रसका पान ॥
शमन होती जब अपनी चाह
प्राणपतिकी चाहोंमें डूब ।
न रहती है तब कोई भ्रान्ति,
तर्क, मीमांसा, भटकन, ऊब ॥
शुद्धतम, सुरभित पुष्पित, हृदय
इस तरह तज अग-जगके खोट ।
मस्त मधुकर-सा नित रस-पान—
करे प्रिय चरणकमलमें लोट ॥
सधेगा उस क्षण स्वयं समत्व,
लगेंगे शाप मधुर वरदान ।
सतायेगा तब कोई नहीं,
लोभ-मद-मोह-मान-अपमान ॥
समर्पित हो जब यों सम्पूर्ण
प्रेम प्रेमास्पदमें हो विलय ।
लगेगी धरती गाने गीत
पुण्य नित बरसायेगा निलय ॥

(७४)

अतः मेरा तो निश्चित हुआ
आजसे सुन लो दीदी ! ध्येय ।
वही होगा अब साधन, सिद्धि,
योग, जप-तप, उपमा-उपमेय ॥

घूमकर ब्रजके हर घर-गाँव
गली द्वारे वह मधु संदेश ।
सुनाऊँगा मत कोई सहो,
आजसे कृष्ण-विरहका क्लेश ॥
प्रेमका नहीं कभी आदर्श
करे निज प्रेमास्पदको दुखी ।
उलहने देना दुखमें सुलग,
भावना है केवल मनमुखी ॥
अरे जिसमें सुख पाये सदा
हमारा प्यारा सुन्दर श्याम ।
करो अब सिहा-सिहा कर सभी
वही प्रियतम मन-चाहे काम ॥
चाहता है वह उसका विरह,
सहें हम बनकर धीर गँभीर ।
करें ना उसको कभी उदास
सुनाकर अपनी-अपनी पीर ॥

(७५)

बुझाने निकला है वह कृष्ण
धराकी छातीके अंगार ।
उठाने, भक्तोंके उर रखे
अनेकों बोझोंके अम्बार ॥
रहे हैं लूट अभी सुख-चैन
कंस-से भी अति दुर्जय दुष्ट ।
उन्हें करना है देखो अभी
तुम्हारे गिरधारीको नष्ट ॥
अरे, तब शोभा देता नहीं,
हमें कर कर भारी अनुताप ।
वहाँ उस पुण्य-कार्यमें लगे,
श्यामको पहुँचाने संताप ॥
कर रहा है वह जो कुछ वहाँ,
उसीको यहाँ बना कर लक्ष ।
करें उन भावोंका विस्तार
सजाकर अपने झुलसे बक्ष ॥

बनाया है जब उसने स्वयं
प्यार देकर हमको निष्काम ।
प्रणयकी पा ऐसी सौगात
न मंगलमय मिटना हर याम ॥

(७६)

उठो दीदी ! तो आसूँ पोंछ
कृष्णका लेकर प्यारा नाम ।
सुनाओ ऐसे पावन गीत,
गा उठे कण-कण राधेश्याम ॥
करो ललिते ! अब रोना बंद,
छोड़ दो तुम भी विरही भेष ।
सुनाना है सखियोंमें पहुँच
तुम्हें भी मोहनका संदेश ॥
समयपर चेत गये हम सभी,
अन्यथा बढ़ती इतनी आग ।
पजल जाती यह सारी सृष्टि,
न हो जाता क्या बड़ा अकाज ? ॥
प्रथम तो करना है यह काम
इकट्ठे कर सब गोपी-ग्वाल ।
मिटाओ सबके मनकी पीर
बनाकर अपना हृदय विशाल ॥
धन्य है दीदी ! मेरे भाग,
मिले जो तेरे चरण ललाम ।
विदा कर, दे अशीष, नित रहूँ
झूमता गा 'जय राधेश्याम' ॥

(७७)

विकल राधाने उस क्षण झूम
प्रेमसे होकर आत्म-विभोर ।
लगा छातीसे, बरसा स्नेह,
कर दिया मनसुखको सरबोर ॥
कहा फिर 'भैया ! तू है धन्य,
धन्य है तेरा पावन प्यार ।
कर दिये शीतल तन मन प्राण,
विरहका हटा हृदयसे ज्वार ॥
किये थे उद्धवने उपदेश,
तुम्हें भी होगी उनकी याद ।
न उनसे रंच मात्र भी दूर
हुआ था मनका बोझ विषाद ॥
न्यायकी तर्क, ब्रह्मका रूप,
ज्ञानकी बात, योगकी रीति ।
न समझी तिलभर भी मनसुखे !
बसी मन, मन-मोहनकी प्रीति ॥
किंतु तैंने तो ऐसा मधुर
सजाया प्रियका कर्मठ रूप ।
निरखकर पहलेसे भी अधिक
रीझ कर मैं बन गयी अनूप ॥

(७८)

'बन्धु जाओ ! निश्चयमें लगो,
करो पूरा प्रियका आदेश ।
करें हम सबकी रक्षा सदा
कृष्ण केशव माधव प्राणेश ॥
हमारा उनका नाता नित्य,
भला कब हो सकता है दूर ?
दूर होंगे जितने ही और
बसेंगे प्राणोंमें भरपूर' ॥
चलो ललिते ! अब तो ढल गयी
अमा-सी काली-काली रात ।
खिल रही है वह अरुणिम उषा
सजा अधरोंपर मधुर प्रभात ॥
मचलती है स्वासोंकी वेणु
स्वरोंमें भरकर मीठे नाम ।
कृष्ण केशव गिरिधर गोविन्द,
मुरारी मन-मोहन घनश्याम ॥
कन्हैया कमल-नयन, कंसारि,
नित्य नव-सुन्दर आनँदकंद ।
सलौने साँवरिया नँदलाल,
'जयति जय वृन्दावन व्रजचन्द' ॥
(क्रमशः)

अपनी संस्कृतिके प्रति घोर अनास्था और पतन!

अन्ध परानुकरण-प्रवृत्ति

हुए विदेशी हम स्वदेशमें कर सारा निजस्व बलिदान।
करते अन्ध 'परानुकरण' तज भारतीय-संस्कृति-अभिमान॥
'पर'-भाषा, 'पर'-वेष, 'पराया'-खानपान सब 'पर' आचार।
शय्या-सज्जा-भवन-भ्रमण सब ही 'पर', 'पर' मन-बुद्धि-विचार॥
बच्चे कहने लगे पिताको 'पप्पा' माँ को 'मम्मी' आज।
परम्परागत चाल छोड़ सब सजने लगे 'पराया' साज॥
हटा हृदयसे गुरुजन माता-पिता-पूर्वजोंका सम्मान।
'पर' बननेमें लगे मानने उन्नति, प्रगति, विकास महान॥

जिस जातिको अपनी संस्कृति, अपने पूर्वज, अपने आचार-विचार, अपनी वेष-भूषा, अपने खान-पान और अपनी परम्परागत निर्दोष पद्धतियोंके प्रति हीनताकी भावना, उपेक्षा-बुद्धि, दोषबुद्धि और त्याज्यबुद्धि हो जाती है और 'पराया' सब कुछ अच्छा, उच्च, गुणयुक्त और ग्रहण करने योग्य प्रतीत होने लगता है, वह जाति जीवित नहीं रहती। बाहरी विदेशी प्रबल आक्रमणकारी देशपर विजय प्राप्त कर सकते हैं पर हमारे स्वरूप-संस्कृतिपर विजय नहीं पा सकते। पर जब हम स्वयं ही अपनी संस्कृतिकी जड़ खोदने लगते हैं—हम ही अपने स्वरूपका त्याग करनेमें गौरव मानने लगते हैं तब तो हमारी हार ही नहीं, मृत्यु ही हो जाती है और बड़े खेदकी बात है कि तपःपूत ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न त्यागी ऋषि-मुनियोंके इस पावन देशमें आज अन्धाधुन्ध यही हो रहा है! हमारे आचार-विचार, हमारे शिक्षालय, हमारे धर्मस्थान, हमारे स्त्री-पुरुषोंके आचार, हमारी भाषा, हमारी वेश-भूषा, हमारे खान-पान, हमारे घर-मकान, हमारे भोजनालय-स्नानालय, हमारे शयनागार, हमारी परस्परके मिलन-प्रसंग, हमारे पत्रलेखन, हमारी बोल-चाल, हमारी कार्यपद्धति—सभीमें अपने प्रति उपेक्षा, घृणा तथा हीनताकी भावना और अन्धे होकर पराया अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति प्रबल आँधीकी तरह इस प्रकार बढ़ रही है कि जो हमारी जड़ उखाड़नेपर उतारू है। भारतीय संस्कृति सत्यपर आधारित है और सत्य कभी मरता नहीं, इसलिये यह संस्कृति मरेगी तो नहीं—इसका मूलनाश तो कभी नहीं होगा। पर इसका जो गौरवमय स्थान आज मलिन होने जा रहा है और अपने ही हाथों, यह विनाशोन्मुखी प्रवृत्ति अवश्य कलङ्ककी बात है!

स्त्रियाँ मातृत्व और सतीत्वका त्याग करके केवल वासनाकी सामग्री बनती जा रही हैं। पुरुष महान् विषयपरायण, भोगी तथा अर्थपिशाच हो रहे हैं, बालक ध्रुव, प्रह्लाद, युधिष्ठिरको भूलकर अंग्रेजी या अमेरिकन चाल-ढाल तथा वेष-भूषामें रहना पसंद करते और छोटे-छोटे बच्चे घरोंमें भी पिताजी-माताजीके स्थानपर पप्पा, डैडी और मम्मी कहने लगे हैं। हमारा पहनावा, तो इधर इतना विदेशी हो गया है कि उसे देखकर विदेशीलोग तक आश्चर्य और दुःख प्रकट करते हैं। उस दिन मराठी 'सनातनी'पत्रमें प्रकाशित हुआ है कि नागपुरके हिस्लाप कालेजकी चालू वर्षकी मैगजीनमें उसी कालेजके एक अमरीकन प्राध्यापकने भारतीयोंकी अपनी पोशाकके प्रति बढ़ती हुई अनास्थापर अपने विचार प्रकट करते हुए जो कुछ कहा है, वह उन्हींके शब्दोंमें दिया जा रहा है—

> The visitor seeks to adapt himself to local conditions but he first discovers that local conditions are determined to adapt themselves to him. It seems, in a word, as if Indians have decided to stop looking like Indians and start looking like Westerners.

(एक विदेशी) दर्शक भारतमें आकर यहाँके

आचार-विचार, वेष-भूषा, खान-पान इत्यादि विषयोंमें भारतीय कैसे रहते हैं—यह समझनेकी और अपनेको यहाँकी परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेकी इच्छा करता है, परंतु इसके पूर्व ही तुरंत उसे पता चल जाता है कि भारतीय लोग तो हमारा (विदेशियोंका) अनुकरण करने—हमारे ही साँचेमें ढलनेका पूरा निश्चय कर चुके हैं। एक शब्दमें कहा जाय तो ऐसा लगता है मानो भारतीयोंने यह निश्चय कर लिया है कि वे भारतीय न दिखायी देकर पाश्चात्य दिखायी देने लगें।

Lacking the enthusiasm created by a revolutionary situation and impelled by convenience and an unconscious feeling of inferiority. Indians have abandoned their traditional national dress and jumped Dhotiless in to make-shift western trousers.

कान्तिकारक परिस्थिति—उत्साह, नवीन स्वतन्त्रताके प्राप्त होनेपर स्वाभाविक एक तेज प्रकट होना चाहिये था वह तो हुआ ही नहीं, वरं सुविधाके दृष्टिकोणसे और अपनेमें हीनताकी अज्ञात भावनाके द्वारा पराभूत मनोवृत्तिसे प्रेरित होकर भारतीयोंने अपनी परम्परागत राष्ट्रीय पोशाक तकको त्याग दिया और वे धोती उतारकर पश्चिमकी कामचलाऊ पतलून धारण करनेमें बड़प्पन मान रहे हैं।

The sympathetic visitor can only view the change with regret and wonder how many other vestiges of Indian culture will eventually be sacrificed.

(भारतके प्रति) हृदयमें सहानुभूति लिये हुए (विदेशी) दर्शक भारतीयोंमें इस परिवर्तनको देखकर केवल दुखी होता है और सोचने लगता है कि पता नहीं, अन्ततक ये भारतीय अपने कितने और सांस्कृतिक आचार-विचारों एवं प्रतीकोंका बलिदान कर देंगे।

ये भारतके प्रति सहानुभूति रखनेवाले एक विदेशी सज्जनके उद्गार हैं। वास्तवमें हमारे अपने प्रति हमारी अनास्था और नीच भावना हो गयी है और हम हर बातमें अपनी चीजको स्वीकार करनेमें लजाते हैं; इसीलिये हिंदू कहलानेमें, धोती-कुर्त्ता पहनकर बाहर निकलनेमें, धर्मका पालन करनेवाले कहलानेमें, माता-पिताके भक्त तथा आचारनिष्ठ कहलानेमें हमें लज्जाका बोध होने लगा है। यह बड़ी ही शोचनीय परिस्थिति है। ऋषि-मुनियोंकी वर्णाश्रम-प्रणालीने भारतीयता बचाया था; पर आज उसके प्रति घोर अनास्था होने लगी है। देशके मनीषियोंको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

* * *

मानव ! सावधान

मानव ! तू भले सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ले, भले ही अन्तरिक्षका अतिक्रम कर सुदूर चन्द्र-मंगलादि तक पहुँच जा और अपने विज्ञानकी विजयपताका फहरा दे। पर इससे न तो तू सुखी होगा, न तुझे शान्ति मिलेगी, न तेरा कल्याण होगा और न तू मृत्युका ग्रास बननेसे बच ही सकेगा। तेरी सच्ची विजय है, अपने मनको सर्वथा वशमें करनेमें—मनको सर्वथा आत्मनिष्ठकर या भगवान्में लगाकर आत्मसाक्षात्कार या भगवद्दर्शन करनेमें। इसीमें तेरे जीवनकी सफलता है, तेरा परम कल्याण है और तू सदाके लिये मृत्युके पाशसे बच सकता है। अन्यथा अवनि, अन्तरिक्ष और अगम्य लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले अतीतकालके अतिपराक्रमी असुरोंकी भाँति तू अपने अहंकारको बढ़ाकर उसीकी पूजामें उन्मत्त बना इन्द्रियोंका दासत्व करता हुआ अपना अमूल्य जीवन खो देगा। सावधान !

ये भीषण जीवहत्याके सरकारी उद्योग !

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। उसने जड-चेतन प्राणीमात्रमें एक अविनाशी आत्माका अस्तित्व केवल माना ही नहीं, उसके ऋषि-मुनियोंने इसका प्रत्यक्ष किया है। इसीसे भारतीय प्राणीमात्रका सुहृद् है, वह सहज ही सबका कल्याण चाहता है। आज हम अपने स्वरूपभूत महान् गौरवकी वस्तु उस अध्यात्म-को भूलकर केवल भौतिक उत्थानके पीछे अन्धे या पागल होकर दौड़ लगा रहे हैं। फलतः अहंकार, ममत्व, कलह, अशान्ति, द्वेष, हिंसा आदि जोरोंसे बढ़ रहे हैं मानो इनकी सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें आँधी-सी आ गयी है और इसीसे आज हम केवल भौतिक लाभकी मिथ्या मृगतृष्णामें कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ख्याल न करके सरकारी तौरपर हिंसापूर्ण उद्योगोंकी योजना बना रहे हैं और उन्हें कार्यान्वित करने जा रहे हैं। नये-नये यान्त्रिक कसाईखानोंकी योजना मछली-उद्योग-सूअर-उद्योगोंकी स्थापना तथा प्रसार, हत्या तथा अत्याचार करानेके लिये पशु-पक्षियोंका विदेशोंमें निर्यात, गोमांस, सूअर-मांस, गौओंकी आँतें, जीभ, खुर तथा मारे हुए पशुओंके अङ्ग-उपाङ्गोंके उद्योग, निर्माण और उनके निर्यातकी योजना आदि इसीके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

'सर्व-धर्म-अहिंसा-सम्मेलन'की पत्रिकाके अनुसार सन् १९६३। ६४की सरकारकी निर्यात व्यापार-रिपोर्टमें प्रकाशित आँकड़े नीचे दिये जाते हैं—

निर्यात वस्तु	संख्या	रुपयोंमें मूल्य
जीवित पशु खानेके लिये	७२४६७	७५६१५९)
जीवित बंदर	७६१९०	२४५४५६१)
जीवित पक्षी	१०९९७८	१६३१०७८)
गोमांस,मांस पकाया हुआ ताजा और सुखाया हुआ	१५१४०१	१६२१६०१८)
मछली और उसके पदार्थ	—	५७१३६०७६)
चमड़े-बाल	—	१०१५६९७८६)
हड्डी-खून-गोलोचन आदि	—	४३७२५३७९)

चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजनामें सरकार चार बड़े यान्त्रिक कसाईखाने खोलने जा रही है, यह बात पहले कही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त दस लाखकी बस्तीवाले शहरोंमें पाँच और बड़े यान्त्रिक औद्योगिक कसाईखाने तथा इनके सिवा छोटे शहरोंमें और भी सौसे अधिक औद्योगिक कसाईखाने खोलनेके लिये कुल मिलाकर बीस (२०) करोड़ रुपये लगानेकी योजना बनी है।

इसके अतिरिक्त सूअर-हत्याके दस बड़े कसाईखाने (Bacon factory) की योजना भी है और उसके सूअर-पालनके केन्द्र भी शुरू कर दिये गये हैं।

ये सारी योजनाएँ युनाइटेड नेशन्सकी विश्व-आरोग्य संस्था और अन्न-कृषि विभागके परामर्श, सहयोग तथा आर्थिक सहायतासे सम्पन्न की जायँगी और इनका मुख्य उद्देश्य है—हिंसक उद्योगोंके द्वारा, खूनी व्यापारके द्वारा विदेशी मुद्रा प्राप्त करना !

बड़े ही दुःखका विषय है कि अहिंसामूर्ति अशोकका चिह्न धारण करनेवाली गांधीजीकी अहिंसक सरकार भारतीय संस्कृति, धर्म-परम्परा, अहिंसक-प्रवृत्ति सबकी परवाह छोड़कर केवल पैसोंके लिये हत्याके व्यापार करने जा रही है और इसके लिये भारतीयोंके खाद्यमें मांसाहारकी प्रवृत्ति बढ़ानेके साथ ही नये-नये भीषण जीव-हत्याके प्रयत्नमें लगी है !

प्रत्येक भारतीयको इन भीषण हत्या-उद्योगोंका—सरकारी जीवहत्या-प्रवृत्तिका विरोध करना चाहिये और सरकारसे यह दृढ़ताके साथ माँग करनी चाहिये कि वह इस घोर राष्ट्रीय पापप्रवृत्तिका सदाके लिये तुरंत परित्याग कर दे। इसके परित्यागमें ही सबका कल्याण है। नहीं तो, इस अवाञ्छनीय महापापका भयानक परिणाम अवश्यम्भावी है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दानवोंमें भी मानवता

दानव जन्मजात भी पैदा होते होंगे, पर बहुधा कुसंस्कारोंसे, कुसंगसे और बुरी आदतोंसे ही मानवसे दानव बनते देखे-सुने गये हैं।

जो दया, प्रेम, करुणा, मैत्री और सहिष्णुतासे शून्य हो, क्रूर और अत्याचारी हो, आततायी और उत्पीड़क हो, उसे ही दानव कहते हैं और कहना चाहिये।

ऐसे लोगोंमें, ऐसा नहीं कि मानवता नामकी कोई वस्तु होती ही नहीं और वे मानवतासे सर्वथा रहित होते हैं—प्रत्युत होती है, पर एक दम दबी हुई—कुसंस्कारों और कुकर्मोंकी गहरी राखमें छिपी हुई।

अवश्य ही ऐसे लोगोंके जीवनमें वह जीवन भर दबी ही रह जाती है, कभी उभरकर बाहर नहीं आती, पर किसी-किसीके जीवनमें कभी-कभी बाहर भी आ जाती है और उसके जीवनपर लगे लाखों काले धब्बोंमें एक सफेद चाँद-सी चमकती अमर छाप लगा भी जाती है।

ऐसी ही एक चमचमाती अमर छाप आजसे कोई चालीस वर्ष पहिले घोर-घोर दानवों या डाकुओंके एक सरदारके जीवनमें भी लगी थी।

वह आज भी याद है और जीवनभर याद रहेगी।

घटना संक्षेपमें, पर जरा स्वादिष्ट बनाकर यों कही जा सकती है—

लाहौरसे कोई बारह मील दूर एक कस्बा है—काना। कानासे एक ओर कोई तीन मीलके फासलेपर एक छोटा-सा गाँव है—घनकड़।

घनकड़में मेरी स्त्रीका ननिहाल था। मेरी तरह मेरी स्त्रीको भी देहाती जीवन बहुत पसंद था और मेरी तरह अब भी है, पर अब यह पसंद 'पसंद' ही रह गयी है। रहना पड़ रहा है शहरोंमें, अप्राकृतिक जीवनमें, सीधे-सादे और सरल जीवनसे निकलकर औपचारिक जीवनमें—दिखावेके जीवनमें, सुख-आराम और भोग-विलासके पीछे भागनेवाले जीवनमें। अस्तु!

विवाहसे पहिले मेरी तरह मेरी स्त्री भी प्रायः ननिहालमें ही रहती थी और तत्पश्चात् भी विभाजनसे पहले वह प्रायः ननिहालमें ही कुछ दिन बिताने चली जाती थी, यद्यपि उसके मैकेवाले लाहौरमें रहते थे।

मैं उसे लाहौरसे लाने तो भले ही न जाऊँ, पर अपने पिछले देहाती जीवनको एक बार फिर मूर्त्तरूपमें देखनेके लिये सम्भव हो तो वहीं कहीं आस-पास टिक जानेके लिये गाँवमें जरूर चला जाता था, उसे लाने या मिलनेके लिये।

सन्-संवत तो ठीकसे याद नहीं। मौसिम अच्छा था—इतना याद है और यह भी याद है कि मैं एक दिन सवेरे-सवेरे ही घनकड़में पहुँच गया और एक काम याद आ जानेसे दोपहरको ही वहाँसे चल पड़ा।

कोई दो बजेके करीब मैं काना पहुँच गया। लाहौरके लिये मोटर वहींसे चलती थी। मोटर चलनेका खास समय नियत नहीं होता था। जब सवारियोंसे ठसा-ठस भर जाय, छतपर ज्यादा-से-ज्यादा माल-असबाब लद जाय, चल पड़ती थी।

मोटर एक खड़ी थी और उसका चालक एवं कण्डक्टर सवारियोंको आवाजें दे-देकर बुला रहे थे। मैंने मोटरवालेसे पूछा, 'सरदारजी! मोटर कबतक चलेगी?' उसने कहा—'लाहौर जानेके लिये एक बारात आनेवाली है, अभी आ गयी अभी, नहीं तो, सवारियाँ पूरी हो जानेपर।'

मैं मोटरमें बैठ गया और मेरे बाद आनेवाली भी कई सवारियाँ उसमें बैठ गयीं।

इतनेमें बारात भी आ गयी और वह भी उसमें बैठने लग गयी।

बारातके अधिकांश आदमी तो एकपर एक चढ़कर बैठ गये। शेषके लिये क्या हो? मोटरचालकने गैर-बारातियोंको निकलनेके लिये कहना शुरू कर दिया। कुछ निकल आये, कुछ डटे रहे।

बचे हुए बारातियोंसे जब मोटर ब्लैकहोल बनने लगी। और मेरा दम घुटने लगा तो मैंने बाहर निकलनेकी कोशिश शुरू कर दी।

मुझे निकलता हुआ देखकर मोटरचालक बोला—'बैठे रहिये लालाजी! आप तो बड़े गुरमुख सज्जन लगते हैं।'

मैं इसलिये गुरमुख सज्जन नहीं लगता था कि मैंने कोई केश धारण किये हुए थे या गुरुवाणीका पाठ कर रहा था बैठा-बैठा, प्रत्युत मैंने कपड़े कीमती पहिन रक्खे थे और आठ-दस तोला सोना पहिन रक्खा था, यह मुझे बादमें पता लगा।

राम-राम करते मोटर चली, पर 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' वाली रफ्तारसे धीरे-धीरे !

ऊपरसे संध्याकी वेला आ रही थी। सवारियाँ कहें—'सरदारजी ! जरा तेज कीजिये मोटरको। रात्रि न पड़ जाय रास्तेमें।'

सरदारजी तो कुछ न बोलें, कण्डक्टर कभी-कभी कह दे,—'घबराइये नहीं, हमको भी लाहौर ही जाना है।' कण्डक्टर मुसलमान था।

चलते-चलते मोटर 'जल्लोकी रक्ख' या 'इछरेकी रक्ख' ठीकसे याद नहीं रहा—एक भयानक जंगलके आगे एक-दम रुक गयी। मोटरवाला बोला—'कहता था, जल्दी न आयें, मोटर खराब हो जायगी। देखा, मोटर खराब हो गयी। उतरिये अब सब लोग ! मोटर ठीक करूँगा।'

कृष्णपक्ष, सुरमई उजियाला, सब लोग मोटरसे नीचे उतर आये। उधर जंगलकी तरफ क्या दिखायी दिया—ठाठा बाँधे हुए तेज और चमचमाते हथियारोंवाले दो जने उधरसे निकले, दो इधरसे।

देखते-ही-देखते कितने ही डाकू एकत्र हो गये और उनमेंसे दो जने जरा और भी नजदीक आकर एक वृक्षके नीचे खड़े हो गये और उनमेंसे एक मेरे समीप आकर कहने लगा—'इधर आ। चल जरा सामने।'

मेरा शरीर पहले ही काँप रहा था, अब और काँपने लगा, काटें तो खून नहीं।

डरता, हर-हर करता—मैं उसके साथ हो लिया और वृक्षके नीचे उसके साथ जा पहुँचा। लानेवालेने कहा—'देख ले सुरैणिआ*, ठीक है न वही ?'

सुरैणा बोला—'ठीक है, पर मियाँ वह दादा (ब्राह्मण-को गाँवमें दादा कहते हैं) खड़ा है, उसे दिखा ले। उसे तसल्ली करा दे।'

लानेवालेने उसे बुलाया और वह टार्चसे नीचेसे ऊपर तक मेरी ओर देखकर बोला—'कहाँसे आया है लाला ?' मैंने काँपते हुए कहा—'घनकड़से।'

'तू ईसरदास शाहका दामाद है ?' (ईसरदास मेरी धर्म-पत्नीके नानाका नाम था जिनका देहान्त हो चुका था।)

मैंने कहा—'जीहाँ।' लानेवालेने खींचकर एक चाँटा मेरे मुँहपर जमाते हुए कहा—'कंजर कहींके, अगर यहाँ तू मर जाता तो हम किसका घर पूछते ? हमारी तो बच्ची विधवा हो जाती। उस बेचारीने अभी देखा ही क्या है। रफ़ा हो यहाँसे।'

मैंने झुककर जब हाथ जोड़े तो चाँटा मारनेवाला बोला—'हाथ न जोड़। रहने दे। तू हमारा दामाद है। हाथ तो हमें जोड़ने चाहिये थे तेरे आगे। भैया ! क्षमा करना, चाँटा लगा बैठा हूँ।'

मैं मोटरके समीप सवारियोंमें आ मिला तो मियाँने आवाज दी मोटरवालेको—'ले जा जल्दी-जल्दी, रास्तेमें कोई रोकने लगे तो कह देना अपनी ही सवारियाँ हैं।'

मोटरवालेने हम सबको बैठा लिया और हवासे बातें करने लगा। रास्तेमें कण्डक्टरने कहा सवारियोंसे 'शुक्र कीजिये, इस लालाकी बदौलत आप सब बच गये। नहीं तो; न जाने आज क्या होता। जो आदमी इस लालाको ले गया था, वह उन डाकुओंका सरदार अकबर था जो घनकड़का ही रहनेवाला मशहूर बदमाश था।'

अब लाहौर पहुँचते देर न लगी और हम सब सहीसलामत लाहौर पहुँच गये। बादमें एक दिन अकबरने स्वयं ही मेरी पत्नीके मामाको सारी बात सुनाकर कहा—'मैं तो शुक्र करता हूँ अल्लाह तालाका, जिसकी मेहरसे मैंने कंसो (मेरी पत्नीका मैकेका नाम कंसो है) के पतिको पहचान लिया, नहीं तो, हो सकता था सारी जिंदगीका मुझपर दाग लग जाता। मैं अपनी मासूम बच्चीको क्या मुँह दिखाता ?'

यह है दानवोंमें भी मानवता उभर आनेकी सच्ची कहानी।

—गुराँदित्ता खन्ना

(२)

ईमानके आगे पैसेका कोई मूल्य नहीं !

भारत-प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्राचीन कलापूर्ण मन्दिरोंकी नगरी ऊनमें श्रीफकीरचन्दजी वर्मा रहते हैं। ये आजसे लगभग तीन वर्ष पहले कार्यवश खरगौन गये थे। वहाँसे वापिस

---

* सुरैणा, मतलब सुरैणसिंह।

ऊन लौटते समय मोटर न मिलनेसे पैदल ही आ रहे थे। मार्गमें 'कसार बावड़ी' मिलती है, उसमें पानी पीनेके लिये गये। पानी पीते समय देखा कि सीढ़ीपर एक पाकेट रक्खा हुआ है। उस पाकेटको उठाकर आप सड़कपर आकर एक घंटेतक बैठे रहे और पाकेटवालेकी प्रतीक्षा करते रहे। परंतु जब कोई नहीं आया, तब आपने उस पाकेटको खोलकर देखा तो उसमें एक बिल था। बिलपर श्रीभुक्कण भाई पाटीदार, ग्राम बनीहार लिखा हुआ था। बस, इतना ही देखकर आपने पाकेटको बंद कर लिया और तेजीसे चलकर ग्राम बनीहारकी इमलीके पास श्रीभुक्कण भाई पाटीदार, जो खरगौन मंडीमें मूँगफली बेचकर अपनी गाड़ी-बैलसे वापिस बनीहार जा रहे थे, मिल गये। आपने उसको एकदम गाड़ी खड़ी रखनेको कहा। श्रीभुक्कण भाईने गाड़ी खड़ी रक्खी। तब पास आकर श्रीवर्माने कहा कि 'इस वर्ष मुझे आमका व्यापार करनेके लिये तीन सौ रुपयेकी जरूरत है, आप दे देंगे तो बड़ी कृपा होगी।'

तब श्रीभुक्कण भाईने कहा कि 'घर चलो, रुपये दे दूँगा।' श्रीवर्मा उनके साथ घर गये। श्रीभुक्कण भाईने रुपये देनेके लिये जेबमें हाथ डाला तो पाकेट गायब था। तब तो उनके होश उड़ गये। उन्होंने श्रीवर्मासे कहा कि 'भाई! अभी खरगौनसे आते समय मैं कसार बावड़ीमें पानी पीनेके लिये गया था। वहाँपर पानीमें कहीं गिर न जाय इस विचारसे पाकेट जेबसे निकालकर मैंने सीढ़ीपर धर दिया था। पानी पीकर पाकेट उठाना भूल गया हूँ। इससे वह पाकेट वहीं रह गया है। अभी जाकर लाता हूँ। भाग्यमें होगा तो मिल जायगा और मिल गया तो तुमको व्यापारके लिये रुपये जरूर दे दूँगा।' अधिक चिन्तातुर देखकर श्रीवर्माने पाकेट निकालकर उनके सामने धर दिया और कहा कि इसमें आपके नामका बिल होनेसे मैं इसे ले आया हूँ। रुपये कितने हैं, मैं नहीं जानता; आप गिनकर अपनी रकम अच्छी तरह मिला लें। तब श्रीभुक्कण भाई पाटीदारने पाकेट लेकर देखा तो उसमें पूरे पाँच सौके नोट सही-सलामत निकले। पूरी रकम देखकर उनको बहुत ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीवर्माको बहुत ही स्नेहसे उस दिन अपने घर ही रक्खा और प्रातः अपनी गाड़ी-बैलसे ऊन पहुँचाने आये। ऊन पहुँचाकर आपने बहुत ही अहसान माना। तब श्रीवर्माने विनम्रभावसे कहा कि-'इसमें अहसानकी तो कोई बात ही नहीं है। ईमानके आगे पैसेका कोई मूल्य नहीं है।' तबसे श्रीवर्माको केवल श्रीभुक्कण भाई पाटीदार ही नहीं, वरं सारे ग्रामकी जनता श्रद्धासे देखती है।

—विष्णुराम सनावद्या 'सुमनाकर'

(३)

चाँदनीके चार दिन

भूखसे पीड़ित व्यक्ति क्या नहीं करता? दुर्दिनोंके फेरसे ऐसे मौकोंपर कुछ व्यक्ति चोरी करना तक बुरा नहीं समझते, अवश्य ही कुछ गिने-चुने ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मरना मंजूर है, लेकिन बुरा काम करना पसंद नहीं।

कालिया दूसरी प्रकारके व्यक्तियोंमेंसे ही था। माँ-बापका प्यार उसे नसीब नहीं हुआ। भाईके प्रेमसे भाभीने वञ्चित कर दिया। जिसका अपना कोई न हो, उस अभागेको अपनी लड़की देना भी कोई पसंद नहीं करता। संसारमें उसका कोई नहीं था, जिसे वह अपना कहकर दुःख-सुखकी बात कह-सुन सके। बीस साल पुरानी एक जर्जर साइकिल, दस जगह टाँके लगे हुए धोतीके दो टुकड़े, एक जोड़ी फटी कमीज, टूटा तवा और कुछ फूटे बर्तन—यही उसकी सम्पत्ति थी। बाप-दादाओंकी बनायी हुई झोंपड़ीका कोना ही उसकी दुनिया थी।

वह गरीब था लेकिन बेईमान न था। जब उसे कहीं सहारा न मिला तो उसने दूध बेचनेका निश्चय किया। किसी दयालुकी मददसे उसने दूधका एक छोटा-सा बर्तन लिया और अपना धन्धा शुरू कर दिया।

दूध बेचते-बेचते कालियाको पाँच साल हो गये। उसकी ईमानदारी और भलमनसाहतने लोगोंके हृदयोंमें अच्छा स्थान पा लिया था। समयने पलटा खाया। कालियाकी ईमानदारीने साथ दिया। अब वह दो-चार गाय-भैंसोंके दूधपर ही निर्भर नहीं था, लगभग पचास गाय-भैंसोंका दूध नित्य गाँवसे शहर कालियाके हाथमें पहुँच जाता था। चार नौकर थे और दूध ले जानेके लिये एक कार भी थी। कालिया, कालियासे कालीचरन और कालीचरनसे अब वह बोहरे कालीचरनके नामसे सम्बोधित किया जाने लगा था। भाई-भाभीने भी आना शुरू कर दिया था।

पेटकी भूख तो शान्त हो गयी किंतु पैसेकी भूख बढ़ने लगी और बढ़ती ही गयी। कभी पूरी न होनेवाली तथा

आहुति पड़नेपर आगकी तरह अधिक भड़कनेवाली सदा अतृप्त तृष्णाकी आग जाग उठी। बौहरे कालीचरन अब चार पैसेकी बचतसे संतुष्ट न होते थे। चालीस-पचास रुपये प्रतिदिनसे कम बचत नहीं थी, फिर भी उनको संतोष न था। संतोषके सुखका स्थान असंतोषकी ज्वालाने ले लिया था। पहले उनको दो रोटियोंकी भूख थी, अब सबसे बड़ा सेठ बननेकी लालसा। पैसेकी लालसा ही पापकी जननी है।

विचारोंकी दुनियाँ कितनी अस्थायी किंतु कितनी आकर्षक होती है! शीघ्र ही हजारपती, लखपती और तत्पश्चात् करोड़पती बननेकी योजनाएँ बन गयीं और उन्हींके अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। किंतु बौहरे कालीचरनकी साख बाजारमें इतनी बँधी हुई थी कि किसीको भी यह कहनेका साहस नहीं हुआ कि उसके दूधमें मिलावट आने लगी है।

व्यापार बढ़ता ही गया। दस वर्षके थोड़ेसे ही समयमें बहुत अच्छी आमदनी होने लगी थी। पैसे भी काफी इकट्ठे हो गये थे। कालीचरनका विवाह हुए दो साल हो चुके थे और एक बच्चा भी मनबहलावके लिये था। अच्छे रईसोंमें उठना-बैठना था। भाई भी ढाई सौ रुपये मासिककी अच्छी-भली नौकरी छोड़कर बहती गङ्गामें हाथ धोने आ गये थे। एक अच्छा परिवार बन गया था, जिसकी समाजमें इज्जत थी और बड़ोंमें गिनती। पानीके पैसेने बालू और मिट्टीकी बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके सबको घेर लिया था। बौहरे कालीचरन पिछले दिनोंको पूर्णतया भूल चुके थे। वह पुरानी साइकिल और टूटी हुई केन कोनेमें पड़ी अब भी बौहरे कालीचरनको याद दिलाना चाहती थीं कि तुम्हारे वैभवमें उनका भी कुछ हाथ है; किंतु कालीचरनका ध्यान उधर वर्षोंसे नहीं गया था!

आज श्राद्धपक्षकी अमावस्या है। आधा पानी और आधा दूध भी मिल जाय तो सौभाग्य है; क्योंकि लेनेवाले निराशासे बच जाते हैं और देनेवाले आर्थिक लाभ उठा लेते हैं। हर दूधवालेकी दूकानपर एक लंबी लाइन सुबहसे तैयार रहती है। रेलके टिकटघरकी खिड़कीपर इतनी लंबी लाइनमें खड़ा होनेपर यदि टिकट न भी मिले तो इतना अफसोस नहीं होता, जितना इस दिन दूध न मिलनेका दुःख होता है। टिकट तो दूसरे दिन भी मिल सकता है किंतु यहाँ तो ठीक एक साल की जाती है और उसपर भी पितरोंकी नाराजीका डर बना रहता है। बौहरे कालीचरन चाहे कुछ भी हो लेकिन समयकी पाबंदीको अपना पहला धर्म समझते थे। किसी कारणवश जब गाँवमें ही उन्हें आधे घंटेकी देरी हो गयी तो उन्होंने ड्राइवरको तेजीसे चलनेको कहा और कार हवासे बातें करती हुई आगे बढ़ गयी। रास्तेमें एक बरसाती पानीके गड्ढेके अतिरिक्त कहीं नहीं रुकी और दस-पंद्रह मिनटके हेर-फेरसे शहरमें जा पहुँची।

कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक मेंढकी, जिसका कोई अस्तित्व नहीं, इतने बड़े वैभवको नष्ट करनेपर तुल जायगी। बौहरे कालीचरन दूधको छानना जल्दीमें भूल गये तो कोई आश्चर्य नहीं, किंतु सेठजी बिना छाने दूध लेना धर्मविरुद्ध समझते थे। दूध छानते-छानते दूधमें एक छोटी-सी मेंढकी निकलकर अपनी मूक वाणीमें कह रही थी कि बौहरे कालीचरनने दूधमें पानी मिलाया है और वह भी गंदे-गड्ढेका। पानीसे पितृगण संतुष्ट रह सकते थे किंतु गड्ढेके पानीसे नहीं। सभी भीड़ गालियाँ देती हुई दुखी होकर तितर-बितर हो गयी। बौहरे कालीचरन दूधको न छाननेपर पछता रहे थे। दूकानदार मन-ही-मन खुश था कि उसे कालीचरनके पिछले दो हजार रुपये हड़पनेका स्वर्ण-अवसर बड़ी आसानीसे हाथ लगा था।

पानीकी कमाई पानीकी भाँति बहने लगी। आये दिन जुर्माना होने लगा। जुर्माना देते-देते और जुर्माना देनेवालोंको खुश करते-करते उसका सब वैभव मिट गया; लेकिन जुर्माना होना बंद न हुआ। कार बिकी, मकान गिरवी रक्खा, औरतके गहने गये, फिर भी जुर्मानोंका अन्त न हुआ। और अन्तमें जुर्माना न दे सकनेपर कालीचरनको छः महीनेकी कड़ी सजा हो गयी।

× × ×

आज छः महीनेतक जेलकी रोटियाँ खाकर कालीचरन वापिस लौटे तो न उनके भाई-भाभी मिले और न उनके मित्र-दोस्त। भाईने नौकरी ढूँढ़ ली थी और बीबी अपने बापके पास चली गयी थी। कौन जाने वह आ भी पायेगी या नहीं! बड़े मकानमें कोई और ही रह रहा है किंतु झोंपड़ीके कोने अब भी खाली हैं। सबने साथ छोड़ दिया किंतु पुरानी केन और टूटी सायकिल अब भी साथ देनेको तैयार थीं। कालिया उसी स्थानपर आ गया है, जहाँ उसने चलना प्रारम्भ किया था। दूसरे दिनसे उसने अपनी जीवनयात्राका दूसरा चक्कर प्रारम्भ कर दिया है, किंतु यह अज्ञात है कि इस बार वह कहाँ अपनी यात्रा समाप्त करेगा? चार दिनकी चाँदनीमें

जो कुछ प्राप्त हुआ था वह अन्धकारमें छिप गया है। कालिया उसकी खोजमें है। पता नहीं खोज पायेगा या नहीं !

—बैजनाथ शर्मा एम्० ए०, एम्०एड्०, साहित्यरत्न

(४)

नमककी महिमा

यह उन दिनोंकी बात है जब उत्तर भारतमें जहाँ-तहाँ रेलवे लाइनें बन चुकी थीं और कई जगहोंपर बन रही थीं, पर बेतिया (चम्पारन) से सीवान (सारन) तक अभी भी कोई सीधी लाइन नहीं है, ऐसे तो मुजफ्फरपुर होकर बेतिया जाया जा सकता है, लेकिन उन दिनोंमें सीवानसे बेतिया जानेके लिये केवल स्थल-मार्ग था और वह भी गंडकी नदी पार करके जाना होता था ।

मेरे पितामह गाढ़ा बेचने प्रायः बेतिया जाया करते थे। उन दिनों रुपयेके नोट नहीं छपते थे। केवल रुपयेके सिक्के चलते थे। जिनको व्यापारी लोग डोड़ों—न्यौलीमें (जो एक प्रकार पतली और लंबी कपड़ेकी थैली होती है) रुपये रखकर और उसे अपने कमरमें बाँधकर तथा ऊपरसे धोती आदिसे ढककर एक जगहसे दूसरी जगह चलते थे। मेरे पितामह भी उसी प्रकार डोड़ों (न्यौली) में रुपये रखकर और उसको कमरमें बाँधकर बेतियासे सीवान आ रहे थे ।

बेतियामें एक चोरको इस बातका भेद मालूम हो गया कि मेरे पितामहके पास पूरा रुपया है जो कमरमें बाँधकर ले जा रहे हैं। वह रास्तेमें चोरी करनेके विचारसे मेरे पितामहके साथ व्यापारीका भेष बनाकर लग गया । जल्दीमें जो साथ लगा तो अपने साथ रास्तेमें खानेके लिये कुछ सत्तू रख लिया और मेरे पितामहके पीछे-पीछे चल पड़ा। मेरे पितामहको उस रास्ते बराबर आना-जाना पड़ता था, रास्तेकी स्थितिकी पूरी जानकारी थी। अतएव वे अपने साथ खानेके लिये सत्तू आदिके साथ नमक, मिर्च, खटाई, चटनी, अचार आदि थोड़ी-थोड़ी मात्रामें रक्खे रहते थे और जहाँ जैसा मौका होता उससे काम चलाते थे।

रास्तेमें एक स्थानपर, जहाँ एक कुँआ और कुछ पेड़ थे, मेरे पितामह ठहर गये और वहीं भोजन आदिकी व्यवस्था करने लगे। कुछ देर आराम करनेके बाद उन्होंने अपनी झोलीसे सत्तू निकाला और सत्तूमें नमक मिलाकर और पानीसे सानकर चटनी, खटाई आदिसे खानेके लिये बैठ गये । चोर भी जो पीछे-पीछे लगा था, वहीं उनको रुका देखकर रुक गया और उसने भी अपनी झोलीसे सत्तू निकाला, लेकिन उसके पास सत्तूके साथ खानेके लिये नमक, मिर्च, खटाई आदि नहीं थे। खानेका समय हो गया था और उस निर्जन स्थानपर ये सब आवश्यक वस्तुएँ मिल जायँ ऐसी सुविधा नहीं थी। वह चोर चिन्तित-सा था । मेरे पितामह समझ गये कि इस व्यक्तिके पास सत्तू खानेका आवश्यक साधन नहीं है और इसी उधेड़-बुनमें वह पड़ा है, अतएव बिना उसके माँगे मेरे पितामहने अपने पाससे आवश्यक सामान नमक, अचार, चटनी आदि उसको सत्तू खानेके लिये दे दिये। पहले तो वह इन्कार करता रहा लेकिन मेरे पितामहके आग्रह और वहाँ दूसरी व्यवस्था उपलब्ध न होनेके कारण उसने उन आवश्यक सामानोंको ले लिया और अपना सत्तू खाया ।

भोजन समाप्त होनेके पश्चात् जब पुनः आगे प्रस्थान करनेके लिये मेरे पितामह तैयार हुए तो वह व्यक्ति मेरे पितामहके सामने हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा और बोला कि—'मैं व्यापारी नहीं हूँ बल्कि आपके रुपयोंको चुरानेके लिये साथ लगा हुआ चोर हूँ लेकिन आपने मुझे अपना नमक खिला दिया इसलिये मेरा धर्म अब कुछ दूसरा हो गया। अब मैं आपके रुपयोंकी चोरीका इरादा छोड़कर बेतिया वापस जाता हूँ।'

मेरे पितामहको उसकी बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उनके मनमें यह भाव आया कि जब इसके मनमें इस प्रकार धर्म-भाव है तो जरूर किसी विवशता-वश ही यह चोरी आदि कुकर्म करनेका घृणित विचार अपने मनमें लाया है, इसलिये इसके विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनी चाहिये और इसके चरित्रको सुधारना चाहिये। मेरे पितामह आग्रह करके उस व्यक्तिको अपने साथ सीवान ले आये और कुछ दिनोंतक अपने यहाँ रखकर उससे व्यापार करनेका वचन लिया और बादमें उसको अपनी ओरसे कपड़ा देकर बेतियामें दूकानदारी करा दी। बहुत दिनोंतक वह व्यक्ति बेतियामें अपनी दूकान करता था और मेरे पितामहसे व्यापारिक

सम्बन्ध रखता था और इस प्रकार थोड़ेसे उत्तम विचारने उसको गिरनेसे बचा दिया ।

—रामकृष्णप्रसाद

(५)

राज्य बदला है, अन्तरात्मा नहीं बदली

फ्रांस क्रान्तियोंका देश है । १८३०में वहाँ चार्ल्स दशमके राज्यके विरुद्ध प्रजाने प्रचण्ड विद्रोह किया । तीन दिनके भीतर ही चार्ल्स दशमको राजसिंहासन छोड़ना पड़ा; परंतु इस विद्रोहमें एक बात देखनेमें आयी । विद्रोहियोंकी ईमानदारी और निर्लोभता । विद्रोही सरदारोंका एक लोकप्रिय नारा था, 'हम विजयके लिये निकले हैं डाके डालनेके लिये नहीं ।' जहाँ कुछ लोगोंने गड़बड़ की, वहीं उनके साथियोंने उन्हें कठोर दण्ड दिया । विद्रोहसे घबराकर डचेज आफ़ बेरी भाग गयी थी । उसके घरमें दो मिस्त्रियोंको सोनेसे भरा हुआ काँसेका एक संदूक मिला । उसे उठाकर उन्होंने विद्रोहियोंके कोषमें जमा कर दिया और इतनी जल्दी चलते बने कि उनके नामका भी आजतक पता नहीं चला । एक विद्रोही सरदारके यह कहनेपर कि देखना यहाँसे कोई चीज उठने न पाये एक सामान्य नागरिकने उत्तर दिया, 'सरदार, हमने राज्य बदला है, अन्तरात्मा नहीं बदली ।'

—राजेन्द्रप्रसाद जैन

(६)

रुद्राक्षका तथा आँवलेका प्रयोग कैसे किया जाय

'भगवन्नाम-महिमा तथा प्रार्थना अङ्क'के पृष्ठ ६०० सौ पर मैंने जो लेख लिखा है उसमें दो-एक बहुत आवश्यक बातें छूट गयी हैं । उन्हें लिख रहा हूँ ।

'भगवान्‌की असीम कृपा' शीर्षक लेखमें मैंने 'हाई ब्लड प्रैसर'का उल्लेख किया है और भगवान्‌की कृपासे उससे मुक्ति पानेका हाल लिखा है । इस सम्बन्धमें कुछ बातें लिख देना चाहता हूँ जिससे और लोगोंका उपकार हो सके । यह बीमारी शरीरमें रक्तके आधिक्य अथवा कमीके कारण होती है । शरीरमें रक्तकी गति जाननेके लिये जितनी आयु हो उसमें ९० जोड़ देनेसे निकल आती है । जैसे मेरी आयु इस समय ७० वर्षकी है तो ७० में ९० जोड़ देनेसे १६० रक्तचाप होना आवश्यक है ।

रक्तचाप दो तरहका होता है । एकमें यह गति अधिक हो जाती है और दूसरेमें कम । मेरा रक्त-चाप १६० की जगह २३३ हो गया था । यह उतरकर फिर १६० हो गया । बढ़े हुए रक्तचापकी दवा 'सर्वगन्धा' नामक जड़ी है, जिसकी गोलियाँ बाजारमें मिल सकती हैं ।

मुझे इनके सेवनसे बहुत लाभ हुआ । पर दूसरे तरहका रक्तचाप ऐसा होता है कि रक्तकी गति साधारणसे मन्दतर हो जाती है । अर्थात् जैसे मेरे रक्तचापमें १६० के स्थानमें १२० हो जाय । इसकी दवा जटामाँसी नामक जड़ी है । रक्तचाप गड़बड़ होनेपर नमक बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिये । आटेकी सूखी रोटी तथा हल्की तरकारी लौकी इत्यादि दोपहरको सेवन करना चाहिये । मैं दिनमें केवल एक ही बार एक रोटी, लौकी तथा पालकका साग खाता । रातको थोड़ा-सा (गायका, भैंसका नहीं) केवल दूध लेता था । भैंसके दूधमें बहुत वायु होती है, इसका सेवन नहीं करना चाहिये ।

उपर्युक्त ओषधियाँ तो हैं ही पर एक और बहुत ही अच्छी ओषधि रक्तचापके लिये है । मैंने एक अंग्रेजी लेखमें पढ़ा था । यह रुद्राक्ष-धारण है । शुद्ध रुद्राक्ष प्रायः काशीमें मिल जाता है और दाम भी अधिक नहीं लगता । रुद्राक्षको ऐसे धारण करना चाहिये कि वह बराबर शरीरसे लगा रहे । रुद्राक्ष एकसे लेकर बारह मुखी तक होते हैं । मैंने जो रुद्राक्ष धारण किया, वह छःमुखी है । उसका नाम कालाग्निरुद्र है । इससे मुझे तो सदा लाभ हुआ ।*

प्रायः चार वर्ष हुए रक्तचाप फिर नहीं हुआ । हृदयके विविध रोगोंमें भी इस शुद्ध रुद्राक्षको घिसकर ओषधिके रूपमें भी लेते हैं । मुझे यह रुद्राक्ष तीन आनेमें मिला था । अधिक-से-अधिक चार-छः आनेमें मिल सकता है । छोटा शुद्ध

---

* एक मेरे सम्मान्य महानुभावने बतलाया था कि असली रुद्राक्षकी माला गलेमें सदा पहने रखनी चाहिये, जिससे उसका स्पर्श हृदयसे होता रहे । इससे बढ़े हुए रक्तचापका रोग मिट जाता है । 'इंडियन एक्सप्रेस'के एक गताङ्कमें एक सज्जन लिखते हैं कि असली रुद्राक्षके दो-चार दाने एक या दो आउंस जलमें डुबोकर रख दें और रातभर पड़ा रहने दें । सबेरे खाली पेट उस पानीको पी लें । इससे बढ़े हुए रक्तचापका रोग नष्ट हो जाता है । यह प्रयोग ६० से ९० दिनोंतक करना चाहिये । इसके अतिरिक्त रुद्राक्षके दानेको गौके दूधमें पीसकर प्रातःकाल खाली पेट उसका सेवन करनेसे चेचक बहुत जल्दी मिट जाता है । रुद्राक्षका प्रयोग चेचकको रोकता भी है । —सम्पादक

रुद्राक्ष कम मिलता है । अतः बड़ेसे ही काम लेना चाहिये । रुद्राक्ष Indonesia (जावा इत्यादि टापू)में ही होता है और वहाँसे भारतमें आयात किया जाता है । यदि किसीको और बातें जाननी हों तो वे मुझे लिख सकते हैं । मेरा पता सम्पादक महोदय 'कल्याण'से मिल सकता है ।

उसी लेखमें मैंने आँवलेसे सिर मलनेके बारेमें भी लिखा है । बाजारमें सूखा आँवला छः-सात आनेका सेरभर किसी पसारीके यहाँ मिल सकता है । सेरभर आँवला प्रायः कई दिनोंतक चल सकता है । छँटाकभर आँवला एक काठ, मिट्टी अथवा शीशेके बर्तनमें रातको भिगो देना चाहिये । सबेरे उसमेंसे गुठली निकालकर अलग फेंक देना चाहिये और आँवलेको चन्दनकी तरह घिसकर लगा लेना चाहिये । दस मिनटके बाद पानीसे अच्छी तरह स्नान कर लेना चाहिये । गरमीमें तो यह विशेषरूपसे ठंडक देता है । आँवला रसायन कहा जाता है और पारेका नाम रस है । इसके सेवनसे बाल सफेद नहीं होते तथा मनुष्य प्रायः चिरकालतक युवा बना रहता है ।

वैसे आँवला लगानेपर सेंट (Scent) वाला तेल नहीं लगाना चाहिये । मैं तो सिर्फ कड़ुआ तेल ही लगाता हूँ । आँवलेसे सिर मलनेके लिये कोई यह नियम नहीं है कि बराबर ही लगाता रहे । यदि जाड़ेमें ठंडक मालूम दे तो बंद भी किया जा सकता है ।

—भगवतीप्रसादसिंह, १७बी० मोतीलालनेहरू रोड, इलाहाबाद

(७)

हृदय-परिवर्तन

बात मेरे एक अत्यन्त निकटतम सम्बन्धीके लड़केकी है या यों कहिये, मेरे ही लड़केकी है और विभाजनसे कोई तीन-चार वर्ष पहलेकी है । उन दिनों वे 'तायर' साहिब कहलाते थे, आजकल 'कपूरसाहिब' कहलाते हैं ।

'तायर' साहिब विवाहित थे और एक बच्चेके पिता भी थे । शिक्षित थे, साहित्यिक थे, समालोचक थे और उर्दूके लेखक एवं पत्रकार भी थे ।

फिल्में देखनेका उन्हें शौक ही नहीं था, उनमें काम करनेका भी शौक था । कोई भी फिल्म देखते, उसके एक-दो महत्त्वपूर्ण गाने चट याद कर लेते । कण्ठ अच्छा था, इसलिये सुननेवालेको बड़ा रस आता था।

पंजाबमें फिल्मोंका उत्पादन-केन्द्र उन दिनों लाहौर ही था, इसलिये फिल्मशिल्पी, फिल्मविधायक एवं फिल्मप्रेमी अक्सर लाहौरमें ही जमा रहते थे । 'तायर' साहिब भी लाहौरको ही अपना भाग्यविधाता समझकर प्रायः उसकी शरणमें जाते रहते थे । वे फिल्मशिल्पियोंसे सम्पर्क पैदा करते रहते थे, उनसे मेल-जोल बढ़ाते रहते थे और तरह-तरहके स्वप्न-लोककी सैर करते रहते थे ।

ज्यों-ज्यों उनका फिल्मीप्रेम बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उनका रंग-ढंग बदलता जाता था । घरके वातावरणसे उन्हें घृणा होती जाती थी, बीबी और बच्चेसे प्रेम घटता जाता था । घरमें बैठते तो फिल्म-जगत्की ही चर्चा करते रहते, उसीके गीत गाते रहते ।

जहाँतक फिल्म-जगत्की चर्चाका सम्बन्ध था, फिल्म-शिल्पियोंकी आलोचना-समालोचनाका सम्बन्ध था, किसीको आपत्ति न थी । किसीको डरनेकी जरूरत भी न थी, आपत्ति थी, भय था तो 'तायर' साहिबके बड़ी शीघ्रतासे बदल रहे रंग-ढंगसे—तौर-तरीकोंसे । स्पष्ट दिखायी दे रहा था, आज नहीं तो कल ये अपना सब काम-धंधा छोड़कर, चल-अचल सम्पत्ति बेचकर फिल्म-जगत्में जा प्रवेश करेंगे और यहाँसे सैकड़ों कोस दूर बम्बईमें जा बसेंगे । फिर अकेले नहीं, किसीको साथ लेकर, सहचरी बनाकर, जीवन-संगिनी बनाकर । किसको, यह स्थिर नहीं किया जा सकता था । प्रशंसक कितनोंके ही थे, मेल-मिलाप कितनोंसे ही रखते थे ।

अब किया जाय तो क्या, यह उनकी पत्नी सोच ही रही थी कि एक दिन लाहौरसे 'तायर' साहिबके एक मित्र मुसल्मान गीतकार, उनकी अभिनेत्री पत्नी और एक अन्य सज्जन अतिथिरूपमें उनके घर अमृतसर आ गये । पहलेसे स्थिर किये हुए दिन या अकस्मात्—कहा नहीं जा सकता।

'तायर' साहिबकी पत्नी सुन चुकी थी कई बार कि ये गीतकार महोदय अपनी वर्तमान पत्नीको छोड़ तो देना चाहते हैं पर चौराहेपर नहीं, किसी दिल और दौलतवाले व्यक्तिके हाथोंमें हाथ देकर, उसे सौंपकर !

अब 'तायर' साहिबकी स्त्रीने समझा, वह दिल और दौलत-वाला व्यक्ति अगर कोई समझा गया है तो उसका पति।

उसे ही सौंपना चाहते हैं। आये हैं घरका वातावरण देखने, रहन-सहन देखने।

यह एक ऐसा विचार था, विश्वास था जो किसी भी नारीके मस्तिष्कका संतुलन खो सकता था, उसे आपेसे बाहर कर सकता था पर वह जरा भी विचलित न हुई, आपेसे बाहर न हुई, प्रत्युत उसने खुशी प्रकट की। उन्हें देखकर और बड़े मीठे शब्दोंमें उसने उनका स्वागत किया। पतिका संकेत पाकर फौरन चाय तैयार कर लायी और फिर खाना तैयार करनेमें लग गयी। मेरी पत्नी पहलेसे ही चौकेमें बैठी थी।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नी खाना बनाती जाय और रोती जाय। मेरी स्त्रीने सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटी, घबराओ नहीं। कल ही मैं तुम्हारे भाईके पास जाकर सारी बात करूँगी और वह तायर साहिबको समझा लेंगे।' वह बोली—'माताजी! उनके पास जानेकी आवश्यकता नहीं। मेरा मैका भाइयोंका घर है, कलको मुझे ताने-मेहने सुनने पड़ेंगे। मैं, खुद ही यदि मुझमें शक्ति होगी, पतिभक्ति होगी, सब ठीक कर दूँगी।'

खाना तैयार हो जानेपर वह दस्तरखान पर ले आयी। सबके साथ मिलकर उसने भी खाया और बातों-बातोंमें उसने गीतकारकी पत्नीकी खूब प्रशंसा की। उसकी अभिनय-कलाको खूब सराहा और उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल बतलाया।

खाना समाप्त होनेके थोड़ी देर बाद खुशी-खुशी सब लोग गन्तव्य स्थानको चले गये। समय रातका था, इधर घरके सब लोग भी अपने-अपने स्थानपर जा सोये।

अगले ही दिन 'तायर' साहिबकी धर्मपत्नीने अपने आपमें क्रान्तिकारी परिवर्तन कर लिया।

एक मध्यम वित्तके कुलीन घरकी सीधी-सादी बहू फिल्म-जगत्‌की शोख हसीना नज़र आने लगी। पत्नीकी जगह प्रेम-विह्वल प्रेमिका दिखायी देने लगी।

बात-बातमें हाव-भाव और कटाक्ष, नाजो अंदाज और नखरा।

सबेरे कोई साड़ी, संध्याको कोई। फिर प्रत्येक साड़ीसे मेल खाता बाकी सब सामान। सैंडल, पर्स वगैरह-वगैरह।

पहले बार-बार कहनेपर भी 'तायर' साहिबको जल्दी बिस्तरकी चाय नहीं देती थी। और देती थी तो प्याला उनके आगे धरकर आप शौच, स्नान और पूजा-पाठको चली जाती थी। अब साथ बैठकर पीने लगी।

पहले बार-बार कहनेपर भी कभी मन मारकर सिनेमा देखनेके लिये 'तायर' साहिबके साथ चल पड़ती थी, सैरको राजी हो जाती थी और किसी रेस्टोरेंटमें बैठ जाती थी, पर अब तो रोज ही जोर देकर सैरको चल पड़ती। सैरके बाद या पहले अब किसी साधारण रेस्टोरेंटमें नहीं, अच्छे होटलमें ले चलती। सिनेमा तो कोई छोड़ती ही नहीं और फिर अकेली नहीं 'तायर' साहिबको साथ लेकर।

'तायर' साहिब हुए खूब खुश। उन्हें ऐसा भान होने लगा कि उन्हें नया जन्म और नया संसार मिल गया है। अब वे लाहौरमें जाने और मित्रोंसे मिलनेमें कोई खास दिलचस्पी नहीं रखने लगे। प्रथम तो जायँ ही कम और जायँ तो रात कभी न रहें। मित्र आयें तो उनसे बेरुखी तो कभी न करें, पर पहले-जैसा उत्साह भी न दिखायें।

धीरे-धीरे 'तायर' साहिबकी रुचियों और अभिलाषाओंमें परिवर्तन आते-आते फिल्म-जगत्‌में प्रवेशका विचार तो सर्वथा ही समाप्त हो गया। वे स्वयं अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंसे सम्पर्क और मित्रता पैदा करने और बढ़ानेकी आलोचना करने लग गये। सादगी और मितव्ययिताकी ओर भी उनका रुख धीरे-धीरे बढ़ने लगा। तड़क-भड़कवाली शोख जिंदगीसे उन्हें कुछ घृणा-सी होने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे अब फिर पहले-जैसा सादा मर्यादित और प्रशंसात्मक जीवन चाहते हैं पर जोर-जबरसे नहीं, जीवनसंगिनी भी चाहे तो।

जीवनसंगिनीने देखा, अभिनय सफल हो गया है, पतिदेवके विचार फिर यथापूर्व होने जा रहे हैं, उसने अपने नाटकीय जीवनमें परिवर्तन लाना शुरू कर दिया।

धीरे-धीरे वह फिर पहले-जैसी सादी और सौम्य बनने लग गयी। उसकी चञ्चल शोख और खर्चीली जिंदगी बदलने लगी। 'तायर' साहिब भी यही चाहते थे, क्योंकि विलासिताकी भूख अब उनकी मिट गयी थी।

अन्ततोगत्वा फिर दोनों उस पुराने जीवनमें पर तनिक परिवर्द्धित रूपमें आ गये और समयके साथ-साथ चलने लग गये।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नीने बतलाया, पतिको अनुकूल बनानेका तरीका लड़ाई-झगड़ा और लट्ठमलट्ठ नहीं है, इस-

से तो उल्टी तबाही होती है, विनाश होता है और पति हाथसे निकल जाता है, जीवन दूभर और कड़ुवा हो जाता है। एकका नहीं; दोनोंका।

तरीका है, उपाय है, धैर्य, संतोष, प्रेम, मुहब्बत और यथोचित अनुकूलता। साथ ही अपने लक्ष्यपर चट्टानकी तरह दृढ़ रहना, उससे स्वप्नमें भी कभी च्युत न होना। डूबतेको बचाते-बचाते स्वयं न डूब जाना। (नहीं तो, इसमें बड़ा खतरा भी है।)

श्रेष्ठ तैराक वही होता है जो डूबतेको बचाकर किनारेपर ले आता है। जो स्वयं डूब जानेके भयसे डूबतेको बचानेका प्रयत्न नहीं करता या करता-करता स्वयंको खतरेमें समझकर उसे डूबनेके लिये छोड़ आता है वह श्रेष्ठ तैराक नहीं कहलाता।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नी श्रेष्ठ तैराक थी। उसने पतिको भी बचा लिया और खुदको भी डूबने न दिया। उसीका फल है यह जोड़ा आज बहुत सुखी, सम्पन्न और लब्धप्रतिष्ठ है।

—गुराँदित्ता खन्ना

(८)

सब वकील ऐसे हों तो !

बिना ही परिश्रम किये धनी होनेका मोह उत्पन्न हुआ और मैंने मेहनतका चालू काम छोड़कर बम्बईके शेयर बाजारमें चक्कर लगाना शुरू कर दिया। बाजारमें शेयरोंके भाव भी आसमानपर चढ़े जा रहे थे। इसी बीच केन्द्र-सरकारके उस समयके अर्थमन्त्री श्रीलियाकत अलीखाँका 'गरीबोंका बजट' आ गया। उसका बाजारपर बड़ा असर हुआ और वह बाजारको गरीब बनाता चला गया। मंदीकी सीधी धारा चलने लगी। मैंने अपने पुराने व्यापारमें मेहनत करके जो कुछ कमाया था, वह सब तो खो ही दिया, ऊपरसे शेयर बाजारकी भी बहुत रकम देनी रह गयी। सभी लेनदारोंको—'धीरे-धीरे कमाकर चुका दूँगा'—यों आश्वासन देकर शान्त किया, परंतु एक दलाल भाई किसी तरह भी नहीं माने; मुझसे बहुत अच्छी कमाई उन्होंने की थी, तो भी केवल चौदह सौ रुपयोंके लिये उन्होंने कोर्टमें मुझपर नालिश कर दी। इसके लिये उन्होंने एक वकील भाईको नियुक्त किया।

मेरे पास दलीलके लिये तो कुछ था ही नहीं, समय बितानेके लिये मेरे वकीलने वादीके बहीखाते जाँचनेकी माँग की और अदालतने उसे मंजूर करके लंबे समयकी मुहलत दे दी। इसी बीच वादीके वकीलको मेरी इस परिस्थितिका पता लग गया कि मेरी नीयत खराब नहीं है, असलमें मैं इस समय अर्थसंकटमें पड़ा हूँ। इससे उनका हृदय द्रवित हुआ।

हमलोग उनके बहीखाते जाँच करने जायँ, इसके पहले ही वे ही अपने बहीखाते लेकर हमारे वकीलके पास आये और बोले कि—'ये रहे बहीखाते। इसीके साथ यह भी जान लें कि हमें यह मुकदमा लड़ना नहीं है, वरं समझौता करना है।'

यह सुनकर मैं कुछ सहमा। मैंने कहा—'समझौता तो प्रतिवादी चाहा करते हैं, न कि आप वादी।'

दूसरे दिन रात्रिको उन्हींके घरपर दलाल भाईके साथ सबकी बैठक हुई। उसमें उनके वकील महोदयने ही समझौतेका यह प्रस्ताव रक्खा कि 'चौदह सौके बदले हम एक हजार रुपये देंगे, और वह भी मासिक पचास रुपयेकी किश्तसे।' हमारी ओरसे तो इन्कार करनेका प्रश्न ही नहीं था। उन्हींके मवक्किलने इस प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए एक भी पैसा छोड़नेसे तथा किश्तपर रुपये लेनेसे इन्कार किया। इसपर उनके वकीलने उन्हें समझाकर कहा—'केस सच्चा है, जोरदार है, पर हमलोगोंको परिस्थितिपर भी विचार करना चाहिये। आप मेरी बात मान लें। मैं जो आपके पास अपनी फीस लेता, उसे नहीं लूँगा। इसपर भी आपका मन न मानता हो तो घटतीकी रकम मैं अपने पाससे देनेको तैयार हूँ। पर समझौता तो कर ही लेना चाहिये।'

वकील महोदयके द्वारा जोर देकर समझानेका प्रभाव उनके मवक्किलपर पड़ा और अन्तमें वे समझौतेके लिये तैयार हो गये। केस वापस ले लिया गया। उनकी रकम धीरे-धीरे किश्तके द्वारा चुकती दे दी गयी और मैं जो संकोचमें पड़कर बम्बई छोड़ने जा रहा था सो बम्बईमें ही रह गया।

वे वकील भाई जब कभी मुझे मिलते हैं तो उन्हें देखते ही यह विचार आता है, यदि सभी वकील इसी प्रकार वादी-प्रतिवादियोंके का व्यवहार करने लगें तो चींटीदलकी भाँति वादी-प्रतिवादियोंके दलसे जो अदालतें उमड़ती रहती हैं, वे न उमड़ें और न्यायके लिये वर्षोंतक लोगोंको बाट न देखनी पड़े। 'अखण्ड आनन्द'—।

—शान्तिलाल बोरे

'कल्याण'का आगामी [जनवरी सन् १९६६ का] विशेषाङ्क

'धर्माङ्क'

बहुत-से विशिष्ट विद्वानों तथा 'कल्याण'-प्रेमियोंके सुझावको ध्यानमें रखते हुए तथा वर्तमान समयमें धर्मकी ह्रासोन्मुख गतिको लक्ष्य करके 'धर्माङ्क' निकालनेका विचार किया गया है। धर्म ही वर्तमान जगत्में व्याप्त भय, आशंका, संघर्ष, अशान्ति और संकटके नाशका एकमात्र उपाय है, इसे सभी विचारशील पुरुष मानते हैं। आशा है कि 'कल्याण'के प्रेमी सज्जन इस सामयिक विषयको पसंद करेंगे। 'कल्याण'के प्रेमी तथा कृपालु विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे अपने लेख अगस्तके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे विशेषाङ्कमें उनका उपयोग करनेमें कठिनाई न हो। एक विषय-सूची दिग्दर्शनमात्रके लिये दी जा रही है।

लेख बहुत लम्बा न हो। स्पष्ट अक्षरोंमें कागजके एक पीठपर लिखा जाय। कुछ हासिया छोड़कर लिखा जाय। लेखमें किसी सम्प्रदायपर आक्षेप न हो। आवश्यक काट-छाँटकी छूट रहे। प्रकाशित न हो तो क्षमा किया जाय। जो विद्वान् हिंदी न लिख सकते हों वे संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी और अंग्रेजीमें भी लेख भेज सकते हैं।

विषय-सूची

१-धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या
२-धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या
३-धर्मका स्वरूप, लक्षण और उसकी विभिन्न परिभाषाएँ
४-धर्मका मूल स्रोत, उसकी व्यापकता और सूक्ष्मगति
५-धर्म तथा सम्प्रदायका अन्तर
६-यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः
७-'धर्मो धारयति प्रजाः'
८-'धर्मो रक्षति रक्षितः'
९-यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः
१०-'धर्म एव हतो हन्ति'
११-'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'
१२-सनातनधर्म ही सार्वभौम धर्म या मानव-धर्म है
१३-अन्तर्मुखता ही धर्मकी कसौटी है
१४-धर्मसे ही अर्थ और भोगकी सार्थकता
१५-धर्म संयमप्रधान है, भोग-प्रधान नहीं
१६-धर्म प्रेम सिखलाता है, घृणा या वैर नहीं
१७-आदर्श-समाज वह होगा जो अर्थपर नहीं, धर्मपर आश्रित हो
१८-धर्मके विना शान्ति, सुख, सुव्यवस्था सम्भव नहीं
१९-धर्मके नाशका ही फल-महामारी, युद्ध, गृहकलह, दैवी उत्पात
२०-सच्चा धर्मात्मा ही भगवत्प्रेमी होता है और भगवत्प्रेमी ही सच्चा धर्मात्मा है
२१-धर्म ही धर्मका हेतु है
२२-मानव-धर्म
२३-विश्वके विविध धर्मोंका लक्ष्य एक ही है
२४-सर्वधर्म-समन्वय साध्यमें, न कि साधनमें
२५-अधर्मके नाश तथा धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान्के अवतार
२६-धर्म और प्रेम
२७-धर्म और संस्कृति
२८-धर्म और लोकधर्म
२९-धर्म और राजनीति
३०-धर्म और अर्थनीति
३१-धर्म और रणनीति
३२-धर्म और व्यापार
३३-धर्म और व्यवहार
३४-धर्म और संस्कार
३५-धर्म और वर्ण-व्यवस्था
३६-धर्म और आश्रम-व्यवस्था
३७-धर्म और विज्ञान

३८–धर्म और समाजवाद

३९–भारतीय साम्यवाद और समाजवाद धर्ममूलक

४०–धर्म और परलोक

४१–धर्म और वेश-भूषा

४२–धर्म और खानपान

४३–विशेष धर्म और सामान्य धर्म तथा विशेष धर्मके आदर्श

४४–सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

४५–व्यक्तिगत और सार्वजनिक धर्म

४६–आपद्धर्म

४७–अहिंसाधर्म और उसके आदर्श

४८–सत्यधर्म ,, ,, ,,

४९–अस्तेयधर्म ,, ,, ,,

५०–ब्रह्मचर्यधर्म ,, ,, ,,

५१–अपरिग्रहधर्म ,, ,, ,,

५२–शौचधर्म ,, ,, ,,

५३–संतोषधर्म ,, ,, ,,

५४–तपधर्म ,, ,, ,,

५५–स्वाध्यायधर्म ,, ,, ,,

५६–ईश्वर-प्रणिधान धर्म ,, ,,

५७–त्यागधर्म ,, ,, ,,

५८–दयाधर्म ,, ,, ,,

५९–धृतिधर्म ,, ,, ,,

६०–क्षमाधर्म ,, ,, ,,

६१–शम (मनोनिग्रह)धर्म ,, ,,

६२–पर-स्वत्वापहरण-त्याग धर्म,, ,,

६३–दम (इन्द्रिय-संयम)धर्म ,, ,,

६४–धीधर्म ,, ,,

६५–विद्याधर्म ,, ,,

६६–अक्रोधधर्म ,, ,,

६७–तितिक्षाधर्म ,, ,,

६८–मौनधर्म और ,, ,,

६९–सेवाधर्म ,, ,,

७०–उपरतिधर्म ,, ,,

७१–वैराग्यधर्म और उसके आदर्श

७२–निष्कामताधर्म ,, ,,

७३–निर्लोभताधर्म ,, ,,

७४–समदर्शिताधर्म ,, ,,

७५–समताधर्म ,, ,,

७६–सर्वभूतहितैषिताधर्म ,, ,,

७७–विवेकधर्म ,, ,,

७८–आत्मचिन्तनधर्म ,, ,,

७९–सबमें भगवद्बुद्धिधर्म,, ,,

८०–नवधा भक्ति-धर्म—परमधर्म और उसके आदर्श

८१–ब्राह्मण-धर्म ,, ,,

८२–क्षत्रिय-धर्म ,, ,,

८३–वैश्य-धर्म ,, ,,

८४–शूद्र-धर्म ,, ,,

८५–नारी-धर्म ,, ,,

८६–पातिव्रत-धर्म ,, ,,

८७–ब्रह्मचारी-धर्म ,, ,,

८८–गृहस्थ-धर्म ,, ,,

८९–वानप्रस्थ-धर्म ,, ,,

९०–संन्यास-धर्म ,, ,,

९१–अतिथि-सेवा-धर्म ,, ,,

९२–गो-सेवा-धर्म और उसके आदर्श

९३–शरणागत-रक्षा-धर्म ,, ,,

९४–पिताका धर्म ,, ,,

९५–माताका धर्म ,, ,,

९६–पुत्रका धर्म ,, ,,

९७–भाईका धर्म ,, ,,

९८–पत्नीका धर्म ,, ,,

९९–पतिका धर्म ,, ,,

१००–सेवकका धर्म ,, ,,

१०१–स्वामीका धर्म ,, ,,

१०२–गुरुका धर्म ,, ,,

१०३–शिष्यका धर्म ,, ,,

१०४–मालिकका धर्म ,, ,,

१०५–मजदूरका धर्म ,, ,,

१०६–शासकका धर्म और उसके आदर्श

१०७–प्रजाका धर्म ,, ,,

१०८–विद्यार्थीका धर्म ,, ,,

१०९–शिक्षकका धर्म ,, ,,

११०–समाजके नेतावर्गका धर्म ,, ,,

१११–समाजके उपदेशक-कथाकार-का धर्म और उसके आदर्श

११२–राष्ट्रके प्रति हमारा धर्म

११३–देशभक्ति-धर्म

११४–समाजके प्रति हमारा धर्म

११५–मित्र-धर्म और उसके आदर्श

११६–धर्म-रक्षाके लिये प्राण देनेवाले महात्मा

११७–धार्मिक पशु-पक्षी

११८–धर्ममें शासनका हस्तक्षेप अवाञ्छनीय

११९–विविध ग्रन्थोंमें धर्मका प्रतिपादन

१२०–विश्वके महापुरुषोंकी धार्मिक सूक्तियाँ

१२१–हिंदू-धर्मके मूल (आधार) ग्रन्थ

१२२–विश्वके विभिन्न धर्मोंके आधार ग्रन्थ

१२३–विश्वके विभिन्न धर्मोंके मुख्य प्रवर्तक-प्रचारक और उनके सिद्धान्त

१२४–‘धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः’

१२५–कवि और लेखकका महान् धर्म

१२६–परमधर्म भागवत-धर्म

१२७–शरीरधर्म और उसकी सीमाएँ

१२८–‘सेकुलरिज्म’ और धर्म

१२९–‘रिलिजन’ और ‘मजहब’से ‘धर्म’की विलक्षणता

१३०–चराचर जगत्में एक आत्मा या एक भगवान्को देखनेवाला धर्म ही वास्तविक धर्म है

श्रीहरिः

श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे विश्वमान्य, सार्वजनिक जीवनोपयोगी ग्रन्थके गूढतम तत्त्वज्ञानको
सरल हिंदी भाषामें २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें
सर्वसाधारणके लिये सुलभ बनानेवाली हिंदी टीका

श्रीमद्भगवद्गीता (तत्त्वविवेचनी टीकासहित)

टीकाकार—ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका

डबल क्राउन आठपेजी साइज, पृष्ठ-संख्या ६८४, चार सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य ४.०० डाकखर्च २.१०

☞ एक श्लोकके अर्थका पूरा नमूना—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥

प्रश्न—'तस्मात्' पद यहाँ किसका वाचक है और उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—'तस्मात्' पद यहाँ पूर्व श्लोकमें वर्णित, इस गीताशास्त्रका भगवान्‌के भक्तोंमें कथन करनेवाले, गीताशास्त्रके मर्मज्ञ, श्रद्धालु और प्रेमी भगवद्भक्तका वाचक है। 'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है।' इस वाक्यसे भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा और जप, ध्यान आदि जितने भी मेरे प्रिय कार्य हैं—उन सबसे बढ़कर मेरे भावोंको मेरे भक्तोंमें विस्तार करना, मुझे प्रिय है; इस कार्यके बराबर मेरा प्रिय कार्य संसारमें कोई है ही नहीं। इस कारण जो मेरा प्रेमी भक्त मेरे भावोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें विस्तार करता है, वही सबसे बढ़कर मेरा प्रिय है; उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं। क्योंकि वह अपने स्वार्थको सर्वथा त्यागकर केवल मेरा ही प्रिय कार्य करता है, इस कारण वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

प्रश्न—पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं, इस कथनका क्या भाव है ?

उत्तर—इससे भगवान्‌ने यह घोषणा कर दी है कि केवल इस समय ही उससे बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं है, यही बात नहीं है; किंतु उससे बढ़कर मेरा प्यारा कोई हो सकेगा, यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जब उसके कार्यसे बढ़कर दूसरा कोई मेरा प्रिय कार्य है ही नहीं, तब किसी भी साधनके द्वारा कोई भी मनुष्य मेरा इससे बढ़कर प्रिय कैसे हो सकता है ? इसलिये मेरी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सबमें यह 'भक्तिपूर्वक मेरे भक्तोंमें मेरे भावोंका विस्तार करनारूप' साधन सर्वोत्तम है—ऐसा समझकर मेरे भक्तोंको यह कार्य करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवद्भक्तोंमें विस्तार करनेका फल और माहात्म्य बतलाया; किंतु सभी मनुष्य इस कार्यको नहीं कर सकते, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्रके अध्ययनका माहात्म्य बतलाते हैं—

☞ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये, इससे आपको भारी डाकखर्च एवं समयकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

S. Singh

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वा **'कल्याण'** मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५ रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५ रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रति **'कल्याण'** मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, क्लब या अन्यान् संस्था तथा फर्म भी आजीवन ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

कल्याणके पुराने ३८ विशेषाङ्कोंमेंसे अब केवल चार प्राप्य हैं

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मू० रु० ६.५०, डाकव्ययसहित।

२—मानवता-अङ्क

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे ३९, दोरंगा १, इकरंगे १०१, रेखाचित्र ३९, मू० रु० ७.५०, डाकव्ययसहित।

३—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क (दूसरा संस्करण)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.७५।

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (भगवान् श्रीकृष्णकी विभिन्न रोचक लीलाओंसे सम्बन्धित)

पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखा-चित्र १२०, मू० रु० ७.५०, सजि० रु० ८.७५।

इन विशेषाङ्कोंकी जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतियाँ शेष हैं, उनके समाप्त हो जानेपर ये भी उसी प्रकार दुर्लभ हो सकते हैं (जैसे शेष चौंतीस नहीं मिल रहे हैं और उनके लिये जनता बार-बार प्राप्त करनेका आग्रह कर रही है)। अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर मँगवा लेनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टि देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दिनाङ्क २१ व २२ नवंबर १९६५ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दिनाङ्क ९ व १० जनवरी १९६६ रविवार, सोमवारको होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९६५ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशे जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—**श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो०—स्वर्गाश्रम (देहरादून) उत्तर प्रदेश**

कल्याण

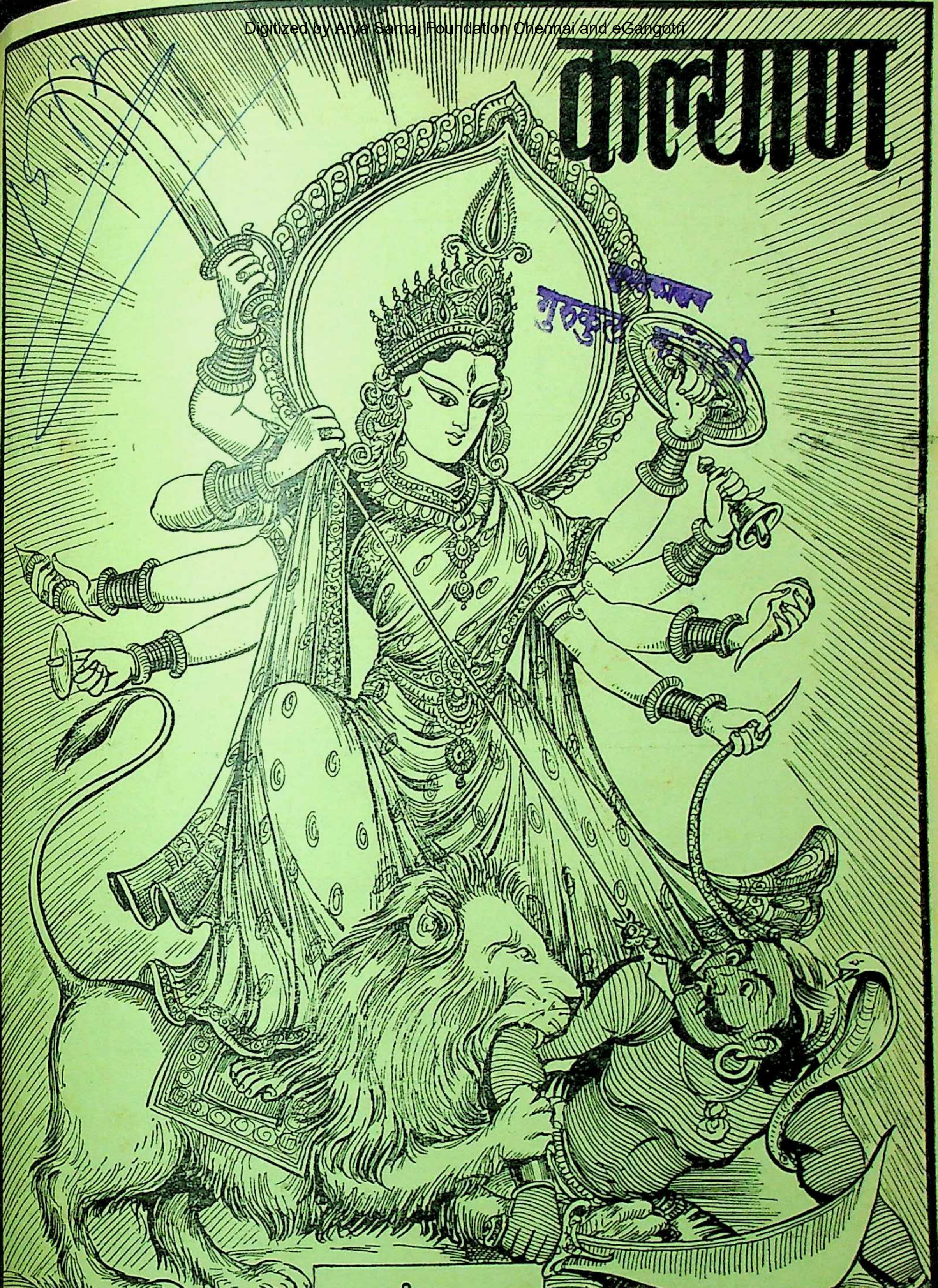

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वर्ष ३९
अङ्क १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक २०२२, अक्टूबर १९६५

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—वात्सल्यभरा शासन [कविता] ··· १२१३

२—कल्याण ('शिव') ··· १२१४

३—पुनर्जन्म (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ··· १२१५

४—आत्मोद्धारके लिये महापुरुषोंके अनुकरणकी विशेष आवश्यकता (ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२२३

५—शांकर वेदान्तमें अध्यात्म-साधनाका मार्ग (श्रीदेवव्रत सेन, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १२२८

६—प्रार्थना [कविता] (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी एम्० ए०, साहित्यालंकार) ··· १२३२

७—श्रीराधाका स्वरूप और महत्त्व (श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सवपर गीतावाटिका, गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारके दो भाषण) ··· १२३३

८—करुण प्रार्थना [कविता] ··· १२४४

९—व्रजके महान् संत और उनका साहित्य (पं० श्रीदानविहारीलालजी शर्मा 'शरण') ··· १२४५

१०—तुला-दान (श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, 'साहित्यरत्न') ··· १२४९

११—आध्यात्मिकता और भौतिकतामें वरेण्य क्या है ? (प्रोफेसर श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, आर्० इ० एस्०) ··· ··· १२५०

१२—संस्कृतिकी भाषा (प्रो० श्रीदेवदत्तजी भट्टि, शास्त्री, एम्० ए०, पी० ई० एस्०) १२५२

१३—निवेदन [कविता] (श्रीओम्प्रकाशजी) १२५५

१४—जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता (श्रीगुरु रामप्यारेजी अग्निहोत्री, इतिहासकार, रीवा) ··· ··· १२५६

१५—चिन्ताजनक स्थिति—प्रतिवर्ष बीस हजार आत्महत्याएँ (डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· १२५९

१६—कृपाकाङ्क्षा [कविता] (श्रीवेदव्रतजी दीक्षित, एम्० ए०, एल्० टी०)··· १२६१

१७—भारतकी शाश्वत नारी कौन है ? (श्री-श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· १२६२

१८—सद्भाव [कहानी] (श्री'चक्र') १२६४

१९—बाँसुरी [कविता] (श्रीधर्मेन्द्रजी शर्मा) १२६७

२०—कठिन रोग और हवन-यज्ञ (मूल-लेखक—स्व० डा० श्रीफुन्दनलालजी अग्निहोत्री, एम्० डी० (लंदन), मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम; अनुवादक-प्रेषक—श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)··· १२६८

२१—जीवनके कर्णधारसे [कविता] (श्रीरामस्वरूपसिंहजी 'राम', एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· १२७१

२२—श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना (श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी) ··· १२७२

२३—पढ़ो, समझो और करो ··· १२७४

२४—प्रभु-चरणोंमें चिपटे रहो [कविता] १२७६

चित्र-सूची

१—अष्टभुजा दुर्गा (रेखाचित्र) ··· मुखपृष्ठ

२—वात्सल्यभरा शासन (तिरंगा) ··· १२१३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

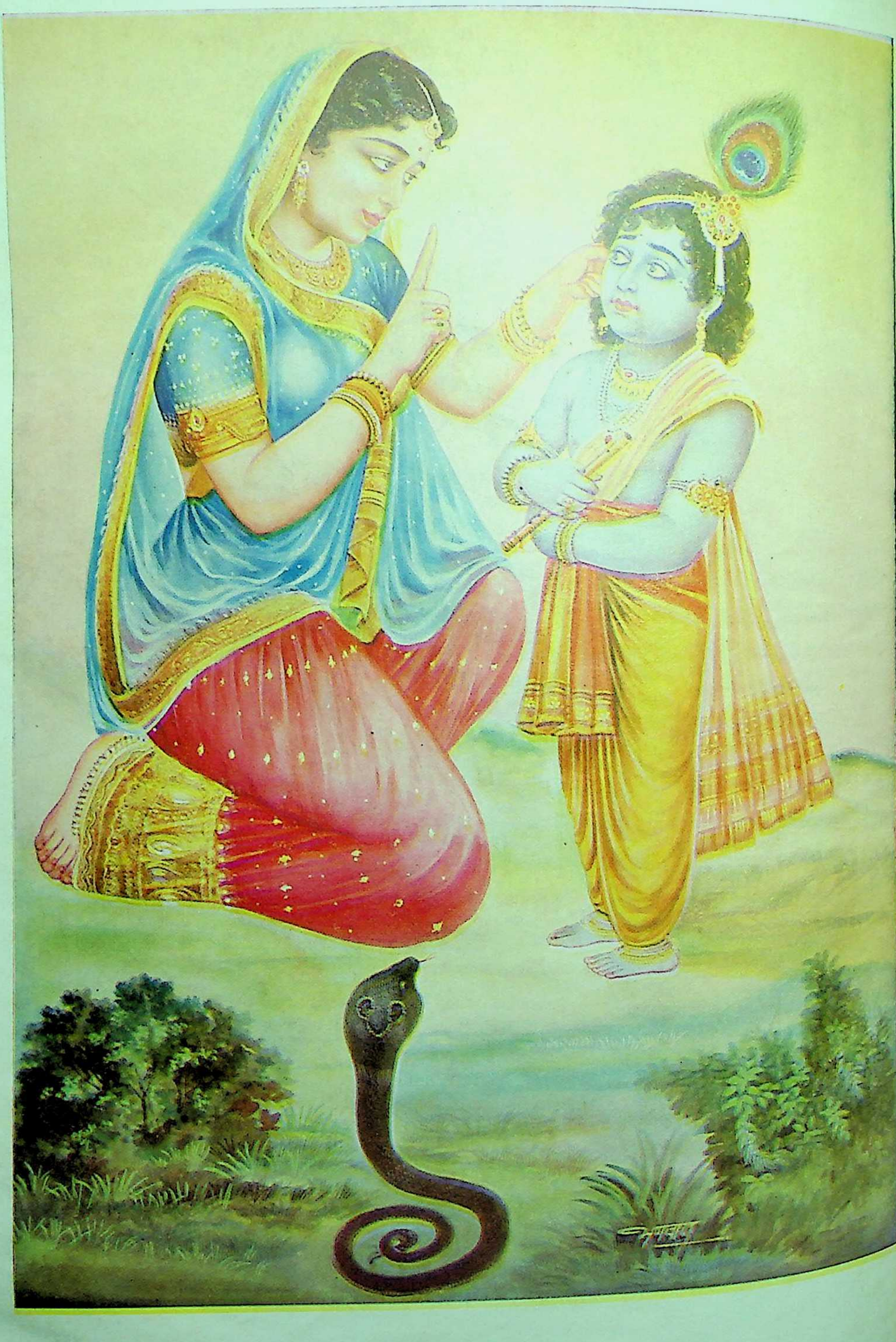

वात्सल्यभरा शासन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०२२, अक्टूबर १९६५ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ४६७

वात्सल्यभरा शासन

भूषन-बसन सजाय सबिधि मैया मुरली कर दीनी ।
कमलनैन ने कर्‌यौ कलेवा, चलिबै की मन कीनी ॥
मैया कह्यौ—'लाल मेरे तुम बहुत दूर जिन जइयौ ।
साँढ़ साँप बीछिनि तें लाला दूर डरत ही रहियौ ॥
सूधे-से हामी भर, तुरतहि आँगन-बाहर भागे ।
कारौ नाग देखि, तहँ, तातें करन अचगरी लागे ॥
पाछे-पाछे आय रही ही मैया नेह भरानी ।
बिषधर भुजँग निकट लाला कौं देखत ही डरपानी ॥
दौरि हटकि धीरे तें नेह भरे मन लगी डरावन ।
कोमल अँगुरिन पकरि कान दहिनौ लागी धमकावन ॥
अचरज भरे डरे मन लाला अपराधी-से ठाढ़े ।
मैया च्यौं निरदोष मोय डरपावति, सोचत गाढ़े ॥
लोकपाल काँपत जाके डर, अखिल भुवनके स्वामी ।
डरपत लीला करत स्वयं वे भक्त-प्रेम-अनुगामी ॥
वत्सलता परिपूरित मैया-हिय कैसो सुचि पावन ।
देखत फन उठाय फनि निज लीला सुललित मनभावन॥

याद रक्खो—संसारके दुर्लभ-से-दुर्लभ और बड़े-से-बड़े भोग मनुष्यको सुखी नहीं बना सकते, यदि उसके मनमें शान्ति नहीं है। अशान्त मनका मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और जबतक भोगोंकी कामना है, तबतक मनमें शान्ति हो नहीं सकती।

याद रक्खो—भोगोंकी कामना तबतक नहीं मिटती, जबतक भोगोंमें सुखकी आस्था है और कामनाका यह स्वभाव है कि वह ज्यों-ज्यों सफल होती है, त्यों-ही-त्यों उसका विस्तार होता है। वह कभी पूरी होती ही नहीं।

याद रक्खो—जिसके मनमें कामनाएँ भरी हैं, उसके विवेक(—भविष्यमें क्या परिणाम होगा,—यह सोचनेकी शक्ति) का ही ह्रास-नाश हो जाता है, बुद्धि ही मारी जाती है। इसीसे वह कामनाकी पूर्तिके लिये नित्य नये निषिद्ध कर्म—पाप करता है और परिणामतः दुःख-जालमें फँसता चला जाता है। कामनाके साथ क्रोध और लोभ निश्चित रूपसे निवास करते हैं। कामनाकी पूर्तिमें जब कामनापर आघात लगता है, तब क्रोध उत्पन्न होता है और कामनाकी पूर्तिमें लोभकी वृद्धि होती है तथा जहाँ ये काम-क्रोध-लोभ—तीनों मिल जाते हैं, वहाँ पापकर्म सहज ही, वरं आवश्यक माना जाकर, होने लगता है। परिणाममें दुःख-कष्ट बढ़ जाते हैं और भीषण नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है।

याद रक्खो—भोग यदि प्राप्त हो भी गये तो वे नष्ट होनेवाले हैं, तुमसे छूटनेवाले हैं। अतएव बुद्धिमानी इसमें है कि तुम इन निश्चित दुःखोत्पादक भोगोंमें रस लेना छोड़कर नित्य सत्य परम सुखमय और सहज ही नित्यसुखदाता अपने परम सुहृद् भगवान्से प्रेम करो, भगवान्का स्मरण करो और भगवान्को ही चाहो। तुम्हारे पास यदि भोग हों या भोग आते हों तो उनको भी भगवान्की पूजाकी सामग्री समझकर भगवान्के ही अर्पण कर दो। अपनेको भी उनके अर्पण कर दो।

याद रक्खो—जब तुम भगवान्के हो जाओगे, अपनेको भगवान्के अर्पण कर दोगे, तब तुम्हारे मनसे अन्य कामनाओंका बीज भी नष्ट हो जायगा। तुम्हारा मन सर्वथा शान्त हो जायगा और तुम्हें अनन्त सुखकी सहज अनुभूति होगी।

याद रक्खो—भगवान्के सुखसे—भगवत्प्राप्तिके सुखसे सुखी होना ही मनुष्य-जीवनका परम और चरम लक्ष्य है। इसी महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति भगवत्कृपासे हुई है। अतः इसी कार्यमें लगनेवाला मनुष्य ही यथार्थमें मनुष्य है। जो मनुष्य होकर भी भगवान्के भजनमें नहीं लगता, भोगोंमें ही लगा रहता है, उसके समान मूर्ख और कोई नहीं है; क्योंकि वह महान् लाभके लिये मिले हुए सुअवसरको खो रहा है, अपना अनिष्ट आप ही कर रहा है, अपनी बुराईमें ही भलाई समझ रहा है।

याद रक्खो—भोगपरायण मनुष्यका जीवन पशु या असुरका जीवन हो जाता है और उसके पाशविक तथा आसुरी कार्य उसे कर्तव्य-भ्रष्ट तो करते ही हैं, वरं उसके भविष्यको सर्वथा बिगाड़ देते हैं। वह जीवनभर जीवनभर अशान्त तथा दुखी रहता है, पापकर्मोंमें लगा रहता है और मरनेके बाद बार-बार उसे आसुरी योनियोंमें जन्म धारण करना पड़ता है तथा नरककी भीषण यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

याद रक्खो—बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो आपात-रमणीय भोगोंमें और उनकी कामनामें न फँसकर भोगोंके परिणाम-दुःखप्रद स्वरूपको समझकर उनमें जीवन बरबाद नहीं करता और जीवनको भगवान्के समर्पण करके

अपना एक-एक क्षण भगवान्‌के मङ्गलमय स्मरणमें लगाता है एवं प्रत्येक कार्य केवल भगवान्‌की सेवा—भगवान्‌की पूजाके लिये ही करता है ।

याद रक्खो—बुद्धिमान् तथा सौभाग्यवान् मनुष्य वही है, जिसने अपनी सारी ममता भगवान्‌में समर्पित कर दी—अर्थात् भगवान्‌के सिवा जिसका 'मेरा' कुछ रह ही नहीं गया । जिसने अपना सारा अहंकार भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया और जिसकी सारी आसक्ति तथा कामना एकमात्र भगवान्‌में ही जाकर प्रतिष्ठित हो गयी ।

'शिव'

पुनर्जन्म

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठ० १ । २ । ६)

मनुष्यशरीर भगवत्प्राप्तिके लिये मिला है, परंतु इस बातको भूलकर मनुष्य स्त्री-पुत्रादि तथा गृह-वैभव आदि भोगपदार्थोंमें इतना अधिक व्यामुग्ध हो जाता है कि वह अज्ञानावस्थामें ही जीवन यापन करता है । इसके फलस्वरूप उसे परलोक या पुनर्जन्मकी बात सूझती ही नहीं, अतएव जो प्रत्यक्ष दीखता है, उस लोकके सिवा दूसरा भी लोक है तथा इस शरीरके छूटनेके बाद दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है, यह बात उसके मनमें आती ही नहीं । इस कारण वह परवश होकर जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है । यमराजने बालक नचिकेतासे यही कहा था ।

यहाँ कुछ लोगोंका यह कहना है कि दूसरे लोग परलोक या पुनर्जन्मको नहीं मानते, तथापि उनका जीवन-निर्वाह भलीभाँति हुआ करता है । हम जो उसे मानते हैं, इससे हमको कौन-सी अधिक सुविधा मिल जाती है ?

इसके उत्तरमें निवेदन यह है कि मनुष्यशरीर कोई जीवन-निर्वाह करनेके लिये तो मिला नहीं है । प्रत्येक देहधारी किसी-न-किसी प्रकार जीवन-निर्वाह कर ही लेते हैं और उसमें भी उनको मनुष्यकी अपेक्षा कम ही हाय-हाय करनी पड़ती है । इसका कारण यह है कि किसी भी देहकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसके जीवन-निर्वाहके साधनोंका निर्माण हो जाता है, अर्थात् हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रत्येक देहधारी निर्वाहके साधनोंको साथ लेकर उत्पन्न होता है । ऐसे साधन-समूहको शास्त्रमें 'प्रारब्ध' नामसे पुकारते हैं और उसका निर्माण शरीरके उत्पन्न होनेके पहले ही हो जाता है । अतएव मनुष्यको अपने शरीरके निर्वाहके लिये तो कुछ भी पुरुषार्थ करना नहीं है । पुरुषार्थ यदि करना है तो यथाप्राप्तमें वर्तमान जीवन संतोषसे बिताते हुए परलोकको सुधारनेके लिये, जिससे भावी जन्ममें अधिक सुख-सुविधा प्राप्त हो और वैसा करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर मुक्ति प्राप्त हो । मनुष्य-जीवनका ध्येय मोक्ष है, भोग नहीं; क्योंकि भोग तो सब योनियोंमें समानरूपसे प्राप्त है ।

दूसरी बात यह है कि दूसरे लोग पुनर्जन्मको भले ही न मानें । इसे न माननेका कारण यह है कि वे लोग अपनेको वानरका वंशज मानते हैं । वानरके वंशमें विकास-क्रमसे सुधरा हुआ वानर ही होगा या और कुछ ? और उनको लड़कपनसे शिक्षा भी यही मिलती है । उनमें बहुतेरे तत्त्वज्ञ और वैज्ञानिक ईश्वरको नहीं मानते; वे यह सिखलाते हैं कि यह विश्व-रचना ही विकासक्रमसे हुई है और इसमें शरीरको भोगसुख देनेके सिवा दूसरा कोई भी प्रयोजन नहीं है । जङ्गली मानव प्रकृतिके कोपसे डरता था, इसलिये उसने आश्वासन पानेके लिये 'ईश्वर' नामका एक 'हौआ' या 'बाघ' कल्पित कर दिया और उसको प्रसन्न करनेकी क्रियाको 'धर्म' नाम प्रदान किया । बाकी ईश्वर या धर्म-जैसी कोई सत्य वस्तु नहीं है । एक वैज्ञानिकने तो यहाँ तक कह डाला कि ईश्वर-जैसी कोई वस्तु है नहीं; बल्कि यदि वह कदाचित् देखनेमें आ जाय तो उसको जमीनमें इतना गहरा गाड़ दें कि फिर उसका स्मरण भी किसीको न हो । 'हेगल'-जैसे पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञ तो यह

सिखलाते हैं कि मनुष्य सृष्टिचक्रमें एक यन्त्र-जैसा है। इस कारण यह अपनी वासनाओंका दास है और वे जैसे नचावें वैसे कठपुतलीके समान उसको नाचना है। यन्त्रके चक्रमें एक कीलमें जड़े पदार्थ जैसे चक्रके साथ परवश होकर फिरते रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी जैसा उसका मन नचाता है, वैसा नाचा करता है। 'निरंकुशवाद' का प्रचार करनेवाले फ्रायड महाशय भी हेगल साहबकी पाठशालाके विद्यार्थी-जैसे लगते हैं।

फिर, वे यह भी नहीं मानते कि मनुष्यके सिवा दूसरे प्राणियोंमें भी जीव है। अतएव वे नहीं समझते कि उनको मारनेमें हिंसा होती है। इसलिये उनकी दृष्टिमें एक तरबूजेको काटना और एक जीवित प्राणीको मार डालना, समान ही है। वे जब गुलामका व्यापार करते थे तो काले आदमीमें भी जीव या आत्मा है, यह नहीं मानते थे और इस कारण गुलामके साथ वे ऐसा व्यवहार करते थे जैसा पशुके साथ भी नहीं किया जा सकता। गुलामको वे पशुके समान बेचते थे और उसका अपराध होनेपर उसको सिंह या कुत्तेसे जीवित चिरवाकर खिला देते तथा ऐसे दृश्योंको लोग आनन्दसे देखते रहते। इस प्रकारकी जातिकी शिक्षा हो तो उसमें पशु-भावके सिवा और क्या विकसित हो सकता है?

फिर, बापसे बेटा सवाया निकला। इस प्रकार अनेक बातोंमें वे वानर-संस्कृतिसे भी आगे बढ़ गये हैं। वानर जोड़ेमें रहते हैं और जीवनभर वे अलग नहीं होते। परंतु उनके इन वंशजोंमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य आ गया और उन्होंने तलाक देनेका रिवाज कायम किया। अतएव स्वतन्त्रतासे एक ही जीवनमें अनेक नये सम्बन्ध किये जा सकते हैं। वानर तो केवल ऋतुकालमें ही स्त्रीसमागम करते हैं, पर उनके ये वंशज न ऋतु देखते हैं, न काल—इनको किसी प्रकारका बन्धन माननेमें मानहानि दीखती है। वानर अपने बच्चेको पुष्ट होनेके बाद पृथक् करते हैं और किसी प्रकारका भावी सम्बन्ध नहीं रखते। इस विषयमें उनके ये वंशज भी वैसा ही करते हैं और बड़े होनेके बाद माता-पिताके साथ पुत्र-पुत्रीका सम्बन्ध नहीं रह जाता। फल यह होता है कि वृद्ध और अशक्त माँ-बापको अनाथाश्रमका आश्रय लेना पड़ता है, या आत्महत्या करनी पड़ती है। वानरमें काका-मामा या फूफी-मौसीका कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार ये लोग भी इन सम्बन्धोंको नहीं मानते। वानर-समाजमें संयुक्त परिवारकी भावना नहीं होती अतएव उनके वंशजोंने भी यही बात सीखी; क्योंकि संयुक्त परिवार माननेसे वैयक्तिक स्वातन्त्र्यमें बाधा पड़ती है।

इस प्रकार ये लोग यदि पुनर्जन्म या परलोक नहीं मानते तो इसमें कोई दोष नहीं; क्योंकि इनको इनके तत्त्वज्ञोंने शिक्षा ही ऐसी दी है। श्रुति कहती है—

यच्चित्तस्तन्मयो भवेत्येतद् गुह्यं सनातनम्।

अर्थात् चित्तके ऊपर जैसा संस्कार पड़ता है, मनुष्य उसी स्वभावका बन जाता है और उसका जीवन-निर्वाह भी उसके स्वभावके अनुसार ही होता है। अतएव इन लोगोंका कोई दोष नहीं। दोष है शिक्षक-समाजका। ये तो उसके शिक्षणके अनुसार व्यवहार करते हैं।

परंतु हमलोग तो जिन ऋषि-मुनियोंने उपनिषद्ग्रन्थोंकी रचना की, जिन ऋषि-मुनियोंने दर्शनशास्त्रकी रचना की, जिन ऋषि-मुनियोंने स्मृति-ग्रन्थोंकी रचना की, जिन वेदव्यासने इतिहास और पुराणोंकी रचना की, उन तपःपूत ऋषि-मुनियोंके वंशज हैं। हमारे जीवनका उद्देश्य 'नर'से 'नारायण' बननेका है, वानरका वंशज बननेका नहीं। इन सब आर्यग्रन्थोंकी रचना मनुष्यके परलोक सुधारने तथा इस प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए खूब उच्च भूमिमें पहुँचकर ईश्वरका साक्षात्कार करने तथा जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जानेका मार्ग बतानेके लिये हुई है। इस प्रकार हमारे गुरु हमको परलोक तथा पुनर्जन्ममें विश्वास करना सिखलाते हैं और हमको विश्वास करना चाहिये अन्यथा पितृद्रोहका दोष लगेगा।

आजकल शास्त्रोंका अभ्यास बहुत घटता जा रहा है, अतः हम परलोक और पुनर्जन्मके समर्थनमें कुछ प्रमाण देना चाहते हैं। एक मन ज्वारके ढेरमें एक सेर चावल मिला दें और फिर उसमेंसे चावल चुनना हो तो यह हो सकता है, परंतु ज्वारके ढेरमें ज्वार मिला दिया जाय तो फिर जहाँसे मुट्ठी भरेंगे, ज्वार ही हाथ आयेगा। इसी प्रकार हमारे सद्ग्रन्थोंकी रचना भी परलोक-सुधारने तथा पुनर्जन्मका निवारण करनेका साधन बतानेके लिये है, इसलिये उनमें ऐसे प्रमाण पर्याप्तरूपमें भरे पड़े हैं। यहाँ नमूनेके रूपमें कुछ प्रमाण दिये जाते हैं।

पहले श्रुतिका प्रमाण देखिये। इस लेखके प्रारम्भमें जो

श्लोक है, यह परलोक और पुनर्जन्म दोनोंको सिद्ध करता है और यह भी बतलाता है कि जगत्के भोगपदार्थोंमें जो अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उनकी समझमें यह बात नहीं आती और इस कारण वे पशुके समान जन्म-मरणके चक्रमें परवश होकर घूमते रहते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में एक अत्यन्त सुन्दर मन्त्र है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
(१।६)

पहले ब्रह्मचक्रका वर्णन करते हैं। यह चक्र इतना विशाल है कि इसमें सारे जीव रह सकते हैं और वहीं आजीविका प्राप्त करते हैं। इस संसृति-चक्रमें, इस जन्म-मरणके चक्रमें जीव भटका करते हैं। किसलिये उनको चक्रमें घूमना पड़ता है, यह समझाते हुए कहते हैं कि अपनेको परमात्मासे स्वतन्त्र या पृथक् मानता है, इसी कारण उसे अनन्त बार जन्म लेना पड़ता है तथा मरना पड़ता है। इस चक्रसे छूटनेका रास्ता बताते हुए कहते हैं कि अपनेको जब परमात्मासे अभिन्न जानता है तो जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाता है और वह शाश्वत शान्तिको प्राप्त करता है। सारांश यह है कि जबतक जीव अपनेको परमात्मासे पृथक् मानता है, स्वतन्त्र समझता है, तबतक उसका जन्म-मरण चलता रहता है। परंतु जब सद्गुरुकी कृपासे परमात्माके साथ अपना अभेद समझ लेता है तब उसका जन्म-मरण निवृत्त हो जाता है।

कठोपनिषद्में एक मन्त्र है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
(२।१।१०)

जो इह लोकमें है, वही परलोकमें है और जो परलोकमें है वही इह लोकमें है। जो इहलोकमें नाना (विभिन्न) भेद देखता है, वह बारंबार जन्मता और मृत्युको प्राप्त होता है।

जो चेतन सत्ता एक शरीरमें है, वही चेतन सत्ता सर्वत्र व्याप्त हो रही है। वही चेतन सत्ता प्रत्येक देहमें है। देहमें रहनेवाली और सर्वव्यापक चेतन सत्तामें जो जीव भेद देखता है, दोनों सत्ता पृथक्-पृथक् है—ऐसा मानता है, वह असंख्य बार जन्मता है और मरता है।

छान्दोग्य उपनिषद्में पुनर्जन्मके विषयमें कहा गया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।

(५।१०।७)

मृत्युको प्राप्त मनुष्योंमें जो विशुद्ध आचरणवाले मनुष्य हैं, वे तत्काल उत्तम योनिमें शरीर धारण करते हैं। वे ब्राह्मणशरीर, क्षत्रियशरीर अथवा वैश्यशरीर धारण करते हैं। तथा जिन मनुष्योंके आचरण पापयुक्त होते हैं, वे मनुष्य तत्काल मलिन योनिमें शरीर धारण करते हैं, वे कुत्तेका शरीर, शूकरका शरीर अथवा चाण्डालका शरीर धारण करते हैं। सारांश यह है कि इस जन्ममें जैसी-जैसी करनी होती है, उसीके अनुरूप मनुष्यका पुनर्जन्म होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में पुनर्जन्मके विषयमें लिखा है—

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे॥

मनुष्य जैसा कर्म यहाँ इस लोकमें करता है, उसका फल भोगनेके लिये वह दूसरे लोकमें जाता है। उस लोकमें भोग समाप्त होनेपर फिर मनुष्य इसलोकमें जन्म धारण करता है और फिर कर्म करता है। इस प्रकार जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्य कर्म करता है और उसका फल भोगनेके लिये पुनर्जन्म पाता है। फिर उस जन्ममें नया कर्म करता है और उसका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म धारण करता है। इस प्रकार जन्म-मरणका चक्र चालू रहता है।

अब गीताका प्रमाण देखिये—

'इन सब सगे-सम्बन्धियों और आप्तजनोंको मैं नहीं मारूँगा'—ऐसा अर्जुनको मोह होनेके बाद भगवान्ने आत्माकी अमरता समझाते हुए कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(गीता २।२०)

'शरीरमें रहनेवाला यह आत्मा कभी जन्म नहीं लेता तथा कभी मरता नहीं है, अर्थात् इसकी मृत्यु नहीं होती।

वह नित्य, शाश्वत और सनातन है। अतएव शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका कभी नाश नहीं होता।'

पश्चात्, यही आत्मा—जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता है और इससे केवल उसका शरीर बदलता है, आत्मा नहीं बदलता, यह सूचित करते हुए कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २ । २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रको त्याग करके नया वस्त्र धारण करता है, इससे वस्त्र बदलता है, कहीं मनुष्य नहीं बदलता, इसी प्रकार देहधारी आत्मा पुराने शरीरको छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है।'

एक ही आत्मा—जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता है, यह बतलाते हुए कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
(गीता ४ । ५)

'अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत गये हैं। ईश्वर होकर मैं उन सबको जानता हूँ, परंतु हे परंतप! तू उसे नहीं जान सकता।'

तत्पश्चात् जीवात्मा अपने कर्मानुसार परलोकको प्राप्तकर वहाँके भोगोंको भोगकर, फिर इस लोकमें आता है—यह बताते हुए कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
(गीता ६ । ४१)

योगभ्रष्ट अर्थात् साधना पूरी होनेके पहले मृत्युको प्राप्त हुआ योगी, स्वर्गसे ब्रह्मलोकतक अपने पुण्यके अनुसार किसी लोकको प्राप्तकर अनेक वर्षोंतक वहाँके भोगोंको भोगता है। भोग समाप्त होनेके बाद फिर भूतलपर श्रीमन्त और पवित्र कुलमें जन्म धारण करता है, जिससे वह वहाँ अपनी साधना पूरी कर सके।

तत्पश्चात्, सारे लोक नाशवान् हैं, अतएव पुण्यलोकोंकी इच्छा न करके मुक्तिकी इच्छा करनेकी सूचना देते हुए कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८ । १६)

ब्रह्मलोकसहित चौदहों लोक उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाले हैं। अतएव वहाँ जानेसे जीवोंका आवागमन नहीं टलता। अतएव दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये इच्छामात्रका त्याग करके मेरी शरण लेनी चाहिये। मेरी शरण आनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

इस प्रकार गीता कहती है कि परलोक भी है और पुनर्जन्म भी है तथा पुनर्जन्मको रोका भी जा सकता है।

अब योगदर्शन क्या कहता है—यह देखिये।—पुनर्जन्म क्यों होता है, यह समझाते हुए कहते हैं—

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'

क्लेश जिसका बीज है, ऐसा यह कर्माशय अर्थात् संस्कारसमूह वर्तमान जन्म तथा भावी जन्मोंको देनेवाला है।* भाव यह है कि जबतक यह कर्माशय है, तबतक जीवको अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। बीजवृक्ष-न्यायके समान इस कर्माशयका कभी अन्त नहीं होता। अतएव जीवका जन्म-मरण निवृत्त नहीं होता। इसके लिये एक ही उपाय है और वह है—**'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।'** (गीता ४ । ३७) 'हे अर्जुन! प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार लकड़ीको राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि भी कर्मसमुदाय मात्रको जलाकर भस्म कर देती है।' अतएव श्रुति कहती है—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** ज्ञानके सिवा मुक्तिका कोई दूसरा साधन नहीं है; क्योंकि कर्माशयका नाश करनेवाला दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

एक दूसरे सूत्रमें कहते हैं कि **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।'** अपरिग्रहकी भावना स्थिर होनेपर योगीको, **हस्तामलकवत्**, मैं पूर्वजन्ममें कौन था? यह शरीर कैसे प्राप्त हुआ? तथा भविष्यमें कैसा शरीर मिलेगा आदि भूत तथा भविष्यत्का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यह सूत्र भी पुनर्जन्म सिद्ध करता है।

योगवासिष्ठ महारामायणमें तो परलोक और पुनर्जन्मके दृष्टान्त भरे पड़े हैं, उनमें विलास और भास, तथा पुण्य

---

* योगदर्शनके अनुसार क्लेश पाँच हैं—(१) अविद्या—अज्ञान, (२) अस्मिता—मैंपन (३-४) राग और द्वेष—इसका अर्थ प्रसिद्ध ही है और (५) अभिनिवेश—अपने मनका आग्रह।

और पावन नामके दो भाइयोंके दृष्टान्त बहुत बोधप्रद हैं; अतएव उनमेंसे एकको यहाँ दिया जा रहा है ।

किसी सुन्दर वनमें दीर्घतपा नामके एक मुनि रहते थे । उनके पुण्य और पावन नामके दो पुत्र थे । मुनिने दोनों पुत्रोंको ज्ञान प्रदान किया था । पुण्यकी ज्ञानमें निष्ठा हो गयी थी, परंतु पावन बालक था, अतएव उसकी निष्ठा न हुई । कालक्रमसे दीर्घतपा मुनिने विदेह-कैवल्य प्राप्त किया और उनकी पत्नीने उनका सहगमन किया ।

इस प्रकार माता-पिताका एक साथ वियोग होनेपर दोनों पुत्रोंके हृदयपर बड़ी चोट लगी । परंतु पुण्यने थोड़े ही समयमें मनको स्थिर कर लिया और माता-पिताकी श्राद्ध-क्रिया शान्त चित्तसे पूरी की । परंतु पावन चित्तको शान्त न कर सका, इसलिये विलाप करते हुए वनकी झाड़ियोंमें घूमने लगा ।

श्राद्धका काम समाप्त करके पुण्यने जंगलमें घूमकर पावनको ढूँढ़ा और पास बैठाकर कहा—'हे भाई ! तू क्यों इतना अधिक शोक कर रहा है ? हमारे माता-पिता तो परमात्मस्वरूप थे, वे अपने पदको प्राप्त हो गये । इसलिये उनके लिये शोक करना नहीं बनता ।

'सुनो ! इस भवचक्रमें घूमते तुम्हारे अनेक जन्म बीत गये और उन जन्मोंमें तुम्हारे अनेक माँ-बाप हो चुके । अतएव ऐसा नहीं है कि सदा तुम्हारी यही माता रही और यही पिता रहे । इसी प्रकार हमारे माता-पिताके भी उनके अनेक जन्मोंमें असंख्य पुत्र हो चुके हैं । अतएव उनके भी केवल हम ही दो पुत्र हों, ऐसी बात नहीं है । यदि माता-पिताके लिये शोक करना है तो सभी माता-पिताओंके लिये शोक क्यों नहीं करते ? केवल वर्तमान शरीरके माता-पिताके लिये ही क्यों शोक करते हो ?

'हे भाई ! रक्त, मांस और हड्डीके समूहमय इस देहसे पृथक् चेतनावाला मैं कौन हूँ ? इसका विचार करके देखो । तुम तो अनन्त विस्तारवाले ब्रह्मतत्त्व ही हो । तब फिर तुम्हारा पिता कौन है, माता कौन है तथा अपना या पराया कौन है ? अज्ञानके कारण तुम्हारे अनेक जन्म हो गये हैं । इसे सुनो । एक बार तुम हरिन हुए थे, दूसरी बार तुम हंस हुए । किसी समय तुम वृक्ष थे तो कभी सिंह हुए तथा किसी समय तुम मछली थे तो कभी मुर्गा थे और किसी समय तुम कुत्ता थे । सारांश यह है कि उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चारों योनियोंमें तुम्हारे असंख्य जन्म हो चुके हैं । उन सभी जन्मोंमें तुम्हारे माता-पिता तो थे ही तब फिर उनके लिये शोक क्यों नहीं करते हो ? और केवल अभी शोक करते हो । इसलिये हे भाई ! तुम एकाग्र चित्तसे अपने आत्माको स्मरण करो, जो सुख-दुःखसे तथा जरा-मरण आदिसे रहित है । फिर, तुम देखोगे कि तुम्हें दुःख नहीं है, जन्म नहीं है, न माता है और न पिता है तथा तुम देहादि तुच्छ पदार्थ नहीं हो, बल्कि तुम स्वयंप्रकाश आत्मा ही हो ।'

इस कथानकका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक देहधारीके असंख्य जन्म हो गये हैं और जबतक मुक्ति नहीं होती, तबतक असंख्य जन्म होनेवाले हैं । अतएव पुनर्जन्मको न मानना आँख रहते अन्धा होना नहीं तो और क्या है ? महाभारतका उपसंहार करते हुए व्यासजीने केवल एक श्लोकमें प्राणीके असंख्य जन्म होनेका उल्लेख किया है । यथा—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥

जीव अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकता चला आ रहा है । इस अनन्त संसारमें मनुष्यको असंख्य माता-पिता तथा स्त्री-पुत्र आदिका अनुभव हुआ ही होगा । वर्तमान जन्ममें भी इसका अनुभव होता है और जबतक मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक होता ही रहेगा । अतः पुनर्जन्म माने बिना कैसे चल सकता है ?

श्रीमद्भागवतमें भी एक ही जीवके अनेक जन्म धारण करनेका उल्लेख करनेवाला राजा चित्रकेतुका इतिहास प्रसिद्ध ही है । शूरसेन देशमें चित्रकेतु नामके एक चक्रवर्ती राजा थे, जिनकी सारी कामना पृथ्वी पूर्ण करती थी । उन राजाके अनेक स्त्रियाँ थीं; परंतु उन्हें कोई संतान न थी । एक समय अङ्गिरा ऋषि उनके गृह पधारे । राजा उठकर उनके सामने खड़े हो गये और शास्त्रविधिके अनुसार राजाने उनकी पूजा करके उनका आतिथ्य-सत्कार किया । परस्पर कुशल-समाचार पूछनेके बाद राजाने उनसे एक पुत्र प्रदान करनेकी प्रार्थना की । ऋषिने एक यज्ञ किया, यज्ञशेष उन्होंने एक पटरानीको खिलाया और कहा कि 'हे राजन् ! तुमको एक पुत्र होगा जो तुमको हर्ष और शोक प्रदान करनेवाला होगा ।'

यथासमय राजाके घर पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे राजा-रानी तथा सारी प्रजाके आनन्दका पार न रहा। दैवकी गति बड़ी विचित्र है। बड़ी रानीको पुत्र हुआ, यह अन्य रानियोंको सह्य न हुआ। अतएव उन्होंने उस पुत्रको विष देकर मार डाला। उसके जन्मसे जितना आनन्द हुआ था, उससे सौगुना शोक फैल गया। राजा-रानी मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

राजाकी यह स्थिति सुनकर नारदजी और अङ्गिरा ऋषि वहाँ आये और राजाको आश्वासन देने लगे—'हे राजेन्द्र! तू जिसके लिये शोक करता है, उसके साथ तेरा क्या सम्बन्ध है? और इस सृष्टिमें तू उसका कितनी बार सम्बन्धी हुआ है! पूर्वजन्ममें तेरा क्या सम्बन्ध था? इस समय क्या है? तथा इसके बाद क्या सम्बन्ध होगा?—इसका विचार करनेपर जान पड़ता है कि नदीके प्रवाहके वेगसे जैसे बालू इकट्ठी हो जाती है और फिर अलग हो जाती है, इसी प्रकार प्राणी भी कालके वेगसे इकट्ठा होते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। मृत्यु सबके लिये साधारण बात है, अतएव तेरा पुत्रके लिये शोक करना बेकार है।'

उसके बाद नारदजीने मृत राजकुमारको योगबलसे जीवित करके कहा—'हे जीवात्मा! तेरे माता-पिता शोकसे व्याकुल हो रहे हैं, इन्हें तू देख और तुझमें तथा इनमें क्या सम्बन्ध है, यह इनको बतला दे।'

जीव बोला—'मैं अपने कर्मोंके द्वारा देवता, पशु, पक्षी तथा मनुष्य आदि योनियोंमें भटकता फिरता हूँ। मेरा सम्बन्ध किसीके साथ स्थिर नहीं रहता। तुम किस जन्ममें मेरे माता-पिता थे? मेरे मरनेपर पुत्र-बुद्धिसे तुम शोक कर रहे हो तो मुझे किसी जन्मका शत्रु समझकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? क्योंकि पुत्रादिक-सम्बन्ध नित्य रहनेवाला तो है नहीं, बल्कि प्रतिजन्ममें बदला करता है। सुवर्ण आदि विक्रेय द्रव्य जैसे व्यापारियोंमें इधर-उधर फिरते ही रहते हैं, उसी प्रकार जीव भी किसी-न-किसी चौरासी लाख योनिमें भटका करता है। ऐसी दशामें मेरे लिये शोक करना व्यर्थ है।'

इतना कहकर जीव शरीरको छोड़कर चला गया।

इस दृष्टान्तसे भी एक ही जीवात्मा अनेक शरीर धारण करता है, यह हमने देख लिया। इस प्रकार पुनर्जन्म निश्चित है, इसमें कोई शंका करनेकी जगह नहीं है।

इससे पुनर्जन्म सिद्ध होता है, इतना ही नहीं है, बल्कि यहाँ जो सम्बन्ध होते हैं, वे एक दूसरेका हिसाब चुकानेके लिये होते हैं—यह भी सिद्ध होता है। एक जगहका हिसाब चुकाकर जीव दूसरा हिसाब चुकानेके लिये दूसरा जन्म ग्रहण करता है। पुराना ऋणका बन्धन चूकता जाता है और फिर नया बँधता भी जाता है। इस प्रकार ऋणानुबन्धका कभी अन्त नहीं होता। अस्तु—

माता पिता च पुत्राश्च स्त्रीसहोदरबान्धवाः।
स्वार्थसम्बन्धिनः सर्वे तस्माज्जागृहि जागृहि॥

अब पुनर्जन्ममें युक्ति देखिये। कवि भवभूतिने यह बात पाठशालाके दृष्टान्तसे समझायी है। एक ही गुरुके पास एक ही विषय पाँच-सात विद्यार्थी पढ़ते हैं। उनमें एकको एक बार सुनते ही समझमें आ जाता है, दूसरेको दो-चार बार एक-एक बात समझानी पड़ती है और किसी-किसी विद्यार्थीको चाहे जितनी बार समझाओ, फिर भी समझमें नहीं आता। एक ही सामग्री होनेपर भी समझमें इतना अधिक अन्तर पड़ता है, इसका कारण पूर्वजन्मके संस्कारके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। यदि मनुष्यको क्रमशः अनेक बार मनुष्य-शरीर मिला हो और उनमें उसने विद्याभ्यास भी किया हो तो इससे वह शीघ्र विद्या ग्रहण कर सकता है। दूसरा छात्र बैलका जन्म लेनेके बाद यदि सीधा मनुष्यका जन्म लेता है तो उसके चित्तके ऊपर विद्याका कोई ताजा संस्कार नहीं होता, इस कारण उसके समझनेमें देर लगती है। इस प्रकार भैंसके भाई-जैसा आदमी भी जगत्में प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। यह देखकर भी यदि हम पुनर्जन्मका निश्चय न कर सकें, तो फिर दूसरा क्या उपाय है?

एक ही माता-पिताके दो लड़के होते हैं। एक न्यायाधीश बनता है और दूसरा अपराधी बनकर फाँसीके तख्तेपर चढ़ता है। एक श्रीमान् होकर वैभवका उपभोग करता है, एक देशका उद्धारक बनता है और दूसरा देश-द्रोह करके मृत्युदण्ड प्राप्त करता है। ऐसे अनेक उदाहरण हमको जगत्में मिलते हैं और उसमें पूर्वजन्ममें किये हुए पाप-पुण्यके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं निश्चय किया जा सकता। अब यह देखना है कि जो लोग पुनर्जन्म नहीं मानते, वे कितना सुखी हैं। इस प्रकारके लोग अमेरिका (युनाइटेड स्टेट्स)में सर्वापेक्षा अधिक हैं और वे उन्नतिके शिखरपर हैं—ऐसा लोग कहते हैं। जहाँ प्रतिमनुष्य वार्षिक आय ५०००

रुपये हैं। हमारे यहाँ इतनी आय प्रतिशत २।४ आदमीकी भी नहीं होगी। ऐसी अवस्थामें भी अमेरिकामें प्रत्येक १८ सेकण्डमें (मिनट या घंटा नहीं !) खून या चोरीके भयंकर अपराध होते हैं अर्थात् प्रत्येक मनुष्यकी वार्षिक आय ५०००) रुपये जहाँ हैं, वहाँ अपराधोंकी संख्या भी प्रतिदिन ५००० होती है । वे पुनर्जन्म नहीं मानते और न ऋणानुबन्ध ही मानते हैं। इस कारण विवाहका पवित्र सम्बन्ध उनके ध्यानमें आता ही नहीं है । अतएव तलाककी घटनाएँ बढ़ती ही जाती हैं और आज तो यहाँतक बढ़ गयी है कि वे इससे आजिज़ आ गये हैं। किये कर्मोंका फल दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा, यह न माननेके कारण दुःखसे बचनेके लिये वे आत्महत्याका आश्रय लेते हैं और आत्महत्याके आँकड़े भी चौंकानेवाले हदतक पहुँच गये हैं। वहाँ सच्चे अर्थमें कुमारियाँ शायद ही मिलें। नीति और सदाचार न माननेसे व्यभिचार वहाँ साधारण बात हो गयी है तथा अपने पापको छिपानेके लिये भ्रूण-हत्या और बालहत्याकी संख्या भी वहाँ भयंकर स्थितिको पहुँच गयी है।

जीवनमें सुख और शान्तिका आधार यदि रुपया होता तो आज अमेरिकामें यह स्थिति न होती। प्रतिमनुष्य इतनी बड़ी आय होनेपर भी वहाँ चोरीकी घटनाएँ तो बेहद हो गयी हैं। कहते हैं कि प्रतिदिन ४०० तो मोटरोंकी चोरी होती है।

इस प्रकार सुखी जीवनका आधार पैसा नहीं है तथा भोगसामग्रीकी विपुलता भी नहीं है एवं वैभव और ऐशो-आराम भी नहीं है। सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत करना हो तो ईश्वरमें श्रद्धा होनी चाहिये। ईश्वर है और निश्चय-पूर्वक है तथा उसने ही यह सृष्टि अपने भीतरसे की है और वही इसका रक्षण और पालन-पोषण कर रहा है। दूसरी बात यह है कि धर्मको भी मानना चाहिये और उससे पाप-पुण्यका मार्ग पहचानना चाहिये। पापका मार्ग छोड़कर पुण्यके मार्गपर अग्रसर होना चाहिये। कर्मका अकाट्य सिद्धान्त समझना चाहिये। करोड़ों कल्प भी बीत जायँ तो भी किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल भावी जन्ममें भोगना ही पड़ता है इसमें श्रद्धा रखनी चाहिये।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

आजकल भोगप्रधान जीवन हो गया है, इस कारण प्रत्येक आदमी सबसे पहले भोगके साधनोंको देखता है। इसीके कारण अपराध होते हैं। यदि अपराधको रोकना है तो जीवनको त्याग-प्रधान बनाना चाहिये। मनुष्यकी कद्र उसके त्यागभावसे होनी चाहिये। भोगसामग्रीको तिरस्कारकी वस्तु समझनी चाहिये।

अब यह देखना है कि हमारा कर्तव्य क्या है। आज हम अनिवार्यरूपसे ऐसे लोगोंके संसर्गमें आ गये हैं। आजसे तीस वर्ष पहले इनकी भौतिकताका सङ्ग इतना बढ़ा न था। परंतु प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री एच्० जी० वेलसने इतिहासकी रूपरेखा (Outline of History) अर्थात् 'जीवन और मानवजातिके विकासके विषयमें आदिकालसे सृष्टिका खरा इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित की है। तबसे भौतिक-वादका सङ्ग बहुत ही बढ़ गया है। विज्ञान, इतिहास तथा भूगोलकी पाठ्य पुस्तकोंमें भी इस पुस्तकके आधारपर भौतिक विज्ञान सिखलाया जाता है और प्राथमिक पाठशालाओंसे ही यह अभ्यासक्रम चालू हो जाता है। इस कारण आजका पठित समाज ईश्वरमें श्रद्धा नहीं रखता, धर्मके विधानसे उसका विश्वास उठ गया है और आत्माकी अमरता भी वह नहीं मानता। इस कारण वर्तमान जीवनके बाद दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है और पाप-पुण्यका फल भोगना पड़ता है, इस बातमें उसे विश्वास नहीं रहा। अतएव उसके जीवनका ध्येय केवल इतना ही रह गया है कि 'वर्तमान जीवन कैसे सुखसे बिताया जाय' इस कारण शरीरको अधिक-से-अधिक सुख पहुँचानेके प्रयत्नमें ही लोग जीवन बिताते हैं। 'जबतक जीवन है, तबतक खूब ऐशो-आराम करो। कर्ज लेकर, डाका डालकर, हत्या करके तथा चाहे जैसे भी हो, भोगसामग्री इकट्ठा करो। शरीरका नाश होनेके बाद कर्जकी या कुकर्मकी क्या चिन्ता है ? शरीरका नाश होनेके बाद क्या होता है, इसे किसने देखा है ? इसलिये बस, खाओ, पीओ और मौज करो।' इस सिद्धान्तको आदर्शके रूपमें आजके अधिकांश शिक्षित वर्गने स्वीकार कर लिया है, ऐसा जान पड़ता है।

ईश्वरने मनुष्यकी रचना ही ऐसी की है कि उसके ऊपर सङ्गका प्रभाव तुरंत पड़ता है। सुसङ्गका प्रभाव पड़नेमें देर लगती है, परंतु कुसङ्गका प्रभाव पड़ते देर नहीं होती; क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव ही अधोगामी है। इस कारण उन लोगोंके सङ्गका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा है और फलस्वरूप हमारे यहाँ ये सारे पाप घुस गये हैं। हम भी उनके समान पाप करनेसे बाज नहीं आते। असत्य बोलना, विश्वासघात करना, चोरी, हिंसा, व्यभिचारादि, अनाचार-दुराचारसे हम बिगड़ते जा रहे हैं। मनुष्य मनुष्यका विश्वास नहीं करता, फिर भला राष्ट्रोंमें परस्पर विश्वास कैसे हो ? बलवान् निर्बलको पीड़ा पहुँचाता है और मनुष्य नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गको अपना रहा है। मनुष्यने लौकिक उन्नति तथा विषयसुखको ही जीवनका ध्येय बना लिया है और उसकी प्राप्तिके लिये जीतोड़ मेहनत करता है। फलतः विलासिता तथा विषयलोलुपता बढ़ती जा रही है और इस कारण इन्द्रियोंको तृप्त करने तथा शरीरको आराम पहुँचानेके लिये भक्ष्याभक्ष्यका विचार भी छूटता जा रहा है और दूसरेके कष्टका विचार ही नहीं होता।

बल्कि पठित समाजका शास्त्रमें विश्वास न होनेसे उनमें इनका अनुकरण बढ़ता जा रहा है और इस कारण प्रीति-भोज, स्पर्शास्पर्श-विवेकका लोप, उच्छृंखलता, विधवा-विवाह, सगोत्र-विवाह, रजस्वलाधर्मका उल्लङ्घन, भ्रूणहत्या आदि उनके बुरे संस्कारोंको यह पठित समाज अपनाने लगा है।

अतएव यदि सुख और शान्तिकी इच्छा हो तो उन लोगोंका अन्धानुकरण करना छोड़ना पड़ेगा। ईश्वरके ऊपर विश्वास रक्खे बिना, धर्मके विधानमें श्रद्धा रक्खे बिना, परलोक तथा पुनर्जन्म माने बिना तथा किये कर्मोंके फल भोगनेके लिये अनेक जन्म लेने पड़ते हैं—ऐसा विश्वास हुए बिना सुख और शान्तिकी आशा मृगमरीचिकासे तृषा बुझाने-जैसी है। इसलिये ऋषि-मुनियोंके बताये हुए मार्गका अनुसरण करना ही सुखी जीवनकी चाबी है।

अतएव हमारी प्रत्येक भारतवासीसे यह हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि यदि सच्चा सुख प्राप्त करना है, शान्तिमय जीवन बिताना है, परलोक सुधारना है और ऐसा करते हुए मनुष्य-जीवनके परम ध्येय मोक्षको प्राप्त करना है तो नीचेका श्लोक कण्ठस्थ कर लेना और फिर धीरे-धीरे उसको आचरणमें उतारना, अर्थात् तदनुसार अपना जीवन-व्यवहार बनाना चाहिये।

जो कोई भी ऐसा करेगा, उसका कल्याण होगा। समाज करेगा तो समाजका कल्याण होगा, राष्ट्र करेगा तो राष्ट्रका कल्याण होगा और सारा जगत् करेगा तो उसका कल्याण हुए बिना न रहेगा। **नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।** इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। व्यासजी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

कामकी तृप्तिके लिये, किसीके भयसे या किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये तथा अपने प्राणकी रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्म नित्य है, अतएव वह तुम्हारे साथ बना रहेगा। जब सुख-दुःख अनित्य हैं, तब वे भोग प्रदान करके अपने-आप शान्त हो जायँगे। जीव नित्य है परंतु उसको प्राप्त हुआ संसार अनित्य है; क्योंकि वह प्रत्येक देहके साथ बदलता रहता है।

शास्त्रमें ठीक ही लिखा है—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

जो शास्त्रकी अवहेलना करके मनमाना आचरण करते हैं, वे नर कहलाने योग्य नहीं हैं, अर्थात् वे वानर कहलाने योग्य हैं। जो कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं, वे ही सच्चे अर्थमें मनुष्य हैं और वे ही नर कहलाने योग्य हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

* * *

आत्मोद्धारके लिये महापुरुषोंके अनुकरणकी विशेष आवश्यकता

(लेखक—ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हमलोग जिस कार्यके लिये इस संसारमें आये हैं, उसको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करना चाहिये। वह कार्य है—अपने आत्माका उद्धार करना। चौरासी लाख योनियोंमें घूमते-घूमते यह प्राणी जब अत्यन्त तंग आ जाता है, तब भगवान् इसपर विशेष दया करके आत्मोद्धारके लिये इसे मनुष्यशरीर देते हैं।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३। २,३)

अच्छे पुरुषोंके संगके प्रभावसे हमलोगोंका उत्तम गुण और आचरणोंकी ओर लक्ष्य भी होता है और उनके सेवनकी इच्छा भी होती है एवं अपनी बुद्धि और विचारके द्वारा उसे अच्छा भी समझते हैं, किंतु फिर भी हमलोग ऐसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं कि उनको काममें नहीं ला पाते। यह कितने दुःखकी बात है। जो लोग इस संसारसे चले जाते हैं, उनका फिर कभी किसी प्रकार दर्शन नहीं हो सकता—यह समझकर भी हमलोग मृत्युको निकट नहीं देखते और यही समझ रहे हैं कि हम सदा ही यहाँ रहेंगे,—यह कितने आश्चर्यकी बात है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रति कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
(महा० वन० ३१३। ११६)

संसारमें रोज-रोज प्राणी मर रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहनेकी इच्छा करते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा।

विचार करना चाहिये, इस प्रकार आत्मोद्धारके कार्यको हम बुद्धि और विचारसे ठीक समझते हैं तो फिर उसको क्यों नहीं कर पाते। इसका उत्तर यह है कि अज्ञानजनित श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें प्रधान कारण है। इस श्रद्धा-विश्वासकी कमीको दूर करनेके लिये जिनका ईश्वर, परलोक, सत् शास्त्र और महापुरुषोंमें श्रद्धा-विश्वास हो, उन पुरुषोंका संग विशेष लाभदायक है और अज्ञानको दूर करनेके लिये ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर उनका सङ्ग और उनकी सेवा करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और निष्कपट भावसे सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

किंतु मनुष्य-शरीर पाकर भी हमलोग अपना कल्याण नहीं कर पाये तो हमारे लिये इतनी बड़ी भारी हानि है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। यह शरीर क्षणभङ्गुर और नाशवान् है। भगवान्‌की कृपासे ही हमको यह अवसर मिला है। यदि हमलोग कुछ विचार नहीं करेंगे तो हमारा यह प्राप्त अवसर व्यर्थ ही

चला जायगा । इसलिये हमलोगोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये । उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति भी बहुत उत्तम साधन है । ईश्वरकी कृपासे भी ज्ञान हो सकता है । भगवान् गीतामें कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । ९-१०)

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं । उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

निष्काम-भावसे प्राणियोंकी सेवा करनेसे भी अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान अपने-आप ही प्राप्त होता है और विचारके द्वारा भी अज्ञानका नाश होकर ज्ञान प्राप्त हो सकता है । किसी भी प्रकारसे हो, जिससे श्रद्धा-विश्वासमें कमी आवे, उस अज्ञानका तो अवश्य शीघ्र नाश करना ही चाहिये । ईश्वर और महात्मा पुरुषोंके गुण, प्रभाव और महिमाकी बातें शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, उनका तत्त्व-रहस्य समझकर मनन करनेसे श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि हो सकती है । श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होनेपर, फिर हमलोगोंको जो साधन कठिन दीखते हैं, वे भी सरल हो सकते हैं । साधनमें जो कठिनता प्रतीत होती है, वह श्रद्धा-विश्वासकी कमीके कारण ही होती है । नहीं तो, जो विवेक, विचार और बुद्धिके द्वारा हितकर समझा गया, उसमें कठिनताकी प्रतीति होनेमें और उसके अनुसार साधन न होनेमें अन्य क्या हेतु हो सकता है । अतः हमलोगोंको अज्ञानको और श्रद्धा-विश्वासकी कमीको दूर करनेकी अवश्य विशेष चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि अज्ञानका नाश और श्रद्धा-विश्वास होनेपर ही मनुष्य अपने धर्मका भलीभाँति निर्णय करके उसका पूर्णरूपसे पालन करनेमें तत्पर हो सकता है ।

इस समय संसारमें नाना प्रकारके मत-मतान्तर फैलनेके कारण वास्तविक धर्मका निर्णय होना बड़ा ही कठिन हो गया है । मुसल्मान लोग अपने धर्मको, ईसाई अपने धर्मको और अन्य भी सभी अपने-अपने धर्मको ठीक बताते हैं और उसीका प्रचार करते हैं तथा दूसरोंके धर्मोंको बेठीक बताते हैं । इनमें भी परस्पर मतभेद है । सनातनधर्मी अपने धर्मको सबसे पहलेका, अनादि और सर्वोत्कृष्ट बताते हैं । इसमें भी अनेक सम्प्रदाय चल पड़े हैं । इसीसे धर्म-निर्णयके विषयमें बहुत उलझन हो गयी । इससे लोग बहुत दुविधामें पड़े हुए हैं, किंतु इस विषयमें गहराईसे विचार करना चाहिये । वास्तवमें तो वही असली धर्म है, जिसमें किसीका विरोध नहीं है । जैसे भगवद्गीता है—इसमें किसीका विरोध नहीं है । गीतामें किसी भी मत-मतान्तरका उल्लेख भी नहीं किया गया है और किसीकी निन्दा भी नहीं की गयी है । इससे हमको यह सार ग्रहण करना चाहिये कि जो सार्वजनिक उत्तम-उत्तम आचरण हैं, जिनका कोई भी विरोध नहीं कर सकता, उनको हम अपनावें । जैसे—दुखी प्राणियोंपर दया करना, निःस्वार्थ-भावसे सबकी सेवा करना, सत्य, प्रिय और हित-भरे वचन बोलना, दूसरेकी स्त्री और धन-सम्पत्तिपर न मन चलाना और न अधिकार जमाना, पक्षपातरहित होकर सबके साथ सम व्यवहार करना, दुर्व्यसनोंका, दुर्गुणोंका, परदोष-दर्शनका और परनिन्दाका सर्वथा त्याग करना,

ब्रह्मचर्यका पालन करना, वैराग्यपूर्वक ऐश-आराम, स्वाद-शौक और विषय-भोगोंका सर्वथा त्याग करना—इसमें किसीका भी विरोध नहीं हो सकता । इसी प्रकार जो हृदयके उत्तम भाव हैं—क्षमा, शान्ति, समता, सरलता, ज्ञान, वैराग्य आदि—इनका सेवन करना । इनमें भी किसीका भी विरोध नहीं हो सकता । ये सब सद्गुण-सदाचार, जो कि गीता अ० २ श्लो० ५५ से ७१ तक; अ० १२ श्लो० १३ से १९ तक; अ० १४ श्लो० २२ से २५ तक तथा अन्यत्र भी वर्णित हैं, उच्चकोटिके महापुरुषोंमें तो स्वाभाविक ही होते हैं और साधकोंके लिये ये ही साधन हैं ।

अब यह प्रश्न होता है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले महापुरुषोंको हमलोग कैसे पहचानें ? इसका उत्तर यह है कि जिनके दर्शन, वार्तालाप और संग करनेसे हममें उपर्युक्त महापुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, वही हमारे लिये महापुरुष हैं । अतः हमलोगोंको उन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके आचरणोंका अनुकरण और उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

महाभारतमें महाराज युधिष्ठिरने भी महापुरुषोंके मार्गपर चलनेके लिये प्रेरणा की है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(वन० ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है, अतः जिससे महापुरुष जाते हैं वही मार्ग है ।'

उन महापुरुषोंके मार्गके अनुसार चलनेवाले अज्ञानी मनुष्य भी संसार-सागरसे पार होकर परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(१३ । २५)

'कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगसे रहित दूसरे जो मन्द बुद्धिवाले अज्ञानी पुरुष हैं, वे भी इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं ।'

ऐसे महापुरुषोंके लक्षणोंमें प्रधान लक्षण है समता । वही साधकके लिये साधन है । अतः हमलोगोंको समताका आश्रय लेना चाहिये । आजकल लोगोंमें राग-द्वेषकी अधिकताके कारण समताके व्यवहारमें बहुत कमी आ गयी है । वास्तवमें समता एक ऐसी विलक्षण महत्त्वपूर्ण वस्तु है जो राग-द्वेष आदि सारे विकारोंका सर्वथा विनाश कर डालती है । शास्त्रोंमें समताकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है । महाराज युधिष्ठिरने समताको असली धन बतलाकर उसको धर्ममें विशेष स्थान दिया है—

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥
(महा० वन० ३१३ । १२१)

'जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्य—इन द्वन्द्वोंमें सम है वही वास्तवमें सबसे बड़ा धनी है ।'

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें समताको और भी विशेषता दी है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ।'

इतना ही नहीं, भगवान्ने समताको परमात्माका स्वरूप और समतामें स्थित होनेको ही परमात्मामें स्थित होना बतलाया है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५ । १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

श्रीविष्णुपुराणमें निष्कामी भक्त प्रह्लादजीने तो दैत्य-बालकोंको उपदेश देते हुए अन्तमें यही बतलाया कि तुम सब लोग सबमें समता करो; क्योंकि समता ही भगवान्की असली उपासना है । वे कहते हैं—

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि ।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य ॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते ।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निःसंशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम् ॥
(१ । १७ । ९०-९१)

'दैत्यबालको ! मैं विशेष आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि तुम इस असार संसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना । तुम सर्वत्र समभाव करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी वास्तविक आराधना है और उन अच्युत भगवान्के प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है । तुम धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा कभी न करना, वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं । उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्संदेह मोक्षरूप महान् फल प्राप्त कर लोगे ।'

श्रीरामचरितमानसमें विभीषणके प्रति भगवान् श्रीरामके वाक्य हैं—

समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ।
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ।
(सुन्दर० ४७ । ३-४)

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने तो यहाँतक कह दिया है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
(११ । १४ । १६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं है, जो मेरे ही भजन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है, जो वैरभावसे रहित है तथा जिसका किसीसे भी राग-द्वेष न रहकर सबके प्रति समान भाव है, उस महात्मा पुरुषके पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें समताकी बहुत महिमा बतलायी गयी है । सभी मत-मतान्तर और सम्प्रदायके लोग भी समताका बहुत आदर करते हैं । इसलिये हमलोगोंको राग-द्वेषादि दोषोंके त्यागके लिये तत्परताके साथ सबमें समभाव करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये । समताके बिना कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग किसी भी साधनकी सफलता नहीं हो सकती । साधककी समताका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय २ श्लोक १५, ३८ और ४८वें किया है । कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग किसी भी

साधनसे जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, उनमें समता स्वाभाविक ही आ जाती है। गीतामें अध्याय ६ श्लोक ७ से ९ तक कर्मयोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका, अध्याय १२ श्लोक १८-१९में भक्तियोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका और अध्याय १४ श्लोक २४-२५ में ज्ञानयोगी सिद्ध महापुरुषोंकी समताका वर्णन है, एवं अध्याय २ श्लोक ५६-५७ में और अध्याय ५ श्लोक २० में राग-द्वेष और हर्ष-शोकके अभावके रूपमें सिद्ध कर्मयोगी महापुरुषोंकी समता दिखलायी गयी है।

सिद्ध महात्मा पुरुषोंमें समता आ जानेके कारण उनमें विषमताकी गन्ध भी नहीं रह सकती। यदि किसीमें विषमता और भेदबुद्धि है तो समझना चाहिये वहाँ समता नहीं है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनोंमें विषमता दूर होकर जब समता आ जाती है तब राग-द्वेष रह ही नहीं सकते। राग-द्वेषके नाशसे अन्तःकरणके सारे विकारोंका और अवगुणोंका नाश होकर सद्गुण उसमें अपने आप ही आ जाते हैं। फिर उस महापुरुषकी सारी चेष्टा स्वाभाविक ही निष्काम और समभावपूर्वक सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये ही होती है।

मनुष्य-शरीरकी सार्थकता इसीमें है कि 'सब भगवान्का स्वरूप है या सबमें भगवान् व्यापक हैं अथवा सब भगवान्के हैं।'—ऐसा समझकर निःस्वार्थभावसे सबके हितके उद्देश्यसे सबकी सेवा की जाय। तथा मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर, धन, सम्पत्ति—ये भी सब भगवान्के ही हैं—ऐसा समझकर भगवान्की वस्तु भगवान्के अर्पण करके कर्तव्य बुद्धि तथा निःस्वार्थभावसे अपने शरीरका निर्वाह किया जाय तो वह भी निष्कामभाव ही है। जैसे मान लीजिये, हमारे यहाँ एक दूध देनेवाली गाय है। उसको हमने एक विद्या-विनययुक्त सदाचारी ब्राह्मणको दान कर दिया। अब वह गाय उस ब्राह्मणकी हो गयी। उसके बाद भी हम उस गायका यदि निःस्वार्थभावसे अन्न-घास, पानी आदिके द्वारा पालन-पोषण करें तो उससे वे ब्राह्मण भी प्रसन्न होते हैं तथा अन्य लोग भी उसे अच्छा समझते हैं एवं सबकी प्रसन्नतासे भगवान् प्रसन्न हैं ही। किंतु दानमें दे देनेके पश्चात् हमारा उस गायके दूधसे न्यायतः कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उसी तरह यहाँ 'गायके स्थानमें यह शरीर है, ब्राह्मणके स्थानमें भगवान् हैं। गायको दानमें दे देना है—मन, बुद्धि, इन्द्रिय, धन-सम्पत्तिसहित शरीरको भगवान्के अर्पण करना तथा दानके पश्चात् भी गायका अन्न, घास, जल आदिके द्वारा पालन-पोषण करना यहाँ भोजन-वस्त्रादिसे शरीरका निर्वाह करना है। किंतु शरीरके द्वारा सांसारिक सुख, विषयभोग, ऐश-आराममें रस लेना—यह उस गायका दूध पीना है। इसलिये सांसारिक विषयभोगोंमें रस न लेकर केवल निष्कामभावसे इस शरीरकी रक्षाके लिये इसका पालन-पोषण करना भी निष्काम सेवा है।

देवताओंका पूजन दैवयज्ञ है, पितरोंका श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, अर्थ और भावको समझकर श्रुति-स्मृतिका अध्ययन ऋषियज्ञ है, अतिथिसेवा मनुष्ययज्ञ है तथा सारे भूतप्राणियोंकी सेवा भूतयज्ञ है। गृहस्थी मनुष्यके लिये इन पाँचों महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करना परम कर्तव्य है। इनका निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेपर उसका कल्याण हो जाता है। औरोंकी तो बात क्या, निःस्वार्थभावसे कुटुम्बका पालन-पोषण और सेवा करना तथा शरीरकी रक्षाके लिये शरीरका पालन-पोषण करना भी मुक्तिदायक हो सकता है। अपने कुटुम्ब और शरीरका पालन-पोषण करना मनुष्यता है। ऐसा किये बिना गृहस्थाश्रममें रहकर जीवित रहना व्यर्थ है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षके प्रति बतलाया है—

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन् न स जीवति॥
(महा० वन० ३१३। ५८)

'जो देवता, अतिथि, भरण करनेयोग्य कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचोंका पोषण नहीं करता, वह श्वास लेनेपर भी जीवित नहीं है अर्थात् मरे हुएके तुल्य है ।'

इसलिये गृहस्थी मनुष्यको मनुष्यताके नाते इन पाँचोंका तो भरण-पोषण अपनी शक्तिके अनुसार अवश्य करना ही चाहिये, किंतु मनुष्यको इनका पालन-पोषण करते हुए क्रियामें और उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले भोगोंमें भी रस नहीं लेना चाहिये। बल्कि अपनी सारी चेष्टा निष्कामभावसे करनी चाहिये । इस प्रकार कर्तव्य समझकर आचरण करते हुए निःस्वार्थभावपूर्वक सबकी सेवा करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है ।

शांकर वेदान्तमें अध्यात्म-साधनाका मार्ग

(लेखक—श्रीदेवव्रत सेन, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

भारतवर्षमें दर्शन और धर्मका सदासे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । यहाँ धर्म और दर्शनको एक दूसरेका परिपूरक नहीं बल्कि अङ्ग माना गया है । इसी कारण भारतीय दर्शनमें सर्वत्र यह विशेषता देखी जाती है कि वह केवल मानव-जीवनके चरम लक्ष्यकी ओर संकेत करके मौन नहीं हो जाता, अपितु उस लक्ष्यतक पहुँचनेके मार्गका निर्देश भी करता है । पाश्चात्त्य दर्शनसे यही उसका सबसे बड़ा अन्तर है । पाश्चात्त्य दर्शन तर्क-प्रधान होनेके नाते बुद्धिनिष्ठ है । उसका दृष्टिकोण भी बौद्धिक दृष्टिकोण है । उसमें धर्म या आचरणके लिये कोई स्थान नहीं । इसीलिये पाश्चात्त्य देशोंमें दर्शन केवल शिक्षित वर्गकी मानसिक विलासकी सामग्री रहा है और उन्हींतक सीमित रहा है । इसके विपरीत भारतवर्षमें दर्शन अपनी व्यावहारिकताके कारण सभी वर्गोंके लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट करता रहा और उनके लिये जीवनमें उपयोगी भी सिद्ध हुआ है । संसार अनित्य है, भवचक्र दुःखमय है, आत्मा इनसे अस्पृष्ट तत्त्व है—केवल इतना ही बतलाकर भारतीय दर्शन संतुष्ट नहीं रहता; अपितु अनित्य दुःखमय इस संसारसे मुक्त होनेके—आत्मज्ञान-प्राप्तिके उपायका भी निर्देश करता है[1] । कोई भी साधक यदि चाहे तो उस मार्गका अनुसरण कर उस दर्शनमें निर्दिष्ट लक्ष्यतक पहुँच सकता है ।

भारतीय दर्शनकी दूसरी विशेषता उसकी अनुभवनिष्ठता है । भारतीय दर्शनमें जिन तथ्योंका वर्णन आया है, वे सब ऋषि तथा मनीषियोंद्वारा उपलब्ध तथ्य हैं[2] । कोई भी इन तथ्योंका स्वयं अनुभव करके सत्यताकी परीक्षा कर सकता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय दर्शनमें युक्ति-तर्कका सर्वथा अभाव है । युक्ति-तर्ककी कोई कमी नहीं है, अनुभवलब्ध तथ्योंकी पुष्टिके लिये तथा बुद्धिजीवी मनुष्यके सम्मुख उन्हें अधिक बोधगम्य बनानेके लिये एवं बुद्धिको संतुष्ट करनेके लिये युक्ति-तर्कका उपयोग किया गया है । लेकिन फिर भी सर्वत्र उपलब्धिपर अधिक बल दिया गया है[3] ।

प्रायः समस्त भारतीय दर्शनको निगम अर्थात् वेद-उपनिषद् आदि तथा आगमसे उद्भूत माना जाता है। लेकिन दृष्टिकोणके भेदसे भारतीय दर्शन प्राचीनकालसे ही नाना शाखाओं और प्रशाखाओंमें विभक्त हो गया । इन शाखाओंमेंसे एक प्रशाखा आदि-शंकर-प्रवर्तित अद्वैत वेदान्तकी है, जो अपनी उदात्त भावनाओं और व्यावहारिकताके कारण कालान्तरमें अत्यन्त लोकप्रिय बन गयी । इसका केवल इस देशमें ही नहीं, प्रत्युत विदेशोंमें पर्याप्त प्रचार हुआ और आज भी यह लाखोंकी संख्यामें भारतीयों तथा विदेशियोंको आकृष्ट कर रही है ।

वेदान्त शब्दका शाब्दिक अर्थ है 'वेदोंका अन्त' या सिद्धान्त । वेदान्तमें वेदों तथा उपनिषदोंमें वर्णित सिद्धान्तोंका निचोड़ आ गया है। अतः इस दर्शनका 'वेदान्त' नाम

---

[1] भगवान् बुद्धके चार आर्य-सत्योंमें इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है।

[2] देखिये उपनिषदोंमें ऋषियोंकी उदात्त कण्ठसे घोषणा—···वेदाहमेतं पुरुषं परस्तात् नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

[3] तुलना कीजिये—नैषा तर्केण मतिरापनेया······(कठोप० १,

सार्थक है। वेदान्तके सिद्धान्तोंके प्रथम संग्राहक तथा प्रतिपादक बादरायण मुनिको कहा जाता है। वेदान्तसूत्रोंकी रचना कर उन्होंने इसको एक व्यवस्थित रूप दिया। इनके पहले भी कई वेदान्तके आचार्य हो गये हैं, जिनका प्रसंगतः उन्होंने उल्लेख किया है। वेदान्तसूत्रपर दस प्रसिद्ध टीकाएँ तथा भाष्य उपलब्ध हुए हैं, जो विभिन्न दृष्टिकोणसे भिन्न-भिन्न समयमें रचे गये। इनमेंसे सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय टीका आदि-शंकराचार्य-कृत है, जो 'शारीरक भाष्य'के नामसे प्रसिद्ध है। शंकराचार्यका समय कुछ विद्वानोंने आठवीं शताब्दीका अन्तिम भाग निश्चित किया है। उन्होंने सारे भारतवर्षमें घूम-घूमकर मीमांसकों और बौद्धों, जिनका उस समय बोलबाला था तथा अन्य दर्शनोंका खंडन कर अद्वैत-वेदान्तका प्रचार किया। यद्यपि वे केवल ३२ वर्ष ही जीवित रहे, किंतु इतनी स्वल्पायुमें उन्होंने वैदिक धर्मके लुप्त वैभव और प्रतिष्ठाके प्रसारके लिये जो कार्य किया, वह अतुलनीय है। उन्होंने स्वयं लिखनेका कार्य उतना अधिक नहीं किया, जितना कि वैदिक दर्शनके उद्धार तथा प्रचारका किया। उनके चार प्रधान शिष्य भी उतने ही मेधावी और विद्वान् निकले, जिन्होंने वेदान्तको उत्कर्षता प्रदान की। ये शिष्य थे—सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, हस्तामलक और त्रोटकाचार्य, जो क्रमशः रामेश्वर-क्षेत्रके श्रृंगेरी, पुरुषोत्तम-क्षेत्रके गोवर्धन, द्वारकाधामके शारदा और उत्तरके ज्योतिर्मठके मठाधीश थे। इस प्रकार गुरु-परम्परासे अद्वैत-वेदान्तका विकास हुआ और कालान्तरमें विशाल साहित्यका सृजन हुआ।[4]

वेदान्तके अनुसार मानव-जीवनका चरम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या आत्माकी साक्षात् अनुभूति है। उपनिषदोंमें सर्वत्र आत्म-साक्षात्कारपर जोर दिया गया है—

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति।
>
> (बृह० उप० २ । ४ । ५)

इसका क्या कारण है? साधारणतया हम जिसे आत्माके रूपमें जानते हैं, जो हमारे अहं-प्रत्ययके मूलमें है, उसके बारेमें यदि विचार किया जाय तो यह पता चलेगा कि वह आत्मा नहीं है, बल्कि उससे भिन्न अनात्मा है। आत्मा अखण्ड और एक है, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्त-सत्य-स्वभाव है। वह सर्वदा द्रष्टा और साक्षी है, ज्ञानका अविषय है[5]। व्यावहारिक जीवनमें हम आत्माके स्वरूपसे अनभिज्ञ होते हैं, इसलिये अनात्माको आत्मा मानकर व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं। हमारे दुःख-कष्टका यही कारण है। आत्मा तो सदा रहनेवाला, सदा मुक्त अविकारी तत्त्व है जो जरा-मृत्यु, सुख-दुःखसे अतीत है। उसका स्वरूप अनादिकालसे चले आनेवाले अज्ञानसे ढका हुआ है। इस अज्ञानको ही हमें दूर करना है। अज्ञानका आवरण हटते ही स्वयंप्रकाश आत्माका स्वरूप प्रकट हो जायगा, तुरंत उसका साक्षात् अनुभव हमें हो जायगा। आज हमें जो दुःख-कष्टसे पीड़ित, संसरणशील और बहुके रूपमें प्रतीत हो रहा है, वही अज्ञानका आवरण हटते ही द्वन्द्वरहित अद्वैत ब्रह्मके रूपमें अनुभूत होने लगेगा। तब भवचक्र भी नहीं रहेगा, प्रपञ्च-भाव भी उसी तरह तिरोहित हो जायगा जैसे प्रकाशके सामनेसे अन्धकार तत्काल सर्वथा विलुप्त हो जाता है। इस अज्ञानके आवरणको दूर करना कोई सरल कार्य नहीं है। इसे हटानेके लिये बहुत प्रयत्न तथा तैयारीकी आवश्यकता है जो शायद ही सबके लिये एक जीवनमें सम्पन्न करना सम्भव हो।

वेदान्त यह तो स्वीकार करता है कि उपर्युक्त लक्ष्यकी प्राप्ति सभीको एक-न-एक दिन होगी, लेकिन सभी एक समयमें इसके लिये अधिकारी नहीं हो सकते। अधिकारी बननेके लिये, साधन-मार्गमें यात्रा प्रारम्भ करनेके लिये कुछ गुणोंका संनिवेश आवश्यक है। कुछ तैयारीकी आवश्यकता है। साधारण जीवनमें भी यह देखा जाता है कि गुरुके पाससे विद्या प्राप्त करनेके लिये शिष्यको उसके उपयुक्त बनना पड़ता है, कुछ प्रस्तुतिकी आवश्यकता होती है। यही बात आत्मज्ञानके क्षेत्रमें भी कही जा सकती है। जिन गुणोंका समावेश अधिकारीमें आवश्यक है, उन्हें दो श्रेणीमें विभाजित किया जा सकता है। कुछ गुण तो बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं और कुछ नैतिक गुण हैं जिनका सम्बन्ध आचरणसे होता है। अधिकारीके लिये समस्त वेदोंका आपाततः अर्थ-

---

[4] विस्तृत विवरणके लिये देखिये महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजद्वारा लिखित हिंदीमें अनुवादित शांकरभाष्यकी भूमिका (अच्युत, काशी, वर्ष ३, अङ्क ४ वैशाख पूर्णिमा १९९१)।

[5] तुलना कीजिये—स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता। (श्वेताश्वतर उपनिषद् ३, १९)।

बोध आवश्यक बतलाया गया है[६]। वैदिक साहित्यका वेदाङ्गोंकी सहायताके बिना अध्ययन सम्भव नहीं, अतः वेदाङ्गोंके साथ वेदोंके अध्ययनका विधान वेदान्तमें दिया गया है। ऐसा करनेसे बुद्धिके लिये गुरूपदिष्ट तत्त्वज्ञानके ग्रहणकी एक पृष्ठभूमि-सी बन जाती है और बादमें उसका ग्रहण सुकर हो जाता है। यहाँ यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि साधनाके लिये इसे उतना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नहीं कहा जा सकता, जितना कि शास्त्राध्ययनके लिये।

लेकिन नैतिक गुणोंके बारेमें यह बात नहीं। नैतिक गुणोंका अर्जन सभी साधकोंके लिये आवश्यक है। ऐसा करनेसे आधार कल्मषमुक्त होता है। साधकके लिये निषिद्ध तथा काम्य कर्मोंका परित्याग आवश्यक बतलाया गया है। काम्य-कर्म सकाम कर्मोंको कहते हैं जैसा कि नामसे स्पष्ट है। उनके अनुष्ठानसे आसक्ति-वासना बढ़ती है, अतः चित्त-की शुद्धिके लिये उनका परित्याग आवश्यक है। इसी प्रकार शास्त्रमें जिन कर्मोंका निषेध किया गया है, जिन्हें पापकर्म समझा जाता है, उनका परित्याग भी साधकके लिये आवश्यक कहा गया है। लेकिन कर्मोंका सर्वथा परित्याग तो शरीरधारी प्राणीके लिये असम्भव है, इसलिये वेदान्त कर्मपरित्यागका उपदेश न देकर कर्म-संन्यासका उपदेश देता है। साधकके लिये नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त कर्मोंका करना आवश्यक बतलाया गया है। नित्य कर्मोंसे अभिप्राय उन कर्मोंसे है जो सभीको नित्य करना चाहिये, जैसे शौच-संध्या-वन्दनादि। इनके करनेसे चित्त मलिन नहीं होने पाता। इसी प्रकार नैमित्तिक कर्म भी अवश्य-कर्तव्य है। नैमित्तिक कर्मोंसे मतलब उन कर्मोंसे है जो किसी निमित्तवशात् किये जायँ, जैसे विभिन्न प्रकारके व्रतादि। प्रायश्चित्त-कर्म भी दैनन्दिन जीवनके पापके धुलनेके लिये किये जाने चाहिये। इन कर्मोंके अनुष्ठानसे आधारकी शुद्धि होती है, उसमें आत्मज्ञान धारण करनेकी क्षमता आ जाती है।

इसके अलावा साधकको साधनाके मार्गमें यात्रा प्रारम्भ करनेसे पहले चार प्रकारके साधनोंसे सम्पन्न होनेको कहा गया है। ये साधन हैं—नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेक, इहलौकिक तथा पारलौकिक विषयभोगके प्रति वैराग्यकी भावना, शमादि छः नैतिक गुणोंका समावेश और मोक्षके लिये तीव्र इच्छा[७]। इनमेंसे प्रत्येकका हम क्रमशः विवेचन करेंगे।

प्रत्येक साधकको साधारण रूपसे यह बोध होना चाहिये कि परिवर्तनशील इस संसारमें एकमात्र ब्रह्मरूप परमतत्त्व ही नित्य वस्तु है, जिसका कभी भी अभाव या नाश नहीं होता। वास्तवमें यह देश-कालसे अतीत तत्त्व है। इसके विपरीत संसारकी सभी वस्तुएँ विकारी तथा विनाशी हैं। नित्य वस्तुका अनित्य वस्तुसे बौद्धिक भेद कर सकना—यही नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकरूप प्रथम साधन है। यद्यपि वास्तविक विवेक ज्ञान तो तत्त्वसाक्षात्कारसे ही सम्भव है, लेकिन साधारणरूपसे इसका बौद्धिक ज्ञान इससे पहले भी हो सकता है।

ऐहिक तथा पारलौकिक विषय—जैसे सांसारिक भोग्य-वस्तु तथा स्वर्गादिके प्रति मनुष्यकी जो स्वाभाविक लालसा होती है, उसे दूर करना साधकका अवश्य-कर्तव्य है। इसके लिये साधकको भोग्यवस्तुओंके प्रति, चाहे वे इस लोकसे सम्बन्ध रखती हों चाहे परलोकसे, अनित्य समझकर उनके प्रति वैराग्यकी भावना या उदासीनताकी भावना उत्पन्न करनी होती है। ऐसा करनेसे चित्तकी चञ्चलता पर्याप्त सीमा तक दूर होती है। उसमें परमतत्त्वके धारण करनेकी क्षमता आ जाती है।

शमादि छः गुण हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। शम और दमका सम्बन्ध मन तथा इन्द्रियोंके वशमें करनेसे है। मनको वशमें करना 'शम' कहलाता है। बाह्य-ज्ञानेन्द्रियोंको विषयकी ओर जानेसे रोकनेको 'दम' कहते हैं। यह साधकके लिये अवश्य-कर्तव्य है। उपरतिसे अभिप्राय अवदमित इन्द्रियोंको पुनः वशीभूत करना है; क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि भोगतृष्णा दूर हो जानेपर भी वासनाके रूपमें उसका संस्कार अवशिष्ट रह जाता है, जिससे इन्द्रियोंके पुनः चञ्चल हो जानेकी आशंका बनी रहती है। अतः उपरति आवश्यक हो जाती है। तितिक्षाका अर्थ है—सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति, यथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान आदिके सहन करनेका सामर्थ्य। साधकको अपने अंदर इस गुणको उत्पन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिये, ताकि किसी भी परिस्थितिमें चित्तका संयम नष्ट न हो सके। मनको एकाग्र बनाकर एक विषयमें निबद्ध करना समाधान या समाधि

---

[६] देखिये—वेदान्तसार। सदानन्द पृ० १ (पूना-संस्करण)

[७] वेदान्तसार। सदानन्द पृ० १ (पूना-संस्करण)

कहलाता है। साधकके लिये यह भी एक आवश्यक गुण है जिसके विना चित्त विक्षिप्त होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जायगा। सद्गुरुके वाक्यमें विश्वास रखना, श्रद्धापूर्वक उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गका अनुकरण करना साधकका धर्म है। साधनाकी प्रथमावस्थामें इनके विना काम चल ही नहीं सकता। यदि मन सर्वदा संशयाकुल रहे उस आदर्शके प्रति, जिसका कि गुरु निर्देश करता है; यदि साधककी आस्था न हो तो वह लक्ष्यतक पहुँच ही न सकेगा।

इसी प्रकार साधकमें मोक्षके लिये तीव्र इच्छा भी आवश्यक है। यदि किसीको यह जगत् सुखद और शान्तिमय प्रतीत हो रहा हो तो क्यों उसे साधनाके कठिन कष्टबहुल मार्गमें चलनेकी इच्छा होगी। आत्मज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा तो उन्हें ही हो सकती है, जो संसाररूपी अनलमें जल-भुन चुके हों, जिन्हें रोग-शोक-जराग्रस्त संसारने इससे छुटकारा पानेके लिये व्याकुल कर दिया हो। वास्तवमें मोक्षेच्छा ही साधकको साधनाके पथपर चलनेके लिये प्रेरित करती है।

इस प्रकार जब साधक अपने प्रयत्नोंसे अपने आधार अर्थात् शरीरको आत्मज्ञान-प्राप्तिके साधनमें सर्वथा उपयुक्त बना लेता है और जब वह संसारके दुःख-कष्टोंसे जर्जरित होकर अनित्य दुःखमय संसारसे मुक्त होनेके लिये व्याकुल हो उठता है, तब उसे अपने-आप ही सद्गुरुके दर्शन मिलते हैं। जिस प्रकार साधक सच्चे मार्गको दिखलानेवाले सद्गुरुके दर्शनके लिये उन्मुख रहता है, उसी प्रकार सद्गुरु भी सच्चे शिष्यकी खोजमें रहते हैं, जिसमें वे आत्मज्ञानका उदय करा सकें। आध्यात्मिक जगत्का कुछ ऐसा ही नियम है कि सत्यकी खोजमें व्याकुल साधकको सत्यद्रष्टा गुरु साधन-मार्गमें रास्ता दिखलानेके लिये मिल ही जाते हैं। कोई भी ज्ञानी सद्गुरु नहीं हो सकता। सद्गुरु वही है, जिसकी ब्रह्ममें स्थिति हो गयी हो और जिसमें दूसरोंको मार्ग दिखलानेका सामर्थ्य भी आ गया हो। ब्रह्मविद् तो कोई भी हो सकता है; किंतु सभी सद्गुरु नहीं हो सकते।[८] सद्गुरु वास्तवमें कुछ चुने हुए महापुरुष होते हैं, जो दोनों जगत्—आध्यात्मिक और लौकिकके बीच सेतुका काम करते हैं। उनका दोनों जगत्से सम्बन्ध होता है और वे आभ्यन्तर किसी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर रास्ता दिखलानेका पुण्य कार्य करते हैं।

सद्गुरु कभी किसीको आत्मज्ञान दे नहीं सकते; क्योंकि आत्मज्ञान देनेकी वस्तु या संचारित करनेकी चीज नहीं है। आत्मज्ञान आवृतरूपमें सभीमें विद्यमान है। सद्गुरु केवल अज्ञानके आवरणको हटाकर शिष्यको उसका साक्षात्कार मात्र कराते हैं। दीक्षाका यही रहस्य है। कहा भी है—'दीयते ज्ञानसद्भावं क्षीयते कर्मवासना।'[९] आत्माका जो ज्ञान या बोध शिष्यको गुरूपदेशके सुननेसे (जिसे श्रवण कहा गया है) होता है, वह आत्मज्ञानप्राप्तिकी चरम सीमा नहीं है; क्योंकि उस अवस्थामें केवल उसका अस्पष्ट आभासमात्र होता है। उसे अधिगत करनेके लिये शिष्यको स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। गुरु केवल अज्ञानके आवरणको थोड़ा-सा हटाकर उस लक्ष्यका दर्शनमात्र करा देते हैं। अब यह शिष्यके प्रयत्नोंपर निर्भर है कि वह अपनी साधनासे उस लक्ष्यतक पहुँचे। इसीलिये मनन और निदिध्यासनपर इतना जोर दिया गया है। गुरु केवल 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश देता है। तत्त्वद्रष्टा ब्रह्मनिष्ठ गुरुमुखसे निकलनेके कारण यह वाक्य ऐसा वाक्य नहीं होता, जिससे केवल शब्दार्थका ही बोध होता हो, वरं इसके सुननेके साथ-साथ शिष्यको तत्त्वका साक्षात् अनुभव भी होता है। इस अनुभूतिको स्पष्ट और आत्मीय बनानेके लिये मनन करना पड़ता है। मननका अर्थ है—अनुकूल तर्कके द्वारा निरन्तर चिन्तन। अनवरत चिन्तन बुद्धिका व्यापार है, बुद्धिमें ही अज्ञानका आवरण रहता है, जिसे आत्मसाक्षात्कारके लिये साधकको दूर करना है। निरन्तर चिन्तनसे अज्ञानका आवरण क्रमशः क्षीण पड़ता जाता है। अन्तमें एक ऐसी अवस्था आती है कि बुद्धि-वृत्ति केवल

---

[८] इसी प्रकारके विचार बौद्धदर्शनमें भी मिलते हैं। वहाँ भी दो आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं, अर्हत और बोधिसत्त्व। अपने प्रयत्नोंसे कोई भी अर्हत हो सकता है, लेकिन बोधिसत्त्व-पद प्राप्त करनेका अधिकार केवल चुने हुए कुछ व्यक्तियोंको ही होता है। इसी प्रकार जैन-दर्शनके अनुसार भी तीर्थंकर-पद केवल कुछ चुने हुए साधकोंको ही प्राप्त होता है। आगमोंमें विशेषकर वैष्णव-आगममें तथा कैथोलिक क्रिश्चियन धर्ममें भी इस तरहके विचार स्पष्ट मिलते हैं।

[९] काश्मीरके शिवाद्वैतमतमें दीक्षाका यह व्युत्पत्तिगत अर्थ किया गया है।

गुरूपदिष्ट तत्त्वज्ञानको लेकर ही उठती है । इससे भिन्न किसी अन्य वस्तुको आलम्बन कर बुद्धि-वृत्ति होती ही नहीं । इसे ही निदिध्यासन कहते हैं । इसकी विकसित अवस्थाका नाम समाधि है । समाधि दो प्रकारकी कही गयी है । सविकल्पक तथा निर्विकल्पक । सविकल्पक समाधि वह अवस्था है जब कि साधकको यह बोध रहता है कि वह ज्ञाता है, आत्मा ज्ञेय विषय है और उसे यह ज्ञान हो रहा है अर्थात् उस अवस्थामें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय यह त्रिपुटी विलीन नहीं होती । इस अवस्थामें अज्ञान सर्वथा विलुप्त नहीं हो जाता । उसका संस्कार अवशिष्ट रह जाता है । इसलिये उस समय साधकको यह बोध होता है कि मैं ब्रह्म हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि' । इस प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य मनन और निदिध्यासनके द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस अनुभवमें बदल जाता है । इसी समय साधकको 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म', 'अयम् आत्मा ब्रह्म'—ये अनुभूतियाँ भी होती हैं । निर्विकल्पक समाधिमें यह बोध भी नहीं रहता । उस समय अज्ञानके लेशमात्र भी न रहनेके कारण बुद्धि लयप्राप्त हो जाती है, अनुभूतिका कोई साधन ही नहीं बचता । उस समग्रकी अवस्था अनुभवगम्य होनेके कारण अवर्णनीय है । इस अवस्थातक पहुँचनेके लिये साधकको कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता है, जिन्हें अष्टाङ्ग योग कहते हैं । ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि । चूँकि ये सुविदित नियम हैं, इसलिये यहाँ सविस्तर व्याख्याकी आवश्यकता नहीं । ये व्यावहारिक नियम हैं जिनके पालन करनेसे चित्तको एक विषयमें निबद्ध करनेमें सरलता होती है, अतः उनका पालन साधकके लिये आवश्यक माना गया है । जिस क्रमसे उनका उल्लेख किया गया है उसी क्रमसे उनका पालन करना पड़ता है । उसमें सोपान-जैसा क्रम है ।

सविकल्पक अवस्थामें साधकको जगत्का भान होता है; किंतु द्वैतरूपमें नहीं, अद्वैतरूपमें प्रतीति होती है । समस्त जगत् ब्रह्ममय प्रतीत होता है । उसका शरीर उस अवस्थामें रहता है । व्युत्थानके समयमें वह जगत्का व्यवहार भी करता है । इस समय वह 'जीवन्मुक्त' हो जाता है । निर्विकल्पक समाधि अवस्था प्राप्त करनेपर उसका शरीरपात हो जाता है और उसे विदेहमुक्ति प्राप्त हो जाती है । यही जीवनका चरम लक्ष्य है । यही जीवनरूपी यात्राकी चरम सीमा है ।

प्रार्थना

(रचयिता —श्रीराजेन्द्रप्रसादजी, एम्० ए०, साहित्यालङ्कार)

दीनबन्धु ! दीनोंको तुमने युग-युग दिया सहारा ।
मेरे-जैसे महादीनको कैसे नाथ ! बिसारा ? ॥
भवसागरमें गिरे जनोंको नौका नाम तुम्हारा ।
दीख न पड़ता मुझको भगवन् ! उसका कोर-किनारा ॥
सुखकी मृगतृष्णाके पीछे जीवन व्यर्थ गुजारा ।
जीवन-पथपर भटक रहा हूँ व्यर्थ प्रयत्न हमारा ॥
दयासिन्धु ! दीनोंने जब जब तुमको कभी पुकारा ।
दौड़े आये शीघ्र वहाँपर किया दुःखसे न्यारा ॥
दीनबन्धु कहलाते आये, यह है सुयश तुम्हारा ।
करुणामय ! सुन करुण प्रार्थना पकड़ो हाथ हमारा ॥

श्रीराधाका स्वरूप और महत्त्व

(श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सवपर गीतावाटिका, गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारके दो भाषण)

[प्रथम—दिनमें]

मञ्जुस्वभावमधिकल्पलतानिकुञ्जं
व्यञ्जन्तमद्भुतकृपारसपुञ्जमेव ।
प्रेमामृताम्बुधिमगाधमबाधमेतं
राधाभिधं द्रुतमुपाश्रय साधु चेतः ॥
पीतारुणच्छविमनन्ततडिल्लताभां
प्रौढानुरागमदविह्वलचारुमूर्तिम् ।
प्रेमास्पदं व्रजमहीपतितन्महिष्यो-
र्गोविन्दवन्मनसि तां निदधामि राधाम् ॥

शक्तिमान्के साथ शक्तिका नित्य, अभिन्न तथा अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। अतएव भगवान्की ह्लादिनीरूपा स्वरूपाशक्ति श्रीराधाजी भगवान्में कालकल्पनातीत कालसे ही अभिन्नभावसे स्थित हैं और सदा रहेंगी। साथ ही ये पृथक् मूर्तरूपसे भी नित्य लीलायमान हैं। जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका इस पुण्यभूमिमें आविर्भाव होता है, तब वे भी लीलाके लिये प्रकट हुआ करती हैं। इस बार भी गत द्वापरके अन्तमें गोपराज श्रीवृषभानु और श्रीकीर्तिदा रानीके घर इनका मङ्गल-प्राकट्य हुआ था—भाद्रपद शुक्ल ८ चन्द्रवारको मध्याह्नके समय अनुराधा नक्षत्रमें। श्रीवृषभानु-कीर्तिदा पूर्वजन्ममें राजा सुचन्द्र तथा रानी कलावतीके नामसे प्रसिद्ध थे। इन दोनोंने दीर्घ कालतक तप करके ब्रह्माजीसे यह वरदान प्राप्त किया था कि 'द्वापरके अन्तमें स्वयं श्रीराधा तुम दोनोंकी पुत्री होंगी।' श्रीराधाजीका मङ्गलमय प्राकट्य उनके ननिहालमें कालिन्दीतटपर स्थित रावल-ग्राममें हुआ था। प्राकट्यके समय अकस्मात् प्रसूतिगृहमें एक ऐसी दिव्य प्रखर ज्योति फैल गयी कि जिसके तेजसे अपने-आप ही सबकी आँखें मुँद गयीं। इसी समय ऐसा भान हुआ मानो देवी कीर्तिदाके प्रसव हुआ है। पर प्रसवमें केवल हवा निकली और जब कीर्तिदा तथा समीपमें स्थित श्रीगोपाङ्गनाओंके नेत्र खुले तो उनको दिखायी दिया कि वायुमें कम्पन-सा हो रहा है और उसमें सहसा एक परम सुन्दर दिव्य लावण्यमयी बालिका प्रकट हो गयी है। कीर्तिदाने यही समझा कि इस परम दिव्य ज्योतिर्मयी कन्याका जन्म मेरे ही उदरसे हुआ है। उन्होंने मन-ही-मन दो लाख गो-दानका संकल्प किया। अन्तरिक्षसे सुर-समुदायने इतने सुगन्धित सुन्दर सुकोमल सुर-सुमनोंकी वर्षा की कि चारों ओर ढेर-के-ढेर वे पुष्प स्वयं ही सुन्दर ढंगसे सुसज्जित हो गये। सब दिशाओंमें एक अभूतपूर्व आनन्दकी धारा बहने लगी। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्राकट्यके समय जो आनन्द-रसकी धारा बही थी, आज उनकी आनन्द-रस-भावमयी इन हृदयेश्वरीके प्राकट्यके समय वही रस मानो समुद्र बनकर उमड़ चला और सभी दिशाएँ उस आनन्द-रससे आप्लावित हो गयीं।

नन्द-यशोदाके घर प्रकट हुए थे जब राधाप्रिय श्याम।
हुई प्रवाहित थी तब रस-आनन्द-सुधा-सरिता अभिराम ॥
आज श्यामकी हृदयवल्लभा प्रकट हुईं जब रावल-ग्राम।
उमड़ चला वह रस सागर बन प्लावित कर सब दिशा ललाम ॥

फिर, सभी दिशाएँ जयध्वनिसे गूँज उठीं, ऋषिवर करभाजन, शृंगी, गर्ग और मुनि दुर्वासा पहलेसे ही पधारे हुए थे। उन्होंने बालिकाके मङ्गल ग्रह-नक्षत्रोंका शोध किया और कुण्डली बनायी। सम्पूर्ण व्रज-मण्डलमें यह शुभ समाचार फैल गया। महाभाग नन्द-यशोदा सदल-बल उपहार लेकर पधारे। घर-घर बधाइयाँ बँटने लगीं। देवर्षि नारद आये और आनन्दरसमयी श्रीराधिकाका दर्शन-स्तवन करके कृतार्थ हो गये।

श्रीराधाके सम्बन्धमें इधर कुछ विशेष चर्चा होने लगी है। देशमें स्थान-स्थानपर राधाष्टमी-महोत्सव मनाये जाने लगे हैं। राधा-साधनाके लिये भी विभिन्न स्थानोंपर विभिन्न प्रकारकी संस्थाओंका निर्माण हुआ है। ये सब शुभ लक्षण हैं। पर साथ ही शोधकर्ता तथा साहित्यिक महानुभावोंके द्वारा भी इधर बहुत कुछ लिखा जाने लगा है। शोधकर्ता महोदय राधाकी ऐतिहासिकतापर विचार करते हुए पहलेसे ही कल्पना-काननमें विचरण करने लगते हैं। 'अवतारवादकी कल्पना कबसे हुई? श्रीकृष्णको अवतार माननेकी कल्पना कबसे हुई? श्रीकृष्णकी भगवान्के रूपमें कबसे पूजा होने लगी?' इत्यादि। मानो अवतार, श्रीकृष्णका भगवान् होना, उनकी पूजा—ये सभी कल्पना-प्रसूत ही हैं, वास्तविक नहीं। कितने वर्ष पुराने किस ग्रन्थमें श्रीकृष्णका

नाम आता है, किसमें राधाका नाम आता है, इसकी खोज होती है और यदि किसी पुराने ग्रन्थमें श्रीकृष्ण या राधाका नाम मिल गया तो ये या तो निस्संकोच यह कह देते हैं कि वह ग्रन्थ ही आधुनिक है, पुराना नहीं; अथवा उसमें जो श्रीकृष्ण या राधाको लेकर प्रसंग आये हैं, वे प्रक्षिप्त हैं, पीछेसे जोड़े गये हैं।

शोधकर्ताओंकी शोधका नमूना देखिये—'देवोपासनाकी प्रवृत्ति हुई, देवता शक्तिके बिना निर्बल प्रतीत होने लगे; इसलिये देवताओंकी शक्तिकी भी कल्पना की जाने लगी। इस तरह कृष्णके साथ भी उनकी शक्तिकी आवश्यकता हुई और कृष्णोपासकोंको जब रुक्मिणी, सत्यभामासे संतुष्टि नहीं हुई, तब राधाका आविष्कार हो गया……। धर्म और साहित्यके माध्यमसे कृष्णका परिचय तो पहलेसे था, राधाका कालान्तरमें हुआ। राधाका नाम महाभारत, हरिवंश, श्रीमद्भागवत आदिमें नहीं है। पद्मपुराणमें है। इसलिये राधा सर्वथा काल्पनिक हैं।'

इन महानुभावोंको यह ज्ञात होना चाहिये कि इन ग्रन्थोंमें यशोदाके सिवा किसी भी गोपीका नामोल्लेख नहीं है, तब राधाका ही कैसे होता? पद्मपुराणमें स्पष्ट है ही, पर पद्मपुराणके लिये ये कहते हैं कि 'प्रथम तो पद्मपुराण ही पुराना नहीं, इसकी रचना छठी या आठवीं शताब्दीके आस-पास हुई होगी। पर उस समय भी राधाकी प्रसिद्धि नहीं थी, इससे राधाके सम्बन्धमें जो कुछ पद्मपुराणमें उल्लेख है, वह सब अवश्य ही पीछेसे जोड़ा गया है।' मत्स्यपुराणमें राधाका उल्लेख है, पर उसको शोधकर्ता लोग प्रामाणिक नहीं मानते। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें बहुत स्पष्ट वर्णन है। उसके सम्बन्धमें ये कहते हैं कि 'ब्रह्मवैवर्तपुराणके सम्बन्धमें उनका संशय और अविश्वास सबसे अधिक है।' गाथा-सप्तशतीमें राधाका स्पष्ट नाम आया है, वह कुछ पुरानी भी है। अतः उसमें आये हुए इस प्रसङ्गको भी ये प्रक्षिप्त और पीछेसे जोड़ा हुआ मानते हैं। श्रीजीव गोस्वामीने 'ऋक्-परिशिष्ट'की एक श्रुति अपने 'श्रीकृष्णसंदर्भ' में उद्धृत की है। वैष्णव दार्शनिक श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपनी 'प्रमेयरत्नावली'में अथर्ववेदीय श्रुतिका मन्त्रांश उद्धृत किया है। इन दोनोंमें ही 'राधा' नामका स्पष्ट उल्लेख है। पर इनको भी ये प्रक्षिप्त कह देते हैं।

महाभारतके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीनीलकण्ठजीने 'मन्त्रभागवत'में ऋग्वेद (३।३३।१२) के मन्त्रका 'राधा'परक बहुत सुन्दर अर्थ किया है। और भी बहुतसे प्रमाण हैं, परंतु शोधकर्त्ता महानुभावोंका तो प्रायः इस एक निश्चित धारणाको लेकर ही शोधकार्यमें प्रवृत्त होना पाया जाता है कि "अवतारवाद कल्पना है, श्रीकृष्ण भगवान्के अवतार नहीं थे, उनके अवतारकी कल्पना तथा उनकी उपासना किसी कालविशेषमें प्रचलित हुई है, 'राधा' की कल्पना अत्यन्त आधुनिक है और वह सर्वथा मनगढ़न्त है।" और इसी धारणाको अपने शोधके द्वारा वे परिपुष्ट करते देखे जाते हैं, इसीलिये जहाँ कहीं किसी ग्रन्थमें उनको इनके नाम मिल जाते हैं, तो ये उस ग्रन्थ या प्रसङ्गको ही अत्यन्त आधुनिक, काल्पनिक या प्रक्षिप्त मानकर छोड़ देते हैं। उसपर विचार ही नहीं करते। कुछ सज्जन शायद विचार करते भी होंगे और घरमें व्यक्तिगत रूपमें शायद मानते-पूजते भी होंगे, पर लिखेंगे तो ऐसा ही!

ये उन वेद-वेदाङ्गपारङ्गत, भगवत्प्राप्त, प्रातःस्मरणीय आचार्य, महात्मा और दार्शनिक विद्वान्—जैसे सर्वमान्य अद्वैत-वेदान्ताचार्य श्रीशंकराचार्य, वैष्णवाचार्य श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, प्रेमावतार श्रीचैतन्यमहाप्रभु, आचार्य श्रीहितहरिवंशजी, गोस्वामी श्रीसनातन, रूप और जीव तथा ऐसे ही अनेक महानुभावोंकी वाणीको भी, जिन्होंने श्रीकृष्ण, राधा, गोपी आदिके नामों तथा लीलाओंका अपने ग्रन्थोंमें बार-बार स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख करके उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है और लोगोंको सर्वविध कल्याणके लिये उनकी भक्ति-पूजा-आराधना करनेकी आज्ञा तथा प्रेरणा की है—और जिनमेंसे बहुतोंको श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपीजनोंके साक्षात् दर्शनका भी सौभाग्य प्राप्त हो चुका है—अप्रामाणिक ही मानते हैं। इनके अपने अश्रद्धा-संशयपूर्ण तम-घन-मानसमें जो कल्पनाएँ होती हैं, उन असत् कल्पनाओंको ही कुछ ग्रन्थोंके नाम लेकर ये सत्यका चोला पहना देते हैं और संतों-महात्माओंके द्वारा अनुभूत सत्यका खण्डन करने लगते हैं। अपनी उन कल्पनाओंकी सत्यता प्रमाणित करनेके लिये भी वैसी ही असत् कल्पनाओंके आधारपर रचित साहित्यको प्रमाण मान लेते हैं। श्रीफर्कुहरने लिख दिया कि 'राधाकी उपासना ईसवी सन् ११००के आस-पास वृन्दावनमें प्रारम्भ हुई होगी और वहाँसे बंगाल आदि स्थानोंमें पहुँची

होगी' और एक बंगाली सज्जन डाक्टर श्रीशशिभूषण दासगुप्तके द्वारा 'श्रीराधाका क्रम-विकास' नामक एक पुस्तक लिखी गयी, जिसमें 'राधाकी कब, कैसे कल्पना हुई और कैसे-कैसे उसमें विकास होता गया'—इस विषयपर अपनी अनर्गल कल्पनाओंको लिपिबद्ध किया गया है। बस, नवीन शोधकर्त्ताओंके लिये ऐसे ही विचार या साहित्य उनके शोधका प्रधान आधार बन जाते हैं। मैं यह नहीं कहता कि इन सबकी नीयत बुरी थी। पर ये अविश्वासी हैं, श्रद्धारहित हैं, संशयात्मा हैं—यह तो निश्चित है; क्योंकि ये चलते ही हैं संदेहके संदिग्ध मार्गपर। और यह भी निश्चित है कि अश्रद्धालुका श्रम व्यर्थ हुआ करता है और श्रद्धासम्पन्नको ही यथार्थ ज्ञानकी उपलब्धि होती है। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २०)

'अश्रद्धापूर्वक किया हुआ होम, दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया जाय, सब असत् कहा जाता है और अर्जुन! न तो उससे यहाँ कोई लाभ होता है, न परलोकमें ही।' और—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'श्रद्धाके साथ पूर्णरूपसे प्रयत्नमें लगे हुए और इन्द्रियोंके संयमी पुरुषको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानको प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' अतएव सत्यके शोधकोंको चाहिये कि वे अपनी कल्पनाकी और संदिग्धहृदय लेखकोंकी अपेक्षा उन दैवी-सम्पदासम्पन्न, सत्यवादी संतों, महात्माओं, प्रेमियों तथा आचार्योंकी वाणीपर श्रद्धापूर्वक विशेष ध्यान दें और आस्था स्थापन करें, जिन्होंने श्रीकृष्ण-राधाका साक्षात्कार किया है, उनके यथार्थ तत्त्वको समझा है और उनकी ऐतिहासिकताका भी अपनी तपःपूत निर्मल दृष्टिसे निश्चित ज्ञान प्राप्त किया है। श्रद्धासम्पन्न साधक तथा प्रेमभक्तिसे आराधना करनेवालोंका तो एकमात्र यही कर्त्तव्य है कि वे अविचल और परम श्रद्धाके साथ अनुभवी महान् आचार्यों और भगवत्प्रेमको प्राप्त महापुरुषोंके अनुभवको ही सर्वथा सत्य, आदर्श, आदरणीय और अनुकरणीय मानकर परात्पर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके साथ ही उनकी नित्य स्वरूपाशक्ति श्रीराधाजीकी आराधना-उपासना कर सच्चे अर्थमें अपना जीवन सफल करें। वे न तो समालोचकोंके और अनर्गल लिखनेवाले अन्यान्य लेखकोंके विचारोंकी ओर ध्यान दें और न उनका खण्डन ही करें। उन्हें तो अवकाश ही नहीं मिलना चाहिये—अपने परमाराध्य भगवान् श्रीराधा-माधवके स्मरण, चिन्तन, अर्चन और सेवनसे।

शोधकों, समालोचकों, साहित्यिकों और कवियोंकी श्रीराधा उनके विचारानुसार तर्ककी कसौटीपर खरी उतरी हुई श्रद्धाकी मूर्ति हों, तर्कपर खरी न उतरती हों, ऐतिहासिक हों, कल्पनाप्रसूत औपन्यासिक हों या कवियोंके शृङ्गार-वर्णनकी साधन हों—कैसी भी हों, मेरा उनसे कोई विवाद नहीं है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आँखसे राधाके स्वरूपको देखें और उसपर आचार-विचार करें। उन सबके प्रति मैं नमस्कार करता हूँ। पर मैंने शुद्ध श्रद्धासे जो कुछ समझ पाया है और भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंने अनन्त कृपापूर्वक मुझ नगण्यको अपना जैसा जो कुछ परिचय प्रदान किया है, उसके अनुसार और विशेषकर श्रीराधामाधवकी अहैतुकी कृपासे मेरी दृष्टिमें—

१–श्रीकृष्ण परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् हैं।

२–श्रीराधा उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता उनसे नित्य अभिन्न नित्य शक्ति हैं।

३–श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीराधाका ही अनुसरण करनेवाली उन्हींकी कायव्यूहरूपा भगवान्‌की ही शक्तियाँ हैं।

४–श्रीकृष्णका, श्रीराधाका इस पुण्यभूमिपर आविर्भाव हुआ करता है। इस विगत द्वापरके अन्तमें भी अवश्य हुआ था, अतएव वे सर्वथा ऐतिहासिक स्वरूप भी हैं।

५–श्रीकृष्ण, श्रीराधा तथा श्रीगोपाङ्गनाओंका प्रेम सर्वथा कामगन्ध-लेशशून्य परम पवित्र है।

६–श्रीराधा तथा श्रीगोपाङ्गनाओंमें स्व-सुख-कामना-लेशकी गन्ध भी नहीं है। वे परमप्रेष्ठ श्रीकृष्णके सुख-साधनके रूपमें ही जीवन धारण करती हैं। उनका सर्वस्व श्रीकृष्णसुखके लिये ही सहज समर्पित है।

७–श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंकी लीला

लौकिक दीखनेपर भी सर्वथा अलौकिक है और दिव्य है तथा बिना उसका तत्त्व समझे सर्वांशमें अनुकरणीय नहीं है।

मुझे अपनी दृष्टिसे इस तत्त्व-सिद्धान्तमें तनिक भी संदेह नहीं है। पर मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि सब लोग, न जँचनेपर भी इसे मान ही लें। हाँ, यहाँ उपस्थित सभीसे मेरी यह विनीत प्रार्थना अवश्य है कि आज श्रीराधा-प्राकट्यके इस पवित्र अवसरपर वे सब लोग भी, उचित समझें तो मेरे उपर्युक्त निवेदनपर ध्यान देकर इसीके अनुसार अविचल, तीव्र और अनन्य श्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीराधामाधवकी आराधना-उपासनामें लगनेका निश्चय करें और तदनुसार साधन भी प्रारम्भ कर दें।

करौ कृपा श्रीराधिका विनवौं बारंबार।
बनी रहै स्मृति मधुर शुचि मंगलमय सुखसार॥
श्रद्धा नित बढ़ती रहै, बढ़ै नित्य बिश्वास।
अर्पण हों अवशेष अब जीवनके सब श्वास॥

श्रीराधारानीके श्रीचरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार।

(द्वितीय—रात्रिमें)

नमस्ते श्रियै राधिकायै परायै
नमस्ते नमस्ते मुकुन्दप्रियायै।
सदानन्दरूपे प्रसीद त्वमन्तः-
प्रकाशे स्फुरन्ती मुकुन्देन सार्धम्॥
अमन्दप्रेमाङ्कश्लथसकलनिर्बन्धहृदयं
दयापारं दिव्यच्छवि मधुरलावण्यललितम्।
अलक्ष्यं राधाख्यं निखिलनिगमैरप्यतितरां
रसाम्भोधेः सारं किमपि सुकुमारं विजयते॥

भगवान् नित्य सत्य परिपूर्ण परात्पर तत्त्वके रूपमें एक हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वही भगवान् विभिन्न विचित्र लीलाओंके भेदसे कहीं श्रीनारायण आदि विलास-परतत्त्वके रूपमें, कहीं श्रीराम-नृसिंहादि स्वांश-परतत्त्वरूपमें, कहीं अन्तर्यामी परमात्मा-परतत्त्वरूपमें और कहीं भेदरहित ब्रह्म-परतत्त्वरूपमें प्रकट हैं। भगवान् नित्य सच्चिदानन्द हैं। सत्-चित्-आनन्दरूपमें उनकी स्वरूपा-शक्तिका ही विलास है। वह स्वरूपाशक्ति ही संधिनी, संविद और ह्लादिनीके नामसे प्रकाशित है। भगवान्की ये स्वरूपाशक्ति अमूर्त और मूर्त दोनों रूपोंमें ही नित्य विद्यमान हैं। अमूर्त या भावरूपमें ये नित्य ही भगवान्में स्वरूपतः अन्तर्हित हैं और समूर्तरूपमें नित्य पृथक् लीलायमान हैं। वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान्का नित्य अभेद है। अतएव भगवान्की ह्लादिनी शक्ति भाव या अमूर्तरूपसे शक्तिमान् परात्पर तत्त्वमें नित्य ही वर्तमान है। यही भगवान्का निर्विशेष आनन्द-ब्रह्मरूप है। यहाँ परात्पर-तत्त्व भगवान् केवल 'ह्लादात्मा' हैं—आत्यन्तिक सुख-स्वरूप हैं और जहाँ स्वरूपानन्दरूपा यही ह्लादिनी शक्ति मूर्तरूपमें है, परात्पर-तत्त्व भगवान्से पृथक् प्रकट हैं, वहाँ भगवान् केवल 'ह्लादात्मा' या आत्यन्तिक सुखस्वरूप ही नहीं हैं, मूर्तिमती ह्लादिनीके द्वारा पृथक्रूपसे नित्य सेवित होनेके कारण वे स्वयं सुखस्वरूप होते हुए ही अनिर्वचनीय अत्यन्त मधुर दिव्य सुखका आस्वादन भी करते हैं तथा वितरण भी। 'ह्लादात्मापि ह्लादते ह्लादयति च।' यही हैं श्रीकृष्ण—यही है आनन्द-ब्रह्मके प्रतिष्ठास्वरूप परिपूर्णतम रसब्रह्म या समूर्त रसराज। और इनसे पृथक् मूर्तरूपमें प्रकट परम मधुर रसताको प्राप्त इनकी स्वरूपभूता जो ह्लादिनी शक्ति है, वही नित्य पूर्ण आनन्द-स्वरूपको भी आनन्द-रसास्वादन करानेवाली हैं—परिपूर्ण भाव या महाभावरूपा श्रीराधाजी।

'रस' और 'भाव' दोनों एक ही परात्पर-तत्त्वके स्वरूप हैं। परात्पर-तत्त्व नित्य भावसमन्वित—भाव-परिरम्भित है। इसी रसके प्रस्रवणसे नित्य-निस्सरित और प्रवाहित आनन्दधारासे ही अनन्त विश्वके अनन्त आनन्द-वैचित्र्यका विकास है। जो इस प्रकार समस्त भावों और समस्त रसोंके मूल हैं, वे ही महाभाव-परिरम्भित रसराज आनन्दमयी श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपसुन्दरियोंसे परिवेष्टित अखिल-रसामृतमूर्ति सच्चिदानन्द-विग्रह द्विभुज मुरलीमनोहर श्रीकृष्ण हैं और वे ही वस्तुतः सत्-शास्त्रों, महान् मनीषियों और सर्वोच्च स्तरपर पहुँचे हुए महात्मा प्रेमियोंके द्वारा सेव्य परम-तत्त्व हैं।

जैसे एक मूर्तिमान् रसराज श्रीकृष्णके द्वारा ही समस्त रसोंका अस्तित्व और प्रकाश है, वैसे ही एकमात्र मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधाके द्वारा ही अमूर्त-समूर्त सभी भावोंका विकास और विस्तार है तथा उन-उन विभिन्न भावोंके अनुसार ही तदनुरूप रसतत्त्वका ग्रहण होता है। एक ही विद्युत्-ज्योति विविध-विभिन्न वर्णोंके बल्बों—विद्युत्-प्रकाश्य-आधारोंके सम्पर्कमें आकर जैसे विभिन्न वर्णवाली दिखायी देती है, वैसे ही एक ही भाव विभिन्न आधारोंके द्वारा उन-उनके अनुकूल रसतत्त्वका अनुभव

करवाता है। एक ही रसका जो विभिन्न रूपोंमें आस्वादन है, उसमें आधार-भेदकी यह भाव-विभिन्नता ही कारण है। वैकुण्ठ आदिकी श्रीलक्ष्मी आदि, द्वारकाकी पट्टमहिषी आदि और विभिन्न-भावसमन्विता श्रीगोपाङ्गनाएँ—सभी इन मूल-महाभावरूपा ह्लादिनी (राधा) के ही विभिन्न विचित्र विकास हैं। इनमें गोपीभाव परम और चरम त्यागमय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ है।

धर्म सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकारका होता है, जिसमें दूसरी वस्तुकी अपेक्षा हो या जिससे दूसरी कोई विपरीत स्थिति उत्पन्न हो सकती हो, वह सापेक्ष है। जैसे सत्य-भाषण धर्म है, पर सत्य-भाषणमें कहीं-कहीं विपरीत भावकी सृष्टि हो सकती है और कहीं-कहीं दूसरे किसीकी हानि भी हो सकती है। अतः वह सापेक्ष है। इसी प्रकार संसारके प्रायः सभी धर्म किसी-न-किसी प्रकार अपेक्षा रखनेके कारण सापेक्ष हैं, परंतु व्रजाङ्गनाओंका यह प्रेम-धर्म सर्वथा निरपेक्ष है। इसमें एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अन्य किसीकी भी अपेक्षा नहीं है।

अतएव गोपसुन्दरियोंका प्रेम सर्वथा विशुद्ध है। वे निर्मल प्रेमकी प्रतिमा हैं। इसीलिये वहाँ भगवान्‌का ऐश्वर्य भी प्रायः अप्रकट ही रहता है। उनके सामने कहीं ऐश्वर्यका प्रकाश होता भी है तो वह विरहकी स्थितिमें। मिलन और विरह दोनों ही रति हैं, पर मिलनमें रतिका स्वरूप अत्यन्त शीतल रहता है और विरहमें अत्यन्त उष्ण। मिलनमें हृदयको ऐसी ठंढक मिलती है कि शीतलता पाकर जैसे जल घनीभूत हो जमकर बर्फ बन जाता है, वैसे ही हृदयका प्रेम भी घनीभूत होकर जम जाता है। वहाँ उस मिलनानन्दमें मुग्ध, महान् मोदसे प्रमुदित गोपी केवल माधुर्यमयी हो जाती है। अन्य सब कुछ उस माधुर्यमें छिप जाता है। 'प्रियतम श्रीकृष्ण मेरे अपने हैं। मेरे अपने प्राणवल्लभ हैं, मेरे अपने रमण हैं।' गोपीके अनुभवमें उस समय यही भान रहता है, श्रीकृष्णकी ईश्वरताका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। पर जब विरहकी स्थिति होती है, तब उसके तीक्ष्ण तापसे वह जमा हुआ शीतल प्रेम उष्णताको प्राप्त होकर तरल हो जाता है और नेत्रपथसे उष्ण जलधाराके रूपमें प्रवाहित होने लगता है। इसीसे रासपञ्चाध्यायीमें—विरहकी स्थितिमें ही गोपीकी दृष्टिमें श्रीकृष्णकी भगवत्ता प्रतिभात होती है और वह कह उठती है—

'आप केवल यशोदानन्दन ही नहीं हैं, समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं और ब्रह्माजीके द्वारा विश्वरक्षाके लिये प्रार्थना किये जानेपर यदुकुलमें आविर्भूत हुए हैं'—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४)

जैसे जमे हुए घीके बरतनमें नीचे तलेमें चमकती हुई काँच-की गोली पड़ी है, पर वह दिखायी नहीं देती; किंतु ज्यों ही घी गलता है त्यों ही वह नीचेकी गोली दीखने लगती है। इसी प्रकार भगवान्‌के विरहमें—भावी विरहकी आशङ्कामें भी मधुर प्रेमके तरल हो जानेपर उसमें ऐश्वर्यकी झाँकी होने लगती है। जैसे रासपञ्चाध्यायीके प्रथमाध्यायमें जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओंको वापस लौट जानेको कहते हैं, उस समय भावी विरहकी आशङ्कासे गोपाङ्गनाओंका प्रेम उष्णताको प्राप्त होकर तरल हो जाता है और इससे वहाँ ऐश्वर्यको झाँकनेका अवसर मिल जाता है। तब वे कह उठती हैं—

'तुम सबके आत्मा हो, कुशल-पुरुष अपने नित्य प्रिय आत्मामें प्रीति करते हैं और दुःख देनेवाले पति-पुत्रादिसे—संसारसे कोई प्रयोजन नहीं रखते, इसीलिये हे परमेश्वर ! तुम हमलोगोंपर प्रसन्न हो जाओ……'—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर……, आदि ।
(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ३३)

प्रेमकी विशुद्धिमें प्रधान तत्त्व है—सहज सम्पूर्ण समर्पण। स्व-सुखकी इच्छा, कामना, वासनाका तथा ममता, पृथक् अहंकार आदि सभीका समर्पण और श्रीभगवान्‌में ही वर्द्धनशील अनन्य नित्य-प्रियता।

संसारमें कोई भी, कुछ भी, न तो नित्य प्रिय होता है और न किसीमें सदा-सर्वदा प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। वहाँ कुछ दिनोंके व्यवहारके पश्चात् किसी-न-किसी समय उससे मन हट जाता है, उतनी अनुरक्ति नहीं रहती बल्कि कभी-कभी तो विरक्ति हो जाती है। एक समयकी परम प्रियतमा पत्नीका सङ्ग भी पतिको अच्छा

नहीं लगता और वह कहने लगता है—'देखो, मैं अभी आवश्यक कार्यमें व्यस्त हूँ, तुम इस समय मुझे अच्छी नहीं लगती ।' पुत्र-पौत्रादिके स्नेहमें सनी बुढ़िया पत्नी भी यदि पति उसके प्रतिकूल कुछ बोलता है तो उससे बुरा मान जाती है, अलग रहना चाहती है। एक बार एक बुढ़िया माईके मुखसे यहाँतक सुना था कि 'यह बूढ़ा अब तो मर जाय तो सब सुखी हो जायँ ।' प्यारे पतिके मरणमें दुःख तो होता ही नहीं, वह मरण मनाती है। पुत्रके प्रति पिता, पिताके प्रति पुत्र आदिमें भी ऐसे कुभाव आ जाते हैं। बहुत दिनोंके बीमार अत्यन्त आत्मीयसे भी मन ऊब जाता है और प्यारे घरवाले यह मनाने लगते हैं कि 'अब तो ईश्वर इनकी सुन लें, इनको उठा लें तो ये भी सुखी हो जायँ और घरवाले भी ।' बन्धु-बान्धवों और इष्ट-मित्रोंका त्याग तो मनकी प्रतिकूलतामें तुरंत हो जाता है। इसका प्रधान कारण है संसारमें सभी अपने मनके अनुकूल अपना सुख चाहते हैं। इसलिये जहाँतक जिससे सुख मिलता है या मिलनेकी आशा—सम्भावना रहती है, वहाँतक प्रेम—प्रियता रहती है। पर सुखके स्थानपर जहाँ दुःख दिखायी देता है या दुःखकी सम्भावना भी दीखने लगती है, वहीं वह प्रेम–प्रियता नष्ट हो जाती है । किंतु विशुद्ध प्रेममें स्वसुखकी वासनाका लेश भी नहीं रहता। इसीसे वहाँ प्रियतमके सुखके लिये उनके प्रति सहज ही सम्पूर्ण समर्पण हो जाता है और ऐसा वह निर्मल प्रेम पल-पल बढ़ता रहता है—**'प्रतिक्षणवर्धमानम् ।'**

इस विशुद्ध प्रेमामृतमें एक ऐसा सुदुर्लभ दिव्य महान् माधुर्य रहता है, जिसके रसास्वादनके लिये परम रसामृतस्वरूप स्वयं भगवान् भी नित्य प्रलुब्ध और लालायित रहते हैं और इसीलिये स्वयं ह्लादात्मा—आत्यन्तिक सुख-स्वरूप होते हुए ही वे समर्पणमय प्रेमियोंके परम विशुद्ध दिव्य मधुर रसका सुखास्वादन भी करते हैं और वितरण भी किया करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं रसराज-स्वरूप हैं, पर विशुद्ध भावमयी गोपसुन्दरियोंके विशुद्ध प्रेमरसका निरन्तर आस्वादन करनेके लिये ललचाते और उसका आस्वादन करते-कराते रहते हैं । यही नित्य-रास है जो अनादिकालसे निरन्तर चलता रहता है और अनन्त कालतक सतत चलता रहेगा ।

गोपाङ्गनाओंकी इस त्यागमयी रतिका मूल उद्गम—उत्स है—भगवान्‌की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी। ये सब उसी मूलसे अङ्कुरित, पल्लवित, प्रफुल्लित और फलित मधुर मनोहर अमर तरुवरकी शाखाएँ हैं, जिनके आश्रयमें—जिनकी शीतल सुखमयी छायामें नित्य केवलानन्द-स्वरूप भगवान् भी नित्य नव आनन्दका अनुभव करते हैं। आज उन्हीं श्रीराधारानीका, जो लीलाके लिये समय-समयपर इस पुण्य-भूमिमें आविर्भूत हुआ करती हैं— मङ्गलमय आविर्भाव-दिवस है।

आजके इस नीच स्वार्थ-कलुषित संसारमें 'प्रेम' शब्दका अर्थ प्रायः माना जाता है कि हम जिससे प्रेम करते हैं, वे हमें सुख दे, हमारे मनोरथ पूर्ण करे, हमारे मनके अनुकूल व्यवहार-बर्ताव करे, हमारे लिये त्याग करे, हमारा कृतज्ञ हो और हमारे प्रेम-ऋणका अधिक-से-अधिक बदला चुकाये। अभिप्राय यह कि प्रेमास्पदसे अपने सुखके लिये कुछ माँगने तथा प्राप्त करनेको ही 'प्रेम' की संज्ञा दे दी गयी है । पर श्रीराधारानी और उनकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंने इसके सर्वथा विपरीत प्रेमका एक दूसरा ही स्वरूप—दूसरा ही अर्थ अपने जीवनमें चरितार्थ किया है। उन्होंने दिया ही दिया और वे सदा देती ही रहेंगी। पर उन्होंने देनेको ही लेना माना तथा आगे भी सदा मानती रहेंगी। इसीसे उनका देना इतना मधुरातिमधुर है कि सर्वकाम, पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्ण उसे लालायित मनसे लेते रहते हैं और सदा लेना ही चाहते हैं। यद्यपि विशुद्ध प्रेम देना जानता है, लेना जानता ही नहीं।

प्रेमास्पद प्रेमीके प्रेमका आदर करें, यह बात तो दूर रही, वे चाहे उसके प्रेमको जानें ही नहीं, जानकर भी चाहे न मानें, चाहे उलटे नीच अपमान—घोर तिरस्कार करें, वरं प्रेमके बदलेमें भीषण कष्ट, भयानक यातना दें—तो भी वह प्रेमी प्रेमास्पदपर रोष तो करे ही नहीं, उसके दोष भी उसको नहीं दिखायी दें, बल्कि उन दोषोंमें भी उसे प्रेमास्पदके पवित्र प्रेम तथा अत्यन्त निकटकी आत्मीयताके ही दर्शन हों—यही प्रेमका यथार्थ आदर्श है।

राधामुख्या श्रीगोपाङ्गनाएँ इसी निर्मल प्रेमकी सजीव मूर्ति हैं। उनके पवित्र प्रेममें उनके लिये कुछ भी शेष नहीं बचता, उनका अपना अस्तित्व भी उनके अपने लिये नहीं रह जाता। वे केवल इतना जानती हैं कि वे श्रीकृष्णकी हैं; उनके देह-प्राण, मन-बुद्धि, अहंकार, आत्मा सब श्रीकृष्णके हैं। और प्रत्येक स्थितिमें—लोकदृष्टिमें प्रतिकूल

प्रतिकूल मानी जानेवाली अवस्थामें भी प्रेमास्पद श्रीकृष्णके मधुर प्रेम तथा उनके महान् दिव्य गुणोंके ही सहज मङ्गल दर्शन होते रहते हैं।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने चातक-प्रेम-प्रसङ्गमें यही कहा है—

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐं चतुर चातकहि चूक ॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥
पवि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि ॥
(दोहावली २८२—२८४)

मेघ अपने अनन्य प्रेमी चातकको स्वातीका जल तो कभी देते ही नहीं, वरं कठोर पत्थरों—ओलोंकी वर्षा करके उसके पंखोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, इतनेपर भी प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले चतुर चातकके प्रेममें चूक नहीं पड़नी चाहिये। चातकका प्रेम इससे जरा भी न तो शिथिल होता है और न उसका प्रवाह ही रुकता है। मेघ गरज-गरजकर बड़ी रूखी तथा कठोर ध्वनि करता हुआ, कठोर पत्थर तो बरसाता ही है; साथ ही बड़ी डाँट-डपटके साथ तरजकर—तड़ककर वज्र भी गिराता है। फिर भी, क्या चातक अपने प्रियतम मेघके सिवा किसी दूसरेकी ओर ताकता है? कभी नहीं। इतना ही नहीं, मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, गरज-तरजकर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीसे प्रबल झोंके देकर अपनी सच्ची खीझ प्रकट करता है अर्थात् वह चातकको दिखलाता है कि मैं तुम्हारा प्रियतम नहीं, पूरा शत्रु हूँ। इतने प्रत्यक्ष दोषोंको देखकर भी चातकको अपने प्रियतमके प्रति तनिक भी रोष नहीं होता। उसे अपने प्रियतमके दोष दीखते ही नहीं, वरं उसको मेघके इन कृत्योंमें अपने प्रति उसका अनुराग ही दिखायी देता है और वह इसीपर रीझ जाता है (कि मेरा प्रियतम मुझे अपना समझकर स्वच्छन्दतासे मेरे साथ अपने मनकी करके आत्मीयताका परिचय देता हुआ सुख प्राप्त कर रहा है)।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते माप न जोष ॥
(दोहावली २८१)

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी चढ़ते ही नहीं, उसका चित्त सब अवस्थाओंमें प्रियतमके गुण ही देखता है; क्योंकि चातक प्रेमका समुद्र है, अतएव उसमें माप-तौल—लेन-देनका व्यवहार है ही नहीं।

असलमें प्रेम वही है जो ध्वंसका प्रत्यक्ष कारण उपस्थित होनेपर भी ध्वंस-रहित रहे।

पर इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि श्रीकृष्ण अपनी स्वरूपभूता श्रीराधारानी और विशुद्ध प्रेमकी सजीव मूर्तियाँ श्रीगोपाङ्गनाओंका अपमान—तिरस्कार करते थे या उनको कष्ट-यन्त्रणा देते थे। यह तो उनके उस विशुद्ध प्रेमके स्वरूपका वर्णन है। जहाँ ऐसा प्रेम होता है वहाँ भगवान् तो उसके ऋणी हो रहते हैं और कभी उस ऋणसे अपनेको मुक्ति मिलना ही सम्भव नहीं मानते। और यह है भी सत्य ही। देनेपर लेना माननेवालोंका ऋण तो उत्तरोत्तर बढ़ेगा ही। अतः भगवान्‌के ये वचन सत्य ही हैं कि 'मैं देवताओंकी आयुमें भी तुमलोगोंका बदला नहीं चुका सकता।' **'न पारयेऽहं·· विबुधायुषापि वः।'**

वैसे देखें तो श्रीकृष्णने गोपाङ्गनाओंको दुःख भी बहुत ही सांघातिक दिया। जिन्होंने दुस्त्यज स्वजनोंका तथा आर्यपथका सहज परित्याग करके—लोक-वेद-कुलकी कुछ भी परवा न करके सर्वसमर्पणपूर्वक श्रीकृष्णका सेवन किया, उन सबको वे सहसा छोड़कर मथुरा पधार गये और फिर कभी उन्हें बुलाने—मिलनेका भी नाम नहीं लिया। यह क्या कम दुःख है। पर गोपाङ्गनाओंका और श्रीराधारानीका भाव तनिक भी नहीं बदला, वरं उनका विशुद्ध प्रेम इस कठिन वियोगकी स्थितिमें भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। एक बार श्रीकृष्णके इस कठोर व्यवहारको लेकर राधासे सहानुभूति तथा विशेष स्नेह रखनेवाली हिताकाङ्क्षिणी एक सखीने श्रीराधासे इतना-सा कह दिया कि 'राधे! श्रीकृष्ण बड़े ही निष्ठुर—निर्दय हैं। उनपर विश्वास तथा उनके प्रति प्रेम करनेमें क्या लाभ है? तुम उनके वियोगमें इतनी दुखी हो, रात-दिन जलती रहती हो, इसका उनको पूरा पता है, तब भी वे इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। ऐसी परिस्थितिमें तुम उनका मनसे त्याग कर दो तो सर्वोत्तम है, इस दुःखसे त्राण पानेका तो यही उपाय है।' सखीकी यह बात सुनकर श्रीराधाजीको बड़ी मर्मपीड़ा हुई। पर वे अत्यन्त मधुर-हृदया होनेके कारण सखीका तीक्ष्ण तिरस्कार न करती हुई उससे कहने लगीं—

'सखी ! तुम ऐसी मूर्खता-भरी बातें मत करो । प्राणनाथकी निन्दा करके मेरे हृदयपर चोट मत पहुँचाओ । मेरे वे जीवनके जीवन सदा सुखी रहें । तुम मुझे उनके गुणोंकी और उनकी मीठी कुशलकी बात सुनाओ । वे दूर रहें या समीप, वस्तुतः वे मुझसे पलभर भी पृथक् नहीं रहते । वे निरन्तर (आठों पहर) मेरे हृदयमें बसे रहते हैं, कभी भी इधर-उधर नहीं जाते । मेरे हृदयमें तनिक भी दुःख-संताप नहीं है, वहाँ यदि ताप होता तो मेरे प्राण-प्रियतमका सुकोमल शरीर जल जाता । अतएव मेरे हृदयमें मुदिता तथा शीतलता भरी रहती है, इतना सुख रहता है कि वह वहाँ समाता नहीं । मुझको एक क्षणके लिये भी वे दुखी देख लेते हैं तो लगातार बिलखने लगते हैं । सखी ! उनके सुखसे मेरे हृदयमें नित्य सुख-सागरकी लहरें उछलती रहती हैं !'—

सखी ! जनि करौ अयानी बात ।
प्राननाथ की निंदा कर जनि करौ हियै आघात ॥
मेरे जीवन के जीवन वे सुखी रहैं दिनरात ।
मोय सुनावौ तुम तिनके गुन मधुर, कलित कुसलात ॥
दूर रहैं या पास, न मोतें बे पलहू बिलगात ।
अंतर मेरे बसे निरंतर रहत, न इत उत जात ॥
ताप जु रहै नेक मो अंतर, जरै सुकोमल गात ।
तातें रहैं मोद-सीतलता, सुख नहिं हियै समात ॥
मोय दुखी जो देखैं छिनहू रहैं सतत बिललात ।
तिनके सुख सखि ! मेरे हिय नित सुख-सागर लहरात ॥

श्रीराधाकी इन उक्तियोंको सुनकर सखी स्तम्भित—चकित हो गयी और श्रद्धापूर्ण उत्सुकताके साथ वह निर्निमेष श्रीराधाकी ओर देखती रह गयी—मानो वह श्रीराधाके श्रीमुखसे कुछ और सुनना चाहती है । तब श्रीराधाने उसे समझाते हुए विशुद्ध प्रेमके स्वरूपका संकेत करके अपनी स्थिति बतलायी । वे बोलीं—

'मेरे वे एकमात्र परम प्रियतम जिससे परम सुखी हों वही मेरा धर्म है, वही कर्म है और वही एक श्रेष्ठ कर्तव्य है । फिर वह चाहे सदाके लिये बन्धन हो चाहे अविलम्ब मोक्षकी प्राप्ति हो; चाहे तमोमय अज्ञान हो या फिर चाहे अपरोक्ष ज्ञान हो; चाहे अनन्तकालीन स्वर्ग-सुख हो या चाहे घोर नरक-यन्त्रणा हो, चाहे अशान्तिके बादल छाये हों या चाहे सब ओर नित्य शान्ति विराजित हो, चाहे अतिशय दारिद्र्य हो या चाहे अत्यन्त भोगविलास हो, चाहे कर्ममय जीवन हो या चाहे सम्पूर्ण कर्म-संन्यास हो । मेरा न तो बन्धन और मोक्षसे कुछ सम्बन्ध है, न अज्ञान-ज्ञानसे और न स्वर्ग-नरकसे ही । न मेरे लिये परम भोगैश्वर्यका कोई भी बन्धन है और न घोर दारिद्र्यका ही । मेरा किसी (प्राणी, परिस्थिति या पदार्थ) में भी न कहीं तनिक राग है और न वैराग्य ही है । एकमात्र प्रियतमका सुख ही मेरा जीवन है और वही मेरा सौभाग्य है ।'—

जिससे परम सुखी हों मेरे एकमात्र वे परम प्रेष्ठ।
वही धर्म है, वही कर्म है, वही एक कर्त्तव्य श्रेष्ठ ॥
फिर चाहे वह चिर बन्धन हो; हो चाहे तुरंत ही मोक्ष।
हो चाहे अज्ञान तमोमय, हो फिर भले ज्ञान अपरोक्ष ॥
हो अनन्तकालीन स्वर्गसुख, चाहे नरक-यन्त्रणा घोर।
हो अशान्तिके बादल छाये, चाहे नित्य शान्ति सब ओर ॥
हो अतिशय दारिद्र्य भले, हो चाहे अतिशय भोगविलास।
हो चाहे कर्मोंका जीवन, चाहे पूर्ण कर्मसंन्यास ॥
बन्ध-मोक्ष, अज्ञान-ज्ञानसे स्वर्ग-नरकसे नहिं सम्बन्ध।
रहा न भोगैश्वर्य परम दारिद्र्य घोरका कुछ भी बन्ध ॥
नहीं किसीमें राग तनिक भी नहीं किसीसे भी वैराग्य।
प्रियतमका बस, एकमात्र सुख ही मेरा जीवन, सौभाग्य ॥

श्रीराधा महाभावरूपा हैं और बड़ी उदारताके साथ नित्य-निरन्तर भावका प्रवाह बहाती रहती हैं । वे सर्वथा त्यागमयी हैं । उनमें स्वसुखकी वासना है ही नहीं। केवल श्रीकृष्णसुख-कामना है । साथ ही वे यह भी चाहती हैं कि जैसे मेरेद्वारा प्रियतम श्रीकृष्णको सुख होता है, ऐसे ही मेरी कायव्यूहरूपा समस्त गोपाङ्गनाओंके द्वारा भी उन्हें सुख मिले और उनके सुखसे मेरी वे सब सखियाँ भी परम सुखी हों । वे श्रीकृष्णको केवल अपनी ही वस्तु मानकर उनको अपने ही प्रणयकक्षमें बंद नहीं रखतीं, बल्कि सबके सुखकी वस्तु बनाकर वे सबको सुखी करना चाहती हैं। उनके अनन्त विशुद्ध प्रेममें यह स्वाभाविक उदारता है।

राधा नहीं चाहतीं निज सुख निज प्रियतमसे किसी प्रकार।
केवल प्रियतमके सुखसे वे होतीं परम सुखी अविकार ॥
केवल यही चाहतीं प्रतिपल प्रियतम सुखी रहें अविराम।
पल-पल उनको सुखी देखना-करना यही एक बस, काम ॥
भक्त पराधीनता उनका है निर्मल स्वभाव अभिराम।
राधा-पराधीन हो रहना लगता उन्हें अतुल सुखधाम ॥

राधा नहीं चाहतीं लेकिन, उनपर अपना ही अधिकार।
सभी प्राप्त हों प्रियतम-सुखको, करतीं यह अभिलाष उदार॥
मुक्तहस्त वे वितरण करतीं प्रियको-प्रिय-सुखको भर मोद।
सुखी करो सबको, नित प्रियसे कहतीं कर गंभीर विनोद॥
मैं गुणहीन मलीन सर्वथा क्यों मुझपर इतना व्यामोह?
मुझसे सभी अधिक सुन्दर शुचि मधुर शील-सद्गुण-संदोह॥
प्रेम-रसास्वादन कर सबका, मुझे करो प्रिय! सुखका दान।
रससागर! नटनागर! प्रियतम! मेरे एकमात्र भगवान॥

कैसा महान् आदर्श त्याग है। इसीलिये रासमण्डलमें असंख्य गोपाङ्गनाओंका समावेश है और असंख्य रूपोंमें—प्रत्येक दो-दो गोपाङ्गनाओंके बीचमें अगणित रूपोंमें प्रकट होकर श्रीकृष्ण उनके विशुद्ध प्रेमका रसास्वादन कर—करा रहे हैं। श्रीराधारानीकी ही महान् उदारताका यह कैसा विलक्षण आश्चर्यपूर्ण मनोहर फल है!

प्रेममयी व्रजरमणीगण-मण्डलमें हुए सुशोभित श्याम।
अगणित राशि तारिकामें अकलङ्क पूर्ण विधु विमल ललाम॥
अथवा नव नीलाभ-श्याम घन दामिनि-दलमें रहे विराज।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर अगणित उभय अतुल द्युतिसाज॥

श्रीराधाका यह श्याम-प्रेम सीमित नहीं है। वह अनन्त है और वे उसका वितरण करके परम सुखी होती हैं। वे हर समय सचेत और सचेष्ट रहती हैं कि उनकी सखियाँ भी उन्हींकी भाँति प्रियतम-सुखका आस्वादन करें। प्रत्येक क्षेत्रमें उनका यह सहज उदार-स्वभाव क्रियाशील रहता है।

झूलन-लीला हो रही है। प्रियतम श्रीकृष्ण और उनकी आत्म-स्वरूपा श्रीराधिकाजी एक हेमोज्ज्वल हिंडोलेपर विराजमान हैं। सखियाँ झुला रही हैं। इतनेमें राधाजीके मनमें आती है कि यह सुख मेरी सखियोंको भी मिले। मनमें क्या आती है, हमारी श्रीराधाका यह नित्यव्रत ही है। श्रीराधाजी प्रेम-कल्पलता हैं और सखियाँ सब उस लताकी पल्लव-पुष्प-स्वरूपा हैं। अतएव प्रतिपल अपना रस देकर वे उनको प्रफुल्ल और पुष्ट करती रहती हैं। वे अपनी सखियोंको सुखी किये बिना सुखी नहीं हो सकतीं। इसलिये वे प्रियतम श्रीकृष्णको नेत्रोंके द्वारा इङ्गित करती हैं कि मैं जिस प्रकार प्रियतमकी बायीं ओर विराजमान हूँ, इसी प्रकार एक-एक करके सभी सखियोंको अपनी दायीं ओर बैठाकर उन्हें सुख प्रदान करें। और इस इङ्गितके अनुसार ही श्यामसुन्दरके द्वारा सखियोंके सुखदानकी मधुर एवं उदार लीला आरम्भ हो जाती है।

राधादृगिङ्गितनयाल्ललितामथारि-
राकृष्य दक्षिणभुजं विनिधाय तस्याः।
कण्ठे परं भुजमसौ दयितांसदेशे
मध्ये तयोः स विबभौ तडितोरिवाब्दः॥
कौन्दयब्रवीत् पश्यताल्यो ज्योतिश्चक्रे चलेपुरः।
राधानुराधयोर्मध्ये पूर्णोऽयं मुदितो विधुः॥

राधाप्राणप्रियतम रसिकशिरोमणि श्यामसुन्दर पहले श्रीमती ललिताको अपनी दाहिनी ओर बैठाते हैं और अपनी दक्षिण भुजा उसके कंधेपर रखकर राधाकी भाँति ही उसे सुख देने लगते हैं। यह देखकर सखी कुन्दलता मृदु मुसकानके साथ कहती हैं—'देखो-देखो, सखियो! आज यह कलङ्कहीन पूर्ण चन्द्र अपनी प्रियतमा राधा और अनुराधाको अपने वाम और दक्षिणमें लिये ज्योतिर्मण्डलके साथ आकाशसे पृथ्वीपर उतर शोभा विस्तार करता हुआ झूला झूल रहा है।'

तदनन्तर इसी प्रकार ललिता, विशाखा आदि जितनी प्रमुख सखियाँ वहाँ थीं, एक-एक करके सबको प्रियतम श्यामसुन्दर अपनी दाहिनी ओर बैठाकर और उन्हें सुख प्रदान कर रासेश्वरी निज प्राणेश्वरी श्रीराधाकी इच्छा पूर्ण करने लगे। श्रीराधाको श्यामसुन्दरकी इस लीलासे बड़ा ही सुख मिल रहा है। पर सखियोंके स्नेहसे सनी विश्वानन्ददायिनी श्रीराधाकी कामना इससे पूर्ण नहीं हुई। उनके मनमें सखी-सुख-कामनाका एक नया स्वरूप उत्पन्न हो गया—

अथावरुह्य हिन्दोलाद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां विराजितम्।
विशाखाललितादिभ्यां श्रीराधान्दोलयत् प्रियम्॥
ततोऽवरूढा ललिताद्यस्तदा
राधाङ्गितैः काञ्चनवल्लिकादिकाः।
आरोहयामासुरधः स्थिताः सखी-
हिन्दोलिकां तां क्रमशो बलाच्छनैः॥
गोविन्दं दोलयामासुर्गायन्त्यस्ताः सराधिकाः॥

वे चाहने लगीं कि 'मेरी प्राणप्रिया ये सखियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके दोनों ओर हिंडोलेपर विराजित हों और मैं हिंडोलेसे उतरकर इनको झुलाऊँ।' अतएव वे स्वयं नीचे उतर गयीं। राधाके सुखसे ही परम-सुखी प्रियतम श्यामसुन्दर राधाके इङ्गितके अनुसार दो-दो सखियोंको दोनों ओर बैठाकर उन्हें सुख देने लगे और स्वयं श्रीराधा उन्हें झुलाने लगीं। सखियोंने भी निज-सुख-कामनासे नहीं, प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण और अपनी आधाररूपा श्रीराधारानीकी इच्छा पूर्ण हो और वे सुखी हों, इसी हेतुसे इस लीलाको स्वीकार किया।

इनके अतिरिक्त ऐसी सौभाग्यवती बहुत-सी सखियाँ (मंजरियाँ) थीं, जो केवल श्रीराधामाधवके सेवा-सुख-सागरमें ही नित्य निमग्न रहती थीं। इसीमें उनको परम सुख प्राप्त होता था। सखि-सुख-मनोरथा श्रीराधाके मनमें आयी कि इन सेवामयी सखियोंको भी श्यामसुन्दरके बगलमें बैठाकर झुलाया जाय और इस प्रकार इन्हें भी श्याम-सुख-रसका साक्षात् आस्वादन मिले। अतः ललिता आदि सखियोंको झुला लेनेके बाद वे स्नेहाकुल-हृदयसे इन सखियोंकी सेवाके छलसे और किसी प्रकार भी स्वीकार न करनेपर स्नेहके बलसे हिंडोलेपर उसी प्रकार प्रियतम श्यामसुन्दरके बायें-दाहिने दोनों ओर बैठाकर स्वयं प्रधान सखियोंके साथ मधुर गीत गाती हुई उन्हें झुलाने लगीं।

सेवापरायणा सखियोंने भी केवल और केवल परम प्रेमस्वरूपा अपनी जीवन-सर्वस्व श्रीराधारानीके सुखके लिये ही श्रीश्यामसुन्दरके साथ झूलना स्वीकार किया और इससे श्रीराधारानीको एवं राधारानीके सुखसे श्यामसुन्दरको सुखी होते देखकर उन्होंने अपना परम सौभाग्य माना। श्रीराधारानीका यह महान् त्यागमय कल्पनातीत आदर्श प्रेम और उनकी प्रेमानुगमन करनेवाली सखियोंकी राधा-सुख-स्पृहा सर्वथा अलौकिक है। उनका जीवन धन्य है, जो इस दुर्लभ प्रेम-रसका आस्वादन कर मानव-जीवनको सफल करते हैं।

वास्तवमें राधारानी और उनकी अनुगामिनी गोप-सुन्दरियोंके प्रेममें सबसे बड़ी महत्त्वकी वस्तु है—उनकी अभिमानशून्यता, दैन्य और सम्पूर्ण त्याग। अवश्य ही वहाँ 'मान' होता है, पर वह मान विशुद्ध प्रेमका ही एक स्वरूप है, जो प्रियतमको सुख देनेके लिये ही होता है। वह मानकी 'लीला' है, दूषित 'अभिमान'रूप मान नहीं। वहाँ तो नित्य अपनेमें गुणोंका सर्वथा अदर्शन तथा प्रियतममें अनन्त सद्गुणोंका समुद्र लहराता दीखता है। रहा त्याग, सो वह भी स्वाभाविक ही है। त्यागसे ही प्रेमका उदय होता है। जहाँ जितना अधिक त्याग है—वहाँ उतना ही अधिक प्रेमका विकास है और उतना ही अधिक सुख है। 'स्व' तथा 'स्व' का अर्थ—स्वार्थ जितना सीमित होता है, उतना ही गंदा होता है और जितना विस्तृत होता है, उतना ही पवित्र होता है। राधारानीके स्वार्थकी सीमा असीम है। अखिलभुवनमोहन सुरमुनिदुर्लभ-चरण-रजकण अनन्तसुखसमुद्र प्रेमरससमाधुर्यनिधि स्वयं भगवान्के पार्श्वमें बैठकर झूलनेमें कितना सुख तथा गौरव प्राप्त है उनको—जरा कल्पना कीजिये। राधा चाहतीं तो वे अपने प्राणवल्लभका सारा सुख स्वयं अकेली ही ग्रहण कर सकतीं; क्योंकि श्रीकृष्ण सर्वथा उनके प्रेमाधीन हैं। परंतु राधाको यह स्वीकार नहीं है। वे अपने उन सुर-मुनि-ध्यानदुर्लभ प्राणनाथके सुखका सबमें वितरण करना चाहती हैं और चाहती भी उतना ही हैं, जितना उनको प्राप्त है। इसीसे वे स्वयं झूलेसे उतरकर सखियोंको झूलेपर चढ़ाती हैं और स्वयं अपने हाथों उन्हें झुलाती हैं तथा इसमें उससे भी अधिक सुखका अनुभव करती हैं, जितना स्वयं झूलेपर प्राणवल्लभके पार्श्वमें विराजकर झूलनेमें प्राप्त कर रही थीं। इस प्रकारके महान् त्यागकी नींवपर ही विशुद्ध प्रेमका मङ्गलमय आनन्दमय अखिल विश्व-कल्याणकारी सुन्दर भव्य विशाल प्रासाद खड़ा होता है।

सौतिया-डाह या पर-सुख-असहिष्णुता वहाँ होती है, जहाँ स्व-सुख-वासना है। राधामें स्व-सुख-वासनाका लेश-गन्ध भी नहीं है। इससे डाह, पर-सुख-असहिष्णुताकी तो वहाँ कल्पना ही नहीं है। बल्कि यहाँ तो इच्छापूर्वक निज-सुखका त्याग और पर-सुख-विधान करके विशेष सुखकी प्राप्ति की जाती है। आज जो समस्त विश्व-मानसमें एक भयानक द्वेष, पर-सुख-असहिष्णुता, भीषण कलह तथा हिंसाकी आग जल उठी है, एवं पता नहीं, वह कब भयानक मूर्तरूपमें भड़ककर मानवजातिका विनाश कर देगी! इसका प्रधान कारण है—स्वार्थका अत्यन्त संकुचित-सीमित हो जाना, मानवका एक छोटी-सी परिधिमें ही सुखकी कल्पना करना और स्व-सुख-वासनाको ही एकमात्र जीवनका

ध्येय बना लेना । विश्वबन्धुत्व या विश्वप्रेमकी कितनी ही लम्बी-चौड़ी बातें की जायँ, विशाल योजनाएँ बनायी जायँ, सह-अस्तित्व या पञ्चशीलके नारे लगाये जायँ—जबतक मानव पर-सुखको ही निजसुख नहीं मानेगा, जबतक निजसुखका त्यागी और पर-सुखका विधायक नहीं बनेगा, तबतक सच्चे अर्थमें विश्वप्रेमका उदय कभी नहीं होगा । हमारी श्रीराधा-रानीने विश्वके सामने त्यागपूर्ण विशुद्ध प्रेमका जो एक महान् आदर्श उपस्थित किया है, वह अतुलनीय है—अनुपमेय है । उसका तनिक-सा भी भाव आजके विश्व-मानवमें आ जाय तो अखिल विश्व सुखी हो सकता है ।

यह तो विश्व-मानवके कल्याणकी बात हुई। पर आजका विषयवासना-विमुग्ध कामोपभोगपरायण मोहावृत—ईश्वर तथा सत्कर्ममें अविश्वास करनेवाला मानव इस ओर क्यों ध्यान देने लगा ? वह तो विनाशको ही विकास माने हुए है । वस्तुतः इस प्रेमकी चर्चा तो करनी है—प्रेमरसकी सच्ची पिपासावाले साधकोंके लिये । यह परम विशुद्ध प्रेम वस्तुतः केवल भगवान्में ही हो सकता है और इसका उदय भी उन्हीं सच्चे सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके जीवनमें सम्भव है जो भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहाका सर्वथा त्याग करके एकमात्र श्रीराधामाधव-चरणानुरागके लिये ही जीवनका एक-एक क्षण लगानेको प्रस्तुत हैं ।

इस प्रेमका आधार है त्याग । त्याग भी ऐसा-वैसा नहीं, सर्वत्याग सम्पन्न हो जानेपर बन्धनमुक्तिरूप जिस मोक्षकी प्राप्ति होती है, उस दुर्लभ मोक्षका भी त्याग कर देना पड़ता है। मोक्षका परित्याग या तो जगत्के भोगासक्त और पाप-परायण विषयी और पामर लोग करते हैं, या वे करते हैं, जिनको मोक्षसे भी बढ़कर कोई विशेष वस्तु मिल जाती है । वह मोक्षसे भी श्रेष्ठ वस्तु है—भगवत्प्रेम । यही पञ्चम पुरुषार्थ है । इसकी प्राप्ति—विशेषतया गोपीभावके रूपमें इस प्रेमकी प्राप्तिके साधन संक्षेपमें नीचे दिये हैं । प्रेमके साधकमें निम्नलिखित प्रकारकी एकान्त अनन्य लालसा, श्रद्धाविश्वासपूर्ण निश्चयबुद्धि और दृढ़ साधन-प्रवृत्ति होनी चाहिये ।

'जिन श्रीराधामाधवका प्रेम लाखों बार अग्निमें तपाये हुए स्वर्णके समान शुद्ध और उज्ज्वल है । (सोना तो अधिक-से-अधिक पाँच बार तपानेपर ही शुद्ध माना जाता है । पर श्रीराधामाधवका प्रेम परम विशुद्ध है, इसलिये उसे लाखों बार तपाये सोनेकी उपमा दी गयी है । यद्यपि यह उस विशुद्ध प्रेमके उपयुक्त उपमा नहीं है) चकोरके नेत्र जैसे चन्द्रमाकी ओर लगे रहते हैं और चातक जैसे अनन्य निष्ठासे मेघसे ही जलबिन्दु ग्रहण करता है, इसी प्रकार जिन श्रीराधाके माधवके प्रति और श्रीमाधवके राधाके प्रति प्रेम-नियम हैं। जो महाभावरूपा श्रीराधाजी और रसराज श्रीकृष्ण दोनों अनुपम परमानन्दके धाम हैं, जो पवित्र सौन्दर्य और माधुर्यके असीम सागर हैं, जो नित्य सत्-चित्स्वरूप हैं । उन श्रीराधामाधवकी दिव्य मधुर छविको ही मैं सदा सब दिशाओंमें देखता रहूँ । उनकी चरण-धूलिकी प्रीतिको छोड़कर कभी भी और कुछ भी चाहूँ ही नहीं । न कहीं कुछ भी और सुनूँ, न दूसरा कुछ भी मुखसे उच्चारण करूँ । मेरा मन सदा अनन्यभावसे श्रीराधेश्यामके नाम-गुणमें संलग्न रहे । श्रीराधामाधवयुगलकी चरण-रजका सुन्दर प्रेम निरन्तर प्रतिपल बढ़ता रहे और श्रीराधामाधव-युगल-सेवाका कोई बहुत छोटा-सा काम मुझे मिल जाय । मैं राग-द्वेष, कामना, ममताका त्याग करके हृदयको शुद्ध रक्खूँ और सखी मंजरी (श्रीराधामाधवकी सेवामें संलग्न, सेवाके स्वरूप और सेवा-पद्धतिको जाननेवाली) के अनुगत रहकर बुद्धि, मन और इन्द्रियोंका संयम करके मंजरीकृपा-प्रसादसे मुझे जो सेवाका कार्य मिले, उसे सदा करता रहूँ और इसीमें जीवनको सदा धन्य समझूँ और मेरा मन पवित्र आनन्दसे भरा रहे ।

लाखों बार तपाये उज्ज्वल शुद्ध स्वर्ण-सम जिनका प्रेम ।
चन्द्र-चकोर मेघ-चातक सम नित्य परस्पर जिनके नेम ॥
परमानन्दधाम जो दोनों महाभाव रसराज अनूप ।
शुचि सौन्दर्य असीम सिन्धु माधुर्य नित्य चिन्मय सद्रूप ॥
उन राधामाधवकी छवि मैं निरखूँ दिव्य मधुर सब ओर ।
उनकी चरणधूलि-रति तजकर, चाहूँ नहीं कभी कुछ और ॥
सुनूँ न कुछ भी कहीं और कुछ, नहीं उचारूँ मुखसे अन्य ।
राधेश्याम नाम-गुणमें ही लगा रहे मन सदा अनन्य ॥
युगल-चरण-रज-प्रीति निरन्तर पल-पल हो वर्द्धित अभिराम ।
मिले युगल-सेवाका मुझको छोटा-सा कोई कुछ काम ॥
रागद्वेष कामना ममता छोड़ रखूँ मैं अन्तर शुद्धि ।
सखी मंजरीके अनुगत रह कर संयम मन-इन्द्रिय-बुद्धि ॥

करूँ सदा सेवा जो मुझको मिले वही, मंजरी-प्रसाद ।
धन्य सदा समझूँ जीवन मैं, भरा रहे मन शुचि आह्लाद ॥

मंजरी-सेवापद्धतिमें नया साधक किसी मंजरीके अनुगत रहकर उनके आज्ञानुसार सेवा किया करता है—

सखीनां सङ्गिनीरूपामात्मानं वासनामयीम् ।
आज्ञासेवापरां तत्तत्कृपालंकारभूषिताम् ॥

इस प्रेमके साधकको चाहिये कि वह अपनेको अपनी सेवा-वासनाके अनुसार श्रीरूपमंजरी, श्रीरसमंजरी, श्रीरतिमंजरी आदि सखियोंमेंसे किसीके साथ रहकर, उनके कृपारूपी आभूषणोंसे विभूषित निरन्तर उनकी आज्ञाके अनुसार सेवामें तत्परतासे संलग्न समझे ।

इन सर्वथा निष्काम सेविकाओंके प्रसाद तथा इनके आज्ञानुसार आचरणसे सेवाधिकार प्राप्त होता है और यह सेवाधिकार ही प्रेमके साधकको समस्त मोक्षोंसे उपरत करके नित्य-निरन्तर स्वयं भगवान्के साथ भगवत्प्रेममें बाँधकर सेवामें नियुक्त रखता है ।

सेवाकी महत्ताका और सेवाके लिये मोक्ष-त्यागका सिद्धान्त बतलाते हुए भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३)

'मेरे (भगवान्के) प्रेमी जन मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी, भगवान्के नित्य धाममें निवासरूप—सालोक्य, भगवान्के समान ऐश्वर्यभोग—सार्ष्टि, भगवान्की नित्य समीपता—सामीप्य, भगवान्के समान रूपप्राप्ति—सारूप्य और भगवान्के साथ एक हो जाना—ब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर लेना—ये पाँच प्रकारके मोक्ष नहीं ग्रहण करते ।'

श्रीराधाजीके चरणोंमें ऐसी विनीत प्रार्थना करें, वे अपनी सहज कृपासे हमें ऐसी बुद्धि और साधना प्राप्त करा दें ।

श्रीराधारानी चरन बिनवौं बारंबार ।
विषय वासना नास कर करौ प्रेम संचार ॥
तुम्हरी अनुकम्पा अमित अबिरत अकल अपार ।
मोपर सदा अहैतुकी बरसत रहत उदार ॥
अनुभव करवावौ तुरत जातें मिटैं विकार ।
रीझैं परमानंदघन मो पै नंदकुमार ॥
परयौ रहौं नित चरन तल अरयौ प्रेम-दरबार ।
प्रेम मिलै मोय दुहुनके पदकमलनि सुखसार ॥

बोलो माधवप्रेम-मूरति श्रीराधारानीकी जय-जय !

* * *

करुण प्रार्थना

श्यामा-श्याम युगल चरणोंमें करुण प्रार्थना है यह आज ।
सुनो ! दयामयि ! करुणामय हे ! महाभावरूपा ! रसराज ॥
गोकुलचन्द्र, गोपिकावल्लभ, राधाप्रिय, हे आनँदकंद ।
दिव्यरसामृत-सरिता जिनके रस-लोलुप सत्-चित् आनन्द ॥
मङ्गलमय यश सुनूँ तुम्हारा, करूँ नाम-यश-गुण नित गान ।
उभय पाद-पद्मोंकी सेवा करूँ नित्य तज सब अभिमान ॥
कृष्णप्रिया-शिरोमणि रसमयि ! रसमय प्रभु ! हे श्यामा-श्याम ।
रहै बरसती कृपा तुम्हारी नित्य अधम जनपर अविराम ॥
रक्खो सदा शरणमें ही निज इस पामरको, बिरद विचार ।
जर्जर देह-प्राण-मन अब तो रहें न पलभर तुम्हें बिसार ॥

* * *

ब्रजके महान् संत और उनका साहित्य

(लेखक—पं० श्रीदानविहारीलालजी शर्मा 'शरण')

देशमें नहीं, विश्वभरमें व्रजभूमि अपना विशिष्ट स्थान आजसे सहस्रों वर्ष पूर्वसे अक्षुण्ण बनाये हुए है। कारण, विश्ववन्द्य पूर्ण परब्रह्म आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्णकी यही लीलाभूमि रही है। इसके कण-कणमें भगवच्चरणारविन्दकी मधुरिमामयीस्मृति रम गयी है। अनेक राष्ट्रोंका उत्थान-पतन देखनेका सौभाग्य भी व्रजको रहा है। इस व्रजका अपना अनुपम साहित्य, निजी भाषा (व्रज-भाषा) और सुन्दर संस्कृति रही है। साहित्य, संगीत, कला तथा पुच्छ-विहीन पशुओंके अतिरिक्त जहाँ अधिक लता-द्रुमादि हों और पशु-पक्षी हों, उसे 'व्रज' कहते हैं। इस व्रजका वैसे तो विस्तार ८४ कोस है, पर इससे सम्बन्धित भूमिका विस्तार बहुत दूर-दूरतक है।

व्रजकी सीमाओंमें पूर्वमें बरहद (अलीगढ़), पश्चिममें उपहारवन (सोन) गुड़गाँव, उत्तरमें भुवनवन, शेरगढ़ तथा दक्षिणमें जन्हुवन (शूरसैनी गाँव) आधुनिक बटेश्वर, जिला आगरा हैं। मथुरा इसका केन्द्र रहा है। मथुरा प्रसिद्ध सप्त-पुरियोंमेंसे है। मनुजी कहते हैं—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥
(मनु० २।१९)

व्रजमें जितने भी स्थान हैं, वे प्रायः सभी भगवान् श्रीकृष्णकी रम्य लीला-स्थली हैं। उन सबमें ही भगवदीय पुनीत भाव व्याप्त हैं, अतः व्रज अत्यन्त पावन भूमि है।

अब व्रजके संतोंके विषयमें भी दो शब्द कहते हैं। सर्वप्रथम संत किसे कहते हैं—इसपर विचार करना है। संत वही है जो अहर्निश भगवद्ध्यानमें लवलीन रहे, जिसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रहे। कभी-कभी संतके वेषमें असंत और असंतके वेषमें संत मिल जाते हैं, जिससे मूढ़ सांसारिक जीवोंमें भ्रम एवं वञ्चना हो जाती है। यदि सौभाग्यसे कहीं एक भी संत मिल जाय तो उसके दर्शनमात्रसे जीवको सत्पथकी प्रेरणा उपलब्ध हो जाती है। भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

'मो ते अधिक संत करि लेखा।'

और भी—

'जानेसि संत अनंत समाना।'
'राम ते अधिक राम कर दासा।'

सच्ची बात तो यह है कि संत-समागम बिना भगवत्कृपाके सम्भव नहीं है—

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

भगवान् वेदव्यास, महर्षि वाल्मीकि, देवर्षि नारद, मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ, परम ज्ञानी श्रीशुकदेवजी-जैसे महान् संतोंकी साधना और उपदेशोंसे जन-साधारणको लाभ उठाना चाहिये। संत तो वास्तवमें सुखोंके पुञ्ज तथा उद्गम-स्थान प्रभुके चरणारविन्दमें जिनका अहर्निश ध्यान लगा हो, वे ही हैं।

संतके सिद्धान्त क्या हैं, उनके लक्षण क्या हैं, वे कैसे पहिचाने जा सकते हैं—आदि बातोंपर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि संत कभी अधिक नहीं बोलते, लोगोंसे बहुत कम मिलते हैं, वे तो सदैव अपने प्रभुके ध्यानमें लवलीन रहते हैं।

महर्षि जमदग्निजी कहते हैं—जबसे जिनके हृदयमें मङ्गलधाम श्रीहरि बसने लगते हैं, तभीसे उनके लिये नित्य-उत्सव है, नित्य लक्ष्मी और नित्य मङ्गल है। ऐसे हृदयवाले ही वस्तुतः संत कहलाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् संत और सच्चे भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(१५ । ५)

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है और जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य-स्थिति है तथा जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हुए वास्तविक संतरूप हैं ।

व्रजके प्रसिद्ध वाणीकार और आचार्यपाद श्रीरूपरसिकदेवजी रसिक संतोंके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

सोई रसिक अनन्य कहावै ॥
जिनकौं जुगल चरित्र बिना कछु, श्रवनन नाहीं और सुहावै ।
याही रँग रँगि रहे रंगीले, तिनही को सँग भावै ॥
अनुदिन रहस भावना भीने, नव-नव रुचिहिं बढ़ावै ।
जो कोउ बाधक या बतियनमें, तिनको संग छिटकावै ॥
सदा सर्वदा हितू सहेली जू की कृपा मनावै ।
हरषि हिये श्रीहरिप्रिया स्वामिनि, अपने निकट बसावै ॥
नित्य रहसि निरखत निज नैननि, सैननि में समुझावै ।
'रूपरसिक' अनुपम छवि, लखि-लखि पुलक न अंग समावै ॥

पूज्य श्रीभगवतरसिकजी इसी विषयको यों कहते हैं—

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत, श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरि को भजन, साधु की सेवा, सर्व-भूत पर दाया ।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागे, बिष-सम देखे माया ॥
सहनसील आसय उदार अति, धीरज सहित बिबेकी ।
सत्य बचन सबको सुख-दायक, गहि अनन्य ब्रत एकी ॥
इन्द्रीजित अभिमान न जाके, करै जगत को पावन ।
'भगवतरसिक' तासु की संगति, तीनहु ताप नसावन ॥

श्रीव्रजके सभी संतोंने अपनी रचनाएँ प्रायः व्रजभाषामें ही लिखी हैं । व्रजभाषा अति प्राचीन भाषा है, बड़ी ही मधुर और भावपूर्ण है । व्रजभाषाका महत्त्व इतना है कि बहुत-से आधुनिक कवियों और प्राचीन महात्माओंने इसका वर्णन सुन्दरतासे किया है । यहाँ तो केवल इतना ही इसके लिये लिखना पर्याप्त होगा कि इसी व्रजभाषामें श्रीहरिने माता श्रीयशोदाजीसे—

'मचलि मचलि माँगी हरि माखन रोटी ।'

जब भगवान्‌ने इस व्रजभाषाका प्रयोग किया, तब संतोंको, जो उन्हींके गुण-गौरवके गायक थे, इसी भाषाको अपनी रचनाओंके लिये अपनाना पड़ा ।

व्रजमें ऐसे अनेक अपूर्व संत हो गये हैं, जिन्होंने अपनी साधनाद्वारा भगवान् श्यामसुन्दरका साक्षात्कार कर लिया है । उक्त संतोंमें एक अपूर्व भावना थी, एक अद्भुत लगन थी और थी एक अनवरत मादकता ।

ऐसे ही उच्चकोटिके संतोंमें श्रद्धेय श्रीस्वामी हरिदासजी महाराज हो गये हैं, जो गान-विद्यामें अपने समयमें अद्वितीय थे । तानसेन और बैजू बावरे उनके शिष्य थे । वे श्रीविहारीजीके अनन्य उपासक थे । अपने जीवनमें अनेक चमत्कार उनके द्वारा रसिकोंने देखे । स्वयं बादशाह अकबर उनके दर्शन कर बड़ा ही चमत्कृत हुआ । वे अपने प्रिया-प्रीतमके रसमें अहर्निश डूबे रहते थे । उनके इष्टदेव श्रीबाँकेविहारीजीने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया था । उनके द्वारा स्थापित श्रीटट्टी-स्थान आज भी व्रजकी दर्शनीय भूमि है । वे अष्टाचार्योंमेंसे थे । रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते थे । उन्होंने केलिमाल और सिद्धान्तके पदोंकी अपूर्व दैन रसिकोंको प्रदान की । उनके बाद उनकी

परम्परामें बड़े प्रभावशाली कई संत हुए, जिनकी वाणियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं ।

व्रजभाषाके आदि-वाणीकर्त्ता स्वनामधन्य आचार्य श्री-श्रीभट्टजी हुए । उन्होंने बड़ी सुन्दर रचनाएँ कीं । उन्हींके शिष्य आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजीने 'महावाणी' नामक अद्वितीय रचना की । श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी श्रीनिम्बार्क-परम्परामेंसे आचार्य थे । इनका प्रधान निवासस्थान मथुरा था । ये संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड विद्वान् थे । संस्कृत भाषामें आपकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

श्रीशुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय-प्रवर्तक श्रीमद्गोस्वामी वल्लभाचार्यजी एवं उनके वंशज व्रजके माने हुए परम संत थे, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बालोपासनाद्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं । आपका प्रधान उपासनास्थान गोकुल और श्रीगोवर्धन रहा था । अब भी मेवाड़-राजस्थानमें नाथद्वारा तथा कांकरौली स्थानमें भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति विराजमान है, जो वैष्णवोंका प्रसिद्ध तीर्थ है ।

आपके ही शिष्य-प्रशिष्योंमें व्रजभाषाके प्रसिद्ध अष्टछाप कवि हुए हैं, जिनके सिरमौर संत श्रीसूरदासजी थे । श्रीसूरदासजी वास्तवमें भगवान्के अति निकटके सखाओंमेंसे थे । आपकी प्रसिद्ध रचना 'सूरसागर' आज भी व्रजभाषाका गौरवपूर्ण ग्रन्थ है, जिसपर खोज और टीका करके कई आधुनिक विद्वानोंको डाक्टरेटकी पदवी मिली है । अष्टछाप कवियोंमें श्रीनन्ददासजी-लिखित भ्रमरगीत बहुत प्रसिद्ध है । श्रीपरमानन्ददासजीका 'परमानन्द-सागर' ख्यातिनाम ग्रन्थ है । श्रीगोविन्द स्वामी, श्रीछीतस्वामी, श्रीकृष्णदास, श्रीचतुर्भुजदास तथा श्रीकुम्भनदासजी बड़े प्रसिद्ध संत हुए हैं । इन सबोंकी रसमयी वाणियाँ व्रजभाषा-साहित्यकी गौरवपूर्ण निधि हैं ।

श्रीहरिराम व्यासजीने तो अपना राजपाट छोड़कर व्रजभूमिमें निवास करते हुए व्रजरजका आनन्द लेकर प्रचुर साहित्यकी रचना की है । आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'श्रीव्यासवाणी' बहुत ही अभूतपूर्व ग्रन्थ है । इसी प्रकार श्रीनागरीदासजी बड़े प्रसिद्ध संत हो गये हैं । आप भी राजवंशके थे और सब ठाट छोड़कर एक साधारण संत-भेषमें व्रजमें निवास करते हुए आपने अनेक पदोंकी रचना की । आपका 'नागर-समुच्चय' प्रसिद्ध ग्रन्थ है ।

श्रीआनन्दघनजी तथा श्रीनारायण स्वामी भी बड़े माने हुए संत हुए हैं । आपकी रचनाओंमें बड़ा रस है, बड़ा प्रभाव है और प्रचुर उपदेश हैं । एक मुसलमान संत भी ऐसे हुए हैं, जिन्होंने व्रजमें रहकर अपने जीवन-धन भगवान् श्रीकृष्णको पा लिया । उनका नाम संत रसखान है । उनके पद और सवैया व्रजभाषाकी अनमोल निधि समझे जाते हैं ।

श्रीरूपरसिकदेवजी तथा श्रीभगवत-रसिकदेवजी व्रजमें ऐसे महात्मा हो गये हैं, जिनके पद और वाणियाँ आज भी बड़े गौरवके साथ स्थान-स्थानपर गायी जाती हैं । ये दोनों ही श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके थे । दोनों ही बड़े ऊँचे संत और साधनामें निपुण, साथ ही साक्षात् प्रिया-प्रीतमके रसमें सराबोर थे ।

श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, श्रीविहारिनिदेवजी, श्रीसरसदेवजी, श्रीनरहरदेवजी, श्रीपीताम्बरदेवजी प्रभृति संत रसिकभावोंसे ओतप्रोत श्रीस्वामी हरिदासजी महाराजकी परम्परामेंसे बड़े ख्यातिनाम सिद्ध संत हो गये हैं । इसी ढंगके एक संत श्रीकिशोरदासजी भी हुए हैं, जिन्हें लोग महापण्डित भी कहते हैं । इन्होंने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है । श्रीकिशोरदासजीने एक बृहत् महाकाव्यकी रचना की है । 'निज मत सिद्धान्त' नामक इस काव्यमें उन्होंने टट्टीस्थानकी परम्परा, वहाँकी परिपाटी और सिद्धान्तोंके दिग्दर्शनके साथ ही निकुंज-रसकी उपासनापर सुन्दर प्रकाश डाला है । यह रामायणके ढंगपर

लिखा गया दोहे और चौपाइयोंमें है। यह ग्रन्थ कई खण्डोंमें है और यह व्रजभाषाकी शोभा है।

श्रीहित-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीगो० हितहरिवंश-चन्द्रजी भी व्रजके अभूतपूर्व महासंत थे। इन्हें लोग वंशीका अवतार कहते हैं। वास्तवमें इनके प्रवर्तित सम्प्रदायमें श्रीराधिकाजीकी जिस प्रकार उपासना है, वैसी अन्यत्र नहीं। आपने अनेक वाणी-ग्रन्थोंकी रचना की थी। आप संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। आपने १७० श्लोकोंवाला ग्रन्थ 'श्रीराधासुधानिधि' लिखा। व्रजभाषामें 'श्रीहित-चौरासी' आपकी प्रसिद्ध रचना है। आपने सिद्धान्तविषयक बहुत-से पदोंकी रचना की। आपने वास्तवमें व्रजभाषा-साहित्यका अपनी सरस कृतियोंद्वारा बहुत बड़ा उपकार किया है। आपकी 'यमुनाष्टक' रचना भी अत्यन्त उच्च-कोटिकी है। आपका रचनाकाल संवत् १५९१ से १६०९ के मध्य ही समझा जाता है।

श्रीराधावल्लभीय-सम्प्रदायमें अनेक विद्वान् भक्त संत हुए हैं। श्रीहित चाचा वृन्दावनदासजी बड़े ही विद्वान् कवि संत और आचार्यवंशोद्भव थे। आपने एक बृहद् महाकाव्य 'श्रीव्रजप्रेमानन्दसागर'की रचना की है। आपके अन्य ग्रन्थ श्रीराधा-लाड़-सागर, श्रीकृष्ण-केलि-सागर, श्रीराधिका-केलिसागर, कृष्ण-लाड़-सागर, निकुंज-विलास-सागर, हितरत्न-सागर आदि सात सागर हैं। अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थोंद्वारा आपने व्रजभाषा-साहित्यकी जो बड़ी ही सराहनीय सेवा की है। आपके व्रजप्रेमानन्द-सागर और लाड़सागर तो महाकाव्य हैं जो व्रजभाषाके उच्चकोटिके ग्रन्थरत्न हैं।

श्रीदामोदरदासजी (सेवकजी) भी इसी सम्प्रदायके प्रसिद्ध माने हुए संत थे। आपकी प्रसिद्ध रचना 'सेवक-वाणी' व्रजभाषाभाषियोंके आदरकी वस्तु है। आपने बहुत पदोंकी रचना की है।

श्रीहितरूपलालजी गोस्वामी, श्रीगो० हरिरायजी प्रभृति संत भी आचार्य-वंशके रत्न संत थे। इनकी अनेक पुस्तकें और पद-रचनाएँ उपलब्ध हैं। श्रीध्रुवदासजी, श्रीचन्दसखीजी आदि भी अनेक भक्त इस सम्प्रदायमें हो गये हैं, जिनकी साधना और रसज्ञता ऊँची समझी जाती है और इनके पद व्रजभाषामें आदरसे गाये जाते हैं।

मेवाड़की प्रेम-मदमाती भक्त-शिरोमणि मीराँबाईजीने तो अपने गिरधरगोपालके लिये राज-भवन छोड़कर व्रज-वीथियोंमें भ्रमण किया है। अनेक पदोंकी रचना कर अपने इष्टदेवको स्मरण किया और अन्तमें उनके साक्षात् दर्शन प्राप्त करके अपनेको धन्य माना है।

श्रीललितकिशोरीजी, श्रीललितमाधुरीजी भी अपार सम्पत्तिके स्वामी और प्रचुर वैभवमें रहनेवाले होकर भी व्रजमें अपने प्रिया-प्रीतमकी उपासना करके धन्य हुए हैं। आपके अनेक ग्रन्थ और व्रजभाषामें लिखे सहस्रों पद हैं।

श्रीगदाधरभट्टजी, श्रीसूरदास मदनमोहनजी, श्रीमाधुरीदासजी आदि भी व्रजभूमिके अद्वितीय संत हो गये हैं। इन सबने भी अपनी वाणियोंद्वारा व्रजभाषा-साहित्यकी अपूर्व सेवा की है।

श्रीवल्लभरसिकजी, श्रीवंशीअलिजी, श्रीहठीजी आदि भी उच्च कोटिके व्रज-संत थे। इनकी वाणियाँ भी बड़ी रसमयी और प्रभावशाली हैं।

अन्तमें हम सभी संतोंकी पावन-स्मृतिमें नत-मस्तक होकर उनकी रस-उपासना, व्रजभाषा-सेवा और व्रज-प्रेम-पर उपर्युक्त दो शब्द लिखकर ही संतोष करते हैं।

प्रभु ! हमें उक्त संतोंकी चरण-रज उपलब्ध हो सके, यह कृपा हो।

तुला-दान

(लेखक—श्रीरामपुनीतजी श्रीवास्तव, एम० ए० 'साहित्यरत्न')

भगवान् श्रीकृष्णजीका पुनीत जन्म-दिवस था। नीचे हर्षकी हरियाली और ऊपर उत्साहकी घटा छा रही थी। इस शुभ अवसरपर पट्टमहिषी सत्यभामाजीने श्रीकृष्णजीका तुलादान करानेका संकल्प किया। उनकी इच्छा हुई कि वे अपनी समस्त स्वर्ण-राशि एवं आभूषणोंके द्वारा ही अपने प्राणवल्लभ श्रीद्वारकाधीशका तोलन करें। देश-देशके मणि-रत्नों एवं स्वर्णाभूषणोंसे भरी अनेक मंजूषाएँ उनके पास थीं।

शुभ मुहूर्त्तमें महारानीने स्वयं श्रीकृष्णके नीलोज्ज्वल शरीरमें केसर-गर्भित अङ्गरागका लेपन किया, फिर पवित्र जलसे स्नान कराया। बिल्लौर-विजडित प्राङ्गणमें रजत-तुला मँगायी गयी और श्रीकृष्ण एक पलड़ेपर इस प्रकार विराजमान हुए, जैसे सुयशकी पीठिकापर मूर्तिमान् तप सुशोभित हो। दूसरे पलड़ेपर सत्यभामाजी अपने आभूषणों और काञ्चन-उपकरणोंको रखने लगीं। धीरे-धीरे उनके सारे रत्न, आभूषण और स्वर्णराशि समाप्त हो गयीं। मंजूषाएँ कृपणकी उदारताकी भाँति रिक्त हो गयीं, परंतु श्रीकृष्णजीका पलड़ा झुका ही रहा। सत्यभामाजी घबरा गयीं, जैसे जीवन-संग्राममें उनकी भयानक पराजय हो गयी हो। अनेक रानियाँ और दासियाँ यह सब देख रही थीं। श्रीकृष्ण मुसकरा रहे थे। उस मुसकानमें व्यंगका रंग ही नहीं, स्नेहका प्रकाश भी था। निराश होकर सत्यभामाजी रुक्मिणीजीसे बोलीं—'जीजी! अब क्या होगा? मेरा तो गर्व चूर हो गया है। मेरे पास तो अब कुछ नहीं रह गया। कोई युक्ति करो, सखी!'

रुक्मिणीजी सहानुभूति-शील होकर बोलीं—'मेरे गहने ले लो। पर मुझे विश्वास नहीं होता कि हमारे ये प्राणवल्लभ बहुमूल्य आभूषणों और स्वर्ण-मुद्राओंसे तुल जायँगे! अच्छा, सखी! मैं एक उपाय करती हूँ।' रुक्मिणीजी भीतर गयीं और कुछ ही क्षणोंके पश्चात् हाथमें काँचका एक लघु पात्र और कागजका एक टुकड़ा लिये हुए लौट आयीं। पात्र और पत्रको उन्होंने पलड़ेपर रख दिया। सबने हर्ष और आश्चर्यसे देखा कि वह पलड़ा झुक गया और श्रीकृष्णका पलड़ा ऊपर उठ गया। इस प्रकार श्रीकृष्णजी तुल गये। सत्यभामाजीकी बात रह गयी। अहंकारने विनयके सम्मुख सिर झुकाया।

सत्यभामा रुक्मिणीको छातीसे लगाती हुई बोलीं—'जीजी! तुमने यह कौन-सा त्रोटक कर दिया? क्या उस काँचके पात्रमें कोई जादू था? क्या इस कागजमें कोई मन्त्र लिखित था?' श्रीकृष्णजीने कागज खोलकर पढ़ा। उसमें बस इतना ही लिखा था—'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ।' फिर हँसकर पूछा—'वैदर्भी! इस शीशीमें तुमने क्या भर रक्खा है, जिसकी गुरुताके समक्ष मुझे हलका होना पड़ा?'

रुक्मिणीजी सकुचाती हुई बोलीं—'इसमें मेरे कुछ आँसू भरे पड़े हैं।'

'आँसू?' विस्मय-विस्फारित होकर सत्यभामाजी बोल उठीं।

रुक्मिणीजी उसी सरलतासे बोलीं—'हाँ सखी—जब कभी प्रिय (माधव) के हेतु आँसू झर पड़ते थे तो मैं इन्हें प्रियका उपहार मान सँजो लेती थी····।'

'अच्छा, यह बात है! मैं समझी। तुम धन्य हो जीजी!' सत्यभामाके मुखसे इतने ही शब्द निकले। उसने श्रीकृष्णके पावन पदारविन्दोंपर मस्तक रख दिया। इसी क्षण नगारे बज उठे, मेघ मन्द स्वरमें गरज उठे। रसके फुहारोंसे सब सिक्त हो उठे।

आध्यात्मिकता और भौतिकतामें वरेण्य क्या है ?

(लेखक—प्रोफेसर श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त एम्० ए०, एल-एल्०बी०, आर० इ० एस्०)

जिस युगमें हम आज जीवन-यापन कर रहे हैं, वह विज्ञानका युग कहा जाता है। यह इसलिये कि विज्ञानके नित्य नवीन आविष्कारोंकी प्रगति और प्रसारसे हमारा आचार-व्यवहार और दैनिक जीवनचर्या ही प्रभावित नहीं हुई है, वरं हमारी चिन्तन-पद्धतिमें भी एक आपातिक परिवर्तन आ गया है। आज मानवकी बुद्धि-चेतनाशक्तिने उसकी भावात्मक-सत्ताको आक्रान्त कर लिया है। भौतिक समृद्धि ही जीवनकी चरम साधना बन गयी है। मानवीय कृत्योंकी कृतकार्यता अर्थसंचय या भोगसंग्रहमें ही समझी जाती है। विज्ञानप्रदत्त सुख-सुविधाके साधनोंने मानवको अपना क्रीत दास बना लिया है। छोटी-छोटी वस्तुओंका अभाव हमारे दैनन्दिन जीवनको संकटापन्न बना देता है। यही नहीं, हमारी आध्यात्मिक निष्ठाओं, ईश्वर-सम्बन्धी आस्थाओं और परम्परागत विश्वासोंकी अन्धविश्वास या रूढिवादिताके नामसे खिल्ली उड़ायी जाती है। पूजन-अर्चन और धर्माराधनको समयका दुरुपयोग कहकर छोड़ा जा रहा है। आध्यात्मिकताके प्रति उपेक्षाभावका परिणाम भी बुरा ही हुआ है। जीवन पहलेसे अधिक विषम और अभावग्रस्त होता जा रहा है। अधिकसे अत्यधिक और अत्यधिकसे सर्वाधिककी कामनाने मनुष्यमें स्वार्थ, प्रवञ्चना, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा आदि कुप्रवृत्तियोंको जन्म दिया है। इसके विपरीत जीवनमें दया, क्षमा, सत्त्व, शील, स्नेह, करुणा, ममत्व आदि शाश्वत सद्-वृत्तियोंका निरन्तर ह्रास हो रहा है। आजका विश्व-जीवन जितनी संशयग्रस्त, भयाक्रान्त और विषम परिस्थितियोंसे गुजर रहा है, उतना कभी नहीं रहा। प्रस्तुत प्रसंगमें विचारणीय यह है कि जीवनमें यह वैषम्य वस्तुतः आया क्यों ? इस संकटापन्न स्थितिके लिये उत्तरदायी कौन है ? और अन्ततः ऐसे वातावरणसे मुक्तिका उपाय क्या है ? दूसरे शब्दोंमें आज हमारे समक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि भौतिकता और आध्यात्मिकतामेंसे किसे वरण किया जाय ? जीवनके लिये दोनोंमें कौन-सी प्रवृत्ति हितकर है ?

एक बात ध्रुव सत्य है कि भौतिकतासे जीवनमें कभी भी पूर्ण परितृप्ति नहीं आ अकती। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि संसारका सबसे धनवान्, ऐश्वर्यवान् और पदमहान् व्यक्ति भी संतुष्ट नहीं है; वरं भौतिक दृष्टिसे साधनसम्पन्न व्यक्तियोंका जीवन अधिक संघर्षमय और चिन्ताग्रस्त देखा जाता है। यही बात विज्ञानकी प्रगतिके बारेमें भी चरितार्थ होती है। आरम्भमें विज्ञानने मानवकी सुख-सुविधाओंकी सामग्री जुटायी। उदाहरणके लिये विद्युत्‌के आविष्कार एवं यातायातके साधनोंके विकाससे जीवन सुखमय बना। इन सुविधाओंके कारण मानवीय चिन्तन-बोध विज्ञानकी ओर बड़े वेगसे आकर्षित भी हुआ। शनैः-शनैः विज्ञानने विध्वंसक अस्त्रोंका आविष्कार किया। अणु-परमाणु बम्ब बने, मिसाइलस् और राकेट यान बने और आज स्थिति यह है कि विज्ञानको अपनी ही प्रगतिपर पश्चात्ताप और भय होने लगा है। विज्ञानके ध्वंसात्मक उपकरणोंने संसारमें तनावका वातावरण उत्पन्न कर दिया है। महायुद्धकी आशङ्का बढ़ती जा रही है। आज 'शिखर-सम्मेलन' किये जाते हैं—'शान्ति'के लिये, अणु-अस्त्रोंके निर्माणपर रोक लगानेके लिये। निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन वास्तवमें विज्ञानके वैभवपर पश्चात्ताप ही है, और कुछ नहीं। रूस और अमेरिका-जैसे देश भी आज यह सोचनेको बाध्य हो रहे हैं कि निर्मित परमाणु अस्त्रोंको नष्ट किया जाय, आगेके निर्माणपर प्रतिबन्ध

लगाये जायँ। विचित्र विडम्बना है। मानव अपने ही कृत्यपर पश्चात्ताप कर रहा है। उसका अपना ही कृतित्व घातक एवं संहारक बन गया! यह स्थिति अन्ततः आयी क्यों? इसलिये कि परमाणु-शक्तिके आविष्कारक राष्ट्र भौतिक दृष्टिसे सर्वशक्ति-सम्पन्न बन जाना चाहते थे। एक दूसरेसे अधिक शक्तिशाली बननेकी होड़में उन्होंने मानवताको मृत्युके कगारपर लाकर खड़ा कर दिया है। विज्ञानकी प्रगतिकी पुकार, मानवताका चीत्कार बन रही है। ध्वंसक अस्त्रोंके आविष्कारसे विनाशकी सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं। दूसरा पक्ष लीजिये—भौतिक सुख-सुविधाओंकी अभिवृद्धिने मनुष्यको विलासप्रिय और कामचोर बना दिया। परिणामस्वरूप जनसंख्यामें अयाचित वृद्धि हो रही है। कितनी ही योजनाएँ बनें, उनके लक्ष्य अपूर्ण रह जाते हैं। बड़ी-से-बड़ी पञ्चवर्षीय योजनाएँ भी जीवनको शान्ति और सच्चा सुख समुपलब्ध नहीं करा पा रही हैं। प्रश्न है—इसके लिये उत्तरदायी कौन है? उत्तर स्पष्ट है—स्वयं आजका मोहग्रस्त मानव। हम स्वयं अपने जीवनको विषाक्त बना रहे हैं। अतृप्त आकांक्षाएँ ही हमारी मानसिक अशान्तिकी मूल कारण हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस वातावरणसे छुटकारा कैसे पाया जाय? युद्धकी विभीषिकासे आज त्राणका एक ही उपाय शेष रह गया है और वह है—'स्वधर्मका पालन।' यहाँ हम धर्म शब्दका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थोंमें कर रहे हैं। धर्म जीवनकी अनिवार्य आवश्यकता है। धर्मका आधार मनुष्यकी आध्यात्मिक निष्ठा होती है। धर्मका रूप आस्था और विश्वासपर अवलम्बित रहता है। धर्मकी धारणासे जीवन आशामय और सुख-सम्पन्न होता है। धर्मका बाह्यरूप कुछ भी हो, उसकी मूलभूत विशेषता आस्था (विश्वास) ही है। एक अज्ञात सत्ता और शक्तिके प्रभुत्वको सर्वोपरि मानकर, उसी सत्ताको विश्वव्यापी मानना धर्मकी व्यापक कल्पना है। संसारके सभी धर्मोंमें कुछ सर्वसम्मत सिद्धान्त या विश्वास प्रचलित हैं। ये विश्वास सृष्टि-रचनाके अनादिकालसे मानवताको धरोहर या विरासतके रूपमें प्राप्त हुए हैं। समय-समयपर इन विश्वासोंको बल प्रदान करनेके लिये ईश्वरीय किंवा प्राकृतिक शक्तियोंने प्रमाण भी दिये हैं। 'धर्मसंस्थापन'-के लिये युग-युगमें उस अनन्त सत्ताका अनेकानेक रूपोंमें आविर्भाव (अवतार) भी हुआ है। विश्व-सभ्यताके विकासके इतिहासमें मानव-मूल्योंका विघटन इस रूपमें कभी नहीं हुआ, जैसा कि आज हो रहा है। हमें किसी-न-किसी आध्यात्मिक सत्ताका अनुशासन स्वीकार करना ही पड़ेगा। आध्यात्मिक संयमके अभावमें स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियाँ व्यक्तिको कुमार्गगामी बना देती हैं, जैसा कि आज हो रहा है। बड़े-बड़े निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों और शिखर-शान्तिवार्ताओंसे भी आजका संकट दूर हो सकेगा—संदेहास्पद है। आजके संकटका निवारण पारस्परिक विश्वास और बन्धुत्व-भाव (वसुधैव कुटुम्बकम्) से ही हो सकता है। इन गुणोंका विकास धर्म-पालनसे ही सम्भव है। धर्म-पालनका अभिप्राय किसी समुदाय-विशेषका सदस्य बनने या सिद्धान्त-पद्धतिके अनुपालनसे भी नहीं है। धर्मपालनका उद्देश्य मनुष्यके नाते सद्विवेकके आधारपर कर्तव्यपरायण बनने और मानवीय उत्तरदायित्वके निर्वाहसे है। सर्वोपरि सत्तामें विश्वास ही आध्यात्मिकता है। विश्वधर्म या मानवतावादी धर्मकी इससे सरल कल्पना नहीं की जा सकती। हम प्राणीमात्रमें अनन्त सत्ताकी झलक देखने लगें या कम-से-कम इस ढंगसे सोचने लगें, तो भी स्वार्थवादी प्रवञ्चनाकी प्रवृत्ति कम हो सकती है। हमें यह बात अन्ततः स्वीकार कर लेनी चाहिये कि भौतिक उपलब्धियाँ अवास्तविक एवं क्षणिक हैं। वास्तविक शान्ति आध्यात्मिकताको ही वरण करनेमें है। 'आत्मबोध' और 'तत्त्वचिन्तन'में

सुख है । मैंने दो बड़े शब्दोंका प्रयोग किया, किंतु इनका अर्थ बड़ा सरल है । 'आत्मबोध'का अर्थ है—स्वकर्तव्यका ज्ञान और 'तत्त्वचिन्तन'का अर्थ है अनन्त सत्तामें अनन्य विश्वास । मेरा दृढ़ विश्वास है कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व सभीका हित आध्यात्मिकताको वरण करनेमें है ।

* * *

संस्कृतिकी भाषा

(लेखक—प्रो० श्रीदेवदत्तजी भट्टि, शास्त्री, एम्० ए०, पी० ई० एस्०)

किसी देशकी संस्कृतिका परिचय प्रायः तद्देशीय इतिहास-ग्रन्थोंके एवं स्मृतियोंके अध्ययन तथा परिशीलनसे मिला करता है; किंतु इसके साथ-साथ उस संस्कृतिके अनुयायियोंकी भाषा भी इस दिशामें पर्याप्त प्रकाश डालती है । किसी संस्कृतिका परिचय पानेके लिये उस संस्कृतिके अनुयायियोंकी भाषाके अवलोकनका मार्ग सर्वोत्तम कहा जा सकता है; क्योंकि यह किसी इतर प्रमाणपर आश्रित नहीं होता और न इसमें किसी प्रकारकी भूल-चूकका ही प्रश्न होता है । साक्ष्यान्तर भी इसे बाधित नहीं कर सकता । यह बात सर्वविदित है कि भाषाके साथ आचार-विचारका गहरा सम्बन्ध हुआ करता है । एक विशेष प्रकारका आचार-विचार भाषाको भी विशिष्ट साँचेमें ढाल दिया करता है ।

भारतीय संस्कृति त्याग-प्रधान है—इसमें किसीको संदेह नहीं । महामुनि पतञ्जलिने ब्रह्म-प्राप्तिके लिये अष्टाङ्ग योग बतलाया है । उसमें सबसे पहले यम है । पाँच यमोंमें एक अस्तेय भी है । अस्तेयका अर्थ है—किसीकी वस्तुको अनधिकृत रूपमें ग्रहण न करना अर्थात् चोरी न करना । चोरी करना हमारे यहाँ प्रारम्भसे ही हेय माना जाता रहा है । हमारे यहाँ चौर्य-कर्म नहींके बराबर था । इसमें चीनी यात्री ह्वेनसांग और मेगस्थनीज साक्षी हैं । पर हमें चोरीके लिये उनके साक्ष्यकी तनिक भी अपेक्षा नहीं, जबतक हम अपनी संस्कृतमें 'तस्कर' शब्दको पाते हैं ।

तस्कर शब्दकी निरुक्ति है—'तत्करोतीति तस्करः' अर्थात् जो उसको करता है, वह तस्कर (चोर) होता है । यहाँ 'तत्' सर्वनामसे चौर्यकी ओर इंगित है। सर्वनामका प्रयोग सर्वदा संज्ञाके स्थानपर किया जाता है । जहाँपर संज्ञा गम्य हो । यहाँपर संज्ञाके गम्य न होनेपर भी सर्वनामका प्रयोग करना इस बातका द्योतक है कि हम चोरीको इतना गर्हित तथा निन्द्य समझते थे कि उसका नाम लेना भी या अपने मुखसे चोरी शब्दका उच्चारण करना भी हेय समझते थे। जिस कार्यका नाम लेना भी हमें पसंद नहीं, उस कार्यका करना दूरकी बात है । अतः 'चोरी करनेवालेको चोर कहते हैं ।' ऐसा न कहकर 'उसको करनेवालेको चोर कहते हैं ।' ऐसा कहा जाना चोरीकी बुराईपर पुष्कल प्रकाश डालना है । 'तस्कर' शब्दसे ही चोरीके लिये हमारी क्या धारणा थी तथा समाजमें और व्यक्तिमें इसके लिये क्या स्थान था, इस बातका पूरा पता लग जाता है । संस्कृत-कोषोंमें ताले-कुंजीके लिये किसी शब्दका न होना भी चौर्याभावको बताता है । इसी प्रकार एक शब्द है 'अवद्य' । अवद्यका भावार्थ होता है—'पाप' तथा शब्दार्थ होता है—न करने योग्य । कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि पापकर्मोंको हम अकरणीय समझते थे । इसीलिये पाप (बुरे कर्म) को अवद्य (अकरणीय) कहा जाता है ।

शब्द कई बार सांस्कृतिक विशेषताओं एवं मान्यताओंके अतिरिक्त व्यक्तियोंके स्वभावपर भी आलोक पहुँचाते हैं । भारतीय स्वभावसे ही सरल एवं ईमानदार

थे और हैं, इसका पता चलता है 'साप्तपदीन' शब्दसे। साप्तपदीन शब्द विशेषण था परंतु कालान्तरमें इसने विशेष्यका रूप ग्रहण कर लिया। साप्तपदीनका अर्थ होता है-'सात कदम एक साथ चलनेमें होनेवाला कर्म।' इसका भावार्थ होता है—'मैत्री'। अर्थात् जिसके साथ सात कदम एक साथ चल लिये, वह आपका मित्र बन गया। सात कदम साथ चलना ही मित्रता कहलाती थी। इसका एक और भी अर्थ निकलता है। वह है—'सात वचन बोलनेका नाम मैत्री होता है।' तो सात वचन बोल लेनेपर या सात कदम चलनेपर मित्रता करना भारतीयोंका सहज स्वभाव हुआ करता था।

इसी विश्वासको लेकर आज भी हिंदुओंके यहाँ विवाहोंमें सप्तपदीकी विधि है। इस विधिके लिये आश्वलायन गृह्यसूत्र (१ । ८ । १९) में **'ओम् सखे सप्तपदी भव'** कहा गया है।

इसी साप्तपदीन मैत्रीमें निहित सरलताके प्रमाण हमें अर्वाचीन काव्योंमें भी मिलते हैं। 'कुमारसम्भव' में ब्रह्मचारीके वेशमें आये हुए शिव पार्वतीसे कहते हैं—

यतः सतां संनतमात्रसंगतं
मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ॥

'हे सुन्दरि ! मनीषी सज्जनोंके साथ चल देने मात्रको मैत्री कहते हैं।'

रघुवंशमें भी एक स्थलपर कहा है—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः ।

'केवल बोलचालसे ही सम्बन्ध स्थापित हो जाया करता है।'

भारतीय संस्कृति त्यागप्रधान होती हुई भी अर्थकी महत्तासे अनवगत नहीं। संस्कृतिके 'धन्य' शब्दको कौन नहीं जानता। पाणिनिके 'धनगणं लब्धा' सूत्रके अनुसार धनं लब्धा (धन प्राप्त करनेवाला) धन्य कहा जाता है। चूँकि धन प्राप्त करनेवालेको भाग्यवान् समझा जाता है। इसी कारण धन्य शब्दका अर्थ सौभाग्यशाली हो गया। पर यहाँ यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिये कि हम भारतीयोंको धनकी प्राप्ति या अर्जन किसी निश्चित सीमातक ही अभिप्रेत था और वह भी **'दानाय संचितार्थानां'** के अनुसार दानके लिये ही होता था। असंख्य सम्पत्तिको संचित करना हमें कैसा लगता था, इस बातको देखिये 'कुबेर' शब्दके अर्थसे—

कुबेरका अर्थ है—**'कुत्सितं वेरमस्येति कुबेरः'** अर्थात् जिसका शरीर बुरा हो वह कुबेर हुआ। यहाँ कुबेरको, जो कि स्वर्गमें देवोंका धनपति है, बुरे शरीरवाला कहनेका तात्पर्य इसलिये हुआ; क्योंकि वह विशाल सम्पत्तिका अधिपति है। कुबेरका दूसरा नाम 'कुष्ठी' भी है। इससे भी इसी भावनाको बल मिलता है कि धन-संचयके कारण कुबेरका शरीर दूषित है। कुबेरका नाम 'नरवाहन' भी है। दूसरोंको बिना सताये या बिना दलित किये धनार्जन करना असम्भव है। सम्भवतः इसलिये उसे नरवाहन कहा है। महाभारतमें कहा है—

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥

दूसरोंके मर्मोंके ऊपर आघात किये बिना, कठोर और जघन्य काम किये बिना और कसाईकी भाँति हिंसा किये बिना धन प्राप्त नहीं होते।

दान न देनेका क्या परिणाम हो सकता है इसका अनुमान 'अराति' शब्दसे चलता है। अराति उस धनवान्को कहते हैं जो दान नहीं देता; क्योंकि वह समाजके धनको दबाकर रखता है, अतः वह समाजका शत्रु है।

भारतीय संस्कृतिमें दानका स्थान बहुत ऊँचा है। देश, काल और पात्रका विचार करके दान देना प्रशस्यतम माना गया है। किंतु दान न देनेवालेको कुत्सित समझा जाता था। 'कदर्य' शब्दको देखिये। कदर्यका अर्थ कंजूस होता है। अर्यका अर्थ स्वामी और कुत्का

अर्थ बुरा 'बुरा स्वामी' कदर्यका पर्याय हुआ। अर्थात् जो स्वामी अपने भृत्योंपर तथा अपनेपर खर्च करता सकुचाता है, वह कुत्सित स्वामी है, प्रशंसनीय नहीं। कंजूसीकी भर्त्सना ही हमें मान्य थी, जहाँ भी यह धनसे सम्बद्ध थी। कंजूसीकी भर्त्सनासे दानकी तथा खर्चकी भावनाकी प्रशंसा होती है।

भारतीय संस्कृतिमें अन्तरात्माकी शुद्धिके साथ शारीरिक शुद्धि या बाह्य शुद्धिपर नितान्त ध्यान दिया जाता था। हमारे यहाँ स्नानकी महिमा बहुत रही है। चतुर व्यक्तिके लिये 'नदीष्ण' शब्दका प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसका शब्दार्थ नदीमें नहानेवाला है। इस शब्दसे स्नानकी महिमा चातुर्य-गुणके द्वारा लक्षित होती है। अथच इसी प्रसंगमें 'स्नातक' शब्दसे भी यही भाव उपोद्वलित होता है। 'स्नातक' उस व्यक्तिको कहते हैं, जिसने विद्या समाप्त कर ली हो। लेकिन इसका भी शब्दार्थ 'नहाया हुआ' ही होता है। यहाँ स्नान-क्रियासे विद्या-पारंगत होना अभिव्यञ्जित होता है। अपिच राजाको राजसिंहासनपर पहली बार बैठानेके लिये संस्कृतमें 'अभिषेक' शब्दका प्रयोग किया जाता है। अभिषेकका शब्दार्थ भी स्नान ही होता है। यद्यपि राजसिंहासनारोहणपर मुकुट पहनाना, दण्ड हाथमें देना, छत्र धारण करना आदि अनेक क्रियाएँ होती हैं तथापि स्नान-क्रिया प्रधान होनेके कारण अभिषेक शब्दका प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजीमें राजसिंहासनारोहणको Coronation 'कोरोनेशन' कहते हैं। कोरोनेशनका अर्थ मुकुट पहनाना होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारतीय संस्कृतिमें स्नानका अधिक महत्त्व होनेके कारण इसे अभिषेक कहा जाता है, जब कि पश्चिमकी संस्कृतिमें मुकुट पहराना (Coronation)।

स्नानके महत्त्वके साथ ही नदियोंके महत्त्वको कम किया जा सकता। सम्भवतः इसीलिये अनुकूल, प्रतिकूल, प्रतीप आदि शब्द प्रयोगमें आये होंगे। इन शब्दोंकी सत्तासे नदियोंकी महत्ताकी अङ्कन आसानीसे हो जाता है।

जहाँ भारतीय-जन-जीवनमें जलका गहरा स्थान था, वहाँ अन्य देशवासियोंकी भाँति पक्षियोंके साथ इष्टानिष्टकी धारणाका भी विश्वास था। सगुन और अपसगुनको संस्कृतमें शकुन तथा अपशकुन कहते हैं। शकुन शब्द शकुनि (पक्षी) की ओर संकेत करता है। अतः शब्द-साम्यके कारण शकुनों और अपशकुनोंका शकुनियों (पक्षियों) से गहरा सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऐसी मान्यता आज भी देखनेको मिलती है। गरुड, कुक्कुट, काक, सर्प आदिका दिखायी देना समयके अनुसार आज भी शकुन और अपशकुन माना जाता है।

इन सब उदाहरणोंसे न केवल भारतीयोंके मन्तव्योंका ही भान होता है, अपितु उनकी दिनचर्याका भी। भारतीयोंकी वेश-भूषा बहुत ही सीमित तथा संक्षिप्त हुआ करती थी। संस्कृतमें पहनने-ओढ़नेके वस्त्रोंके लिये सदा द्विवचनका ही प्रयोग उपलब्ध होता है, जैसे—वाससी, दुकूले, वस्त्रे इत्यादि। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीयोंकी वेश-सज्जा केवल दो वस्त्रोंतक ही सीमित थी। एकको अधोवस्त्र और दूसरेको उत्तर-वस्त्र कहा जाता था। अधोवस्त्र कटिभागसे नीचे तथा उत्तरवस्त्र कटिसे ऊपर प्रयोग किया जाता था।

वस्त्रोंकी बहुत कम खपत या आवश्यकता थी। इसकी ओर तन्तुवाय (जुलाहे) के लिये प्रयुक्त 'कुविन्द' शब्दसे प्रकाश पड़ता है। कुविन्द शब्दकी व्युत्पत्ति—'कुत्सितं विन्दतीति कुविन्दः' ऐसे की जाती है। अर्थात् जिसकी आय बहुत कम होती है। कुविन्दकी आय कपड़ेकी खपत कम होनेके कारण बहुत कम हुआ करती थी।

कपड़ेका कम प्रयोग होना यहाँकी ऋतुकी ओर भी संकेत करता है। यहाँ अधिक सर्दी नहीं हुआ

करती थी। जितनी होती थी, वह सह्य थी इसका भी पता चलता है।

भारतीय-जन-जीवनकी दिनचर्यामें नापितोंके स्थानके विषयमें नापितके लिये 'जनंगम' शब्दका प्रयोग पर्याप्त प्रकाश डालता है। जनंगम शब्दसे प्रतीत होता है कि प्राचीनकालमें नापित लोग लोगोंके पास जाकर क्षौर क्रिया करते थे। आजकी तरह दूकानोंपर लोगोंको नहीं जाना पड़ा करता था। अपिच शास्त्रोंमें रात्रिक्षौर वर्जित है। इसके लिये हमें धर्मशास्त्रोंमें देखनेकी आवश्यकता नहीं। 'दिवाकीर्ती' शब्दसे ही पता चल जाता है कि नापितोंको (दिवा एव कीर्त्यते) दिनमें ही बुलाया जाता था रातको नहीं।

प्राचीन भारतमें शिक्षाके ढंगपर 'उपाध्याय' शब्द प्रकाश डालता है। उपाध्यायका अर्थ होता है—अध्यापक। 'उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः' इस निर्वचनके अनुसार शिष्योंका अध्यापकोंके पास जाकर पढ़ना प्रमाणित होता है। आजकी भाँति घर जाकर पढ़ाना या डाकशिक्षा (Correspondence Education) नहीं थी।

भारतीय संस्कृतिकी शिक्षा-दीक्षा देने-लेनेवाले गुरु-शिष्योंके सम्बन्ध परस्पर एक दूसरेकी कमीको पूरा करनेके लिये थे, इस बातका प्रमाण 'छात्र' शब्दसे मिलता है। **'छत्रमिवेति छात्रः'** अथवा **'छादयति दोषान् गुरोः'** इस व्युत्पत्तिके आधारपर हम अनुमान कर सकते हैं कि शिष्यका गुरुके प्रति क्या कर्तव्य था। शिष्योंका कर्तव्य था कि वे अपने गुरुके लिये छत्र बनें। छत्रकी भाँति उनकी रक्षा करें तथा उनकी कमियोंको ढकें।

कई शब्द भारतीय (दार्शनिक) विचारधाराका प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारी यह मान्यता है कि दुःख शरीरका विषय है, आत्माका नहीं। इसे हम दुःख शब्दसे सिद्ध कर सकते हैं। दुःखका अर्थ 'कष्ट' होता है। इसका सन्धिच्छेद करनेपर 'दुः'का अर्थ कष्ट होता है तथा 'ख' का अर्थ इन्द्रिय होता है। अर्थात् कष्ट इन्द्रियोंको होता है, आत्माको नहीं। यह छोटा-सा शब्द सांख्य-दर्शनके तत्त्वकी ओर संकेत कर गया। अतः हम कह सकते हैं कि शब्द संस्कृतिका इतिहास लेकर चलते हैं। प्रत्येक संस्कृतिकी एक भाषा हुआ करती है जो अपने शब्दोंमें उस संस्कृतिको संजोकर युग-युगतक जीवित रहती हुई अपने अनुयायियोंको अनुप्राणित करती रहती है।

निवेदन

(रचयिता—श्रीओम्प्रकाशजी)

पृथक् हो सरिता
यदि स्रोतसे
तो वह सूख जायगी।
यही दशा मेरे जीवनकी होगी,
यदि मैं अनन्त निर्झरसे,
निरन्तर जल ग्रहण न करूँ॥

विभो! इस मन्दिरमें
अहंकारका आसन न हो,
पापका कानन न हो,
एक ही चाह है कि तुम, तुम ही,
निरन्तर विराजमान रहो।

मेरे जीवनमें तेरे ही गीत हों,
संगीत हों,
हृदयतन्त्रीसे एक ही स्वर झंकृत हो,
'तुम अपना सौन्दर्य दो'
'तुम अपना सौन्दर्य दो'

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरु रामप्यारेजी अग्निहोत्री इतिहासकार, रीवा)

'कल्याण' अङ्क ८ वर्ष ३९में मैंने 'जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता' शीर्षक एक छोटा-सा निवन्ध केवल भूमिका रूपमें लिखा था। मैं उस पूर्व लेखमें लिख चुका हूँ कि वह लेख केवल स्वरोदय-ज्ञानकी भूमिका मात्र था। वास्तवमें यह एक गूढ़ विषय है। इसीसे ज्योतिष शास्त्रका प्रणयन हुआ और इसीके आधारपर शुभ और अशुभ कार्योंका समाधान किया गया है। स्वरोदयका ज्ञान बड़ा ही सूक्ष्म ज्ञान है। आजके युगमें इसकी साधना बड़ी ही गूढ़ और गहन है। स्वरोदयका ज्ञान केवल योगकर्मियों तक ही सीमित रहनेके कारण इसका प्रचार साधारण गृहस्थों तक नहीं हो सका और यही कारण है कि आज स्वरोदयके ज्ञाताओंका पूर्ण अभाव-सा हो गया है। इसके इतिहासका भी कुछ पता नहीं कि कब और कैसे इसका विकास हुआ। शिव-पार्वतीके संवादके रूपमें ही इस गूढ़ तत्त्वका संकेत मिलता है।

स्वरज्ञान एक ऐसा देवज्ञान है कि जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवनकी बहुत-सी समस्याएँ अपने-आप सुलझ जाती हैं। इसकी साधनाका फल कभी असत्य नहीं होता; किंतु बिना साधनाके यह सुलभ भी नहीं है। सबसे पहले शरीर-साधना और उसके पश्चात् मन-साधनाका विषय आता है। शरीर-साधना उतनी क्लिष्ट नहीं है जितनी मन-साधना। मनको एकाग्र करनेके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे **'वायोरिव सुदुष्करम्'** वाक्यका प्रयोग किया है। वास्तवमें बात है भी सत्य; किंतु स्वर-साधनासे मन-साधना बहुत अंशोंमें सफल हो जाती है। इसके सम्बन्धमें कहा गया है—

गुह्याद् गुह्यतरं सारमुपकारप्रकाशनम्।
इदं स्वरोदयं ज्ञानं ज्ञानानां मस्तके मणिः॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् गुप्त-से-गुप्त तत्त्व एवं उपकारको प्रकट करनेवाला यह स्वरोदय-ज्ञान सब ज्ञानोंमें मस्तककी मणिके समान श्रेष्ठ है। आगे भी कहा गया है—

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ज्ञानं सुबोधं सत्यप्रत्ययम्।
आश्चर्यं नास्तिके लोके आधारं त्वास्तिके जने॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् यह स्वरोदय-ज्ञान सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म है, फिर भी बोधगम्य और सत्यका अनुभव करानेवाला है। यह नास्तिकोंके लिये आश्चर्यजनक और आस्तिकोंके लिये आधार है।

ये भगवान् शंकरजीके वाक्य हैं जो पार्वतीजीके प्रति कहे गये हैं। भगवान् शंकरजीने स्वरोदय-ज्ञानके जिज्ञासुओंके प्रति कहा है कि स्वरोदय-ज्ञानका शिक्षार्थी शान्त, शुद्ध, सदाचारी, गुरुभक्त, दृढ़चित्त और कृतज्ञ हो। संसारमें स्वर ही प्रधान है। क्या वेद, क्या शास्त्र—सभी स्वर-प्रधान हैं। कहा गया है—

स्वरज्ञानात्परं गुह्यं स्वरज्ञानात्परं धनम्।
स्वरज्ञानात्परं ज्ञानं न वा दृष्टं न वा श्रुतम्॥

(शिवस्वरोदय)

अर्थात् स्वरज्ञानसे उत्तम दूसरी गोपनीय वस्तु नहीं है। स्वरज्ञानसे उत्तम कोई धन नहीं और न स्वरज्ञानसे परे दूसरा कोई ज्ञान ही देखने अथवा सुननेमें आया है।

इसी स्वर-बलसे शत्रुका नाश होता है, लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तथा कीर्ति और उत्तम सुख भी प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, स्वर-बलसे संतानकी प्राप्ति होती है, देवता सिद्ध होते हैं तथा संसारकी सभी दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होती है। स्वरोदय-ज्ञान अत्यन्त गोपनीय भी है। यह केवल मन, बुद्धि और वाणीका ही विषय है। इसके लिये तिथि-वार-ग्रह-नक्षत्र आदि कोई भी अवरोधक नहीं हैं। यह तो हुआ स्वरज्ञानका संक्षिप्त माहात्म्य।

लेखकी भूमिकामें हमने इड़ा (चन्द्र-नाड़ी), पिंगला (सूर्य-नाड़ी) और सुषुम्ना (शिव-नाड़ी) का संकेत किया है तथा इन नाड़ियोंके प्रवाहका संकेत भी किया है। यहाँपर हम संक्षेपसे इन नाड़ियोंके प्रवाह-कालमें किये जानेवाले कार्योंका उल्लेख करेंगे अर्थात् इन नाड़ियोंके स्वर-प्रवाहमें कौनसे कार्य सिद्धिदायक होते हैं; स्वभावतः इन नाड़ियोंका प्रवाह शरीरमें क्रमानुसार सर्वदा होता रहता है। प्रवाहकी परीक्षाके अनन्तर कार्यारम्भ सिद्धिदायक होता है।

साथ ही आवश्यकतानुसार स्वर-प्रवाह बदले भी जा सकते हैं।

यदि प्रातःकालकी चार घड़ी पहलेसे स्वरोंका उदय विपरीत हो अर्थात् चन्द्र-स्वरके स्थानपर सूर्य-स्वर चलता हो अथवा सूर्य-स्वरके स्थानपर चन्द्र-स्वरका प्रवाह हो तो प्रथम घड़ीकी यह विपरीतता मनमें उद्वेग पैदा करती है; दूसरी घड़ीकी विपरीतता धन-व्ययकी सूचक है, इसी तरह तीसरी घड़ीकी विपरीतता यात्राकी परिचायक और चौथी घड़ीकी इष्ट-पदार्थके विनाशका संकेत करती है।

इसी प्रकार सूर्योदयकी चार घड़ियोंतक अर्थात् सूर्योदयसे प्रथम घड़ीमें यह स्वरकी विपरीतता सम्पत्तिका नाश करती है, दूसरी घड़ीमें सम्पूर्ण कामनाओंका विनाश करती है, तीसरी घड़ीमें रोग अथवा दुःखकी सूचना देती है तथा चौथी घड़ीमें मृत्युका अवश्यम्भावी संकेत करती है। इस तरह स्वरकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर स्वाभाविक स्वर परिवर्तित किये जा सकते हैं और अनर्थोंसे अपनी रक्षा की जा सकती है। स्वरोदयका ज्ञानी यदि स्वरोदयकी परीक्षा यथार्थरूपसे न कर सका तो वह अवश्य ही स्वरकी सांकेतिक परिस्थितियोंका भोक्ता बन जाता है। आठ दिनोंतक स्वरकी यह विपरीतता अनिष्टकारिणी होती है। प्रातः (सूर्योदयके आध घंटा पहलेसे सूर्योदय हो जानेके बाद आध घंटातक), मध्याह्न (बारह बजेके आध घंटा पहलेसे आध घंटा बादतक) यदि नैमित्तिक रूपसे चन्द्र-स्वरका प्रवाह हो तो नित्य ही कामनाकी सिद्धि और जय लाभ होता है और अगर सूर्य-स्वरका प्रवाह हुआ तो वह अनिष्टकारी होता है।

शय्या-त्यागके पहले ही स्वर-परीक्षा करना आवश्यक है; क्योंकि शय्या-त्यागके पश्चात् दैनिक जीवनका प्रारम्भ होता है। यदि स्वरकी विपरीतता हुई तो सारा दिन उलझनोंमें व्यतीत होता है। अनुकूल स्वर हो जानेपर ही शय्या-त्याग करनी चाहिये। चन्द्र-स्वरमें शय्या त्याग करना शुभदायक होता है। यदि शय्या-त्यागके समय सूर्य-स्वर चलता हो तो वह चन्द्र-स्वरमें इस प्रकार बदला जा सकता है कि सूर्य-स्वरको दबानेके लिये दाहिने करवट शान्तिसे लेट जाना चाहिये। कुछ ही क्षणोंमें सूर्य-स्वर दबकर चन्द्र-स्वर बहने लगेगा। इसी प्रकार चन्द्र-स्वर दबानेके लिये बायें करवट लेटकर चन्द्र-स्वरको दबानेसे सूर्य-स्वर बहने लगता है। शिव-स्वरकी साधनाके लिये दोनों हाथ ढीले करके अगल-बगल डाल देना चाहिये और नेत्रोंसे दोनों भौंहोंके बीच देखना चाहिये। इस तरह शिव-स्वरका प्रवाह अबाध गतिसे चलने लगता है किंतु यदि शरीरका भार किसी ओर झुका रहेगा तो शुद्ध शिव-स्वर न चल सकेगा और इस तरह शिव-स्वर चन्द्र या सूर्य-स्वरसे मिश्रित स्वर हो जायगा। यह मिश्रित स्वर निरर्थक होता है। साधारणतः यदि स्वरका परिवर्तन नहीं किया गया अथवा करनेपर भी स्वर-परिवर्तन नहीं हुआ जैसा कि कभी-कभी जुकामकी अवस्थामें हो भी जाता है तो सोकर उठते ही जिस ओरका स्वर चलता हो उसी ओरकी हथेलीसे अपने मुखको स्पर्श करनेसे और उसी ओरके पाँवसे भूमि छूनेसे सदा कल्याण होता है; अनिष्टोंका शमन होता है।

कभी-कभी चन्द्र-स्वर या सूर्य-स्वरके साथ शिव-स्वर भी चलता रहता है। इसमें चलनेवाला चन्द्र या सूर्य-स्वर ही प्रधान होता है और स्वरके अनुकूल पैर आगे बढ़ाकर चलने या यात्रा करनेमें सिद्धि प्राप्त होती है; साथ ही चन्द्र-स्वरमें सम पैर आगे बढ़ाना चाहिये और सूर्य-स्वरमें विषम पैरकी प्रगतिसे आगे चलना चाहिये। समका अर्थ है दो, चार आदि और विषमका अर्थ है एक, तीन इत्यादि। सम स्वरमें दो बार बायाँ पाँव आगे रखकर तब दायाँ पाँव उठाना चाहिये और विषम स्वरमें पहले दायाँ पाँव उठाकर तब बायाँ पाँव आगे रखना चाहिये। इस तरह यात्राकी शुरुआत सम और विषम पाँवोंसे हो जाती है। ऐसा करनेसे सर्वदा कार्यकी सिद्धि होती है और शत्रुओंका पराभव होता है।

जिस किसी भी व्यक्ति या अधिकारीके पास अपना कुछ काम या स्वार्थ हो, उसी ओर स्थित होकर (चाहे खड़े होकर या बैठकर) बात करनी चाहिये जिस ओरका अपना स्वर चलता हो। ऐसा करनेसे कभी भी असफलता नहीं होती।

स्वर, प्रवाहके अनुसार दो प्रकारका होता है। एक तो पूर्ण स्वर होता है। दूसरा रिक्त स्वर होता है। पूर्ण

स्वरपर आरम्भ किया गया कोई भी काम निर्विघ्नताके साथ पूर्ण होता है; किंतु रिक्त स्वरमें प्रारम्भ किया गया काम कभी पूरा नहीं होता और उसमें एक-न-एक अड़ंगे लगते रहते हैं। किंतु यदि व्यवहारमें, दुष्टोंके हटानेमें, विरोधमें, युक्तिसे काम निकालनेमें; अधिकारीके क्रोधावेशमें अथवा चोरी आदि निन्द्य कर्मोंमें पूर्णस्वरका प्रवाह हो तो वह सत्य ही भयंकर परिणाम देनेवाला होता है। स्वर-प्रवाहके अनुसार कार्य-सिद्धिकी तालिका दी जा रही है जिससे स्वर-प्रवाहके आधारपर कार्य-सम्पादनमें सहायता मिलेगी।

१—चन्द्र-स्वर (इड़ानाड़ी)—व्रत, पूजा, उपासना, विदेशयात्रा, आश्रमधर्मका पालन (आश्रमधर्म चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास); लेन-देन, जलाशय (कुआँ बावली आदि) का निर्माण, देव या यज्ञ-प्रतिष्ठा, अर्थात् दान, धर्म, विवाह-व्रतबंध आदि शुभकर्म, शान्तिकर्म, पुष्टिकर्म, औषध-निर्माण, वाणिज्य, अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंसे मिलाप, गृहप्रवेश, भृतिका, कृषिकर्म, विद्यारम्भ, जन्म, मृत्यु, पशुक्रय, रोगनिवारण या रोगमुक्त होनेके लिये औषधको ग्रहण करना, पशुओंकी सवारीमें, सवारीके पशुओंको घर लानेमें, परोपकारमें, धन संग्रह करनेमें, गानविद्या सीखनेमें, शास्त्रोंके अध्ययनमें, भूमि-क्रय करनेमें, वस्तुओंके संग्रह करनेमें, विष दूर करनेमें तथा अन्य अनेक शुभकर्मोंमें चन्द्र-स्वर सदा सिद्धिदायक होता है।

२—सूर्य-स्वर (पिंगलानाड़ी)—कठिन कार्य-साधनमें, स्त्रीप्रसङ्गमें, जलयात्रा, मारण-मोहन-उच्चाटन-मन्त्रोंकी उपासना, शत्रुका नाश, शस्त्र-प्रयोग, युद्धयात्रा, शिकार खेलना, पशु-विक्रय, ईंट-पत्थर तथा रत्नोंका क्रय करना, यन्त्र-तन्त्रका प्रयोग, पर्वतपर चढ़ना, जुआ खेलना, सवारियोंपर चढ़ना, कसरत करना, उच्चाटन कर्मोंकी साधना, यक्षिणी-भूत-प्रेत-वैताल आदिका निवारण, तैराकी, वैरीसे युद्ध करना, राजदर्शन, भोजन, स्नान, स्त्रियोंको वश करना, शयन करना आदि अनेकों क्रूर कर्मोंकी साधनामें सूर्य-स्वर सिद्धिदायक होता है।

शिव-स्वर (सुषुम्ना नाड़ी)—क्षणमें बायीं और क्षणमें ही दायीं नाड़ी (स्वर) बहने लगे तो उसे शिव-स्वर या सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं। यह स्वर सभी कार्योंका नाश करता है। यह स्वर सभी कार्योंमें वर्जित है। स्वरका क्रम-भंग अर्थात् चन्द्र-स्वरके स्थानपर सूर्य-स्वर और सूर्य-स्वरके स्थानपर चन्द्र-स्वरका प्रवाह सभी कार्योंमें विघ्न पैदा करता है। इस प्रकारके स्वर-प्रवाहमें अच्छे या बुरे सभी काम वर्जित हैं। केवल भगवन्नामका स्मरण ही श्रेयस्कर है। विषम स्वरके प्रवाहकालमें किसी कार्यके प्रति विचार भी नहीं करना चाहिये, नहीं तो, अनुकूल स्वरमें कार्य प्रारम्भ करनेपर भी कार्यकी सिद्धि नहीं होती। जैसा कि भूमिकावाले निबन्धमें लिखा जा चुका है कि शिव-स्वर केवल भक्ति-मुक्तिका फल देनेवाला है; सर्वथा सत्य है। नाकके समान प्रवाहवाला स्वर (दोनों छिद्रोंसे समान स्वरका प्रवाह), अथवा जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है विकृत-प्रवाह शिव-स्वर ही कहा जाता है। साधक या शिक्षार्थीको सबसे पहले स्वर-परिचय प्राप्त करना चाहिये। स्वर-परिचय प्राप्त करना साधारण अभ्याससे सम्भव नहीं। किस तिथिसे किस तिथितक कौन-सा स्वर किस-किस कालमें बहना चाहिये, इसके अभ्यासके लिये लंबे समयकी आवश्यकता होती है। बहुत-से सज्जन कुछ घंटोंमें ही स्वर-ज्ञान सीख लेना चाहते हैं जब कि इसके अभ्यासमें योगियोंका जीवनतक समाप्त हो जाता था और स्वर-ज्ञान परिपक्व नहीं होता था। जबतक स्वरका प्रारम्भिक ज्ञान जैसा कि स्वर-ज्ञानके भूमिका-वाले लेखमें लिखा गया है, नहीं प्राप्त हो जाता; तबतक किताबों या निबन्धोंमें पढ़कर सफलताकी आशा करना व्यर्थ है। स्वरज्ञानकी शिक्षा इतनी सरल होती तो अन्य विषयोंकी तरह स्वर-ज्ञानकी भी अनन्त पुस्तकें बाजारोंमें बिकती पायी जातीं किंतु स्वर-ज्ञानपर शायद ही किसी व्यवसायी लेखकने कलम चलायी हो।

* * *

चिन्ताजनक स्थिति—प्रतिवर्ष बीस हजार आत्महत्याएँ

(लेखक—डाक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

एक मनुष्य मरता है, तो मनमें डर लगता है, शरीर काँप उठता है, मौतका दुःखद समाचार नहीं सुना जाता। श्मशानमें एक मृतकका दाह-संस्कार करके लौटते हैं, तो कई दिनोंतक चित्त व्याकुल रहता है।

एक-दो, दस-बीस, हजार-दो हजार व्यक्ति नहीं, बीस हजार व्यक्ति यदि प्रतिवर्ष आत्महत्याएँ करने लगें, तो स्थिति संगीन होनी चाहिये।

ऐसी विषम स्थिति दुनियामें है।

अमेरिकाके प्रसिद्ध समाचारपत्र 'न्यूयार्क टाइम्स'ने अभी गत दिनोंकी एक सर्वे रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसमें बताया गया है कि प्रतिवर्ष बीस हजार अमेरिकन आत्महत्याएँ करते हैं। इस सर्वे रिपोर्टसे अमेरिकामें चिन्ताकी लहर दौड़ गयी है।

रिपोर्टमें बताया गया है कि मृत्युके बहुतसे ऐसे मामले हैं जिन्हें आत्महत्या नहीं माना जा सकता, जब कि वे आत्महत्याके सिवा कुछ नहीं होते।

रिपोर्टके अनुसार अमेरिकामें आत्महत्या मृत्युके प्रथम दस कारणोंमेंसे एक है और युवकोंके लिये प्रथम पाँच कारणोंमें एक!

कारणोंपर एक दृष्टि

किस महीनेमें सबसे अधिक लोग मरते हैं?

अमेरिकन सर्वे विभागने पता चलाया है कि सर्वाधिक आत्महत्याएँ दिसम्बरमें और वह भी क्रिसमसके दिनोंमें ती हैं।

यह बड़े आश्चर्यकी बात लगती है? क्रिसमस तो अंग्रेज गोंका खुशीका त्यौहार है। भला खुशीके महीनेमें यह ते क्यों?

कारण सुन लीजिये—

उस महीनेमें अमेरिकन लोग वर्षभरके अपने कार्योंका ावलोकन करते हैं। वर्षभरमें क्या-क्या किया? कितनी ता और कितनी असफलता मिली? कितनी सुविधाएँ आर्थिक कठिनाइयाँ रहीं? व्यापारमें कितना हानि-लाभ आ? यह सब लेखा-जोखा मालूम करते हैं। वे लोग तिकवादी हैं। 'खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ, पता नहीं मर जायँ'—यह उद्देश्य रखकर वे जीवन जीते हैं। धिकांश अपने भौतिकवादी उद्देश्योंमें निष्फल और निराश जाते हैं। कितनोंके दिखावटी मित्र, यहाँतक कि पत्नियाँ अकेला छोड़ जाती हैं। वे ऐसे व्यक्तियोंके पास मँडराने लगते हैं, जिनके पास भौतिक जीवनकी सुख-सुविधाएँ हैं। अधिकांश अमेरिकन इसी निराशा और एकाकीपनसे त्रस्त होकर आत्महत्याएँ किया करते हैं।

कुछ और कारण इस प्रकार हैं—

१—अपने अस्तित्वमें अविश्वास

आत्महत्याके मानसिक रोगी जीवनको क्षणिक, उद्देश्यशून्य व्यर्थ मानते हैं। वे समझते हैं कि सांसारिक परिस्थितियाँ उन्हें आसानीसे पस्त कर मिट्टीमें मिला सकती हैं। स्वयं उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मनुष्य भाग्यके हाथोंमें खिलौना है। यह अविश्वास उनमें कायरता पैदा करता है।

२—उत्साह-भंग

इन व्यक्तियोंका तनिक-सी विरोधी स्थितिसे जीवनका उत्साह टूट जाता है। पहले तो वे प्रयत्न ही ढीला-ढाला करते हैं, फिर धैर्य धारण नहीं करते। व्यर्थके कारणोंको अपनी असफलतासे जोड़ लेते हैं, जब कि कोशिशकी कमी ही उनकी असफलताका मुख्य कारण होती है।

३—घरेलू परेशानियाँ

स्त्रियोंमें परस्पर झगड़े, सास-बहूके झगड़े, पिता-पुत्रमें मतभेद, नशाखोरी, कामलोलुपता, मनोविकारोंसे सहज ही विचलित हो जाना, स्नायविक तथा मानसिक विकार, बच्चोंके ठीक तरह विवाह न कर पाना, पुत्रकी नौकरी न लगना, अधिक बाल-बच्चे और समाजकी रूढ़ियाँ आत्महत्याओंके कारण हैं।

४—आर्थिक कठिनाइयाँ

आजके बढ़े हुए खर्चे, बाहरी टीपटाप, फैसन-परस्ती, झूठा दिखावा करनेके लिये इतनी आयकी जरूरत होती है, जो पूरे नहीं हो पाते। झूठी आवश्यकताओंकी पूर्ति न होनेकी वजहसे परेशानियाँ बढ़ती हैं और जिंदगी भार-स्वरूप लगती है।

५—युद्धोन्माद

आज पाश्चात्त्य देशोंके निवासियोंको युद्धका पागलपन सवार है। वे शान्तिके बजाय मारपीट और संघर्षसे समस्याएँ सुलझानेका प्रयत्न करते हैं। नतीजा यह है कि वे तनावकी स्थितिमें रहते हैं।

६—जातीय भेद-भाव

गोरी और काली जातियोंमें ऊँच-नीचका भेद-भाव, बड़े-छोटे, अमीर-गरीबके भेद मनको ईर्ष्या-द्वेषसे परिपूर्ण रखते हैं।

७—मानसिक तनाव

मनमें तनाव रखना, तुच्छ विषयोंको लेकर व्यर्थ ही सोचते रहना, मस्तिष्कको संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्वसे भरे रहना जीवनको अत्यन्त अशान्त और अस्थिर बना देता है।

८—शराबखोरी और नशीली दवाओंकी लत

अपनी परेशानियों और चिन्ताओंको भुलानेके लिये लोग नशीली दवाओंका बहुत प्रयोग करने लगे हैं। इससे दिमागमें गरमी बैठ जाती है और मनुष्य उत्तेजनामें कुछका कुछ कर बैठते हैं।

९—सबसे प्रधान कारण है—

ईश्वर-परलोकपर अविश्वास, जीवनमें केवल भौतिक सुख-सुविधाकी चाह और अपनी प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य असंतोष।

आप शक्ति-केन्द्र हैं

उपर्युक्त कोई भी कारण आपके मनमें उत्पन्न हो, तो तुरंत सावधान हो जाना चाहिये। कौन जाने कब बढ़कर यह विषैली स्थिति आत्महत्याका रूप धारण कर ले।

प्रातः शान्तिसे बैठकर निम्न विचारपर बार-बार सोचिये और उसे गुप्त मनमें बैठाइये—

'अहमिन्द्रो न परा जिग्ये।' (ऋग्वेद १० । ४८ । ५)

अर्थात् मैं शक्तिकेन्द्र हूँ। जीवनमें कहीं भी मेरी पराजय नहीं हो सकती।

'मैं थोड़ी-सी परेशानियोंसे कभी घबराने या पथसे विचलित होनेवाला नहीं हूँ। मैं विकट प्रसंगोंसे कभी भी परास्त नहीं होता हूँ। विपत्तियाँ आकर उसी प्रकार चली जाती हैं, जैसे तूफान। मैं तूफानोंमें अविचलित रहनेवाला अडिग, स्थिर चट्टान हूँ। विकट प्रसंग या विपत्तिसे मेरा कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है। ये मेरी परीक्षा लेने आती हैं, पर मैं इनसे कभी परास्त नहीं होता हूँ।

'मेरा आत्मविश्वास महान् है। वह कभी भी साधारण अभावोंसे तथा छोटी-मोटी विपत्तियोंसे अस्त-व्यस्त होनेवाला नहीं है। मैं मङ्गलमय ईश्वरकी शक्तिमें अखण्ड विश्वास रखता हूँ। ईश्वरकी शक्ति सदा मेरे साथ है। वह कवचकी तरह सदा मेरी सहायता करती है। मैं अपनी परेशानियोंसे घबराता नहीं, एक-एककर उन्हें हल करनेकी युक्ति सोचता हूँ। समस्याओंका विवेकपूर्ण हल निकालता हूँ।

'मेरा जीवन सुरक्षित है। मुझमें ईश्वरके महान् सामर्थ्य प्रकट हो रहे हैं। मैं वीरात्माकी तरह समस्त विपत्तियोंका सामना करूँगा।'

प्रतिदिन इसी संकल्पकी सिंह-गर्जना किया कीजिये। प्रातः तथा सायंकाल सोते समय इन अमृतमय विचारों आपका आत्मविश्वास दृढ़ होता जायगा। आत्मविश्वासको सदा बढ़ाते रहिये। आपका आत्मविश्वास आपको सब प्रकारकी विपत्ति, भय तथा शोकसे बचानेवाला है। बुद्धिमानको चाहिये कि वह अपनी योग्यताओं, विशेष गुणों, ऐश्वर्य और साहसपर ही सदा चिन्तन करे।

आकाशमें जैसे काले बादल अधिक देरतक नहीं टि सकते, उसी प्रकार जीवनकी परेशानियाँ भी क्षणिक हैं। जिस व्यक्तिको मङ्गलमय ईश्वरमें विश्वास है, उसका जीवन नाना प्रकारके क्लेश, अविद्या, राग-द्वेष तथा चिन्ताओंसे सुरक्षित रहेगा।

कष्ट किसे नहीं है? रोगी कौन नहीं है? परेशानीने किसे तंग नहीं कर रक्खा है? मृत्यु, रोग, शोक किसके यहाँ नहीं हुआ? यदि आप देखें, तो ऐसी परेशानियाँ हर किसीको हैं।

किंतु साहसी कभी इन मुसीबतोंकी परवा नहीं करते। वे मनमें धैर्य और उन्नतिके लिये सत्-प्रयत्न सदैव चालू रखते हैं।

उज्ज्वल भविष्यकी ओर दृष्टि लगाये रखना और उसे लानेके लिये लगातार कोशिशें करना विकट प्रसंगोंके दूर करनेका उपाय है।

जब कोई डरपोकपन, कायरता, पराजयका अवाञ्छनीय विचार आपके मनमें आये, तो उसके विपरीत साहस हिम्मत, वीरता और संघर्षमें विजयी होनेका विचार लाकर प्रतिकूल मनःस्थितिको हटाना चाहिये।

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे देवगण! हम कानोंसे कल्याणकारी वचन सुनें। हम नेत्रोंसे सदा कल्याणका ही दर्शन करें। हमारा शरीर और उसके अवयव सुदृढ़ और पुष्ट हों जिससे हम भगवान्‌का कार्य सम्पन्न करते रहें। देवगण! इन्द्र जिनका सुयश सर्वत्र फैला है, हमारा कल्याण करें। अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य और बृहस्पति हमारा

कल्याण करें। हम शान्त रहें। हमारे चारों ओर शान्ति रहे। हम शान्तिपूर्वक अपनी समस्याओंको हल करनेमें स्वस्थचित्तसे लगें।

जीवनका अन्ततक आनन्द लें

यह जीवन बहुमूल्य है। संघर्ष और निरन्तर उन्नतिके लिये बना है। डरपोक और कायरताके विचार आपको किसी प्रकार शोभा नहीं देते हैं। कहा है—

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्थः। (अथर्ववेद ८। १। ४)

अर्थात् सदा ऊँचे उठनेकी बात कीजिये। नीचे गिरनेकी बात न कभी सोचिये, न गिरिये।

मित्रो! जीवनरूपी इस संघर्षमें निराशा और पराजयकी नहीं; सदा-सर्वदा आशा और सफलताकी भावना किया कीजिये। अबकी बार हम अवश्य विजयी होने जा रहे हैं। भविष्यमें हमारी शत-प्रतिशत सफलता निश्चित है—यही अमृत भाव मनमें रखिये।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथर्ववेद ८। १। ६)

अर्थात् बन्धुओ! सदैव उन्नति कीजिये। अवनति भूलकर भी मत होने दीजिये। गिरानेवाले नहीं, जिंदगीको उत्तरोत्तर उठानेवाले पुष्ट विचार और सत्कार्य अपनाइये।

मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः। (अथर्ववेद ८। १। ९)

अर्थात् जीवनके किसी भी क्षेत्रमें शिथिलता और अनुत्साह ठीक नहीं। याद रखिये, अकर्मण्यता और निराशा एक प्रकारकी नास्तिकता है।

वीरयध्वं प्र तरता। (अथर्ववेद १२। २। २६)

अर्थात् इस संसार-सागरमें उद्योगी ही पार होते हैं। पुरुषार्थविहीन व्यक्तियोंकी नाव बीचमें ही डूबती है।

जीवनके लिये सोचिये। जबतक जीवित हैं, स्वस्थ और पूर्ण आनन्दकी ही कल्पनाएँ मनमें रखिये—

अमृतं विवासत। (ऋग्वेद)

उत्साही और आशावादीका ही साथ कीजिये। उन कायरोंको दूर रखिये जो आपको डरपोक बनाते हैं और भविष्यको निराशाजनक बनाते हैं।

धर्ममें पूर्ण आस्था रखिये। आपके आजके इस जीवनके पुण्य दूसरा जीवन भी सुधारनेवाले हैं। ईश्वर सदा आपके साथ हैं।

शुचिं पावकं ध्रुवम्। (ऋग्वेद)

अर्थात् उनकी प्रशंसा कीजिये जो धर्मपर दृढ़ हैं। आप भी उन-जैसा साहस प्राप्त करें, दीर्घजीवी और स्वस्थ रहें, आत्मगौरव प्राप्त करें।

◆

कृपाकाङ्क्षा

(रचयिता—श्रीवेदव्रतजी दीक्षित, एम्० ए०, एल्० टी०)

माँ! मुझको मार्ग दिखा।
हारा हुआ सिपाही हूँ मैं,
भटक गया पथ, राही हूँ मैं,
अन्धकारके विषम जालमें
और न अब भरमा। माँ!

सोचा है तुम कृपा करोगी,
कर-पल्लव मस्तक रक्खोगी,
मुझ कुपुत्रको अङ्क-शयन दे
जग-संत्रास बचा। माँ!

शक्तिमयी जडता छाई है,
सब कुछको ग्रसने धाई है,
*शवको शिव तू ही कर सकती,
अब न विलम्ब लगा। माँ!

---

* शवोऽपि शिवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।

भारतकी शाश्वत नारी कौन है ?

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

कुछ दिन पूर्व हिंदीके एक लोकप्रिय पत्रने यह प्रश्न उठाया था कि सावित्री क्यों भारतीय नारीका आदर्श है, द्रौपदी क्यों नहीं ? जैसा कि आजकलके अधकचरे विचार-वाले युवकोंका रवैया है—बिना मूल प्रश्नोंको देखे-परखे एक राय बना लेना और उसे बड़े जोरसे कहना। मानो चिल्लानेसे ही सत्य स्थापित होता हो और उसे सब लोग मान लेते हों। एकाधने यह भी कहा कि सावित्री एक दकियानूसी टाइपकी स्त्री थी और जीर्ण एवं ध्वस्त परम्पराओंका प्रतीक होनेके कारण वह आजकी जागरित उद्बुद्ध नारीका आदर्श नहीं हो सकती। आत्मविस्मृता चंद नारियोंने भी कुछ ऐसा ही मत व्यक्त किया, मानो सावित्री एक अनगढ़, अविकसिता, एकाङ्गिनी और दयनीया स्त्री हो।

ये सब बातें इतनी सहजतासे आज इसीलिये कह दी जाती हैं कि हम भारतीय संस्कृतिके मूल अनुबन्धको या तो भूल गये हैं या जानकर भी आजकी भोग-वाहिनी प्रवृत्तियोंके बीच चलते हुए उसमें हमारी आस्था डगमग हो गयी है। यह ठीक है कि भारतीय संस्कृतिकी अनेक धाराएँ हैं; उसमें विविध उदात्त तत्त्वोंका समावेश हुआ है। परंतु एक बात सबके ऊपर है और वही उसका प्रधान तत्त्व है—भोग एवं स्वार्थपर त्याग एवं साधुत्वकी प्रतिष्ठा। इसे ही अनेक प्रकारसे कहा गया है—असत्यसे सत्यकी ओर यात्रा, अन्धकारसे ज्योतिकी ओर यात्रा, मृत्युसे अमृतकी ओर यात्रा। जिस व्यक्ति और वर्गमें इस तत्त्वकी जितनी ही प्रतिष्ठा है, वह हमारे आदर्शों एवं स्वप्नोंके उतना ही निकट है। हमारा नायक वह है जो समाजसे कम-से-कम लेता है और उसे अधिक-से-अधिक देता है। स्वभावतः ऐसा तभी सम्भव है जब इन्द्रियलब्ध भोगोंका प्राधान्य न हो, बल्कि उनपर अंकुश हो; मानव विषयापेक्षी न होकर आत्मापेक्षी हो; उसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी न होकर अन्तःस्थ हों। वह अपने अन्तर्वैभवपर खड़ा हो सके। जिसमें ये विशेषताएँ जितनी ही विकसित होती थीं उसे हमारे समाजके गठनमें उतना ही ऊँचा स्थान मिलता था। वर्ण-विभागमें भी यही बात थी। ब्राह्मण सर्वोच्च इसलिये था कि वह सांसारिक विलास एवं वैभवसे दूर, विद्या और ज्ञानके अर्जन और वितरणमें सदा संलग्न समाजसे कम-से-कम ग्रहण करने और उसे अधिक-से-अधिक देनेवाला था—उसने अपने लिये 'करतलभिक्षा तरुतलवासः' मात्र शरीरयापनके लिये माँगा और लिया था। उससे कुछ हलकी श्रेणीमें था क्षत्रिय, जो ब्राह्मणेतर अन्य वर्गोंसे उच्च था; क्योंकि भूपति होकर भी समाजपर संकट आते ही सबसे पहले अपना सिर कटानेके लिये तैयार रहता था, अपने प्राण होम करके प्रजाकी रक्षा करता था—स्वयं मरकर दूसरोंके जीवनकी रक्षा करनेवाला। फिर महत्त्वके इस क्रममें आया वैश्य, जो धन-धान्यका स्वामी होकर भी समाजके कल्याणकी दृष्टि रखकर व्यापार एवं धनका विनियोग करता था; कृषि और गोरक्षा, मतलब पशु-सम्पत्तिका उत्पादन-संवर्द्धन उसका मुख्य कर्तव्य था; वह दुर्भिक्षके समय अपना संचित भंडार प्रजाके लिये खोल देता था। अन्तमें था शूद्र सेवकवर्ग। सेवक होकर भी अपने शरीर-सुखमें केन्द्रित; अपने ही भरण-पोषणकी चिन्ता करनेवाला। उदाहरण और अपवाद इसके विरुद्ध भी खोजे जा सकते हैं; इस क्रम एवं व्यवस्थामें भी विकृतियाँ थीं। अतः संघर्षके विन्दु भी थे। प्रत्येक युगकी भाँति हमारी सभ्यताके स्वर्ण-कालमें भी साधु-असाधु दोनों थे; परंतु बल इन्हीं तत्त्वोंपर दिया जाता था; समाजमें प्रतिष्ठा इन्हीं मूल्योंकी थी।

प्रत्येक वर्गके लिये आत्मार्पण, त्याग और सर्वजन-हिताय कर्तव्योंको प्राधान्य देनेपर जोर दिया जाता था। परंतु जातिकी जननी होनेके कारण स्त्रीके लिये इसका विशेष विधान था। दीर्घ मनन एवं अध्ययनसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि मानवजातिकी सम्पूर्ण सभ्यता एवं सामाजिक विकासका मूल स्रोत नारी है। उसीके कारण संसारकी सबसे अद्भुत (यद्यपि आज सबसे उपेक्षित) संस्था गृहका जन्म हुआ; परिवार बने और आगे समाज-विकासका क्रम चला। समस्त संसारमें नारी सभ्यता एवं संस्कृतिकी प्रेरक शक्ति रही है। समस्त विश्वकी नारी मूल उद्भाविनी शक्तिका प्रतीक है। इस विषयमें भारतीय कवि, शिल्पी और द्रष्टाने अद्भुत सृष्टि की है। यहाँ नारी अपनेको भी लाँघ गयी। समस्त व्यक्तिगत सुख-दुःखसे ऊपर उठकर वह एक महाभावमें परिवर्तित हो गयी। पति इस महाभाव-

का माध्यम एवं साधनमात्र था; नारीका सत्, उसका महाभाव, सबसे—पतिसे भी महत् था। आलम्बन था पति, जिसके सहारे भारतीय नारी अपनी दैहिक सीमाओंको लाँघकर आत्मस्थ हो गयी थी। उसने क्षणजीवीमें शाश्वतका विधान किया था; अन्धकारमें प्रकाशकी सृष्टि की थी। उसके सतीत्वमें इन्द्रियलब्ध सुखकी अभिलाषाओंसे ऊपर उठकर वही सर्वस्वदानकी, उसी आत्मनिवेदन एवं आत्मोपलब्धिकी प्रतिष्ठा थी, जो भारतीय संस्कारसम्पन्न जीवनका मेरुदण्ड है।

इसीलिये हमारे उदात्त साहित्यमें कामिनीके प्रलुब्ध जीवनका चित्र होकर भी अन्तमें उसपर माताकी महनीयताकी स्थापना है। कामिनी अपनी जगह है परंतु पूज्या महनीया वह माताके रूपमें ही है। नारीकी कामनामें जब इस माताका जन्म या मातृबोधका स्फुरण होता है तब वह अपनी शक्तिसे समाजमें खड़ी होती है, तब वह ग्रहणसे दानकी ओर यात्रा करती है; तब वह भोग्या और परनिर्भरासे गतकामा और आत्मजयी होती है। तब वह व्यक्तिसे समाजके प्रतीकत्वका गौरव ग्रहण करती है। सच पूछें तो पुरुष हो या स्त्री समस्त भारतीय मानवके जीवनका यही क्रम है। जीवनके प्रथमार्द्धमें ग्रहण और जीवनके द्वितीयार्द्धमें दान। यह ठीक है कि ग्रहणका अपना महत्त्व है किंतु मानव-समाजके विकासकी दृष्टिसे, और व्यक्तिके अभ्युदयकी दृष्टिसे भी, प्रत्येक ग्रहण दानके लिये है। संचयकी सार्थकता उसके दानमें है; भोगकी सार्थकता उसके त्यागमें है। इसीलिये कामिनी काम्या है परंतु जननी श्रेयस्करी है—उससे महान्! हमने नारीको माताके रूपमें ही सर्वाधिक सम्मान दिया है। यहाँ तो विष्णुपत्नी भी '**पर्वतस्तनमण्डले**'के वर्णनसे जगत्को दान देनेवाली, भरण-पोषण करनेवालीके रूपमें ही महान् है।

इसी दृष्टिसे शकुन्तला नहीं, सीता और द्रौपदी नहीं, सावित्री हमारा आदर्श है। निश्चय ही लौकिक दृष्टिसे द्रौपदी सावित्रीकी अपेक्षा अधिक शक्तिमान् वर्गकी प्रतिनिधि है। वह राजकन्या है, राजमहिषी है—एक ऐसे परिवारकी गृहिणी और वधू जिसके पौरुष एवं शौर्यकी कथासे उस कालका इतिहास ऊर्जस्वित हुआ है। धन-धान्य, रूप, सम्पत्ति, वैभव, संसारमें गर्व करने लायक सब कुछ था उसके पास। भगवान् श्रीकृष्णकी दुलारी,—वे उसे भगिनी-तुल्य मानते थे। उसमें अद्भुत राजसिक तेजस्विता थी। पाँच-पाँच अनुरक्त, प्रलुब्ध पतियोंको नचानेवाली। इस समर्थ नारीके सामने बेचारी सावित्री सर्व-साधनविहीना, विपन्ना, दरिद्रा थी—सूर्यज्योतिके सामने टिमटिमाते दीपकके समान। ओज एवं शक्तिसे भरी द्रौपदीके सामने सामान्या सावित्री! अन्तर बहुत बड़ा है। परंतु कैसा आश्चर्य है कि इतनी शक्ति एवं ओज लेकर भी द्रौपदी विनाश-पथपर बढ़ते अपने पतियोंकी कहीं भी रक्षा नहीं कर पाती। वह कामिनी है, गृहिणी है, परंतु उद्धारक नहीं है, उन्नयनकारिणी नहीं है। वह जुएकी अधोगतिसे उन्हें बचाती नहीं और जुएमें बलि चढ़ा दिये जानेपर केवल अपनी—अपनी लज्जाकी रक्षाके लिये भगवान्को पुकारती है। निम्नस्तरपर उपस्थित एवं प्रताड़ित पतियोंके गौरवकी रक्षाकी कामना प्रत्यक्षरूपसे यहाँ अनुपस्थित है। पाण्डवोंकी अन्तिम जीवन-यात्रामें जब युधिष्ठिरके एक-एक साथी गिरते जाते हैं, वह भी गिर जाती है, अन्ततक साथ नहीं दे पाती; वह जीवन-मरणकी चिरसखी भी नहीं है; मृत्युकी चुनौती उसे निगल जाती है। सब कुछ रखकर, सब कुछ पाकर, समाजकी शक्ति एवं समृद्धि पाकर भी, अपने समस्त ओज और तेजके साथ, वह क्या है? अन्तिम निष्कर्षमें श्रीहीना, तेजहीना, मृत्युकी ओर प्रतिक्षण स्वयं बढ़ती और अपने जीवन-साथियोंको भी अग्रसर करती हुई नारी! जीवनके बाद भी रह जानेवाली, मरणान्त जीवनोंमें मृत्युपाशबद्ध मानवको अमृत-बिन्दुओंका दान करनेवाली कोई शक्ति, यहाँतक कि आकाङ्क्षा भी नहीं है उसमें। उसकी समस्त शक्ति पायी हुई, पिता या पतिके कारण पायी हुई शक्ति है; अपना कुछ नहीं है उसमें जिसे वह दूसरोंको दे सकती।

और यह विपन्ना, दरिद्रा, सामान्या सावित्री, सामान्या होकर भी पतिकी दयापर जीवित, पतिकी शक्तिसे ऊर्जस्वित, पतिके पदसे अनुप्राणित, पतिकी सम्पन्नता और वैभवसे सम्पन्न—मतलब श्रीमती पाण्डववाली द्रौपदी नहीं है। इस दरिद्रामें पतिसे भिन्न अपना तेज है, अपनी शक्ति है, अपना वर्चस्व है; पति उसका त्राता और उद्धारक नहीं, वह है पतिकी प्राणदायिनी और उद्धारकर्त्री; अपनी ही महिमासे महीयसी। वह है मृत्युको चुनौती देनेवाली और जिस यमके अन्तरालमें सब कुछ समा जाता है उसके पंजोंसे पतिको खींच लानेवाली, मृत्युको जीवनकी दीक्षा देनेवाली नारी! वह पतिसे

जीवन नहीं पाती, पतिको जीवन देती है। उसकी स्थिति देवताकी करुणा, पतिकी दया, संसारसे पायी भीखकी स्थिति नहीं है। वह सत्यवान्‌रूपी मृत्युविवश मानवको मृत्युपर पदाघात करके अमृतजीवनकी दीक्षा देनेवाली नारी है। इसीलिये वह है भारतीय नारीका आदर्श ! वह युग-युगान्तसे भारतीय नारीको शक्तिका, निष्ठाका, विश्वासका, महिमाका मन्त्र देती आयी है। वह है मृत्युमें जीवनका रास, वह है असत्‌में सत्‌का प्रकाश, वह है इन्द्रियलब्ध क्षयशील जगत्‌में शाश्वतका उल्लास। वह है भारतीय नारीका गन्तव्य, आदर्श, महाभावका प्रतीक—जहाँ विपत्तिमें सम्पत्ति है, मरणमें जीवन है।

और यही है भारतकी शाश्वत नारी !

सद्भाव

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

'तू इस मल-मूत्रके पात्रसे इतना मोह क्यों करता है?' स्वामी निरञ्जनानन्दने अपनी शुश्रूषामें लगे सेवारामको स्नेहपूर्वक झिड़की दी—'शरीरको महत्त्व देना छोड़। यह तो आज या कल नष्ट होनेवाला ही है। साधु तू किसलिये हुआ, इसपर विचार कर।'

'महाराज ! मैं अपने-आप तो साधु हुआ नहीं। आपने मुझे ये गैरिक वस्त्र दिये हैं। आप जानो कि क्यों दिये ये वस्त्र आपने मुझे।' सेवाराम गुरुके सम्मुख पर्याप्त धृष्ट हो गया है। कोई भी बात कहनेमें उसे संकोच नहीं होता। उसे तब बहुत बुरा लगता है, जब गुरुदेव उसे अपनी सेवासे रोकना चाहते हैं। इस समय भी वह झुँझलाये स्वरमें कह रहा है—'आपके लिये आपका यह शरीर कैसा है, यह आप जानो। मैं आत्मा-परमात्मा तो कुछ समझता नहीं। मुझे मेरे नारकीय जीवनसे आपने अपने इसी शरीरसे उद्धार किया है। इसलिये मैं इसकी थोड़ी-बहुत सेवा कर लूँ, इतना ही मेरे लिये बहुत है।'

'सेवाराम' यह नाम भी उसका स्वामी निरञ्जनानन्दने रक्खा है। माता-पिताका रक्खा नाम उसका क्या है, पता नहीं; किंतु लोगोंमें वह दारुणसिंहके नामसे प्रख्यात रहा है। इस कस्बेका सबसे भयंकर गुंडा था दारुणसिंह। जुएका अड्डा चलाता था वह। थानेके दारोगा-सिपाही जैसे उसकी जेबमें रहते हों। चोरी, मारपीट, शराब और दूसरे अनेक उपद्रव—क्या-क्या नहीं किया दारुणसिंहने। कस्बा ही नहीं, आसपासके अनेक ग्रामके लोग उसके नामसे काँपते थे।

प्रचण्ड शरीर, उद्धतस्वभाव दारुणसिंह रोगशय्यापर पड़ा। अनियन्त्रित भोगका परिणाम ही असाध्य रोग है। उसके पीछे लगे रहनेवाले, उसकी हुंकारपर प्राण देनेको प्रस्तुत उसके अनुगामी पट्ठे आँख चुरा गये। उसके पास कोई पानी देनेको फटकनेवाला नहीं था, जब उसके देहमें दुर्गन्धिभरे घाव फूट निकले।

स्वामी निरञ्जनानन्द कस्बेसे बाहर रहते हैं। फूसकी कुटिया उनके लिये स्थानीय लोगोंने बना दी है। बहुत वृद्ध शरीर है। अब पर्यटन नहीं कर पाते। घूमते हुए कई वर्ष पूर्व यहाँ आ गये थे। स्थानीय श्रद्धालुओंके आग्रहने रोक लिया। कुछ औषध जानते हैं और अत्यन्त अपरिग्रही पर-दुःखकातर महात्मा हैं।

'गुंडा दारुणसिंह अपना कर्मफल भोग रहा है। सड़-सड़कर कुत्तेकी मौत मरनेवाला है।' स्वाभाविक था कि कस्बेके उत्पीड़ित जन दारुणसिंहकी इस यन्त्रणासे प्रसन्नताका अनुभव करते। वे स्थान-स्थानपर इसी प्रकारकी चर्चा करते थे।

यह चर्चा स्वामी निरञ्जनानन्दके कानोंमें पड़ी तो उनका संत-हृदय द्रवित हो गया। वे उसी समय दारुणसिंहके समीप चल पड़े थे। स्वामीजीके संकोचवश लोगोंने उस दुर्गन्धित रोगीको किसी प्रकार उठाकर स्वामीजीकी कुटियापर पहुँचा दिया। इसके बाद रात-दिन एक करके स्वामीजीने जो सेवा-शुश्रूषा उसकी की, वह सेवा, वह तत्परता किसी स्नेहमयी अत्यन्त स्नेहवत्सला मातामें पुत्रके प्रति देखी जाती है।

दारुणसिंह स्वस्थ हो गया । धीरे-धीरे सबल भी हो गया; किंतु वह फिर दारुणसिंह नहीं हुआ । स्वामीजीने उसका नाम सेवाराम रख दिया । उसे गैरिक वस्त्र दे दिये । वह कुटिया तथा उसके आसपासकी भूमिकी स्वच्छता तथा स्वामीजीकी सेवामें लग गया । स्वामीजीके लिये जो भिक्षा आती है, उसीमें उसका भी निर्वाह हो जाता है । रात-दिनमें कठिनाईसे तीन-चार घंटे चटाईपर पीठ टेकता है । खड़े पैर निरन्तर सेवा—दूसरा कुछ काम न हो तो स्वामीजीके शरीरपर बैठनेवाली मक्खियोंको ही रूमाल लेकर उड़ाता रहेगा ।

सेवारामका स्वभाव अब भी रूक्ष है । अनेक बार वह स्वामीजीसे भी झगड़ पड़ता है । विशेषतः तब वह रुष्ट होता है, जब उसे लगता है कि स्वामीजी अपने स्वास्थ्यका ध्यान न रखकर श्रद्धालुओंकी संतुष्टिके लिये बहुत अधिक देरतक बैठे रहे हैं और बोलते रहे हैं । आगतोंको भी वह अनेक बार झिड़क देता है ।

स्वामीजी बहुत चाहते हैं कि सेवाराम कुछ साधन-भजन करे । कम-से-कम सत्सङ्गके समय शान्त बैठकर श्रवण तो करे; किंतु सेवाराम कहता है—'यह सब उपदेश, ज्ञान-भक्तिकी बातें मेरी समझमें नहीं आती हैं । इनमें माथा कूटनेके बदले कुटियाके आसपासकी घास छीलकर स्थानको स्वच्छ कर लेना मुझे अधिक आवश्यक प्रतीत होता है ।'

लेकिन स्वामीजी अत्यन्त वृद्ध थे । उनका कहना ठीक था कि उनका वृद्ध शरीर आज नहीं तो कल जानेहीवाला है । सेवारामको उनकी सेवाका अवसर केवल सात महीने ही मिल सका था कि स्वामीजीका निर्वाण हो गया ।

× × ×

'भगवन् ! मनुष्यका ऐसा कौन-सा पुण्यकर्म है, जिसके फलस्वरूप संयमनीके स्वामी अपनी प्रणतिसे उसे सम्मानित करते हैं ।' चित्रगुप्तने धर्मराजसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना की ।

स्वामी निरञ्जनानन्दका देह धरापर छूटा तो उनकी सेवामें रहनेवाले सेवारामके हृदयकी धड़कन शोकके अतिशय आवेगसे बंद हो गयी । वह जीवनभरका असत्कर्मा—यमराजके दूत उसे संयमनी पकड़ ले आये । चित्रगुप्तने ही उसके लिये अनेक नरकोंका विधान किया है । इतनेपर भी उसके जीवको यमराजने आसनसे उठकर अभिवादन किया तो चित्रगुप्त चौंके । कहीं उनका विधान त्रुटिपूर्ण तो नहीं है ?

'इन महानुभावका कर्म-विवरण दिखायेंगे आप !' धर्मराजने प्रश्नका उत्तर देनेके स्थानपर वह विवरण ले लिया अपने हाथमें । चित्रगुप्तको तब और भी आश्चर्य हुआ, जब आगत जीवके लिये नारकीय यन्त्रणाका जो विधान किया गया था, उसे यमराजने कुछ और बढ़ा दिया ।

'ये पुण्यकर्म अन्य सेवकों तथा प्रशंसकोंके विवरणमें सम्मिलित होंगे । धर्मराजने कर्म-विवरण चित्रगुप्तको लौटाते हुए एक और चौंकानेवाला आदेश दे दिया । स्वामी निरञ्जनानन्दजी तत्त्वज्ञ पुरुष थे । संचित उनका ज्ञानसमकाल दग्ध हो चुका था । प्रारब्ध प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने भोगा था; किंतु ज्ञानोत्तरकालमें उनके शरीरसे जो कर्म हुए थे, उनमेंसे शुभकर्म उनके सेवक-प्रशंसकोंको तथा अशुभ कर्मनिन्दक उत्पीड़कोंको नियमानुसार प्राप्त होते थे । असंगकर्ताका स्पर्श तो ये कर्म कर नहीं सकते थे । स्वामीजीकी सच्चे मनसे सेवा की थी सेवारामने और अब यमराज कह रहे थे कि स्वामीजीके जो शुभकर्म सेवारामके कर्म-विवरणमें सम्मिलित किये गये हैं, उन्हें अन्य लोगोंके विवरणमें मिला दिया जाय । चित्रगुप्त इस आज्ञासे अतिशय चकित हुए थे ।

'ये महानुभाव यहाँसे ही निर्वाण प्राप्त करेंगे ।' चित्रगुप्तको चकित, स्तब्ध खड़े देखकर धर्मराजने कहा—'इसीलिये मैंने इन्हें अभ्युत्थान तथा अभिवादनसे सत्कृत किया है ।'

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' श्रुति कहती है कि ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता और इस सेवारामने तो कभी श्रवणतक नहीं किया । चित्रगुप्तने पूछ लिया—'इनकी मुक्ति सम्भव है क्या ?'

'असम्भव हो तो अपने लोकके यन्त्रणा-भोगके पश्चात् आप इन्हें किस देहको देनेकी स्थितिमें हैं ?' यमराजने प्रश्नके उत्तरमें प्रश्न ही कर लिया ।

चित्रगुप्तने कर्म-विवरण सावधानीसे देखना प्रारम्भ किया । जब कोई प्राणी नरकगामी हुआ है, तब नरक-यातनाके पश्चात् उसे कौन-सा पार्थिव देह प्राप्त होगा, यह निर्णय अभी हो जाना ही चाहिये था । यदि यमराज इस प्राणीको अभ्युत्थान देकर चित्रगुप्तको चौंका न देते तो

अबतक उसके आगामी जन्मोंका निश्चय अपने-आप हो चुका होता।

मनुष्य अपने जीवनके एक दिनमें, एक मुहूर्तमें ऐसे अशुभ या शुभ कर्म कर सकता है कि उनका फल उसे लाखों-लाखों जन्मोंमें भोगना पड़े। पृथ्वीपरके सभी प्राणियोंके शरीर अत्यन्त दुर्बल हैं। यहाँ एक छोटी सीमातक ही सुख या दुःख भोगा जा सकता है। यह मनुष्य लाखों प्राणियोंको परमाणु बम गिराकर भस्म कर सकता है; किंतु उसे तो केवल एक बार ही प्राणदण्ड दिया जा सकता है। इसी प्रकार ऐन्द्रियिक सुख भी पार्थिव देहमें थोड़ा ही भोगा जा सकता है। कोई रसनाको तृप्त करनेके पीछे ही पड़ेगा तो कहाँतक? पेट भरनेतक। अधिक दिन ऐसा करे तो रोगी हो जायगा। भोजन ही छूट जायगा उसका।

जब मनुष्यके अशुभ कर्म इतने अधिक होते हैं कि संसारके किसी देहमें उसका फल भोगना सम्भव न हो तो वह नरक जाता है। नरकमें उसे मिलता है—'यातना-देह'। लाख-लाख बार काटने, जलाने, पीसनेपर भी वह देह न कटता, न जलता और न पिसता है। केवल उस देहके अभिमानीको कटने, जलने अथवा पिसनेकी दारुण यन्त्रणाका अनुभव होता रहता है। इस प्रकार जब उसके कर्म-भोग इस सीमातक रह जायँ कि पृथ्वीके पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदिके देहोंमें उसका फल भोगना शक्य हो, तब वह पृथ्वीपर जन्म पाता है।

यही बात अत्यन्त शुभ कर्मोंके सम्बन्धमें है। वे इतने अधिक हों कि उनका सुखभोग किसी पार्थिव देहमें मिलना सम्भव न हो तो वह स्वर्ग जाता है। स्वर्गमें उसे 'भोगदेह' मिलता है। इस देहमें तृप्ति तथा रोग नहीं है। निरन्तर भोगका आनन्द मिलता रहेगा और जब भोग इतने अल्प रह जायँ कि पार्थिव देहमें भी उन्हें भोग लेना सम्भव हो, तब पृथ्वीपर जन्म होता है।

यह सब तो है; किंतु एक विशेष नियम मनुष्यके लिये है। मनुष्य मरते समय जो चिन्तन करता है, पृथ्वीपर उसे प्रथम जन्म उस चिन्तनके अनुसार ही देनेके लिये कर्म-नियन्ता विवश है। इसीलिये पितृलोक बना है। मान लीजिये कि एक व्यक्ति किसीका चिन्तन करते मरता है। मृत्युके उपरान्त वह अपने स्वर्ग या नरकके भोग प्राप्त करके उन्हें पूर्ण कर लेता है। अब उसे पृथ्वीपर उसके संसर्गमें जन्म लेना चाहिये, जिसका चिन्तन करते वह मरा है। लेकिन जिसका चिन्तन करते वह मरा है, वह जीव अभी स्वर्ग या नरकमें है। तब इस दूसरे जीवको पितृलोकमें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। एक प्रकारका प्रतीक्षालय है पितृलोक।

'यह जीव नरक आया है। अतः नरकके दुःख भोगकर इसे किसी अशुभ योनिमें ही जाना चाहिये।' चित्रगुप्तने कर्म-विवरण देखते हुए सहजभावसे कहा। नरकभोग समाप्त करनेपर भी जीवके पास अशुभ कर्म ही तो अवशेष रहेंगे। अतः धरापर कीट-पतंग, पशु-पक्षी तथा अन्य यन्त्रणा भोगते प्राणी नरकसे आये जीव हैं, यह अनुमान सरल है। यहाँ यश, ऐश्वर्य तथा आनन्द भोग तो स्वर्गसे आगतोंका भाग है। इसलिये चित्रगुप्तका चिन्तन ठीक दिशामें ही था।

'आप इन महानुभावके अन्तिम चिन्तनपर ध्यान नहीं दे रहे हैं।' धर्मराजने चित्रगुप्तको दिशा संकेत दिया।

'ऍं!' चित्रगुप्त चौंके—'स्वामी निरञ्जनानन्दजी तो निर्वाण प्राप्त कर चुके, जिनका चिन्तन करते इन्होंने शरीर छोड़ा।

'अब विधानतः हम बाध्य हैं कि हम इनको वह प्रदान करें, जो इनका अन्तिम चिन्त्य था।' धर्मराजने सूत्र सुना दिया।

'जो प्रकृतिके क्षेत्रसे परे पहुँच गये, उन्हें या उनका सान्निध्य हम किसीको कैसे दे सकते हैं?' चित्रगुप्तने मस्तक झुका लिया।

'जब अन्तिम चिन्तनके अनुसार जन्म हम नहीं दे सकते, विवश होकर हमें इन्हें मुक्त करना पड़ेगा।' धर्मराजने बात स्पष्ट की—'जो किसी मुक्तात्माका चिन्तन करता महात्मामें आसक्त प्राणी प्राणत्याग करता है, उसका स्वत्व बन गया मोक्ष।'

'किंतु इन्हें ज्ञान तो……।' चित्रगुप्तने शंका की।

'ज्ञान तो श्रवण-सापेक्ष है और मैं यहाँ इसीलिये नियुक्त हूँ कि कोई अधिकारी उपस्थित होनेपर उसे उपदेश करूँ।' यमराज महाभागवत हैं, चित्रगुप्तसे यह अज्ञात नहीं है। अतः ज्ञानोपदेश यदि वे करना चाहेंगे, सहज समर्थ हैं इसमें।

'यदि ये महानुभाव यहाँ न आकर अमरावती गये होते ?' चित्रगुप्तके प्रश्नका अर्थ है कि यदि सेवाराम अपने जीवनमें शुभकर्मा होते और इसी प्रकार स्वामी निरञ्जनानन्दका चिन्तन करते देहत्याग करते तो यमलोक तो आते नहीं । शुभकर्मका फल भोगने स्वर्ग जाते । स्वर्गसुख भोगनेके पश्चात् उनका क्या होता ?

'जीव अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप नरक, स्वर्ग अथवा ब्रह्मलोकतक जाता है । ऊपरके अन्य लोकोंमें अथवा नीचेके रसातल, पातालादिमें भी जा सकता है ।' धर्मराजका स्वर गम्भीर हो गया—'इन लोकोंमें मैं, देवराज इन्द्र, भगवान् ब्रह्मा, ऋषिगण अथवा अधोलोकोंमें भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद, दानवेन्द्र मय, नागराज वासुकि, भगवान् शेष प्रभृति कारक पुरुष इसीलिये तो हैं कि यदि कोई किञ्चित् कर्मशेष अथवा महापुरुषमें आसक्त प्राणी वहाँ आ जाय तो उसे तत्त्वोपदेश वहीं प्राप्त हो सके । उसे संसारमें भेजना तो विधानके ही विपरीत है ।'

बाँसुरी

फिर मधुवनमें बजी बाँसुरी ॥
छिड़ी गगनमें मधुर रागिनी,
भगी निराशा मंदभागिनी ।
मत्त हो गये झूम-झूम कर—
मनहर लय पर नाग-नागिनी ।
चुरा गयी, चितचोर श्यामकी—
जगके मनको, आज बाँसुरी ।
फिर मधुवनमें बजी बाँसुरी ॥

हृदयोंके संताप मिटे सब,
कल्मष एवं पाप मिटे सब ।
बहने लगी अमियकी धारा,
द्वेष, दंभ, छल, दाप मिटे सब ।
भव-भयके टूटे सब बंधन,
छूटे दैन्य निराशाके क्षण ।
दुविधा द्वंद्वोंका भ्रम भागा,
पावन पूत हुए सबके मन ।
हुआ पुण्यका उदय हृदयमें,
भगे उरोंसे भाव आसुरी ।
फिर मधुवनमें बजी बाँसुरी ॥

जिसने सुनी, विमुग्ध बन गया,
सुधि-बुधि खोकर लुब्ध बन गया ।
पंक सदृश मन अति मलीन भी
क्षीरसिंधुका दुग्ध बन गया ।
पातक मानसको तज भागे,
संचित पुण्य सभीके जागे ।
सुनकर अद्भुत लय मुरलीकी
टूट गये बन्धनके धागे ।
दुःख और दारिद्र्य मिटे सब
देख श्यामकी रूप-माधुरी ।
फिर मधुवनमें बजी बाँसुरी ॥

सोचा था कुछ बात करूँगी,
निकट पहुँच प्रणिपात करूँगी ।
मनमोहक मोहनसे रुक-रुक
प्रेमपूर्ण उत्पात करूँगी ।
किंतु निकट आया जब मधुवन,
देखी मोहनकी मधु चितवन ।
सुनी मधुर मुरलीकी लहरी—
खो बैठी मैं अपना तन-मन ।
भूल गयी छलमय प्रपंच सब,
लुप्त हो गयी वाक्-चातुरी ।
फिर मधुवनमें बजी बाँसुरी ॥

—धर्मेन्द्र शर्मा

कठिन रोग और हवन-यज्ञ

(मूल लेखक—स्व० डा० श्रीफुन्दनलालजी अग्निहोत्री, एम्० डी० (लंदन), मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम
अनुवादक-प्रेषक—श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

रोगोंमें सबसे कठिन वे रोग हैं, जिनमें शरीरके किसी भीतरी भागमें राध उत्पन्न हो जाती है। जैसे क्षयरोगमें जब फुप्फुसमें राध पड़ जाती है, तब वह बड़ी कठिनतासे ठीक होती है। स्त्रियोंके गर्भाशयमें जब फोड़ा हो जाता है, तब भी बड़ी मुसीबतका सामना होता है। शरीरके किसी अन्य भाग—आँत, हड्डी आदिमें राध होती है, तब भी चिकित्सा कोई योग्य चिकित्सक ही कर सकता है। चूँकि आजकल प्रायः रोगी जमकर श्रद्धा और विश्वासपूर्वक चिकित्सा नहीं करते और इसी कारण प्रायः चिकित्सक भी उचित ध्यान नहीं देते। अतः कठिन रोगसे ग्रस्त रोगियोंका परिणाम प्रायः मृत्यु ही होता है। एक क्षयरोगको ही लीजिये। जिन लोगोंके यहाँ अभाग्यवश कभी दो-चार रोगी इस रोगके हुए हैं, उन्हें पता होगा कि इस रोगकी चिकित्सा कितनी कठिन है। पर हवन-यज्ञका इन रोगोंपर क्या प्रभाव पड़ता है, वह यहाँ संक्षेपमें बताते हैं।

इस समय ऐलोपैथी अर्थात् डाक्टरीमें क्षयरोगकी जो सर्वोत्कृष्ट ओषधि मानी जाती है, वह ओषजनयुक्त शुद्ध वायु है। यह इतनी लाभदायक क्यों मानी गयी है—इस प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करनेपर पता चलता है कि अन्य अनेक गुणोंके अतिरिक्त इसमें एक गुण यह भी है कि यह कृमियोंके उस घावको सड़नेसे रोकती है, जो वे (कृमि) फुप्फुस आदि स्थानोंपर करते हैं। यह वायु घाव तथा उसमें उत्पन्न हुए राधको सुखाती है। गरमीका स्वभाव सुखाना और सर्दीका स्वभाव भिगोना सभी जानते हैं। वर्षाकी वायुमें चूंकि नमी होती है, अतः उस ऋतुमें घाव शीघ्र नहीं सूखते। पर गरमी भी एक विशेष परिमाणमें घावको सुखाती है। स्त्रियोंके गर्भाशय इत्यादिमें जब कोई घाव या फोड़ा आदि हो जाता है और किसी कारणवश आपरेशन नहीं करते तो डाक्टर लोग 'रेडियम'की चिकित्साका परामर्श देते हैं। 'रेडियम' एक बहुमूल्य पदार्थ है, जो इतना गरम होता है कि फोड़ेके स्थानपर बाँधनेसे न केवल ऊपरी भागपर आगसे जलनेका-सा चिह्न बन जाता है—अपितु उसकी गरमीसे भीतरका फोड़ा भी सूख जाता है। इस कामके लिये 'रेडियम' ही क्यों खोजा गया ? गरमी तो अग्निद्वारा भी पहुँचायी जा सकती थी ! कारण यह है कि रेडियमके भीतर एक विशेष परिमाणमें गरमी होती है और वह परिमाण वैज्ञानिक अग्निद्वारा नहीं बना सके। इसी प्रकार, ओषजनयुक्त वायुमें एक विशेष मात्रामें गरमी होती है, जो रोगीके फुप्फुसको गलने-सड़नेसे बचाती है और उसके क्षतको सुखाती है। (पूर्व और पश्चिमसे आनेवाली वायुमें भी भेद होता है। एक क्षतको सुखाती है, पर दूसरी उसे हरा करती है।) अब यदि कोई वस्तु ऐसी मिल सके जो इस सड़नको रोकनेमें ओषजनयुक्त वायुसे भी अधिक तीव्र और व्यापक प्रभाव रखती हो तो उसे डाक्टरीकी सब ओषधियोंका सिरताज माननेमें आपको क्या आपत्ति हो सकती है ? ऐसी चीज मैं आपको बताता हूँ। यह वही आयुवर्द्धक, शक्तिप्रसारक, आनन्ददायक, रोगहर्त्ता, साक्षात्-संजीवनी 'हवन-गैस' है, जिसका क्षत सुखानेका विशिष्ट गुण केवल युक्तिसे ही नहीं बल्कि परीक्षणसे भी सत्य सिद्ध हो चुका है। इस विषयमें विस्तारसे 'क्षयरोगकी अचूक चिकित्सा' पुस्तकमें देखें। यहाँ केवल एक परीक्षणका उल्लेख किया गया है।

परीक्षण

काँचकी बारह शीशियाँ ली गयीं और वैज्ञानिक रीतिसे उनको नितान्त शुद्ध कर लिया गया अर्थात् उनके कृमि आदि सब निकाल दिये गये। इसके पश्चात् दो-दो शीशियोंमें दूध, मांस, फलोंके रस आदि छः वस्तुएँ भरी गयीं। अब छः शीशियोंको एक ओर और दूसरी छः को दूसरी ओर रख दिया। उनमेंसे एक ओर वाली शीशियोंमें हवन-गैस पहुँचायी गयी और दूसरी ओरकी शीशियोंमें उद्यानकी शुद्ध वायु भर दी गयी। शीशियाँ वैज्ञानिक ढंगपर बंद करके रख दी गयीं और नित्यप्रति उनका निरीक्षण किया गया। परिणाम यह निकला कि जिन शीशियोंमें उद्यानकी वायु थी, उनमें सड़ाव शीघ्र आरम्भ हुआ और शीघ्रतापूर्वक बढ़ रहा था। इसके विपरीत जिन शीशियोंमें हवन-गैस पहुँचायी गयी थी, उनमें सड़ाव देरमें प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि हवन-गैसमें शुद्ध, ओषजनयुक्त उद्यानकी वायुसे भी अधिक सड़ावको रोकनेकी शक्ति है। यह अनुभव साधारण हवन-सामग्रीसे किया गया। यदि

किसी विशेष रोगके उपयुक्त विशेष हवन-सामग्री बनाकर अनुभव किया जाय तो प्रभाव और भी उत्तम होगा। तो जो लोग नित्यप्रति हवन करते हैं, उनके शरीरमें इस प्रकारके रोग उत्पन्न हो ही नहीं सकते। जिनमें किसी भीतरी स्थानमें राध उत्पन्न हो और यदि किसी विशेष कारणसे ऐसे रोग उत्पन्न होने भी लगे तो नित्यप्रति हवन-गैस पहुँचनेसे मवाद तुरंत सूख जायगी और क्षत अच्छा हो जायगा। यही तो कारण था कि प्राचीनकालमें जब प्रत्येक आर्य नित्यप्रति हवन करता था, तब तपेदिक, पायरिया, कारबंकल, कैन्सर, नासूर, आँत तथा गर्भाशयके फोड़े आदि रोग विरले ही सुननेमें आते थे। तभी तो दैनिक यज्ञ न करना पापकर्म कहा जाता था; क्योंकि जिसका फल रोगी होकर दुःख भोगना है।

दूसरी बात

पुराने रोग प्रायः अच्छे नहीं होते, इसका क्या कारण है? यही कि रोगकृमि तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि २५,००० कृमि केवल एक इंच स्थान घेरते हैं और तौलमें एक खसखसके दानेपर बीस अरब कीड़े चढ़ जाते हैं। ये ही कृमि पुराने रोगमें किसी अङ्गकी उस भीतरी पर्तमें अपना घर बना लेते हैं, जहाँ रक्तके भी बहुत ही सूक्ष्म कण पहुँच पाते हैं; पर ओषधि दी जाती है स्थूल रूपमें, जिसका प्रभाव अङ्गोंके उन सूक्ष्म भागों तक हो ही नहीं सकता। सब चिकित्सक जानते हैं कि एक ही ओषधि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म रूपमें बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाती है। आयुर्वेदमें ओषधिकी शक्ति बढ़ानेके लिये उसे सूक्ष्म करनेको घोंटने और भस्म करनेका नियम है। एक ओषधि यदि साधारण तौरपर पीसकर एक माशेकी मात्रामें जितना प्रभाव करेगी, वही ओषधि खरलमें एक सप्ताह तक बराबर घोटनेसे इतनी शक्तिशाली हो जायगी कि उसकी दो रत्तीकी मात्रा भी पहलीकी अपेक्षा अधिक प्रभाव दिखायेगी। इसी नियमके आधारपर एलोपैथीमें इंजेक्शन और होम्योपैथीमें ओषधियोंकी पोटेन्सी तैयार की जाती है। उनका कहना यह है कि शुगर आफ़ मिल्क अथवा स्पिरिटमें घोटने या झटका देनेसे किसी ओषधिका जितना सूक्ष्म भाग किया जायगा, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जायगी; क्योंकि इस ढंगसे ओषधिकी भीतरी गुप्त शक्ति उभरती है। यह कहनेभरकी बात नहीं है; बल्कि हजारों डाक्टरोंकी प्रत्यक्ष अनुभव की हुई बात है कि होम्योपैथिक दवाकी ऊँची पोटेन्सीकी एक मात्रा कई-कई मास तक अपना प्रभाव दिखाती है जब कि उसी ओषधिकी नीची पोटेन्सी, जिसकी भीतरी शक्ति नहीं उभारी गयी है, कुछ ही घंटोंमें अपना प्रभाव समाप्त कर देती है। यह ऊँची पोटेन्सीकी दवा पुराने ही रोगोंमें दी जाती है। इस विषयमें जो सज्जन विस्तारसे पढ़ना चाहें, वे होम्योपैथीके आविष्कारक डाक्टर हैनीमन साहब एम्० डी० की पुस्तक 'आरगैनन आफ़ द मेडिसिन्स' (Organon of the Medicines) पढ़ें। एलोपैथीमें जब मलेरियाका केस पुराना हो जाता है और ६०-६० ग्रेन क्विनैन खिलानेसे भी बारी नहीं रुकती, तब ग्रेनके किसी भागका इंजेक्शन देते हैं और बारी रुक जाती है। भोजनको खूब चबाकर खानेमें जहाँ अन्य अनेक लाभ हैं, वहाँ एक लाभ वैज्ञानिक लोग यह भी बताते हैं कि अधिक चबानेसे भोजनकी गुप्त प्राणशक्ति उभर आती है, जिससे थोड़ा भोजन भी अधिक बलकारी होता है और मल कम बनता है। तो नियम यह हुआ कि प्रत्येक ओषधिके स्थूल परमाणुओंको सूक्ष्म रूपमें परिवर्तित कर लेनेपर वह ओषधि अधिक शक्तिशाली हो जाती है। क्षयरोगीको, जिसे बहुत ही सूक्ष्म परमाणुवाली ओषधिकी आवश्यकता है, जब सब ओषधियाँ देकर थक जाते हैं तब पहाड़पर जानेका परामर्श देकर डाक्टर लोग उसके आरोग्य होनेकी आशा करते हैं, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि ओषधियोंके स्थूल परमाणु तो रोगके सूक्ष्म कृमियोंको नहीं मार सके, पहाड़की सूक्ष्म ओषजनयुक्त वायु प्रभाव कर सके तो कर सके।

अब विचार कीजिये कि चाहे वर्षोंतक ओषधि खरलमें घोटी जाय, फिर भी उसके परमाणु इतने सूक्ष्म नहीं हो सकते जितने हवनद्वारा अग्निमें जलानेसे होते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव कीजिये। एक पूरी मिर्च आप अकेले खा सकते हैं। यदि आप उसे इमामदस्तेमें कूटने लगें तो पास बैठे दो-चार व्यक्ति उसकी चरपराहटसे प्रभावित होंगे। पर यदि आप उसी मिर्चको आगमें डाल दें तो पचासों मनुष्य उससे प्रभावित होकर खाँसने लगेंगे। इससे यही सिद्ध होता है कि अग्निमें जलानेसे किसी ओषधिके जितने सूक्ष्म परमाणु किये जा सकते हैं, उतने सूक्ष्म किसी अन्य विधिसे नहीं। अतः हवनमें जलायी गयी ओषधि रोगके बारीक-से-बारीक कृमिपर प्रभाव डालेगी और इस प्रकार इससे वे रोग भी नष्ट हो सकेंगे, जिनमें खानेकी स्थूल ओषधि सफलता प्राप्त

नहीं कर सकी। हवनद्वारा उसको भी अधिक उत्तम और सूक्ष्म वायु प्राप्त हो सकती है, जिसके प्राप्त करनेको लोग पहाड़पर जाते हैं, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं।

तीसरी बात

कठिन और जीर्ण रोगोंमें रोगी दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जाता है। रोगोंके राजा तपेदिकको तो 'क्षयी रोग' कहते ही हैं; जिसका शब्दार्थ है 'क्षीण करनेवाला रोग' और वास्तवमें इसका रोगी क्षीण होता जाता है। डाक्टर लोग भी शरीरका भार घटने-बढ़नेसे चिकित्साकी हानि-लाभका अनुमान करते हैं। हमलोग फुफ्फुस देखनेका यन्त्र जब किसी स्वस्थ मनुष्यके वक्षःस्थलपर लगाते हैं तो भीतर जानेवाली श्वासका लम्बान बाहर निकलनेवाली श्वासकी अपेक्षा तीन गुना अधिक सुनायी देता है। जिसका मतलब यह है कि आय अधिक और व्यय कम है; किंतु तपेदिकके रोगीकी श्वासका लम्बान इसके विपरीत होता है अर्थात् भीतर जानेवाली श्वासका कम और बाहर आनेवाली श्वासका अधिक। इससे ज्ञात होता है कि आय कम और व्यय अधिक है। तभी तो यह क्षयी रोग कहलाता है। ऐसे रोगोंमें चिकित्सकका यह प्रयत्न होता है कि रोगी अधिक-से-अधिक, पर ऐसा भोजन करे, जिससे आमाशय आदिपर तो अधिक बोझ न पड़े; लेकिन रक्त अधिक बने और पोषण अधिक होकर रोगीका वजन बढ़े। पर समस्या यह होती है कि ऐसे भोजनको पचानेकी शक्ति रोगीमें होती नहीं। ओषजनकी न्यूनताके कारण मन्दाग्निका वेग होता है, न खानेकी इच्छा, न पचानेका बल। कोई बलदायक भोजन दिया जाता है, तब कभी तो पच जाता है और कभी दस्त आ जाते हैं—जो ऐसे रोगीके लिये मृत्युकी सूचना समझिये। अनुभवी-से-अनुभवी चिकित्सक रोगीकी पाचनशक्तिका बिल्कुल ठीक अनुमान लगानेमें भूल कर सकता है; किंतु हवनके द्वारा आप पौष्टिक-से-पौष्टिक भोजन बादाम, शतावर, मोहनभोग, खीर इत्यादि अधिक-से-अधिक मात्रामें रोगीके शरीरमें वैज्ञानिक रीतिसे पहुँचा सकते हैं। उन वस्तुओंका सार भाग ही रोगीके भीतर पहुँचेगा, जो अग्निने पहले ही हल्का कर दिया है। अतः वह पाचनशक्तिपर लेशमात्र भी भार तो डालेगा ही नहीं, बल्कि उसे तेज करेगा और रक्तको बलवान् बनायेगा। ऐसा बलवान् बनायेगा कि कोई रोग पास ही न आ पाये। इसपर भी सोनेमें सुगन्धवाली कहावतको चरितार्थ करते हुए विशेषता यह है कि आपको अजीर्ण होनेका कुछ भय नहीं। आप चाहे सारे वायुमण्डलको पौष्टिक हवन-गैससे भर दें; प्रत्येक मनुष्य उसमेंसे उतना ही भाग ग्रहण करेगा, जितनेकी उसे आवश्यकता है। जैसे उद्यानकी वायुमें ओषजन भरा होता है। आवश्यक परिमाणसे अधिक ओषजन मनुष्यको भारी हानि पहुँचा सकता है। किंतु क्या कभी किसी मनुष्यको उद्यानमें घूमनेसे ओषजन अधिक पहुँच जानेकी शिकायत हुई है? कारण यह है कि परमात्माने प्रकृतिके भीतर ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि मनुष्य आवश्यकतासे अधिक ओषजन साधारण तौरपर ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार हवन-गैसमेंसे प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्तिके अनुपातसे ही उन पदार्थोंको ग्रहण करेगा। अब पाठक विचारें कि क्षयरोगके नाशके लिये और उन सब रोगोंके नाशके लिये, मवाद जिनमें शरीरके किसी भीतरी अङ्गमें राध उत्पन्न हो जानेसे क्रमशः शरीर-क्षय होता जाता है, हवन-यज्ञसे बढ़कर क्या और कोई दूसरी ओषधि उपयुक्त हो सकती है? तो जो मनुष्य स्वस्थ अवस्थामें नित्यप्रति इन पौष्टिक पदार्थोंसे हवन करते हैं, वे अपनी आवश्यकतानुसार अधिक-से-अधिक हवन-गैस ग्रहण करके पुष्ट बनते हैं, जिससे उनको क्षयी इत्यादि रोगोंका कभी खटका नहीं हो सकता और रोगी भी विशेष साधनोंद्वारा इससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

चौथी बात

जिन लोगोंको होम्योपैथिक चिकित्साका कुछ भी ज्ञान है, वे भली प्रकार जानते हैं कि होम्योपैथीमें एक ही ओषधि सैकड़ों रोगोंमें दी जाती है और हर-एक ओषधिके सैकड़ों गुण Materia Medica (निघण्टु) में लिखे हैं। जो ओषधि ज्वरकी किसी अवस्थाविशेषमें काम करेगी, वही विषूचिकामें किसी अवस्थामें काम दे सकती है और वही निमोनियाकी किसी अवस्थामें प्रयोगमें आ सकती है। कारण इसका यह है कि ओषधियोंमें असंख्य गुण हैं और होम्योपैथीमें अधिकांश ओषधियाँ समूल स्प्रिटमें गलायी जाती हैं। उसका कोई भाग फेंका नहीं जाता। इसके विरुद्ध जिन चिकित्सा-विधियोंमें ओषधिका अर्क इत्यादि खींचकर उसका फोकस फेंक देनेका विधान है, वहाँ ओषधिके गुण भी थोड़े ही रह जाते हैं। इसका कारण यह है कि ओषधिका जो भाग फेंक दिया जाता है उसके गुण भी उसीके साथ

चले जाते हैं । चूँकि हवन-चिकित्सामें भी ओषधियोंका सारा भाग काममें आ जाता है और इस रूपमें आ जाता है जैसा होम्योपैथीसे भी सम्भव नहीं । अतः उसकी ओषधियाँ भी अपने सम्पूर्ण गुणोंका प्रकाश करके शरीरके अनेक दोषोंको मिटा देती हैं । इसीसे नित्यप्रति हवन करनेवाले रोगमुक्त रहते हैं और रोगी-अवस्थामें हवन करनेसे तपेदिक, कारबंकल, नासूर, कैंसर, संग्रहणी, मलेरिया, उपदंश, पेट एवं गर्भाशय आदिके फोड़े-जैसे भयंकर रोग भी दूर हो सकते हैं । तभी तो वेद भगवान्ने रोगीको आदेश दिया है—

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं
हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः
शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥
(ऋग्० १० । १६१ । ४)

हे रोगी ! तू (वर्धमान) दिन-प्रतिदिन बढ़ता हुआ **(शतं शरदः, शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्)** सौ वर्षतक (जीव) जीवित रह । (इन्द्र) वायु, (अग्निः) अग्नि, (सविता) सूर्य, (बृहस्पति) यज्ञ—ये सब देवता (ते) तुझे कई प्रकारसे (एनं) तेरे इस शरीरको (शतायुषा) सौ वर्षतक जीवन स्थिर रखनेको (हविषा) आहुतिद्वारा (आहार्षम्) मौतके मुँहसे लौटा ले आवें ।

अभिप्राय यह है, रोगीको शुद्ध वायु, प्रकाश और हवन-यज्ञद्वारा अपने खोये हुए स्वास्थ्यको पुनः प्राप्त करके सौ वर्षतककी आयु भोगनी चाहिये । इससे भी उत्तम और सुगम उपाय यह है कि हम नित्यप्रति हवन करके इन भयंकर रोगोंके भयसे मुक्त हो जायँ । विशेषरूपसे इस समयमें जब कि रोग नित्यप्रति घेरे ही रहते हैं, हमें उनसे बचनेका सबसे सुगम और सरल उपाय 'नित्यप्रति हवन करना' अपनाना ही चाहिये ।

जीवनके कर्णधारसे

(रचयिता—श्रीरामस्वरूपसिंहजी 'राम' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

मेरे जीवनकी नौकाके कर्णधार लेकर पतवार ।
देर न कर, कर दे जल्दी ही, इसे विश्व-सरिताके पार ॥
छिद्र अनेक वासनाओंके हैं इस तरणीमें दे तू ध्यान ।
भारी भार पाप-कर्मोंका भरा हुआ है बे-परिमान ॥ १ ॥

है विचलित अशान्ति-आँधीसे घिरी घटा हैं भयकी घोर ।
बैठे हुए भयंकर इसमें हैं खल मोहमदादिक चोर ॥
है आ रही असुरणी रजनी संध्याके पीछे मद-चूर ।
अंधकारका बुरका ओढ़े करती हुई ज्योतिको दूर ॥ २ ॥

ईर्षा-मत्सरताकी लहरें हैं सरिमें उठ रही उतंग ।
बैर-द्वेष घड़ियाल ग्राह हैं दिखा रहे निज दारुण अंग ॥
भीषण भँवर कपट-छलके भी हैं पड़ रहे सभी ही ओर ।
डूब रही हैं अगणित नौका प्रतिपल मचा हुआ है शोर ॥ ३ ॥

नहीं सखा सुत बनिता भ्राता माता पिता सुता धन धाम ।
कोई कुछ भी इस संकटमें आ सकता है मेरे काम ॥
प्राण, प्राणका तू ही, तू ही है मम हृत्तंत्रीका तार ।
तू ही 'राम' एक आशा है, कर्णधार वर, ले चल पार ॥ ४ ॥

× × (भव-पार उतार) ॥

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

भलो भलीभाँति है जो मेरे कहे लागिहै । मन रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै ॥
राम नामको प्रभाउ जानि जूड़ि आगि है । सहित सहाय कलिकालु भीरु भागिहै ॥
राम नाम सों बिराग, जोग, जप, जागिहै । बाम बिधि भालहू न करमदाग दागिहै ॥
राम नाम मोदक सनेह सुधा पागिहै । पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै ॥
राम नाम कामतरु जोइ जोइ माँगिहै । तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै ॥

तुलसीदासजी कहते हैं—‘मन ! मेरे कहेपर चलकर स्वभावसे ही तू रामनामसे प्रेम करेगा तो तेरा सब प्रकारसे भला होगा । रामनामका प्रभाव कँपा देनेवाली (दुःखरूपी) सर्दीका नाश करनेके लिये अग्निके समान है । मनुष्यकी बुद्धिको विचलित कर देनेवाला कलिकाल अपने (राग-द्वेष, कलह-क्लेश, तीन तरहके दुःख-ताप आदि) सहायकोंसमेत रामनामके डरसे तुरंत भाग जायगा । रामनामके प्रभावसे वैराग्य, योग, जप आदि जाग उठेंगे । फिर वाम विधाता भी तेरे मस्तकपर बुरे कर्मफल अंकित नहीं कर सकेगा । यदि तू रामनामरूपी लड्डूको प्रेमरूपी अमृतमें पागकर खायगा तो तुझे सदाके लिये संतोष मिल जायगा । फिर सुखके लिये घर-घर भटकना नहीं पड़ेगा । रामनाम कल्पवृक्ष है, इससे तू उससे स्वार्थ-परमार्थ जो कुछ भी माँगेगा, सभी मिल जायगा, किसी बातकी कमी नहीं रहेगी ।’

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, वैर-हिंसा, अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार आदिसे पीड़ित तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे युक्त मानवको इन सभीसे सहज मुक्त कर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मनुष्य-जीवनके लक्ष्य मोक्ष या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र ‘भगवन्नाम’ ही परम साधन है । इस समय चारों ओर अशान्तिके बादल छाये हैं, युद्धकी भीषणता सिरपर सवार है । इसीलिये ‘कल्याण’के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्षकी भाँति प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें । यही परम हित है । गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है ।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ मंगलवार (९ नवम्बर १९६५) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ मंगलवार (५ अप्रैल १९६६) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०२३ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है । उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है । करना चाहिये ही।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

४-एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'—इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग,' 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—**चिम्मनलाल गोस्वामी**

सम्पादक-'कल्याण', गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श सेवा-भाव

निर्मल बाबूकी माँ अकस्मात् बीमार हो गयीं। उन्हें हैजा हो गया। निर्मल बाबूकी पत्नी बच्चोंको लेकर नैहर गयी हुई थी। निर्मल बाबू दफ्तर गये थे जो घरसे आठ-दस मील दूर था। पासमें कोई नहीं था। पड़ोसमें एक सज्जन रहते थे रामचन्द्र बाबू। वे भी दफ्तर गये हुए थे। उनकी जवान पत्नी घरमें थी। रामचन्द्र बाबू किसी सरकारी ऊँचे पदपर थे। उनका जीवन-स्तर बहुत सुख-सुविधामय था। पर उनकी पत्नी कमलादेवीका हृदय बड़ा विशाल था और उसमें दया, सेवा तथा प्रेमके भाव भरे थे। नौकरोंसे उसको पता लगा कि पड़ोसिन माताको हैजा हो गया है। वह तुरंत दौड़ी आयी और अपने हाथों उनका मल धोने लगी। उधर नौकरको भेजकर डाक्टरको बुलाया। डाक्टरने आकर पानी चढ़ाया। कमला अभी छोटी उम्रकी थी और थी भी बड़ी सुकुमार, और निर्मल बाबूकी अपेक्षा इसकी आर्थिक तथा पदजनित स्थिति भी बहुत ऊँची थी, परंतु यह बड़ी लगनसे सेवामें जुटी रही। जरा भी न तो घृणा या संकोच किया तथा न थकावट महसूस की। रातको आठ बजे निर्मल बाबू घर आये, तबतक यह सेवा करती रही और अपनी सेवा तथा उपचारके द्वारा पड़ोसिन माताको मौतके पंजेसे बचा लिया। निर्मल बाबूकी माताजी मने करती रहीं, पर कमला यह कहकर सेवासे नहीं हटी कि 'माताजी ! आप तो माँ हैं; माँकी सेवा करना मेरा सौभाग्य है। आप असीस दें कि मेरेमें सेवा करनेकी शक्ति तथा उत्साह बढ़े।'

निर्मल बाबूके आनेतक बुढ़िया माता अच्छी हो चली थी। तब कमला अपने घर लौटी। उसके बाद रामचन्द्र बाबू दफ्तरसे लौटकर आये और पत्नी कमलासे सारा हाल सुनकर उसकी सेवावृत्तिसे तो बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही दिनभर भूखी-प्यासी रहकर कमलाको इतना परिश्रम करना पड़ा, इससे उनके मनमें बड़ी सहानुभूति जागी और उनकी आँखोंमें आँसू आ गये।

निर्मल बाबू तो परम कृतज्ञ हुए ही।

—हजारीलाल मास्टर

(२)

तन मैला मन ऊजला

सौराष्ट्रके समुद्रतटपर द्वारकासे सोमनाथके बीचमें हर्षदनामक माताजीका तीर्थ है। उसके समीप लगभग पचास ग्रामीणोंका एक दल मैदानमें ठहरा हुआ था। इसी दिन अहमदाबादसे आये हुए उच्च वर्णके चार-पाँच कुटुम्ब भी वहाँ आकर धर्मशालामें ठहरे थे। उनमेंसे तीन-चार युवक घूमते-फिरते ग्रामीणोंके पड़ावके पास आकर एक पेड़के नीचे बैठ गये। उनके पास छोटा रेडियो था, उसमें फिल्मी गाने हो रहे थे और वे आपसमें हँसी-मजाक कर रहे थे।

इस नयी चीजको देखकर ग्रामीणोंकी चार-पाँच जवान लड़कियाँ उनके पास आकर गाना सुनने लगीं। युवकोंमेंसे एकने एक लड़कीको पास बुलाकर रेडियो दिखाया। वह बेचारी सीधी-सादी उसे देखने लगी। फिर युवकोंके हँसी-मजाकका दौर बढ़ गया। उन लड़कियोंने समझ लिया कि इन युवकोंकी नीयत ठीक नहीं है, इससे वे वहाँसे हट गयीं।

रातको उन युवकोंमेंसे एकको विषधर साँपने डँस लिया। शहरी आदमी, कुछ भी सूझता नहीं, क्या करें। सबके होश उड़ गये। दौड़-धूप होने लगी।

ग्रामीणोंके पड़ावतक बात पहुँची। वे सब भी आ गये। उनमें वह लड़की भी थी, जिससे इसी युवकने मजाक किया था। युवककी माँको रोती देखकर इस लड़कीसे रहा नहीं गया और 'कहाँ काटा है'—यों पूछती हुई उसने आगे बढ़कर जिस पैरके अँगूठेको साँपने काटा था, उसे मुँहमें लेकर वह जहर चूसने लगी। लगभग आध घंटेतक वह जहर चूसती और कुल्ले करती रही।

एक वृद्ध ग्रामीण रीठाका जल लाया और उसने उस युवकको तथा खून चूसनेवाली लड़कीको पिला दिया। दोनोंको तीन-चार उलटियाँ हुईं और युवकके प्राण बच गये।

धीरे-धीरे सब बिखर गये। किसीने वृद्धसे कहा—'शामको तो इस छोकरेने इस बहिनसे गंदा मजाक किया था।'

'क्या किया जाय भाई ! जवानी है। शहरी आदमियोंके मनोंको सिनेमाने बिगाड़ दिया है। क्या किया जाय।'—वृद्धने कहा।

'परंतु जहर चूसनेमें कहीं इसी बहनको जहर चढ़ जाता तो ?'

'सबकी रखवाली राम करता है । किसी मनुष्यको आँखोंके सामने यों कैसे मरने दिया जाय ?'

सुधरा हुआ समाज जिनकी अवज्ञा करता है, ऐसे मैले-कुचैले लोगोंके मनोंमें कितनी मानवता भरी है ।

'अखण्ड आनन्द' —जयंतीलाल मालधारी

(३)

मानवताका मूल्य

कुछ समय पहलेकी बात है । मैं अपने बड़े भाईके साथ बातचीत कर रही थी । नौकरोंकी ईमानदारी तथा हितेच्छाकी बात चलनेपर उन्होंने नीचे लिखी घटना सुनायी—

मेरे बिचले भाईको टी०बी० हो जानेके कारण उसके इलाजके लिये मेरी माताजी तथा बड़े भाई उसको लेकर मीरज चले गये । साथमें रसोइया और घाटी (नौकर) था । भाईकी चिन्ताके कारण मेरी माताजीका स्वास्थ्य भी खराब रहने लगा था । इसलिये घरका सारा काम रसोइया तथा घाटी ही चलाते थे । घाटीको तो घरके छोटे-बड़े सभी काम करनेकी आदत पड़ी होती है, परंतु रसोइया भी रसोईके कामसे निपटनेके बाद रोगीकी सार-सँभालके लिये सदा तैयार रहता और मेरे भाईकी कभी अनुपस्थिति होती तो वह नर्सके सदृश ही काम कर लेता । उसके घरपर पैसोंकी जरूरत हुई होगी इसलिये उसने उस समय माताजीसे दो सौ रुपये लिये होंगे । उस समय हमारी स्थिति अच्छी थी इससे दो सौ रुपयेका कोई हिसाब नहीं रक्खा गया था । फिर मेरे भाईके स्वस्थ न होनेके कारण एक बड़ा भारी दुःख हमलोगोंपर आ पड़ा था, इसलिये इन रुपयोंकी बात तो भूल ही गयी थी ।

इस बातको वर्षों बीत गये । आपसी झगड़ेके कारण दूकानसे पैसे उठानेमें रोक लग गयी थी । दूकानका सारा कारोबार चाचाजीके हाथमें था । मेरे भाई उस समय कॉलेजमें अध्ययन करते थे । उनके पास परीक्षाकी फीस भरने तथा होस्टलके बिल चुकानेके लिये पैसे नहीं थे । अतएव वे बड़े ही संकटमें पड़े हुए थे । हमारा वह रसोइया उस समय हमारी एक बहिनके घर रसोई बनाता था । किसी तरह उसको हमारे अर्थसंकटका पता लग गया और वह बहिनके पाससे दो सौ रुपये वेतनके हिसाबमें अग्रिम लेकर चुपचाप मेरे भाईको दे गया । विपत्तिके समय इन रुपयोंकी कीमत बढ़ गयी थी ।

मुझे यही विचार आता है कि मानवताका मूल्य कितना महान् है ।

—एच० एम० वैष्णव

(४)

कौन भला ? कौन बुरा ?

मेरी पड़ोसिनकी लड़की बीमार पड़ी । पड़ोसिनने मेरे पास आकर कहा—'मास्टर साहब ! डाक्टर साहब तुम्हारी जान-पहिचानके हैं, क्या तुम मेरी ओरसे जाकर उन्हें बुला लाओगे ! मेरी लड़की बहुत बीमार है ।'

मैंने कहा—'क्यों नहीं, अभी डाक्टरको बुलाकर लाता हूँ ।' और कुर्ता पहनकर मैंने पैरोंमें चप्पल सरकायी ।

'डाक्टर !' मैंने दवाखाने जाकर कहा—'मेरी पड़ोसिन-लड़की बीमार पड़ी है । चलकर देखिये ।'

डाक्टर तैयार होकर पेटी लेकर निकले । पेटी मैंने ले ली । डाक्टरने स्टेथिस्कोपकी दोनों नलियोंको कानोंमें लगाकर लड़कीकी छातीके खटके गिने; हाथकी नाड़ी, जीभ तथा आँखोंको देखा; पेटपर दोनों अँगुलियोंसे दो एक ठपके किये । फिर कहा—इंजेक्शन लगाना पड़ेगा ।'

पड़ोसिन बोली—लगा दीजिये साहब !

और इंजेक्शन लगा दिया गया । डाक्टर चलने लगे । पड़ोसिनने मुझसे पूछा—'साहबकी फीस !' मैंने डाक्टरसे पूछा—'आपकी फीस !'

उन्होंने दो रुपये इन्जेक्शनकी कीमत, दो रुपये इंजेक्शन लगानेके और दो रुपये देखनेकी फीसके—कुल मिलाकर छः रुपये बताये । मैंने पड़ोसिनसे कहा, उसने तख्तेके गदड़ेके नीचे चिथड़ेमें बँधी पोटलीमेंसे छः रुपये निकालकर मेरे हाथपर रख दिया । मैं और डाक्टर यह देख रहे थे ।

डाक्टरने रुपये हाथमें लेकर, क्षणभर विचार करके तीन रुपये बहिनको वापस लौटा दिये । बहिनने तो कृतज्ञतावश डाक्टरके सामने हाथ जोड़ लिये । डाक्टर बाहर निकल गये ।

डाक्टरको जाते देखकर पड़ोसिनने कहा—'देखा, साहब कितने भले हैं ।' फिर बोली—'ये गरीबोंकी दया जानते हैं । भगवान् इनका भला करें ।'

मेरा डाक्टरसे परिचय कुछ ही दिनों पहलेका था ।

मैं इनके लड़केका ट्यूशन करता था। तभीसे हमलोग परस्पर सम्पर्कमें आने लगे थे।

शीशी लेकर मैं दवाखाने पहुँचा, उसी समय डाक्टर अकेले ही अपने कमरेमें बैठे थे। अभी कोई बीमार नहीं आया था। वे सहज ही उदास दीख रहे थे, उनकी आँखें मेजपर स्थिर होकर गड़ रही थीं। वे विचारमें लीन थे।

वे बोले—'हूँ' और जेबमेंसे सवा दो रुपये निकालकर मुझे देते हुए कहने लगे—'ये सवा दो रुपये उस स्त्रीको वापस दे दीजियेगा।'

मैंने आश्चर्यके साथ यह सुना—मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने सहसा पूछा—'क्यों?' वे बोले—'उसने मुझको दयालु कहा था न? पर मेरी आत्मा उसके इन शब्दोंको पचा न सकी। मुझे लगा—'क्या मैं सचमुच दयालु था? उसकी हालत देखते तो मुझे उससे एक पैसा भी नहीं लेना चाहिये। पर इंजेक्शनके केवल बारह आने ले रहा हूँ।…'

'केवल बारह आने?' मैंने फिरसे पूछा।

वे कहने लगे—हाँ, केवल बारह आने। आप जानते हैं? मैं लोगोंसे पहले पूरी रोटी छीन लेता हूँ, फिर उसमें छोटा-सा टुकड़ा लौटा देता हूँ। वे खुश हो जाते हैं और मुझे दयालु और भला कहने लगते हैं। मुझमें वे आस्था रखते हैं तथा मुझे देवता मानकर पूजते हैं। पर मेरी आत्मा मुझे सदा कहती है कि चाहे सभी तुझे भला बताते हों, पर तेरी आत्मा तुझसे रोज एक ही सवाल पूछती है कि कौन भला है और कौन बुरा है—इसका तू आप ही निश्चय कर डाक्टर!'

'आप यह सब क्या कह रहे हैं?'—मैंने उनसे पूछा।

'हाँ, मैं सच कह रहा हूँ।' आत्मवेदनाका डंक पचाया नहीं जाता और मानो हृदयकी किसी गहरी गुफामें सोया हुआ, सत्यका प्रकाश जैसे उन्हें झकझोरता हो ऐसी व्यथित और व्यग्र वाणीमें वे कहने लगे—"मेरी मानियेगा! केवल छः आनेके इंजेक्शनके मैं पाँच रुपये लेता हूँ, और फिर उनमेंसे एक रुपया रोगीको वापस दे देता हूँ। इससे वे मेरी ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टिसे देखने लगते हैं। मेरे प्रति उनमें श्रद्धा तथा आत्मीयता जाग उठती है और उनका रोग मिट गया हो ऐसे मानसिक भाव तथा संतोषका वे अनुभव करते हैं।……परंतु मैं! मुझको किसी तरह भी चैन नहीं पड़ती। फिर मैं कहता हूँ कि 'धनियोंको इस प्रकार लूटना ही चाहिये; क्योंकि वे गरीबोंका खून चूसते हैं।' परंतु गरीबोंका खून मैं किसलिये चूसता हूँ? केवल एक ट्रेडिशन—रिवाज बनायी रखनेके लिये ही न! मुझे ऐसा प्रवाह-पतित जीवन नहीं चाहिये; क्योंकि मेरा अन्तरात्मा मुझसे रोज पूछता है—'निश्चय कर, कौन भला है और कौन बुरा है? इसीलिये कहता हूँ, यह रुपये ले जाइये और इनसे उस गरीब स्त्रीकी लड़कीके लिये मोसंबी खरीद लीजियेगा।"

कुछ भी कहे बिना मैंने दवाकी शीशी ले ली। उन्होंने खुद ही उसमें दवा भर दी थी और हल्के हुए हृदयसे उनके होठोंपर बहुत मजेदार प्रेमभरी मुसकान छा गयी।

इसके बाद हमलोग जुदा हो गये और इस बातको कितना ही समय बीत गया। परंतु मुझे अभी-अभी यह पता लगा है कि वे डाक्टर संन्यासी हो गये हैं!

'अन्तरका बीज आखिर धरतीको फोड़कर आकाशमें वृक्षरूपमें लहराये बिना कैसे रहेगा!' मेरे मुँहसे यह वाक्य निकल गया।

—'स्नेहाब्धि'

'अखण्ड आनन्द'

प्रभुचरणोंमें चिपटे रहो

हर पदार्थमें देखो हरिको नमन करो मनसे सुख मान।
हर हालतमें देखो हरिका हितकर मंगलभरा विधान॥
अखिल विश्वमें सदा सब जगह देखो मृदु हँसते भगवान।
अतुल मधुरता-सुन्दरताका करते रहो दिव्य रस-पान॥
आने दो न पास तुम अपने शोक-विषाद-राग-भय-मान।
चिपटे रहो सदा पावन प्रभुचरणोंमें, न रखो व्यवधान॥

पाकिस्तान-युद्ध और हमारा कर्तव्य

सम्पूर्ण विश्वचराचर एक ही विराट् भगवान्की अभिव्यक्ति होनेके कारण सभी वस्तुतः भगवत्स्वरूप हैं। अतएव हमारा किसीसे भी वैर या द्वेष नहीं है। हम सभीका कल्याण चाहते हैं और सभीको सुखी देखना चाहते हैं; पर जैसे अपने ही शरीरमें कोई रोग होनेपर उसके नाशके लिये कड़वी दवा दी जाती है अथवा अपने ही शरीरके किसी अङ्गमें दूषित जहरीला फोड़ा होनेपर उसका ऑपरेशन किया जाता है, वैसे ही विराट् शरीरके किसी अंशमें फोड़ा होनेपर उसका भी ऑपरेशन आवश्यक होता है। इसी प्रकार आज विराट् शरीरके जो पाकिस्तानरूपी एक जहरीला फोड़ा हो गया है, उसका ऑपरेशन किया जा रहा है—कल्याणके लिये ही; किसी द्वेष-भावनासे नहीं। यह वैर नहीं है, एक प्रकारकी परिणाम-कल्याणकारिणी सेवा है—यद्यपि इसका स्वरूप भीषण है। इस सेवामें प्रत्येक सत्य तथा न्यायके प्रेमी तथा विश्वकल्याणकामीको पूर्णरूपसे सहायता देनी चाहिये।

संसारमें शान्ति हो और सबका कल्याण हो—यह सभी चाहते हैं। पर यह तभी होगा; जब दुर्विचार रखनेवाले दुष्कृति दुर्जनोंका बल नष्ट हो जायगा और वे पाप-पराङ्मुख होकर पुण्यमयी सज्जनता स्वीकार कर लेंगे। इसी दृष्टिसे पाकिस्तानके साथ भारतका युद्ध हो रहा है। यह युद्ध वैसे भारतपर थोपा गया है—सहज आसुरीस्वभाव तथा आसुरी-आकाङ्क्षासे। विश्वकल्याणके लिये इस आसुरभावका विनाश आवश्यक है। अतएव इस युद्धमें प्रत्येक भारतवासीको भगवत्कृपाके आश्रयसे विजयमें विश्वास रखते हुए, तन-मन-धनसे यथायोग्य सहयोग देना चाहिये और सारे मत-भेदोंको भुलाकर मनमें साहस, धैर्य तथा उत्साह रखते हुए प्रत्येक त्यागके लिये तैयार रहना चाहिये। सरकारकी सहायता करनी चाहिये तथा इस पवित्र कार्यमें विघ्न करनेवाले पञ्चमाङ्गियों और पाकिस्तानियोंको दण्ड देना-दिलवाना चाहिये। किसी भी प्रकारसे अन्यायपरायण असुरका पक्ष नहीं लेना चाहिये।

भारतकी विजय हो तथा सम्पूर्ण विश्वमें चिर शान्ति हो, इसके लिये स्थान-स्थानपर भगवत्-प्रार्थना, देवाराधन, यज्ञ, सामूहिक कीर्तन, दुर्गाकी उपासना तथा रामायणके अनुष्ठानों एवं भगवान् शंकर तथा भगवान् नारायणकी आराधनाके व्यक्तिगत तथा सामूहिक आयोजन सर्वत्र होने चाहिये।

१६-९-१९६५

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * *

'धर्माङ्क'के लेखक महानुभावोंसे नम्र प्रार्थना

'धर्माङ्क'के लिये इतने लेख आ गये हैं कि उन सबको पढ़ना कठिन हो रहा है। बहुत-से लेख तो ऐसे हैं, जिनमें कोई भी महत्त्वकी बात नहीं है। यों ही लिखकर भेज दिये गये हैं। ऐसे लेख तो विशेषाङ्कमें छपेंगे ही नहीं। इनके सिवा एक-एक विषयपर दर्जनों लेख आये हैं, जिनमें प्रायः सर्वथा एक-सी बातें हैं। ऐसे लेख भी सब नहीं दिये जा सकेंगे। अन्यान्य लेख भी बहुत अधिक संख्यामें होनेके कारण उतने ही जा सकेंगे, जितनेके लिये स्थान होगा। अतएव हम इन सबके लेखक-प्रेषक महानुभावोंसे अपनी असमर्थताके लिये करबद्ध क्षमा चाहते हैं।

साथ ही लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं कि जिन सज्जनोंसे खास तौरपर पत्र लिखकर लेख माँगे गये हैं, उनके सिवा अन्य कोई सज्जन कृपया लेख न भेजें; क्योंकि स्थानाभावसे अधिक छापे जा नहीं सकते।

विनीत—सम्पादक

'कल्याण'-प्रेमियोंसे प्रार्थना

(१) 'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'धर्माङ्क' होगा । इस अङ्कमें धर्मके मूल-स्वरूपपर विशेषरूपसे प्रकाश डाला जायगा और उसके विविध अवान्तर रूपोंपर धर्मज्ञ पुरुषों तथा विचारशील विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण मननीय लेख रहेंगे । विविध क्षेत्रोंके धर्मपरायण पुरुषों तथा देवियोंके शुभ-प्रेरणादायक तथा प्रभावोत्पादक संक्षिप्त चरित्र रहेंगे । साथ ही अनेक रंगीन तथा सादे चित्र रहेंगे । सदाकी भाँति इस बार भी लगभग सात सौ पृष्ठ होंगे । लेखोंका सम्पादन हो रहा है। छपाईका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है ।

(२) इस वर्ष महँगी तथा खर्च और भी बढ़ा है । अतः मूल्य बढ़ानेके प्रस्ताव भी आये; परंतु मूल्य न बढ़ाकर वह रु० ७.५० ही रक्खा गया है । पृष्ठ-संख्या भी वही ७०० के लगभग होगी । इस अङ्ककी बहुत अधिक माँग होनेकी सम्भावना है । अतएव पुराने ग्राहकोंको तुरंत रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) मनीआर्डरद्वारा भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी अभीसे रुपये भेजकर अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिये, इस वर्षकी भाँति यह विशेषाङ्क शीघ्र समाप्त हो जायगा और दूसरा संस्करण न छपेगा तो प्राप्त होना सम्भव नहीं होगा।

(३) रुपये भेजते समय मनीआर्डरके कूपनमें पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखनेकी कृपा अवश्य करें और नाम, पता, ग्राम, मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रदेश—सब बहुत साफ-साफ बड़े अक्षरोंमें लिखें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिखना कृपया न भूलें । रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भेजें । इस वर्ष मनीआर्डर फार्म प्राप्त नहीं हो सके, इसलिये इस अङ्कके साथ नहीं जा रहे हैं । ग्राहक महोदय अपने डाकघरसे फार्म लेकर ही मनीआर्डर भेजनेकी कृपा करें । उन्हें कष्ट तो होगा । पर विवशता है और इसके लिये हम क्षमा चाहते हैं । रु० ७.५ मनीआर्डरसे भेजकर पूरे वर्षके ही ग्राहक बनें ।

(४) जिन पुराने ग्राहक महोदयोंको किसी कारणवश अगले वर्ष ग्राहक न रहना हो, वे कृपया एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े ।

(५) गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'कल्याण-कल्पतरु-विभाग' 'कल्याण-विभाग'से पृथक् हैं । अतः पुस्तकोंके तथा 'कल्पतरु' के लिये उन-उनके व्यवस्थापकोंके नाम अलग पत्र-व्यवहार करना चाहिये और रुपये भी अलग-अलग उन्हींके नामसे भेजने चाहिये ।

(६) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है । यों सजिल्दका मूल्य रु० ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) है ।

(७) जिनको आजीवन ग्राहक बनना हो, वे अजिल्द विशेषाङ्कके लिये एक साथ एक सौ रुपये और सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १२५ रुपये कृपया भेज दें । आजीवन ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' का प्रकाशन होगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

कल्याण

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी

७·१२·६५

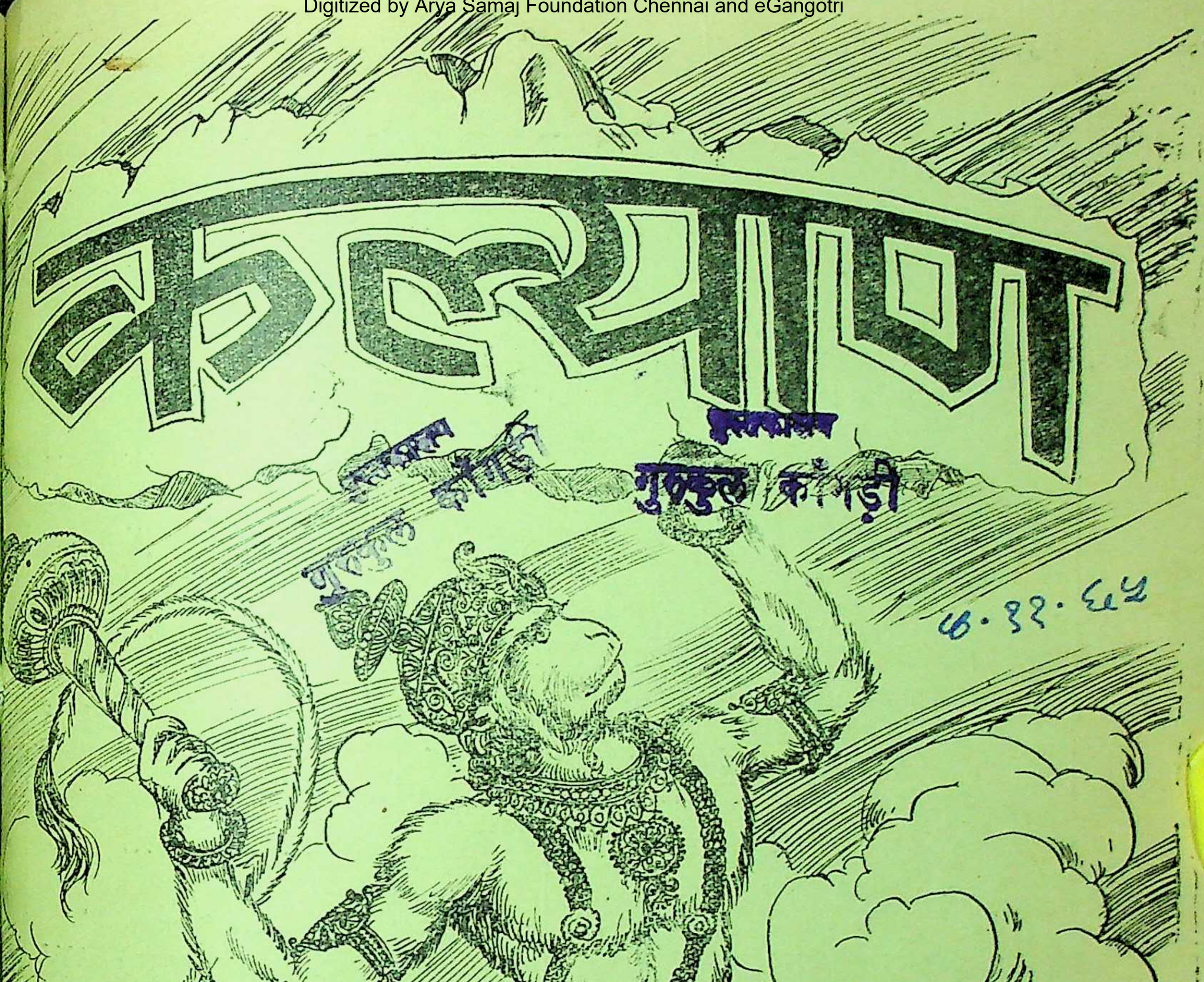

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष २०२२, नवम्बर १९६५

विषय पृष्ठ-संख्या
१–मुरलीमें मग्न [कविता] ... १२७७
२–कल्याण ('शिव') ... १२७८
३–भारतीय साम्यवाद (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ... १२७९
४–एक महात्माका प्रसाद ('माधव') ... १२८२
५–रामको भज [कविता] (श्रीसूर्यबली-सिंहजी 'दशनाम' एम्०ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्यरत्न) ... १२८३
६–युग-समस्यामें महाप्रभु (डा० महानाम-व्रत ब्रह्मचारी, एम्०ए०, पी-एच्० डी०) १२८४
७–'स्व'का विस्तार करो [कविता] ... १२८७
८–जीवनके वैदिक आदर्श (पं० श्रीराम-प्रसादजी पाण्डेय) ... १२८८
९–दीपावलीका नया दृष्टिकोण (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ... १२९१
१०–ज्ञान ही शक्ति है (श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एल्० टी०) ... १२९५
११–करुणाकर टेर सुनो सत्वर [कविता] (श्रीरा०प्र० द्विवेदी 'रामेश्वर') ... १२९६
१२–शान्तिकी खोजमें भटकता समाजवाद (श्री-गोविन्दजी शास्त्री, साहित्यरत्न, बी० ए०) १२९७
१३–सहिष्णुता [कहानी] (श्री'चक्र') १२९९
१४–चिन्तासे बचिये ! (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) १३०३
१५–मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्री-जसवंतजी रघुवंशी) ... १३०५

विषय पृष्ठ-संख्या
१६–दो भक्तोंके प्रिय भजन (प्रेषक–श्री 'माधव') ... १३०८
१७–रविशंकरके पुनर्जन्मका वृत्तान्त (श्री-प्रकाशजी परिमल एम्० ए०) ... १३०९
१८–गोरक्षा-अभियान (पं० श्रीविश्वम्भर-प्रसाद शर्मा, मन्त्री, भारत-गोसेवक-समाज, दिल्ली) ... १३११
१९–पराम्बाकी अनुपम अनुकम्पा (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ... १३१४
२०–पाकिस्तान-चीन-संघर्षमें हमारा कर्तव्य तथा विजय और विश्वशान्तिके साधन (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १३१७
२१–तुलसीके शब्द (डाक्टर श्रीहरिहरनाथ-जी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०) १३२२
२२–प्रमाद छोड़कर भगवान्‌को भजो [कविता] १३२४
२३–चन्दा, रुद्राक्ष एवं आँवला—कुछ स्पष्टीकरण १३२५
२४–मोतियाबिंदुनाशक सुरमा (श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, शिक्षामहा-विद्यालय वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर) १३२६
२५–तुलसीदासजीका मुख्य प्रतिपाद्य—श्री-राम-नाम (श्रीरामग्रहीप्रसादजी) १३२७
२६–श्रीभगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग– ... १३२९
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ... १३३५
२७–प्रेमका स्वरूप [कविता] ... १३३६
२८–पढ़ो, समझो और करो १३४०
२९–चेतावनी [कविता] (श्रीसूरदासजी)

चित्र-सूची

१–पर्वत लिये पवनकुमार ... (रेखाचित्र) ... मुखपृष्ठ
२–मुरलीमें मग्न ... (तिरंगा) ... १२७७

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पैसे
विदेशमें ५६ पैसे
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०२२, नवम्बर १९६५ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ४६८

मुरलीमें मग्न

छैल-छबीले लाड़िले बर कालिंदी कूल ।
अरुनोत्पल आसन सुखद सोभित पीत दुकूल ॥
अधरनि धर मुरली मधुर मोहन मधुमय तान ।
लगे अलापन, मगन ह्वै, सहज भुलावन भान ॥
गैया नितकी सहचरी ठाढ़ी दहिनी ओर ।
नयन मुँदि रहे रसभरी मुरली-तान-बिभोर ॥

कल्याण

याद रक्खो—जो सदा सबका भला चाहते और करते हैं, कभी किसीकी मन, तन और वचनसे हिंसा नहीं करते, इन्द्रियोंको तथा मनको वशमें रखते हैं, किसीसे द्वेष या वैर नहीं रखते,—वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो मनसे, वचनसे और क्रियासे सबका कल्याण करते और सदा सबको अनुकूलता प्रदान करते रहते हैं, जो किसी भी विपत्ति और प्रतिकूलतामें धैर्य तथा धर्मको नहीं छोड़ते, जो दूसरेका स्वत्व तनिक भी नहीं लेना चाहते—वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो मधुरभाषी हैं, कभी कटु नहीं बोलते, किसीकी कभी निन्दा-चुगली नहीं करते, सबको सम्मान देते हैं; पर स्वयं सम्मान नहीं चाहते, दूसरेके अधिकारकी रक्षा करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो दीनोंपर सदा दया करते हैं, बन्धुजनोंकी बदला न चाहकर सेवा करते हैं, सेवा करके अहसान नहीं जताते, जो अहंकारसे रहित हैं, सदा कोमल स्वभाव तथा विनयशील हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो दूसरोंके दुःख-कष्टको अपने दुःखके समान समझते और यथासाध्य उनके दुःख-निवारणमें तत्पर रहते हैं, अपने सुखका दान करके दूसरोंको सुखी बनाना चाहते हैं, अपना त्याग करके दूसरोंका हित करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो क्रोधपर विजय पानेवाले हैं, मद तथा अभिमानसे रहित हैं, ममताके त्यागी हैं, जिनमें लोभ तथा मत्सरताका अभाव है, जो शान्तप्रकृति हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो उदार हैं, दूसरोंके दोषोंको न देखकर गुणोंको देखते हैं, गुरुजनोंका—बड़े-बूढ़ोंका पूजन-सम्मान करते हैं, विद्वानों तथा ब्राह्मणोंका आदर करते हैं, यथाशक्ति सात्त्विक दान करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो प्रत्येक वस्तुको भगवान्की मानते तथा भगवान्की सेवामें लगाते रहते हैं, प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्की सेवा करते हैं, सबमें भगवान्को देखकर सबका हितसाधन करते हैं, भगवान्के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय समझते हैं, ईश्वरमें सदा विश्वास करते हैं—वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो प्रत्येक परिस्थितिमें विचारपूर्वक अनुकूलताका अनुभव करते हैं, प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्की कृपाका अनुभव करते हैं और प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्का स्मरण करते रहते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही स्वर्गमें निवास करते हैं ।

याद रक्खो—जो तन-मन-वचनसे सबके प्रतिकूल आचरण करते तथा सबका अहित करते हैं, जो हिंसा-परायण, क्रूरभाषी, इन्द्रियोंके गुलाम, अशुभ आचार करनेवाले, भगवान्को न माननेवाले, अभिमान तथा राग-द्वेषसे पूर्ण हृदयवाले तथा ममता-मद-मोहमें चूर हुए असत्य आचरण करते हैं, वे सदा दुखी रहते हैं और जीवनकालमें ही नरक-यन्त्रणा भोगते हैं ।

'शिव'

भारतीय साम्यवाद

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

यदि हम कहें कि भारतीय सभ्यता साम्यवादके ताना-बानासे गुँथी हुई है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। परंतु इतना ध्यान रखना है कि भारतीय साम्यवाद और कार्ल मार्क्सके यूरोपीय साम्यवादमें जमीन-आसमानका अन्तर है। यूरोपीय साम्यवाद भौतिक स्तरके ऊपर स्थित है अर्थात् प्रत्येक मनुष्यको शरीरके भोग तथा भोगसामग्री एक समान मिलें, सबको समान रूपसे भोग प्राप्त हों। भौतिक स्तर प्रकृतिका क्षेत्र है, अतएव इसमें विषमता अनिवार्य है। किन्हीं दो आदमियोंके प्रारब्ध समान नहीं होते, किन्हीं दो मनुष्योंके चित्तके संस्कार एक-सरीखे नहीं होते तथा किन्हीं दो मनुष्योंका स्वभाव और रुचि भी एक-सी नहीं होती। ऐसी दशामें प्रत्येकको समान भोग-सामग्री दिये जानेपर भी वे उन भोगोंको समान रूपसे भोग नहीं सकते। मनुष्य परिश्रम करनेमें स्वतन्त्र है, परंतु उसका फल कब, कितना, कहाँ और कैसे मिलेगा, यह दैवाधीन है। बल्कि भोग-सामग्रीका उपभोग भी मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार करता है, अतएव उसमें भी विषमता रहेगी ही। रशियन विचारक काउण्ट लियो टाल्स्टायने इस दिशामें बहुत प्रयोग किये थे; परंतु उन्हें कोई सफलता न मिली। प्रारब्धकी भिन्नता, स्वभावकी भिन्नता तथा संस्कारकी भिन्नताको दूर करनेके प्रयत्नमें यह साम्यवाद द्वेषमूलक हो गया है। जिसके पास जो कुछ था, वह सब राज्यने हथिया लिया और मनुष्यको यन्त्रके समान बनाकर शासन-सत्ता यन्त्रकी कलके समान उसको घुमाने तथा नचाने लगी। इस प्रकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-जैसी कोई वस्तु उन देशोंमें कुछ भी न रही। गड़रियेकी सारी भेड़ जैसे गड़रियेकी एक आवाजपर खड़ी हो जाती है, दूसरी आवाजपर चलने लगती है और तीसरी आवाजसे दौड़ने लगती है, इसी प्रकार उन देशोंकी प्रजा शासनसत्ताके इशारेपर अपना जीवन बिताती है। यदि व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको रहने दें तो प्रारब्ध आदिका प्रभाव पड़े बिना न रहे। इसके लिये पहले तो उसीको मिटा दिया गया और सारी सत्ता शासनाधिकारको सौंप दी गयी, इत्यादि। साम्यवादी देशोंमें धर्म या ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं होता। उनके लिये तो शासन-सत्ताकी आज्ञा ही धर्म है और शासन-सत्ताकी सेवा ही ईश्वर-सेवा है। वहाँ बालक जब पैदा होता है तभीसे उसे राज्यको सौंप दिया जाता है और उसको यह खबर तक नहीं होती कि माता-पिताका स्नेह क्या वस्तु है। इस प्रकार भावी प्रजा यन्त्रके समान बड़ी होती है और यन्त्रके समान ही जीवनयापन करती है। हमने इस साम्यवादका अध्ययन नहीं किया है, इसलिये जो कुछ सुना है उसके आधारपर जो समझमें आया है उसीकी रूपरेखा मात्र दे दी है। अस्तु,

हमने इस निबन्धके प्रारम्भमें कहा है कि भारतीय सभ्यता तो साम्यवादके ताने-बानेसे ही गुँथी है, अतएव अब इस विषयमें विचार करना है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता अध्याय १४। ४ में कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन! चौरासी लाख योनियोंमें जो-जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनकी माता विशाल महत्तत्त्व है और मैं चेतनारूप बीजारोपण करनेवाला परम पिता हूँ। इस प्रकार भूतमात्र एक ही माता-पिताकी संतान हैं, अतएव परस्पर एक दूसरेकी भलाई

करनी चाहिये। किसीको दुःख तो देना ही नहीं चाहिये, यह स्पष्ट है। इसीका अनुवाद करके कवि दलपतरामने प्राथमिक पाठशालाकी पहली पुस्तकके अभ्यासक्रममें यह कविता दी है, जिसका हिंदी रूप यह है—

परमेश्वरकी है प्रजा, सारा यह संसार।
एक कुटुम्बी हम सभी, एक पिता परिवार॥

आगे चलकर भगवान् मोक्षमार्गके पथिकके लिये विधिमुखसे कहते हैं कि—'सर्वभूतहिते रताः'—अर्थात् जो साधक भूतमात्रका हितचिन्तन करता है और यथाशक्ति हितसाधन भी करता है वह मोक्षका अधिकारी बनता है। अन्य स्थलमें निषेधमुखसे कहते हैं—'निर्वैरः सर्वभूतेषु'—अर्थात् जो साधक किसी भी प्राणीसे वैर नहीं करता तथा किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाता, वह भी मोक्षगामी बनता है।

भगवान् शंकराचार्य षट्पदीमें कहते हैं—

'भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः।'

'हे भगवन्! सब भूतोंके प्रति मेरा प्रेमसे भरी दयाका भाव बना रहे, ऐसा करो तथा सब भूतोंमें मैं आपको देखकर उनकी सेवा करता रहूँ। इससे मैं मोक्षका अधिकारी बनूँगा और आपसे कहूँगा कि मुझे संसारसागरसे तार दीजिये—'तारय संसारसागरतः'।

सभी योनियोंमें प्राणीको अपना जीवन समान ही प्रिय होता है अर्थात् मरणका भय सबको स्वाभाविक होता है। सभी प्राणियोंको प्राण धारण करनेके लिये आहारकी एक-सी आवश्यकता होती है तथा थकनेपर आराम करनेकी एक-सी ही इच्छा होती है। यह समझमें आ जाय तो कोई भी मनुष्य दूसरे प्राणीको पीड़ा न पहुँचाये, बल्कि अपनेसे जितना हो सके उसको आहार देने तथा आराम पहुँचानेमें सहायता करे। ईश्वरकी पूजाका प्रकार बतलाते हुए वसिष्ठ मुनि भगवान् श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेद् राम तदेवेश्वरपूजनम्॥

'जिस किसी प्रकारसे जिस किसी भी प्राणीको सुख-संतोष देना ही हे राम! ईश्वरका पूजन है।'

अब यह देखना है कि 'सर्वभूतहिते रताः' की स्थितिमें मनुष्य कैसे पहुँच सकता है और इसके लिये भारतीय साम्यवादके स्वरूपपर विचार करना है।

इस भारतवर्षमें साम्यवाद शब्दका प्रयोग नहीं होता है, परंतु 'साम्ययोग' अथवा 'समत्वयोग' शब्दका प्रयोग होता है और यह आर्यसंस्कृतिका मूलभूत सिद्धान्त है। इस साम्ययोगकी प्राप्तिके लिये हमको क्या-क्या करना चाहिये, इसीपर यहाँ विचार करना है। इसकी पहली सीढ़ी है—'परार्थपरता' अर्थात् अपने हितका विचार न करके दूसरोंके हितका विचार करना और अपना हित-साधन करते समय यह ध्यान रखना कि इसमें दूसरे किसीका अहित तो नहीं हो रहा है। यही एक सद्गुण यदि मनुष्यमें आ जाय तो आज जो खान-पानके पदार्थोंतकमें मिलावट चल रही है, वह बंद हो जाय। मनुष्य इतना 'स्वार्थपरता'के वश हो गया है कि अपने थोड़ेसे स्वार्थके लिये सारी प्रजाके स्वास्थ्यको जोखिममें डालता है। 'परार्थपरता' दैवी गुण है और 'स्वार्थपरता' पशुभाव है।

दूसरी बात है—'संतोष धारण करना'। योग-दर्शनमें कहा है—'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।' संतोषसे निरतिशय सुखकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य यथाप्राप्तमें संतोष मानता है, वह दूसरेका अहित करके अपना स्वार्थ कभी सिद्ध नहीं कर सकता। इसीलिये नीतिकार कहते हैं—

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यत्स्वल्पमपि तद्बहु॥

'दूसरे किसीको संताप दिये बिना, दूसरे किसीका अहित किये बिना, खल पुरुषके घर याचना किये

विना तथा अपने आपको अधिक श्रम दिये विना जो थोड़ा भी मिले तो उसको बहुत समझे ।' इस सूत्रके अवलम्बनसे मनुष्य, मनुष्य बनता है और पशुभावमें नहीं उतरता । साम्ययोगमें स्थिर होनेके लिये भगवान् व्यासजी निषेधात्मक रीतिसे इस प्रकार आदेश देते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

'हे भाइयो ! तुमसे धर्मका सार-तत्त्व कहता हूँ, सुनो और सुनकर भूलो मत, अपने जीवनमें धारण कर लो । जो व्यवहार तुम्हें अच्छा न लगता हो, वैसा व्यवहार तुम दूसरेके साथ न करो ।' तुम्हारी कोई निन्दा करे और तुम्हें अच्छा न लगे तो तुम किसीकी निन्दा न करो । तुम्हें कोई धोखा देता है और उससे तुम्हें दुःख होता है तो तुम किसीको धोखा मत दो, इत्यादि । इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करके यदि मनुष्य जगत्में व्यवहार करे तो कोई मनुष्य दुखी न रहे । भारतीय साम्ययोगका स्वरूप समझाते हुए भागवतकार कहते हैं—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥

अर्थात् 'जितनेसे अपना निर्वाह होता हो, उतना मनुष्य अपने पास रक्खे और उतनेहीके ऊपर उसका स्वत्व है । जो मनुष्य अपनी आवश्यकतासे अधिक संग्रह करता है तथा उसे अपना मानता है वह चोर है और इस कारण वह दण्डका पात्र है ।' आगे चलकर कहते हैं कि 'हरिण, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, पेटसे सरकनेवाले जीव, पक्षी तथा मक्खी-जैसे क्षुद्र जीवोंको अपने पुत्रके समान समझे; क्योंकि ईश्वरकी दृष्टिमें अपनेमें और उन प्राणियोंमें कोई अन्तर नहीं है । आहार, निद्रा और मृत्युका भय आदि सबको समान होते हैं । मनुष्यमें यदि कोई विशेषता है तो इतनी ही है कि उसको ईश्वरने विवेक-बुद्धि प्रदान की है, इसलिये उसका उपयोग करके पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि किसी भी प्राणीको आत्मीयताके नाते दुःख न दे, जहाँतक हो सके सबकी सेवा करे ।

हमारे शास्त्रोंमें जो 'पञ्च महायज्ञ'का विधान है, वह भी इसी समत्वयोगकी दृष्टिका प्रसार करनेके लिये है । प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है कि वह सारे प्राणियोंको तृप्त करके भोजन करे । जो मनुष्य अकेला अपना ही पेट भरता है, वह तो पाप ही खाता है ।

यह 'साम्ययोग' श्रीभगवान्ने पहले सूर्यको कहा था, सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको कहा । इस प्रकार परम्परासे चलता हुआ यह साम्ययोग द्वापरयुगमें आकर लुप्त हो गया था । इसको फिर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा और इसकी पुनः प्रतिष्ठा की । इस बातको हुए आज बहुत दीर्घकाल बीत गया, इस कारण इस साम्ययोगको लोग फिर भूल गये हैं और इसी कारण सारे विश्वमें आज हाहाकार मचा हुआ है । इससे त्राण पानेके लिये इस भारतीय साम्ययोगकी पुनः स्थापना करनेके लिये प्रत्येक भाई-बहनोंको निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

'इस विश्वमें सब प्राणी सुखसे रहें, सब नीरोग रहें, सब कल्याणमय वातावरणमें रहें । दुःख तो किसीको भी न हो ।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

एक महात्माका प्रसाद

[प्रीतिकी दृष्टि, चित्तकी शुद्धि और जीवनकी पूर्णता]

(संकलयिता—'माधव')

व्यक्ति एक है । दृश्य भी एक है । पर दृष्टियाँ अनेक हैं । व्यक्ति जिस दृष्टिसे दृश्यको देखता है, उसके अनुसार उसपर प्रभाव पड़ता है । इन्द्रिय-दृष्टि सबसे स्थूल दृष्टि है । इसके प्रभावकी आसक्तिसे चित्त अशुद्ध होता है । इन्द्रियदृष्टिसे दृश्यमें सत्यता, सुन्दरता तथा अनेकताका भास होता है । अथवा यों कहिये कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—विषयोंमें रुचि उत्पन्न होती है जिससे इन्द्रिय विषयोंके अधीन, मन इन्द्रियोंके अधीन और बुद्धि मनके अधीन हो जाती है । बुद्धि मनके, मन इन्द्रियोंके और इन्द्रियाँ विषयोंके अधीन होते ही वस्तुओंमें जीवन-बुद्धि हो जाती है । जिसके होते ही प्राणी सुख-लोलुपता, जडता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषोंमें आबद्ध हो जाता है । उसका परिणाम यह है कि वह बेचारा संकल्प—पूर्ति-अपूर्तिके द्वन्द्वमें आबद्ध होकर सुखी-दुखी होने लगता है । ऐसा कोई संकल्प-पूर्तिका सुख है ही नहीं, जिसके आदि और अन्तमें दुःखका दर्शन न हो । इतना ही नहीं, सुख-कालमें भी सुखमें स्थिरता नहीं रहती । जिस प्रकार तीव्र भूख लगनेपर प्रथम ग्रासमें जितना सुख भासता है, उतना दूसरेमें नहीं । अर्थात् प्रत्येक ग्रासमें क्रमशः सुखकी क्षति होती जाती है और अन्तिम ग्रासमें सुख नहीं रहता । केवल भोगकी क्रिया-जनित सुखद स्मृति ही रह जाती है, जो नवीन संकल्पोंको उत्पन्न करती है और प्राणी पुनः उसी स्थितिमें आ जाता है, जिसमें संकल्प-पूर्तिके सुखसे पूर्व था अर्थात् संकल्प-उत्पत्तिका दुःख ज्यों-का-त्यों भासने लगता है । उसी प्रकार प्रत्येक भोग-प्रवृत्तिका परिणाम होता है ।

भोग-प्रवृत्तिके इस दुष्परिणामकी अनुभूतिसे व्यक्तिको इन्द्रियदृष्टिपर संदेह होता है । इसके होते ही बुद्धि-दृष्टिका आदर होने लगता है । ज्यों-ज्यों बुद्धिदृष्टिका आदर बढ़ने लगता है, त्यों-ही-त्यों इन्द्रियदृष्टिका प्रभाव मिटने लगता है । सर्वांशमें इन्द्रियदृष्टिका प्रभाव मिट जानेपर अन्य वस्तुओंकी तो कौन कहे, जिस शरीरमें सत्यता, सुन्दरता, सुखरूपता प्रतीत होती थी, वह शरीर मल-मूत्रकी थैली तथा अनेक व्याधियोंका घर प्रमाणित होता है । बुद्धिदृष्टिके स्थायी होते ही शरीर आदि वस्तुओंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी रुचि उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें सतत परिवर्तन तथा क्षणभङ्गुरताका दर्शन स्पष्ट होने लगता है । अथवा यों कहो कि कोई भी वस्तु इन्द्रियदृष्टिसे जैसी प्रतीत होती थी, अर्थात् उसका एक अपना अस्तित्व मालूम होता था, वह नहीं मालूम होता, अपितु वह वस्तु अनेक वस्तुओंका समूह प्रतीत होती है । इतना ही नहीं, बुद्धिदृष्टिसे अनेकतामें एकता और व्यक्त अव्यक्त प्रतीत होता है । इस कारण वस्तुओंकी आसक्ति मिट जाती है और वास्तविकताकी जिज्ञासा जाग्रत् होती है, जो सभी कामनाओंको खाकर स्वतः पूरी हो जाती है । बुद्धिदृष्टिसे राग वैराग्यमें और भोग योगमें बदल जाता है ।

फिर विवेकदृष्टि उदय होती है, जो कामका अन्त कर प्राणीको चिर शान्ति तथा स्वाधीनता एवं चिन्मयताकी ओर उन्मुख कर देती है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि जाग्रत् होती है जो भेद तथा दूरीका अन्त कर उसे अपनेमें ही संतुष्ट कर देती है । अन्तर्दृष्टिकी पूर्णतामें प्रीतिकी दृष्टिका उदय होना स्वाभाविक है । प्रीतिकी दृष्टि समस्त दृष्टियोंमें एकताका बोध कराती है; क्योंकि प्रीति सभीसे

अभिन्नता प्रदान करनेमें समर्थ है । प्रीति स्वभावसे ही सर्वत्र सर्वदा अपने प्रेमास्पदको ही पाती है । कारण कि प्रीतिने प्रीतमसे भिन्न किसी अन्यको कभी देखा ही नहीं । प्रीतिकी दृष्टि रसरूप है । प्रीतिकी दृष्टि रसरूप होनेसे प्रेमास्पदमें नित-नूतनताका बोध कराती है । प्रीति पूर्णरूपसे प्रीतमको देख ही नहीं पाती; क्योंकि प्रीति और प्रीतम——दोनों ही अनन्त दिव्य तथा चिन्मय हैं । प्रीतिके साम्राज्यमें जडताका लेश नहीं है । प्रीति मिलनमें वियोग और वियोगमें भी मिलनका रस प्रदान करती है । अर्थात् प्रीतिकी दृष्टिसे मिलन और वियोग दोनों ही रसरूप हैं । प्रीति स्वरूपसे ही रस-रूपा है । उसमें अस्वाभाविकता लेशमात्र भी नहीं है । इसी कारण वह अखण्ड तथा अनन्त है । प्रीति एकमें दो और दोमें एकका दर्शन कराती है अथवा यों कहो कि वह एक और दोकी गणनासे विलक्षण है । उसमें भेद और भिन्नताकी तो गन्ध ही नहीं है । प्रीति प्रीतमका ही स्वभाव है और प्रीतिमें ही प्रीतमका निवास है । चिन्मय साम्राज्यमें प्रीति और प्रीतमका नित्य विहार है अथवा यों कहो कि प्रेमके साम्राज्यमें प्रेमका आदान-प्रदान है ।

सर्वका द्रष्टा एक है । समस्त दृष्टियाँ उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हैं और उसीकी सत्तासे सत्ता पाती हैं । किसी भी दृष्टिकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । अथवा यों कहो कि सर्व दृष्टियाँ सर्वके द्रष्टामें ही विलीन होकर उससे अभिन्न हो जाती हैं और अन्तमें प्रीतिकी दृष्टि ही सर्वके द्रष्टाको रस प्रदान कर उसे आह्लादित करती है । प्रीतिकी दृष्टिमें ही सभी दृष्टियोंका समावेश है । वही दृष्टि विश्व, प्रेम तथा आत्मरतिके रूपमें अभिव्यक्त होती है । प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसीमें आबद्ध नहीं रहती, अपितु सभीको पार करती हुई अनन्तमें ही समाहित हो जाती है और सभीको रस प्रदान करती रहती है । प्रीतिकी धारा अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होती रहती है । वह आदि और अन्तसे रहित, देश-काल-वस्तु आदिकी सीमाका अतिक्रमण करती हुई अनेक रूपोंमें अपने प्रेमास्पदको ही पाकर कृतकृत्य होती है । अतः इन्द्रिय-बुद्धि आदि सभी दृष्टियोंका प्रीतिकी दृष्टिमें विलीन करना अनिवार्य है; क्योंकि जब इन्द्रिय-दृष्टि बुद्धि-दृष्टिमें और बुद्धि-दृष्टि विवेक-दृष्टिमें विलीन हो जाती है, तब चित्त शुद्ध हो जाता है, जिसके होनेपर तो अन्तर्दृष्टि तथा प्रीतिकी दृष्टि उदय होती है । इस प्रकार प्रीतिकी दृष्टिसे स्वतः स्फूर्त चित्तकी शुद्धिमें ही जीवनकी पूर्णता निहित है ।

* * *

रामको भज

देखकर अन्याय असुरोंका, सुरोंका ताप ।
सज्जनोंका कष्ट भारी, दुर्जनोंका पाप ॥
भार हरनेको धराका, मेटने संताप ।
राम बनकर आ गया जो ब्रह्म अपने आप ॥
लोकको जिसने बनाया, सूर्यमें आलोक ।
दे सुधाकरको सुधा वसुधा रची वसु-ओक ॥
चर-अचर सबमें रमा जो है रमाका नाथ ।
मूढ़ ! ऐसे रामको भज जोड़ दोनों हाथ ॥

—सूर्यबलीसिंह 'दशनाम' एम्० ए० (हिंदी-संस्कृत), साहित्यरत्न

युग-समस्यामें महाप्रभु

(लेखक—डा० महानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजसे प्रायः पाँच सौ वर्ष पहले, हमारे ही बीचमें अवतरित हुए थे प्रेमघनविग्रह, एक युग-पुरुष ! बङ्गभूमिकी गोदमें, भगवती भागीरथीके तटपर, कीर्तनोन्मत्त नदियामें, पूर्णिमाकी समुज्ज्वल संध्याके समय, श्रीशची-जगन्नाथके आनन्द-मुखरित आँगनमें ।

उनका रूप था अनवद्य, गुण थे अनुपम और माधुर्य था अनिर्वचनीय । उस युगमें ऐसा कोई मानव न था, जो उनके प्रति आकृष्ट न हुआ हो । समाजकी सारी आत्मिक दीनताको उन्होंने दूर कर दिया था । नाना प्रकारकी समस्याओंकी कठिनाई उन्होंने मिटा दी थी । वैषम्य-विषमता-क्लिष्ट समाजके अगणित नर-नारियोंको उन्होंने एक महा-साम्य नीतिकी भूमिकामें उन्नीत किया था । पुकार-पुकारकर, शान्तिका मार्ग दिखलाकर अशान्त जीवोंको उन्होंने धन्य कर दिया था ।

आज पुनः मानव-समाजमें जो मर्मान्तक युग-समस्या उठ खड़ी हुई है, उसका समाधान हम खोजेंगे । इसके लिये हम उसी महायुग-देवता श्रीकृष्णचैतन्यके पादपद्मकी ओर दृष्टिपात करेंगे । सबसे पहले हम यह देखेंगे कि वर्तमान युग क्या है और इसकी समस्या क्या है ? तत्पश्चात् वेदनाके घोर अन्धकारमें महाप्रभु श्रीगौरचन्द्रकी करुणा-चन्द्रिका हमारे गन्तव्य पथका श्रेष्ठ और प्रेष्ठ पाथेय बनेगी ।

वर्तमान युगसे मेरा अभिप्राय वैज्ञानिक युग है । इस युगमें जड-विज्ञानने पर्याप्त उन्नति की है । नाना प्रकारकी गवेषणासे नये-नये तथ्य आविष्कृत हुए हैं । व्यावहारिक जीवनमें इन तथ्योंने विभिन्न प्रकारके यन्त्रादिका रूप धारण किया है । भौतिक सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे उन यन्त्रोंका प्रचुर व्यवहार हो रहा है । फलतः समाजमें अपूर्व परिवर्तन हो गया है ।

विज्ञानके आविष्कृत तथ्योंका जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें प्रयोग हो रहा है । उनमें दो क्षेत्र विशेषरूपसे दृष्टिको आकर्षित करते हैं । मनुष्यका यातायात (Transportation) तथा संवादका आदान-प्रदान (Communication)—इन दो दिशाओंके परिवर्तन चमत्कारिक हैं । पहले युगके मनुष्य घंटेमें चार मीलसे अधिक नहीं चल सकते थे, आज वायुयानसे हजारों मीलतक जा सकते हैं । पहलेके मनुष्य प्राणपणसे जोर देकर भी तीन सौ हाथसे अधिक दूर अपनी आवाज नहीं सुना सकते थे । आज रेडियो यन्त्रकी सहायतासे हजारों मील दूरका संगीत घर बैठे सुनते हैं । विज्ञानके प्रसादसे दूरका मनुष्य निकट हो गया है । दूर-दूरकी घटनाएँ नर-नारीके दैनिक जीवनके ऊपर प्रभाव डाल रही हैं । पृथ्वी आयतनमें मानो छोटी हो गयी है । दूर देशवासी मानो पड़ोसीके समान निकट हो गये हैं । आधुनिक जड-विज्ञानका यह एक आश्चर्यजनक दान है । वैज्ञानिक युगसे हमारा अभिप्राय यहाँ इसी युगसे है ।

परंतु इस महान् परिवर्तनके साथ-साथ विज्ञानने एक अद्भुत समस्याकी सृष्टि कर दी है । विज्ञानने दूरको निकट ला दिया है, यह जिस प्रकार सत्य है, इससे भी अधिक कटु सत्य यह है कि इसी विज्ञानने हमारे निकटतमको बहुत दूर कर दिया है । एक ही विज्ञानके प्रसारणसे दो विभिन्न विपरीत फल फले हैं, यह आश्चर्यका विषय है । इस युगमें मनुष्य पड़ोसीको नहीं पहचानता । आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, यहाँतक कि वह माता-पिता तककी खबर नहीं रखता । मनुष्यके साथ मनुष्यके बात-व्यवहारमें बहुत अंशतक कृत्रिमताका आवरण रहता है । क्या व्यक्तियोंमें, क्या जातियोंमें सर्वत्र एकका अन्तःकरण दूसरेके

सामने कपटके आवरणसे आवृत होता है । अकपट भावका आदान-प्रदान एक अतीत कालकी कहानी बन गया है । सब कामोंमें यन्त्रकी मध्यस्थतासे मनुष्य यन्त्र-रूपमें परिणत हो गया है । कहीं यन्त्र-यन्त्रका संघर्ष बढ़कर बारूदका घर उड़ न जाय, इस भयसे सब भयभीत, संत्रस्त और शङ्कित होकर जीवन-यापन कर रहे हैं ।

यन्त्र-सभ्यताने जन-संघर्षको बढ़ाया है । मनुष्य मनुष्यके शरीरको ढकेलते हुए चल रहा है । मनुष्यके दबावसे मनुष्य पिसकर मरा जा रहा है । चारों ओर जन-समुद्र फैला हुआ है तथा इसके भीतर प्रत्येक मनुष्य मानो असहाय और एकाकी है, अपने भारसे आप कातर हो रहा है । जिस विज्ञानने दूरको निकट ला दिया है, उसीने अपनेको पराया बना दिया है । जन-सम्पर्क बढ़ गया है, किंतु लोक-संग्रहका कार्य मानो एकबारगी सदाके लिये विदा हो गया है । लोगोंके शरीरोंका स्पर्श हो रहा है, किंतु प्राण प्राणसे स्पर्श नहीं करते । निरन्तर धक्का-धक्की चल रही है, परंतु एक बार भी लोग गले-गले नहीं मिलते । मनुष्य हाथ-पैर, आँख-कानको बढ़ानेके लिये बुद्धि और यन्त्रको आयत्त कर रहा है, परंतु वह दीन-सङ्कुचित आत्माको विशाल-रूपमें देखनेकी साधना भूल गया है ।

इस युगमें मनुष्यकी दैहिक क्षुधा बढ़ गयी है, परंतु आत्मिक क्षुधा मर गयी है । भोग-विलासकी सामग्री बढ़कर राशि-राशि, सहस्रों-सहस्रों दूकानोंकी शोभावृद्धि कर रही है, परंतु आत्माके महान् गुणसमूह मृतवत् होकर मानवीय सभ्यताको मरुभूमिमें परिणत कर रहे हैं । यही वर्तमान युगकी समस्या है, यही वर्तमान युगका सर्वापेक्षा महान् प्रश्न है । यह विराट् मानवीय आवरण कैसे दूर होगा ? आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थको लेकर मनुष्य मनुष्यके अति निकट है । परंतु धार्मिक और आध्यात्मिक स्वार्थको भूलकर वह एक दूसरेसे दूर है, अतिदूर है । देहसे समीप है और प्राणसे दूर है । मनुष्य मनुष्यका संघर्ष निष्प्राण यन्त्रके संघर्षके समान हो उठा है । इस अद्भुत असामञ्जस्यसे ही समाजमें सब प्रकारकी अशान्ति उत्पन्न हुई है । इस असामञ्जस्यका समाधान कैसे हो ?—यही इस युगकी मौलिक जिज्ञासा है । ज्ञात या अज्ञात रूपसे मनुष्य इसी जिज्ञासाका उत्तर खोज रहा है । सहस्रों सभा-समितियाँ दिन-प्रतिदिन स्थापित और विसर्जित हो रही हैं, परंतु मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मिल रहा है । हम आजसे पाँच सौ वर्ष पीछे चलकर इस जिज्ञासाके उत्तरका अनुसंधान करेंगे ।

मुस्लिम शासनका अन्तिम काल था । देशमें राजनीतिक उथल-पुथल थी, परंतु धन-ऐश्वर्यकी कमी न थी । शिल्प, कला, सङ्गीत, साहित्य, शास्त्रचर्चाकी प्रचुरता थी । नवद्वीप शास्त्रचर्चाका केन्द्र था । वहाँ सैकड़ों पाठशालाएँ, हजारों विद्यार्थी नाना देशोंसे आकर शास्त्रार्थमें न्यायशास्त्रमें बालकी खाल निकालते थे । नव्य न्यायके शुष्क तर्कसे गङ्गातट मुखरित हो रहा था, परंतु यह सब कुछ होते हुए भी मनुष्यत्वका अभाव था, मनुष्य-मनुष्यमें मेल न था । पण्डितलोग 'व्याप्ति-लक्षण' पर शास्त्रार्थ करना जानते थे, किंतु दूसरोंके प्राणोंकी वेदनाको अपने जीवनके 'एकाधिकरण्य' में अनुभव नहीं कर सकते थे । मुँह खोलकर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** मन्त्र उच्चारण करते थे, परंतु किसीके स्पर्शसे अपवित्र न हो जायँ—इस भयसे शङ्कित होकर मार्गपर चलते थे । शास्त्रार्थमें ब्रह्म 'एकरस' था, परंतु व्यवहारमें समाजको लाखों प्रकारसे बाँट रक्खा था ।

आज समाजकी जो अवस्था भौतिक विज्ञानकी गवेषणाने कर दी है, उस समय यही अवस्था शुष्क ज्ञानकी व्यर्थ शास्त्रचर्चाने कर दी थी । जीवन रसहीन

था, पर सभामें रस-चर्चा होती थी। शास्त्रमें वैभव था, परंतु हृदयमें वेदना नहीं थी। ग्रन्थोंमें भाष्यका अनुभाष्य था, किंतु चित्तमें मानवीय औदार्य न था। आज जैसे यान्त्रिक-प्राचुर्यसे हृदय दारिद्र्यसे भरपूर हो गया है, उन दिनों पाण्डित्यके प्राचुर्यसे आत्मिक दैन्य विराजमान हो रहा था। जातिकी दुर्दशा देखकर मिथिलाके व्यथित कवि विद्यापतिने व्यथाभरी लेखनीसे लिखा था—

कत बिदग्ध जन, रस अनुगमन
अनुभव काहूक ना पेख।
विद्यापति कह, प्राण जुड़ाइते
लाखे ना मिलल एक॥

देशमें पण्डितोंका मेला लगा है, किंतु हाय! हृदयको शीतल करनेवाले एक सुहृद्-जनके लिये जाति मानो छटपटा रही है। सब लोगोंके प्राण व्याकुल होकर रो रहे थे एक व्यथित बन्धुके लिये। सारे समाजकी व्यथा अपने मर्मस्थलमें अनुभव करके श्रीहट्टके कमलाक्ष ठाकुर नामक एक महापुरुष हृदय खोलकर हृदयके देवताको पुकारते थे। वे रो-रोकर कहते थे, 'आओ प्रभु, मरुमय समाजमें रस-सिञ्चन करो।' उनके करुण आह्वानसे हृदय-देवता सचमुच ही धूलमें अवतरित हुए थे। वे धूलके देवता घनीभूत प्रेमवस्तुको मानव-मूर्तिमें पाकर जीवनको शीतल करनेमें समर्थ हुए थे।

आज भी वर्तमान युग-समस्याका समाधान ढूँढ़ते समय हमको दृष्टि डालनी पड़ेगी उसी चार सौ वर्ष पूर्वके महासमन्वयकी मूर्तिकी ओर। वे अवतरित हुए थे नदियामें, परंतु वे थे सारे बंगालके, सारे भारतके और समस्त मानव-जातिके। सारे पृथ्वीके इतिहासको ललकार कर हम पूछते हैं कि, किसी भी युगमें क्या कभी किसीने कहीं एक ऐसे मनुष्यको देखा है, जिसे उस युगके पामरपर्यन्त सब लोग अपने प्राणके देवताके रूपमें प्रेम करते हों? राजा-प्रजा, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल, पण्डित-मूर्ख, नर-नारी, छोटे-बड़े—सारांश यह कि सब लोग एक-सरीखे क्षेत्रमें खड़े होकर जिसके शरीरकी शीतल छायामें चिर-स्निग्ध हुए हों? जिसमें सबने अपनेको देखा हो; अपनेको देखकर, पहचानकर परायेको अपना बनाना सीखा हो?

'ब्राह्मणे चाण्डाले करे कोलाकूलि
कबे वा छिलो ए रङ्ग?'

'ब्राह्मण चाण्डालको आलिङ्गन करता है, भला यह दृश्य कब कहाँ था?'

वर्तमान युग-समस्याके घोर अन्धकारमें उसी नदियाके ठाकुरके हाथमें जो प्रेम-दीप है, उसके आलोकमें ही पथ देखना होगा। आजकलकी महासमस्याका समाधान ढूँढ़नेके लिये नाना प्रकारके कोलाहलमें दबी हुई नदियाकी वाणीको ही फिर कान लगाकर सुनना होगा।

नदियाकी विशाल वाणीका केवल एक शब्दोच्चारण मात्र करनेसे काम हो जायगा। वह है—'प्रेम'। इसी एक वस्तुके अभावमें दसों दिशाएँ शून्य हो रही हैं, ईंटके ऊपर ईंट सजानेसे ही जैसे महल तैयार नहीं होता, उसी प्रकार भौतिक यन्त्रोंके पेषणसे भोग्य-वस्तुओंका विपुल सम्भार उत्पादन करनेसे ही मानवीय सभ्यता नहीं उठ खड़ी होगी। एक-एक ईंटके साथ एक-एक ईंटका सुदृढ़ एकत्र स्थापन करनेके लिये जैसे सीमेण्ट या संयोजक मसालेकी आवश्यकता होती है, मानव-हृदयके साथ मानव-हृदयका घना सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भी उसी प्रकार आवश्यकता होती है प्रेमकी। इसी एक वस्तुके अभावमें वर्तमान युगके धुरन्धर लोगोंकी सब प्रकारकी शान्तिकी चेष्टा व्यर्थताके आघातसे मिट्टीमें मिलती जा रही है।

श्रीसनातन गोस्वामीको उपलक्ष्य करके त्रिभुवनके जीवोंको शिक्षागुरु, सनातन पुरुष श्रीगौरहरिने जगत्‌के

उपलक्ष्य कर इसी हेतु सनातन वाणी सुनायी थी। सुनाया था एक निगूढ़ संवाद—'प्रेम-प्रयोजन'। प्रेमके विना मानवीय सभ्यता एक प्रहसन मात्र है। आधुनिक विज्ञान मानवीय सभ्यताको इसी प्रकारके प्रहसनमें परिणत करनेके लिये यत्नशील है। शिव-विहीन यज्ञ जैसे दक्षयज्ञ है, उसी प्रकार प्रेमहीन सभ्यता युद्धातङ्कसे ग्रस्त उन्मादरूप है। मनुष्यमें चाहे कितनी ही दक्षता हो, शिव (मङ्गल) के विना जीवनयज्ञ अंड-बंड व्यर्थ श्रममात्र है। वैज्ञानिक गवेषणा और यन्त्रोंके उत्पादनकी दक्षता असीम होनेपर भी प्रेम-प्रीति-विहीन मानव-संस्कृति मरुभूमिकी तपती हुई बालुकाकी मुट्ठी मात्र है। यथार्थ मानव-प्रेम अकस्मात् नहीं उत्पन्न होता। सहस्र-सहस्र वाग्-वितण्डाकी योजना, लक्ष-लक्ष सभा-समितियोंकी स्थापनाके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। कोई भी बाह्य आडम्बर हृदयको सरस नहीं बना सकता।

क्षुधाकी निवृत्ति जिस प्रकार आहारके द्वारा उदर-पूर्त्तिसे होती है, मानव-प्रेम उसी प्रकार ईश्वरीय प्रेमकी अनिवार्य परिपूर्णता है। किसी कृत्रिम उपायसे मानवीय एकत्व नहीं आता। हृदयके देवताके साथ हृदयका सम्बन्ध स्थापित होनेपर ही जीव-जीवमें प्रेम सुप्रतिष्ठित होता है। कृष्ण-प्रेम और जीव-प्रेम एक ही रेखाके दो प्रान्त हैं। इन दोनों प्रान्तोंकी अखण्ड मिलन-घन-मूर्ति महाप्रभु श्रीगौर-सुन्दर हैं। सुगम्भीर भगवत्प्रेम, विश्वव्यापी मानव-प्रेम श्रीगौराङ्गके एक अङ्गमें अङ्गीभूत है। युगसमस्यामें अस्त-व्यस्त समाज यदि महामिलनके आलोकका आकांक्षी है, तो इसे नदियाके ठाकुरके चरण-चन्द्रमें ही पा सकता है। इस शताब्दीके प्रारम्भमें प्रेमविग्रह श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धु-सुन्दरने अपने भक्तोंके साथ दुर्दशा-ग्रस्त जगजीवोंके द्वारपर इसी महावाणीकी घोषणा की है। हमको चाहिये कि उसकी उपेक्षा न करें। हमको भूलना न चाहिये कि जो लोग श्रीगौरसुन्दरका करुणा-कटाक्ष प्राप्त कर प्रेमधनके धनी हो गये हैं, उनके ही समीप—

'विश्वं पूर्णं सुखायते
विधिमहेन्द्रादिश्च कीटायते।'

ब्रह्मा और इन्द्रके पदको भी तुच्छ करके विश्वको सुखमय बनानेके लिये करुणासिन्धु श्रीगौरसुन्दरका कृपा-कटाक्ष हम उन्मार्गगामी लोगोंके लिये परम संबल बने।

'स्व' का विस्तार करो

सबमें देखो निज आत्माको, सबमें भरे स्वयं भगवान।
सबकी सेवा करो, करो सबका प्रिय कार्य, छोड़ अभिमान॥
सबको सुख पहुँचाओ, निश्छल मनसे करो सभीका मान।
सबके बनो सदा हित-साधक, करो प्रेम सबसे निर्मान॥
'स्व' को रखो न सीमित, कर दो सब जगमें उसका विस्तार।
समझो परका स्वार्थ, स्वार्थ निज, करो सहज सबका उपकार॥
कर प्रकाश अध्यात्म-ज्योतिका, करो तुरंत मोह-तम नाश।
बनो त्याग-तपमय शुचि जीवन, तजो मधुर-विष भोग-विलास॥

जीवनके वैदिक आदर्श

(लेखक—पं० श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय)

व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय जीवनपर भौगोलिक परिस्थितियोंका प्रभाव पड़ता है, परंतु उतना नहीं जितना सामान्यतः समझा जाता है। जीवन और वृत्तका निर्माण प्रधानरूपसे जातीय आदर्शों एवं धार्मिक विश्वासों तथा विचारोंके द्वारा होता है। किसी भी देश और जातिका इतिहास इसका साक्षी हो सकता है। जाति और भौगोलिक स्थिति एक ही होती है, परंतु राष्ट्रोंका उत्थान और पतन होता हुआ दिखायी देता है। स्वतः भारतके अतीतको देखिये तो एक कालमें यह अत्यन्त समृद्ध और सुखी मिलेगा, शूरवीरोंसे भरा हुआ मिलेगा और दूसरे कालमें निर्बल, निःसहाय तथा कायरतापूर्ण मिलेगा जब विदेशियोंद्वारा आक्रान्त हो गया हुआ मिलेगा। अत्यन्त प्राचीन कालमें आर्यवीर और उनका कला-कौशल जगद्विख्यात था, परंतु इधर ग्यारहवीं शतीसे लेकर अभी हालतक विदेशी दासतामें फँसा हुआ था। विचारसे देखा जाय तो सभी उत्थानोंके पीछे ठीक और उदात्त आदर्श मिलेंगे और पतनोंके पीछे अनुदात्त एवं कायर आदर्श मिलेंगे।

यदि वैदिक कालके जीवन और आदर्शोंपर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि उस समयकी समृद्धिका कारण वेदोंके ओज-तेजपूर्ण उपदेश थे, उदात्त वैदिक आदर्श थे, जिनकी झलक वेदोंके मन्त्रोंमें स्पष्टरूपसे मिलती है और जिनकी आज अधिकाधिक आवश्यकता है। यह परितापका विषय है कि वैदिक साहित्य और उस साहित्यका, जिसमें वेदोंके आदर्शोंका प्रतिपादन है, जैसे कालिदासकी प्रधान रचनाओंका प्रभूत अध्ययन-अध्यापन, प्रायः नहीं हो रहा है, यद्यपि हम स्वतन्त्र हैं। हमारे स्वतन्त्र राष्ट्रको 'धार्मिक निरपेक्षता'की व्याधि लग गयी है, जिसके कारण हमारा सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन निर्बल होता जा रहा है, नैतिक पतन हो रहा है। इसपर ध्यान देनेकी परम आवश्यकता है। धार्मिक निरपेक्षता अथवा ऐहिकताको लेकर भ्रम और अन्धकारका प्रसार हो रहा है। इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि बहुसंख्यक जातिको धर्म और संस्कृतिसे दूर कर दिया जाय, वरं वास्तविक उद्देश्य यह है कि सभी धर्मों और संस्कृतियोंका आदर किया जाय, सभीको उन्नत रक्खा जाय। समाजवादी सरकारका यह भी कर्तव्य होना चाहिये कि वह सांस्कृतिक खुराक भी दे, केवल अन्न-जलकी योजनासे राष्ट्रका जीवन पूर्ण नहीं होगा।

यहाँ हम कतिपय वैदिक मन्त्रोंको देकर यह दिखानेका प्रयत्न करेंगे कि जीवन क्या है, उसका स्वरूप क्या है, जीवनका सच्चा आदर्श क्या है और वैदिक कालका घरेलू एवं सामाजिक जीवन कैसा था। उन आदर्शोंमें, अन्य विषयोंके साथ, सच्ची ऐहिकता अथवा धार्मिक निरपेक्षताकी भी झलक मिलेगी, जो हमारा ठीक-ठीक मार्ग-प्रदर्शन भी कर सकती है।

वैदिक विचारधाराकी सबसे पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें जीवनको सहर्ष अपनाया जाता है, इस लोकको अपना सुन्दर एवं सुवास्य आवास कहा जाता है, जहाँ शरीरको सुखी करनेके जैसे साधन उपलब्ध हैं, वैसे ही आत्माकी तुष्टिके हेतु ईशका सान्निध्य भी वर्तमान है—

ईशावास्यमिदं सर्वम्।

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना
अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा
दीर्घमायुः करति जीवसे वः॥

(ऋ० १०।१८।६)

'जीवनको (आयुः) स्वीकार करो और वार्धक्य-

का स्वागत करो । तुम सभी एक दूसरेके पीछे क्रमसे प्रयत्न करते जाओ । सुन्दर वस्तुओंका विधायक देव तुमपर प्रसन्न हो और तुम्हारे जीवनको दीर्घ करे ।' यह मन्त्र अथर्ववेदमें भी दुहराया गया है, जहाँ केवल अन्तिम पद कुछ भिन्न है, यथा—

सर्वमायुर्नयतु जीवनाय । (अ० १२ । २ । २४)

'जीवनकी सार्थकताके हेतु अपनी पूरी आयु विताओ ।'

जीवनकी इस उपादेयताको बारंबार दुहराया गया है—'जीवेम शरदः शतम्' आदि स्तुतियोंमें आयु और बलके लिये प्रार्थना की जाती है ।

जीना अच्छा तो सभीको लगता है, परंतु उसे वास्तवमें अच्छा बनानेके लिये सतत सक्रिय रहना आवश्यक है, आलस्य छोड़कर कर्ममें प्रवृत्त होना, कर्मण्य रहना, अनिवार्य है । अतः यह ओजस्वी उपदेश है—

त्रातारो देवा अधि वोचता नो
मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः
सुवीरासो विदथमा वदेम ॥
(ऋ० ८ । ४८ । १४)

'रक्षा करनेवाले देव ! हमको आशीष दो । व्यर्थकी वार्त्ता और निद्रा दोनों हमसे दूर रहें । वीरोंसहित हम धर्म-स्थानमें बोलें ।' 'जो कर्मण्य है वही देवोंको प्रिय होता है । देव स्वप्नको नहीं चाहते हैं । वे अतन्द्र हैं और आलस्यको दण्डित करते हैं ।' इस पूरक उपदेशको हम ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनोंमें पाते हैं—

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं
न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ।
(ऋ० ८ । २ । १८, अ० २० । १८ । ३)

ऋक्‌में फिर कहा गया है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥

'जो श्रम करता है केवल उसीको देव अपना मित्र बनाते हैं ।'

कर्मण्यतापर इस प्रकार बल देकर सत्कर्मका निरूपण इस मन्त्रमें किया जाता है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥
(ऋ० १० । ३४ । १३)

'जूआ मत खेलो, अपने खेतोंको जोतो और बोओ, महत्त्वपूर्ण जानकर, धनसे आनन्दित हो, अपनी स्त्री और गायोंकी चिन्ता-रक्षा करो, यह सवितादेवका आदेश है ।' ईश्वरके ध्यानके साथ इहलौकिकताका—घर और खेतीका—यह कितना सुन्दर आदर्श है और 'वित्ते रमस्व'में कितनी व्यावहारिकता है ।

इस प्रकार भक्ति, उद्योग, गार्हस्थ्य और धनकी प्रेयताके सङ्ग-सङ्ग सत्य और नियमपर बल दिया जाता है, असत् मार्ग या साधनसे सर्वथा बचनेका आदेश किया जाता है—

परि चिन् मर्तो द्रविणं ममन्याद्
ऋतस्य पथा नमसा विवासेत् ।
(ऋ० १० । ३१ । २)

'मनुष्यको धनकी चिन्ता करनी चाहिये और सन्मार्गसे ही प्रयत्न करना चाहिये और साथ-साथ देवाराधना भी होनी चाहिये ।'

वैदिक ऋषि जितना ईश और धनोपार्जनका ध्यान करते हैं, उतना ही जीवनप्रेयताके आधारस्वरूप स्त्रीके गुण-स्वभावका बारंबार चिन्तन करते हैं, अनेक सुन्दर और महान् अवसरोंमें उसको उपमान बनाते हैं—

निष्कृतं जारिणीव । (ऋ० १० । ३४ । ५)
कन्येव तन्वा३ शाशदानाँ । (ऋ० १ । १२३ । १०)

सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा । (ऋ० १ । १२३ । ११)
योषेव भद्रा । (ऋ० ५ । ८० । ६)

'नियत समयपर प्रेयसीकी भाँति आनेवाली,' 'गुणगर्वा कन्याकी भाँति,' 'माताद्वारा सँवारी हुई युवतीकी भाँति,' 'सुशीला युवतीकी भाँति' आदि उषाकी सुन्दरताके वर्णनमें कहा गया है । एक दूसरे संदर्भमें देवकी महिमाको स्पष्ट करनेके लिये **'अनवद्या पतिजुष्टेव नारी'** कहा गया है । अर्थात् भगवान्‌की शुभ्रताका अनुमान करानेके लिये 'पतिव्रता नारी'का चित्र उपस्थित किया जाता है। यह ऋग्वेदका १ । ७३ । ३ वाँ मन्त्र है । अथर्ववेदके एक मन्त्रमें ईश्वरको सभी रूपोंवाला कहते हुए पहले उसे स्त्री कहा है—**'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि'** आदि ।

इन मन्त्रोंके भावोंके लालित्यको केवल समझा जा सकता है, शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता—

समुझत बनै, बरनि नहिं जाई ।

ये लोक-परलोककी अनुपम अन्विति उपस्थित करते हैं । वेदादर्शमें लोक-परलोक भिन्न नहीं, अपितु समन्वित हैं । देव, धन, प्रेम, शृङ्गार, कर्मण्यता, पावनता आदि सभी मिलकर जीवनका चित्र उपस्थित करते हैं । वेदोंकी ऐहिकतामें विचित्र परमार्थता ओतप्रोत है । सभी सत्‌की विभूतियाँ हैं, सभी पावन और उपास्य हैं । अपावन है—केवल असत्, अनृत !

इस लोक-लालित्यके साथ, वैदिक आर्योंमें शौर्य और वीरत्वकी भावनाका भी सदा दर्शन होता है । उत्साहसे आगे बढ़ते जाना, शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना, सदा सचेष्ट रहना, उनका प्रधान गुण दिखायी देता है । विद्वेषी स्वजन भी उनके आघातका विषय है । सच पूछिये तो यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वैदिक ऋषियोंको प्रधानतया ब्राह्म कहें या क्षात्र । दोनों स्वभाव साथ-साथ सामने आते हैं—

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥

'वीरो ! आगे बढ़ो और जीतो, विजयी हो, ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र शक्तिमान् हों जिससे तुम अक्षत रहो ।' यह चारों वेदोंमें आता है—(ऋ० १० । १०३ । १३, साम० १८६२, य० १७ । ४६, अथ० ३ । १९ । ७) जिससे इस आदर्शकी प्रधानता और सर्वव्यापकता सूचित होती है । ऐसे तन्त्रोंकी बहुलता है । वैदिक आदर्शको सामासिक रूपसे यजुर्वेदके २० । २५वें मन्त्रमें अत्यन्त सुन्दर रूपसे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेयं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

'वही सुन्दर देश है जहाँ आत्मिक ज्ञान और लौकिक वीरताका सम्मिलन होता है, जहाँ देवगण अग्निके सङ्ग वास करते हैं ।' आर्य-संस्कृतिसम्बन्धी यह सुन्दरतम उक्ति है । गीतोपदेशके अन्तमें, आगे चलकर, इसी आदर्शको दुहराया गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(गीता १८ । ७८)

ईशोपनिषद्‌में, जो यजुर्वेदका ही अंश है, इसी आदर्शको विद्या-अविद्या, सम्भूति-विनाशका मेल कहा गया है । हमारी मौलिक संस्कृतिका यही जीवनविषयक संदेश है । इसको फिरसे धारण करनेकी आवश्यकता है । संस्कृत काव्योंमें नायक उसीको बनाया जाता था जो ज्ञान-शौर्यसे युक्त होकर लोकका नेता होता था । काव्य और जीवन दोनोंके आदर्शोंको कालिदासने रघुवंशियोंके लक्षणोंके मिस इस प्रकार व्यक्त किया है ।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

'शैशवकालमें विद्याभ्यास, यौवनमें विषयोंका सेवन और वार्धक्यमें योगाभ्यास रघुवंशियोंका विशेष लक्षण था।' झूठे आदर्शों और उपदेशोंके चक्करमें पड़कर हम इन उदात्त भावोंको भूलते जा रहे हैं। राष्ट्रमें बल लानेके लिये इनको अपनाना, इनका प्रचार करना, सभीका और विशेषतः समाजवादी सरकारका पुनीत कर्तव्य है। लोकनृत्य और लोकगीत ठीक हैं, परंतु वे ही भारतीय संस्कृतिको व्यक्त नहीं करते। क्या यह सरकारी प्रकाशनविभागका कर्तव्य नहीं है कि विश्वविख्यात कालिदासकी रचनाओंका सानुवाद सुलभ संस्करण निकाले ? गाँधी-साहित्यसे उनकी अधिक उपयोगिता है। वेद केवल हिंदुओंके ही ग्रन्थ नहीं हैं। प्राचीनतम लेख होनेके कारण, वे विश्वकी निधि हैं। उनके उद्धारसे धार्मिक निरपेक्षताको आघात नहीं पहुँचेगा।

वैदिक संस्कृति, एक अर्थमें लोककी संस्कृति है। उसमें एक विचित्र और अत्यन्त पावन ऐहिकताका संदेश है। उससे लोकको ओज और तेज, साहस और स्फूर्ति मिल सकती है। उसके जीवन-प्रेममें वह वैचित्र्य है, जिसकी हमको परम आवश्यकता है।

* * *

दीपावलीका नया दृष्टिकोण

[माता लक्ष्मीका अपमान नहीं होना चाहिये]

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

हिंदू-तत्त्वज्ञानी अपनी प्रतीक-पद्धतिके लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने देवी-देवताओंके रूपमें ऐसे प्रतीक बनाये हैं, जिनसे जन-साधारणको मौलिक विचार और शुभ भावनाएँ सदा ही मिलती रहती हैं। हमारी तीनों देवियाँ सरस्वती, दुर्गा और लक्ष्मी हमारे तीन प्रतीक हैं। खेद है कि हम इन प्रतीकोंका अर्थ भूलते जा रहे हैं। सरस्वती ज्ञान, दुर्गा शक्ति और लक्ष्मी धनकी शक्तिकी प्रतीक हैं।

धनमें पवित्रताका समावेश

देवी लक्ष्मी धनकी शक्तिकी प्रतीक हैं। भारतीय संस्कृतिके अनुसार और हिंदूधर्मके दृष्टिकोणसे देवी लक्ष्मी समाजकी आर्थिक शक्तिकी अधिष्ठात्री हैं। उनकी कृपासे आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त होती है।

हिंदू बड़े दूरदर्शी होते हैं। जो बात उन्हें उपयोगी प्रतीत होती है, उसे वे धर्मका अङ्ग बनाकर उसमें पवित्रता, शुचिता, देवत्व, सदुपयोग, श्रेष्ठता और संयमके दिव्यगुणोंका समावेश कर देते हैं।

धनको देवीका स्वरूप देनेका अर्थ है उसमें पवित्रताका समावेश करना। हम धनको समाजके लिये एक पवित्र शक्ति मानते हैं। समाजको सत्पथपर चलाते रहने, पिछड़ोंको आगे बढ़ाने, दैवी कार्योंकी पूर्तिके लिये धनका उपयोग होता रहे, इसलिये उसे देवीका रूप दिया गया है। लक्ष्मीजीकी पूजाका सच्चा अर्थ यह है कि धनका उपयोग हमारे समाज, व्यक्ति तथा देशके शुभ कार्योंमें हो। समाजकी भलाईमें ही वह व्यय हो। तभी धनकी सार्थकता है। यही लक्ष्मी-पूजा है।

लक्ष्मीजी भारतीय अर्थ-व्यवस्थाकी प्रतीक हैं। पैसेके उपयोगमें जो सावधानियाँ बरतनी चाहिये, वे लक्ष्मीजीकी पूजामें निहित हैं। जो लोग रुपयेका दुरुपयोग करते हैं, वे माता लक्ष्मीजीका प्रत्यक्ष अपमान करते हैं।

धनका सदुपयोग करें

धनको लक्ष्मीजीका रूप स्वीकार करनेपर प्रत्येक सद्गृहस्थ हिंदूको उसका सदुपयोग करना चाहिये। अर्थकी शक्तिका आजके युगमें हम पग-पगपर अनुभव करते हैं। उसका सदुपयोग कर हम जनता-जनार्दनकी सर्वाधिक सेवा कर सकते हैं। भारतीय शास्त्रकारोंके कुछ आधारभूत जीवन-सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिये। धन पवित्र साधनोंसे कमाया जाय और जनताके हितमें व्यय किया जाय—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति ।

(ऋग्वेद १० । ११७ । १)

अर्थात् दान देनेवाले सत्पुरुषकी सम्पदा घटती नहीं, सदा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है ।

सत्कार्योंमें लगाया धन बैंकमें जमा पूँजीके समान सुरक्षित है । धर्मशालाएँ, पुस्तकालय, प्याऊ, वृक्ष लगाना, स्कूल बनवाना, धर्मार्थ चिकित्सालयोंकी स्थापना, जानवरोंके लिये जलका प्रबन्ध करना, ग्रामोंकी सफाईका प्रबन्ध, कुशाग्रबुद्धि, छात्रोंकी शिक्षाका उचित प्रबन्ध करना—ये सब माता लक्ष्मीकी आराधना और सेवाके अचूक उपाय हैं । ये सत्कार्य समाजको ऊँचा उठानेवाले हैं । अपनी रुचि और आर्थिक सुविधाके अनुसार दान और सेवाका रूप स्थिर करना चाहिये ।

जो धन पिछड़े हुए व्यक्तियोंके उत्थानमें लगता है, वह पूजाके समान फलदायी है । धन संग्रहके लिये नहीं, समाजकी सेवामें व्यय होना चाहिये । कहा गया है—

अदित्सन्तं दापयतु प्रजानन् ।

(अथर्ववेद ३ । २० । ८)

अर्थात् कंजूसोंको भी निरन्तर दान देनेकी ही प्रेरणा देते रहिये ।

स्वयं सत्कार्य करना ही यथेष्ट नहीं है । वह तो आपका कर्तव्य है ही, आपके आसपास जितने मित्र हैं, उनको भी धनको पवित्र कार्योंमें लगानेकी प्रेरणा देनी चाहिये । उन अल्पबुद्धि कंजूसोंको समझाओ कि यह धन आपका नहीं, बल्कि सारे समाजका है । धन व्यर्थ ही जमा करते जानेका नहीं, सदुपयोग करनेका माध्यम है । उससे आप, आपकी संतान, आपका परिवार, आपका पड़ोस, प्रान्त, देश और समस्त देश लाभ उठा सकता है । अभावग्रस्त और पीड़ितोंके सेवाकार्यमें उसका व्यय होना चाहिये ।

सुपात्र-कुपात्रका सदा ध्यान रखिये

लेकिन सहायता सुपात्रकी ही होनी चाहिये । आपने यदि कुपात्रकी सहायता की तो वह समाजमें उत्पात कर सकता है । खूब परखकर अच्छी वृत्तियोंवालेकी सेवा करनी चाहिये । शास्त्रोंमें कहा है—

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।

(अथर्ववेद)

अर्थात् दानमें सदा विवेकसे काम लो और सत्पात्रोंको ही दान करो ।

आप जब सहायता करने निकलें तो पात्र-कुपात्रका सावधानीपूर्वक विवेक करें । धैर्यपूर्वक सोचें-विचारें । जो सद्वृत्तियोंवाले सुपात्र हैं, उन्नतिशील हैं, केवल उन्हींको दान दें । कुपात्रोंको दिया दान दाताको नरकमें ले जाता है ।

न पापत्वाय रासीय

(अथर्ववेद २० । ८२ । १)

अर्थात् कुपात्रोंको दान मत दीजिये । सर्पको दूध पिलानेकी भाँति कुपात्रतामें और भी वृद्धि न कीजिये ।

दत्तान्मा यूपम्

(अथर्ववेद ६ । १२३ । ४)

अर्थात् दान देनेकी दिव्य और उपयोगी परम्परा बंद नहीं होनी चाहिये । माता लक्ष्मी कहती हैं कि आपके पास ज्ञान, बल, योग्यता अथवा धन जो कुछ भी है समाज और पीड़ित व्यक्तियोंको देनेके लिये है, उसे दूसरोंके हितमें सम्पूर्ण जीवन लगाते रहिये ।

ध्यानसे देखिये कि किस सद्वृत्तियोंवाले व्यक्तिको आपकी आर्थिक सहायताकी आवश्यकता है । अपने नामके विज्ञापनकी परवा मत कीजिये । सर्वश्रेष्ठ आर्थिक सहायता वह है जिसमें दाताका नाम नहीं बताया जाता ।

यह धन सारे समाजका है

कस्यस्विद्धनम् । (यजुर्वेद ४० । १)

अर्थात् याद रखिये, आपके पास जो धन है, उसपर केवल आपका ही अधिकार नहीं है, वह धन तो सम्पूर्ण राष्ट्रका है और सामूहिक हितमें ही व्यय होना चाहिये ।

माता लक्ष्मीका संदेश है कि धनपर कब्जा करके मत बैठो । परिवार, समाज और राष्ट्रके हितके लिये उसका सदुपयोग करते रहो ।

व्यापारमें धार्मिक दृष्टिकोण ही रखिये

न स्तेय मद्मि ।

(अथर्ववेद १४ । १ । ५७)

अर्थात् चोरीका धन कभी भी कार्यमें मत लीजिये । जो न्यायोचित नहीं है, जिसमें ईमानदारी और श्रम नहीं लगा है, उसे त्याग दीजिये ।

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै।
(अथर्ववेद १८ । २ । ३८)

अर्थात् माता लक्ष्मीका संदेश है कि आप वस्तुस्थिति एवं नाप-तौलमें गड़बड़ी न कीजिये। अपने व्यापारमें नाप-तौल पूरा दिया कीजिये। व्यापारमें किसी भी प्रकारकी बेईमानी हो, वह व्यापारको जड़मूलसे नष्ट कर देती है।

पापका व्यापार थोड़े दिन तो चमकता दीखता है, पर अन्ततः वह गाँठकी पूँजी भी नष्ट कर देता है। माता लक्ष्मी कहती हैं—

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि।
(अथर्ववेद ७ । ११५ । १)

अर्थात् पापकी कमाई छोड़ दीजिये। कठोर श्रम, अध्यवसाय और पुण्यभाव, सेवाभाव रखकर कमाया धन ही मनुष्यके पास ठहरता है।

पसीनेकी पुण्य कमाईसे ही मनुष्य सुखी और मानसिक दृष्टिसे तृप्त बनता है।

धनका उपयोग सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये किया जाय

सद्गुण और लक्ष्मी—इनका परस्पर योग है। मनमें ईर्ष्या, द्रोह, द्वेष, लोभके भाव रखनेवालेका व्यापार नष्ट हो जाता है।

भारतीय ऋषियोंने धनकी ईमानदारी, उचित साधनों और सेवाभावको बहुत महत्त्व दिया है। कहा है—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः।
(अथर्ववेद ७ । ११५ । ४)

अर्थात् यह आजमाया हुआ नुस्खा है कि ईमानदारीसे कमाया हुआ धन ही मनुष्यके पास ठहरकर उसे स्थायी लाभ पहुँचाता है। बेईमानीकी कमाईसे कोई फूलता-फलता नहीं है।

देवो वार्य बनते।

अर्थात् धन उन्हींके पास ठहरता है, जो सद्गुणी नागरिक हैं अन्यथा दूसरी पीढ़ीमें दुराचारी संतानके द्वारा वह नष्ट कर दिया जाता है। अपनी संतानको सद्गुणी न बनाया तो विपुल सम्पदा भी स्वल्प कालमें नष्ट हो जाती है।

भारतीय मनीषियोंने सदा उत्तम और पवित्र साधनोंसे कमाये हुए धनको ही मान्यता दी है और धर्मके अन्तर्गत उसे स्थान दिया है। व्यापारमें धार्मिक दृष्टि रखनेसे गुप्त दैवी सहायताका विधान रहा है। अनैतिक साधनोंसे कमाये हुए धनसे कभी स्थायी लाभ नहीं दिखायी दिया है। आनेवाली पीढ़ीने उसे समाप्त कर दिया है। इसलिये धनका उपयोग सद्गुणोंके विकासमें ही होना चाहिये।

साधनोंकी पवित्रताका सदा ध्यान रखिये

माता लक्ष्मी हमें धनकी पवित्रता, साधनोंका औचित्य तथा अन्तःकरणकी शुद्धिका संदेश देती हैं। मनुष्य धनके पीछे अन्धा न हो जाय; छल, कपट, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, झूठ, अन्याय आदि अनैतिक उपायोंका प्रयोग न करे, असुरताकी गंदगीमें न फँस जाय,—यही दृष्टिकोण सदा रहना चाहिये।

आज धनकी अपवित्रता, लालच, झूठ-फरेबके कारण भाई-भाईका व्यवहार छलपूर्ण है, मालिक-नौकरमें नहीं पटती, ग्राहक और दूकानदारके सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं, ये सब आर्थिक कारणोंकी स्वार्थमयी नीतिके कारण हैं। अतः ये सम्बन्ध मधुर बनने चाहिये।

अर्थ भी धनका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। परमात्माकी एक शक्ति है। मानवताकी सेवा और सार्थकताका साधन है। इस सम्पदाका उपयोग मनुष्यकी महानताके विकासके लिये होना चाहिये।

ऋणसे मुक्तिका संदेश

जहाँ एक ओर पापकी कमाईसे सावधान किया गया है, वहाँ हमें ऋणग्रस्त होनेसे भी सचेत किया गया है। हम जितना कुछ धर्मके साधनोंसे कमायें, उसीमें अपना निर्वाह करें। व्यर्थके दिखावे, फैशनपरस्ती, नशाबाजी, सिनेमा आदि ऋण होनेके समस्त मार्गोंसे बचते रहें।

हम अपनी जिह्वापर लगाम रक्खें। नियम और संयमसे जीवन-निर्वाह करें। शास्त्रकारोंकी सलाह है—

अनृणो भवामि। (अथर्ववेद ६ । ११७ । १)

अर्थात् अपनी आमदनीमेंसे ही खर्च चलाओ। किसीके ऋणी मत रहो। किसी भी अवस्थामें अपनी आर्थिक स्थितिसे बाहर खर्च मत करो।

अनृणाः स्याम। (यजुर्वेद ३२)

अर्थात् मनुष्यो! संसारमें प्रसन्न और यशस्वी रहनेके लिये कर्जदार मत बनो। ऐसे काम मत करो जिससे ऋण लेना पड़े।

सर्वान् पथो अनृणा आक्षिपेम।
(यजुर्वेद ३२)

अर्थात् जो ऋणमुक्त है, उसीकी उन्नति होती है। ऋणग्रस्त व्यक्ति दिन-दिन घुलता जाता है।

धनका मद आसुरी माया है !

मूर्ख, अल्पज्ञ और अभिमानी पापियोंके हाथमें इकट्ठा हो जानेसे धन पतनका कारण बन जाता है। उधरसे सावधान रहना चाहिये।

लक्ष्मीजीको कुछ दिनोंके लिये असुरोंने अपने अधिकारमें रक्खा था। इसलिये धनपर आसुरी छाप है। दुष्ट और अपात्रोंके हाथोंमें इकट्ठा होकर धन आसुरी कार्योंमें लगता है और विकृत हो जाता है। विलासी, काम-लोलुप, अविवेकी पुरुष धनके द्वारा अपवित्र, गंदे और अधार्मिक कार्य करते हैं, जो सर्वथा त्याज्य हैं। लक्ष्मीजी इन कार्योंसे अप्रसन्न होती हैं।

मूर्ख कुकर्मी व्यक्तियोंके पास आकर इसका दुरुपयोग कैसे किया जाता है, इसका उल्लेख 'कादम्बरी'में इस प्रकार किया गया है। इनसे सदा सावधान रहना और बचना चाहिये—

यथा यथा इयं दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति। अनया कथमपि दैववशेन परिगृहीता विक्लवा भवन्ति राजानः, सर्वाविनयाधिष्ठानतां च गच्छन्ति। तेषां दाक्षिण्यं प्रक्षाल्यते, हृदयं मलिनीभवति, सत्यवादिता अपह्रियते, गुणाश्चोत्सार्यन्ते। केचित्सम्पद्भिः प्रलोभ्यमाना रागावेशेन बाध्यमाना विह्वलतामुपयान्ति। आसन्नमृत्यव इव बन्धुजनमपि नाभिजानन्ति।

अर्थात् कुसंस्कारी पापी और विलासी पुरुषोंके पास ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों वह अधार्मिक, गंदे और दूषित कार्योंमें लगता है। वह कुविचारोंको उत्पन्न करता है जैसे दीपककी लौ केवल काली-काली कालिख ही उगलती है।

इसके किसी प्रकार अभाग्यवश पकड़ लिये जानेपर (अर्थात् लक्ष्मीजीके बुरे प्रभाव पड़ जानेपर) राजा तक बेसुध हो जाते हैं और मूर्खताओं तथा कुकर्मोंके निवासस्थान बन जाते हैं। उनकी उदारता धुल जाती है, हृदय मलिन हो जाता है, सत्यवादिता दूर हो जाती है और सद्गुण भाग जाते हैं।

कुछ लोग रुपयेके लालचमें पड़कर विकारों (वासनाओं, कुविचारों, हिंसादि क्रूर कर्मों, व्यभिचारकी दूषित योजनाओं) के आक्रमणसे विवश होकर बेसुध हो जाते हैं। वे मरणासन्न लोगोंके समान अपने मित्रोंको नहीं पहचानते।

इस प्रकार धनकी त्रुटियोंसे सदा सतर्क रहना चाहिये। आगे कहा गया है—

मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून्। जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम्। आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने। सर्वथा तमभिनन्दन्ति, तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तस्मै ददति, तस्य वचनं शृण्वन्ति, तं बहु मन्यन्ते योऽहर्निशमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति यो वा माहात्म्यमुद्भावयति।

अर्थात् कुसंस्कारी और कुविचारी धनीलोग झूठे बड़प्पनके घमंडमें भरकर देवताओंको नमस्कार नहीं करते।

जिन्हें प्रणाम करना चाहिये, उन्हें प्रणाम नहीं करते और बड़ोंको देखकर उनके सम्मानके लिये नहीं उठते।

विद्वान् वृद्धोंके उपदेशको समझते हैं कि बुढ़ापेकी निर्बलताके कारण बक-झक कर रहे हैं।

मन्त्रीके उपदेशसे अप्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि यह अपनी बुद्धिकी हार है।

वे धनके मदमें इतने चूर रहते हैं कि भलाईकी बात कहनेवालेपर भी क्रोध करते हैं।

जो रात-दिन हाथ जोड़े रहते और झूठी प्रशंसा करते हैं और अपने कर्तव्य छोड़कर उनकी इष्टदेवताके समान स्तुति करते हैं या जो उनके बड़प्पनकी घोषणा करते हैं, वे उन्हींकी बात सुनते हैं, उन्हींका आदर करते हैं और उन्हींको अपने साथ रखते हैं।

उपर्युक्त सभी दुर्गुणोंमें लिप्त रहनेसे माता लक्ष्मीका अपमान होता है। हमें चाहिये कि हम इन दुर्गुणोंसे सदा-सर्वदा सावधान रहें। हमारे धनसे कोई ऐसा दुष्कर्म नहीं होना चाहिये जिससे माता लक्ष्मी अपमानित हों।

ज्ञान ही शक्ति है

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव एम्० ए०, एल्-एल्०बी०, एल्०टी०)

'ज्ञान वह पंख है, जिससे हम उड़कर स्वर्गतक पहुँच सकते हैं।'—शेक्सपियर

शक्तिके प्रति प्रेम जन्मजात है। जैसे-जैसे मनुष्य बढ़ता जाता है, शक्तिका प्यार भी विकसित होता जाता है। कुछ लोग शारीरिक शक्ति प्राप्त कर रखनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं, कुछ बौद्धिक शक्ति चाहते हैं और बहुत थोड़े नैतिक शक्तिके लिये प्रयास करते हैं। कुछ लोगोंका लक्ष्य होता है कि वे धनके द्वारा शक्ति प्राप्त कर रक्खें। कुछ दूसरे उच्च सामाजिक श्रेणीके माध्यमसे शक्ति बटोरना चाहते हैं, जब कि कुछ ऐसे भी होते हैं जो प्रभुताके रूपमें शक्तिका संचय कर रखना चाहते हैं; परंतु सबसे बड़ी शक्ति है अपनेको जानना और ऐसा ज्ञान जीवनमें बहुत कठिन है।

प्रागैतिहासिक कालमें मनुष्यका ज्ञान नितान्त सीमित था। अतः उसे प्रकृतिकी अनेक शक्तियोंसे भय लगा रहता था। फलतः वह बड़े-बड़े वृक्षोंके समक्ष भी शीश झुकानेके लिये सदैव प्रस्तुत रहता था। ज्ञानका प्रकाश पास न होनेके कारण वह सब प्रकार स्वतन्त्र होते हुए भी स्वतन्त्रताका उपभोग नहीं कर पाता था और भयके बन्धनसे सदा आक्रान्त था।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनुष्यने अपने ज्ञानमें प्रगति की, वह प्रकृतिके रहस्योंकी खोज करने लगा। सभ्यतामें प्रगतिका अर्थ ज्ञानके विकाससे अलग कुछ नहीं है। विज्ञानके उदयने मानवको बहुत अधिक शक्तिसे सम्पन्न कर दिया। वैज्ञानिक प्रगतिके फलस्वरूप मनुष्य अब और दुर्बल और असहाय नहीं रहा। प्रागैतिहासिक दिनोंमें उसे जो भय बना रहता था, उसपर उसने क्रमशः विजय प्राप्त कर ली। भय, जो सब सद्गुणोंके विकासके लिये रुकावट है, दूर करके उसने आत्मशक्तिको पहचाना। तब उसके लिये सुख, सुविधा और स्वतन्त्रताका द्वार खुल गया।

अब वह प्रकृतिकी शक्तियोंपर उल्टा अधिकार जमाने लगा। उसने बाँध बनानेका प्रयत्न किया और जलके वेगको जीत लिया। तब फिर उसने वायुमें उड़ान भरना सीखा। प्रकृतिके रहस्योंके विषयमें ज्ञानने उसे शक्तिसे सुसज्जित कर दिया एक साहसी योद्धाकी भाँति। जल-थलपर विजय-पताका फहराकर आज वह अन्तरिक्षपर नियन्त्रण जमानेके लिये आकुल है और ग्रहों-उपग्रहोंमें झंडे गाड़ रखना चाहता है।

प्रागैतिहासिक दिनोंमें शक्तिका अभिप्राय था केवल शारीरिक शक्ति। परंतु सभ्यताके विकासके साथ शक्तिके दो अन्य रूप—मानसिक अथवा बौद्धिक शक्ति एवं नैतिक अथवा आध्यात्मिक शक्तिको भी पहचाना जाने लगा। मनुष्य सभ्यताके पथपर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, मानसिक शक्तिको अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण पद दिया गया, यद्यपि आज कितने ही आध्यात्मिक शक्तिको प्रमुखता देंगे। रामकृष्णके अनुसार वास्तविक ज्ञान वह है, जिससे अन्तरमें ईश्वरका अनुभव किया जाय।

आज तो मनुष्य अन्तरिक्षमें राकेट भेजने लगा है। अपनेसे कहीं शक्तिशाली हिंसक जीवोंको तो वह बहुत पहले ही अपने आधिपत्यमें ले आया था। साथ ही उसने कितनी ही भयंकर बीमारियोंपर अपना नियन्त्रण स्थापित किया है। यह सब सफलता उसने अपने बढ़े हुए ज्ञानके द्वारा अर्जित की है। अध्यात्मके क्षेत्रमें आज भी दार्शनिक लोग मानव-मस्तिष्कके अध्ययनमें व्यस्त हैं और वे कितनी ही जटिलताओंकी खोज कर चुके हैं। ज्ञानके सुफल जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें परिपक्वता प्राप्त कर रहे हैं, भले ही भौतिक लाभोंपर दृष्टि-विशेष होनेके कारण प्रयास उधर अधिक हो।

संक्षेपमें कला, विज्ञान एवं संस्कृतिका समस्त विकास ज्ञानपर निर्भर करता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि ज्ञान मनुष्योंको अपार शक्ति प्रदान करता है। ज्ञानने ही मनुष्यके जीवनको पहलेसे कहीं अधिक सुखमय बनाया है। समष्टिकी ही बात नहीं है, व्यष्टिके लिये भी ज्ञान परम सुख है और प्रकृतिके समस्त आनन्दसे कहीं बड़ा है। बेकनके अनुसार—मनुष्य ज्ञानसे कभी नहीं ऊबता—ज्ञानसे तृप्ति और उसके प्रति बुभुक्षा निरन्तर अपना आसन बदला करती है।

संसारमें प्रत्येक वस्तुके दो पहलू हुआ करते हैं। ज्ञान भी लाभ और हानिके दुहरे वरदानसे सम्पन्न है। ज्ञानसे होनेवाले लाभ उसके सदुपयोगपर उसी प्रकार आश्रित हैं, जिस प्रकार उससे प्राप्त हानियोंका कारण ज्ञानका दुरुपयोग बनता है। ज्ञानको मानवताके कल्याणके लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है और मानव-सृष्टिके विनाशके लिये भी हम उसे काममें ले सकते हैं। एक विद्वान्ने कहा है कि ज्ञानसे होनेवाले खतरोंकी अविद्याके खतरोंसे कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। हर्बर्टका कथन है—'ज्ञान केवल मूर्खता है, यदि ज्ञान उसका संचालन न करे।'

परंतु सच्चा ज्ञान और वास्तविक शक्ति वह है, जिसका लक्ष्य मानवताकी समृद्धि है। वैज्ञानिक प्रगति और विकसित ज्ञानकी दिशामें हमारे समस्त प्रयत्नोंका लक्ष्य हो वास्तविक शक्ति अर्जित कर रखना। वास्तविक शक्ति वही है, जिसमें कुछ ठोस कल्याण कर सकनेकी क्षमता निहित है।

बेकनने कहा है—'मनुष्य उतना ही है, जितना वह जानता है।' परंतु बेकनसे भी पहले एक बहुत बड़ा जानकार सुकरात सब कुछ जानकर भी कहा करता था—'अपनेको जानो' और 'जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मैं जो कुछ जानता हूँ, वह यही है कि मैं कुछ नहीं जानता।' तात्पर्य यह है कि ज्ञानका भाण्डार अक्षय और असीम है। टामस आर्नल्डके शब्दोंमें—'प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तुकी भाँति वास्तविक ज्ञान आसानीसे प्राप्त की जानेवाली वस्तु नहीं है। उसके लिये उद्योग और उससे भी अधिक प्रार्थना आवश्यक है।'

ज्ञान और भक्तिमें इतना साम्य तो है ही कि दोनोंका पवित्र रूप एक समान लक्ष्यकी ओर ले जानेवाला है। अनातोले फ्रांसने ज्ञानमें निहित शक्ति-तत्त्वके समुचित प्रयोगको लक्ष्यमें रखकर ही कहा है—'ज्ञानको उचित रूपमें पचानेके विचारसे उसे अच्छी भूखके साथ निगला जाना चाहिये।' बर्टेण्ड रसेल-जैसे शान्ति-प्रेमी आज मानवताकी भावनासे अनुप्राणित होकर विश्वके नेताओंसे बुद्धिका समुचित प्रयोग किये जानेकी अपील करते हैं। परंतु लाल चीन तो आतङ्क बिठानेके लिये ही अणु-विस्फोटोंकी धमकियाँ दे रहा है। किसी भी कारणसे जब राष्ट्रोंके बीच विवेक और न्यायका अभाव है, तब क्या कहा जा सकता है कि कब कौन-सी चिनगारी घोर युद्धकी विभीषिका लाकर खड़ी कर देगी। विश्वविनाशकी विस्फोटक स्थितिके बीच व्यक्ति जबतक जो कुछ भी शान्ति पा सकता है, उसके लिये ज्ञानका सदुपयोग करता रहे और हाब्सके कथनका ध्यान रक्खे—'ज्ञान ही शक्ति है।'

◆

करुणाकर टेर सुनो सत्वर !

मेरा दुख-दैन्य अनन्त प्रभो!
मेरी मानस पीड़ा अपार।
बहती रहती निशि-दिन अविरल
आँखोंसे आतुर अश्रु-धार॥

पथके कणकण से लिपट-लिपट
पग हार चुके, थक चुकी साँस।
सब नष्ट हो चुका जीवन-बल,
प्राणोंमें पीड़ाका निवास॥

खोलो खोलो करुणाके पट,
हे करुणाकर! मैं हुआ श्रान्त।
पाकर प्रभु पावन दया-दृष्टि
हो सके शान्त, जीवन अशान्त॥

मैं रोता सुस्मृतिमें अविरत
करुणाकर! टेर सुनो सत्वर।
ज्योतित कर दो अन्तर-प्रकोष्ठ
पावन भर प्रेम-प्रकाश प्रखर॥

पद-वैभव-हास-हुलास नहीं
अब मेरे जीवनकी आशा।
चरणों में लीन रहूँ प्रतिपल,
मेरी आतुरतम अभिलाषा॥

—श्री रा० प्र० द्विवेदी 'रामेश्वर'

शान्तिकी खोजमें भटकता समाजवाद

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री, साहित्यरत्न, बी० ए०)

समाजवाद आजके युगकी पुकार है और शान्ति आवश्यकता। शान्ति चाहे व्यक्तिगत हो या समाजगत, मूल्यवती है; किंतु उसके सम्बन्धमें बात करना एक फैशन बन गया है। व्यवहार-रूपमें उतारनेकी कोई चेष्टा ही नहीं करता। बड़े-बड़े सम्मेलन होते हैं, राष्ट्राध्यक्षोंकी विज्ञतियाँ भी शान्तिके ही गीत गाती हैं किंतु उन सम्मेलनोंपर किया गया अर्थनाश न शान्ति ला सकता है, न शान्तिका भावनात्मक स्थापन कर सकता है। हाँ, प्रचार अवश्य हो जाता है। राष्ट्रका प्रतिनिधित्व एक व्यक्ति करता है अर्थात् व्यष्टिमें समष्टिकी प्रतिष्ठा की जाती है किंतु उस व्यष्टिमें जिस गौरव-गरिमाकी अपेक्षा की जाती है उसका अभाव रहता है और परिणाम यह निकलता है कि वे प्रस्ताव—प्रस्तावमात्र रह जाते हैं। व्यक्ति विश्वका प्रतिनिधित्व कर सकता है, किंतु उसके लिये उदारचरित होना अनिवार्य है। पर ऐसा होता कहाँ है? राजनीति, प्रेमनीतिसे हटकर केवल स्वार्थनीति या कूटनीति मात्र रह गयी है। स्वार्थान्ध व्यक्ति अपने संकीर्ण स्वत्वके लिये समूचे राष्ट्रको विनाशके कगारपर खड़ा कर देता है—युद्धकी भीषण ज्वालामें झोंक देता है। चीन तथा पाकिस्तानका आक्रमण और वियतनामका युद्ध हमारे सामने है। शान्तिका ढिंढोरा पीटनेवाले आज उसकी हत्या कर रहे हैं, निरीह जनताका प्राणनाश करनेपर उतारू हो रहे हैं। केवल अपने अहंकी तुष्टिके लिये अथवा विश्वको आतङ्कित करनेके लिये। व्यक्तिवाद बुरा नहीं है; क्योंकि प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र व्यक्तित्व लेकर जन्मा है। व्यक्तिवादका निन्दनीय रूप स्वेच्छाचारी और संकीर्ण 'स्व' का है। तुलसीदासजी-जैसा स्वान्तःसुखायका दायरा यदि व्यक्तिवादमें रहता है तो वह शान्तिका घटक बनता है, अन्यथा क्षीण संवेगों और आवेशोंकी आँधीमें काँपता हुआ व्यक्तिवाद सारे समाजको अशान्त कर देता है। शान्तिके प्रतीक थे ऋषि, जिनके आदर्श थे—

'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः० ।'
'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥'

—यह जिनका जीवन-दर्शन था, वे थे व्यक्तिवादमें समाजवादको प्रकाशित करनेवाले, जिनके सामने न केवल सम्राट् (समाजका सार्वभौम प्रतिनिधि) ही सिर झुकाता था वरं जिनके आश्रममें वनराजा और निरीह गौ एक ही घाटपर पानी पीते थे। वे थे समाजवादके सर्जक, पोषक और प्रहरी—जिनका अन्तर शान्ति, दया और परदुःखकातरताकी मूर्ति था, जिनका आत्मोद्धार ही देशोद्धार था।

शान्ति समाजकी समृद्धि है, स्वास्थ्य है। आजका समाजवाद उसे पानेकी चेष्टा करता है, देनेकी नहीं। हमारे सामने दोनों ही चित्र हैं। प्राचीन समाजवादका भी और आजके समाजवादका भी। दोनोंका लक्ष्य शान्ति और समृद्धि है, पर एकमें जीवनमूलक भावना है, दूसरेमें प्रदर्शन है; एकमें उपलब्धि है, दूसरेमें चित्रणमात्र।

समाजवाद आजके युगकी उपज नहीं है, इसके मूल रूप भारतकी स्मृति और समाज-व्यवस्थामें स्पष्ट वर्णित हैं। भूल वहींसे हुई, जहाँसे हमने अपनी सनातन व्यवस्थाको पुरानी कहकर हेय समझ लिया और नयेकी चमकमें हम चौंधिया गये। इस समाजवादके बदलते रूपने ही शान्तिका रूप विकृत कर दिया है। आज रह गया है वह समाजवाद, जिसका शव दुर्गन्ध मार रहा है। वह समाजवाद, जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका हनन किया जा रहा है जो किसी भी युगमें शान्ति-समृद्धिका प्रतीक नहीं हो सका। भारतके मूलभूत सिद्धान्त वास्तविक शान्ति और समृद्धिपरक समाजवादके प्रतीक रहे हैं, वे आज भी इस नये समाजवादकी भावनाओंसे कहीं बहुत ही आगे हैं।

व्यक्ति समाजका अङ्ग है, जितना साधक है उतना ही बाधक भी। यदि शान्तिका विधायक व्यक्ति है तो विनाशक भी व्यक्ति ही। एक युग था जब भारतमें निःस्पृह ब्राह्मणका शासन था, समाज-व्यवस्थाका नियमन स्मृतियाँ करती थीं। आज जिन घृणित मनोवृत्तियोंसे प्रेरित होकर व्यक्ति जघन्य कार्य करता है और जिन अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, उस समाज-संरचनामें शायद उनकी विरल कल्पना थी। जिसपर दावा यह है कि 'व्यक्ति आज विकसित हो रहा है, उस युगको इतिहासमें छोड़ आया है। आज उस कष्टकर और तमसाच्छन्न

पङ्गु व्यवस्थाकी चर्चा ही उपहासकी पात्र है।' मेरा उन्हींसे प्रश्न है—'क्या इस व्यवस्थाने मानवको सुखी और शान्त जीवन दिया है ? क्या व्यक्तिगत स्वतन्त्रताने सामाजिक उच्छृङ्खलताको बढ़ावा नहीं दिया है ?'

यह नया समाज-शास्त्र खोखला है, एक कराह है इसमें, पर सुनता कौन है। वर्णव्यवस्था अन्याय थी किंतु इस सुलझे समाजवादने व्यक्ति और व्यक्तिके बीच मिठास नहीं रहने दिया, मालिक और मजदूरके बीच खाईं डाल दी, परिणाम निकला हड़तालें, खून-खराबा, राष्ट्रिय उत्पादनमें ह्रास और असंख्य युनियनोंकी उत्पत्ति। जिसे हमारे यहाँ धर्म और सदाशयता माना गया, उसीको नियम बना दिया गया। नियम बनते ही अधिकार-भावना पनप गयी। अभीकी बात है, किसी एक संस्थानमें काम करनेवालोंको उसके मालिकके द्वारा समय-समयपर आर्थिक सहायता दी जाती थी और आज उसीको बोनसके नामसे लिया जाता है। सिद्धि एक है पर उसके साधन एक-दूसरेमें अन्तर डालनेवाले। पुत्रीको विवाहमें या विवाहके पश्चात् जो दिया जाता है वह हमारी आत्मीयताका मधुर फल है किंतु नियमके आधारपर पिताकी सम्पत्तिमें समान भागकी माँग करनेसे प्रतिद्वन्द्विता और परकीयताका भाव जग जायेगा। जिसमें हर तरहसे क्षति है।

अधिक दिन नहीं हुए, किसानके यहाँ खेती पकनेपर सबको यथाश्रद्धा मिला करता था—नाई, मोची, बढ़ई, लोहार आदि सबको। सम्पत्तिपर सबका अधिकार था। उत्पत्ति सबमें वितरित होती थी, किंतु वह 'अधिकार' न होकर 'कर्तव्य' था। प्रत्येक वर्ग एक-दूसरेपर निर्भर था। शूद्र समाजका पैर होकर भी अङ्ग तो था ही, इसीलिये हाथको मुखसे, पैरोंको जंघासे कोई ईर्ष्या नहीं थी। सब एक-दूसरेसे गुँथे हुए थे। न किसीमें हीन-भावना थी, न किसीमें अभिजात-भावना। एक लोकोक्ति प्रचलित है 'बेटा तो पड़ोसीका ही अच्छा, छप्पर उठानेके ही काम आये' छप्पर उठानेसे लेकर विवाह-शादीमें आटा पीसनेतकके काममें सब एक-दूसरेका सहयोग करते थे। यन्त्रोंके अभावमें भी सहयोगका तन्त्र ऐसा जम रहा था कि सारा काम सहज सुकर ढंगसे चल रहा था। अमुकको अमुक काम नहीं करने दिया जाता था, पर इसका काम करनेके लिये कोई भी इन्कार नहीं करता था। कितना सामञ्जस्य और सौमनस्य था एक वर्गका दूसरेके लिये। व्यक्ति, व्यक्ति रहकर भी समाज था। कितनी शान्ति थी, सुख था और कितनी मधुर समृद्धि थी। उस समय समाजवाद मूर्तिमान् था और आज समाजवादका ढाँचा है—संज्ञाशून्य, खोखला। इसीलिये इस भटकते समाजवादमें शान्ति अलभ्य है।

आजका समाजवाद निर्जीव समाजवाद है। यन्त्रोंके कोलाहलमें समाजकी शान्ति दब गयी है। इस अशान्तिके लिये अर्थकी संज्ञा जिसे दी जाती है अथवा विनिमयका माध्यम जो रहा है उसका भी कम महत्त्व नहीं। विनिमयका माध्यम चल वस्तु ही हो सकती है। वह युग निस्संदेह सत्ययुग था जिस युगमें 'गोधन'की प्रतिष्ठा थी। वह युग था आर्ष-युग, जिसमें सर्वत्र शान्ति व्याप्त थी, गौ माता थी, ऋतम्भरा भी गौ थी तो कामधुक् भी धेनु ही। उस समाजमें व्यवस्था थी समर्थके हाथमें और शान्तिका जीवन्तरूप गौ भी रीढ़। गौ सदा शान्तिप्रिय रही है। युद्धमें इसका उपयोग हो ही नहीं सका। माँकी तरह रक्षा अवश्य कर सकती है। माध्यम स्थिर नहीं रहता है। युग बदला और वाजिधन तथा गजधन आया। इसमें मनुष्यमें परिग्रहकी भावना पनपी; किंतु फिर भी सामाजिक शान्तिको आघात नहीं पहुँचा। वर्णाश्रम-व्यवस्था धर्म ही रही, पारस्परिक सहयोग कर्तव्य ही बना रहा और समाजमें सुख-शान्ति रही।

व्यापारी वर्ग न्यायोचित सीमित लाभ लेकर भाग्यके सहारे पनपते रहे। विशुद्ध भोज्य पदार्थोंसे जनता नीरोग थी और भावनात्मक समानतासे सुखी; किंतु यह भी नहीं रहा। विनिमय सुवर्णके हाथोंमें आ गया और आज तो कागजके टुकड़ोंपर ही। ठीक है, इतनी बड़ी जनसंख्याके लिये दूसरा माध्यम इतना सस्ता नहीं हो सकता, किंतु इन भुरभुरी बालूके कणोंमें तो बिलगाव है, संघर्ष है, परिग्रह है। एक बार फिर मय-सभ्यता विश्वको निगलने जा रही है, पर आशा जग पड़ी है, विश्वास कहता है—इस अशान्तिके पीछे शान्तिका पारावार उमड़ा आ रहा है। इस बिलगावकी घनघोर घटाओंके पीछे आत्मीयता और प्रेमका सूर्य चमकनेवाला है!

इस अर्थकी सर्वभक्षी भूखने भोज्य पदार्थोंको ही विषाक्त नहीं किया, प्रत्युत ओषधियोंको भी मिलावटसे दूषित कर दिया। किसका विश्वास करें ? सारी दुनियाका

एक ही लक्ष्य है—धन बटोरो, गला घोटकर या डाका डालकर, और इसी अर्थने अनर्थ कर दिया, समाजमें अशान्तिके बीज बो दिये। आज कितनी आत्महत्याएँ हो रही हैं, कितने व्यभिचारगृह बढ़ रहे हैं ? ये सब स्नायु-दौर्बल्यके चिह्न हैं। व्यक्तिकी रगोंमें तनाव आता है और वह संयम खो बैठता है। उसपर समाजका कोई अंकुश तो रहा नहीं और वह स्वयं उच्छृङ्खल होकर वासनाओंकी वेगवती धारामें वह रहा है। इसीलिये कह रहा है **'अर्थस्य सर्वे दासा नार्थो दासो हि कस्यचित्'** बस, यहींसे होता है अनर्थोंका सूत्रपात।

वस्तुतः यदि हमें सच्चे समाजवादकी स्थापना करनी है तो स्मृतियोंमें निर्दिष्ट भावनाको अपनाना होगा, रूप चाहे कोई भी, कैसा भी रहे। उन पुरातन मूल्योंकी फिरसे प्रतिष्ठा करनी होगी। शान्ति-सम्मेलनके बजाय क्रियाशील तथा भावनात्मक एकताका मिठास व्यक्तिमें घोलना होगा; फिर समाजमें शान्ति दूरकी बात नहीं।

सहिष्णुता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

उलझे शुष्ककेश, बढ़ा श्मश्रुजाल, शीतसे झुलसा काला पड़ा सर्वाङ्ग। देहका चर्म स्थान-स्थानसे चकत्तोंके रूपमें फट रहा है। पैरोंमें दो स्थानपर हिमदंशके घाव हैं और वे अभी भरे नहीं हैं। कौपीन और मैली कन्था, परिग्रहके नामपर एक कमण्डलु भी है और यात्रासहायिकाके रूपमें एक वन्यकाष्ठकी टेढ़ी बेडौल लकड़ी भी।

सुविस्तृत भाल, सघन बंक भ्रूमण्डल, पद्मदलायत अरुणाभ नेत्र, उच्च नासिका, पतले अधरपुट, प्रलम्ब देह, प्रशस्त स्कन्ध एवं वक्ष, आजानु लम्बायमान भुजाएँ, दुर्बल कटिदेश—हिमपीड़ित, प्रसाधनविहीन, उपकरण-रहित भी वे ऐसे दीखते हैं कि कोई भी देखते ही उनके सम्मुख सहज मस्तक झुका देगा। यह दूसरी बात है कि इस निर्जन प्रदेशमें सृष्टिकर्ताके इस कला-नैपुण्यका कोई दर्शक ही नहीं है।

'मृत्योर्मामृतं गमय !' श्रुति अनेक बार श्रवणमें पड़ी थी; किंतु शब्दका कर्णविवरोंमें प्रवेश ही तो श्रवण नहीं है। चित्त जब किसी विशेष शब्दको ग्रहण करनेकी उपयुक्त स्थितिमें होता है, कर्णरन्ध्रमें शब्दके प्रवेशके साथ ही हृदयमें एक प्रकाश हो जाता है। अर्थका यह अद्भुत प्रकाश जब होता है—उसीको श्रवण संज्ञा दी है शास्त्रकारोंने। उस दिन उन्हें श्रुतिका श्रवण हुआ—ठीक श्रवण और अमृतत्वकी खोजमें घर-परिवार, सुख-सम्पत्ति, वैभव-विलास सब छूट गये।

पूरे तीन वर्ष हो गये उन्हें भटकते। सुना था कि हिमालय आत्मदर्शियोंका देश है। यहाँ आये तो किसीने बता दिया—'मंगोलियाके मरुस्थलमें कोई सिद्ध योगी हैं।' पैदल भटकते रहे और ऐसे भटकनेके साथ जो पीड़ा-यन्त्रणा, अभाव-अपमान अनिवार्य रूपसे प्राप्त होते हैं, सब प्राप्त होते रहे।

अपरिचित देश, अपरिचित भाषा—सभी कुछ तो अपरिचित था। न मार्गका ज्ञान और न पूछनेका साधन। अपने आप मौनव्रत चलता रहा। जब कोई अपनी भाषा समझे ही नहीं, बोलते किससे ? संकेत भी सदा समझे नहीं गये। समझ लेनेपर भी एक कंगाल भिक्षुक-

के संकेतका सर्वसाधारण कितना सम्मान करते हैं, आप क्या जानते नहीं। जिधर पैर उठा, चलते गये।

पैरोंमें छाले पड़े, बिवाइयाँ फटीं, घाव हुए; किंतु यह देह अतिशय निर्लज्ज है। सब संकट सह लेगा और सरकता रहेगा। प्रत्येक परिस्थितिके अनुरूप परिवर्तित होता रहेगा। पैरका चमड़ा इतना कड़ा हो गया क्रमशः कि काँटे भी उसमें चुभना कठिन। शरीरका वर्ण काला पड़ गया और चमड़ा मोटा हो गया।

अनेक-अनेक दिन व्रत हुए। अनेक बार प्याससे मूर्छा आयी। प्रारब्ध शेष हो तो मृत्यु आती नहीं। कोई-न-कोई निमित्त रक्षाका बन ही जाता है। उनके लिये भी निमित्त बनते रहे। कण्ठ सींचनेको जल तथा उदरकी ज्वालामें झोंक देनेको इतना ईंधन मिलता रहा कि शरीर चल रहा है।

बच्चे तो बच्चे ही हैं सभी देशोंके; किंतु अकारण ही उत्पीड़ित करनेवाले दुर्जनोंकी भी सर्वत्र बहुलता है। धूल और पत्थर मारकर जहाँ बार-बार सत्कृत होनेका अभ्यास हो गया, वहाँ समझमें न आनेवाले कर्कश शब्दोंका क्या महत्त्व था। वे कुत्सित गालियाँ हैं, जान भी लेते तो क्या बनना-बिगड़ना था। उनके देहपर थूका भी गया और गंदगी भी फेंकी गयी अनेक बार। चार बार संदेहमें स्थानीय अधिकारियोंने पिटवाया तथा कई-कई दिन कारागारमें भी रक्खा।

जहाँ मनुष्योंका ही यह व्यवहार था, कुत्ते भूँकते हैं तो क्या विचित्र बात है। लेकिन उनके किसी सदस्यने कभी काटा नहीं। मच्छर, मक्खी, कीड़े—इनका जो स्वभाव है, उसे क्षमा कर देनेके अतिरिक्त उपाय भी क्या।

'अमृतत्व क्या है? कहाँ है वह? कैसे मिलेगा?' जब पिपासा तीव्र होती है, दूसरी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं मिलता। दूसरे सब कष्ट अपने-आप उपेक्षणीय हो जाते हैं। वे न तपस्या कर रहे थे और न त्याग-तितिक्षामें उनकी निष्ठा थी। प्राणोंमें एक प्यास जाग उठी थी। उसे परितृप्त करनेके प्रयत्नमें लगे होनेसे देहकी ओर देखनेका अवकाश ही नहीं था।

'तू सहिष्णुता सीख।' इतने श्रम, इतने कष्ट-सहनके पश्चात् एक जनशून्य मरुस्थलमें अकस्मात् मिल गये एक दिगम्बर अवधूत। तेजोमय देह, जैसे शरत्कालीन चन्द्रपर धवल मेघका झीना आवरण पड़ा हो। परिचय न उन्होंने पूछा, न पूछनेका अवसर दिया। दो-तीन वाक्य कहकर मरुस्थलके अंधड़से जैसे अकस्मात् प्रकट हुए थे, वैसे ही उसमें अदृश्य हो गये। स्पष्ट संस्कृत भाषा थी उनकी—'अमृतत्व तेरे अन्तरमें ही है। अनित्य स्पर्शोंको सहन करना सीख, वह प्रकट होगा। भटकना व्यर्थ है।'

'भटकना व्यर्थ है!' यह आदेश स्वीकार करके वह लौट पड़ा था और हिमालयतक पहुँच गया था। कहाँ किधरसे आया, कौन-कौनसे प्रदेश पड़े मार्गमें, यह उसे स्वयं पता नहीं।

× × ×

'सहिष्णुता सीख!' उस अमानव-प्राय लगते अद्भुत अवधूतके शब्द मस्तिष्कमें गूँजते नहीं, घनाघात करते हैं। उसने क्या-क्या नहीं सहा है। 'अब और ऐसा क्या है, जो उसे सहना है? अभीतक उसे सहिष्णुता सीखना ही शेष है?'

जब उत्साह शिथिल होता है, समस्त श्रान्ति एक साथ दबा लेती है। इतने कष्ट, इतने अभाव, इतनी यन्त्रणामें कभी न हारनेवाला उसका चित्त आज हारने लगा है। 'अब इस हिमदेशमें अस्थियाँ गलती हों तो गल जायँ। इतना तो संतोष रहेगा कि पुण्यप्रदेशमें देहत्याग हुआ है।' वह एक हिमशिला-पर ही बैठा और फिर लुढ़क गया।

'वत्स !' अमृत-सिञ्चन करनेवाली स्निग्ध वाणी श्रवणमें पड़ी—'अमृतका पुत्र है तू। अमृतत्व तेरा स्वत्व है। उठ ! इस प्रकार पराजय स्वीकार करना तुझे शोभा नहीं देता ।'

'भगवन् !' उसने पड़े-पड़े ही नेत्र खोले और फिर हड़बड़ाकर उठा तथा चरणोंपर लुढ़क गया । पिंगलवर्ण जटाएँ मस्तकसे पादतलतक लम्बायमान थीं, भस्मभूषित देह था और नेत्रोंमें अद्भुत करुणा थी। इतनी ही वह एक झलकमें देख सका था ।

'उठ, समीप ही गुहा है । तुझे अभी उष्णता एवं आहारकी आवश्यकता है ।' सहारा देकर उन्होंने उठा दिया । वह उठकर खड़ा हो गया । चलनेकी शक्ति जान पड़ी उसे अपनेमें । उन अपरिचित कृपालुके पीछे उसे बहुत दूर नहीं जाना पड़ा ।

पर्वतके भीतर एक साधारण गुफा । उसमें सीधे खड़े होनेका अवकाश नहीं था । बैठकर ही भीतर जाना पड़ा । वहाँकी उष्णताने उसे सुख दिया । सम्पूर्ण गुफा काली हो गयी थी धुआँ लगते रहनेसे । भीतर पाषाणशिलाएँ अनेक स्थानोंपर उभड़ी थीं । एक धूनी थी मध्यमें और एक किसी हिमप्रदेशीय पशुका चर्म बिछा था ।

'वहाँ एक पार्श्वमें जलस्रोत है । तू ये कन्द ग्रहण कर ।' धूनीमेंसे मोटे-मोटे लम्बे गोल दो कन्द उन्होंने निकालकर बाहर रख दिये और बोले—'आहार करके विश्राम कर । मैं कल दिवसके प्रथम प्रहरमें आऊँगा ।'

उसने कन्द जलमें धो लिये । उसे लगा, इतना स्वादिष्ट भोजन जीवनमें पहली बार मिला है । उस चर्माम्बरपर सोया तो सम्पूर्ण रात्रि कैसे समाप्त हुई पता ही नहीं लगा । सूर्योदय होते ही नित्यकर्मसे निवृत्त होकर, गुफा स्वच्छ करके वह प्रतीक्षा कर रहा था अपने उन आतिथेयकी ।

'व्यक्तिके परिचयकी उत्कण्ठा व्यर्थ है !' आकर आसन स्वीकार करते ही उन महापुरुषने कहा—'व्यक्ति क्या ? एक चर्मावरणसे परिसीमताका प्रतीयमान भ्रम, इसके पीछे मत पड़ ।'

'हिमप्रदेशमें तुझको बहुत अधिक ग्राम मिले हैं ।' तनिक रुककर वे बोले—'मरुस्थल प्रदेशमें भी जनपद हैं । इनके निवासी तपोधन नहीं हैं, यह तू जानता है ।'

'सहिष्णुता क्या ?' उसने अब सीधे पूछ लिया ।

'हिमप्रदेशीय निवासी शीतसहिष्णु हैं और उष्णदेशीय ऊष्मासहिष्णु, किंतु हिम या ऊष्मासहिष्णु हो जाना तितिक्षा नहीं है ।' वे इस प्रकार बोलते जा रहे थे, जैसे प्रश्न उन्होंने सुना ही नहीं—'तुम्हारे पूर्वज तितिक्षा समझते थे । वानप्रस्थाश्रमी शीतकालमें शीतल जलमें आकण्ठमग्न दिवस व्यतीत करे, ग्रीष्ममें संतप्त भूमिपर बैठकर पञ्चाग्नि सेवन करे और वर्षामें मेघोंको अपना निरन्तर मूर्धाभिषेक करने दे ।'

'तितिक्षा इस जनने जानबूझकर तो नहीं की; किंतु········ ।' उसने कुछ कहनेका प्रयत्न किया; लेकिन फिर चुप हो गया ।

'तितिक्षा तप है । तप तेज एवं सिद्धिका जनक है । परंतु तप अन्तःकरणको निर्वासन नहीं करता । विक्षेपका निवारण तपका कार्य नहीं ।' वे बोलते जा रहे थे—'तप महासिद्ध बना दे सकता है, अमृतपदकी प्राप्ति नहीं करा सकता । यह कार्य सहिष्णुता करती है ।'

'सहिष्णुता ?' वह चौंका । उसे अब लगा कि उसने अबतक जो कुछ सहा है, वह तितिक्षा तो है; किंतु सहिष्णुता ? इस सहिष्णुताको तो वह अभीतक समझ ही नहीं पाया है ।

'तितिक्षा केवल एक पार्श्व है सहिष्णुताका।' उन महापुरुषने इस बार तनिक दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा था—'मात्रास्पर्श समझता है? रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—ये तन्मात्राएँ तो तू जानता ही है। तपस्वी अथवा तितिक्षु इनमें अप्रियका—दुःखका, प्रतिकूलवेदनाका आह्वान करता है। उसके उपयुक्त परिस्थिति प्रस्तुत करके उसे सहता है। अधिकांश तपस्वी शब्द और स्पर्शकी प्रतिकूलताको सह लेना ही तपकी सम्पूर्णता मानते हैं। कठोर स्पर्श, अत्यन्त शीतल या अत्यन्त ऊष्मामें शरीरको डाले रहना तथा निन्दा—अपमानको सह लेना—इतना ही तो तितिक्षाका क्षेत्र नहीं है। रूप, रस और गन्ध—इनका प्रतिकूल स्पर्श भी तितिक्षाके क्षेत्रमें ही है।'

'अब सहिष्णुता पता नहीं क्या होगी?' वह बोला तो नहीं; किंतु उसके चित्तमें प्रबल मन्थन चलने लगा। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और पाँचोंके प्रतिकूल विषयोंको सह लेनेकी बात आ गयी। मानापमान शब्द या चेष्टा-जन्य ही तो होगा। इतना सब तितिक्षा है, तपस्या है और यह सहिष्णुताका केवल एक पार्श्व है—अद्भुत बात लगती है उसे यह। जो अपरिचित महापुरुष उसके सम्मुख बैठे हैं, उन्होंने अकस्मात् बोलना बंद कर दिया है। उनके नेत्र बंद हो गये हैं। लगता है कि वे ध्यानावस्थित हो गये हैं। एक-एक क्षण उसे भारी लग रहा है। वह अत्यन्त उत्सुक हो उठा है।

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम्' मेंसे तू आधे भागको भूल क्यों रहा है? तन्मात्राओंका स्पर्श केवल दुःख ही नहीं देता, सुख भी देता है। ये स्पर्शज सुख-दुःख दोनों अनित्य हैं। दोनों आने-जानेवाले हैं, दोनोंको अविचलित अन्तःकरणसे सह लेना सहिष्णुता है।' सम्भवतः उसके अन्तर्द्वन्द्वको उन महापुरुषने जान लिया था। इसलिये इस बार उन्होंने सम्पूर्ण बात एक साथ ही कह दी—'केवल दुःख ही व्यथा नहीं देता। सुख भी एक व्यथा ही है। वह भी मनको उन्मथित करके उद्विग्न करता है। हर्षावेशरहित, उद्वेगहीन स्थिर भावसे सुखको झेल लेनेवाला साधक क्या तुझको किसी घोरतर तितिक्षु-तपस्वीसे कम महत्त्वपूर्ण लगता है?'

'ओह!' दीर्घ निःश्वास निकल गया उसके मुखसे। वह इतना चौंक गया था कि उसकी कल्पना तक करना कठिन है। तपस्वी स्थिर, नीरव, एकटक देख रहे थे उसकी ओर और उसने मस्तक झुका लिया था।

'गुरुदेव!' सहसा उसने दोनों चरण पकड़ लिये महापुरुषके।

'नहीं!' उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक उठाया। 'वज्रयानका साधक अनङ्गवज्र चाहे जितना दीर्घायु एवं प्रज्ञापारमिता भगवतीका कृपापात्र हो, तेरा पथ-दर्शक नहीं हो सकता। तू हमारे कुलका नहीं है। अपने कुलमें, अपने अधिकारानुरूप पथसे ही साधककी प्रगति होती है। भगवान् पद्मपाणिने आदेश दिया था कि उनके इस दिव्यदेशमें आये सहज तापसको मैं अपनी वाणीका आतिथ्य देकर अर्चन करूँ। मैंने यह आतिथ्यका अल्प प्रयास किया है।'

'आप अब पधारें!' उसे अवरुद्ध-कण्ठ देखकर महापुरुषने ही कहा—'आपने अनायास तितिक्षाको परिपूर्ण कर दिया है। अब अपने गृहको लौटें। सुखको सहन करनेका अभ्यास करें। सहिष्णुता जिस दिन परिपूर्ण होगी अमृतत्व तो आपका स्वत्व है ही। समदुःख-सुख धीर पुरुष सहज अमृतत्वका स्वरूप है।'

* * *

चिन्तासे बचिये !

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

एक प्रसिद्ध उक्ति है—

चिंता ज्वाल, शरीर बन, दावा लगि-लगि जाय ।
प्रकट धुआँ दीखे नहीं, उर अंतर धुँधियाय ॥

चिन्ता मनसे सम्बन्धित एक विकार है, जिसकी उत्पत्ति विशेष रूपसे मनोरम विषयके वियोगके कारण होती है । चिन्ताकी शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है । इसका वासस्थान हृदय है—जहाँ मनका भी अधिष्ठान कहा गया है; अतएव जिस मनका यह विषय है, उसीके संनिकट इसका वास भी है । तो फिर इस चिन्तारूपी आँधीके झकोरेसे मन क्यों न कम्पायमान हो ? इस मनोवेदनाके और भी बहुत-से कारण हो सकते हैं—बन्धु-वियोग, सामाजिक अप्रतिष्ठा, धन-हानि या मनकी अत्यन्त प्रिय वस्तुओं—फिर वे जीवित प्राणीवर्गकी हों या निर्जीव वर्गकी—से सम्बन्ध-विच्छेद इत्यादि ।

चिन्तित करनेवाली मनोदशाका प्रभाव प्रथम मानसिक ही हुआ करता है, पर जैसे-जैसे चिन्ताका असर गम्भीरसे गम्भीरतर होता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसके प्रभावक्षेत्रमें सम्पूर्ण शरीर आ जाता है । सम्पूर्ण शरीरके चिन्ताकी आगमें झुलसनेके पश्चात् शरीरके बाह्य और आभ्यन्तर सभी यन्त्रोंके पोषणकार्यमें रत जीवनरस सूख जाता है । ऐसी अवस्थामें तरह-तरहकी शारीरिक व्याधियोंके आक्रमणसे चिन्तातुर व्यक्ति नत होने लगता है । शोकातिसार (आमाशय नामक शरीरके मुख्य अन्तर्यन्त्रके चिन्तासे आक्रमित होनेके कारण), शोकज्वर (कफाशय और वाताशयके प्रभावित होनेसे) और शोकशोष (शरीरके पोषणकी क्रियामें रत अनेक यन्त्रोंके आक्रान्त होनेके बाद हृदय और यकृत्—इन दो आशयोंके प्रभावित होनेसे) इत्यादि दीर्घकालतक शरीरपर अपना प्रभाव रखनेवाले रोग मनुष्यको कष्ट देने लगते हैं । उपर्युक्त लोकोक्तिमें इसी कारण कहा गया है कि जैसे वनमें दावानल नामकी अग्नि* फैलकर उसे भस्मीभूत कर डालनेमें समर्थ है, उसी प्रकार चिन्तारूपी अग्निसे शरीर जलता रहता है, पर इस अग्निके जलनेपर भी शरीरमें बाहरसे कुछ विशेष माळूम नहीं पड़ता, किंतु भीतर हृदयमें उसकी लपट और धुआँ उठता रहता है ।

चैनिंग नामक एक विदेशी विद्वान्‌ने कहा है कि चिन्ता एक प्रकारसे मानसिक कायरता है, जो जीवनको जहरीला बना डालती है । सचमुच चिन्ताके द्वारा विषाक्त शरीर शीघ्र पनप नहीं सकता । कहते हैं कि शयन या निद्रा उस संजीवनीके तुल्य है, जिसके स्पर्शसे प्राणी नवजीवन प्राप्त करता रहता है; पर अत्यन्त शोकातुर व्यक्ति तो नींदकी दशामें भी अपने हृदयमें एक बोझ-सा अनुभव करता है और जागनेपर वह बोझ विशेष भारयुक्त माळूम होने लगता है । प्रायः सभी विज्ञजन यह भलीभाँति जानते हैं कि अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंके बलपर यदि इस संसारमें विभिन्न प्रकारके विकास-कार्य करने हैं और सुखमय जीवनकी ओर अग्रसर होना है तो इस चिन्तारूपी राक्षसीको अपने तन और मनसे दूर ही कर डालना श्रेयस्कर होगा । इस कार्यके लिये प्रथम मनकी तहमें प्रवेशकर अपने विवेकके द्वारा चिन्ताके मूल

---

* अग्निके मुख्य तीन भेद हैं—शरीरमें 'जठराग्नि', वनमें 'दावानल' और समुद्रके जलमें 'बड़वानल' नामक अग्निकी गति होती है ।

कारणको जानना और फिर उस कारणको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । यदि कारण सांसारिक है और उसे दूर करना सामर्थ्यके भीतर है तब तो कोई बात नहीं—उसे दूर कर ही डालना चाहिये; किंतु यदि वह मनुष्यकी शक्तिसे बाहरकी बात है तो फिर प्रभुका स्मरण कर उन्हींकी आनन्ददायिनी छायाकी आशामें आगेके विकास-कार्यमें लग धीरे-धीरे मनको चिन्ताके भारसे मुक्त कर डालना चाहिये—तभी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बना रह सकता है । स्वस्थ रहकर ही इहलौकिक और पारलौकिक साधनमें प्राणी जुट सकता है । ऊपरकी उक्तिमें चिन्ताके प्रभावसे प्रभावित मनकी दशाका दिग्दर्शन मात्र कराकर उक्तिके द्वितीय चरणमें 'दावा लगि-लगि जाय' कह मानसिक रोगोंके धीरे-धीरे शरीरमें प्रवेश, तीसरे चरणमें 'प्रकट धुआँ दीखे नहीं' कहकर रोगके गुप्त लक्षणकी ओर संकेत तथा 'उर अंतर धुँधियाय' कह चौथे चरणमें रोगके लक्षणके वासस्थानकी ओर इङ्गित कर दिया गया है ।

किसी कविने चिन्ताकी उत्कर्षता दिखानेके लिये कहा है—

चिन्ता चितासमानास्ति बिन्दुमात्रं विशेषतः ।

आशय यह है कि चिन्ता और चितामें केवल एक बिन्दुका ही भेद है, नहीं तो दोनों सम हैं; बल्कि चिताकी अपेक्षा चिन्ता और भी विशेष कष्टकर है । इसी मौकेसे सम्बन्धित एक और प्राचीन संस्कृत उक्ति है—

चिताचिन्तयोर्मध्ये चिन्ता एव बलीयसी ।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति जीवितम् ॥

भावार्थ यह कि चिता और चिन्ताकी तुलना करनेपर चिन्ता ही विशेष बलवती जँचती है; क्योंकि चिता तो निर्जीव प्राणीको ही जलाती है, पर चिन्ता तो जीवितको ही जलाती रहती है । सृष्टिके आदिसे अबतक मनुष्यकी जितनी हानि इस चिन्तासे हुई है, उतनी और किसी कारणसे नहीं हुई है। इसके कारण मनुष्यकी संतुलित बुद्धि इस प्रकार पथभ्रष्ट हो जाती है कि उसकी कल्पनातक नहीं की जा सकती । इसीने बड़े-बड़े बुद्धिवैभवपूर्ण पण्डितोंको मूर्ख बना डाला, अपनी रणधीरताके लिये विख्यात जनोंको कायर बना दिया, उत्साहसे भरपूर मानसवालेको ऐसा निरुत्साहित कर दिया कि उनकी दुनिया ही सूनी हो गयी तथा जिन्होंने बड़ी-बड़ी आशाओंके अवलम्बनसे किसी महान् कार्यका श्रीगणेश किया था, उनकी आशाओंपर एकदम इसी चिन्ताने पानी फेर डाला ।

मानव-शरीरमें इसके प्रवेशके कई मार्ग हैं । आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व जब महाभारतका युद्ध छिड़ा था, उस समय रणविद्याके महान् आचार्य गुरु द्रोणको, सेनापतिपदसे, घमासान युद्धक्षेत्रमें ही इसी चिन्ता राक्षसीने ही मूर्च्छित कर उनके मुखसे 'हा पुत्र !....' का आर्त्तनाद करवाकर प्राणहरण कर लिया था । वस्तुतः शोक है क्या ? यह शरीररूपी वृक्षके अनेक फलोंमेंसे एक फल है । लिखा है—

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्मपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥

यानी रोग, शोक (चिन्ता), परिताप (कम्प और उष्णता इत्यादि रोगका एक भेद), बन्धन और व्यसन (शराब, दुराचारिता एवं जुए आदि दुर्गुण)—ये सभी शरीररूपी वृक्षके फल हैं ।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[अङ्क ९, पृष्ठ ११९२ से आगे]

अष्टम तरंग

प्रभु-स्तवन

(९१)

कंस-केशी-कंदन सुखपुंज,
कृष्ण, केशव हे कलिमलकदन !
कल्पतरु कलित कलाके कुंज,
कष्टहारी करुणाके सदन ॥
कार्यके कारण, कर्ता कर्म,
कालके काल, कृपाकी कोर ।
करो, करुणामय करुणासिन्धु,
कृपाकर कलि-कलेशोंकी ओर ॥
कलामय करा-कराके कथा-
कीर्तनका कलिहारी गान ।
कर्ण-कुहरोंको करो कृतार्थ—
कमल-कर करें सदा कल्यान ॥
कलाधर कल्मष कोटि, करोड़—
करें कातर कर क्रोध कराल ।
कल्पना कविताके कल्लोल—
करोंमें लो करुणा करवाल ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९२)

मदनमोहन माधव मनहरण,
तरण-तारण दुखहरण ललाम ।
वेणुधर गिरधर नटवर मधुर,
चक्रधर दामोदर सुखधाम ॥
व्रजेश्वर व्रजपति व्रजके प्राण—
त्राण व्रजजीवनके, व्रजराज ।
रसेश्वर रासविहारी रसिक-
शिरोमणि रासेश्वर रसराज ॥
मुरारी मदमोचन मधुरेश,
मधुप, मनके मधुमय मकरन्द ।
सलौने मुरलीधर चितचोर,
विहारी माखनचोर मुकुन्द ॥
अच्युतम् नारायण वसुदेव
श्रीमतीलक्ष्मी-पति श्रीराम ।
राम राघव रघुपति रघुराज
रमापति राधावर घनश्याम ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९३)

ओम् तत् सत् पुरुषोत्तम पूर्ण,
विनायक सिद्ध बुद्ध गोविन्द ।
सत्य सविता रवि पावक शक्ति—
अमृतमय अनुपम आनँदकन्द ॥
विष्णु विधि शेष महेश सुरेश,
विधायक व्यापक अजर अछेद ।
भुवनपति, अमर, अनन्त अनादि—
सच्चिदानन्द अखण्ड अभेद ॥
विश्वपति विश्वरूप विभु प्रभो !
विश्वके पालक पोषक काल ।
विश्वव्यापक हे विश्वाधार—
विश्वजित् विश्वेश्वर प्रतिपाल ॥
सनातन ईश्वर अज अनवद्य,
पूज्य वन्दित जग एक त्वमेव ।
जयति जय अकाल निर्भय, आत्म-
लिंग शिव जगदीश्वर जगदेव ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९४)

नटेश्वर नँदनन्दन नटराज,
व्रजनिधे गोपीपति गोपेश ।

व्रजपते व्रजभूषण व्रजभूप
व्रजविहारी व्रजराज व्रजेश ॥
यशोदासुवन देवकीलाल,
सखा ग्वालोंके प्राणाधार ।
कन्हैया कालीनाग नथैया,
छैया मैयाके सुकुमार ॥
रचैया रास, चरैया गऊ,
हरैया सुरपतिका अभिमान ।
बसैया व्रजके प्यारे कृष्ण—
बजैया वंशीके भगवान ॥
चुरैया मन, छलवैया प्राण,
बचैया व्रजके हे सुखकन्द ।
चरणमें विनयावनत प्रणाम—
जयति जय वृन्दावन-व्रजचन्द ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९५)

जानकीजीवन श्रीरघुवीर,
रुक्मिणीपते राधिकाराध्य ।
कंस-विध्वंसक निशाचरारि—
द्वारिकानाथ सिद्धिके साध्य ॥
देवकीनन्दन यदुपति विमल,
केसिहा कंस धेनुकारिष्ट ।
धनुर्धर रामचन्द्र रघुवंश-
शिरोमणि राघव राम वरिष्ट ॥
रघुपते रावणारि रघुनाथ,
जानकीवल्लभ हनुमन्तेश ।
शंखधर श्रीपति श्रीविधि श्याम,
द्रौपदीरक्षक हे भुवनेश ॥
जयति जय गोकुलेश लोकेश—
पतितपावन कृपालु कमलेश ।
पद्मलोचन कामोद अनंग,
दयामय दयानिधे हृदयेश ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९६)

भास्करपति त्रिभुवनपति हरी,
भूमिपति जगत्पते जगदीश ।
गर्वमोचन, गोवर्धननाथ,
गरुड़गामी गरुड़ध्वज ईश ॥
कंसरिपु दैत्यशत्रु प्राणेश,
जनार्दन जयति प्रणतजन-बन्धु ।
विश्वमय विश्वनाथ भयहरण,
भक्तजन-वत्सल करुणासिन्धु ॥
दीनबन्धू गोलोकाधीश,
अधम-उद्धारक नन्दकुमार ।
चक्र-पाणे मधुकैटभ-शत्रु—
त्रिलोचन चन्द्रमौलि सुखसार ॥
चन्द्रशेखर गंगाधर शंभु,
उमापति भव त्रिपुरारि महेश ।
पशुपते सदानन्द परमात्म-
पूर्णतम शक्तिरूप परमेश ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा—
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९७)

पूर्ण आनन्द सुधांशु गिरीश,
यशोवर पद्मनाभ प्रतिपाल ।
इन्दिरावर मायापति ब्रह्म
वरद श्रीबद्रीनाथ विशाल ॥
शान्त-आकार पुण्डरीकाक्ष
शेषशायी नीलाभ शुभेश ।
पीत-पट-धर मुरलीधर रसिक
राधिकारंजन रमण रमेश ॥
जयति जय हृषीकेश गुणपुञ्ज—
गुणार्णव गुडाकेश गुणसदन ।
विमल वनमाली अम्बुजनयन
हरण मन कोटिकोटि-शत मदन ॥

हृदयकी गति, प्राणोंके प्राण,
स्वरोंके स्वर, वाणीके बोल ।
उषाके अरुण, साँझके मिलन,
धराके धीरज अडिग अडोल ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा--
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९८)

वेदकी ऋचा, ऋचाके छन्द,
छन्दके भाव, भावकी भक्ति ।
भक्तिके ध्येय, ध्येयके गेय,
गेयके नेह, नेहकी शक्ति ॥
सुमनकी सुरभि, सुरभिके स्वाँस,
स्वाँसके प्राण, प्राणके तार ।
तारके सूत्रधार आधार,
प्रकृतिकी गतिके शुचि करतार ॥
ज्ञानके विषय, विषयके सार,
सारके तत्त्व, तत्त्वके रूप ।
रूपके राग, रागके भोग,
भोगके मोह, विछोह अनूप ॥
योगकी रीति, रीतिके साध्य,
साध्यके साधन सत्यं शिवम् ।
नियतिके निर्माता, निर्लेप--
नियमके नियमन सुन्दर शुभम् ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा--
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(९९)

कामकी आग, क्रोधकी ज्वाल,
लोभकी लुभन, मोहकी चुभन ।
घृणाकी गन्ध, द्वेषका ताप,
अहंका भय, मत्सरकी जलन ॥
चाल छलकी, स्वारथकी बात,
झूठका साथ, कपटकी घात ।
विषयकी रति, भोगोंके स्वाद,
वासनाओंके कटु आघात ॥
नियमका भंग, पापका संग,
ढोंगके भेष, कलहकी बान ।
विरोधी भाव, अपूर्ण सुझाव,
बेरुखे बोल, बेसुरी तान ॥
अहैतुक दया भावसे विभो !--
मिटाया सब अबतक जिस तौर ।
हटाना नहीं प्रेमकी बाँह--
सहारा नहीं मुझे कुछ और ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा--
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(१००)

निराश्रय, दीन, निपट निरुपाय,
निलम्बित, निश्चित निरावलम्ब ।
पड़ा हूँ भवसागरमें कृष्ण !
उबारो देकर करावलम्ब ॥
न उरसे पलभर भी हों दूर
तुम्हारे नील सरोरुह चरण ।
न क्षणभर पड़े हृदयको चैन
भूलकर तुमको तारणतरण ॥
तुम्हारे प्रेमामृतमें पगें--
श्वास, कर प्राण तुम्हींको वरण ।
निरन्तर करें बने मदहोश
तुम्हारे मधुर नाममें रमण ॥
प्राणमें प्रणतपाल प्राणेश,
प्राणवल्लभ ओ मेरे करुण ! ।
युगल छबि मधुरा सबमें छकीं,
उमंगें लहरें हर क्षण तरुण ॥
मनसुखा भैयाके गोपाल,
गोपिकावल्लभ राधारमण ।
बरसती रहे कृपाकी घटा--
सदा ऐसे ही अशरणशरण ॥

(समाप्त)

दो भक्तोंके प्रिय भजन

श्रीगोपालबाबाका प्रिय भजन

वीतराग तपोनिष्ठ श्रीभगवन्नामामृत-रसिक श्रीगोपाल बाबा अभी हालमें ही एक बहुत बड़े महात्मा हो चुके हैं। आपका शरीर गुजराती था और आप मेड़ाघाट (जब्बलपुर) के महात्मा श्रीरामस्नेहीजीके प्रिय शिष्य थे। आपका नामानुराग एवं संकीर्तनप्रेम अटूट था। देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें आपने संकीर्तनका प्रचार-प्रसार किया और भक्तिका रस बरसाया। अन्तिम दिनों आप काठमाण्डू (नेपाल) में पशुपतिनाथ और गुह्येश्वरीके दर्शनोंके लिये आये थे और वहीं शरीर त्यागकर समाधि ली। आपके बनाये अनेक भजन हैं, जिनमेंसे उनका एक परमप्रिय भजन नीचे दिया जा रहा है।

खातिर कर ले नई गुजरिया,
रसिया ठाढ़ो तेरे द्वार॥ रसिया०॥
ये रसिया तेरे नित्य न आवै
प्रेम होय तब दरसन पावै।
अधरामृतको भोग लगावै
कर मेहमानी अब मत चूके,
जीवन है दिन चार॥ खातिर०॥
हिरदेकी चौकी कर हेली
नेहकी चन्दन चरच नवेली।
दीक्षा ले बन जइयो चेली,
पुतरिन पलँग बिछाय
पलककी कर ले बंद किवाड़॥ खातिर०॥
जो कछु रसिया कहै सो करियो
सास ननदको डर परिहरियो।
सोलह कर बत्तीस पहिरियो
कर ले दान सूमकी सम्पत
मन भरि मोद अपार॥ खातिर०॥
सब सों तोड़ नेहकी डोरी
जमना पार उतर चल गोरी।
निधड़क खेलो करियो होरी
श्याम रंग चढ़ जाय जा दिना
हो जाय बेड़ा पार॥ खातिर०॥

श्रीडूंगरसीदासजीका प्रिय भजन

रतनगढ़ (बीकानेर) निवासी श्रीडूंगरमलजी लोहिया एक बड़े ही सरल आस्तिक पुरुष थे। इनका कारोबार तिनसुकिया (आसाम) में था, परंतु ये सच्चे भक्तिभावसे अपना जीवन-यापन करते रहे। गौ-ब्राह्मणोंके प्रति इनमें अटूट श्रद्धा थी। सत्संग, साधुसेवन और भजन ही आपका प्राण था। रतनगढ़में पूज्य श्रीभाईजीके सत्संगमें ये प्रायः निम्नलिखित भजन भावविभोर होकर करतालपर गाया करते थे। जीवनके अन्तिम दिनोंमें ये काशीमें विश्वनाथ-अन्नपूर्णाके सांनिध्यमें रहने लगे थे और सदाव्रत चलाया करते थे। वहीं हरिस्मरणपूर्वक आपने शरीर त्याग किया।

मन तू क्यों पछतावै रे।
सिरपर श्रीगोपाल बेड़ा पार लगावै रे॥ मन०॥
निज करनीको याद करे जब जिया घबरावै रे।
प्रभुजीकी महिमा सुन-सुन मनमें धीरज आवै रे॥मन०॥
जो कोई अनन्य मनसे हरिको ध्यान लगावै रे।
उसके घरको योग-क्षेम हरि आप निभावै रे॥मन०॥
जो मेरे अपराध गिनो तो (प्रभु) अंत न आवै रे।
ऐसे दीनदयाल चित्तपर एक न लावै रे॥मन०॥
शरणागतकी लाज तो सब ही ने आवै रे।
वो तीन लोकको नाथ लाज मेरी नहीं गमावै रे॥मन०॥
पतित उधारन बिरद आपको बेद बतावै रे।
मोय गरीबके काज आज वे तुरत सिधावै रे॥मन०॥
महिमा अपरम्पार तो सुर-नर-मुनि गावै रे।
ऐसे नन्दकिशोर भगतकी त्रास मिटावै रे॥मन०॥
वे हैं रमानिवास भगतकी ओड़ निभावै रे।
तू मत होय उदास कृष्णको दास कहावै रे॥मन०॥

रविशंकरके पुनर्जन्मका वृत्तान्त

(लेखक—श्रीप्रकाशजी परिमल एम्० ए०)

कहते हैं कि कन्नौजके छिपट्टी जिलेमें १९ जनवरी १९५१ ई०को श्रीजागेश्वरप्रसाद नाईके छ:वर्षीय पुत्र मुन्नाको खेलते समय दो हत्यारे पड़ोसियोंने जबर्दस्ती अलग ले जाकर चाकूसे निर्दयतापूर्वक मार डाला। कहा जाता है कि मुन्ना श्रीजागेश्वरप्रसाद नाईका इकलौता पुत्र था और हत्यारोंद्वारा उसके इस प्रकार मारे जानेका कारण श्रीजागेश्वरप्रसाद नाईके पास काफी सम्पत्तिका होना था। मुन्नाके समाप्त हो जानेके पश्चात् श्रीजागेश्वरप्रसादका कोई कानूनी वारिस नहीं रह जाता था और ये हत्यारे ऐसी अवस्थामें उनकी सम्पत्तिपर अपना अधिकार जमा सकते थे। कहा जाता है कि ये हत्यारे श्रीजागेश्वरप्रसादके मित्रोंमेंसे थे और इनमेंसे एक उनका सजातीय नाई था तथा दूसरा धोबी।

जिन बच्चोंने इन दोनों व्यक्तियोंको मुन्नाको ले जाते हुए देखा था उनकी गवाहीपर इनको पकड़ लिया गया और इनमेंसे एकने अपराध स्वीकार भी कर लिया; किंतु अन्य कोई गवाह न होनेसे मामला खारिज कर दिया गया और हत्यारोंको छोड़ दिया गया। मुन्नाका कटा हुआ सिर और कपड़े श्रीजागेश्वरप्रसादद्वारा पहचान भी लिये गये थे।

इसके कुछ महीने बाद श्रीजागेश्वरप्रसादको सूचना मिली कि एक लड़का अपने आपको छिपट्टी जिलेका रहनेवाला तथा वहाँ हत्यारोंद्वारा मारा गया श्रीजागेश्वरप्रसादका पुत्र बताता है। रविशंकर नामका यह लड़का हत्यारोंके नाम, हत्याकाण्डके स्थान तथा उस सम्बन्धमें घटी घटनाओंकी विस्तृत जानकारी देने लगा। रविशंकर अपने माँ-बापसे भी पूर्वजन्ममें अपनेद्वारा काममें लाये जानेवाले खिलौनोंके लिये भी बार-बार आग्रह करता रहता था। उसके बाद जब लड़का पाँच सालका हुआ तो पूर्वजन्ममें की गयी उसकी हत्याकी विस्तृत जानकारी उसके अध्यापकद्वारा अपनी डायरीमें अङ्कित की गयी।

जब श्रीजागेश्वरप्रसादने इस सम्बन्धमें सुना तो वे ३० जुलाई १९५५ को बालकके पिता श्रीबाबूराम गुप्तके घर पूरी जानकारी प्राप्त करनेके लिये आये। उनके इस प्रकार वहाँ आ जानेसे श्रीगुप्त अत्यन्त चिन्तित हो गये। उन्हें डर था कि कहीं श्रीजागेश्वरप्रसादद्वारा उनका लड़का उनसे छीन न लिया जाय। इसलिये वे श्रीजागेश्वरप्रसादसे बातचीत करनेके लिये भी राजी न हुए। फलतः श्रीजागेश्वरप्रसादको किसी प्रकार खुद ही मिन्नत करके रविशंकरकी माताजीसे मिलना पड़ा। इन्होंने इनको लड़केसे मिलनेकी इजाजत दे दी। श्रीजागेश्वरप्रसादके कथनानुसार लड़केने कुछ ही समयकी बातचीतके पश्चात् उन्हें पूर्वजन्मके पिताके रूपमें पहचान लिया और मुन्नाके जीवनसे सम्बन्धित कुछ अन्य घटनाएँ भी बतलायीं।

उसके बाद रविशंकरके परिवारवालोंद्वारा बालकको श्रीजागेश्वरप्रसादके यहाँ छिपट्टी जिलेवाले मकानमें पूर्वजन्म-सम्बन्धी घटनाओंके अभिज्ञानके लिये ले जाया गया। वहाँ जानेपर बालकने मुन्नाके जीवनसे सम्बन्धित अनेक वस्तुओंको पहचाना तथा स्थान बताये।

लेकिन तदनन्तर श्रीगुप्तद्वारा इस सम्बन्धमें कोई बातचीत करनेसे ही बालकको मना कर दिया गया तथा बालकद्वारा यदा-कदा पूर्वजन्म-सम्बन्धी कोई बयान दिये जानेपर उसे पीट भी दिया जाता था। इस तरह बालकके मनमें यह भय बैठा दिया गया कि यदि वह पूर्वजन्मसे सम्बन्धित कोई बात जब कभी भी करेगा तभी उसे पीटा जायगा। फलतः बालक उन घटनाओंके सम्बन्धमें बोलनेसे स्वभावतः हिचकिचाने लगा और शनैः-शनैः उन्हें भूलनेकी कोशिश भी करने लगा। इसी बीच बालकको श्रीगुप्तद्वारा एक सालके लिये किसी सम्बन्धीके यहाँ जिलेसे दूर भेज दिया गया और

दुर्भाग्यवश उसके कुछ ही समय बाद श्रीगुप्ताका देहावसान भी हो गया।

रविशंकरके जीवनमें उसके पूर्वजन्मसे सम्बन्धित एक और महत्त्वपूर्ण भय देखनेको मिला। जब कभी भी वह अपने पूर्वजन्मके कथित हत्यारोंमेंसे किसीको भी देख लेता है, वह अत्यन्त बुरी तरहसे डर जाता है। रविशंकरके चेहरेपर भी कुछ ऐसे दाग दिखायी देते हैं जो असामान्य हैं। रविशंकरने इन सब चिह्नोंको अपने पूर्वजन्मके समय की गयी हत्याके चिह्न बताया है।

इस घटनाके प्रति पूर्ण विश्वस्त हो जानेपर श्रीजागेश्वरप्रसादने 'चतुरी' तथा 'जवाहर' नामक दो व्यक्तियोंपर नये सिरेसे हत्याका मुकदमा दायर करनेकी कोशिश भी की, लेकिन न्यायालयने रविशंकरको उस घटनासे किसी भाँति सम्बन्धित न पाकर उस मुकदमेकी स्वीकृति प्रदान नहीं की।

रविशंकरके पुनर्जन्मकी घटनासे सम्बन्धित कुछ तथ्य

अनेक गवाहोंके प्रमाणीकरणसे यह बात जाहिर होती है कि जाँचसे पूर्व गुप्ता और नाई परिवारवालोंका परस्पर कोई सम्पर्क अथवा सम्बन्ध नहीं हुआ था। सन् १९५५ में रविशंकरद्वारा बतायी जानेवाली बातोंको जानकर ही श्रीजागेश्वरप्रसादने सर्वप्रथम गुप्ता-परिवारसे सम्पर्क किया था। जब कि यह बात प्रकट थी कि कन्नौजके अन्य निवासियोंकी भाँति गुप्ता-परिवारको भी चार वर्ष पूर्व की गयी मुन्ना नामक एक बालककी निर्मम हत्या हो जानेकी सूचना थी।

शोधकर्ताओंद्वारा यह बात भी मालूम की गयी कि रविशंकरके परिवारके सदस्य मुन्नाके हत्याकाण्डके बारेमें बातचीत करने तकसे इनकार करते हैं। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह है कि न तो वे रविशंकरको किसी कानूनी मामलेमें फँसाना चाहते हैं और न वे यह सहन कर सकते हैं कि पूर्वजन्मकी स्मृतिके कारण रविशंकर जागेश्वरप्रसादके पास जाकर रहने लग जाय। इन दो बातोंके अध्ययनसे यह तथ्य प्रकट होता है कि रविशंकरको अपने परिवारके सदस्योंद्वारा उक्त घटनाके बारेमें जानकारी दी जानी सम्भव नहीं है। दूसरे, रविशंकरद्वारा बताये गये खिलौने तथा अन्य वस्तुएँ ऐसी विस्तृत जानकारी हैं जिनके बारेमें रविशंकरके परिवारवालोंको पता होना सम्भव नहीं लगता। रविशंकरद्वारा अपने परिवारके बाहरके वातावरणसे मुन्नाके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करना असम्भव नहीं लगता, लेकिन यह बात यों गलत सिद्ध हो जाती है कि जब वह तीन सालका ही था तभीसे मुन्नाके विषयमें बोलना उसने आरम्भ कर दिया था। एक गवाहके अनुसार तो रविशंकरने ये बातें लगभग दो वर्षकी अवस्थासे ही बतानी शुरू कर दी थी। इस उम्रके बच्चेका निश्चय ही अपने मकानसे बाहर जाना भारतवर्षमें सम्भव नहीं है। इसके अलावा भी जागेश्वरप्रसादका मकान श्रीगुप्ताके मकानसे डेढ़ मीलकी दूरीपर पहाड़ियोंके उस पार स्थित है और ३-४ सालके बच्चेका इन पहाड़ियोंको पार करके वहाँ जाना बहुत कठिन है।

इस घटनाके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुनर्जन्म-सम्बन्धी खोजके सिलसिलेमें गुप्ता-परिवारवालोंकी ओरसे रुचि न दिखायी जाकर घटनाका पता लगनेपर श्रीजागेश्वरप्रसादने स्वयं अपना उत्साह दिखाया। रविशंकरके परिवारवाले तो उन घटनाओंके स्मरण मात्रसे उसे पिटाईकी धमकी दे दिया करते थे। इसके बावजूद भी रविशंकर अपने पूर्वजन्मकी चर्चा पड़ोसियोंसे किया करता था, जिसके कारण ये बातें शनैः-शनैः श्रीजागेश्वरप्रसादके कानोंतक भी पहुँचीं। श्रीजागेश्वरप्रसाद भी इस आशामें कि अब मुन्नाके हत्यारोंका अपराध सिद्ध हो सकेगा, रविशंकरके पिता श्रीगुप्तासे मिलनेके लिये आये।

रविशंकरके चेहरेपर जन्मसे जो चिह्न हैं वे भी इस बातका संकेत करते हैं कि वे उसकी पूर्वजन्ममें की गयी हत्याके ही चिह्न हों। स्वयं रविशंकर इन चिह्नोंको हत्याके चिह्न ही बताता है। इस तरह रविशंकरके इस वृत्तान्तमें अनेक ऐसे तथ्य हैं जो रविशंकरका तादात्म्य पूर्वजन्ममें मुन्नाके साथ जोड़ देनेमें काफी सहायक हैं।

परामनोविज्ञान-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर वैज्ञानिक रीतिसे बिना किसी पूर्वाग्रहके ऐसे वृत्तान्तोंके शोधमें अभी संलग्न है अतएव इस प्रकारकी घटनाओंके सम्बन्धमें यदि कोई जानकारी देना चाहें तो विभाग उनका स्वागत करता है। पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर किया जा सकता है—

प्रो० हेमेन्द्रनाथ बनर्जी, संचालक परामनोविज्ञान-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, राजस्थान

गोरक्षा-अभियान

(लेखक—पं० श्रीविश्वम्भरप्रसाद शर्मा, मन्त्री, भारत गोसेवक-समाज, दिल्ली)

वेदमें गौका महत्त्व

भारतवर्षमें अनादि कालसे गोवंशको वन्दनीय और रक्षणीय माना गया है। 'गो' शब्दके श्रवण मात्रसे हमारा हृदय गद्गद हो जाता है और हमारे अन्तस्तलसे करुणाका स्रोत उमड़ पड़ता है। गो हमारे धर्म और संस्कृतिका प्रतीक तथा हमारे राष्ट्रका जीवन-प्राण है। भारतकी अर्थ-व्यवस्था सदा गो-केन्द्रित रही है। गोवंश भारतका सर्वस्व है।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥
(ऋग्वेद ८। १०१। १५)

वेदोंने गायको माता, पुत्री और बहिनके रूपमें सम्बोधित करके बड़े-से-बड़ा स्नेह और आदर प्रदान किया है। गायकी हत्या तो दूर पदाघातद्वारा भी उसका अपमान करनेवाले तकका समूल नाश करनेकी भावना व्यक्त की है। वेदोंमें गौको १२१ स्थानपर 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) कहा गया है और गोहत्यारेको प्राणदण्ड देनेका आदेश किया है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो सो अवीरहा ॥
(अथर्ववेद १। १६। ४)

भारतीयोंने गोरक्षाके लिये बलिदान करना सदा अपना कर्तव्य समझा। सम्राट् दिलीप, महर्षि वशिष्ठ, महर्षि जमदग्नि और वीर अर्जुनने गोरक्षाके लिये अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर यह प्रमाणित किया कि राष्ट्रके लिये गौका कितना महत्त्व है। मुस्लिम आक्रमणकारी जन भारतीय सेनाओंको परास्त न कर सके तो उन्होंने गायोंको अपने आगे कर लिया ताकि राजपूत-सेनाएँ गौओंपर गोली न चलानेके कारण परास्त की जा सकें। वीर राजपूतोंने पराधीनता स्वीकार की परंतु गौओंके ऊपर शस्त्र नहीं उठाया। पंजाबके नामधारी सिखोंने गोरक्षाके लिये अंग्रेजोंकी तोपोंके सामने अपने सीने खोल दिये। ब्रिटिश शासनमें गोहत्याके कारण अनेक स्थानोंपर उपद्रव हुए जिनमें बहुत लोगोंके प्राण गये।

देशके महापुरुषों और राष्ट्रनेताओंने सदा गोहत्याका विरोध किया। महर्षि स्वामी दयानन्दजीने आजसे सौ वर्ष पहले 'गोकरुणानिधि' पुस्तक लिखकर गोहत्याको बंद करनेकी ओर जनता तथा सरकारका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने तीन करोड़ भारतीयोंके हस्ताक्षर कराके महारानी विक्टोरियाके पास गोहत्या बंद करनेके लिये आवेदन किया। स्वामीजीने कहा कि 'गौ आदि पशुओंका नाश होनेसे राजा और प्रजा दोनोंका नाश हो जाता है।'

कांग्रेसके नेताओंने गोहत्याका सदा विरोध किया। लोकमान्य तिलकने तो यहाँतक कहा कि 'स्वराज्य मिलनेपर हम ५ मिनिटके भीतर भारतमें कानूनद्वारा गोहत्या बंद कर देंगे।'

महात्मा गाँधीजीने खिलाफतकी लड़ाईमें मुसल्मानोंका इसीलिये साथ दिया ताकि उनके सहयोगसे गोरक्षा हो सके। गाँधीजी गोरक्षाके प्रश्नको स्वराज्यसे बड़ा प्रश्न मानते थे। उन्होंने यह कहा कि 'मेरे नजदीक मनुष्य-वध और गोवध—दोनों एक चीज हैं।' गाँधीजीने देशके तमाम

बूढ़े और लूले-लँगड़े पशुओंकी रक्षा करना सरकारकी जिम्मेदारी बताया था। संत विनोबा भावेजीने नवम्बर १९५२ में कहा है—

‘इस देशमें गोहत्या नहीं चल सकती। गाय और बैल हमारे समाजमें दाखिल हो गये हैं। सीधा प्रश्न यह है कि आपको देशका रक्षण करना है या नहीं ? यदि करना है तो गोवध भारतीय संस्कृतिके अनुकूल नहीं आता, इसका आपको ध्यान करना चाहिये। गोहत्या जारी रही तो देशमें बगावत होगी। गोहत्या-बंदी भारतीय जनताका मैण्डेट (Mandate) या लोकाज्ञा है और प्रधान मन्त्री महोदयको इसे मानना चाहिये।’

गोवंशसे राष्ट्रीय आय

सरकारी विशेषज्ञों और राष्ट्रीय आय कमेटीके अनुसार १९५१ और ५४ की स्थितिके अनुसार देशको गोवंशसे १९६१ करोड़ रुपयेकी आय हुई। डा० केहरके अनुसार तो यह आय ३००० करोड़ होती है। इस तरह देशकी समस्त राष्ट्रीय आयका एक चौथाई हमें गोवंशसे मिलता है।

एक दूध देनेवाली गाय जिसका वजन १००० पौंड हो, सालभरमें १२ टन गोबर और मूत्र देती है। गायके गोबर और मूत्रसे बनी खाद सर्वश्रेष्ठ होती है। इस गोबर और मूत्रका मूल्य २८ डालर है।

गायका दूध अमृतके समान होता है जो मनुष्यको वीर्यवान् और दीर्घजीवी बनाता है। प्राचीनकालमें गायका दूध और घी खा करके ही भारतीय मेधावी और बलशाली बनते थे। गायके पुत्र बैलोंद्वारा खेती होती है, जिससे हमें अन्न तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं। इस तरह गाय हमारे लिये ईश्वरीय वरदान है। हमारे राष्ट्रका सर्वस्व है।

स्वतन्त्र भारतमें गोहत्या बढ़ी

यह स्वप्नमें भी आशंका न थी कि स्वराज्य मिलनेपर भी भारतके मस्तकपर गोहत्याका कलंक लगा रहेगा। परंतु स्वतन्त्र भारतमें अंग्रेजी शासनकी अपेक्षा कहीं अधिक गोहत्या होती है। अंग्रेजी शासनकालमें १९४६-४७में जब पाकिस्तान हमारे साथ था—७,४५,००० बछड़े और गायोंकी खालोंका विदेशोंको निर्यात हुआ। १९५१-५२में यह संख्या बढ़कर ६४,२०,१२४ हो गयी और १९५५-५६में ८०,७०,०६३ तक जा पहुँची। उसके बाद तो देशमें सरकारी नीतिके कारण गोहत्या और बढ़ी है। हमारा अनुमान है कि भारतमें आज प्रतिदिन ३० हजार गोवंशकी हत्या होती है। दुर्भाग्य यह देखिये कि यद्यपि भारतमें संविधानकी धारा ४८में साफ तौरपर गोहत्या बंद करना राज्यकी नीति निर्देशित किया गया है परंतु सरकार इस ओरसे आँखें बंद किये हुए है !

जनताका बढ़ता हुआ असंतोष

स्वतन्त्र भारतमें गोहत्याको बढ़ावा देनेकी सरकारकी नीतिसे जनतामें भारी असंतोष है। भारतका संविधान बननेके बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघकी ओरसे करोड़ों हस्ताक्षरोंसे गोहत्या बंद करानेके लिये राष्ट्रपतिजीके पास आवेदन किया गया। पचास हजार सभाओंमें प्रस्ताव पास करके सरकारसे गोहत्या-बंदी-कानून बनानेकी माँग की गयी; परंतु सरकारने कोई सुनवाई न की।

सरकारकी गोहत्या जारी रखनेकी नीतिके खिलाफ पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजीके नेतृत्वमें कलकत्ता और बम्बईमें सत्याग्रह हुआ। गोरक्षा-आन्दोलनके प्राण स्व० लाला हरदेव-सहायजीने गोहत्या-निरोध-समितिकी स्थापना कर देशव्यापी आन्दोलन किया और पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके सहयोगसे उत्तरप्रदेश और बिहारमें सत्याग्रह किया। इस आन्दोलनके फलस्वरूप कई प्रदेशोंमें गोहत्या-बंदी-कानून बने। सुप्रीमकोर्टके हस्तक्षेपके कारण ये कानून अधूरे हैं। इनके द्वारा केवल गाय और बछड़े-बछड़ियोंकी हत्या बंद है। परंतु १५ वर्षकी आयुके ऊपरके बैल और साँड़ोंकी हत्या जारी है। इन अधूरे कानूनोंके कारण उपयोगी पशु भी मारे जाते हैं और अवैध गोहत्याको प्रोत्साहन मिलता है। ये अधूरे कानून भी उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, पंजाब आदिमें ही हैं। महाराष्ट्र, मद्रास, आंध्र, उड़ीसा आदि प्रान्तोंमें तो गायकी हत्या भी जारी है।

गोरक्षा-अभियानको सफल बनाइये

पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने गतवर्ष वृन्दावनमें एक वर्षका गोव्रत धारण किया था। इसमें श्रीब्रह्मचारीजी प्रतिदिन जमुनापार गौएँ चराते थे। केवल टाटका ही परिधान धारण करते थे और अल्प मात्रामें गोदुग्ध सेवन करते तथा गौओंके मध्यमें ही सोते थे। ब्रह्मचारीजीकी

तपश्चर्याका गोरक्षा-आन्दोलनके लिये लाभ लेनेकी दृष्टिसे भारत गोसेवक-समाजने अगस्त १९६४ में अखिलभारतीय गोरक्षा-सम्मेलनका आयोजन किया । इस सम्मेलनमें देशके उन सभी दलोंको निमन्त्रित किया जो गोरक्षण-आन्दोलनसे सम्बन्धित थे या उससे सहानुभूति रखते थे । सम्मेलनकी अध्यक्षता सुप्रसिद्ध गोसेवी उद्योगपति श्रीगजाधरजी सोमानीने की । स्वागताध्यक्ष कलकत्तेके गोभक्त सेठ रामप्रसादजी राजगढ़िया थे । सम्मेलनका उद्घाटन भारतके लोकप्रिय हिंदू नेता परम पूज्य गुरुजी (श्रीगोलवलकरजी) ने किया था ।

इस सम्मेलनने एक प्रस्तावद्वारा सरकारसे यह माँग की है कि गोपाष्टमी सं० २०२२ तक समग्र देशमें कानूनद्वारा सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या बंद कर दी जाय । जबतक कानून न बने, तबतक एक अध्यादेश निकालकर गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाया जाय । यदि आवश्यक हो तो इसके लिये संविधान-में संशोधन किया जाय । सम्मेलनने यह भी निश्चय किया है कि यदि सरकार यह माँग स्वीकार न करे तो देशसे गोहत्याका कलंक हटानेके लिये शान्तिमय प्रजातान्त्रिक आन्दोलन सत्याग्रह आदि आरम्भ किया जाय । इसके लिये गोरक्षा-अभियानके २० लाख सदस्य बनाये जायँ और उनसे १ रुपया सदस्यता-शुल्क लिया जाय । सदस्यता-शुल्क तथा अन्य सहायताके रूपमें २० लाख रुपये एकत्र किया जाय । जिससे देशभरमें गोरक्षा-अभियान चलाया जा सके ।

देशके प्रभावशाली सज्जनोंके एक शिष्टमण्डलने २२ फरवरी १९६५को प्रधानमन्त्री श्रीलालबहादुरजी शास्त्रीसे भेंट की और वृन्दावन-सम्मेलनके निश्चयानुसार गोहत्या-बंदी कानून बनानेकी माँग की । एक आवेदनपत्र श्रीप्रधानमन्त्रीजीको भेंट किया गया । प्रधानमन्त्रीजीने यद्यपि सहानुभूतिके साथ शिष्टमण्डलकी बातें सुनीं; परंतु उन्होंने कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया । यह शिष्टमण्डल राष्ट्रपतिजी एवं खाद्यमन्त्रीजीसे भी मिला ।

आशा और निराशाका वातावरण

हमारा शिष्टमण्डल मिलनेके बाद प्रधानमन्त्री श्रीलालबहादुरजी शास्त्रीने हैदराबादमें अ० भा० गोसंवर्धन-सम्मेलनका २१ मार्च १९६५ को उद्घाटन किया । अपने भाषणमें प्रधानमन्त्रीजीने गोरक्षा-आन्दोलनके प्रति अपनी सहानुभूति अवश्य व्यक्त की और कहा कि गोरक्षाके सम्बन्धमें करोड़ों लोगोंकी जो भावनाएँ हैं, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । उनका उत्तर सहानुभूतिपूर्ण था; परंतु उन्होंने सरकारकी ओरसे कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही । यहाँतक कि देशमें कई स्थानोंपर यान्त्रिक कसाईखाने बनानेकी जो घातक योजनाएँ हैं और जिनका देशमें घोर विरोध है, उनके स्थगित करनेकी भी घोषणा नहीं की ।

जनता बलिदानके लिये तैयार हो

सरकारकी जो वर्तमान मनःस्थिति है और कांग्रेसके नेताओंकी परिस्थिति है, उसे देखते यह आशा बहुत ही क्षीण है कि सरकार देशमें एक केन्द्रीय कानूनद्वारा सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या बंद कर देगी । यद्यपि प्रजातन्त्रीय शासनका यह कर्तव्य है कि वह प्रजाकी भावना और आकाङ्क्षाओंका आदर करे । लेकिन आजका शासन राजनीतिकी ऐसी दलदलमें फँसा है कि उससे हम कोई निर्भीक कदम उठानेकी आशा नहीं कर सकते । शासन जब अकर्मण्य हो और अपने कर्तव्यका पालन करनेमें असमर्थ हो तो प्रजाको वैधानिक रूपसे अपनी आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिके लिये आन्दोलन करनेका अधिकार है ।

अतः गोभक्त जनताको वृन्दावन-सम्मेलनके आह्वानके अनुसार गोहत्याके कलंकको मिटानेके लिये कमर कसकर मैदानमें कूद पड़ना चाहिये । इस आन्दोलनको चलानेके लिये पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीकी अध्यक्षतामें एक केन्द्रीय गोरक्षा-अभियान-समिति गठित की गयी है । यह समिति समय-समयपर आन्दोलनके लिये आदेश देगी । पूज्य ब्रह्मचारीजी इस समय गोरक्षा-अभियानके सिलसिलेमें देशका भ्रमण कर रहे हैं ।

गोरक्षा-अभियानके सदस्य बनिये

उक्त आन्दोलनको चलानेके लिये देशमें २० लाख सदस्य बनाये जा रहे हैं । इन सदस्योंसे एक-एक रुपया सहायता प्राप्त की जा रही है । प्रत्येक गोभक्तको एक रुपया देकर गोरक्षा-अभियानका सदस्य बनना चाहिये । गो-सेवी कार्यकर्ता गो-रक्षा-अभियानके सदस्य बनानेके लिये **भारत-गोसेवक-समाज ३ सदर थाना रोड, दिल्ली ६** से रसीद-बही मँगवा लें । यह २० लाख सदस्य अविलम्ब बनने चाहिये । गोसेवी कार्यकर्ताओंको स्थान-स्थानपर सदस्य बनानेमें जुट जाना चाहिये । गोरक्षा-अभियानके सदस्य बननेमें लोग कितना उत्साह दिखाते हैं । इससे उनकी गोभक्ति और

गोरक्षाके लिये बलिदान एवं त्याग करनेकी याचनाका पता चलेगा।

सत्याग्रही बनिये

गोरक्षा-अभियानके सदस्य बनानेके साथ २५ हजार सत्याग्रही भी भर्ती करने हैं, जो केन्द्रीय गोरक्षा-अभियान-समिति-का आदेश मिलते ही सत्याग्रह करनेके लिये तैयार रहें। गोमाता आज बलिदान चाहती है और बलिदान दिये बिना गोहत्याका कलंक दूर न होगा।

[उपर्युक्त लेख छपते-छपते यह समाचार मिला है कि पाकिस्तान युद्धके कारण देशकी वर्तमान परिस्थितिमें सब लोगोंको मिलकर सरकारकी सहायता करनी चाहिये और देशमें ऐसा कोई भी आन्दोलन नहीं करना चाहिये, जिससे सरकारको जरा भी दूसरी चिन्ता हो। अतएव 'गोरक्षा-अभियान'का कार्य अनिश्चित कालके लिये स्थगित कर दिया गया है।

—सम्पादक]

* * *

पराम्बाकी अनुपम अनुकम्पा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भावुकोंने पराम्बा जगज्जननी सीताको विशुद्ध कृपा-का रूप माना है। यों भी शक्तिको मूर्तिमान् कृपा अथवा ब्रह्मकी कृपाका सजीव विग्रह कहा गया है। यथा—

चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा।
(मार्क० ८४)

शौरिश्चकास्ति हृदयेषु शरीरभाजां
तस्यापि देवि हृदये त्वमनुप्रविष्टा।
पद्मे तवापि हृदये प्रथते दयेयं
त्वामेव जाग्रदखिलातिशयां श्रयामः॥

अर्थात् समस्त प्राणधारियोंके हृदयमें भगवान्, उनके हृदयमें देवी लक्ष्मी और उनके हृदयमें दया-ही-दया है, अतः हम देवीका ही आश्रय लेते हैं।

कहते हैं करुणामूर्ति सीतादेवीके सामने न होनेसे ही निरपराध बेचारे वालीकी जान गयी, अधिक क्या, एक स्त्रीकी भी (ताड़काकी) हत्या हो गयी—

त्वय्येवाश्रयते दया रघुपते देवस्य सत्यं यतो
वैदेहि त्वदसंनिधौ भगवता वाली निरागा हतः।
निन्ये कापि वधूर्वधं तव तु सांनिध्ये त्वदङ्गव्यथां
कुर्वाणोऽप्यभितः पतन्न शरणः काकोऽविवेकोज्झितः॥

और हे सीते! तुम्हारे साथ होनेपर तो तुम्हारे ही शरीरमें चारों ओरसे चोट पहुँचानेवाले मूर्ख जिसे शरणागत होनेका भी शऊर न था, उस काककी भी किसी प्रकार रक्षा हो गयी। (पद्मपुराण उत्तरखण्ड २४२। २०७ के अनुसार काक अलग ही गिर पड़ा था। देवीने उसे रामके चरणोंसे झट लगा दिया था।) इसी प्रकार तत्काल आर्द्र—ताजे अपराध करनेवाली राक्षसियों-की जान बचाकर तो मानो तुमने महामहिम रामकी भी देवोत्तर गोष्ठीको तिरस्कृत कर दिया—

मातर्मैथिलि! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता॥
(गुणरत्नकोश ५०)

यहाँ पराशर भट्टारकके इस मार्मिक निवेदनका तात्पर्य (संकेत) वाल्मीकिरामायणके युद्धकाण्ड ११३ वें सर्गकी कथासे है। भगवान् रामकी आज्ञासे अशोकवाटिका-में जाकर हनुमान्‌जीने सीताजीसे लंकाविजयका समाचार सुनाया तो सीताजी बहुत प्रसन्न हुई और आनन्दविभोर होकर कुछ भी बोल न पायीं। इस प्रकार उन्हें मौन देख हनुमान्‌जी कहने लगे—'देवि! आप क्या सोच रही हैं, बोलतीं क्यों नहीं?' इसपर सीताजीने कहा कि 'तुम्हारे पुरस्कारयोग्य कुछ वस्तु खोज रही थी। पर सार्वराज्य भी इसके बदलेमें कम दीखा, तब चुप रह

गयी ।' हनुमान्‌जीने कहा कि 'वह तो रामको विजयी देखते ही मिल गया, पर अब यदि आप वर देना चाहती हों तो अपने कष्ट देनेवाली राक्षसियोंके वधकी आज्ञा दें ।' इसपर देवी बोली—'ऐसा मत कहो । यह तो सब दैवी ही गति थी । इनके तर्जनमें रावण ही कारण था । इन बेचारी पराधीन दासियोंका उसमें क्या दोष था । देखो, अब उसके मरनेपर ये बेचारी कुछ नहीं कहतीं । अतः मेरा यही निश्चय है कि पूर्वजन्मके कर्मफल तथा इस जन्मके दशायोगसे यह सब मुझे भोगना ही था । देखो, इस विषयमें एक पुराना पुराणशास्त्रोक्त धर्ममय वचन है, जिसे एक भालूने बाघके सामने कहा था, उसे तुम सुनो[1]—

अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणो धर्मसंहितः ।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवङ्गम ! ॥
न परः पापमादत्तं परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः ॥
(११३ । ४३-४४)

'पापका परिणाम प्राणी स्वयं ही भोगता है । अतः सत्-पुरुष पापका बदला पापसे कभी नहीं चुकाते । वे तो अपने ही शील-सदाचार और व्रतप्रतिज्ञाका निर्वाह करते हैं । वस्तुतः शील ही सत्पुरुषोंका भूषण है ।'

शीलं सतां भूषणम् । (भर्तृहरि० १ । ८२)

अतः वध्य तथा पापी जीवोंपर भी आर्यपुरुषको दया ही करनी चाहिये; क्योंकि इस संसारमें भला ऐसा कौन है, जिससे कभी अपराध न बन पाया हो ? और जब हम सभी कम-वेशी अपराध करनेवाले हैं ही तो हम किसीको दण्ड क्यों दें—

न कश्चिन्नापराध्यति ॥ (वाल्मी० रामा० ६ । ११३ । ४७ तथा ४ । ३६ । ११)

भगवती सीताके इस कथनपर हनुमान्‌जी आश्चर्यविमुग्ध रह गये और पुनः स्वस्थ होकर कहने लगे—देवि ! श्रीरामके अनुरूप ही तुम उनकी पत्नी हो । तुम्हारे गुणोंकी सीमा नहीं है ।[2]

---

१. यह कथा कितने ही ग्रन्थोंमें मिलती है । सबका सार इस प्रकार है—एक बार एक राजपुत्र अनेक अपशकुनों तथा विद्वानोंकी सम्मतियोंकी परवाह न कर आखेटके लिये गहन वनमें चला गया । वहाँ एक मृगका अनुगमन करता हुआ वह एक महान् अरण्यके निविडतम भागमें जा पहुँचा और थककर घोड़ेको एक वृक्षमें बाँध उसीके नीचे आराम करने लगा । इतनेमें ही बाघकी आहट पाकर घोड़ा रस्सी तोड़ भाग गया । राजकुमार भयसे वृक्षके ऊपर चढ़ गया । वहाँ भी ऊपर एक भालू था, जिसे देखकर वह अत्यन्त डरकर घबरा गया । भालूने उसे सान्त्वना दी और शान्त निर्भीक होकर वहाँ आराम करनेकी सम्मति दी । वृक्षसे गिरनेके भयसे उसने राजपुत्रको अपनी गोदमें ही सुला लिया । उसके सो जानेपर बाघने भालूसे कहा कि 'हम दोनों तो वन्य जीव हैं । यह राजकुमार वन्य प्राणियोंका शत्रु है, तुम उसे गिरा दो और मैं इसे खाकर चला जाऊँ ।' पर भालूने उसकी बात नहीं मानी । राजकुमारके जगनेपर बाघसे सावधान रहनेको कहकर भालू भी वृक्षकी एक शाखा पकड़कर सो गया । अब बाघने राजकुमारको बहकाना आरम्भ किया और भालूको गिरानेको कहने लगा । उसकी बातोंमें आकर राजकुमारने भालूको गिरा दिया । पर शाखा-प्रशाखा-ग्रहण-कुशल होनेके कारण वह बीचमें ही एक डालके सहारे रुक गया । इसपर जब बाघने पुनः भालूसे राजकुमारको गिरानेको कहा तब भालूने उपर्युक्त **'न परः'** आदि वचन कहा था । बादमें भालूने उसे अपनी पीठपर नगरतक पहुँचा दिया । पर अपने कर्मसे उसे 'ससेमिरा' पिशाच लग गया । पुनः एक विद्वान्‌द्वारा 'सद्भावप्रतिपन्नानां', 'सेतुं गत्वा समुद्रस्य' आदि चार श्लोक पढ़नेपर वह स्वस्थ हुआ ।

२. (क) हनुमान्‌जीकी इस तुलनाका कारण यहाँ यह अनुमित होता है कि विभीषणके शरणागत होनेपर हनुमान्‌जीको छोड़कर उनके ग्रहणका सभीने विरोध किया था । पर भगवान् रामने एक कपोतकी कथा तथा कण्डु ऋषिद्वारा गायी गयी गाथाका पठनकर हनुमान्‌जीका समर्थन किया और विभीषणकी शरणागति स्वीकार कर ली थी । उनके वचन थे—

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥
(६ । १८ । २४)

इस महात्मा कपोतकी कथा महाभारत शान्तिपर्वके १४३ से १४९ अध्याय, ब्रह्मपुराणके ८०वें अध्याय तथा स्कन्द-

इस प्रकार ये कारुण्यसमुद्रकी सीमा देवी दुष्ट रावणको भी रामसे मित्रता कर प्राण-रक्षाका उपदेश देती हैं—

विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः ।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥
(वा० सुन्दर० २१ । २०)

इसीलिये गोस्वामीजी महाराज भी 'कबहुँक अंब अवसर पाइ ।' आदि कई पदोंसे इनकी शरण लेते हैं । वस्तुतः ऐसी वात्सल्य-कारुण्य-सागरा——निजाम्बाकी शरणके बिना प्राणीका श्रेय कैसे हो सकता है ? यह तो भारी चूक है, अतः इनके ही चरण परम शरण्य हैं ।*

◆

पुराणके ब्रह्मखण्ड एवं पञ्चतन्त्र [काकोलुकीय ८] आदि अनेकानेक स्थलोंपर प्राप्त होती है । अनुमानतः भगवान् श्रीरामने अपनी गोदावरी-यात्रामें ब्राह्मणोंद्वारा इस कथाको वहाँ तत्काल ही सुना होगा । यों भी पुराणोंमें ब्रह्मपुराणको आदिपुराण माना जाता है । अतः यहाँ उसका ही सार दिया जाता है ।

गोदावरी नदीके निकटवर्ती ब्रह्मगिरिपर एक भयंकर व्याध रहता था । एक दिन आखेटसे जब वह वापस आ रहा था तो भीषणतम झंझावात तथा मूसलाधार वृष्टिके कारण वह मार्गमें ही बेहोश होकर गिर पड़ा । वहीं एक वृक्षपर वह कपोत महात्मा रहता था । उसकी कपोती भी व्याधके पिंजड़ेमें थी और कपोत उसकी चिन्तामें सोचता हुआ उसकी प्रशंसा कर रहा था । कपोतीने कहा कि 'अपनी प्रशंसा सुनकर मैं कृतार्थ हो गयी, किंतु आज तो आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करें । यह देखिये, आज आपके यहाँ एक अतिथि आये हैं और वह अब शीतार्त होकर मरना ही चाहते हैं ।' कपोत महात्मा स्वाभाविक धर्मात्मा था । वह तत्काल उड़ा और कहींसे थोड़ा-सा सूखा तृण तथा अग्निको चोंचसे उठा लाया । उससे अग्नि प्रज्वलित कर उसने व्याधको तपाया । जब व्याध होशमें आया तो कबूतरीने कपोतसे कहा कि 'महाभाग ! अब आप मुझे किसी प्रकार आगमें डालकर अतिथिका भोजन-सत्कार करें; क्योंकि यह क्षुधा-दावानलमें जल रहे हैं और सौभाग्यसे मांसभक्षी हैं ।' पर कपोतने स्वयं ही भगवान् नारायणका ध्यानकर अग्निमें प्रवेश किया । अबतक किसी प्रकार व्याधको भी सद्बुद्धि आ गयी थी । वह कपोतद्वारा अपनी प्राणरक्षा तथा आतिथ्यका रहस्य सब समझ गया था । उसे सच्चा पश्चात्ताप हुआ और उसने लाठी, जाल और पिंजड़ा आदि सब कुछ फेंक दिया । कबूतरीको भी छोड़ दिया । छूटते ही कबूतरी भी अपने पतिका ध्यानकर अग्निमें कूद पड़ी । इसी समय आकाशमें दो विमान आ गये और दोनों ही कपोतदम्पति उसपर बैठकर स्वर्ग चले ।

व्याध यह सब देख रहा था । उसने कहा——'महात्मन् ! इस प्रकार शरणागतका परित्याग ठीक नहीं । आप मुझे नरकमें छोड़कर चले जायँ, यह आपके अनुरूप न होगा ।' इसपर कपोतने उससे एक मासतक माघमें गोदावरी-स्नान करनेको कहा । गोदावरी-तटपर जहाँ यह घटना घटी थी, वह 'कपोततीर्थ'के नामसे विख्यात है । व्याध भी पीछे मुक्त हो गया । कपोततीर्थपर आज भी जो स्नान आदि करता हुआ कपोत महात्माका स्मरण करता है, उसका भाव पलट जाता है । वहाँ किया गया जप-तप-स्नान-दान-यज्ञ-श्राद्ध सब अक्षय होता है ।

शीलसंरक्षणमें महाभारत आपद्धर्मके अन्तमें राजधर्मा पक्षीकी कथा भी इसी प्रकारकी है । वह कथा विस्तृत तथा कई अध्यायोंमें है । पाठकोंको उसे महाभारत-अङ्क अथवा किसी महाभारतमें ही देखना चाहिये । उसने पुनर्जीवन प्राप्त होनेपर अपनी हत्या करनेवालेका भी परम कल्याण किया था । साधु और बिच्छूकी भी प्रसिद्ध कथा इसी प्रकार है ।

(ख) इनके वात्सल्यादि गुणोंकी सीमाका निर्देशक आचार्य रामानन्दका निम्नस्थ पद्य बड़ा सुन्दर है—

ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जगच्चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणवात्सल्यसीमा च या ।
विद्युन्पुञ्जसमानकान्तिरमितक्षान्तिःसुपद्मेक्षणा दत्तान्नोऽखिलसम्पदो जनकजा रामप्रिया सानिशम् ॥ (वैष्णव-मताब्जभास्करः)

* कृपाको धर्मकी माता माना है विष्णु, मत्स्यादि पुराणोंमें । (कहीं-कहीं हरिवंशादि पुराणोंमें श्रद्धाको भी धर्मकी माता माना है ।) अतः धर्मोत्पत्तिका स्थान भी आप ही हैं । यों स्वयं आपका वाल्मीकि आदि रामायणोंमें बार-बार कथन है—

'धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥' (वाल्मी० २ । ३९ । २८)

पाकिस्तान-चीन-संघर्षमें हमारा कर्तव्य तथा विजय और विश्वशान्तिके साधन

काश्मीर तो भारतका है ही, पर सत्य तो यह है कि सारा पाकिस्तान ही विशाल भारतका एक खण्ड है, पृथक् देश नहीं । विदेशी कूट राजनीतिज्ञोंके असत्परामर्शको मानकर भारतने अपने ही अंशको पृथक् देश मान लिया और उसका पाकिस्तान नाम स्वीकार कर लिया—यही सबसे बड़ी भूल हुई । पाकिस्तानका पृथक् अस्तित्व ही आजकी इस विपत्तिका कारण है । भारत अखण्ड रहता तो, न तो भारतपर उसके किसी खण्डके द्वारा आक्रमण ही होता और न चीनको धमकी देने तथा ब्रिटेन एवं अमेरिकाको कूट राजनीतिक चाल चलनेका ही अवसर मिलता और यह निश्चित समझना चाहिये कि जबतक पाकिस्तानका पृथक् अस्तित्व रहेगा, तबतक न तो भारत-पाकिस्तानका युद्ध वस्तुतः बंद होगा और न विश्वमें ही शान्ति होगी । अतएव भगवान्पर विश्वास रखकर भारत तथा पाकिस्तान—दोनोंकी प्रजाके कल्याणके लिये पाकिस्तानका पृथक् अस्तित्व मिटानेका प्रयत्न करना होगा । यह धर्म है और इसीमें एक ही देशमें भूलसे दो पृथक् माने हुए देशोंमें बसनेवाले मनुष्योंका यथार्थ हित है ।

इसके लिये किया जानेवाला संघर्ष धर्मसंगत है; क्योंकि इसमें सबकी कल्याणकामना है और वस्तुतः इसमें कोई हिंसा नहीं है । हम अपने ही पिता, पुत्र, भाई, पत्नी, माता आदिके किसी अङ्गमें सड़न पैदा हो जानेपर उसका आपरेशन करवाते हैं । एक-एक फुट लंबा अङ्ग काट दिया जाता है, अंदरकी नस-नाड़ियाँ, हड्डी-पँसलियाँ निकालकर फेंक दी जाती हैं । सड़े हाथ-पैर काटकर अलग कर दिये जाते हैं—इसलिये कि सारे शरीरमें विष न फैल जाय । तो जैसे यह आपरेशन करनेवाला सर्जन छूरा चलानेपर भी हिंसा नहीं करता और जैसे डाक्टरको इस कार्यमें प्रवृत्त करानेवाले उस रोगीके घरवाले—स्वजन-लोग हिंसा नहीं करवाते; इसी प्रकार विराट् अङ्गमें जहाँ-कहीं दूषित व्रण होकर उसमें मवाद भर जाता है, वहाँ उसका आपरेशन किया-कराया जाता है—उसके हितके लिये ही, प्रेमकी प्रेरणासे ही, सुख पहुँचानेके लिये ही । इसीलिये धर्मयुद्ध कल्याणकारक तथा सौभाग्यका सूचक माना गया है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

× × ×

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥
(गीता २ । ३१-३२, ३७)

'क्षत्रियके लिये ऐसे धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर कल्याणकारक और कुछ भी नहीं है । अर्जुन ! अपने-आप प्राप्त हुए, स्वर्गके खुले द्वाररूप इस प्रकारके युद्धका प्राप्त होना सुख-सौभाग्यवान् क्षत्रियोंके लिये ही है । अर्जुन ! इस युद्धमें तेरी मृत्यु होगी तो तुझे स्वर्ग मिलेगा और विजय होनेपर पृथ्वीका भोग प्राप्त होगा । अतएव तू युद्धका निश्चय करके खड़ा हो जा ।'

किसीका अहित सोचकर, मनमें वैर-बुद्धि रखकर, हिंसावृत्तिसे युद्ध करना धर्म नहीं है, जैसा कि पाकिस्तानके अधिकारी आज कर रहे हैं । परंतु हित तथा प्रेमबुद्धिसे, मनमें किसी प्रकारकी भी हिंसाकी भावना न रखते हुए युद्ध करना धर्म है और धर्म तथा न्यायकी रक्षाके लिये इस धर्मका सम्पादन करना ही चाहिये और विषयभोगोंमें आसक्ति, आशा, ममता, कामनाका परित्याग करके, समस्त कर्मोंको भगवान्में समर्पण तथा सर्वकालमें भगवान्का स्मरण करते हुए, भगवदर्पित मन-बुद्धिसे धर्मयुद्धमें प्रवृत्त होनेपर तो वह

उच्चकोटिका अध्यात्म-साधन बन जाता है और उसके फलस्वरूप मानवजीवनकी चरम और परम सिद्धि भगवत्प्राप्ति हो जाती है। मनुष्य अपने परम ध्येयको प्राप्त कर लेता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(गीता ३ । ३०)
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८ । ७)

'अर्जुन! तू मुझमें मनको जोड़कर सब कर्मोंका मुझमें ही भलीभाँति त्याग करता रह (मेरी पूजाके लिये ही कर्म कर)। भोगोंकी सारी आशा, प्राणी-पदार्थोंकी ममता तथा कामनासे होनेवाले संतापको त्यागकर युद्ध कर और इसलिये सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण कर तथा (मेरी पूजारूप धर्म-) युद्ध कर। यों मन-बुद्धि मुझ (भगवान्) में अर्पण कर देनेपर तू निस्संदेह मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होगा।' अस्तु,

पाकिस्तानसे युद्धविराम हुआ है—केवल हवाई हमले रुके हैं, गोले-गोलियोंका चलना तो अभी चालू है ही; और पता नहीं, कब युद्ध छिड़ जाय। यही स्थिति चीनी-मनोवृत्तिकी है। अतएव भारतको सदा प्रस्तुत रहना है। इस बार भारतने जिस शौर्य-वीर्य-साहसका विलक्षण परिचय दिया है, वह सर्वथा सराहनीय है तथा हमारे तरुण सैनिकोंने महान् बलिदान करके जो देशका गौरव बढ़ाया है, वह पूर्णतया अभिनन्दनीय है। इसी प्रकार आगे भी हमें पाकिस्तानको अपने मनसे शत्रु न मानकर, उसके हितकी दृष्टिसे ही सतत सजग तथा क्रियाशील बने रहना है।

अहिंसाके नामपर कई बार मनुष्य कायरता तथा क्लैब्यको आश्रय दे बैठता है। अर्जुनमें भी ऐसी ही क्लीबता दिखायी दी थी, तब भगवान्ने कहा था—'अर्जुन! इस विषम समयमें तेरे हृदयमें यह अनार्योंचित—कायरोंके द्वारा आचरित, स्वर्ग-सद्गतिका विरोधी तथा अकीर्ति करनेवाला क्लैब्य कहाँसे आ गया? यह क्लीबता तेरे योग्य नहीं है। परंतप! हृदयकी इस दुर्बलताका त्याग करके तू युद्धके लिये उठ खड़ा हो।'

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥
(गीता २ । २-३)

असलमें अहिंसा वीरोंका धर्म है, दुर्बलहृदय कायरोंका नहीं। कायरकी अहिंसा तो विवशताकी अहिंसा होगी। ऐसा मनुष्य मनमें तो हिंसानलसे जलता रहेगा और बाहर अपनी दुर्बलता और कायरताको छिपानेके लिये अहिंसाकी दुहाई देगा। भारत युद्ध नहीं चाहता, मानवताके विनाशपर तत्पर पाकिस्तान-चीनकी आसुरी दुरभिसंधिके कारण ही भारतपर यह युद्ध लद गया है। ऐसी अवस्थामें अहिंसा तथा शान्तिके नामपर आसुरी शक्तिसम्पन्न समुदायको आसुरी हिंसाके विस्तारमें सुविधा देना, अहिंसा तथा शान्तिका उत्पादक तो होगा ही नहीं, उलटा शान्तिका विघातक होगा और होगा आसुरी शक्तिके विस्तारमें सहायक! आसुरी शक्तिके विस्तारका अर्थ है—पापका प्रसार और उसका अवश्यम्भावी फल है—'चिन्ता, चित्तकी विभ्रान्ति, काम-क्रोध-परायणता, पाप, दुःख और नरक।'

मानवताके विघातक अधर्म, अन्याय, पाप, दुराचार, अनाचारसे सम्पन्न आसुरी आक्रमणके लिये सन्नद्ध आततायीका प्रतिरोध—प्रतिकार न करना निश्चय ही पापको प्रोत्साहन तथा प्रश्रय देना है और एक प्रकारसे अहिंसाके मूलपर कुठाराघात करना है; क्योंकि पापकर्मा असुर यदि विजयी हो जायगा तो वह यथासाध्य विश्वभर-में क्रूर हिंसाका विस्तार कर निर्दोष प्राणियोंके

रक्तकी नदी बहा देगा। अतः उसका प्रतिरोध—प्रतिकार ही नहीं, उसकी आसुरी वृत्तिका सर्वथा विनाश कर देना मानवमात्रके लिये ही नहीं, विश्वके समस्त प्राणियोंके लिये कल्याणकर है। इसीमें अहिंसा है और यही उस समयका कर्तव्य तथा धर्म है।

इसी प्रकार यदि चीन भारतपर बर्बरतापूर्ण आक्रमण करे तो उसका भी हितसाधन करनेके लिये भारतको चाहिये कि भगवान्‌की कृपाके बलपर अपना शौर्य-वीर्य-साहस बढ़ाकर चीनकी आसुरी शक्तिका भी ध्वंस कर दे और उसे पवित्र बौद्ध-विहारस्थली तिब्बतसे भी बाहर निकाल दे। इसीमें उसका, भारतका तथा विश्वका हित है।

हमारी भारत सरकार इस कार्यमें उत्साहपूर्वक लगी रहे, भारतको पूर्णरूपसे विजय प्राप्त हो एवं अखिल विश्वका कल्याण हो, इसके लिये सबको यथायोग्य, यथारुचि, यथासाध्य निम्नलिखित भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक कार्य करने चाहिये।

सेना तथा उपयोगी शस्त्रबलका अधिक-से-अधिक निर्माण और संग्रह। आधुनिक उपयोगी शस्त्रास्त्रोंका निर्माण तथा आयात। पूर्ण सावधानी-सजगताके साथ विरोधी राष्ट्रकी गतिविधिका निरीक्षण तथा ज्ञान। पहलेसे ही उसकी दुरभिसन्धिका पता लगाकर उसकी गतिको रोक देना।

आक्रमणकी सम्भावना होते ही आक्रमण कर देना, जिससे उसकी आक्रमणकी योजना ही नष्ट हो जाय।

जनताका उत्साह तथा मनोबल बढ़े; देशके तरुणोंमें आत्मबलिदान तथा प्रसन्नचित्त एवं गौरवबुद्धिसे प्राण अर्पण, धनियोंमें धनदान, व्यापारियोंका आवश्यक वस्तुओंमें सुविधादान, श्रमिकोंमें श्रमदान और विद्वानोंमें उद्बोधन-दान आदिकी भावना तथा क्रिया बढ़ें; माताएँ तथा पतिव्रता पत्नियाँ हँसते-हँसते अपने पुत्रों-पतियोंको विजय या वीरगतिकी प्राप्तिके लिये रणाङ्गणमें भेज दें—इसके लिये यथायोग्य प्रचार, साहित्य-प्रकाशन आदि कार्य करना।

सारे राजनीतिक, सामाजिक मत-भेदोंके रहते हुए ही सबको एकमत और एक मनसे इस महान् कार्यकी सिद्धिमें लग जाना चाहिये।

कांग्रेसी सत्ताधारियोंका आपसी स्वार्थजनक विरोधोंको भूलकर इसी कार्यमें पूर्णरूपसे लग जाना।

भारतकी रक्षाका भार सचमुच हिंदूपर ही है और हिंदू ही इस कार्यको सुचारु रूपसे कर सकता है। इस सिद्धान्तको हृदयङ्गम कर हिंदूपर विश्वास करके हिंदूको अधिक अवसर देना और हिंदूके द्वारा ही सब कुछका रक्षणावेक्षण तथा संचालन कराना चाहिये। इसीमें सुरक्षा है।

यह सत्य अब छिपाया नहीं जा सकता कि भारतके सभी प्रदेशोंमें और अधिकांश नगरों-गाँवोंमें पाकिस्तान तथा चीनके साथ सहानुभूति एवं प्रीति रखनेवाले और भारतके साथ विश्वासघात करनेवाले बहुत-से लोग हैं। इनका पाकिस्तान-चीनके साथ सम्बन्ध है और ये भारतको अपना देश न मानकर पाकिस्तानको मानते हैं तथा पाकिस्तानकी केवल विजय ही नहीं चाहते, पाकिस्तानको हर तरहकी अनर्गल अवैध सहायता भी पहुँचाते रहते हैं। इनसे विशेष सावधान रहनेकी तथा इनके लिये दण्डविधानकी भी आवश्यकता है।

अमेरिका तथा यूरोपके राष्ट्रों एवं एशिया आदिके सभी राष्ट्रोंसे यथासाध्य प्रेम बढ़ाना तथा उनसे यथासम्भव सहानुभूति-सहायता प्राप्त करनी चाहिये। पर ऐसा भी न होना चाहिये कि उनकी चालमें आकर हम कहीं अपने भारतवर्षका कोई नुकसान कर बैठें।

अमीर-गरीब सभीको चाहिये कि इस विकट समयमें सभी लोग सभी ओरसे सरकारके साथ यथासाध्य पूर्ण सहयोग करें तथा समराङ्गणमें वीरगतिको प्राप्त हमारे तरुण वीरोंके परिवारवालोंकी सेवा-सहायता करें। इसके

अतिरिक्त, घायल सैनिकोंकी यथासाध्य उपयोगी सेवा करके उनको हार्दिक सहानुभूति प्रदान कर संतुष्ट करें ।

व्यापारी मुक्तहस्तसे सरकारको धन-दान दें तथा सरकार भी व्यापारीवर्गपर विश्वास करे और उनके लिये व्यापारमें विशेष सुख-सुविधा प्रदान करे ।

सरकार कानूनके द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्षमें गोवध तुरंत बंद कर दे तथा हिंसापूर्ण नवीन कसाईखानोंकी सारी योजनाओंको तुरंत रद्द कर दे ।

विश्वशान्ति तथा भारतविजयके लिये नीचे लिखे अनुसार कार्य यथासाध्य करने चाहिये—

१—हिंदू (सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध, सिख) पारसी आदि सभी लोग अपनी-अपनी रुचि तथा विश्वासके अनुसार धर्मसेवन, पवित्र आचरण, संयम, सेवा आदिके साथ-साथ परम विश्वासपूर्वक भगवत्प्रार्थना करें । प्रार्थनामें बहुत बड़ी चमत्कारमयी अमोघ शक्ति है ।

२—वेदाध्ययन, वेदपारायण, धर्मग्रन्थपाठ, विष्णुयाग, रुद्रयाग, गायत्री-पुरश्चरण, रुद्राभिषेक, रुद्रीपाठ, महामृत्युञ्जयका जाप, पुराण-पाठ आदिके अधिक-से-अधिक आयोजन हों ।

३—माता भगवतीकी कृपा प्राप्त करनेके लिये 'दुर्गासप्तश्लोकी' 'देव्यथर्वशीर्ष' दुर्गासप्तशतीका 'चतुर्थ अध्याय, 'एकादश अध्याय' तथा 'सिद्धकुञ्जिका-स्तोत्र'का पाठ करें-करावें तथा 'नवार्णमन्त्र'का यथासाध्य जप करें ।

सम्पुटके मन्त्र ये हैं—

(क) यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च न हि वक्तुमलं बलं च ।
सा चण्डिकाखिलजगत्परिपालनाय
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥

(ख) या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥

(ग) देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य ।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य ॥

(घ) देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीते-
र्नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः ।
पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु
उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान् ॥

(ङ) शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

(च) सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥

(छ) सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि ।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम् ॥

(ज) शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके ।
घण्टास्वनेन नः पाहि चापज्यानिःस्वनेन च ॥

(झ) सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

(ञ) रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र ।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम् ॥

४—श्रीमद्भागवतके सप्ताहपारायण अधिक-से-अधिक किये-कराये जायँ । वाल्मीकिरामायणके नवाह्नपारायण या सुन्दरकाण्डके पाठ किये-कराये जायँ । निम्नलिखित सम्पुट दिये जायँ तो अच्छा है ।

श्रीमद्भागवतमें सम्पुट—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

श्रीवाल्मीकिरामायणमें सम्पुट—

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

५–श्रीरामचरितमानसके मासिक, नवाह, अखण्ड या यथारुचि यथासाध्य जिनसे जितना हो सके, पाठ करें-करावें।

निम्नलिखित सम्पुट दिये जायँ तो अच्छा है—

(१) राजिवनयन धरें धनु सायक।
भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

(२) जपहिं नाम जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(३) दीन दयाल बिरद संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥

(५) गरलसुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

६–गौओंको चारा, घास, भूसा, दाना खिलाया जाय।

७–गरीब, रोगी, दीन, बाढ़ या अकालपीड़ित, विधवा स्त्री, अनाथ बालक, विद्यार्थी आदिकी सेवा-सहायता की जाय।

८–श्रीनारायण-कवच, अमोघ शिवकवच, रामरक्षा-स्तोत्र और संकटनाशनविष्णुस्तोत्रका पाठ संस्कृत जाननेवाले लोग स्वयं करें तथा करावें।

९–और कुछ भी न हो तो—

अपनी रुचि तथा श्रद्धाके अनुसार श्रीशंकरजीके 'नमः शिवाय,' भगवान् विष्णुके 'हरिः शरणम्' और श्रीगणेशजीके 'गं गणपतये नमः' मन्त्रका जप करें-करावें। भगवन्नामका कीर्तन अधिक-से-अधिक किया-कराया जाय।

षोडशनाम मन्त्र—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' का यथासाध्य जाप करें।

अष्टग्रहीके समय देशभरमें अनुष्ठान हुए थे। उनका विचित्र फल हुआ तथा गत चीनके आक्रमणके समय भी 'कल्याण' में सूचना निकलते ही जगह-जगह भगवदाराधन तथा देवाराधन होने लगा था। इस बार भी विशेषरूपसे होना चाहिये। इसका निश्चय ही बड़ा शुभ परिणाम होता है। *

५ अक्टूबर, १९६५ **हनुमानप्रसाद पोद्दार**

* * *

---

* 'कल्याण'के गत १०वें अङ्कमें भगवदाराधन तथा देवाराधनके लिये देशवासियोंसे अनुरोध किया गया था। हर्षका विषय है कि कई जगह यह पवित्र कार्य प्रारम्भ हो गया है। हमारे पास बहुत-सी सूचनाएँ आयी हैं। विष्णुयाग, सहस्रचण्डी आदिके आयोजन हो रहे हैं। अखण्ड नाम-कीर्तन, अखण्ड रामचरितमानस कई जगह हो रहे हैं। अभी सूचना मिली है कि ग्राम (मित्रपुर, सवाईमाधोपुर-राजस्थान) में श्रीरामचरितमानसके २९ अखण्ड पारायण किये गये हैं। हमारा 'कल्याण'के पाठकोंसे सादर अनुरोध है कि वे कृपापूर्वक स्वयं व्यक्तिगत रूपमें अपनी रुचिके अनुसार अनुष्ठान-आराधन करें, दूसरोंको विनयपूर्वक प्रेरणा दें तथा स्थान-स्थानपर सामूहिक रूपसे भी ऐसे छोटे-बड़े आयोजन हों। —सम्पादक

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम० ए०, डी० लिट्०)

एक सखी सिय संगु बिहाई—

जब फुलवारी देखने गयी तो उस राजा जनककी वसन्तभरी फुलवारीमें सर्वसौन्दर्य-निधान श्रीअवधविहारीजीकी माधुरीसे प्रेम-विवश हो गयी और लौटकर किशोरी श्रीजनकललीजीके पास अवाक् खड़ी हो गयी। उसकी दशामें अकस्मात् परिवर्तन देखकर सखियाँ उससे पूछने लगीं। इस सखीने मनमें सोचा कि अगर एक बातका उत्तर दूँगी तो दूसरी और बात मुझसे पूछी जायगी, रंगका वर्णन करूँगी तो आँखका प्रश्न होगा, आँखोंका सौन्दर्य बखान करूँगी तो कोई मुख-छवि पूछेगी, मुख-माधुरी वर्णन करूँगी तो कोई वेष-भूषा पूछेगी और फिर इस अत्यधिक प्रेम-विवश अवस्थामें इतना बोला भी किससे जायगा ? इसलिये इसने कहा—

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

इस उत्तरका मनोवैज्ञानिक रहस्य है। इस एक पंक्तिके छोटे उत्तरसे इसने सखियोंके अनेक भावी प्रश्नोंका अन्त कर दिया; अपनी कण्ठ-अवरुद्ध दशामें पचीसों प्रश्नोंके उत्तर देनेसे अपनेको बचा लिया और श्रीकिशोरीजीकी अवध-कुमारोंके देखनेकी लालसा तीव्र कर दी—मतलब इसका यह था कि स्वयं जाकर देखोगी तभी समझोगी। इस विचारकी पुष्टि एक अन्य सखीने यह कहकर कर दी कि—

अवसि देखिअहिं देखन जोगू।

तो जब श्रीकिशोरी जनकललीजी 'कुँवर दुइ' को देखने चलीं तब इस सखीको आगे करके चलीं। थोड़ी देर पहले कविवरने जिसे 'एक सखी' कहा था—

एक सखी सिय संगु बिहाई।

—वह अब 'प्रिय सखी' बन गयी।

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।

कविवर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके इस प्रकार विशेषण अथवा नाम-परिवर्तनमें बड़ा चमत्कार है। उदाहरणार्थ पार्वती-प्रेम-परीक्षा प्रसंगको देखिये। महादेवजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके सप्तऋषि प्रेम-परीक्षा करने आये हैं।

बोले मुनि सुनु सैलकुमारी।

यहाँ पार्वतीजीको ऋषियोंने 'सैलकुमारी' कहकर सम्बोधन किया। वे उन्हें 'उमा' या 'गौरी' भी कह सकते थे। परंतु ऐसा न करके ऋषियोंने उनको 'सैलकुमारी' ही कहा। कारण कि 'गिरि जड़ सहज'—ऐसे जड गिरिकी कुमारी—शैलकुमारी अर्थात् हठीली, जडतावश दुःसाहस और 'चहत बारि पर भीति उठावा' वाली हठपर अड़ी हुई 'अविवेक'-सम्पन्न !!

देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा॥

इस हठीलेपनकी जडतासे विवश कुमारीके निमित्त 'सैलकुमारी' नाम प्रयोग किया गया। परंतु प्रेम-परीक्षामें सफल होनेके उपरान्त वे जडतावश हठ धारण करनेवाली 'सैलकुमारी' नहीं रहीं। जिस भावसे बादमें हिमाचलने पार्वतीजीको महादेवजीको समर्पण किया।

गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपीं जानि भवानी॥

अर्थात् 'भव बामा' जानकर, उसी भावसे प्रेरित होकर सप्तऋषियोंने पार्वतीजीको 'भवानी' नामसे सम्बोधित किया; क्योंकि ऋषियोंको पार्वतीजीके सत्यप्रेममें विश्वास हो गया था और वे जान गये थे कि ये हैं—

अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥

इसलिये—

देखि प्रेमु बोले मुनि ग्यानी। जय जय जगदंबिके भवानी॥

कहाँ पहले जड 'सैलकुमारी' और कहाँ बादमें 'जगदम्बिके भवानी' !!! कविवरने यह नाम-परिवर्तन अवसरके उपयुक्त करके काव्यमें चमत्कार भर दिया।

लंकाकाण्डका प्रसङ्ग है। श्रीरघुनाथजीके दूत बनकर अंगद गये हैं। राक्षसराजका दरबार लगा है। अंगदको देखकर रावण बोला—

कह दसकंठ कवन तैं बंदर।

निशाचर राजाने अंगदको बंदर कहकर सम्बोधन किया। राक्षसोंके लिये बंदर भक्ष्य थे। फिर बंदर छोटा जीव और राक्षस भीमकाय। इसके अतिरिक्त महान् अभिमानी दशशीशकी दृष्टिमें सिवा रावणके आदरका पात्र कौन हो सकता था !!! करुणानिधान प्रभु तकको तो वह तापस कहकर पुकारता था।

फलस्वरूप सम्पूर्ण रावण-अंगद-संवादमें अंगदके लिये कपि, जड़, कीस, खल आदि शब्द प्रयोग हुए। जैसे—

रे कपिपोत बोलु संभारी।
सुनि कठोर बानी कपि केरी।
कह कपि धर्मसीलता तोरी।
जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि।
धन्य कीस जो निज प्रभु काजा।
कह कपि तव गुन गाहकताई।
जौं असि मति पितु खाए कीसा।
सुनु सठ सोइ रावन बलसीला।
सठ अजहूँ जिन्ह के उर साला।
सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी।
रे कपि बर्बर खर्ब खल।
सठ साखामृग जोरि सहाई।
सूर न होहिं ते सुनु सब कीसा।
भूप सुजस खल मोहि सुनावा।
पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू।
आन बीर बल सठ मम आगें।
रे कपि अधम मरन अब चहसी।
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाकें।

इस प्रकार जबतक रावण-अंगद-संवाद होता रहा, अंगदके लिये घृणासूचक, तुच्छ, निरादरपूर्ण शब्द प्रयोग होते रहे जैसे कीस, कपि, खल, मूढ़, प्रलापी। यहाँतक कि जब सब लोग हार गये और अंगदका पाँव न हटा तब भी कपि ऐसा छोटा नाम ही अंगदके लिये प्रयोग हुआ।

कपि बल देखि सकल हियँ हारे।

फिर रावण स्वयं—

उठा आपु कपि कें परचारे।

यहाँ भी कपि ऐसा छोटा तुच्छ भावमय नाम अंगदको दिया गया। परंतु जैसे ही त्रैलोक्यविजयी, महाभट राक्षसेश्वर अद्वितीय वीर राजा रावण अंगदके पाँवकी ओर बढ़ा कविवर श्रीतुलसीदासजीने अपनी काव्यकलाकी झलक दिखला दी और कहा—

गहत चरन कह बालिकुमारा।

युवराज अंगद जो अबतक कपि, कीस, मूढ़, खल नामोंसे सम्बोधित किये गये थे, दशशीशके अंगद-चरण-ग्रहण-प्रयासपर रावण-विजयी अतुलित बलशाली बालिके सुयोग्य पुत्र 'बालिकुमारा' के नामसे सम्बोधित हुए! जिसने—

भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।

ऐसा 'मण्डलीकमनि रावन' महापराक्रमी योद्धा जिसके पैर पकड़नेको झुके वह 'कपि या कीस' ऐसे तुच्छ ऐश्वर्य-रहित नामसे सम्बोधित किया जाय यह न्यायसंगत नहीं था। ऐसे अंगदके लिये तो ऐश्वर्य और पराक्रमसंयुक्त 'बालिकुमारा' नाम ही उपयुक्त था, जिससे रावणकी पराजयकी ध्वनि निकलती हो। दशशीश रावण वही था न—

एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।

—तो जिस बालिने रावणकी ऐसी दुर्गति की थी उसके पुत्रपर जो अपने पिता बालिके समान बल और बुद्धिमें था रावण कैसे विजय प्राप्त कर सकता था? इस प्रकार लगभग चालीस बार 'कपि' 'कीस' 'मूढ़' 'खल' ऐसे छोटे, तुच्छ निरादरसूचक, पराक्रमशून्य नामोंसे अंगदको सम्बोधित करनेके बाद रावणके अंगदका चरण पकड़ते समय पराक्रमपूर्ण नाम 'बालिकुमारा'के प्रयोगसे इस प्रसंगमें चमत्कार आ गया है।

एक उदाहरण और लीजिये। जनकपुरमें पुष्पवाटिका-मिलन प्रसंग है।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता॥
पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहसी एक आली॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलंबु मातु भय मानी॥
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जाने॥
देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥
जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥

सीताजी राजभवन चलीं, माता सुनयनाजीके पास चलीं जिन्होंने इन्हें गौरी-पूजनके लिये भेजा था। परंतु घर जायँ कैसे? वे तो 'परबस' हो चुकी थीं! उनका चित्त बड़ा क्षोभभरा था। उनका सहारा कौन था? अब किसकी शरणमें जायँ? अतएव—

गई भवानी भवन बहोरी।

एक बार पहले गौरीकी पूजा कर चुकी थीं—बड़े प्रेम-और बड़ी भक्तिसे पूजा की थी।

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा ।

और फिर—

निज अनुरूप सुभग बर मागा ।

परंतु यह 'निज अनुरूप सुभग बरु मागा' किसी विशेष वरके लिये प्रार्थना नहीं थी । यह तो 'निज अनुरूप' वरके लिये सामान्यरूपसे प्रार्थना थी । लेकिन अब उन्होंने 'निज अनुरूप' वर देख लिया था ।

लोचन मग रामहि उर आनी । दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

इसलिये—

गई भवानी भवन बहोरी । बंदि चरन बोली कर जोरी ॥

और गद्गद होकर उन्होंने गौरीकी बहुत सुन्दर स्तुति की । इस स्तुतिमें भवानीको 'गिरिबर राज किसोरी' कहकर सीताजीने उन्हें शम्भु-प्राप्तिके निमित्त की हुई प्रेम-तपस्याकी याद दिलायी, 'महेस मुख चंद चकोरी' कहकर प्रियतमकी मुखछबिके आनन्द-रसकी कभी तृप्त न होनेवाली लालसाका स्मरण दिलाया । 'मातु' कहकर अपनी शरणागतिका परिचय दिया और उनके वैभव और ऐश्वर्यकी प्रशंसा करके गौरीके सर्वशक्तिमान् होनेका अपना विश्वास प्रकट किया और कहा—

सेवत तोहि सुलभ फल चारी ।

माता ! मैं तो एक ही फल माँगती हूँ । वरदायिनी ! तुम्हारे लिये तो चारों प्रकारके फल प्रदान करना आसान है और एक बार फिर 'पुरारि पिआरी' सम्बोधन करके भवानीको प्रियतम-मिलन-सुखकी याद दिला दी और फिर कहा—

देबि पूजि पद कमल तुम्हारे । सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ॥

मोर मनोरथ जानहु नीकें ।

इतना कहते ही श्रीकिशोरीजीको श्रीअवधविहारीजीकी वह 'स्यामल मूरति' याद आ गयी । श्रीरघुनाथजीकी नख-शिख-शोभा याद आयी । पिता जनकका कठोर प्रण याद आया ।

सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ।

और उनका दिल धड़कने लगा तथा दिलमें एक हूक उठी और आँखोंमें आँसू भर आये, तब अवरुद्ध कण्ठसे उन्होंने कहा—

बसहु सदा उर पुर सब ही कें ।

फिर कुछ धीरज धरके उन्होंने रुक-रुककर कहा—

कीन्हेउ प्रगट न कारन तेहीं ।

इसके आगे वे कुछ न कह सकीं । उनकी वाणी रुक गयी । उनको वह 'मृदु स्यामल मूरति' याद आयी । वह वज्र-सा कठोर शिवधनुष याद आया । अपनी निस्सहाय निराशापूर्ण दशा याद आयी ।

अस कहि चरन गहे बैदेहीं ।

श्रीकिशोरीजीने गौरीके दोनों चरण अपने दोनों हाथोंसे जोरसे पकड़ लिये कि अब मैं इन्हें नहीं छोड़ूँगी और भवानीके चरण पकड़ते ही सीताजी बेहोश हो गयीं, 'वैदेही' हो गयीं ! जिन सुकुमारी ललनाका कविवर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कुछ पहले 'सीय' नाम दिया था उनको इन्होंने अब 'वैदेही' कर दिया; क्योंकि प्रेमकी अधिकतासे, निराशाकी अधिकतासे, मनोरथ पूर्ण होनेके संशयकी अतिसे सुकुमारी श्रीश्रीजनकलली बेहोश हो गयीं, 'सीय' बैदेही हो गयीं ! प्रेमविह्वल किशोरी श्रीजनकललीका इस स्थलपर 'बैदेही' से अधिक उपयुक्त कोई नाम नहीं हो सकता था ।

नाम एक छोटी-सी बात है परंतु नामके सुन्दर चमत्कारका आनन्द कविवर श्रीतुलसीदासजीकी कलाद्वारा जो हमें प्राप्त होता है वह अद्वितीय है ।

⁂

प्रमाद छोड़कर भगवान्‌को भजो

नित्य नयी आसक्ति, कामना, ममता नित नव-पाप ।
नित्य अशान्ति, नित्य ही चिन्ता, नित्य शोक-संताप ॥
बीत रहा अनर्थमय जीवन यों सारा बेकाम ।
चेत करो, छोड़ो प्रमाद सब, भजो निरन्तर राम ॥

बन्दा, रुद्राक्ष एवं आँवला—कुछ स्पष्टीकरण

फरवरी, ६५के कल्याणके अंक (३९/२) में पृष्ठ ७४८ पर डा० श्रीकैलाशनाथजी मिश्र, एम्० डी०, एच्० ए० (पता–पत्रालय कटारी, जिला वाराणसी, उ० प्र०) का एक लेख 'तंत्रमें वृक्षोंके चमत्कारी प्रयोग' छपा था। इस लेखमें प्रयुक्त 'बन्दा' शब्दका स्पष्टीकरण करनेके लिये अनेक पाठकोंके पत्र आये। इसी प्रकारसे 'रुद्राक्ष तथा आँवलेका प्रयोग' पर श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी (पता–१७ वीं, मोतीलालनेहरू रोड, इलाहाबाद, उ० प्र०) के विचार अगस्त, ६५ के कल्याणके अंक (३९/८) में पृष्ठ ११४३ पर छपे हैं, इसके बारेमें भी विविध जिज्ञासाएँ प्रकट की गयी हैं।

दोनोंका संक्षिप्त एवं यत्किंचित् स्पष्टीकरण निम्न लिखित है। अधिक जानकारीके लिये उनसे ही पत्र-व्यवहार करना चाहिये। उत्तर पानेके लिये पत्रके साथ डाक-टिकट भेजनी चाहिये।

बन्दा

बन्दाके सम्बन्धमें श्रीकैलाशनाथजीकी सूचना इस प्रकार है—बन्दा एक विशेष प्रकारका पौधा है, जो दूसरे वृक्षोंकी डालियोंपर बहुधा उत्पन्न होता है। सभी वृक्षोंके बन्दे एक ही प्रकारके होते हैं। इसे संस्कृतमें भी बन्दा ही कहते हैं। यह जिस वृक्षपर उत्पन्न होता है, उसीके बनाये भोजनपर अपना निर्वाह करता है, इसलिये परोपजीवी है। इसकी जड़ें दृष्टिगोचर नहीं होतीं। जिस स्थानपर यह उत्पन्न होता है, वह स्थान गोलकार, ठोसरूपमें फूलने लगता है और उसमेंसे शाखाएँ और पत्तियाँ निकलती हैं। ये शाखाएँ तथा पत्तियाँ मूल वृक्षकी शाखाओं और पत्तियोंसे नितान्त भिन्न प्रकारकी होती हैं। इन शाखाओंमें लाल रंगके लंबे पतले गुच्छेदार फूल आते हैं। बच्चा बन्दाका अर्थ नवीन छोटा बन्दा है, जो बहुत दिनका न हो। इसी प्रकार युवा तथा वृद्धका भी अर्थ है। दत्तात्रेय मन्त्रका जप दस सहस्र करना चाहिये—किसी शिवालय, श्मशान या नदीके तटपर। घृतका दीप, अगरबत्ती, गंध, पुष्प इत्यादि भी रहना चाहिये। यन्त्र-मन्त्र जगानेकी बेला सूर्य या चन्द्र-ग्रहण और दीपावली है। यन्त्रको ब्राह्मण जातिके (श्वेत रंगके) भोजपत्र पर अष्टगंध एवं अनारकी कलमसे लिखना। मुखमें मिश्री धरके पश्चात् उसकी पूजा करके पहनना। मन्त्र-यन्त्र (उपर्युक्त) से तान्त्रिक क्रियाएँ शीघ्र सिद्ध होती हैं।

रुद्राक्ष तथा आँवलेका प्रयोग

श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी लिखते हैं कि रुद्राक्ष एकसे लेकर चौदहमुखीतक होते हैं। उनके नाम और मन्त्र शिवपुराणाङ्कके विद्येश्वर-संहिताके पचीसवें अध्याय (कल्याणके संक्षिप्त शिवपुराणाङ्कके ७० तथा ७१ पृष्ठों) में दिये हुए हैं। जिज्ञासु लोग वहाँपर देख सकते हैं। रक्तचाप बढ़नेपर या कम होनेपर नमक तथा घी बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। रुद्राक्ष-धारण दोनों प्रकारके रक्तचापोंको ठीक करता है। मैंने जटामासीका सेवन नहीं किया; क्योंकि उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। रक्तचाप होनेपर भोजन बहुत हल्का करना चाहिये और रात्रिमें सोनेसे पहिले तीन घण्टा पूर्व हल्का भोजन कर लेना चाहिये। न मेरी रुद्राक्षकी दूकान है और न मैं किसीको जानता हूँ, जहाँसे मँगाया जा सके। अतः माला और रुद्राक्ष लोग ठीक समझकर खरीदें। रुद्राक्ष बाँहमें यन्त्रकी तरह बाँध सकते हैं अथवा माला–ऐसे पहिने, जो हृदयसे स्पर्श करती रहे। सदा शंकरजीका ध्यान रखना चाहिये और उनसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे आरोग्य-प्रदान करें।

मैं कोई डाक्टर नहीं हूँ। अतः लोग अपना हाल मुझे न लिखें। आँवलेके विषयमें मैंने साफ लिख दिया है, उसीका विवरण बार-बार पूछना समुचित नहीं है। जहाँसे उचित समझें, वहींसे खरीदना चाहिये। रक्तचापमें कई लोगोंने नींद न आनेकी बात लिखी है। मैंने तो केवल राम-नामके ही स्मरणसे इस व्याधिको दूर कर दिया। लोगोंको चाहिये कि निरन्तर राम-नामका स्मरण करें तब नींद अवश्य आयेगी।

सर्पगन्धाकी गोलियाँ हर डाक्टर या ओषधि-विक्रेताके यहाँ मिल सकती हैं। सर्पगन्धाकी गोलियोंका सेवन वैद्य या डाक्टरोंके कथनानुसार ही करना चाहिये।

मोतियाबिंदुनाशक सुरमा

[कुछ प्रश्नोंका उत्तर]

(लेखक—श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, शिक्षा-महाविद्यालय वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर)

मोतियाबिंदुनाशक सुरमा तैयार करनेकी विधिका और तैयार सुरमा प्राप्त करनेका जो उल्लेख मैंने अप्रैल मासके 'कल्याण'के पृष्ठ ८८९ और ८९० पर किया था, उस सम्बन्धमें स्वास्थ्य-भण्डारके पास तथा मेरे पास सहस्रोंकी संख्यामें पत्र आये। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उक्त सूचनाने अनेक पीड़ितोंकी आवश्यकताकी पूर्ति की। अतः इस अति उपयोगी सूचनाको पत्रमें स्थान देनेके लिये आदरणीय सम्पादकजी धन्यवादके पात्र हैं। सुरमाके सम्बन्धमें पाठकोंने अनेक प्रश्न किये हैं, जिनमेंसे कुछ सामान्य प्रश्नोंका उत्तर यहाँ प्रस्तुत है—

१–सुरमेका प्रयोग कितने समयतक किया जाय? इसका निश्चित उत्तर तो हर रोगीकी स्थितिपर निर्भर है, पर सामान्य रूपसे इतना जान लेना आवश्यक है कि मोतियाबिंदु एक दुरारोग्य बीमारी है, अतः दीर्घकालतक चिकित्साकी आवश्यकता है। लगभग एक वर्षतक निरन्तर सभी निर्देशोंका यथावत् पालन करते हुए सुरमेका प्रयोग करना चाहिये। हाँ, यह सुरमा आपको लाभ कर रहा है या नहीं—यह आपको दो-तीन मासके प्रयोगसे ही स्पष्टरूपसे मालूम हो जायगा।

२–यह सुरमा मोतियाबिंदुकी किस हालतमें लाभ करता है? मोतियाबिंदुके पक जानेपर इससे लाभ नहीं होता। पकनेसे पूर्वकी हर हालतमें लाभ करता है। रोगका जैसा वेग होता है, जितना रोग बढ़ चुका होता है, उसी अनुपातसे शीघ्र या विलम्बसे लाभ होता है।

३–काले मोतियाबिंदुमें इस सुरमेसे लाभ नहीं होता।

४–जिस आँखका आपरेशन करा चुके हों, उस आँखमें सुरमेका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

५–जिस आँखमें मोतियाबिंदु हो केवल उसी आँखमें इसका प्रयोग करें; क्योंकि यह सुरमा केवल मोतियाबिंदुके लिये हितकारी है अन्य रोगोंके लिये नहीं। अच्छी स्वस्थ आँखमें लगानेसे हानि भी कर सकता है।

६–एक रोगीका तो चश्मा लगानेका अभ्यास छूटता रहा—ऐसा मैंने केवल मोतियाबिंदुके रोगीके विषयमें लिखा है। यह भी केवल एक ही उदाहरण है। उस रोगीने इस सुरमेके प्रयोगके अतिरिक्त मोतियाबिंदु-नाशक हवनसामग्रीसे हवन भी किया और सभी निर्देशोंका यथावत् पालन भी किया। लगभग एक वर्षतक यह क्रम चलाया। अतः निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि चश्मा लगानेकी आदत छूट जानेका कारण इन सबका समन्वित प्रभाव था, या इनमेंसे किसी एकका प्रभाव था अथवा एक आकस्मिक घटनामात्र थी।

७–सेवनविधिमें दिये निर्देशोंका पालन करके वे लोग भी लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जो मन्दहष्टि आदि रोगोंसे ग्रस्त हैं।

८–बहुत-से लोगोंने हरी घासपर भ्रमण करना और गोदुग्ध प्राप्त करना असम्भव बताया है। यह ठीक है कि आजके शहरी जीवनमें इन चीजोंका प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, पर विचारणीय यह है कि प्रकृति तो हमारी कृत्रिम सीमाओंकी परवा नहीं करती। जो चीज हमारे रोगको दूर करनेमें सहयोगी है, उसे प्राप्त करनेके लिये हर प्रकारका प्रयत्न करना ही चाहिये, यदि हम रोग दूर करना चाहते हैं। जिन साधनोंको हम नहीं जुटा पायेंगे, उनका लाभ हमें प्राप्त नहीं होगा। उन साधनोंका कोई विकल्प नहीं। शहरोंमें प्रायः पार्क तो हैं ही, हरी घास वहाँ मिलेगी। 'गायका दूध और सपूत बड़े भाग्यसे मिलता है'—ऐसी लोकोक्ति है। पुरुषार्थसे भाग्य बनाइये। दूर जाना पड़ेगा, समय लगाना पड़ेगा, पर दूध मिल जायगा।

९–क्या वस्ति-कर्म (एनिमा) आँतोंको हानि पहुँचा सकता है? आँखके मोतियाबिन्दुका वस्ति-कर्मसे क्या सम्बन्ध? वस्ति-कर्मके स्थानपर रेचक ओषधियोंका प्रयोग कर लिया जाय? इनके उत्तरके लिये विस्तृत विवेचना अपेक्षित है जिसका यहाँ अवकाश नहीं। यह विवेचना आरोग्यशास्त्र, आयुर्वेदिक-प्राकृतिक चिकित्सा आदि पुस्तकोंमें देखें। यहाँ केवल यह बता देना पर्याप्त होगा कि

पूज्य पिताजी [स्व० डा० श्रीकुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम्० डी० (लंदन), मेडिकल अफसर टी० बी० सेनेटोरियम] ने पूरे पाँच दशकतक इस सम्बन्धमें लाखों रोगियोंपर परीक्षण करनेके पश्चात् इसे चिकित्साका आवश्यक अङ्ग बनाया । अतः हानिकी शंका भी न करें । हाँ, नियम-विरुद्ध व्यवहार करनेपर अवश्य ही हानिकी सम्भावना हो सकती है । रेचक ओषधि वस्ति-कर्मका पर्याय नहीं । वस्ति-कर्मद्वारा मोतियाबिंदुके मूलपर आघात किया जाता है । पेटकी शुद्धि आँखके रोगोंमें भी परम आवश्यक है ।

१०–कलमी शोराको अन्य भाषाओंमें किन नामोंसे पुकारते हैं, इसकी मुझे जानकारी नहीं हो सकी । आभूषणोंको गलाने या सफाई करनेमें प्रायः स्वर्णकार भी इसका प्रयोग करते हैं ।

एक निवेदन

इस वर्ष मार्च और अप्रैलके महीनोंमें अप्रत्याशित-रूपसे वर्षा और उपलवृष्टि होनेके कारण वनस्पतिकी विशेष हानि हुई । नीमके फूल एक बड़ी मात्रामें पकनेसे पूर्व ही नष्ट हो गये । हम जितने फूलोंका संचय कर सके और उनसे जितना सुरमा तैयार हो सका, वह सब बँट गया । तैयार सुरमा प्राप्त करनेके लिये इच्छुक व्यक्तियोंके पत्र अभीतक हमारे पास आ रहे हैं, पर सुरमा स्टाकमें न होनेके कारण हम सुरमा वितरित करनेमें असमर्थ हैं । हमारे पाठकोंमेंसे किन्हीं सज्जनने यदि वह सुरमा बाँटनेके लिये भी तैयार किया हो तो वे सूचित करें ताकि इच्छुक व्यक्तियोंको उनका पता मिल जाय । यदि किन्हीं सज्जनने नीमके फूल इकट्ठे किये हों और किसी भी कारणसे सुरमा तैयार न कर सके हों तो वे यदि कृपापूर्वक डाक-पार्सलद्वारा नीमके फूल हमारे पास भिजवा दें तो हम सुरमा तैयार कराकर पीड़ितोंको दे सकेंगे । पार्सलका डाकव्यय हम देंगे ।

तुलसीदासजीका मुख्य प्रतिपाद्य— श्रीराम-नाम

(लेखक—श्रीरामग्रहीप्रसादजी)

गोस्वामी तुलसीदासजीका मुख्य प्रतिपाद्य श्रीराम-नाम ही है । इसलिये सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य-सागरका मन्थन करनेके बाद उससे श्रीराम-नामका ही मधुर और अक्षय नवनीत निकलता है । अपने रामचरितमानसके प्रारम्भमें ही आपने अपना मुख्य प्रतिपाद्य बतला दिया है—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥

रामायणको समाप्त करते हुए भी आपने इस मुख्य प्रतिपाद्यका उल्लेख किया है—

मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥

'नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थोऽनेनेति नाम' इस विग्रहके अनुसार नाम ज्ञानमय होता है । इसलिये राम-कथा भी राम-नामके भीतर ही आ जाती है । सच्ची बात तो यह है कि समूची राम-कथा राम-नामका ही विस्तार है । इसलिये नामनिष्ठ साधक रामकथाका भी श्रवण, कीर्तन और चिन्तन-मनन करता है । यों तो नामार्थके विस्तारके भीतर चारों वेद और अठारहों पुराण भी आ जाते हैं । श्रीअयोध्याजीके साकेतवासी संत श्रीयुगलानन्यशरणजी लिख गये हैं—

सीताराम-नामही में बेद संहिता पुरान,
ग्यान, ध्यान, भावना समाधि सरसतु हैं ।
सीताराम-नामही में तत्व, भक्ति-जोग, जग्य,
पर ब्यूह, विभवस्वरूप परसतु हैं ॥
सीताराम-नामही में पाँचों मुक्ति, भुक्ति बर,
दायक बिचित्र एक रस बरसतु हैं ।
युगल अनन्य सीताराम-नामही में मोद,
बिसद बिनोद बार बार परसतु हैं ॥

विनय-पत्रिकामें तुलसीदासजी शपथपूर्वक कहते हैं—

संकर साखि, जो राखि कहौं कछु, तौ जरि जीह गरौ ।
अपनो भलौ रामनामहि ते तुलसिहि समुझि परौ ॥

भगवान् शंकरको साक्षी देकर राम-नामको अपना कल्याण-साधक बतलाना गोस्वामी तुलसीदासजीकी नामनिष्ठाको निर्विवाद कर देता है । यह प्रमाणित कर देता है कि

गोस्वामी तुलसीदासजीको रामरूपमें जितनी निष्ठा है, उससे अत्यधिक राम-नाममें निष्ठा है। ये जितने रामनिष्ठ हैं उससे अधिक नामनिष्ठ हैं। गीतावलीमें भी आपने बतलाया है—

कसम खाइ तुलसी भनी।

आपकी वैराग्य-संदीपनी बोल रही है—

सपनेहुँ बर्राइ कै जा मुख निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मोरे तन को चाम॥

आपकी दोहावली कहती है—

नाम गरीब निवाज को, देत राज जन जानि।
तुलसी मन परिहरत नहिं, घुरबिनिया की बानि॥

आपने अपने बरवै-रामायणमें लिखा है—

कलि नहिं ग्यान विराग न जोग समाधि।
रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥

कवितावलीमें आप कहते हैं—

श्रुति रामकथा मुख राम को नाम
हिए पुनि रामहिं को थलु है।
सब की न कहौं तुलसी के मते
इतनो जगजीवन को फलु है॥

इसके बाद उसी कवितावलीमें आप डंकेकी चोट बोल रहे हैं—

तुलसी जो सदा सुख चाहिय तो,
रसना निसि-बासर नाम रटो।

रामचरितमानससे नामनिष्ठाका उदाहरण लीजिये—

(क) यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्री रघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥
(ख) नहिं कलि करम न भगति बिबेकू।
राम नाम अवलंबन एकू॥
(ग) कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।
एक अधार राम गुन गाना॥

रामचरितमानसके अन्तमें आपका जो अन्तिम दोहा है उसमें भी नामनिष्ठाकी ही आपकी अन्तिम अभिलाषा अभिलक्षित होती है। यह अन्तिम अभिलाषा राम-नामके समर्थनमें सबसे प्रबल प्रमाण है, जो नामाराधकोंके लिये हृदयकी मंजूषामें सहेज रखनेकी वस्तु है। गोस्वामीजी अपने इष्टदेवसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

इस दोहेका अन्तिम सम्बोधन है 'राम' और अन्तिम उपमा है 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम।' अब इस अन्तिम सम्बोधन और उपमापर विचार कीजिये—

राम शब्द राम-नामका अर्थ प्रकट करता है; क्योंकि गुरु वशिष्ठजीने दशरथनन्दनजीका यही नामकरण किया था—

सो सुख धाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

इससे स्पष्ट ही राम सम्बोधनसे राम-नामका संकेत परिलक्षित हो जाता है। इसके लिये उपमा है 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' अर्थात् जैसे किसी लोभान्धको अर्थमें निष्ठा होती है, उसी प्रकार श्रीरामनाममें अपनी निरन्तर निष्ठा हो। इस प्रमाणसे यह सुस्पष्ट हो गया कि गोस्वामी तुलसीदासजीने नाम-निष्ठाके लिये ही अपनी अन्तिम प्रार्थना की है।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणोंसे पूर्णतः यह प्रमाणित हो गया कि तुलसी-साहित्यका मुख्य प्रतिपाद्य श्रीरामनाम ही है।

यह श्रीराम-नाम आप भावसे लीजिये या कुभावसे, क्रोधसे लीजिये या आलस्यसे, प्रत्येक परिस्थितिमें मङ्गलमय एवं कल्याणकारी है—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

और,

तुलसी अपने राम को रीझि भजो या खीज।
उलटो सीधो जामिहै, खेत परो सो बीज॥

ऐसे महामहिमशाली और लोक-परलोकमङ्गलकारी श्रीराम-नामके जप, श्रवण और कीर्तनके लिये हम आज ही नहीं, अभी-अभी तुलसीदासजीके शब्दोंमें यह अटल प्रतिज्ञा कर लें—

अब लौं नसानी अब ना नसैहौं।
× × ×
पायो नाम चारु चिन्तामनि उर कर ते न खसैहौं॥

* * *

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

मधुरं मधुरेभ्योऽपि मङ्गलेभ्योऽपि मङ्गलम्।
पावनं पावनेभ्योऽपि हरेर्नामैव केवलम् ॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

‘मधुरोंमें भी मधुर, मङ्गलोंमें भी मङ्गल और पावनों (पवित्र करनेवालों) में भी पावन केवल हरिनाम ही है। हरिनाम, हरिनाम, केवल हरिनाम ही कलियुगमें गति है; अन्यथा गति नहीं है, गति नहीं है, गति नहीं है।’

बड़े ही हर्षकी बात है कि ‘कल्याण’ में प्रकाशित प्रार्थनाके अनुसार भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने पिछले वर्षोंकी भाँति गतवर्ष भी उत्साह एवं प्रेमके साथ नाम-जप स्वयं करके तथा दूसरोंसे करवाकर महान् पुण्यका सम्पादन किया है। ‘कल्याण’ की प्रार्थनापर इस वर्ष जो जप हुआ है, उसके सम्बन्धमें निम्नलिखित निवेदन है—

१–गतवर्ष ११३७ स्थानोंसे आयी हुई सूचनाएँ दर्ज हुई थीं, इस वर्ष २१४७ स्थानोंसे सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं और पूरे सोलह नामोंके मन्त्रका—२८,६२,७२,७०० जप हुआ है। इसकी नाम-संख्या होती है—

४,५८,०३,६३, २०० (चार अरब, अट्ठावन करोड़, तीन लाख, तिरसठ हजार दो सौ)।

२–इस वर्ष भी केवल भारतवर्षमें ही नहीं; बाहर विदेशोंमें भी जप हुआ है।

३–उपर्युक्त संख्यामें केवल सोलह नामके महामन्त्रकी ही संख्या जोड़ी गयी है। भगवान्‌के अन्यान्य नामोंका भी जप हुआ है, वह इस संख्यासे पृथक् है।

४–बहुत-से भाई-बहिनोंने जप अधिक किया है, सूचना कमकी भेजी है और कुछ नाम-प्रेमियोंने तो केवल जप करनेकी सूचना भर दी है, जपकी संख्या लिखी ही नहीं है।

५–कुछ भाई-बहिनोंने केवल जपकी संख्या ही नहीं लिखी है, उत्साहवश भगवन्नाम भी लिखकर भेजे हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंकी सूचना प्रकाशित करनेकी उपयुक्त सुविधा नहीं है। इसके लिये क्षमा-प्रार्थना है।

६–बहुत-से भाई-बहिनोंने आजीवन नाम-जपका नियम लिया है, इसके लिये हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

७–स्थानोंका नाम दर्ज करनेमें यथासाध्य सावधानी बरती गयी है। इसपर भी भूल होना एवं कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है। कुछ नाम रोमन या प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका नागरी रूपान्तर करनेमें भूल रह सकती है। इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अकबरपुर, अकोला, अखलाशपुर, अखैपुर, अखैयापुर, अगई, अगनाकोल, अगवानपुर, अगेथुवा, अग्रेसर, अचलजाम्, अछोरा, अजनाइतारा, अजबपुरा, अजमेर, अझुई, अटका, अठेहा, अतरसुमा, अतूपुर, अतौला, अदोनी, अपहर, अब्दुल्लागंज, अमियाखुर्द, अमऊजासरपुर, अमरावती, अमरौधा, अमलनेर, अमलापुरम्, अमहट, अम्बालपुरम्, अमाए, अमावाँसूफी, अमाहा, अमिलिय, अमिलियाँकलाँ, अमिलियाँ खुर्द, अमिलिया बेसनिहा, अमीनगर सराय, अयोध्या, अरई, अरसारा, अरैला, अलानुरु, अलियाबाद, अलीगढ़, अलीगंज, अलीपुर, अवधपुर, अवस्थीपुर, अशरकपुर, अस्कोट, अस्कोट तीमला, असरीखेड़ा, असाव, असीथर, अहमदनगर, अहमदपुर, अहमदाबाद, अहरन, अहरौरा, अहिबन, अहिरानी, अहिरौली, अक्षयपुर, आगरा, आटौन, आदमपुर, आदर्शनगर, आदिग्राम, आदिलपुर, आनंदताण्डवपुरम्, आबगिलासायर, आमी, आमी अकिलपुर, आमी असिल, आयराखेड़ा, आर्यनगर, आर० डीह, आराबाथा, आरियरबरबोटे, आलमपुर, आँवलियासण, आँवली, आँवा, आशापुर, आशोगीपुर, आसगाँव, आसासोद, इच्छापुर, इच्छेबस्ती, इचलकरंजी, इचौली, इछूरी, इटकी, इटावा, इटवामलनापुर, इटौजा, इन्दपुर, इनारस, इब्राहिमपुर, कदँई, इब्राहिमबाद, इम्डाला, इमादपुर, इमामनगर, इरूल, इलाहाबाद, इसकिल, इस्टगोदावरी, इस्माइलपुर, इस्मायलनगर, इस्मैलामपुर, इसहाकपुर, इसौली, ईडर, ईटगाँव, ईसरदा, ईसागढ़, उज्जैन, उजानगंगौली, उड़ियानपुर,

उतरदहा, उतुरी, उतैलापुर, उदयपुर, उदयपुर-देहरा, उदयपुरा, उद्दाहपाली, उधरपुर, उधुई, उनितमन्दिर, उना, उपरीपारा, उपाध्यायपुर, उमधा, उमर-भार, उमापुर, उमाशी, उरईरा, उस्मानपुर, उसकामऊ, उसरी, उसुरा, ऊँझा, एकडंगा, एटाह, ५६ ए० पी० ओ०, एरियाकोड, एरंडोल, ऐंचर, ऐनपुर, ओखलढूँगा, ओखा, ओड़गी, अंगरकी, अंचरवाड़ी, अंजनासिंगी, अंजरौली, अंधेरी, अंवरपुर, अंहरन-सुबंश, ककढ़िया, ककरहिया, ककोढ़ा, कच्छीवलिहारी, कछारीगाँव कचनार, कजरा, कटक, कटघर, कटवरा, कटनी, कटवसियाँ, कटावाँ, कटैया, कटोरिया, कटंगी, कड़विन्धा, कदई, कंदईकला, कदवासा, कन्दैला, कन्देली, कन्नोह, कन्हईपुर, कन्हौली-गजपति, कनवाड़ी, कनावा, कनेहटी, कपसा, कपासन, कपासी, कपूरथला, कमईपुर, कमलापुर, कमासिन, क्योट-गामा, करनपुर, कर्नलगंज, करमोली, करेरू, करौंदी, करवाड़, करसैना, कराँटी, करीमनगर, करेली, करोम, करौली, कल्या (पालमपुर कांगड़ा), कल्याण, कल्याणपुर, कल्हेर, कलकत्ता, कलवामऊ, कठवल, कवढव, कवँरपुर, कवलास, कवलूर, कविलासपुर, कसबास्याना, कसिला, कसेहिया, कांकरोली, काकवारा, काँगड़ा, कागुपाड्ड, कांचरापाड़ा, काटजू जावरा, काँटा, काँटाफोड़, कादीपुर, काँधी, कानपुर, कान्नानोर, काँपा, काम्पवन, कामठी, कामदेवपुर, कामलागंज, कामाशी, कामापुर, काली, कालीपहाड़ी, कालीयांग, काल्हूपुरपंच, कालोनी ब्लाक नं० ५६, काशीके घरेवा, किछर, किठावा, किनवट, किशोरिया, कीरी, कीलाथूर, कीन्हूपुर, कचेरा बाजार, कुंजरोद, कुटला, कुट्टा, कुट्टा सुहागपुर, कुट्टी, कुट्टुम-डोला, कुट्टुम्बा, कुठालगाँव, कुठारागाँव, कुड़वा, कुड़ौली, कुत्माला, कुतुवपुर, कुन्दुर्खा-खुर्द, कुम्हाई, कुम्भकोनम्, कुम्हेर, कुमारधुबी, कुलहावगहा, कुमासी, कुर्सी, कुरारा, कुरेठा, कुरेभार, कुहरा, कैंविटनी, केरिया बझना, केवटगामा, केशवपुर, केशोगाँव, कैकलूर, कैथवली, कैथा, कैमला, कैमोर, कैलगर, कोइम्बतुर, कोकेर (बस्तर), कोचीन, कोजावाड़ा, कोझाकोट्टुर, कोटडीहासरैया, कोटमी, कोटवा-जमुनीपुर, कोटवामहमदपुर, कोटेतरा, कोठाली, कोडिमंगलम्, कोदईपुर, कोदरिया, कोदीगवली, कोपागंज, कोरऊ, कोरातगिरि, कोरीघाट, कोरैया जंगल, कोरोरावपुर, कोल्कुलपल्ली, कोहीगवली, कौंदँनियाँ, कंजड़ टोला, कंटागाँव, कंलोह, कृष्णापुर, खर्गापुर, खजुरी-करौंदी, खजुहा-रूपीपुर, खटरी, खटीमा, खड़वा-धावा, खड़ेर-टीकतपुर, खदरा, खण्टिहाकलाँ, खंभालिया, खम्हरिया, खम्हौती, खरकपुर, खरकलाँ, खरगपुर-अरसारा, खरगोन, खरदा, खरिकहिया, खरियार, खरैला, खरोसा, खलारी, खवासपुर, खातौली, खानापुर, खावी, खारोवा, खालिसपुर, खास, खासपट्टी, खाससांडिया, खिदिरपुर, खीरी, खीलचीपुर, खुर्द-विष्णुपुरा, खुर्दहा, खुरई, खुरजा, खुर्मा, खुरानी, खुसनामपुर, खुसरूपुर, खेना, खेरली, खेरागढ़, खैंचिला, खैरावाद, खोरी, खोधवा, ग्वालियर, गछौंपुर, गजउराय मानिकपुर, गजरिया, गज्जलकोंडा, गजेथुवा, गठया, गढवा, गढ़वाल, गढ़ा, गण्टूर, गणपति अग्रहारम्, गणेशपुर, गणेशपुर-रहेली-३५, गणेशपुरा, गड़ौली, गदियाना, गनपारी, गनापुर, गनेशघाटी, गभड़िया नाला, गया, गयासपुर, गरखा, गराना, गरियावन्द, गलिबहा, गसदूदीपुर, गाडरवारा, गादिया, गांधीधाम, गांधीनगर, गालीपुर, गिरधरपुर, गुजरा, गुजरामऊ, गुडेवल्लूर, गुडियारी, गुणगाँव, गुण्टूर, गुमा, गुरसहायगंज, गुरेगाँव, गुरैया, गुलावपुर, गुलालपुर, गुलाहिमपुर, गोकुला, गोगमऊ, गोझवार, गोटवा, गोठवारी, गोंडवा, गोण्डा, गोनौत, गोपपुर, गोपालपुर, गोबर्द्धनपुर, गोभाडीह, गोभारिया, गोमो, गोवदावली, गोविन्दगढ़, गोविन्दपुर, गोविन्दी, गोलाघाट, गोसी अमनौर, गौरा, गौरा कुर्मियान, गौरा रामपुर, गौरा सैदखानपुर, गौरियापुर, गौहनिया नैपालसिंह, गौंहरा, गंगापुर, गंदानाला, घनोरा, घरहाँ खुर्द, घाटमपुर, घासीपुर, घोघरा, घोरहवा, चकटेरी, चकरजई, चकराता, चकरूपुर, चकतेंदुआ, चकपकड़ी कैमठ, चकिया, चकौंध, चटिया, चन्दपुर, चन्दा, चन्दौर, चन्दौसी, चनपतिया, चनायनवान, चमरुपुर, चमुटवा, चमोली, चरकवा, चरथई, चहरामी, चाईवासा, चांग, चमोली, चरकवा, चरथई, चहरामी, चाईवासा, चांग, चांचौड़ा, चाँदपुर, चान्दूर, चान्दो, चानी, चाला, चाणस्मा, चींगलौरी, चित्तरंजन, चितराँव, चिन्तापल्ली, चित्तेगाँव, चित्तौड़गढ़, चितौरा, चिरैया, चिरौवा, चिरौली, चिलविली, चिलवरिया, चित्रकाट, चीचली, चीवरौली, चुनहा, चुनार, चैनपुर, चौकडी, चोढ़ली, चोरिया वरियारपुर, चौकप्रान्त एटा, चौधरी टोला,

चौपरिया, चौबेपुर, चौबोली, चौसा बस्ती, चौसाबाजार, चौहट्टा, चंदापुर, चंदीगढ़, चंदोपुर, चंदेरी, चंदौली, छतरपुर, छतौना, छपकहिया, छपरे, छापी, छुई, छोटका बिसावाँ, छौलापुर, जगदीशपुर, जगवाशंकर, जगाधरी, जज्जौर, जब्बरगंज, जबलपुर, जबुशार, जम्बाड़ी, जमालपुर, जमालीपुर, जमुनियामऊ, जमोली, जयन्तीपुर, जयपुर, जयराजपुर, जरईकलां, जरगवाँ, जरियागुम्मा, जरुवाड़ी, जरेरा, जशपुर, जहाँगीरगंज, जहाँगीराबाद, जहाँगीरपुर, जहाजपुर, जागपुर, जादीपुर, जामठी, जामनगर, जामनेर, जाफराबाद, जालगाँव, जावरा, जीरादेई, जुन्हैटा, जुन्हैया, जुडैयापुर, जुड़ारा, जुवादा, जूड़पटी, जूनागढ़, जेऊरकर, जेतलपुर, जैपुर, जोधपुर, जोधनगर, जोरियम, जोरावर डीह, जोहन, जोराखेरा, जौरासी खालसा, जंदियाली, झमराखाँड़, झरिया, झलियाही, झलोखर, झाबुआ, झारसुगुडा, झालरापाटन, झालापुर, झाँसड़ी, झाँसी, टकसाल, टड़वा, टरड़सा, टाड़ापारा, टिकुरहिया, टिमरनी, टिलैतगाँव, टीकमगढ़, टीकर, टीगरिया, टुकरियापर, टूण्डला, टेरी, टंकारिया, ट्योंगा, ठठिया, ठीकहाँ-भवानीपुर, ड्योढ़ी, डफलपुर, डलहौजी छावनी, डँड़वा, डाईडिहा, डाबच्च, डाल्ली-राजहरा, डिकौली, डिहवा, डीलीगिरधर, डीलीसरैया, डीह, डीहभरथी, डुमटहर, डुमरिया, डुमरिया खुर्द, डुहिया, डूँगरपुर, डोमियारा, डोम्हाटोला, डेरामूसी, डेलुवाभारी, डेहरियावाँ, डेहवा, डौंडी, ढकवा, ढकुलहवा, ढबिया, तडग्राम, तपोवन श्रीधर्मारण्य, तमेहड़ी, तरयाँ, तरवाड़ी, तल्लादन्या, तलैयालैन, तलैयाताका, तांजौर, ताडबेरोली, तारानारी, तारालाही, तालणपुर, तालाडीह, तालैड़, तावढोली, तियरा, तिरछे, तिवारीपुर, तिलकपुर, तिलसहरी, तिंवरी, तिवारीपुर भुजैना, तीटकनगर, तितिलागढ़, तीरगाँव, तिरीच्चिरापल्ली, तीरुवारुर, तुंगणी, तुर्तीपुर मिलक, तुनिहा, तुरंग, तुलसीपुर, तेजवापुर, तेंधा तेधांखुर्द, तौधिकपुर, थन्हवारगरी, थाना, थौरी, दक्खिनगाँव, दखिनवारा, दड़माड़, दन्तेवाड़ा, दबकीहरा, दबघुवा, दबयाना बंगला, दमदमकैंट, दमोदरा, दरियापुर, दरीबादलकी, दलपतपुर, दयालबन्द, दलौदा, दहलवा, दहिडा, दहियावाँटोला, दक्षिणपारा, दाउतपुर, दाऊदनगर, दाँडेगाँव, दामोदरपुर-मठ, दिखौली, दिगाँव, दिल्ली, दिवानी मिसिल, दिवेआगर, दीग, दीघ, दीपैरा, दुर्ग, दुर्गाडीह, दुर्गापुर, दुर्गावती, दुजाना, दुदनी, दुबौली, दुमका, दुहच्चीपुरा, दुलारपुर, दूदनी, दूधवारवारा, दूबेपुर, देलही, देवई, देवजरा, देवडी, देवदासपुर, देवनगर, देवपारा, देवरा, देवराकोट, देवास, देहरादून, देहलीबाजार, देहली मुबारकपुर, दोईदा, दोतरु, दोन दोलतपुर, दोस्तपुररग्घू, दौनहा, दौनौं, धनगाँवा, धनजई, धनपतगंज, धनवार, धनवाही, धनेश्वरपुर, धनैच्चा, धम्मौर, धमथुवा, धमधरा, धमनापायक, धमौलिया, धर्मपुर, धर्मापुर, धरान (नेपाल); धवरुआ, धाटपिपरिया, धानबाद, धामणगाँव, धामपुर, धामापुर, धुरावल, धूरी, धोरिक्किता, धोलिया, धोवियाभार, धौरई, धौरपुर, धौरहरा, न्युवेहनाझावर, नईकूल, नईदिल्ली, नक्खाश, नकराही, नकहा, नरवन, नगधा, नगला-उदैया, नजीर, नडीआह, नटौली, नन्दरई, नंदवई, नन्दौती, ननोना, नयापारा, नयापुरवा, नरमण्ड, नरसड़ा, नरसिंहपुर, नरहरपुर, नरायनपुर, नरियावाँ, नरेंदाभादे, नरोत्तमपुर, नृसिंहपुर, नवगवाँतीर, नवजीवन, नवरंगपुरा, नवापुर, नवीपुर, नागझरी, नागपुर, नाँदा, नाभा, नारदीगंज, नारायणपुर, नारी, नाशिकशहर, निनावाँ, निमड़ी, निर्मल, निरसाचट्टी, निसासिन, निसुई, निहालपुरी, निमौन, निमाज, नीलफामारी, नूरपुर, नूरमूपट्टी, नेउली, नेम्मिकूर, नेमुआ, नेवलगंज, नेवसा, नेवादा, नैनीताल, नैमिषारण्य, नोखईपुर, नोहर, नौगाँव, नौढ़िया, नंदग्राम, पखरौली, परवेला, पचैन्डाकला, पटना, पटुली, पटैला, पटोरी, पटौहा, पठखौली, पड़रिया, पंड़रे, पड़ानजोत, पड़ोदा, पत्थलगाँव, पतुर्जा, पतुलकी, पदमावतीपुर, पद्मावतीपुर, पन्त्यूड़ी, पमाख, पयागीपुर, परकोटा हिल्स, परगी, परदूर, परतेवा, परली वैजनाथ, परवा पाथरघाट, परसदा, परसपुर, परसीतारा, परसुरामपुर, परसौली, परसौंहा, परास, परेवावेश्ध, पल्टनबाजार, पलघाट, पलटा, पलसीहा, पल्हीपुर, पलिया, पवारखेड़ा फार्म, पहाड़पुर, पहाठीपुर, पहोरी, पाचोरा, पाठकपूरा, पाडकी, पाण्डेयगाँव, पाण्डेपुर, पाण्डेयतारा, पाथर्डी, पादमा वदासम्, पादुर्णा, पाण्डेटोला, पानीपत, पारडी, पारडीखुर्द, पारा, पारा- ब्रह्मनान, पालणपुर, पाली, पावशी-कुडाल, पात्रपुट, पिकौरा, पिठला, पिठौरागढ़, पितामरपुर, पितीवाड़ानागारे, पिंनांवाँ, पिपड़िया, पिपरा, पिपरापार, पिपरारा, पिपराही, पिपलानी, पियरोंकलाँ, पियरों सरैया, पिरखौली, पिरोजा, पिरौना, पिलखना,

पिलाई, पिलखाँवा, पीपरगाँव, पीपरपुर, पीपरलराई, पीपरीगहरवार, पीपलरावा, पीपलिया कलो, पीलूरदम, पीपलवाड़ा, पुखरायों, पुंजापुरा, पुखा, पुरहिया, पुराणिकवाड़ा, पुरारा, पुरी, पुरुषोत्तमपुर, पुल्दूर, पुवायाँ, पुष्पागिरि, पुसन, पुसौली, पूना, पूरनपुर, पूरबगाँव, पूराबाजार, पूरेअंटका, पूरेअधारीपाण्डेय, पूरे अनन्तराम, पूरे आनन्दी दूबे, पूरे अमीर अली, पूरे अयोध्या उपाध्याय, पूरे अयोध्या दूबे, पूरे अयोध्या मिश्र, पूरे अवसान मिश्र, पूरे अहलाद पाण्डेय, पूरे इच्छा तिवारी, पूरे ईश्वरी पाण्डेय, पूरे उदयराम, पूरे ओझा, पूरे अंचली, पूरे कृपा पाण्डेय, पूरे कृपाल गोसाईं, पूरे कृपा शुक्ल, पूरे कँधई शुक्ल, पूरे कनपुरियन, पूरे कमरी शुक्ल, पूरे कल्पू तिवारी, पूरे कलपता, पूरे कल्लूटसिंह, पूरे काशीराम, पूरे किसुन दत्त, पूरे कुर्मी, पूरे कुलफल पाण्डेय, पूरे कुटियता, पूरे कोटे, पूरे कोदई, पूरे कङ्काली, पूरे कंसा, पूरे खगई, पूरे खूटवन, पूरे खड्गपाणि उपाध्याय, पूरे खौशी मिश्र, पूरे गणेश दूबे, पूरे गवरन, पूरे गुजाजी, पूरे गुणी पाण्डेय, पूरे गुरुदत्त तिवारी, पूरे गुलजार अहीर, पूरे गुलजार पाण्डेय, पूरे गोवरी, पूरे गोसाईं, पूरे गौरी, पूरे गंगा तिवारी, पूरे गंगा पाण्डेय, पूरे गंगा मिश्र, पूरे गंगा लोनिया, पूरे घीसन चौबे, पूरे चतुरी उपाध्याय, पूरे चन्द्रिका मिश्र, पूरे चिरंजू मिश्र, पूरे चूरावन पाण्डेय, पूरे चेतसिंह, पूरे चेती दूबे, पूरे चोचई, पूरे चौपई उपाध्याय, पूरे चौरिहा, पूरे चौबे, पूरे छतई, पूरे छविलाल, पूरे छीटन, पूरे छेदी सिंह, पूरे ज्योति मिश्र, पूरे ज्वाला पाठक, पूरे जगत, पूरे जगन्नाथ, पूरे जगन मिश्र, पूरे जगनू, पूरे जमुना तिवारी, पूरे जमादार, पूरे जालिम, पूरे जालिम सिंह, पूरे जियावन, पूरे जूड़वन चौबे, पूरे जोधई पाण्डेय, पूरे जोरई तिवारी, पूरे झाऊ पाण्डेय, पूरे टिकऊ मिश्र, पूरे टिका शुक्ल, पूरे टोंड़ी शुक्ल, पूरे ठाकुर तिवारी, पूरे ठाकुर दूबे, पूरे ठन्नू पाण्डेय, पूरे डींगर मिश्र, पूरे ढुडही, पूरे तिलक पाण्डेय, पूरे तिवारी, पूरे तुलसी मिश्र, पूरे तुलसीराम तिवारी, पूरे तुलसी शुक्ल, पूरे दत्ता, पूरे दत्ता तिवारी, पूरे दत्ता पाण्डेय, पूरे दत्ता मिश्र, पूरे दत्ती, पूरे दरियावँ लाल, पूरे दलई, पूरे दला, पूरे दर्शन पर्सन, पूरे दिनई, पूरे दिलासराय, पूरे दीनदयाल तिवारी, पूरे दीन दूबे, पूरे दुआ शाह, पूरे दुर्गा पाठक, पूरे दुनिया सिंह, पूरे दूबे, पूरे दुल्हमदास, पूरे देऊ पाण्डेय, पूरे देवकीनन्दन मिश्र, पूरे देवी तिवारी, पूरे दोद पाण्डेय, पूरे धर्णीधरमिश्र, पूरे धनी सिंह, पूरे धारूशाह, पूरे धौंकल पाठक, पूरे नृसिंह, पूरे नकछेद पाण्डेय, पूरे निध्या शुक्ल, पूरे निद्धि पाण्डेय, पूरे निधई तिवारी, पूरे निधऊ उपाध्याय, पूरे निधान तिवारी, पूरे निधानलाल, पूरे नन्दराम तिवारी, पूरे नन्दलाल दूबे, पूरे नीलकंठ, पूरे नेतनि, पूरे नेमा, पूरे नेवाज, पूरे नैपाल चौबे, पूरे प्रथ्यपाल मिश्र, पूरे प्रभात गोसाईं, पूरे पंचऊ हवलदार, पूरे पडानन, पूरे पड़ाइन, पूरे पतई चौबे, पूरे परगास, पूरे पखानी पण्डित, पूरे परसन पाण्डेय, पूरे परान, पूरे परौती लाल, पूरे पल्टन तिवारी, पूरे पल्टन मिश्र, पूरे पल्टू, पूरे पाण्डेय, पूरे पासिन, पूरे पीर, पूरे पंचम पाण्डेय, पूरे पंचम शुक्ल, पूरे पण्डित, पूरे पण्डित आचार्य, पूरे पण्डित चांदिका, पूरे फकीर उपाध्याय, पूरे फत्ते भरसैया, पूरे फेरई शुक्ल, पूरे बक्तावर, पूरे बकशी शुक्ल, पूरे बकिया तिवारी, पूरे बकसी, पूरे बख्तावर तिवारी, पूरे बच्चू तिवारी, पूरे बद्री अहीर, पूरे बदौवन, पूरे बन्धू, पूरे बनी, पूरे बल्दान, पूरे बल्दान दूबे, पूरे बल्दी, पूरे बल्दू तिवारी, पूरे बलऊ तिवारी, पूरे बसहा, पूरे बसाऊ दूबे, पूरे बाबाजी, पूरे बालेडीहा मिश्र, पूरे बिसेने, पूरे बिहटा, पूरे बुद्धि दूबे, पूरे बेंचई सूबेदार, पूरे बंधन मिश्र, पूरे बन्धन यादव, पूरे बंसा दीक्षित, पूरे भक्तिन, पूरे भग्गू सिंह, पूरे भगौती, पूरे भाटन, पूरे भरथी, पूरे भरसैयन, पूरे भवनी उपाध्याय, पूरे भवानी चरण, पूरे भार्गव तिवारी, पूरे भाले सुल्तान, पूरे भीखादास तिवारी, पूरे भीखी, पूरे भीखी पाण्डेय, पूरे भीम तिवारी, पूरे भुआल, पूरे भुलई सिंह, पूरे भोगई तिवारी, पूरे भोजई मिश्र, पूरे भोला अहीर, पूरे भोला तिवारी, पूरे भोला पाण्डेय, पूरे भोला मिश्र, पूरे भोला दूबे, पूरे भंजन शुक्ल, पूरे मक्खूबनैचा, पूरे मचली शुक्ल, पूरे मझरा, पूरे मझरिया, पूरे मधुकर मिश्र, पूरे मधुबनी मिश्र, पूरे मयादत्त मिश्र, पूरे मलारी, पूरे महाराजा, पूरे महावीर वैद्य, पूरे मातादीन पाण्डेय, पूरे माताबक्स मिश्र, पूरे माधव, पूरे माधा कोरी, पूरे मान, पूरे मानधाता सिंह, पूरे मायाराम तिवारी, पूरे मिश्रन, पूरे मुर्तुजा, पूरे मुन्नू, पूरे मुनेश्वर, पूरे मुरली पाण्डेय, पूरे मुल्ली तिवारी, पूरे मुल्ही उपाध्याय, पूरे मेड़ई उपाध्याय, पूरे मैन पाण्डेय, पूरे मोतीराम तिवारी, पूरे मोतीमाला, पूरे मोतीलाल पाण्डेय, पूरे मोहन तिवारी, पूरे मोहन दूबे, पूरे मोहनलाल मिश्र, पूरे मंसा तिवारी, पूरे मंशा शुक्ल, पूरे मंशा मिश्र, पूरे युगराज मिश्र, पूरे रघुनन्दन पाण्डेय, पूरे रघुनाथ पाण्डेय, पूरे रघुबर दूबे, पूरे रघुबर पाण्डेय,

पूरे रघुवर बिसुहिया, पूरे रघुवर शुक्ल, पूरे रघुवीर अहीर, पूरे रणजीत सिंह, पूरे रम्भा पंडित, पूरे राजकुमार, पूरे रामअनंद, पूरे रामअनंद तिवारी, पूरे रामगुलाम, पूरे रामदास मिश्र; पूरे रामदीन तिवारी; पूरे रामदीन दूबे; पूरे राधे पंडित, पूरे रामप्रसाद पाण्डेय, पूरे रामबक्स अहीर, पूरे रामबक्स शुक्ल, पूरे रामभद्र मिश्र, पूरे रामभरोसे अहीर, पूरे राममोल पाण्डेय, पूरे रामशरण पाण्डेय, पूरे रामसेवक मिश्र, पूरे रूपधर तिवारी, पूरे खेती, पूरे खेती शुक्ल, पूरे ललकी, पूरे लक्षण तिवारी, पूरे लादी तिवारी, पूरे लादी मिश्र, पूरे लाल, पूरे लाल तिवारी, पूरे लाल दूबे, पूरे लाल पाण्डेय, पूरे लाला, पूरे लालू, पूरे लीला पाण्डेय, पूरे लोकई तिवारी, पूरे लोनियन, पूरे लोहरन, पूरे लौटन तिवारी, पूरे लौटन पाण्डेय; पूरे वढ़इन, पूरे वरइन, पूरे वल्दन पाण्डेय, पूरे विर्जे पाठक, पूरे विनीदत्त, पूरे विंध्या अहीर, पूरे विंध्यासक्कवार, पूरे विश्राम तिवारी, पूरे विश्राम सिंह, पूरे विशाल मिश्र, पूरे विष्णुदत्त दुबे, पूरे विष्णु पाण्डेय, पूरे वेनीदीन तिवारी, पूरे वैजू पाण्डेय, पूरे वैजू मिश्र; पूरे वैशन, पूरे वैसी मिश्र, पूरे शिला पाण्डेय, पूरे शिवदत्त मिश्र, पूरे शिवदत्त सिंह, पूरे शिवनी शुक्ल, पूरे शिवप्रसाद, पूरे शिवप्रसाद पाण्डेय, पूरे शिवबक्स पाण्डेय, पूरे शिवबहादुर, पूरे शिवरत्न तिवारी, पूरे शिवलाल पाण्डेय, पूरे शिसवन, पूरे शीतल कुर्मी, पूरे शीतल तिवारी, पूरे शुक्ल, पूरे शंकर उपाध्याय, पूरे स्वयंवर दूबे, पूरे सर्जू मिश्र, पूरे सर्जू मिश्र रैचा, पूरे सदन, पूरे सधई तिवारी, पूरे संधन तिवारी, पूरे सबल पाण्डेय, पूरे सम्भा, पूरे सरयू, पूरे सरदार, पूरे सहन, पूरे सहाई मिश्र, पूरे साधू, पूरे सिधई भगत, पूरे सिधौली, पूरे सीताराम तिवारी, पूरे सुक्खू दूबे, पूरे सुकाल अहीर, पूरे सुखराम अहीर, पूरे सुखमंगल पण्डित, पूरे सुखलाल पण्डित, पूरे सुच्चा मिश्र, पूरे सुचित तिवारी, पूरे सुजान, पूरे सुदियल, पूरे सुफल शुक्ल, पूरे सुब्धान पाण्डेय, पूरे सुरली तिवारी, पूरे सूबेदार, पूरे सूबेदार पाठक, पूरे सेठ, पूरे सेमरातर, पूरे सेवा पाण्डेय, पूरे संगम दूबे, पूरे संजन, पूरे हरबंश तिवारी, पूरे हरबंश पासी, पूरे हरिपाल पासी, पूरे हरिबंश उपाध्याय, पूरे हनोमान उपाध्याय, पूरे हनोमान दूबे, पूरे हनोमान शुक्ल, पूरे हरिराम दूबे, पूरे हिजरन, पूरे हीरालाल, पूरे हीरालाल पाण्डेय, पूरे हव्वा सिंह, पूरे हेम सिंह, पेटरवार, पेठशिवनी, पेन्डरा, पेन्डरी (राजपूर), पेरुम्बेदु, पैगापुर, पैंची, पैडगुमल, पोकरण, पोडातराई, पंचगणी, पंडितका पूरा, पंढरपूर, प्रतापगढ़, प्रतापगंज, प्रतापनगर, प्रतापपुर, प्रश्नोन्नगर, फत्तेपुर, फतेहगंज, फतेहपुर, फरह, फरहदा, फरीदपुर, फर्रूखाबाद, फलोदी, फाकूर बस्ती, फागी, फिरोजपुर, फिरोजाबाद, फुलौत, फुटिया, फुलकाही, फुलवरिया, फुलबंरी, फूलपुर, फैजपुर, फोरबेसगंज, बखरी, बगाडिया; बगाही, बगासपुर, बघराजपुर, बघेरा, बजरंगपुरा, बजौरह, बढ़इया टोला, बड़कली, बड़का तेंधा, बड़खेरा, बड़नगर, बड़नपुर, बड़वानी; बड़हरवा, बड़हिया; बड़गाँव, बड़सेरी; बड़ाचन्द्रगंज; बड़ाडाँड़, बड़ोखरी, बड़ोदरावाड़ी, बथुआ, बदरिआ, बदली तिवारीपुर; बदलेपुर, बदायूँ, बदोसा, बधुवाकला, बधौना, बनकटवा, बनजरवा, बनझोलियाँ, बनपुकरा, बर्नपुर, बनैकापुर, बनैली, बभनगवाँ, बभिनियावाँ, बवाई, बम्बई, बम्हनी, बम्हरौरी, बरखेड़ाहसन, बरगदही, बरडिनपुर, बरडीह, बरबिधा, बरसावाँ, बरामऊ, बरियारपुर, बरियौना, बरुअटा, बरूडगाँव, बरुधन, बरेली, बरेहटा, बरौंधा, बरौली, बल्दीपुर, बल्लभनगर, बल्लवपुर, बलवाड़गी, बलासपुर, बलिगाँव, बलीतारा; बलुहा, बवाँ, बस्तौली, बसौहा, बसंतपुर, बहराइच, बहकी, बहलोलपुर, बहियारी, ब्रह्मपुर, ब्रह्मावली, बहरौली, बहादुरपुर, बहुरावाँ, बाखाशर, बागपिपरिया, बाजार बल्दीराम, बादमेर, बाढ़; बादनबाड़ा, बादरायपुर, बादा, बावमण्डी, बाबूगंज, बामकै, बारडीली, बारण्ट, बारीपदा, बारीपारा, बारू, बाल्मिकिनगर, बालनगिरि, बाल बँगरा, बालसंकीर्तन मण्डल, बालापार, बालापुर, बालोन, बावपाली, बावल, बाँसगाँव, बासगुड्डी, बासखोह, बाँसी, बाहरपुर, बिग्गावास, बिगहुली, बिछवाँ, बिजवार, बिजौरी, बिडकीन, बिरधौरा, बिरमगाम, बिरहा, बिरुनकिलाह, बिरौलीझाम, बिलखी, बिलन्दा, बिलासपुर, बिशुनपुर, बिष्णुपुर बृत, बिषमकटक, बिसावाँ, बिसुहिया; बिही, बीकापुर, बीकानेर, बीछी, बीजापुर, बीड़, बीबीपुर-गढ़, बीरसागरताल, बुढ़ौली, बुधईपुर, बुधापुर, बुलडाणा, बुलन्दशहर, बेंगनिया, बेगमगंज, बेंगाबाद, बेटमा, बेतुल, बेन्गलूरमाना, बेनीपुर, बेमेतरा, बेरझ, बेलखरा, बेलथरा बाजार, बेलमंडई, बेलसरागोठ, बेलहरा, बेलापुर, बेलाकोवा बाजार, बेलामोहन, बेसिया, बेहटा, बैकुण्ठपुर, बैजापुर, बैतूलगंज, बोझन्दा, बोतराई, बंगदूदी, बोरीगारका, बोरूदा, बोलुन्द्रा, बौराणा, बंगलौर, बंगिनोबाड़ी, भकरहा, भखरी, भगरदरी, भगलवा, भगवतीपुर, भगवानपुर, भजनावाँ, भट्टी जरौली, भटगामा,

भटनी, भँटपुरवा, भटपुरा, भण्डरा, भड़सरा, भडेराकणी, भड़ौंच, भर्थी सरैया, भद्रपुरा, भदहरा, भद्यवापुर, भदाँव, भदेवाँ, भदोही, भपटा, भ्रमरपुर, भरथी, भरथूपुर, भरथौली, भरुच, भलोद, भवदेवपुर, भवन्नगर, भवनाथपुर, भवनियापुर, भवानीगढ़, भवानीपुर, भाईं, भाईपुर, भाऊपुर, भागलपुर, भागीपुर, भाट पचलाना, भाटायारा, भादिहा, भालोद, भावनगर, भिगार, भिटारी, भिरही, भिलाई, भिलावट, भिवानी, भिवंडी, भीकमकौर, भीखरपुर, भींटी, भीमपुराकुटी, भीमाताली, भीमीपूरब, भीष्मपुर, भुडाबुजुर्ग, भुरका, भुलकी, भुवनेश्वर, भुसावल, भैरोंपुर, भैंसालोटन, भोपाल, भौसा, मई, मऊ, मऊगंज, मऊघनश्यामपुर, मखथल, मग्दूमपुर, मझवारा, मझिलेगाँव, मझौवा, मटजोगिन्दरगिरि, मटा, मटिया, मडिकोन्डा, मढ़न, मड़ेरुवा, मड़वल, मणिपुर, मथाना, मथुरा, मदनपुर, मदलीशहर, मद्रास, मदीना, मदुरा, मधुपुर, मधुवन, मधुवनी, मधुसूदनपुर, मन्नारगुडि, मन्सूरपुर, मनकापुर, मनासा, मनीमाजरा, मरऊपुर, मरछे, मराठवाड़ा, मरुई, मल्दा, मलणगाँव, मलारा, मलिकपुर, मलेथुवा, मलेपुर, मवड़ा, महथी, महनार, महमन्दीपुर, महमूदपुर, महमदपुर वदल, महराजगंज, महरौली, महाजनी, महानन्दपुर, महादेवन, महायतपुर, महाराजपुर, महारानीपट्टी, महिउद्दीन, महिलौ आशापुर, महुआ, महुधा, महुलारे, महुली, महेन्द्रटोला, महेशपुर, मस्तीचक, मसकी, मसुरन, मसेढा, महोली, माडवालम, माथाभाड़ा, मानडीह, मानपुर नगरिया, मानिकपुर, माधवपुर, माधोपाली, मायंग, मारवाज, मारवर्जून, माल्हा, मालेगाँव, मालेश्वरम्, मिकनगाँव, मिचकुरही, मिर्जापुर, मिझूटी, मिटूरदम, मियागंज, मिल्कीपुर, मिश्राने, मिश्रौली, मीठेगाँव, मीरपुर, मुजफ्फरनगर, मुजुलावीले, मुंडगाँव, मुदकीखास, मुदगल, मुबारकशाह, मुरादपुर, मुरुम, मुलताई, मुलतानीठाडा, मुलुन्द, मुकुंदपुर, मुकेरीटोला, मुड़वा, मुबारकगंज, मुरारीदासकी गली, मूँदी, मेघपुर, मेघमऊ, मेजरगंज, मेरठ, मेहदावल प० टोला, मैनपुरा, मैरी रंजीत, मैसूरी, मैंरूपुर, मैंसहा, मोकलवाड़ा, मोरवन, मोटीमारड, मोढुका, मोडासा, मोतीनगर, मोतीबाग, मोदीनगर, मोयाखेड़ा, मोरवड़ी, मोरटाकेवड़ी, मोरवी, मोरीर, मोलनापुर, मोलासी, मोहबे, मोहम्मदाबाद, मोहननगर, मोहनपुरा, मोहाना, मौधिया, मौनेमुझाँसी, मंगलपार, मंझनपुर, मंडला, मंडावर, यकलखी, यमदहौरा, यादवपुर, रघईपुर, रतनगढ़, रतनाभारी, रतलम, रथवालाईन्स, रतापुर, रथीपुर, रमऊपुर, रमनगरा, रश्मीपुर, रशहरा, रसूलगढ़, रसूलपुर, रहमतपुर, रहली, रहावली उबरी, रहीमपुर बदौली, राँची, राजकोट, राजमंडरी, राजभनवार, राजलदेसर, राजाखेड़ा, राजापुर, राजाम, राजेन्द्रनगर, राधवपुर, राधाउर, राधौगढ़, रानीखेत, रानीपुर, रानीला, रानीबाग, रानीडेरा, रामनगर, रामनगर कोट, रामपुरग्रिंट, रामपुर, रामपुर-अहिरौली, रामगंज, रामपुरा, रामलीलामढ़ी, रामापुर, रामेश्वरम्, रायपट्टी, रायपुर, रायपुरसोनौरी, रावतपाड़ा, राविन्टूसला, रिकाबगंज, रिहारी, रुकुन्नरसराय, रुढ़ा, रुद्रनगर, रुद्रपुरा, रुधौली, रूपसपुर, रूपिनपुर, रूपसागर, रूपापुर, रूहट्टागली, रेकाँ, रेड़ा, रोहटकम, रोहिडा, रोहिणी, रोहिला, रोहेड़ा, रौतावाँ, रंगवासा, लकेहटा, लखनऊ, लखौरी, लँगड़ी, लत्ता, लश्कर, लहना, लहान वजार, लहरनियाँ, लहार, लहुरेपुर, लक्ष्मणपुर, लाड़बेरोली, लातेहार, लालापुर, लावनभिंड, लास, लासलगाँव, लाही, लीलापुर, लेसवा, लोटवा, लोदीपुर, लोहँगी, लोहँगी महावीरन, लोहरानी, लोहरामऊ, लोहरिया, लोहाटोला, लौंगपुर, वड़का चुम्बा, वर्धा, वनैली, वभटौली, वरई खुर्द, वरईपुर, वरचन्दी, वरपुर, वरवा, वरसेंडी, वरहट, वल्ला बोराटौ, वलीपुर, वसनापुर, वाथरी, वारडोली, वाराणसी, वाराद्वार, विक्रमपुर, विकवाजितपुर, विचुर, विछौरा, विजइनपुर, विजयगढ़, विजयवाड़ा, विजरा, विजेलिया, विधावनपुर, विरईपुर, विरवल, विलखी, विलदूरती, विलवामिनि, विलासपुर, विश्वनाथपुर, विशाखापट्टम्, विष्णुपुर, विष्णुपुर पड़वा, विसानी, विसौहुली, वीरगंज, वीरा सराय, वीहीनिदूरा, वदूदू, वेंकटपुरम्, वेरासा, वेलदूर्ती, वैदरापुर, वैदहा, वैसाडीह, वोड़ेपुर, वोरलाहा, वंडोल, शकूर बस्ती, शफीपुर, शर्मिष्ठापुर, शरफुद्दीनपुर, शहपुरा, शाजापुर, शाहगंज, शाहजहाँपुर, शाहनगर, शाहपुर, शिरल्कूकासार, शिलकोट, शिवगंज, शिवदासपुर, शिवनिवास, शिवपुर, शिवपुरी, शिवराजपुर, शिवली, शिवाश्रम नौला, शिसरकासार, शिवहारा, शीतलपुर बाजार, शुखारा, शुजालपुर, शेखनपुर, शेरपुर, शेरभुक्का, शंकरपुर, शंखलपुर, सकरी, सकलासपुर, सगुनी संझौआ, सटियाँव, सढ़वारा, सड़रा, सडाँव, सत्वास, सतहरी, सथरी, सदरपुर, सदैंया, सधरा भारी, सनकुई, सनावड़ा, सपही, सफलेपुर, सबलपुर, सम्बलपुर,

समदागढ़, समर्थपुर, समनापुर, समस्तीपुर, समाना शहर, समेसर, सयाल, सराठा, सरंगापुर, सरजूपुर, सरवन, सराय, सरायगौतम, सराय धनेठी, सराय भावसिंह, सरायरासी, सरायहेमराज, सरिया, संरेटी, सरेया, सरैयामझौवा, सरैया माफी, सरैयावीरान, सरुरपुर, सवँरधीर, सवँरमऊ, सहई शाहपुर, सहदोल, सहाइतपुर, सहारनपुर, सहिया, सहोदर हाटसागर, सातारा, सादक सिवनी, सानगडी, साप्रन, सामोज, सांरगपुर, साहिबाबाद, साहुपरवत्ता, साहेबान, सिकन्दराबाद, सिकरी, सिकन्दरपुर, सिजौरा, सिबगदा, सिंबनी, सिंधिताली, सिद्धि गणेशपुर, सिधौना, सिन्धौरा, सिपाह महेरी, सिमलासा, सिरवारा, सिवनी पेन्डरा, सिसवा-बसन्तपुर, सिसौली, सिहैता लोहानी, सिहैता, सिहोरा, सिंहोरिया, सीकर, सीगेंडन, सीगौन, सीतापुर, सीताकुण्ड, सीतामऊ, सीतारामपुर, सीलोही, सुखचैनपुर, सुखबड़ेरी, सुखारा, सुखारी, सुचित्तागंज, सुजरमा मण्डल, सुजानगढ़, सुजानपुर, सुदना, सुन्देपुर, सुभाषनगर, सुरहुरपुर, सुल्तानगंज, सुल्तानपुर, सूरतरोड, सूटिया, सूरजपुर, सूरापुर, सेउर, सेउरा, सेंदुरापुर, सेमती, सेमरौना, सेमरौल, सेमली, सेलोटपार, सेवकरी, सेवरा, सैदपुर, सैदुल्लापुर, सैनी, सैफुल्लागंज, सैवपारा, सोंढ़, सोड़पुर, सोती, सोन्याण, सोनकच्छ, सोनगाँवकर, सोनवरसा, सोनरे, सोनसिंहकी टड़िया, सोनारी, सोल्हनी, सौंदला, संभूगढ़, हतिनातीऊर, हडियाबरोखर, हड़ौरा, हथनारा, हन्नाहड़ौरा, हनमकुण्डा, हनुमानगंज, हफीजाबाद, हरगाँव, हरचन्दापुर, हरदा, हरदिया, हरदी, हरदोइया, हरनटैना, हरसेर, हरिकुटिर, हरिपुर बनवा, हरिभाषा, हरिहरपुर, हरीछपरा, हरीपुर, हरीपुरा, हरीरामपुर, हरौली, हलियापुर, हसनगढ़, हसनपुर, हसरमपुर, हाजीपुर, हाटी, हाथा, हापुड़, हाँफा, हिन्दूपुर, हिमगिर रोड, हियातपुर, हिरडामाली, हिरदेनगर, हिलौंधा, हिसार, हीरमा, हुबली, हुसनगंज, हेमनापुर, हैदरनगर, हैदराबाद, हैंधनाकलाँ, हैंहना खुर्द, होसपेट, होसाडीह, हौशंगाबाद, त्रिचुर, त्रिसुण्डी, त्रिसुली, ज्ञानापुर, ज्ञानीपुर, ऋषीपूरे, ऋषिकेश, ऋषीटोला, श्रीकाकुलम्, श्रीनगर, श्रीवैकुण्ठम, श्रीरामपुर।

नाम-जप-विभाग—**कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर**

◆

प्रेमका स्वरूप

पूर्ण समर्पण हो सदा स्व-सुख-कामना-हीन।
गुण अनन्त दीखें सदा, मन गुण-दर्शन-लीन॥
दोष न दीखें सर्वथा, दीखें गुण ही; दोष।
कभी न मनमें हों तनिक क्षोभ, निराशा, रोष॥
दे सकता कुछ नहीं, न है देनेयोग्य पदार्थ।
देते रहते वे सतत, यह अनुभूति यथार्थ॥
प्रियतम जो देते मुझे अवहेला अपमान।
संकट क्लेश महान, यह है उनका रस-दान॥
है उनकी आत्मीयता, है प्रियतमका प्रेम।
ध्वंस न हो सकता कभी, यही प्रेमका नेम॥
पल-पल बढ़ता ही रहे, पल-पल नव आनन्द।
पल-पल नित नव रस-सुधा मधुर पान स्वच्छन्द॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

धनमें सुख नहीं

यह अक्षरशः सत्य घटना है, केवल नाम बदले हुए हैं। सन् १९३४-१९३५ की बात है । उन दिनों मैं भी दिल्लीके तीन 'आयकर'-अधिकारियोंमेंसे एक था । मैंने यह नियम बना रक्खा था कि किसी आयकरदातासे मैं उनके घरपर नहीं मिलता और दफ्तरमें हर किसीसे मिलता । इस नियमसे मुझे बड़ा लाभ था ।

एक दिन तीसरे पहर में चाँदनीचौकके फतेहपुरीवाले भागमें, जहाँ समाचारपत्र बिका करते थे, खड़ा समाचार-पत्रोंको देख रहा था कि किसीने मेरे नामसे पुकारा । मैंने इधर-उधर देखा तो मालूम हुआ कि यह आवाज एक कारमेंसे आ रही थी जो मेरे समीप आकर रुकी थी । कारमें सेठ कृष्णकिशोरलाल थे और उन्होंने मुझसे कहा कि 'आप जहाँ कहें आपको छोड़ आऊँ ।' मैंने उत्तर दिया कि 'आपको कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, मैं जैसे आया हूँ वैसे ही चला जाऊँगा ।' इसपर वे बोले, 'मुझे आपसे कुछ पूछना है, आप कारमें बैठ जायँ ।' मैं कारमें बैठ गया और मैंने उनसे कहा कि 'आपको जिधर जाना हो, चलें और जो कुछ पूछना हो पूछें ।' उन्होंने आयकरके कानूनके सम्बन्धमें कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उनको ठीक-ठीक समझा दीं । इससे वे बड़े प्रसन्न हुए ।

तब मैंने कहा कि 'अब मुझे भी आपसे एक प्रश्न पूछना है जिसका आप निस्संकोच सत्य उत्तर देनेकी कृपा करें ।' उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा ।'

मैंने पूछा कि दिल्लीमें आप करोड़पति प्रसिद्ध हैं; क्या आप यह बतानेकी कृपा करेंगे कि आप कितने सुखी हैं ?

'सुखी' शब्दके सुनते ही उनकी आँखें छलछला आयीं और वे कहने लगे—'राय साहब ! मेरे-जैसा दुखी तो दिल्लीमें शायद ही कोई होगा ।'

मैंने पूछा, 'कैसे ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'सुनिये ।'

'डाक्टरकी ओषधिकी एक मात्रा लेनेके पश्चात् मैं एक फलकेका परत घीयाके सागके साथ खा सकता हूँ ! दुनियामें इतने पदार्थ हैं उन सबसे मैं वञ्चित हूँ ।'

'घरवाले सो जाते हैं, नौकर-चाकर सो जाते हैं, यहाँतक कि चौकीदार सो जाता है । पर मुझे निद्रा नहीं आती । आती है तो तीन चार-बजे केवल एक-आध घंटेके लिये ।

'जब मेरे पास अधिक धन नहीं था, तब मेरे भी बहुतसे इष्ट-मित्र थे, जो मुझे कहा करते थे—'अबे ओ किशन, चल यमुनाजीमें तैरें अथवा कुतब चलें ।' मैं भी उनके साथ निस्संकोच भावसे खाता, खेलता, हो-हल्ला मचाकर आनन्दका अनुभव करता । धनके अधिक हो जानेसे मैं उनसे और वे मुझसे दूर होने लगे; क्योंकि मुझे डर लगने लगा कि ये मुझसे धन माँगेंगे और कोई-कोई अभावग्रस्त दुखी मित्र माँगता भी था, इसलिये मैं उनसे बेरुखीसे पेश आने लगा और शनैः-शनैः सभी मित्र मुझे छोड़ गये । अब एक भी मेरा ऐसा मित्र नहीं है, जिसको अपना दुःख सुनाकर मन हलका कर लूँ ।

'यह तो आप जानते ही हैं कि मेरा लड़का लक्ष्मीनारायण है अवश्य; किंतु उसको मैंने अपने बड़े भाईको गोद दे दिया था । मेरा पुत्र तो महादेव ही है, उसके घर पुत्र नहीं है ।

'यह बात सत्य है कि हमारी कोठीमें दो-दो हजार रुपयेके चित्रपट लगे हैं और राजस्थानके एक प्रसिद्ध महाराजने वायसरायको भोज देनेके लिये हमारी कोठी माँगी थी; क्योंकि इतनी सुन्दर और कीमती सजावट अन्य किसी स्थानमें नहीं थी । किंतु इससे मुझे कुछ भी सुख नहीं मिलता ।

'क्योंकि मेरे मनमें सुख-शान्ति नामको भी नहीं है । भाँति-भाँतिकी चिन्ताएँ दिन-रात मुझे खाती रहती हैं ।'

करोड़पति भी सुखी नहीं !!!

सत्य बात तो यह है कि धनकी आवश्यकता तो केवल दान-पुण्य तथा सुख-आरामके लिये है । किंतु धन कमानेमें एक ऐसा नशा है जो हमें इस बातको भुला देता है कि धनको सदा दासके स्थानपर ही रक्खें और इसका सदा सदुपयोग करें तभी इसका होना सफल है । धनके दास हो जायँगे तो दुःख-कष्ट-रोग-अशान्तिके सिवा और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । दान, भोग और नाश धनकी तीन ही गतियाँ होती

हैं। यदि प्रथम दो गतियाँ नहीं, तो तीसरी तो अवश्यम्भावी है; क्योंकि मृत्युके समय यह धन हमारे अधिकारमें रहेगा ही नहीं, इसलिये जैसा हुआ वैसा न हुआ—हमारे लिये तो नाशके समान ही है।

—निरञ्जनदास धीर

(२)

अभीष्ट फलप्रद ईश्वर-प्रार्थना

लगभग ६० वर्षकी बात है जब मेरी आयु १०-११ वर्षकी थी, एक क्रान्तिकारी अध्यापकसे शिक्षा प्राप्त करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। देशकी पराधीनता उन्हें बहुत अखरती थी। साम्राज्यवादी शासनके वे कट्टर विरोधी थे। यहाँतक कि १९१० में ही 'हिजरत' करके जम्मू-काश्मीर राज्यमें, जिसे आप स्वदेशी राज्य ही कहा करते थे, जा बसे। उग्र भावनाओंका मुझपर चिरस्थायी प्रभाव हुआ और १९०७ के लाजपतराय-अजीतसिंह-आन्दोलनने मेरे विचारोंको उग्रसे उग्रतर बना दिया।

१९१२ में मुझे सरकारी नौकरी मिल गयी, इसपर भी उक्त उग्र राष्ट्रीय विचारोंमें अन्तर नहीं आ पाया; परिणामतः सी. आई. डी. के लोग दफ्तरमें अथवा अन्यत्र, सर्वत्र मेरे पीछे छायाकी तरह मँडराते रहते। यहाँतक कि अंग्रेज अफसरकी वक्र दृष्टिके कारण १९१९में जलियानवाला बागके हत्यारे जनरल डायरके सामने भी पेश होना पड़ा, जहाँसे एक दैवी घटना ही मेरी रक्षा कर सकी। महात्मा गांधीके असहयोग-संग्रामके दिनों 'सरकारी नौकरी बायकाट'के आदेशानुसार मैंने नौकरी छोड़ दी और 'किसी-न-किसी तरह' १९२२ में प्रिंटिंग प्रेसका व्यवसाय आरम्भ कर दिया।

रुपयेकी आवश्यकता तो लखपतियोंको भी बेचैन किये रहती है फिर मध्यम श्रेणीके गृहस्थोंका तो कहना ही क्या?

१९२५-२६ में प्रेसका एक काम सात-आठ सौ रुपयेके अभावके कारण रुक-सा गया। इधर-उधर हाथ-पैर मारनेपर भी कहींसे कोई प्रबन्ध न हो सका। चारों ओरसे निराश होकर भगवान्के दरबारमें बार-बार प्रार्थना करने लगा, साथ-साथ निम्नाङ्कित वेद-मन्त्रोंका उच्चारण किये जाता था—

ॐ भूरिदा भूरि देहि नो, मा दभ्रं भूर्या भर।
भूरि घेदिन्द्र दित्ससि॥

ॐ भूरिदा ह्यसि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्!
आ नो भजस्व राधसि॥

(ऋग्वेद ४। ३२। २०-२१)

'हे लक्ष्मीपते! आप दाता हैं, दानी हैं, साधारण दानी नहीं, प्रत्युत बहुत बड़ा दान देनेवाले हैं। आप्तजनोंसे सुना है कि संसारभरसे निराश होकर जो याचक आपसे याचना करता है, आप उसे रीता नहीं लौटाते, उसकी झोली भर देते हैं। प्रभो! मेरी पुकार सुनो और इस अर्थ-संकटसे बचाओ।'

पाठकवृन्द! आप यह पढ़कर कदाचित् चकित होंगे कि दो ही चार दिनोंमें एक लम्बे-चौड़े, नंग-धड़ंग, जटा-जूटधारी महात्मा प्रेसमें पधारे और बोले—"हमें 'राम-राम' छपवाना है, एक हजारके मय कागज क्या लोगे?" मेरे सात रुपये आठ आना प्रति हजार निर्ख बतानेपर एक लाखका आदेश और साढ़े सात सौ रुपये नकद मेज़पर रखकर बिना रसीद लिये ही चलते बने। निश्चित तिथिपर आये और प्रेसके कर्मचारी नत्थू नामक पहाड़ी सज्जनसे कागज उठवाकर ले गये। इधर-उधर अनेक गली-बाजारोंका चक्कर कटवाते हुए एक बंद दूकानके थड़ेपर काग़ज़ रखवाकर उसका वेतन पूछा और २५) रुपये मासिक बतानेपर छः आने आधे दिनका वेतन उसके हाथमें देते हुए कहा कि 'जाकर बाबूजीको दे देना। वापसीपर नत्थूने सारी घटना सुनायी और छः आने पैसे मेरे आगे रख दिये। मुद्दतों ढूँढ़नेका प्रयत्न करनेपर भी मुझे उक्त महात्माका पता नहीं चला।

१९३०-३१ के करीब वैसी ही संकटकालीन परिस्थिति, जब कि मैं प्रभुके दरबारमें दुखी हृदयसे पहले-जैसी ही प्रार्थना किया करता था कि पुनः वही महात्मा, भगवान् जाने एकाएक कहाँसे प्रादुर्भूत हुए और डेढ़ लाख 'राम-राम' छापनेका आदेश दिया। ड्योढ़ा आर्डर समझकर मैंने साढ़े सात रुपये प्रति हजारके स्थानपर सात रुपये माँगे, तो महात्मा कहने लगे—'पहले हमने साढ़े सात दिये थे, उस समयकी अपेक्षा अब परिस्थितियाँ विशेष गम्भीर हो रही हैं, अतः अधिक नहीं तो साढ़े सात तो अवश्य देंगे।' यह कहकर और गिनकर एक हजार एक सौ पचीस रुपये मेरी मेज़पर ढेर कर दिये। पूर्ववत् निर्दिष्ट तिथिपर पधारे, छपा हुआ काम ले गये और नत्थूको आठ आने

दे गये; क्योंकि अब वह तीस रुपये मासिक पाता था।

चलते समय नत्थूको मैंने ताकीद कर दी थी कि बाजारमें ही छोड़कर मत आ जाना, प्रत्युत महात्माजीके निवासस्थानपर पहुँचा आना; परंतु नत्थूने लौटकर पहले-जैसी कहानी सुनायी और आठ आने पैसे मुझे दे दिये।

यत्न करनेपर भी मुझे आजतक न तो उक्त महात्माका कहीं पता चला और न दर्शन हुए।

——'प्रीतम' अमृतसरी

(३)

विलक्षण सेवाव्रती

घटना शायद सन् १९५६ के अगस्त मासकी है। एक विवाहमें सम्मिलित होनेमें अपने एक सम्बन्धीके यहाँ गया था, जो अलीगढ़ जिलेके एक गाँवमें रहते हैं। भगवान्की कृपासे सारे वैवाहिक कार्यक्रम सुचारु रूपसे सम्पन्न हो गये और बारात भी प्रसन्नतापूर्वक बिदा हो गयी थी। तीन-चार दिनके बाद एक दिन हमलोगोंका कार्यक्रम मोटरसे अलीगढ़ जानेका बना। विवाहमें सम्मिलित होनेके लिये आये हुए एक सज्जनको घर जाना था और अलीगढ़से होकर जानेमें सीधा मार्ग था तथा अधिक सुविधाजनक था, साथ ही मेरे सम्बन्धीको अपने नवजात शिशुको डाक्टरको दिखाना भी था। इसके अतिरिक्त और भी दो-एक छोटे-मोटे कार्य निकल आये; अतएव एक दिन हमलोग लगभग ६ बजे सायंकाल अलीगढ़ गये। वहाँ पहुँचकर पहले वे दोनों काम किये गये। यह सोचा गया था कि इनसे निवृत्त होकर कुछ फिरा-घूमा जायगा; किंतु उन्हीं दोनों कामोंमें नौ बजनेको आ गये। कुछ बूँदा-बाँदी भी आरम्भ हो गयी थी। हमलोगोंके साथ उनका परिवार था अतः वापस जानेमें अधिक विलम्ब करना हमलोगोंने उचित न समझा और यह निश्चय हुआ कि शेष कार्य भी शीघ्र ही निपटाकर चला जाय। अतः मोटर एक किनारे रोककर एक मुंशीजीको जो मेरे सम्बन्धीके परिचित थे, सामान इत्यादि लाने भेज दिया गया; क्योंकि बूँदा-बाँदी शनैः-शनैः तीव्र होती जा रही थी और मोटर छोड़नेकी न उनकी इच्छा थी, न मेरी ही। मुंशीजीको भेजकर हमलोग सब शीशे उठाकर आरामसे मोटरमें बैठे वर्षाका आनन्द लेने लगे। इतनेमें शीशेके पास एक व्यक्तिका चेहरा दिखायी दिया——दुबला-पतला चेहरा, वर्षासे भीगे एवं अव्यवस्थित केश, गलेको पूर्णरूपसे ढकती हुई दाढ़ी जो श्वेत एवं श्यामवर्णका असफल मिश्रण थी और जिसके ऊपर मूँछोंका कहीं भी अस्तित्व नहीं था। वह व्यक्ति शीशा गिरानेके लिये बार-बार हाथसे संकेत कर रहा था। उस सुखद मनोराज्यसे हमलोगोंको यथार्थके इस धरातलपर लानेवाले इस व्यक्तिके प्रति रोष आना स्वाभाविक ही था। अतः थोड़ा-सा शीशा गिराकर मैंने कुछ तेज स्वरमें पूछा, 'क्या है ?' 'मालूम होता है आपकी मोटरसे पेट्रोल 'लीक' कर रहा है; क्योंकि सड़कपर तमाम पेट्रोल बह रहा है।' उसने कुछ क्षमा-याचनाके-से स्वरमें, जैसे अपनी धृष्टताके लिये स्पष्टीकरण-सा देते हुए उत्तर दिया। 'पेट्रोल लीक कर रहा है' यह वाक्य हम दोनों आदमियोंके मुखसे एक साथ बरबस निकल पड़ा और एक झटकेके साथ दरवाजा खोलकर हमलोग बाहर आ गये—बाहर, उस वर्षामें जहाँ आनेमें अभी क्षणभर पूर्व भयंकर कष्टकी अनुभूति हो रही थी, देखा कि भीगी हुई सड़कपर काफी दूरतक पेट्रोल फैला हुआ है। मोटरका 'बानट' उठाकर देखनेपर पता चला कि पीछे लगी हुई टंकीसे पेट्रोल लानेवाला पतला पाइप इंजनके नीचे एक लोहेसे रगड़ खा-खाकर कट गया है और वहींसे पेट्रोल लीक कर रहा है। यह देखकर हम लोग तो स्तब्ध हो गये। 'अब क्या होगा' यह प्रश्न बड़े विकराल रूपमें आ उपस्थित हुआ। अब जबतक वह पाइप ठीक नहीं हो जाता एक बूँद पेट्रोल भी ऊपर 'कारबर्टर' में नहीं जा सकता और फलतः मोटर स्टार्ट होने या चलनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। हम दोनों आदमी जहाँ थे, वहीं मूर्तिवत् खड़े रह गये। अब कैसे क्या किया जाय, कुछ समझमें नहीं आ रहा था कि इतनेमें वह व्यक्ति, जो पास ही खड़ा था, बोल उठा,—'आपलोग बिलकुल परीशान न हों, एक साबुन मँगा लीजिये तो मैं इसे कामचलाऊ कर दूँगा, फिर आप ठीक करा लीजियेगा।' उसके ये शब्द कितने उत्साहवर्धक, कितने शान्तिदायक थे, यह केवल अनुभूतिकी वस्तु है। आशाका एक प्रकाशपुञ्ज भर दिया हमलोगोंके हृदयमें उसके इन शब्दोंने। अभी हम लोग साबुन ले आनेकी तैयारी कर ही रहे थे कि उसने सम्भवतः हमलोगोंकी उस शहरसे अनभिज्ञताको भाँप लिया और पैसे लेकर वह स्वयं ही साबुन भी ले आया। जब 'बानट' उठाकर वह ठीक करने चला तो एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी। वह पाइप जहाँ कटा था वह स्थान नीचेकी ओर था और ऊपरसे उसका जोड़ना असम्भव था। केवल एक

110362

ही उपाय था कि मोटरके नीचेसे जोड़ा जाय और इसके लिये मोटरके नीचे लेटना पड़ता। वर्षासे भीगी उस सड़कपर लेटना बड़ा ही दुस्तर कार्य था, इससे एक बार फिर हमलोग निराशाके अनन्त सागरमें डूबने-से लगे। मगर तभी देखा कि वह व्यक्ति लेटनेके लिये सड़क और स्थान देख रहा है और लेटनेकी तैयारीमें है। हमलोगोंने एक दूसरेकी ओर देखा और आँखोंसे ही शत-शत धन्यवाद दिया उस क्षीणकाय मानव-रत्नको। मेरे सम्बन्धीने दो-एक बार उसे सड़कपर लेटकर कपड़े खराब करनेसे मना भी किया, परंतु उसे तो जैसे केवल एक धुन थी अपना कार्य शीघ्र पूर्ण करना। उनकी बात अनसुनी करके वह अपने काममें लगा रहा। वह अभी नीचे लेटनेका उपक्रम कर ही रहा था कि मेरे सम्बन्धीका वह नवजात शिशु एकाएक रोने लगा। मोटरमें बैठे-बैठे वह शायद ऊब गया था और लाख चुप करानेपर भी वह चुप नहीं हो रहा था। हमलोग उसको चुप करनेका उपाय सोच-विचार रहे थे कि वह व्यक्ति उठा और सामनेकी दूकानमें जाकर दो-तीन कुर्सियाँ खाली करा लाया और उन्हें एक किनारे रखवाकर हमलोगोंसे स्त्रियोंको वहाँ बैठा देनेके लिये आग्रह करने लगा। उसने हमलोगोंको भी बैठनेके लिये कहा, किंतु हमलोग तो नहीं बैठे, स्त्रियोंको वहाँ बैठा दिया गया। अब वह व्यक्ति बिना किसी झिझक या संकोचके जमीनपर लेट गया। उसके कपड़े वह कुर्त्ता और तहमत पहने हुए था—भीग तो पहले ही गये थे, अब गंदे भी हो गये। लगभग १५ या २० मिनटके बाद वह उठा और ऊपरसे भी जोड़ने लगा ताकि और पक्का हो जाय। जहाँ वह पाइप कटा था, वहीं बैटरीका एक तार (Earth) लगा हुआ था। संयोगकी बात कि पाइप जोड़नेमें पता नहीं कैसे क्या हुआ कि उस तारका सिरा ही टूटकर अलग हो गया। यह एक नयी मुसीबत आ गयी थी किंतु उस कर्मयोगीपर इसका जैसे कोई असर ही न पड़ा। वह अपना काम पूर्ववत् करता रहा। पाइप जोड़ देनेके बाद उस तारको जुड़वानेके लिये उसे बैटरीसे खोलने लगा लेकिन वह किसी तरह भी न खुला। अन्तमें उसने पूरी बैटरीको ही मोटरसे निकाल लिया और अपने सिरपर उठाकर उस तारको जुड़वाने ले चला। यह सब कार्य वह इस तत्परता एवं लगनसे कर रहा था कि हमलोग अवाक् थे। मोटरमेंसे बैटरी निकालना कोई साधारण काम नहीं है, परंतु उसपर अपने कार्यको पूरा करनेकी जैसे धुन-सी सवार हो गयी थी। हमलोग कुछ कहें; या कुछ सहायता करें, इसकी उसे किंचित् भी अपेक्षा नहीं थी। जब वह बैटरी सिरपर उठाकर ले चला तो हमलोग कृतज्ञतासे अवरुद्धकण्ठ-से हो रहे थे। लगभग २० या २५ गजपर एक दूकान थी, वहाँ वह बैटरी ले गया और काम बंद कराकर पहले तार जुड़वाया। जब तार जुड़ गया तो फिर उसी तरह अपने सिरपर उठाकर ले आया और बिना एक शब्द बोले बिना एक बार भी इधर-उधर दृष्टिपात किये उसने बैटरी मोटरमें रखकर तार कस दिया और मोटर जो अभी थोड़ी देर पूर्व लोहेका एक विशालकाय ढेरमात्र ही केवल थी, इस कर्मयोगीका स्पर्श पाकर पुनः गतिशील हो गयी। जब सब कार्य पूरा हो गया तो उसने कहा; 'अब जरा साबुन मुझे दे दीजिये तो मैं हाथ धो डालूँ।' जब हाथ धोकर वह वापस आया तो मेरे सम्बन्धीने उसे कुछ रुपये देना चाहा, मगर उसने एकदम इनकार कर दिया और उनके लाख आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लिया। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' इसको उसने पढ़ा था या नहीं, मैं नहीं कह सकता, किंतु इसको पूर्णरूपसे अपने जीवनमें उसने उतार लिया था, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परहितका कैसा अनूठा उदाहरण था वह, निष्काम सेवा-भावकी कैसी यथार्थ परिभाषा है यह। आज भी जब मुझे उस अपूर्व सेवाव्रती मानवरत्नका स्मरण आ जाता है तो मेरा मस्तक श्रद्धासे स्वतः नत हो जाता है।

—रुद्रसेनसिंह

(४)

कृतज्ञता

कोयलेका थोक व्यापार करनेवाले शहरके एक फर्मके मालिकको एक दिन सबेरे टेलीफोन किया कि 'मुझे अमुक मिलके लिये आपसे तीन सौ टन कोयले खरीदने हैं, इसके लिये मैं आपसे मिलना चाहता हूँ, समय बतानेकी कृपा करें।' उन्होंने दुपहरको एक बजे बाद आफिसमें मिलनेका समय दिया। मैं समयपर पहुँचा और चपरासीके हाथ 'विजिटिंग कार्ड' मालिकके पास भिजवा दिया। चपरासी मालिककी केबिनसे अभी बाहर आ ही रहा था कि मेरे एक परिचित होटलवाले भाई पधारे और मेरी बगलमें ही बैठ गये। मैंने यहाँ आनेका कारण पूछा तब उन्होंने बताया कि 'हर महीने होटलमें आधा टन कोयला खर्च होता

है, उसका आर्डर देने मैं इनके पास आया हूँ ।' कहाँ मेरी तीन सौ टनकी माँग और कहाँ आधा टनका आर्डर । मुझे निश्चित विश्वास था कि सैकड़ों टनका सौदा करनेवाले बड़े व्यापारी स्वयं इनसे नहीं मिलेंगे, किसी आदमीको आर्डर लिखवा देनेके लिये कहला देंगे ।'

चपरासीने बाहर आकर मुझे दो मिनट बैठनेके लिये कहा और उन भाईका नाम पूछकर (कार्ड तो था ही नहीं) मालिकको खबर देने भीतर गया । नाम सुनते ही सेठ स्वयं उठकर बाहर आये और उन भाईका स्वागत करके अंदर ले गये । तीन सौ टनके आर्डरवाला मैं जम्हाई लेता बाहर ही बैठा रहा । थोड़ी देर बाद चपरासी उनके लिये एक 'चाय' का कप भी ले गया । अच्छी तरह पंद्रह मिनटतक बातें करके उनका आर्डर लिखकर हँसते-हँसते सेठ केबिनसे बाहर उन्हें दरवाजेतक पहुँचाने आये । यह सब देखकर मैं तो हक्का-बक्का रह गया ।

अब मेरी बारी आयी और चपरासीने मुझे अंदर जानेके लिये संकेत किया । सेठसे हाथ मिलाकर मैं बैठ गया और बड़े रोबसे तीन सौ टनके आर्डरकी बात की । सेठने कोई खास बहुत उत्साह नहीं दिखलाया । मेरा आर्डर लिखकर 'सुविधाके अनुसार माल देनेकी व्यवस्था करूँगा ।' यों कहकर लिखा हुआ आर्डर चपरासीके हाथ बाहर क्लर्कके पास भेज दिया ।

उठते-उठते मुझसे रहा नहीं गया और मैं पूछ ही बैठा—'सेठजी ! पहलेसे टेलीफोनद्वारा आपसे समय निश्चित करके मैं इतना बड़ा आर्डर देने आया, इतनेपर भी आप उन होटलवाले भाईको, जो केवल आधा टनका आर्डर देने आये थे, स्वयं बाहर आकर मुस्कराते हुए अंदर ले गये और मुझको बाहर बैठाये रक्खा, इसका क्या कारण है ?'

मुस्कराते मुखसे उन्होंने उत्तर दिया—'भाई ! आपकी बात सच्ची है । आपको अवश्य मानहानि-जैसी बात लगी होगी; पर अब मैं आपसे पेटकी बात बतलाता हूँ । आज हमारी फर्म जो इतना बड़ा व्यापार करती है, इसके मूल बुनियादमें ही ये भाई हैं । बरसों पहले यहाँ आकर काम शुरू किया, उस समय यहाँके व्यापारियोंने एक 'सिंडिकेट' बनायी थी, जिससे कि हम टिक न सकें । उनकी ऐसी मनोवृत्तिके कारण हम निराश हो गये थे, ऐसे विकट समयमें सबसे पहले इन भाईने अपने होटलके लिये हमें आर्डर दिया । इतना ही नहीं, अपनी जान-पहचानके दूसरे होटलमालिकोंसे भी ये हमारे यहाँसे कोयला खरीदनेके लिये सिफारिश करते रहते थे । इसीके परिणामस्वरूप हमारा कारोबार जमता गया । स्वयं सहायता देनेवालेकी अपेक्षा सहायता दिलानेवाला विशेष मानका पात्र समझा जाता है । इन भाईने तो दोनों काम बजाये हैं । उसी समयसे सदा ही यह फार्म इन भाईका ऋणी है, ऐसा ही हमलोग मानते हैं ।'

केबिनमेंसे बाहर निकलकर नीचे उतरते समय इस फर्मकी इस पद्धतिकी प्रतिध्वनि मेरे कानोंमें गूँजने लगी और मुझे भी यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सदा ही बुनियादी मदद देनेवाले तथा दिलानेवाले दोनों ही विशेष आदरके अधिकारी हैं । 'अखण्ड आनन्द'

—शान्तिलाल बोले

चेतावनी

कहा लाइ तैं हरि सौं तोरी ? हरि सौं तोरि कौन सौं जोरी ?
सिर पर धरि न चलैगौ कोऊ, जो जतननि करि माया जोरी ।
राज-पाट सिंहासन बैठो, नील-पदुम हू सौं कहै थोरी ॥
'मैं-मेरी' करि जनम गँवावत, जब लगि नाहिं परति जम-डोरी ।
धन-जोबन-अभिमान अल्प जल, काहे कूर आपनी बोरी ॥
हस्ती देखि बहुत मन-गर्वित, ता मूरख की मति है थोरी ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु, चले खेलि फागुन की होरी ॥

—सूरदासजी

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों तथा पाठकोंसे निवेदन

(१) यह 'कल्याण'के ३९वें वर्षका ११वाँ अङ्क है। एक अङ्क और प्रकाशित होनेके बाद यह वर्ष पूरा हो जायगा। ४०वें वर्षका प्रथम अङ्क 'धर्माङ्क' विशेषाङ्क होगा, इसमें धर्मके विविध विषयोंपर बड़े ही विचारपूर्ण तथा प्रेरणाप्रद लेख रहेंगे। अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया, परोपकार, ब्रह्मचर्य आदिपर सैकड़ों सुन्दर-सुन्दर आख्यान सचित्र रहेंगे। और भी रंगीन तथा सादे चित्र होंगे। यह अङ्क बहुत ही उपादेय तथा शिक्षाप्रद होगा, ऐसी आशा है।

(२) कागजोंके तथा अन्यान्य सामग्रियोंके दाम तथा कर्मचारियोंका वेतन विशेष बढ़ जानेपर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य रु० ७.५० ही रक्खा गया है। आप वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, पता, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। **आजीवन ग्राहक शुल्क १००) है।**

(३) 'ग्राहक-संख्या' न मिलनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे और पुराने नम्बरोंसे वी० पी० द्वारा दुबारा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। ऐसा करके आप अपने 'कल्याण'-कार्यालयको व्यर्थकी हानिसे बचायेंगे।

(४) सभी ग्राहक-पाठक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'-के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे उनके 'कल्याण'-के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे एक महान् पुण्यके भागी होंगे।

(५) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको हानि न सहनी पड़े।

(६) किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्क और उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका मूल्य ही रु० ७.५० (सात रुपये पचास पैसे) है।

(७) गीताप्रेस पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी) का विभाग 'कल्याण'-विभागसे पृथक् है। इसलिये 'कल्याण' के मूल्यके साथ पुस्तकोंके लिये तथा 'कल्याण-कल्पतरु' के लिये रुपये न भेजें; किंतु चेक या ड्राफ्ट सभी गीताप्रेसके नामसे भेजना चाहिये। गोरखपुरके बाहरके चेकोंमें १) एक रुपया बैंक-चार्ज जोड़कर भेजना चाहिये। पुस्तकोंके आर्डर 'व्यवस्थापक, गीताप्रेस'के नामसे तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के रुपये 'व्यवस्थापक—कल्याण-कल्पतरु'के नामसे भेजें।

(८) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें बड़ी कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। सजिल्दका मूल्य रु० ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर पैसे) है।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०**

NOV 1965
क्रमांक 6

राज० स० एल० १७५

लेखक महानुभावोंसे क्षमा-प्रार्थना

'कल्याण' के अगले विशेषाङ्क 'धर्माङ्क'की तैयारी हो रही है। पर कई कारणोंसे सम्भव है प्रकाशनमें कुछ विलम्ब हो, यद्यपि प्रयत्न यही हो रहा है कि समयपर प्रकाशित हो जाय।

लेखक महानुभावोंसे पुनः हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि अब लेख कृपया न भेजें। गत अगस्तके अन्ततक ही इतने अधिक लेख आ गये थे कि उन सबको पढ़ना कठिन हो रहा है। उसके बाद अबतक भी बराबर लेख आ रहे हैं। बहुतसे लेख तो (क्षमा-प्रार्थनाके साथ यह निवेदन किया जाता है कि) केवल लिखकर भेज दिये गये हैं, न सामग्री ठीक है, न लेखशैली है, न कोई सिलसिला है और न किसी एक विषयपर ही विचार प्रकट किये जा सके हैं। ऐसे लेखकोंसे नम्र प्रार्थना है कि वे लेख लिखनेसे पूर्व लिखनेका अभ्यास कर लें, तब लिखें। इसके सिवा बहुत-से लेख ऐसे हैं, जो एक-एक विषयपर दसों-बीसों हैं। सर्वथा एक विषय, एक-सी बात है। अतः उन सबका छपना भी कठिन है। फिर, स्थान तो सीमित ही है। अतएव लेख लिखकर भेजनेवाले सभी महानुभावोंके प्रेम तथा परिश्रमका आदर करते हुए भी उनके लेख नहीं प्रकाशित हो सकेंगे, इसके लिये हम उनसे विनीतभावसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

—सम्पादक

* * *

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६६ ई० का नया संस्करण

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मू० साधारण जिल्द ६२ पैसे, सजिल्द ७५ पैसे, डाकखर्च ७५ पैसे अलग।

प्रथम संस्करणमें डेढ़ लाख प्रतियाँ छापी गयी थीं; परंतु माँग इतनी अच्छी रही कि पचीस-पचीस हजारके दो और संस्करण शीघ्र छापने पड़े। सन् १९६५ की दैनन्दिनीके १,६०,००० के तीन संस्करण छपनेपर भी लगभग पचीस हजारकी माँग बाकी रही। परंतु विशेषाङ्ककी छपाईके कारण और न छप सकीं। अब भी अगले विशेषाङ्क धर्माङ्ककी छपाई शुरू होने जा रही है, अतः दैनन्दिनीके और संस्करण इस वर्ष होने कठिन हैं। जिन्हें लेनी हो, वे शीघ्रता करनेकी कृपा करेंगे।

इस दैनन्दिनीमें सम्पूर्ण भगवद्गीता, विक्रम-संवत्, भारतीय शक, पंजाबी तिथियाँ, व्रत, उपवास आदिके दिन तथा अनेक लोक-परलोक-साधनोपयोगी महत्त्वपूर्ण बातें हैं। इसके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इससे भारी डाक-खर्चकी बचत हो सकती है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्य तीन पुस्तकोंके नये संस्करण

१-**श्रीमद्भागवत महापुराण**—सम्पूर्ण दो खण्डोंमें सरल हिंदीटीकासहित, पृष्ठ २०३२, बहुरंगे चित्र २६, मूल्य १५.००
(इसका प्रथम खण्ड तो पहले छप ही गया था। अब दूसरा भी छप गया है, अतः पूरा ग्रन्थ मिलने लगा है।)

२-**श्रीभागवत-सुधा-सागर**—केवल भाषा, पूरी भागवतका सरल अनुवाद, पृष्ठ १०१६, चित्र सुनहरा १, बहुरंगे २५, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ८.५०

३-**श्रीप्रेम-सुधा-सागर**—श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धका भाषानुवाद, पृष्ठ ३१६, चित्र बहुरंगे १४, सुनहरा १, मूल्य ३.५०

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग। सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

Gurukul Kangri Library
Access on 11-6-83
Class on
Cat. on
Tag etc
Checked
Any Other

Compiled
1999-2000